विधूज्ज्वला ॥४९॥आलवालीकृतांभोधिवलयाकीर्तिवल्लरी। जगन्नाडीतरोरग्रमाक्रामति तवोच्छिखा॥५०॥ त्वामामनंति मुनयो योगिनामधियोगिनं। त्वां गण्यं गणनातीतगुणं गणधरं विदुः ॥५१॥ गोतमा गौः प्रकृष्टा स्यात् सा च सर्वज्ञभारती। तां वेत्सि तामधीष्टे च त्वमतो गौतमो मतः ॥५२॥ गोतमादागतो देवः स्वर्गाग्राद्गौतमो मतः। तेन प्रोक्तमधीयानस्त्वंचासीगौतमश्रुतिः ॥ ५३ ॥ इंद्रेण प्राप्तपूजर्द्धिरिंद्रभूतिस्त्वमिष्यसे। साक्षात्सर्वज्ञपुत्रस्त्वमाप्तसंज्ञानकंठिकः ॥५४॥ चतुर्भिरमलैर्बोधैरबुद्धास्त्वं जगद्यतः। प्रज्ञापारमितं बुद्धं त्वां निराहुरतो बुधाः ॥५५॥ पारेतमः परंज्योतिस्त्वामद्द-

फैलीहुई इस कीर्त्तिरूपी लताने समुद्रको ही गोल २ स्तंभ बना लिया है अब यह कीर्त्तिलता लोकनाड़ी रूपी वृक्षके शिखरपर चढना चाहती है ॥५०॥ हे स्वामिन्! मुनीश्वर लोग भी यह सर्वथा जानते हैं और स्वीकार करते हैं कि आप योगियोंमें भी महा योगीश्वर हैं सबके नायक हैं सबके अधिपति हैं। हे देव! आपके गुणोंकी गणना असंख्यात है उन्हें कोई गिन नहीं सकता ॥ ५१ ॥ हे भगवन्! आपका गौतम यह नाम सार्थक है क्योंकि 'गो' वाणीको कहते हैं और उत्तम वाणी 'गोतमा' कहलाती है यह 'गोतमा' उत्तम वाणी तीर्थंकर सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनि ही हो सकती है। उस दिव्यध्वनिको आप जानते हैं और सबको उसका उपदेश देते हैं इसलिये लोग आपको 'गौतम' (गोतमा-दिव्यध्वनिको जाननेवाले) कहते हैं ॥५२॥ अथवा यों कहना चाहिये कि श्रीवर्द्धमानस्वामी गोतम अर्थात् उत्तम सोलहवें स्वर्गसे अवतीर्ण हुये हैं इसलिये श्रीवर्द्धमानस्वामीको गौतम कहते हैं। इन गौतम अर्थात् वर्द्धमान स्वामीकी कही हुई दिव्यध्वनिको आप जानते हैं पढ़ते हैं उपदेश देते हैं इसलिये लोग आपको गौतम कहते हैं ॥५३॥ इंद्रने स्वयं आकर आपकी पूजा की है इसलिये आपको इंद्रभूति भी कहते हैं। उत्तम अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान रूपी कंठाभरण आपको प्राप्त हुआ है इसलिये आप साक्षात् तीर्थंकर सर्वज्ञदेवके पुत्रके समान हैं ॥५४॥ हे देव! आपने मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके द्वारा संसारके संपूर्ण पदार्थ जान लिये तथा आप बुद्धिके पारंगत होगये इसलिये पंडितजन आपको बुद्ध भी कहते हैं ॥ ५५ ॥ हे देव!

ष्ट्वा दुरासदं। ज्योतिर्मयः प्रदीपोऽसि त्वं तस्याभिप्रकाशनात् ॥ ५६ ॥ श्रुतदेव्या हितस्त्रैणप्रयत्ना बोधदीपिका। तवैषा प्रज्वलत्युच्चैर्द्योतयंती जगद्गृहं ॥ ५७ ॥ तव वाक्प्रसरो दिव्यो विधुन्वन् जगतां तमः। प्रकाशयति सन्मार्गं रवेरिव करोत्करः ॥ ५८ ॥ तव लोकातिगा प्रज्ञा विद्यानां पारदृश्वरी। श्रुतस्कंधमहासिंधोरभजद्यानपात्रतां ॥ ५९ ॥ त्वयावतारिता तुंगान्महावीरहिमाचलात्। श्रुतामरसरित्पुण्या निर्धुनानाखिलं रजः ॥ ६० ॥ प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च द्विधा ते ज्ञानपर्ययः। केवलं केवलिन्येकस्ततस्त्वं श्रुतकेवली ॥ ६१ ॥ पारेतमः परंधाम प्रवेष्टुमनसो वयं। तद्-

आप पापरहित हैं आपको बिना देखे केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योतिका जानना अति कठिन है। हे नाथ! आप उस ज्योतिको प्रकाश करनेवाले हैं इसलिये आप ज्योतिस्वरूप एक अपूर्व दीपक हैं ॥ ५६ ॥ हे स्वामिन्! श्रुतदेवताके द्वारा स्त्रीरूपको धारण करनेवाली आपकी ज्ञानरूपी दीपिका संसाररूपी घरको प्रकाश करती हुई बड़ी ही देदीप्यमान हो रही है॥ ५७॥ हे देव! आपकी दिव्यवाणीका समूह संसारके मिथ्यात्वरूपी अंधकारको नाश करता हुआ सूर्यकी किरणोंके समान सन्मार्गका प्रकाश करता है ॥५८॥ आपकी यह प्रज्ञा (तीक्ष्ण बुद्धि) तीनों लोकोंमें उत्कृष्ट है चौदह महाविद्याओंके पारंगत है और श्रुतस्कंधरूपी महासागरमें बड़े जहाजका काम देती है ॥ ५९ ॥ हे देव! आपने श्रीवर्द्धमान स्वामीरूप अतिशय ऊंचे हिमाचल पर्वतसे श्रुतज्ञानरूपी आकाशगंगाको अवतरण किया। यह आकाशगंगा अतिशय पवित्र है और समस्त पापरूपी मैलको धोनेवाली है ॥६०॥ हे देव! केवली भगवान एक केवल ज्ञानको ही धारण करनेवाले हैं और आप प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो प्रकारका ज्ञान धारण करनेवाले हैं इसीलिये आप श्रुतकेवली कहलाते हैं ॥ ६१ ॥ हे स्वामिन्! हम सबलोग संसाररूपी अंधकारके पार जो मोक्षस्थान है वहां जाना चाहते हैं और आपकी उपासना कर आपसे उस मोक्षस्थानके द्वार उघाड़नेका कारण (कुंजी) प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ६२ ॥ श्रीसर्वज्ञदेवने जो संपूर्ण विद्यायें निरूपण की हैं उन्हें आप जानते हैं इसलिये आप ब्रह्मसुत कहलाते हैं। हे देव! परब्रह्म सिद्धात्माकी प्राप्ति होना आपके आधीन है योगीश्वर

द्वारोद्घाटनं बीजं त्वामुपास्य लभेमहि ॥ ६२ ॥ ब्रह्मोघा निखिला विद्वांस्त्वं हि ब्रह्मसुतो मुनिः । परंब्रह्म त्वदायत्तमतो ब्रह्मविदो विदुः ॥६३॥ मुनयो वातरशनाः पदमूर्ध्वं विधित्सवः । त्वां मूर्द्धवंदिनो भूत्वा तदुपायमुपासते ॥६४॥ महायोगिन्नमस्तुभ्यं महाप्रज्ञ नमोस्तु ते । नमो महात्मने तुभ्यं नमस्त्रात्रे महर्द्धये ॥ ६५ ॥ नमोवधिजुषे तुभ्यं नमो देशावधित्विषे । परमावधये तुभ्यं नमः सर्वावधिस्पृशे ॥ ६६ ॥ कोष्टबुद्धे नमस्तुभ्यं नमस्ते बीजबुद्धये । पदानुसारिन् संभिन्नश्रोतस्तुभ्यं नमोनमः ॥ ६७ ॥ नमोस्त्वृजुमते तुभ्यं नमस्ते विपुलात्मने । नमः प्रत्येकबुद्धाय

लोग भी ऐसा ही जानते हैं ॥ ६३ ॥ हे नाथ! जो दिगंबर मुनि हैं और मोक्षस्थान प्राप्त करना चाहते हैं वे आपको मस्तक नवाकर बारंबार नमस्कार करते हुये मोक्ष प्राप्त होनेके उपायोंकी उपासना करते हैं ॥ ६४ ॥ हे देव ! आप महायोगीश्वर हैं, अतिशय ज्ञानी हैं महात्मा हैं, अनेक ऋद्धियोंके धारण करनेवाले और अनेक जीवोंकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिये आपको बारंबार नमस्कार हो ॥६५॥ हे स्वामिन् ! आप देशावधि परमावधि और सर्वावधि आदि सर्वप्रकारके अवधिज्ञानको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको बारंबार नमस्कार हो ॥ ६६ ॥ हे नाथ ! आप कोष्टबुद्धि नामकी ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं। जैसे कोठेमें बहुतसे धान्य भरे रहते हैं उसी प्रकार आपमें भी अनेक पदार्थोंका ज्ञान भरा हुआ है । इसलिये आपको नमस्कार हो । आप बीजबुद्धि नामकी ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं 'जैसे एक भी बोया हुआ बीज अच्छी जमीन और क्षेत्रपाल आदिकी सहायतासे अनेक बीज उत्पन्न कर देता है । इसीप्रकार आपकी बुद्धि एक बीजरूप पदको ग्रहणकर अनेक पदपदार्थोंका ज्ञानसंपादन कर लेती है' इसलिये आपको नमस्कार हो । आप पदानुसारि ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो । 'पदानुसारि ऋद्धि उसे कहते हैं जो आदि अंत अथवा जहां कहींसे किसी एक पदको ही ग्रहण करके संपूर्ण ग्रंथको जान ले' । हे नाथ! आप संभिन्नश्रोतृऋद्धिके भी धारण करनेवाले हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो । 'संभिन्नश्रोतृऋद्धि उसे कहते हैं जिसके निमित्तसे यह जीव बारह योजन लंबे नौ योजन चौंड़े क्षेत्रमें

स्वयंबुद्धाय वै नमः ॥ ६८ ॥ अभिन्नदशपूर्वित्वात्प्राप्तपूजाय ते नमः । नमस्ते पूर्वविद्यानां विश्वासां पारदृश्वने ॥ ६९ ॥ दीप्तोग्रतपसे तुभ्यं नमस्तप्तमहातपः । नमो घोरगुणब्रह्मचारिणे घोरतेजसे ॥ ७० ॥ नमस्ते विक्रियर्द्धीनामष्टधा सिद्धिमीयुषे । आमर्षक्ष्वेलवाग्विप्रुड्जल्लसर्वौषधे नमः ॥ ७१ ॥ नमोमृतमधुक्षीरसर्पिरास्रविणेऽस्तु ते । नमो मनोवचःकायबलिनां ते बलीयसे ॥ ७२ ॥ जलजंघाफलश्रेणीतंतुपुष्पांबरश्रयात् ।

रहनेवाले चक्रवर्तीकी सेनासंबंधी मनुष्य तिर्यंचोंके अक्षरात्मक अनक्षरात्मक मिलेहुये शब्दोंको एकसाथ अलग अलग सुन सकता है ॥ ६७ ॥ हे देव ! आप ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो । आप प्रत्येकबुद्ध तथा स्वयंबुद्ध हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ६८ ॥ हे स्वामिन् ! आप दश पूर्वोंको पूर्णरीतिसे जानते हो इसीलिये संसारमें पूज्य हुये हो। इसके सिवाय आप समस्त चौदह पूर्वोंके भी पारंगत हो इसलिये भी आपको बारंबार नमस्कार हो ॥ ६९ ॥ हे देव ! आप पक्षोपवास मासोपवास आदि घोर तपश्चरण करनेवाले हैं । अनेक परीषहोंको जीत कर महातपश्चरण धारण करनेवाले हैं तथा अनेक कर्मोंके नष्ट करनेवाले अठारह हजार दूषणरहित महा ब्रह्मचर्यको पालन करनेवाले महातेजस्वी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ७० ॥ हे देव ! आपको अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व वाशित्व ये आठ * विक्रियाऋद्धि सिद्ध हुई हैं ।

* जिसके निमित्तसे सूक्ष्म शरीर हो जाय उसे अणिमाऋद्धि कहते हैं । जिसके निमित्तसे स्थूल शरीर कर सकें वह महिमाऋद्धि है । जिसके निमित्तसे शरीरको भारी कर सकें वह गरिमाऋद्धि और जिसके निमित्तसे हलका शरीर करसकें वह लघिमाऋद्धि है । जिसके निमित्तसे मेरुकी चूलिका स्पर्श करे अथवा देवोंके विमान कंपायमान करे वह प्राप्तिऋद्धि है । जिसके निमित्तसे थलमें जलके समान और जलमें थलके समान गमनागमन कर सके अथवा अढाईद्वीपमें इच्छानुसार चाहे जहां जा सके वह प्राकाम्यऋद्धि है । जिसके निमित्तसे चक्रवर्तीके समान विभूति कर सके वह ईशित्वऋद्धि है । जिसके निमित्तसे सबको वश कर सके वह वाशित्वऋद्धि है ।

इनके सिवाय आप आमर्ष[1] क्ष्वेल[2] वाग्विप्रुट्[3] जल्ल[4], सर्वौषधि[5] आदि ऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार है ॥ ७१ ॥ हे देव आप अमृतस्रावणी[6], मधुस्रावणी[7], क्षीरस्रावणी[8], सर्पिस्रावणी[9] आदि रसऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो। इसके सिवाय आप मनोबल, वचनबल, कायबलसे अतिशय बलवान हैं इसलिये आपको नमस्कार है ॥ ७२ ॥ हे स्वामिन् आप जलचारण[10], जंघाचारण[11], फलचारण[12], श्रेणीचारण[13], तंतुचारण[14] पुष्पचारण[15], अंबरचारण[16] आदि चारणऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं तथा अक्षीण[17] ऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको

---

१ जिनके किये हुये वमनकी वायु समस्त रोगोंको नष्ट करदे उसको आमर्षऋद्धि कहते हैं। २ जिनके मुखसे निकलेहुये कफको स्पर्श करनेवाली वायु सब रोगोंको दूर कर दे उसे क्ष्वेलऋद्धि कहते हैं। ३ जिनके मुखकी निकली हुई वाफ सर्वरोगापहारी हो उसे वाग्विप्रुट्ऋद्धि कहते हैं। ४ जिनके मलको स्पर्शन की हुई वायु सब रोगोंको नष्ट करदे उसे जल्लऋद्धि कहते हैं। ५ जिनके शरीरकी स्पर्श की हुई वायु संपूर्ण रोग दूर करसके वह सर्वौषधिऋद्धि है। ६ यदि भोजनमें विष भी हो परंतु जिसके निमित्तसे वह सब अमृतरूप हो जाय उसे अमृतस्रावणीऋद्धि कहते हैं। ७ जिसके निमित्तसे भोजनशालामें मीठा न रहते भी मीठा हो जाय उसे मधुस्रावणीऋद्धि कहते हैं। ८ जिसके निमित्तसे भोजनशालामें दुग्ध होजाय वह क्षीरस्रावणीऋद्धि है ९ और जिसके निमित्तसे भोजनशालामें घृत हो जाय वह सर्पिस्रावणीऋद्धि है। १० जिसके निमित्तसे थलके समान जलपर चले जांय और जलकायके वा जलमें रहनेवाले जीवोंको किसी प्रकारकी बाधा न हो वह जलचारणऋद्धि है। ११ जिसके निमित्तसे पद्मासन, अर्द्धपद्मासन बैठे हुये ही जहां चाहें आकाशमें होकर चले जांय उसे जंघाचारणऋद्धि कहते हैं। १२ जिसके निमित्तसे फलोंपर होकर चले जासकें फल टूटै नहीं उसे फलचारणऋद्धि कहते हैं। १३ जिसके निमित्तसे आकाशमें श्रेणीवद्ध गमनागमन कर सकें पर्वत आदिसे भी न रुकें उसे श्रेणीचारणऋद्धि कहते हैं। १४ जिसके निमित्तसे मकड़ीके तंतुओंपर होकर गमनागमन कर सकें उसे तंतुचारणऋद्धि कहते हैं। १५ जिसके निमित्तसे पुष्पोंपर होकर चले जांय पुष्पाश्रित जीवोंको कोई बाधा न हो उसे पुष्पचारणऋद्धि कहते हैं। १६ जिसके निमित्तसे आकाशमें सर्वत्र गमनागमन करसके और किसी भी जीवको वाधा न हो उसे अंबरचारणऋद्धि कहते हैं। इसीप्रकार अंकुरचारण, बीजचारण आदि भी ऋद्धियां होती हैं। १७ अक्षीणऋद्धि दोप्रकारकी होती है। एक अक्षीणमहानस और दूसरी अक्षीणमहालय। जिसके निमित्तसे मुनिके आहार लेनेवाद भोजनशालाकी बचीहुई सामग्री उस दिनकेलिये अक्षय हो जाय उसको अक्षीणमहानसऋद्धि कहते हैं और जिसके निमित्तसे मुनिके आहार लेनेका स्थान छोटासा भी हो तो उसमें चक्रवर्तीके कटक तक बैठ जानेका अवकाश हो जाय उसे अक्षीणमहालयऋद्धि कहते हैं।

चारणर्द्धिजुषे तुभ्यं नमोऽक्षीणमहर्द्धये ॥ ७३ ॥ त्वमेव परमो बंधुस्त्वमेव परमो गुरुः । त्वामेव सेवमानानां भवंति ज्ञानसंपदः ॥ ७४ ॥ त्व-यैव भगवन् विश्वा विहिता धर्मसंहिता । अत एव नमस्तुभ्यममी कुर्वंति योगिनः ॥ ७५ ॥ त्वत्त एव परं श्रेयो मन्यमानास्ततो वयं । तव पादां-घ्रिपच्छायां त्वय्यास्तिक्यादुपास्महे ॥ ७६ ॥ वाग्गुप्तेस्त्वत्स्तुतौ हानिर्मनोगुप्तेस्तव स्मृतौ । कायगुप्तेः प्रणामे ते काममस्तु सदापि नः ॥ ७७ ॥ स्तुत्वेति स्तुतिभिः स्तुत्यं भवंतं भुवनाधिकं । पुराणश्रुतिमेवैनां तत्फलं प्रार्थयामहे ॥ ७८ ॥ पुराणश्रुतितो धर्मो योऽस्माकमभिसंस्कृतः । पुरा-णकवितामेव तस्मादाशास्महे वयं ॥ ७९ ॥ त्वत्पादाराधनात्पुण्यं यदस्माभिरुपार्जितं । तवैव तेन भूयान्नः परार्था संपदूर्जिता ॥ ८० ॥ त्वत्प्र-

---

बारंबार नमस्कार हैं ॥ ७३ ॥ हे नाथ ! संसारमें आप ही परम बंधु हैं आप ही परमगुरु हैं । जो लोग आपकी सेवा करते हैं उन्हें ज्ञानरूपी संपत्ति अवश्य ही प्राप्त होती है ॥ ७४ ॥ हे देव ! संसारमें समस्त धर्म-शास्त्रका निरूपण आपने ही किया है इसीलिये योगीश्वर लोग आपको नमस्कार करते हैं ॥ ७५ ॥ हे नाथ ! उत्तम कल्याणकी प्राप्ति आपसे ही होती है यही समझकर हम लोग आपसे श्रद्धा रखकर आपके चरणरूप वृक्षोंकी छायाकी उपासना करते हैं ॥ ७६ ॥ हे नाथ ! यद्यपि आपकी स्तुति करनेसे वाक् गुप्तिकी हानि होती है आपका स्मरण करनेसे मनोगुप्तिकी हानि होती है और आपको नमस्कार करनेसे कायगुप्तिकी हानि होती है तथापि हमलोगोंको इसकी कुछ चिंता नहीं है तीनों गुप्तियोंकी हानि होते हुये भी हम लोग सदा आपकी स्तुति करेंगे आपका स्मरण करेंगे और सदा आपको नमस्कार करेंगे ॥ ७७ ॥ हे गौतम स्वामिन् ! हमलोग प्रार्थना करते हैं कि हम लोगोंने संसारमें श्रेष्ठ और स्तुति करने योग्य आपकी जो कुछ उपर्युक्तप्रकार स्तुति की है उससे तरेसठ शलाकापुरुषोंका जीवन चारित्र सुनना यही फल हम लोगोंको मिले ॥ ७८ ॥ हमलोग आशा करते हैं कि हमे पुराण सुननेसे जो कुछ धर्मकी प्राप्ति होगी उससे हमे कवितारूप पुराण रचनेकी शक्ति हो अर्थात् हम भी आपके कहेहुये पुराणकी कविता कर सकें ऐसी शक्ति हमलोगोंको प्राप्त हो ॥ ७९ ॥ हे नाथ ! आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेसे हमें जो

सादादियं देव सफला प्रार्थनास्तु नः । सार्धं राजर्षिणानेन श्रोतृननुग्रहाण नः ॥ ८१ ॥ इत्युच्चैः स्तोत्रसंपाठैस्तत्त्वणं प्रविजृंभितः। पुण्यो मुनिसमाजेस्मिन्महान्कलकलोभवत् ॥ ८२ ॥ इत्थं स्तुवद्भिरोघेन मुनिवृंदारकैस्तदा । प्रसादितो गणेंद्रो भूद्भक्तिग्राह्या हि योगिनः ॥ ८३ ॥ तदाप्रशांतगंभीरं स्तुत्वा मुनिभिरर्थितः । मनोव्यापारयामास गौतमस्तदनुग्रहे ॥ ८४ ॥ ततः प्रशांतसंजल्पे प्रव्यक्तकरकुड्मले । शुश्रूषावहिते साधुस-

---

कुछ पुण्यप्राप्त होगा उससे हमें भी आपकी यह उत्कृष्ट महा संपत्तिकी प्राप्ति हो ॥ ८० ॥ हे देव ! आपके प्रसादसे हम लोगोंकी यह उपर्युक्त प्रार्थना सफल हो । आप महाराज श्रेणिकके साथ साथ हम सब श्रोताओंपर कृपा करें ॥ ८१ ॥ इसप्रकार मुनियोंने जो बड़े ऊंचे शब्दोंसे गणधरदेवकी स्तुति की थी उससे उस समय उस मुनिसमाजमें एक बड़ा भारी पुण्यरूप कोलाहल शब्द हो रहा था ॥ ८२ ॥ इसप्रकार जब मुनियोंने इकट्ठे होकर गणधरदेवकी स्तुति की तब वे प्रसन्न हुये सो ठीक ही है योगीश्वर लोग भक्तिके वशीभूत होते ही हैं ॥ ८३ ॥ इसप्रकार जब मुनियोंने शांतता और गंभीरतापूर्वक गणधरदेवकी स्तुति और प्रार्थना की, तब वे उनपर अनुग्रह करनेकेलिये दत्तचित्त हुये ॥ ८४ ॥ जब वह मुनियोंका समूह स्तुति कर चुप होगया, सबलोग हाथ जोड़ कर एकाग्रचित्त हो सुननेकेलिये सावधान हुये, तब वे भगवान् गौतम् गणधर स्वामी श्रोताओंको संबोधन करके गंभीर उदार और मधुरवाणीसे कहने लगे। गणधरदेवके मुखसे निकली हुई वह सरस्वती देवी सर्वथा निर्दोष और अतिशय निर्मल थी और ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो वह गणधरस्वामीके दांतोंकी किरणोंके बहानेसे साक्षात् प्रगट ही हो रही हो। उपदेश देतेहुये वे गणधर स्वामी भी उस समय ऐसे शोभायमान होने लगे मानो जो योगीश्वर भक्तिरूप मूल्य देकर अपनी इच्छानुसार मोल लेना चाहते हैं उन्हें अनुक्रमसे रक्खे हुये अनेकप्रकारके सुभाषित रूपी रत्न ही दिखा रहे हों अथवा उस सभामें अपने शोभायमान दांतोंकी दैदीप्यमान किरणरूपी फूलोंको इधर उधर फैलाकर सरस्वती प्रवेश करनेकेलिये मानो रंगभूमि ही तैयार कर रहे हों अथवा सबके

माजे निभृतं स्थिते ॥ ८५ ॥ वाङ्मलानामशेषाणामपायादतिनिर्मलां । वाग्देवीं दशनज्योत्स्नाव्याजेन स्फुटयन्निव ॥ ८६ ॥ सुभाषितमहारत्नप्रसारमिव दर्शयन् । यथाकामं जिघृक्षूणां भक्तिमूल्येन योगिनां ॥ ८७ ॥ लसद्दशनदीप्तांशुप्रसरैराकिरन्सदः ॥ सरस्वतीप्रवेशाय पूर्वरंगमिवाचरन् । ८८ ॥ मनःप्रसादमभितो विभजद्भिरिवायतैः । प्रसन्नैर्वीक्षितैः कृत्स्नां सभां प्रक्षालयन्निव ॥ ८९ ॥ तपोनुभावसंजातमध्यासीनोपि विष्टरं । जगतामुपरीवोच्चैर्महिम्ना घटितास्थितिः ॥ ९० ॥ सरस्वतीपरिक्लेशमनिच्छन्निव नाधिकं । तीव्रयन्करणस्पंदमभिन्नमुखसौष्ठवः ॥ ९१ ॥ न स्विद्यन्न परिश्राम्यन्नो त्रस्यन्न परिस्खलन् । सरस्वतीमतिप्रौढामनायासेन योजयन् ॥ ९२ ॥ सममृज्वायतस्थानमास्थाय रचितासनः । पल्यंकेन परां कोटीं वैराग्यस्येव रूपयन् ॥ ९३ ॥ करं वामं स्वपर्यंके निधायोत्तानितं शनैः ॥ देशनाहस्तमुत्क्षिप्य मार्दवं नाटयन्निव ॥ ९४ ॥ व्याजहारेति-

---

मन को प्रसन्न करनेवाली अपनी स्वच्छ और लंबी दृष्टि चारों ओर डालकर संपूर्ण सभाका प्रक्षालन ही कर रहे हों अथवा तपश्चरणकी सामर्थ्यसे जो ऊंचा सिंहासन प्राप्त हुआ है उसपर विराजमान होकर मानो जिन्होंने संपूर्ण संसारपर अपनी उच्चस्थिति प्रगट की हो। वे गौतमस्वामी उपदेश देते समय न तो सरस्वतीको ही कष्ट देना चाहते थे और न अधिक इंद्रियोंको ही चलायमान करना चाहते थे। उस समय उनके मुखका सौंदर्य भी नष्ट नहीं होता था। उपदेश देते समय भगवान गौतमस्वामीको न पसीना ही आता था न परिश्रम ही होता था। न उन्हें कुछ भय ही लगता था और न कभी उनकी इंद्रिया हीं शिथिल होती थीं। वे बिना किसी परिश्रमके अतिशय प्रौढ सरस्वतीका उपभोग (प्रकाश) करते थे। समान और सरल स्थानपर पर्यंकासनसे विराजमान होकर वे भगवान् ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो केवल शरीरसे ही वैराग्यकी चरम सीमाका उपदेश दे रहें हों। उस समय उनका बांयां हाथ पर्यंकासनके बायें घोंटूपर था और दांयां हाथ धीरेसे थोड़ासा ऊंचा होकर उठा हुआ था उस समय वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो मार्दवधर्मको ही नृत्य करा रहे हों अर्थात् मार्दवधर्मको अतिशय प्रगट कर रहे थे ॥ ८५–९५ ॥ इसप्रकार भगवान गौतमस्वामी उपदेश देने लगे और कहने लगे कि भो बुद्धिमान ! आयुष्मान्

गंभीरमधुरोदारया गिरा। भगवान् गौतमस्वामी श्रोतॄन्संबोधयन्निति ॥ ९५ ॥ श्रुतं मया श्रुतस्कंधादायुष्मंतो महाधियः । निबोधत पुराणार्थं यथावत्कथयामि वः ॥ ९६ ॥ यत्प्रजापतये ब्रह्मा भरतायादितीर्थकृत् । प्रोवाच तदहं तेद्य वक्ष्ये श्रेणिक भोः शृणु ॥ ९७ ॥ महाधिकाराश्चत्वारः श्रुतस्कंधस्य वर्णिताः । तेषामाद्योऽनुयोगोऽयं सतां सच्चरिताश्रयः ॥ ९८ ॥ द्वितीयः करणादिः स्यादनुयोगः स यत्र वै । त्रैलोक्यक्षेत्रसंख्यानं कुलपत्रेधिरोपितं ॥ ९९ ॥ चरणादिस्तृतीयः स्यादनुयोगो जिनोदितः । यत्र चर्याविधानस्य परा शुद्धिरुदाहृता ॥ १०० ॥ तुर्यो द्रव्यानुयोगस्तु द्रव्याणां यत्र निर्णयः । प्रमाणनयनिक्षेपैः सदाद्यैश्च किमादिभिः ॥ १०१ ॥ आनुपूर्व्यादिभेदेन पंचधोपक्रमो मतः । स पुराणा-

---

भव्यजन हो श्रुतस्कंधानुसार जैसा कुछ यह पुराण मैंने सुना है वह ज्योंका त्यों तुम्हारेलिये कहता हूं तुम लोग ध्यान देकर सुनो ॥ ९६ ॥ श्रीप्रथम तीर्थंकर आदिब्रह्मा श्रीवृषभदेवने महाराज भरतकेलिये जो पुराण कहा था वही पुराण आज मैं कहता हूं। श्रेणिक ! तुम ध्यान देकर सुनो॥ ९७॥

श्रुतस्कंधके चार महा अधिकार वर्णन किये हैं जिसमें पहला अधिकार प्रथमानुयोग कहलाता है। जिसमें तीर्थंकर आदि महापुरुषोंके चरित्र निरूपण हों उसे प्रथमानुयोग कहते हैं ॥९८॥ दूसरे महाधिकारका नाम करणानुयोग है । जैसे किसी ताम्रपत्रपर किसीकी वंशावली लिखी होती है उसीप्रकार जिसमें पृथक् पृथक् तीनों लोकोंके क्षेत्रोंका निरूपण हो उसे करणानुयोग कहते हैं ॥९९॥ श्रीजिनेंद्रदेवने तीसरा महाअधिकार चरणानुयोग बतलाया है। जिसमें मुनि और श्रावकोंके चारित्रकी शुद्धि निरूपण की गई हो वह चरणानुयोग कहलाता है॥ १००॥ इसीप्रकार चौथे महाधिकारका नाम द्रव्यानुयोग है जिसमें प्रमाण, नय, निक्षेप, सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव, अल्पबहुत्व, निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदिसे द्रव्योंका निर्णय किया जाता है उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं ॥१०१॥ आनुपूर्वी आदि पांच प्रकारका उपक्रम माना है जोकि इस पुराणके प्रारंभमें शास्त्रानुसार योजना कर लेना चाहिये॥ १०२॥ जिस पदार्थके निरूपण करनेकी प्रतिज्ञाकी है श्रोताओंको उसका स्वरूप समझा देना उपक्रम कह-

वतारेस्मिन्योजनीयो यथागमं ॥ १०२ ॥ प्रकृतस्यार्थतत्त्वस्य श्रोतृबुद्धौ समर्पणं । उपक्रमोऽसौ विज्ञेयस्तथोपोद्घात इत्यपि ॥ १०३ ॥ आनुपूर्वी तथा नाम प्रमाणं साभिधेयकं । अर्थाधिकारश्चेत्येवं पंचैते स्युरुपक्रमाः ॥ १०४ ॥ पूर्वानुपूर्व्या प्रथमश्चरमोयं विलोमतः । यथा तथानुपूर्व्या च यां कांचिद्गणनां श्रितः ॥ १०५ ॥ श्रुतस्कंधानुयोगानां चतुर्णां प्रथमो यतः । ततोनुयोगं प्रथमं प्राहुरन्वर्थसंज्ञया ॥ १०६ ॥ प्रमाणमधुना तस्य वक्ष्यते ग्रंथतोर्थतः । ग्रंथगौरवभीरूणां श्रोतृणामनुरोधतः ॥ १०७ ॥ सोऽर्थतोपरिमेयोऽपि संख्येयः शब्दतो मतः । कृत्स्नस्य वाङ्मयस्यास्य संख्येयत्वानतिक्रमात् ॥ १०८ ॥ द्वे लक्षे पंचपंचाशत्सहस्राणि चतुःशतं । चत्वारिंशत्तथा द्वे च कोट्योस्मिन्ग्रंथसंख्यया ॥ १०९ ॥

लाता है। इसका दूसरा नाम उपोद्घात भी है ॥१०३॥ इस उपक्रमके पांच भेद हैं आनुपूर्वी १ नाम २ प्रमाण ३ अभिधेय ४ और अर्थाधिकार ५ ॥१०४॥ यदि चारों अनुयोगोंको अनुक्रमसे गिनाजाय तो प्रथमानुयोग पहला अनुयोग होता है और यदि इसको उलटा गिना जाय तो यही प्रथमानुयोग अंतका अनुयोग ठहरता हैं अर्थात् इन अनुयोगोंकी गिनती प्रथमानुयोग करणानुयोग चरणानुयोग द्रव्यानुयोग इसप्रकार भी होती है और द्रव्यानुयोग चरणानुयोग करणानुयोग प्रथमानुयोग इसप्रकार भी होती है । इन दोनोंमें से कोई भी एक प्रकारकी गणना करना आनुपूर्वी कहलाती है। १०५ । ग्रंथके नाम कहनेको नाम कहते हैं। इस ग्रंथका नाम प्रथमानुयोग है जो कि सार्थक गिना जाता है क्योंकि चारों अनुयोगरूप श्रुतस्कंधमें यह सबसे पहला है ॥ १०६ ॥ कदाचित् किसी श्रोताको यह भय लगता होगा कि यह ग्रंथ बहुत बड़ा होगा इसलिये ऐसे श्रोताओंके अनुरोधसे इस ग्रंथका प्रमाण अक्षरोंकी संख्या और अर्थका परिमाण दोनों प्रकारसे कह देते हैं ॥ १०७ ॥ यद्यपि इसका अर्थ अपरिमाण है अर्थात् यह अर्थसे अपरिमेय है तथापि शब्द और अक्षरोंसे इसकी संख्या हो सकती है क्योंकि शब्द और अक्षरोंसे संपूर्ण द्वादशांगकी संख्या भी संख्यातके भीतर ही है। संख्यातके बाहर नहीं है ॥ १०८ ॥ यदि अनुष्टुप् श्लोकोंसे इस प्रथमानुयोग ग्रंथकी संख्या की जाय तो वह दो लाख करोड़ पचपनहजार करोड़ चारसौ ब्यालीस

एकत्रिंशच्च लक्षाः स्युः शतानां पंचसप्ततिः । ग्रंथसंख्या च विज्ञेया श्लोकेनानुष्टुभेन हि ॥ ११० ॥ ग्रंथप्रमाणं निश्चित्य पदसंख्योपवर्ण्यते । पंचैवेह सहस्राणि पदानां गणना मता ॥ १११ ॥ शतानि षोडशैव स्युश्चतुस्त्रिंशच्च कोटयः । त्र्यशीतिलक्षाः सप्तैव सहस्राणि शताष्टकं ॥ ११२ ॥ अष्टाशीतिश्च वर्णाः स्युः संहता मध्यमं पदं । पदेनैतेन मीयंते पूर्वांगग्रंथविस्तराः ॥ ११३ ॥ द्रव्यप्रमाणमित्युक्तं भावतस्तु श्रुताह्वयं । प्रमाणमविसंवादि परमर्षिप्रणेतृकं ॥ ११४ ॥ पुराणस्यास्य वक्तव्यं कृत्स्नं वाङ्मयमिष्यते । यतो नास्माद्बहिर्भूतमस्ति वस्तु वचोपि वा ॥ ११५ ॥ यथा महार्घ्यरत्नानां प्रसूतिमर्कराकरात् । तथैव सूक्तरत्नानां प्रभवोस्मात्पुराणतः ॥ ११६ ॥ तीर्थकृच्चक्रवर्तींद्रबलकेशवसंपदः । मुनीनामृद्धय-

---

करोड़ इकतीस लाख सातहजार पांचसौ (२५५४४२३१०७५००) श्लोक होते हैं ॥ १०९ । ११० ॥ इसप्रकार ग्रंथका प्रमाण कहकर अब इसके पदोंकी संख्या कहते हैं । इस प्रथमानुयोग ग्रंथकी पदसंख्या पांच हजार जानना ॥ १११ ॥ और एकएक मध्यम पदमें सोलहसौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी (१६३४८३०७८८८) अक्षर होते हैं । ग्यारह अंग चौदहपूर्वोंकी ग्रंथसंख्या इसी मध्यम पदसे की जाती है ॥ ११२-११३ ॥ यह जो ऊपर परिमाण कहा गया है वह अक्षर पदरूप द्रव्यश्रुतज्ञानका है उसके अर्थका नहीं । उसका अर्थ श्रुतज्ञानरूप है जोकि सत्यार्थ, केवलीप्रणीत और केवलज्ञानगोचर है ॥ ११४ ॥ इस पुराणका जो संपूर्ण अंग प्रकीर्णकरूप श्रुतज्ञान है वह वक्तव्य कहलाता है । उसमें भी दृष्टिवादका जो तीसरा प्रथमानुयोग भेद है जिसके ५००० पद हैं एक एक पदमें १६३४८३०७८८८ अक्षर हैं पांचहजार पदोंके सब अक्षर १६३४८३०७८८८×५०००=८१७४१५३९४४०००० हुये । इनमें ३२ का भाग देनेसे २५५४४२३१०७५०० श्लोक हुये । यह सब प्रथमानुयोगमें कथन करने योग्य हैं । क्योंकि इस पुराणके बाहर न तो कोई पदार्थ ही है और न कोई वाक्य हैं ॥ ११५ ॥ जैसे बहुमूल्य रत्नोंकी उत्पत्ति समुद्रसे होती है उसीप्रकार सुभाषितरूपी रत्नोंकी उत्पत्ति इस पुराणसे समझना चाहिये ॥ ११६ ॥ चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, सौ इंद्र, नौ बलदेव, नौ नारायण इन सबकी विभूति और मुनियोंकी ऋद्धियां

श्चास्य वक्तव्याः सहकारणैः ॥ ११७ ॥ बद्धो मुक्तस्तथा बंधो मोक्षस्तद्द्वयकारणं। षड्द्रव्याणि पदार्थाश्च नवेत्यस्यार्थसंग्रहः ॥११८॥ जगतत्रय-निवेशश्च त्रैकाल्यस्य च संग्रहः । जगतः सृष्टिसंहारौ चेति कृत्स्नमिहोच्यते ॥ ११९ ॥ मार्गो मार्गफलं चेति पुरुषार्थसमुच्चयः । यावान्प्रविस्तरस्तस्य धत्ते सोस्याभिधेयतां ॥ १२० ॥ किमत्र बहुनोक्तेन धर्मसृष्टिरविप्लुता । यावती सास्य वक्तव्यपदवीमवगाहते ॥ १२१ ॥ सुदुर्लभं यदन्यत्र चिरादपि सुभाषितं । सुलभं स्वैरसंग्राह्यं तदिहास्ति पदे पदे ॥ १२२ ॥ यदत्र सुस्थितं वस्तु तदेव निकषक्षमं । यदत्र दुःस्थितं नाम

आदि सब इस पुराणमें कही जायंगी और यह भी बतलाया जायगा कि जीवोंको ये सब विभूति और ऋद्धियां किस प्रकार प्राप्त होती हैं अर्थात् यह सब कथन करना इस पुराणका अभिधेय है ॥ ११७ ॥ और इसीप्रकार संसारीजीव तथा मुक्तजीव, बंध, मोक्ष, बंधका कारण और मोक्षका कारण जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल ये छह द्रव्य अथवा जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य पाप ये नौ पदार्थ ये सब मिलकर इस पुराणका अर्थसंग्रह समझना चाहिये ॥ ११८ ॥ इस पुराणमें तीनों लोकोंकी रचना निरूपण की जायगी भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंका कथन कहा जायगा। तथा संसारकी उत्पत्ति विनाश आदि सब कुछ कहा जायगा ॥ ११९ ॥ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग, मोक्षरूप इसका फल तथा धर्म, अर्थ, काम, ये पुरुषार्थ इन सबका जो कुछ विस्तार है वह सब इस ग्रंथका अभिधेय है॥ १२० ॥ अधिक कहांतक कहाजाय सबका अभिप्राय यही है कि जो कुछ निर्बाध धर्मका विस्तार है वह सब इस ग्रंथमें कहा जायगा ॥ १२१ ॥ जो सुभाषित दूसरी जगह अधिक ढूंढनेपर भी नहीं मिल सकता वह इस ग्रंथमेंसे इच्छानुसार सहज रीतिसे संग्रह किया जा सकता है। क्योंकि इस ग्रंथमें ऐसे सुभाषित पदपदपर मिलते हैं॥ १२२॥ इस ग्रंथमें जो पदार्थ उत्तम गिना गया है, वह सब जगह कसौटीके द्वारा परीक्षा किये सुवर्णके समान उत्तम ही समझना चाहिये और जो पदार्थ इस ग्रंथमें बुरा बताया गया है वह सब जगह बुरा ही पाया जायगा॥ १२३॥ इसप्रकार इस ग्रंथका

तत्सर्वत्रैव दुःस्थितं ॥ १२३ ॥ एवं महाभिधेयस्य पुराणस्यास्य भूयसः । क्रियतेर्थाधिकाराणामियत्तानुगमोधुना ॥ १२४ ॥ अथःषष्टि-रिहार्थाधिकाराः प्रोक्ता महर्षिभिः । कथापुरुषसंख्यायास्तत्प्रमाणानतिक्रमात् ॥ १२५ ॥ त्रिषष्ट्यवयवः सोयं पुराणस्कंध इष्यते । अवांतराधिकाराणामपर्यंतोत्र विस्तरः ॥ १२६ ॥ तीर्थकर्तृपुराणेषु शेषाणामपि संग्रहात् । चतुर्विंशतिरेवात्र पुराणानीति केचन ॥ १२७ ॥ पुराणं वृषभस्याद्यं द्वितीयमजितेशिनः । तृतीयं शंभवस्येष्टं चतुर्थमभिनंदने ॥ १२८ ॥ पंचमं सुमतेः प्रोक्तं षष्ठं पद्मप्रभस्य च । सप्तमं स्यात्सुपार्श्वस्य चंद्रभासोष्टमं स्मृतं ॥ १२९ ॥ नवमं पुष्पदंतस्य दशमं शीतलेशिनः । श्रेयांसं च परं तस्माद् द्वादशं वासुपूज्यगं ॥ १३० ॥ त्रयोदशं च विमले ततोनंतजितः परं । जिने पंचदशं धर्मे शांतेः षोडशमीशितुः ॥ १३१ ॥ कुंथोः सप्तदशं ज्ञेयमरस्याष्टादशं मतं । मल्लेरेकोनविंशं स्याद्विंशं च

महान् प्रयोजन है बड़े बड़े पुरुषोंका इसमें चरित्र है इसलिये अब इसके अर्थाधिकारोंकी संख्याका नियम कहदेते हैं ॥ १२४ ॥ इस ग्रंथमें तिरेसठ महापुरुषोंका चरित्र निरूपण किया है इसलिये इसी संख्या के अनुसार बड़े बड़े आचार्योंने इसके तिरेसठ ही अधिकार निरूपण किये हैं ॥ १२५ ॥ इसप्रकार इस पुराणस्कंधके तिरेसठ अधिकार वा तिरेसठ अवयव समझना चाहिये परंतु इसके अंतर्गत अवांतर अधिकारोंका विस्तार अमर्याद है ॥ १२६ ॥ कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि तीर्थंकरोंके पुराण कहनेमें ही चक्रवर्ती बलदेव आदि सब महापुरुषोंका चरित्र आजाता है इस हिसाबसे इस ग्रंथमें चौबीस ही पुराण समझना चाहिये और वे चौबीस पुराण इसप्रकार हैं। पहला पुराण वृषभनाथका, दूसरा अजितनाथका, तीसरा शंभवनाथका, चौथा अभिनंदन स्वामीका पांचवां सुमतिनाथका, छठा पद्मप्रभका, सातवां सुपार्श्वनाथका, आठवां चंद्रप्रभका, नौवां पुष्पदंतका, दशवां शीतलनाथका, ग्यारहवां श्रेयांसनाथका, बारहवां वासुपूज्यका, तेरहवां विमलनाथका, चौदहवां अनंतनाथका, पंद्रहवां धर्मनाथका, सोलहवां शांतिनाथका, सत्रहवां कुंथुनाथका, अठारहवां अरनाथका, उन्नीसवां मल्लिनाथका, बीसवां मुनिसुव्रतका, इक्कीसवां नमिनाथका, बावीसवां नेमिनाथका, तेईसवां पार्श्वनाथका और चौवीसवां महावीर स्वामी

मुनिसुव्रते ॥१३२॥ एकविंशं नमेर्भर्तुर्नेमेर्द्वाविंशमर्हतः । पार्श्वेशस्य त्रयोविंशं चतुर्विंशं च सन्मतेः ॥१३३॥ पुराणान्येवमेतानि चतुर्विंशतिरर्हतां । महापुराणमेतेषां समूहः परिभाष्यते ॥ १३४ ॥ पुराणं महदाद्यत्वे यदस्माभिरनुस्मृतं । पुरा युगांते तन्नूनं कियदप्यवशिष्यते ॥ १३५ ॥ दोषाद्दुःषमकालस्य प्रहास्यंते धियो नृणां । तासां हानेः पुराणस्य हीयते ग्रंथविस्तरः ॥ १३६ ॥ तथाहीदं पुराणं नः सधर्मा श्रुतकेवली । सुधर्मः प्रचयं नेष्यत्यखिलं मदनंतरं ॥ १३७ ॥ जंबूनामा ततः कृत्स्नं पुराणमपि शुश्रुवान् । प्रथयिष्यति लोकेस्मिन्सोंत्यः केवलिनामिह ॥ १३८ ॥ अहं सुधर्मो जंब्वाख्यो निखिलश्रुतधारिणः । क्रमात्कैवल्यमुत्पाद्य निर्वास्यामस्ततो वयं ॥ १३९ ॥ त्रयाणामस्मदादीनां कालः केवलिनामिह । द्वाषष्टिवर्षपिंडः स्याद्भगवन्निर्वृतेः परं ॥ १४० ॥ ततो यथाक्रमं विष्णुर्नंदिमित्रोपराजितः । गोवर्धनो भद्रबाहुरित्याचार्या महाधियः ॥

का ॥ १२७–१३३ ॥ इसप्रकार चौवीस तीर्थंकरोंके ये उपर्युक्त चौवीस पुराण हैं और इन चौवीस पुराणों का समूह ही महापुराण कहलाता है ॥ १३४ ॥ जो महापुराण हमने आज कहा है वह इस अवसर्पिणी कालके अंतमें बहुत ही स्वल्प रह जायगा ॥१३५॥ क्योंकि पांचवें दुःखमकालके दोषसे मनुष्योंकी बुद्धि बराबर घटती चली जायगी और बुद्धिके घटनेसे ग्रंथका विस्तार भी कम हो जायगा ॥१३६॥ और वह इसप्रकार कम होगा कि जो पुराण मैंने कहा है उसे मेरे पीछे श्रुतकेवली श्री सुधर्माचार्य ज्योंका त्यों प्रकाश करेंगे ॥ १३७ ॥ उनसे यह संपूर्ण पुराण श्रीजंबूस्वामी सुनेंगे और वे अंतिम केवली होकर इस संसारमें उस संपूर्ण पुराणका प्रकाश करेंगे ॥ १३८ ॥ इस समय मैं, सुधर्माचार्य और जंबूस्वामी तीनों ही पूर्ण श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले श्रुतकेवली हैं। हम तीनों ही एकके बाद एक इस क्रमसे केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जायंगे ॥१३९॥ भगवान् श्रीवर्द्धमानस्वामीके मुक्त होनेके अनंतर बासठ वर्षमें हम तीनों ही मुक्त होजांयगे॥१४०॥ तदनंतर सौ वर्षमें यथाक्रमसे विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये महा बुद्धिमान् आचार्य होंगे । ये आचार्य ग्यारह अंग और चौदह पूर्वके पारगामी अर्थात् श्रुतकेवली होंगे और संपूर्ण पुराणका प्रकाश करेंगे ॥ १४१-१४२ ॥ तदनंतर एकसौ तिरासी वर्षमें अ-

१४१ ॥ चतुर्दशमहाविद्यास्थानानां पारगा इमे । पुराणं द्योतयिष्यंति कात्स्न्येंन शरदः शतं ॥ १४२ ॥ विशाखप्रोष्ठिलाचार्यौ क्षत्रियो जयसाह्वयः । नागसेनश्च सिद्धार्थो धृतिषेणस्तथैव च ॥ १४३ ॥ विजयो बुद्धिमान् गंगदेवो धर्मादिशब्दतः । सेनश्च दशपूर्वाणां धारकाः स्युर्यथाक्रमं ॥ १४४ ॥ त्र्यशीतं शतमब्दानामेतेषां कालसंग्रहः । तदा च कृत्स्नमेवेदं पुराणं विस्तरिष्यते ॥ १४५ ॥ ततो नक्षत्रनामा च जयपालो महातपाः । पांडुश्च ध्रुवसेनश्च कंसाचार्य इति क्रमात् ॥ १४६ ॥ एकादशांगविद्यानां पारगाः स्युर्मुनीश्वराः । विंशं द्विशतमब्दानामेतेषां काल इष्यते ॥ १४७ ॥ तदा पुराणमेतत्तु पादोनं प्रथयिष्यते । भाजनाभावतो भूयो जायेताज्ञाकनिष्ठता ॥ १४८ ॥ सुभद्रश्च यशोभद्रो भद्रबाहुर्महायशाः । लोहार्यश्चेत्यमी ज्ञेयाः प्रथमांगाब्धिपारगाः ॥ १४९ ॥ समानां शतमेषां स्यात् कालोष्टादशभिर्युतः । तुर्यो भागः पुराणस्य तदास्य प्रतनिष्यते ॥ १५० ॥ ततः क्रमात् प्रहायेदं पुराणं स्वल्पमात्रया । धीप्रमोषादिदोषेण विरलैर्धारयिष्यते ॥ १५१ ॥ ज्ञानविज्ञानसंपन्नगुरुपर्वान्वयादिदं । प्रमाणं

नुक्रमसे विशाखाचार्य, प्रोष्ठिलाचार्य, क्षत्रियाचार्य, जयाचार्य, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण विजय, बुद्धिमान् गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य ग्यारह अंग दश पूर्वके धारण करनेवाले होंगे और इस संपूर्ण पुराणका प्रकाश करेंगे ॥१४३ । १४४ । १४५॥ इनके बाद दोसौ बीस वर्षमें अनुक्रमसे नक्षत्र, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंसाचार्य ये पांच महातपस्वी मुनि होंगे जो कि ग्यारह अंगके पारगामी होंगे। इनके समयमें पुराणका तीन चतुर्थांश अर्थात् पौनभाग प्रकाश होगा। क्योंकि फिर उत्तरोत्तर बुद्धि कम होनेसे इस श्रुतज्ञानको धारण करनेवाला कोई पात्र नहीं रहेगा इसलिये भगवानका कहा हुआ यह पुराण अवश्य ही कम होता चला जायगा ॥ १४६ । १४७ । १४८ ॥ कंसाचार्यके बाद एकसौ अठारह वर्षमें सुभद्र यशोभद्र भद्रबाहु और लोहाचार्य ये चार महा यशस्वी आचार्य होंगे जो कि प्रथम अंगके पारगामी होंगे। इनके समयमें पुराणका चतुर्थांश (चौथाई) भाग प्रकाश होगा ॥ १४९ । १५० ॥ श्रीवर्द्धमानस्वामीके मुक्त होनेके छः सौ तिरासी वर्ष बाद यह पुराण अनुक्रमसे थोड़ा थोड़ा घटता चला जायगा क्योंकि लोगोंकी बुद्धि बराबर घटती चली जायगी इसलिये इसे फिर कोई कोई आचार्य ही धारण कर सकेंगे ॥ १५१ ॥ उस समय शास्त्रज्ञानको धारण करनेवाले तथा उसका अनुभव करनेवाले ऐसे अनु-

यच्च यावच्च यदा यच्च प्रकाशते ॥ १५२ ॥ तदापीदमनुस्मर्तुं प्रभविष्यंति धीधनाः । जिनसेनाग्रगाः पूज्याः कवीनां परमेश्वराः ॥ १५३ ॥ प्रमाणमिदमेवाद्यं यदाम्नातं स्वयंभुवा । पुराणाभासमन्यत्तु केवलं वाङ्मलं विदुः ॥ १५४ ॥ नामग्रहणमात्रं च पुनाति परमेष्ठिनां । किं पुनर्मुहुरापीतं तत्कथाश्रवणामृतं ॥ १५५ ॥ ततो भव्यजनैः श्राद्धैरवगाह्यमिदं मुहुः । पुराणं पुण्यपुंरत्नैर्भृतमब्धीयितं महत् ॥ १५६ ॥ तच्च पूर्वानुपूर्व्येदं पुराणमनुवर्ण्यते । तत्राद्यस्य पुराणस्य संग्रहे कारिकां विदुः ॥ १५७ ॥ स्थितिः कुलधरोत्पत्तिर्वंशानामथ निर्गमः । पुरोः साम्राज्यमार्हंत्यं निर्वाणं युगविच्छिदः ॥ १५८ ॥ एते महाधिकाराः स्युः पुराणे वृषभेशिनः । यथावसरमन्येषु पुराणेष्वपि लक्षयेत् ॥१५९॥ कथोपोद्घात

क्रमसे होनेवाले आचार्योंके द्वारा जितना जो कुछ यह पुराण प्रकाशित होता रहेगा उसको स्मरण करनेकेलिये जिनसेनको आदि लेकर पूज्य, बुद्धिमान् और मुख्यकवि उत्पन्न होंगे ॥ १५२-१५३ ॥ जिस पुराणका लक्षण ऊपर कहा गया है और जो श्रीवर्द्धमान स्वामीने निरूपण किया है वही पुराण प्रमाण है इसके सिवाय और पुराण सब पुराणाभास हैं वे केवल वाणीके दोषमात्र हैं ॥१५४॥ हे श्रेणिक ! पंच परमेष्ठियोंका नाम लेनेमात्रसे यह जीव पवित्र हो जाता है तो फिर उनकी कथारूप अमृतके बारबार पीनेसे तो कहना ही क्या है । अर्थात् उनकी कथा सुननेसे अवश्य ही मोक्ष प्राप्त होता है ॥१५५॥ इसलिये यह पुराण जो पुण्यपुरुषरूपी रत्नोंसे भरा हुआ एक महासागरके समान हैं इसे श्रद्धालु श्रावकों को तथा भव्यजनोंको बारंबार अवगाहन करना चाहिये अर्थात् इसका पठनपाठन मनन आदि नित्य करते रहना चाहिये ॥ १५६ ॥ जिस पुराणका वर्णन ऊपरसे करते चले आये हैं वही पुराण अब अनुक्रमसे कहेंगे और उसमें भी पहले श्रीवृषभनाथ पुराणकी कारिका कहेंगे । कारिका उसे कहते हैं, जिसमें शब्द थोड़े हों और अर्थ बहुत हो ॥१५७॥ इस वृषभनाथपुराणमें कालका निरूपण, कुलकरोंकी उत्पत्ति, वंशोंकी उत्पत्ति, श्रीवृषभनाथका साम्राज्य, अरहंत अवस्था, निर्वाण और युगका विच्छेद होना ये महाधिकार हैं । इसीप्रकार अजितनाथपुराण आदि शेष तेईस पुराणोंमें जो जो अधिकार होंगे वे सब समयानुसार कहे जांयगे ॥१५८।१५९॥ यह उपर्युक्त इस कथाका उपोद्घात कहा है अब आगे इस कथाकी

एषोऽस्याः कथायाः पीठीकामितः । वक्ष्ये कालावतारं च स्थितिं कुलभृतामपि ॥ १६० ॥ प्रणिगदति सतीत्थं गौतमे भक्तिनम्रा मुनिपारिषदशेषा श्रोतुकामा पुराणं । मगधनृपतिनामा सावधाना तदाभूत् हितमवगणयेद्वा कः सुधीराप्तवाक्यं ॥ १६१ ॥ इत्याचार्यपरंपरीणममलं पुण्यं पुराणं पुरा कल्पे यद्भगवानुवाच वृषभश्चक्रादिभर्त्रे जिनः । तद्वः पापकलंकपंकमखिलं प्रक्षाल्य शुद्धिं परां देयात्पुण्यवचोजलं परमिदं तीर्थं जगत्पावनं ॥ १६२ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे कथोपोद्घातवर्णनं नाम द्वितीयं पर्व ॥ २ ॥

पीठीका कालावतार और कुलकरोंकी स्थिति आदि कहेंगे ॥ १६० ॥ इसप्रकार जब गौतम गणधरने पुराण कहनेकी प्रतिज्ञा की तब वह मुनियोंकी संपूर्ण सभा पुराण सुननेकी इच्छासे भक्तिवश अतिशय नम्र होकर मगधाधिपति महाराज श्रेणिकके साथ साथ अतिशय सावधान हुई । सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान है जो हितरूप आप्त वाक्योंकी अवहेलना करें ॥ १६१ ॥ इसप्रकार आचार्य परंपरा से प्राप्त हुआ तथा निर्दोष और पुण्यरूप जो पुराण इस युगके प्रारंभमें भगवान श्रीवृषभनाथ स्वामी ने भरतचक्रवर्त्तिकेलिये कहा था, वह पुण्यवचनरूपी जल संसारको पवित्र करनेवाला उत्कृष्ट तीर्थके समान है। वही पुण्यवचनरूपी तीर्थ तुमलोगोंके समस्त पापकलंकरूपी कीचड़ धोकर तुम्हें परम शुद्ध करें॥१६२॥

इसप्रकार श्रीभगज्जिनसेनाचार्यप्रणीत संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें कथोपोद्घातवर्णन नामका दूसरा पर्व समाप्त हुआ ॥ २ ॥

—— :o: ——

अथ तृतीयं पर्व ।

पुराणं मुनिमानम्य जिनं वृषभमच्युतं । महतस्तत्पुराणस्य पीठिका व्याकरिष्यते ॥ १ ॥ अनादिनिधनः कालो वर्त्तनालक्षणो मतः। लोकमात्रः सुसूक्ष्माणुपरिच्छिन्नप्रमाणकः ॥ २ ॥ सोऽसंख्येयोऽप्यनंतस्य वस्तुराशेरुपग्रहे । वर्त्तते स्वगतानंतसामर्थ्यपरिबृंहितः ॥ ३ ॥ यथा कुलालचक्रस्य भ्रांतेर्हेतुरधःशिला । तथा कालः पदार्थानां वर्तनोपग्रहे मतः ॥ ४ ॥ स्वतो विवर्त्तमानानां सोऽर्थानां परिवर्त्तकः । यथास्वगुण-

अथ तीसरा पर्व ।

श्रीवृषभनाथ स्वामी इस अवसर्पिणीकालके सबसे प्राचीन और अविनाशी मुनि हैं इसलिये उन्हें नमस्कार कर इस महापुराणकी पीठिका प्रारंभ करते हैं ॥ १ ॥ यह काल अनादिनिधन है वर्त्तना ही इसका लक्षण है । जो जीव पुद्गलादि द्रव्योंको एक पर्यायसे दूसरे पर्यापरूप परिणत करावे उसे वर्त्तना कहते हैं । यह वर्त्तना निश्चयकालका लक्षण है । निश्चयकाल अतिशय सूक्ष्म परमाणुमात्र है, और वे परमाणु असंख्यात हैं जो कि समस्त लोकाकाशमें भरे हुये हैं ॥२॥ उन प्रत्येक परमाणुओंमें अनंत पदार्थोंके परिणमन करानेकी शक्ति है इसलिये वे असंख्यात होकर भी अनंत पदार्थोंके परिणमन होनेमें उपकारी होते हैं ॥ ३ ॥ जैसे कुंभारके चाकके फिरनेमें उसके नीचे लगी हुई लोहेकी कीली कारण है। यद्यपि फिरने की शक्ति चाकमें है तथापि वह बिना कीलीके नहीं फिर सकता । ठीक इसीप्रकार पदार्थोंके परिणमन होनेमें पदार्थोंमें ही शक्ति विद्यमान है तथापि वे बिना कालके परिणत नहीं हो सकते इसलिये पदार्थोंके परिणमन होनेमें काल निमित्त कारण है ॥ ४ ॥ संसारमें जितने पदार्थ हैं वे सब अपने आप एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको प्राप्त होते रहते हैं और यह उनकी अवस्था निज निज गुणपर्यायोंके द्वारा ही बदलती रहती है, उसमें काल केवल निमित्तकारण है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अपने आप परिणत होते हुये पदार्थोंके लिये काल निमित्त कारण होकर भी वह अन्य पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है । अर्थात्

पर्यायैरतो नान्योऽन्यसंप्लवः ॥ ५ ॥ सोऽस्तिकायेष्वसंपाठान्नास्तीत्येके विमन्वते । षड्द्रव्येषूपादिष्टत्वाद्युक्तियोगाच्च तद्गतिः ॥ ६ ॥ मुख्यकल्पेन

किसी पदार्थसे परस्पर मिलता नहीं है ॥ ५ ॥ बहुतसे लोगोंका मत है कि काल पंचास्तिकायोंमें नहीं गिनाया है क्योंकि जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश ये पांच ही अस्तिकाय कहे हैं इनमें काल कहा नहीं इसलिये वह कोई भिन्न पदार्थ नहीं है परंतु उनका यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि काल [1]एकप्रदेशी है बहुप्रदेशी नहीं है, इसलिये उसे अस्तिकायमें नहीं गिनाया। परंतु छह द्रव्योंमें उसे ग्रहण किया है। जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल ये छह द्रव्य हैं इनमें काल गिनाया ही है इसलिये उसकी सत्ता अवश्य माननी चाहिये। दूसरी बात यह है कि युक्तिसे भी काल सिद्ध होता है और वह इसप्रकार कि संसारमें घड़ी घंटा आदि व्यवहारकाल प्रसिद्ध ही है और वे पर्यायरूप हैं पर्यायका कोई न कोई पर्यायी अवश्य होना चाहिये । क्योंकि बिना पर्यायीके पर्याय हो नहीं सकती इसलिये मानना चाहिये कि पर्यायरूप व्यवहारकालका पर्यायी मुख्यकाल है। यह व्यवहारकाल उसी मुख्यकालसे उत्पन्न हुआ है क्योंकि विना मुख्यके किसी भी गौणपदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। जैसे किसीने कहा कि यह बालक सिंहके समान तेजस्वी है। संसारमें जब कोई सिंह पदार्थ सिद्ध है तभी उसका तेजधर्म किसी बालकमें आरोपण कर सकते हैं यदि सिंह कोई पदार्थ ही न हो तो उसका कोई धर्म भी किसी में आरोपण नहीं कर सकते। इसी

१ काल एकप्रदेशी है इसमें प्रमाण यह है कि मुख्यकालसे जो व्यवहारकाल उत्पन्न होता है उसका छोटेसे छोटा भाग समय ही उत्पन्न

कालोऽस्ति व्यवहारप्रतीतितः । मुख्याद्दते न गौणोऽस्ति सिंहो माणवको यथा ॥ ७॥ प्रदेशप्रचयापायात्कालस्यानस्तिकायता । गुणप्रचययोगोऽस्य द्रव्यत्वादस्ति सोऽस्त्यतः ॥८॥ अस्तिकायश्रुतिर्वक्ति कालस्यानास्तिकायतां । सर्वस्य सविपक्षत्वाज्जीवकायश्रुतिर्यथा ॥ ९ ॥ कालोऽन्यो व्यवहारात्मा मुख्यकालव्यपाश्रयः । परापरत्वसंसूच्यो वर्णितः सर्वदर्शिभिः ॥ १० ॥ वर्त्तितो द्रव्यकालेन वर्त्तनालक्षणेन यः । कालः पूर्वापरीभूतो व्यवहाराय

प्रकार मुख्यकालके होनेसे ही व्यवहारकालकी प्रतीति हो सकती है । व्यवहारकाल प्रसिद्ध है । इसलिये उसका उत्पादक पर्यायी मुख्यकाल भी अवश्य मानना पड़ेगा ॥ ६ । ७ ॥ यह मुख्यकाल केवल एक प्रदेशरूप है । अनेक प्रदेशोंके समूहरूप नहीं है इसलिये इस अस्तिकायमें नहीं गिना है । परंतु द्रव्योंमें अवश्य गिना गया है क्योंकि इसमें अगुरुलघुत्व गुण है वर्त्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वादिक पर्य्याय हैं । जिसमें गुणपर्याय हों वह द्रव्य कहलाता है। इसमें अगुरुलघुत्वादि गुण हैं और उन गुणोंके विकार पर्याय हैं इसलिये वह द्रव्य है और द्रव्य होनेसे उसकी सत्ता अवश्य माननी चाहिये इससे सिद्ध हुआ किं संसार में काल कोई पदार्थ अवश्य है ॥ ८ ॥ जैसे जीव कहनेसे जीवसे विपक्षी पुद्गल धर्म अधर्म आदि अजीव कहलाते हैं ठीक इसीप्रकार जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाशको अस्तिकाय कहनेसे ही यह सिद्ध होता है किं काल अस्तिकाय नहीं है क्योंकि पुद्गलादि अस्तिकाय सब बहुप्रदेशी हैं और यह उनसे सर्वथा विपरीत है अर्थात् एकप्रदेशी ही है । अतएव सिद्ध हुआ कि मुख्यकाल कोई पदार्थ है और वह एकप्रदेशी है । तथा उसके भिन्न भिन्न असंख्यात प्रदेश समस्त लोकाकाशमें भरे हुये हैं ॥ ९ ॥ इस मुख्यकालसे जो पर्य्याय उत्पन्न होता है उसे व्यवहारकाल कहते हैं जैसे समय आवली घड़ी घंटा आदि । तथा वह परिणाम क्रिया परत्वापरत्व आदिसे जाना जाता है । जैसे पंद्रह वर्षका बालक छोटा और बीस वर्षका बडा गिना जाता है। प्रातःकालादि होनेसे लोग आने जाने आदि क्रियाओं में लगजाते हैं इत्यादि श्रीसर्वज्ञदेवने कहा है ॥ १० ॥ यह व्यवहारकाल वर्त्तनालक्षणरूप निश्चयकालके अनुसार ही प्रवर्त्तन

कल्प्यते ॥ ११ ॥ समयावलिकोच्छ्वासनालिकादिप्रभेदतः । ज्योतिश्चक्रभ्रमायत्तं कालचक्रं विदुर्बुधाः ॥ १२ ॥ भवायुःकायकर्मादिस्थितिसंकलनात्मकः । सोऽनंतसमयस्तस्य परिवर्त्तोऽप्यनंतधा ॥ १३ ॥ उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ द्वौ भेदौ तस्य कीर्तितौ । उत्सर्पादवसर्पाच्च बलायुर्देहवर्ष्मणां ॥ १४ ॥ कोटीकोट्यो दशैकस्य प्रमा सागरसंख्यया । शेषस्याप्येवमेवेष्टा तावुभौ कल्प इष्यते ॥ १५ ॥ षोढा स पुनरेकैको भिद्यते स्वभिदात्मभिः । तन्नामान्यनुकीर्त्यंते शृणु राजन्यथाक्रमं ॥ १६ ॥ द्विरुक्तसुषमाद्यासीत् द्वितीया सुषमा मता । सुषमादुःषमांतान्या सुषमांता च दुःषमा ॥ १७ ॥

होता है और वह भूत भविष्यत वर्त्तमानरूपसे व्यवहारकेलिये कल्पना किया गया है ॥ ११ ॥ इसी व्यवहारकालके समय आवलिका उच्छ्वास घड़ी घंटा आदि अनेक भेद होते हैं और वे सब भेद ज्योतिश्चक्रके फिरनेसे होते हैं तथा वे सब व्यवहारकाल कहलाते हैं ॥ १२ ॥ यदि भवस्थिति आयुस्थिति कायस्थिति कर्मस्थिति आदि सबका समय जोड़ा जाय तो वह अनंत समयरूप होता है और उसका परिवर्त्तन भी अनंतप्रकारसे होता है ॥१३॥ इस व्यवहारकालके मुख्य दो भेद हैं एक उत्सर्पिणीकाल और दूसरा अवसर्पिणीकाल। जिसमें मनुष्योंका बल आयु और देहका परिमाण क्रमसे बढ़ता जाय उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जिसमें ये सब घटते जायं उसे अवसर्पिणीकाल कहते हैं ॥ १४ ॥ उनमेंसे उत्सर्पिणीकालका समय दश कोड़ाकोड़ी सागर है तथा अवसर्पिणीकालका समय भी दश कोड़ाकोड़ी सागर है। ये दोनों उत्सर्पिणी अवसर्पिणीकाल मिलकर अर्थात् बीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है ॥ १५ ॥ इन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकालके प्रत्येकके छह छह भेद होते हैं। हे राजन् उन सबके नाम यथाक्रमसे कहे जाते हैं तुम ध्यान देकर सुनो ॥ १६ ॥ अवसर्पिणीकालके छह भेद ये हैं- पहला काल सुषमासुषमा, दूसरा सुषमा, तीसरा सुषमादुःषमा, चौथा दुःषमासुषमा, पाचवां दुःषमा और छठा काल अतिदुःषमा अथवा दुःषमादुःषमा है। जैसे अवसर्पिकालके ये छह भेद होते हैं उसी प्रकार उत्सर्पिणी कालके भी इनसे विपरीत छह भेद होते हैं और वे ये हैं, पहला अतिदुःषमा, दूसरा

पंचमी दुःषमा ज्ञेया समा षष्ठ्यतिदुःषमा । भेदा इमेऽवसर्पिण्या उत्सर्पिण्या विपर्ययाः ॥१८॥ समा कालविभागः स्यात्सुदुःसावर्हगर्हयोः । सुषमा दुःषमेत्येवमतोऽन्वर्थत्वमेतयोः ॥ १९ ॥ उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालौ सांतर्भिदाविमौ । स्थित्युत्सर्पावसर्पाभ्यां लब्धान्वर्थाभिधानकौ ॥ २० ॥ कालचक्रपरिभ्रांत्या षट्समापरिवर्त्तनैः । तावुभौ परिवर्त्तेते तामिस्रेतरपक्षवत् ॥ २१ ॥ पुरास्यामवसर्पिण्यां क्षेत्रेऽस्मिन्भरताह्वये । मध्यमं खंडमाश्रित्य ववृधे प्रथमा समा ॥ २२ ॥ सागरोपमकोटीनां कोटी स्याच्चतुराहता । तस्य कालस्य परिमा तदा स्थितिरियं मता ॥ २३ ॥ देवोत्तर-

---

दुःषमा, तीसरा दुःषमासुषमा, चौथा सुषमादुःषमा, पांचवां सुषमा और छठा सुषमासुषमा ॥ १७ । १८ ॥ उत्सर्पिणी अवसर्पिणीकालके प्रत्येकके जो ये उपर्युक्त छह छह भेद किये हैं वे सब सार्थक हैं क्योंकि काल के विभागको समा कहते हैं तथा सु उपसर्गका अर्थ अच्छा और दुः उपसर्गका अर्थ बुरा है। सु और दुः ये दोनो उपसर्ग पृथक् पृथक् समाके साथ जोड़नेसे व्याकरणके नियमानुसार समाके सकारको षकार हो कर सुषमा और दुःषमा बनते हैं। इसप्रकार अच्छे कालविभागको सुषमा और बुरे कालविभागको दुःषमा यह उनका सार्थक नाम है ॥ १९ ॥ इसीप्रकार छह भेदसहित उत्सर्पिणी और छह भेदसहित अवसर्पिणी ये दोनों भी अन्वर्थसंज्ञक हैं क्योंकि जिसमें स्थिति आदिकी वृद्धि होती रहे उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें स्थितिआदिकी घटती होती रहे उसे अवसर्पिणी कहते हैं ॥२०॥ इसप्रकार छह समयोंके द्वारा यह कालका परिभ्रमण निरंतर होता रहता है और वह इसप्रकार होता है जैसे कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष। अर्थात् जैसे कृष्णपक्षके बाद शुक्लपक्ष और शुक्लपक्षके बाद कृष्णपक्ष आता है इसीप्रकार उत्सर्पिणीके बाद अवसर्पिणी और अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी इसप्रकार कालका परिभ्रमण बराबर हुआ करता है ॥ २१ ॥ इस भरतक्षेत्रमें वर्त्तमानमें यह अवसर्पिणीकाल चल रहा है। इसमें सबसे पहले सुषमासुषमा नामका पहला काल इस भरतक्षेत्रके मध्यके खंड आर्यक्षेत्रमें था ॥२२॥ यह पहला काल चारकोड़ाकोड़ी सागरका था। उस समय यहांकी और सब अवस्था नीचे लिखे प्रमाण थीं ॥ २३ ॥ देवकुरु और उत्तर

कुरुक्ष्मासु या स्थितिः समवस्थिता । सा स्थितिर्भारते वर्षे युगारंभे स जायते ॥ २४ ॥ तदा स्थितिर्मनुष्याणां त्रिपल्योपमसंमिता । षट्सहस्राणि चापानामुत्सेधो वपुषः स्मृतः ॥ २५ ॥ वज्रास्थिबंधनाः सौम्याः सुंदराकारचारवः । निष्टप्तकनकच्छाया दीप्यते ते नरोत्तमाः ॥२६॥ मुकुटं कुंडलं हारो मेखला कटकांगदौ । केयूरं ब्रह्मसूत्रं च तेषां शश्वद्विभूषणं ॥ २७ ॥ एते पुण्योदयोद्भूतरूपलावण्यसंपदः । रंरम्यंते चिरं स्त्रीभिः सुरा इव सुरालये ॥ २८ ॥ महासत्त्वा महाधैर्या महोरस्का महौजसः । महानुभावास्ते सर्वे महीयंते महोदयाः ॥ २९ ॥ तेषामाहारसंप्रीतिर्जायते दिवसैस्त्रिभिः । कुवलीफलमात्रं च दिव्यान्नं विष्वणंति ते ॥ ३० ॥ निर्व्यायामा निरातंका निर्णीहारा निराधयः । निःस्वेदास्ते निराबाधं जीवंति पुरु

कुरु उत्तमभोगभूमियोंमें सदा जैसी स्थिति रहती है ठीक वैसी ही स्थिति इस भरतक्षेत्रमें इस अवसर्पिणीकालके प्रारंभमें थी ॥ २४ ॥ उस सयय यहां मनुष्योंकी आयु तीन पल्यकी होती थी और शरीरकी उंचाई छह हजार धनुष थी ॥ २५ ॥ उनके अस्थिबंधन वज्रके समान सुदृढ़ थे। वे मनुष्योत्तम अतिशय सौम्य तथा सुंदर आकारके अतिशय मनोहर थे। उनका शरीर तपाये हुये सुवर्णके समान अतिशय देदीप्यमान था॥२६॥ वे अपने शिरमें मुकुट, कानोंमें कुंडल, कंठमें हार, कमरमें करधनी, भुजाओंमें बाजूबंद कड़े और वक्षःस्थलमें यज्ञोपवीत ये आभूषण सदा धारण किये रहते थे ॥ २७ ॥ उन्हें पुण्योदयसे अद्‌भुत रूप अद्‌भुत लावण्य और अद्‌भुत संपदायें प्राप्त होती थीं। इसलिये स्वर्गोंमें देवोंके समान ये पुरुष भी अपनी अपनी स्त्रियों के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ २८ ॥ वे पुरुष बड़े बलशाली होते हैं, बडे धीरवीर होते हैं, विशाल वक्षःस्थलवाले होते हैं बड़े तेजस्वी बड़े सामर्थ्यवान् और बड़े भाग्यशाली होते हैं तथा वे सब संसारमें पूज्य समझे जाते हैं ॥ २९ ॥ उन्हें तीन दिन बाद भोजन करनेकी इच्छा होती है उस समय बद्रीफलके बराबर कल्पवृक्षसे प्राप्त हुआ दिव्य भोजन करते हैं ॥ ३० ॥ न तो उन्हें आने जाने आदि का कोई परिश्रम करना पड़ता है न उन्हें कोई रोग होता है। मलमूत्रादिकी बाधा भी उनके नहीं होती। मानसिक पीड़ा और पसीना आदि भी उनके नहीं होता। न वे परस्पर एक दूसरेको कभी दुःख

र्यायुषाः ॥ ३१ ॥ स्त्रियोऽपि तावदायुष्कास्तावदुत्सेधवृत्तयः । कल्पद्रुमेषु संसक्ताः कल्पवल्य इवोज्ज्वलाः ॥ ३२ ॥ पुरुषेष्वनुरक्तास्तास्ते च तास्वनुरागिणः । यावज्जीवमसंक्लिष्टा भुंजते भोगसंपदः ॥ ३३ ॥ स्वभावसुंदरं रूपं स्वभावमधुरं वचः । स्वभावचतुरा चेष्टा तेषां स्वर्गजुषामिव ॥ ३४ ॥ रुच्याहारगृहातोद्यमाल्यभूषांबरादिकं । भोगसाधनमेतेषां सर्वं कल्पतरूद्भवं ॥ ३५ ॥ मंदगंधवहाधूतचलदंशुकपल्लवाः । नित्यालोका विराजंते कल्पोपपदपादपाः ॥ ३६ ॥ कालानुभवसंभूतक्षेत्रसामर्थ्यबृंहिताः । कल्पद्रुमास्तथा तेषां कल्पंतेऽभीष्टसिद्धये ॥ ३७ ॥ मनोऽ-

---

पहुंचाते हैं और न कभी अकालमृत्यु ही होती है। किंतु सुखसे अपनी आयुप्रमाण जीवित रहते हैं ॥ ३१ ॥ वहांकी स्त्रियोंकी आयु भी पुरुषोंके समान होती है शरीरकी उंचाई भी उतनी ही होती है जैसे कल्पवृक्षोंपर लगी हुई निर्मल कल्पलतायें शोभायमान होती हैं उसीप्रकार ये स्त्रियां भी उन पुरुषोंके साथ अतिशय शोभायमान होती हैं ॥ ३२ ॥ वे स्त्रियां अपने अपने पुरुषोंसे अनुरक्त रहती हैं और पुरुष अपनी अपनी स्त्रियोंमें अनुरक्त रहते हैं वहांके स्त्री पुरुष दोनों ही अपनी आयुपर्यंत क्लेशरहित निरंतर भोग और संपदाओंका उपभोग करते रहते हैं ॥ ३३ ॥ देवोंके समान उनका रूप स्वाभाविक ही सुंदर होता है। उनकी वाणी स्वभावसे ही मीठी होती है और उनकी चेष्टा भी स्वभावसे ही चतुर होती है ॥ ३४ ॥ इच्छानुसार भोजन, गृह, बाजे, माला, आभूषण और वस्त्र आदि जितने कुछ भोगोपभोगके साधन हैं, वे सब उन्हें इच्छा करते ही कल्पवृक्षोंसे प्राप्त होते हैं ॥ ३५ ॥ जिनके पत्ते सुगंधित और मंद मंद वायुके द्वारा कपड़ेके समान हिल रहे हैं तथा जो स्वयं सदा प्रकाशमान रहते हैं ऐसे वहांके कल्पवृक्ष बड़े ही शोभायमान रहते हैं ॥ ३६ ॥ सुषमासुषमाकालके प्रभावसे वहांके क्षेत्रमें जो सामर्थ्य होती है उससे वे कल्पवृक्ष बढ़ते हैं और वहांके जीवोंको अभीष्ट पदार्थ देनेकेलिये समर्थ होते हैं ॥ ३७ ॥ वे कल्पवृक्ष वहां उत्पन्न हुये अति पुण्यवान् मनुष्योंको उनके मनोनुकूल अनेकप्रकारकी भोगोपभोग संपदायें सदा देते रहते हैं इसलिये गणधरादि देवोंने इनका कल्पवृक्ष ऐसा सार्थक नाम कहा है ॥ ३८ ॥

भिलषितान्भोगान् यस्मात्पुण्यकृतां नृणां। कल्पयंति ततस्तज्ज्ञैर्निरुक्ताः कल्पपादपाः ॥ ३८ ॥ मद्यतूर्यविभूषास्रग्ज्योतिर्दीपगृहांगकाः । भाजनामत्र-वस्त्रांगा दशधा कल्पशाखिनः ॥ ३९ ॥ इति स्वनामनिर्दिष्टां कुर्वंतोऽर्थक्रियाममी । संज्ञाभिरेव विस्पष्टास्ततो नातिप्रतन्यते ॥ ४० ॥ तथा भुक्त्वा चिरं भोगान्स्वपुण्यपरिपाकजान् । स्वायुरंते विलीयंते ते घना इव शारदाः ॥ ४१ ॥ जृंभिकारंभमात्रेण तत्कालोत्थक्षुतेन वा । जीवितांते तनुं त्यक्त्वा ते दिवं यांत्यनेनसः ॥ ४२ ॥ स्वभावमार्दवायोगावक्रतादिगुणैर्युताः । भद्रकास्त्रिदिवं यांति तेषां नान्या गतिस्ततः ॥ ४३ ॥ इत्याद्यकालभेदोऽवसर्पिण्यां वर्णितो मनाक् । उदक्कुरुसमः शेषो विधिरत्रावधार्यतां ॥ ४४ ॥ ततो यथाक्रमं तस्मिन्काले गलति मंदतां । यातासु वृक्षवीर्यायुः

ऐसे वे कल्पवृक्ष दशप्रकारके होते हैं, और वे ये हैं-मद्यांग, तूर्यांग, विभूषांग, स्रगंग, ज्योतिरंग, दीपांग, गृहांग, भोजनांग, पात्रांग और वस्त्रांग। ये सब कल्पवृक्ष अपने अपने नामके अनुसार ही समस्त पदार्थों को देते हैं इसलिये इनका अधिक विस्तार नहीं कहा है केवल नाममात्र कह दिया है ॥ ३९ । ४० ॥ इस प्रकार वहांके स्त्री पुरुष अपने पूर्वपुण्यकर्मोंके उदयसे उपर्युक्त कल्पवृक्षोंकेद्वारा चिरकालतक अनेक प्रकारके भोगोपभोग भोगते रहते हैं तथा आयु समाप्त हो जानेपर वे शरदऋतुके मेघके समान विलय हो जाते हैं ॥ ४१ ॥ जीवनके अंत समयमें पुरुषको जंभाई आती है और स्त्रीको छींक आती है उसीसे वे पुण्यवान पुरुष अपना अपना शरीर छोड़कर स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं ॥ ४२ ॥ इस प्रथमकालमें उत्पन्न हुये स्त्री पुरुष स्वभावसे ही कोमल परिणामी होते हैं इनके मन बचन काय बड़े ही सरल होते हैं इस-लिये ये भद्रपुरुष मरकर स्वर्गमें ही उत्पन्न होते हैं स्वर्गके सिवाय इन्हें अन्य कोई गति प्राप्त नहीं होती है ॥ ४३ ॥ इसप्रकार यह उपर्युक्त अवसर्पिणीकालके प्रथम सुषमासुषमा कालका थोड़ासा स्वरूप वर्णन किया है। यहांकी और सब विधि उत्तरकुरु क्षेत्रकी भोगभूमिके समान समझना चाहिये ॥४४॥ उपर्युक्त क्रमसे जब प्रथमकाल पूर्ण हुआ और वहांके कल्पवृक्ष, मनुष्योंकी आयु शरीरकी उंचाई आदि सब घट चले तब द्वितीय सुषमाकालकी प्रवृत्ति हुई। इस द्वितीयकालकी स्थिति तीन कोड़ाकोड़ी सागरकी

शरीरोत्सेधवृत्तिषु ॥ ४५ ॥ सुषमालक्षणः कालो द्वितीयः समवर्त्तत। सागरोपमकोटीनां तिस्रः कोट्योऽस्य संमितिः ॥ ४६ ॥ तदास्मिन्भारते वर्षे मध्यमभोगभुवः स्थितिः । जायते स परां भूतिं तन्वाना कल्पपादपैः ॥४७॥ तदा मर्त्या ह्यमर्त्याभा द्विपल्योपमजीविनः । चतुःसहस्रचापोच्चविग्रहाः शुभचेष्टिताः ॥ ४८ ॥ कलाधरकलास्पर्धिदेहजोत्स्नासितोज्ज्वलाः । दिनद्वयेन तेऽश्नंति वार्क्षमंधोऽक्षमात्रकं ॥ ४९ ॥ शेषो विधिस्तु निःशेषो हरिवर्षसमो मतः । ततः क्रमेण कालेऽस्मिन्नवसर्पत्यनुक्रमात् ॥ ५० ॥ प्रहीणा वृत्तवीर्यादिविशेषा प्राक्तना यदा । जघन्यभोगभूमीनां मर्यादाविरभूत्तदा ॥ ५१ ॥ यथावसरसंप्राप्तस्तृतीयः कालपर्ययः । प्रावर्तत सुराजेव स्वां मर्यादामलंघयन् ॥ ५२ ॥ सागरोपमकोटीनां कोट्यौ द्वौ लब्धसंस्थितौ । कालेऽस्मिन्भारते वर्षे मर्त्याः पल्योपमायुषः॥५३॥ गव्यूतिप्रमितोच्छ्रायाः प्रियंगुश्यामविग्रहाः। दिनांतरेण संप्राप्तधात्रीफलमिताशनाः॥५४॥ ततस्तृतीयकालेऽस्मिन्व्यतिक्रामत्यनुक्रमात् । पल्योपमाष्टभागस्तु यदास्मिन्परिशिष्यते ॥ ५५ ॥ कल्पानोकहवीर्याणां क्रमादेव परिच्युतौ । ज्योति-

---

होती है ॥ ४५ । ४६ ॥ उस समय इस भारतवर्षमें मध्यमभोगभूमिकी व्यवस्था प्रचलित हुई और वह कल्पवृक्षोंकी उत्कृष्ट विभूतिके द्वारा सर्वत्र विस्तृत हुई ॥ ४७ ॥ उस समय यहांके मनुष्य देवोंके समान सुंदर थे। दो पल्यकी उनकी आयु थी और उनके शरीरकी उंचाई चारहजार धनुषकी थी॥ ४८ ॥ उनके शरीरकी कांति चंद्रमाकी कलाओंके समान उज्ज्वल थी। वे थोड़ा हंसते थे परंतु उनका वह थोड़ा हंसना भी उज्ज्वल और मनोहर था। वे दो दिन पीछे बहेड़ेके समान केवल कल्पवृक्षसे प्राप्त हुआ अन्न खाते थे ॥ ४९ ॥ उससमय यहांकी शेष सब विधि हरिक्षेत्रकी मध्यमभोगभूमिके समान थी। फिर धीरे २ क्रमसे काल घटने लगा तब यहां तृतीय जघन्य भोगभूमिकी मर्यादा प्रगट हुई ॥ ५० । ५१ ॥ जैसे नीतिमान् राजा अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता उसी प्रकार अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करता हुआ यथाक्रमसे तृतीय सुषमादुषमा काल प्रारंभ हुआ ॥५२॥ इसकी स्थिति दो कोड़ाकोड़ी सागरकी है। तथा उससमय इस भरतक्षेत्रके मनुष्योंकी आयु एक पल्यकी थी और ॥ ५३ ॥ उनके शरीरकी उंचाई एक कोशकी थी शरीरकी कांति मेहदीके पत्तेके समान श्यामवर्ण थी। वे एक दिन बाद आंवलेके समान भोजन ग्रहण करते थे॥ ५४ ॥ इसप्रकार अनुक्रमसे जब तृतीयकालका समय भी व्यतीत होने लगा, और

रंगास्तदा वृक्षा गता मंदप्रकाशतां ॥ ५६ ॥ पुष्पवंतावथाषाढ्यां पौर्णमास्यां स्फुरत्प्रभौ । सायाह्ने प्रादुरास्तां तौ गगनोभय भागयोः ॥५७॥ चामीकरमयौ पोताविव तौ गगनार्णवे । वियद्गजस्य निर्याणचंद्रकाविव लक्षितौ ॥ ५८ ॥ पौर्णमासीविलासिन्याः क्रीड्यमानौ समुज्ज्वलौ । परस्परकराश्लिष्टौ जातुषाविव गोलकौ ॥ ५९ ॥ जगद्गृहमहाद्वारि विन्यस्तौ कालभूभृतः । प्रत्यग्रस्य प्रवेशाय कुंभाविव हिरण्मयौ ॥६०॥ ताराफेनग्रहग्राहवियत्सागरमध्यगौ । चामीकरमयौ दिव्यावंभःक्रीडागृहाविव ॥ ६१ ॥ सद्वृत्तत्वादसंगत्वात्साधुवर्गानुकारिणौ । शीततीव्रकरत्वाच्च सदसद्भूमिपा-

पल्यका आठवां भागमात्र बाकी रहगया उससमय ॥ ५५ ॥ कल्पवृक्षोंकी सामर्थ्य बहुत ही घटने लगी और ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंका प्रकाश अतिशय मंद पड़गया था ॥ ५६ ॥ निदान एक दिवस आषाढ़ सुदी पौर्णमासीके दिन सायंकालके समय पूर्व दिशाकी ओर उदय होता हुआ देदीप्यमान चंद्रमा दिखलाई पड़ा और उसी समय पश्चिम दिशाकी ओर अस्त होता हुआ प्रकाशमान सूर्य दिखलाई पड़ा ॥ ५७ ॥ उस समय वे सूर्य और चंद्रमा ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो आकाशरूपी समुद्रमें सुवर्णके बने हुये दो जहाज ही हों, अथवा आकाशरूपी हाथी के गमन करते समय उसकी दोनों आंखोंके समीप मानो सिंदूरके बने हुये दो चंद्रमा ही हों अथवा ॥ ५८ ॥ पौर्णमासीरूपी स्त्रीके दोनों हाथोंमें रक्खे हुये खेलनेके प्रकाशमान लाखके बने हुये दो गोले ही हों अथवा ॥ ५९ ॥ अब संसारमें दुःषमसुषमकालरूपी नवीन राजाका प्रवेश होगा इसलिये संसाररूपी घरके बड़े द्वारपर ये दोनों सुवर्णकलश ही रक्खे हों अथवा ॥६०॥ तारारूपी फेन और बुध मंगल आदि ग्रहरूपी मगरमच्छोंसे शोभायमान इस आकाशरूपी महासागरके मध्यभागमें जलके भीतर सुवर्णके बने हुये मनोहर दो क्रीडागृह ही हों अथवा ॥६१॥ यों कहना चाहिये कि ये दोनों ही मुनियोंका अनुकरण कर रहे हों क्योंकि मुनि भी सद्वृत्त अर्थात् सदाचरणी होते हैं और ये दोनों भी सद्वृत्त अर्थात् गोल थे तथा मुनि भी असंग अर्थात् परिग्रहरहित होते हैं और ये दोनों भी असंग अर्थात् अकेले थे अथवा सूर्य तीव्रकर अर्थात् तेज किरणवाला है, इसलिये वह तीव्रकर अर्थात्

विव ॥६२॥ प्रतिश्रुतिरिति ख्यातस्तदा कुलधरोऽग्रिमः। बिभ्रल्लोकातिगं तेजः प्रजानां नेत्रमुद्बभौ॥६३॥ पल्यस्य दशमो भागस्तस्यायुर्जिनदेशितं। धनुः सहस्रमुत्सेधः शतैरधिकमष्टभिः ॥६४॥ जाज्वल्यमानमुकुटो लसत्कनककुंडलः। कनकाद्रिरिवोत्तुंगो बिभ्राणो हारनिर्झरं॥६५॥ नानाभरणभाभारभासुरोदारविग्रहः। प्रोत्सर्पत्तेजसा स्वेन निर्भर्त्सितरविग्रहः ॥ ६६ ॥ महान्जगद्गृहोन्मानमानदंड इवोच्छ्रितः। दधज्जन्मांतराभ्यासजनितं बोधमिद्धधीः ॥ ६७ ॥ स्फुरद्दंतांशुसलिलैर्मुहुः प्रक्षालयन्दिशः। प्रजानां प्रीणनं वाक्यं सौधं रसमिवोद्गिरन्॥ ६८ ॥ अदृष्टपूर्वौ तौ दृष्ट्वा स-

अधिक कर लेनेवाले अन्यायी राजाके समान था और चंद्रमा शीतकर अर्थात् ठंढी किरणवाला था इस लिये वह शीतकर अर्थात् अल्प कर लेनेवाले न्यायी राजाके समान जान पड़ता था ॥६२॥ जिस समय ये उपर्युक्त सूर्य चंद्रमा दिखाई पड़े थे उस समय इस क्षेत्रमें जो भोगभूमिज रहते थे वे सब प्रायः समान थे। उन सबमें प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति ही ऐसे थे जो कि सबसे अधिक तेजस्वी थे और उस समयकी प्रजामें नेत्रके समान उत्कृष्ट थे ॥ ६३ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवने इनकी आयु पल्यके दशवें भाग कही थी और शरीरकी उंचाई एक हजार आठ सौ धनुष थी ॥ ६४ ॥ इनके मस्तकपर देदीप्यमान मुकुट लगा हुआ था। कानोंमें सुवर्णके सुंदर कुंडल शोभायमान थे। ये स्वयं मेरुपर्वतके समान ऊंचे थे इसलिये इनके गले में पड़ा हुआ हार ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो मेरुपर्वतपर स्वच्छ पानीका निर्झरना ही बह रहा हो ॥ ६५ ॥ वे प्रतिश्रुति अनेक आभरण पहने हुये थे इसलिये उनका उदार शरीर उन आभरणोंकी कांतिसमूहसे बड़ा ही देदीप्यमान हो रहा था। उनके बढ़ते हुये प्रतापके सामने सूर्यका प्रताप कुछ भी नहीं था ॥ ६६ ॥ वे बहुत ऊंचे थे इसलिये ऐसे जान पड़ते थे मानो इस संसाररूपी घरको नापनेका एक डंडा ही हो। उन्हें इस भवमें पूर्वभवका अवधिज्ञान प्राप्त था इसलिये वे सबमें अतिशय उत्कृष्ट बुद्धिमान गिने जाते थे ॥ ६७ ॥ असाढ़ सुदि पौर्णमासीके दिन जो एक साथ सूर्य और चंद्रमा दिखलाई पड़े थे उन्हें देखकर उस समयके भोगभूमिज अतिशय भयभीत हुये थे क्योंकि उन्होंने ये पहिले

भीतान्भोगभूमिजान् । भीतेर्निवर्त्तयामास तत्स्वरूपमिति ब्रुवन् ॥ ६९ ॥ एतौ तौ प्रतिदृश्येते सूर्याचंद्रमसौ ग्रहौ । ज्योतिरंगप्रभापायात्कालन्हासवशोद्भवात् ॥ ७० ॥ सदाप्यधिनभोभागं भ्रमतोऽमू महाद्युती । न वस्ताभ्यां भयं किंचिदतो माभैष्ट भद्रकाः ॥ ७१ ॥ इति तद्वचनात्तेषां प्रत्याश्वासो महानभूत् । क्षेत्रे सोऽतःपरं चास्मिन्नियोगान्भाविनोऽन्वशात् ॥ ७२ ॥ प्रतिश्रुतिरयं धीरो यन्नः प्रत्यश्रृणोद्वचः । इतीडां चक्रिरे नाम्ना ते तं संप्रीतमानसाः ॥ ७३ ॥ अहो धीमन्महाभाग चिरंजीव प्रसीद नः । यानपात्रायितं येन त्वयास्मद्व्यसनार्णवे ॥ ७४ ॥ इति स्तुत्वार्य-

कभी नहीं देखे थे। इसलिये वे सबलोग प्रतिश्रुतिके समीप आये। प्रतिश्रुतिने सबको आश्वासन दिया और अपने प्रकाशमान दाँतोंकी किरणरूपी जलकेद्वारा सब दिशाओंको प्रक्षालन करते हुये अमृतरसके समान प्रजाको प्रसन्न करनेवाले वचन कहे और आगे लिखा हुआ सूर्य चंद्रमाका स्वरूप बतलाकर उनलोगोंका सब भय दूर किया॥ ६८। ६९ ॥ प्रतिश्रुति कहने लगे—भो भद्र पुरुषो! आपलोगोंको जो ये दिख रहे हैं सो ये दोनों सूर्य और चंद्रमा नामके दो ग्रह हैं। ये दोनों ही बड़े प्रकाशमान हैं और आकाशके मध्यभागमें सदा भ्रमण किया करते हैं। यद्यपि ये पहले भी यहां थे परंतु ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंके प्रकाशके सामने इनका प्रकाश दब जाता था इसलिये दिखलाई नहीं पड़ते थे किंतु अब ज्योतिरंग वृक्षोंका प्रकाश अतिशय मंद पड़गया है इसलिये ये दिखलाई देने लगे हैं। इनसे तुमलोगोंको कोई हानि नहीं हो सकती इसलिये तुम्हें किसी प्रकारका भय नहीं करना चाहिये। ७० ॥ ७१ ॥ इसप्रकार प्रतिश्रुतिके वचन सुनकर उन भोगभूमिजोंको अतिशय आश्वासन हुआ। तदनंतर प्रतिश्रुतिने इस भरतक्षेत्रमें उस समयसे होनेवाली कर्मभूमिकी रचनाके सब समाचार कह सुनाये॥ ७२ ॥ इस धीर वीर प्रतिश्रुतिने उन भयभीत भोगभूमिजोंके वचन सुने थे इसीलिये उन्होंने प्रसन्न होकर प्रतिश्रुति नामसे ही इनकी स्तुति की और॥ ७३ ॥ कहने लगे कि हे महाभाग! हे बुद्धिमन् आप चिरंजीव रहें तथा हमपर सदा प्रसन्न रहें। इस समय आपने हमारे इस दुःखरूपी समुद्रसे पार करनेकेलिये नौकाके समान

बिव ॥६२॥ प्रतिश्रुतिरिति ख्यातस्तदा कुलधरोऽग्रिमः। बिभ्रल्लोकातिगं तेजः प्रजानां नेत्रमुद्बभौ॥६३॥ पल्यस्य दशमो भागस्तस्यायुर्जिनदेशितं। धनुः सहस्रमुत्सेधः शतैरधिकमष्टभिः ॥६४॥ जाज्वल्यमानमुकुटो लसत्कनककुंडलः। कनकाद्रिरिवोत्तुंगो बिभ्राणो हारनिर्झरं॥६५॥ नानाभरणभाभारभासुरोदारविग्रहः। प्रोत्सर्पत्तेजसा स्वेन निर्भर्त्सितरविग्रहः ॥ ६६ ॥ महान्जगद्गृहोन्मानमानदंड इवोच्छ्रितः। दधज्जन्मांतराभ्यासजनितं बोधमिद्धधीः ॥ ६७ ॥ स्फुरद्दंतांशुसलिलैर्मुहुः प्रक्षालयन्दिशः। प्रजानां प्रीणनं वाक्यं सौधं रसमिवोद्गिरन् ॥ ६८ ॥ अदृष्टपूर्वौ तौ दृष्ट्वा स-

अधिक कर लेनेवाले अन्यायी राजाके समान था और चंद्रमा शीतकर अर्थात् ठंढी किरणवाला था इस लिये वह शीतकर अर्थात् अल्प कर लेनेवाले न्यायी राजाके समान जान पड़ता था ॥६२॥ जिस समय ये उपर्युक्त सूर्य चंद्रमा दिखाई पड़े थे उस समय इस क्षेत्रमें जो भोगभूमिज रहते थे वे सब प्रायः समान थे। उन सबमें प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति ही ऐसे थे जो कि सबसे अधिक तेजस्वी थे और उस समयकी प्रजामें नेत्रके समान उत्कृष्ट थे ॥ ६३ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवने इनकी आयु पल्यके दशवें भाग कही थी और शरीरकी उंचाई एक हजार आठ सौ धनुष थी ॥ ६४ ॥ इनके मस्तकपर दैदीप्यमान मुकुट लगा हुआ था। कानोंमें सुवर्णके सुंदर कुंडल शोभायमान थे। ये स्वयं मेरुपर्वतके समान ऊंचे थे इसलिये इनके गले में पड़ा हुआ हार ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो मेरुपर्वतपर स्वच्छ पानीका निर्झरना ही बह रहा हो ॥ ६५ ॥ वे प्रतिश्रुति अनेक आभरण पहने हुये थे इसलिये उनका उदार शरीर उन आभरणोंकी कांतिसमूहसे बड़ा ही दैदीप्यमान हो रहा था। उनके बढ़ते हुये प्रतापके सामने सूर्यका प्रताप कुछ भी नहीं था ॥ ६६ ॥ वे बहुत ऊंचे थे इसलिये ऐसे जान पड़ते थे मानो इस संसाररूपी घरको नापनेका एक डंडा ही हो। उन्हें इस भवमें पूर्वभवका अवधिज्ञान प्राप्त था इसलिये वे सबमें अतिशय उत्कृष्ट बुद्धिमान गिंने जाते थे ॥ ६७ ॥ असाढ़ सुदि पौर्णमासीके दिन जो एक साथ सूर्य और चंद्रमा दिखलाई पड़े थे उन्हें देखकर उस समयके भोगभूमिज अतिशय भयभीत हुये थे क्योंकि उन्होंने ये पहिले

भीतान्भोगभूमिजान् । भीतेर्निवर्त्तयामास तत्स्वरूपमिति ब्रुवन् ॥ ६९ ॥ एतौ तौ प्रतिदृश्येते सूर्याचंद्रमसौ ग्रहौ । ज्योतिरंगप्रभापायात्कालन्हासवशोद्भवात् ॥ ७० ॥ सदाप्यधिनभोभागं भ्रमतोऽमू महाद्युती । न वस्ताभ्यां भयं किंचिदतो माभैष्ट भद्रकाः॥ ७१ ॥ इति तद्वचनात्तेषां प्रत्याश्वासो महानभूत् । क्षेत्रे सोऽतःपरं चास्मिन्नियोगान्भाविनोऽन्वशात् ॥ ७२ ॥ प्रतिश्रुतिरयं धीरो यन्नः प्रत्यश्रृणोद्वचः । इतीडां चक्रिरे नाम्ना ते तं संप्रीतमानसाः ॥ ७३ ॥ अहो धीमन्महाभाग चिरंजीव प्रसीद नः । यानपात्रायितं येन त्वयास्मद्व्यसनार्णवे ॥ ७४ ॥ इति स्तुत्वार्य-

---

कभी नहीं देखे थे । इसलिये वे सबलोग प्रतिश्रुतिके समीप आये । प्रतिश्रुतिने सबको आश्वासन दिया और अपने प्रकाशमान दाँतोंकी किरणरूपी जलकेद्वारा सब दिशाओंको प्रक्षालन करते हुये अमृत-रसके समान प्रजाको प्रसन्न करनेवाले वचन कहे और आगे लिखा हुआ सूर्य चंद्रमाका स्वरूप बतलाकर उनलोगोंका सब भय दूर किया ॥ ६८ । ६९ ॥ प्रतिश्रुति कहने लगे—भो भद्र पुरुषो ! आपलोगोंको जो ये दिख रहे हैं सो ये दोनों सूर्य और चंद्रमा नामके दो ग्रह हैं । ये दोनों ही बड़े प्रकाशमान हैं और आकाशके मध्यभागमें सदा भ्रमण किया करते हैं । यद्यपि ये पहले भी यहां थे परंतु ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंके प्रकाशके सामने इनका प्रकाश दब जाता था इसलिये दिखलाई नहीं पड़ते थे किंतु अब ज्योतिरंग वृक्षोंका प्रकाश अतिशय मंद पड़गया है इसलिये ये दिखलाई देने लगे हैं। इनसे तुमलोगोंको कोई हानि नहीं हो सकती इसलिये तुम्हें किसी प्रकारका भय नहीं करना चाहिये । ७० ॥ ७१ ॥ इस-प्रकार प्रतिश्रुतिके वचन सुनकर उन भोगभूमिजोंको अतिशय आश्वासन हुआ । तदनंतर प्रतिश्रुतिने इस भरतक्षेत्रमें उस समयसे होनेवाली कर्मभूमिकी रचनाके सब समाचार कह सुनाये ॥ ७२ ॥ इस धीर वीर प्रतिश्रुतिने उन भयभीत भोगभूमिजोंके वचन सुने थे इसीलिये उन्होंने प्रसन्न होकर प्रतिश्रुति नामसे ही इनकी स्तुति की और ॥ ७३ ॥ कहने लगे कि हे महाभाग ! हे बुद्धिमन् आप चिरंजीव रहें तथा हमपर सदा प्रसन्न रहें । इस समय आपने हमारे इस दुःखरूपी समुद्रसे पार करनेकेलिये नौकाके समान

कास्ते तं सत्कृत्य च पुनः पुनः । लब्धानुज्ञास्ततः स्वंस्वमोको जग्मुः सजानयः ॥ ७५ ॥ मनौ याति दिवं तस्मिन्काले गलति च क्रमात । मन्वंतरमसंख्येया वर्षकोटीर्व्यतीत्य च ॥ ७६ ॥ सन्मतिः सन्मतिर्नाम्ना द्वितीयोऽभून्मनुस्तदा । प्रोत्सर्पदंशुकः प्रांशुश्चलत्कल्पतरूपमः ॥ ७७ ॥ स कुंतली किरीटी च कुंडलीहारभूषितः । स्रग्वी मलयजालिप्तवपुरत्यंतमाबभौ ॥ ७८ ॥ तस्यायुरममप्रख्यमासीत्संख्येयहायनं । सहस्रं त्रिशतीयुक्तमुत्सेधो धनुषां मतः ॥ ७९ ॥ ज्योतिर्विटपिनां भूयोऽप्यासीत्कालेन मंदिमा । प्रहीणाभिमुखं तेजो निर्वास्यति हि दीपवत् ॥ ८० ॥ नभोऽङ्गणमथापूर्य तारकाः प्रचकाशिरे । नात्यंधकारकलुषां वेलां प्राप्य तमीमुखे ॥ ८१ ॥ अकस्मात्तारका दृष्ट्वा संभ्रातान्भोगभूभुवः । भीति

काम दिया है ॥ ७४ ॥ इसप्रकार प्रतिश्रुतिकी स्तुतिकर तथा बारंबार उनका सत्कार कर उनकी आज्ञानुसार अपनी अपनी स्त्रियोंके साथ वे सब आर्य पुरुष अपने अपने घर गये ॥ ७५ ॥ इस घटनाके अनंतर क्रमसे काल व्यतीत होने लगा प्रतिश्रुति कुलकरका भी स्वर्गवास हो गया और उनके बाद जब असंख्यात करोड़ वर्ष व्यतीत होगये तब बुद्धिमान सन्मति नामके दूसरे कुलकर उत्पन्न हुये। इनके वस्त्र बड़े ही शोभायमान थे तथा ये बड़े ही ऊंचे थे। ऐसे जान पड़ते थे मानो किसी चलते हुये कल्पवृक्षके समान ही हों ॥ ७६ । ७७ ॥ इनके केश बड़े ही सुंदर थे, इनके मस्तकपर मुकुट, कानोंमें कुंडल, वक्षस्थलपर हार, गलेमें माला और तमाम शरीरपर चर्चित किया हुवा चंदन बड़ा ही शोभायमान होता था तथा इन सबसे ये स्वयं बड़े ही शोभायमान थे ॥ ७८ ॥ इनकी आयु 'अमम'[1] के समान संख्यात वर्षकी थी तथा शरीरकी उंचाई एकहजार तीनसौ धनुषकी थी ॥ ७९ ॥ इनके समयमें ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंका प्रकाश बहुत ही मंद होगया था और वह बुझनेके सन्मुख दीपकके समान धीरे धीरे समाप्त ही होता जाता था ॥ ८० ॥ निदान जब ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंका प्रकाश सर्वथा समाप्त हो गया तब एक दिन रात्रिके प्रारंभमें जिस दिन थोड़ा थोड़ा अंधकार था उसदिन समस्त आकाशमें

१ अमम अटट आदिका परिमाण इसी पर्वके अंतमें कहा गया है ।

विचलयामास प्राणिहत्येव योगिनः ॥ ८२ ॥ स सन्मतिरनुध्याय क्षणं प्रावोचतार्यकान् । नोत्पातः कोऽप्ययं भद्रास्तन्मागात भियो वशं ॥८३॥ एतास्तास्तारका नामैतच्च नक्षत्रमंडलं । ग्रहा इमे सदोद्याता इदं तारकितं नभः ॥ ८४ ॥ ज्योतिश्चक्रमिदं शश्वद्व्योममार्गे कृतस्थिति। स्पष्टतामधुनायातं ज्योतिरंगप्रभात्ययात् ॥ ८५ ॥ इतः प्रभृत्यहोरात्रविभागश्च प्रवर्तते । उदयास्तमयैः सूर्याचंद्रयोः सहतारयोः ॥ ८६ ॥ ग्रहणग्रहविक्षेपदिनान्ययनसंक्रमात् । ज्योतिर्ज्ञानस्य बीजानि सोऽन्ववोचद्विदांवरः॥ ८७ ॥ अथ तद्वचनादार्या जाताः सपदि निर्भयाः । स हि लोकोत्तरं

फैले हुये तारे दिखाई देने लगे ॥ ८१ ॥ उस समयके भोगभूमिज अकस्मात् उन तारोंको देखकर बड़े ही भ्रममें पड़गये बड़े ही भयभीत हुये और उस भयसे एक साथ ही ऐसे कंपायमान होगये जैसे योगी लोग प्राणियोंकी हत्यासे कंपायमान हो जाते हैं। ८२ ॥ वे सब मिलकर सन्मतिके समीप आये । सन्मति थोड़ासा विचार कर उन आर्योंसे कहने लगे। कि भो भद्र पुरुष हो यह कोई उपद्रव नहीं है तुम लोग इनसे डरो मत ॥ ८३ ॥ ऐसा कहकर वे सन्मति उन तारोंका स्वरूप अलग अलग बतलाने लगे और कहने लगे कि देखो ये तारे हैं, ये अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र हैं ये बुध गुरु आदि सदा प्रकाशरूप रहनेवाले ग्रह हैं और यह सब तारोंसे भरा हुआ आकाश है ॥ ८४ ॥ यह तारे ग्रह नक्षत्र आदिका समूह सब ज्योतिश्चक्र कहलाता है यह आकाशमें सदा विद्यमान रहता है। अबसे पहले भी था परंतु ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंके प्रकाशसे दबा हुआ था दिखाई नहीं पड़ता था । अब उन कल्पवृक्षोंका प्रकाश नष्ट होगया है इसलिये अब यह ज्योतिश्चक्र स्पष्ट दिखाई देने लगा है ॥ ८५ ॥ आजसे सूर्य चंद्रमा ग्रह नक्षत्र तारे आदिकोंका बराबर उदय और अस्त होना होता रहेगा और इनके उदय अस्त होनेसे रातदिनका भी विभाग होता रहेगा ॥ ८६ ॥ अबसे सूर्यग्रहण, चंद्रग्रहण, ग्रहोंका एक राशिसे दूसरी राशि पर जाना, दिन, उत्तरायण दक्षिणायन आदि सबका संक्रमण दिखाई देगा । इनका संक्रमण ज्योतिषविद्याका मूल कारण है इसलिये अबसे ज्योतिषविद्याकी भी प्रवृत्ति होगी । इत्यादि सब बातें उन

ज्योतिः प्रजानामुपकारकं ॥ ८८ ॥ अयं सन्मतिरेवास्तु प्रभुर्नः सन्मतिप्रदः । इति प्रशंस्य संपूज्य ययुस्ते तं स्वमास्पदं ॥ ८९ ॥ ततोऽन्तरमसंख्येयाः कोटीरुल्लंघ्य वत्सरान् । तृतीयो मनुरत्रासीत्क्षेमंकरसमाह्वयः ॥९०॥ युगबाहुर्महाकायाः पृथुवक्षाः स्फुरत्प्रभः । सोऽत्यशेत गिरिं मेरुं स्फुरन्मुकुटचूलिकः ॥ ९१ ॥ अटटप्रमीतं तस्य बभूवायुर्महौजसः । देहोत्सेधश्च चापानाममुष्यासीच्छताष्टकं ॥ ९२ ॥ पुरा किल मृगा भद्राः प्रजानां हस्तलालिताः । तदा तु विकृतिं भेजुर्व्यात्तास्या भीषणस्वनाः ॥ ९३ ॥ तेषां विक्रियया सांतर्गर्ज्जया तत्रसुः प्रजाः । प्रपच्छुश्च तमभेत्य मनुं स्थितमविस्मितं ॥ ९४ ॥ इमे भद्रमृगाः पूर्वं स्वादीयोभिस्तृणांकुरैः । रसायनरसैः पुष्टा सरसां सलिलैरपि ॥ ९५ ॥ अंकाधिरोपणैर्हस्तला-

आर्य लोगोंसे सन्मतिने कहीं ॥८७॥ वे आर्यलोग भी उनके सब बचन सुनकर शीघ्र ही निर्भय होगये। वास्तवमें सन्मतिने उस समय ये सब बातें कह कर एक अपूर्व लोकोत्तर ज्योतिके समान प्रजाका उपकार किया था ॥ ८८ ॥ वह सब प्रजा भी मुक्तकंठसे सन्मतिकी प्रशंसा करने लगी और कहने लगी कि आजसे हम लोग सुमति देनेवाले इन सन्मतिको ही अपना स्वामी मानेंगे । इसप्रकार सन्मतिकी प्रशंसा और पूजा करके वे सब लोग अपने अपने स्थान पर चले गये॥ ८९॥ तदनंतर असंख्यात करोड़ वर्ष बीतजानेपर इस भरतक्षेत्रमें क्षेमंकर नामके तीसरे मनु हुये ॥ ९० ॥ ये मनु मेरुपर्वतसे भी अधिक शोभायमान थे क्योंकि इनकी भुजायें बड़ी ही लंबी थीं, शरीर बहुत बड़ा था, वक्षःस्थल चौड़ा था, शरीरकी कांति दैदीप्यमान थी और मस्तकपर चूलिकाके समान मुकुट शोभायमान था ॥ ९१ ॥ इस तेजस्वी पुरुषकी आयु अटट वर्षोंकी थी और शरीरकी उँचाई आठसौ धनुपकी थी ॥ ९२ ॥ मृग सिंह आदि पशु जो पहले बड़े शांत थे प्रजा जिन्हें हाथसे खिलाती पिलाती तथा प्यार करती थी वे सब पशु क्षेमंकरके समयमें अपना शांतभाव छोड़कर भयंकरता धारण करनेलगे मुह फाड़ने लगे और भयंकर गर्जने लगे ॥९३॥ उनकी इस भयंकर गर्जना और भयंकररूपसे उस समयकी सब प्रजा डरने लगी तथा निर्भय निश्चल बैठे हुये क्षेमंकरके समीप आई और पूछने लगी ॥९४॥ हे देव ! ये मृग सिंह आदि पशु जीव

लनैरपि सांत्विताः । अस्माभिरितीविश्रब्धाः संवसंतोनुपद्रवाः ॥९६॥ इदानीं तु विना हेतोः श्रृंगैरभिभवंति नः । दंष्ट्राभिर्नखराग्रैश्च विभिह्संति च दारुणाः ॥ ९७ ॥ कोभ्युपायो महाभाग ब्रूहि नः क्षेमसाधने । क्षेमंकरोहि स भवान् जगतः क्षेमचिंतनैः ॥ ९८ ॥ इति तद्वचनाज्जातसौहृदों मनुरब्रवीत् । सत्यमेतथत्तापूर्वमिदानीं तु भयावहाः ॥ ९९ ॥ तदिमे परिहर्तव्याः कालाद्विकृतिमागताः । कर्तव्यो नैषु विश्वासो बाधां कुर्वंत्युपेक्षिताः ॥ १०० ॥ इत्याकर्ण्य वचस्तस्य परिजह्रुस्तदा मृगान् । श्रृंगिणो दंष्ट्रिणः क्रूरान् शेषैः संवासमाययुः ॥१०१॥ व्यतीयुषि ततः

जो कि पहले बड़े शांत थे जिन्हें हम लोगोंने स्वादिष्ट घास खिला कर रसायनोंके रससे पुष्टकर सरोवरोंका जल पिलाकर पाला है, तथा गोदीमें लेकर हाथ फेर कर लाड प्यार किया है, जो हम लोगों पर अतिशय विश्वास करते थे बिना किसी उपद्रवके निरंतर हमारे समीप रहते थे वे ही मृगसिंह आदि पशु अब बिना कारण ही हमलोगोंको सींगोंसे मारते हैं भयानक दाढ़ पंजे और नख आदिसे डराते हैं अब वे बड़े ही भयंकर देख पड़ते हैं ॥ ९५ । ९६ । ९७ ॥ हे महाभाग ! अब इनका क्या उपाय करना चाहिये। आप सबका कल्याण चिंतवन करते हैं इसलिये आप वास्तविक क्षेमंकर अर्थात् सबके प्रिय हैं । अतएव हम लोगोंको इनसे बचनेका कोई कल्याणकारक उपाय बतलाइये ॥ ९८ ॥ उन आर्योंके ये सब बचन सुनकर क्षेमंकरके भी उनसे मित्रभाव उत्पन्न हुआ और वे कहने लगे कि तुमलोग जो कह रहे हो सो सब ठीक है । वास्तवमें ये पशु पहले बड़े शांत थे किंतु अब ये भयंकर होगये हैं । समयके प्रभावसे अब ये विकृत होगये हैं इसलिये अब इनसे अलग रहना चाहिये और इनका विश्वास नहिं करना चाहिये । यदि तुम लोग इस बातकी उपेक्षा करोगे अर्थात् इनके साथ रहोगे और इनका विश्वास करोगे तो ये तुम्हें अवश्य पीड़ा देंगे ॥ ९९ । १०० ॥ क्षेमंकरकी यह बात सुनकर उनलोगोंने क्रूर हरिणोंका साथ छोड़ दिया तथा क्रमसे क्रूर सींगवाले और क्रूर दाढवाले सब पशुओंका साथ छोड़ दिया । केवल निरुपद्रवी शेष पशुओंके साथ वे लोग रहने लगे ॥ १०१ ॥ क्रमसे काल व्यतीत होने लगा

काले मनोरस्य व्यतिक्रमे । मन्वंतरमसंख्येयाः समाकोटीर्विलंघ्य च ॥ २ ॥ तत्रांतरे महोदग्रविग्रहो देवनिग्रहः । अग्रेसरः सतामार्गान्मनुः क्षेमंभ राह्वयः ॥ ३ ॥ तुटिकाब्दमितं तस्य बभूवायुर्महात्मनः । शतानि सप्त चापानां सप्ततिः पंच चोच्छ्रितिः ॥ ४ ॥ यदा प्रबलतां याताः पाकसत्त्वा महाक्रुधः । तदा लकुटयष्ट्याद्यैः स रक्षाविधिमन्वशात् ॥ ५ ॥ क्षेमंधर इति ख्यातिं प्रजानां क्षेमधारणात् । स दध्रे पाकसत्त्वेभ्यो रक्षोपायानुशासनात् ॥ ६ ॥ पुनर्मन्वंतरं तत्र संजातं पूर्ववत् क्रमात् । मनुः सीमंकरो जज्ञे प्रजानां पुण्यपाकतः ॥७॥ स चित्रवस्त्रमाल्यादिभूषितं वपुरुद्वहन् । सुरेंद्रः स्वर्गलक्ष्म्येव भोगलक्ष्म्योपलालितः ॥ ८ ॥ कमलप्रमितं तस्य प्राहुरायुर्महाधियः । शतानि सप्त पंचाशदुच्छ्रायो धनुषां मतः ॥९ ॥

क्षेमंकरकी आयु समाप्त हुई इसके बाद असंख्यात करोड़ वर्ष व्यतीत होगये तब चौथे क्षेमंधर मनु हुये । ये मनु सज्जनोंमें अग्रसर और निर्दोष थे । इनका शरीर अतिशय ऊंचा था । आयु तुटिकप्रमाण वर्षोंकी थी तथा इन महात्माके शरीरकी उंचाई सातसौ पिचहत्तर धनुषकी थी ॥ १०२ । १०३ । १०४ ॥ इनके समयमें मृग सिंह आदि क्रूर पशु बड़े क्रोधी और बड़े प्रबल होगये थे उस-समय क्षेमंधरने लकड़ी लाठी आदि उपायोंसे इनसे बचनेका उपदेश दिया और ॥ १०५ ॥ इसीलिये इनका क्षेमंधर यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ क्योंकि इन्होंने क्रूर जीवोंसे रक्षा करनेके उपायोंका उपदेश देकर प्रजाका कल्याण किया था ॥ १०६ ॥ इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्ष वीत जानेपर प्रजाके पुण्य-कर्मके उदयसे पांचवें सीमंकर नामके कुलकर उत्पन्न हुये ॥ १०७ ॥ इनका शरीर अनेक प्रकारके विचित्र वस्त्रोंसे तथा माला आदि आभरणोंसे शोभायमान था । जैसे इंद्र स्वर्गकी लक्ष्मीका अनुभव करता है इसीप्रकार सीमंकर भी अनेक प्रकारकी भोगोपभोग लक्ष्मीका अनुभव करते थे ॥ १०८ ॥ तथा बड़े बुद्धिमान थे । इनकी आयु कमलप्रमाण वर्षोंकी थी और शरीरकी उंचाई सातसौ पचास धनुषकी थी ॥ १०९ ॥ इनके समयमें कल्पवृक्ष थोड़े रह गये और थोड़ा फल देनेलगे तब उन भोगभूमिजोंमें परस्पर विवाद होने लगा । उस समय सीमंकर मनुने बड़े सोच विचारके साथ केवल बचन द्वारा उन कल्पवृक्षों

कल्पांघ्रिपा यदा जाता विरला मंदकाः फलैः । तदा तेषु विसंवादो बभूवैषां परस्परं ॥ १० ॥ ततो मनुरसौ मत्वा वाचा सीमविधिं व्यधात् । अतः सीमंकराख्यां तैर्लभितोऽन्वर्थतां गतां ॥ ११ ॥ पुनर्मन्वंतरं प्राग्वदतिलंघ्य महोदयः । मनुः सीमंधरो नाम्ना समजायत पुण्यधीः ॥ १२ ॥ नलिनप्रमितायुष्को नलिनास्येक्षणद्युतिः । धनुषां पंचवर्गाग्रमुच्छ्रितः शतसप्तकं ॥ १३ ॥ अत्यंतविरला जाताः क्ष्माजा मंदफला यदा । नृणां महान्विसंवादः केशाकेशि तदावृधत् ॥ १४ ॥ क्षेमवृत्तिं ततस्तेषां मन्वानः स मनुस्तदा । सीमानि तरुगुल्मादिचिन्हितान्यकरोत्कृती ॥ १५ ॥ ततोंतरमभूद्भूयोऽप्यसंख्या वर्षकोटयः । हीयमानेषु सर्वेषु नियोगेष्वनुपूर्वशः ॥ १६ ॥ तदंतरव्यतिक्रांतावभूद्विमलवाहनः । मनूनां सप्तमो भोग-लक्ष्म्यालिंगितविग्रहः ॥ १७ ॥ पद्मप्रमितमस्यायुः पद्माश्लिष्टतनोरभूत् । धनुःशतानि सप्तैव तनूत्सेधोऽस्यवर्णितः ॥ १८ ॥ तदुपज्ञं गजादीनां

की सीमा नियत करदी और इसलिये इनका सीमंकर नाम सार्थक प्रसिद्ध हुआ ॥ ११० । १११ ॥ इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्ष बीतजाने पर छठे सीमंधर मनु हुये। ये बड़े ही बुद्धिमान् और भाग्यशाली थे। इनका मुख और नेत्र कमलके समान सुंदर था इनकी आयु नलिनप्रमाण वर्षोंकी थी तथा शरीरकी उंचाई सातसौ पचास धनुषकी थी ॥ ११२ । ११३ ॥ इनके समयमें कल्पवृक्ष बहुत ही थोडे रह गये थे। तथा वे बहुत थोड़े फल देते थे। उस समय यहांके भोगभूमिजोंमें कल्पवृक्षोंके लिये एक भारी विवाद उपस्थित हुआ और वह यहां तक बढ़ गया कि परस्पर एक दूसरेको बाल पकड़ पकड़ कर मारने लगे ॥ ११४ ॥ उस समय सब जगह शांति और कल्याण स्थापन करनेके लिये सीमंधरने छोटे बड़े वृक्षोंके चिन्ह बनाकर सब कल्पवृक्षोंकी अलग अलग सीमा नियत कर दी ॥ ११५ ॥ इनके बाद जब असंख्यात करोड़ वर्ष बीतगये और कल्पवृक्षोंकी शक्ति मनुष्योंकी आयु काय बुद्धि आदि क्रमसे घटने लगे तब सातवें मनु विमलवाहन हुये। भोगोपभोग लक्ष्मीका भोग करनेवाला इनका शरीर बड़ा ही शोभायमान था ॥ ११६ । ११७ ॥ इनकी आयु पद्मप्रमाण वर्षोंकी थी शरीर लक्ष्मीसे अतिशय सुशोभित था और वह सातसौ धनुष ऊंचा था ॥ ११८ ॥ इन्होंने हाथी घोड़ा आदि सवारीके योग्य

बभूवारोहणक्रमः । कुठारांकुशपर्याणमुखभांडाद्युपक्रमैः ॥ १९ ॥ पुनरंतरमत्राभूदसंख्येयाब्दकोटयः । ततोऽष्टमो मनुर्जातश्चक्षुष्मानिति शब्दितः ॥ २० ॥ पद्मांगप्रमितायुष्कश्चापानां पंचसप्ततिः । षट्छतान्यप्युदग्रश्रीरुच्छ्रितांगो बभूव सः ॥ २१ ॥ तस्य कालेऽभवत्तेषां क्षणं पुत्रमुखेक्षणं । अदृष्टपूर्वमार्याणां महदुत्त्रासकारणं ॥ २२ ॥ ततः सपदि संजातसाध्वसानार्यकांस्तदा । तद्याथात्म्योपदेशेन स संत्रासमथोज्झयत् ॥ २३ ॥ चक्षुष्मानिति तेनाभूत्तत्काले ते यतोऽर्भकाः । जनयित्रोः क्षणं जाताश्चक्षुर्दर्शनगोचरं ॥ २४ ॥ पुनरप्यंतरं तावद्वर्षकोटीर्विलंघ्य सः । यशस्वानित्यभून्नाम्ना यशस्वी नवमो मनुः ॥ २५ ॥ कुमुदप्रमितं तस्य परमायुर्महीयसः । षट्छतानि च पंचाशद्धनूंषि च तनूच्छ्रितिः ॥ २६ ॥ तस्य काले

पशुओंपर अंकुश लगाम तोबरा मुसीका आदि लगाकर सवारी करनेका उपदेश दिया ॥ ११९ ॥ इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्ष बीत जानेपर चक्षुष्मान नामके आठवें कुलकर उत्पन्न हुये ॥ १२० ॥ इनकी आयु पद्मांगप्रमाण वर्षोंकी थी और शरीरकी उंचाई छःसौ पिचहत्तर धनुपकी थी। उनके शरीरकी शोभा बड़ी ही सुंदर थी ॥ १२१ ॥ इनके समयसे पहलेके लोग पुत्रका मुख नहीं देखते थे तत्काल ही उनकी मृत्यु हो जाती थी परंतु अब इनके समय क्षणभर पुत्रका मुख देखकर मरने लगे। उन आर्योंके लिये यह बात नई थी इसलिये वे अपने शरीरसे उत्पन्न हुई संतानको देखकर डरने भी लगे ॥ १२२ ॥ वे सब लोग इसका कारण पूछनेकेलिये चक्षुष्मान कुलकरके (मनुके) समीप आये। चक्षुष्मानने भी उन आर्य और आर्यिकाओंको संतान होनेका यथार्थ वर्णन किया तथा उनका सब भय दूर किया ॥ १२३ ॥ चक्षुष्मानके समयमें उन भोगभू मिजोंकी संतान उनके मा बापको क्षणभरके लिये चक्षुर्गोचर हुई थी इसीलिये उनको चक्षुष्मान यह सार्थक नाम पड़ा था ॥ १४४ ॥ तदनंतर असंख्यात करोड़ वर्ष बीत जानेपर बड़े यशस्वी यशस्वान नामके नवमें मनु उत्पन्न हुये ॥ १२५ ॥ इन महात्माकी आयु कुमुदप्रमाण वर्षोंकी थी और शरीरकी उंचाई छःसौ पचास धनुपकी थी ॥ १२६ ॥ इनके समयमें यहांकी प्रजा अपनी संतानका मुख देखकर उन्हें आशीर्वाद देकर तथा थोड़ी देर और

प्रजा जन्यमुखालोकपुरःसरं । कृताशिषः क्षणं स्थित्वा लोकांतरमुपागमन् ॥ २७ ॥ यशस्वानित्यभूत्तेन शशंसुस्तद्यशो यतः । प्रजाः सुप्रजसः प्रीताः पुत्राशासनदेशनात् ॥ २८ ॥ ततोंतरमतिक्रम्य तत्प्रायोग्याब्दसंमितं । अभिचंद्रोऽभवन्नाम्ना चंद्रसौम्याननो मनुः २९ ॥ कुमुदांगप्रमायुष्को ज्वलन्मुकुटकुंडलः । पंचवर्गोप्रषट्चापशतोत्सेधः स्फुरत्तनुः ॥ १३० ॥ कल्पद्रुम इवोत्तुंगफलशालो महाद्युतिः । स बभार यथास्थानं नानाभरणमंजरीः ॥ १३१ ॥ तस्य काले प्रजाः स्तोकमुखं वीक्ष्य सकौतुकं । आशास्याक्रीडनं चक्रुर्निशि चंद्राभिदर्शनैः ॥ १३२ ॥ ततोऽभिचंद्र इत्या-

ठहरकर तब परलोकगमन करती थी ॥ १२७ ॥ इन्होंने अपनी प्रजाको सिखलाया था कि तुम अपनी अपनी संतानको आशीर्वाद दो इसलिये वह सुंदर संतानवाली प्रजा इनसे प्रसन्न होकर इनका यश वर्णन करने लगी। अतएव इनका यशस्वान यह सार्थक नाम पड़ा ॥ १२८ ॥ इनके पश्चात् असंख्यात करोड़ वर्ष बीत जाने पर अभिचंद्र नामके दशवें मनु हुये। इनका मुख चंद्रमाके समान अतिशय सौम्य था। मस्तकपर मुकुट और कानोंमें कुंडल बड़े ही शोभायमान थे । शरीर कांतियुक्त था और वह छःसौ पच्चीस धनुष ऊंचा था। इनकी आयु भी कुमुदांगप्रमाण वर्षोंकी थी ॥ १२९ । १३० ॥ ये अभिचंद्र मनु कल्पवृक्षके समान अतिशय कांतियुक्त और छहसौ पच्चीस धनुष प्रमाण ऊंचे थे। जैसे कल्पवृक्षों पर मंजरी शोभायमान होती है उसीप्रकार इनके शरीरपर यथायोग्य स्थानोंमें अनेक प्रकारके आभरण शोभायमान थे ॥ १३१ ॥ इनके समयमें यहांकी प्रजा अपनी २ संतानका मुख देखने लगी तथा उसे कुछ शिक्षा भी देने लगी । तथा कौतुकके साथ रात्रिमें चंद्रमा दिखलाकर उसके साथ क्रीड़ा भी करने लगी ॥ १३२ ॥ महाराज अभिचंद्रके उपदेशसे ही यहांकी प्रजा चंद्रमाको दिखलाकर पुत्रोंके साथ क्रीड़ा करने लगी थी। इसलिये ही इनका अभिचंद्र यह यथार्थ नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥ १३३ ॥ इनके बाद भी अनुक्रमसे सैकड़ों वर्ष व्यतीत हो जानेपर चंद्राभ नामके ग्यारहवें मनु उत्पन्न हुये। इनकी आयु नयुत प्रमाण वर्षोंकी थी तथा शरीरकी उँचाई छःसौ धनुषकी थी। ये देश कालके जाननेवाले थे चंद्रमाके समान

सीधतश्चद्रमभिस्थिताः । पुत्रानाक्रीडयामासुस्तत्काले तन्मताज्जनाः ॥ १३३ ॥ पुनरंतरमुल्लंध्य तत्प्रायोग्यसमाशतैः । चंद्राभ इत्यभूत्ख्यातश्चंद्राम्यः कालविन्मनुः ॥ १३४ ॥ नयुतप्रमितायुष्को विलसल्लक्षणोज्ज्वलः । धनुषां षट्शतान्युच्चैः प्रोद्यदर्कसमद्युतिः ॥ १२५ ॥ स पुष्कलाः कला बिभ्रदुदितो जनताप्रियः । सितज्योत्स्नाभिराल्हादं शशीव समजीजनत् ॥ १३६ ॥ तस्य काले ऽतिसंप्रीताः पुत्राशासनदर्शनैः । तुग्भिः सह स जीवंति दिनानि कतिचित्प्रजाः ॥ १३७ ॥ ततो लोकांतरप्राप्तिमभजंत यथासुखं । स तदाल्हादनादासीच्चंद्राभ इति विश्रुतः ॥ १३८ ॥ मरुद्देवो भवत्कांतः कुलकृत्तदनंतरं । स्वोचितांतरमुल्लंध्य प्रजानामुत्सवो दृशां ॥ १३९ ॥ शतानि पंच पंचाग्रसप्ततिश्च समुच्छ्रितिः । धनूंषि नयुतांगायुर्बिव-

इनका मुख था । इनके शरीरमें अनेक शुभ लक्षण थे जिनसे ये बहुत ही शोभायमान जान पड़ते थे। इनके शरीरकी कांति तेजस्वीसूर्यके समान दैदीप्यमान थी ॥ ३४ । ३५ ॥ ये चंद्राभ मनु ठीक चंद्रमाके समान सबको प्रसन्न करनेवाले थे। चंद्रमा अपनी किरणोंसे सबको प्रसन्न करता है ये अपने थोड़ेसे हास्यरूपी किरणोंसे सबको आल्हादित करते थे। चंद्रमा सोलह कलायें धारण करता है ये अनेक कलायें धारण किये थे। चंद्रमा भी सबको प्रिय होता है और ये भी सबको प्रिय थे। चंद्रमा भी उदय होता है और ये भी उदयरूप थे ॥ ३६ ॥ इनके समयमें यहांके सब लोग अपनी अपनी संतानको आशीर्वाद देकर बहुत ही प्रसन्न होते थे तथा थोड़े दिन उनके साथ आनंदसे रहकर तत्पश्चात् सुखपूर्वक स्वर्गवास करते थे। महाराज चंद्राभने अपनी सब प्रजाको आल्हादित किया था इसलिये इनका चंद्राभ यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ ॥ १३७ । १३८ ॥ अनंतर कुछ काल व्यतीत होनेपर मरुद्देव नामके बारहवें कुलकर हुये । इनकी आयु नयुतांगप्रमाण वर्षोंकी थी तथा शरीरकी उंचाई पांचसौ पचहत्तर धनुषकी थी । ये लोगोंके नेत्रोंको बड़ा ही आनंद देनेवाले थे तथा बड़े ही सुंदर और सूर्यके समान तेजस्वी थे ॥ १३९ । १४० ॥ ये मरुद्देव एक विलक्षण ही सूर्य थे क्योंकि सूर्य प्रतापी होता है ये भी प्रतापी थे। सूर्यको कोई देख नहीं सकता इन्हें लोग सुखपूर्वक देखते थे। सूर्य प्रतिदिन उदय होता है

स्वानिव भास्वरः ॥ १४० ॥ स तेजस्वी सुखालोकः सोदयोऽनस्तसंगतिः। भूमिस्थोऽप्यंबरोद्भासी भास्वानिति विलक्षणः ॥ १४१ ॥ तस्य काले प्रजा दीर्घं प्रजाभिः स्वाभिरन्विताः। प्राणिषुस्तन्मुखालोकतदंगस्पर्शनोत्सवैः ॥ १४२ ॥ स तदुच्छ्वसितं यस्मात्तदायत्तस्वजीविकाः। प्रजा जीवंति तेनाभिर्मेरुद्देव इतीरितः ॥ १४३ ॥ नौद्रोणीसंक्रमादीनि जलदुर्गेष्वकारयत्। गिरिदुर्गेषु सोपानपद्धतीः सोधिरोहणे ॥ १४४ ॥ तस्यैव काले कुच्छैलाः कुसमुद्राः कुनिम्नगाः। जाताः सासारमेवाश्च किंराजान इवास्थिराः ॥ १४५ ॥ ततः प्रसेनजिज्जज्ञे प्रभविष्णुर्मनुर्महान्। कर्मभूमिस्थितावेवमभ्यर्णायां शनैः शनैः ॥ १४६ ॥ पर्वप्रमितमाम्नातं मनोरस्यायुरंजसा। शतानि पंच चापानां शतार्द्धं च तदुच्छ्रितिः ॥१४७॥

इनका भाग्योदय सदा बना रहता था। सूर्यका अस्त होता है ये अनस्तसंगति थे अर्थात् इनका मैत्री भाव कभी भंग नहीं होता था। सूर्य आकाशमें प्रकाशित होता है ये भूमिपर रहकर भी अंबरोद्भासी अर्थात् वस्त्रोंसे अतिशय शोभायमान थे ॥ १४१ ॥ इनके समयमें यहांके लोग बहुत दिन तक अपनी संतानके साथ जीवित रहते थे और उनका मुख देखकर तथा उनका अंग स्पर्शकर पुत्रसुखका अनुभव करते थे ॥ १४२ ॥ उस समय यहांके भोगभूमिजोंकी व्यवस्था केवल मरुद्देवके ही आश्रय थी इसलिये ये मरुद्देव ही उस समयके लोगोंके प्राण थे। उस समयके लोग इनसे जीते थे इसलिये वे इन्हें मरुद्देव कहते थे ॥ १४३ ॥ इन्हीं मरुद्देवने उस समय जलमार्गमें गमन करने के लिये छोटी बड़ी नाव चलानेका उपदेश दिया तथा पर्वतपर चढनेकेलिये सीढी बनानेका उपदेश दियाथा ॥१४४॥ इन्हींके समयमें अन्य छोटे पर्वत उपसमुद्र और छोटी बड़ी अनेक नादियां उत्पन्न हुईं तथा नीच राजाके समान मेघ भी कभी कम और कभी अधिक बरसने लगे ॥ १४५ ॥ इनके बाद क्रमसे काल व्यतीत होनेपर जब कर्मभूमि की स्थिति धीरे धीरे अतिशय समीप आ रही थी उस समय बड़े भाग्यशाली तेरहवें बड़े कुलकर प्रसेन-जित उत्पन्न हुये ॥१४६॥ इनकी आयु पर्वप्रमाण थी और शरीरकी ऊंचाई पांचसो पचास धनुषकी थी ॥ १४७ ॥ उस समय महाराज प्रसेनजित ठीक सूर्यके समान प्रजाकेलिये मानो तीसरे नेत्र थे क्योंकि

प्रजानामधिकं चक्षुस्तमोदोषैरविप्लुतः। सोऽभाद्रविरिवाभ्युद्यत्पद्माकरपरिग्रहात्॥ १४८ ॥ तदाभूदर्भकोत्पत्तिर्जरायुपटलावृता। ततस्तत्कर्षणोपायं स प्रजानामुपादिशत्॥ ४९ ॥ तनुसंवरणं यत्तज्जरायुपटलं नृणां। स प्रसेनो जयात्तस्य प्रसेनाजिदसौ स्मृतः ॥ १५० ॥ प्रसा प्रसूतिः संरोधादिनस्तस्याः प्रसेनकः। तद्धानोपायकथनात्तज्जयाद्वा प्रसेनजित्॥ १५१ ॥ तदनंतरमेवाभून्नाभिः कुलधरः सुधीः। युगादिपुरुषैः पूर्वैरुदूढां धुरमुद्वहन्॥ १५२ ॥ पूर्वकोटीमितं तस्य परमायुस्तदुच्छ्रयः। शतानि पंच चापानां पंचवर्गाधिकानि वै ॥ १५३ ॥ मुकुटोद्भासिमूर्द्धासौ

सूर्य भी उदय होता है और ये भी सदा उदयरूप थे। सूर्य कमलोंको प्रफुल्लित करता है ये भी अतिशय शोभायमान थे। सूर्य राहुसे आच्छादित हो जाता है ये दीनतारूपी दोषसे कभी आच्छादित नहीं होते थे ॥ १४८ ॥ इनके समयमें जरायुसे ढकी हुई बालकोंकी उत्पत्ति होने लगी। इन्होंने अपनी प्रजाके लिये उस जरायुके फाड़नेका उपाय बतलाया ॥ १४९ ॥ जब बालक उत्पन्न होता है उस समय उसका शरीर लोहू मांससे बने हुये एक प्रकारके जालसे आच्छादित होता है उसी जालको जरायु कहते हैं। इसका दूसरा नाम प्रसेन भी है। महाराज प्रसेनजितने इस प्रसेन अर्थात् जरायुके फाड़ने और उसमेंसे बालक निकाल लेनेका उपदेश दिया था इसीलिये इनका नाम प्रसेनजित पडगया था ॥ १५० ॥ अथवा प्रसा शब्दका अर्थ प्रसूति अथवा जन्म लेना है। इन शब्दका अर्थ स्वामी है। यह जरायु जन्म लेते समय बालकको आच्छादित करलेता है इसलिये इसीको जन्मका स्वामी अथवा प्रसेन कहते हैं। महाराज प्रसेनजितने इसी प्रसेन अर्थात् जरायुके दूर करनेका उपाय बतलाया था अथवा इसके जीतनेका उपाय बतलाया था इसीलिये लोग इन्हें प्रसेनजित कहते थे ॥ १५१ ॥ इनके बाद ही महाराज नाभिराय चौदहवें कुलकर हुये। ये बड़े बुद्धिमान थे तथा इस युगके प्रारंभमें पूर्व पुरुषोंने सबसे अग्रसर होनेका जो भार धारण किया था उसके धारण करनेमें भी ये पूर्ण समर्थ थे ॥१५२॥ इनकी आयु एक करोड़ पूर्वकी थी और शरीरकी उंचाई पांचसौ पच्चीस धनुषकी थी। इनका मस्तक सुवर्णमय मुकुटसे बड़ा ही शोभा-

कुंडलाभ्यामलंकृतः । सुमेरुरिवचंद्रार्कसंश्लिष्टाधित्यको बभौ ॥ १५४ ॥ पार्वणं शशिनं गर्वात्स्खलयत्तन्मुखांबुजं । सितोल्लसितदंतांशुकेसरं भृशमाबभौ ॥ १५५ ॥ स हारभूषितं वक्षो बभाराभरणोज्ज्वलं । हिमवानिव गंगांबुप्रवाहघटितं तटं ॥ १५६ ॥ सदंगुलितलौ बाहू सोऽधान्नागाविवोत्फणौ । केयूररुचिरौ चांसौ साही निधिघटाविव ॥ १५७ ॥ सुसंहतं दधौ मध्यं स्थेयो वज्रास्थिबंधनं । लोकस्कंध इवोर्ध्वाधोविस्तृतश्चारुनाभिकं ॥ १५८ ॥ कटीतटं कटीसूत्रघटितं स्म बिभर्त्ति सः । रत्नद्वीपमिवांभोधिः पर्यंतस्थितरत्नकं ॥ १५९ ॥ वज्रसारौ दधावूरू परिवृत्तौ सुसंहतौ । जग-

यमान था इसके दोनों ओर कानोंमें जो कुंडल लगे थे उनसे वह मुकुट सहित मस्तक ऐसा शोभित होता था मानो मेरुपर्वतकी ऊपरकी भूमि दोनो ओर फिरते हुये सूर्य चंद्रमासे सुशोभित हो रही हो ॥१५४॥ साधारण रीतिसे चंद्रमा कमलको तिरस्कृत किया करता है परंतु इनका मुखकमल ऐसा शोभायमान था कि वह अपने गर्वसे पौर्णमासीके पूर्ण चंद्रमाको भी तिरस्कृत करता था। इनके अल्प हास्यसे कांतियुक्त जो दातोंकी किरणें निकल रही थीं वे इनके मुखकमलमें केसरके समान सुशोभित हो रही थीं ॥ १५५ ॥ वे महाराज नाभिराय अनेक दैदीप्यमान आभरण पहने हुये थे। हारसे सुशोभित इनका वक्षःस्थल ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों गंगानदीके प्रवाहसे बना हुआ हिमवान पर्वतका किनारा ही हो ॥ १५६ ॥ अंगुली और हथेलियों सहित जिनकी दोनों बाहू ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो अपना अपना फण ऊंचा किये हुये दो सर्प ही हों। तथा केयूरोंसे सुशोभित दोनों कंधे ऐसे लगते थे मानो सर्पसहित दोनों निधियोंके घड़े ही हों ॥ १५७ ॥ इनका कटिभाग भी अत्यंत सुदृढ़ और स्थिर था। वज्रमय जिसके अस्थिबंधन थे। जिसके समीप ही बहुत सुंदर नाभि थी और वह ऐसा शोभायमान था जैसे सुविस्तृत ऊर्द्ध्वभाग और अधोभागवाले लोकाकाशका मध्यभाग ही हो ॥ १५८ ॥ तथा कमरमें पड़ी हुई रत्नमय करधनीसे इनका कटिभाग ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो जिसमें सर्वत्र रत्न पडे हुये हैं ऐसा समुद्रसे घिरा हुआ रत्नद्वीप ही शोभित होता हो ॥ १५९ ॥ [illegible] जंघा भी वज्रमय

दृगृहांतर्विन्यस्तसुस्थितस्तंभसन्निभौ ॥ १६० ॥ मत्वोरःसिलमस्योर्ध्वकायं वेधा महाभरं । उपाजेकर्त्तुमध्यूरू स्थिरे जंघे न्यधाद् ध्रुवं ॥ १६१ ॥ चंद्रार्कसरिदंभोधिमत्स्यकूर्मादिलक्षणं । दधेधिचरणं भक्तुं चराचरमिवाश्रितं ॥ १६२ ॥ इति स्वभावमाधुर्यसौंदर्यघटितं वपुः । मन्येतादृक्सुरेंद्राणामपि जायेत दुष्करं ॥ १६३ ॥ तस्य काले सुतोत्पत्तौ नाभिनालमदृश्यत । स तन्निकर्त्तनोपायमादिशन्नाभिरित्यभूत् ॥ १६४ ॥ तस्यैव काले जलदाः कालिकाकर्बुरत्विषः । प्रादुरासन्नभोभागे सांद्राः सेंद्रशरासनाः ॥ १६५ ॥ नभोनीरंध्रमारुंधजजृंभेऽभोमुचां चयः । कालादुद्भूतसामर्थ्यैरारब्धः सूक्ष्म-

सुदृढ़ और गोल थीं और वे ऐसी लगती थीं मानों संसाररूपी घरके भीतर मजबूत दो खंभे ही लगे हों ॥ १६० ॥ इनके शरीरका ऊपरी भाग वक्षःस्थलरूपी शिलाके बोझसे अतिशय भारी था और कदाचित् यह समझ कर ही उसके निश्चल करनेकेलिये नामकर्मने इनकी जंघाके नीचेका भाग गोल और बहुत ही मजबूत बनाया था ॥ १६१ ॥ इनके चरणतलमें सूर्य चंद्रमा नदी समुद्र मत्स्य कच्छप आदि अनेक शुभ लक्षण थे और वे ऐसे शोभायमान होते थे मानो चर अचररूप यह सब संसार इनके चरणकमलोंकी सेवा करनेकेलिये ही आया है ॥१६२॥ इसप्रकार महाराज नाभिरायका शरीर स्वाभाविक मधुरता और सुंदरतासे बना हुआ था। इनके शरीरकी स्वाभाविक शोभा देखकर यह अवश्य कहना पड़ता था कि ऐसा शरीर देवोंके स्वामी इंद्रको भी प्राप्त होना अति कठिन है ॥ १६३ ॥ इनके समयमें उत्पन्न होतेसमय बालककी नाभिमें नाल दिखाई देने लगा था। महाराज नाभिरायने इस नालके काटनेका उपाय बतलाया था इसीलिये इनका 'नाभि' यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥१६४॥ इन्हींके समयमें आकाशमें कुछ सफेदी लियेहुये घनीभूत काले बादल दिखाई पड़ने लगे थे तथा उनमें इंद्रधनुष भी दिखाई देने लगा था ॥१६५॥ उस समय कालके अनुसार सूक्ष्म पुद्गल द्रव्योंमें बादल बननेकी सामर्थ्य उत्पन्न होगई थी इसलिये उन पुद्गलोंसे बने हुये छिद्ररहित बादलोंके समूह आकाशको घेरे हुये इधर उधर फैल गये थे ॥ १६६ ॥ उन बादलोंमें कहीं कहीं बिजली भी चमक रही थी, वे गरज रहे थे और बरस भी रहे थे।

पुद्गलैः ॥ १६६ ॥ विद्युद्वंतो महाध्वाना वर्षंतो रेजिरे घनाः । सहेमकक्ष्या मदिनो नागा इव सबृंहिताः ॥ १६७ ॥ घनाघनघनध्वानैः प्रहता गिरिभित्तयः । प्रत्याक्रोशमिवातेनुः प्ररुष्टाः प्रतिशब्दकैः ॥१६८॥ ववाववाततान्कुर्वन्कलापौघान्कलापिनां । घनाघनालिमुक्तांभःकणवाही समीरणः ॥ १६९ ॥ चातका मधुरं रेणुरभिनंद्य घनागमं । अकस्मात्तांडवारंभमातेने शिखिनां कुलं ॥ १७० ॥ अभिषेक्तुमिवारब्धा गिरीनंभोमुचां चयाः । मुक्तधारं प्रवर्षंतः प्रत्तरद्धातुनिर्झरान् ॥ १७१ ॥ क्वचिद्गिरिसरित्पूराः प्रावर्तंत महारयाः । धातुरागारुणा मुक्ता रक्तमोक्षा इवाद्रिषु ॥१७२॥ ध्वनंतो

इसलिये ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो जिसकी सूंडपर सुवर्णका पट्टा पड़ा हुआ है और जिससे मद बह रहा है ऐसा गर्जता हुआ हाथी ही सुशोभित होता हो ॥ १६७ ॥ उस समयके जो घनीभूत बादल गरज रहे थे उनके शब्द पर्वतोंकी दीवालों पर टकराते थे और उन पर्वतोंकी गुफाओंमेंसे उन्हीं शब्दोंकी प्रतिध्वनि निकल रही थी जिससे ऐसा मालूम पड़ता था मानो वे पर्वतकी दीवालें उन शब्दोंकी टक्करसे रुष्ट होकर बदलेमें आक्रोश बचन ही कह रही हों ॥१६८॥ उस समय वहां घनीभूत बादलोंके जलबरसने से ठंडा हुआ तथा मोरोंके पंखोंको फैलाता हुवा वायु भी चल रहा था ॥ १६९ ॥ आकाशमें बादल देखकर चातक पत्ती भी प्रसन्न हुये और मीठे २ शब्द बोलने लगे थे । उसी बादलको देखकर मोरोंके झुंडके झुंड अकस्मात् तांडव नृत्य करने लगे ॥ १७० ॥ तथा जो बादल धाराप्रवाह बरस रहे थे ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनसे धातुओंके निर्झरने निकल रहे हैं उन पर्वतोंका अभिषेक ही कर रहे हों ॥ १७१ ॥ पर्वतोंपर कहीं कहीं गेरूके रंगसे लाल हुये नदियोंके पूर बड़े वेगसे बह रहे थे वे पूर ऐसे मालूम पड़ते थे मानों मेघोंसे ताड़ित हुये पर्वतोंसे निकलकर रक्तका प्रवाह ही बह रहा हो ॥ १७२ ॥ वे बादल गरजते हुये मोटी धारसे बरस रहे थे, जिससे ऐसा मालूम पड़ता था मानों ये कल्पवृत्तोंके नष्ट होनेसे दुःखी हुये हैं और शोकसे रुदन करते हुये आंसू ही बहा रहे हैं ॥ १७३ ॥ वे बादल जब वायुसे टकराते थे तब उनसे ऐसा गंभीर शब्द होता था मानो बजानेवालेके हाथकी धीमी चोटसे

ववृपुर्मुक्तस्थूलधाराः पयोधराः । रुदंत इव शोकार्ताः कल्पवृक्षपरिक्षये ॥ १७३ ॥ मार्दंगिककरास्फालादिव वाताभिघट्टनात् । पुष्करेष्विव गंभीरं ध्वनत्सु जलवाहिषु ॥ १७४ ॥ विद्युन्नटी नभोरंगे विचित्राकारधारिणी । प्रतिक्षणविवृत्तांगी नृत्तारंभमिवातनोत् ॥ १७५ ॥ पयः पयोधरासक्तैः पिबद्भिरवितृप्तिभिः । कृच्छ्रलब्धमिवप्रीतैश्चातकैरर्भकायितं ॥ १७६ ॥ तडित्कलत्रसंसक्तैः कालापेक्षैर्महाजलैः । कृषिप्रवृत्तकैर्मेघैर्व्यक्तं पामरकायितं ॥१७७॥ अबुद्धिपूर्वमुत्सृज्य वृष्टिं सद्यः पयोमुचः । नैकधा विक्रियां भेजुर्वैचित्र्यात्पुद्गलात्मनः ॥ १७८ ॥ तदा जलधरोन्मुक्ता मुक्ताफलरुचो लटाः ।

मृदंगका शब्द ही होता हो। उसी समय आकाशमें चारों ओर बिजली भी चमक रही थी और वह ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो आकाशरूपी रंगभूमिमें अनेक रूप धारण करती हुई तथा क्षण क्षणमें इधर उधर अपना शरीर घुमाती हुई बिजली रूपी नटी उस बाजेके साथ नृत्य ही कर रही हो ॥ १७४ ॥ ॥ १७५ ॥ उस समय चातक पक्षी ठीक बालकके समान हो रहे थे। जैसे बालक पयोधर अर्थात् माताके स्तनमें आसक्त रहते हैं उसी प्रकार चातक भी पयोधर अर्थात् मेघोंमें आसक्त हो रहे थे तथा बालक जैसे बड़ी कठिनतासे प्राप्त हुआ पय अर्थात् दूध पीते रहते हैं और तृप्त नहीं होते, उसी प्रकार चातक भी कठिनतासे प्राप्त हुआ पय अर्थात् मेघजल पीते रहते थे और तृप्त नहीं होते थे। बालक जैसे माता पितासे प्रेम रखते हैं उसीप्रकार वे चातक भी मेघोंसे प्रेम रखते थे ॥१७६॥ अथवा यों भी कह सकते हैं कि वे बादल पामर पुरुषोंका अनुकरण कर रहे थे। पामरगण जैसे स्त्रीमें आसक्त रहते हैं उसीप्रकार वे भी सदा बिजुली रूपी स्त्रीमें आसक्त रहते थे। पामर जन (नीच वा शूद्रजन) जैसे कुछ न कुछ अपेक्षा रखते हैं बादल भी कालकी अपेक्षा रखते थे। पामरगण जड़ अर्थात् मूर्ख होते हैं वे भी महाजड़ अर्थात् जलसे खूब भरे हुये थे। पामर पुरुष भी प्रायः खेती करनेवाले होते हैं और ये बादल भी खेती करानेवाले थे ॥१७७॥ वे बादल अचेतन थे उनमें कुछ बुद्धि नहीं थी परंतु जिन पुद्गल परमाणुओंसे वे बने थे उनकी विचित्र परिणतिके कारण वे शीघ्र ही बरस कर अनेक आकारके हो जाते थे ॥ १७८॥ उस समय जो पानीकी

महीं निर्वापयामासुर्दिवाकरकरोष्मतः ॥१७९॥ ततोऽब्दमुक्तवारिक्ष्माखानिलातपगोचरान् । क्लेदाधारावगाहांतर्नीहारोष्मत्वलक्षणान् ॥ १८० ॥ गुणानाश्रित्य सामग्रीं प्राप्य द्रव्यादिलक्षणां । सरूढान्यंकुरावस्थाप्रभृत्याकणिशासितः ॥ १८१ ॥ शनैःशनैर्विवृद्धानि क्षेत्रेष्वविरलं तदा । सम्यान्यकृष्टपच्यानि नानाभेदानि सर्वतः ॥ १८२ ॥ प्रजानां पूर्वसुकृतात्कालादपि च तादृशात् । सुपक्वानि यथाकालं फलदायीनि जज्ञिरे ॥१८३॥ तदा पितृव्यतिक्रांतावपत्यानीव तत्पदं । कल्पवृक्षोचितस्थानं तान्यध्यासिषत स्फुटं ॥ १८४ ॥ नातिवृष्टिरवृष्टिर्वा तदासीत्किंतु मध्यमा । वृष्टिस्तत्सर्वधान्यानां फलावाप्तिरविप्लुता ॥ १८५ ॥ षाष्टिकाः कलमव्रीहियवगोधूमकंगवः । श्यामाककोद्रवोदारनीवारवरकास्तथा ॥ १८६ ॥ तिला-

बूंदें बादलोंसे गिर रही थीं वे मोतीके समान सुंदर सुशोभित हो रही थीं जिससे सूर्यकी किरणोंसे तप्त हुई यह संपूर्ण पृथिवी शांत हो गई थी ॥ १७९ ॥ तदनंतर मेघोंसे पड़ा हुआ जल, पृथिवी, आकाश, वायु और सूर्यकी धूप इन सबके गुण परस्पर मिले अर्थात् जलकी आर्द्रता, पृथिवीका आधार, आकाशकी अवगाहन शक्ति, वायुका अंतर्नीहार अर्थात् अंकुर बढ़ने केलिये जो परमाणु चाहिये उन्हें इकट्ठा कर एक जगह जमने देना, और धूपकी उष्णता इन सब गुणोंसे द्रव्य क्षेत्रआदि सब सामग्री इकट्ठी हुई और उनसे अंकूरे उत्पन्न हुये । वे अंकूरे बहुत दूर दूर नहीं थे किंतु पास पास थे । वे धीरे धीरे बढ़ने लगे और फल लगने तक बराबर बढ़ते चले गये । इसीतरह अनेक प्रकारके धान्य भी जो किसीने बोये नहीं थे सब जगह अपने आप उत्पन्न होने लगे, वे सब धान्य उस समयकी प्रजाके पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मके उदयसे तथा उसीप्रकारके समयके प्रतापसे अपने आप ही यथायोग्य समयपर पक गये और फलदेनेयोग्य होगये ॥ १८० ॥ १८१ ॥ १८२ ॥ १८३ ॥ जिसप्रकार माता पिताके मरनेपर उनके स्थानपर उनकी संतान कायम रहती है ठीक इसीप्रकार कल्पवृक्षोंके स्थानपर वे नये उत्पन्न हुये धान्य कायम हुये थे ॥ १८४ ॥ उस समय न तो अधिक वृष्टि होती थी और न कम, किंतु जितनी चाहिये उतनी मध्यम वृष्टि होती थी । इसलिये वे सब धान्य निर्विघ्नरीतसे पककर फलसहित हो गये थे ॥ १८५ ॥ साठी चावल, कलम वा

तस्यौ मसूराश्च सर्षपो धान्यजीरकौ । मुद्गमाषाढकीराजमाषनिष्पावकाश्चणाः ॥ १८७ ॥ कुलित्थत्रिपुटौ चेति धान्यभेदास्त्विमे मताः । सकुसुंभाः सकर्पासाः प्रजाजीवनहेतवः ॥ १८८ ॥ उपभोग्येषु धान्येषु सत्स्वप्येषु तदा प्रजाः । तदुपायमजानानाः स्वतऽमूर्मुमुहुर्मुहुः ॥ १८९ ॥ कल्पद्रुमेषु कार्त्स्न्येन प्रलीनेषु निराश्रयाः । युगस्य परिवर्त्तेऽस्मिन्नभूवन्नाकुलाकुलाः ॥ १९० ॥ तीव्रायामशनायायामुदीर्णाहारसंज्ञया । जीवनोपायसंशीतिव्याकुलीकृतचेतसः ॥ १९१ ॥ युगमुख्यमुपासीना नाभिं मनुमपश्चिमं । ते तं विज्ञापयामासुरिति दीनगिरो नराः ॥ १९२ ॥ जीवामः कथमेवाद्य नाथानाथा विना द्रुमैः । कल्पदायिभिराकल्पमविस्मार्यैरपुण्यकाः ॥ १९३ इमे केचिदितो देव तरुभेदाः समुत्थिताः । शाखाभिः

रसाल जातिके चावल, जौ, गेंहू, कांगनी, तृणोंसे उत्पन्न हुये धान्य, कोदों, जंगली चांवल, बटाने, तिल, तिसी वा अलसी, मसूर, सरसों, धनियां, जीरा, मूंग, उड़द, अरहर, रमास, मोठ, चना, कुलथी, तेउरा कुसुम, कपास इत्यादि उस समयकी प्रजाके जीवित रहनेके कारणभूत अनेक प्रकारके धान्यादि उत्पन्न हुये थे । ॥ १८६ ॥ १८७ । १८८ ॥ इसप्रकार भोग उपभोगके योग्य ऊपर कहे हुये सब धान्यादि उपस्थित थे परंतु उस समयकी प्रजा उन्हें काममें लानेका उपाय नहीं जानती थी इसलिये वह स्वभावसे ही बार बार मोहित होती थी अर्थात् उन्हें देखकर वह भ्रममें पड़गई थी ॥ १८६ ॥ उस समय युगका परिवर्त्तन हो रहा था अर्थात् भोगभूमिसे बदलकर कर्मभूमिका समय आ रहा था। कल्पवृक्ष पूर्णरीतिसे नष्ट हो चुके थे । इसकारण ऐसे कठिन समयमें यहांके सब लोग निराधार और अतिशय व्याकुल हो रहे थे ॥ १९० ॥ आहारसंज्ञाके उदय होनेसे उन्हें तीव्र भूख भी लग रही थी किंतु उसके शांत करनेका उपाय कुछ नहीं जानते थे इसलिये अपने जीवित रहनेमें भी संदेह कर अतिशय व्याकुल चित्त होकर वे सब लोग उस युगके मुख्य नायक श्रीनाभिराय अंतिम मनुके समीप आये और बड़ी दीनताके साथ प्रार्थना करने लगे कि ॥१९१ । १९२॥ हे नाथ ! इष्ट फल देनेवाले कल्पांतकालतक स्मरण करने योग्य कल्पवृक्ष सब नष्ट होगये अब पुण्यहीन अनाथ हमलोग किसप्रकार जीवित रहें॥१९३॥ हे देव! देखिये! ये अनेकप्रकारके

फलनम्राभिराह्वयंतीव नोऽधुना ॥ १९४ ॥ किमिमे परिहर्त्तव्याः किं वा भोग्यफला इमे । फलेग्रहीनि मेऽस्मान्वा निगृह्णंत्यनुपांति वा ॥ १९५ ॥
अमीषामुपशल्येषु केऽप्यमी तृणगुल्मकाः । फलनम्राशिखा भांति विश्वदिक्वामितोमुतः ॥ १९६ ॥ क एषामुपयोगः स्याद्विनियोज्याः कथं नु वा ।
किमिमे स्वैरसंग्राह्या न वेतीदं वदाद्य नः ॥ १९७ ॥ त्वं देव सर्वमप्येतद्वेत्सि नाभेऽनभिज्ञकाः । पृच्छामो वयमद्यार्त्तास्ततो ब्रूहि प्रसीद नः ॥ १९८ ॥
इति कर्तव्यतामूढानतिभ्रांतांस्तदार्यकान् । नाभिर्न भैयमित्युक्त्वा व्याजहार पुनः स तान् ॥ १९९ ॥ इमे कल्पतरूच्छेदे द्रुमाः पक्वफलानताः ।
युष्मानद्यानुगृह्णंति पुरा कल्पद्रुमा यथा ॥ २०० ॥ भद्रकास्तदिमे भोग्याः कार्या न भ्रांतिरत्र वः । अमी च परिहर्तव्या दूरतो विषवृक्षकाः ॥ २०१ ॥

वृक्ष उत्पन्न हुये हैं जो कि शाखा और फलोंके बोझसे झुक रहें हैं सो ऐसे मालूम होते हैं मानो हमें बुला रहे हैं ॥ १९४ ॥ परंतु ये त्याज्य हैं ? या इनके फल सेवन करने योग्य हैं ? यदि हम इनके फल ग्रहण करें तो ये हमें मारेंगे या हमारी रक्षा करेंगे ? ॥ १९५ ॥ तथा इन वृक्षोंके समीप ही चारों दिशाओंमें जो छोटे छोटे गुच्छे उग रहे हैं जो कि अपनी शिखा और फलोंसे नम्र हुये बड़े ही शोभायमान हो रहे हैं सो ये सब क्या हैं ? ॥१९६॥ इनका क्या उपयोग है ? ये किस प्रकार भोगोपभोगमें आ सकते हैं। हमारी इच्छानुसार उनका संग्रह हो सकता है या नहीं ? हे स्वामिन् आज ये सब बातें कहिये ॥ १९७ ॥ हे महाराज नाभि ! आप ये सब बातें जानते हैं । हम लोग सर्वथा अनभिज्ञ हैं और दुखी हैं इसी कारण आपसे पूछते हैं इसलिये हे देव ! हमपर आप प्रसन्न हूजिये और ये सब वृत्तांत कहिये ॥ १९८ ॥ इसप्रकार जो आर्यपुरुष कर्त्तव्यमूढ़ और अतिशय भ्रांत हो रहे थे उन्हें महाराज नाभिराय धैर्य देने लगे और 'डरो मत, यह कहकर नीचे लिखे हुये वाक्य कहने लगे ॥ १९९ ॥ अब कल्पवृक्ष नष्ट होगये हैं इसलिये फलों से नम्रीभूत हुये ये साधारण वृक्ष तुम्हारा वैसा ही उपकार करेंगे जैसे कि पहले कल्पवृक्ष करते थे ॥२००॥ इसलिये हे भद्र पुरुष हो ये वृक्ष तुम्हारे भोग्य हैं इसमें तुम्हें किसी प्रकारकी भ्रांति नहीं करना चाहिये। परंतु इधर देखो! ये सब विषवृक्ष हैं इनसे दूर रहना ॥ २०१ ॥ ये चांवल जौ आदि एकप्रकारकी औषधि हैं।

इमाश्च काश्चनौषध्यः स्तंबकार्यादयो मताः । एतासां भोज्यमन्नाद्यं व्यंजनाद्यैः सुसंस्कृतं ॥ २०२ ॥ स्वभावमधुराश्चैते दीर्घाः पुंड्रेक्षुदंडकाः । रसीकृत्य प्रपातव्या दंतैर्यंत्रैश्च पीडिताः ॥ २०३ ॥ गजकुंभस्थले तेन मृदा निर्वर्तितानि च । पात्राणि विविधान्येषां स्थाल्यादीनि दयालुना ॥२०४॥ इत्याद्युपायकथनैः प्रीता सत्कृत्य तं मनुं । भेजुस्तद्दर्शितां वृत्तिं प्रजाः कालोचितां तदा ॥ २०५ ॥ प्रजानां हितकृद्भूत्वा भोगभूमिस्थितिच्युतौ । नाभिराजस्तदोद्भूतो भेजे कल्पतरुस्थितिं ॥ २०६ ॥ पूर्वं व्यावर्णिता ये ते प्रतिश्रुत्यादयः क्रमात् । पुरा भवे बभूवुस्ते विदेहेषु महान्वयाः ॥ २०७ ॥ कुशलैः पात्रदानाद्यैरनुष्ठानैर्यथोचितैः । सम्यक्त्वग्रहणात्पूर्वं बद्धायुर्भोगभूभुवां ॥२०८॥ पश्चात्क्षायिकसम्यक्त्वमुपादाय जिनांतिके ।

इनमें मसाला आदि पदार्थ मिलाकर इनका पाक करनेसे अन्न आदि खाने योग्य स्वादिष्ट पदार्थ तैयार होते हैं ॥ २०२ ॥ ये जो लंबे दंडे सरीखे दिखते हैं सो पौंड़े (ईख) हैं ये स्वाभावसे ही मीठे हैं। इन्हें दांतोंसे अथवा यंत्रसे पेलकर इनका रस निकालकर पीना चाहिये ॥ २०३ ॥ दयालु महाराजनाभिरायने उन आर्योंको ये सब उपाय बतलाये तथा हाथीके कुंभस्थलपर थाली आदि अनेक प्रकारके मिट्टीके बर्तन बनाकर इन्हें दिये और आगें इसीप्रकार बनानेका उपदेश दिया ॥ २०४ ॥ इसप्रकार महाराज नाभिरायने सब उपाय बतलाये जिससे वे आर्य लोग बहुत प्रसन्न हुये उन्होंने नाभिराय मनुका अतिशय आदर सत्कार किया। मनुने उस कालके योग्य जो कुछ मार्ग दिखलाया था उसीके अनुसार वे लोग चलने लगे ॥ २०५ ॥ उस समय इस भरतक्षेत्रमें भोगभूमिकी स्थिति नष्ट हो चुकी थी प्रजाका हित करनेवाले केवल नाभिराय ही उत्पन्न हुये थे। इसलिये उस समय वे ही कल्पवृक्षका काम दे रहे थे ॥ २०६॥ ऊपर जो प्रतिश्रुतिसे लेकर नाभि पर्यंत चौदह कुलकर (मनु) कहे हैं वे सब पूर्वभवमें विदेह क्षेत्रोंमें महापुरुष (अतिशय पुण्यवान) थे ॥ २०७ ॥ इन्होंने उस भवमें अनेक पुण्य बढ़ानेवाले पात्रदान दिये थे। अनेक यथायोग्य व्रताचरण आदि अनुष्ठान किये थे जिससे सम्यक्त्व प्राप्त होनेसे पहले ही उनकी भोगभूमिकी आयु बंध चुकी थी ॥ २०८ ॥ अंतमें इन्हें श्रीजिनेंद्रदेवके समीप क्षायक सम्यकत्वकी

अत्रोदपत्स्यत स्वायुरंते ते श्रुतपूर्विणः ॥ २०९ ॥ इमान्नियोगानाध्याय प्रजानामित्युपादिशन्। केचिज्जातिस्मरास्तेषु केचिच्चावधिलोचनाः॥२१०॥ प्रजानां जीवनोपायमननान्मनवो मताः । आर्याणां कुलसंस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे ॥ २११ ॥ कलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति । युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः ॥ २१२ ॥ वृषभस्तीर्थकृच्चैव कुलकृच्चैव संमतः । भरतश्चक्रभृच्चैव कुलधृच्चैव वर्णितः ॥ २१३ ॥ तत्राद्यैः पंचभिर्नृणां कुलभृद्भिः कृतागसां । हाकारलक्षणो दंडः समवस्थापितस्तदा ॥ २१४ ॥ हामाकारो च दंडोऽन्यैः पंचभिः संप्रवर्तितः । पंचभिस्तु ततः शेषैर्हामाधिकारलक्षणः ॥ २१५ ॥ शारीरं दंडनं चैव वधबंधादिलक्षणं । नृणां प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितं ॥ २१६ ॥ यदायुरुक्त-

प्राप्ति और श्रुतज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। तथा वे अपनी आयु पूर्णकर यहां इस आर्यक्षेत्रमें उत्पन्न हुये थे ॥ २०९ ॥ इन चौदहमेंसे कितने ही मनुओंको तो जातिस्मरण था और कितनोंहीको अवधिज्ञान था इन्होंने प्रजाकेलिये ऊपर कहे हुये पृथक् पृथक् नियोग बतलाये और उन्हें ऊपर कहे हुये अनेक उपदेश दिये थे ॥२१०॥ वे उस समयकी प्रजाके जीवनका उपाय जानते थे इसलिये मनु कहलाते थे। तथा उन आर्यपुरुषोंको इकट्ठे होकर एक जगह रहनेका उपदेश दिया था इसलिये वे कुलकर कहलाते थे॥२११॥ इन्होंने अनेक वंश स्थापन किये थे इसलिये वे कुलधर भी कहलाते थे। तथा युगके प्रारंभमें ये ही प्रतापी और बुद्धिमान् हुये थे इस लिये युगादिपुरुष कहलाते थे॥२१२॥ श्रीवृषभदेव तीर्थंकर भी थे और कुलकर भी कहलाते थे। तथा इन के पुत्र भरत महाराज चक्रवर्ती भी थे और कुलधर भी थे॥२१३॥ इन कुलकरोंने दोषी मनुष्योंको दंड देने का विधान भी चलाया था और वह इस तरहसे कि जो पहलेके पांच मनु थे उन्होंनें कोई दोष होनेपर 'हा' इसप्रकार शोक प्रगट करनेरूप दंड देना प्रारंभ किया तथा—॥२१४॥ अन्य पांच मनुओंने 'हा, मा' इसप्रकार शोक प्रगट करनेरूप और उस कामको निषेध करनेरूप दंड दिया। तथा अंतके पांच मनुओंने 'हा, मा और धिक् ये तीनप्रकारके दंड देना प्रारंभ किया ॥ २१५ ॥ महाराज भरतके समयमें लोग अधिक दोष और अन्याय करने लगे थे इसलिये महाराज भरतने उन्हें कारागार

मेतेषाममादिप्रसंख्यया । क्रियते तद्विनिश्चित्यै परिभाषोपवर्णनं ॥ २१७ ॥ पूर्वांगं वर्षलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा । तद्वर्गितं भवेत्पूर्वं तत्कोटी पूर्वकोट्यसौ ॥ २१८ ॥ पूर्वं चतुरशीतिघ्नं पर्वांगं परिभाष्यते । पूर्वांगताडितं तत्तु पर्वांगं पर्वमिष्यते ॥ २१९ ॥ गुणाकारविधिः सोऽयं योजनीयो यथाक्रमं । उत्तरेष्वपि संख्यानविकल्पेषु निराकुलं ॥ २२० ॥ तेषां संख्यानभेदानां नामानीमान्यनुक्रमात् । कीर्त्यंते ऽनादिसिद्धांते पदरूढानि यानि वै ॥ २२१ ॥ पूर्वांगं च तथा पूर्वं पर्वांगं पर्वसाह्वयं । नयुतांगं परं तस्मान्नयुतं च ततः परं ॥ २२२ ॥ कुमुदांगमतो विद्धि कुमुदाह्वमतः

में रखना उनका वध करना आदि शारीरिक दंड भी देनेकी प्रणाली चलाई थी ॥२१६॥ ऊपर कितने ही मनुओंकी आयु 'अमम' आदि परिभाषारूप संख्यासे कही है इसलिये अब उनका निश्चय करनेकेलिये उन परिभाषाओंका अर्थ लिख देते हैं ॥ २१७ ॥ चौरासी लाख वर्षोंका एक पूर्वांग कहलाता है । चौरासी लाखका वर्ग करनेसे जो संख्या आती हैं उसे पूर्व कहते हैं अर्थात् ८४००००० × ८४००००० = ७०५६००००-०००००० वर्षोंका पूर्व होता है । इस संख्याको करोड़से गुणा करनेसे एक करोड़ पूर्व संख्या कहलाती है ॥ २१८ ॥ इस पूर्वको चौरासीसे गुणा करनेसे पर्वांग कहलाता है तथा पर्वांगको चौरासीलाखसे गुणा करनेसे पर्व कहलाता है ॥ २१९ ॥ आगे जो नयुतांग नयुत आदि जो संख्या कही हैं उनमें यही गुणाकार विधि करना चाहिये । भावार्थ—पर्वको चौरासीसे गुणा करनेसे नयुतांग, नयुतांगको चौरासीलाखसे गुणा करनेसे नयुत, नयुतको चौरासीसे गुणा करनेसे कुमुदांग, कुमुदांगको चौरासीलाखसे गुणा करनेसे कुमुद, कुमुदको चौरासीसे गुणा करनेसे पद्मांग, पद्मांगको चौरासीलाखसे गुणा करनेसे पद्म, पद्मको चौरासीसे गुणा करनेसे नलिनांग, नलिनांगको चौरासीलाखसे गुणा करनेसे नलिन आदि इसीप्रकार गुणा करनेसे आगेकी संख्याओंका परिमाण निकलता है ॥ २२० ॥ अब हम अनुक्रमसे उस संख्याके भेदोंके नाम कहते हैं जो अनादिनिधन सिद्धांतमें प्रसिद्ध हैं ॥ २२१ ॥ पूर्वांग, पूर्व, पर्वांग, पर्व, नयुतांग, नयुत, कुमुदांग, कुमुद, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, कमलांग, कमल, तुट्यंग, तुटिक, अटटांग,

परं । पद्मांगं च ततः पद्मं नलिनांगमतोऽपि च ॥ २२३ ॥ नलिनं कमलांगं च तथान्यत्कमलं विदुः । तुट्यंगं तुटिकं चान्यदटटांगमथाटटं ॥ २२४ ॥ अममांगमतो ज्ञेयमममाख्यमत. परं । हाहांगं च तथा हाहा हूहूश्चैवं प्रतीयतां ॥ २२५ ॥ लतांगं च लताह्वं च महत्पूर्वं च तद्द्वयं । शिरःप्रकंपितं चान्यत्ततो हस्तप्रहेलितं ॥ २२६ ॥ अचलात्मकमित्येवंप्रकारः कालपर्ययः । संख्येयो गणनातीतं विदुः कालमतः परं ॥ २२७ ॥ यथासंभवमेतेषु मनूनामायुरूह्यतां । संख्याज्ञानमिदं विद्वान्सुधीः पौराणिको भवेत् ॥ २२८ ॥ आद्यः प्रतिश्रुतिः प्रोक्तो द्वितीयः सन्मतिर्मतः । तृतीयः क्षेमकृन्नाम्ना चतुर्थः क्षेमधृन्मनुः ॥ २२९ ॥ सीमकृत्पंचमो ज्ञेयः षष्ठः सीमधृदिष्यते । ततो विमलवाहांकश्चक्षुष्मानष्टमो मतः ॥ २३० ॥ यशस्वान्नवमस्तस्मान्नभिचंद्रोऽप्यनंतरः । चंद्राभोस्मात्परं ज्ञेयो मरुद्देवस्ततःपरं ॥ २३१ ॥ प्रसेनजित्परस्तस्मान्नाभिराजश्चतुर्दशः । वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रभृतौ मनू ॥ २३२ ॥ प्रतिश्रुतिः प्रत्यश्रृणोत्प्रजानां चंद्रार्कसंदर्शनभीतिभाजां । स सन्मतिस्तारकिताभ्रमार्गसंदर्शने भीतिमपा-

अटट, अममांग, अमम, हाहांग, हाहा, हूहू-अंग, हूहू, लतांग, लता, महालतांग, महालता, शिरःप्रकंपित हस्तप्रहेलित और अचल ये सब उक्त संख्याके नाम हैं और ये सब कालके भेद वा पर्याय हैं। इनसे आगेकी संख्या असंख्यात कहलाती है ॥ २२२—२२७ ॥ पहले मनुओंकी जो अमम अटट आदि आयु कही है उसका परिमाण ऊपर लिखे प्रकारसे निकाल लेना चाहिये । जो विद्वान् इन सब संख्याओंको जानता है वही बुद्धिमान पौराणिक गिना जाता है ॥२२८॥ जिन कुलकरोंका ऊपर वर्णन किया गया है अनुक्रम से उनके नाम ये हैं। पहला प्रतिश्रुति, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेमंकर, चौथे क्षेमंधर, पांचवें सीमंकर, छठे सीमंधर, सातवें विमलवाहन, आठवें चक्षुष्मान्, नवमे यशस्वान्, दशवें अभिचंद्र, ग्यारहवें चंद्राभ, बारहवें मरुद्देव, तेरहवें प्रसेनाजित् और चौदहवें नाभिराज। नाभिराजके पुत्र श्रीवृषभदेव तीर्थंकर भी थे और कुलकर भी थे तथा महाराज भरत चक्रवर्ती भी थे और कुलधर भी थे॥ २२९-२३२ ॥ जिन्होंने सूर्य चंद्रमाको देखकर डरनेवाले लोगोंके बचन सुने थे वे प्रतिश्रुति थे । जिन्होंने आकाशमें चमकते हुये तारोंसे भयभीत लोगोंका भय दूर किया था वे सन्मति थे ॥ २३३ ॥ जिन्होंने आर्य लोगोंका कल्याण किया था वे क्षेमंकर थे । जिन्होंने प्रजामें शांतता स्थापनकर कल्याण धारण किया था वे क्षेमंधर थे।

चकार ॥ २३३ ॥ क्षेमंकरः क्षेमकृदार्यवर्गे क्षेमंधरः क्षेमधृतेः प्रजानां । सीमंकरः सीमकृदार्यनॄणां सीमंधरः सीमधृतेस्तरूणां ॥ २३४ ॥ वाहोपदेशाद्विमलादिवाहः पुत्राननालोकनसंप्रदायात् । चक्षुष्मदाख्यो मनुरग्रगोऽभूद्यशस्वदाख्यस्तदभिष्टवेन ॥ २३५ ॥ सोऽक्रीडयच्चंद्रमसाभिचंद्रश्चंद्राभकस्तैः कियदप्यजीवीत् । मरुत्सुरोऽभूच्चिरजीवनात्तैः प्रसेनजिद्गर्भमलापहारात् ॥ २३६ ॥ नाभिश्च तन्नाभिनिकर्त्तनेन प्रजासमाश्वासनहेतुरासीत् । सोऽजीजनत्तं वृषभं महात्मा सोऽप्यग्रसूनुं मनुमादिराजं ॥ १३७ ॥ इत्थं युगादिपुरुषोद्भवमादरेण तस्मिन्निरूपयति गौतमसद्ग-

जिन्होंने आर्य लोगोंकी सीमा नियत की थी वे सीमंकर थे और जिन्होंने कल्पवृक्षोंकी सीमा नियत की थी वे सीमंधर थे ॥ २३४ ॥ जिन्होंने हाथी घोड़े आदि पशुओंपर सवारी करनेका उपदेश दिया था वे विमलवाहन थे। जिनके समयसे संतानके मुख देखनेका संप्रदाय प्रारंभ हुआ था वे सबसे अग्रेसर चक्षुष्मान थे। तथा सब लोग जिनका स्तवन करते थे वे यशश्वान् थे ॥ २३५ ॥ जिन्होंने चंद्रमाको दिखलाकर छोटे बच्चोंको क्रीड़ा करानेका उपदेश दिया था वे अभिचंद्र थे। जिनके समयमें अपने बच्चोंके साथ कितने ही दिन तक लोग जीवित रहते थे वे चंद्राभ थे। जिनके समयमें वहांके आर्य वहुत दिनों तक अपने बच्चोंके साथ जीवित रहते थे वे मरुद्देव थे और जिन्होंने जन्म होते समय बच्चेके ऊपर लगे हुये जरायुके हटानेका उपदेश दिया था वे प्रसेनजित थे ॥ २२६ ॥ जिन्होंने जन्म होते समय वच्चोंकी नाभि काटनेका उपदेश देकर प्रजाको आश्वासन दिया था वे नाभिराय थे। नाभिरायके प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभनाथ उत्पन्न हुये और वृषभनाथके प्रथम राजा, तथा सोलहवें मनु महाराज भरत चक्रवर्ती उत्पन्न हुये ॥ २३७ ॥ इस प्रकार गौतम गणधरने बड़े आदरके साथ इस युगके प्रारंभमें होनेवाले उत्तम पुरुषोंकी उत्पत्ति निरूपण की। उसे सुनकर मगधाधिराज श्रीश्रेणिकराजके साथ साथ वह श्रीमहावीर स्वामीके समवसरणमें सुशोभित मुनियोंकी सभा बड़ी शीघ्रतासे अतिशय प्रसन्न हुई ॥ २३८ ॥ श्री महावीर स्वामीके समवसरणमें जितने भव्य पुरुष थे उन सबमें श्रीगौतम गणधर ही मुख्य थे। इसलिये

शांद्र । सौ साधुसंसदखिला सह मागधेन राज्ञा प्रमोदमचिरात्परमाजगाम ॥ २३८ ॥ सकलमनुनियोगात्कालभेदं च षोढा परिषदि **जिनसेनाचार्यमुख्यो** निरूप्य । पुनरथ पुरुनाम्नः पुण्यमाद्यं पुराणं कथयितुमुदियाय श्रेणिकाकर्णयेति ॥ २३९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पीठिकावर्णनं नाम तृतीयं पर्व ॥ ३ ॥

इन्होंने ही उस समवसरणरूपी सभामें उपर्युक्त क्रमसे छहप्रकारके कालका निरूपण किया तथा चौदहों कुलकरोंके समयमें क्या क्या हुआ था वह भी सब कहा । तदनंतर वे पुण्य बढ़ानेवाले श्रीवृषभदेवका पवित्र पुराण कहनेकेलिये उद्यत हुये और महाराज श्रेणिकसे कहने लगे कि हे श्रेणिक तुम ध्यान देकर सुनो । (इस श्लोकमें ग्रंथकर्ताने गणधरके लिये 'जिनसेनाचार्यमुख्य' यह नाम दिया है । यही नाम ग्रंथ कर्ताका है । ग्रंथकर्ता भगवज्जिनसेनाचार्यने अपना नाम प्रगट करनेकेलिये ही ऐसा किया है ।) ॥२३९॥

इति श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यविरचित संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें पीठिका वर्णनवाला तृतीयपर्व समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थं पर्व ।

यस्त्रिपर्वीमिमां पुण्यामधीते मतिमान्पुमान् । सोऽधिगम्य पुराणार्थमिहामुत्र च नंदति ॥ १ ॥ अथाद्यस्य पुराणस्य महतः पीठिकामिमां । प्रतिष्ठाप्य ततो वक्ष्ये चरितं वृषभेशिनः ॥ २ ॥ लोको देशः पुरं राज्यं तीर्थं दानतपोद्वयं । पुराणेष्वष्टधाख्येयं गतयः फलमित्यपि ॥ ३ ॥ लोकोद्देशनिरुक्त्यादिवर्णनं यत्सविस्तरं । लोकाख्यानं तदाम्नातं विशोधितदिगंतरं ॥ ४ ॥ तदेकदेशदेशाद्रिद्वीपाब्ध्यादिप्रपंचनं । देशाख्यानं तु तज्ज्ञेयं तज्ज्ञैः संज्ञानलोचनैः ॥ ५ ॥ भरतादिषु वर्षेषु राजधानीप्ररूपणं । पुराख्यानमितीष्टं तत्पुरातनविदां मते ॥ ६ ॥ अमुष्मिन्नधिदेशोऽयं नगरं

अथ चौथा पर्व ।

जो बुद्धिमान् पुरुष उपर्युक्त तीनों पर्वोंका अध्ययन करता है, वही संपूर्ण पुराणका अर्थ समझता है तथा वह दोनों लोकोंमें सुखी होता है ॥ १ ॥ इसप्रकार महापुराणकी उपर्युक्त पीठिका कहकर अब श्रीवृषभदेव प्रथम तीर्थंकरका चारित्र कहते हैं ॥ २ ॥ प्रत्येक पुराणमें लोक, देश, पुर, राज्य, तीर्थ, दान तथा तप, गति और फल इन आठ बातोंका वर्णन अवश्य करना चाहिये ॥ ३ ॥ लोकका नाम कहना, उसकी निरुक्ति दिखलाना, प्रत्येक दिशाकी लंबाई चौड़ाई बतलाना तथा और भी उसका विस्तारपूर्वक वर्णन करना लोकाख्यान कहलाता है ॥ ४ ॥ लोकके किसी एक भागमें देश पर्वत द्वीप समुद्र आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेको बुद्धिमान सम्यग्ज्ञानी पुरुष देशाख्यान कहते हैं ॥ ५ ॥ भारतवर्ष आदि क्षेत्रोंमें राजधानीका निरूपण करना वह पुराण जाननेवाले आचार्योंके मतमें पुराख्यान अर्थात् पुरका व्याख्यान करना कहलाता है ॥ ६ ॥ यह देश अथवा इस देशका यह भाग अमुक राजा के आधीन है अथवा अमुक राजाका यह नगर है इत्यादि वर्णन करना जैनशास्त्रोंमें राज्याख्यान अर्थात् राज्यका वर्णन करना कहलाता है ॥ ७ ॥ जो अपरिमित इस जन्म मरणरूपी संसारसे पार करे उसे तीर्थ कहते हैं । श्रीजिनेंद्रदेवके चरित्र श्रवण करनेसे यह प्राणी संसारसे पार हो जाता है इसलिये उन

वेति तत्पतेः । आख्यानं यत्तदाख्यातं राज्याख्यानं जिनागमे ॥ ७ ॥ संसाराब्धेरपारस्य तरणे तीर्थमिष्यते । चेष्टितं जिननाथानां तस्योक्तिस्तीर्थसंकथा ॥ ८ ॥ यादृशं स्यात्तपोदानमनीदृशगुणोदयं । कथनं तादृशस्यास्य तपोदानकथोच्यते ॥ ९ ॥ नरकादिप्रभेदेन चतस्रो गतयो मताः । तासां संकीर्त्तनं यद्धि गत्याख्यानं तदिष्यते ॥ १० ॥ पुण्यपापफलावाप्तिर्जंतूनां यादृशी भवेत् । तदाख्यानं फलाख्यानं तच्च निःश्रेयसावधि ॥ ॥ ११ ॥ लोकाख्यानं यथोद्देशमिह तावत्प्रतन्यते । यथावसरमन्येषां प्रपंचो वर्णयिष्यते ॥ १२ ॥ लोक्यंते ऽस्मिन्समीक्ष्यंते जीवाद्यर्थाः सपर्ययाः । इति लोकस्य लोकत्वं निराहुस्तत्त्वदर्शिनः ॥ १३ ॥ क्षिपंति निवसंत्यस्मिन् जीवादिद्रव्यविस्तराः। इति क्षेत्रं निराहुस्तं लोकमन्वर्थसंज्ञया ॥ १४ ॥ लोकोह्यकृत्रिमो ज्ञेयो जीवाद्यर्थावगाहकः । नित्यः स्वभावनिर्वृत्तः सो ऽनंताकाशमध्यगः ॥ १५ ॥ स्रष्टा ऽस्य जगतः कश्चिदस्तीत्येके जगुर्जडाः ।

का चरित्र ही तीर्थ है। उसका वर्णन करना तीर्थाख्यान कहलाता है ॥ ८ ॥ जीवोंको तप और दानसे जो अनुपमेय फल मिलता है उसके साथ साथ तप और दानका वर्णन करना तपदानकथाका वर्णन कहलाता है ॥ ९ ॥ नरकगति तिर्यंचगति मनुष्यगति और देवगति इसप्रकार गतिके चार भेद हैं। उन का वर्णन करना गत्याख्यान कहलाता है ॥१०॥ संसारी जीवोंको जो कुछ पुण्यपापका फल प्राप्त होता है उसका मोक्ष प्राप्त होने तक वर्णन करना फलाख्यान कहलाता है॥ ११ ॥ इसप्रकार ये उपर्युक्त आठ आख्यान कहलाते हैं । इनमें सबसे पहिले लोकाख्यान कहा है इसलिये पहिले उसीका वर्णन करते हैं। अन्य सातों आख्यानोंका वर्णन समयानुसार किया जायगा ॥ १२ ॥

जिसमें जीव अजीव आदि पदार्थ अपनी अपनी पर्याय सहित देखे जांय उसे लोक कहते हैं। तत्त्व वेत्ता विद्वानोंने लोक शब्दकी यही निरुक्ति बतलाई है ॥ १३ ॥ जिसमें अपनी अपनी पर्याय सहित जीव अजीव आदि द्रव्य निवास करें वा रहें उसे क्षेत्र कहते हैं। वास्तवमें क्षेत्र ही लोक कहलाता है ॥ १४ ॥ जीव अजीव आदि संपूर्ण पदार्थोंका अवकाश देनेवाला यह लोक अकृत्रिम है किसीका बनाया हुआ नहीं है तथा नित्य है कभी इसका नाश नहीं होता, यह स्वाभाविक और अनंत आकाशके मध्य

तद्दुर्णयनिरासार्थं सृष्टिवादः परीक्ष्यते ॥१६॥ स्रष्टा सर्गबहिर्भूतः क्वस्थः सृजति तज्जगत्। निराधारश्च कूटस्थः सृष्ट्वैवं क्व निवेशयेत् ॥ १७ ॥ नैको विश्वात्मकस्यास्य जगतो घटने पटुः । वितनोश्च न तन्वादिमूर्त्तमुत्पत्तुमर्हति ॥ १८ ॥ कथं च स सृजेल्लोकं विनान्यैः करणादिभिः । तानि

भागमें स्थित है ॥ १५ ॥ कोई कोई नैयायिक वैशेषिक आदि लोग कहते हैं कि इस जगतको बनानेवाला कोई न कोई अवश्य होना चाहिये । इनलोगोंका यह दुराग्रह दूर करनेकेलिये प्रथम यही विचार करते हैं कि वास्तवमें इस जगतका कोई कर्ता है या नहीं ॥ १६ ॥ यदि मान लिया जाय कि इस जगतका कोई कर्त्ता है तो यह विचार करना चाहिये कि जब पहले सृष्टि नहीं थी तब वह कर्त्ता सृष्टिके बाहर कहां रहता था । कहां बैठकर उसने यह जगत बनाया था । यदि वह निराधार और नित्य था तो उसने यह सृष्टि कैसे बनाई और बनाकर कहां रक्खी ॥ १७ ॥ दूसरी बात यह है कि--'इस संपूर्ण जगतका बनानेवाला एक ईश्वर है उसीसे यह संपूर्ण सृष्टि बनी है' यह बात असंभव है । क्योंकि आपका माना हुआ वह जगतकर्त्ता ईश्वर शरीररहित निराकार है । वह शरीररहित होकर शरीर आदि मूर्त्तिमान् पदार्थोंको कभी उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि संसारमें यह नियम है और सबलोग प्रत्यक्ष देखते हैं कि मूर्त्तिमान पदार्थकी उत्पत्ति मूर्त्तिमान् द्रव्यसे ही होती है अमूर्त द्रव्यसे कभी नहीं होती । जैसे मूर्त्तिमान् घड़ा मिट्टी कुम्हार आदि मूर्तिमान् पदार्थसे ही उत्पन्न हो सकता है वह आकाश आदि अमूर्त्त द्रव्यसे कभी उत्पन्न नहीं हो सकता । इसीप्रकार शरीर आदि मूर्त्तिक पदार्थ भी अमूर्त्त और अशरीरी ईश्वरसे कदापि उत्पन्न नहीं हो सकते ॥ १८ ॥ और एक बात यह भी है कि सृष्टि रचनेसे पहले ईश्वर अकेला था जगत बनानेकी कोई कारणसामग्री तो थी ही नहीं । फिर बिना कारणसामग्रीके उसने यह जगत कैसे बनाया ? कुंभार जो घड़ा बनाता है वह मिट्टी और चाक पानी आदि कारणसामग्रियोंके होनेसे ही घड़ा बना सकता है बिना मिट्टी आदिके वह किसी प्रकार भी घड़ा नहीं बना सकता । इसीप्रकार ईश्वर

स्रष्टा सृजेल्लोकमिति चेदनवस्थितिः ॥ १९ ॥ तेषां स्वभावसिद्धत्वे लोकेऽप्येतत्प्रसज्यते । किं च निर्मातृवद्विश्वं स्वतःसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २० ॥
सृजेद्विनापि सामग्र्या स्वतंत्रः प्रभुरिच्छया । इतीच्छामात्रमेवैतत्कः श्रद्दध्यादयुक्तिकं ॥ २१ ॥ कृतार्थस्य विनिर्मित्सा कथमेवास्य युज्यते ।

भी बिना अन्य कारण सामग्रीके सृष्टि कदापि नहीं बना सकता। यदि कहोगे उसने पहले सृष्टि बनाने की कारणसामग्री बना ली थी तो अनवस्था दोष आजायगा क्योंकि वह कारणसामग्री भी बिना किसी अन्य कारणसामग्रीके नहीं बन सकती और फिर उस कारणसामग्रीकेलिये अन्य कारणसामग्री चाहिये और उसकेलिये अन्य, इसप्रकार इस दोषका कभी अंत नहीं आवेगा ॥ १९ ॥ यदि कहोगे वह कारण सामग्री स्वतःसिद्ध थी उसी सामग्रीसे ईश्वरने यह सृष्टि बनाई है तो फिर कारणसामग्रीके समान इस जगतको भी स्वतःसिद्ध माननेमें क्या हानि है? इसके सिवाय एक बात यह भी है कि जैसे वह सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर स्वतःसिद्ध है उसे किसीने नहीं बनाया है उसीप्रकार यह भी मानना पड़ेगा कि यह जगत भी स्वतःसिद्ध है इसे भी किसीने नहीं बनाया है ॥ २० ॥ यदि कहोगे 'ईश्वर स्वयं समर्थ है उसने बिना सामग्रीके भी केवल अपनी इच्छामात्रसे यह जगत निर्माण किया है। इस जगतका निर्माण होना केवल उसकी इच्छामात्र है।' तो इस प्रकारके इन युक्तिशून्य आपके बचनोंपर भला कौन श्रद्धान कर सकता है? ॥ २१ ॥ इसके सिवाय यह भी तो विचार करना चाहिये कि यदि वह ईश्वर कृतकृत्य है तो फिर उसे जगत बनानेकी इच्छा वा आवश्यकता कैसे उत्पन्न हुई? क्योंकि कृतकृत्यके कोई इच्छा होती नहीं है। यदि कहोगे वह कृतकृत्य नहीं है इसलिये इच्छानुसार सृष्टि उत्पन्न करता है तो फिर यह भी कहना चाहिये कि कुंभारके समान वह जगतको बना भी नहीं सकता है। अर्थात् जैसे कुंभार अकृतकृत्य है इसलिये वह कारणसामग्री मिलनेपर थोड़ेसे घड़े आदि बना लेता है इसीप्रकार ईश्वर भी जब कृतकृत्य

अकृतार्थोऽपि न स्रष्टुं विश्वमीष्टे कुलालवत् ॥ २२ ॥ अमूर्तो निष्क्रियो व्यापी कथमेष जगत्सृजेत् । न सिसृक्षापि तस्यास्ति विक्रियारहितात्मनः ॥ २३ ॥ तथाप्यस्य जगत्सर्गे फलं किमपि मृग्यतां । निष्ठितार्थस्य धर्मादिपुरुषार्थेष्वनर्थिनः ॥ २४ ॥ स्वभावतो विनैवार्थान्सृजतोऽनर्थसंगतिः । क्रीडेयं कापि चेदस्य दुरंता मोहसंततिः ॥ २५ ॥ कर्मापेक्षः शरीरादि देहिनां घटयेद्यदि । न त्वेवमीश्वरो न स्यात्पारतंत्र्यात्कुविंदवत्

नहीं है तो वह भी कारणसामग्री मिलने पर अपनी सामर्थ्यके अनुसार थोड़ीसी चीजें बना सकेगा। वह यह संपूर्ण जगत कदापि नहीं बना सकता है ॥ २२ ॥ इसके सिवाय तुम्हारा माना हुआ जगतकर्त्ता ईश्वर अमूर्त निष्क्रिय और व्यापक है। जो अमूर्त निष्क्रिय और व्यापक होता है वह कभी जगतको उत्पन्न नहीं कर सकता। क्योंकि संसारमें जो कुछ वस्तु उत्पन्न होती है वह मूर्त क्रियावान् और किसी एक देशमें रहनेवाले पुरुष आदिसे ही उत्पन्न होती है जैसे कुंभारसे घट । तथा आकाश अमूर्त्त निष्क्रिय और व्यापक है परंतु उससे कभी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती है। दूसरी बात यह है कि जब ईश्वर निर्विकार है तो उसके जगत बनानेकी इच्छा ही नहीं हो सकती क्योंकि इच्छा होना एक विकार है और निर्विकारके विकार होना असंभव है ॥२३॥ तथा जब ईश्वर कृतकृत्य है, धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंमेंसे किसीकी भी इच्छा नहीं रखता तब फिर जगत बनानेसे इसे क्या फल मिलेगा इसका भी तो कुछ विचार करना चाहिये ? क्योंकि विना प्रयोजन मूर्ख भी कोई क्रिया नहीं किया करता है ॥ २४ ॥ यदि यह मान लिया जाय कि वह बिना प्रयोजन ही केवल स्वभावमात्रसे सृष्टि उत्पन्न करता है तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि ईश्वर व्यर्थ ही इतना कष्ट उठाता है। क्योंकि विना प्रयोजन कोई भी क्रिया करना अप्रसंग और व्यर्थ है। यदि कहोगे कि यह जगत बनाना उसकी एक क्रीड़ा है अर्थात् केवल क्रीड़ामात्रसे उसने यह जगत बनाया है तो यह भी कहना पड़ेगा कि वह आप का सृष्टिकर्त्ता ईश्वर बालकके समान अज्ञानी है क्योंकि अज्ञानी बालक ही क्रीड़ा करनेमें आनंद मानते

जिसने जैसे कर्मका बंध किया है उसीके उदयके अनुसार यह ईश्वर उनके शरीर आदिक बना देता है आपका यह कहना भी ठीक नहीं हो सकता क्योंकि यदि आप ऐसा मानेंगे तो आपका मानाहुआ वह ईश्वर वास्तविक ईश्वर (समर्थ) नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे वह ईश्वर जुलाहेके समान परतंत्र हो जायगा। अर्थात् कारण सामग्रीके आधीन होजायगा। जैसे जुलाहा सूतके अनुसार ही कपड़े बनाता है वह स्वतंत्र कुछ नहीं कर सकता, इसी प्रकार ईश्वर भी जीवोंके पुण्यपापानुसार ही शरीरादि बनाता है वह स्वतंत्र कुछ नहीं कर सकता इसलिये वह ईश्वर ही नहीं हो सकता ॥ २६ ॥ कदाचित् यह कहो कि यह संसार तो अनादि है इसमें रहनेवाले जीवोंके अपने अपने कर्मोंके अनुसार जो सुख दुःखादि कार्य उत्पन्न होते हैं उनमें यह ईश्वर केवल निमित्तमात्र है। आपका यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि जब जगतके सब कार्य अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न हो ही जाते हैं तब फिर कार्य सिद्ध हो जाने पर कारणसामग्रीमें ईश्वरकी व्यर्थ कल्पना क्यों करते हो? कार्य सिद्ध हो जाने पर फिर ईश्वर क्या करता है? ॥ २७ ॥ कदाचित् यह कहो कि ईश्वर दयालु है, वह प्राणियोंपर प्रेम रखता है, जीवोंका उपकार करनेकेलिये ही उसने यह सृष्टि बनाई है तो फिर उसने यह सब सृष्टि उपद्रवरहित सुखरूप ही क्यों न बनाई? किसीको दुःखी और किसीको सुखी ऐसा भेद क्यों किया? दयालु होकर भी जीवोंको दुःखी क्यों बनाया?॥२८॥ इसके सिवाय यह भी तो विचार करना चाहिये कि बनानेसे पहिले यह जगत था या नहीं। यदि था तो उसके बनानेका परिश्रम व्यर्थ हुआ अर्थात् जो पहले था ही तो ईश्वरने

नोदासीनः सृजेन्मुक्तः संसारी सोऽप्यनीश्वरः । सृष्टिवादावतारोऽयं ततश्च न कुतश्च न ॥ ३० ॥ महानधर्मयोगोऽस्य सृष्ट्वा संहरतः प्रजाः । दुष्टनिग्रहबुध्या चेद्वरं दैत्याद्यसर्जनं ॥ ३१ ॥ बुद्धिमद्धेतुसान्निध्ये तन्वाद्युत्पत्तुमर्हति । विशिष्टसंनिवेशादिप्रतीतेर्नगरादिवत् ॥ ३२ ॥ इत्यसाध-

बनाया क्या ? यदि बनानेसे पहले कुछ भी नहीं था तो वह उसे बना भी नहीं सकता । क्योंकि संसारमें यह नियम है कि सत्की ही उत्पत्ति होती है जैसे मिट्टी है तो उसका घड़ा भी बन सकता है । और जो पदार्थ सर्वथा असत् है बिलकुल है ही नहीं उसकी उत्पत्ति कभी नहीं होसकती । जैसे आकाश-पुष्प अथवा गधेके सींग उत्पन्न करनेवाली कोई सामग्री नहीं है तो उसका उत्पन्न करना भी असंभव है। इस प्रकार जगतकर्त्ता किसीतरह सिद्ध नहीं होसकता ॥२९॥ इसके सिवाय जगत बनानेवाला वह ईश्वर यदि मुक्त है कर्ममलकलंकादिसे रहित है तब भी वह सृष्टि नहीं बना सकता क्योंकि जो कर्ममलकलंकादिसे रहित मुक्त होता है वह रागद्वेषरहित वा प्रवृत्तिनिवृत्तिशून्य उदासीन होता है इसलिये वह जगत बनानेका प्रयत्न कर नहीं सकता । यदि वह जगत बनानेवाला पुरुष मुक्त नहीं है संसारी है तो भी वह इस जगतको नहीं बना सकता क्योंकि संसारी जीव ईश्वर नहीं है । इसलिये उसमें ऐसे विचित्र जगत बनानेकी सामर्थ्य नहीं हो सकती । इसप्रकार यह तुमारा सृष्टिवाद किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ३० ॥ इसके सिवाय यह भी विचार करना चाहिये कि वह ईश्वर इस जगतको बनाता है इसलिये इस जगतके सब जीव ईश्वरकी संतानके समान हुये । फिर वही ईश्वर इस जगतको नाश करता है इसलिये उसे अपनी संतान नाश करनेका भारी पाप लगता है । कदाचित ईश्वरको इस पापसे बचानेकेलिये यह कहो कि दैत्य आदि दुष्ट जीवोंको निग्रह करनेकेलिये ही वह जगतका नाश करता है तो इससे तो यह अच्छा हो कि वह दैत्य आदि दुष्ट जीवोंको उत्पन्न ही न करता ॥३१॥ कदाचित् यह कहो

नमेवैतदीश्वरास्तित्वसाधने । विशिष्टसन्निवेशादेरन्यथाप्युपपत्तितः ॥ ३३ ॥ चेतनाधिष्ठितं हीदं कर्मनिर्मातृचेष्टितं । तन्वक्षसुखदुःखादिवैश्वरूपाय कल्प्यते ॥ ३४ ॥ निर्माणकर्मनिर्मातृकौशलापादितोदयं । अंगोपांगादिवैचित्र्यमंगिनां संगिरामहे ॥ ३५ ॥ तदेतत्कर्मवैचित्र्याद्भवन्नानात्मकं

कि ईश्वर सरीखे अतिशय बुद्धिमान पुरुषके संयोग होनेसे ही शरीर आदिकी उत्पत्ति हो सकती है। क्योंकि शरीर आदिका उत्पन्न होना यह एक विशेष रचना है जो जो विशेष रचना होती है वह किसी न किसीके निमित्तसे ही होती है। जैसे नगरमें बावड़ी तालाव मकान आदिकी रचना किसी कारीगरके निमित्तसे होती है। इसी विषयको इसप्रकार भी कह सकते हैं कि जो जो विशेष रचना होती है वह विना किसी बुद्धिमान पुरुषके संयोगके नहीं हो सकती। इस जगतमें शरीर आदिकी जो विशेष रचना होती है वह भी विना किसी बुद्धिमान् ईश्वरके नहीं हो सकती इसलिये इस जगतका बनानेवाला कोई न कोई अवश्य है और वही ईश्वर है ॥ ३२ ॥ परंतु आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वरके अस्तित्व सिद्ध करनेमें आपने जो उपर्युक्त हेतु दिया है वह वास्तविक हेतु नहीं है किंतु हेत्वाभास है। क्योंकि किसी वस्तुकी विशेष रचना दूसरी तरहसे भी हो सकती है ॥ ३३ ॥ इस संसारमें जो ज्ञानके आधारभूत शरीर इंद्रियां सुख दुःख आदि देखे जाते हैं वे सब कर्मरूपी विधाताके बनाये हुये हैं और ये शरीर इंद्रियां सुख दुःख आदि सब मिलकर ही जगत रूपताको धारण करते हैं। भावार्थ—शरीर इंद्रियां सुख दुःख आदिका उत्पन्न होना ही जगत है और ये सब शरीरादि कर्मके उदयसे उत्पन्न हुये हैं ॥३४॥ इसलिये हमें प्रतिज्ञापूर्वक कहना पड़ता है कि संसारी जीवोंके जो अंग उपांग आदिकी विचित्रता होती है वह सब निर्माणनामकर्मरूपी विधाताकी कुशलतासे ही उत्पन्न होती है ॥ ३५ ॥ वे कर्म अनेक प्रकारके हैं उनके भिन्न भिन्न अनेक भेद होनेसे यह शरीर सुख दुःखादिरूप जगत भी अनेकप्रकारका

जगत् । विश्वकर्माणमात्मानं साधयेत्कर्मसारथिं ॥ ३६ ॥ विधिः स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतं । ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधसः ॥ ३७ ॥ स्रष्टारमंतरेणापि व्योमादीनां च संगरात् । सृष्टिवादी स निग्राह्यः शिष्टैर्दुर्मतदुर्मदी ॥ ३८ ॥ ततोऽसावकृतोऽनादिनिधनः कालतत्त्ववत् । लोको जीवादितत्त्वानामाधारात्मा प्रकाशते ॥ ३९ ॥ असृज्योऽयमसंहार्यः स्वभावनियतस्थितिः । अधस्तिर्यगुपर्याख्यैस्त्रिभिर्भेदैः समन्वितः ॥ ४० ॥

दिखाई पड़ता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सुखदुःखादिरूप संपूर्ण जगतको उत्पन्न करनेवाले ये संसारी जीव हैं और कर्म उनके सहायक हैं अर्थात् ये संसारी जीव ही अपने कर्मके उदयसे शरीर सुख दुःखादिरूप जगतको उत्पन्न करते हैं इनके सिवाय इस जगतको उत्पन्न करनेवाला और कोई नहीं है॥ ३६॥ विधि, सृष्टा, विधाता, दैव, पुराकृतकर्म और ईश्वर ये सब कर्मरूपी ब्रह्माके पर्यायवाचक शब्द हैं। कर्मके सिवाय इस जगतको बनानेवाला और कोई ईश्वर नहीं है ॥ ३७ ॥ क्योंकि जो जगतका कर्त्ता ईश्वर मानते हैं वे भी आकाश काल आदि पदार्थोंकी सृष्टि कर्त्ताके बिना किये स्वतःसिद्ध मानते हैं। जैसे आकाश काल आदि पदार्थ स्वतःसिद्ध हैं उसीप्रकार यह जगत भी स्वतःसिद्ध है। इसलिये शिष्ट पुरुषोंको उचित है कि वे इस उपर्युक्त कथनके द्वारा मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उन्मत्त हुये सृष्टिवादियोंका निग्रह करें ॥ ३८ ॥ अतएव मानना चाहिये कि जैसे कालतत्त्व अकृत्रिम और आदि अंत रहित है उसीप्रकार यह लोक भी अकृत्रिम है इसे कोई बना नहीं सकता न इसका आदि है न अंत है। तथा जीव अजीव आदि तत्त्वोंका आधार है ऐसा यह लोकाकाश सदा विद्यमान रहता है॥ ३९॥ न इसे कोई बना सकता है न कोई नाश ही कर सकता है। यह स्वाभाविक सदा विद्यमान रहता है। अधोलोक, तिर्यक्लोक और ऊर्द्ध्वलोक ऐसे इसके तीन भेद हैं ॥ ४० ॥ अधोलोक वेत्रासनके समान है अर्थात् नीचे चौड़ी ऊपर कम चौड़ी चार पैरकी जैसी तिपाई होती है ठीक इसी आकारका है। मध्यलोक झल्लरी या थालीके समान सपाट और गोल है ऊर्ध्वलोकका आकार ठीक मृदंग (पखावज) के

वेत्रविष्टरझल्लर्यो मृदंगश्च यथाविधाः । संस्थानैस्तादृशान्प्राहुस्त्रींल्लोकाननुपूर्वशः ॥ ४१ ॥ वैशाखस्थः कटीन्यस्तहस्तः स्याद्यादृशः पुमान् । तादृशं लोकसंस्थानमामनंति मनीषिणः ॥ ४२ ॥ अनंतानंतभेदस्य वियतो मध्यमाश्रितः । लोकस्त्रिभिर्वृतो वातैर्भाति शिक्यैरिवाततैः ॥ ४३ ॥ वातरज्जुभिरानद्धो लोकस्तिसृभिराशिखं । पटत्रितयसंवीतसुप्रतिष्ठकसन्निभः ॥ ४४ ॥ तिर्यग्लोकस्य विस्तारं रज्जुमेकां प्रचक्षते । चतुर्दशगुणां प्राहू रज्जुं लोकोच्छ्रितिं बुधाः ॥ ४५ ॥ अधोमध्योर्ध्वमध्याग्रे लोकविष्कंभरज्जवः । सप्तैका पंच चैका च यथाक्रममुदाहृताः ॥ ४६ ॥ द्वीपा-

समान है ॥४१॥ अथवा कोई पुरुष खड़ा होकर अपने पैर खूब फैलादे और अपने दोनो हाथ कमरपर रख ले । ऐसा करनेसे उसका जो आकार बनता है पंडितलोग ठीक वैसा ही आकार इस लोकका मानते हैं ॥ ४२ ॥ यह आकाश अनंत है इसके ठीक मध्यभागमें यह लोक स्थित है । घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीन प्रकारके वायुमंडलसे चारों ओरसे घिरा हुआ लोक यह ऐसा सुशोभित है मानो अनेक रस्सियोंका बना हुआ छींका ही लटक रहा हो ॥४३॥ तथा उपर्युक्त तीन प्रकारके वायुमंडल से नीचेसे ऊपरतक घिरा हुआ यह लोक ऐसा शोभायमान हो रहा है मानो तीन कपड़ोंसे ढका हुआ सुप्रतिष्ठ (ठौणा) नामका मंगल द्रव्य ही हो ॥ ४४ ॥ श्रीगणधरादि देवोंने इस लोककी उंचाई चौदह राजू कही है। तथा मध्यलोकका विस्तार एक राजू कहा है ॥ ४५ ॥ इसलोककी चौड़ाई अधोभागमें सात राजू है। मध्यभागमें एज राजू है। ऊर्ध्वलोकके मध्यभागमें पांच राजू है और सबसे ऊपर एक राजू है ॥ ४६ ॥ इस लोकाकाशके बीचमें एक त्रसनाली है जो कि एक राजू लंबी एक राजू चौड़ी और चौदह राजू ऊंची है। इसी त्रसनालीके मध्यभागको मध्यलोक कहते हैं । यह एक राजू लंबा और एक राजू चौड़ा है इसमें असंख्यात द्वीप समुद्र हैं जो कि एक दूसरेसे वेष्ठित हैं। जैसे सबके मध्यभागमें जंबूद्वीप है उसके चारों ओर जंबूद्वीपको घेरेहुये लवणसमुद्र है लवणसमुद्रको घेरे हुये धातकी द्वीप और धातकी द्वीपको घेरे हुये कालोदधि समुद्र है। इसीप्रकार असंख्यात द्वीप समुद्र हैं इनकी चौडाई क्रम

द्विषभिरसंख्यातैर्द्वीपैर्द्विर्विष्कंभमाश्रितैः । विभाति वलयाकारैर्मध्यलोको विभूषितः ॥ ४७ ॥ मध्यमस्यास्य लोकस्य जंबूद्वीपोऽस्ति मध्यगः । मेरुनाभिः सुवृत्तात्मा लवणांभोधिवेष्टितः ॥ ४८ ॥ सप्तभिः क्षेत्रविन्यासैः षड्भिश्च कुलपर्वतैः । प्रविभक्ताः सरिद्भिश्च लक्षयोजनविस्तृतः ॥ ४९ ॥

से दूनी दूनी है अर्थात् जंबूद्वीपसे लवणसमुद्रकी चौडाई दूनी है । लवणसमुद्रसे धातकी द्वीपकी और धातकीद्वीपसे कालोदधि समुद्रकी दूनी चौडाई है । इसीप्रकार सब समुद्र द्वीपोंकी चौडाई पाहिले २ के द्वीप समुद्रोंसे दूनी दूनी है। ये सब द्वीप समुद्र बीचमें पोले कंकणके समान हैं । इस प्रकार यह मध्यलोक बहुत ही शोभायमान है॥ ४७॥ इस मध्यलोकके ठीक मध्यभागमें जंबूद्वीप है। यह जंबूद्वीप गोल है और लवण समुद्रसे घिरा हुआ है । इसके ठीक बीचों बीचमें नाभिके समान मेरु पर्वत है ॥ ४८ ॥ इस जंबूद्वीपकी चौड़ाई एक लाख योजन है । इसमें छह कुलाचल पर्वत हैं जो की पूर्व पाश्चिम लंबे लवण समुद्रके तट तक चले गये हैं। इन पर्वतोंसे जंबूद्वीपके सात विभाग हो गये हैं जो कि सात क्षेत्र कहलाते हैं । इन क्षेत्रोंके नाम क्रमसे भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, और ऐरावत, हैं। तथा पर्वतोंके नाम हिमवन, महाहिमवन, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी हैं। भरतक्षेत्रकी चौड़ाई पांचसौ छब्बीस योजन छह कला है इससे दूनी हिमवनपर्वतकी और उससे दूनी हैमवतक्षेत्रकी है। इसीप्रकार विदेहक्षेत्रतक दूनी दूनी चौड़ाई है और फिर आगे क्रमसे आधी आधी है। इन सातों क्षेत्रोंमें चौदह नादियां हैं जो कि गंगा, सिंधु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकांता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकांता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त छह कुलाचलोंके मध्यभागमें क्रमसे छह द्रह वा कुंड हैं जो कि पद्म महापद्म तिगंछ केसरि महा पुंडरीक और पुंडरीक नामसे कहे जाते हैं। इन्ही छहों द्रहोंसे वे उपर्युक्त चौदह नादियां निकलती हैं और वे इस प्रकार कि गंगा नदी पद्मद्रहके पूर्वद्वारसे निकलकर दक्षिणकीओर मुड़कर भरतक्षेत्र में

स मेरुमौलिराभाति लवणोदधिमेखलः । सर्वद्वीपसमुद्राणां जंबूद्वीपो ऽधिराजवत् ॥ ५० ॥ इह जंबूमतिद्वीपे मेरोः प्रत्यग्दिगाश्रितः । विषयो

बहती हुई पूर्व समुद्रमें जा मिलती है । सिंधुनदी इसी पद्मद्रहके पश्चिम द्वारसे निकलकर भरतक्षेत्रमें बहती हुई पाश्चिमसमुद्रमें जा मिलती है। रोहितास्या भी इसी पद्मद्रहके उत्तरद्वारसे निकलकर हैमवतक्षेत्रमें बहती हुई पाश्चिम समुद्रमें मिलती है । रोहित नदी महापद्मके दक्षिणद्वारसे निकलकर हैमवतक्षेत्रमें बहती हुई पूर्वसमुद्रमें जा मिलती है । इसी महापद्मद्रहके उत्तरद्वारसे हरिकांता निकलती है जो कि हरिक्षेत्रमें बहतीहुई पश्चिमसमुद्रमें गिरती है। हरित नदी तिगंछद्रहके दक्षिणद्वारसे निकलकर इसी हरिक्षेत्रमें बहंती हुई पूर्वसमुद्रमें मिलती है। इसी तिगंछद्रहके उत्तरद्वारसे सीतोदा नदी निकलती है जो कि विदेहक्षेत्रमें बहती हुई पश्चिम समुद्रमें गिरती है । सीता नदी केसरिद्रहके दक्षिण द्वारसे निकलकर विदेहक्षेत्रमें बहतीहुई पूर्वसमुद्रमें मिलती है । इसी केसरिद्रहके उत्तरद्वारसे नरकांता नदी निकलती है जो कि रम्यकक्षेत्रमें बहती हुई पश्चिम समुद्रमें गिरती है । नारी नदी महापुंडरीकद्रहके दक्षिणद्वारसे निकल कर इसी रम्यकक्षेत्रमें बहतीहुई पूर्वसमुद्रमें मिलती है । इसी महापुंडरीक द्रहके उत्तरद्वारसे रूप्यकूला निकलती है जो कि हैरण्यवतक्षेत्रमें बहतीहुई पश्चिमसमुद्रमें गिरती है। सुवर्णकूला पुंडरीकद्रहके दक्षिणद्वारसे निकलकर इसी हैरण्यवतक्षेत्रमें बहती हुई पूर्वसमुद्रमें गिरती है । इसी पुंडरीक द्रहके पूर्वद्वारसे रक्ता और पश्चिमद्वारसे रक्तोदा नदी निकलती है जो कि ऐरावत क्षेत्रमें बहती हुई रक्ता पूर्व समुद्रमें और रक्तोदा पश्चिम समुद्रमें गिरती है। इसप्रकार इन उपर्युक्त क्षेत्र पर्वत और नदियोंसे यह जंबूद्वीप बहुत ही शोभायमान है ॥ ४९ ॥ इस जंबूद्वीपके मध्यभागमें अतिशय ऊंचा मेरु पर्वत ऐसा शोभायमान है मानो इसका मुकुट ही हो तथा इसके चारों ओर लवणसमुद्र ऐसा

गंधिलाभिख्यो भाति स्वर्गैकखंडवत् ॥ ५१ ॥ पूर्वापरावधी तस्य देवाद्रिश्चोर्मिमालिनी । दाक्षिणोत्तरपर्यंतौ सीतोदा नील एव च ॥ ५२ ॥ यत्र कर्ममलापायाद्विदेहा मुनयः सदा । निर्वांतीति गता रूढिं विदेहान्वर्थतामियं ॥ ५३ ॥ नित्यप्रमुदिता यत्र प्रजा नित्यकृतोत्सवाः । नित्यं सन्निहितैर्भोगैः सत्यं स्वर्गेऽप्यनादरः ॥ ५४ ॥ निसर्गसुभगा नार्यो निसर्गचतुरा नराः । निसर्गललितालापा बाला यत्र गृहे गृहे ॥ ५५ ॥ वैदग्धिं चतुरैर्वेषैर्भूषणैश्च धनर्द्धयः । विलासैर्यौवनारंभाः सूच्यंते यत्र देहिनां ॥ ५६ ॥ यत्र सत्पात्रदानेषु प्रीतिः पूजासु चार्हतां । शक्ति-

शोभायमान है मानों इसकी करधनी हो । तथा इन दोनोंसे यह जंबूद्वीप ऐसा शोभायमान हो रहा है मानों संपूर्ण द्वीप समुद्रोंका महाराजा ही हो ॥५०॥ इसी जंबूद्वीपमें मेरुपर्वतके पश्चिम दिशाकी ओर विदेहक्षेत्रके अंतर्गत एक गंधिला नामका देश है जो कि स्वर्गके एक टुकडेकी समान शोभायमान है ॥ ५१ ॥ इस देशके पूर्व दिशामें मेरु पवर्त है पश्चिम दिशामें उर्मिमालिनी नामकी विभंगा नदी है। दक्षिण दिशामें सीतोदा नदी है और उत्तर दिशामें नीलपर्वत है ॥ ५२ ॥ यह गंधिला देश विदेहक्षेत्रके अंतर्गत है। यहांसे मुनि लोग कर्मरूपी मलको नष्ट कर शरीररहित होकर सर्वदा मुक्त (देहरहित) होते रहते हैं। इसलिये इसका विदेह यह नाम सार्थक और रूढि हो गया है॥ ५३॥ इस गंधिलादेशकी प्रजा सदा प्रसन्न रहती है तथा अनेकप्रकारके उत्सव किया करती है और भोगोपभोगोंसे सदा भरपूर रहती है इसलिये वह स्वर्गको भी अच्छा नहीं समझती है ॥५४॥ उस देशके प्रत्येक घरमें स्वाभाविक सुंदर स्त्रियां हैं, स्वाभाविक चतुर मनुष्य हैं, और स्वाभाविक सुंदर और मीठे बचन कहनेवाले बालक हैं ॥५५॥ उस गंधिलादेशके मनुष्योंकी चतुरता उनके सुचतुर वेषसे प्रगट होती है। उनके आभूषणोंसे उनकी विपुल संपत्तिका ज्ञान होता है और भोगविलासोंसे उनके यौवनका प्रारंभ जान पडता है ॥ ५६ ॥ वहांके मनुष्य सदा पात्रदान देनेमें ही प्रेम रखते हैं। अथवा अरहंत भगवानकी पूजा करना ही अच्छा समझते हैं। वे लोग शील पालन करनेमें ही अपनी प्रबल शक्ति दिखलाते हैं और प्रोषधोपवास धारन करनेमें

रात्यंतिकी शीले प्रोषधे च रतिर्नृणां ॥ ५७ ॥ न यत्र परलिंगानामस्ति जातुचिदुद्भवः। सदोदयाज्जिनार्कस्य खद्योतानामिवाहनि ॥ ५८ ॥ यत्रारामाः सदा रम्यास्तरुभिः फलशालिभिः। पथिकानाह्वयंतीव परपुष्टकलस्वनैः ॥ ५९ ॥ यस्य सीमविभागेषु शाल्यादिक्षेत्रसंपदः। सदैव फलशालिन्यो भांति धर्म्या इव क्रियाः ॥ ६० ॥ यत्र शालिवनोपांते खात्पतंतीं शुकावलीं। शालिगोप्योऽनुमन्यंते दधतीं तोरणश्रियं ॥ ६१ ॥ मंदगंधवहाधूताः शालिवप्राः फलानताः। कृतसंराविणो यत्र छोत्कुर्वंतीव पाक्षिणः ॥ ६२ ॥ यत्र पुंड्रेक्षुवाटेषु यंत्रचीत्कारहारिषु। पिबंति पथिकाः स्वैरं रसं सुरसमैक्षवं ॥ ६३ ॥ यत्र कुक्कुटसंपात्या ग्रामाः संसक्तसीमकाः। सीमानः सस्यसंपन्ना निःफलांचिफलोदयाः ॥ ६४ ॥ कलासमा-

---

ही सदा रुचि रखते हैं ॥५७॥ उस गंधिलादेशमें श्रीजिनेंद्ररूपी सूर्य सदा प्रकाशमान रहता है। इसलिये वहां मिथ्यादृष्टियोंका प्रादुर्भाव कभी नहीं होता जैसे कि दिनमें सूर्य उदय होनेपर खद्योतोंका प्रादुर्भाव नहीं होता ॥ ५८ ॥ फलशाली वृक्षोंसे सुशोभित वहांके बाग बड़े ही अच्छे लगते हैं। जिनमें कोकिलायें मधुर शब्द कर रही हैं सो ऐसा मालूम पडता है मानो वे बाग उन शब्दोंकेद्वारा पथिकोंको बुला ही रहे हों ॥ ५९ ॥ उस देशके सीमातटपर चावल आदि धानोंके खेत सदा फूले फले शोभायमान रहते हैं। जैसे कि धार्मिक क्रियायें स्वर्गादि फल देती हुई सदा शोभायमान रहती हैं ॥६०॥ चावलके खेतोंके समीपवर्ती देशोंमें आकाशसे जो शुकोंकी पंक्ति नीचे उतरती थी वह उन खेतोंकी रक्षा करनेवाली गोपियोंको ऐसी मालूम पडती थी मानो बना हुआ एक तोरण ही उतर रहा है ॥६१॥ तथा फलोंसे नम्रीभूतहुये अनेक चावलोंके खेत खडे हैं जो कि मंद और सुगंधित वायुसे धीरे २ हिल रहे हैं। उनके हिलनेसे उन खेतोंमें चारों ओर एक प्रकारका शब्द हो रहा है जिससे ऐसा मालूम पड़ता है मानों वे खेत उस शब्दके द्वारा पक्षियों को ही उडा रहे हों ॥६२॥ उस देशमें ईखोंके अनेक खेत हैं। जिनमें रस निकालनेकेलिये विचित्र शब्द करतेहुये अनेक कोल्हू चल रहे हैं। जहां अनेक पथिक लोग आते हैं और इच्छानुसार स्वादिष्ट इक्षु रस पीते हैं ॥ ६३ ॥ उस देशके गांव बहुत समीप समीप हैं जिनकी सीमायें परस्पर मिली हुई हैं। सीमाओंपर

सिषु प्रायः कलांतरपरिग्रहः । गुणाधिरोपणौद्धत्यं यत्र चापेषु धन्विनां ॥ ६५ ॥ मुनीनां यत्र शैथिल्यं गात्रेषु न समाधिषु । निग्रहः करणग्रामे भूतग्रामे न जातुचित् ॥ ६६ ॥ कुलायेषु शकुंतानां यत्रोद्दामध्वनिः स्थितः । वर्णसंकरवृत्तांतश्चित्रादन्यत्र न क्वचित् ॥ ६७ ॥ यत्र भंगस्तरंगेषु गजेषु मदविक्रिया । दंडपारुष्यमब्जेषु सरःसु जलसंग्रहः ॥ ६८ ॥ स्वर्गावाससमाः पुर्यो निगमाः कुरुसन्निभाः । विमानस्पर्द्धिनो गेहाः प्रजा यत्र

अनेक धान्योंके खेत खडे हुये हैं जो कि थोडेसे परिश्रमसे ही फूल फल जाते हैं ॥ ६४ ॥ वहांके लोग एक विद्या या कला समाप्त कर दूसरी विद्या या कला सीखना प्रारंभ करते हैं। अर्थात् वहां के लोग केवल दिखानेकेलिये अनेक विद्यायें प्रारंभ कर अधूरे पंडित बनना नहीं जानते तथा गुणाधिरोपणौद्धत्य अर्थात् अपनेमें गुण तो न हों तथापि मिथ्या गुण दिखानेकेलिये उद्धतपना करना वहां सर्वथा नहीं है। किंतु गुणाधिरोपणौद्धत्य अर्थात् धनुषपर डोरी चढानेकी उद्धता करना यह बात केवल धनुष धारण करनेवालोंके धनुषमें ही है। भावार्थ-वहांके लोग शूर बीर हैं मायावी नहीं हैं ॥६५॥ उस देशमें शिथिलता केवल मुनियोंके शरीरमें ही है उनकी समाधि ध्यान आदिमें नहीं हैं। तथा निग्रह (दमन) केवल इंद्रियोंका किया जाता है। जीवोंको कोई प्रकारकी पीड़ा कभी नहीं होती ॥६६॥ उस देशमें उद्दामध्वनि (कोलाहल) केवल पक्षियोंके घोंसलोंमें है अन्यत्र कहीं नहीं है तथा वर्णसंकरता केवल चित्रोंमें है मनुष्योंमें नहीं ॥ ६७ ॥ इसीप्रकार उस देशमें भंग (टूटना) केवल जलकी तरंगोंमें है, किसी मनुष्यके सुखमें किसी प्रकारका भंग (विछोह) नहीं है। मदोन्मत्तता केवल हाथियोंमें है किसी धनी वा विद्वानमें नहीं। कठोरदंड केवल कमलोंमें है प्रजामें नहीं। जलसंग्रह केवल तालावोंमें है वहांके मनुष्योंमें जडसंग्रह (मूर्खता) नहीं है ॥ ६८ ॥ उस देशके नगर स्वर्गके समान हैं, गांव उत्तरकुरुभोगभूमिके समान हैं, घर स्वर्गोंके विमानोंकी स्पर्द्धा करते हैं और मनुष्य देवोंके समान हैं ॥६९॥ तथा उसदेशके हाथी ऐरावत पुंडरीक आदि प्रसिद्ध दिग्गजों के समान हैं स्त्रियां दिक्कन्यकाओंके समान सुंदर हैं और राजा लोग दिक्पालदेवोंके समान दिग्विजय करने

सुरोपमाः ॥ ६९ ॥ दिग्नागस्पर्द्धिनो नागाः नार्यो दिक्कन्यकोपमाः । दिक्पाला इव भूपाला यत्राविष्कृतदिग्जयाः ॥ ७० ॥ जनतापच्छिदो यत्र वाप्यः स्वच्छांबुसंभृताः । भांति तीरतरुच्छाया निरुद्धोष्णा बहुप्रपाः ॥ ७१ ॥ यत्र कूपतटाकाद्याः कामं संतु जलाशयाः । तथापि जनतातापं हरंति रसवत्तया ॥७२॥ विपंका ग्राहवत्यश्च स्वच्छाः कुटिलवृत्तयः । अलंघ्याः सर्वभोग्याश्च विचित्रा यत्र निम्नागाः ॥७३ ॥ सरसां तीरदेशेषु रुतं हंसा विकुर्वते । यत्र कंठबिलालग्नमृणालशकलाकुलाः ॥७४॥ वनेषु वनमातंगा मदामीलितलोचनाः । भ्रमंत्यविरतं यस्मिन्नाह्वातुमिव दिग्गजान्

वाले हैं ॥७०॥ इसीप्रकार उस देशमें लोगोंका संताप दूर करनेवाली और निर्मल जलसे भरी हुई अनेक बावड़ी हैं। जिनके किनारोंपर मनोहर वृक्षोंकी सघन छाया है जिससे वहां कभी गर्मी नहीं होती तथा अनेक लोग आकर जिनका पानी पीते हैं ऐसी अनेक प्याऊ भी लगी हैं ॥ ७१ ॥ उस देशके कूआ तालाव आदि यद्यपि जलाशय (जड़ाशय) अर्थात् जड़रूप हैं तथापि अपने मधुर जलसे लोगोंका संताप दूर करते हैं ॥७२॥ तथा उस देशकी नादियां वेश्याओंके समान हैं वेश्यायें जैसे विपंका अर्थात् रजोधर्मशून्य होती हैं, उसी प्रकार नादियां भी विपंका अर्थात् कीचड़ रहित हैं। वेश्यायें जैसे ग्राहवती अर्थात् धनसंचय करनेवाली होती हैं, उसीप्रकार नादियां भी ग्राहवती अर्थात् मगरमच्छोंसे भरी हुई हैं। वेश्यायें जैसे नहा धोकर ऊपरसे स्वच्छ रहती हैं उसीप्रकार नादियां भी ऊपरसे निर्मल हैं। वेश्यायें जैसे कुटिलवृत्ति अर्थात् मायाचारिणी होती हैं उसीप्रकार नादियां भी कुटिलवृत्ति अर्थात् कुटिलगामिनी (वक्रगामिनी) हैं। वेश्यायें जैसे व्यसनियोंके द्वारा उल्लंघित (वशीभूत) नहीं होती, उसीप्रकार नादियां भी वर्षा ऋतुमें किसीसे उल्लंघित अर्थात् तेर कर पार होने योग्य नहीं होतीं। वेश्यायें जैसे ऊंच नीच सब मनुष्योंके द्वारा भोग्य होती हैं उसीप्रकार नादियां भी पशु पत्ती आदि सब जीवोंके द्वारा भोग्य हैं। वेश्यायें जैसे अनेकवर्णकी होती हैं उसीप्रकार नादियां भी अनेक वर्णकी होती हैं और वेश्यायें जैसे नीचपुरुषोंकी ओर जाती हैं उसीप्रकार नादियां भी नीचेकी ओर ही बहती हैं ॥ ७३ ॥ उसदेशमें तालावोंके किनारोंपर हंस विचरते हैं और वे कंठप्रदेशमें

॥७५॥ यत्र शृंगाग्रसंलग्नकर्दमा दुर्दमा भृशं । उत्खनंति वृषा दृप्ताः स्थलेषु स्थलपद्मिनीं ॥७६॥ जैनालयेषु संगीतपटहांभोदनिस्वनैः । यत्र नृत्यं-त्यकालेऽपि शिखिनः प्रोन्मदिष्णवः ॥७७॥ गवां गणा यथाकालमात्तगर्भाः कृतस्वनाः । पोषयंति पयोभिः स्वैर्जनं यत्र घनैः समाः ॥७८॥ बलाकालिपताकाढ्याः स्तनिता मंद्रबृंहिताः । जीमूता यत्र वर्षंतो भांति मत्ता इव द्विपाः ॥७९॥ न स्पृशंति करावाधा यत्र राजन्वतीः प्रजाः । सदा सुकालसा-

कमलनालके तंतु लग जानेसे व्याकुल होकर अनेक प्रकारके शब्द किया करते हैं ॥ ७४ ॥ उस देशके बनोंमें मदसे संकुचितनेत्र हुये हाथी निरंतर ऐसे भ्रमण करते हैं मानों दिग्गजोंको ही बुला रहे हों ॥ ७५ ॥ जिनके सीगोंपर कीचड़ लगी हुई है और जो बड़ी कठिनतासे शांत किये जा सकते हैं ऐसे उन्मत्त वृषभ (सांड) उस देशमें स्थलकमलोंको उखाड़ते हुये दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ७६ ॥ तथा उस देशके जिनालयोंमें निरंतर संगीत होते रहते हैं और मेघोंकी गर्जनाके समान शब्द करते हुये दुंदुभी बाजे बजते रहते हैं । उन बाजोंकी ध्वनि सुनकर उन्मत्त हुये मोर वर्षाऋतुके विना ही नृत्य करते हैं ॥ ७७ ॥ उस देशकी गायें मेघोंके समान हैं । जैसे मेघ यथासमय जलधारण करके गरजते हुये वरसकर अपने जलसे सबका पालन पोषण करते हैं, उसीप्रकार गायें भी यथासमय गर्भ धारण करके नानाप्रकारके मधुर शब्द करती हुई अपने दूधसे सबका पालन पोषण करती हैं ॥ ७८ ॥ तथा उसदेशमें बरसते हुये बादल मदोन्मत्त हाथियोंके समान मालूम होते हैं । हाथी जैसे सफेद पताकाओंसे सुशोभित हैं उसीप्रकार मेघ भी बलाकाओंकी (क्रौंचपक्षियोंकी) अनेक पंक्तियोंसे सुशोभित होते हैं । हाथी जैसे गंभीर शब्दोंसे गरजते हैं उसीप्रकार मेघ भी गंभीरध्वनिसे गरजते रहते हैं और हाथियोंसे जैसे मद झरता है उसीप्रकार मेघोंसे पानी बरसता है ॥७९॥ उस देशके मनुष्य धर्मनिष्ठ नीतिमान राजाकी प्रजा हैं इसलिये उन्हें कर देनेका कोई कष्ट नहीं होता और सदा सुकाल होनेसे वहांपर टिड्डी, दुष्काल, ईतिभीति आदि कुछ नहीं है और न किसी प्रकार का अन्याय है ॥८०॥ ऐसे गंधिला देशके ठीक मध्यभागमें एक विजयार्द्ध नामका

विध्यान्नेतयो नाप्यनीतयः ॥८०॥ विषयस्यास्य मध्येऽस्ति विजयार्द्धो महाचलः । रौप्यः स्वैरंशुभिः शुभ्रैर्हसन्निव कुलाचलं ॥८१॥ यो यौजनानां पंचाग्रां विंशतिं धरणीतलात् । उच्छ्रितः शिखरैस्तुंगैर्दिवं स्प्रष्टुमिवोद्यतः ॥८२॥ द्विस्तौंग्याद्विस्तृतो मूलात्प्रभृत्या दशयोजनं । मध्ये त्रिंशत्पृथुर्योऽग्रे दशयोजनविस्तृतिः ॥८३॥ उच्छ्रायस्य तुरीयांशमवगाढश्च यः क्षितौ । गंधिलादेशविष्कंभमानदंड इवायतः ॥८४॥ दशयोजनविस्तीर्णश्रेणीद्वय-समाश्रयान् । यो धत्ते खेचरावासान्सुरवेश्मोपहासिनः ॥ ८५ ॥ खेचरीजनसंचारसंक्रांतपदयावकैः । रक्तांबुजोपहारश्रीर्यत्र नित्यं वितन्यते ॥८६॥

रजतमय श्वेत पर्वत है। वह ऐसा मालूम पड़ता है मानो अपनी श्वेत किरणोंसे कुलाचल पर्वतोंकी हंसी ही उड़ा रहा हो ॥८१॥ वह विजयार्द्ध पर्वत भूमितलसे पच्चीस योजन ऊंचा है जिसके शिखर बहुत ऊंचे हैं देखनेसे ऐसा मालूम पड़ता है मानो वह पर्वत स्वर्गलोकको स्पर्श करनेका ही उद्यम कर रहा हो ॥८२॥ वह पर्वत मूलसे लेकर दश योजनकी ऊंचाईतक पचास योजन चौड़ा है । मध्यमें तीस योजन चौड़ा है और ऊपर केवल दश योजन चौड़ा है । ॥ ८३ ॥ उसकी जितनी उंचाई है उसका चतुर्थांश भाग अर्थात् सवा छह योजनका पृथ्वीके भीतर मूलभाग है। तथा गंधिला देशकी चौड़ाईके बराबर लंबा है जिससे ऐसा मालूम होता है मानों गंधिलादेशके नापनेकेलिये एक डंडा ही पड़ा हो ॥ ८४ ॥ इस पर्वतके ऊपर दो समतल भूमि हैं जोकि दक्षिणश्रेणी और उत्तरश्रेणीके नामसे प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक श्रेणी दश दश योजन चौड़ी है। उन दोनों श्रेणियोंमें विद्याधरोंके निवासस्थान वा बड़े बड़े नगर हैं जो कि अपनी सुंदरताके गर्वसे स्वर्गका भी उपहास कर रहे हैं॥ ८५ ॥ उस परबतपर विद्याधरों की स्त्रियां सदा इधर उधर फिरती रहती हैं उनके पैरोंमें लगाहुआ महावर छूट छूटकर पर्वतपर पड़ता है जिससे वह पर्वत ऐसा सुशोभित होता है मानो उसके उपहारमें रक्त कमल ही प्रदान किये गये हों ॥ ८६॥ अथवा वह पर्वत सिद्धात्माके समान हैं क्योंकि सिद्धात्माकी शक्ति किसीसे भेदन नहीं की जा सकती, उसीप्रकार उस पर्वतकी शक्ति भी किसीसे भेदन नहीं की जासकती। सिद्धात्मा नित्य हैं वह पर्वत भी नित्य अर्थात् अनादिनिधन

अभेद्यशक्तिरत्यय्यः सिद्धविद्यैरुपासितः । दधदात्यंतिकीं शुद्धिं सिद्धात्मेव विभाति यः ॥ ८७ ॥ यो ऽनादिकालसंबंधिशुद्धिशक्तिरनश्वरात् ।
भव्यात्मनिर्विशेषो ऽपि दीक्षायोगपराङ्मुखः ॥ ८८ ॥ विद्याधरैः सदाराध्यो निर्मलात्मा सनातनः । सुनिश्चितप्रमाणो यो धत्ते जैनागमस्थितिं ॥८९॥

है । सिद्ध भगवान् की उपासना सम्यग्ज्ञानको धारण करनेवाले भव्य जीव करते हैं उसीप्रकार पर्वतकी उपासना भी अनेक विद्याओंको धारण करनेवाले विद्याधर लोग करते हैं । सिद्धात्मा कर्ममलकलंकरहित अत्यंत शुद्धताको धारण करते हैं उसीप्रकार वह पर्वत भी अत्यंत निर्मलताको धारण करता है ॥ ८७ ॥ अथवा वह पर्वत भव्यपुरुषके समान है क्योंकि भव्यपुरुष अनादिकालसे विशुद्धता अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेकी शक्ति धारण करता है और वह पर्वत भी अनादिकालसे विशुद्धता अर्थात् निर्मलताकी शक्ति धारण करता है । अंतर केवल इतना ही है कि पर्वत जड़ होनेसे भव्यपुरुषके समान दीक्षा धारण नहीं कर सकता ॥ ८८ ॥ तथा वह पर्वत ठीक जैनागमकी स्थितिको भी धारण करता है । क्योंकि जैनागम विद्याधर अर्थात् पूर्ण विद्वानोंद्वारा ही सेवन किया जाता है और उसको भी विद्याधर लोग सेवन करते हैं । जैनागम जैसे निर्मल अर्थात् निर्दोष है उसीप्रकार यह भी निर्मल अर्थात् उज्ज्वल है । जैनागम जिसप्रकार सनातन हैं अनादिकालसे चला आया है उसीप्रकार यह भी सनातन है । जैनागममें जिसप्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण सुनिश्चित हैं उसीप्रकार इसकी लंबाई चौड़ाई आदिका प्रमाण भी सुनिश्चित है ॥ ८९ ॥ तथा उस पर्वतपर चारण मुनि सदा सिंहके समान विहार करते रहते हैं । जैसे सिंह अकेला रहता है उसीप्रकार ये भी अकेले (एकाकी) विहार करते हैं । सिंहको इधर उधर घूमनेमें कोई भय नहीं होता, उसीप्रकार इन्हें भी किसीप्रकारका भय नहीं होता। सिंह भी धीर वीर हैं ये भी धीर वीर हैं । सिंहके नख बड़े होते हैं उसीप्रकार बहुत दिन तपश्चरण करनेसे इनके नख भी बहुत बढ़े हुये हैं ॥ ९० ॥ तथा इस पर्वतपर जो दो बड़ी बड़ी श्रेणियां हैं वे फैले हुये

भजंत्येकाकिनो नित्यं वीतसंसारभीतयः। प्रवृद्धनखरा धीरा यं सिंहा इव चारणाः ॥९०॥ यो वितत्य पृथुश्रेणीद्वयं पक्षद्वयोपमं । समुत्पित्सुरिवा भाति नाकलक्ष्मीदिदृक्षया॥९१॥ यस्य सानुषु रम्येषु किन्नराः सुरपन्नगाः। रंरम्यमाणाः सुचिरं विस्मरंति निजालयान्॥९२॥ यदीया राजतीर्भित्तीः शरन्मेघावलीश्रिता। व्यज्यते शीकरासारैः स्तनितैश्चलितैरपि ॥९३॥ यस्तुंगैः शिखरैर्धत्ते देवावासान्स्फुरन्मणीन्। चूडामणीनिवोदग्रान्सिद्धायतनपूर्वकान्॥९४॥ दधात्युच्चैः स्वकूटानि मुकुटानीव भूमिभृत्। परार्ध्यरत्नचित्राणि यः श्लाघ्यानि सुरासुरैः ॥९५॥ गुहाद्वयं च यो धत्ते हटद्वज्रकपाटकं।

दो पंखोंके समान माल्कम होती हैं जिनसे ऐसा प्रतीत होता है मानों यह पर्वत स्वर्गलोककी शोभा देखनेके लिये पंख फैलाकर उड़ना ही चाहता हो ॥ ९१ ॥ तथा इस पर्वतके मनोहर शिखरोंपर किन्नरजातिके व्यंतरदेव पन्नगजातिके भवनवासीदेव निरंतर क्रीड़ा करते रहते हैं और क्रीड़ा करते करते कभी २ अपने घर तकको भूल जाते हैं ॥९२॥ इस पर्वतके पार्श्वभाग श्वेत हैं उनपर शरदऋतुके श्वेत बादल आश्रय लेते हैं परंतु वे जब छोटी छोटी बूंदोंसे वरसते हैं गरजते हैं अथवा चलते हैं तब ही माल्कम पड़ते हैं अर्थात् पर्वतकी श्वेत भित्तियोंमें श्वेत बादल सर्वथा मिल जाते हैं ॥ ९३ ॥ इस विजयार्द्ध पर्वतके बड़े ऊंचे ऊंचे शिखर हैं जिनपर अनेक मणियोंसे स्फुरायमान देवोंके आवास हैं जो कि उत्कृष्ट चूड़ामणिके समान शोभायमान है, उन शिखरोंपर अनेक सिद्धायतन (चैत्यालय) भी सुशोभित हो रहे हैं ॥९४॥ यह विजयार्द्धपर्वतरूपी राजा मुकुटके समान अत्यंत ऊंचे कूट (शिखर) धारण करता है, वे मुकुट और कूट दोनो ही ऐसे हैं जिनमें वैमानिक भवनवासी आदि सब देवोंसे आदरणीय और प्रशंसनीय अनेक प्रकारके अमूल्य रत्न लगे हुये हैं ॥ ९५ ॥ इस पर्वतमें दो गुफायें हैं जिनमें चमकते हुये देदीप्यमान वज्रमय फाटक लगे हुये हैं जिससे वे दोनों गुफायें ऐसी माल्कम पड़ती हैं मानो इस पर्वतने अपना साररूप धन रखनेके लिये एक लंबा चौड़ा किला ही बनाया हो ॥९६॥ यह पर्वत अतिशय विशुद्ध और अलंघ्य है इसीलिये मानो दो बड़ी बड़ी नदियोंने नील पर्वतके ऊपरी भागसे निकलकर इस पर्वतके चरण कमलोंका आश्रय

स्वसारधननिक्षेपमहादुर्गमिवायतं ॥९६॥ उत्संगादेस्य नीलाद्रेर्गंगासिंधू महापगे। विशुद्धत्वादलंध्यस्य यस्य पादांतमाश्रिते ॥९७॥ यत्तटोपांतसंरूढ-वनराजीपरिष्कृतः। नीलांबरधरस्योच्चैर्धत्ते लांगलिनः श्रियं ॥९८॥ वनवेदीं समुत्तुंगां यो बिभर्त्त्यभितोवनं। रामणीयकसीमानमिव केनापि निर्मितां ॥ ९९ ॥ संचरत्खचरीपादनूपुरारावकर्षकः। यत्र गंधवहो वाति मंदं मंदारवीथिषु ॥१००॥ यः पूर्वापरकोटीभ्यां दिक्तटानि विघट्टयन्। स्वगतं वक्ति माहात्म्यं जगद्गुरुभरक्षमं ॥१०१॥ अनायतो यदि व्योम्नि व्यवर्धिष्यत हेलया। तदा जगत्कुटीमध्ये सममास्यत्क्व सोऽचलः ॥ १०२ ॥ सोऽचलस्तुंगवृत्तित्वाद्विशुद्धित्वान्महोच्छ्रयैः। कुलाचलैरिव स्पर्द्धां शिखरैः कर्त्तुमुद्यतः॥१०३॥ तस्यास्त्युत्तरतः श्रेण्यामालकेति परा पुरी। सालकैः

लिया है। इन नदियोंका नाम भी गंगासिंधु प्रसिद्ध है ॥ ९७ ॥ इस पर्वतके चारोंओर किनारोंके समीप ही अनेक बन खड़े हुये हैं वे सब नील रंगके हैं और यह पर्वत स्वेत है इसलिये उनके बीचमें यह पर्वत ऐसा शोभायमान हो रहा है मानो नीलांबर पहनेहुये बलभद्र ही खड़े हों ॥९८॥ उन बनोंके चारोंओर बड़ी ऊंची वनकी वेदिका है जो कि ऐसी शोभायमान हो रही है मानो किसीने इस बनकी सुंदर सीमा ही निर्माण की हो ॥९९॥ जिस वायुमें उस पर्वतपर इधर उधर फिरनेवाली विद्याधरोंकी स्त्रियोंके पैरोंमें लगे हुये नूपुरोंके मधुर शब्द भी मिले हुये हैं ऐसा मंद सुगंधित वायु उस पर्वतपर लगेहुये वृक्षोंके मध्यवर्त्ती मार्गमें सदा बहा करता है ॥ १०० ॥ उस पर्वतके पूर्व और पश्चिमके किनारे इतने लंबे हैं कि वे दिशाओंके किनारोंको भी मर्दन करते हैं जिससे ऐसा मालूम पडता है कि वह पर्वत अपना यह माहात्म्य ही प्रगट कर रहा हो कि मैं संसारका सब भार सह सकता हूं॥ १०१ ॥ वह पर्वत जितना लंबा है उतनाही यदि क्रीडामात्रसे आकाशमें ऊंचा बढे तो वह इस जगतरूपी कुटीमें कहां समावे? ॥ १०२ ॥ तथा वह पर्वत इतना ऊंचा और इतना विशुद्ध है कि मानो अपने ऊंचे २ शिखरोंकेद्वारा कुलाचलोंकी स्पर्द्धा करनेकेलिये तैयार हुआ हो ॥१०३॥ इसप्रकारके उस विजयार्द्धपर्वतकी उत्तरश्रेणीमें अलका नामकी एक सुंदर नगरी है और वह ऐसी शोभायमान है मानो सुंदर केशवालीं विद्याधरियोंके मुखके साथ साथ

खेचरीवक्त्रैः साकं हसति या विधुं ॥१०४॥ सा तस्यां नगरी भाति श्रेण्य प्राप्तमहोदया। शिलायां पांडुकाख्यायां जैनी वाऽभिषवक्रिया ॥१०५॥ महत्यां शब्दविद्यायां प्रक्रियेवातिविस्तृता। भगवद्दिव्यभाषायां नानाभाषात्मतेव या ॥१०६॥ या धत्ते सालमुत्तुंगगोपुरद्वारमुच्छ्रितं। वेदिकावलयं प्रांते जंबूद्वीपस्थली यथा ॥ १०७ ॥ यत्खातिका भ्रमद्भृंगरुचिरांजनरंजितैः। पयोजनेत्रैराभाति वीक्ष्यमाणेव खेचरान् ॥१०८॥ शोभायै केवलं यस्याः सालः सपरिखावृतिः। तत्पालखगभूपालभुजरक्षाधृताः प्रजाः ॥ १०९ ॥ यस्याः सौधावलीशृंगसंगिनी केतुमालिका। कैलासकूटनिपत-

---

चंद्रमाकी हंसी उडा रही हो ॥ १०४ ॥ जैसे पांडुक शिलापर श्रीजिनेंद्रदेवकी अभिषेक क्रिया शोभायमान होती है ठीक उसी प्रकार उस उत्तरश्रेणीमें सदा उन्नत और उदयरूप होनेवाली वह नगरी शोभायमान है ॥१०५॥ तथा वह अलका नगरी किसी बड़े व्याकरणकी महावृत्ति वा प्रक्रियाके समान विस्तृत है अथवा यों कहना चाहिये कि वह भगवानकी दिव्यध्वनिमें अंतर्भूत अनेकभाषाओंके समान है। भावार्थ—वह नगरी बहुत बडी है और उसमें अनेक भाषाओंके जाननेवाले मनुष्य रहते हैं ॥ १०६ ॥ उस अलका नागरीके चारोंओर बहुत ऊंचा कोट है जिसके बहुत ऊंचे २ द्वार हैं तथा उसकोटके चारों ओर छुटी हुई जो गोल वेदिका है वह ठीक जंबूद्वीपकी वेदिकाके समान मालूम होती है। उस वेदिकाके चारोंओर खाई है जिसमें अनेक कमल खिले हैं और उन कमलोंपर चारों ओर भ्रमर फिर रहे हैं जिससे ऐसा मालूम पड़ता है मानों यह खाई इधर उधर भ्रमण करते हुये भ्रमररूपी सुंदर अंजनसे सुशोभित कमलरूपी नेत्रोंकेद्वारा वहांके विद्याधरोंको निरख ही रही हो ॥ १०७—१०८ ॥ तथा उस नगरीके चारोंओर गहरी खाईसे घिरा हुआ जो ऊंचा कोट है वह केवल उस नगरीकी शोभा बढ़ानेकेलिये ही बनाया गया है प्रजाकी रक्षा करनेकेलिये नहीं, क्योंकि उस नगरीके पालन करनेवाला विद्याधर नरेश केवल अपनी भुजाओंके बलसे ही प्रजाकी रक्षा करता है ॥ १०९ ॥ उस नगरीके बड़े २ मकानोंके शिखर पर अनेक ध्वजायें फहरा रही हैं, वे ऐसी शोभायमान हो रही हैं मानों कैलाशपर्वतके शिखरोंपर उतरती हुई हंसोंकी पंकतिको तिर-

हंसमालां विलंघते ॥ ११० ॥ गृहेषु दीर्घिका यस्याः कलहंसविकूजितैः । मानसं व्याहसंतीव प्रफुल्लांभोरुहश्रियः ॥ १११ ॥ स्वच्छांबुवसना वाप्यो नीलोत्पलावतंसकाः । भांति पद्मानना यत्र लसत्कुवलयेक्षणाः ॥ ११२ ॥ यत्र मर्त्या न संत्यज्ञा नांगनाः शीलवर्जिताः । नानारामा निवेशाश्च नारामाः फलवर्जिताः ॥ ११३ ॥ विनाऽर्हत्पूजया जातु जायते न जनोत्सवाः । विना संन्यासविधिना मरणं यत्र नांगिनां ॥ ११४ ॥ सस्यान्यकृष्टपच्यानि यत्र नित्यं चकासते । प्रजानां सुकृतानीव वितरंति महत्फलं ॥ ११५ ॥ यत्रोद्यानेषु पाल्यंते पयोन्यैर्बालपादपाः । स्तनंधया

स्कार ही कर रही हों ॥ ११० ॥ उस नगरीके प्रत्येक घरमें बावड़ी हैं, जिनमें अनेक कमल खिले हुये हैं, कलहंस पक्षी मधुर शब्द कर रहे हैं, जिससे ऐसा माल्हम पड़ता है मानों वे बावड़ी उन कलहंस पक्षियोंके मधुरशब्दोंद्वारा मानसरोवरकी हंसी ही उड़ा रही हो तथा ॥ १११ ॥ उस नगरीकी अनेक बावड़ी स्त्रियोंके समान शोभायमान हैं क्योंकि वे स्वच्छ जलरूपी वस्त्र धारण किये हुये हैं नीलकमल ही जिनके कर्णफूल हैं, प्रफुल्लित कमल ही जिनके मुख हैं और स्वेतकमल ही जिनके नेत्र हैं तथा ॥ ११२ ॥ उस अलकानगरीमें कोई पुरुष ऐसा नहीं है जो अज्ञानी हो, कोई ऐसी स्त्री नहीं है जो शीलरहित हो, कोई ऐसा स्थान नहीं है जो बाग बगीचोंसे रहित हो और कोई बाग बागीचा भी ऐसा नहीं है जो फलरहित हो ॥ ११३ ॥ उस नगरीके मनुष्य कभी कोई ऐसा उत्सव नहीं करते हैं कि जिसमें श्रीअरहंत भगवानजी पूजा न की जाती हो और न कभी किसी मनुष्यका ऐसा मरण होता है जिसमें संन्यास (समाधिमरण) ग्रहण न किया जाता हो। भावार्थ--वहां के मनुष्य सब उत्सवोंमें श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं और प्रायः समाधिमरणपूर्वक ही शरीर छोड़ते हैं ॥ ११४ ॥ तथा उस नगरीके चारोंओर अनेक बिना बोये धान्योंके खेत शोभायमान हैं जो कि बिना परिश्रमके ही पकजाते हैं और पुण्यके समान प्रजाकेलिये महाफलदायक होते हैं तथा ॥ ११५ ॥ उस नगरीके बगीचोंमें ऐसे अनेक छोटे छोटे वृक्ष हैं जो कि अभी पूरे जमे नहीं हैं जिन्हें अन्य लोग अपने पुत्रके समान रक्षा करते हुये जल पिलाते रहते

इवाप्राप्तक्षेमानो यत्नरक्षिताः ॥ ११६ ॥ महाब्धाविव सध्वाने स्फुरद्रत्ने वणिक्पथे । विचरंति जना यस्यां यादांसीव समंततः ॥ ११७ ॥ पद्मेष्वेव विकोशत्वं प्रमदास्वेव भीरुता । दंतच्छदेष्वधरता यत्र निस्त्रिंशतासिपु ॥११८॥ याच्ञाकरग्रहौ यस्यां विवाहेष्वेव केवलं । मालास्वेव परिम्लानिर्द्विरदेष्वेव बंधनं ॥ ११९ ॥ जनैरत्युत्सुकैर्वीक्ष्यं वयस्कांतं सपुष्पकं । बाणांकितं यदुद्यानं वधूवरमिव प्रियं ॥ १२० ॥ इति प्रतीतमाहात्म्या विज-

हैं ॥ ११६ ॥ उस अलका नगरीके बाजार ठीक समुद्रके समान मालूम होते हैं । समुद्रमें जिसप्रकार गंभीर शब्द होते रहते हैं और वह रत्नोंसे भरा रहता है उसीप्रकार वहांके बाजारोंमें भी सदा गंभीर शब्द होते रहते हैं और विक्रीकेलिये जगह जगह रत्न रक्खे रहते हैं । समुद्रमें जलजंतुओंका संचार है और इस नगरीके बाजारोंमें मनुष्य घूमते रहते हैं ॥ ११७ ॥ उस नगरीमें विकोशत्व अर्थात् अच्छी कार्णिका केवल कमलोंमें ही है। विकोशत्व अर्थात् कोश वा द्रव्यसंचयका अभाव सर्वथा नहीं है। इसीप्रकार भीरुता केवल स्त्रियोंमें ही है । अधरता (नीचता) केवल ओठोंमें ही है अर्थात् ओठ ही अधर कहलाते हैं अन्यत्र अधरता (नीचता) कहीं नहीं है । इसीप्रकार क्रूरता केवल तलवारोंमें ही है अन्यत्र कहीं भी नहीं है ॥११८॥ तथा याचना करना और (करग्रह) हाथ पकड़ना केवल विवाहोंमें ही देखा जाता है अन्यत्र न कोई किसीसे याचना करता है और न कोई किसीसे करग्रहण करता है। तथा म्लानता (मुरझाना) भी केवल पुष्पमालाओंमें है मनुष्योंमें कभी कोई उदास नहीं दिखता। इसीप्रकार बंधन भी केवल हाथियोंमें है अर्थात् वहां केवल हाथी ही बांधे जाते हैं मनुष्य ऐसा कोई अपराधी ही नहीं है जो बांधा जावे ॥ ११९ ॥ उस अलका नगरीके बाग ठीक दंपतिके समान शोभायमान हैं। जैसे दंपतिको लोग बड़ी उत्सुकतासे देखते हैं उसीप्रकार वहांके बागोंको भी सब लोग बड़ी उत्सुकतासे देखते हैं। दंपति जैसे वयस्कांत अर्थात् जवान और मस्तकपर पुष्प धारण किये हुये होते हैं उसीप्रकार वे बाग भी वयस्कांत अर्थात् पक्षियोंसे मनोहर और पुष्पोंसे सुशोभित हैं। इसी प्रकार दंपति धनुष बाण लगाये रहते हैं

यार्द्धमहीभृतः । सद्वृत्तवर्णसंकीर्णा सा पुरी तिलकायते ॥ १२१ ॥ तस्याः प्रभुरभूत्खेंद्रमुकुटारूढशासनः । खगेंद्रोऽतिबलो नाम्ना प्रतिपक्षबलक्षयः ॥ १२२ ॥ स धर्मविजयी शूरो जिगीषुररिमंडले । षाड्गुण्येनाजयत्कृत्स्नं विपक्षमनुपेक्षितं ॥ १२३ ॥ स कुर्वन्वृद्धसंयोगं विजितेंद्रियसाधनः । साधनैः प्रतिसामंतान् लीलयैवोदमूलयत् ॥ १२४ ॥ महोदयो महोत्तुंगवंशो भास्वन्महाकरः । महादानेन सोऽपुष्णादाश्रितानिव दिग्द्विपः ॥ १२५ ॥ लसद्दंतांशु तस्यास्यं सज्ज्योत्स्नं बिंबमैंदवं । जित्वेव भ्रूपताकाभ्यामुत्क्षिप्ताभ्यां व्यराजत ॥ १२६ ॥ सपुष्पकेशमस्याभादुत्तमांगं सदा-

---

और उन वागोंमें बाण जातिके वृक्ष हैं। दंपति भी सबको प्रिय होते हैं और वे वाग भी सबको प्रिय हैं ॥ १२० ॥ इसप्रकार जिसका माहात्म्य प्रसिद्ध है और जिसमें अनेकप्रकारके सच्चरित्र ब्राह्मणक्षत्रियादि वर्ण निवास करते हैं ऐसी वह अलका नगरी उस वियार्द्धपर्वतरूपी महाराजके मस्तकपर गोल और उत्तम वर्ण तिलकके समान सुशोभित होती थी ॥ १२१ ॥ उस नगरीका अधिपति अतिबल नामका विद्याधर था जो कि शत्रुओंका बल क्षय करनेमें अति निपुण था और जिसकी आज्ञा समस्त विद्याधर राजाओंको स्वीकार करनी पडती थी ॥ १२२ ॥ वह अतिबल राजा धर्मसे ही सब विजयलाभ प्राप्त करनेवाला था शूरवीर और शत्रुसमूहको जीतनेवाला था, तथा अपने सावधान समस्त शत्रुओं को केवल षाड्गुण्यरूप दैवबलसे ही जीत लेता था। संधि विग्रह यान आसन संश्रय और द्वैधीभाव ये छह षाड्गुण्य कहलाते हैं। जयलाभ करनेकेलिये राजाओंकी यैही कूटनीति हैं ॥ १२३ ॥ उस राजाने इंद्रियोंके सब विषय जीतलिये थे और सदा अनुभवी वृद्धपुरुषोंकी संगतिमें ही रहता था इसीकारण ही अपने शत्रुओंकी बलवान सेनाको अपनी सेनाद्वारा लीलामात्रमें नाश कर देता था ॥१२४॥ जिसप्रकार दिग्गज हाथी अपने मदसे अपने आश्रित भ्रमरोंको संतुष्ट करता है उसीप्रकार वह राजा भी अपने आश्रितजनोंको अतिशय दान देकर पालनपोषण करता था। तथा जिसप्रकार दिग्गज हाथी बड़ा और दैदीप्यमान होता है उसके पीठकी रीढ और सूंड बडी होती है उसीप्रकार वह राजा भी सदा उदयरूप

नवं । त्रिकूटाग्रमिवोपांतपतच्चामरनिर्झरं ॥ १२७ ॥ पृथुवक्षःस्थलं हारि हारवल्लीपरिष्कृतं । क्रीडाद्वीपायितं लक्ष्म्याः स बभार गुणांबुधिः॥१२८॥ करौ करिकराकारावूरू कामेषुधीयितौ । कुरुविंदाकृती जंघे क्रमावंबुजसच्छवी ॥ १२९ ॥ प्रतिप्रतीकमित्यस्य कृतं वर्णनयानया । यद्यच्चारूपमावस्तु तत्तत्स्वांगैर्जिगीषत ॥ १३० ॥ मनोहरांगी तस्याभूत्प्रिया नाम्ना मनोहरा । मनोभवस्य जैत्रेषुरिव या रूपशोभया ॥ १३१ ॥ सितपुष्पो-

---

और तेजस्वी था । अतिशय उच्चवंशमें उत्पन्न हुआ था तथा उसकी भुजायें भी बहुत लंबी थीं ॥ १२५ ॥ उस राजाके मुखसे दांतोंकी किरणें निकल रहीं थीं दोनों भोंहें कुछ टेडी होकर उठी हुई थीं इसलिये उसका मुख ऐसा शोभायमान होता था मानों उसने प्रकाशमान चंद्रमाको जीत लिया है और इसीलिये ही उसने अपनी भोंहरूप दोनों पताकायें फहरा रक्खी हैं ॥ १२६ ॥ उस राजाका मस्तक ठीक त्रिकूटाचलके समान मालूम होता था क्योंकि जैसे त्रिकूटाचल सपुष्पकेश अर्थात् पुष्पकविमानके स्वामी महाराज रावणसे शोभायमान था, उसीप्रकार महाराज अतिबलका मस्तक भी सपुष्पकेश अर्थात् पुष्पलगेहुये केशोंसे शोभायमान था, त्रिकूटाचल जैसे सदानव अर्थात् राक्षस वंशमें उत्पन्न हुये लोगोंसे शोभायमान था, उसी प्रकार उस राजाका मस्तक भी सदानव अर्थात् सदा नवीन श्याम केशोंसे शोभायमान था । त्रिकूटाचल पर्वतके शिखरसे जैसे स्वच्छ पानीके निर्झरने पड़ते हैं उसीप्रकार उस राजाके मस्तकके दोनों ओर चमर ढुल रहे थे ॥ १२७ ॥ वह अतिबल राजा गुणोंका समुद्र था । उसका बक्षःस्थल बहुत बड़ा, सुंदर, और हाररूपी बेलसे ढका हुआ ऐसा मालूम होता था, मानो लक्ष्मीका क्रीड़ा करनेकेलिये एक द्वीप ही हो ॥ १२८ ॥ उस राजाकी दोनों भुजायें हाथीकी सूंडके समान थीं । जंघाका ऊपरी भाग तरकसके समान था, जंघा पद्मरागमणिके समान मजबूत थी और चरण, कमलोंकी सुंदरकांतिके समान थे ॥ १२९ ॥ राजा अतिबलके प्रत्येक अंगका वर्णन कहां तक किया जाय किंतु थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि संसारमें अंग उपांगकी उपमाके योग्य जो जो सुंदर वस्तु हैं वे सब इसके अंग उपांगोंकी सुंदरताके सामने

उज्वला भर्तुः प्रियासीन्नतिकेव सा । हितानुबंधिनी जैनी विद्येव च यशस्करी ॥ १३२ ॥ तयोर्महाबलख्यातिरभूत्सूनुर्महोदयः । यस्य जातावभूत्प्रीतिः पिंडीभूतेव बंधुषु ॥ १३३ ॥ कलासु कौशलं शौर्यं त्यागः प्रज्ञा क्षमा दया । धृतिः सत्यं च शौचं च गुणास्तस्य निसर्गजाः ॥ १३४ ॥ स्पर्द्धयेव वपुर्वृद्धौ विवृद्धाः प्रत्यहं गुणाः । स्पर्द्धा ह्येकत्र भूतानां क्रियासाम्याद्विवर्द्धते ॥ १३५ ॥ राजविद्याश्रतस्रोऽपि सोऽध्यैष्ट गुरुसन्निधौ । स ताभिर्विबभौ भाभिः स्वाभिरुद्यन्निवांशुमान् ॥ १३६ ॥ सोऽधीयन्निखिलां विद्यां गुरुसंस्कारयोगतः । दिदीपेऽधिकमर्चिष्मानिवानिलसमागमात् ॥ १३७ ॥ प्रश्रयाद्यान्गुणानस्य मत्वा योग्यत्वपोषकान् । यौवराज्यपदं तस्मै सोऽनुमेने खगाधिपः ॥ १३८ ॥ संविभक्ता तयोर्लक्ष्मीश्चिरं रेजे

कुछ भी नहीं थीं ॥ १३० ॥ उस राजाके मनोहरा नामकी सुंदर और अतिशय प्रिय रानी थी। वह अपने रूप और शोभासे कामदेवको विजयप्राप्त करनेकेलिये एक बाणके समान थी ॥ १३१ ॥ वह रानी अपने पतिकेलिये मंदहास्यरूपी उज्वल पुष्प धारण करनेवाली एक लताके समान थी अथवा वह रानी यश बढानेवाली तथा सबका हित करनेवाली जिनबाणीके समान थी ॥ १३२ ॥ उन दोनोंके अतिशय भाग्यशाली महाबल नामका पुत्र था, जिसके उत्पन्न होनेपर उसके अन्य सब भाइयोंमें परस्पर बड़ा प्रेम हो गया ॥ १३३ ॥ समस्त कलाओंमें कुशलता, युद्धमें शूरता, दान देना, बुद्धि, क्षमा, दया, धैर्य, सत्य, और शौच ये सब उसके स्वाभाविक गुण थे ॥ १३४ ॥ उस महाबलका शरीर ज्यों ज्यों बढता था त्यों त्यों उसके गुण भी प्रति दिन बढते ही जाते थे, मानो शरीरके साथ ईर्षा करके ही बढ रहे हों। सो ठीक ही है जिनकी क्रियायें समान होती हैं औरजो एक जगह साथ साथ रहते हैं उनमें परस्पर स्पर्द्धा बढती ही है ॥ १३५ ॥ वह राजपुत्र महाबल गुरुके समीप चारों प्रकारकी राजविद्यायें पढ़कर अपनी किरणोंसे सुशोभित उदय होतेहुये सूर्यके समान उनविद्यावोंसे अतिशय सुशोभित होने लगा। इनके सिवाय गुरु की कृपासे उसने अन्य समस्त प्रकारकी विद्यायें पढ़ लीं, जिनसें वह वायुके निमित्तसे अग्निकी समान और भी दैदीप्यमान होगया ॥ १३६-१३७ ॥ महाराज अतिबल विद्याधरने अपने पुत्र महाबलमें समस्त

धृतायतिः । हिमवत्यंबुराशौ च व्योमगंगेव संगता ॥ १३९ ॥ स राजा तेन पुत्रेण पुत्री बहुसुतोऽप्यभूत् । नभोभागो यथार्केण ज्योतिष्मानापरैर्ग्रहैः ॥ १४० ॥ अथान्येद्युरसौ राजा निर्वेदं विषयेष्वगात् । वितृष्णः कामभोगेषु प्रव्रज्यायै कृतोद्यमः ॥ १४१ ॥ विषपुष्पमिवात्यंतविषमं प्राणहारकं । महादृष्टिविषस्थानमिव चात्यंतभीषणं ॥१४२॥ निर्भुक्तमाल्यवद्भूयो न भोग्यं मानशालिनां । दुष्कलत्रमिवापायि हेयं राज्यममंस्त सः ॥ १४३ ॥ भूयोऽप्यचिंतयद्धीमानिमां संसारवल्लरीं । उत्सेत्स्यामि महाध्यानकुठारेण क्षमीभवन् ॥ १४४ ॥ मूलं मिथ्यात्वमेतस्याः पुष्पं जात्या-

विद्या और योग्यता प्राप्त करनेवाले और भी अनेक गुण देखकर युवराजपद भी उसकेलिये समर्पण कर दिया ॥ १३८ ॥ इसप्रकार युवराजपद देनेसे राज्यलक्ष्मी पिता पुत्र दोनोंमें बँट गई। उसके बँटने से उसका आकार कुछ कम नहीं हुआ किंतु जिसप्रकार हिमवान पर्वतसे निकलकर समुद्रमें मिलने तक गंगाका प्रवाह बढता जाता है उसीप्रकार और भी बढ गया ॥ १३९ ॥ जिसप्रकार आकाश केवल सूर्यसे ही प्रकाशमान होता है अन्य ग्रहोंसे नहीं होता उसीप्रकार अतिबल महाराज अन्य अनेक पुत्रोंके होते हुये एकमात्र उसी पुत्रसे ही अपने को पुत्रवान समझता था ॥ १४० ॥ इसप्रकार राज्य करते हुये बहुत दिन व्यतीत होगये। एक दिन अकस्मात् राजा अतिबल विषय भोगोंसे विरक्त हुये। उन्होंने कामभोगोंसे तृष्णा छोड दी और दीक्षा ग्रहण करनेकेलिये उद्यम करने लगे, वे उस समय-॥१४१॥ विचार करने लगे कि यह राज्य विषपुष्पके समान अत्यंत विषम और प्राण हरण करनेवाला है। सर्प के समान अत्यंत भयानक है कुलटा स्त्रीके समान नाशकारक है और भोगीहुई पुष्पमालाके समान उच्छिष्ट है इसलिये ऐसा यह राज्य सर्वथा त्याज्य है स्वाभिमानी पुरुषोंकेलिये यह भोग करने योग्य नहीं है ॥ १४२ ॥॥ १४३ ॥ इसप्रकार वे बुद्धिमान् महाराज अतिबल इस संसाररूपी बल्लरीका (बेलका) स्वरूप बार बार चिंतवन करने लगे और विचार करने लगे कि मैं उत्तमक्षमा धारणकर महाध्यानरूपी कुठारसे इस संसाररूपी बल्लरीको शीघ्रही उखाड फेंकूंगा ॥ १४४ ॥ इस संसाररूपी बेलकी मिथ्यात्व

दिकं फलं । व्यसनान्यसुभृद्भृंगैः सेव्येयं विषयासवे ॥ १४५ ॥ यौवनं क्षणभंगीदं भोगा भुक्ता न तृप्तये । प्रत्युतात्यंतमेवैतैस्तृष्णार्चिरभिवर्द्धते ॥ १४६ ॥ शरीरमिदमत्यंतपूतबीभत्सवशाश्वतं । विनश्यतेऽद्य वा श्वो वा मृत्युवज्रविचूर्णितं ॥ १४७ ॥ शरीरवेणुरस्वंतफलो दुर्ग्रंथिसंततिः । प्लुष्टः कालाग्निना सद्यो भस्मसात्स्यात्स्फुरद्ध्वनिः ॥ १४८ ॥ बंधवो बंधनान्येते धनं दुःखानुबंधनं । विषया विषसंपृक्तविषमाशनसन्निभाः ॥१४९॥ तदलं राज्यभोगेन लक्ष्मीरतिचलाचला । संपदो जलकल्लोलविलोलाः सर्वमध्रुवं ॥ १५० ॥ इति निश्चित्य धीरोऽसावभिषेकपुरःसरं । सूनवे राज्य-

ही जड़ है जन्म मरण होना ही इसके पुष्प हैं और अनेक व्यसन (दुःख) प्राप्त होना ही इसके फल हैं। केवल विषयरूपी रस पान करनेकेलिये ही ये प्राणीरूपी भ्रमर इसकी सेवा किया करते हैं ॥ १४५॥ यह यौवन क्षणभंगुर है ये भोग चाहे जितनीबार भोगे जांय परंतु इनसे कभी तृप्ति नहीं होती। इनसे तृप्ति होना तो दूर रहो किंतु ज्यों ज्यों ये सेवन किये जाते हैं त्यों त्यों इनसे तृष्णारूपी अग्नि बढ़ती ही चली जाती है ॥ १४६ ॥ यह शरीर भी अत्यंत अपवित्र और नाशमान है । आज वा कल ही मृत्युरूपी बज्रसे पिसकर नष्ट हो जायगा ॥ १४७ ॥ अथवा यों कहिये कि यह शरीर एकप्रकारका बांस है दुःख ही इसके फल हैं। इसमें परिग्रहरूपी अनेक गांठे हैं। जब यह शरीररूपी बाँस कालरूपी अग्निसे जलेगा तब वह एकप्रकारका शब्द करता हुआ बहुत शीघ्र भस्म हो जायगा ॥ १४८ ॥ ये जो बंधुजन दिखते हैं वे सब मोहपासमें डालनेवाले बंधनके समान हैं। यह धन केवल दुःख उत्पन्न करनेवाला है और ये पंचेंद्रियोंके विषयसुख विष मिले हुये विषम भोजनके समान हैं ॥ १४९ ॥ लक्ष्मी अतिशय चंचल है संपदायें जलकल्लोलके समान क्षणभंगुर हैं । यह संसार सर्वप्रकारसे अस्थिर है, इसमें कोई बस्तु स्थिर नहीं है। इसलिये अब इस राज्यका भोग करना अच्छा नहीं। इसे सर्वथा छोडदेना ही कल्याण-कारी है ॥१५०॥ इसप्रकार निश्चयकर धीर वीर महाराज अतिबलने अपने प्रियपुत्र महाबलका राज्याभिषेक किया और उसे अपना सब राज्य समर्पण करादिया ॥ १५१ ॥ तदनंतर महाराज अतिबल

सर्वस्वमदितातिबलस्तदा ॥ १५१ ॥ ततो गज इवापेतबंधनो निःसृतो गृहात् । बहुभिः खेचरैः सार्द्धं दीक्षां स समुपाददे ॥ १५२ ॥ जिगीषु बलवद्गुप्त्या समित्या च सुसंवृतं । महानागफणारत्नामिव चान्यैर्दुरासदं ॥ १५३ ॥ नाभिकालोद्भवत्कल्पतरुजालमिवांबरैः । भूषणैश्च परित्यक्तमपेतं दोषवत्तया ॥ १५४ ॥ उदर्कसुखहेतुत्वाद् गुरूणामिव सद्वचः । नियतावासशून्यत्वात्पततामिव मंडलं ॥ १५५ ॥ विषादभयदैन्यादिहानेः सिद्धास्पदोपमं । क्षमाधारतया वातवलयस्थितिमुद्वहन् ॥ १५६ ॥ निःसंगत्वादिवाभ्यस्तपरमाणुविचेष्टितं । निर्वाणसाधनत्वाच्च रत्नत्रयमिवा-

---

घरसे इसप्रकार निकले जैसे बंधनसे छूटकर हाथी निकलता हो। बनमें जाकर अनेक विद्याधरोंके साथ उन्होंने दीक्षा ग्रहण की ॥ १५२ ॥ तत्पश्चात् महाराज अतिबलमुनि घोर तपश्चरण करने लगे। उनका वह तपश्चरण मानों शत्रुको जीतनेवाली एक सेनाके समान था। सेना जिसप्रकार गुप्ति अर्थात् बरछा आदि शस्त्रोंसे सुसज्जित रहती है तथा समिति अर्थात् समूहरूप रहती है उसीप्रकार उनका तपश्चरण भी तीन गुप्ति और पांच समितियोंसे शोभायमान था, अथवा यों कहना चाहिये कि उनका वह तपश्चरण महासर्पके फणमें लगे हुये रत्नकी प्राप्तिके समान अति कठिन था क्योंकि अन्य साधारणजन ऐसा घोर तपश्चरण नहीं कर सकते ॥ १५३ ॥ तथा उनका वह तपश्चरण दोषरहित था और नाभिराजाके समय उत्पन्न होनेवाले वस्त्राभूषणरहित कल्पवृक्षोंके समान मालूम होता था ॥ १५४ ॥ अथवा यों कहिये कि वह तपश्चरण सद्गुरुके बचनोंके समान प्रतिभास होता था। जिसप्रकार सद्गुरुके बचन आगामीकालमें सुख देनेवाले होते हैं उसीप्रकार वह तपश्चरण भी आगामीकालमें मोक्षादिके सुख देनेवाला था। वे मुनि पक्षियोंके समान एक जगह कभी निवास नहीं करते थे ॥ १५५ ॥ उनके तपश्चरणमें न तो विषाद था न भय था और न दीनता आदि दोष थे इसलिये वह तपश्चरण सिद्धोंके निवासस्थानके समान मालूम होता था। और उत्तमक्षमाका आधार होनेसे क्षमा अर्थात् पृथ्वीको धारण करनेवाले वातवलयके समान था ॥ १५६ ॥ अथवा उनका वह तपश्चरण बाह्य आभ्यंतर परिग्रह रहित था इसलिये

मलं ॥ १५७ ॥ सोऽप्युदारगुणं भूरितेजोभासुरमूर्जितं । पुण्यं जैनेश्वरं रूपं दधत्तेपे चिरं तपः ॥ १५८ ॥ ततः कृताभिषेकोऽसौ बलशाली महाबलः । राज्यभारं दधे नम्रखेचराऽभ्यर्चितक्रमः ॥ १५९ ॥ स दैवबलसंपन्नः कृतधीर्वीरचेष्टितः । दोर्बलं प्रथयामास संहरन्द्विषतां बलं ॥१६०॥ मंत्रशक्त्या परिध्वस्तसामर्थ्यास्तस्य विद्विषः । महाहय इवाभूवन्विक्रियाविमुखास्तदा ॥ १६१ ॥ तस्मिन्नारूढमाधुर्ये दधुः प्रीतिं प्रजादृशः । चूतद्रुम इव स्वादुसुपक्वफलशालिनि ॥ १६२ ॥ नात्यर्थमभवत्तीक्ष्णो न चातिमृदुतां दधे । मध्यमां वृत्तिमाश्रित्य स जगद्वशमानयत् ॥ १६३ ॥

वह निःसंग अर्थात् किसीमें न मिले हुये परमाणुके समान था । तथा वह मोक्षका कारण था इसलिये वह निर्मल रत्नत्रयके समान था ॥ १५७ ॥ उनके उस तपश्चरणमें अनेक उदार गुण थे, और अपने प्रतापसे वह अत्यंत दैदीप्यमान था । वे अतिबलमुनि संचय किये हुये पुण्यके समान और साक्षात् श्रीजिनेंद्रदेवके रूपके समान दिगंबरता धारणकर चिरकालतक तपश्चरण करते रहे ॥ १५८ ॥ इसप्रकार अतिबलके दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् उसका पुत्र बलशाली महाबल राज्यभार ग्रहण करके राज्य करने लगा । अनेक विद्याधर अतिशय नम्र होकर उसके चरणकमलोंकी सेवा किया करते थे ॥ १५९ ॥ वह भाग्यशाली अतिशय बुद्धिमान था । उसकी सब क्रियायें वीरपुरुषोंके समान थीं । शत्रुओंकी सेनाका नाश करता हुआ वह सदा अपनी भुजाओंका पराक्रम दिखाया करता था ॥१६०॥ जिसप्रकार मंत्रशक्तिके प्रभावसे बड़े बड़े सर्प भी निरुपाय हो जाते हैं उसीप्रकार महाबलकी मंत्रशक्तिके प्रभावसे भी उसके समस्त शत्रुओंकी सामार्थ्य नष्ट हो जाती थी ॥१६१॥ जिसप्रकार पके हुये स्वादिष्ट फलोंसे शोभायमान आम्रवृक्षपर सबकी दृष्टि लालायित होकर प्रेमयुक्त पड़ती है, उसीप्रकार राजा महाबलमें माधुर्यादि अनेक गुणोंके होनेसे उसपर सब प्रजाकी दृष्टि प्रेमयुक्त ही पड़ती थी ॥ १६२ ॥ वह राजा न तो किसीकेलिये कठोर था और न किसीकेलिये अतिशय कोमल ही था किंतु मध्यमवृत्ति धारण करके उसने संपूर्ण जगतको बश करलिया था ॥ १६३ ॥ जिसप्रकार ग्रीष्मऋतुकी उड़ती हुई

उभयेऽपि द्विषस्तेन शमिता भूतिमिच्छता । कालादौद्धत्यमायाता जलदेनेव पांसवः ॥ १६४ ॥ सिद्धिर्धर्मार्थकामानां नावाधिष्ट परस्परं । तस्य प्रयोगनैपुण्यादुंधुभूयमिवागताः ॥ १६५ ॥ प्रायेण राज्यमासाद्य भवंति मदकर्कशाः । नृपेभाः स तु नामाद्यत्प्रत्युतासीत्प्रसन्नधीः ॥ १६६ ॥ वयसा रूपसंपत्त्या कुलजात्यादिभिः परे । भजंति मदमस्यैते गुणाः प्रशममादधुः ॥ १६७ ॥ राज्यलक्ष्म्याः परं गर्वमुद्वहंति नृपात्मजाः । कामविद्येव निर्मोक्षोः साऽभूत्तस्योपशांतये ॥ १६८ ॥ अन्यायध्वनिरुत्सन्नः पाति तस्मिन्सुराजनि । प्रजानां भयसंक्षोभाः स्वप्नेऽप्यासन्न जातुचित् ॥ १६९ ॥

धूलिको बादल शांत कर देता है उसीप्रकार समृद्धि चाहनेवाले उस राजाने समयानुसार उद्धत हुये अंतरंग (कामक्रोधादि) और बाह्य दोनों प्रकारके शत्रुओंको दमन कर दिया था ॥१६४॥ वह महाबल राजा धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थोंका बराबर सेवन करता था परंतु इन तीनोंमेंसे परस्पर किसी का घात नहीं होता था। जिससे ऐसा प्रतिभास होता था मानों इसके कार्योंकी चतुरतासे ये तीनों ही परस्पर मित्रता धारण करके यहां आये हैं ॥१६५॥ राज्य पाकर राजारूपी हाथी प्रायः मदोन्मत्त हो जाते हैं परंतु यह महाबल राज्य पाकर मदोन्मत्त नहीं हुआ था किंतु सदा उत्तम विचारोंपर आरूढ़ रहता था॥ १६६ ॥ अन्य राजा लोग जवानी, रूप, ऐश्वर्य, कुल, जाति आदि गुणोंसे उन्मत्त हो जाते हैं परंतु इसराजाके ये सब गुण प्रच्छन्न थे। किसीके सामने प्रगट नहीं होते थे ॥१६७॥ प्रायः राजपुत्र राज्यसंपदा पाकर अतिशय अहंकार करने लगते हैं परंतु वह राज्य पाकर भी सदा शांत रहता था। जैसे कि मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनि कामविद्यासे भी सदा निर्विकार और शांत रहते हैं ॥ १६८ ॥ राजा महाबलके सुराज्यमें 'अन्याय' यह शब्द ही नष्ट हो गया था। भय और क्षोभ प्रजाको कभी स्वप्नमें भी दिखाई नहीं पड़ते थे ॥ १६९ ॥ वह राजा अपने गुप्तचर (गुप्त रीतिसे जगह जगह फिरकर खबर लेनेवाले दूत) और विचारोंसे ही सब राज्यकार्य देखता था किंतु नेत्रोंसे नहीं । नेत्र तो केवल उसके मुखकी शोभाकेलिये थे अथवा सुंदर दृश्य देखनेके लिये थे ॥१७०॥ जिस समय उसका यौवन प्रारंभ हुआ था उस

चक्षुश्चारो विचारश्च तस्यासीत्कार्यदर्शने । चक्षुषी पुनरस्यास्यमंडने दृश्यदर्शने ॥ १७० ॥ अथास्य यौवनारंभे रूपमासीज्जगत्प्रियं । पूर्णस्येव शशांकस्य दधतः सकलाः कलाः ॥ १७१ ॥ अदृश्यो मदनोऽनंगो दृश्योऽसौ चारुविग्रहः । तदस्य मदनो दूरमौपम्यपदमत्यगात् ॥ १७२ ॥ तस्याभादालिसंकाशमृदुकुंचितमूर्द्धजं । शिरो विन्यस्तमुकुटं मेरोः कूटमिवाश्रितं ॥ १७३ ॥ ललाटमस्य विस्तीर्णमुन्नतं रुचिमादधे । लक्ष्म्या विश्रांतये क्लृप्तमिव हैमं शिलातलं ॥ १७४ ॥ भ्रूरेखे तस्य रेजाते कुटिले भृशमायते । मदनस्यास्त्रशालायां धनुषोरिव यष्टिके ॥ १७५ ॥ चक्षुषी रेजतुस्तस्य भ्रूचापोपांतवर्त्तिनी । विषमेषोरिवाशेषाजिगीषोरिषुयंत्रके ॥ १७६ ॥ स कर्णपालिके चारू रत्नकुंडलमंडिते । श्रुतांगनासमा-

---

समय इसका रूप जगतको अतिशय प्रिय था संपूर्ण कलाओंको धारण करता था। इसलिये ठीक पूर्णचंद्रमाके समान मालूम होता था ॥ १७१ ॥ राजाका शरीर भी अतिशय सुंदर था सुंदरतामें उपमा कामदेवकी दी जाती है परंतु कामदेव अदृश्य होगया जिससे ऐसा मालूम होता है मानो कामदेव अपनेको इस राजाके शरीरकी उपमाके योग्य न समझ कर ही लज्जा वश अदृश्य होगया है ॥१७२॥ उसराजाके मस्तकपर भ्रमरके समान काले, कोमल और घूंघरवाले बाल थे ऊपरसे मुकुट लगा हुआ था । जिससे वह मस्तक ऐसा मालूम होता था मानों काले आकाशमें सुवर्णमय मेरुपर्वतका शिखर ही हो ॥१७३॥ उस राजाका ललाट ऊंचा और विस्तीर्ण होनेसे बहुत ही सुंदर था जिससे ऐसा प्रतिभास होता था मानों लक्ष्मीके विश्राम करनेकेलिये एक सुवर्णमय शिला ही बनाई हो ॥ १७४ ॥ उसकी लंबी और कुटिल भोंहें बड़ी ही सुशोभित थीं और ऐसी मालूम पड़ती थीं मानों कामदेवकी अस्त्रशालामें ये ही दोनों धनुष बनानेकी लकड़ी हों ॥ १७५ ॥ भोंहरूपी चापके समीपदेशमें रहनेवाले उसके दोनों नेत्र बड़े ही सुंदर थे और वे ऐसे मालूम पड़ते थे मानों संपूर्ण जगतको जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवके बाण चलानेके यंत्र ही हों ॥ १७६ ॥ तथा रत्न जड़ित कुंडलोंसे सुशोभित उसके दोनों कर्ण ऐसे मालूम होते थे मानों सरस्वती देवीके झूलनेकेलिये दो झूले ही पड़े हों ॥ १७७ ॥ दोनों नेत्रोंके बीचमें लंबी और ऊंची

क्रीडलीलांदोलायिते दधौ ॥ १७७ ॥ दधेऽसौ नासिकावंशं तुंगं मध्ये विलोचनं । तद्वृद्धिस्पर्द्धरोधार्थं बद्धं सेतुमिवायतं ॥ १७८ ॥ मुखमस्य लसद्दंतदीप्तिकेसरमाबभौ । महोत्पलमिवामोदशालि दंतच्छदच्छदं ॥ १७९ ॥ पृथुवक्षो बभारासौ हाररोचिर्जलप्लवं । धारागृहमिवोदारं लक्ष्म्या निर्वापणं परं ॥१८०॥ सकेयूररुचावंसौ तस्य शोभामुपेयतुः । क्रीडाद्री रुचिरौ लक्ष्म्या विहारायेव निर्मितौ ॥ १८१ ॥ युगायतौ बिभर्त्ति स बाहू चारुतलांकितौ । स सुराग इवोदग्रविटपौ पल्लवोज्ज्वलौ ॥ १८२ ॥ गंभीरनाभिकं मध्यं स वली ललितं दधौ । महाब्धिरिव सावर्त्तं सतरंगं च सैकतं ॥ १८३ ॥ घनं च जघनं तस्य मेखलादामवेष्टितं । बभौ वेदिकया जंबूद्वीपस्थलमिवावृतं ॥ १८४ ॥ रंभास्तंभनिभावूरू स धत्ते स कन-

---

उसकी नाक ऐसी शोभायमान थी मानों परस्परकी स्पर्द्धासे बढ़नेवाले दोनों नेत्रोंके रोकनेकेलिये बीचमें पुल ही बांध दिया हो ॥१७८॥ उसराजाका मुख सुगंधितकमलके समान शोभायमान था। जिसमें दांतोंकी किरणें ही केसर थी और ओठ ही जिसके पत्ते थे ॥ १७९ ॥ हारसे सुशोभित उसका विस्तीर्ण वक्षःस्थल ऐसा मालूम होता था, मानों जलसे भरा हुआ विस्तीर्ण और उत्कृष्ट लक्ष्मीका स्नान करनेका घर ही बनाया गया हो ॥ १८० ॥ उसके दोनों कंधे केयूरकी (भुजबंधकी) कांतिसे बड़े ही सुशोभित थे। वे ऐसे मालूम पड़ते थे मानों लक्ष्मीके विहार करनेकेलिये दो सुंदर क्रीड़ापर्वत ही बनाये गये हों ॥१८१॥ कल्पकालके समान लंबी और सुंदर हथेलीसहित उसकी दोनों भुजायें ऐसी सुंदर थीं मानो उज्ज्वल पल्लवसहित कल्पवृक्षकी दो बड़ी २ शाखा ही हों ॥१८२॥ उस बली गंभीर राजाका नाभिसहित मध्यभाग ऐसा शोभायमान था मानों तरंगसहित भंवर और बालूके टीलोंसे समुद्र शोभायमान होता है ॥ १८३ ॥ करधनीसे घिरा हुआ और घनीभूत उसका जघनभाग ऐसा मनोहर दिखता था मानो वेदिकासे घिरा हुआ जंबूद्वीप ही शोभायमान हो ॥ १८४ ॥ सुवर्णकी कांतिके समान कांतिको धारण करनेवाले तथा कदलीस्तंभके समान उसके दोनों उरु (जंघाके ऊपरी भाग) ऐसे शोभायमान थे मानो स्त्रियोंके दृष्टि-रूपी बाण चलानेकेलिये दो निशाने ही खड़े किये गये हों ॥ १८५ ॥ और उसकी दोनों सुंदर जंघायें

दृढ़ृती । कामिनीदृष्टिबाणानां लक्ष्याविव निवेशितौ ॥१८५॥ वज्रशाणास्थिरे जंघे सोऽधत्त रुचिराकृती । मनोजजैत्रबाणानां निशानायेव कल्प्यते ॥ १८६ ॥ पदतामरसद्वंद्वं लसदंगुलिपत्रकं । नखांशुकेसरं दध्रे लक्ष्म्याः कुलगृहायितं ॥ १८७ ॥ इत्यस्य रूपमुद्भूतनवयौवनविभ्रमं । कागनीयकमैकध्यमुपनीतमिवाबभौ ॥१८८॥ न केवलमसौ रूपशोभयैवाजयज्जगत् । व्यजेष्ट मंत्रशक्त्यापि वृद्धसंयोगलब्धया ॥ १८९ ॥ तस्याऽभूवन्महाप्रज्ञाश्चत्वारो मंत्रिपुंगवाः । बहिश्चरा इव प्राणाः सुस्निग्धा दीर्घदर्शिनः ॥ १९० ॥ महामतिश्च संभिन्नमतिः शतमतिस्तथा । स्वयंबुद्धश्च राज्यस्य मूलस्तंभा इव स्थिराः ॥ १९१ ॥ स्वयंबुद्धोऽभवत्तेषु सम्यग्दर्शनशुद्धधीः । शेषा मिथ्यादृशस्तेऽमी सर्वे स्वामिहितोद्यताः ॥ १९२ ॥ चतुर्भिः स्वै-

---

वज्रकेसमान स्थिर और मजबूत थीं। जिनसे ऐसा मालूम होता था मानों उसकी वे दोनों जंघायें कामदेवके विजय प्राप्त करनेवाले बाणोंको तीक्ष्ण करनेकेलिये दो शाण ही बनाये गये हों ॥१८६॥ उसके दोनों चरण दो कमलोंके समान भासते थे। अंगुली ही जिनमें पत्ते थे और नखोंकी किरणें ही जिनमें केसर थी जिससे ऐसे मालूम होते थे मानों लक्ष्मीके निवास करनेकेलिये कुल परंपरासे चले आये दो घर ही हों ॥१८७॥ इसप्रकार महाबल राजाका रूप बहुत ही सुंदर था उसके रूपमेंसे नवयौवनके विलास निरंतर उत्पन्न होते रहते थे। जिससे ऐसा प्रतिभास होता था मानों सब जगहकी सुंदरता यहांपर इकट्ठी हुई हो ॥ १८८ ॥ उस राजाने केवल अपने रूपकी अद्भुत शोभासे ही जगतको जीतलिया हो ऐसा नहीं था किंतु वृद्ध (अनुभवी) पुरुषोंके संगतिसे प्राप्त हुई मंत्रशक्तिके प्रभावसे भी उसने समस्त जगतको जीत लिया था ॥१८९॥ उसके चार उत्तम मंत्री थे वे चारों ही बड़े विद्वान् और दीर्घदर्शी थे। उनपर राजाका अतिशय प्रेम था जिससे ऐसा मालूम पड़ता था मानों वे चारों ही मंत्री राजाके बाह्य प्राण हों ॥ १९० ॥ उनके नाम क्रमसे महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध थे। ये चारों ही मंत्री उसराज्यके स्थिर मूलस्तंभके समान थे ॥ १९१ ॥ उन चारोंमें स्वयंबुद्ध नामका मंत्री शुद्ध सम्यग्दृष्टी था और अन्य तीनों मंत्री मिथ्यादृष्टी थे। यद्यपि उनमें इसप्रकारका मतभेद था परंतु स्वामीके हितसाधन करने

रमात्यैस्तैः पादैरिवं सुयोजितैः । महाबलस्य तद्राज्यं पप्रथे समवृत्तवत् ॥१९३॥ स मंत्रिभिश्चतुर्भिस्तैः कदाचिच्च समं त्रिभिः । द्वाभ्यामेकेन वा मंत्रमविसंवादिनाऽभजत् ॥१९४॥ स्वयं निश्चितकार्यस्य मंत्रिणोऽस्यानुशंसनं । चक्रुः स्वयंप्रबुद्धस्य जिनस्येवामरोत्तमाः ॥१९५॥ न्यस्तराज्यभरस्तेषु सः स्त्रीभिः खचरोचितान् । बुभुजे सुचिरं भोगान्नभोगानामधीशिता ॥ १९६ ॥ मृदुसुरभिसमीरैः सांद्रमंदारवीथीपरिचयसुखशीतैर्धूतसंभोगखेदः।

में वे चारों ही सदा उद्यत रहते थे ॥ १६२ ॥ वे चारों ही मंत्री उस राज्यके चारपांवके समान थे । उन चारों मंत्रियोंसे राजा महाबलका वह राज्य उत्तम आचरणोंके समान अतिशय विस्तृत हुआ था ॥१६३॥ राजा महाबल कभी चारों मंत्रियोंके साथ कभी तीन मंत्रियोंके साथ कभी दो मंत्रियोंके साथ और कभी यथार्थवादी एक स्वयंबुद्ध मंत्रीके साथ अपने राज्यका विचार किया करता था ॥ १६४ ॥ वह राजा भी स्वयं प्रबुद्ध था अर्थात् स्वयं राज्यके सब कार्य वह विचार लेता था । जब वह किसी कार्यका निश्चय कर लेता था तब वे मंत्री आकर केवल उस विचारे हुये कार्यकी प्रशंसामात्र ही करते थे, जैसे कि तीर्थंकर देव जिससमय स्वयं विरक्त हो जाते थे तब लौकांतिक देव आकर केवल उनके वैराग्यकी प्रशंसामात्र ही करते हैं । भावार्थ-राजा महाबलके विचार इतने सुदृढ़ और प्रबलयुक्तिवाले थे कि उन्हें कोई भी मंत्री बदल नहीं सकता था ॥ १९५ ॥ अनेक विद्याधरोंका स्वामी वह राजा महाबल उन चारों मंत्रियोंको अपने राज्यका भार सोंपकर अनेक स्त्रियोंके साथ चिरकालतक विद्याधरोंके योग्य भोगोपभोगोंका सेवन कर रहा था ॥ १६६ ॥ जो उपवनोंके प्रदेश कामदेवके निवासस्थानको भी जीतते थे, जो साक्षात् नंदन बनके समान थे, जिनमें पास पास अनेक घनीभूत मंदार नामके वृक्ष लग रहे थे उन वृक्षोंके मध्यवर्त्ती मार्गमें अतिशय सुख देनेवाली शीतल मंद सुगंधित पवन आ रही थी जो कि राजा महाबलके संभोग-जनित खेदको बहुत शीघ्र नष्ट कर देती थी, ऐसे उपवनके प्रदेशोंमें वह राजा महाबल अपनी स्त्रियोंके साथ वार वार विहार किया करता था ॥१९७॥ उसके पुण्यकर्मके उदयसे अनेक विद्याधर आकर उसकेलिये

मुहुरुपवनदेशान्नंदनोद्देशदेश्यान् जितमदननिवेशान्स्त्रीसहायः स भेजे ॥ १९७ ॥। इति सुकृतविपाकादानमत्खेचरोद्यन्मकुटमकरिकाग्रस्पृष्टपादारविंदः । चिरमरमत तास्मिन्खेचराद्रौ सुराद्रौ । सुरपतिरिव सोऽयं भाविभास्वज्जिनश्रीः ॥ १९८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे श्रीमहाबलाऽभ्युदयवर्णनं नाम चतुर्थं पर्व ॥ ४ ॥

नमस्कार करते थे। उससमय उनके उठेहुये मुकुटोंमें सुवर्णके बने हुये जो मगर मत्स्य आदिकी मूर्तियां जड़ी हुई थीं उनके अग्रभागसे राजा महाबलके चरणकमल बारंबार स्पर्श किये जाते थे। तथा जिसकी शोभा आगामी कालमें होनेवाले तीर्थंकरकी शोभाके समान थी ऐसा वह राजा महाबल मेरुपर्वतपर क्रीड़ा करनेवाले इंद्रके समान विजयार्द्ध पर्वतपर अनेक दिनों तक क्रीड़ा करता हुआ राज्य करता था ॥१९८॥

इसप्रकार श्रीभगवज्जिनसेनाचार्य विरचित संस्कृतमहापुराणके नवीनहिंदीभाषानुवादमें राजामहाबलका अभ्युदय वर्णनवाला चतुर्थ पर्व समाप्त॥ ४ ॥



❀ अथ पंचमं पर्व ❀

छंद॥ चदथ तस्याऽऽसीद्वर्षवृद्धिदिनोत्सवः । मंगलैर्गीतवादित्रनृत्यारंभैश्च संभृतः ॥ १ ॥ सिंहासने तमासीनं तदानीं खचराऽधिपं । दुधुवुश्चामरैर्वारनार्यः क्षीरोदपांडुरैः ॥ २ ॥ मदनद्रुममंजर्यो लावरायांभोधिवीचयः । सौंदर्यकलिका रेजुस्तरुण्यस्तत्समीपगाः ॥ ३ ॥ पृथुवक्षः-स्थलच्छन्नपर्यंतैर्मकुटोज्ज्वलैः । खगेंद्रैः परिवव्रेऽसौ गिरिराज इवाद्रिभिः ॥ ४ ॥ तस्य वक्षःस्थले हारो नीहारांशुसमद्युतिः । बभासे हिमव-

---

पांचवां पर्व ।

तदनंतर किसी एक दिन राजा महाबलका जन्मदिन आया। वर्षगांठका उत्सव होने लगा। मंगल गीत, वादित्र नृत्य आदि अनेक प्रकारसे आनंद मनाया जाने लगा ॥ १ ॥ उस समय विद्याधरोंका स्वामी राजा महाबल सिंहासनपर विराजमान था। अनेक वारांगनायें उसपर क्षीरसमुद्रके जलके समान स्वेत चमर ढाल रहीं थीं ॥ २ ॥ उसके समीप खड़ी हुई वे तरुण स्त्रियां ऐसी मालूम होती थीं मानों कामदेवरूपी वृक्षकी मंजरियां ही हों अथवा लावण्यरूपी समुद्रकी तरंगें हीं हों अथवा सुंदरताकी कलियां ही हों ॥ ३ ॥ महाराज महाबलके चारों ओर बड़े २ वक्षःस्थलवाले और उज्ज्वल मुकुटोंसे शोभायमान अनेक विद्याधर बैठे हुये थे, उनके मध्यभागमें विराजमान राजा महाबल ऐसा शोभायमान था जैसे अनेक पर्वतोंके मध्यभागमें सुमेरुपर्वत शोभायमान होता है ॥४॥ उसके वक्षःस्थलपर जो हिमकी किरणोंके समान उज्ज्वल और स्वेत हार पड़ा था, वह ऐसा मालूम होता था मानो हिमवन् पर्वतके शिखरपरसे पानीका स्वेत निर्झरना ही गिरता हो ॥ ५ ॥ जैसे जलकाकके इधर उधर हंसोंकी पंक्ति विस्तीर्ण आकाशमें शोभायमान होती है उसीप्रकार राजा महाबलके वक्षःस्थलपर इंद्रनीलमणि सहित

त्सानौ प्रपतन्निव निर्झरः ॥ ५ ॥ तद्वक्षसि पृथाविंद्रनीलमध्यमणिर्बभौ । कंठिका हंसमालेव व्योम्नि दात्यूहमध्यगा ॥ ६ ॥ मंत्रिणश्च तदाऽमात्यसेनापतिपुरोहिताः । श्रेष्ठिनोऽधिकृताश्चान्ये तं परीत्याऽवतस्थिरे ॥ ७ ॥ स्मितैः संभाषितैः स्थानैर्दानैः संमाननैरपि । तानसौ तर्पयामास वीक्षितैरपि सादरैः ॥ ८ ॥ स गोष्ठीर्भावयन्भूयो गंधर्वादिकलाविदां । स्पर्द्धमानांश्च तान्पश्यन्नुपश्रोतृसमक्षतः ॥ ९ ॥ सामंतप्रहितान्दूतान्द्वाःस्थैरानीयमानकान् । संभावयन्यथोक्तेन संमानेन पुनः पुनः ॥ १० ॥ परचक्रनरेंद्राणामानीतानि महत्तमैः । उपायनानि संपश्यन्यथास्वं तांश्च पूजयन् ॥ ११ ॥ इत्यसौ परमानंदमातन्वन्नद्भुतोदयः । यथेष्टं मंत्रिवर्गेण सहास्तानंदमंडपे ॥ १२ ॥ तं तदा प्रीतमालोक्य स्वयंबुद्धः समिद्धधीः

श्वेत मोतियोंकी माला भी सुशोभित हो रही थी ॥ ६ ॥ उस समय राजा महाबलके चारों ओर मंत्री अमात्य सेनापति पुरोहित शेठ तथा अन्य सब अधिकारी लोग बैठे हुये थे ॥ ७ ॥ वह राजा किसीके साथ हंसकर, किसीके साथ संभाषणकर, किसीको यथायोग्य स्थान देकर, किसीको दान देकर, किसीका सन्मानकर, किसीको देखकर और किसीका आदर सत्कारकर उन आये हुये समस्त सभासदोंको संतुष्ट कर रहा था ॥ ८ ॥ गंधर्व आदि अनेक कलाओंके जाननेवालोंकी मंडलीका भी वह बार बार अनुभव करता जाता था। वह मंडली सब सभाके सामने जो परस्पर स्पर्द्धा कर रही थी उसे भी देखता जाता था ॥ ९ ॥ अन्य राजा लोगोंने जो अपने प्रतिष्ठित राजदूत भेजे थे द्वारपालके द्वारा उन्हें बुलवा कर तथा यथायोग्य उनका आदर सत्कारकर बार बार संतुष्ट करता था ॥ १० ॥ बराबरीवाले अन्य राजाओंने अपने प्रतिष्ठित पुरुषोंके द्वारा जो भेट भेजी थी उसे भी देखता जाता था। तथा भेट लानेवालोंका यथायोग्य सत्कार भी करता जाता था ॥११॥ इस प्रकार अतिशय भाग्यशाली वह राजा महाबल आनंदमंडपमें परम आनंद मनाता हुआ अपने इष्ट मंत्रियोंके साथ विराजमान था ॥ १२ ॥ उस समय अतिशय बुद्धिमान् स्वयंबुद्ध मंत्रीने राजाको अतिप्रसन्न देखकर केवल अपने स्वामीका हित करनेके लिये इष्ट और मिष्ट वाणीसे नीचे लिखे वाक्य कहे ॥ १३ ॥ स्वयंबुद्ध कहने लगा-हे प्रभो ! हे विद्याधरों-

स्वामिने हितमित्युच्चैरभाषिष्टेष्टमृष्टवाक् ॥ १३ ॥ इतः शृणु खगाधीश वक्ष्ये श्रेयोऽनुबंधि ते । वैद्याधरीमिमां लक्ष्मीं विद्धि पुण्यफलं विभो ॥१४॥ धर्मादिष्टार्थसंपत्तिस्ततः कामसुखोदयः । स च संप्रीतये पुंसां धर्मात्सैषा परंपरा ॥ १५ ॥ राज्यं च संपदो भोगाः कुले जन्म सुरूपता । पांडित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत्फलं विदुः ॥ १६ ॥ न कारणाद्विना कार्यनिष्पत्तिरिह जातुचित् । प्रदीपेन विना दीप्तिर्दृष्टपूर्वा किमु क्वचित् ॥ १७ ॥ नांकुरः स्याद्विना बीजाद्विना वृष्टिर्न वारिदात् । छत्राद्विनापि न छाया विना धर्मान्न संपदः ॥ १८ ॥ नाऽधर्मात्सुखसंप्राप्तिर्न विषादस्ति जीवितं । नोषरात्सस्यनिष्पत्तिर्नाग्नेराल्हादनं भवेत् ॥ १९ ॥ यतोऽभ्युदयनिः श्रेयसार्थसिद्धिः सुनिश्चिता । स धर्मस्तस्य धर्मस्य विस्तरं शृणु

के स्वामी जरा इधर सुनिये मैं आपके पुण्यसंबधी कुछ वचन कहना चाहता हूं । हे प्रभो ! आपको जो यह विद्याधरोंकी इतनी विभूति प्राप्त हुई है वह केवल पुण्योदयसे ही हुई है ॥ १४ ॥ हे देव इस संसारमें धर्मसे इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होनेसे इच्छानुसार सुख मिलता है और इच्छानुसार सुख मिलनेसे ही मनुष्य प्रसन्न रहते हैं । यह परंपरा केवल धर्मसे ही सिद्ध होती है ॥ १५ ॥ राज्य, संपदायें और भोगोपभोगकी प्राप्ति होना, उत्तम कुलमें उत्पन्न होना, सुंदरता और पांडित्यका प्राप्त होना, पूर्ण आयु और नीरोग शरीरका मिलना आदि सब धर्मका ही फल समझिये ॥ १६ ॥ हे प्रभो ! जिस प्रकार बिना कारणके कभी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, बिना दीपकके आजतक कभी किसीने प्रकाश नहीं देखा, बीजके विना अंकुर उत्पन्न नहीं होता ! बिना बादलके वृष्टि नहीं होती और बिना छत्रके छाया नहीं होती, उसी प्रकार बिना धर्मके कभी सुख संपदायें प्राप्त नहीं होती हैं ॥ १७-१८ ॥ जैसे विष खानेसे जीवन नहीं रहता, ऊषर भूमिसे अन्न उत्पन्न नहीं होते, और अग्निसे प्रसन्नता (शीतलता) प्राप्त नहीं होती, उसी प्रकार अधर्मसे कभी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १९ ॥ जिससे स्वर्ग मोक्षादि के सुख अवश्य ही प्राप्त हों, उसे धर्म कहते हैं । हे राजन् ! मैं उसी धर्मका कुछ वर्णन करता हूं आप सुनिये ॥ २० ॥ धर्म वही कहलाता है जो दयासे उत्पन्न हो और संपूर्ण जीवोंके प्राणोंपर कृपा करना ही

सांप्रतं ॥ २० ॥ दयामूलो भवेद्धर्मो दया प्राणानुकंपनं । दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्तिताः ॥ २१ ॥ धर्मस्य तस्य लिंगानि दमः क्षांतिरहिंसता । तपो दानं च शीलं च योगो वैराग्यमेवच ॥ २२ ॥ अहिंसा सत्यवादित्वमचौर्यं त्यक्तकामता । निष्परिग्रहता चेति प्रोक्तो धर्मः सनातनः ॥ २३ ॥ तस्माद्धर्मफलं ज्ञात्वा सर्वं राज्यादिलक्षणं । तदार्थिना महाभाग धर्मे कार्या मतिः स्थिरा ॥ २४ ॥ धीमन्निमां चलां लक्ष्मीं शाश्वतीं कर्तुमिच्छता । त्वया धर्मोऽनुमंतव्यः सोऽनुष्ठेयश्च शक्तितः ॥ २५ ॥ इत्युक्त्वाथ स्वयंबुद्धे स्वामिश्रेयोऽनुबंधिनि । धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च वचो विरतिमीयुषि ॥ २६ ॥ ततस्तद्वचनं सोढुमशक्तो दुर्मतोद्धतः । द्वितीयः सचिवो वाचमित्युवाच महामतिः ॥ २७ ॥ भूतवाद-मथालंब्य स लौकायतिकीं श्रुतिं । प्रस्तुवञ्जीवतत्त्वस्य दूषणे मतिमातनोत् ॥ २८ ॥ सति धर्मिणि धर्मस्य घटते देव चिंतनं । स एव तावन्ना-

---

दया है इस दयाकी रक्षा करनेकेलिये ही उत्तमक्षमा आदि अन्य संपूर्ण गुण कहे गये हैं ॥ २१ ॥ इंद्रियोंका दमन करना, उत्तम क्षमा धारण करना, हिंसाका त्याग करना, तप, दान, शील, ध्यान और वैराग्य ये सब दयारूप धर्मके चिन्ह हैं ॥ २२ ॥ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्यका धारण करना, और परिग्रहका त्याग करना ये सब सनातन (अनादिकालसे चला आया) धर्म कहलाता है ॥२३॥ हे महाभाग! राज्य आदिकी प्राप्ति होनेके लिये अपनी बुद्धि सदा धर्ममें स्थिर रखना चाहिये ॥२४॥ हे धीमन् यह लक्ष्मी चंचल है यदि आप इसे स्थिर करना चाहते हैं तो इसे अहिंसादिरूप धर्मको स्वीकार कीजिये तथा अपनी शक्तिके अनुसार इसे पालन कीजिये ॥ २५ ॥ अपने स्वामीका कल्याण चाहनेवाला स्वयंबुद्ध मंत्री इस-प्रकार धर्म, अर्थ और यशके बढ़ानेवाले बचन कहकर चुप होगया ॥२६॥ परंतु स्वयंबुद्धके इन बचनोंको मिथ्यामतसे उद्धत दूसरा महमति नामका मंत्री सहन न कर सका इसलिये वह तत्काल ही नीचे लिखे वाक्य कहने लगा ॥ २७ ॥ महामति मंत्री केवल भूतवादका आश्रय लेकर लौकायित मतके शास्त्रोंको पुष्ट करता हुआ प्रथम ही जीवतत्त्वके अस्तित्वमें दोष देने लगा अर्थात् प्रथम ही जीवतत्त्वका अभाव सिद्ध करने लगा ॥२८॥ वह महामति मंत्री राजा महाबलको संबोधन पूर्वक कहने लगा कि हे राजन्! किसी धर्मी के

स्त्वात्मा कुतो धर्मफलं भवेत् ॥ २९ ॥ पृथिव्यप्पवनाग्नीनां संघातादिह चेतना । प्रादुर्भवति मद्यांगसंगमान्मदशक्तिवत् ॥ ३० ॥ ततो न चेतना कायतत्त्वात्पृथगिहास्ति नः । तस्यास्तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेः खपुष्पवत् ॥ ३१ ॥ ततो न धर्मः पापं वा परलोकश्च कस्यचित् । जलबुद्बुदवज्जीवा

सिद्ध होनेपर उसके धर्मका विचार किया जाता है। यदि कोई धर्मी पदार्थ सिद्ध ही न ठहरे तो फिर धर्म का विचार करना व्यर्थ है। इस संसारमें जीव कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं है फिर उसे धर्मका फल किस प्रकार मिल सकता है ॥ २९ ॥ जैसे जल गुड़ महुआ आदि पदार्थोंके मिलनेसे मद्य तैयार हो जाता है अर्थात् मादकशक्ति न तो जलमें है न गुड़में है और न महुआमें हैं किंतु इनके मिलानेसे उत्पन्न हो जाती है। ठीक इसीप्रकार पृथ्वी जल तेज वायु इन चारों पदार्थोंके मिलनेसे ही जीव उत्पन्न हो जाता है। यदि वास्तवमें देखा जाय तो चेतनाशक्ति पृथ्वी जल तेज वायु इन चारों पदार्थोंमेंसे किसीमें भी नहीं है किंतु इन चारोंके यथायोग्य संयोग होनेसे मद्यके समान वह उत्पन्न हो जाती है ॥ ३० ॥ इस लिये मानना चाहिये कि वह चेतनाशक्ति पृथ्वी जल तेज वायुसे बने हुये इस हमारे शरीरसे पृथक् नहीं है। क्योंकि वह चेतमा शरीरके सिवाय कहीं दूसरी जगह नहीं देखी जाती। संसारमें जो जो पृथक् पदार्थ नहीं देखे जाते हैं वे पृथक् माने भी नहीं जाते हैं जैसे—आकाशका फूल, अर्थात् संसार में आजतक किसीने भी आकाशका फूल नहीं देखा है इसलिये उसे पृथक् पदार्थ भी कोई नहीं मानता। ठीक इसीप्रकार शरीरसे भिन्न चेतना शक्ति भी आजतक किसीने नहीं देखी, इसलिये वह भी कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। वह केवल शरीरके साथ ही देखी जाती है और शरीर पृथ्वी जल तेज वायु-रूप है इसलिये वह चेतनाशक्ति भी इन चारोंके संयोगसे ही उत्पन्न हुई है ॥ ३१ ॥ जब चेतना शक्तिरूप जीव कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं है तब किसी का पुण्य पाप और परलोक आदि भी सिद्ध नहीं हो सकता। इन जीवोंका जब शरीर नष्ट हो जाता है तब ये भी जलके बबूलेके समान उसी-

विलीयंते तनुक्षयात् ॥ ३२ ॥ तस्माद्दृष्टसुखं त्यक्त्वा परलोकसुखार्थिनः । व्यर्थक्लेशा भवंत्येते लोकद्वयसुखच्युताः ॥ ३३ ॥ तदेषां परलोकार्था समीहा क्रोष्टुरामिषं । त्यक्त्वा मुखागतं मोहान्मीनाशोत्पतनायते ॥ ३४ ॥ पिंडत्यागाल्लिहंतीमे हस्तं प्रेत्यसुखेप्सया । विप्रलब्धाः समुत्सृष्टदृष्टभोगा विचेतसः ॥ ३५ ॥ स्वमते युक्तिमित्युक्त्वा विरते भूतवादिनि । विज्ञानमात्रमाश्रित्य प्रस्तुवञ्जीवनास्तितां ॥ ३६ ॥ संभिन्नो वादकंडूयाविजृंभितमथोद्वहन् । स्मितं स्वमतसंसिद्धिमित्युपन्यस्यति स्म सः ॥ ३७॥ जीववादिन्न ते कश्चिज्जीवोऽस्त्यनुपलब्धितः । विज्ञप्तिमात्र-

---

में विलय हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि पृथ्वी जल तेज वायुके संबंधसे शरीर बनता है और उसीमें जीवत्वशक्ति उत्पन्न होती है। जब उनका संयोग विघट जाता है तब शरीर भी नष्ट हो जाता है और उसके साथ २ जीवत्वशक्ति भी नष्ट हो जाती है॥३२॥ इसलिये जो पुरुष उपस्थित सुखोंको छोड़कर परलोकके सुख चाहते हैं वे दोनों लोकोंके सुख छोड़ते हैं और व्यर्थ ही क्लेश सहन करते हैं क्योंकि वे वर्त्तमानके सुख छोड़कर तपश्चरणादि करते हैं किंतु परलोक कोई पृथक् वस्तु न होनेसे उसके सुख उन्हें मिलते नहीं, इसलिये उन्हें दोनों लोकोंके सुख छोड़ने पड़ते हैं और व्यर्थ ही तपश्चरणादि कायक्लेश सहन करने पड़ते हैं॥३३॥ इसलिये वर्त्तमान सुखोंको छोड़कर परलोकके सुखोंकी इच्छा करना ऐसा है जैसे अत्यंत लुब्ध होकर मछलीको पकड़नेकी इच्छासे शृगाल मुखका मांस पानीमें बहाकर पछताता है ॥ ३४ ॥ जो लोग उपस्थित सुखोंको छोड़कर परलोकके सुख चाहते हैं वे थालीमें परोसे हुये भोजनोंको छोड़कर केवल हाथ चाटनेवाले मूर्खके समान वंचित होते हैं ॥ ३५ ॥ इसप्रकार अपना मत स्थापन करनेकेलिये अनेक युक्तियां देकर भूतवादी वह महामति मंत्री चुप होगया। तदनंतर बाद करनेकी खुजलीसे उत्पन्न हुये किंचित् हास्यको धारण करता हुआ संभिन्नमति तीसरा मंत्री भी केवल विज्ञानमात्रका आश्रय लेकर जीवका नास्तित्व सिद्ध करने लगा तथा अपने मतकी पुष्टि करने लगा॥३६॥ ॥ ३७ ॥ वह कहने लगा भो जीवको सिद्ध करनेवाले स्वयंबुद्ध ! आपका कहा हुआ जीव कोई पृथक्

मेवेदं क्षणभंगि यतो जगत् ॥ ३८ ॥ निरंशं तच्च विज्ञानं निरन्वयविनश्वरं । वेद्यवेदकसंवित्तिभागैर्भिन्नं प्रकाशते ॥ ३९ ॥ संतानावस्थिते-स्तस्य स्मृत्याद्यपि घटामटेत् । संवृत्या स च संतानः संतानिभ्यो न भिद्यते ॥४०॥ प्रत्यभिज्ञादिकं भ्रांतं वस्तुनि क्षणनश्वरे । यथा लूनपुनर्जा-

पदार्थ नहीं है क्योंकि वह दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि वह होता तो दृष्टिगोचर भी अवश्य होता। यह जगत केवल ज्ञानका विकार है क्योंकि वह क्षणभंगुर है। जो जो क्षणभंगुर होते हैं वे सब ज्ञानके विकार होते हैं यदि वे ज्ञानके विकार न होते स्वतंत्र पृथक् पदार्थ होते तो वे नित्य होने चाहिये परंतु संसारमें कोई नित्य पदार्थ ही नहीं हैं सब क्षणभंगुर हैं। इसलिये सब ज्ञानके विकारमात्र हैं॥ ३८॥ जगतके ये सब पदार्थ जिसके विकार हैं वह विज्ञान निरंश है उसके अंश वा टुकड़े नहीं हो सकते, तथा वह विना अपनी परंपरा उत्पन्न किये ही नष्ट हो जाता है और वेद्यवेदकज्ञानसे वह सर्वथा भिन्न है अर्थात् न तो वह किसी अन्य ज्ञानके द्वारा जाना जाता है और न वह किसीको जानता है वह एक क्षण रहकर ही पूर्ण रूपसे नष्ट हो जाता है ॥३९॥ परंतु ऐसा माननेसे एक प्रश्न उपस्थित होता है और वह यह है कि जब वह विज्ञान न वेद्य है न वेदक है और केवल क्षणमात्र रह कर नष्ट हो जाता है तब संसारमें किसीको कुछ भी स्मरण नहीं होना चाहिये। क्योंकि स्मरण स्थायी वा नित्य पदार्थोंका होता है। आपका माना हुआ विज्ञान स्थायी नहीं है इसलिये उससे स्मरण भी नहीं होना चाहिये। किंतु इस प्रश्नका उत्तर यह है कि नष्ट होनेसे पहले उस विज्ञानकी संतान उत्पन्न हो जाती है एक विज्ञान दूसरा संतान उत्पन्नकर नष्ट होता है और दूसरा विज्ञान तीसरी संतान उत्पन्नकर नष्ट होता है अर्थात् अपने सदृश दूसरा विज्ञान ऊत्पन्न होनेको संतान कहते हैं। इसप्रकार संतान प्रतिसंतान उत्पन्न होनेसे ज्ञान ज्योंका त्यों बना रहता है और फिर उसीसे स्मरणज्ञान उत्पन्न होता है। यहांपर इतना और समझलेना चाहिये कि वह संतान अपने संतानी विज्ञानसे भिन्न नहीं

तनखकेशादिषु क्वचित् ॥ ४१ ॥ विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च । पंचेंद्रियाणि शब्दाद्याः विषयाः पंच मानसं ॥४२॥ धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च । समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ॥ ४३ ॥ स चात्मात्मीयभावाख्यः समुदाय उदाहृतः । क्षणिकाः सर्वे संस्कारा इत्येवं वासना यकाः ॥ ४४ ॥ सन्मार्ग इह विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते । ततो विज्ञानसंतानव्यतिरिक्तो न कश्चन । जीवसंज्ञः पदा-

है किंतु अभिन्न है ॥४०॥ अब यहांपर कोई यह शंका करे कि नष्ट होनेसे पहले विज्ञानकी संतान प्रति-संतान उत्पन्न होनेसे स्मरणज्ञान तो उत्पन्न हो जाता है परंतु प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्व कालमें देखी वा अनुभव की हुई वस्तु सामने आनेसे 'यह वही है' ऐसा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्य-भिज्ञान कहते हैं । यह प्रत्यभिज्ञान क्षणभंगुर पदार्थमें वा उसकी संतान प्रतिसंतानमें उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि इसकेलिये वही पदार्थ अनेकक्षणस्थायी चाहिये । आपका माना हुआ विज्ञान अनेक क्षण स्थायी नहीं है इसलिये उससे प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता तो इसका समाधान यह है कि क्षणभंगुर पदार्थोंमें जो प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है वह केवल भ्रम है वास्तविक नहीं । क्योंकि जो नख और केश काट लिये जाते हैं तथा फिर बढ़ जाते हैं उनमें "ये वही नख केश हैं" ऐसा भ्रमरूप प्रत्यभिज्ञान होता है । जैसे यह प्रत्यभिज्ञान भ्रमरूप है वास्तविक नहीं उसीप्रकार क्षणिक पदार्थोंमें उत्पन्न हुआ प्रत्यभिज्ञान भी भ्रमरूप ही होता है वास्तविक नहीं ॥ ४१ ॥ विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार ये सब विज्ञानके ही रूप हैं । पांचों इंद्रियां तथा शब्द आदि पांचों इंद्रियोंके विषय मन और धर्मायतन (शरीर) ये बारह आयतन कहलाते हैं । संसारमें इन बारह आयतनोंसे ही संपूर्ण रागादिक उत्पन्न होते हैं ॥४२ ४३॥ इन आयतनोंसे उत्पन्न हुये रागादिकोंका समुदाय ही आत्मा कहा जाता है अर्थात् संसारमें आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नहीं है इन रागादिकोंका समुदाय ही आत्मा है। ये ऊपर कहे हुये विज्ञान आदि सब संस्कार क्षणिक हैं । क्षण क्षणमें नष्ट होते रहते हैं ॥ ४४ ॥ ऊपर कहे हुये आयतन आदिकोंका निरोध

र्थोऽस्ति प्रेत्यभावफलोपभुक् ॥ ४५ ॥ तदमुत्रात्मनो दुःखजिहासार्थं प्रयस्यतः । टिट्टिभस्येव भीतिस्ते गगनादापतिष्यतः ॥ ४६ ॥ इत्युदीर्य स्थिते तस्मिन्मंत्री शतमतिस्ततः । नैरात्म्यवादमालंब्य प्रोवाचेत्थं विकत्थनः ॥ ४७ ॥ शून्यमेव जगद्विश्वमिदं मिथ्यावभासते । भ्रांतेः स्वप्नेंद्रजालादौ हस्त्यादिप्रतिभासवत् ॥ ४८ ॥ ततः कुतोऽस्ति वां जीवः परलोकः कुतोऽस्ति वा । असत्सर्वमिदं यस्माद्गंधर्वनगरादिवत् ॥ ४९ ॥ अतोऽमी

हो जाना अर्थात् सबका केवल विज्ञानरूपसे रहना मोक्ष कहलाता है और यही सुमार्ग है। इसलिये वास्तविक मत (विज्ञानवादियोंका मत) यह ठहरा कि संसारमें जीव कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। वह केवल विज्ञानकी संतानमात्र है। जब जीव कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं है तो फिर परलोकके सुख भोगनेवाला भी कोई नहीं है॥ ४५ ॥ इसलिये जीवको माननेवाले जो पुरुष परलोकमें आत्माके दुःख दूर करनेकेलिये प्रयत्न करते हैं उनका वह परलोकसंबंधी भय ऐसा है जैसा टिड्डीको अपने ऊपर आकाश के पड़नेका भय रहा करता है। भावार्थ— जैसे टिड्डीको आकाशके पड़नेका भय मिथ्या है उसीप्रकार परलोकके दुःखोंका भय भी मिथ्या है। क्योंकि जीव कोई पृथक् पदार्थ है ही नहीं तब फिर दुःख किस को होगा॥ ४६ ॥ इसप्रकार विज्ञानवादी संभिन्नमति मंत्री अपना विज्ञानवादमत स्थापन करके चुप होगया। तदनंतर शतमति चौथा मंत्री अपनी प्रशंसा करता हुआ उठा और नैरात्म्यवादका (शून्यवादका) आश्रय लेकर इसप्रकार कहने लगा कि॥ ४७ ॥ यह संपूर्ण जगत शून्य है। इस जगतमें जो घट पट आदि पदार्थ देख पड़ते हैं वे सब मिथ्या हैं केवल भ्रांतिसे देख पड़ते हैं जैसे कि स्वप्नमें अथवा इंद्रजालमें केवल भ्रांतिसे हाथी घोड़े आदि देख पड़ते हैं॥ ४८ ॥ जब यह संसार शून्य है तब तुम्हारा जीव कैसा और परलोक कैसा। जीव परलोक दोनों ही मिथ्या हैं। जैसे—शरदऋतुके अनेक आकाररूप बने हुये बादलोंमें यह गंधर्वोंका नगर है इत्यादि कल्पना करना मिथ्या है॥ ४९ ॥ इसलिये जो पुरुष परलोकमें सुखी रहनेकेलिये तपश्चरण करते हैं अनेक अनुष्ठान करते हैं वे व्यर्थ ही अनेक क्लेश उठाया

परलोकार्थं तपोऽनुष्ठानतत्पराः । वृथैव क्लेशमायांति परमार्थानभिज्ञकाः ॥५०॥ घर्मारंभे मृगा यद्वद्दृष्ट्वा मरुमरीचिकाः । जलाशया ऽनुधावंति तद्वद्भोगार्थिनोऽप्यमी ॥ ५१ ॥ इत्युदग्राह्य कुदृष्टांतकुहेतुभिरपार्थकं । व्यरमत्सोऽप्यतो वक्तुं स्वयंबुद्धः प्रचक्रमे ॥ ५२ ॥ भूतवादिन्मृषा वक्ति स भवानात्मशून्यतां । भूतेभ्योऽव्यतिरिक्तस्य चैतन्यस्य प्रतीतितः ॥ ५३ ॥ कायात्मकं न चैतन्यं न कायश्चेतनात्मकः । मिथो विरुद्धधर्मत्वा-त्तयोश्चिदचिदात्मनोः ॥ ५४ ॥ कायचैतन्ययोर्नैक्यं विरोधिगुणयोगतः । तयोरंतर्बहीरूपनिर्भासाच्चासिकोशवत् ॥ ५५ ॥ न भूतकार्यं चैतन्यं

करते हैं वास्तवमें वे तत्त्वज्ञानरहित हैं ॥ ५० ॥ जैसे मरुदेशमें गर्मीके दिनोंमें हरिण दूरसे चमकती हुई बालूको पानी समझ दौड़ा करते हैं और व्यर्थ क्लेश सहन करते हैं ठीक उसीप्रकार भोगोपभोग चाहनेवाले ये जीव भी व्यर्थ ही तपश्चरण आदिके अनेक क्लेश सहन किया करते हैं ॥ ५१ ॥ इसप्रकार असद्धेतु और कुदृष्टांतोंके द्वारा ऊपर कहा हुआ सर्वथा व्यर्थ कथन कहकर वह शतमति मंत्री भी चुप हो गया । तदनंतर इन सबका उत्तर देनेकेलिये स्वयंबुद्धने फिर कहना प्रारंभ किया ॥५२॥ वह कहने लगा कि हे भूतवादी ! आप जो आत्माका अभाव सिद्ध कर रहे हैं सो यह आपका कहना सब मिथ्या है क्यों कि पृथिवी जल तेज वायु इनके सिवाय भी ज्ञान दर्शन रूप चैतन्य शक्तिकी प्रतीति सबको होती है॥५३॥ वह चैतन्य शरीररूप सिद्ध नहीं हो सकता और न शरीर ही चैतन्यरूप सिद्ध हो सकता है क्योंकि उन दोनोंका ही परस्पर विरुद्ध स्वभाव है चैतन्य ज्ञानस्वरूप है और शरीर जड़ है ॥ ५४ ॥ तथा शरीर और चैतन्य दोनों मिलकर एक भी नहीं हो सकते, क्योंकि दोनोंमें परस्पर विरोधी गुण रहते हैं, जिनमें परस्पर विरोधी गुण पाये जाते हैं वे जल और अग्निके समान कभी मिलकर एक नहीं हो सकते किंतु प्रतिभास (ज्ञान) काय और चैतन्य दोनोंका होता है । कायका प्रतिभास बाहरसे होता है और ज्ञानरूप चैतन्यका प्रतिभास शरीरके भीतर होता है । जैसे तलवारका म्यान बाहरसे दिखता है और प्रकाशमान तलवार उसके भीतर रहती है तथा जैसे तलवार और म्यान दोनों भिन्न २ हैं कभी एक नहीं हो

घटते तद्गुणोऽपि वा । ततो जात्यंतरीभावात्तद्विभागेन तद्ग्रहात् ॥ ५६ ॥ न विकारोऽपि देहस्य संविद्भवितुमर्हति । भस्मादितद्विकारेभ्यो वैध-र्म्यान्मूर्त्यनन्वयात् ॥ ५७ ॥ गृहप्रदीपयोर्यद्वत्संबंधो युतसिद्धयोः । आधाराधेयरूपत्वात्तद्वद्देहोपयोगयोः ॥ ५८ ॥ सर्वांगीणैकचैतन्यप्रतिभासाद-

सकते । इसीप्रकार शरीर और चैतन्य भी कभी एक नहीं हो सकते हैं ॥५५॥ आपने यह जो कहा है कि यह चैतन्य पृथिवी जल तेज वायुसे बनता है अथवा पृथिवी जल तेज वायुका गुण है सो भी संभव नहीं हो सकता क्योंकि दोनों ही भिन्न २ प्रकारके हैं। पृथिवी जल तेज वायु जड़ है और चैतन्य ज्ञानस्वरूप है। इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि पृथिवी आदिका ग्रहण केवल इंद्रियोंसे होता है और ज्ञानरूप चैतन्यका स्वरूप अतींद्रिय है ज्ञानमात्रसे ही जाना जाता है, इसलिये न तो चैतन्य पृथिवी आदिका कार्य है और न उनका गुण है ॥५६॥ कदाचित् यह कहा जाय कि वह चैतन्य शरीरका विकार है सो भी नहीं हो सकता। क्योंकि भस्म आदि शरीरके जितने विकार होते हैं उन सबसे यह चैतन्य विलक्षण है। यदि वह शरीरका विकार होता तो शरीरके किसी विकारसे अवश्य मिल जाता परंतु वह शरीरके सब विकारोंसे नहीं मिलता है तब वह शरीरका विकार भी नहीं हो सकता। इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि शरीरके जितने विकार हैं वे सब मूर्त्त हैं और चैतन्य अमूर्त्त है । इसकारण भी वह चैतन्य शरीरका विकार सिद्ध नहीं हो सकता ॥५७॥ शरीर आत्माका संबंध ऐसा है जैसे घर और दीपकका होता है। जैसे घर पृथक् पदार्थ सिद्ध है और दीपक पृथक् पदार्थ सिद्ध है घर आधार है और दीपक आधेय है यदि घर और दीपक पृथक् २ पदार्थ न होते तो उन दोनोंका आधाराधेयभाव भी नहीं हो सकता था क्योंकि आधाराधेयभाव पृथक् सिद्ध पदार्थोंका ही होता है। इससे सिद्ध हुआ कि शरीर और आत्मा भिन्न २ पदार्थ हैं यदि वे भिन्न २ नहीं होते तो उनका घरदीपकके समान संबंध नहीं हो सकता था ॥ ५८ ॥

बाधितात् । प्रत्यंगप्रविभक्तेभ्यो भूतेभ्यः संविदो भिदा ॥ ५९ ॥ कथं मूर्तिमतो देहाच्चैतन्यमतदात्मकं । स्याद्धेतुफलभावो हि न मूर्तामूर्त्तयोः क्वचित् ॥ ६० ॥ अमूर्त्तमक्षविज्ञानं मूर्त्तादक्षकदंबकात् । दृष्टमुत्पद्यमानं चेन्नास्य मूर्त्तत्वसंगरात् ॥ ६१ ॥ बंधं प्रत्येकतां बिभ्रदात्मा मूर्त्तेन कर्मणा । मूर्त्तः कथंचिदात्मो ऽपि बोधः स्यान्मूर्त्तिमानतः ॥ ६२ ॥ कायाकारेण भूतानां परिणामोऽन्यहेतुकः । कर्मसारथिमात्मानं व्यतिरिच्य स

दूसरी बात यह है कि शरीरके संपूर्ण अंग उपांगोमें यह चैतन्य प्रतिभासमान होता है। अंग उपांग सब भिन्न २ हैं और चैतन्य सबमें एकसा प्रतिभासमान होता है तब फिर वह चैतन्य शरीरसे भिन्न क्यों न माना जाय ? अर्थात् वह अवश्य शरीरसे भिन्न है। पृथिवी जल तेज वायु प्रत्येक अंग उपांगमें भिन्न २ हैं और चैतन्य सबमें एक है इसलिये वह चैतन्य पृथिवी आदिसे भी सर्वथा भिन्न पदार्थ है॥५६॥ इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि शरीर मूर्त्तिमान् पदार्थ है जिसमें रूप रस गंध स्पर्श ये गुण पाये जांय उसे मूर्त्तिमान् कहते हैं। चैतन्यमें रूप रस गंध स्पर्श पाये नहीं जाते, इसलिये वह अमूर्त्त है। मूर्त्तसे अमूर्त्तकी उत्पत्ति हो नहीं सकती इसलिये सिद्ध हुआ कि मूर्त्तिमान् शरीरसे अमूर्त्त चैतन्यकी उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती ॥ ६० ॥ कदाचित् आप (भूतवादी) यह कहें कि मूर्त्तसे भी अमूर्त्तकी उत्पत्ति होती है जैसे इंद्रियां सब मूर्त्तिमान् हैं उनसे जो ऐंद्रियिक ज्ञान उत्पन्न होता है वह अमूर्त्त है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि मूर्त्तिमान् इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ ऐंद्रियिक ज्ञान भी मूर्त्तीक ही है ॥६१॥ इसका भी कारण यह है कि यह आत्मा मूर्त्त कर्मोंके साथ बंधको प्राप्त होकर उनके साथ एकरूप हो गया है। इसलिये कथंचित् यह आत्मा भी मूर्त्तीक ही कहा जाता है जब आत्मा ही कथंचित् मूर्त्तीक कहा जाता है तो इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ उस मूर्तीक आत्माका ज्ञान भी मूर्त्तीक ही कहा जायगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूर्त्तिमान् इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान भी मूर्त्तीक है तथा मूर्त्तसे अमूर्त्तकी उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती ॥ ६२॥ एक बात यह भी विचारणीय है कि पृथिवी जल तेज वायु जो शरीररूप परिणत हुये हैं वे अवश्य ही

को ऽपरः ॥६३॥ अभूत्वा भवनाद्देहे भूत्वा वा भवनात्पुनः । जलबुद्बुदवज्जीवं मामंस्थास्तद्विलक्षणं ॥ ६४ ॥ शरीरं किमुपादानं संविदः सहकारि वा । नोपादानमुपादेयाद्विजातीयत्वदर्शनात् ॥६५॥ सहकारीति चेदिष्टमुपादानं तु मृग्यतां । सूक्ष्मभूतसमाहारस्तदुपादानमित्यसत् ॥६६॥ ततो भूतमयाद्देहाद्व्यतिभिन्नं स्वलक्षणं । जीवद्रव्यमुपादानं चैतन्यस्येति गृह्यतां ॥ ६७ ॥ एतेनैव प्रतिक्षिप्तं मदिरांगनिदर्शनं । मद्यांगेष्व-

किसी न किसीके निमित्तसे हुये हैं। किसी अन्य निमित्तके विना भिन्न २ पृथिवी आदिके एक विलक्षण और चारोंके समुदायरूप शरीरके आकार कभी परिणत नहीं हो सकते। यदि उस निमित्तपर विचार किया जायगा तो कर्मसहित आत्माके सिवाय अन्य कोई नहीं हो सकता। यह कर्मसहित संसारी आत्मा ही पृथिवी आदिको शरीररूप परिणत कर लेता है ॥६३॥ यदि कहो कि यह जीव पहले नहीं था शरीरके साथ उत्पन्न हुआ है तथा शरीर नाश होनेके बाद वह नष्ट हो जायगा इसलिये वह जलके बबूलेके समान हैं। जैसे जलका बबूला जलसे उत्पन्न होता है और जलमें ही नष्ट हो जाता है उसीप्रकार वह जीव भी शरीरसे ही उत्पन्न हुआ है और उसीमें नष्ट हो जाता है। इसप्रकार मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि जीव ज्ञानस्वरूप है शरीर जड़ है। इसलिये मानना पड़ेगा कि वह जीव शरीरसे विलक्षण और भिन्न है ॥ ६४ ॥ यदि यह भी मानलिया जाय कि चैतन्य शरीरसे उत्पन्न होता है तब यह विचार करना चाहिये कि वह शरीर चैतन्यका उपादान कारण है या सहकारी कारण है। उपादान कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि उसका चैयन्य ज्ञानस्वरूप है और शरीर जड़ है चैतन्यका उपादान कारण जड़ नहीं हो सकता क्योंकि यह नियम है कि जैसा उपादान कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। इससे सिद्ध हुआ कि शरीर चैतन्यका उपादान कारण नहीं है ॥ ६५ ॥ कदाचित् उसे सहकारी कारण मानो तो ठीक है जब शरीर चैतन्यका सहकारी कारण है तब फिर उसका उपादान कारण कौन है यह विचार करना चाहिये। कदाचित् यह कहो कि पृथिवी जल तेज वायुका सूक्ष्मभूत संयोग ही चैतन्यका उपादान

विरोधिन्या मदशक्तेर्विभावनात् ॥ ६८ ॥ सत्यं भूतोपसृष्टोऽयं भूतवादी कुतोऽन्यथा । भूतमात्रमिदं विश्वमभूतं प्रतिपादयेत् ॥ ६९ ॥ पृथिव्यादिष्वनुद्भूतं चैतन्यं पूर्वमस्ति चेत् । नाचेतनेषु चैतन्यशक्तेर्व्यक्तमनन्वयात् ॥ ७० ॥ आद्यंतौ देहिनां देहौ न विना भवतस्तनू । पूर्वोत्तरे संविद-

कारण है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि पृथिवी जल तेज वायु इनके संयोग रूप शरीरसे वह ज्ञानस्वरूप चैतन्य भिन्न ही प्रतिभासमान होता है । यदि इन चारों पदार्थोंका संयोग ही उपादान कारण माना जाय तो जो जड़ता आदि गुण चारोंके संयोगमें हैं वे ही चैतन्यमें होने चाहिये परंतु चैतन्यमें वे गुण हैं नहीं । इसलिये चैतन्यका उपादान कारण पृथिवी आदि चारोंका संयोग भी नहीं हो सकता है । किंतु उस चैतन्यका उपादान कारण पृथ्वी आदि के समूह रूप शरीरसे सर्वथा भिन्न ऐसा जीव द्रव्य ही मानना पडेगा । जीव द्रव्य ही उसका उपादान कारण हो सकता है । अन्य कोई नहीं । ॥ ६६–६७ ॥ इस उपर्युक्त कथनसे यह भी सिद्ध होगया कि भूतवादीने जो पुष्प गुड पानी आदिके मिलनेसे मदशक्तिके उत्पन्न होनेका दृष्टांत दिया था वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि मद्यके कारण पुष्प गुड पानी आदि भी जड़ हैं और उनसे उत्पन्न हुई मादकशक्ति भी जड़ है । दोनों ही अविरोधी हैं शरीर और चैतन्यके समान विजातीय और विरोधी नहीं है। इसलिये यह बिषम दृष्टांत होनेसे युक्तिसंगत नहीं है ॥ ६८ ॥ यदि देखाजाय तो वास्तवमें यह भूतवादी भूतपिशाचोंसे ग्रसित हुआ जान पड़ता है क्योंकि यदि वह पिशाचग्रसित न होता तो वह इस संसारको जीवरहित केवल पृथिवी जल तेज वायुरूप ही कैसे कहता ॥ ६९ ॥ कदाचित् भूतवादी यह कहे कि जिस पृथिवी जल वायुसे शरीर बनता है उसमें पहलेसे ही वह चैतन्यशक्ति अव्यक्तरूपसे रहती है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि पाषाण आदि अचेतन पदार्थोंमें चैतन्यशक्ति कभी किसीने नहीं देखी ॥ ७० ॥ इससे सिद्ध हुआ कि जीव कोई भिन्न

धिष्ठानत्वान्मध्यदेहवत् ॥ ७१ ॥ देहौ तौ यत्र तं विद्धि परलोकमसंशयं । तद्वांश्च परलोकी स्यात्प्रेत्यभावफलोपभुक् ॥ ७२ ॥ जात्यनुसरणाज्जीवगतागतविनिश्चयात् । आप्तोक्तिसंभवाच्चैव जीवास्तित्वविनिश्चयः ॥ ७३ ॥ अन्यप्रेरितमेतस्य शरीरस्य विचेष्टितं । हिताहिताभिसंधानार्थं-

---

पदार्थ है और ज्ञान ही उसका लक्षण है। इस शरीरमें उसका आस्तित्व ज्ञानसे ही पहिचाना जाता है जन्म होते ही इसे दूध पीने आदिका स्मरण होता है वह स्मरण बिना पूर्व अनुभवके हो नहीं सकता क्योंकि कोई भी स्मरण बिना पूर्वअनुभवके नहीं होता है । इसलिये मानना पड़ेगा कि जन्म लेनेसे पहिले भी इस जीवका कोई शरीर थां, यदि वह न होता तो इस शरीरमें जन्म होते ही स्मरण आदि नहीं होना चाहिये परंतु वह स्मरण सबको होता है। इसलिये जन्मसे पहिले भी सशरीर जीव था। तथा इसीप्रकार वर्त्तमान शरीर छोडनेके बाद भी यह जीव कोई न कोई शरीर धारण करेगा। क्योंकि ऐंद्रियिकज्ञानसहित आत्मा बिना शरीरके रह नहीं सकता जैसे ज्ञानाधिष्ठित वर्त्तमान शरीर है उसीप्रकार ज्ञानाधिष्ठित आगामी शरीर भी होना चाहिये ॥ ७१ ॥ तथा वर्त्तमान शरीरसे पहिले इस जीवका जो शरीर था और आगामी कालमें जो शरीर वह धारण करेगा बस वही इस जीवका परलोक है और उन शरीरोंमें रहनेवाला आत्मा ही परलोकी गिना जाता है तथा वही परलोकी आत्मा परलोकसंबंधी पुण्य पापोंके फल भोगा करता है ॥ ७२ ॥ इसके सिवाय इस जीवको कभी २ जातिस्मरण हुआ करता है अर्थात् इसे पूर्वभवके सब विषयोंका स्मरण हो जाता है तथा यह जीव आता है जाता है अर्थात् जन्म लेता है मरता है इससे निश्चय होता है कि जीव कोई पृथक् पदार्थ अवश्य है। इन सब हेतुओंके सिवाय श्रीवीतराग सर्वज्ञने जीवका अस्तित्व कहा है। इससे भी जीवकी सिद्धि निरावाध होती है। क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ रागद्वेषरहित होनेसे तथा संपूर्ण पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाननेसे कभी अन्यथा नहीं कह सकते

त्रस्यैव विचेष्टितं ॥ ७४ ॥ चैतन्यं भूतसंयोगाद्यदि चेत्थं प्रजायते । पिठरे रंधनायाधिश्रिते स्यात्तत्समुद्भवः ॥ ७५ ॥ इत्यादिभूतवादीष्टमतदूषण संभवात् । मूर्खप्रलपितं तस्य मतमित्यवधार्यतां ॥ ७६ ॥ विज्ञप्तिमात्रसंसिद्धिर्न विज्ञानादिहास्ति ते । साध्यसाधनयोरैक्यात्कुतस्तत्त्वविनिश्चि-

---

इसलिये मानना पड़ेगा कि जीव कोई पृथक् पदार्थ अवश्य है ॥ ७३ ॥ जिसप्रकार किसी यंत्रकी प्रेरणासे अचेतन पदार्थोंमें भी हलन चलनादि क्रिया हुआ करती है उसीप्रकार इस शरीरमें जो गमन आगमन आदि क्रिया हुआ करती हैं वह भी किसीकी प्रेरणासे होनी चाहिये । क्योंकि अचेतन शरीरमें वह क्रिया बिना किसी प्रेरणाके नहीं हो सकती । इसके सिवाय वह क्रिया हिताहितरूप होती है सुख दुःखादिके अनुभव करनेरूप होती है । ऐसी क्रिया न तो अचेतन पदार्थमें स्वयं हो सकती है और न किसी अन्य अचेतनकी प्रेरणासे हो सकती है किंतु इस क्रियाका प्रेरक कोई ज्ञानवान् ही होना चाहिये और वह केवल जीव ही हो सकता है । शरीरकी हिताहितरूप गमन आगमनादि क्रियायें सब उसीके निमित्तसे होती हैं ॥ ७४ ॥ यदि केवल पृथिवी जल तेज वायुके संयोगसे ही चैतन्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो जिस समय दाल या भातका पाक होता है उससमय बटलोईमें पृथिवी जल तेज वायु चारोंका संयोग विद्यमान है फिर वहां भी चैतन्यकी उत्पत्ति होनी चाहिये परंतु वहां चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं होती । इसलिये अवश्य मानना पड़ेगा कि पृथिवी जल तेज वायुके संयोगसे चैतन्यकी उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती ॥ ७५ ॥ इस उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि इस भूतवादीका माना हुआ मत अनेक देषोंसे भरा हुआ है । इसलिये अब यह निश्चय मानलेना चाहिये कि यह भूतवादियोंका मत निरे मूर्खोंका कहा हुआ है इसमें कुछ सार नहीं है ॥ ७६ ॥ इसप्रकार भूतवादीका मत खंडन करके स्वयंबुद्ध मंत्री विज्ञानवादीसे कहनेलगा कि आप इस जगतको केवल

तिः ॥ ७७ ॥ विज्ञानव्यतिरिक्तस्य वाक्यस्येह प्रयोगतः । बहिरर्थस्य संसिद्धिर्विज्ञानं तद्वचोऽपि चेत् ॥ ७८ ॥ किं केन साधितं तत्स्यान्मूर्ख

विज्ञानमात्र मानते हैं। विज्ञानके सिवाय अन्य कोई पदार्थ नहीं मानते परंतु केवल विज्ञानसे ही विज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि साध्यसाधन दोनों ही एक हो जाते हैं विज्ञान ही साध्य होता है और विज्ञान ही उसका साधन पड़ता है। जहां साध्यसाधन दोनों एक होते हैं वहां किसी पदार्थका निश्चय नहीं हो सकता। इसलिये केवल विज्ञानसे विज्ञानकी सिद्धि होना असंभव है ॥७७॥ इसके सिवाय एक बात यह भी है कि इस संसारमें बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि वाक्योंसे होती है। यदि वाक्य न मानेजांयगें तो घट पट आदि बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि ही नहीं हो सकेगी और इनकी सिद्धि हुये बिना संसारका सब व्यवहार बंद हो जायगा। इसलिये वाक्योंकी सत्ता अवश्य माननी पड़ेगी, तथा वे वाक्य विज्ञानसे भिन्न हैं। इसलिये संसारमें एक विज्ञान ही नहीं किंतु विज्ञानके सिवाय वाक्योंकी सत्ता भी अवश्य माननी पड़ेगी। कदाचित् यह कहो कि वे वाक्य भी विज्ञान ही हैं विज्ञानसे भिन्न नहीं हैं सो कह नहीं सकते, क्योंकि वे वाक्य विज्ञानसे भिन्न न माने जायं तो संसारमें विज्ञानकी सिद्धि भी किसकेद्वारा की जायगी? अर्थात् "यह संसार विज्ञानमय ही है विज्ञानके सिवाय इसमें और कुछ नहीं है" इसकी सिद्धि भी तो वाक्योंसे ही की जाती है इसलिये वाक्योंको विज्ञानमय नहीं मान सकते, विज्ञानसे भिन्न ही मानने पड़ेंगे। इसके सिवाय यह भी विचार करना चाहिये कि यदि संसारमें एक निरंश (विभागरहित) विज्ञान ही माना जायगा तो ग्राह्यग्राहक भाव किसप्रकार सिद्ध होगा। विज्ञान ग्राहक है सब पदार्थोंको ग्रहण करता है अर्थात् जानता है, परंतु बिना पदार्थोंके वह किसको ग्रहण करेगा? यदि वह किसीको ग्रहण नहीं करेगा तो वह ग्राहक अर्थात् जाननेवाला विज्ञान कैसे कहा जायगा? इसलिये विज्ञानको सिद्ध

विज्ञप्तिमात्रकं । कुतो ग्राह्यादिभेदोऽपि विज्ञानैक्ये निरंशके ॥ ७९ ॥ विज्ञप्तिर्विषयाकारशून्या न प्रतिभासते । प्रकाश्येन विना सिद्ध्येत्ल्वचित्किं नु प्रकाशकं ॥ ८० ॥ विज्ञप्त्या परसंवित्तेर्ग्रहः स्याद्वा न वा तव । तद्ग्रहे सर्वविज्ञाननिरालंबनताक्षतिः ॥ ८१ ॥ तदग्रहेऽन्यसंतानसाधने का

करनेकेलिये ग्राह्य पदार्थोंको भी अवश्य मानना पड़ेगा । ग्राह्य पदार्थोंको स्वीकार किये विना ग्राहक विज्ञानकी सिद्धि कभी नहीं हो सकती इससे द्वैतभाव ही सिद्ध होता है ॥७८–७९॥ संसारमें जो ज्ञानका प्रतिभास होता है उसमें उस ज्ञानका विषय भी अवश्य रहता है । प्रकाशित होनेवाले विषयके विना ज्ञानका प्रतिभास कभी नहीं हो सकता । क्या कभी प्रकाशित होनेवाले पदार्थोंके विना प्रकाशकरनेवाले किसी पदार्थकी सिद्धि हो सकती है ? कभी नहीं । भावार्थ–जैसे दीपक वा सूर्य घट पट आदि पदार्थोंको प्रकाशित करता है इसलिये उसे प्रकाशक कहते हैं यदि वह किसी अन्य पदार्थको प्रकाशित न करे तो उसे घटके समान प्रकाशक नहीं कह सकते । इसीप्रकार यदि ज्ञानके विषयभूत घट पट आदि पदार्थ न माने जांयगे तो विज्ञान किन्हें जानेगा, बिना किसी पदार्थके जाने उसे विज्ञान कैसे कह सकते हैं । इसलिये विज्ञान माननेवालोंको घट पट आदि पदार्थ भी अवश्य मानने पडेंगे इनके माने बिना विज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ८० ॥ इसके सिवाय इस बातपर भी विचार करना चाहिये कि आपके मतमें एक विज्ञानसे दूसरे विज्ञानका ग्रहण होता है या नहीं । यदि कहोगे एक विज्ञानसे परविज्ञानका ग्रहण होता है तो वह आपका माना हुआ विज्ञान निरालंब नहीं ठहरा अर्थात् आपका माना हुआ विज्ञान अन्यको भी ग्रहण करता है इसलिये संसारमें वह अद्वैतरूपसे एक ही नहीं है किंतु ग्राह्यग्राहकरूपसे उभयरूप है । इसप्रकार भी यह जगत विज्ञानमय है ऐसा आपका मत नहीं ठहरता है । कदाचित् यह कहो कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञानको ग्रहण नहीं करता है तब फिर आपके मतमें विज्ञानकी

गतिस्तव । अनुमानेन तत्सिद्धौ ननु बाह्यार्थसंस्थितिः ॥ ८२ ॥ विश्वं विज्ञप्तिमात्रं चेद्वाग्विज्ञानं मृषाखिलं । भवेद्बाह्यार्थशून्यत्वात्कुतः सत्येतरस्थितिः ॥ ८३ ॥ ततोऽस्ति बहिरर्थोऽपि साधनादिप्रयोगतः । तस्माद्विज्ञप्तिवादोऽयं बालालपितपेशलः ॥ ८४ ॥ शून्यवादेऽपि शून्यत्वप्रति-

संतान सिद्ध करनेके लिये क्या उपाय होगा ? अर्थात् विज्ञानकी संतान बराबर उत्पन्न होती रहती है यह किससे सिद्ध होगा। क्योंकि विज्ञानकी संतान भी विज्ञानमय है उसे दूसरा विज्ञान ग्रहण नहीं करता। इसलिये उसके सिद्ध करनेकेलिये अवश्य ही कोई प्रमाण मानना पडेगा। कदाचित् अनुमानसे उसे सिद्ध करो तो घट पट आदि बाह्य पदार्थोंकी स्थिति भी अवश्य माननी पड़ेगी। क्योंकि जब साध्यसाधनरूप अनुमान ही मानलिया तो फिर उससे सिद्ध होनेवाले घट पट आदि पदार्थ भी अवश्य मानने पड़ेंगे ॥ ८१-८२ ॥ यदि यह संसार केवल विज्ञानमय ही हो तो फिर वाक्योंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान भी सब मिथ्या मानना पड़ेगा। क्योंकि संसारमें घट पट आदि बाह्य पदार्थ तो हैं नहीं। जब वाच्यरूप बाह्य पादर्थ ही नहीं है तो उनके वाचक वाक्य कहांसे हो सकते हैं ? इसलिये वाच्यरूप पदार्थोंके समान उनके वाचक वाक्य भी मिथ्या हैं और उनसे उत्पन्न हुआ विज्ञान भी मिथ्या होनेसे सत्य असत्य की कल्पना भी नहीं हो सकती अर्थात् यह सत्य है यह असत्य है यह कल्पना भी नहीं हो सकती। ऐसी अवस्थामें यह संसार विज्ञानमय है यह कल्पना भी सत्य नहीं ठहर सकती और इसप्रकार आप का मत क्षणभर भी नहीं ठहर सकता ॥ ८३ ॥ तथा जब आप साधनआदिको स्वीकार करते हैं तब साधनसे भिन्न साध्य भी स्वीकार करना पड़ेगा तथा साध्य घट पट आदि बाह्यपदार्थ ही पड़ेंगे तब आपको सब पदार्थ स्वीकार करने पड़ेंगे। ऐसी अवस्थामें यह आपका माना हुआ विज्ञानवाद केवल बालकोंकी बोलीके समान मनोहर होगा। भावार्थ-जैसे बालकोंकी बोली मीठी तो लगती है परंतु वह

पादि वचस्तव । विज्ञानं चास्ति वा नेति विकल्पद्वयकल्पना ॥ ८५ ॥ वाग्विज्ञानं समस्तीदमिति हंत हतो भवान् । तद्वत्कृतत्वस्य संसिद्धेरन्यथा शून्यता कुतः ॥ ८६ ॥ तदस्यालपितं शून्यमुन्मत्तविरुतोपमं । ततोऽस्ति जीवो धर्मश्च दयासंयमलक्षणः ॥ ८७ ॥ सर्वज्ञोपज्ञमेवैतत्तत्त्वं तत्त्वविदां मतं। आप्तंमन्यमतान्यन्यान्यवहेयान्यतो बुधैः ॥८८॥ इति तद्वचनाज्जाता परिषत्सकलैव सा। निरारेकात्मसद्भावे संप्रीतश्च सभापतिः॥

निःसार और निष्प्रयोजन होती है। इसीप्रकार आपका माना हुआ यह विज्ञानवाद भी निःसार और निष्प्रयोजन ठहरेगा ॥ ८४ ॥ इसप्रकार विज्ञानवादीका मत खंडनकर स्वयंबुद्ध मंत्री शून्यवादीसे कहने लगा कि आप जो इस संसारको शून्य मानते हैं सो आपके मतमें शून्यत्वको प्रतिपादन करनेवाले वाक्य हैं या नहीं और उन वाक्योंसे यह संसार शून्य है ऐसा ज्ञान होता है या नहीं ऐसी दो कल्पनायें आपके मतमें उत्पन्न होती हैं ॥ ८५ ॥ इन कल्पनाओंके उत्तरमें कदाचित् आप यह कहें कि शून्यताको प्रतिपादन करनेवाले वाक्य हैं और उन वाक्योंसे ज्ञान भी होता है तो दुःखके साथ कहना पड़ता है कि आप खूब फंसे क्योंकि जैसे आपने वाक्य और विज्ञान माने हैं उसीप्रकार जीवादि पदार्थ भी मानने पड़ेंगे। यदि वाक्य और विज्ञान न मानेंगे तो शून्यता किसप्रकार सिद्ध हो सकेगी इसलिये शून्यता सिद्ध करनेकेलिये वाक्यविज्ञान मानने पड़ेंगे और जब वाक्यविज्ञान मानेंगे तो शून्यता नहीं ठहर सकती ॥८६॥ ऐसी अवस्थामें आपका यह शून्यवादका प्रतिपादन करना उन्मत्तपुरुषके रोनेके समान व्यर्थ है। इसलिये यह अवश्य मानना होगा कि जीव भी कोई पृथक् पदार्थ है तथा दया संयमको प्रतिपादन करनेवाला धर्म भी अवश्य है ॥ ८७ ॥ तत्त्वज्ञ पुरुष उन्हीं तत्त्वोंको मानते हैं जो वीतराग सर्वज्ञके कहे हुये हैं। जो पुरुष वीतराग सर्वज्ञ तो नहीं है किंतु अपनेको आप्त मानते हैं उनके कहे हुये तत्त्वोंको विद्वान् लोग कभी स्वीकार नहीं करते उन्हें वे सदा त्याज्य ही समझते हैं ॥८८॥ इसप्रकार जब स्वयंबुद्ध मंत्रीने आत्माका अस्तित्व

॥ ८९ ॥ परवादिनगास्तेऽपि स्वयंबुद्धवचोऽशनेः । निष्ठुरापातमासाद्य सद्यः प्रम्लानिमागताः ॥ ९० ॥ पुनः प्रशांतगंभीरे स्थिते तस्मिन्सदस्यसौ । दृष्टश्रुतानुभूतार्थसंबंधीदमभाषत ॥ ९१ ॥ शृणु भोस्त्वं महाराज्ञ वृत्तमाख्यानकं पुरा । खेंद्रोऽभूदरविंदाख्यो भवद्वंशशिखामणिः ॥ ९२ ॥ स इमां पुण्यपाकेन शास्ति स्म परमां पुरीं । उद्वृत्तप्रतिसामंतदोर्दर्पानवसर्पयन् ॥ ९३ ॥ विषयानन्वभूद्दिव्यानसौ खेचरगोचरान् । अभूतां हरिचंद्रश्च कुरुविंदश्च तत्सुतौ ॥ ९४ ॥ स बह्वारंभसंरंभरौद्रध्यानाभिसंधिना । बबंध नरकायुष्यं तीव्रासातफलोदयं ॥ ९५ ॥ प्रत्यासन्नमृतेस्तस्य दाहज्वरविजृंभितः । ववृधे तनुसंतापः कदाचिदतिदुःसहः ॥९६॥ कल्हारवारिभिर्धूतशीतशीतालिकानिलैः । न निर्वृतिमसौ लेभे हारैश्च हरिचंदनैः

निरूपण किया तब वह संपूर्ण सभा संदेहरहित हो गई अर्थात् सबने निःसंदेह आत्माका अस्तित्व स्वीकार करलिया तथा सभापति महाराज महाबल भी बहुत प्रसन्न हुये ॥ ८९ ॥ वे परवादीरूपी पर्वत (तीनोंमंत्री) स्वयंबुद्ध मंत्रीके वचनरूपी वज्रकी भारी चोट खाकर तत्काल ही म्लान हो गये ॥९०॥ तत्पश्चात् सबलोग चुप होगये सभा शांत होगई तब वह स्वयंबुद्ध मंत्री एक देखी सुनी और अनुभव की हुई कथा कहने लगा कि-॥ ९१ ॥ हे महाराज मैं एक कथा कहता हूं उसे कृपाकर सुनिये । कुछ ही दिन पाहिले आपके ही वंशमें चूडामणिके समान एक अरविंद नामका विद्याधर होगया था ॥ ९२ ॥ वह विद्याधर अपने पुण्यकर्मके उदयसे शत्रुओंके उन्मत्त योद्धाओंकी भुजाओंका गर्व नष्ट करता हुआ इस उत्कृष्ट अलकानगरीका शासन करता था ॥ ९३ ॥ वह राजा विद्याधरोंके योग्य अनेक मनोहर भोगोपभोगोंके सुख अनुभव करता हुआ राज्य करता था । उसके दो पुत्र हुये थे । एकका नाम हरिचंद्र और दूसरेका नाम कुरुविंद था ॥ ९४ ॥ उस राजा अरविंदने अनेक मानासिक संकल्परूप आरंभसे तथा हिंसा आदिकेलिये विचार करनेरूप संरंभसे और रौद्रध्यानादिकसे तीव्र दुःख देनेवाले नरक आयुका बंध करलिया था ॥ ९५ ॥ समयानुसार जब उसके मरनेके दिन समीप आगये तब उसे दाहज्वर उत्पन्न हुआ दिनोदिन शरीरका संताप बढ़ने लगा । यहां तक कि उसकी वेदना आति दुस्सह होगई ॥ ९६ ॥ उसकी

॥ ९७ ॥ विद्यासु विमुखीभावं स्वासु यातासु दुर्मदी । पुण्यक्षयात्परिक्षीणमदशक्तिरिवेभराट् ॥ ९८ ॥ दाहज्वरपरीतांगं संतापं सोढुमक्षमः । हरिचंद्रमथाहूय सुतमित्यादिशद्वचः ॥ ९९ ॥ अंग पुत्र ममांगेषु संतापो बर्द्धते तरां । पश्य कल्हारहाराणां परिम्लानिं तदर्पणात् ॥ १०० ॥ तन्मामुदक्कुरून्पुत्र प्रापयाशु स्वविद्यया । तांश्च शीतान्वनोद्देशान्सीतानद्यास्तटाश्रितान् ॥ १०१ तत्र कल्पतरून्धुन्वन्सीतावीचिचयोत्थितः । दाहान्मां मातरिश्वास्मादुपशांतिं स नेष्यति ॥ १०२ ॥ इति तद्वचनाद्विद्यां प्रैषिषद्व्योमगामिनीं । स सूनुः साप्यपुण्यस्य नाभूत्तस्योपकारिणी ॥ १०३ ॥

वह वेदना न तो लालकमलके अर्कसे भीगे हुये कपड़ेकी वायुसे दूर हुई न फूलोंकी मालासे शांत हुई और न वह शीतल चंदनसे शांत हुई ॥ ९७ ॥ उस समय उसके पुण्य क्षय होनेसे उसकी समस्त विद्यायें भी उसे छोड़कर चली गई थीं । जैसे कोई बड़ा हाथी मदशक्तिके नष्ट हो जानेसे असक्त हो जाता है उसीप्रकार वह नितांत अशक्त होगया था ॥ ९८ ॥ इधर उसके शरीरमें दाहज्वर भी बराबर बढ़ता जाता था जब वह उस संतापको सह नहीं सका तब एकादिन उसने अपने हरिचंद्र पुत्रको बुलाकर नीचेलिखी हुई आज्ञा दी कि ॥ ९९ ॥ हे पुत्र मेरे शरीरमें यह संताप प्रतिदिन बढ़ता जाता है । देखो तो जो लाल-कमलोंकी मालायें संताप दूर करनेकेलिये शरीरपर रक्खीगई थीं, वे इस शरीरका संताप लगनेसे कैसी मुरझा गयी हैं ॥ १०० ॥ इसलिये हे पुत्र तुम अपनी विद्यासे मुझे शीघ्र ही उत्तरकुरु देशमें पहुंचा दो और उत्तरकुरुमें भी किसी ऐसे प्रदेशमें पहुंचाना कि जहां सीतानदीके किनारे अनेक शीतल बन हों ॥ १०१ ॥ सीता नदीकी लहरोंसे उठीहुई तथा कल्पवृक्षोंको हिलानेवाली वहांकी वायु मेरे इस संतापको अवश्य शांत करदेगी ॥ १०२ ॥ राजपुत्र हरिचंद्रने भी अपने पिताकी आज्ञानुसार उसे उत्तरकुरुदेशमें पहुंचादेनेकेलिये आकाशगामिनी विद्या भेजी परंतु राजा अरविंदका पुण्य शेष हो चुका था, इसलिये वह विद्या भी उसका कुछ उपकार न कर सकी अर्थात् वह उसे वहां न ले जा सकी ॥ १०३ ॥ जब विद्या भी काम न कर सकी तब हरिचंद्रने समझलिया कि अब पिताजीका रोग असाध्य है । इससे वह बहुत

विद्यावैमुख्यतो ज्ञात्वा पितुर्व्याधेरसाध्यतां । सुतः कर्त्तव्यतामूढः सोऽभूदुद्विग्नमानसः ॥ १०४ ॥ अथान्येद्युरमुष्यांगे पेतुः शोणितबिंदवः । मिथःकलहविश्लिष्टगृहगोधिकवालधेः ॥ १०५ ॥ तैश्च तस्य किलांगानि निर्ववुः पापदोषतः । सोऽतुष्यच्चेति दिष्ट्याद्य परं लब्धं मयौषधं ॥१०६॥ ततोऽन्यं कुरुविंदाख्यं सूनुमाहूय सोऽवदत् । पुत्र मे रुधिरापूर्णा वाप्येका कार्यतामिति ॥ १०७ ॥ पुनरप्यवदल्लब्धविभंगोऽस्मिन्वनांतरे । मृगा बहुविधाः संति तैस्त्वं प्रकृतमाचर ॥ १०८ ॥ स तद्वचनमाकर्ण्य पापभीरुर्विचिंत्य च । तत्कर्मापारयन्कर्त्तुं मूकीभूतः क्षणं स्थितः ॥ १०९ ॥ प्रत्यासन्नमृतिं बुध्वा तं बद्धनरकायुषं । दिव्यज्ञानदृशः साधोस्तत्कार्येऽभूत्स शीतकः ॥११०॥ अनुल्लंध्यं पितुर्वाक्यं मन्यमानस्तथाप्यसौ । कृत्रिमैः

उदास हुआ तथा अब क्या करना चाहिये यह भी विचार न कर सका ॥ १०४ ॥ तत्पश्चात् एकदिन दो छिपकली परस्पर लड़ रही थीं । लड़ते २ उनकी पूछ टूटगई उनकी पूछमेंसे निकले हुये थोड़ेसे रुधिरके विंदु राजा अरविंदके शरीरपर आकर पड़े ॥ १०५ ॥ उन दो चार रुधिरबिंदुओंसे उसका शरीर कुछ एक शांत हुआ पापकर्मके उदयसे वह उससे बहुत संतुष्ट हुआ और विचार करने लगा कि दैवयोगसे आज मुझे यह बड़ी अच्छी औषधि मिल गई है ॥ १०६ ॥ तुरंत ही उसने अपने कुरुविंद नामके दूसरे पुत्रको बुलाया और उसे आज्ञा दी कि हे पुत्र मेरेलिये एक बावड़ी बनवाकर उसे रुधिरसे भरदो क्योंकि उसमें स्नान करनेसे मेरा संताप दूर हो जायगा ॥१०७॥ राजा अरविंदको विभंगावधिज्ञान था इसलिये वह विभंगावधि जोड़कर फिर कहने लगा कि इस समीपवर्त्ती बनमें अनेकप्रकारके हिरण रहते हैं उन्हींसे तू अपना काम करना अर्थात् उन्हें मारकर उनके रुधिरसे बावड़ी भरदेना ॥ १०८ ॥ बह पापभीरु कुरुविंद अपने पिताके ऐसे पापमय बचन सुनकर ऐसा पापकार्य करनकेलिये सर्वथा असमर्थ होकर क्षणभरकेलिये चुप होकर निश्चल हो रहा ॥ १०९ ॥ अनंतर पिताकी आज्ञानुसार बनमें गया वहां उसे एक अवधिज्ञानी मुनिके दर्शन हुये । उसने उन मुनिसे अपने पिताका सब हाल पूछा । मुनि कहने लगे कि अब तुम्हारे पिताका मरणसमय समीप है तथा उसने नरकायुका बंध किया है । मुनिके ये बचन सुनकर वह

स्तजैः पूर्णा वापीमेकामकारयत् ॥ १११ ॥ स तदाकर्णनात्प्रीतिमगमत्पापपंडितः । अलब्धपूर्वमासाद्य निधानमिव दुर्गतः ॥ ११२ ॥ कारिमारुणरागेण वारिणा विप्रतारितः । बहुमेने स तां वापीं पापी वैतरणीमिव ॥ ११३ ॥ तत्रानीतश्च तन्मध्ये यथेष्टं शयितोऽमुतः । चिक्रीड कृतगंडूषं कृतकं तदबुद्ध च ॥ ११४ ॥ नरकायुरपर्यंतं पर्याप्तिपिपयिषन्निव । दधे स तुग्वधे चित्तमधीः पापोदधेर्विधुः ॥ ११५ ॥ स रुष्टः पुत्रमाहंतुमाधावन्पतितोऽतरे । स्वासिधेनुकया दीर्णहृदयो मृतिमासदत् ॥ ११६ ॥ स तदा दुर्मृतिं प्राप्य गतः श्वाभ्रीमधर्मतः । कथेयमधुनाप्यस्यां नगर्यां

कुरुविंद राजपुत्र उस पापकार्यके करने से रुक गया परंतु ॥११०॥ पिताकी आज्ञा उल्लंघन करना भी उचित नहीं, ऐसा समझ कर उसने एक बावड़ी बनवाई और उसे कृत्रिमरुधिरसे अर्थात् लाखके रंगसे भरवादिया॥ १११ ॥ तथा बावड़ी तैयार होनेका समाचार पिताजीको कहला भेजे। पापकार्य करनेमें अति निपुण वह राजा अरविंद उस समाचारको सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ जैसे कोई दरिद्र पुरुष पहिले कभी न देखा ऐसा अपूर्व और उत्तम निधान पाकर प्रसन्न होता है ॥ ११२ ॥ जिसप्रकार नारकी जीव वैतरणीनदीको देखकर प्रसन्न होता है उसी प्रकार वह पापी अरविंद उस लाखके रंगसे भरी हुई बाबडी को अतिशय प्रिय मानने लगा ॥११३॥ अनंतर वह उस बावडीके पास लाया गया। आते ही वह उसमें सोगया और अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगा। परंतु जब उसने कृत्रिम रुधिरसे कुरले किये तब उसे मालूम होगया कि यह वास्तवमें रक्त नहीं है किंतु कृत्रिम रंग है ॥११४॥ यह जानकर पापरूपी समुद्रको बढानेके लिये चंद्रमाके समान वह निर्बुद्धि राजा अरविंद मानों नरककी संपूर्ण आयु पूर्ण करनेकी इच्छासे ही रुष्ट होकर अपने पुत्रको मारनेके लिये दौड़ा किंतु मार्गमें दौड़ते हुये वह इसप्रकार गिरा कि उसका हृदय उसीकी तलवारकी धारसे विदीर्ण हो गया तथा उसीसमय वह मरगया ॥ ११५-११६ ॥ और कुमरणसे मरकर पापके निमित्तसे वह नरक गया। हे राजन् यह कथा इस नगरीमें आजतक लोगोंको याद है ॥११७॥ जिसप्रकार हाथीका एक दांत टूटजानेसे वह अपना मुख नीचा कर लेता है और सब

स्मर्यते जनैः ॥ ११७ ॥ ततो भग्नैकरदनो दंतीवानमिताननः । उत्खातफणमाणिक्यो महाहिरिव निष्प्रभः ॥ ११८ ॥ पितुर्भानोरिवापायात्कुरुविंदोऽरविंदवत् । परिम्लानतनुच्छायः स शोच्यामगमद्दशां ॥ ११९ ॥ तथात्रैव भवद्वंशे विस्तीर्णे जलधाविव । दंडो नामाऽभवत्खेंद्रो दंडितारातिमंडलः ॥१२०॥ मणिमालीत्यभूत्तस्मात्सूनुर्मणिरिवांबुधेः । नियोज्य यौवराज्ये तं स्वेष्टान्भोगानभुंक्त सः ॥१२१॥ भुक्त्वापि सुचिरं भोगान्नातृप्यद्विषयोत्सुकः । प्रत्युतासक्तिमभजत्स्त्रीवस्त्राभरणादिषु ॥ १२२॥ सोऽत्यंतविषयासक्तिकृतकौटिल्यचेष्टितः । बबंध तीव्रसंक्लेशात्तिरश्चामायुरात्र्धीः ॥ १२३ ॥ जीवितांते स दुर्ध्यानमार्त्तमापूर्य दुर्मृतेः । भांडागारे निजे मोहान्महानजगरोऽजनि ॥ १२४ ॥ स जातिस्मरतां गत्वा भांडा-

---

तेज जाता रहता है अथवा जिसप्रकार सर्पके फणका मणि निकाल लेनेसे तेजरहित हो जाता है अथवा सूर्यके अस्त होनेसे कमल मुरझा जाते हैं उसीप्रकार राजपुत्र कुरुविंदने अपने पिताकी मृत्युके शोकसे अपना मुख नीचा करलिया और उसका सब शरीर मुरझागया ॥ ११८-११९ ॥ हे राजन् ! यह कथा प्रसिद्ध है तथा इसके सिवाय एक दूसरी कथा सुनिये वह यह है कि-समुद्रके समान विस्तीर्ण ऐसे आपके इसी वंशमें एक दंड नामका विद्याधर होगया है। उसने अपने समस्त शत्रुओंको दंड दे कर सीधा किया था ॥१२०॥ जिसप्रकार समुद्रमेंसे उत्तम मणिकी प्राप्ति होती है उसीप्रकार इसको भी एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई जिसका नाम मणिमाली था। वह राजा दंड अपने राजपुत्र मणिमालीको यौवराज्य पद देकर स्वयं इच्छानुसार भोगोपभोगोंके सेवन करनेमें लगा रहता था ॥१२१॥ वह विषयलंपट चिरकालतक नानाप्रकारके विषयभोग सेवन करता हुआ भी कभी तृप्त नहीं होता था। ज्यों ज्यों वह विषय सेवन करता था त्यों त्यों वह स्त्री वस्त्र आभरण आदि सबमें अधिक २ आसक्त होगया ॥ १२२ ॥ अत्यंत विषयाशक्त होनेसे मायाचारी चेष्टासे आर्त्तध्यानी होकर तीव्र संक्लेश परिणामोंसे उसने तिर्यंच आयुका बंध किया ॥ १२३ ॥ मरतेसमय उसने आर्त्तध्यानसे प्राण छोड़े तथा वह कुमरणसे मरा था इसलिये वह मरकर गाढ़ मोहके उदयसे अपने ही खजानेमें एक बड़ा अजगर हुआ ॥ १२४ ॥ दैवयोगसे उसे जातिस्मरण भी होगया

गारमवन् भृशं । तत्प्रवेशे निजं सूनुमन्वमंस्त न चापरं ॥ १२५ ॥ अन्येद्युरवधिज्ञानलोचनान्मुनिपुंगवात् । मणिमाली पितुर्ज्ञात्वा तद्वृत्तांतमशेषतः ॥ १२६ ॥ पितृभक्त्या स तन्मूर्च्छामपहर्तुमनाः सुधीः । शयोरग्रे शनैः स्थित्वा स्नेहार्द्रां गिरमभ्यधात् ॥ १२७ ॥ पितः पतितवानस्यां कुयोनावधुना त्वकं । विषयासंगदोषेण धृतमूर्च्छो धनर्द्धिषु ॥ १२८ ॥ ततो धिगिदमत्यंतकटुकं विषयामिषं । वमैतद्दुर्जरं तात किंपाकफलसन्निभं ॥ १२९ ॥ रथांगमिव संसारमनुबध्नाति संततं । दुस्त्यजं त्याज्यमप्येतत्कंठस्थमिव जीवितं ॥ १३० ॥ प्रकटीकृतविश्वासं प्राणहारि भयावहं । मृगयोरिव दुर्गीतं नृगणैणप्रलंभकं ॥ १३१ ॥ तांबूलमिव संयोगादिदं रागविवर्द्धनं । अंधकारमिवोत्सर्पत्सन्मार्गस्य निरोधनं ॥ १३२ ॥

था इसलिये वह अपने खजानेकी रक्षा बड़ी सावधानीसे करताथा अपने पुत्रके सिवाय अन्य किसीको वह अपने खजानेमें नहीं आने देता था ॥१२५॥ एक दिन राजा मणिमालीने किसी अवधिज्ञानी उत्तम-मुनिसे इस अजगरका वृत्तांत पूछा और मुनिराजने सब ज्योंका त्यों कह सुनाया जिससे उसे अपने पिताका सब हाल मालूम होगया ॥ १२६ ॥ राजा मणिमाली अपने पितापर बहुत भक्ति रखता था इसलिये वह बुद्धिमान उस सर्पका ममत्व दूर करनेकेलिये धीरेसे उसके समीप बैठकर नीचे लिखे हुये स्नेहयुक्त बचन कहने लगा कि ॥ १२७ ॥ हे पिता देखो तुमने धन ऋद्धि आदिमें अतिशय ममत्व किया था अतिशय विषय सेवन किये थे इसी दोषसे तुम अब इस कुयोनिमें उत्पन्न हुये हो ॥ १२८ ॥ इसलिये ये विषयरूपी विष अत्यंत कटुक हैं। इन्हें बार बार धिक्कार देना चाहिये । हे पिता ये विषय किंपाकफलके (विषफलके) समान दुःख देनेवाले हैं इसलिये अब इन्हे छोड दो ॥ १२९ ॥ हे तात जैसे गाडीका पाहिया निरंतर चलता रहता है इसीप्रकार ये विषय भी निरंतर संसारका बंध करने वाले हैं । जैसे कंठस्थ प्राण वडी कठिनतासे छोडे जाते हैं इसीप्रकार ये विषय भी बड़ी कठिनतासे छोड़ेजाते हैं परंतु वे त्याज्य अवश्य हैं ॥ १३० ॥ ये विषय ठीक व्याधके गानेके समान हैं । जो कि मनुष्य-रूपी हरिणोंको ठगनेकेलिये उन्हें प्रथम ही विश्वास दिलाते हैं और फिर अंतमें अतिशय भयानक होकर उनके प्राण हरण किया करते

जैनं मतमिव प्रायः परिभूतमतांतरं । तडिल्लसितवल्लोलं वैचित्र्यात्सुरचापवत् ॥ १३३ ॥ किं वात्र बहुनोक्तेन पश्येदं विषयोद्भवं । सुखं संसार-कांतारे परिभ्रमयतीप्सितं ॥ १३४ ॥ नमोऽस्तु तद्रसासंगविमुखाय स्थिरात्मने । तपोधनगणायेति निनिंद विषयानसौ ॥ १३५ ॥ अथासौ पुत्रनिर्दिष्टधर्मवाक्यांशुमालिना । गलिताशेषमोहांधतामसः समजायत ॥ १३६ ॥ ततो धर्मौषधं प्राप्य स कृतानुशयः शयुः । ववाम विषयौत्सुक्य महाविषमिवोल्वणं ॥ १३७ ॥ स परित्यज संवेगादाहारं सशरीरकं । जीवितांते तनुं हित्वा दिविजोऽभून्महर्द्धिकः ॥ १३८ ॥ ज्ञात्वा च

हैं ॥ १३१ ॥ इनके साथ संबंध रखनेसे ये तांबूलके समान राग वढाते रहते हैं तथा फैले हुये अंधकारके समान सन्मार्गका (मोक्षमार्गका) निरोध करते रहते हैं ॥ १३२ ॥ जिसप्रकार जैनमत अन्य सब मतोंका निराकरण कर देता है उसीप्रकार ये विषय भी सब विवेक नष्ट करदेते हैं तथा विजलीकी चमकके समान चंचल हैं और इंद्रधनुषके समान अनेक रंग (अवस्था) धारण करनेवाले हैं ॥ १३३ ॥ अधिक कहनेसे क्या लाभ ! इस थोड़ेसे कथनसे ही समझें और देखें कि ये विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख इस जीवको संसाररूपी वनमें अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण कराते रहते हैं ॥ १३४ ॥ इसलिये ऐसे मुनियोंको नमस्कार है कि जो इस विषयरसकी संगतिसे सदा विमुख रहते हैं और अपनेको केवल अपने आत्मामें ही स्थिर रखते हैं। इसप्रकार राजा मणिमालीने विषयोंकी निंदा की ॥१३५॥ तदनंतर अपने पुत्र मणिमालीके कहे हुये धर्मवाक्यरूपी सूर्यके द्वारा उस अजगरका संपूर्ण मोहरूपी अंधकार नष्ट होगया जिससे ॥ १३६ ॥ वह अजगर भी स्वयं पश्चात्ताप करने लगा । उसने धर्मरूपी औषधि ग्रहण की और तीव्र महाविषके समान विषयोंकी इच्छा सर्वथा छोड़दी ॥ १३७ ॥ उसे यह संसार दुःखमय जानपड़ा इसलिये उसने आहार और शरीरसे भी ममत्व छोड़दिया । आयु पूर्ण होनेपर शरीर छोड़-कर वह बड़ी ऋद्धिका धारक एक देव हुआ ॥ १३८ ॥ अवधिज्ञानके द्वारा उसे अपने पहले भव मालूम हुये । इसलिये वह मणिमालीके समीप आया और उसका भारी आदर सत्कारकर उसे प्रका-

भवमागत्य संपूज्य मणिमालिने । मणिहारमदत्तासावुन्मिषन्मणिदीधितिं ॥ १३९ ॥ स एष भवतः कंठे हारो रत्नांशुभासुरः । लक्ष्यतेऽद्यापि यो लक्ष्म्याः प्रहास इव निर्मलः ॥ १४० ॥ तथैवमपरं राजन्यथावृत्तं निगद्यते । संति यद्दर्शिनोऽद्यापि वृद्धाः केचन खेचराः ॥ १४१ ॥ आसीच्छतवलो नाम्ना भवदीयः पितामहः । प्रजा राजन्वतीः कुर्वन्स्वगुणैरभिरामिकैः ॥१४२॥ स राज्यं सुचिरं भुक्त्वा कदाचिद्भोगनिःस्पृहः ॥ भवत्पितरि निक्षिप्तराज्यभारो महोदयः ॥ १४३ ॥ सम्यग्दर्शनपूतात्मा गृहीतोपासकव्रतः । निबद्धसुरलोकायुर्विशुद्धपरिणामतः ॥ १४४ ॥ कृत्वानशनसच्चर्यामवमोदर्यमप्यदः । यथोचितनियोगेन योगेनांतेत्यजत्तनुं ॥ १४५ ॥ माहेंद्रकल्पेऽनल्पर्द्धिरभूदेषः सुराग्रणीः । अणिमादिगुणोपेतः ससांबुधिमितस्थितिः ॥ १४६ ॥ स चान्यदा महामेरौ नंदने त्वामुपागतं । क्रीडाहेतोर्मया सार्द्धं दृष्ट्वातिस्नेहनिर्भरः ॥ १४७ ॥ कुमार

शमान मणियोंसे दैदीप्यमान एक मणियोंका हार समर्पण किया ॥ १३९ ॥ वह रत्नोंकी किरणोंसे प्रकाशमान तथा लक्ष्मीके हास्यके समान निर्मल हार आज भी आपके कंठमें शोभायमान है ॥ १४० ॥ हे राजन् इसके सिवाय एक वृत्तांत और है उसे भी मैं ज्योंका त्यों कह सुनाता हूं उस वृतांतके देखने वाले कितनेही वृद्ध विद्याधर आज भी विद्यमान हैं ॥ १४१ ॥ आप जानते हैं कि आपके दादाका नाम शतबल था । वे अपने आदरणीय गुणोंसे प्रजाको सदा सुखी रखते थे ॥ १४२ ॥ उन भाग्यशाली शतबलने अनेक दिनतक राज्य किया और अंतमें भोगोंसे उदास होकर आपके पिताको राज्यका सब भार सोंप दिया ॥ १४३ ॥ तथा स्वयं सम्यग्दर्शनसे पवित्र होकर श्रावकके व्रत धारण किये तथा परिणामोंकी विशुद्धता होनेसे देवायुका बंध किया ॥ १४४ ॥ उपवास अवमोदर्य आदि चारित्र धारणकर यथायोग्य रीतिसे समाधिमरण पूर्वक शरीरका त्याग किया जिससे ॥ १४५ ॥ चौथे माहेंद्र स्वर्गमें सात सागरकी आयु पाकर अणिमा महिमा आदि गुणयुक्त तथा बड़ी विभूतिका स्वामी उत्तम देव हुआ ॥ १४६ ॥ एक दिन वह देव सुमेरुपर्वतके नंदनबनमें क्रीड़ा करनेकेलिये आया था तथा आप भी मेरे साथ वहां गये थे । उस देवने आपको देखकर तथा अपना पोता समझकर अत्यंत स्नेहसे यह उपदेश दिया था

परमो धर्मो जैनोऽभ्युदयसाधनः । न विस्मार्यस्त्वयेत्येवं त्वां तदाऽन्वशिषत्तरां ॥ १४८ ॥ नमत्खेचरराजेंद्रमस्तकारूढशासनः । सहस्रबल इत्यासीद्भवात्पितृपितामहः ॥ १४९ ॥ स देवदेवे निक्षिप्य लक्ष्मीं शतबले सुते । जग्राह परमां दीक्षां जैनीं निर्वाणसाधनीं ॥ १५० ॥ विजहार महीं कृत्स्नां द्योतयन्स तपोंऽशुभिः । मिथ्यांधकारघटनां विघटय्यांशुमानिव ॥ १५१ ॥ क्रमात्कैवल्यमुत्पाद्य पूजितो नृसुरासुरैः । ततोऽनंतमपारं च संप्रापच्छाश्वतं पदं ॥ १५२ ॥ तथा युष्मत्पितायुष्मन् राज्यभूरिभरं वशी । त्वयि निक्षिप्य वैराग्यान्महाप्राव्राज्यमास्थितः ॥ १५३ ॥ पुत्रनप्तृभिरन्यैश्च नभश्चरनराधिपैः । सार्द्धं तपश्चरन्नेष मुक्तिलक्ष्मीं जिघृक्षति ॥ १५४ ॥ धर्माधर्मफलस्यैते दृष्टांतत्वेन दर्शिताः । युष्मद्वंश्याः ख-

---

कि यह जैनधर्मही उत्तम धर्म है। यही जीवका कल्याण करनेवाला है। पुत्र ! तू इसे कभी मत भूलना १४७-१४८ ॥ यह कथा कहकर स्वयंबुद्ध फिर कहने लगा कि आप के पिताके दादाका नाम सहस्रबल था। अनेक राजा महाराजा विद्याधर उन्हें नमस्कार करते थे तथा अपने अपने मस्तकपर उनकी आज्ञा धारण करते थे ॥ १४९ ॥ उन्होंने भी अपने पुत्र महाराज शतबलको राज्य देकर मोक्ष देनेवाली श्री जिनेंद्रदेवकी कही हुई उत्तम दीक्षा धारण की थी ॥ १५० ॥ तथा अपने तपश्चरणरूपी किरणोंसे समस्त पृथ्वीको प्रकाश करते हुये तथा मिथ्यात्वरूपी अंधकारको नष्ट करते हुये सूर्यके समान विहार करते रहे ॥ १५१ ॥ तथा क्रमसे चार घातिया कर्म नष्ट होनेसे उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था। वे मनुष्य देव विद्याधर आदि सबके पूज्य हुये थे और अंतमें नित्य अनंत तथा अपार ऐसे मोक्षपदको प्राप्त हुये हैं ॥ १५२ ॥ हे आयुष्मन् इसीप्रकार जितेंद्रिय आपके पिताने भी अपने राज्यका भारी बोझ आपको सौंपकर तथा सबसे विरक्त होकर महाव्रत धारण किया है और पुत्र पौत्रके साथ तथा अन्य अनेक विद्याधर राजाओंके साथ तपश्चरण कर रहे हैं और मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्तिकेलिये इच्छा कर रहे हैं ॥ १५३-१५४ ॥ हे देव ! ऊपर कहे हुये वृतांत धर्म अधर्मके साक्षात् दृष्टांतरूपसे दिखलाये गये हैं और वे दृष्टांत भी केवल आपके वंशमें ही होनेवाले उन राजा लोगोंके हैं कि जिनके कथारूपी दुंदुभी

गाधीशाः सुप्रतीतकथानकाः ॥ १५५ ॥ विद्धि ध्यानचतुष्कस्य फलमेतन्निदर्शितं । पूर्वं ध्यानद्वयं पापं शुभोदर्कं परं द्वयं ॥१५६॥ तस्माद्धर्मजुषां पुंसां भुक्तिमुक्ती न दुर्लभे । प्रत्यक्षाप्तोपदेशाभ्यामिदं निश्चिनु धीधन ॥ १५७ ॥ इति प्रतीतमाहात्म्यो धर्मोऽयं जिनदेशितः । त्वयापि-शक्तितः सेव्यः फलं विमलमिच्छता ॥ १५८ ॥ श्रुत्वोदारं च गंभीरं स्वयंबुद्धोदितं तदा । सभा सभाजयामास परमास्तिक्यमास्थिता ॥ १५९ ॥ इदमेवार्हतं तत्त्वमितोऽन्यन्न मतांतरं । प्रतीतिरिति तद्वाक्यादाविरासीत्सदःसदां ॥ १६० ॥ सुदृष्टिर्व्रतसंपन्नो गुणशीलविभूषितः । ऋजुर्गुप्तौ

अतिशय प्रसिद्ध हैं ॥ १५५ ॥ हे राजन् ! आप ऊपर कहे हुये चारों दृष्टांतोको चारों ध्यानका फल ही समझिये क्योंकि राजा अरविंद रौद्रध्यानसे नरक गया, राजा दंड आर्त्तध्यानसे सर्प हुआ, राजा शतबल धर्मध्यानसे देव हुआ और राजा सहस्रबल शुक्लध्यानसे मोक्ष गया तथा महाराजा अतिबल मोक्ष जायगा । इन चारों ध्यानोंमेंसे आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान अशुभ हैं क्योंकि ये दोनोंही अशुभ-गतिके कारण हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दोनों ही शुभ हैं क्योंकि ये दोनों ही स्वर्ग मोक्षके कारण हैं ॥१५६॥ इसलिये हे बुद्धिमान्! धर्मात्मा पुरुषोंकेलिये इंद्र चक्रवर्त्ती आदिके सुख तथा मोक्ष कुछ कठिन नहीं है यह बात प्रत्यक्षप्रमाणसे भी निश्चय कर सकते हैं और सर्वज्ञ वीतरागके उपदेशसे भी निश्चय कर सकते हैं ॥ १५७ ॥ यह श्रीजिनेंद्रदेवका कहा हुआ धर्म अति प्रसिद्ध है इसका माहात्म्य भी प्रसिद्ध है । हे राजन् यदि आप भी उत्तम और बहुत फल चाहते हैं तो यथाशक्ति इसका सेवन कीजिये ॥ १५८ ॥ इसप्रकार स्वयंबुद्धके कहे हुये उदार और गंभीर वचन सुनकर वह सभा बड़ी संतुष्ट हुई तथा संपूर्ण सभासदोंने आस्तिक्यमत स्वीकार किया अर्थात् जीव है इह लोक परलोक भी है यह सबने निश्चय करलिया ॥ १५९ ॥ स्वयंबुद्धके ऊपर कहे हुये वाक्योंसे उस सभाके समस्त सभासदोंको यह विश्वास होगया कि जो स्वयंबुद्धने कहा है यही श्रीजिनेंद्रदेवका कहा हुआ सत्यार्थ तत्त्व है इसके सिवाय अन्य कोई मत मतांतर नहीं है ॥ १६० ॥ तत्पश्चात् सब सभासद स्वयंबुद्धकी प्रशंसा करने लगे और कहने लगे कि

गुरौ भक्तः श्रुताभिज्ञः प्रगल्भधीः ॥ १६१ ॥ श्लाघ्य एष गुणैरेभिः परमश्रावकोचितैः । स्वयंबुद्धो महात्मेति तुष्टुवुस्तं सभासदः ॥ १६२ ॥ प्रशस्य खचराधीशः प्रतिपद्य च तद्वचः । प्रीतः संपूजयामास स्वयंबुद्धं महाधियं ॥ १६३ ॥ अथान्यदा स्वयंबुद्धो महामेरुगिरिं ययौ । विवंदिषुर्जिनेंद्राणां चैत्यवेश्मानि भक्तितः ॥ १६४ ॥ वनैश्चतुर्भिराभातं जिनस्येव शुभोदयं । श्रुतस्कंधमिवानादिनिधनं सप्रमाणकं ॥ १६५ ॥ महीभृतामधीशत्वात्सुवृत्तत्वात्सदास्थितेः । प्रवृद्धकटकत्वाच्च सुराजानमिवोन्नतं ॥ १६६ ॥ सर्वलोकोत्तरत्वाच्च ज्येष्ठत्वात्सर्वभूभृतां । महत्त्वात्स्व-

यह स्वयंबुद्ध सम्यग्दृष्टी, व्रती गुणवान और शीलवान है। मन वचन कायका सरल और गुरुभक्त है। अतिशय बुद्धिमान और अनेक शास्त्रोंका जानकार है। श्रावकमें जितने उत्कृष्ट गुण होने चाहिये वे सब इसमें हैं इसलिये यह प्रशंसनीय और महात्मा है ॥ १६१–१६२ ॥ महाराज महाबलने भी उस महा बुद्धिमान स्वयंबुद्धकी प्रशंसा की। उसके कहे हुये सब विषय स्वीकार किये तथा प्रसन्न होकर उसका बड़ा आदर सत्कार किया ॥ १६३ ॥ इस घटनाके कितने ही दिन बाद एकदिन वह स्वयंबुद्ध मंत्री सुमेरु-पर्वतपर वहांके चैत्यालयोंमें विराजमान श्रीजिनेंद्रदेवकी भक्तिपूर्वक बंदना करनेकेलिये गया ॥ १६४ ॥ प्रथम ही सुमेरुपर्वतके दर्शन हुये। वह पर्वत श्रीजिनेंद्रदेवके शुभोदयरूप समवसरणके समान चार बनोंसे सुशोभित है अर्थात् जैसे समवसरण अशोक सप्तच्छद आम्र और चंपकवनसे सुशोभित होता है उसी प्रकार वह मेरु भी भद्रशाल नंदन सौमनस और पांडुकवनोंसे सुशोभित है। अथवा यों कहना चाहिये कि वह एक लाख योजन ऊंचा आदिअंतरहित श्रुतस्कंधके समान है ॥ १६५ ॥ अथवा वह मेरु किसी बड़े महाराजके समान उन्नत है। क्योंकि महाराज भी महीभृत अथात् राजाओंके स्वामी होते हैं और वह पर्वत भी महीभृत अथात् अनेक पर्वतोंका स्वामी है। महाराज सुवृत्त अर्थात् सच्चरित्र होते हैं और वह पर्वत भी सुवृत्त अर्थात् गोल है महाराज सदास्थिति अर्थात् सज्जनोंकी सभामें विराजमान रहते हैं और वह पर्वत भी सदास्थिति अर्थात् नित्य है। महाराज प्रवृद्धकटक अर्थात् अपार सेनाके

र्णावर्णत्वात्तमाद्यमिवपूरुषं ॥ १६७ ॥ समासादितवज्रत्वादप्सरःसंश्रयादपि । ज्योतिःपरीतमूर्तित्वात्सुरराजमिवापरं ॥ १६८ ॥ चूलिकाग्रसमासन्नसौधर्मेंद्रविमानकं । स्वर्लोकधारणे न्यस्तमिवैकं स्तंभमुच्छ्रितं ॥ १६९ ॥ मेखलाभिर्वनश्रेणीर्दधानं कुसुमोज्ज्वलाः । स्पर्धयेव कुरुक्ष्माजैः सर्वर्तुफलदायिनीः ॥ १७० ॥ हिरण्मयमहोदग्रवपुषं रत्नभाजुषं । जिनजन्माभिषेकाय बद्धं पीठमिवामरैः ॥ १७१ ॥ जिनाभिषेकसंबंधाज्जिनायतनधा-

स्वामी होते हैं और वह पर्वत भी प्रवृद्धकटक अर्थात् ऊंची चूलिकासे शोभायमान है ॥१६६॥ अथवा वह पर्वत आदिपुरुष श्रीवृषभदवके समान जान पड़ता है क्योंकि आदिपुरुष श्रीऋषभदेव लोकोत्तर अर्थात् समस्त लोगोंसे उत्तम हैं और वह पर्वत भी लोकोत्तर अर्थात् सबजगहसे उत्तर दिशामें ही स्थित है, आदि पुरुष भी सब राजाओंसे बड़े और पूज्य हैं और वह पर्वत भी सब पर्वतोंसे बड़ा और मान्य है, आदिपुरुषका रूप सुवर्ण सरीखा था और वह पर्वत भी सुवर्णमय है ॥ १६७ ॥ अथवा वह मेरु इंद्रके समान मालूम होता है क्योंकि इंद्र भी वज्रसहित है और वह पर्वत भी वज्रा पृथिवीतक चलागया है। इंद्र अनेक अप्सराओंसे सुशोभित रहता है और वह पर्वत भी अप्सर अर्थात् अनेक जलके भरे हुये सरोवरोंसे सुशोभित है। इंद्र चारोंओर फैली हुई अपनी कांतिसे शोभायमान रहता है और वह पर्वत भी चारों ओरसे ज्योतिषी जातिके देवोंसे शोभायमान है ॥ १६८ ॥ पहला सौधर्मस्वर्ग इस पर्वतकी चूलिकाके अग्रभागसे अत्यंत समीप है। इसलिये वह पर्वत ऐसा जान पडता है मानों स्वर्गलोकको धारण करनेकेलिये एक ऊंचा स्तंभ ही खडा हो ॥१६९॥ उस पर्वतकी चारोंओर कटनियोंपर वनपंक्ति लगी हुई हैं जोकि फूलोंसे अत्यंत शोभायमान हैं, तथा सब ऋतुओंके फलफूल देनेवाली हैं जिससे ऐसा जान पडता हैं मानों वे उत्तम भोगभूमिके कल्पवृक्षोंकी स्पर्द्धा करनेकेलिये ही सब ऋतुओंके फलफूल दे रही हैं ॥ १७० ॥ अथवा वह पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानों देवोंने श्रीजिनेंद्रदेवका अभिषेक करनेकेलिये एक सिंहासन ही बनाया हो। क्योंकि सिंहासन भी रत्नजड़ित सुवर्णमय और ऊंचा होता है और वह पर्वत भी रत्नजड़ित

रणात् । स्वीकृतेनेव पुण्येन प्राप्तस्वर्गमनर्गलं ॥ १७२ ॥ लवणांभोधिनीलांभोवलयश्लक्ष्णवाससः । जंबूद्वीपमहीभर्तुस्तिरीटमिव सुस्थितं ॥ १७३ ॥ कुलाचलपृथूत्तुंगवीचीभंगोपशोभिनः । संगीतप्रहतातोद्यविहंगरुतशालिनः ॥ १७४ ॥ महानदीजलालोलमृणालविलसद्द्युतेः । नंदनादिमहोद्यानविसर्पत्पत्रसंपदः ॥ १७५ ॥ सुरासुरसभावासभासितामरसश्रियः । सुखासवरसासक्तजीवभृंगावलीभृतः ॥१७६॥ जगत्पद्माकरस्यास्य मध्ये कालानिलोद्धतं । विवृद्धमिव किंजल्कपुंजमापिंजरच्छविं ॥१७७॥ सरत्नकटकं भास्वच्चूलिकामुकुटोज्ज्वलं । सोऽदर्शद्गिरिराजं तं राजंतं जिनमंदिरैः ॥

सुवर्णमय और अत्यंत ऊंचा है ॥ १७१ ॥ उस पर्वतपर श्रीजिनेंद्रदेवका अभिषेक होता है तथा उसपर अनेक जिनालय विद्यमान हैं। इन्हीं कारणोंसे उसने जो पुण्योपार्जन किया है उसीसे मानों वह विना किसी रोकटोकके स्वर्गतक चला गया है ॥ १७२ ॥ अथवा वह मेरुपर्वत लवणसमुद्रके नीले जलरूप सुंदर वस्त्र पहने हुये जंबूद्वीपरूपीं महाराजके मुकुटके समान मालूम होता है ॥ १७३ ॥ अथवा यह संसार एक सरोवरके समान है। क्योंकि इस सरोवरमें कुलाचल ही बड़ी ऊंची लहरें हैं, संगीतके साथ बजनेवाले बाजे ही सुंदर पक्षियोंके शब्द हैं, गंगासिंधु आदि महानदियोंका जल ही जिसमें चंचल कमलनालके समान जान पड़ता है, नंदन पांडुक आदि बड़े बड़े वन ही इसके समीप फैले हुये पत्ते हैं, सौधर्म तथा भवनवासी आदि देवोंके सभाभवन ही खिले हुये कमलोंकी शोभा बढ़ा रहे हैं, इंद्रियोंके सुखरूप पुष्परसमें आसक्त हुये जीव ही इसमें सब ओर भरे हुये भ्रमर हैं। ऐसे इस संसाररूप सरोवरमें वह पीतरंगका सुवर्णमय मेरुपर्वत प्रलयकालकी वायुसे उडा हुआ तथा एकजगह इकट्ठा हुआ कमलोंकी केसरके समूहके समान जान पड़ता है ॥ १७४-१७५-१७६-१७७ ॥ वह मेरु पर्वत वास्तवमें पर्वतोंका राजा है। क्योंकि राजाके हाथमें भी रत्नजड़ित कड़े रहते हैं और इसके शिखर रत्नजड़ित हैं। राजाके मस्तकपर गुमटीदार मुकुट रहता है और इसके मस्तकपर चूलिकारूप मुकुट शोभायमान है। इसप्रकार वर्णना युक्त तथा अनेक जिनमंदिरोंसे शोभायमान वह मेरु पर्वत स्वंयबुद्ध मंत्रीने देखा।

॥ १७८ ॥ तमद्भुतश्रियं पश्यन्नगमत्स परां मुदं । न्यरूपयच्च पर्यंतदेशानस्येति विसयात् ॥ १७९ ॥ गिरींद्रोऽयं स्वशृंगाग्रैः समाक्रांतनभोऽ-गणः । लोकनाडीगतायामं मिमान इव राजते ॥ १८० ॥ अस्य सानूनिमे रम्यच्छायानोकहशोभिनः । सार्द्धं वधूजनैः शश्वदावसंति दिवौकसः ॥ ॥१८१॥ अस्य पादाद्रयोऽप्यस्मादानीलनिषधं गताः । महतां पादसंसेवी को वा नायातिमाप्नुयात् ॥ १८२ ॥ गजदंताद्रयोऽस्यैते लक्षते पाद-संश्रिताः । भक्त्या निषधनीलाभ्यामिव हस्ताः प्रसारिताः ॥ १८३ ॥ इमे चैनं महानद्यौ सीतासीतोदकाह्वये । क्रोशद्वयादनास्पृश्य यातोऽभोधिं

॥ १७८ ॥ अद्भुत शोभायुक्त उस पर्वतको देखकर यह बहुत ही प्रसन्न हुआ । तथा बड़े आश्चर्यसे उसके समीपवर्त्ती प्रदेशोंकी प्रशंसा करने लगा ॥ १७९ ॥ वह कहने लगा कि देखो इस पर्वतने अपने शिखरोंके अग्रभागसे समस्त आकाशरूपी आंगन घेर रक्खा है । जिससे ऐसा जान पड़ता है मानों लोक-नाड़ीकी लंबाई नापनेकेलिये एक दंडा ही हो ॥ १८० ॥ इस पर्वतके शिखर मनोहर और घनी छाया-वाले वृक्षोंसे शोभायमान हैं जिनपर ये देव लोग अपनी अपनी देवियोंके साथ सदा निवास करते हैं ॥ १८१ ॥ इसके समीपवर्त्ती छोटे २ पर्वत उत्तरकी ओर नीलपर्वततक और दक्षिणकी ओर निषधपर्वत-तक चले गये हैं । सो ठीक ही है जो बड़ोंकी चरणसेवा करता है वह अवश्य ही बड़ा हो जाता है ॥१८२॥ इसके चरणोंके आश्रित ये गजदंत पर्वत ऐसे जान पड़ते हैं मानों निषध और नील पर्वतने भक्तिपूर्वक इसकी सेवा करनेकेलिये अपने हाथ ही फैलाये हों ॥ १८३ ॥ ये देखो सीता सीतोदा दोनों महानदियां इसके डरसे दो कोशकी दूरीसे समुद्रकी ओर जा रही हैं ॥ १८४ ॥ इस पर्वतके चारों ओर यह भद्रसाल बन है जोकि अपनी शोभासे देवकुरु उत्तरकुरुकी लक्ष्मीको भी तिरस्कार कर रहा है तथा इस पर्वतके चारों ओरके प्रदेशको अपने वृक्षोंसे सदा सुशोभित रखता है ॥ १८५ ॥ यह देखो इधर यह नंदनवन शोभायमान है यह सौमनस वन और यह पांडुक वन शोभायमान है ये तीनों ही बन पुष्पसहित वृक्षों से सदा सुशोभित रहते हैं ॥ १८६ ॥ इधर देखो ये अर्धचंद्राकार देवकुरु और उत्तरकुरु शोभायमान हैं।

भयादिव ॥ १८४ ॥ अस्य पर्यंतभूभागं सदालंकुरुते द्रुमैः । भद्रसलिपरक्षेपः कुरुलक्ष्मीमधिक्षिपन् ॥ १८५ ॥ इतो नंदनमुद्यानमितः सौमनसं वनं । इतः पांडुकमाभाति शश्वत्कुसुमितद्रुमं ॥ १८६ ॥ इतोर्द्धचंद्रवृत्तांगा कुरवोऽमी चकासते । इतो जंबूद्रुमः श्रीमानितः शाल्मलिपादपः ॥ १८७ ॥ अमी चैत्यगृहा भांति वनेष्वस्य जिनेशिनां । रत्नभाभासिभिः कूटैर्द्योतयंतो नभोऽगणं ॥ १८८ ॥ शश्वत्पुण्यजनाकीर्णः सोद्यानः साजिनालयः । पर्यंतस्थसरित्क्षेत्रो नगोऽयं नगरायते॥१८९॥ संगतस्यांगभृद्भृंगैः क्षेत्रपत्रोपशोभिनः । जंबूद्वीपांबुजस्यास्य नगोऽयं कर्णिकायते॥१९०॥ इति प्रकटितोदारमहिमा भूभृतां पतिः । मन्ये जगत्त्रयायाममद्याप्येष विलंघते ॥१९१॥ तामित्यावर्णयन् दूरात्स्वयंबुद्धः समासदत् । ध्वजहस्तैरिवाहूतः सादरं जिनमंदिरैः ॥ १९२ ॥ अकृत्रिमाननाद्यंतान्नित्यालोकान् सुरार्चितान् । जिनालयान् समासाद्य स परां मुदमाययौ ॥१९३॥ सपर्यया

इधर सुशोभित यह जंबूवृक्ष है और इधर यह शाल्मलिवृक्ष है और ॥ १८७ ॥ यह देखो इस पर्वतके चारों बनोंमें श्रीजिनेंद्रदेवके चैत्यालय शोभायमान हैं जो कि रत्नोंकी कांतिके समान देदीप्यमान अपने शिखरोंसे आकाशरूपी आंगनको प्रकाशित कर रहे हैं ॥ १८८ ॥ अथवा यह पर्वत एक नगरके समान जान पड़ता है जैसे नगरमें सदा पुण्यवान् लोग निवास करते हैं उसीप्रकार यह पर्वत भी सदा पुण्यवान लोगोंसे व्याप्त रहता है। नगरोंमें उद्यान और जिनालय रहते हैं इसपर्वतपर भी उद्यान और जिनालय विद्यमान हैं। नगरके समीप ही नदी और क्षेत्र होते हैं इसके समीप भी नदी और क्षेत्र विद्यमान हैं ॥१८९॥ अथवा यह पर्वत संसारीजीवरूपी भ्रमरोंसे घिरे हुये और भरत आदि क्षेत्ररूपपत्तोंसे शोभायमान इस जंबूद्वीपरूपी कमलकी एक कर्णिकाके समान जानपड़ता है ॥ १९० ॥ इसप्रकार संसारमें जिसकी महिमा प्रसिद्ध है ऐसा यह पर्वतोंका स्वामी सुमेरु ऐसा मालूम होता है मानों आज भी यह तीनों जगतकी लंबाईका उल्लंघन कर रहा है ॥ १९१ ॥ इसप्रकार दूरसे ही उस पर्वतका वर्णन करता हुआ वह स्वयंबुद्ध मंत्री सुमेरु पर्वतपर इसप्रकार जा पहुंचा मानों जिनमंदिरोंने ध्वजारूपी हाथोंसे आदर सहित बुलाया ही हो ॥ १९२ ॥ इस सुमेरुपर आदिअंतरहित, नित्य प्रकाशित रहनेवाले और देवोंसे सदा पूज्य ऐसे अकृत्रिम जिनमंदिरोंमें जाकर वह स्वयंबुद्ध मंत्री बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ १९३ ॥ प्रथम ही वह भद्रसाल

स पर्येत्य भूयो भक्त्या प्रणम्य च । भद्रसालादिचैत्यानि वंदते स्म यथाक्रमं ॥ १९४ ॥ स सौमनसपौरस्त्यदिग्भागजिनवेश्मनि । कृतार्चनाविधि-र्भक्त्या प्रणम्य क्षणमासितः ॥ १९५ ॥ प्रांग्विदेहमहाकच्छविषयारिष्टसत्पुरात् । आगतौ सहसैद्विष्ट मुनी गगनचारिणौ ॥१९६॥ आदित्यगति-मग्रण्यं तथारिंजयशब्दनं । युगंधरमहातीर्थसरसीहंसनायकौ ॥ १९७ ॥ तावभ्येत्य समभ्यर्च्य प्रणम्य च पुनः पुनः । पप्रच्छेति सुखासीनौ मनीषी स्वमनीषितं ॥ १९८ ॥ भगवंतौ युवां ब्रूतं किंचित्पृच्छामि हृद्गतं । भवंतौ हि जगद्बोधविधौ धत्तोऽवधित्विषं ॥ १९९ ॥ अस्मत्स्वामी खगाधीशः ख्यातोऽस्तीह महाबलः । स भव्यसिद्धिराहोस्विदभव्यः संशयोऽत्र मे ॥ २०० ॥ जिनोपदिष्टसन्मार्गमस्मद्वाक्यं प्रमाणयन् । स किं

वनके चैत्यालयोंमें गया। यथाक्रमसे उसने पहले प्रदक्षिणा दी, उसके बाद भक्तिपूर्वक वारंवार प्रणाम किया, पूजा की तथा बंदना की ॥ १९४ ॥ फिर वह सौमनसवनके पूर्व दिशाकी ओरके चैत्यालयमें दर्शन करनेकेलिये गया। वहां भी उसने भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा पूजा वंदना प्रणाम आदि सब विधिपूर्वक किये और वहां थोडी देरकेलिये बैठगया ॥ १९५ ॥ इतनेमें ही उसने वहां पूर्वविदेहक्षेत्रके महाकच्छा देशके अरिष्टपुर नगरसे आते हुये अकस्मात् दो चारणमुनि देखे ॥ १९६ ॥ उनमेंसे एकका आदित्यगति नाम था और दूसरेका नाम अरिंजय था। ये दोनों ही महामुनि युगंधर तीर्थंकरके समवसरणरूपी सरोवरके मुख्य हंस थे ॥ १९७ ॥ जब ये दोनों मुनि सुखपूर्वक विराजमान होगये तब वह बुद्धिमान् स्वयंबुद्ध मंत्री उन दोनोंके समीप गया। दोनोंकी बार बार पूजाकी प्रणाम किया और अपना मनोरथ उनसे पूछने लगा कि ॥ १९८ ॥ हे भगवन् आप इस समस्त संसारको जाननेकेलिये अवधिज्ञान धारण करते हैं। इसीलिये मैं अपना कुछ मनोरथ पूछना चाहता हूं उसे कृपा कर आप कहिये ॥ १९९ ॥ हे भगवन्! संसारमें अति प्रसिद्ध विद्याधरोंका स्वामी राजा महाबल मेरा स्वामी है वह भव्य है या अभव्य यह मुझे संदेह है ॥ २०० ॥ एकदिन मैंने श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये सन्मार्गका स्वरूप दिखाया था वह उसने प्रमाण तो कर लिया है परंतु वह उसपर श्रद्धा करता है या नहीं यह बात मैं आपके अनुग्रहसे जानना चाहता

श्रद्धास्यते नेति जिज्ञासे वामनुग्रहात् ॥ २०१ ॥ इति प्रश्नमुपन्यस्य तस्मिन्विश्रांतिमीयुषि । तयोरादित्यगत्याख्यः समाख्यदवधीक्षणः ॥ २०२ ॥ भो भव्य भव्य एवासौ प्रत्येष्यति च ते वचः । दशमे जन्मनीतश्च तीर्थकृत्त्वमवाप्स्यति ॥ २०३ ॥ द्वीपे जंबूमतीहैव विषये भरताह्वये । जनितैष्यत्युगारंभे भगवानादितीर्थकृत् ॥ २०४ ॥ इतोऽतीतभवं चास्य वक्ष्ये शृणु समासतः । धर्मबीजमनेनोप्तं यत्र भोगेच्छयान्वितं ॥ २०५ ॥ इहैवापरतो मेरोर्विदेहे गंधिलाभिधे । पुरे सिंहपुराभिख्ये पुरंदरपुरोपमे ॥ २०६ ॥ श्रीषेण इत्यभूद्राजा राजेव प्रियदर्शनः । देवी च सुंदरी तस्य बभूवात्यंतसुंदरी ॥ २०७ ॥ जयवर्माह्वयः सोऽयं तयोः सूनुरजायत । श्रीवर्मेति च तस्याभूदनुजो जनताप्रियः ॥ २०८ ॥ पित्रोरपि निसर्गेण कनीयानभवत्प्रियः । प्रायः प्रजात्वसाम्येऽपि क्वचित्प्रीतिः प्रजायते ॥ २०९ ॥ जनानुरागमुत्साहं पिता दृष्ट्वा कनीयसि । राज्यपट्टं बबंधास्य

हूं ॥ २०१ ॥ जब वह स्वयंबुद्ध मंत्री अपना प्रश्न कर चुका और चुप हो रहा तब उन दोनोंमेंसे आदित्यगति नामके अवधिज्ञानी मुनि कहने लगे कि ॥ २०२ ॥ भो भव्य तुम्हारा महाबल राजा भव्य है और वह तुम्हारे कहे हुये वाक्योंपर विश्वास करता है । केवल इतना ही नहीं किंतु इससे दशवें भवमें वह तीर्थंकर पदवीको प्राप्त होगा ॥ २०३ ॥ वह इसी जंबूद्वीपके भरतक्षेत्रमें इसी आनेवाली कर्मभूमिके प्रारंभमें श्रीवृषभदेव प्रथम तीर्थंकर उत्पन्न होगा ॥ २०४ ॥ हे भव्य ! मैं संक्षेपसे उसके वीते हुये भव भी कहता हूं तू सुन । उससे यह भी माल्म हो जायगा कि उसने भोगोंकी इच्छा करते हुये धर्मका बीज कहां और किसप्रकार बोया था ॥ २०५ ॥ इसी जंबूद्वीपके पश्चिम विदेहक्षेत्रमें एक गंधिला नामका देश है और उसमें इंद्रके नगरके समान एक सिंहपुर नामका नगर है । उसमें चंद्रमाके समान सबको प्रिय श्रीषेण नामका राजा राज्य करता था । उसकी रानीका नाम सुंदरी था वह रानी वास्तवमें अत्यंत सुंदरी ही थी । ॥२०६-२०७॥ उन दोनोंके जयवर्मा नामका पहला पुत्र उत्पन्न हुआ और सब लोगोंको प्रिय श्रीवर्मा नामका एक छोटा भाई भी हुआ ॥ २०८ ॥ माता पिता दोनों स्वभावसे ही इस छोटे पुत्रपर अधिक प्रेम रखते थे सो ठीक ही है संतान समान होनेपर भी किसीपर प्रेम अधिक होता ही है ॥२०९॥ राजा श्रीषेणने श्रीवर्मापर प्रजाका अनुराग और उत्साह देखकर अपने बड़े पुत्र जयवर्माकी अवहेलना पूर्वक श्रीवर्माकोही युवराजपद

ज्यायांसमवधीरयन् ॥ २१० ॥ जयवर्माथ निर्वेदं परं प्राप्य तपोऽग्रहीत् । स्वयंप्रभगुरोः पार्श्वे स्वमपुण्यं विगर्हयन् ॥ २११ ॥ नवसंयत एवासौ यांतमृद्ध्या महीधरं । खे खेचरेशमुच्चक्षुर्वीक्ष्यासीत्सनिदानकः ॥ २१२ ॥ महाखेचरभोगास्ते भूयासुर्मेऽन्यजन्मनि । इति ध्यायन्नसौ दष्टो वल्मीकाद्भीमभोगिना ॥ २१३ ॥ भोगकाम्यन्विसृष्टासुरिह भूत्वा महाबलः । सोऽनाशितभवान्भोगानभुंक्तेऽद्य खचरोचितान् ॥ २१४ ॥ ततो भोगेष्वसावेवं चिरकालमरज्यत । भवद्वचोऽधुना श्रुत्वा क्षिप्रमेभ्यो विरंस्यति ॥ २१५ ॥ सोऽद्य रात्रौ समैक्षिष्ट स्वप्ने दुर्मतिभिस्त्रिभिः । निमज्ज्यमानमात्मानं बलात्पंके दुरुत्तरे ॥२१६॥ ततो निर्भर्त्स्य तान्दुष्टान्दुःपंकादुद्धृतं त्वया । अभिषिक्तं स्वमैक्षिष्ट निविष्टं हरिविष्टरे ॥२१७॥

दिया जिससे जयवर्माको अत्यंत वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह अपने पापोंको धिक्कार देता हुआ स्वयंप्रभ गुरुके समीप दीक्षा लेकर तपश्चरण करने लगा ॥२१०-२११॥ एक दिन महीधर नामका विद्याधर अपनी समस्त विभूतिके साथ आकाशमार्गसे जा रहा था और उससमय वह जयवर्मा मुनि नवीन ही दीक्षित हुआ था। इसलिये उसने आंख उठाकर ऊपरकी ओर देखा और उस विद्याधरको देखकर निदान किया कि-॥२१२॥ मुझे आगेके जन्ममें इस विद्याधरके समान बड़े बड़े विद्याधरोंके योग्य भोगोपभोगकी सामग्री मिले। वह ऐसा सोच ही रहा था कि अकस्मात् बामीसे निकलकर एक सर्पने उसे डसलिया ॥ २१३ ॥ भोगोंकी इच्छा करते हुये उसने प्राण छोडे थे इसलिये वह मरकर महाबल राजा हुआ है और कभी तृप्त न करनेवाले ऐसे विद्याधरोंके योग्य भोगोपभोगोंका उपभोग कर रहा है ॥ २१४ ॥ वह अबतक भोगोपभोगोंमें फंसा हुआ था किंतु अब वह तुम्हारे वचन सुनकर शीघ्र ही इन भोगोंसे विरक्त होगा ॥ २१५ ॥ उसने आज ही रातको स्वप्नमें देखा है कि अन्य तीन मंत्रियोंने एक बड़ी भारी कीचड़में उसे बलात्कार फंसा दिया है और तुमने उन तीनों दुष्ट मंत्रियोंको धिक्कार देकर उसे उस भारी कीचड़मेंसे निकाला है तथा सिंहासनपर विराजमानकर उसका अभिषेक किया है ॥ २१६ ॥ २१७ ॥ दूसरे स्वप्नमें उसने देखा है कि एक अग्निकी प्रज्वलित ज्वाला बिजलीके समान चंचल और प्रतिस-

दीपामेकां च सज्ज्वालां क्षीयमानामनुक्षणं । क्षणप्रभामिवालोलामपश्यत्तद्गदात्यये ॥ २१८ ॥ दृष्ट्वा स्वप्नावतिस्पष्टं त्वामेव प्रतिपालयन् । आस्ते तस्मात्त्वमाश्वेव गत्वैनं प्रतिबोधय ॥२१९॥ स्वप्नद्वयमदः पूर्वं त्वत्तः श्रुत्वातिविस्मितः । प्रीतो भवद्वचः कृत्स्नं स करिष्यत्यसंशयं ॥२२०॥ तृषितः पयसीवाब्दात्पतिते चातकोऽधिकं । जन्मांध इवानंध-करणे परमौषधे ॥ २२१ ॥ रुचिमेष्यति सद्धर्मे त्वत्तः सोऽद्य प्रबुद्धधीः । दूत्येव मुक्तिकामिन्याः काललब्ध्या प्रचोदितः ॥ २२२ ॥ विद्धि तद्भाविपुण्यर्द्धिपिशुनं स्वप्नमादिमं । द्वितीयं च तदीयायुरतिन्ह्रासनिवेदकं ॥ २२३ ॥ मासमात्रावशिष्टं च जीवितं तस्य निश्चितं । तदस्य श्रेयसे भद्र घटेथास्त्वमशीतकः ॥ २२४ ॥ इत्युदीर्य ततोऽतर्धिमगात्सोऽबरचारणः । समं

मय क्षय होती चली जा रही है। ये दोनों स्वप्न उसने आज ही प्रातःकालके समय देखे हैं ॥ २१८ ॥ अत्यंत स्पष्टरीतिसे इन दोनों स्वप्नोंको देखकर इससमय वह तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है इसलिये तुम शीघ्र जाओ और उसे समझाओ ॥२१९॥ उसके कहनेके पहले तुम ये दोनों स्वप्न उसे सुना देना। इन्हें सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य होगा और वह संतुष्ट होकर तुम्हारी सब बातोंपर विश्वास करलेगा ॥ २२० ॥ जैसे मेघसे पड़े हुये जलसे प्यासा चातक संतुष्ट होता है अथवा जन्मांधपुरुष परम औषधिके द्वारा नेत्र उघड़जानेपर आनंद मानता है ठीक उसीप्रकार काललब्धिकेद्वारा अथवा मुक्तिरूपी स्त्रीकी दूतीके द्वारा प्रेरणा किया हुआ वह बुद्धिमान् राजा महाबल आज केवल तुम्हारे बचन सुनकर ही सद्धर्ममें विश्वास करने लग जायगा ॥ २२१-२२२ ॥ राजा महाबलने जो पहला स्वप्न देखा है वह आगामी कालमें होनेवाले पुण्य और विभूतिका सूचक है तथा उसका दूसरा स्वप्न उसकी अतिशय अल्प रहजानेवाली आयुका सूचक है ॥ २२३ ॥ अब उसकी आयु केवल एक महीनेकी शेष रहगई है। इसलिये हे भद्र अब तुम जाकर अतिशीघ्र उसके कल्याण करनेका प्रयत्न करो ॥२२४॥ यह सब विषय कहकर तथा स्वयंबुद्ध मंत्रीको आशीर्वाद देकर श्रीआदित्यगति चारणमुनि श्रीअरिंजयमुनिके साथ अंतर्धान होगये अर्थात् आकाश-मार्गसे विहार करगये ॥ २२५ ॥ इधर स्वयंबुद्ध मंत्री श्रीमुनिराजके वाक्य सुनकर कुछ व्याकुल हुआ

सधर्मणादित्यगतिराशास्य मंत्रिणं ॥ २२५ ॥ स्वयंबुद्धेऽपि तद्वाक्यश्रवणात्किंचिदाकुलः । द्रुतं प्रत्यावृतत्तस्य प्रतिबोधविधायकः ॥ २२६ ॥
सत्वरं च समासाद्य स तं दृष्ट्वा महाबलं । चारणर्षिवचोऽशेषमाख्यत्स्वप्नफलावधि ॥ २२७ ॥ हंत दुःखानुबंधानां हंता धर्मो जिनोदितः ।
तस्मात्तस्मिन्मतिं धत्स्व मतिमन्निति चान्वशात् ॥२२८॥ ततः स्वायुःक्षयं बुध्वा स्वयंबुद्धान्महाबलः । तनुत्यागे मतिं धीमानधत्त विधिवत्तदा॥२२९॥
कृत्वाऽष्टाह्निकमिद्धर्द्धिर्महामहमहापयत् । दिवसान्स्वगृहोद्यानजिनवेश्मनि भक्तितः ॥ २३० ॥ सुतायातिबलाख्याय दत्वा राज्यं समृद्धिमत् ।
सर्वानापृच्छ्य मंत्र्यादीन्परं स्वातंत्र्यमाश्रितः॥२३१॥ सिद्धकूटमुपेत्याशु परार्ध्यं जिनमंदिरं । सिद्धार्च्यास्तत्र संपूज्य स सन्यास्थदसाध्वसः॥२३२॥

परंतु महाराज महाबलको समझानेकेलिये शीघ्र ही वह अपने नगरको लौटा ॥२२६॥ तत्काल ही महाराज महाबलके समीप पहुंचा और उन्हें देखते ही श्रीमुनिराजके कहे हुये स्वप्न और उनके फल आदि सब बचन कह सुनाये ॥ २२७ ॥ तदनंतर वह स्वयंबुद्ध खेदके साथ कहने लगा कि हे महाराज समस्तदुःखोंका दूर करनेवाला यह श्रीजिनेंद्रदेवका कहा हुआ धर्म ही है । इसलिये हे बुद्धिमन् आप इसीमें अपना चित्त लगाइये इसीका पालन कीजिये ॥ २२८ ॥ अतिशय समृद्धशाली बुद्धिमान् महाराज महाबलने स्वयंबुद्धके मुखसे अपनी आयुका अंत समझकर विधिपूर्वक समाधिमरण धारणकर शरीर छोड़ना निश्चय किया तथा अपने उद्यानके जिनालयमें अष्टाह्निक महायज्ञ कराना प्रारंभ किया और वह भक्तिपूर्वक वहीं अपने दिन व्यतीत करने लगा ॥ २२९ ॥ २३० ॥ उसने अपना समृद्धशाली राज्य अपने पुत्र अतिबलकेलिये सौंपदिया । तथा मंत्री कुटुंबी आदि सब लोगोंसे आज्ञा लेकर उत्कृष्ट स्वाधीनता धारण की ॥ २३१ ॥ अनंतर वह अति शीघ्र परमपूज्य सिद्धकूट जिनमंद्रिरमें पहुंचा । वहां उसने सिद्धपरमेष्ठीकी पूजा की तथा निर्भय होकर समाधिमरण धारण किया ॥ २३२ ॥ उस बुद्धिमान महाबलने गुरुकी साक्षीपूर्वक अपने जीवनपर्यंत आहार और शरीरसे ममत्व त्याग करनेकी प्रतिज्ञा ग्रहण की और वीरशय्या आसन धारण किया ॥ २३३ ॥ महाराज महाबल संसारसागरसे पार होनेके लिये आराधनारूपी नाव-

यावज्जीवं कृताहारशरीरत्यागसंगरः । गुरुसाक्षि समारुक्षद्वीरशय्याममूढधीः ॥ २३३ ॥ आरुह्याराधनानावं तितीर्षुर्भवसागरं । निर्यापकं स्वयंबुद्धं बहुमेने महाबलः ॥ २३४ ॥ सर्वत्र समतां मैत्रीमनौत्सुक्यं च भावयन् । सोऽभून्मुनिरिवासंगस्त्यक्तबाह्येतरोपधिः ॥ २३५ ॥ देहाहारपरित्यागव्रतमास्थाय धीरधीः । परमाराधनाशुध्दिं स भेजे सुसमाहितः ॥ २३६ ॥ प्रायोपगमनं कृत्वा धीरः स्वपरगोचरान् । उपकारानसौ नैच्छच्छरीरेऽनिच्छतां गतः ॥ २३७ ॥ तीव्रं तपस्यतस्तस्य तनिमानमगात्तनुः । परिणामस्त्ववर्धिष्ट स्मरतः परमेष्ठिनां ॥ २३८ ॥ अनाशुषोऽस्य गात्राणां परं शिथिलताऽभवत् । नारूढायाः प्रतिज्ञाया व्रतं हि महतामिदं ॥ २३९ ॥ शरद्घनइवारूढकार्श्योऽभूत्स रसक्षयात् । मांसासृजवियुक्तं हि

पर आरूढ हुआ तथा स्वयंबुद्ध मंत्रीको निर्यापकाचार्य (नावचलानेवाला खेवटिया) बनाकर उसे बहुत कुछ मानने लगा ॥२३४॥ वह सुख दुःख आदि सब विषयोंमें समता धारण करने लगा सब जीवोंमें मैत्रीभाव धारण करने लगा। उसने उत्सुकता छोड़दी और बाह्य आभ्यंतर परिग्रहका भी त्याग करदिया इसलिये वह परिग्रहरहित मुनिके समान प्रतिभासित होने लगा ॥ २३५ ॥ उस धीर वीर बुद्धिमान् महाराज महाबलने शरीर और आहार त्याग करनेका व्रत धारण किया सब इंद्रियां वश कीं और ज्ञानदर्शन चारित्र तप इन चारों आराधनाओंकी परम विशुद्धि धारण की तथा ॥ २३६ ॥ जीवनपर्यंत अन्नजलका त्याग किया शरीरसे ममत्व छोडदिया इसलिये वह शरीरकी रक्षा करनेकेलिये न तो स्वयं ही कुछ उपाय करता था और न दूसरोंसे किसी उपकारकी इच्छा रखता था ॥ २३७ ॥ उसने तीव्र तपश्चरण किया इसलिये उसका शरीर अतिशय कृष होगया था परंतु वह निरंतर अरहंत आदि पंचपरमेष्ठियोंका स्मरण करता था इसलिये उसके परिणामोंकी विशुद्धि निरंतर बढती जाती थी ॥ २३८ ॥ निरंतर उपवास करनेके कारण उसका शरीर अति शिथिल होगया था परंतु उसकी ग्रहण की हुई प्रतिज्ञामें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं आई थी, सो ठीक ही है प्रतिज्ञामें शिथिलता न करना ही महापुरुषोंका उत्कृष्ट व्रत है ॥ २३९ ॥ उसके शरीरका रक्त मांस सब सूख गया था इसलिये वह शरदऋतुके बादलके समान

देहं सुर इवाबिभः ॥ २४० ॥ गृहीतमरणारंभव्रतं तं वीक्ष्य चक्षुषी । शुचेव क्वापि संलीने प्राग्विलासाद्विरेमतुः ॥ २४१ ॥ कपोलावस्य संशुष्यदसृग्मांसत्वचावपि । गढा कांत्यानपायिन्या नौज्झिष्टां प्राक्तनीं श्रियं ॥ २४२ ॥ नितांतपविरावंसौ केयूरकिणकर्कशौ । तदाऽस्योज्झितकाठिन्यौ मृदिमानमुपेयतुः ॥ २४३ ॥ आभुग्नमुदरं चास्य त्रिबलीभंगसंगमं । निवातनिस्तरंगांबुसरः शुष्यदिवाभवत् ॥ २४४ ॥ तपस्तनूनपात्तापाद्दिदीपेऽधिकमेव सः । कनकाश्म इवाध्मातः परां शुध्दिं समुद्वहन् ॥ २४५ ॥ असह्यं तनुसंतापं सहमानस्य हेलया । ययुः परीषहा भंग-

---

अत्यंत कृष होगया था। अथवा रक्तमांसरहित वह शरीर सप्तधातुरहित देवोंके शरीरके समान सुशोभित हो रहा था ॥ २४० ॥ महाराज महाबलने मरणसमयमें कठिन व्रत धारण किये हैं यह देखकर उसके दोनों नेत्र शोकसे ही अदृश्य होगये थे तथा उन्होंने पहलेके हाव भाव विलास आदि सब छोड दिये थे ॥ २४१ ॥ उसके दोनों गालोंके रक्त मांस चमड़ा आदि सब सूख गये थे इसलिये वे दोनों गाल बैठगये थे तथापि अविनाशिनी कांतिके द्वारा बढी हुई उनकी पहली शोभा कम नहीं हुई थी ॥ २४२ ॥ उसके जो कंधे बाजूबंदके कारण अत्यंत कर्कश और नितांत कठिन थे, उन्होंने उस समाधिमरणके समय अपनी सब कठिनता छोडदी थी तथा वे अत्यंत कोमल वा सिथिल हो गये थे ॥ २४३ ॥ उसके उदरकी त्रिबली सब नष्ट होगई थी तथा उदर भी कुछ संकुचित हो गया था इसलिये वह ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों वायुके न चलनेसे तरंगरहित सूखता हुआ तालाव ही हो ॥ २४४ ॥ जिसप्रकार अग्निसे तपाया हुआ कनकपाषाण अतिशय शुद्धता धारण करता हुआ अधिक सुशोभित होता है उसीप्रकार तपरूपी अग्निसे तप्त हुआ वह राजा महाबल और भी अधिक सुशोभित होने लगा था ॥२४५॥ जो राजा अनेक असह्य शरीरसंताप लीलामात्रमें सहन करता था जो कभी किसी युद्ध वा प्रतिज्ञासे परान्मुख नहीं हुआ था उसके साथ ऐसी अवस्थामें युद्ध करते हुये परिषहोंको भी हार माननी पड़ी थी ॥२४६॥ यद्यपि उसके शरीरमें केवल चमड़ा और हड्डीमात्र रहगई थी तथापि वह अपने समाधिरूपी बलसे सब परिषहोंको जीतता था इसयिले

मर्मंगस्यास्य संगरे ॥ २४६ ॥ त्वगस्थीभूतदेहोऽपि यद्वचजेष्ट परीषहान् । स्वसमाधिवलाद्यक्तं स तदाऽऽसीन्महाबलः ॥२४७॥ मूर्ध्नि लोकोत्तमान्सिध्दान्स्थापयन्हृदयेऽर्हतः । शिरःकवचमस्त्रं च स चक्रे साधुभिस्त्रिभिः ॥२४८॥ चक्षुर्षी परमात्मानमद्राष्टामस्य योगतः । अश्रौष्टां परमं मंत्रं श्रोत्रे जिह्वा तमापठत् ॥ २४९ ॥ मनोगर्भगृहेऽर्हतं विधायासौ निरंजनं । प्रदीपामिव निर्धूतध्वांतोऽभूद्ध्यानतेजसा ॥२५०॥ द्वाविंशतिदिनान्येष कृतसल्लेखनाविधिः । जीवितांते समाधाय मनः स्वं परमेष्ठिषु ॥ २५१ ॥ नमस्कारपदान्यंतर्जल्पेन निभृतं जपन् । ललाटपटविन्यस्तहस्तपंकजकुड्मलः ॥ २५२ ॥ कोशादसेरिवान्यत्वं देहाज्जीवस्य भावयन् । भावितात्मा सुखं प्राणानौज्झत्सन्मंत्रिसाक्षिकं ॥ २५३ ॥ मंत्रशक्त्या

ही उसके महाबल नाम की सार्थकता प्रगट होती थी ॥२४७॥ उसने मस्तकपर लोकोत्तम श्रीसिद्धभगवानको और हृदयमें अरहंत भगवानको स्थापन किया था। तथा आचार्यपरमेष्ठीके ध्यानका टोप, उपाध्यायपरमेष्ठीके ध्यानका कवच और साधु परमेष्ठीके ध्यानका अस्त्र धारण किया था। इसप्रकार उसने अपने पांचों स्थान पंच परमेष्ठियोंसे आच्छादन किये थे ॥२४८॥ ध्यानके द्वारा उसके दोनों नेत्र केवल परमात्माको ही देखते थे कान केवल परममंत्र पंचनमस्कारमंत्रको ही सुनते थे और जिह्वा केवल उसी पंचनमस्कारमंत्रका पाठ करती थी ॥ २४९ ॥ महाराजमहाबलने अपने मनरूपी गर्भगृहमें निर्धूम दीपकके समान कर्मकलंकादिरहित श्रीअरहंतभगवानको स्थापनकर ध्यानरूपी तेजके द्वारा अज्ञानांधकाररहित अवस्था धारण करली थी ॥ २५० ॥ इसप्रकार विधिपूर्वक समाधिमरण धारण करते हुये महाराज महाबलको बाईस दिन व्यतीत होगये आयुके अंतसमयमें उसने अपना मन पंच परमेष्ठियोंके ध्यानमें लगाया, अपने हस्तरूपी कमल मुकुलितकर अपने विस्तीर्ण ललाटपर स्थापन किये और अपने अंतःकरणमें पंचनमस्कारमंत्रका निश्चल जप करते हुये, म्यानसे तलवारके समान शरीरसे जीवको सर्वथा भिन्न चिंतवन करते हुये तथा अपने आत्माका निरंतर चिंतवन करते हुये स्वयंबुद्ध मंत्रीके समीप सुखपूर्वक प्राण त्याग किये। ॥२५१-२५२-२५३॥ स्वयंबुद्ध मंत्री जिसप्रकार पहले महाराज महाबलकी राज्यावस्थामें अपनी मंत्रशक्तिके

यथा पूर्वं स्वयंबुद्धो न्यधाद्बलं । तदापि मंत्रशक्त्यैव बलं न्यास्थन्महाबले ॥२५४॥ साचिव्यं सचिवेनेति कृतमस्य निरत्ययं । तदा धर्मसहायत्वं निर्व्यपेक्षं प्रकुर्वता ॥२५५॥ देहभारमथोत्सृज्य लघूभूत इव क्षणात् । प्रापत्स कल्पमैशानमनल्पसुखसान्निधिं ॥२५६॥ तत्रोपपादशय्यायामुदपादि महोदयः । विमाने श्रीप्रभे रम्ये ललितांगः सुरोत्तमः ॥२५७॥ यथा वियति वीताभ्रे साभ्रा विद्युद्विरोचते । तथा वैक्रियिकी दिव्या तनुरस्याचिरादभात् ॥२५८॥ नवयौवनपूर्णो ना सर्वलक्षणसंभृतः । सुप्तोत्थितो यथा भाति तथा सोंतर्मुहूर्त्ततः ॥२५९॥ ज्वलत्कुंडलकेयूरमुकुटांगदभूषणः । स्रग्वी सदंशुकधरः प्रादुरासीन्महाद्युतिः ॥२६०॥ तस्य रूपं तदा रेजेऽनिमेषालसलोचनं । झषद्वयेन निष्कंपास्थितेनेव सरोजलं ॥२६१॥ बाहुशाखो-

---

द्वारा बल अर्थात् चारों प्रकारकी सेना तैयार करता था ठीक उसी प्रकार उसने समाधिमरणके समयमें भी पंचनमस्कार मंत्रकी शक्तिके द्वारा ही महाराज महाबलमें दर्शन ज्ञानचारित्र और तपरूपी बल स्थापन किया ॥ २५४ ॥ इसप्रकार अपेक्षारहित धर्मसहाय करनेवाले स्वयंबुद्ध मंत्रीने महाराज महाबलके समाधिमरणके अंतसमयतक निरंतर अपने मंत्रीपनेका काम किया ॥ २५५ ॥ इधर महाराज महाबलका जीव शरीरका भार वहां पर छोड़ देनेके कारण मानों हलका होकर क्षणभरमें अनेक सुख सामाग्रियोंसे भरे हुये द्वितीय ऐशानस्वर्गमें जा पहुंचा और ॥ २५६ ॥ वहां उपपाद शय्यामें उत्पन्न होकर अति सुंदर श्रीप्रभविमानमें बड़ी ऋद्धिका धारक ललितांग नामका उत्तम देव हुआ ॥ २५७ ॥ जैसे बादलरहित स्वच्छ आकाशमें स्वेत बादलों सहित बिजली शोभायमान होती है ठीक उसीप्रकार उसका वैक्रियिक शरीर तत्काल ही अतिशय सुंदर होगया ॥ २५८ ॥ जैसे कोई पुरुष सोतेसे उठता है उसीप्रकार वह उपपादशय्यासे उठकर अंतर्मुहूर्त्तमें संपूर्ण लक्षणोंसहित पूर्ण नवयौवनकी सुंदरता धारण करता हुआ ॥ २५९ ॥ कानोंमें देदीप्यमान कुंडल, भुजाओंमें केयूर बाजूबंद और मस्तकपर मुकुट आदि आभूषण पहने हुये गलेमें माला और शरीरपर दिव्य वस्त्र धारण किये हुये अतिशय कांतिमान् वह ललितांग देव उत्पन्न हुआ ॥२६०॥ उसके दोनों नेत्र टिमकाररहित थे इसलिये उसका रूप ऐसा दिखता था जैसे निश्चल बैठी हुई दो

ज्ज्वलं श्रीमत्तलपल्लवकोमलं । नेत्रभृंगं वपुस्तस्य भेजे कल्पांघ्रिपश्रियं ॥२६२॥ ललितं ललितांगस्य दिव्यं रूपमयोनिजं । इत्येव वर्णनाऽस्यास्तु किं वा वर्णनयान्यया ॥२६३॥ पुष्पवृष्टिस्तदाऽपप्तन्मुक्ता कल्पद्रुमैः स्वयं । दुंदुभिस्तनितं मंद्रं जजृंभे रुद्धादिक्तटं ॥२६४॥ मृदुराधूतमंदारनंदनादाहृतरजः । सुगंधिरावत्रौ मंदमनिलोऽबुकणान्किरन् ॥२६५॥ ततोऽसौ बलितां किंचिद्दृशं व्यापरयन् दिशं । समंतादानमद्देवकोटिदेहप्रभाजुषां ॥२६६॥ अहो परममैश्वर्यं किमेतत्कोऽस्मि के त्विमे । आनमंत्येत्य मां दूरादित्यासीद्विस्मितः क्षणं ॥२६७॥ क्वायातोऽस्मि कुतो वाऽद्य पप्रसीदति मे मनः ।

मछलियोंसे तालावका जल सुंदर दिखता हो अथवा ॥ २६१ ॥ यों कहना चाहिये कि उसका शरीर ठीक कल्पवृक्षकी शोभाको धारण करता था क्योंकि उसकी दोनों लंबी भुजायें उज्ज्वल शाखाके समान थीं अतिशय सुंदर हाथोंकी हथेली कोमल पत्तोंके समान थीं और दोनों नेत्र भ्रमरोंके समान थे ॥२६२॥ ऐसे ललितांग देवके रूपका वर्णन और कहांतक किया जाय केवल इतनेमें ही समझलेना चाहिये कि बिना योनिके उत्पन्न हुये उस ललितांगदेवका दिव्य रूप अत्यंत ही सुंदर था ॥ २६३ ॥ जिससमय वह उत्पन्न हुआ था उससमय वहां अपने आप कल्पवृक्षोंसे पुष्पवृष्टि होने लगी दुंदुभि बाजे बजने लगे जिनके मधुर और गंभीर शब्द सब दिशाओंमें व्याप्त होने लगे तथा ॥ २६४ ॥ अतिशय छोटी २ पानीकी बूंदें डालता हुआ तथा नंदनबनके हिलते हुये कल्पवृक्षोंसे पुष्पपराग ग्रहण करता हुआ अतिशय कोमल मंदसुगंध वायु बहने लगा ॥२६५॥ तदनंतर उस ललितांगदेवने इधर उधर दृष्टि घुमाकर सब दिशाओंको अवलोकन किया और देखा कि सब दिशायें चारों ओरसे नमस्कार करते हुये करोड़ों देवोंके शरीरकी कांतिसे दैदीप्यमान हो रही हैं ॥ २६६ ॥ यह सब सामग्री देखकर ललितांगदेव क्षणभरके लिये चकित होगया और सोचने लगा कि यह सब परम ऐश्वर्य क्या है ? मैं कौन हूं ? ये सब कौन हैं जो दूर दूरसे आकर मुझे नमस्कार करते हैं ? ॥ २६७ ॥ मैं कहां आगया ? आज मेरा मन अतिशय प्रसन्न क्यों है ? यह शय्या स्थान किसका है ? और यह मनोहर आश्रम कौनसा है ॥ २६८ ॥ इसप्रकार चिंतवन कर ही रहा था

शय्यातलमिदं कस्य रम्यः कोऽयं महाश्रमः ॥२६८॥ इति चिंतयतस्तस्य क्षणादवधिरुद्ययौ । तेनाबुद्ध सुरः सर्वं स्वयंबुद्धादिवृत्तकं ॥२६९॥ इदं तपःफलं दिव्यमयं स्वर्गो महाद्युतिः । इमे देवास्समुत्सर्पद्देहोद्योताः प्रणामिनः ॥२७०॥ विमानमेतदुद्भासि कल्पपादपवेष्टितं । इमा मंजुगिरो देव्यः शिंजानमणिनूपुराः ॥२७१॥ अप्सरःपरिवारोऽयमितो नृत्यति सस्मितं । गीयते कलमामंद्रमितश्च मुरजध्वनिः ॥२७२॥ इति निश्चित्य तत्सर्वं भवप्रत्ययतोऽवधेः । शय्योत्संगे सुखासीनो नानारत्नांशुभासुरे ॥२७३॥ जयेश विजयिन्नंद नेत्रानंद महाद्युते । वर्धस्वेत्युदिगरो नम्रास्तमासीदन्दिवौकसः ॥२७४॥सप्रश्रयमथोपेत्य स्वनियोगप्रचोदिताः । ते तं विज्ञापयामासुरिति प्रणतमौलयः ॥२७५॥ प्रतच्छि प्रथमं नाथ सज्जं मज्जनमंगलं । ततः पूजां

कि उसे उसी क्षण अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे तत्काल ही स्वयंबुद्धके उपदेशसे मुझे यह देवपद प्राप्त हुआ है इत्यादि सब समाचार जानलिये और ॥ २६९ ॥ यह भी निश्चय करलिया कि यह मनोहरता केवल तपका फल है, यह महा देदीप्यमान स्वर्ग है, ये प्रणाम करते हुये तथा अपने शरीरकी कांतिसे चारों ओर प्रकाश करते हुये देव हैं । यह प्रकाशमान और कल्पवृक्षोंसे सुशोभित श्रीप्रभ नामका विमान है । यह देखो जिनके पैरोंमें मणिमय नूपुर लगे हुये हैं ऐसी ये मधुर और सुकोमल भाषण करनेवाली देवी हैं, इधर यह मृदंग बजरहा है, इधर यह अप्सराओंका समूह है जो कि किंचित् हंसता हुआ नृत्य कर रहा है तथा मनोहर और गंभीर गीत गा रहा है । इत्यादि सब बातें उसने भवप्रत्यय अवधिज्ञानसे निश्चय करलीं तथा अनेक रत्नकिरणोंसे प्रकाशमान् शय्यासनपर यह सुखसे बैठा ही था कि वहां अनेक देव विनय करते हुये आये और कहने लगे कि हे स्वामिन् ! आपकी जय हो, हे विजयशील ! नेत्रोंको आनंद देनेवाले ! अतिशय कांतिमान् आप सदा वृद्धिंगत हों ॥ २७०-२७४ ॥ तदनंतर अपने अपने नियोगसे प्रेरित हुये अनेक देव उसके समीप आये और अतिशय विनयपूर्वक नमस्कार करके निवेदन करने लगे कि ॥ २७५ ॥ हे नाथ स्नान करनेकी सामग्री तैयार है स्नान कीजिये और फिर पुण्यकर्मका बंध करनेवाली श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा कीजिये ॥ २७६ ॥ अनंतर आपके भाग्यसे प्राप्त हुई तथा

जिनेंद्राणां कुरु पुण्यानुबंधिनीं ॥ २७६ ॥ ततो बलमिदं दैवं भवद्दैवबलार्ज्जितं । समालोकय संघट्टैः समापतदितस्ततः ॥ २७७ ॥ इतः प्रेक्षस्व संप्रेक्ष्याः प्रेक्षागृहमुपागतः । सलीलभ्रूलतोत्क्षेपं नटंतीः सुरनर्त्तकीः ॥ २७८ ॥ मनोज्ञवेषभूषाश्च देवीर्देवाद्य मानय । देवभूयस्य संप्राप्तौ फलमेतावदेव हि ॥ २७९ ॥ इति तद्वचनादेतत्स सर्वमकरोत्कृती । स्वनियोगानतिक्रांतिर्महतां भूषणं परं ॥ २८० ॥ निष्टप्तकनकच्छायः सप्तहस्तोच्चविग्रहः । वस्त्राभरणमालाद्यैः सहजैरिव भूषितः ॥२८१॥ सुगंधिबंधुरामोदनिश्वासो लक्षणोज्ज्वलः । स दिव्यानन्वभूद्भोगानणिमादिगुणैर्युतः ॥ २८२॥ भेजे वर्षसहस्रेण मानसीं स तनुस्थितिं । पक्षेणैकेन चोच्छ्वासं प्रवीचारोऽस्य कायिकः ॥ २८३ ॥ तनुच्छायामिवाम्लानिं दधानः स्रजमुज्ज्वलां।

अति संघट होनेके कारण इधर उधर पड़ी हुई इस देवोंकी सेनाका निरीक्षण कीजिये ॥ २७७ ॥ तथा नाट्यशालामें जाकर लीलासहित भौंह नचाकर नृत्य करती हुई देखनेयोग्य अतिशय सुंदर अप्सराओंको देखिये ॥ २७८ ॥ हे देव ! आज मनोहर वेष और अभूषणोंसे सुसज्जित इन देवियोंका सत्कार कीजिये क्योंकि देवपर्याय प्राप्त होनेका यही निश्चय फल है ॥ २७९ ॥ इसप्रकार उन देवोंके बचन सुनकर उस पुण्यवान् ललितांगदेवने उनके कथनानुसार सब कुछ किया सो ठीक ही है अपने नियोगका (पूर्वानुगत नियमोंका) उल्लंघन न करना ही महापुरुषोंका उत्कृष्ट भूषण है ॥ २८० ॥ उस ललितांगदेवका शरीर ताये हुये सुवर्णके समान दैदीप्यमान सात हाथ ऊंचा था तथा वस्त्र आभरण माला आदि साथ साथ उत्पन्न होनेवाले आभूषणोंसे सुशोभित था ॥२८१॥ उसका निश्वास अतिशय सुगंधित और मनोहर था तथा अनेक शुभलक्षणोंसे सुशोभित होकर अणिमा महिमा आदि अनेक गुणसहित दिव्य भोगोंका अनुभव करने लगा था ॥ २८२ ॥ एकहजार वर्ष व्यतीत होनेपर वह देव मानासिक आहार लेता था एक पक्ष वीत जानेपर उच्छ्वास लेता था और उसका संभोग शरीरद्वारा होता था ॥ २८३ ॥ वह शरीरकी उज्ज्वल कांतिके समान जो कभी नहीं मुरझाती थी ऐसी माला और शरदऋतुके आकाशके समान निर्मल दिव्य वस्त्र धारण करता था ॥ २८४ ॥ उस ललितांगदेवके चार हजार देवियां थीं और सुंदर

शरत्काल इवाधत्त स दिव्यमरजोऽम्बरं ॥ २८४ ॥ सहस्राण्यभवद्देव्यश्चत्वार्यस्य परिग्रहः । चतस्रश्च महादेव्यश्चारुलावण्यविभ्रमाः ॥ २८५ ॥ स्वयंप्रभाग्रिमा देवी द्वितीया कनकप्रभा । कनकादिलतान्यासीद्देवी विद्युल्लतापरा ॥ २८६ ॥ रामाभिरभिरामाभिराभिर्भोगाननारतं । भुंजानस्यास्य कालोऽगादनल्पः पुण्यपाकजान् ॥ २८७ ॥ तदायुर्जलधेर्मध्ये वीचीमाला इवाकुलाः । विलीयंते स्म भूयस्यो देव्यः स्वायुःस्थितिच्युतेः ॥ २८८ ॥ पल्योपमपृथक्त्वावशिष्टमायुर्यदाऽस्य च । तदोदपादि पुण्यैः स्वैः प्रेयस्यस्य स्वयंप्रभा ॥ २८९ ॥ अथ सा कृतनेपथ्या प्रभातरलविग्रहा । पत्युरंकगता रेजे कल्पश्रीरिव रूपिणी ॥ २९० ॥ सैषा स्वयंप्रभाऽस्याऽऽसीत्परा सौहार्दभूमिका । चिरं मधुकरस्येव प्रत्यग्रा चूतमंजरी

हाव भाव लावण्य आदि सहित चार महादेवियां थी ॥ २८५ ॥ इन चारमहादेवियोंमें सबसे प्रधान देवी स्वयंप्रभा थी दूसरी कनकप्रभा तीसरी कनकलता और चौथी विद्युल्लता थी ॥ २८६ ॥ इन सुंदर स्त्रियोंके साथ पुण्यकर्मसे प्राप्त होनेवाले अनेक प्रकारके भोगोपभोग निरंतर अनुभव करते हुये इस ललितांगदेवका बहुत काल व्यतीत होगया ॥ २८७ ॥ उसके एकसागरकी आयुरूपी समुद्रमें चंचल तरंगोंके समान अनेक देवियां अपनी पल्योपमकी छोटी आयु पूर्ण होनेपर विलीन हो जाती थीं ॥ २८८ ॥ जब ललितांगदेवकी आयु [1]पृथक्त्व पल्यके समान शेष रहगई तब उसके पुण्योदयसे एक स्वयंप्रभा देवी उत्पन्न हुई थी ॥ २८९ ॥ अनेक आभरण पहने हुये तथा अपनी कांतिसे चंचल शरीर धारण किये हुये वह स्वयंप्रभा ललितांगके समीप ऐसी सुंदर मालूम होती थी मानों रूप धारणकरके स्वर्गकी लक्ष्मी ही आई हो ॥ २९० ॥ उस स्वयंप्रभासे ललितांगदेवका चित्त अतिशय प्रसन्न होता था जैसेकि नवीन आम्रकलिकासे भ्रमरका चित्त प्रसन्न होता है ॥ २९१ ॥ वह ललितांगदेव स्वयंप्रभाकामुख देखकर तथा उसके शरीरका स्पर्शकर हथिनीमें आसक्त हुये हाथीके समान चिरकाल तक क्रीड़ा करता था ॥ २९२ ॥ उस स्वयंप्रभाके साथ साथ जहां मनोहर चंद्रकांत शिला पडी हुई है जहां भ्रमर कोकिल आदि

१ दोसे नौ तककी गिनतीको पृथक्त्व कहते हैं ।

॥ २९१ ॥ स्वयंप्रभाननालोकतद्गात्रस्पर्शनोत्सवैः । स रेमे करिणीसक्तः करीव सुचिरं सुरः ॥ २९२ ॥ स तया मंदरे कांतचंद्रकांताशिलातले । भृंगकोकिलवाचालनंदनादिवनान्विते ॥ २९३ ॥ नीलादिष्वचलेंद्रेषु खचराचलसानुषु । कुंडले रुचके चाद्रौ मानुषोत्तरपर्वते ॥ २९४ ॥ नंदीश्वरमहाद्वीपे द्वीपेष्वन्येषु चाब्धिषु । भोगभूम्यादिदेशेषु दिव्यं देवोऽवसत्सुखं ॥ २९५ ॥ इति परममुदारं दिव्यभोगं महर्द्धिं सममरवधूभिः सोन्वभूदद्भुतश्रीः । स्मितहसितविलासस्पष्टचेष्टाभिरिष्टं स्वकृतसुकृतपाकात्साधिकं वार्द्धिमेकं ॥ २९६ ॥ स्वतनुमतनुतीव्रासह्यतापैस्तपोभिर्यदयमकृतधीमान्निष्कलंकाममुत्र । तदिह रुचिरभाभिः स्वर्वधूभिः सहायं सुखमभजत तस्माद्धर्म एवार्ज्जनीयः ॥२९७॥ कुरुत तपसि तृष्णां भोगतृष्णा-

---

पक्षियोंके मनोहरशब्दोंसे वाचालित नंदन पांडुक आदि बन शोभायमान हैं ऐसे सुमेरुपर्वतपर, कभी निषध नील आदि बड़े बड़े पर्वतोंपर कभी विजयार्द्धपर्वतके शिखरोंपर कभी कुंडलगिरिपर कभी रुचकगिरिपर, कभी मानुषोत्तरपर्वतपर, कभी नंदीश्वर महाद्वीपमें, कभी अन्य अनेक द्वीपोंमें, कभी समुद्रोंमें और कभी भोगभूमिके उत्तमप्रदेशोंमें क्रीड़ा करता हुआ सुखपूर्वक निवास करता था॥२९३-२९४-२९५॥ इसप्रकार अद्भुत शोभा और अनेक ऋद्धियोंको धारण करनेवाले उस ललितांगदेवने अपने किये हुये पुण्यकर्मके उदयसे गर्वसहित हास्य और विलासके द्वारा अनेकप्रकारकी स्पष्ट चेष्टा करनेवालीं उपमारहित अनेक देवियोंके साथ कुछ अधिक एकसागरवर्षप्रमाण अपनी इच्छानुसार उत्कृष्ट और बड़े २ दिव्य भोगोंका अनुभव किया था ॥ २९६ ॥ उस बुद्धिमान ललितांगदेवने पूर्व जन्ममें दुर्धर तीव्र और असह्य संताप उत्पन्न करनेवाले तपश्चरणोंके द्वारा अपना शरीर निष्कलंक किया था इसकारण ही उसने दैदीप्यमान सुंदर देवागनाओंके साथ अनेकप्रकारके सुख भोगे। अतएव आचार्योंका सदा यही उपदेश है कि सुख चाहनेवालोंको सदा धर्म उपार्जन करना चाहिये धर्मसे ही सुखकी प्राप्ति होती है ॥ २९७ ॥ भो भव्यपुरुष हो यदि सबसे अधिक संपत्ति चाहते हो तो भोगोपभोगोंकी तृष्णा छोडकर तपश्चरण करनेमें तृष्णा करो तथा कर्ममलकलंकादिरहित, सबके नायक श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करो तथा उन्हींके

मपास्य श्रियमधिकतरां चेद्वांछथ प्रांचतेशं । जिनमवृजिनमार्योस्तद्वचः श्रद्दधीध्वं कुकविविरुतमन्यच्छासनं माधिगीध्वं ॥ २९८ ॥ इत्थं विकथ्य-पुरुषार्थसमर्थनो यो धर्मः कुकर्मकुटिलाटबिसत्कुठारः । तं सेवितुं बुधजनाः प्रयतध्वमाध्वं जैने मते कुमतिभेदिनि सौख्यकामाः ॥२९९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे ललितांगस्वर्गभोगवर्णनं नाम पंचमं पर्व ।

अथ षष्ठं पर्व ।

कदाचिदथ तस्यासन्भूषासंबंधिनोमलाः । मणयस्तेजसा मंदा निशापायप्रदीपवत् ॥ १ ॥ माला च सहजा तस्य महोरस्थल-

बचनोंमें श्रद्धान करो । इनके सिवाय अन्य कुकवियोंके कहे हुये मिथ्वामतोंका आदर और ग्रहण कभी मत करो ॥२९८॥ भो पंडितजन हो यदि आपलोग सुख चाहते हो तो अति प्रशंसनीय धर्म अर्थ काम और मोक्ष प्रदान करनेवाला तथा पापकर्मरूपी विषमवनके नाश करनेकेलिये कुठारके समान जो यह जैन धर्म है इसके सेवन करनेके लिये कुमतिको नाश करनेवाले इस जैनमतके ही पालन करनेका शीघ्र प्रयत्न करो ॥ २९९ ॥

इसप्रकार श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत संस्कृतमहापुराणके नवीन हिन्दीभाषानुवादमें ललितांगदेवकी स्वर्ग-प्राप्तिवर्णनवाला पांचवां पर्व समाप्त हुआ ॥

छठा पर्व ।

इसप्रकार वह ललितांगदेव अनेक भोगोंका अनुभव कर रहा था जब उसकी आयु केवल छह महीनेकी रहगई तब उसके आभूषण संबंधी निर्मल मणि अकस्मात् ऐसे तेजरहित होगये जैसे रात्रि व्यतीत होनेपर दीपककी प्रभा मंद पड़जाती है ॥ १ ॥ जन्मसमयसे ही उसके विस्तीर्ण वक्षःस्थलपर पड़ी

संगिनी । म्लानिमागादमुष्येव लक्ष्मीर्विश्लेषभीलुका ॥ २ ॥ प्रचकंपे तदावाससंबंधी कल्पपादपः । तद्वियोगमहावातधूतः साध्वसमादधत् ॥३॥ तनुच्छाया च तस्याऽऽसीत्सद्यो मंदायिता तदा । पुण्यातपत्रविश्लेषे तच्छाया क्वावतिष्ठतां ॥ ४ ॥ तदालोक्य तमाध्वस्तकांतिं विच्छायतां गतं । न शेकुर्द्रष्टुमैशानकल्पजा दिविजाः शुचा ॥ ५ ॥ तस्य दैन्यात्परिप्रापा दैन्यं तत्परिचारकाः । तरौ चलति शाखाद्या विशेषान्न चलंति किं ॥ ६ ॥ आजन्मनो यदेतेन निर्विष्टं सुखमामरं । तत्तदा पिंडितं सर्वं दुःखभूयमिवागतं ॥ ७ ॥ तत्कंठमालिकाम्लानिवचः कल्पांतमानशे । शीघ्र-रूपस्य लोकांतमणोरिव विचेष्टितं ॥ ८ ॥ अथ सामानिका देवास्तमुपेत्य तथोचितं । तद्विषादापनोदीदं पुष्कलं वचनं जगुः ॥ ९ ॥ भो धीर

हुई वह माला ऐसी मलिन होगई मानों ललितांगदेवके होनेवाले वियोगसे भयभीत हुई लक्ष्मी ही मलिन पड़गई हो ॥ २ ॥ उसके विमानसंबंधी कल्पवृक्ष भी सब ऐसे कांपने लगे मानों उसके वियोगरूपी महा-वायुसे कंपायमान हुये भयभीत ही हो रहे हों ॥ ३ ॥ उससमय उसके शरीरकी कांति भी मंद पड़गई सो ठीक ही है पुण्यरूपी छत्रके वियोग होनेपर भला उसकी छाया कहां ठहर सकती है ॥ ४ ॥ उससमय कांति रहित और मलिनताको प्राप्त हुये ललितांगको देखकर ईशानस्वर्गके देव अतिशय शोकके कारण उसे देख न सके ॥५॥ उसकी उदासीनता देखकर परिवारके सब लोग उदास होगये सो ठीकही है वृक्षके हिलने पर उसकी शाखा प्रशाखा आदि क्या विशेषरूपसे नहीं हिलते हैं? अर्थात् हिलते ही हैं ॥६॥ उससमय ऐसा जान पड़ता था कि उसने जन्मसे लेकर आजतक जो देवसंबंधी अनेक सुख अनुभव किये थे वे सब मिलकर मानों दुःखरूप होकर ही आये हों ॥ ७ ॥ 'ललितांगदेवकी माला प्रभाहीन होगई है' यह वाक्य तत्कालही ईशानस्वर्गमें ऐसे व्याप्त होगया जैसे कि शीघ्रगतिवाला परमाणु समयमात्रमें लोकके अंतपर्यंत चला जाता है ॥ ८ ॥ यह समाचर पाते ही सामानिक जातिके देव तत्काल उसके समीप आये और उसके सुनने योग्य तथा उसका विषाद दूर करनेवाले अनेक बचन कहने लगे ॥ ९ ॥ वे उसे समझाने लगे कि हे धीर आज तुम्हें अपने दृढ़ धैर्यका स्मरण करना चाहिये उसे छोड़ना नहीं चाहिये तथा शोक

धीरतामेव भावयाद्य शुचं त्यज । जन्ममृत्युजरातंकभयानां को न गोचरः ॥ १० ॥ साधारणीमिमां विद्धि सर्वेषां प्रच्युतिं दिवः । क्षीणायुषि परिक्षीणे न वोढुं क्षमते क्षणं ॥ ११ ॥ नित्यालोकोऽप्यनालोको द्युलोकः प्रतिभासते । विरामात्पुण्यदीपस्य समंतादंधकारितः ॥ १२ ॥ यथा रतिरभूत्स्वर्गे पुण्यपाकादनारतं । तथैवात्रारतिर्भूयः क्षीणपुण्यस्य जायते ॥ १३ ॥ न केवलं परिम्लानिर्मालायाः सहजन्मनः । पापातपे तपत्यंते जंतोर्म्लानिस्तनोरपि ॥ १४ ॥ कंपते हृदयं पूर्वं चरमं कल्पपादपः । गलति श्रीः पुरा पश्चात्तनुच्छाया समं ह्रिया ॥ १५ ॥ जनापराग एवादौ जृंभते जृंभिका परं । वाससोरपरागश्च पश्चात्पापोपरागतः ॥ १६ ॥ कामरागाऽवभंगश्च मानभंगादनंतरं । मनः पूर्वं तमो रुंधे दृशौ पश्चादनीदृशं

सर्वथा छोड़देना चाहिये क्योंकि जन्म मरण बुढ़ापा रोग और भय आदि किसको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ १० ॥ स्वर्गसे च्युत होना यह सबकेलिये एक साधारण बात है क्योंकि जिसकी आयु समाप्त हो जाती है उसे यह स्वर्ग फिर एक क्षण भरभी धारण नहीं कर सकता ॥ ११ ॥ जब इस जीवका पुण्यरूपी दीपक शांत हो जाता है तब चारोंओर इसे अंधकार ही दिखलाई पड़ता है उससमय नित्य प्रकाशमान रहनेवाला यह स्वर्गलोक भी अंधकारमय प्रतिभासित होता है ॥ १२ ॥ जिसप्रकार पुण्यकर्मके उदयसे स्वर्गमें निरंतर प्रीति होती है उसीप्रकार पुण्यकर्मके नाश होनेसे फिर उसी स्वर्गमें अप्रीति उत्पन्न हो जाती है ॥ १३ ॥ आयुके अंतसमयमें देवोंके साथ उत्पन्न होनेवाली केवल माला ही मलिन हो जाती है ऐसा न समझिये किंतु पापरूप आतपके तप्तायमान होते हुये इस जीवका शरीर भी प्रभाहीन हो जाता है ॥ १४ ॥ देवपर्यायके अंतसमयमें प्रथम ही हृदय कंपायमान होता है फिर कल्पवृक्ष कंपायमान होते हैं अनंतर शोभा नष्ट होती है और फिर लज्जाके साथ साथ शरीरकी कांति भी नष्ट हो जाती है ॥ १५ ॥ पापकर्मके उदयसे देवोंके अंत समयमें सबसे पहिले परिवार कुटुंबी आदिके लोगोंसे प्रेम नष्ट हो जाता है फिर जंभाई आने लगती हैं और अनंतर शरीपर धारण किये हुये कपड़ोंसे भी अप्रीति उत्पन्न हो जाती है ॥ १६ ॥ तथा प्रथम ही मानभंग होता है पश्चात् विषयभोगोंकी इच्छा नष्ट होती है । अज्ञानांधकार प्रथम ही मनकी गतिको रो

॥ १७ ॥ प्रत्यासन्नच्युतेरेवं यद्दौःस्थ्यं त्रिदिवौकसः । न तत्स्यान्नारकस्यापि प्रत्यक्षं तच्च तेऽधुना ॥१८॥ यथोदितस्य सूर्यस्य निश्चितोऽस्तमयः पुरा । तथा पातोन्मुखः स्वर्गे जंतोरभ्युदयोऽप्ययं ॥ १९ ॥ तस्मान्मा स्म गमः शोकं कुयोन्यावर्त्तपातिनं । धर्मे मतिं निधत्स्वार्य धर्मो हि शरणं परं ॥ २० ॥ कारणान्न विना कार्यमार्य जातुचिदीक्ष्यते । पुण्यं न कारणं प्राहुर्बुधाः स्वर्गापवर्गयोः ॥ २१ ॥ तत्पुण्यसाधने जैने शासने मतिमादधे । विषादमुत्सृजेर्नूनं येनानेना भविष्यसि ॥ २२ ॥ इति तद्वचनाद्धैर्यमवलंब्य सधर्मधीः । मासार्द्धं भुवने कृत्स्ने जिनवेश्मान्यपूजयत् ॥२३॥ ततोच्युतस्य कल्पस्य जिनबिंबान्यपूजयत् । तच्चैत्यद्रुममूलस्थः स्वायुरंते समाहितः ॥ २४ ॥ नमस्कारपदान्युच्चैरनुध्यायन्नसाध्वसः । साध्वसौ

कता है और फिर नेत्रोंपर ऐसा असर करता है जो कहनेमें भी नहीं आसकता ॥ १७ ॥ कहां तक कहा-जाय आयु समाप्त होनेपर देवोंको जो दुःख होता है वह नारकियोंको भी नहीं हो सकता । इससमय वही प्रत्यक्ष दुःख तुम्हें प्राप्त हुआ है ॥ १८ ॥ जिसप्रकार उदय होते हुये सूर्यका अस्त होना निश्चित है उसीप्रकार स्वर्गमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके इस अभ्युदयका नष्ट होना भी निश्चित ही है ॥ १९ ॥ इस-लिये हे आर्य ! कदाचित् तुम्हें कुयोनियोंमें पड़नेका डर होगा सो तुम्हें यह शोकभी छोड़ देना चाहिये और अपनी बुद्धि धर्ममें लगानी चाहिये क्योंकि इससंसारमें जीवोंको एक धर्म ही परम शरण है ॥ २० ॥ हे आर्य ! विना कारणके कभी कोई कार्य नहीं देखा जाता है और विद्वान् लोग स्वर्ग मोक्षका कारण पुण्य ही बतलाते हैं ॥२१॥ इसलिये तुम पुण्य उपार्जन करनेकेलिये जैनमतमें ही अपनी बुद्धि लगाओ और विषाद सर्वथा छोड़दो । ऐसा करनेसे तुम निश्चय ही पापरहित हो जाओगे ॥ २२ ॥ इसप्रकार उन सामा-निक जातिके देवोंके बचन सुनकर ललितांग देवने धैर्य धारण किया और धर्मसेवन करनेमें अपनी बुद्धि लगाई और पंद्रह दिनतक तीनों लोकोंके जिनमंदिरोंकी पूजा की ॥२३॥ अनंतर [1]अच्युत स्वर्गके जिन-बिंबोंकी पूजा की और आयुके अंतसमयमें वहीं एक चैत्यवृक्षके नीचे निर्भय और सावधानचित्त होकर

मुकुलीकृत्य करौ प्रायाददृश्यतां ॥ २५ ॥ जंबूद्वीपे महामेरोर्विदेहे पूर्वदिग्गते । या पुष्कलावतीत्याऽऽसीज्जनभूमिर्मनोरमा ॥ २६ ॥ स्वर्गभूनिर्विशेषां तां पुरमुत्पलखेटकं । भूषयत्युत्पलच्छन्नशालिवप्रादिसंपदा ॥ २७ ॥ वज्रबाहुः पतिस्तस्य वज्रीवाज्ञापरोऽभवत् । कांता वसुंधरा स्यासीद्द्वितीयेव वसुंधरा ॥ २८ ॥ तयोः सूनुरभूद्देवो ललितांगस्ततश्च्युतः । वज्रजंघ इति ख्यातिं दधदन्वर्थतां गतां ॥ २९ ॥ स बंधुकुमुदानंदी प्रत्यहं वर्द्धयन्कलाः । संकोचयन्द्विषत्पद्मान्ववृधे बालचंद्रमाः ॥ ३० ॥ आरूढयौवनस्यास्य रूपसंपदनीदृशी । जाता कांतिरिवापूर्णमंड-

---

बैठगया तथा दोनों हाथ जोड़े हुये जोरसे पंचनमस्कारमंत्रका जप करता हुआ वह ललितांग देव अदृश्य होगया ॥ २४-२५ ॥

इसी जंबूद्वीपमें सुदर्शनमेरुके पूर्व दिशाकी ओर एक विदेहक्षेत्र है जिसमें एक पुष्कलावती नामका अति सुंदर देश है वह देश साक्षात् स्वर्गके समान है। उसी देशमें एक उत्पलखेटक नामका नगर था जो कि कमलोंसे अच्छादित चांवलके खेतों और कोट खाई आदिकी शोभाओंसे समस्त पुष्कलावती देशको सुशोभित कर रहा था ॥ २६-२७॥ इंद्रके समान आज्ञा करने वाला राजा बज्रबाहु उस नगरका शासन करता था। उसकी रानीका नाम बसुंधरा था जोकि सहनशील आदि गुणोंसे वसुंधरा अर्थात् पृथ्वीके समान थी ॥ २८ ॥ जो ललितांगदेव अपनी आयु समाप्त होनेसे अदृश्य हो गया था वह वहांसे चयकर इन्हीं दोनोंके वज्रजंघ नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। इसकी जंघाये वज्रके समान थीं इसलिये इसका वज्रजंघ यह सार्थक नाम प्रसिद्ध था ॥ २९ ॥ यह बज्रजंघ कुटुंबरूपी कमोदिनियोंको प्रसन्न करता हुआ तथा शत्रुरूपी कमलोंको संकोच करता हुआ और प्रतिदिन कलाओंकी वृद्धि करता हुआ द्वितीयाके चंद्रमाके समान बढ़ने लगा ॥३०॥ बढ़ते २ जब वह यौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ तब उसकी रूपसंपदा उपमारहित अतिशय सुंदर होगई जैसे कि चंद्रमा बढ़ते २ पूर्ण हो जाता है तब उसकी कांति उपमा रहित अति सुंदर हो जाती है ॥ ३१ ॥ इसके शिरके कुटिल लंबे और काले बाल ऐसे शोभयमान होते

लस्य निशाकृतः ।। ३१ ।। शिरस्यस्य बभुर्नीला मूर्द्धजाः कुंचितायताः । कामकृष्णभुजंगस्य शिशवो नु विजृंभिताः ।। ३२ ।। नेत्रभृंगेमुखाब्जेऽस्य मितांशूत्करकेसरे । धत्ते स्म मधुरां वाणीं मकरंदरसोपमां ।। ३३ ।। नेत्रयोर्द्वितयं रेजे संसक्तं तस्य कर्णयोः । सश्रुती ताविवाश्रित्य शिक्षितुं सूक्ष्मदर्शितां ।। ३४ ।। उपकंठमसौ दध्रे हारं नीहारसच्छविं । तारानिकरमास्येंदोरिव सेवार्थमागतं ।। ३५ ।। वक्षःस्थलेन पृथुना सोऽधाच्चंदनचर्चिकां । मेरुर्निजतटे लग्नां शारदीमिव चंद्रिकां।।३६।। मुकुटोद्भासिनो मेरुमन्यस्य शिरसोऽतिके । बाहू तस्यायितौ नीलनिषधाविव रेजतुः।।३७।। सरिदावर्त्तगंभीरा नाभिर्मध्येऽस्य निर्बभौ । नारीदृक्करिणीरोधे वारिखातेव हृद्भुवा ।। ३८ ।। रसनावेष्टितं तस्य कटीमंडलमाबभौ । हेमवेदीपरि-

थे मानों कामरूपी काले सर्पके बच्चे ही बढ़ गये हों ।। ३२ ।। उसका मुख मानों एक कमलके समान था जिसपर नेत्र ही भ्रमर थे उसकी हंसनेकी किरणों ही केसरके समान थीं और उस मुखरूपीकमल से निकलती हुई मधुर वाणी परागरसके समान मालूम होती थी ।। ३३ ।। तथा कानतक लंबायमान उसके दोनों नेत्र ऐसे सुशोभित होते थे मानों अनेक शास्त्र श्रवण किये हुये दोनों कानोंके समीप जाकर सूक्ष्मदर्शिताका अभ्यास ही कर रहे हों ।। ३४ ।। उसके कंठके समीप पड़ा हुआ बरफके समान स्वेतवर्णका हार ऐसा सुंदर जान पड़ता था मानों उसके मुखरूपी चंद्रमाकी सेवा करनेकेलिये ताराओंका समूहही आया हो ।।३५।। उसके विस्तीर्ण वक्षस्थल पर चर्चित किया हुआ चंदन ऐसा मालूम होता था मानों मेरु पर्वतके तटभागमें शरदऋतुकी चांदनी ही फैल रही हो ।। ३६ ।। मुकुटसे शोभायमान उसका मस्तक ठीक चूलिकासहित मेरुके समान जान पड़ता था और उसके समीप ही लंबायमान दोनों भुजायें निषध और नील पर्वतके समान सुशोभित होती थीं ।। ३७ ।। उसके शरीरके मध्यभागमें नदीके भ्रमरके समान गंभीर नाभि ऐसी मालूम होती थी मानों कामदेवने स्त्रियोंके नेत्ररूपी हथिनियोंके रोकनेकेलिये गढ्ढा ही खोदा हो ।। ३८ ।। सुवर्णकी करधनीसे वेष्ठित उसका कटिमंडल ऐसा सुशोभित होता था मानों सुवर्णकी वेदीसे घिरी हुई जंबूवृक्षकी वेदिका ही हो ।। ३९ ।। स्थिर गोल और सटे हुये उसके दोनों ऊरु ऐसे

द्विसमिव जंबूद्रुमस्थलं ॥ ३९ ॥ ऊरुद्वयमभात्तस्य स्थिरं वृत्तं सुसंहतं । रामामनोगजालानस्तंभलीलां समुद्वहत् ॥ ४० ॥ जंघे बज्रस्थिरे नास्य व्यावर्ण्येते मयाऽधुना । तन्नाम्नैव गतार्थत्वात्पौनरुक्त्यविशंकया ॥ ४१ ॥ चरणद्वितयं सोऽधादारक्तं मृदिमान्वितं । श्रितं श्रियाऽनपायिन्या संचारीव स्थलांबुजं ॥ ४२ ॥ रूपसंपदमुष्यैषा भूषिता श्रुतसंपदा । शरच्चंद्रिकयेवेंदोर्मूर्त्तिरानंदिनी दृशां ॥ ४३ ॥ पदवाक्यप्रमाणेषु परं प्रावीण्य-मागता । तस्य धीः सर्वशास्त्रेषु दीपिकेव व्यदीप्यत ॥ ४४ ॥ स कलाः सकला विद्वान्विनीतात्मा जितेंद्रियः । राज्यलक्ष्मीकटाक्षाणां लक्ष्यताम-गमत्कृती ॥ ४५ ॥ निसर्गजा गुणास्तस्य विश्वं जनमरंजयन् । जनानुरागः सोऽपुष्णान्महतीमस्य योग्यतां ॥ ४६ ॥ अनुरागं सरस्वत्यां कीर्त्यों

शोभायमान थे मानों स्त्रियोंके मनरूपी हाथियोंके बांधनेकेलिये दो स्तंभ ही हों ॥ ४० ॥ उसके बज्रके समान स्थिर जंघाओंका तो मैं वर्णन ही नहीं करता क्योंकि वह तो उसके बज्रजंघ नामसे ही प्रसिद्ध है यदि फिर भी कहा जायगा तो कदाचित् लोग पुनरुक्ति दोष समझलेंगे ॥ ४१ ॥ लाल और कोमल उसके दोनों चरण ऐसे सुशोभित थे मानों अविनाशिनी लक्ष्मीसे आश्रित और भूमिपर गमन करनेवाले दो स्थलकमल ही हों ॥ ४२ ॥ श्रुतज्ञानरूपी संपदासे विभूषित उसके रूपकी संपदा नेत्रोंको इसप्रकार आनंद देनेवाली थी जैसे कि शरदऋतुकी चांदनीके साथ २ चंद्रमाकी मूर्त्ति आनंद देनेवाली होती है ॥ ४३ ॥ उसकी बुद्धि शब्दागम युक्त्यागम परमागम आदि सबमें अति प्रवीण होगई थी इसलिये वह समस्त शास्त्रोंको प्रगट करनेकेलिये दीपकके समान दैदीप्यमान थी ॥ ४४ ॥ वह विद्वान् अतिशय नम्र, जितें-द्रिय और समस्त विषयोंमें कुशल था तथा संपूर्ण कलाओंसे सुशोभित था इसलिये राज्यलक्ष्मी भी उस-पर अपना कटाक्ष करने लगी थी ॥ ४५ ॥ उसके स्वाभाविक गुण संसारके सब लोगोंको प्रसन्न करते थे तथा मनुष्योंपर उसका स्वाभाविक प्रेम उसकी महती योग्यताको पुष्ट करता था ॥ ४६ ॥ वह बज्रजंघ सरस्वतीमें (शास्त्रोंमें) अनुराग रखता था कीर्तिसे स्नेह रखता था और राज्यलक्ष्मीपर अपने उपभोग करनेका अधिकार रखता था, इन कारणोंसे वह विद्वानोंमें भी श्रेष्ठ गिना जाता था ॥ ४७ ॥ यद्यपि

प्रणयनिघ्नतां । लक्ष्म्यां वाल्लभ्यमातन्वन्विदुषां मूर्ध्नि सोऽभवत् ॥ ४७ ॥ स तथापि कृतप्रज्ञो यौवनं परमापिवान् । स्वयंप्रभानुरागेण प्रायो-भूत्स्त्रीषु निस्पृहः ॥ ४८ ॥ तस्येति परमानंदात्काले गच्छति धीमतः । स्वयंप्रभा दिवश्च्युत्वा क्वोत्पन्नेत्यधुनोच्यते ॥ ४९ ॥ अथ स्वयंप्रभा देवी तस्मिन्प्रच्युतिमीयुषि । तद्वियोगाच्चिरं खिन्ना चक्राह्वेव विभर्त्तृका ॥ ५० ॥ शुचाविव च संतापधारिणी भूरभूदभाः । समुज्झितकलालापा कोकिलेव घनागमे ॥ ५१ ॥ दिव्यस्येवौषधस्यास्य विरहार्त्तां तथा सतीं । आधयोऽपीडयन्गाढं व्याधिकल्पाः सुदुःसहाः ॥ ५२ ॥ ततोऽस्या दृढधर्माख्यो देवोऽतःपरिषद्भवः । शुचं व्यपोह्य सन्मार्गे मतिमासंजयत्तरां ॥ ५३ ॥ सा चित्रप्रतिमेवासीत्तदा भोगेषु निःस्पृहा । विमुक्तमृ-

---

पुण्याचरण करनेवाला वह वज्रजंघ यौवन अवस्थाको प्राप्त होगया था तथापि स्वयंप्रभाके अनुरागसे प्रायः अन्यस्त्रियोंमें निस्पृह ही था ॥ ४८ ॥ इसप्रकार उस बुद्धिमान राजकुमारका काल बड़े आनंदके साथ व्यतीत हो रहा था। इधर स्वयंप्रभा महादेवी स्वर्गसे चयकर कहां उत्पन्न हुई सो अब कहते हैं ॥ ४९ ॥ जब आयु समाप्त होनेपर ललितांगदेव अदृश्य होगया था तब वह स्वयंप्रभा उसके वियोगसे बहुत ही खेद खिन्न हुई थी जैसेकि चकवाके वियोगसे चकवी खेद खिन्न होती है ॥५०॥ अथवा असाढ़मासमें जिस प्रकार पृथ्वी प्रभारहित होकर संतापको धारण करती है उसीप्रकार यह स्वयंप्रभा भी ललितांगके वियोगसे प्रभारहित होगई थी तथा संताप धारण करने लगी थी और जैसे वर्षाऋतुमें कोकिल अपना मधुरभाषण छोड़देती है उसीप्रकार उसके वियोगसे इसनेभी अपना मधुरभाषण छोड़ा दिया था ॥५१॥ दिव्य औषधिके समान ललितांगदेवके विरह होनसे अत्यंत दुःखिनी सती उस स्वयंप्रभाको अति दुःसह व्याधियोंके समान मानसीक पीड़ा दुःख देने लगी थी ॥ ५२॥ तब उसकी अंतःपरिषदके (सभाके) एक दृढ़धर्म नामके देवने उसे समझाकर उसका शोक दूर किया तथा धर्ममार्गमें उसका चित्त आसक्त कराया ॥ ५३ ॥ अनंतर वह स्वयंप्रभा चित्रकी प्रतिमाके समान अथवा जिंसने मरनेका भय छोड़दिया

तिभीशूरपुरुषस्येव शेमुषी ॥ ५४ ॥ श्रीमती सा भविष्यंती भव्यमालेव धर्मभाक् । षण्मासान् जिनपूजायामुद्यताऽभून्मनस्विनी ॥ ५५ ॥ ततः सौमनसोद्यानपूर्वदिग्जिनमंदिरे । मूले चैत्यतरोः सम्यक्स्मरंती गुरुपंचकं ॥ ५६ ॥ समाधिना कृतप्राणत्यागा प्राच्योष्ट सा दिवः । तारकेव निशापाये सहसाऽदृश्यतां गता ॥ ५७ ॥ प्राग्भाषिते विदेहेऽस्ति नगरी पुंडरीकिणी । तस्याः पतिरभून्नाम्ना वज्रदंतो महीपतिः ॥ ५८ ॥ लक्ष्मीरिवास्य कांतांगी लक्ष्मीमतिरभूत्प्रिया । स तया कल्पवल्येव सुरागोऽलंकृतो नृपः ॥ ५९ ॥ तयोः पुत्री बभूवासौ विश्रुता श्रीमतीति या । पताकेव मनोजस्य रूपसौंदर्यलीलया ॥ ६० ॥ नवयौवनमासाद्य मधुमासमिवाधिकं । लोकस्य प्रमदं तेने बाला शशिकलेव सा ॥ ६१ ॥ नखैरापा-

---

है ऐसे शूरवीर पुरुषकी बुद्धिके समान समस्त भोगोंसे निस्पृह होगई ॥ ५४ ॥ आगामीकालमें श्रीमती उत्पन्न होनेवाली तथा भव्यमालाके समान धर्मसेवन करनेवाली वह बुद्धिमती स्वयंप्रभा छह महीनेतक बराबर जिनपूजा करनेमें तत्पर रही ॥ ५५ ॥ तदनंतर आयुके अंतसमयमें उसने सौमनसबनमें पूर्वदिशाके जिनमंदिरमें चैत्यवृक्षके नीचे उत्तमरीतिसे पंच परमेष्ठियोंका स्मरण करते हुये समाधिपूर्वक प्राण त्याग किये तथा वह स्वर्गसे च्युत होकर जैसे रात्रिके अंतसमयमें सब तारे नष्ट हो जाते हैं उसीप्रकार अदृश्य होगई ॥ ५६-५७ ॥ ऊपर कहे हुये पूर्व विदेहक्षेत्रमें एक पुंडरीकिणी नगरी है जिसका अधिपति महाराज बज्रदंत नामका चक्रवती था ॥ ५८ ॥ उसकी रानीका नाम लक्ष्मीमति था । वह रानी लक्ष्मीके समान अति सुंदरी थी । उसके साथ राजा बज्रदंत ऐसा सुशोभित होताथा जैसे कल्पलतासे कल्पवृक्ष शोभायमान होता है ॥ ५९ ॥ वह स्वयंप्रभा स्वर्गसे चयकर इन्हीं दोनोंके श्रीमती नामकी पुत्री हुई । यह श्रीमती रूप और सुंदरताकी शोभासे कामदेवकी पताकाके समान दिखती थी ॥ ६० ॥ जब यह श्रीमती यौवन अवस्थाको प्राप्त हुई तब चैत्रमासमें चंद्रमाकी कलाके समान लोगोंको और भी अधिक आनंदित करती थी ॥ ६१ ॥ उसके रक्तवर्ण नख लाल कुरवक जातिके पुष्पकी शोभाको जीतते थे तथा

टलैस्तस्या जिग्ये कुरबकच्छविः । अशोकपल्लवच्छाया पादभासाधरीकृता ॥ ६२ ॥ रणन्नूपुरमत्तालिझंकारमुखरीकृते । पादारविंदे साऽधत्त लक्ष्म्या शश्वत्कृतास्पदे ॥ ६३ ॥ चिरं यदुदवासेनदधत्कंटकितां तनुं । व्रतं चचारि तेनाब्जं मन्येऽगात्तत्पदोपमां ॥ ६४ ॥ जंघे रराजतुस्तस्याः कुसुमेषोरिवेषुधी । ऊरुदंडौ च बिभ्राते कामेभालानयष्टितां ॥ ६५ ॥ नितंबबिंबमेतस्याः सरस्या इव सैकतं । लसद्दुकूलनीरेण स्थगितं रुचिमानशे ॥ ६६ ॥ बलितं दक्षिणावर्त्तनाभिमध्यं बभार सा । नदीव जलमावर्त्तसंशोभिसतरंगकं ॥ ६७ ॥ मध्यं स्तनभराक्रांतिचिंतयैवात्तता- नवं । रोमावलिच्छलेनास्या दधेऽवष्टंभयष्टिकां ॥ ६८ ॥ नाभिरंध्रादधस्तन्वीं रोमराजीमसौ दधे । उपध्नांतरमन्विच्छोः कामाहेः पदवीमिव

पैरोंके तलवा अशोकवृक्षके नवीन पत्तोंकी कांतिको भी नीचा दिखाते थे ॥ ६२ ॥ रुणझुण शब्द करते हुये नूपुररूपी मत्त भ्रमरोंके झंकारोंसे शब्दायमान और लक्ष्मीके सदा निवासस्थान ऐसे इसके दोनों चरणकमल बड़े ही सुंदर थे ॥ ६३ ॥ मैं समझता हूं विचारे कमलोंने अनेक दिन पानीमें निवासकर कंटकित अर्थात् हर्षसहित अथवा कांटोंसहित शरीर धारणकर किसीप्रकार अपना व्रत पूरा किया था इसलियेही उन्हें इस श्रीमतीके चरणोंकी उपमा प्राप्त हुई है ॥ ६४ ॥ उसके दोनों जंघा कामदेवके तरकसके समान और दोनों ऊरुदंड (घोंटूके ऊपरका भाग) कामदेवरूप हाथीके बांधनेके खंभेके समान बहुत ही सुंदर मालूम होते थे ॥ ६५ ॥ इसके दोनों निश्चल नितंब वस्त्ररूपी जलसे सुशोभित नदीकी बालूके टीलेके समान विचित्र शोभाको धारण करते थे ॥ ६६ ॥ त्रिबलियोंसे सुशोभित और दक्षिणावर्त गंभीरनाभिको धारण करता हुआ इसका मध्यभाग ऐसा मालूम होता था मानो तरंगोंसे सुशोभित और भंवर पड़ता हुआ नदीका जल ही हो ॥ ६७ ॥ रोमावलि सहित और अत्यंत कृश इसका मध्यभाग ऐसा शोभायमान था मानों स्तनोंके बोझ बढ़जानेकी चिंतासे ही अत्यंत कृश होगया हो और इसलिये ही उसने रोमावलिके बहाने से सहारेकी लकड़ी धारण की हो ॥ ६८ ॥ इसकी नाभिरंध्रके नीचे जो एक पतली रोमराजि थी वह ऐसी सुशोभित थी मानों किसी समीपवर्त्ती प्रदेशमें जानेकी इच्छा करनेवाले काम-

॥ ६९ ॥ लतेवासौ मृदू बाहू दधौ विटपसच्छवी । नखांशुमंजरी चास्या धत्ते स्म कुसुमाश्रियं ॥ ७० ॥ आनीलचूचुकौ तस्याः कुचकुंभौ विरेजतुः । पूर्णौ कामरसस्येव नीलरत्नाभिमुद्रितौ ॥ ७१ ॥ स्तनांशुकं शुकच्छायं तस्याः स्तनतटाश्रितं । बभासे रुद्धपंकेजकुड्मलं शैवलं यथा ॥ ७२ ॥ हारस्तस्याः स्तनोपांते नीहाररुचिनिर्मलः । श्रियमाधत्त फेनस्य कंजकुड्मलसंस्पृशः ॥ ७३ ॥ ग्रीवास्या राजिभिर्भेजे कंबुबंधुरविभ्रमं । शस्तांसौ च हंसीव पक्षती सा दधे शुची ॥ ७४ ॥ मुखमस्या दधे चंद्रपद्मयोः श्रियमक्रमात् । नेत्रानंदि स्मितज्योत्स्नं स्फुरद्दन्तांशुकेसरं ॥ ७५ ॥

देवरूपी सर्पका मार्ग ही हो ॥ ६९ ॥ वह श्रीमती कन्या एक लताके समान मालूम होती थी जिसकी कोमल दोनों भुजायें ही लताकी शाखाके समान थीं और नखोंकी किरणें ही पुष्पकी शोभाको धारण करती थीं ॥७०॥ मुखपर नीलिमाको धारण करनेवाले उसके दोनों स्तन ऐसे सुंदर थे मानों कामरससे भरे हुये और नीलरत्नोंकी मुद्रासे अंकित पूर्ण कलश ही हों तथा ॥ ७१ ॥ उसके स्तनोंके तटभागसे सटी हुई हरितवर्णकी कंचुकी ऐसी जान पड़ती थी मानों मुकुलितकमलोंपर शैवाल ही रुकगया हो ॥ ७२ ॥ स्तानोंके समीपभागपर पड़ा हुआ बरफके समान श्वेत और निर्मल हार मुकुलितकमलको स्पर्श करनेवाले फेनकी शोभाको धारण करता था ॥ ७३ ॥ तथा उसकी ग्रीवा रेखाओंसे ऐसी सुंदर दिखती थी मानों रेखासहित सुंदर शंख ही हो । तथा सामुद्रिकमें कहे हुये दोषोंसे रहित और प्रशंसनीय उन्नत दोनों कंधे ऐसे सुंदर थे जैसे कि हंसिनीके मूलभागके पंख सुंदर होते हैं ॥ ७४ ॥ उसका मुख एकसाथ चंद्रमा और कमल दोनों की शोभाको धारण करता था क्योंकि उसकी किंचित् हास्यरूपी चांदनी चंद्रमाकी चांदनीके समान नेत्रोंको आनंद देती थी और दैदीप्यमान दांतोंकी किरणें कमलकी केसरके समान सुंदर दिखती थीं ॥ ७५ ॥ आचार्य उत्प्रेक्षा करते हैं कि चंद्रमाने अपने कलाओंकी वृद्धि हानि करते हुये चिरकालतक चांद्रायण व्रत किया था उस व्रतके फलसे ही मानों उसे इस श्रीमतीके मुखकी उपमा प्राप्त हुई है ॥ ७६ ॥ उसके नेत्र बहुत बड़े थे इसलिये ऐसे जान पडते थे मानों उनकी लंबाई रोकने

स्वकलावृद्धिहानिभ्यां चिरं चांद्रायणं तपः । कृत्वा नूनं शशी प्रापत्तद्वक्त्रस्योपमानतां ॥ ७६ ॥ कर्णौ सहोत्पलौ तस्या नेत्राभ्यां लंघितौ भृशं । स्वायत्त्यारोधिनं को वा सहेतोपांतवर्त्तिनं ॥ ७७ ॥ कर्णपूरोत्पलं तस्या नेत्रोपांते स्म लक्ष्यते । दिदृक्षमाणमस्येव शोभां स्वश्रीविहासिनीं ॥ ७८ ॥ मुखपंकजसंसक्तामलकालीं बभार सा । मलिनानपि नो धत्ते कः श्रितानपायिनः ॥ ७९ ॥ धम्मिल्लभारमासक्तं सा दधे मृदु कुंचितं । चंदनद्रुमवल्लीव कृष्णाहेभोगमायतं ॥ ८० ॥ इत्यसौ मदनोन्मादजनिकां रूपसंपदं । बभार स्ववर्धूरूपसारांशैरिव निर्मितां ॥ ८१ ॥ लक्ष्मीं चलां विनिर्माय यदागो वेधसाऽर्जितं । तन्निर्माणेन तन्नूनं तेन प्रक्षालितं तदा ॥ ८२ ॥ पितरौ तां प्रपश्यंतौ नितरां प्रीतिमापतुः । कलामिव सुधा-

---

वाले कर्णभूषणसहित उसके कानोंको उल्लंघन ही कर गये हों सो ठीक ही है क्योंकि यदि समीपवर्ती ही अपना विस्तार रोकनेवाला बनजाय तो फिर उसे कौन सहन करसकता है॥७७॥ इसके नेत्रोंके समीप ही कर्णफूलरूपी कमल शोभायमान थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानों अपनी शोभापर हंसनेवाली नेत्रोंकी शोभाको देखनेकेलिये ही आये हों ॥ ७८ ॥ इस श्रीमतीने अपने मुखकमलके ऊपर मस्तकपर काली अलकावलीको भी स्थान दिया था सो ठीक ही है यदि निरुपद्रवी मलिन पुरुषभी आश्रय चाहें तो उन्हें भला कौन स्थान नहीं देता है ॥ ७९ ॥ मोती आदिसे गुथा हुआ तथा कोमल और कुटिल उसका केश-पाश ऐसा सुशोभित था मानों चंदनवृक्षकी लतापर काले सर्पका चौड़ा किया हुआ फण ही हो ॥ ८० ॥ परम सुंदर साक्षात् कामदेवको भी उन्मत्त करनेवाली इसकी रूपसंपदाका वर्णन कहांतक किया जाय । केवल इतनेसे ही समझलेना चाहिये कि उसकारूप कदाचित् देवांगनाओंके रूपके सारभूत अंशोंसे ही बना था ॥ ८१ ॥ ऐसा मालूम पड़ता था मानों विधाताने (कर्मने) जो पहले लक्ष्मीको चंचल बनाकर पाप किया था वह उसने इस श्रीमतीको बनाकर ही धो डाला था ॥८२॥ संसारको आनंद करने वाली चंद्रमाकी कलाके समान इस श्रीमतीको देखकर इसके माता पिता बहुत ही प्रसन्न होते थे ॥८३॥ एकदिन वह श्रीमती हंसोंकी किरणोंके समान निर्मल, अमूल्य रत्नोंसे सुशोभित और स्वर्गके विमानों

सूतेर्जनतानंदकारिणीं ॥ ८३ ॥ अथाऽन्येद्युरसौ सुप्ता हर्म्ये हंसांशुनिर्मले । पराध्यैरत्नसंशोभे स्वर्विमानापहासिनि ॥ ८४ ॥ तदैतदभवत्तस्याः संविधानकमीदृशं । यशोधरगुरोरस्मिन्पुरे कैवल्यसंभवे ॥ ८५ ॥ मनोहराख्यमुद्यानमध्यासीनं तमार्चितुं । देवाः संप्रापुरारूढविमानाः सह संपदा ॥ ८६ ॥ पुष्पवृष्टिर्दिशो रुद्ध्वा तदाऽपप्तत्सहालिभिः । स्वर्गलक्ष्म्येव तं द्रष्टुं प्रहिता, नयनावली ॥ ८७ ॥ मंदमाधूतमंदारसांद्रकिंजल्कपिंजरः । पुंजितालिरुतामंजुरागुंजन्मरुदाववौ ॥ ८८ ॥ दंध्वनद्दुंदुभिध्वानैरारुधंस्तद्दिशो दश । सुराणां प्रमदोद्भूतो महान्कलकलोऽप्यभूत् ॥ ८९ ॥ सा तदा तद्ध्वनिं श्रुत्वा निशांते सहसोत्थिता । भेजे हंसीव संत्रासं श्रुतपर्ज्जन्यनिस्वना ॥ ९० ॥ देवागमेक्षणात्तस्याः प्राग्जन्मस्मृतिराश्वभूत् ।

को भी लज्जित करनेवाले राजमहलमें सो रही थी ॥ ८४ ॥ उसी दिन नीचे लिखी हुई एक विचित्र घटना हुई। उसी नगरके मनोहर नामके उद्यानमें श्रीयशोधर तीर्थंकर विराजमान थे उन्हें उसीदिन केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था इसलिये स्वर्गके समस्तदेव अपनी २ विभूतिके साथ विमानोंपर चढ़कर उनकी पूजा करनेकेलिये आये थे ॥ ८५-८६ ॥ उस समय चारोंओर पुष्पवृष्टि हो रही थी उन वरसते हुये पुष्पोंपर भ्रमर भी बैठे हुये थे इसलिये वे आकाशसे पड़ते हुये भ्रमरसहित पुष्प ऐसे जान पड़ते थे मानों श्री यशोधरके दर्शन करनेके लिये स्वर्गकी लक्ष्मीने अपने नेत्र ही भेजे हों ॥ ८७ ॥ उससमय धीरे २ हिलते हुये कल्पवृक्षोंके घनीभूत केशरोंसे कुछ पीला हुआ तथा भ्रमर समूहोंके मनोहर शब्दोंसे गुंजार करता हुआ शीतल मंद सुगंध वायु वह रहा था ॥ ८८ ॥ दुंदुभि बाजे बड़े ज़ोरसे बजरहे थे जिनके शब्दोंसे दशों दिशायें व्याप्त हो रही थीं तथा देव बड़े हर्षसे जय जय शब्द कर रहे थे जिनसे एक बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥ ८९ ॥ वह श्रीमती भी प्रातःकालके समय अकस्मात् उस कोलाहलको सुनकर उठी और जैसे मेघोंकी गर्जना सुनकर हंसिनी डरती है उसीप्रकार डरने लगी ॥ ९० ॥ उससमय देवोंका आगमन देखकर शीघ्रही उसे पूर्व जन्मका स्मरण हो आया और वह पूर्व जन्मके ललितांगदेवका स्मरण-कर तथा बार बार उत्कंठित होकर मूर्छित होगई ॥ ९१ ॥ अनंतर सखियोंने अनेक शीतलोपचार और

सा स्मृत्वा ललितांगं तं मुमूर्च्छोत्कंठिता मुहुः ॥ ९१ ॥ सखीभिरथ सोपायमाश्वास्य व्यजनानिलैः । प्रत्यापत्तिं समानीता साभूद्भूयोऽप्यवाङ्मुखी ॥ ९२ ॥ मनोहरं प्रभोद्भासि सुंदरं चारुलक्षणं । तद्वपुर्मनसीवास्या लिखितं निर्बभौ तदा ॥ ९३ ॥ परिपृष्टापि साशंकं सखीभिर्जोषमास्त सा । मूकीभूता किलाप्राप्तेस्तस्य मौनं ममेत्यलं ॥ ९४ ॥ ततः पर्याकुलाः सत्यस्तमुदंतमशेषतः । गत्वा पितृभ्यामाचख्युः सख्यो वर्षधरैः समं ॥ ९५ ॥ तद्वार्त्ताकर्णनात्तूर्णं तदभ्यर्णमुपागतौ । पितरौ तदवस्थां च दृष्ट्वैनां शुचमीयतुः ॥ ९६ ॥ अंग पुत्रि परिष्वंगं विधेह्युत्संगमेहि नौ । इति निर्बोध्यमानापि मोमुह्येव यदास्त सा ॥ ९७॥ लक्ष्मीमतिमथोवाच प्रभुरिंगितकोविदः । जाता ते पुत्रिका तन्वि सेयमापूर्णयौवना ॥

पंखाकी वायुसे आश्वासन देकर सचेत किया वह सचेत तो होगई परंतु फिर भी उसने अपना मुख नीचा ही करलिया ॥ ९२ ॥ उस समय अतिशय दैदीप्यमान, मनोहर, सुंदर और सामुद्रिकके अनेक लक्षणोंसे सुशोभित ललितांगका शरीर इस श्रीमतीके हृदयमें अंकित हो रहा था और वह उसे बहुत ही सुशोभित जान पड़ता था ॥ ९३ ॥ अनेकप्रकारकी शंका करती हुई सखियोंने इसका कारण पूछा परंतु श्रीमतीने कुछ उत्तर नहीं दिया और जबतक ललितांगकी प्राप्ति न हो तबतक मौन धारण करना ही अच्छा समझकर वह चुप हो रही ॥ ९४ ॥ तदनंतर सब सखियां व्याकुल होकर कंचुकियोंके (रणवासके पहरेपर जो हिजड़े होते हैं वे कंचुकी कहलाते हैं) साथ उसके माता पिताके समीप गईं और उन्हें आदिसे अंततक सब समाचार कह सुनाया ॥ ९५ ॥ सखियोंकी बात सुनकर उसके माता पिता बहुत शीघ्र उसके समीप आये और उसकी वह अवस्था देखकर अत्यंत शोक करने लगे ॥ ९६ ॥ और कहने लगे कि हे अंग ! हे पुत्रि ! उठ मिल गोदमें आ इसप्रकार बड़े प्रेमसे समझाई तथापि वह चुप ही रही ॥ ९७ ॥ तब समस्त चेष्टा और चित्तके विकारोंको जाननेवाले महाराज बज्रदंत रानी लक्ष्मीमतीसे कहने लगे कि हे तन्वि ! अब यह तेरी पुत्री पूर्ण युवावस्थाको प्राप्त होगई है ९८ ॥ हे सुदति ! (सुंदर दांतोंवाली) देख यह इसका शरीर कैसा निरुपम कांतियुक्त होगया है । ऐसा शरीर देवांगनाओंको भी प्राप्त होना दुर्लभ

९८ ॥ अस्याः सुदति पश्येदं वपुरत्यंतकांतिमत् । अनीदृशममूत्स्वर्गनारीभिरपि दुर्लभं ॥ ९९ ॥ ततो विकृतिरेषास्या न दुष्यत्यद्य सुंदरि । तेन मा स्म भयं देवि शंकमानान्यथा गमः ॥ १०० ॥ प्राग्जन्मानुभवःकोऽपि नूनमस्या हृदि स्थितः । संस्कारान्प्राक्तनान्प्रायः स्मृत्वा मूर्च्छंति जंतवः ॥ १०१ ॥ इति ब्रुवाण एवासावुत्तस्थौ सह कांतया । नियोज्य पंडितां धात्रीं कन्याश्वासनसंविधौ ॥ १०२ ॥ तदा कार्य-द्वयं तस्य युगपत्समुपस्थितं । कैवल्यं स्वगुरोश्चक्रसंभूतिश्चायुधालये ॥ १०३ ॥ तत्कार्यद्वैतमासाद्य बभूव क्षणमाकुलः । प्राग्विधेयं किमत्रेति स निश्चेतुमशक्नुवन् ॥ १०४ ॥ ततः किमत्र कर्त्तव्यमित्यसौ संप्रधारयन् । गुरोः कैवल्यसंपूजामादौ निश्चितवान्सुधीः ॥ १०५ ॥ यतो दूरात्समा-

---

है ॥ ९९ ॥ इसलिये हे सुंदरि इसका यह विकार इसकेलिये कुछ हानिकारक नहीं हो सकता । अतएव हे देवि तू कुछ रोग आदिकी व्यर्थ शंकाकर भय मत कर ॥ १०० ॥ अवश्य ही आज इसे कोई पूर्व भवका भोगोपभोग स्मरण हो आया है इसलिये ही इसकी यह ऐसी अवस्था होगई है । प्रायः संसारी जीव पूर्व भवके संस्कार स्मरणकर मूर्छित होते ही हैं ॥ १०१ ॥ इतना कहकर राजा वज्रदंत उस कन्याको संभालने और आश्वासन देनेकेलिये अति चतुर पंडिता धायको रखकर रानी लक्ष्मीमतिके साथ उठकर बाहर आया ॥ १०२ ॥ बाहर आते ही एक साथ उसे दो समाचार मिले उनमेंसे एक तो अपने पूज्य-पिता यशोधर तीर्थंकरको केवलज्ञानकी प्राप्ति होना तथा उनकी पूजा करना था और दूसरा समाचार आयुधाशालामें चक्ररत्नका उत्पन्न होना था ॥ १०३ ॥ एक साथ इन दोनों कार्योंको सुनकर वह राजा वज्रदंत क्षणभरकेलिये आकुलित हो गया और प्रथम कौनसा कार्य करना चाहिये सो कुछ भी निश्चय नहीं कर सका ॥ १०४ ॥ परंतु प्रथम कौनसा कार्य करना चाहिये यह उसने एक क्षणके अनंतर ही निश्चय करलिया । उस बुद्धिमानने प्रथम श्रीयशोधर तीर्थंकरके उत्पन्न हुये केवलज्ञानकी पूजा करना ही निश्चय किया ॥ १०५ ॥ क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष चिरकालतक स्थिर रहनेवाले और समीपवर्त्ती कार्यको ही प्रथम करते हैं अनंतर नश्वरकार्य किया करते हैं । इसलिये जिस अरहंतपूजासे शुभ होता

सत्रं कार्यं कार्यं मनीषिभिः । व्यतिपाति ततस्तस्मात्प्रधानं कार्यमाचरेत् ॥ १०६ ॥ ततः शक्यं शुभं तस्मात्तस्माच्च विपुलोदयं । धर्मात्मकं च यत्कार्यमर्हत्पूजादिलक्षणं ॥ १०७ ॥ मनसीत्याकलय्यासौ यशोधरगुरोः परां । पूजां कर्तुं समुत्तस्थौ नृपः पुण्यानुबंधिनीं ॥ १०८ ॥ ततः पृतनया सार्द्धमुपसृत्य जगद्गुरुं । पूजयामास संप्रीतिप्रोत्फुल्लमुखपंकजः ॥ १०९ ॥ तत्पादौ प्रणमन्नेव सोऽलब्धोऽवधिमिद्धधीः । विशुद्धपरिणामेन भक्तिः किं न फलिष्यति ॥ ११० ॥ तेनाबुद्धाच्युतेंद्रत्वमात्मनः प्राक्तने भवे । ललितांगप्रियायाश्च दुहितृत्वमिहांजसा ॥ १११ ॥ कृताभिवंदनस्तस्मान्निवृत्त्य कृतधीः सुतां । पंडितायै समर्प्याशु प्रतस्थे दिग्जयाय सः ॥ ११२ ॥ चक्रपूजां ततः कृत्वा चक्री शक्रसमद्युतिः । प्रस्थितोसौ

है जिससे अनेकप्रकारके सुख और भोगोपभोग प्राप्त होते हैं तथा जो अत्यावश्यक और मुख्य धर्मकार्य है ऐसा अरहंतपूजा करनेका प्रधानकार्य सबसे प्रथम करना चाहिये ॥ १०६-१०७ ॥ यही मनमें विचारकर वह राजा बज्रदंत प्रथम ही पुण्य बढानेवाली श्रीयशोधर तीर्थंकरकी उत्तम पूजा करनेकेलिये तैयार हुआ ॥ १०८ ॥ अनंतर सेनाके साथ वह राजा जगतगुरु श्रीयशोधरतीर्थंकरके समीप आया और प्रीतिपूर्वक अपने मुखकमलको प्रफुल्लित करता हुआ उनकी पूजा करने लगा ॥ १०९ ॥ ज्यों ही इस बुद्धिमान् बज्रदंतने देवाधिदेव श्रीयशोधरतीर्थंकरके चरणकमलोंको नमस्कार किया उसी समय इसे अवधिज्ञान प्राप्त होगया, सो ठीक ही है जो भक्ति विशुद्ध परिणामोंसे की गई है वह क्या फलीभूत नहीं होगी ? ॥ ११० ॥ उस अवधिज्ञानसे राजा बज्रदंतने यह जानलिया कि पूर्वभवमें मैं अच्युतस्वर्गका इंद्र था और यह मेरी पुत्री श्रीमती ललितांगदेवकी स्वयंप्रभा देवांगना थी ॥ १११ ॥ वह बुद्धिमान राजा वज्रदंत पूजा बंदना स्तुति आदिकर वहांसे लौटा और अपनी पुत्री श्रीमतीको पंडिता धायको सोंपकर स्वयं दिग्विजय करनेकेलिये तैयार हुआ ॥ ११२ ॥ इंद्रके समान कांतिको धारण करनेवाले उस चक्रवर्तीने प्रथम ही चक्रकी पूजा की और फिर हाथी घोड़े रथ पियादे देव विद्याधर इसप्रकार छह प्रकारकी सेना साथ लेकर सब दिशाओंके जीतनेकेलिये प्रस्थान किया ॥ ११३ ॥ तदनंतर वह अति

दिशो जेतुं ध्वजिन्या सषडंगया ॥ ११३ ॥ अथ पंडितिकाऽन्येद्युर्निपुणा निपुणं वचः । श्रीमत्याः प्रतिबोधाय रहस्येवमभाषत ॥ ११४ ॥ अशोकवनिकामध्ये चंद्रकांतशिलातले । स्थित्वा सस्नेहमंगानि स्पृशंती मृदुपाणिना ॥ ११५ ॥ मुखपंकजसंसर्पद्दशनांशुजलप्लवैः । तस्या हृदयसंतापमिव निर्वापयंत्यसौ ॥११६॥ अहं पंडितिका सत्यं पंडिता कार्ययुक्तिषु । जननी निर्विशेषासि तव प्राणसमा सखी॥ ११७ ॥ ततो ब्रूहि मिथः कन्ये धन्ये त्वं मौनकारणं । नामयो गोपनीयो हि जनन्या इति विश्रुतं ॥११८॥ मया सुनिपुणं चित्ते पर्यालोचितमीहितं । तवासीन्न तु विज्ञातं तन्मे वद पतिंवरे ॥११९॥ किमेष मदनोन्मादः किमालिं ग्रहविप्लवः । प्रायो हि यौवनारंभे जृंभते मदनग्रहः ॥१२०॥ इति पृष्टा तया किंचिदानम्य

चतुर पंडिता धाय एकदिन किसी एकांत स्थानमें बैठकर श्रीमतीके समझानेकेलिये नीचे लिखे हुये बड़ी बुद्धिमानीके बचन कहने लगी ॥ ११४ ॥ उसने श्रीमतीको अशोकबनके मध्यभागमें पड़ी हुई एक चंद्रकांतशिलापर विठाया और बडे प्रेमसे उसके शरीरपर अपने कोमल हाथ फेरने लगी। सभझाते समय श्रीमतीके मुखकमल पर जो उसके दांतोंकी किरणसमूहरूपी जलका पूर वह रहा था उससे वह पंडिता मानों उसके हृदयका संताप ही दूर करती जाती थी ॥ ११५-११६ ॥ वह पंडिता धाय श्रीमतीसे कहने लगी कि हे श्रीमते ! तू जानती है कि मैं समस्तकार्योंके करनेमें बड़ी चतुर हूं इसलिये ही मेरा पंडिता यह सार्थक नाम रक्खा गया है। इसके सिवाय मैं तेरी माताके समान हूं तथा तेरे प्राणोंके समान सदा तेरे साथ रहनेवाली प्रियसखी हूं॥ ११७ ॥ इसलिये हे प्रियपुत्री ! इस एकांतस्थानमें तू अपने मौन रहनेका ठीक कारण कह। क्योंकि यह नीति तू जानती है कि रोग कैसा ही क्यों न हो अपनी मातासे कभी छिपाना नहीं चाहिये ॥ ११८ ॥ मैंने अपने चित्तमें अनेक प्रकारसे इस तेरी चेष्टाका कारण सोचा परंतु कुछ मालूम नहीं हुआ। इसलिये हे पातिंवरे इसका ठीक कारण तू मुझसे कह ॥११९॥ हे सखि ! क्या तुझे यह कामदेवका उन्माद हुआ है या किसी भूतपिशाचका उपद्रव है। यौवनके प्रारंभ समयमें प्रायः कामदेवरूपी पिशाचका उपद्रव हुआ ही करता है॥ १२० ॥ इसप्रकार जब पंडिताने पूछा

मुखपंकजं । पद्मिनीव दिनापाये परिम्लानं महोत्पलं ॥१२१॥ जगाद श्रीमती सत्यं न शक्तास्मीदृशं वचः । कस्यापि पुरतो वक्तुं लज्जाविवशमानसा ॥१२२॥ किंतु तेऽद्य पुरो नाहं जिन्हेम्यार्त्ता लपंत्यलं। जननी निर्विशेषा त्वं चिरं परिचिता च मे ॥१२३॥ तद्वक्ष्ये शृणु सौम्यांगि महतीयं कथा मम। मया प्राग्जन्मचरितं स्मृतं देवागमेक्षणात् ॥ १२४ ॥ तत्कीदृशं कथा वेति सर्वं वक्ष्ये सविस्तरं । स्वप्नानुभूतमिव मे स्मृतौ तत्प्रतिभासते ॥ १२५ ॥ अहं पूर्वभवेऽमूवं धातकीखंडनामनि । महाद्वीपे सरोजाक्षि स्वर्गभूम्यतिशायनि ॥ १२६ ॥ तत्रास्ति मंदरात्पूर्वाद्विदेहे प्रत्यगाश्रिते । विषयो गंधिलाभिख्यो यः कुरूनपि निर्जयेत् ॥ १२७ ॥ तत्रासीत्पाटलीग्रामे नागदत्तो वणिक्सुतः । सुमतिस्तस्य कांता-

---

तब इसने अपना मुखरूपी कमल कुछ ऐसा नीचा करालिया जैसे सूर्यास्त होनेपर कमलिनी (कमलकी वेल) अपने कमलको संकुचित करलेती है ॥ १२१ ॥ अपना मुख नीचा किये हुये ही वह श्रीमती कहने लगी कि हे मातः! सचमुच लज्जाके विवश होकर मैं किसीके सामने ऐसे बचन नहीं कह सकती हूं ॥ १२२ ॥ किंतु आज मैं तेरे सामने ऐसे बचन कहनेमें लज्जित भी नहीं होती हूं छिपानेकी बात तो दूर ही रहो क्योंकि तू मेरी माताके समान है तथा चिरकालसे परिचित है ॥ १२३ ॥ इसालिये हे मनोहरांगी सुन मैं कहती हूं। यह मेरी कथा बहुत बड़ी है। देख देवोंका आगमन देखकर मुझे पूर्व भवके सब चरित्र स्मरण हो आये हैं ॥ १२४ ॥ वे सब चरित्र कैसे हैं अथवा वह कथा कौनसी है सो सब मैं सविस्तर कहती हूं। वह सब विषय मेरी स्मृतिमें ऐसा प्रतिभासित हो रहा है मानों मैंने स्वप्नमें ही अनुभव किया हो ॥१२५॥ हे कमलनयने! इसी मध्यलोकमें एक धातकीखंड नामका महाद्वीप है जो कि स्वर्गभूमिके समान अति सुंदर है। इसी द्वीपसंबंधी पूर्वमंदराचलपर्वतके पाश्चिम विदेहक्षेत्रमें एक गंधिला नामका देश है जो कि अपनी शोभासे देवकुरु उत्तरकुरु भोगभूमियोंको भी मात करता है ॥ १२६-१२७ ॥ उसी देशके पाटली ग्राममें एक नागदत्त नामका वणिकपुत्र रहता था जिसकी स्त्रीका नाम सुमति था और उन दोनोंके नंद, नंदिमित्र, नंदिषेण, वरसेन तथा जयसेन ये पांच पुत्र क्रमसे हुये थे, और मदनकांता

भूत्तयोर्जाताः सुता इमे ॥ १२८ ॥ नंदश्च नंदिमित्रश्च नंदिषेणाह्वयः परः । वरसेनो जयादिश्च सेनस्तत्सूनवः क्रमात् ॥ १२९ ॥ पुत्रिके च तयोर्जाते मदनश्रीपदादिके । कांते तयोरहं जाता निर्नामेति कनीयसी ॥ १३० ॥ कदाचित्कानने रम्ये चरिते चारणादिके । गिरावंबरपूर्वेऽहं तिलके पिहितास्रवं ॥ १३१ ॥ नानार्द्धिभूषणं दृष्ट्वा मुनिं सावधिबोधनं । इदमप्राक्षमानम्य संबोध्य भगवन्निति ॥ १३२ ॥ केनासि कर्मणा जाता कुले दौर्गत्यशालिनि । ब्रूहीदमातिनिर्विण्णां दीनामनुग्रहाण मां ॥ १३३ ॥ इति पृष्टो मुनींद्रोऽसौ जगौ मधुरया गिरा । इहैव विषयेऽमुत्र पुत्रि जाताऽसि कर्मणा ॥ १३४ ॥ पलालपर्वतग्रामे देविलग्रामकूटकात् । सुमतेरुदरे पुत्री धनश्रीरिति विश्रुता ॥ १३५ ॥ अन्येद्युश्च त्वमज्ञानाच्छुनः पूति कलेवरं । मुनेः समाधिगुप्तस्य पठतोऽते न्यधामुदा ॥ १३६ ॥ मुनिस्तदवलोक्यासौ त्वामित्यन्वशिषत्तदा । त्वयेदं बालिके

श्रीकांता दो पुत्री हुई थीं। पूर्वभवमें मैं भी इन्हींके घर निर्नामा नामकी सबसे छोटी पुत्री हुई थी ॥ १२८-१२९-१३० ॥ एक दिन मैंने अंवरतिलकपर्वतपर अनेक चारण आदि मुनियोंके विहार करनेयोग्य मनोहर बनमें अवधिज्ञान और अनेक ऋद्धियोंसे विभूषित पिहितास्रव मुनि देखे। उन्हें देखकर नमस्कार किया और पूछा कि हे भगवन् मैं किस कर्मके उदयसे इस दरिद्रकुलमें उत्पन्न हुई हूं। हे प्रभो ! मैं बड़ी दीन हूं मुझे बड़ा उद्वेग हो रहा है इसलिये मुझपर अनुग्रहकर इसका कारण बतलाइये ॥१३१-१३२-१३३॥ यह सुनकर वे मुनिराज मधुर वाणीसे कहने लगे कि हे पुत्रि तू पूर्वभवमें अपने कर्मोदयसे इसी देशमें पलालपर्वत ग्राममें देविलग्राम नामके पटैलके घर सुमतिके उदरसे धनश्री नामकी पुत्री हुई थी ॥ १३४-१३५ ॥ एकदिन तूने अपने अज्ञानसे जिनसूत्रका पाठ करते हुये श्रीसमाधिगुप्त मुनिके समीप बड़े हर्षसे मरे हुये कुत्तेका अपवित्र कलेवर डाला था ॥ १३६ ॥ तेरा वह कृत्य देखकर दयालु मुनिराजने तुझे उपदेश दिया था कि हे पुत्रि ! तूने यह बहुत ही अनुचित कर्म किया है ॥ १३७ ॥ भविष्यमें यह कर्म तुझे बहुत ही दुःखदायी और कटुक फल देगा क्योंकि पूज्यपुरुषोंकी अवज्ञा करना परभवमें अतिशय संतापकारक होती है ॥ १३८ ॥ मुनिराजके ऐसा कहनेपर वह धनश्री उन मुनिराजके समीप पहुंची

कर्म विरूपकमनुष्ठितं ॥ १३७ ॥ फलिष्यति विपाके ते दुरंतं कटुकं फलं । दहत्यधिकमन्यस्मिन्माननीयविमानना ॥ १३८ ॥ इति ब्रुवंतमभ्येत्य क्षमामग्राहयत्तदा । भगवन्निदमज्ञानात्त्वमस्व कृतमित्यरं ॥ १३९ ॥ तेनोपशमभावेन जाताऽल्पं पुण्यमाश्रिता ! मनुष्यजन्मनीहाद्य कुले परमदुर्गते ॥ १४० ॥ ततः कल्याणि कल्याणं गृहाणोपोषितं व्रतं । जिनेंद्रगुणसंपत्तिं श्रुतज्ञानमपि क्रमात् ॥ १४१ ॥ कृतानां कर्मणामार्ये सहसा परिपाचनं । तपोनशनमाम्नातं विधियुक्तमुपोषितं ॥ १४२ ॥ तीर्थकृत्त्वस्य पुण्यस्य कारणानीह षोडश । कल्याणान्यत्र पंचैव प्रातिहार्याष्टकं तथा ॥ १४३ ॥ अतिशयांश्चतुस्त्रिंशादिमानुद्दिश्य सद्गुणान् । यासाऽनुष्ठीयते भव्यैः संपज्जिनगुणादिका ॥ १४४ ॥ उपवासदिनान्यत्र त्रिषष्टिर्मुनि-

---

तथा उनसे क्षमा मांगी और कहने लगी कि हे भगवन् यह दुष्कृत्य मुझसे अज्ञानववश बन पड़ा है आप इसे शीघ्र ही क्षमा कर दीजिये ॥ १३९ ॥ इसप्रकार शीघ्र ही उन मुनिराजसे क्षमा मांगलेनेसे जो कुछ थोड़ा पुण्य प्राप्त हुआ था उससे तू अब इस मनुष्ययोनिमें अति दरिद्रकुलमें उत्पन्न हुई है ॥ १४० ॥ इसलिये हे कल्याणि ! कल्याण करनेवाले प्रथम जिनेंद्रगुणसंपत्ति और फिर श्रुतज्ञान इसप्रकार ये दोनों उपवास करनेवाले व्रत ग्रहण कर ॥ १४१ ॥ हे आर्ये ! किये हुये कर्मोंको बहुत शीघ्र नाश करनेवाला अनशन तप ही है। यह अनशन तप तब ही कहा जाता है जब कि इसमें विधिपूर्वक उपवास कियेजांय॥१४२॥ तीर्थंकरपदको प्राप्त करानेवाले पुण्यके सोलह कारण हैं जो कि दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंके नामसे प्रसिद्ध हैं, इनके सिवाय तीर्थंकरके पांच कल्याणक होते हैं, आठ प्रातिहार्य होते हैं तथा चौंतीस अतिशय होते हैं । ये सब मिलकर तीर्थंकरके तिरेसठ गुण कहलाते हैं । भव्यपुरुष जो इन तिरेसठ गुणोंको मुख्यकर उपवासव्रत करते हैं उसे जिनगुणसंपत्ति कहते हैं ॥ १४३-१४४ ॥ गणधरादिमुनियोंने जिनगुणसंपत्ति व्रत करनेकेलिये तिरेसठ[1] दिन उपवास करना कहा है। श्रुतज्ञान व्रतके उपवास

---

१ तिरेसठ उपवासोंकी विधि यह है-सोलहकारण भावनाओंकी सोलह प्रतिपदा, पंचकल्याणकोंकी पांच पंचमी, आठ प्रतिहार्योंकी आठ अष्टमी और चौंतीस अतिशयोंकी वीस दशमी तथा चौदह चतुर्दशी । इसप्रकार तिरेसठ उपवास होते हैं ।

मिमीता । श्रुतज्ञानोपवासस्य स्वरूपमधुनोच्यते॥ १४५ ॥ अष्टाविंशतिमप्येकादश द्वौ च यथाक्रमं। अष्टाशीतिमथैकं च चतुर्दश च पंचकं ॥१४६॥ विद्धि षड्द्व्येकसंख्याश्च मत्यादिज्ञानपर्ययान् । नामोद्देशक्रमश्चैषां ज्ञानानामित्यनुस्मृतः ॥ १४७ ॥ मतिज्ञानमथैकादशांगानि पारिकर्म च । सूत्रमाद्यनुयोगं च पूर्वाण्यपि च चूलिकां ॥ १४८ ॥ अवधिं च मनःपर्ययाख्यं केवलमेव च । ज्ञानभेदान्प्रातीत्येमान् श्रुतज्ञानमुपोष्यते ॥ १४९ ॥ दिनानां शतमत्रेष्टमष्टापंचाशताधिकं । विधी त्वमेतावालंब्य तपोऽनशनमाचर॥ १५० ॥ उशंति ज्ञानसाम्राज्यं विध्योः फलमथैनयोः । स्वर्गाद्यपि फलं प्राहुरनयोरनुषंगजं ॥ १५१ ॥ मुनयः पश्य कल्याणि शापानुग्रहयोः क्षमाः । अतिक्रांतिरतस्तेषां लोकद्वयविरोधिनी ॥ १५२ ॥ वाचा-

---

करनेका स्वरूप अब इसप्रकार कहा जाता है कि॥ १४५ ॥ अट्ठाईस, ग्यारह, दो, अठासी, एक, चौदह पांच, छह, दो, एक इसप्रकार यह एकसौ अट्ठावन संख्या मतिज्ञान आदि ज्ञानके भेदोंकी होती है, और उनका क्रम इसप्रकार है कि मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद हैं (मतिज्ञानके मुख्य चार भेद हैं अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये प्रत्येक पाचों इंद्रियों और मनसे होते हैं इसालिये इनके चौवीस भेद हुये। व्यंजनावग्रह चार ही इंद्रियोंसे होता है इसलिये उसके चार ही भेद लिये। इसप्रकार सबमिलाकर अट्ठाईस भेद हुये।) ग्यारह अंगोंके ग्यारह, परिकर्मके दो, सूत्रके अट्ठासी, अनुयोगका एक, पूर्वके चौदह, चूलिकाके पांच अवधिज्ञानके छह, मनःपर्ययज्ञानके दो और केवलज्ञानका एक, इसप्रकार ज्ञानोंके इन एकसौ अट्ठावन भेदोंको मुख्यकर श्रुतज्ञानकी उपासना की जाती है ॥१४६-१४७-१४८-१४९॥ इसप्रकार श्रुतज्ञानव्रतमें एकसौ अट्ठावन उपवास किये जाते हैं। हे पुत्रि ! तू भी जिनगुणसंपत्ति और श्रुतज्ञान इन दोनों व्रतोंको धारणकर अनशन व्रत स्वीकार कर ॥ १५० ॥ हे पुत्रि ! विधिपूर्वक किये हुये इन दोनों व्रतोंका फल केवलज्ञानकी प्राप्ति होना कहा है। इस फलके साथ २ स्वर्गादिकी प्राप्ति विना प्रयास किये स्वभाव से ही हो जाती है ॥१५१॥ हे कल्याणि ! देख मुनिराज शाप देनेमें भी समर्थ हैं और अनुग्रह करनमें भी समर्थ हैं। इसलिये मुनियोंकी अवज्ञा करना दोनों लोकोंमें दुःख देनेवाली होती है ॥ १५२ ॥ जो

तिलंघनं वाचं निरुणद्धि भवे परे। मनसोल्लंघनं चापि स्मृतिमाहंति मानसीं ॥ १५३ ॥ कायेनातिक्रमस्तेषां कार्तिः सा या न ढौकते। तस्मात्तपोधनेंद्राणां कार्यो नातिक्रमो बुधैः ॥ १५४ ॥ क्षमाधनानां क्रोधाग्निं जनाः संधुक्षयंति ये। क्षमाभस्मप्रतिच्छन्नं दुर्वचोविस्फुलिंगकं ॥१५५॥ संमोहकाष्ठजनितं प्रातीप्यपवनेरितं। किं तैर्न नाशितं मुग्धे हितं लोकद्वयाश्रितं ॥ १५६ ॥ इत्थं मुनिवचः पथ्यमनुमत्य यथाविधि। उपोष्य तद्द्वयं स्वायुरंते स्वर्गमयासिषं ॥ १५७ ॥ ललितांगस्य तत्रासं कांता देवी स्वयंप्रभा। सार्द्धं सपर्ययागत्य ततो गुरुमपूजयं ॥ १५८ ॥ कल्पेऽनल्पर्द्धिरैशाने श्रीप्रभाधिपसंयुता। भोगान्भुक्त्वाऽत्र जातेति कथापर्यवसानकं ॥ १५९ ॥ ललितांगच्युतौ तस्मात् षण्मासान् जिनपूजनं।

जीव बचनद्वारा मुनियोंकी अवज्ञा करते हैं वे परभवमें बचनरहित गूंगे हो जाते हैं जो केवल मनसे निंदा करते हैं उनकी स्मरण आदि मानसिक सब शक्तियां नष्ट हो जाती हैं। जो केवल शरीरसे मुनियोंकी अवज्ञा करते हैं उन्हें ऐसे कौनसे दुःख हैं जो प्राप्त न होते हों। इसलिये बुद्धिमानपुरुषोंको मुनियोंका निरादर कभी नहीं करना चाहिये। ॥ १५३--१५४ ॥ हे मुग्धे जो जीव क्षमारूपधनको धारण करनेवाले मुनियोंके मोहरूपकाष्ठसे उत्पन्न हुई, विरोधरूपी वायुसे झकोरी हुई, दुर्वचनरूपी फुलिंगोंसे भरी हुई, और क्षमारूपी भस्मसे ढकी हुई, क्रोधरूपीअग्निको उद्दीपन करते हैं वे अपने दोनों लोकोंमें होनेवाले कौनसे हितका नाश नहीं करते हैं? ॥ १५५-१५६ ॥ इसप्रकार मैं हितकरनेवाले मुनियोंके वचन स्वीकारकर तथा जिनगुणसंपत्ति और श्रुतज्ञान दोनों व्रतोंके विधिपूर्वक उपवास करके अपनी आयु पूर्णकर स्वर्गमें उत्पन्न हुई ॥ १५७ ॥ द्वितीयस्वर्गके ललितांगदेवकी स्वयंप्रभा नामकी मुख्य देवांगना हुई तथा अपने स्वामी ललितांगदेवके साथ इस मध्यलोकमें आकर व्रत देनेवाले पिहितास्त्रवमुनिकी पूजा की ॥ १५८ ॥ अनेक ऋद्धियोंको धारण करनेवाली मैंने उस ईशान स्वर्गमें श्रीप्रभविमानके स्वामी ललितांगदेवके साथ अनेकप्रकारके भोग भोगे तथा वहांसे चयकर यहां महाराज बज्रदंतचक्रवर्त्तीकी पुत्री श्रीमती हुई हूं। हे मात! यही मेरी पूर्व भवकी कथा है ॥ १५९ ॥ हे कृषोदरि। जब ललितांगदेव

कृत्वा प्रच्युत्य संभूतिमिहालाप्से तनूदरि ॥ १६० ॥ तमिदानीमनुस्मृत्य तदन्वेषणसंविधौ । यतेऽहं प्रयता तेन वाचं यमविधिं दधे ॥ १६१ ॥ उत्कीर्ण इव देवोऽसौ पश्याद्यापि मनो मम । अधितिष्ठति दैवेन रूपेणानंगतां गतः ॥ १६२ ॥ ललितांगवपुः सौम्यं ललितं ललितानने । सहजातांबरस्रग्वी स्फुरदाभरणोज्ज्वलं ॥ १६३ ॥ पश्यामीव सुखस्पर्शं तत्करस्पर्शलालितं । तदलाभे च मद्गात्रं क्षामतां नैतदुज्झति ॥ १६४ ॥ इमेऽश्रुबिंदवोऽजस्रं निर्यांति मम लोचनात् । मद्दुःखमक्षमा द्रष्टुं तमन्वेष्टुमिवोद्यताः ॥ १६५ ॥ इत्युक्त्वा पुनरप्येवमवादीच्छ्रीमती सखीं । शक्ता त्वमेव नान्याऽस्ति मत्प्रियान्वेषणं प्रति ॥ १६६ ॥ त्वयि सत्यां सरोजाक्षि कुतोऽद्य स्यान्ममासुखं । नलिन्याः किमु दौस्थित्यं तपत्यां

वहांसे च्युत हुआ था तव मेरी आयु केवल छह महीनेकी शेष रह गई थी। सो मैं छह महीनेतक जिन-पूजनकर वहांसे चयकर यहां उत्पन्न हुई हूं॥ १६० ॥ हे मात ! इससमय मुझे उसी ललितांगदेवका स्मरण हुआ है वह अब कहां उत्पन्न हुआ है यही अन्वेषण करनेकेलिये मैं सावधान होकर उपाय सोच रही हूं और इसलिये ही मैंने मौन धारण किया है ॥ १६१ ॥ हे मात ! यह देख वह ललितांगदेव मुझे प्रत्यक्षके समान साक्षात् दिखाई दे रहा है। यद्यपि वह दिव्यशरीरसे रहित हो गया है तथापि वह शरीररहित अर्थात् कामदेव होकर ही मानों आज भी मेरे मनमें निवास कर रहा है॥ १६२ ॥ हे ललि-तानने ! मैं इससमय साथ साथ उत्पन्न हुये वस्त्र माला तथा स्फुरायमान अनेक आभरणोंसे देदीप्य-मान, अति मनोहर और सौम्य ऐसे ललितांगके शरीरको मानों साक्षात् देख रही हूं तथा उसके कोमल हाथके स्पर्शसे लालित हुये सुखदस्पर्शको भी मानो साक्षात् देख रही हूं। परंतु हे मात ! उसकी प्राप्ति के बिना मेरा यह शरीर कृषता नहीं छोड़ता है ॥ १६३-१६४ ये अश्रुबिंदु बराबर मेरे नेत्रोंसे निकल रहे हैं मानों ये मेरा दुःख देख नहीं सकते इसलिये ललितांगदेवको ढूंढनेकेलिये ही उद्यत हुये हैं ॥ १६५ ॥ यह सब कहकर फिर भी वह श्रीमती अपनी पंडितासखीसे कहने लगी कि हे सखि ! तू ही मेरे स्वामीको ढूंढ सकती है। तेरे सिवाय अन्य कोई इस कार्यको नहीं कर सकता ॥ १६६ ॥हे कमलनयने ! तेरे रहते

तपनद्युतौ ॥ १६७ ॥ सत्यं त्वं पंडिता कार्यघटनास्वतिपंडिता । तन्ममैतस्य कार्यस्य संसिद्धिस्त्वयि तिष्ठते ॥ १६८ ॥ ततो रक्ष मम प्राणान्प्राणेशस्य गवेषणात् । स्त्रीणां विपत्प्रतीकारे स्त्रिय एवावलंबनं ॥ १६९ ॥ तदुपायं च तेऽद्याहं ब्रुवे प्रस्तुतसिद्धये । मया विलिखितं पूर्वभवसंबधिपट्टकं ॥ १७० ॥ कचित्किंचिन्निगूढांतःप्रकृतं चित्तरंजनं । तद्गृहजादाय धूर्तानां मनःसंमोहकारणं ॥ १७१ ॥ पतिब्रुवाश्च ये मिथ्या वैय्यात्योद्धतबुद्धयः । तान् स्मितांशुपटच्छन्नान्कुरु गूढार्थसंकटे ॥ १७२ ॥ इत्युक्त्वा पंडितावोचत्तच्चित्ताश्वासनं वचः । स्मितांशुमंजरीपुंजैः किरंतीवोद्गमांजलिं ॥ १७३ ॥ मयि सत्यां मनस्तापो माभूत्ते कलभाषिणि । लसत्यां चूतमंजर्यां कोकिलायाः कुतोऽसुखं ॥ १७४ ॥ कवेर्धीरिव सुश्लिष्टमर्थं ते

हुये आज मुझे दुःख क्यों होना चाहिये । सूर्यका प्रकाश देदीप्यमान होते हुये क्या कभी नालिनीको (कमलोंकी वेलको) दुःख होता है ! ॥ १६७ ॥ हे पंडिते सचमुच ही तू समस्त कार्योंके करनेमें पंडिता अर्थात् अतिनिपुण है ! इसालिये हे सखि ! मेरे इस कार्यकी सिद्धि तेरे ही हाथमें है ॥ १६८ ॥ इसलिये हे सखि ! मेरे स्वामिको ढूंढकर मेरे प्राणोंकी रक्षाकर । क्योंकि स्त्रियोंकी विपत्ति दूर करनेकेलिये स्त्रियां ही सहायक होती हैं ॥ १६९ ॥ इस कार्यको सिद्ध करनेकेलिये मैं तुझे एक उपाय वतलाती हूं। आज मैंने एक चित्र बनाया है जिसमें पूर्वभवकी सब बातें लिखीं हैं ॥ १७० ॥ कहीं कहीं उसमें चित्त प्रसन्न करनेवाले गूढविषय भी लिखे गये हैं । वह चित्र धूर्तपुरुषोंके चित्तोंको अत्यंत मोहितकरनेवाला है। उसे लेकर तू जा ॥ १७१ ॥ मदोन्मत्त होकर विपरीतबुद्धिको धारण करनेवाले जो पुरुष झूठमूठ ही पति बनना चाहें उन्हें ये गूढ विषय पूछकर ईषत् हास्यरूपीवस्त्रसे आच्छादन कर लाज्जित करना ॥ १७२ ॥ इसप्रकार जब श्रीमती कह चुकी तब ईषतहास्यरूपी पुष्पमंजरीके समूहोंसे निर्मापित हुई अंजलि वखेरती हुई पंडितासखी श्रीमतीके चित्तको आश्वासन करनेवाले वचन कहनेलगी ॥ १७३ ॥ कि हे मधुरभाषणकरनेवाली मेरे होते हुये तेरे चित्तको संताप नहीं हो सकता । क्या आम्रमंजरीके रहते हुये कोकिलाको किसीप्रकार दुःख हो सकता है ॥? १७४ ॥ हे सखि ! जिसप्रकार कविकी

मृगये प्रति । साक्षि लक्ष्मीरिवोद्योगशालिनं पुरुषं परं ॥ १७५ ॥ घटयिष्यामि ते कार्यं पटुधीरहमुद्यता । दुर्घटं नास्ति मे किंचित्प्रणीहीह जगत्त्रये ॥ १७६ ॥ नानाभरणविन्यासमतो धारय सुंदरि । वसंततिलकेवोद्यत्प्रवालांकुरसंकुलं ॥ १७७ ॥ तदत्र संशयो नैव कार्यः कार्यस्य साधने । श्रीमतीप्रार्थितार्थानां ननु सिद्धिरसंशयं ॥ १७८ ॥ इत्युक्त्वा पंडिताश्वास्य तां तदर्पितपट्टकं । गृहीत्वाऽगमदाश्वेव महापूतजिनालयं ॥ १७९ ॥ यः सुदूरोच्छ्रितैः कूटैर्लक्ष्यते रत्नभासुरैः । पातालादुत्फणस्तोषात्किमप्युद्यान्निवाहिराट् ॥ १८० ॥ वर्णसांकर्यसंभूतचित्रकर्मान्विता अपि । यद्भित्तयो जगच्चित्तहारिण्यो गणिका इव ॥१८१॥ दिवामन्यां निशां कर्तुं क्षमैर्मणिविचित्रितैः । तुंगैः शृंगैःस्म यो भाति दिवमुन्मलिय-

---

बुद्धि उत्तम अर्थ ढूंढ लाती है अथवा जिसप्रकार लक्ष्मी उद्योगशाली उत्तमपुरुषको ढूंढ लाती है उसीप्रकार मैं भी तेरे पतिको अवश्य ढूंढ लाऊंगी ॥ १७५ ॥ हे सखि मैं प्रत्येक कार्य करनमें चतुर हूं और सदा उद्यत रहती हूं इसलिये मैं तेरा यह कार्य अवश्य कर दूंगी। तू निश्चयजान कि इन तीनों जगतोंमें मेरेलिये कोई काम कठिन नहीं है ॥ १७६ ॥ इसलिये हे सुंदरि! जैसे माधवीलता निकले हुये नये पत्ते और अकूरोंको धारण करती है उसीप्रकार अब तू अनेकप्रकारके आभरणोंका विन्यास धारण कर ॥ १७७ ॥ हे सखि ! अब तू इस कार्यके सिद्ध होनेमें संशय मत कर। जिस कार्यकेलिये श्रीमती इच्छा करती है वह कार्य निःसंदेह अवश्य ही सिद्ध होता है ॥ १७८ ॥ वह पंडिता सखी इसप्रकार कह-कर तथा उस श्रीमतीको अनेकप्रकारसे आश्वासन देकर उसके दियेहुये चित्रको लेकर बहुत शीघ्र महापूत नामके चैत्यालयमें गई ॥ १७९ ॥ वह महापूत चैत्यालय रत्नोंकी किरणोंसे तथा अत्यंत ऊंची शिखरोंसे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों अपना फण ऊंचा कियेहुये नागराज ही संतुष्ट होकर पाता-लसे निकला हो ॥ १८० ॥ जिसकी दीवालें ठीक वेश्याके समान थीं क्योंकि जैसे वेश्यायें वर्णसंकरतासे उत्पन्नहुई और अनेकप्रकारके पापकर्मकरनेवालींहोकर भी संसारका चित्त हरण करतीं हैं उसीप्रकार ये दीवालें भी अनेकप्रकारके मिलेहुये वर्णोंसे बनायेहुये अनेकचित्रोंसे शोभायमान थीं इसलिये वे

त्रिव ॥ १८२ ॥ पठाद्भिरनिशं साधुवृंदैरामंद्रनिस्वनं । प्रजल्पान्निव यो भव्यैर्व्यभाव्यत समागतैः ॥ १८३ ॥ यस्य कूटाग्रसंसक्ताः केतवोऽनिल घट्टिताः । विबभुर्वंदनाभक्त्यै व्याह्वयंत इवामरान् ॥ १८४ ॥ तद्वातायननिर्याता धूपधूमाश्चकासिरे । स्वर्गस्योपायनीकर्तुं निर्मिमाणा घनाइव ॥ १८५ ॥ यस्य कूटतटालग्नास्तारास्तरलरोचिषः । पुष्पोपहारसंमोहमातन्वंत नभोजुषां ॥ १८६ ॥ सद्वृत्तसंगतश्चित्रसंदर्भरुचिराकृतिः । यः

संसारमात्रका चित्त हरण करती थीं ॥ १८१ ॥ उनके शिखर बहुत ऊंचे थे और उनपर ऐसे प्रकाशमान विचित्र मणि लगे हुये थे जो रात्रिमें भी दिनकी शंका उत्पन्न कराते थे। ऐसे उनशिखरोंसे वह चैत्यालय ऐसा जानपडता था मानों अपने प्रकाशमान ऊंचे शिखरोंसे स्वर्गको ही दिखा रहा हो ॥ १८२ ॥ चैत्यालयमें अनेकमुनियोंके समूह सदा गंभीरशब्दोंसे पाठ करते थे इसलिये वह चैत्यालय उन शब्दोंसे ऐसा सुशोभित होता था मानों आयेहुये भव्यपुरुषोंसे संभाषण ही कररहा हो ॥ १८३ ॥ उसकी ऊंची शिखरोंपर लगी हुई तथा वायुकेद्वारा हिलती हुई ध्वजायें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों बंदना भक्ति आदि करनेकेलिये देवोंको ही बुला रहीं हों ॥ १८४ ॥ उस चैत्यालयके झरोखोंसे निकलता हुआ धूपका धूआं ऐसा जान पडता था मानों स्वर्गको भेट देनेकेलिये नवीन बने हुये बादल ही जा रहे हों ॥ १८५ ॥ उस चैत्यालयकी शिखरोंके चारोंओर प्रकाशमान तारे खिल रहे थे और वे देवोंको ऊपरसे ऐसे जान पडते थे मानों उस शिखरकी पूजा में चढाये हुये पुष्प ही हों ॥ १८६ ॥ वह चैत्यालय संसारमें एक महाकाव्यके समान शोभायमान था, जिसप्रकार महाकाव्य उपजाति आदि उत्तमछंदोंसे सुशोभित होता है उसीप्रकार वह चैत्यालय भी उत्तमचारित्रके धारण करनेवाले मुनि श्रावकोंसे सुशोभित रहता था। महाकाव्य जिसप्रकार अनेकप्रकारकी रचनासे उत्तम गिना जाता है उसीप्रकार वह चैत्यालय भी अनेक प्रकारके चित्रोंकी रचनासे सुंदरता धारण करता था। जिसप्रकार महाकाव्यमें उत्तम शब्द होते हैं उसी प्रकार उस चैत्यालयमें भी भक्ति, स्तोत्र, आदिके उत्तम २ शब्द हो रहे थे ॥ १८७ ॥ अथवा यों कहना

सुशब्दीं महान्मखां काव्यबंध इवाबभौ ॥ १८७ ॥ सपताको रणद्घंटो यो दृढस्तंभसंभृतः व्यभाद्गंभीरनिर्घोषैः सबृंहित इवेभराट् ॥ १८८ ॥ पठतां पुण्यनिर्घोषैर्वंदारूणां च निस्वनैः । यः संदधावकालेऽपि मदारंभं शिखंडिषु ॥ १८९ ॥ यस्तुंगशिखरः शश्वच्चारणैः कृतसंस्तवः । विद्याधरैः समासेव्यो मंदराद्रिरिवाद्युतत् ॥ १९० तत्र पट्टकशालायां पंडिता कृतवंदना । प्रसार्य पट्टकं तस्थौ परिचिक्षिपुरागतान् ॥ १९१ ॥ प्रैक्ष्यंत केचिदागत्य सावधानं महाधियः । केचित्किमेतदित्युच्चैर्जजल्पुर्वीक्ष्य पट्टकं ॥ १९२ ॥ तेषां समुचितैर्वाक्यैर्ददती पंडितोत्तरं । तत्रास्ते स्म स्मितोद्योतैः

चाहिये कि वह चैत्यालय मानों गंभीर शब्द करते हुये एक बडे हाथीके समान था। जैसे हाथीपर पताका उडाई जाती है उसीप्रकार इस चैत्यालयपर भी पताकायें उडरहीं थीं जिसप्रकार हाथीपर लटकते हुये घंटे बजते हैं उसीप्रकार इस चैत्यालयमें अनेक घंटे बजते थे और जैसे हाथी मज़बूत खंभोंसे बंधा रहता है उसीप्रकार वह चैत्यालय भी अनेक मजबूत खंभोंसे स्थिर था ॥ १८८ ॥ उस चैत्यालयमें अनेक जन वंदना करनेकेलिये आते थे और अनेक पुण्यस्तोत्रोंका पाठ पढते थे, उनके उस पुण्यपाठके गंभीर शब्दोंसे मयूरोंको असमयमें ही मदोन्मत्तताका प्रारंभ हो जाता था ॥ १८९ ॥ वह चैत्यालय ठीक मंदराचल पर्वतके समान शोभायमान था, जिसप्रकार मंदराचल पर्वतका शिखर बहुत ऊंचा है उसीप्रकार इस चैत्यालयका शिखर भी बहुत ऊंचा था, जिसप्रकार चारण भाट मंदराचलपर्वतकी सदा स्तुति किया करते हैं उसीप्रकार इस चैत्यालयमें भी अनेक चारणमुनि देवाधिदेव श्रीअरहंतदेवकी सदा स्तुति किया करते थे तथा जैसे मंदराचलपर्वत विद्याधरोंसे सदा सुशोभित रहता है उसीप्रकार वह चैत्यालय भी शब्दागम परमागमके जाननेवाले मुनि और श्रावकोंसे तथा विद्याधरोंसे सदा सुशोभित रहता था ॥ १९० ॥ इत्यादि वर्णनायुक्त उस महापूतचैत्यालयमें वह पंडिता सखी पहुंची और वंदना नमस्कारादिकर वहांकी चित्रशालामें वह अपना चित्र फैलाकर आये हुये लोगोंकी परीक्षा करनेके लिये बैठगई ॥ १९१ ॥ कितने ही बुद्धिमान् पुरुष आकर बड़े आदरसे उस चित्रको देखने लगे और

किरंती पंडितायितान् ॥ १९३ ॥ अथ दिग्विजयाच्चक्री न्यवृतत्कृतदिग्जयः । प्रणतीकृतनिःशेषनरविद्याधरामरः ॥ १९४ ॥ ततोऽभिषेकं द्वात्रिंशत्सहस्रधरणीधरैः । चक्रवर्ती परं प्रापत्पुण्यैः किं नु न लभ्यते ॥१९५॥ स च ते च समाकाराः करांघ्रिवदनादिभिः । तथापि तैः समभ्यर्च्यः सोऽभूत्पुण्यानुभावतः ॥ १९६ ॥ अनीदृशवपुश्चंद्रसौम्यास्यः कमलेक्षणः । पुण्येन स बभौ सर्वानतिशय्य नरामरान् ॥ १९७ ॥ शंखचक्रांकुशादीनि लक्षणान्यस्य पादयोः । बभुरालिखितानीव लक्ष्म्या लक्ष्माणि चक्रिणः ॥ १९८ ॥ अमोघशासने तास्मिन्भुवं शासति भूभुजि । न दंड्य-

---

कितने ही उसे देखकर यह क्या है इसप्रकार जोरसे चिल्लाने लगे ॥ १९२ ॥ पंडिता सखी समुचित वाक्योंसे उन सबका उत्तर देती जाती थी और अपनेको स्वयं पंडित माननेवाले मूर्ख लोगोंपर ईषत् हास्यरूपी प्रकाश डालती जाती थी अर्थात् उनका तिरस्कार करती जाती थी। इसप्रकार वह पंडिता वहां रहती थी ॥ १९३ ॥ इधर बज्रदंत चक्रवर्त्ती सब दिशाओंको जीतकर दिग्विजयसे वापिस लौटा उससमय उसे देव विद्याधर मनुष्य आदि सब नमस्कार कर रहे थे ॥ १९४ ॥ उससमय बत्तीसहजार राजाओंकेद्वारा उस चक्रवर्त्तीका अभिषेक किया गया था सो ठीक ही है पुण्यसे किस २ वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ १९५ ॥ यद्यपि वज्रदंतचक्रवर्त्ती और वे बत्तीसहजार राजा हाथ पांव मुख आदि शरीरके अवयवोंसे समान आकारके थे तथापि वह चक्रवर्त्ती अपने पुण्यकर्मके उदयसे उन राजाओंके द्वारा पूज्य हुआ था ॥ १९६ ॥ इसका शरीर, उपमा रहित था, मुख चंद्रमाके समान सौम्य था। और नेत्र कमलके समान सुंदर थे। पुण्यकर्मके उदयसे वह चक्रवर्त्ती समस्त देव और मनुष्योंसे अधिक सुशोभित हो रहा था ॥ १९७ ॥ इसके पांवमें शंख चक्र अंकुश आदि शुभ लक्षण ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानों लक्ष्मीने ही चक्रवर्तीके ये सब लक्षण आंकित किये हों ॥ १९८ ॥ इसकी आज्ञा कभी व्यर्थ नहीं होती थी इसप्रकार वह पृथिवीका शासन करता था। इसके शासनकालमें इसकी प्रजा कभी कोई अपराध नहीं करती थी इसालिये इसके राज्यमें कोई पुरुष दंड देने योग्य नहीं था ॥ १९९ ॥ वह चक्रवर्त्ती वक्षःस्थलपर

पद्मः कोऽप्यासीत्प्रजानामकृतागसां ॥ १९९ ॥ स बिभ्रद्वक्षसा लक्ष्मीं वक्त्राब्जेन च वाग्वधूं । प्राणाय्यामिव लोकांतं प्राहिणोत्कीर्तिमेकिकां ॥ २०० ॥ सुधासूतिरिवोदंशुरंशुमानिव चोत्करः । स कांतिं दीप्तिमप्युच्चैरधादप्यद्भुतोदयः ॥ २०१ ॥ पुण्यकल्पतरोरुच्चैः फलानीव महात्यलं । बभूवुस्तस्य रत्नानि चतुर्दश विशां विभोः ॥ २०२ ॥ निधयो नव तस्यासन्पुण्यानामिव राशयः । यैरक्षय्यैरमुष्यासीद्गृहवार्ता महोदया ॥२०३॥ षट्खंडमंडितां पृथ्वीमितिसंपालयन्नसौ । दशांगभोगसंभूतिमभुक्त सुकृती चिरं ॥२०४॥ इति कतिपयैरेवाहोभिः कृती कृतदिग्जयो । जयपूतनया

लक्ष्मीको धारण करता था और मुखरूपी कमलपर सरस्वतीको धारण करता था। अतिशयप्रिया किंतु एकाकिनी (अकेली) कीर्तिको धारण करनेकेलिये कोई उत्तम स्थान ही नहीं था इसलिये उसे लोकके अंततक पहुंचा दिया था। भावार्थ-उसके समीप लक्ष्मी और सरस्वती सदा निवास करती थीं और उसकी कीर्ति संसार भरमें फैली हुई थी ॥ २०० ॥ वह चक्रवर्ती चंद्रमाके समान कांतिमान् था और सूर्यके समान तेजस्वी था। आश्चर्यजनकभाग्योदयको धारण करनेवाला वह राजा कांति और तेज दोनोंको एक साथ बड़ी उत्तमतासे धारण करता था ॥ २०१ ॥ पुण्यरूपी कल्पवृक्षके बड़ेसे बड़े फल इतने ही बड़े होते हैं इससे बड़े नहीं होते यही दिखानेकेलिये मानों उस चक्रवर्तीके चौदह रत्न उत्पन्न हुये थे ॥ २०२ ॥ अनेक पुण्यराशियोंके समान इसके यहां नौ निधि उत्पन्न हुई थीं और वे अक्षय थीं इसलिये इसके घरका भंडार सदा भरा हुआ रहता था, किसी बातकी कमी नहीं थी ॥ २०३ ॥ अति पुण्यवान उस चक्रवर्तीने इसप्रकार छह खंड पृथिवीका परिपालन करते हुये चिरकालतक दशप्रकारके भोगोपभोग अनुभव किये थे। चौदह रत्न, नौ निधि, सुंदर स्त्रियां, नगर, आसन, शय्या, सैन्य, भोजन, पात्र और नाट्यशाला ये दशप्रकारके भोगोपभोग गिने जाते हैं ॥ २०४ ॥ देदीप्यमान मुकुट और मणियोंके कुंडल धारण करनेवाला तथा कृतकृत्य वह बज्रदंत चक्रवर्ती कितनेही दिनोंमें सब दिशाओंको जीतकर वापिस लौटा और जैसे देदीप्यमान मुकुट और प्रकाशमान मणियोंके कुंडल धारणकरनेवाला इंद्र अपनी देवसेनाके

सार्द्धं चक्री निवृत्य पुरीं विशन् । सुरपृतनया सार्कं शक्रो विशन्नमरावतीमिव स रुरुचे भास्वन्मौलिर्ज्वलन्मणिकुंडलः ॥२०५॥ विहितनिखिलकृत्योप्यात्मपुत्रीविवाहव्यतिकरकरणीये किंचिदंतः सचिंतः । पुरमविशदुदारश्रीपराध्यें पुरुश्रीर्मृदुपवनविधूतप्रोल्लसत्केतुमालं ॥ २०६ ॥ क्षुंदंतो लवलीलतास्तटवने सिंधोर्लवंगातते तत्रासनिसुरांगनालसलसन्नेत्रैः शनैर्वीक्षिताः । आभेजुर्विजयार्द्धकंदरदरीरामृज्य सेनाचरा यस्यासौ विजयी स्वपुण्यफलितां दीर्घं भुनक्ति स्म गां ॥ २०७ ॥ आक्रामन्वनवेदिकांतरगतस्तां वैजयार्द्धीं तटीमुल्लंघ्याब्धिवधूं तरंगतरलां गगां च सिंधुं धुनीं

साथ इंद्रपुरीमें प्रवेश करता हुआ सुशोभित होता है उसीप्रकार वह भी अपनी विजयकरनेवाली सेनाके साथ अपने नगरमें प्रवेश करता हुआ सुशोभित हुआ॥ २०५ ॥ यद्यपि वह चक्रवर्ती अपने समस्तकृत्य कर चुका था तथापि उसके अंतःकरणमें अपनी पुत्रीके विवाहकरनेकी किंचित् चिंता वनी हुई थी। इस चिंतासे चिंतातुर किंतु अत्यंत शोभायमान उस चक्रवर्तीने मंदवायुके द्वारा हिलती हुई अत्यंत सुशोभित ध्वजाओंकी पंक्तियोंसे शोभायमान तथा अन्य अनेक उत्तम २ शोभाओंसे सुशोभित अपने नगरमें प्रवेश किया ॥ २०६ ॥ जिसकी सेनाके लोग, लवंगकी लताओंसे परिपूर्ण ऐसे समुद्रके तटभागके वनोंमें, चंदनलताओंका चूर्ण करते हुये तथा वहां बैठी हुई देवांगनाओंके आलस्य भरे हुये सुशोभित नेत्रोंके द्वारा धीरे २ देखे गये थे तथा विजयार्द्धपर्वतके गुफामार्गको पारकर सुशोभित हुये थे ऐसा वह सर्वत्र विजयकरनेवाला चक्रवर्ती अपने पुण्यसे प्राप्त हुई पृथिवीको चिरकालतक भोग रहा था ॥ २०७॥ और वह चक्रवर्ती समुद्रके समीप वनवेदिकाके मध्यभागमें भी प्राप्त हुआ, विजयार्द्धपर्वतके तटभागपर भी उसने आक्रमण किया, तरंगोंसे अति चंचल ऐसी समुद्रकी वनितारूप गंगा और सिंधु नदियोंको भी उल्लंघन किया और हिमवन कुल पर्वतकी उन्नति (उंचाई) को भी उसने तिरस्कृत किया इसप्रकार संपूर्ण

जित्वाशां कुलभूभृदुन्नतिमपि न्यक्कृत्य चक्रांकितां । लेभेऽसौ जिनशासनार्पितमतिः श्रीवज्रदंतः श्रियं ॥ २०८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे ललितांगस्वर्गच्यवनवर्णनं नाम

षष्ठं पर्व ।

॥ श्रीः ॥

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

अथ सप्तमं पर्व ॥

अथाहूय सुतां चक्री तामित्यन्वशिषत्कृती । स्मितांशुसलिलैः सिंचन्निवैनामाधिबाधितां ॥ १ ॥ पुत्रि मा स्म गमः शोकमुपसंहर मौनितां ।

दिशाओंको जीतकर पूर्णरूपसे जैनमतकी आज्ञामाननेवाला वह वज्रदंत राजा, चक्रवर्तीकी पूर्णविभूतिको प्राप्त हुआ ॥ २०८ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीतमहापुराणके नवीन हिन्दीभाषानुवादमें ललितांगदेवके स्वर्गसे च्युत होनेतकका वर्णन करनेवाला छठापर्व समाप्तहुआ ।

अथ सप्तमपर्व ।

अनंतर उस चतुरचक्रवर्तीने अपनी पुत्री बुलाई और मानसिकपीडासे पीड़ितहुई उस पुत्रीको मानों ईषतहास्यकी किरणरूपी जलसे सिंचनकरतेहुये नीचे लिखे अनुसार उपदेश दिया ॥ १ ॥ वह चक्रवर्ती उसे समझाने लगा कि हे पुत्री ! तू शोक मत कर अपना मौन छोड़ । मैं अपनें अवधिज्ञानसे तेरे पतिका सब वृत्तांत जानता हूं ॥ २ ॥ हे पुत्री ! तू शीघ्र ही सुखपूर्वक स्नानकर अलंकार धारणकर

जानामि त्वत्पतेः सर्वं वृत्तांतमवधिन्विषा ॥ २ ॥ त्वरं पुत्रि सुखं स्नाहि प्रसाधनविधिं कुरु । चंद्रबिंबायिते पश्य दर्पणे मुखमंडनं ॥ ३ ॥ आशन मधुरालापैस्तर्पयेष्टं सखीजनं । त्वदिष्टसंगमोऽवश्यमद्य श्वो वा भविष्यति ॥ ४ ॥ यशोधरमहायोगिकैवल्यै स मयाऽवधिः । समासादि ततोऽज्ञानमभिन्नसमयावधि ॥ ५ ॥ शृणु पुत्रि तवास्माकं त्वत्कांतस्यापि वृत्तकं । जन्मांतरनिबद्धं ते वक्ष्यामीदं तथा पृथक् ॥ ६ ॥ इतोऽहं पंचमेऽभूवं जन्मन्यस्यां महाद्युतौ । नगर्यां पुंडरीकिण्यां स्वर्णगर्यामिवार्द्धिभिः ॥ ७ ॥ सुतोऽर्द्धचक्रिणश्चंद्रकीर्तिरित्यात्तकीर्त्तनः । जयकीर्त्तिर्वयस्यो मे तदाऽऽसीत्सहवार्धितः ॥ ८ ॥ पितुः क्रमामतां लक्ष्मीमासाद्य परमोदयां । समं वयं वयस्येन चिरमत्रारमामहि ॥ ९ ॥ गृहमेधी गृहीताणुव्रतः सोऽहं क्रमात्ततः कालांते चंद्रसेनाख्यं गुरुं श्रित्वा समाधये ॥ १० ॥ त्यक्ताहारशरीरः सन्नुद्याने प्रीतिवर्द्धने । संन्यासविधिनाऽजात्रे कल्पे-

और चंद्रबिंबके समान विस्तीर्णदर्पणमें अपने मुखकी शोभा देख ॥ ३ ॥ तू शीघ्र भोजनकर और मधुर-वचनोंसे अपने इष्ट सखीजनोंको संतुष्ट कर। तेरे इष्टपतिका समागम आज या कल अवश्य हो जायगा ॥ ४ ॥ जब मैं श्रीयशोधरतीर्थंकरके ज्ञानकल्याणके समय उनकी पूजा करनेकेलिये गया था उस समय मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था उसीसे मैं द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादा लिये हुये थोड़ासा वृत्तांत जानता हूं ॥ ५ ॥ हे पुत्रि ! तू अपने मेरे और अपने पतिके वृतांत सुन पहले मैं तेरे पूर्वभवके वृत्तांत कहता हूं सो सुन ॥ ६ ॥ पहले मैं इसभवसे पांचवें भवमें अनेकप्रकारकी विभूतियोंसे स्वर्गपुरीके समान शोभायमान और महा देदीप्यमान ऐसी इस पुंडरीकिनी नगरीमें अर्द्धचक्रवर्तीका पुत्र चंद्रकीर्तिके नामसे प्रसिद्ध हुआ था। उससमय मेरे साथ २ वृद्धिको प्राप्त होता हुआ जयकीर्ति नामका मेरा एक मित्र था ॥ ७-८ ॥ समयानुसार मेरे पितासे मुझे कुलपरंपरासे चली आई अति उत्कृष्ठ राज्यलक्ष्मी प्राप्त हुई थी उससमय मैंने इस नगरमें अपने मित्रके साथ चिरकालतक क्रीड़ा की थी ॥ ९ ॥ उससमय मैं अणुव्रतको धारण करनेवाला एक गृहस्थ श्रावक था। क्रमसे कालव्यतीत होनेपर आयुके अंतसमयमें समाधिमरण धारण करनेकेलिये मैं चंद्रसेनगुरुके समीप पहुंचा ॥ १० ॥ और प्रीतिवर्द्धन नामके उद्यानमें विधिपूर्वक आहार शरीरका त्यागकर समाधिपूर्वक शरीर छोड़ चौथे माहेंद्रस्वर्गमें देव उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥ वहां मैं सामा-

माहेंद्रसंज्ञिते ॥ ११ ॥ सप्तसागरकालायुःस्थितिः सामानिकः सुरः । जयकीर्त्तिश्च तत्रैव जातो मत्सदृशर्द्धिकः ॥ १२ ॥ ततः प्रच्युत्य कालांते द्वीपे पुष्करसंज्ञके । पूर्वमंदरपौरस्त्यविदेहे प्राजनिष्वहि ॥ १३ ॥ विषये मंगलावत्यां नगरे रत्नसंञ्चये। श्रीधरस्य महीभर्तुस्तनयौ बलकेशवौ ॥ १४ ॥ मनोहरातद्भमयोः श्रीवर्मा च बिभीषणः । ततो राज्यपदं प्राप्य दीर्घं तत्रारमावहि ॥ १५ ॥ पिता तु मयि निक्षिप्तराज्यभारः सुधर्मतः । दीक्षित्वोपोष्य सिद्धोऽभूदुपवासविधीन्वहून् ॥ १६ ॥ मनोहरा मयि स्नेहात्स्थिताऽगारे शुचिव्रता । सुधर्मगुरुनिर्दिष्टमाचरती चिरं तपः ॥१७॥

निकजातिका देव हुआ था और सातसागरकी मेरी आयु थी। मेरा मित्र जयकीर्त्ति भी वहां ही मेरे समान ऋद्धियोंको धारण करनेवाला देव उत्पन्न हुआ था ॥ १२ ॥ आयु समाप्त होनेपर हम दोनों वहांसे चयकर पुष्करद्वीपमें पूर्वमेरुसंबंधी पूर्वविदेहक्षेत्रमें मंगलावतीदेशके रत्नसंचयपुरनगरमें महाराज श्रीधरके पुत्र उत्पन्न हुये। मैं श्रीधरकी मनोहरा नामकी रानीसे उत्पन्न हुआ था श्रीवर्मा मेरा नाम था और बलभद्रका पद मुझे प्राप्त था। मेरा मित्र जयकीर्तिका जीव श्रीधरकी मनोरमा नामकी दूसरी रानीसे उत्पन्न हुआ था विभीषण उसका नाम था और नारायणका पद उसे प्राप्त था। हम दोनों भाइयोंने राज्यपाकर चिरकालतक वहां क्रीड़ा की थी ॥१३-१४-१५॥ हमारे पिता महाराज श्रीधर अपना राज्य भार मुझे सोंपकर श्रीसुधर्माचार्यसे दीक्षा लेकर और अनेकप्रकारके अनेक उपवास धारणकर सिद्धपदको प्राप्त हुये ॥ १६ ॥ मेरी माता मनोहराका मुझपर बहुत प्रेम था इसलिये वह प्रेमवश पवित्रव्रतपालन करती हुई घर ही रही। गुरुवर्यश्रीसुधर्माचार्यने जो कुछ व्रत और तपश्चरणकरना वतलाया था वह सब उसने घर रहकर ही बहुत दिन तक किया था ॥ १७ ॥ उसने विधिपूर्वक अति उत्तम कर्मक्षपण नामक व्रतके उपवास[१] किये थे और आयुके अंत समयमें समाधिमरणपूर्वक शरीरका त्यागकर ललितांग

१ कर्मक्षपणके एकसौ अडतालीस उपवास होते हैं और वे इसप्रकार किये जाते है सात चतुर्थी, तीन सप्तमीं, छत्तीस नवमी एक दशमी. सोलह द्वादशी, और पिचासीं चतुर्दशी ॥ एकसौ अडतालीस कर्मप्रकृतियोंके नाश करनेकेलिये ये एकसौ अडतालीस उपवास किये जाते हैं।

उपोष्य विधिवत्कर्मक्षपणं विधिमुत्तमं। जीवितांते समाराध्य ललितांगसुरोऽभवत् ॥ १८ ॥ ललितांगस्ततोऽसौ मां बिभीषणवियोगतः। शुचमापन्नमासाद्य सोपायं प्रत्यबोधयत् ॥ १९ ॥ अंग पुत्र त्वरं मागाः शुचमज्ञो यथा जनः। जननादिभियोऽवश्यं भावुका विद्धि संसृतौ ॥ २० ॥ इति मातृचरस्यास्य ललितांगस्य बोधनात्। शुचमुत्सृज्य धर्मैकरसोऽभूवं प्रसन्नधीः ॥ २१ ॥ ततो युगंधरस्यांते दीक्षां जैनेश्वरीमहं। नृपैर्दश-

देव हुआ था। (यह ललितांगदेव स्वयंप्रभाके पति ललितांगदेवसे भिन्न था) ॥ १८ ॥ तदनंतर कितने ही दिनोंके पश्चात् मेरे भाई विभीषणकी मृत्यु हुई उसके वियोगसे मैं बहुत ही शोककर रहा था। उस समय उस ललितांगदेवने आकर अनेक उपायोंसे मुझे इसप्रकार समझाया था ॥ १९ ॥ कि हे अंग ! हे पुत्र ! तू मूर्खपुरुषोंके समान शोक मत कर तू इसे शीघ्रही छोड़ और निश्चयसमझ कि इससंसारमें जन्म मरणका भय अवश्य ही होता है ॥ २० ॥ इसप्रकार मेरी माताका जीव जो ललितांगदेव हुआ था उसके उपदेशसे मैंने अपना शोक छोड़ा और प्रसन्नचित्तहोकर धर्मध्यानमें अपना चित्त लगाया ॥ २१ ॥ तदनंतर मैंने श्रीयुगंधरमुनिराजके समीप पांचहजारराजाओंके साथ जैनीश्वरी दीक्षा धारण की ॥ २२ ॥ अत्यंतदुर्धर परंतु अत्युत्तम फल देनेवाले [1]सिंहनिष्क्रीडित और [2]सर्वतोभद्र इन

१ सिंह निष्क्रीडित तपमें एकसौ पैंतालीस उपवास किये जाते हैं और उनका क्रम इसप्रकार है १।२।१।३।२।४।३।५।४।६।५।७।६।८।७।९।८।७।८। ९।७।५।६।४।५।३।४।२।३। १। २।१। इस यंत्रमें अंकोंकी संख्याके समान उपवास करना चाहिये और खडीलकीरकी संख्याओंके समान पारना करना चाहिये। जैसे एक उपवास एक पारना दो उपवास एक पारना आदि। सब उपवासोंकी संख्या एकसौपैंतालीस होती है और पारनाओंकी संख्या बत्तीस होती है। इसप्रकार सब दिनोंकी संख्या एकसौ सतहत्तर होती है। उपर्युक्त क्रमसे १७७ दिन निरंतर उपवास और पारना करना सिंहनिष्क्रीडिततप कहलाता है ॥

२ सर्वतोभद्र तपके उपवास करनेका क्रम यह है १।२।३।४।५।३।२।१।५।४।२।३।४।५।१।४।३।२।१।५।३।४।५।१।२। इसप्रकार उपवासोंकी संख्या पिचहत्तरि पारनाओंकी संख्या पच्चीस और मिलकर सब दिनोंकी संख्या सौ होती है। उपर्युक्त क्रमसे सौ दिनतक निरंतर उपवास और पारना करना सर्वतोभद्र तप कहलाता है।

सहस्त्रार्द्धमितैः सार्द्धमुपादिषि ॥ २२ ॥ यथाविधि ततस्तप्त्वा सिंहनिष्क्रीडितं तपः । सुदुश्चरं महोदर्कं सर्वतोभद्रमप्यदः ॥ २३ ॥ त्रिज्ञान-विमलालोककलांतेऽप्रापमिंद्रतां । कल्पेऽच्युते ह्यनल्पर्द्धौ द्वाविंशत्यब्धिजीवितः ॥ २४ ॥ दिव्याननुभवन्भोगांस्तत्र कल्पे महाद्युतौ । गत्वा च जननीस्नेहाल्ललितांगमपूजयं ॥ २५ ॥ प्रीतिवर्द्धनमारोप्य विमानमतिभास्वरं । नीत्वाऽस्मत्कल्पमेवास्य कृतवानस्मि सत्क्रियां ॥ २६ ॥ स[1] नौ मातृचरस्तस्मिन्कल्पेऽनल्पसुखोदये । भोगाननुभवन्दिव्यानसकृच्च मयाऽर्चितः ॥ २७ ॥ ललितांगस्ततश्च्युत्वा जंबूद्वीपस्य पूर्वके । विदेहे मंगलावत्यां रौप्यस्याद्रेरुदक्तटे ॥ २८ ॥ गंधर्वपुरनाथस्य वासवस्य खगेशिनः । सूनुरासीत्प्रभावत्यां देव्यां नाम्ना महीधरः ॥ २९ ॥ महीधरे

दोनों व्रतोंके उपवास मैंने विधिपूर्वक पालन किये ॥ २३ ॥ इन तपश्चरणोंके करनेसे मुझे निर्मल अवधिज्ञान भी प्राप्तहुआ और आयुके अंतसमयमें समाधिमरणपूर्वक शरीरका त्याग कर अच्युत स्वर्गमें वाईससागरकी आयु पाकर बड़ी ऋद्धिका धारक इंद्र हुआ ॥ २४ ॥ अत्यंत देदीप्यवान उस सोलहवें स्वर्गमें मैं अनेक दिव्य भोगोपभोगोंका अनुभव करता था। एक दिन मैं पूर्वभवके मातृत्वस्नेहके कारण ललितांगदेवके समीप गया और उसकी पूजा की ॥ २५ ॥ मैंने उसे अत्यंत देदी-प्यमान प्रीतिवर्द्धन नामके विमानमें विठाया और अपने सोलहवें स्वर्गमें लेजाकर अनेक प्रकारसे उसका आदर सत्कार किया ॥ २६ ॥ इसप्रकार जितने दिनतक मेरी माताके जीव ललितांगदेवने अ-तिशय सुखसंयुक्त उसस्वर्गमें दिव्यभोगोंका अनुभव किया था उतने ही दिनोंमें मैंने उसका कईवार पूजा सत्कार किया था ॥ २७ ॥ आयुसमाप्त होनेपर वह ललितांगदेव वहांसे चयकर जंबूद्वीपके पूर्ववि-देहक्षेत्रमें मंगलावतीदेशके विजयार्द्धपर्वतकी उत्तरश्रेणीमें गंधर्वपुरनगरके स्वामी महाराज वासव नाम के विद्याधरके घर महारानी प्रभावतीदेवीके उदरसे महीधर नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था॥२८-२९॥ राजा वासव अपना सब राज्यभार अपने पुत्र महीधरको सौंपकर अरिंजयमुनिके निकट दीक्षालेकर तथा

१ रेमे, इत्यपिपाठः

निजं राज्यभारं निक्षिप्य वासवः । निकटेऽरिञ्जयाख्यस्य तप्त्वा मुक्तावलीं तपः ॥ ३० ॥ निर्वाणमगमत्पद्मावत्यार्यां च प्रभावती । समाश्रित्य-तपस्तप्त्वा परं रत्नावलीमसौ ॥ ३१ ॥ अच्युतं कल्पमासाद्य प्रतींद्रपदभागभूत् । महीधरोऽपि संसिद्धविद्योऽभूदद्भुतोदयः ॥ ३२॥ कदाचिदथ गत्वाऽहं पुष्करार्द्धस्य पश्चिमे । भागे पूर्वविदेहे तं विषयं वत्सकावतीं ॥ ३३ ॥ तत्र प्रभाकरीपुर्यां विनयंधरयोगिनः । निर्वाणपूजां निष्ठाप्य महामेरुमथागमं ॥ ३४ ॥ तत्र नंदनपूर्वाशाचैत्यालयमुपाश्रितं । महीधरं समालोक्य विद्यापूजोद्यतं तदा ॥ ३५ ॥ प्रत्यबूबुधमित्युच्चैरहो भद्र

मुक्तावली नामका तपश्चरणकर सिद्धपदको प्राप्त हुआ था । रानी प्रभावती पद्मावतीआर्यिकाके समीप दीक्षालेकर तथा अत्युत्तम र[2]त्नावली तपश्चरका पालनकर आयुके अंतसमयमें समाधिमरणसे शरीर छोड़ स्त्रीलिंगका विनाशकर सोलहवें अच्युतस्वर्गमें प्रतींद्रपद पाकर उत्पन्न हुई थी । इधर राजा महीधर भी अनेक विद्याओंको सिद्धकर और अद्भुतऐश्वर्य संपादनकर राज्य करने लगा था ॥३०-३१-३२॥ तदनंतर किसी एकदिन मैं पुष्करार्द्धद्वीपके पश्चिममेरुसंबंधी पूर्वविदेहक्षेत्रके वत्सकावलीदेशमें गया था वहां प्रभाकरीनगरमें श्रीविनयंधरकेवलीभगवानकी निर्वाणकल्याणकी पूजाकी थी और तदनंतर सुदर्शन नामक महामेरुपर गया था ॥३३-३४॥ उससमय उस महामेरुसंबंधी नंदनवनकी पूर्वदिशाके चैत्यालयमें मेरी माता और ललितांगदेवका जीव राजा महीधर विद्या सिद्ध कररहा था उसे देखकर मैंने उसे इसप्रकार समझाया था कि हे विद्याधर राजा महीधर! मुझे पहचान मैं अच्युत स्वर्गका इंद्र हूं और तू पूर्वभवमें ललितांगदेव था ॥ ३५-३६ ॥ तू मेरी माताका जीव है इसलिये तुझपर मेरी बहुत प्रीति है

---

१ मुक्तावली तपश्चरणके उपवास करनेका विधान इसप्रकार है—१ । २ । ३ । ४ । ५ । ४ । ३ । २ । १ । इसप्रकार उपर्युक्त क्रम से पच्चीस उपवास नौ पारना मिलकर चौंतीस दिन लगातार व्रत करनेसे मुक्तावली तप होता है

२ रत्नावलीतपकी विधि यह है—१ । २ । ३ । ४ । ५ । ५ । ४ । ३ । २ । १ । इसप्रकार तीस उपवास दश पारना मिलाकर चालीस दिनतक लगातार करनेसे रत्नावली तप कहलाता है ॥

महीधरं । विद्धि मामच्युताधीशं ललितांगस्त्वमप्यसौ ॥ ३६ ॥ त्वय्यसाधारणी प्रीतिर्ममास्ति जननीचरे । तद्भद्र विषयासंगाद्दुरंताद्विरमाधुना ॥ ३७ ॥ इत्युक्तमात्र एवासौ निर्विण्णः कामभोगतः । महीकंपे सुते ज्येष्ठे राज्यभारं समर्पयन् ॥ ३८ ॥ बहुभि खेचरैः सार्द्धं जगन्नंदनशिष्यतां । प्रपद्य कनकावल्या प्राणतेंद्रोऽभवद्विभुः ॥ ३९ ॥ विंशत्यब्धिस्थितिस्तत्र भोगांनिर्विश्य निश्चुतः । धातकीखंडपूर्वाशापश्चिमोरुविदेहगे ॥ ४० ॥ गंधिले विषयेऽयोध्यानगरे जयवर्मणः । सुप्रभायाश्च पुत्रोऽभूदजितंजय साह्वयः ॥ ४१ ॥ जयवर्माऽथ निक्षिप्य स्वं राज्यमतिज

इसलिये हे भद्र! अब तू अनेकप्रकारके दुःख देनेवाले इन विषयोंका संगम छोड़ ॥ ३७ ॥ इसप्रकार मेरे समझानेपर वह तुरंत ही काम भोगसे विरक्त हुआ और अपने ज्येष्ठ पुत्र महीकंपको राज्यका भार सौंप कर अनेक विद्याधरोंके साथ जगतनंदनमुनिराजके समीप दीक्षा धारण की थी। कनका[1]वली आदि अनेकप्रकारके तपश्चरणकर समाधिमरणसे शरीरका त्यागकर चौदवें प्राणतस्वर्गमें बड़ी ऋद्धिका धारक इंद्र उत्पन्न हुआ था॥ ३८-३९ ॥ बीससागरकी उसकी स्थिति थी सो वीससागरतक भोगोपभोगोंका अनुभवकर वहांसे च्युत हुआ था और धातकीखंडद्वीपके पूर्वमेरुसंबंधी पश्चिमविदेहक्षेत्रमें गंधिलादेश के अयोध्यानगरमें महाराज जयवर्मा और रानी सुप्रभाके अजितंजयनामका पुत्र उत्पन्न हुआ था॥४०-४१॥ राजा जयवर्माने अपना सब राज्य अजितंजयको सोंपकर अभिनंदनमुनिके समीप दीक्षा धारण की थी तथा [2]आम्लवर्द्धननामका तपश्चरण पालन किया था॥ ४२ ॥ और आठो कर्मबंधनोंसे छूटकर,

१ कनकावलीतपमें बहत्तरि उपवास होते हैं और उनके करनेकी विधि यह है कि प्रत्येक मासके शुक्लपक्षमें प्रतिपदा, पंचमी, दशमी तथा कृष्णपक्षमें द्वितीया, षष्ठी और द्वादशी इसप्रकार प्रत्येक मासमें छह छह उपवासकर लगातार एकवर्षपर्यंत करनेसे बहत्तरिउपवास पूर्ण होते हैं। इसप्रकार बहत्तरिउपवास करना कनकावली तप है।

२ आम्हवर्द्धनतपकी विधि यह है १।२।३।४।५।६।७।८।९।१०।९।८।७।६।५।४।३।२।१। इस यंत्रमें अंकोंकी संख्याके समान आचाम्ल करना चाहिये थेड़ेसा चावलमिलेहुये भातके मांडपीनेको आचाम्ल कहते हैं । नियतदिन तक आचाम्ल करनेके बाद एक पारना करना चाहिये जैसे एक आचाम्ल एक पारना दो आचाम्ल एक पारना तीन आचाम्ल एक पारना आदि। सब १०० आचाम्ल और १९ पारना इसप्रकार ११९ दिनमें यह तप किया जाता है।

पार्श्वेऽभिनंदनस्याधात्तपस्याचाम्लवर्द्धनं ॥ ४२ ॥ कर्मबंधननिर्मुक्तो लेभेऽसौ परमं पदं । यत्रात्यंतिकमत्त्ययमव्याबाधं परं सुखं ॥ ४३ ॥ सुप्रभा च समासाद्य गणिनीं तां सुदर्शनां । रत्नावलीमुपोष्याभूदच्युतानुदिशाधिपः ॥ ४४ ॥ ततोऽजितंजयश्चक्री भूत्वा भक्त्याभिनंदनं । विवंदिपुर्जिनं जातः पिहितास्रवनामभाक् ॥ ४५ ॥ तदा पापास्रवद्वारपिधानान्नाम तादृशं । लब्ध्वाऽसौ सुचिरं कालं साम्राज्यसुखमन्वभूत् ॥ ४६ ॥ प्रबोधितश्च सोऽन्येद्युर्मयैवं स्नेहनिर्भरं । भो भव्य मा भवान् सांक्षीद्विषयेष्वपहारिषु ॥४७ ॥ पश्य निर्विषयां तृप्तिमुशंत्यात्यंतिकीं बुधाः । न सास्ति

वह सिद्ध पद प्राप्त किया था जहां अतिशय, अविनाशीक, अव्याबाध और उत्कृष्टसुखकी प्राप्ति होती है ॥ ४३ ॥ रानी सुप्रभाने सुदर्शना नामकी अर्जिकाके समीप जाकर दीक्षा धारण की थी [1]रत्नावलीतपश्चरण पालन किया था और आयुके अंतसमयमें समाधिमरणसे शरीरका त्यागकर स्त्रीलिंगका विनाशकर सोलहवें अच्युतस्वर्गके अनुदिश विमानमें देव उत्पन्न हुई थी ॥ ४४ ॥ इधर राजा अजितंजयको चक्रवर्त्तीकी विभूति प्राप्त हुई थी। एकदिन वह बडी भक्तिसे श्री अभिनंदन जिनेंद्रदेवकी बंदना करनेकेलिये गया था। दर्शन करतेसमय उसने अनेक पापास्रवोंके कारण दूर किये थे इसलिये उसका पिहितास्रव (आस्रवको रोकनेवाला) यह सार्थक नाम पड गया था। पिहितास्रव नाम पाकर उसने चिरकालतक अपने साम्राज्यके सुख अनुभव किये थे ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ अत्यंत स्नेहके कारण एक दिन मैंने ही उसे उपदेश दिया था और समझाया था कि हे भव्य ! तू इन नष्ट होनेवाले विषयोंमें आसक्त मत हो ॥ ४७ ॥ देख पंडितलोगोंने अतिशयसुख विषयभोगरहित ही बतलाया है वह सुख देव और मनुष्योंके विषयभोगोंसे कभी नहीं हो सकता है ॥ ४८ ॥ ये भोगेपभोग वे ही हैं जो बार बार भोगे

१ रत्नावलीका दूसरा प्रकार यह भी है कि प्रत्येक महीनेके प्रत्येक पक्षकी तृतीया पंचमी अष्टमीका उपवास लगातार बारह महीनेतक करे। इसप्रकार १२ महीनेके ७२ उपवास करना रत्नावली तप है।

विषयैर्भुक्तैर्दिव्यमानुषगोचरैः ॥ ४८ ॥ भूयो भुक्तेषु भोगेषु भवेन्नैषु रसांतरं । स एव चेद्रसः पूर्वः किं तैश्चर्वितचर्वणैः ॥ ४९ ॥ भोगैरैंद्रैर्न यस्तृप्तः स किं तप्स्यसि मर्त्यजैः । अनाशितभवैरेभिस्तदलं भंगुरैः सुखैः ॥ ५० ॥ इत्यसद्वचनाज्जातवैराग्यः पिहितास्रवः । सहस्रगुणविंशत्या समं पार्थिवकुंजरैः ॥ ५१ ॥ मंदरस्थविरस्यांते दीक्षामादाय सोऽवधिं । चारणर्द्धिं च संप्राप्य तिलकांतेंऽबरे गिरौ ॥ ५२ ॥ तपो जिनगुणर्द्धिं च श्रुतज्ञानविधिं च ते । तदादाददानायै स्वर्गाग्रसुखसाधनं ॥ ५३ ॥ ततोऽसद्गुरुरेवासीत्तवाप्यभ्यर्हितो गुरुः । द्वाविंशतिं गुरुस्नेहाल्ललितांगानथार्चयं ॥ ५४ ॥ तेष्वंत्यो भवतीभर्त्ता प्राग्भवेऽभून्महाबलः । स्वयंबुद्धोपदेशेन सोऽन्वभूदामरीं श्रियं ॥ ५५ ॥ ललितांगश्च्युतः स्वर्गान्मर्त्य-

---

हुये हैं इनमें कुछ रस भी नहीं बदलता है जब इनमें वही पहलेका रस है तो फिर चर्वण किये हुये को पुनः चर्वण करनेमें क्या लाभ है ॥ ४९ ॥ जब स्वर्गमें इंद्र पद पाकर इन भोगोंसे तृप्त नहीं हुआ तब क्या मनुष्योंके भोगोंसे तृप्त होगा ? इसलिये अब तू इन क्षणभंगुर सुखोंको छोड़ ॥५०॥ इसप्रकार मेरे बचन सुनकर राजा पिहितास्रवको वैराग्य उत्पन्न हुआ था और उसने वीसहजार राजाओंके साथ मंदरस्थविरनामक मुनिके समीप दीक्षा ग्रहण की थी । तथा तपश्चरण करते हुये क्रमसे अवधिज्ञान और चारणऋद्धि उन्हें प्राप्त हुई थी । उन्हीं पिहितास्रव मुनिराजके दर्शन अंवरतिलक पर्वतपर तुझे हुये थे और उन्होंने ही उससमय तुझे स्वर्गमोक्षके सुख प्राप्त करानेवाले जिनगुणसंपत्ति और श्रुतज्ञान ये दोनों व्रत दिये थे ॥५१-५२-५३॥ इसप्रकार जो पिहितास्रव मुनि पहले मेरे गुरु थे वे ही तेरे भी पूज्य गुरु हुये थे । मेरी माता मनोहराके जीव ललितांगदेवने मुझे आकर उपदेश दिया था इसलिये मैंने गुरुके स्नेहसे मेरे समयमें होनेवाले वाईस ललितांगदेवोंकी पूजा की थी ॥ ५४ ॥ इन वाईस ललितांगदेवोंमेंसे पहिला ललितांग तो मेरी माता मनोहराका जीव था जो कि जन्मांतरमें पिहितास्रव मुनि हुआ और अंतका ललितांगदेव तेरा पति था जो कि पहले भवमें राजा महाबल था और स्वयंबुद्धमंत्रीके उपदेशसे स्वर्गकी लक्ष्मीका अनुभव करनेवाला ललितांगदेव हुआ था ॥ ५५ ॥ वह अंतका ललितांगदेव स्वर्गसे चयकर

भावे स्थितोऽद्य नः । प्रत्यासन्नतमो बंधुः स ते भर्त्ता भविष्यति ॥ ५६ ॥ तवाभिज्ञानमन्यच्च वक्ष्ये पद्मानने शृणु । ब्रह्मेंद्रलांतवेशाभ्यां भक्त्या पृष्टस्तदेत्यहं ॥ ५७ ॥ युगंधरजिनेशस्य तीर्थेलप्स्वहि दर्शनं । ततस्तच्चरितं कृत्स्नं संबुभुत्सावहेऽधुना ॥ ५८ ॥ ततोऽवोचमहं ताभ्यामिति तच्चरितं तदा । दंपतीभ्यां समेताभ्यां युवाभ्यां च यदृच्छया ॥ ५९ ॥ जंबूद्वीपस्य पूर्वस्मिन्विदेहे वत्सकाह्वये । विषये भोगभूदेश्ये सीतादक्षिणदिग्गते ॥ ६० ॥ सुसीमानगरे नित्यं वास्तव्यौ ज्ञानवित्तकौ । जातौ प्रहसिताख्यश्च तथा विकसिताह्वयः ॥ ६१ ॥ तत्पुराधिपतेः श्रीमदजितंजयभूभृतः । नाम्नामतिमातिर्मंत्री सत्यभामा प्रियास्य च ॥ ६२॥ तयोः प्रहसिताख्योऽयमभूत्सूनुर्विचक्षणः । सखा विकसितास्योऽसौ

आज मनुष्यलोकमें विराजमान है वह हमारा अत्यंत निकट संबंधी है और वही तेरा पति होगा ॥५६॥ हे कमलमुखि ! उसी विषयको स्मरण करानेवाली एक कथा और कहता हूं उसे भी सुन । जब मैं सोलहवें स्वर्गमें इंद्र था तब एकवार ब्रह्म और लांतवस्वर्गके दोनों इंद्रोंने भक्तिपूर्वक आकर मुझसे पूछा था कि ॥ ५७ ॥ हम दोनोंने श्रीयुगंधर तीर्थंकरके समीप सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है इसलिये इससमय हम दोनों उनका पूर्ण चरित्र जानना चाहते हैं ॥ ५८ ॥ उससमय मैंने दंपति सहित आये हुये उन दोनोंको श्रीयुगंधर तीर्थंकरका चरित्र कहाथा, उससमय वहां तुम दोनों भी (ललितांगदेव और स्वयंप्रभा) उपस्थित थे इसलिये तुम दोनोंने भी वह चरित्र सुना था ॥ ५९ ॥ उससमय मैंने वह चरित्र इसप्रकार कहा था कि जंबूद्वीपके पूर्वविदेहक्षेत्रमें एक वत्सकावती देश है जोकि भोगभूमिके समान सुंदर है । इसी देशमें सीतानदीकी दक्षिणदिशाकी ओर एक सुसीमा नगर है । इसी नगरमें रहनेवाले तथा पठन पाठन आदिकर सदा ज्ञानसे ही जीविका करनेवाले प्रहसित और विकसित नामके दो विद्वान् रहते थे ॥ ६०-६१ ॥ श्रीयुक्त अजितंजय राजा इस नगरका शासन करता था । उसके एक मंत्रीका नाम अमितमति था अमितमतिकी सत्यभामा स्त्रीसे अत्यंत बुद्धिमान् और विचक्षण यह प्रहसित नामका पुत्र हुआ था । विकसित इसी प्रहसितका मित्र था और ये दोनों सदा साथ २ रहते थे ॥ ६२-६३ ॥ ये दोनों विद्वान्

सदेमौ सहचारिणौ ॥ ६३ ॥ जातौ हेतुतदाभासच्छलजात्यादिकोविदौ । तीर्णव्याकरणांभोधी सभारंजनतत्परौ ॥ ६४ ॥ तौ राजसंमतौ वादकंडूयाकांडपंडितौ । विद्यासंवादगोष्ठीषु निकषोपलतां गतौ ॥ ६५ ॥ कदाचिच्च नरेंद्रेण समं गत्वा मुनीश्वरं । मतिसागरमद्राष्टाममृतस्रवणर्द्धिकं ॥ ६६ ॥ नृपप्रश्नवशात्तस्मिन्जीवतत्त्वनिरूपणं । कुर्वाणे चोद्यचंचुत्वादित्यब्रूतां प्रसह्य तौ ॥६७॥ विनोपलब्ध्या सद्भावं प्रतीमः कथमात्मनः ।

हेतु, [1] हेत्वाभास, छल, जाति आदि सबमें निपुण थे, व्याकरणरूपी समुद्रके पारगामी थे और सभाको प्रसन्न करनेमें भी बड़े चतुर थे ॥ ६४ ॥ ये दोनों विद्वान् राजमान्य थे, वाद विवाद करनेमें बड़े निपुण पंडित थे तथा विद्वानोंकी सभाओंमें सबकी यथार्थ परीक्षा करनेवाले कसौटीके समान थे ॥ ६५ ॥ किसी एकदिन वे दोनों विद्वान् राजा अजितंजयके साथ गये थे और वहां उन्होंने अमृतस्राविणी ऋद्धिको धारण करनेवाले श्रीमतिसागर मुनिराजको देखा था ॥ ६६ ॥ राजाने जीवतत्त्वका स्वरूप पूछा । उत्तर में वे मुनिराज जीवतत्त्वका निरूपण करने लगे । उपदेश समाप्त होनेपर आक्षेप करने और दोष देनेमें अति निपुण उन दोनों विद्वानोंने हठ पूर्वक नीचे लिखे वाक्य कहे थे ॥ ६७ ॥ कि जब जीव कहीं देखा ही नहीं जाता है तब उसके होनेमें क्यों विश्वास करना चाहिये और जब जीवके होनेका ही निश्चय

---

१ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः अर्थात् साध्यके अविनाभावसे जिसका निश्चय किया गया हो उसे हेतु कहते हैं। जो वास्तवमें हेतु न हो किंतु हेतुसदृश प्रतिभासित होता हो उसे हेत्वाभास कहते हैं।

"कमप्यर्थमभिप्रेत्य प्रवृत्ते बचने पुनः । अनिष्टमर्थमारोप्य तन्निषेधः छलं मतं ।" अर्थात् किसी अर्थका कहनेवाला कोई बचन कहा गया हो उसका अन्य अनिष्ट अर्थ लगाकर निषेध करदेना छल कहलाता है। "प्रवृत्ते स्थापनाहेतौ दूषणासक्तमुत्तरं । जातिमाहुरथान्ये तु स्वव्याघातकमुत्तरं ॥" अर्थात् । किसी पदार्थके सिद्ध करनेकेलिये कहे हुये हेतुको दूषित करनेवाला उत्तर कहना जाति है अथवा अन्य किसीके मतमें स्वव्याघातक उत्तर देना अर्थात् वादीके कहे हुये बचनोंसे ही वादीके मतका खंडन करना जाति है । आदिशब्दसे निग्रहस्थानादिका ग्रहण किया जाता है। "अखंडिताहंकृतिना पराहंकारखंडनं । निग्रहस्तन्निमित्तस्य निग्रहस्थानतोच्यते ॥" अर्थात् अपना अहंकार बचाकर दूसरेके अहंकारका खंडन करना अथवा वादीका निग्रह करना निग्रहस्थान कहलाता है ॥

स नास्त्यतः कुतस्तस्य प्रेत्यभावफलादिकं ॥ ६८ ॥ तदुपालंभमित्युच्चैराकर्ण्य मुनिपुंगवः । वचनं तत्प्रबोधीदं धीरधीः प्रत्यभाषत ॥ ६९ ॥ यदुक्तं जीवनास्तित्वेऽनुपलब्धिः प्रसाधनं । तदसद्धेतुदोषाणां भूयसां तत्र संभवात् ॥ ७० ॥ छद्मस्थानुपलब्धिश्चेत् सूक्ष्मादिषु कुतो गतिः । अभावस्य ततो हेतुः साध्यं व्यभिचरत्ययं ॥ ७१ ॥ भवता किंनु दृष्टोऽसौ त्वत्पितुर्यः पितामहः । तथापि सोऽस्ति चेदस्तु जीवस्याप्येवमस्तिता ॥ ७२ ॥ अभावेऽपि विवक्षूणां जीवस्यानुपलब्धितः । स नास्तीति मृषास्तित्वात्सूक्ष्मस्येह विवक्षणः ॥ ७३ ॥ जीवशब्दाभिधेयस्य

नहीं है तब किये हुये पुण्य पापोंका फल उसे परभवमें भोगना पड़ता है यह बात भी असंभव है ॥ ६८ ॥ अत्यंत धीर वीर वे मुनिराज उन विद्वानोंके ऐसे उपालंभरूप बचन सुनकर उन दोनोंको समझानेकेलिये नीचे लिखे हुये बचन कहने लगे ॥ ६९ ॥ कि तुम लोगोंने जीवके नास्तित्व सिद्ध करनेकेलिये जो अनुपलब्धि रूप हेतु दिया है वह सद्धेतु नहीं है किंतु हेत्वाभास है। क्योंकि इस हेतुमें अनेक दोष भरे हुये हैं ॥ ७० ॥ पहला दोष यह है कि पदार्थोंके आस्तित्वमें दृष्टिगोचर होना कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अल्पज्ञानियोंको परमाणु आदि अनेक सूक्ष्म पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होते हैं तथापि उनका अस्तित्व तुम लोग मानते ही हो। इसलिये जीवके अभाव सिद्ध करनेमें यह अनुपलब्धिरूप हेतु व्यभिचारी हुआ ॥ ७१ ॥ दूसरी बात यह है कि तुम लोगोंने अपने पिताके पितामह देखे थे या नहीं। यदि कहोगे नहीं देखे थे तो वे थे या नहीं। यदि नहीं थे तो तुम लोगोंकी उत्पत्ति कैसे हुई। यदि कहोगे कि वे थे तो तुम लोगोंने तो वे देखे ही नहीं थे, विना दृष्टिगोचर हुये उनका आस्तित्व कैसे मानते हो। इसलिये जैसे तुम लोग अपने पिताके पितामहका अस्तित्व विना दृष्टिगोचर हुये ही मानते हो उसीप्रकार दृष्टिगोचर न होते हुये ही जीवका अस्तित्व भी अवश्य मानना पड़ेगा ॥७२॥ यदि वास्तवमें जीव कोई पदार्थ न हो तो केवल अनुपलब्धिमात्रसे जीवका नास्तित्व सिद्ध करना भी व्यर्थ है। क्योंकि संसारमें ऐसे अनेक सूक्ष्म पदार्थ हैं जिनका अस्तित्व तो है किंतु उपलब्धि नहीं होती ॥७३॥ जैसे जीव शब्दका आस्तित्व प्रसिद्ध

वचसः प्रत्ययस्य च। यथास्तित्वं तथा बाह्योऽप्यर्थस्तस्यास्तु काऽक्षमा ॥ ७४ ॥ जीवशब्दोऽयमभ्रांतं बाह्यमर्थमपेक्षते। संज्ञात्वाल्लौकिका-भ्रांतमतं हेत्वादिशब्दवत् ॥ ७५ ॥ इत्यादियुक्तिभिर्जीवतत्त्वं स निरणीनयत्। तावपि ज्ञानजं गर्वमुज्झित्वा नेमतुर्मुनिं ॥ ७६ ॥ गुरोस्तस्यैव

है जीव इस वाक्यका अस्तित्व प्रसिद्ध है और जीव इस वाक्यके ज्ञानका अस्तित्व प्रसिद्ध है इसीप्रकार इन सबका वाच्य जीव पदार्थ भी अवश्य होना चाहिये। यदि जीव पदार्थ ही न होता तो उसके वाचक शब्द वाक्य आदि कहांसे होते। इसलिये जीव पदार्थके माननेमें कोई आपत्ति नहीं आ सकती ॥ ७४ ॥ जीव यह प्रसिद्ध शब्द ही निःसंदेह बाह्य पदार्थकी अपेक्षा रखता है क्योंकि वह संज्ञावाचक शब्द है जो जो संज्ञावाचक शब्द होते हैं वे किसी न किसी पदार्थकी अपेक्षा अवश्य रखते हैं जैसे धूम आदि हेतु-वाचक शब्द धूम पदार्थकी अपेक्षा रखते हैं। लौकिक जन भी इस मतमें कोई संदेह नहीं करते। यदि कोई किसीसे घट मगाता है तो वह लानेवाला भी निसंदेह घटका वाच्य मिट्टीका घड़ा उठा लाता है और मगानेवाला भी उससे संतुष्ट हो जाता है इसीप्रकार जीव शब्द भी संज्ञावाचक प्रसिद्ध है इसका वाच्य भी कोई न कोई अवश्य होना चाहिये और वह जीव पदार्थ ही है इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ७५ ॥ इसप्रकार मुनिराजने अनेक युक्तियोंसे जीवतत्त्वका निर्णय किया उसे सुनकर उन दोनों विद्वानोंको भी अपने ज्ञानका अहंकार छोड़ना पड़ा और उन्होंने सादर उन मुनिराजको नमस्कार किया ॥ ७६ ॥ उन दोनों विद्वानोंने उन्हीं मुनिराजके समीप तपश्चरण ग्रहण किया तथा [1]सुदर्शन और आचाम्लवर्द्धन इन

१ सुदर्शन तपकी विधि यह है-सम्यग्दर्नके तीन भेद हैं औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक। प्रत्येक सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि आठ अंग होते हैं इसलिये तीनों सम्यग्दर्शनोंके चौबीस अंग हुये। इन चौबीस अगोंके चौबीस उपवास करना चाहिये। मध्यमें एक एक पारना करना चाहिये अर्थात् एक उपवास एक पारना एक उपवास एक पारना आदि। इसप्रकार चौबीस उपवास और चौबीस पारना करना सुदर्शन पत कहलाता है।

पार्श्वे तौ गृहीत्वा परमं तपः । सुदर्शनमथाचाम्लवर्द्धनं चाप्युपोषतुः ॥७७॥ निदानं वासुदेवत्वेऽप्यधाद्विकासितोऽप्यभूत् । कालांते तावजायेतां महाशुक्रसुरोत्तमौ ॥ ७८ ॥ इंद्रप्रतींद्रपदयोः षोडशाब्ध्युपमस्थिती । तौ तत्र सुखसाद्भूतावन्वभूतां सुरश्रियं ॥ ७९ ॥ स्वायुरंते ततश्च्युत्वा धातकीखंडगोचरे । विदेहे पुष्कलावत्यां पश्चिमार्द्धपुरोगते ॥ ८० ॥ विषये पुंडरीकिण्यां पुर्यां राज्ञो धनंजयात् । जयसेनायशस्वत्योर्देव्योर्व्यत्यासितक्रमौ ॥ ८१ ॥ जज्ञाते तनयौ रामकेशवस्थानभागिनौ । ज्यायान्महाबलोऽन्यश्च ख्यातोऽतिबलसंज्ञया ॥ ८२ ॥ राज्यांते केशवेऽतीते तपस्तप्त्वा महाबलः । पार्श्वे समाधिगुप्तस्य प्राणतेंद्रस्ततोऽभवत् ॥ ८३ ॥ भुक्त्वामरीं श्रियं तत्र विंशत्यब्ध्युपमात्यये । धातकीखंडपश्चार्द्धपु-

---

दोनों व्रतोंके उपवास किये ॥ ७७ ॥ विकासितने वासुदेव पद प्राप्त होनेका निदान किया । आयुके अंतसमयमें समाधिमरणसे शरीर छोड़कर महाशुक्र स्वर्गमें दोनों उत्तम देव हुये ॥७८॥ इस दशवें स्वर्गमें प्रहसितका जीव इंद्र हुआ था और विकसितका जीव प्रतींद्र हुआ था। उन दोनोंकी आयु सोलह सागर की थी। सोलहसागरतक उन्होंने वहां बड़े सुखसे स्वर्गलक्ष्मीका अनुभव किया था ॥ ७९ ॥ आयुके अंतसमयमें वे दोनों वहांसे चयकर धातकीखंडद्वीपके पूर्वविदेहक्षेत्रमें पुष्कलावती देशकी पुंडरीकिनी नगरीमें राजा धनंजयके दोनों पुत्र हुये थे। प्रहसितका जीव रानी जयसेनादेवीसे उत्पन्न हुआ था, महाबल इसका नाम था, यही दोनोंमें बड़ा था और बलभद्रका पद इसे प्रप्त था। विकासितका जीव रानी यशस्वतीदेवीसे उत्पन्न हुआ था, अतितल इसका नाम था और वासुदेवका पद इसे प्राप्त था। अबसे इन दोनोंके उत्पन्न होनेका क्रम भी बदलगया था अर्थात् यह नियम है कि बासुदेव अधोगति (नरक) को ही जाता है और बलभद्र उर्ध्वगति (स्वर्ग अथवा मोक्ष) ही प्राप्त करता है ॥ ८०-८१-८२ ॥ धनंजयके बाद अतिबलको राज्य मिला था। इसका राज्यकाल वीतजानेपर अर्थात् अतिबल वासुदेवकी आयु समाप्त होनेपर महाबलने श्रीसमाधिगुप्तमुनिके निकट दीक्षा ग्रहण की थी और अनेकप्रकारके तपश्चरणकर समाधिमरणसे शरीर छोड़ चौदहवें प्राणत स्वर्गमें इंद्र उत्पन्न हुआ था ॥ ८३ ॥ वहां वह

रौवर्त्तिविदेहगे ॥ ८४ ॥ विषये वत्सकावत्यां प्रभाकर्याः पुरः प्रभोः । महासेनयस्य भूभर्त्तुः प्रतापाननविद्विषः ॥ ८५ ॥ देव्यां वसुंधराख्यायां जयसेनाह्वयोऽजनि । प्रजानां जनितानंदश्चंद्रमा इव नंदनः ॥ ८६ ॥ क्रमाचक्रधरो भूत्वा प्रजाः स चिरमन्वशात् । विरक्तश्चैश्च भोगेषु प्रव्रज्यामार्हतीं श्रितः ॥ ८७ ॥ सीमंधरार्हत्पादाब्जमूले षोडशकारणं । भावयन्सुचिरं तेपे तपो निरतिचारकं ॥ ८८ ॥ स्वायुरंते ऽहमिंद्रोऽभूद्ग्रैवेयेपूर्ध्वमध्यमे । त्रिंशदब्ध्युपमं कालं दिव्यं तत्रान्वभूत्सुखं ॥ ८९ ॥ ततोऽवतीर्णः स्वर्गाग्रात्पुष्करार्द्धपुरोगते । विदेहे मंगलावत्यां प्राक्पुरे

वीस सागरपर्यंत स्वर्गलक्ष्मीका अनुभवकर धातकीखंडद्वीपके पूर्व विदेहक्षेत्रमें वत्सकावतीदेशके प्रभाकरी नगरीके स्वामी महाराज महासेनके पुत्र उत्पन्न हुआ था। वे महाराज महासेन अपने प्रतापसे संपूर्ण शत्रुओंको बश करनेवाले थे उन्हींकी रानी वसुंधरा देवीसे वह पुत्र हुआ था और जयसेन उसका नाम था। वह जयसेन चंद्रमाके समान सब प्रजाको आनंदित करता हुआ क्रमसे बढ़ता जाता था ॥ ८४-८५-८६ ॥ अनुक्रमसे चक्रवर्तीकी विभूति पाकर उसने चिरकालतक प्रजा पालन किया था और अंतमें विषयभोगोंसे विरक्त होकर श्रीजैनेश्वरी दीक्षा धारण की थी ॥ ८७ ॥ श्रीसीमंधर तीर्थंकरके चरणकमलोंके समीप दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओंका चिंतवन किया था और इसप्रकार उसने बहुतदिनतक अतिचाररहित तपश्चरण पालन किया था ॥ ८८ ॥ आयु समाप्त होने पर वह समाधिमरणसे शरीर छोडकर उपरिम ग्रैवेयकके मध्यमभागमें अहमिंद्रदेव उत्पन्न हुआ था और वहां उसने तीस सागर पर्यंत स्वर्गोंके उत्तमसुखोंका अनुभव किया था ॥ ८९ ॥ अनंतर वह वहांसे चयकर पुष्करार्द्ध द्वीपके पूर्व विदेहक्षेत्रमें मंगलावती देशके रत्नसंचयपुर नगरमें राजा अजितंजय और रानी वसुमतीके तीर्थंकरपदको धारण करनेवाला युगंधर नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। समस्त देव मनुष्योंने उनकी पूजा की। इनके गर्भ, जन्म, तप इन तीनों कल्याणोंमें इंद्रादि उत्तम देवोंने भी आकर इनकी पूजा की। अनुक्रमसे इन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और समवसरणमें विराजमान होकर आज

रत्नसंचये ॥ ९० ॥ अजितंजयभूपालाद्वसुमत्याः सुतोऽभवत् । युगंधर इति ख्यातिमुद्वहन्नृसुरार्चितः ॥ ९१ ॥ कल्याणत्रितये वर्यां स सपर्यामवापिवान् । क्रमात्कैवल्यमुत्पाद्य महानेष महीयते ॥ ९२ ॥ शुभानुबंधिना सोऽयं कर्मणाभ्युदयं सुखं । षट्षष्ट्यब्ध्युपमं कालं भुक्त्वार्हंत्यमथासदत् ॥ ९३ ॥ युग्यो धर्मरथस्यायं युगज्येष्ठो युगंधरः । तीर्थकृत्त्रायतां सोऽस्मान्भव्याब्जवनभानुमान् ॥ ९४ ॥ तदेति मद्वचः श्रुत्वा बहवो दर्शनं श्रिताः । युवां च धर्मसंवेगं परमं समुपागतौ ॥ ९५ ॥ पिहितास्रवभट्टारकैवल्योपजनक्षणे । समं गत्वार्चयिष्यामस्तदा पुत्रि स्मरस्यदः ॥ ९६ ॥ अभिजानासि तत्पुत्रि स्वयंभूरमणोदधिं । क्रीडाहेतोर्व्रजिष्यामो गिरिं चांजनसंज्ञकं ॥९७॥ श्रीमती गुरुणेत्युक्ता

भी ये धर्मरथको चलाते हुये संसारमें पूज्य हो रहे हैं ॥ ९०-९१-९२ ॥ इसप्रकार उस प्रहसितके जीवने अपने शुभ कर्मोंके अनुसार छयासठ सागरतक उत्तम स्वर्गोंका सुख भोगकर युगंधर तीर्थंकर होकर अरहंत पद प्राप्त किया है ॥ ९३ ॥ इस समय सबसे उत्कृष्ट ये युगंधरस्वामी धर्मरूपी रथको चलानेवाले हैं तथा सूर्यके समान भव्यरूपी कमलबनको प्रफुल्लित करनेवाले हैं । ऐसे ये तीर्थंकरदेव हमारी रक्षा करें ॥ ९४ ॥ उस समय मेरे ये वाक्य सुनकर अनेक देव श्रीयुगंधरस्वामीके दर्शन करनेकेलिये आये थे । उस समय तुम दोनोंको भी (ललितांग और स्वयंप्रभाको) धर्मसे बड़ा प्रेम हुआ था इसलिये तुम दोनों भी इनके दर्शन करनेकेलिये आये थे ॥९५॥ हे पुत्रि यह बात भी तुझे याद होगी कि जब श्रीपिहितास्रव भट्टारकको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था उससमय हम सब लोगोंने आकर उनकी पूजा की थी ॥ ९६ ॥ हे पुत्रि ! इसके सिवाय यह भी तुझे याद होगा कि हम सब लोग क्रीडा करनेकेलिये स्वयंभूरमण समुद्रमें जाते थे तथा अंजनपर्वतपर भी जाते थे ॥ ९७ ॥ इसप्रकार वज्रदंत चक्रवर्तीके कह चुकनेपर श्रीमती कहने लगी कि हे तात ! आपके प्रसादसे मैं आपकी कही हुई सब बातें जानती हूं ॥ ९८ ॥ गुरुवर्य श्रीपिहितास्रवमुनिके केवलज्ञान उत्पन्न होते समय जो उनकी पूजा की थी वह भी मुझे याद है तथा अंबरतिलक पर्वतपर, अंजनपर्वतपर और स्वयंभूरमणसमुद्रमें जो जो विहार किये थे

तात युष्मत्प्रसादतः । अभिजानामि तत्सर्वमित्यसौ प्रत्यभाषत ॥ ९८ ॥ गुरोः स्मरामि कैवल्यपूजां श्रुतिलके गिरौ । विहृतिं चांजने शैले स्वयंभूरमणे च यत् ॥ ९९ ॥ प्रत्यक्षमिव तत्सर्वं परिस्फुरति मे हृदि । किं तु कांतः क्व मे जात इति दोलायते मनः ॥ १०० ॥ इति ब्रुवाणां तां भूयः प्रत्युवाच नराधिपः । पुत्रि स्वर्गस्थयोरेव युवयोः प्राक्च्युतोऽच्युतात् ॥ १०१ ॥ नगर्यामिह धुर्योऽहं यशोधरमहीपतेः । देव्या वसुंधरायाश्च वज्रदंतः सुतोऽभवं ॥ १०२ ॥ वियुतार्द्धप्रसंख्यानि पूर्वाण्यायुःस्थितौ यदा । भवतोः परिशिष्टानि तदाहं प्रच्युतो दिवः ॥ १०३ ॥ युवां च परिशिष्टायुर्भुक्त्वांते त्रिदिवाच्च्युतौ । जातौ यथास्वमत्रैव विषये राजदारकौ ॥ १०४ ॥ जनितेतस्तृतीयेऽह्नि ललितांगचरेण ते । संगमोऽद्यैव तद्वार्त्तां पंडितानेष्यति स्फुटं ॥ १०५ ॥ पैतृष्वस्रीय एवायं तव भर्त्ता भविष्यति । तदियं मृग्यमाणैव वल्ली पादेऽवसज्यते

वे सब मुझे याद हैं ॥ ९९ ॥ हे तात ! ऊपर कही हुई सब बातें मेरे हृदयमें प्रत्यक्षके समान प्रतिभासित हो रही हैं परंतु मेरा पति ललितांगदेव कहां उत्पन्न हुआ है यही मुझे संदेह है ॥ १०० ॥ श्रीमतीके इस प्रकार कहनेपर महाराज वज्रदंत फिर कहने लगा कि हे पुत्रि ! जब तुम दोनों ही स्वर्गमें थे तब मैं तुम्हारे च्युत होनेके पहले ही अच्युतस्वर्गसे च्युत होगया था और इस नगरीमें महाराज यशोधरके रानी बसुंधरादेवीसे सर्वश्रेष्ठ बज्रदंत नामका पुत्र हुआ हूं ॥ १०१-१०२ ॥ जब तुम दोनोंकी आयु पचासहजारपूर्व शेष रही थी तब मैं स्वर्गसे चयकर यहां उत्पन्न हुआ था ॥ १०३ ॥ तुम दोनों भी अपनी आयु समाप्तकर स्वर्गसे च्युत हुये और इसी देशमें यथायोग्य राजपुत्र तथा राजपुत्री उत्पन्न हुये हो (ललितांगदेवका जीव पुष्कलावती देशमें राजपुत्र हुआ है और स्वयंप्रभाका जीव तू मेरे पुत्री हुई है) ॥ १०४ ॥ आजसे तीसरे दिन ललितांगचर राजपुत्रके साथ तेरा समागम हो जायगा । तेरी पंडिता सखी आज ही उसके समाचार लावेगी इसमें कोई संदेह नहीं ॥ १०५ ॥ हे पुत्रि ! वह ललितांगदेवका जीव मेरी बहिनके ही पुत्र हुआ है और वही तेरा पति होगा । यह समागम ऐसा आ मिला है मानों जिस वेलको ढूंढ रहे हों वह अपने पांवमें अपने आप ही लग गई हो ॥ १०६ ॥ हे पुत्रि ! तेरी मामी भी

॥ १०६ ॥ मातुलान्यास्तवायांत्या वयमप्यद्य पुत्रिके । प्रत्युद्गच्छाम इत्युक्त्वा राजोत्थाय ततोऽगमत् ॥ १०७ ॥ पंडिता तत्क्षणं प्राप्ता प्रफुल्लवदनांबुजा । मुखरागेणसंलक्ष्यकार्यासिद्धिरुवाच तां ॥ १०८ ॥ त्वं दिष्ट्या वर्द्धसे कन्ये पूर्णस्तेऽद्य मनोरथः । सप्रपंचं च तद्वाच्मि सावधानमितः शृणु ॥ १०९ ॥ तदा पट्टकमादाय गताऽहं त्वन्निदेशतः । तदाऽस्थां विपुलाश्चर्ये महापूताजिनालये ॥ ११० ॥ मया तत्र विचित्रस्य पट्टकस्य प्रसारणे । बहवस्तदविज्ञाय गताः पंडितमानिनः ॥ १११ ॥ तौ तु बासवदुर्दांतौ यावलीकविचक्षणौ । दृष्ट्वाऽसत्पट्टकं हृष्टौ स्वानुमानादवोचतां ॥ ११२ ॥ पट्टकार्थं स्फुटं विद्वो जातिस्मृतिमुपेयुषी । व्यालिखद्राजपुत्रीदं स्वपूर्वभवचेष्टितं ॥ ११३ ॥ इति नागरिकत्वेन प्रवृत्तौ

आज आ रही है उसीके लानेकेलिये अब मैं उसके सन्मुख जाता हूं। इसप्रकार कहकर वह राजा वज्रदंत उठकर बाहर चला गया ॥ १०७ ॥ इतनेमें ही पंडिता सखी आ पहुंची, उससमय उसका मुखकमल प्रफुल्लित हो रहा था और उसके मुखकी प्रसन्न कांति कार्यकी सिद्धिको सूचित कर रही थी। वह आकर श्रीमतीसे कहने लगी कि ॥ १०८ ॥ हे कन्ये ! तू आनंदसे वृद्धिंगत हो आज तेरा मनोरथ सफल होगया। उसके सफल होनेकी सविस्तर कथा मैं कहती हूं तू सावधान होकर सुन ॥ १०९ ॥ जबसे मैं तेरी आज्ञानुसार तेरा चित्र लेकर गई हूं तबसे अनेक आश्चर्योंसे भरे हुये महापूत चैत्यालयमें ही बराबर रही हूं ॥ ११० ॥ मैंने वहां जाकर वहांकी चित्रशालामें तेरा विचित्र चित्र लटका दिया था। अनेक भोले मनुष्य तो उसका आशय ही नहीं समझ सके थे और वे केवल देखकर ही वापिस लौट गये थे ॥ १११ ॥ अनेक देखनेवालोंमें वासव और दुर्दांत नामके दो मनुष्य भी आये थे। वे दोनों मिथ्याभाषण करनेमें बड़े ही निपुण थे। हमारे चित्रपटको देखकर पहले तो वे दोनों प्रसन्न हुये थे और फिर अपने मिथ्या अनुमानसे कहने लगे थे कि ॥ ११२ ॥ इस चित्रपटका यथार्थ आशय हम दोनों ही जानते हैं, किसी राजपुत्रीको जातिस्मरण हुआ है इसलिये उसने इस चित्रपटमें अपने पूर्वभवकी सब चेष्टायें लिखी हैं ॥ ११३ ॥ इसप्रकार कहते कहते उन्होंने बड़ी चतुरतासे कहा कि इसके पूर्वभवके

नायकनुवौ । तावबोचं विहस्याहं चिरात्स्यादिदमीदृशं ॥ ११४ हठात्प्रकृतगूढार्थे संप्रश्ने च मया कृते । जोषमास्तां विलक्षौ तौ मूकीभूय ततो गतौ ॥ ११५ ॥ श्वशुर्यस्ते युवा वज्रजंघस्तत्रागमत्ततः । दिव्येन वपुषा कांत्या दीप्त्या चानुपमो भुवि ॥ ११६ ॥ अथ प्रदक्षिणीकृत्य भव्यस्ताज्जिनमंदिरं । स्तुत्वा प्रणम्य चाभ्यर्च्य पट्टशालामुपासदत् ॥ ११७ ॥ निर्वर्ण्य पट्टकं तत्र श्रीमानिदमवोचत । ज्ञातपूर्वमिवेदं मे चरितं पट्टकस्थितं ॥ ११८ ॥ वर्णनातीतमत्रेदं चित्रकर्म विराजते । मानोन्मानप्रमाणाढ्यं निम्नोन्नतविभागवत् ॥ ११९ ॥ अहो सुनैपुणं चित्रकर्मेदं विलसच्छवि । रसभावान्वितं हारि रेखामाधुर्यसंगतं ॥ १२० ॥ अत्रासद्भवसंबंधं पूर्वोऽलेखि सविस्तरं । श्रीप्रभाधिपतां साक्षात्पश्यामीवेह

पति हम ही हैं। यह सुनकर मैंने हंसते हंसते उनसे कहा कि कदाचित् ऐसा ही होगा ॥ ११४ ॥ अनंतर मैंने उनसे उस चित्रपटके अनेक गूढ़ प्रश्न किये। प्रश्न सुनकर तो वे चुप होगये बड़े लज्जित हुये और चुप चाप वहांसे चले गये ॥ ११५ ॥ अनंतर तेरे श्वसुरका पुत्र युवराज वज्रजंघ भी वहां आया था। वह दिव्य शरीर, कांति और प्रतापसे संसारमें उपमारहित था ॥ ११६ ॥ उस भव्यने आकर प्रथम ही जिन मंदिरकी प्रदक्षिणा दी, अनंतर श्रीदेवाधिदेव अरहंतदेवकी स्तुतिकर उन्हें प्रणामकर और उनकी पूजा कर चित्रशालामें आया था ॥ ११७ ॥ वह श्रीमान् चित्र देखकर कहने लगा कि ऐसा मालूम होता है मानों इस चित्रमें लिखा हुआ विषय मेरा पहलेका जाना हुआ हो ॥ ११८ ॥ वास्तवमें इस चित्रकी चित्रकला वाणीके अगोचर शोभायमान हो रही है। लंबाई चौड़ाई उंचाई आदि प्रमाणोंके विभाग ऐसे सुंदर हैं कि कुछ कहनेमें नहीं आ सकते ॥ ११९ ॥ अहा इस चित्रकी चित्रकला बहुत ही निपुणताके साथ की गई है इसकी सुंदरता बहुत ही शोभायमान है। इसमें रस, भाव और रेखाओंकी मधुरता आदि बहुत ही मनोहर दिखाये गये हैं ॥ १२० ॥ इस चित्रमें मेरा पूव भवका संबंध विस्तारके साथ लिखा गया है। ऐसा मालूम पड़ता है मानो मैं अपने पूर्व भवमें होनेवाले श्रीप्रभविमानके स्वामी ललितांगदेवको इस चित्रमें साक्षात् देख रहा हूं ॥ १२१ ॥ अहा देखो इस स्त्रीका रूप कैसा सुंदर लगता है

मार्मिकां ॥१२१॥ अहो स्त्रीरूपमत्रेदं नितरामभिरोचते । स्वयंप्रभांगसंवादि विचित्राभरणोज्ज्वलं ॥१२२॥ किंत्वत्र कतिचित्कस्माद्गूढानि प्रकृतानि भो । मन्ये संमोहनायेदं जनानामिति चित्रितं ॥ १२३ ॥ ऐशानो लिखितः कल्पः श्रीप्रभं च प्रभास्वरं । श्रीप्रभाधिपतेः पार्श्वे दर्शितेयं स्वयंप्रभा ॥१२४॥ कल्पानोकहवीथीयमिदमुत्पंकजं सरः । दोलागृहमिदं रम्यं रम्योऽयं कृतकाचलः ॥१२५॥ कृतप्रणयकोपेयं दर्शितात्र पराङ्मुखी । मंदारवनवीथ्यंते लतेव पवनाहता ॥१२६॥ कनकाद्रितटे क्रीडा ललिता दार्शितावयोः। इतोमणितटोत्सर्यत्प्रभाकांडपटावृते ॥१२७॥ निगूढप्रेमसद्भावकैतवापादितेर्ष्यया । शय्योत्संगेमदुत्संगाद्धलात्पादोऽर्पितोऽनया ॥ १२८ ॥ मणिनूपुरझंकारचारुणा चरणेन मां । ताडयंतीह संरुद्धा कांच्या

मानों अनेक आभरणोंसे सुशोभित स्वयंप्रभाके शरीरका ही स्मरण कराता हो ॥ १२२ ॥ परंतु इस चित्रमें अनेक गूढ़ विषय दिखाये गये हैं सो क्यों ? जान पड़ता है अन्य लोगोंको मोहित करनेकेलिये ही वे अंकित किये गये हैं ॥ १२३ ॥ इधर देखो यह ईशान स्वर्ग अंकित किया गया है, यह दैदीप्यमान श्रीप्रभविमान लिखा है, यह श्रीप्रभविमानके स्वामी ललितांगदेवके समीप बैठी हुई स्वयंप्रभा दिखलाई गई है ॥१२४॥ यह कल्पवृक्षोंकी पंक्ति है, यह सरोवर है जिसमें कमल खिले हुये हैं, यह सुंदर दोलागृह (झूलनेका घर) है और यह मनोहर कृत्रिम पर्वत अंकित किया है ॥ १२५ ॥ इधर देखो प्रणयकोप करती हुई और परान्मुख बैठी हुई यह स्वयंप्रभा दिखाई है यह ऐसी शोभायमान हो रही है मानों कल्पवृक्षोंके समीपमें वायुसे झकोरी हुई लता ही हो ॥ १२६ ॥ और इधर देखो सुमेरु पर्वतके तटभागपर जो अनेकप्रकारके मणि लगे हुये हैं उनके फैलते हुये प्रभासमूहरूप वस्त्रसे ढके हुये सुमेरुपर्वतके तटभागपर हम दोनोंकी यह बड़ी ही सुंदर क्रीड़ा दिखलाई है ॥ १२७ ॥ यह देखो अंतःकरणमें छिपे हुये प्रेमके साथ कपटसे कुछ ईर्ष्या करती हुई स्वयंप्रभाने यह अपना पैर हठपूर्वक मेरी गोदीसे हटाकर शय्यापर रक्खा है ॥ १२८ ॥ यह देखो यह स्वयंप्रभा मणिमय नूपुरोंके झंकार शब्दोंसे मनोहर ऐसे अपने चरणकमलसे मुझे ताडन करना चाहती है परंतु कुछ गौरवका विचारकर ही मानों

सख्येव गौरवात् ॥ १२९ ॥ कृतव्यलीककोपं मां प्रसादयितुमानता । स्वोत्तमांगेन पादौ मे घटयंतीह दर्शिता ॥ १३० ॥ अच्युतेंद्रसमायोग-गुरुपूजादिविस्तरः । दर्शितोऽत्र निगूढस्तु भावः प्रणयजो मिथः ॥ १३१ ॥ इह प्रणयकोपेऽस्याः पादयोर्निपतन्नहं । कर्णोत्पलेन मृदुना ताड्यमानो न दर्शितः ॥ १३२ ॥ सालक्तकपदांगुष्ठमुद्रयाऽस्मदुरःस्थले । वाल्लभ्यलांछनं दत्तं प्रियया नात्र दर्शितं ॥ १३३ ॥ कपोलफलके चास्याः फलनीफलसात्विषि । लिखन्नालेख्यपत्राणि नाहमत्र निदर्शितः ॥ १३४ ॥ नूनं स्वयंप्रभाचर्या हस्तनैपुण्यमीदृशं । नान्यस्य स्त्रीजनस्येदृक्प्रावीण्यं

सखी समान यह करधनी उसे रोक रही है ॥१२९॥ अहा इधर यह कैसा अच्छा भाव दिखलाया है, देखो यह मैं बनावटी कोप किये हुये बैठा हूं और मुझे प्रसन्न करनेकेलिये अति नम्रीभूत हुई यह स्वयंप्रभा अपना शिर मेरे पैरोंमें रख रही है ॥१३०॥ और इधर देखो यह अच्युतस्वर्गके इंद्रके साथ की हुई भेट दिखलाई है, यह गुरुवर्य श्रीपिहितास्रवकी पूजाका समारंभ दिखलाया है तथा उस समयकी और भी अनेक बातें दिखलाई हैं। और इस स्थानपर हम दोनोंके प्रेमका एक गूढ भाव दिखलाया गया है ॥ १३१ ॥ यद्यपि इस चित्रमें अनेक बातें दिखला दी गई हैं तथापि बहुतसी बातें छूट भी गई हैं। देखो एक दिन इस स्वयंप्रभाने प्रणयकोप किया था उसदिन मैं इसके पैरोंपर पडा था और इसने अपने कोमल कर्णफूलसे मुझे ताडना की थी परंतु यह विषय इसमें दिखाया ही नहीं है ॥ १३२ ॥ एक दिन इसने मेरे वक्षःस्थल पर महावर लगे हुये अपने पांवके अंगूठेकी छाप लगाई थी वह छाप क्या थी मानों इसने अपने पतित्वका चिन्ह ही बनाया था। परंतु यह विषय भी इस चित्रमें नहीं दिखाया गया है ॥ १३३ ॥ एक दिन मैंने इसके प्रियंगुफलके समान अति कांतिमान् गुलाबी वर्णके कपोलफलकपर पत्ररचना की थी परंतु यह विषय भी इस चित्रमें नहीं दिखाया गया है ॥ १३४ ॥ मुझे तो यही निश्चय होता है कि इस चित्रके बनानेमें यह हाथकी ऐसी चतुरता अवश्य ही स्वयंप्रभाके जीव की है। क्योंकि चित्रकलामें ऐसी चतुरता अन्य किसी स्त्रीकी हो ही नहीं सकती है ॥ १३५ ॥ इसप्रकार तर्क वितर्क करता हुआ तथा

स्यात्कलाविधौ ॥ १३५ ॥ इति प्रतर्क्कयन्नेव पर्याकुल इव क्षणं । शून्यांतःकरणोऽध्यासीत्किमप्यामीलितेक्षणः ॥ १३६ ॥ उदश्रुलोचनश्चायं दशामंत्यामिवोपयन् । दिष्टया संधारितोऽभ्येत्य तदा सख्येव मूर्च्छया ॥ १३७ ॥ तदवस्थं तमालोक्य नाहमेवोन्मनायिता । चित्रस्थान्यपि रूपाणि प्रायन्प्रायोंतरार्द्रतां ॥ १३८ ॥ प्रत्याश्वासमथानीतः सोपायं परिचारिभिः । त्वदर्पितमनोवृत्तिः सोऽदर्शत्त्वन्मयीर्दिशः ॥ १३९ ॥ आचिराल्लब्धसंज्ञश्च पृष्टवानिति मामसौ । भद्रे केनेदमालेख्ये लिखितं नः पुरेहितं ॥ १४० ॥ प्रत्युक्तश्च मयेत्यस्ति स्त्रीसर्गस्यैकनायिका । दुहिता मातुलान्यास्ते श्रीमतीति पतिंवरा ॥ १४१ ॥ तां बिद्धि मदनस्येव पताकामुज्ज्वलांशुकां । स्त्रीसृष्टेरिव निर्माणरेखां माधुर्यशा-

---

देरतक व्याकुलके समान होता हुआ वह राजकुमार शून्यहृदय होकर और नेत्र वंदकर न जाने क्या चिंतवन करने लगा ॥ १३६ ॥ उससमय उसके नेत्रोंसे आंसू बह रहे थे वह अंतकी मरणावस्थाको प्राप्त होना ही चाहता था कि दैवयोगसे उसीसमय उसकी सखी मूर्छाने आकर उसे पकडलिया अर्थात् उसे तुरंत मूर्च्छा आगई ॥ १३७ ॥ उसकी वह अवस्था देखकर केवल मुझे ही आश्चर्य नहीं हुआ था किंतु चित्रमें अंकित की हुई मूर्तियोंका हृदय भी प्रायः पसीज गया था ॥ १३८ ॥ अनंतर उसके सेवकोंने अनेक शीतोपचारोंसे उसे सचेत किया, वह सचेत तो हुआ किंतु उसकी चित्तवृत्ति तेरी ओर ही लगी हुई थी और उसे सब दिशाओंमें तू ही तू दिखाई पडती थी ॥ १३९ ॥ अनंतर वह राजकुमार बहुत शीघ्र सचेत हुआ और मुझसे पूछने लगा कि हे भद्रे इस चित्रमें किसने हमारे ये पूर्व भवकी सब चेष्टायें लिखी हैं ॥ १४० ॥ इस प्रश्नके उत्तरमें मैंने उससे कहा कि एक श्रीमती नामकी तुम्हारी मामीकी पुत्री है वह स्त्रियोंकी सृष्टिमें मानों मुख्य नायिका है और इससमय वह विवाह योग्य यौवनवती है ॥ १४१ ॥ हे राजकुमार ! उसे तुम उज्ज्वल कांतियुक्त कामदेवकी पताकाके समान ही समझो अथवा स्त्रीसंसारकी मधुरशालिनी सुंदरताकी चरमसीमाके समान ही समझो ॥ १४२ ॥ अब उसके सब ओरसे यौवन-अवस्थाका प्रारंभ हो गया है उसीको सूचित करनेवाले उसके लंबायमान कटाक्षोंके द्वारा ही मानों

लिनीं ॥ १४२ ॥ समग्रयौवनारंभसूत्रपातैरिवायतैः । दृष्टिपातैः स्वभूस्तस्याः श्लाघते शरकौशलं ॥ १४३ ॥ लक्ष्मीकराग्रसंसक्तलीलांबुजजिगीषया । तद्वक्त्रेंदुः सदा भाति नूनं दंतांशुपेशलः ॥ १४४ ॥ तस्याश्चरणविन्यासे लाक्षारक्तां पदावलीं । भ्रमरा लंघयंत्याशु रक्तांबुजविशंकया ॥ १४५ ॥ कामविद्यामिवादेष्टुं भ्रमर्यः कलनिस्वनाः । तस्याः कर्णोत्पले लग्ना नापयांत्यपि ताडिताः ॥ १४६ ॥ देवस्य वज्रदंतस्य प्रियपुत्र्या तयादरात् । कलाकौशलमात्मीयमिहालेख्ये प्रदर्शितं ॥ १४७ ॥ लक्ष्मीरिवार्थिनां प्रार्थ्या सैषा कन्या घनस्तनी । मृग्या मृगयते त्वाद्य नान्यस्त्वामिव पुण्यवान् ॥१४८॥ ललितांगं ब्रवीति त्वां प्रिया दिव्येव तन्मृषा । येनेहापि भवान्सौम्यो लक्ष्यते ललितांगकः ॥१४९॥ इत्युक्तस्तु

कामदेव अपने तीक्ष्ण बाणोंकी प्रशंसा करता है ॥ १४३ ॥ लक्ष्मीके हाथमें लगे हुये लीलाकमलको जीतनेकेलिये ही मानों दांतोंकी उज्ज्वल किरणोंसे शोभायमान उसका मुखरूपी चंद्रमा सदा सुशोभित रहता है ॥ १४४ ॥ जब वह चलती है उस समय लाक्षारससे (मावरसे) सुशोभित उसके दोनों चरणों को भ्रमर लालकमल समझकर बहुत शीघ्र ही घेर लेते हैं ॥ १४५ ॥ उसके कर्णरूपी कमलके समीप उड़ती हुई और मनोहर शब्द करती हुई भ्रमरियां ऐसी शोभायमान होती हैं मानो वे उसे कामविद्याका उपदेश ही दे रही हों और इसीलिये वे मानों ताड़ना करने और हटाई जानेपर भी नहीं हटती हैं ॥ १४६ ॥ हे राजकुमार ! महाराज वज्रदंतकी उसी प्रियपुत्री श्रीमतीने अपनी चित्रकलाकी चतुरता इस चित्रमें दिखलाई है ॥ १४७ ॥ जैसे धनार्थी लोग लक्ष्मीकी प्रार्थना करते हैं उसीप्रकार प्रार्थनाके योग्य तथा अवलोकन करने योग्य वह यौवनवती कन्या आज आपका अवलोकन करना चाहती है। इसलिये समझना चाहिये कि संसारमें आपके समान अन्य कोई पुण्यवान् नहीं है ॥ १४८ ॥ वह प्यारी श्रीमती सखी आपका स्वर्गका नाम ललितांग बतलाती है परंतु उसकी यह बात झूठ है क्योंकि आप इस मनुष्य भवमें भी अतिशय सौम्य और सुंदर अंग उपांग सहित साक्षात् ललितांग दिखाई पड़ते हैं ॥ १४९ ॥ इसप्रकार जब मैं कह चुकी तब वह राजकुमार कहने लगा कि हे पंडिते तूने बहुत

मया साधु पंडिते साधु जल्पितं । विधेर्विलसितं चित्रमभीष्टार्थप्रसिद्धिषु ॥ १५० ॥ पश्य जन्मांतराज्जंतूनानीयैवमनंतरे । भवे संघट्टयत्याशु विधिर्यातोऽनुलोमतां ॥ १५१ ॥ द्वीपांतराद्दिशामंतादंतरीपादपांनिधेः । विधिर्घटयतीष्टार्थमानीयान्वीयतां गतः ॥ १५२ ॥ इतीरयन्वचो भूयः प्रास्विद्यत्करपल्लवः । तदस्मत्पट्टकं पाणौ कृतवान्स कुतूहली ॥ १५३ ॥ स्वपट्टकमिदं चान्यन्मम हस्ते समार्पिपत् । यत्र त्वच्चित्रसंवादि सर्वमालक्ष्यते स्फुटं ॥ १५४ ॥ सूत्रक्रमः स्फुटोत्रास्ति व्यक्तोवर्णक्रमोऽप्ययं । क्रमो भावानुबंधस्य प्रत्याहार इवास्त्यहो ॥ १५५ ॥ इदमर्पयता नूनमनुरागो मनोगतः । त्वन्मनोरथसंसिद्धौ सत्यंकारोऽर्पितोमुना ॥ १५६ ॥ ततः करं प्रसार्यार्ये पुनर्दर्शनमस्तु ते । व्रज व्रजाम इत्युद्गीर्निरगात्स

अच्छे समाचार सुनाये हैं। अभीष्ट पदार्थोंकी सिद्धि होनेमें भी कर्मोंका उदय बड़ा ही विचित्र हुआ करता है॥ १५० ॥ देखो! यदि कर्मोंका उदय अनुकूल होता है तो वह प्राणियोंको जन्मांतरसे लाकर इस दूसरे भवमें भी बहुत शीघ्र संयोग करा देता है॥ १५१॥ यदि दैव (कर्मोंका उदय) अनुकूल होता है तो वह अभीष्ट पदार्थको किसी द्वीपसे, दिशाओंके अंतिमभागसे, किसी छोटे द्वीपसे वा समुद्रसे लाकर भी उसका संयोग अवश्य कराता है॥ १५२॥ वह राजकुमार वज्रजंघ इसप्रकार कह रहा था उसके हाथसे पसीना भी निकल रहा था और उसे कुछ आश्चर्य भी हो रहा था। अंतमें उसने वह हमारा चित्र अपने हाथमें लेलिया॥ १५३॥ और अपना यह चित्र मुझे सोंप दिया। देख इस चित्रमें तेरे चित्रोंको सूचित करनेवाले सब चित्र स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं॥ १५४॥ देखो जैसे व्याकरणमें अक् अच् हल् आदि प्रत्याहारोंके अनुसार ही सूत्रक्रम, वर्णक्रम और धातुओंके अनुबंध होते हैं उसीप्रकार इस चित्रमें भी चित्रशास्त्रके अनुसार ही जहां जो चाहिये वह वहां ही लिखा गया है जहां जो वर्ण (रंग) चाहिये वहां वही रंग दिया गया है और जहां जैसा भाव चाहिये वहां वैसा ही भाव दिखाया गया है॥ १५५॥ अवश्य ही इस चित्रको अर्पण करते हुये उस राजकुमारने तेरे समस्त मनोरथ सिद्ध करनेकेलिये अपने मनका अनुराग ही अर्पण कर दिया है॥ १५६॥ अपना चित्र मुझे सोंप देनेके अनंतर उस राजकुमारने हाथ

जिनालयात् ॥ १५७ ॥ गृहात्वीहं च तद्वार्तामिहागामिति पंडिता । प्रसारितवती तस्याः पुरस्ताच्चित्रपट्टकं ॥१५८॥ तन्निवर्ण्य चिरं जातप्रत्यया सासमाश्वसीत् । चिरोढप्रौढसंतापा चातकीव घनागमं ॥१५९॥ यथा शरन्नदीतीरपुलिनं हंसकामिनी । भव्यावली यथाध्यात्मशास्त्रं प्राप्य प्रमोदते ॥ १६० ॥ यथा कुसुमितं चूतकाननं कलकंठिका । द्वीपं नंदीश्वरं प्राप्य यथा वा पृतनामरी ॥ १६१ ॥ तथेदं पट्टकं प्राप्य श्रीमत्यासीदनाकुला । मनोज्ञेष्टार्थसंपत्तिः कस्य नोत्कंठतां हरेत् ॥ १६२ ॥ ततः कृतार्थतां तस्याः समर्थयितुकामया । प्रोचे पंडितया वाचं श्रीमत्यवसरोचितं ॥ १६३ ॥ दिष्ट्या कल्याणि कल्याणान्याचिरात्त्वमवाप्नुहि । प्रतीहि प्राणनाथेन प्रत्यासन्नं समागमं ॥ १६४ ॥ मागमस्त्वमनाश्वासं स जोषं

फैलाकर कहा कि हे आर्ये ! अब फिर कभी तेरा दर्शन होगा, इससमय तू जा और मैं भी जाता हूं। इसप्रकार कहकर वह राजकुमार उस जिनालयसे निकलकर चला गया ॥१५७॥ और मैं यह सब समाचार लेकर यहां आई हूं। इसप्रकार कहकर उस पंडिता सखीने वज्रजंघका दिया हुआ वह चित्र श्रीमतीके सामने फैला दिया ॥ १५८ ॥ उसे देखकर श्रीमतीको विश्वास हो गया तथा वह बहुत सुखी हुई जैसे चिरकालसे अति संतापित हुई चातकी बादलको देखकर सुखी होती है ॥ १५९ ॥ जैसे शरदृतु में नदीके किनारेकी निकली हुई जमीन देखकर हंसिनी प्रसन्न होती है, अथवा जैसे अध्यात्मशास्त्रोंको देखकर भव्यजीवोंकी पंकति प्रसन्न होती है, अथवा जैसे फूले हुये आम्रवृक्षको देखकर कोयल प्रसन्न होती है, अथवा जैसे नंदीश्वरद्वीपको देखकर देवोंकी सेना प्रसन्न होती है उसीप्रकार उस चित्रको देखकर वह श्रीमती भी प्रसन्न हुई थी। सो ठीक ही है मनोज्ञ और इष्ट पदार्थकी प्राप्ति होनेपर किसकी उत्कंठा दूर नहीं होती है ॥ १६०-१६१-१६२ ॥ अनंतर इच्छानुसार वर प्राप्त होनेसे श्रीमती कृतार्थ हो जायगी इसीको समर्थन करनेकी इच्छासे वह पंडिता सखी श्रीमतीको उससमय कहने योग्य वचन कहने लगी ॥ १६३ ॥ कि हे कल्याणि ! शुभ कर्मोंके उदयसे तुझे अब शीघ्र ही अनेक आनंद मंगल प्राप्त होंगे। तू विश्वास रख कि तेरे प्राणनाथसे तेरा समागम बहुत शीघ्र होगा ॥ १६४ ॥ हे पुत्रि ! राजकुमार वज्रजंघ

गतवानिति । मया सुनिपुणं तस्य भावस्त्वय्युपलाक्षितः ॥ १६५ ॥ चिरं विलंबितो द्वारि वीक्षते मां मुहुर्मुहुः । व्रजन्नपि सुगे मार्गे स्खलत्येव पदे पदे ॥ १६६ ॥ स्मयते जृंभते किंचित्स्मरत्याराद्विलोकते । श्वासित्युष्णं च दीर्घं च पट्टरस्मिन्स्मरज्वरः ॥ १६७ ॥ तमेव बहुमन्येते पितरौ ते वरोत्तमं । नृपेंद्रो भागिनेयत्वाद्भ्रात्रीयत्वाच्च देव्यसौ ॥ १६८ ॥ लक्ष्मीवान्कुलजो दक्षः स्वरूपोभिमतः सतां । इत्यनेकोगुणग्रामस्तस्मिन्नस्ति वरोचितः ॥ १६९ ॥ सपत्नी श्रीसरस्वत्योर्भूत्वा त्वं तदुरोगृहे । चिरं निवस कल्याणि कल्याणशतभागिनी ॥ १७० ॥ सामान्येनोपमानं ते लक्ष्मीर्नैव सरस्वती । यतोऽपूर्वैव लक्ष्मीस्त्वमन्यैव च सरस्वती ॥ १७१ ॥ भिदेलिमदले शश्वत्संकोचिनि रजांजुषि । सा श्रीरश्रीरिवोद्भूता कुशेश-

चुपचाप वहांसे चलागया यह समझकर तू अविश्वास मत कर। क्योंकि जाते समय भी उसका चित्त तुझमें ही लगा हुआ था यह बात मैंने बहुत अच्छी तरह निश्चय कर ली है ॥ १६५ ॥ देख जाते समय वह दरवाजे पर बहुत देरतक खड़ा रहा था बार बार मुझे देखता था और सरल मार्गमें चलता हुआ भी वह पदपदपर ठोकरें खाता था ॥ १६६ ॥ वह हंसता था, जंभाई लेता था, कुछ स्मरण करता था, चारों ओर थोड़ी थोडी दूरीतक कुछ देखता था, तथा उष्ण और दीर्घ श्वास छोड़ता था। इन सब कारणों से स्पष्ट मालूम होता था कि उसे कामज्वर बहुत जोरसे चढ़ा हुआ है ॥ १६७ ॥ तेरे माता पिता भी तेरे उस प्राणनाथको बहुत मानते हैं। क्योंकि वह राजकुमार वज्रजंघ तेरे पिता महाराज वज्रदंतका भानजा है और तेरी माता लक्ष्मीदेवीका वह भाईका पुत्र है ॥ १६८ ॥ वह लक्ष्मीवान् है, उत्तमकुलमें उत्पन्न हुआ है, चतुर है, रूपवान है और सज्जन पुरुषोंके द्वारा मान्य है। वरके लिये जो जो उत्तम गुण होने चाहिये वे सब गुण उसमें विद्यमान हैं ॥ १६९ ॥ हे कल्याणि ! तू लक्ष्मी और सरस्वतीकी सपत्नी होकर सैकड़ों सुखोंका अनुभव करती हुई चिरकालतक राजकुमार वज्रजंघके हृदयरूपी घरमें निवास कर॥१७०॥ यदि गुणोंकी तुलना की जाय तो लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही तेरी उपमाको प्राप्त नहीं हो सकतीं अर्थात् तेरे समान नहीं हो सकतीं। क्योंकि तू एक अपूर्व लक्ष्मी है और अपूर्व ही सरस्वती है ॥ १७१ ॥ लक्ष्मी

यकुटीरके ॥ १७२ ॥ सरस्वती च सोच्छिष्टे चलज्जिह्वाग्रपल्लवे । लब्धजन्मा तयोः क्वत्यस्तवैवाभिजनः शुचिः ॥ १७३ ॥ लतांगि ललितांगस्य विविक्ते तस्य मानसे । रमस्व राजहंसीव लतांगमिव वत्सरान् ॥ १७४ ॥ युवयोरुचितं योगं कृत्वा यातु कृतार्थतां । विधाता जननिर्वादान्मुच्येत कथमन्यथा ॥ १७५ ॥ समाश्वसिहि तद्भद्रे क्षिप्रमेष्यति ते वरः । त्वद्वरागमने पश्य पुरमुद्वेलकौतुकं ॥ १७६ ॥ इत्यादितद्गतालापैः श्रव्यैस्तां सुखमानयत् । पंडिता सा तु तत्प्राप्त्यै नाद्याप्यासीन्निराकुला ॥ १७७ ॥ तावच्च चक्रिणा बंधुप्रीतिमातन्वता परां । गत्वार्धपथमानीतो

कमलसे उत्पन्न हुई है कमल एक प्रकारके पत्तोंकी झोंपड़ी है जिसके पत्ते फटे हुये हैं सदा जिसका संकोच होता रहता है और सदा जिसपर पराग रूपी धूल पड़ी रहती है ऐसे घरमें उत्पन्न होनेवाली लक्ष्मी लक्ष्मी नहीं कही जा सकती किंतु उसे एक दरिद्रा कह सकते हैं। इसीप्रकार सरस्वती भी जिह्वाके अग्रभागरुपी पत्ते पर उत्पन्न होती है वह जिह्वाका अग्रभागरूपी पत्ता भी सदा चंचल रहता है और सदा उच्छिष्ट रहता है इसप्रकार अशुद्ध कुल में उत्पन्न होनेवाली लक्ष्मी और सरस्वती तेरी समानता कैसे कर सकती हैं, क्योंकि तू अतिशुद्ध कुल में उत्पन्न हुई है॥१७२-१७३॥ हे लताके समान सुंदरी! मानसरोवरमें जैसे राजहंसी क्रीड़ा करती है उसीप्रकार अब तू उस ललितांगके एकांत हृदयमें अनेक वर्षोंतक क्रीड़ा कर॥१७४॥ विधाताने (शुभकर्मोंके उदयने) जो तुम दोनोंका योग्य संयोग किया है इसलिये वह कृतार्थ हो। यदि वह ऐसा योग्य संयोग न करता तो वह लोकापवादसे कैसे छूटता अर्थात् ऐसा योग्य संयोग किये विना लोग उसकी निंदा अवश्य ही करते ॥१७५॥ इसलिये हे भद्रे तू विश्वास रख तेरा पति बहुत शीघ्र आवेगा। देख तेरे पतिके आनेके लिये ही इस नगरमें कैसा उत्साह बढ़ रहा है॥१७६॥ इसप्रकार वज्रजंघसंबंधी अनेक सुखदेनेवाली बातें कहकर पंडिता सखीने श्रीमतीको सुखी किया परंतु वह श्रीमती वज्रजंघकी प्राप्तिकेलिये अबतक भी निराकुल नहीं हुई थी ॥१७७॥

इधर महाराज वज्रदंत चक्रवर्ती अपने बहनोईको सामने जाकर लानेकेलिये गया था सो बड़े बंधु

वज्रबाहुर्महीपतिः ॥ १७८ ॥ स्वसुः पतिं स्वसारं च स्वस्रीयं च विलोकयन् । प्रापच्चक्री परां प्रीतिं प्रेम्णो दृष्टा हि बंधुता ॥ १७९ ॥ सुखसंकथया कांचित्स्थित्वा कालकलां पुनः । प्राघूर्णकोचितां तेऽमी सत्क्रियां तेन लंभिताः ॥ १८० ॥ चक्रवर्त्तिकृतां प्राप्य वज्रबाहुः स मानतां । पिप्रिये ननु संप्रीत्यै सत्कारः प्रभुणा कृतः ॥ १८१ ॥ यथासुखं च संतोषात्स्थितेष्वेवं सनाभिषु । ततश्चक्रधरो वाचमित्यवाचत्स्वसु पतिं ॥ १८२ ॥ यत्किंचिद्रुचितं तुभ्यं वस्तुजातं ममालये । तद्गृहाण यदि प्रीतिर्मयि तेऽस्त्यनियंतृणा ॥ १८३ ॥ प्रीतेरद्य परां कोटिमधिरोहति मे मनः । त्वं सतुष्कः सदारश्च यन्ममाभ्यागतो गृहं ॥ १८४ ॥ त्वामिष्टबंधुरायातो गृहं मेऽद्य सदारकः । संविभागोचितः कोऽन्यः प्रस्तावः स्यान्ममे-

---

प्रेमके साथ आधी दूरतक जाकर अपने बहनोई राजा वज्रबाहुको ले आया ॥ १७८ ॥ राजा वज्रदंत अपने बहनोई राजा वज्रबाहुको तथा अपनी बहिन वसुंधराको और उनके पुत्र राजकुमार वज्रजंघको देखकर बहुत ही संतुष्ट और प्रसन्न हुआ और उसे प्रसन्न होना ही चाहिये क्योंकि प्रेमपूर्वक देखना ही बंधुता कहलाती है १७९ ॥ तदनंतर थोड़ी देरतक परस्पर कुशलमंगलकी बातें होती रहीं । और फिर चक्रवर्तीकी ओरसे इन सबका आदरदृष्टिसे देखना आदि योग्य सत्कार किया गया ॥१८०॥ चक्रवर्तीने स्वयं उसका सत्कार किया है यह देखकर राजा वज्रबाहु बहुत प्रसन्न हुआ सो ठीक ही है अपने स्वामीके द्वारा सत्कार प्राप्त होनेपर अधिक प्रसन्नता होती ही है ॥ १८१ ॥ इसप्रकार संतुष्ट होकर कुटुंबी और बंधुवर्गके सब लोग जब सुखपूर्वक बैठ गये तब चक्रवर्तीने अपने बहनोईसे नीचे लिखे हुये वाक्य कहे ॥१८२॥ यदि आप मुझपर मर्यादारहित अतिशय प्रेम रखते हैं तो मेरे घरकी जो कुछ वस्तु आपको पसंद हो वही ले लीजिये ॥१८३॥ आज आप पुत्र और स्त्रीसहित मेरे घर आये हुये हैं इसलिये आज मेरा मन प्रेमकी चरम सीमातक चढ रहा है अर्थात् आज मेरा मन बहुत ही प्रसन्न हुआ है ॥ १८४ ॥ आप मेरे इष्ट बंधु हैं और आज स्त्रीसहित मेरे घर आये हुये हैं इसलिये देनेकेलिये इससे बढ़कर और ऐसा कौनसा समय मुझे प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् अपनी संपत्ति का यथार्थ उपयोग करनेकेलिये मुझे सब

दृशः ॥ १८५ ॥ तदत्रावसरे वस्तु तन्न मे यन्न दीयते । प्रणयिन्प्रणयस्यास्य मा कृथा भंगमर्थिनः ॥ १८६ ॥ इत्युक्तः प्रेमनिघ्नेन चक्रिणा प्रत्युवाच सः । त्वत्प्रसादान्ममास्त्येव सर्वं किं प्रार्थ्यमद्य मे ॥ १८७ ॥ साम्नानेनार्पितः स्वेन प्रयुक्तेनेति सादरं । प्रणयस्य परां भूमिमहं मारोपितस्त्वया ॥ १८८ ॥ कियन्मात्रमिदं देव स्वापतेयं परिच्छयि । त्वयाद्यकरणी दृष्टिरलमेषार्पिता मयि ॥ १८९ ॥ अहमद्य कृती धन्यो जीवितं श्लाघ्यमद्य मे । यद्वीक्षितोऽस्मि देवेन स्नेहनिर्भरया दृशा ॥ १९० ॥ परोपकृतये बिभ्रत्यर्थवत्तां भवद्विधाः । लोके प्रासिद्धधातुत्वात्-शब्दा इव कृतागमाः ॥ १९१ ॥ तदेव वस्तु वस्तुष्वै सोपयोगं यदर्थिनां । अविभक्तधनायास्तु बंधुताया विशेषतः ॥ १९२ ॥ तदैतत्स्वैरसंभो-

से अच्छा यही समय प्राप्त हुआ है ॥ १८५ ॥ इसलिये इस समय ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मैं आपको अर्पण न कर सकूं। हे प्रणयिन् (मुझपर स्नेह रखनेवाले) मुझ सेवकके इस प्रेमका भंग मत कीजिये॥१८६॥ इसप्रकार प्रेमके बशीभूत होकर चक्रवर्ती जब कह चुका तब प्रत्युत्तरमें राजा वज्रबाहु कहने लगा कि हे चक्रिन् आपके प्रसादसे मेरे यहां सब कुछ है आज मैं आपसे क्या प्रार्थना करूं॥१८७॥ आज आपने बड़े सत्कारके साथ स्वयं आकर मुझसे भेट की है मानों आपने मुझे प्रेमकी सबसे ऊंची शिखरपर ही चढ़ा दिया है ॥१८८॥ हे देव! यह विनश्वर धन क्या वस्तु है। यह आपने संपूर्ण मनोरथोंको पूरण करनेवाली अपनी दृष्टि मुझे अर्पण करदी है यही मेरे लिये बहुत है ॥ १८९ ॥ हे देव आज आपने मुझे अपनी पूर्णस्नेह भरी दृष्टिसे देखा है इसलिये ही आज मैं कृतकृत्य हुआ हूं धन्य हुआ हूं और मेरा यह जीवन भी आज ही सफल हुआ है ॥ १९० ॥ हे देव! आप ऐसे उत्तमपुरुष परोपकार करनेकेलिये ही यह परम विभूति धारण करते हैं। जैसे शास्त्रोंकी रचना करनेवाले शब्द व्याकरणके नियमानुसार प्रासिद्ध धातुओंसे बन-कर परोपकार करनेकेलिये ही इसलोकमें घट पट जीव अजीव आदि अर्थको धारण करते हैं ॥ १९१ ॥ हे देव! जब याचकजन आपकी समस्त बस्तुओंको अपने काममें लाते हैं तब आपको बहुत संतोष होता है। तब फिर आपका द्रव्य विशेष रीतिसे विना विभाग किये हम ऐसे आपके संबंधी पुरुषोंके

न्यमास्तां सान्यासिकं धनं। न मे मानग्रहः कोऽपि त्वयि नानादरोऽपि वा ॥ १९३ ॥ प्रार्थयेऽहं तथाप्येतद्युष्मदाज्ञां प्रपूजयन्। श्रीमती वज्रजंघाय देया कन्योत्तमा त्वया ॥ १९४ ॥ भागिनेयत्वमस्त्येकमाभिजात्यं च तत्कृतं। योग्यतां चास्य पुष्णाति सत्कारोऽद्य त्वया कृतः ॥ १९५॥ अथवैतत्त्वलूक्त्वायं सर्वथार्हति, कन्यकां। हसंत्याश्चारुदंत्याश्च प्राघूर्णक इति श्रुतेः ॥ १९६ ॥ तत्प्रसीद विभो दातुं भागिनेयाय कन्यकां। सफला प्रार्थना मेऽस्तु कौमारः सोऽस्तु तत्पतिः ॥ १९७ ॥ वस्तुवाहनसर्वस्वं लब्धमेवासकृन्मया। किं तेनालब्धपूर्वं नः कन्या-

काममें आनाही चाहिये और इसमें आपको विशेष संतोष होना ही चाहिये ॥ १९२ ॥ इसलिये रक्खे हुये धनको रक्खे ही रहने दीजिये मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है। आपकी आज्ञा होने पर भी मैंने आपसे कुछ नहीं मांगा इससे आप यह न समझ लें कि मुझे कुछ अपना अभिमान है अथवा मैं आपका कुछ निरादर करना चाहता हूं ॥ १९३ ॥ किंतु मैं आपकी आज्ञाको पूज्य समझता हूं और इसलिये ही आपकी उस पूज्य आज्ञाके अनुसार ही आपसे यह प्रार्थना करता हूं कि आप अपनी अति उत्तम श्रीमती कन्या मेरे पुत्र बज्रजंघकेलिये दे दीजिये ॥ १९४ ॥ यह बज्रजंघ प्रथम तो आपका भानजा है और दूसरे भानजा होनेसे ही इसका उत्तम कुल प्रसिद्ध है तृतीय आज आपने इसका यथायोग्य सत्कार किया है इससे इसकी योग्यता भी प्रत्यक्ष सूचित होती है ॥ १९५ ॥ अथवा इन बातोंसे प्रयोजन ही क्या है यह बज्रजंघ सर्वथा आपकी कन्या ग्रहण करने योग्य है इसके सिवाय यह कहावत भी प्रसिद्ध है कि सुंदर दांतोकी पांक्ति युक्त और हास्यमुखी कन्या देकर भानजेका सत्कार करना ही चाहिये ॥ १९६ ॥ इसलिये हे देव प्रसन्न हूजिये और अपने इस भानजेकेलिये अपनी कन्या दे दीजिये। मुझे पूर्ण आशा है कि मेरी यह प्रार्थना सफल होगी और यह राजकुमार उस कन्याका पति होगा॥ १९७॥ हे देव! धन सवारा आदि अनेक बस्तुयें तो आपसे अनेकबार मिल चुकी हैं फिर भी उसे लेकर क्या करें अबकीवार तो जो पहले कभी नहीं मिला था ऐसा कन्यारत्न दीजिये ॥ १९८ ॥ इसप्रकार बज्र-

रत्नं प्रदीयतां ॥ १९८ ॥ इति विज्ञापितस्तेन चक्रभृत्प्रत्यपद्यत । तथास्तु संगमो यूनोरनुरूपोऽनयोरिति ॥ १९९ ॥ प्रकृत्या सुंदराकारो वज्रजंघोऽस्त्वयं वरः । पतिंवरा गुणैर्युक्ता श्रीमती चास्तु सा वधूः ॥ २०० ॥ जन्मान्तरानुबद्धं च प्रेमास्त्येवानयोरतः । समागमोऽस्तु चंद्रस्य ज्योत्स्नायास्तु यथोचितः २०१ ॥ प्रागेव चिंतितं कार्यं मयेदमतिमानुषं । विधिस्तु प्राक्तरामेव सावधानोऽत्र के वयं ॥ २०२ ॥ इति चक्रधरेणोक्तां वाचं संपूज्य पुण्यधीः । वज्रबाहुः परां कोटिं प्रीतेरध्यारुरोह सः ॥ २०३ ॥ वसुंधरा महादेवी पुत्रकल्याणसंपदा । तया प्रमदपूर्णांगी न स्वांगे सममात्तदा ॥ २०४ ॥ सा तदा सुतकल्याणमहोत्सवसमुद्गतं । रोमांचमंचितं भेजे प्रमादांकुरसन्निभं ॥२०५॥ मंत्रिमुख्यमहा-

बाहुने जो प्रार्थना की थी वह चक्रवर्तीने स्वीकार की और कहा कि आप कहते हैं सो सब स्वीकार है युवावस्थाको प्राप्त हुये इन दोनोंका योग्य समागम होना अच्छा ही है ॥ १९९ ॥ स्वाभाविक सुंदर शरीरको धारण करनेवाला यह बज्रजंघ वर हो और अनेक गुण युक्त युवती श्रीमती मेरी कन्या इसकी अर्धांगिनी हो ॥ २०० ॥ पूर्व भवसे भी इन दोनोंका प्रेम बराबर चला आता है इसलिये चंद्रमा और चांदनीके समान इन दोनोंका यथायोग्य समागम होना अच्छा ही है ॥ २०१ ॥ यह कार्य मनुष्यकी बुद्धिके बाहर है तथापि मैंने पहलेसे ही इसप्रकार करनेकेलिये विचार कर रक्खा है । अथवा इस कार्यके करनेकेलिये इन दोनोंके पूर्वकर्मोंका उदय पहले ही सावधान हो रहा है इसमें हम लोग क्या कर सकते हैं ॥ २०२ ॥ इसप्रकार चक्रवर्तीके कहे हुये बचनोंको आदरपूर्वक सुनकर वह पुण्यवान राजा वज्रबाहु अत्यंत प्रसन्न हुआ ॥ २०३ ॥ तथा बज्रजंघकी माता बसुंधरा महादेवी अपने पुत्रकी विवाहरूप संपदा पाकर आनंदसे इतनी हर्षित हुई कि वह उससमय अपने शरीरमें भी नहीं समाती थी ॥ २०४ ॥ जिससमयसे वज्रजंघके विवाहका समारंभ प्रारंभ हुआ था तबसे वसुंधराके समस्त शरीरमें रोमांच खडे हो गये थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों आनंदके अंकूरे ही हों ॥ २०५ ॥ मंत्री, महामंत्री, सेनापति, पुरोहित, योद्धा और नगरनिवासी आदि सब लोगोंने इस संबंधकी प्रशंसा की ॥ २०६॥

मात्यसेनापतिपुरोहिताः । सामंताश्च सपौरास्तत्कल्याणं बहुमेनिरे ॥ २०६ ॥ कुमारो वज्रजंघोऽयमनंगसदृशाकृतिः । श्रीमतीयं रतिं रूपसंपदा निर्जिगीषति ॥ २०७ ॥ अभिरूपः कुमारोऽयं सुरूपा कन्यकानयोः । अनुरूपोऽस्तु संबंधः सुरदंपतिलीलयोः ॥ २०८ ॥ इतिप्रमदविस्तार-मुद्वहत्तत्पुरं तदा । राजवेश्म च संवृत्तं श्रियमन्यामिवाश्रितं ॥ २०९ ॥ विवाहमंडपारंभं चक्रवर्तिनिदेशतः । महास्थपतिरातेने परार्ध्यमणिकांचनैः ॥ २१० ॥ चामीकरमयाः स्तंभास्तलकुंभैर्महोदयैः । रत्नोज्ज्वलैः श्रियं तेनुर्नृपा इव नृपासनैः ॥ २११ ॥ स्फाटिक्यो भित्तयस्तस्मिन् जनानां प्रतिबिंबकैः । चित्रिता इव संरेजुः प्रेक्षिणां चित्तरंजिकाः ॥ २१२ ॥ मणिकुट्टिमभूरस्मिन्नीलरत्नैर्विनिमिता । पुष्पोपहारैर्व्यरुचत् द्यौरिवाततितारका

तथा यह राजकुमार बज्रजंघ भी कामदेवके समान सुंदर है और यह श्रीमती राजकन्या भी अपनी रूपसंपत्तिसे रतिको जीत रही है ॥ २०७ ॥ यह कुमार भी सुंदर है और यह कन्या भी सुंदरी है। इसलिये देवदेवियोंके समान क्रीडा करनेवाले इन दोनोंका संबंध होना अत्यंत योग्य और बहुत अच्छा है ॥ २०८ ॥ इसप्रकारके अनेक आनंदसमूहोंसे वह नगर बहुत ही सुशोभित हुआ था और राजमहल तो ऐसा शोभायमान हुआ था मानों इसकी शोभा पहलेसे सर्वथा ही बदल गई हो ॥ २०९ ॥ चक्रवर्तीकी आज्ञासे महास्थपतिने (विश्वकर्मा नामके मनुष्यरत्नने) बहुमूल्य मणियों और सुवर्णसे विवाहका मंडप तैयार किया था ॥ २१० ॥ उस विवाहमंडपमें सुवर्णके स्तंभ लगे हुये थे और स्तंभोंके नीचे जड़भागमें दैदीप्यमान उज्वल रत्नोंके घड़ेके आकार गोल २ थांभले लगे हुये थे। उन थांभलोंसे वे सुवर्णमय स्तंभ ऐसे शोभायमान होते थे जैसे सिंहासनपर विराजमान राजराजेश्वर शोभायमान होता है ॥ २११ ॥ उस मंडपमें स्फटिकमणिकी दीवालें लगी हुई थीं जिनमें अनेक मनुष्योंके प्रतिविंव पड़ते थे। उन प्रतिबिंबोंसे वे दीवालें ऐसी शोभायमान होती थीं मानों उनपर अनेक चित्र ही अंकित किये हों और इसलिये ही वे देखनेवालोंको बड़ी मनोहर लगती थीं ॥ २१२ ॥ उस मंडपकी भूमि नीलमणि रत्नोंसे वनी हुई थी और उसपर चारोंओर शुभकामनासे फेंके हुये पुष्प पड़े हुये थे । उन पुष्पोंसे वह

॥ २१३ ॥ मुक्तादामानि लंबानि तद्गर्भे व्यद्युतत्तरां । सफेनानि मृणालानि लंवितानीव कौतुकात् ॥ २१४ ॥ पद्मरागमयस्तासिन्वेदीबंधोऽभवत्पृथुः । जनानामिव चित्तस्थो रागस्तन्मयतां गतः ॥ २१५ ॥ सुधोज्ज्वलानि कूटानि पर्यंतेष्वस्य रेजिरे । तोषात्सुरविमानानि हसंतीवात्मशोभया ॥ २१६ ॥ वेदिकाकटिसूत्रेण पर्यंते स परिष्कृतः । रामणीयकसीम्नेव रुद्धादिकेन विश्वतः ॥२१७॥ रत्नैर्विरचितं तस्य बभौ गोपुरमुच्चकैः । प्रोत्सर्पद्रत्नभाजालरचितेंद्रशरासनं ॥ २१८ ॥ सर्वरत्नमयस्तस्य द्वारबंधो निवेशितः । लक्ष्म्याः प्रवेशनायैव पर्यंतार्पितमंगलः ॥ २१९ ॥ स तदाष्टाहिकीं पूजां चक्रे चक्रधरः परां । कल्पवृक्षमहारूढिं महापूतजिनालये ॥ २२० ॥ ततः शुभदिने सौम्ये लग्ने शुभमुहूर्त्तके । चंद्रताराबलो-

भूमि ऐसी शोभायमान हो रही थी जैसे तारोंसे आकाश शोभायमान होता है ॥ २१३ ॥ तथा उस मंडपके भीतर लटकती हुई मोतियोंकी माला ऐसी अच्छी जान पड़ती थी मानों कौतुक करनेकेलिये फेन सहित कमलतंतु ही लटकाये गये हों ॥ २१४ ॥ उसके मध्यभागमें पद्मराग मणियोंकी बहुत बड़ी एक वेदी बनी हुई थी और वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों लोगोंके चित्तोंका अनुराग ही इकट्ठा होकर वेदीमय परिणत हो गया हो ॥ २१५ ॥ तथा उस मंडपकी छतपर चारों ओर अतिशय श्वेतवर्णकी शिखरें ऐसी शोभायमान थीं मानों वे अपनी शोभासे संतुष्ट होकर देवोंके विमानोंकी ओर हंस रहीं हों ॥ २१६ ॥ उस मंडपके चारों ओर एक छोटीसी वेदिका बनी हुई थी उस वेदिकारूपी कटिसूत्रसे घिरा हुआ वह मंडप ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों वह चारोंओरसे दिशाओंको रोकनेवाली सुंदरताकी सीमासे ही घिरा हो ॥ २१७ ॥ अनेक प्रकारके रत्नोंसे बहुत ऊंचा बना हुआ उसका बाहरी दरवाजा ऐसा सुशोभित होता था मानों उन रत्नोंकी फैलती हुई कांतिसमूहसे बना हुआ इंद्रधनुष ही हो ॥२१८॥ उसका भीतरी दरवाजा भी सब प्रकारके रत्नोंसे बनाया गया था उसके समीप ही अष्टमंगलद्रव्य रक्खे हुये थे इसलिये वह ऐसा सुशोभित होता था मानों लक्ष्मीके प्रवेश करनेकेलिये ही वह बनाया गया हो ॥ २१९ ॥ इसीसमय वज्रदंत चक्रवर्तीने महापूत चैत्यालयमें आष्टाह्निक यज्ञ किया था तथा कल्प-

पेते तज्ज्ञैः सम्यग्निरूपिते ॥ २२१ ॥ कृतोपशोभे नगरे समंताद्बद्धतोरणे । सुरलोक इवाभाति परां दधति संपदं २२२ ॥ राजवेश्मांगणे सांद्रचंदनच्छटयोक्षिते । पुष्पोपहारैरागुंजदलिभिः कृतरोचिषि ॥ २२३ ॥ सौवर्णकलशैः पूर्णैः पुण्यतोयैः सरत्नकैः । अभ्यषेचि विधानज्ञैर्विधिवत्तद्वधूवरं ॥ २२४ ॥ तदा महानकध्वानः शंखकोलाहलाकुलः । घनाडंबरमाक्रम्य जजृंभे नृपमंदिरे ॥२२५ ॥ कल्याणाभिषवे तस्मिन् श्रीमतीवज्रजंघयोः । स नांतर्वौशिकस्तोषनिर्भरं न ननर्त यः ॥ २२६ ॥ वारांगनाः पुरंध्र्यश्च पौरवर्गश्च तत्क्षणं । पुण्यैः पुष्पाक्षतैः शेषां साशिषं तावलंभयन् ॥ २२७ ॥ श्लक्ष्णपट्टदुकूलानि निष्प्रवाणीनि तौ तदा । क्षीरोदोर्मिमयानीव पर्यधत्तामनंतरं ॥ २२८ ॥ प्रसाधनगृहे रम्ये प्राङ्मुखं

वृत्त महायज्ञ भी किया था ॥ २२० ॥ तदनंतर जो दिन ज्योतिषियोंने शुभ बतलाया था तथा जिसदिन चंद्रमा और ताराओंका पूर्ण बल था उसदिन नगर सजाया गया था चारों ओर तोरण लगाये गये थे। उसदिन नगरकी शोभा चरमसीमातक पहुंच गई थी वह स्वर्गके समान सुशोभित किया गया था । राजमहलके आंगनमें चारों ओर चंदन छिड़का गया था वह अनेक प्रकारके पुष्पोंसे सुसज्जित किया गया था उन पुष्पोंपर भ्रमर गुंजार कर रहे थे। ऐसे उस शुभदिन सौम्य लग्न और शुभ मुहूर्तके समय विधिविधान जाननेवाले गृहस्थाचार्यके द्वारा रत्नसहित पुण्यजलसे भरे हुये सुवर्णके पूर्ण कलशोंसे उन दोनों वर बधूका अर्थात् राजकुमार वज्रजंघ और श्रीमतीका विधिपूर्वक अभिषेक किया गया था ॥ २२१-२२२-२२३-२२४ ॥ उस समय राजमंदिरमें दुंदुभी और शंख वजनेका भारी कोलाहल हो रहा था और वह वढते २ आकाशको भी उल्लंघन कर चारों ओर फैल गया था ॥ २२५ ॥ श्रीमती और वज्रजंघके उस विवाहाभिषेकके समय अंतःपुरका ऐसा कोई मनुष्य नहीं था जो उस अभिषेकसे संतुष्ट होकर नृत्य न कर रहा हो ॥ २२६ ॥ उस समय बारांगनायें कुलवधूयें और समस्त पुरवासीजन उन दोनों वर वधुओंको आशीर्वादके साथ २ पवित्र पुष्पाक्षतोंके द्वारा प्रसाद अर्पण कर रहे थे ॥ २२७ ॥ अभिषेक हो जानेके अनंतर उन दोनों वर कन्याओंने क्षीरसमुद्रकी लहरोंके समान महीन और नवीन वस्त्र

सुनिवेशितौ । तावलंकारसर्वस्वं भेजतुर्मंगलोचितं ॥ २२९ ॥ चंदनेनानुलिप्तौ तौ ललाटेन ललाटिकां । चंदनद्रवविन्यस्तां दधतुः कौतुकोचितां ॥ २३० ॥ वक्षसा हारयष्टिं तौ हरिचंदनशोभिना । अधत्तां मौक्तिकैः स्थूलैर्वृत्ततारावलिश्रियं ॥ २३१ ॥ पुष्पमाला बभौ मूर्ध्नि तयोः कुंचितमूर्द्धजे । सीतापगेव नीलाद्रिशिखरोपांतवर्तिनी ॥ २३२ ॥ कर्णिकाभरणन्यासं कर्णयोर्निरविक्षतां । यद्रत्नाभीशुभिर्भेजे तद्वक्त्राब्जं परां श्रियं ॥ २३३ ॥ आजानुलंबमानेन तौ प्रालंबेन रेजतुः । शरज्ज्योत्स्नामयेनेव मृणालच्छविचारुणा ॥ २३४ ॥ कटकांगदकेयूरमुद्रिकादिविभूषणैः । बाहू व्यरुचतां कल्पतरुशाखाच्छवी तयोः ॥ २३५ ॥ जघनं रसनावेष्टं किंकिणीकृतनिःस्वनं । तावनंगद्विपस्येव जयडिंडममूहतुः

धारण किये थे ॥ २२८ ॥ तदनंतर वे दोनों वर बधू अति मनोहर अलंकार करनेके घरमें जाकर पूर्व दिशाकी ओर मुखकर बैठे और वहां उन्होंने उस मंगलसमयके योग्य सब अलंकार धारण किये ॥२२९॥ प्रथम ही उन्होंने अपने सब शरीरमें चंदन लगाया था और फिर ललाटपर उस विवाहोत्सवके योग्य पतले चंदनका एक तिलक लगाया था ॥२३०॥ सफेद चंदनसे सुशोभित वक्षःस्थलपर उन दोनोंने गोल नक्षत्रमालाओंके समान अत्यंत सुशोभित बड़े २ मोतियोंकी मालायें पहनी थीं ॥ २३१ ॥ कुटिल वालोंसे सुशोभित उनके मस्तकपर धारण की हुई पुष्पमाला ऐसी शोभायमान हो रही थी मानों नीलपर्वतके शिखरपर सीता नदी ही वह रही हो ॥ २३२ ॥ उन्होंने कानोंमें कर्णभूषण पहने थे उन कर्णभूषणोंमें अनेक रत्न लगे हुये थे जिनकी पड़ती हुई प्रभाकी किरणोंसे उनका मुखकमल बड़ा ही शोभायमान हो रहा था ॥ २३३ ॥ शरद ऋतुकी चांदनीके समान किंवा कमलतंतुके समान अत्यंत सुशोभित और सफेद पुष्पमालायें उनके घुटनोंतक पड़ी हुई थीं जिनसे वे दोनों बड़े ही सुशोभित हो रहे थे ॥ २३४ ॥ उन्होंने भुजाओंमें बाजूबंद, अनंत हाथोंमें कड़े और उंगलियोंमें अंगूठियां पहनी थीं जिनसे उनकी वे भुजायें ऐसी शोभायमान हो रहीं थीं मानों कल्पवृक्षकी शाखा ही हों ॥ २३५ ॥ उन दोनोंने अपनी २ कमरमें करधनी पहनी थी जिसमें लगी हुई छोटी २ घंटियों से मीठे २ शब्द हो रहे थे। उन करधनियोंसे वे

॥ २३६ ॥ मणिनूपुरझंकारैः क्रमौ शिश्रियतुः श्रियं । श्रीमत्याः पद्मयोर्भृंगकलनिःक्वाणशोभिनोः ॥ २३७ ॥ महालंकृतिमाचार इत्येवं बिभ्रतः स्म तौ । अन्यथा सुंदराकारशोभैवालंकृतिस्तयोः ॥ २३८ ॥ लक्ष्ममतिः स्वयं लक्ष्मीरिव पुत्रीमभूषयत् । पुत्रं च भूषयामास वसुधेव वसुंधरा ॥ २३९ ॥ प्रसाधनविधेरंते यथास्वं तौ निवेशितौ । रत्नवेदीतटे पूर्वं कृतमंगलसत्क्रिये ॥ २४० ॥ मणिप्रदीपरुचिरा मंगलैरुपशोभिता । बभौ वेदी तदाक्रांता सामरेवाद्रिराट्तटी ॥ २४१ ततो मधुरगंभीरमानकाः कोणताडिताः । दध्वनुर्ध्वनदंभोधिगंभीरध्वनयस्तदा ॥ २४२ ॥ मंगलो-

---

दोनों ऐसे शोभायमान होते थे मानों उन दोनोंने कामदेवरूपी हाथीके जय जयकार करनेवाले बाजे ही धारण किये हों ॥ २३६ ॥ श्रीमतीने अपने पैरोंमें मणियोंके नूपुर पहने थे जिनसे मनोहर झंकार शब्द हो रहे थे और इसलिये वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भ्रमरोंके मनोहर शब्दोंसे शोभायमान कमल ही हों ॥ २३७ ॥ विवाहोत्सवमें अलंकार धारण करना चाहिये केवल इसी नियोगको पालन करनेकेलिये उन्होंने अलंकार धारण किये थे नहीं तो उनके सुंदर शरीरकी आकृति ही उनका अलंकार था अर्थात् वे दोनों विना अलंकारके भी केवल शरीरकी सुंदरतासे ही अत्यंत शोभायमान लगते थे ॥ २३८ ॥ साक्षात् लक्ष्मीके समान लक्ष्मीमतिने अपने हाथसे अपनी पुत्री श्रीमतीको विभूषित किया था और अनेक रत्नोंसे सुशोभित साक्षात् वसुधाके समान वसुंधराने अपने पुत्र वज्रजंघका अलंकार किया था ॥ २३९ ॥ इसप्रकार अलंकार धारण करनेके अनंतर वे दोनों विवाहमंडपमें गये और जिसकी मंगलक्रिया पहलेसे की जा चुकी है ऐसी उस रत्नवेदीपर अपने २ योग्य स्थानपर बैठ गये ॥ २४० ॥ वह वेदी मणियोंके प्रकाशसे सुशोभित और मंगलद्रव्योंसे शोभायमान हो ही रही थी तथापि इन दोनोंके बैठ जानेसे वह ऐसी शोभायमान होने लगी मानों देव देवियों सहित सुमेरु पर्वतका तटभाग ही हो ॥ २४१ ॥ जिस समय ये दोनों वेदीपर बैठे थे उस समय गंभीर शब्द करते हुये समुद्रके समान डंडोंसे वजायेगये नगाड़े बड़ा ही मधुर शब्द कर रहे थे ॥ २४२ ॥ वारांगनायें मधुर शब्दोंसे मंगलगीत गा

द्वानमातेनुर्वारवध्वः कलं तदा । उत्साहान्पेठुरभितो बंदिनः सह मागधैः ॥ २४३ ॥ वर्द्धमानलयैर्नृत्तमारेभे ललितं तदा । वारांगनाभिरुद्भूभी रणन्नूपुरमेखलं ॥ २४४ ॥ ततो वधूवरं सिद्धक्षानांभःपूतमस्तकं । निवेशितं महाभासि सच्चामीकरपट्टके ॥ २४५ ॥ स्वयं स्म करकं धत्ते चक्रवर्ती महाकरः । हिरण्मयं महारत्नखचितं मौक्तिकोज्ज्वलं ॥ २४६ ॥ अशोकपल्लवैर्वक्त्रनिहितैः करको बभौ । करपल्लवसच्छायामनुकुर्वन्निवानयो. ॥ २४७ ॥ ततो न्यपाति करकाद्धारा तत्करपल्लवे । दूरमावर्जिता दीर्घं भवंतौ जीवतामिति ॥ २४८ ॥ ततः पाणौ महाबाहुर्वज्रजंघोऽग्रहीन्मुदा । श्रीमतीं तन्मृदुस्पर्शसुखामीलितलोचनः ॥ २४९ ॥ श्रीमती तत्करस्पर्शाद्घर्मबिंदूनधारयत् । चंद्रकांतशिलापुत्री चंद्रांशुस्पर्शनादिव

रहीं थीं तथा बंदीजन और राजाओंकी स्तुति करनेवाले मागधजन चारों ओर खड़े हुये मंगलाष्टक पढ़ रहे थे ॥ २४३ ॥ नृत्यकारिणी वारांगनायें खिची हुई भौंयें, गीत, वादित्र, और ताल आदिकोंसे अत्यंत मनोहर तथा नूपुर और करधनीके मनोहर शब्दोंसे शोभायमान नृत्य कर रहीं थीं ॥ २४४ ॥ ऐसे उत्सवके समय प्रथम ही उन दोनों वरवधुओंका मस्तक भगवानके चरणोदकसे पवित्र किया गया था और फिर वे दोनों अतिशय दैदीप्यमान सुंदर सुवर्णके पटेपर बैठाये गये थे ॥२४५॥ उससमय घुटनोंतक लंबी भुजाओंसे सुशोभित चक्रवर्तीने स्वयं अपने हाथमें भृंगार लिया था वह सुवर्णमय भृंगार मोतियोंके समान उज्वल और जड़े हुये अनेक रत्नोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ २४६ ॥ मुखपर रक्खे हुये अशोकवृक्षके पत्तोंसे वह भृंगार ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों इन दोनों वरवधुओंके हाथरूपी पल्लवोंकी समानताका ही अनुकरण कर रहा हो ॥ २४७ ॥ तदनंतर तुम दोनों चिरकालतक जीवित रहो ऐसा शुभाशीर्वाद देते हुये ही मानों चक्रवर्तीने वज्रजंघके करपल्लवपर बहुत ऊंचेसे उस भृंगारसे जलधारा छोड़ी थी ॥ २४८ ॥ अनंतर अनेक सुलक्षणोंसे सुशोभित वज्रजंघने बड़े हर्षसे श्रीमतीका हाथ अपने हाथपर रक्खा था, उस समय श्रीमतीके कोमल हाथके स्पर्शसे उत्पन्न हुये सुखसे इसके दोनों नेत्र बंद होगये थे ॥ २४९ ॥ वज्रजंघके हाथके स्पर्शसे श्रीमतीको भी स्वेदविंदु हो

॥ २५० ॥ वज्रजंघकरस्पर्शात्तनुतोऽस्याश्चिरं धृतः । संतापः क्वापि याति स्म भूमेरिव घनागमे ॥२५१॥ बज्रजंघसमासंगाच्छ्रीमती व्यद्युतत्तरां । कल्पवल्लीव संश्लिष्टतुंगकल्पमहीरुहा ॥ २५२ ॥ सोऽपि पर्यंतवर्त्तिन्या तया लक्ष्मीं परामधात् । स्त्रीसृष्टेः परया कोट्या रत्येव कुसुमायुधः ॥ २५३ ॥ गुरुसाक्षि तयोरित्थं विवाहः परमोदयः । निरवर्त्तत लोकस्य परमानंदमादधत् ॥२५४॥ ततः पाणिगृहीतां तां ते जना बहुमेनिरे । श्रीमती सत्यमेवेयं श्रीमतीत्युद्गिरस्तदा ॥ २५५ ॥ तौ दंपती सदाकारौ सुरदंपतिविभ्रमौ । जनानां पश्यतां चित्तं निर्व्वारामृतायितौ ॥ २५६ ॥ तत्कल्याणं समालोक्य देवलोकेऽपि दुर्लभं । प्रशशंसुर्मुदं प्राप्ताः परमां प्रेक्षका जनाः ॥ २५७ ॥ चक्रवर्त्ती महाभागः स्त्रीरत्नमिदमूर्जितं ।

आये थे जैसे चंद्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे चंद्रकांतमणिकी बनी हुई पुतलीसे जल छूटने लगता है ॥ २५० ॥ जैसे मेघोंकी वृष्टि होनेसे पृथ्वीका संताप नष्ट हो जाता है उसीप्रकार श्रीमतीके शरीरमें चिर-कालसे जो संताप दुःख दे रहा था वह वज्रजंघके हाथके स्पर्शमात्रसे न जाने कहां चला गया ?॥२५१॥ उससमय वज्रजंघके समागम होनेसे वह श्रीमती ऐसी शोभायमान हो रही थी जैसे किसी वड़े कल्पवृक्षसे लिपटी हुई कल्पलता सुशोभित होती है ॥ २५२ ॥ वह वज्रजंघ भी समीप बैठी हुई उस श्रीमतीसे ऐसा अच्छा सुशोभित होता था जैसे संसारकी स्त्रियोंमें अति उत्तम रातिसे कामदेव सुशोभित होता है ॥ २५३ ॥ इसप्रकार लोगोंको परमानंद देनेवाला उन दोनोंका वह विवाह माता पिता आदि गुरुजनोंकी साक्षी पूर्वक बड़े धूमधामके साथ समाप्त हुआ था ॥ २५४ ॥ उससमय देखनेवाले सब लोग उस विवाहिता श्रीमतीको बड़ी आदरकी दृष्टिसे देखते थे और कहते थे कि यह श्रीमती वास्तवमें ही श्रीमती अर्थात् ऐश्वर्यशालिनी है ॥ २५५ ॥ देव देवांगनाओंके समान क्रीडा करनेवाले अमृतके समान आनंद देनेवाले और अत्यंत सुंदर वे दोनों बर वधू उससमय देखनेवाले लोगोंको बहुत ही संतुष्ट कर रहे थे ॥ २५६ ॥ स्वर्गलोकमें दुर्लभ ऐसे उस विवाह महोत्सवको देखकर देखनेवाले लोग वड़े ही हर्षित हुये थे और सब ही उनकी प्रशंसा करते थे ॥ २५७ ॥ वे सब कहते थे कि यह चक्रवर्ती वड़ा

योग्ये नियोजयामास जनश्लाघास्पदे पदे ॥ २५८ ॥ जननी पुण्यवत्यस्या मूर्ध्नि सुप्रजसामसौ । सत्प्रसूतिरियं सूता यया लक्ष्मीसमद्युतिः ॥ २५९ ॥ कुमारेण तपस्तप्तं किमेतेनान्यजन्मनि । येनासादि जगत्सारं स्त्रीरत्नममितद्युतिः ॥२६०॥ धन्येयं कन्यका मान्या नान्या पुण्यवतीदृशी । कल्याणभागिनी यैषा वज्रजंघं पतिं वृता ॥ २६१ ॥ उपोषितं किमेताभ्यां किं वा तप्तं तपो महत् । किं नु दत्तं किमिष्टं वा कीदृग्वाचरितं व्रतं ॥ २६२ ॥ अहो धर्मस्य माहात्म्यमहोसत्साधनं तपः । अहो दत्तिर्महोदर्का दयावल्ली फलत्यहो ॥ २६३ ॥ नूनमाभ्यां कृता पूजा महतामर्हतां परां । पूज्यपूजानुसंधत्ते ननु संपत्परंपरां ॥२६४॥ अतः कल्याणभागित्वे धनर्द्धिर्विपुलं सुखं । वांछद्भिरर्हतां मार्गे मतिः कार्या महाफले ॥२६५॥

ही पुण्यवान् है जिससे यह ऐसा स्त्रीरत्न उत्पन्न हुआ है और वह उसने सब लोगोंसे प्रशंसित ऐसे उत्तम स्थानमें नियुक्त किया है ॥ २५८ ॥ इसकी यह माता भी बड़ी पुण्यवती है वास्तवमें यह पुत्रवतियोंमें सबसे श्रेष्ठ है जिसने लक्ष्मीके समान कांतियुक्त यह ऐसी उत्तम स्त्री उत्पन्न की है ॥ २५९ ॥ क्या इस वज्रजंघ राजकुमारने पूर्व जन्ममें कठिन तपश्चरण किया था जिससे इसको यह अतिशय कांतियुक्त और संसारका सारभूत स्त्रीरत्न प्राप्त हुआ है ॥२६०॥ तथा इस कन्याने बज्रजंघको अपना पति बनाया है इसलिये यह कन्या बड़ी ही धन्य है बड़ी ही मान्य है और बड़ी ही कल्याणशालिनी है अन्य कोई कन्या इसके समान पुण्यवती नहीं हो सकती ॥२६१॥ पूर्वभवमें इन दोनोंने न जाने कौनसा उपवास किया था, कौनसा भारी तपश्चरण किया था, कौनसी उत्तम वस्तु दान दी थी अथवा कौनसा व्रत पालन किया था ॥ २६२ ॥ अहा ! धर्मका बहुत बड़ा माहात्म्य है, तपश्चरणका बड़ा भारी प्रभाव है, अहा दान देनेसे बड़े ही उत्तम फल मिलते हैं दयारूपी वेलपर बड़े ही मोटे फल लगते हैं ॥२६३॥ अवश्य ही इन दोनोंने पूर्वभवमें महापूज्य श्रीअरहंतदेवकी उत्तम पूजा की होगी। क्योंकि पूज्यपुरुषोंकी पूजा करनेसे अवश्य ही अनेक संपत्तियां एकके बाद एक इसप्रकार निरंतर प्राप्त होती रहती हैं ॥ २६४ ॥ इसलिये जो पुरुष अपना कल्याण चाहते हैं धन ऋद्धि और बहुत सुख चाहते हैं उन्हें स्वर्गादि अनेक महाफल देनेवाले

इत्यादि जनसंजल्पैः संश्लाघ्यौ दंपती तदा । सुखासीनौ प्रशस्यायां बंधुभिः परिवारितौ ॥ २६६ ॥ दीनैर्दैन्यं समुत्सृष्टं कार्पण्यं कृपणैर्जहे । अनाथैश्च सनाथत्वं भेजे तस्मिन्महोत्सवे ॥ २६७ ॥ बंधवो मानिताः सर्वे दानमानाभिजल्पनैः । भृत्याश्च तर्पिता भर्त्रा चक्रिणास्मिन्महोत्सवे ॥ २६८ ॥ गृहे गृहे महांस्तोषः केतुबंधो गृहे गृहे । गृहे गृहे वरालापो बधूशस्या गृहे गृहे ॥ २६९ ॥ दिने दिने महांस्तोषो धर्मभक्तिर्दिने दिने । दिने दिने महेंद्रर्ध्या पूजते स्म वधूवरं ॥ २७० ॥ अथापरेद्युरुद्यावमुद्योतयितुमुद्यमी । प्रदोषे दीपिकोद्योतैर्महापूतं ययौ वरः ॥ २७१ ॥

श्रीअरहंत भगवानके कहे हुये जैनमार्गमें ही अपनी बुद्धि स्थिर करनी चाहिये ॥ २६५ ॥ इसप्रकार अनेक बचनोंके द्वारा देखनेवाले लोग उससमय उन दोनों वरवधुओंकी प्रशंसा करते थे। वे दोनों वर बधू आरामसे बैठे हुये थे और पासमें बैठें हुये भाई बंधु आदि परिवारके लोग भी उन्हें बधाई दे रहे थे ॥ २६६ ॥ उस विवाहमहोत्सवमें दरिद्र लोगोंने सदाकेलिये अपनी दरिद्रता छोड़ दी थी कृपण लोगोंने अपनी कृपणता छोड़ दी थी और अनाथ लोग सब सनाथ होगये थे ॥ २६७ ॥ चक्रवर्तीने अपनी इस पुत्रीके विवाहोत्सवमें सब भाइयोंका सन्मान किया था किसीको दान देकर किसीका सन्मानकर और किसीसे मिष्ट भाषणकर सब संतुष्ट किये थे तथा दास दासी आदि भृत्य लोग भी सब दान सन्मान और मिष्टभाषणके द्वारा संतुष्ट किये गये थे ॥ २६८ ॥ उसदिन घर घर बड़ा भारी संतोष हुआ था, घर घर ध्वजा पताकायें फहराईगईं थीं, घर घर वज्रजंघकी प्रशंसा और घर घर श्रीमतीकी प्रशंसा हो रही थी ॥ २६९ ॥ सब लोग प्रतिदिन संतुष्ट रहते थे प्रतिदिन धर्मभक्ति करते थे और प्रतिदिन इंद्रकेसमान बड़ी विभूतिके साथ उन दोनों वर वधूओंका आदर सत्कार करते थे ॥ २७० ॥

विवाह हो जानेके अनंतर दूसरेदिन ही अपना उत्साह प्रगट करनेकेलिये उद्युक्त हुआ वज्रजंघ सायंकालके समय अनेक दीपकोंका प्रकाशकर महापूत चैत्यालयके दर्शन करनेकेलिये निकला था ॥२७१॥ अतिशय कांतियुक्त उस वज्रजंघके पीछे २ श्रीमती भी जा रही थी जैसे प्रकाश करती हुई प्रभा अंध-

प्रयांतमनुयाति स्म श्रीमती तं महाद्युतिं । भास्वंतमिव रुद्धांधतमसं भासुरा प्रभा ॥ २७२ ॥ पूजाविभूतिं महतां पुरस्कृत्य जिनालयं । प्रापदुत्तुंगकूटाग्रं स सुमेरुमिवोच्छ्रितं ॥ २७३ ॥ स तं प्रदक्षिणीकुर्वन्सजानिर्निर्वभौ नृपः । मेरुमर्कइव श्रीमान्महादीप्त्या परिष्कृतः ॥ २७४ ॥ कृतेर्यांशुद्धिरिद्धर्द्धिः प्रविश्य जिनमंदिरं । तत्रापश्यदृषीन्दीप्ततपसः कृतवंदनः ॥ २७५ ॥ ततो गंधकुटीमध्ये जिनेंद्रार्चां हिरण्मयीं । पूजयामास गंधाद्यैरभिषेकपुरःसरं ॥ २७६ ॥ कृतार्च्चनस्ततः स्तोतुं प्रारेभेऽसौ महामतिः । अर्थ्याभिः स्तुतिभिः साक्षात्कृत्य स्तुत्यं जिनेश्वरं । ॥ २७७ ॥ नमो जिनेशिने तुभ्यमनभ्यस्तदुराधये । त्वामद्याराधयामीश कर्मशत्रुबिभित्सया ॥ २७८ ॥ अनंतास्त्वद्गुणाः स्तोतुमशक्या गण-

---

कारको दूरकरनेवाले सूर्यके पीछे २ जाती है ॥ २७२ ॥ वह महापूत चैत्यालय सुमेरुपर्वतके समान ऊंचा था उसके शिखर भी बहुत ऊंचे थे उसी चैत्यालयमें वह वज्रजंघ बड़ी भारी पूजाकी सामग्री लेकर पहुंचा ॥ २७३ ॥ प्रथम ही जाकर श्रीमतीके साथ २ उसने उस चैत्यालयकी प्रदक्षिणा दी । प्रदक्षिणा देते समय वह ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसे महाकांति युक्त सूर्य मेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुये शोभायमान होता है ॥ २७४ ॥ प्रदक्षिणाके बाद उसने ईर्यापथशुद्धि की, अनंतर जिनमंदिरमें प्रवेश किया तथा अनेक विभूतियोंको धारण करनेवाले उसने वहां भारी तपश्चरण करनेवाले मुनियोंके दर्शन किये और उनकी बंदना की ॥ २७५ ॥ तदनंतर वह देवाधिदेव श्रीअरहंतभगवानकी गंधकुटीके समीप पहुंचा, वहां उसने भगवान श्रीअरंहतदेवकी सुवर्णमयी प्रतिमाका अभिषेक किया और फिर जल चंदनादि अष्ट द्रव्योंसे उनकी पूजा की ॥ २७६ ॥ पूजन करनेके अनंतर महा बुद्धिमान उस वज्रजंघने अतिशय स्तुति करनेयोग्य ऐसे श्रीअंरहतदेवको साक्षातकर उत्तमोत्तम अर्थोंसे भरे हुये स्तोत्रोंसे स्तुति करना प्रारंभ किया ॥२७७॥ हे देव ! आप जिनेंद्रदेव हैं, मानासिक व्यथाओंसे सर्वथा रहित हैं, इसलिये आपको नमस्कार हो । हे प्रभो ! आज मैं कर्मरूपी शत्रुको नाश करनेकी इच्छासे ही आपको आराधन करता हूं ॥ २७८ ॥ हे देव । आपमें अनंत गुण हैं, स्वयं गणधरदेव भी उन सबकी स्तुति नहीं कर सकते

पैरपि । भक्त्या तु प्रस्तुवे स्तोत्रं भक्तिः श्रेयोऽनुबंधिनी ॥ २७९ ॥ त्वद्भक्तः सुखमभ्येति लक्ष्मीस्त्वद्भक्तमश्नुते । त्वद्भक्तिर्भुक्तये पुंसां मुक्तये च स्थवीयसी ॥ २८० ॥ अतो भजंति भव्यास्त्वां मनोवाक्कायशुद्धिभिः । फलार्थिभिर्भवान्सेव्यो व्यक्तं कल्पतरूयते ॥ २८१ ॥ त्वया प्रवर्षता धर्मवृष्टिं दुष्कर्मघर्मतः । प्रोदन्यद्भवभृद्वारिस्पृहां नवघनायितं ॥२८२॥ त्वया प्रदर्शितं मार्गमासेवंते हितैषिणः । भास्वता द्योतितं मार्गमिव कार्यार्थिनो जनाः ॥ २८३ ॥ संसारोच्छेदने बीजं त्वया तत्त्वं निदर्शितं । आत्रिकामुत्रिकार्थानां यतः सिद्धिरिहांगिनां ॥ २८४ ॥

हैं, तथापि मैं केवल भक्तिके वशसे ही आपका स्तोत्र प्रारंभ करता हूं। क्योंकि आपकी भक्ति ही स्वर्ग मोक्ष देनेवाली है ॥ २७९ ॥ हे प्रभो ! आपका भक्त सदा सुखी रहता है, लक्ष्मी भी आपके भक्तके समीप ही दौड़कर जाती है। आपमें अत्यंत स्थिरभक्ति करनेसे स्वर्गादिकोंके सुख भी प्राप्त होते हैं और अंतमें मोक्ष भी प्राप्त होती है ॥२८०॥ इसलिये ही भव्यपुरुष शुद्ध मन वचन कायसे आपकी सेवा करते हैं। हे देव! फल चाहनेवाले जो पुरुष आपकी सेवा करते हैं उनके लिये तो आप साक्षात् कल्पवृक्षके समान अभीष्ट फल देते हो ॥२८१॥ हे प्रभो! मोक्षमार्गका उपदेश देकर धर्मवृष्टिकी वर्षा करके तो मानों आपने दुष्ट कर्मरूपी संतापसे अत्यंत प्यासे ऐसे संसारी जीवरूपी चातकोंको नवीन बादलोंके समान आनंदित किया है ॥२८२॥ जैसे अपने कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले लोग सूर्यके द्वारा प्रकाश किये हुये मार्गका अवलंबन करते हैं उसीप्रकार अपने आत्माका हित चाहनेवाले जीव भी आपके द्वारा निरूपण किये हुये मोक्षमार्गका ही सेवन करते हैं ॥२८३॥ हे स्वामिन्! आपने जिस आत्मतत्त्वका निरूपण किया है वह जन्ममरणरूप संसारको नाश करनेका कारण है तथा प्राणियोंको उसी तत्त्वसे इस लोक संबंधी कार्योंकी सिद्धि होती है और उसीसे परलोक संबंधी कार्योंकी भी सिद्धि होती है ॥ २८४ ॥ हे प्रभो ! यह भी एक आश्चर्यकी बात है कि आपने संपूर्ण लक्ष्मीका भंडार तथा अति उत्कृष्ट विभूति सहित ऐसे साम्राज्यका तो त्याग कर दिया तथापि आपकी इच्छा बनी ही रही, क्योंकि इच्छा होनेसे ही सबको छोड़कर भी आप मुक्तिरूपी लक्ष्मी

लक्ष्मीसर्वस्वमुज्झित्वा साम्राज्यं प्राज्यवैभवं । त्वया चित्रमुदूढासौ मुक्तिश्रीः स्पृहयालुना ॥ २८५ ॥ दयावल्लीपरिष्वक्तो महोदर्को महोन्नतः । प्रार्थितार्थान्प्रपुष्णाति भवान्कल्पद्रुमो यथा ॥ २८६ ॥ त्वया कर्ममहाशत्रूनुच्चैरुच्छेत्तुमिच्छता । धर्मचक्रं तपोधारं पाणौ कृतमसंभ्रमं ॥ २८७ ॥ न बद्धो भ्रुकुटिन्यासो न दष्टौष्ठं मुखांबुजं । न भिन्नसौष्ठवं स्थानं व्यरच्यरिजये त्वया ॥ २८८ ॥ दयालुनापि दुःसाध्यमोहशत्रुजिगीषया । तपःकुठारे कठिने त्वया व्यापारितः करः ॥ २८९ ॥ त्वया संसारदुर्वल्ली रूढा ज्ञानजलोक्षणैः । नानादुःखफला चित्रं वर्धितापि न वर्धते ॥ २९० ॥ प्रसीदति भवत्पादपद्मे पद्मा प्रसीदति । विमुखे याति वैमुख्यं भवन्माध्यस्थ्यमीदृशं ॥ २९१ ॥ प्रातिहार्यमयीं भूतिं त्वं दधानोऽप्य-

---

के स्वामी हुये हैं ॥२८५॥ हे देव ! आप दयारूपी वेलसे वेष्ठित हैं, स्वर्गादि महाफल देनेवाले हैं, अतिशय उन्नत हैं और प्रार्थना करनेवालोंको अभीष्ट पदार्थ देनेवाले हैं इसलिये आप साक्षात् कल्पवृक्षके समान हैं ॥ २८६ ॥ हे देव ! आपने महा प्रवल कर्मरूपी शत्रुओंको नाश करनेकेलिये तपश्चरणरूपी तीक्ष्ण धारसे देदीप्यमान धर्मरूपी चक्रको अपने हाथमें बड़े धैर्यके साथ धारण किया है ॥ २८७ ॥ हे देव ! कर्मरूपी शत्रुओंको जीतते समय न तो आपने अपनी भ्रकुटी ही चढ़ाई, न ओठ चवाये, न अपना मुखरूपी कमल कुछ विकृत किया और न अपना सज्जनताका स्थान ही परित्याग किया ॥ २८८ ॥ हे प्रभो ! दयालु होकर भी आपने अतिप्रवल मोहरूपी शत्रुको जीतनेकेलिये अत्यंत कठिन ऐसे तपश्चरणरूपी कुठारको अपने हाथमें लिया है ॥ २८९ ॥ हे नाथ अज्ञानरूपी जलसे सींची हुई और अनेक दुःखरूपी फल देनेवाली यह संसाररूपी बेल आपने ऐसी नष्ट की कि जो अब कभी नहीं वढ़ सकती ॥ २९० ॥ हे स्वामिन् ! आपके चरणकमल प्रसन्न होनेसे लक्ष्मी अपने आप प्रसन्न हो जाती है तथा आपके चरणकमलोंकी अप्रसन्नता होनेसे लक्ष्मी भी अप्रसन्न हो जाती है। हे देव ! आपकी यह मध्यस्थवृत्ति भी ऐसी ही विलक्षण है ॥ २९१ ॥ हे जिनेंद्रदेव ! जो अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त हो सकती ऐसी प्रातिहार्यरूप महाविभूतिको आप धारण करते हैं तथापि संसारमें आप परम वीतराग कहलाते हैं यह बड़े आश्च-

नन्यगां । वीतरागो महांश्चासि जगत्येतज्जिनाद्भुतं ॥ २९२ ॥ तवायं शिशिरच्छायो भात्यशोकतरुर्महान् । शोकमाश्रितभव्यानां विदूरमपहस्तयन् ॥ २९३ ॥ पुष्पवृष्टिं दिवो देवाः किरंति त्वां जिनाभितः । परितो मेरुमुत्फुल्ला यथा कल्पमहीरुहाः ॥ २९४ ॥ दिव्यभाषा तवाशेषभाषाभेदानुकारिणी । विकरोति मनोध्वांतमवाचामपि देहिनां ॥ २९५ ॥ प्रकीर्णकयुगं भाति त्वां जिनोभयतो धुतं । पतन्निर्झरसंवादि शशांककरनिर्मलं ॥ २९६ ॥ चामीकरविनिर्माणं हरिभिर्धृतमासनं । गिरींद्राशिखरस्पार्द्धि राजते जिनराज ते ॥ २९७ ॥ ज्योतिर्मंडलमुत्सर्पत्तवालंकुरुते तनुं । मार्त्तंडमंडलद्वेषि विधुन्वन्जगतां तमः ॥२९८ ॥ तवोद्घोषयतीवोच्चैर्जगतामेकभर्तृतां । दुंदुभिस्तनितं मंद्रमुच्चरत्पथि वार्मुचां ॥२९९॥

र्यकी बात है ॥ २९२ ॥ देखिये ! आपके पीछे शीतलच्छायायुक्त और अतिशय उन्नत यह अशोकवृक्ष कैसा अच्छा शोभायमान हो रहा है, जो भव्यजीव आपका आश्रय लेते हैं उनका शोक यह अवश्य ही दूर कर देता है ॥ २९३ ॥ हे जिनेंद्रदेव ! जैसे फूले हुये कल्पवृक्ष मेरुपर्वतके चारोंओर पुष्पोंकी वर्षा करते हैं उसीप्रकार ये देव लोग भी आपके चारों ओर आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं ॥ २९४ ॥ हे देव ! संसारकी समस्त भाषामय परिणत होनेवाली आपकी दिव्यध्वनि वचनरहित ऐसे पशु आदि जीवोंके मनका भी अज्ञानांधकार दूर करती है ॥ २९५ ॥ हे जिन ! चंद्रमाकी किरणोंके समान अत्यंत निर्मल जो दोनों चमर आपके दोनों ओर ढुलाये जा रहे हैं वे ऐसे शोभायमान हो रहे हैं मानों ऊपरसे पानीका निर्झरना ही पड़ रहा हो ॥ २९६ ॥ हे जिनराज ! मेरुपर्वतकी शिखरकी स्पर्द्धा करनेवाला और सुवर्णका वना हुआ यह आपका सिंहासन वड़ा ही शोभायमान हो रहा है॥ २९७ ॥ हे देव ! सूर्यमंडलको भी तिरस्कृत करनेवाला, संसारके अंधकारको दूर करनेवाला और अतिशय देदीप्यमान यह आपका प्रभामंडल आपके शरीरको वहुत ही सुशोभित कर रहा है ॥ २९८ ॥ हे प्रभो ! आकाशमें व्याप्त होता हुआ जो अति गंभीर दुंदुभि वजता है वह मानों संसारके एकमात्र स्वामी आप ही हैं यही आपकी घोषणा वड़े ऊंचे शब्दोंसे करता है ॥२९९॥ हे देव ! चंद्रमाके प्रतिबिंबकी स्पर्द्धा करनेवाले तथा

तवाविष्कुरुते देव प्राभवं भुवनातिगं । विधुबिंबप्रतिस्पर्द्धि छत्रत्रितयमुच्छ्रितं ॥ ३०० ॥ विभ्राजते जिनैतत्ते प्रातिहार्यकदंबकं । त्रिजगत्सारसर्वस्वामिवैकलसमुच्चितं ॥ ३०१ ॥ नोपरोध्दुमलं देव तव वैराग्यसंपदं । सुरैर्विरचितो भक्त्या प्रातिहार्यपरिच्छदः ॥ ३०२ ॥ करिकेसरिदावाहिनिषादविषमाब्धयः । रोगा बंधाश्च शाम्यंति त्वत्पदानुस्मृतेर्जिन ॥ ३०३ ॥ करटक्षरदुद्दाममदांबुकृतदुर्दिनं । गजमाघातकं मर्त्या जंयंति त्वदनुस्मृतेः ॥ ३०४ ॥ करींद्रकुंभनिर्भेदकठोरनखरो हरिः । क्रमेऽपि पतितं जंतुं न हंति त्वत्पदस्मृतेः ॥ ३०५ ॥ नोपद्रवति दीप्ता-

अतिशय ऊंचे आपके तीनों छत्र आपका लोकोत्तर प्रभुत्व प्रगट करते हैं ॥ ३०० ॥ हे जिनेंद्रदेव ! आपके ये ऊपर कहे हुये आठ प्रातिहार्य ऐसे अच्छे शोभायमान होते हैं मानों तीनों लोकोंके उत्तम उत्तम सार पदार्थ ही एक जगह इकट्ठे हुये हों ॥ ३०१ ॥ हे देव ! यह प्रतिहार्योंका समुदाय आपकी वैराग्यरूप संपत्तिको नहीं रोक सकता है अर्थात् इस महाविभूतिसे आपका वैराग्यभाव कुछ कम नहीं हो सकता है क्योंकि यह प्रातिहार्यका समुदाय तो भक्तिवश देवोंने निर्माण किया है ॥ ३०२ ॥ हे जिनेंद्रदेव ! केवल आपके चरणकमलोंके स्मरण करनेमात्रसे हाथी, सिंह, दावानल अग्नि, सर्प, दुष्टभील, विषमसमुद्र, रोग और बध बंधनादि सब शांत हो जाते हैं ॥ ३०३ ॥ जिसके गंडस्थलसे मदका भारी प्रवाह बह रहा है जिस मदके वहनेसे मेघ वरसनेके समान कीचड़ हो रही है तथा जो आघात करनेके लिये सामने आ रहा है ऐसे भयंकर हाथीको भी आपके चरणकमलोंको स्मरण करनेवाले मनुष्य जीत लेते हैं ॥३०४॥ अनेक मदोन्मत्त हाथियोंके कुंभस्थल विदारण करनेसे जिसके नख अति कठिन होगये हैं ऐसे सिंहके पैरोंमें पड़ा हुआ जंतु भी यदि आपके चरणकमलोंका स्मरण करे तो वह सिंह फिर उसे कभी नहीं मार सकता है ॥ ३०५ ॥ हे देव ! जिसकी ज्वाला बड़ी उद्दीपित हो रही है और जिसकी लौ बड़ी ऊंची उठ रही है ऐसी तीव्र अग्निकी ज्वाला भी यदि आपके चरणकमलोंके स्मरणरूपी शीतल जलकी धारासे शांत कर दी जाय तो फिर वह अग्नि भी कुछ उपद्रव नहीं करती है ॥३०६॥ तथा जिसने अपना फण

चिरप्यार्च्चिष्मान्समुच्छ्रितः । त्वत्पदस्मृतिशीतांबुधाराप्रशमितोदथः ॥ ३०६ ॥ फणी कृतफणोरोषादुद्गिरन्गरमुल्वणं । त्वत्पदागदसंस्मृत्या सद्यो भवति निर्विषः ॥ ३०७ ॥ वने प्रचंडलुंटाककोदंडरवभीषणे । सार्थाः सार्थाधिपाः स्वैरं प्रयांति त्वत्पदानुगाः ॥ ३०८ ॥ अपि चंडानिलाकांडजृंभणाघूर्णितार्णसं । तरंत्यर्णवमुद्वेलं हेलया त्वत्क्रमाश्रिताः ॥ ३०९ ॥ अप्यस्थानकृतोत्थानतीव्रव्रणरुजो जनाः । सद्यो भवंत्यनातंकाः स्मृतत्वत्पादभेषजाः ॥ ३१० ॥ कर्मबंधविनिर्मुक्तं त्वामनुस्मृत्य मानवः । दृढबंधनबद्धोऽपि भवत्याशु विशृंखलः ॥ ३११ ॥ इति विघ्नितविघ्नौघं भक्तिनिघ्नेन चेतसा । पर्युपासे जिनेंद्र त्वां विघ्नवर्गोपशांतये ॥३१२॥ त्वमेको जगतां ज्योतिस्त्वमेको जगतां पतिः । त्वमेको जगतां बंधुस्त्वमेको

ऊंचा कर लिया है और जो क्रोधसे विष उगल रहा है ऐसा सर्प भी आपके चरणरूपी औषधिके स्मरण करनेमात्रसे तत्काल ही निर्विष हो जाता है ॥ ३०७ ॥ हे नाथ ! आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले धनी व्यापारीजन प्रचंड चोरोंके धनुषटंकारोंसे अत्यंत भयानक बनमेंभी निर्भय होकर धन जन सहित चले जाते हैं । ३०८ ॥ तथा जो समुद्र प्रचंड वायुके अत्यंत प्रकोपसे ऊपरको उठ रहा है तथा जिसकी तरंगें बड़ी प्रवल हो रही हैं ऐसे भयानक समुद्रको भी आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाला पुरुष लीलामात्रमें पार हो जाता है ॥ ३०९ तथा जो पुरुष संधि जंघा आदि गुप्त स्थानमें उत्पन्न हुये बड़े २ फोड़ोंसे रोगी हो रहे हैं वे भी केवल आपके चरणरूपी औषधिका स्मरण करनेमात्रसे ही तत्काल नीरोग हो जाते हैं ॥ ३१० ॥ हे देव ! यद्यपि आप कर्मबंधनसे रहित हैं तथापि आपको स्मरण करनेमात्रसे कठोर बंधनोंसे वंधा हुआ भी यह मनुष्य शीघ्र ही उन बंधनोंसे छूटजाता है ॥ ३११ ॥ हे जिनेंद्रदेव ! आप विघ्नोंको भी विघ्न करनेवाले हैं अर्थात् विघ्नोंको नाश करनेवाले हैं इसलिये मैं अपने सब विघ्न दूर करनेकेलिये गाढ़ भक्तिसे भरे हुये चित्तसे आपकी सेवा करता हूं ॥ ३१२ ॥ हे देव । इस जगतको प्रकाश करनेवाले केवल आप ही हैं संसारके स्वामी भी एक आप ही हैं तथा संसारके वंधु और संसारके गुरु भी एक आप ही हैं ॥ ३१३ ॥ संपूर्ण विद्याओंके उत्पन्न करनेवाले भी आप हैं और आप ही

जगतां गुरुः ॥ ३१३ ॥ त्वमादिः सर्वविद्यानां त्वमादिः सर्वयोगिनां । त्वमादिर्धर्मतीर्थस्य त्वमादिर्गुरुरंगिनां ॥ ३१४ ॥ त्वं सार्वः सर्वविद्येशः सर्वलोकानलोकथाः । स्तुतिवादस्तवैतावानलमास्तां प्रविस्तरः ॥ ३१५ ॥ त्वां देवमित्थमभिवंद्य कृतप्रणामो नान्यत्फलं परिमितं परिमार्गयामि । त्वय्येव भक्तिमचलां जिन मे दिश त्वं सा सर्वमभ्युदयमुक्तिफलं प्रसूते ॥३१६॥ इत्युच्चैः प्रणिपत्य तं जिनपतिं स्तुत्वा कृताभ्यर्च्चनः स श्रीमान्मुनिवृंदमप्यनुगमात्संपूज्य निष्कल्मषं । श्रीमत्या सह वज्रजंघनृपतिस्तामुत्तमार्द्धिं पुरीं प्राविक्षत्प्रमदोदयाज्जिनगुणान्भूयः स्मरन्भूतये ॥ ३१७ ॥

संपूर्ण योगियोंमें प्रथम योगी हैं। धर्मरूप तीर्थको प्रगट करनेवाले भी आप हैं और आप ही प्राणियोंको हितोपदेश देनेवाले प्रथम गुरू हैं ॥ ३१४ ॥ हे स्वामिन् ! आप समस्त जीवोंका हित करनेवाले हैं संपूर्ण विद्याओंके स्वामी हैं और सब लोकालोकको देखनेवाले हैं। हे प्रभो ! आपकी स्तुतिका विस्तार कहां-तक किया जाय अबतक जितना कुछ कहा गया है उतना ही कहकर इसे समाप्त करता हूं ॥३१५॥ हे देव ! इसप्रकार मैं आपकी स्तुति कर बारंबार आपको प्रणाम करता हूं। मैं आपसे अन्य कुछ परिमित फल नहीं मांगता हूं किंतु हे जिन आपमें मेरी भक्ति सदा अचल रहे यही मुझे प्रदान कर दीजिये क्योंकि आपमें रहनेवाली अचल भक्तिसे समस्त स्वर्ग मोक्षादिके उत्तमफल प्राप्त होजाते हैं ॥ ३१६ ॥ इसप्रकार श्रीमान् बज्रजंघ राजकुमारने उस महापूत जिनालयमें श्रीअरंहत भगवानको उत्तमरीतिसे नमस्कार किया उनकी स्तुति की पूजा की और फिर उसने वहां विराजमान रागद्वेष-रहित मुनियोंको अनुक्रमसे नमस्कार किया तथा उनकी पूजा की। तदनंर श्रीजिनेंद्रदेवके गुण बारबार स्मरण करते हुये उस वज्रजंघने राज्यादिक विभूति धारण करनेकेलिये बड़े हर्षसे श्रीमतीके साथ साथ अनेक ऋद्धियों और विभूतियोंसे शोभायमान उस पुंडरीकिणी नगरीमें प्रवेश किया था ॥ ३१७ ॥ नगरमें आते ही छहों खंड भारतवर्षके वत्तीसहजार मुकुटवद्ध राजाओंने लक्ष्मीवान् उस वज्रजंघका राज्याभिषेक किया था तथा सबने उसे पूज्य माना था। इसप्रकार प्रतिदिन श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजन करते

लक्ष्मीबानभिषेकपूर्वकमसौ श्रीवज्रजंघो भुविद्वात्रिंशन्मुकुटप्रबद्धमहितक्ष्माभृत्सहस्रैर्मुहुः । तां कल्याणपरंपरामनुभवन्भोगान्परान्निर्विशन् श्रीमत्या सह दीर्घकालमवसत्तासिन्पुरेर्च्चन् जिनान् ॥ ३१८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रीमती-वज्रजंघसमागमनवर्णनं नाम सप्तमं पर्व ॥ ७ ॥

अथ अष्टमं पर्व ।

अथ तत्रावसद्दीर्घं स कालं चक्रिमंदिरे । नित्योत्सवे महाभोगसंपदा सोपभोगया ॥ १ ॥ श्रीमतीस्तनसंस्पर्शात्तन्मुखाब्जविलोकनात् । तस्यासीन्महती प्रीतिः प्रेम्णे वस्त्विष्टमाश्रितं ॥२॥ तन्मुखाब्जाद्रसामोदमाहरन्नातृपन्नृपः । मधुव्रत इवांभोजात्कामसेवा न तृप्तये ॥ ३ ॥

हुये तथा हजारों राजाओंके द्वारा प्राप्त हुये अनेक कल्याण परंपराओंका अनुभव करते हुये और प्रियपत्नी श्रीमतीके साथ अनेकप्रकारके भोगोंका अनुभव करते हुये वज्रजंघने अनेक दिनोंतक उस पुंडरीकिणी नगरीमें निवास किया था ॥ ३१८ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें वज्रजंघ और श्रीमतीके समागमवाला यह सातवां पर्व समाप्त हुआ

अथ अष्टम पर्व ।

विवाह हो जानेके अनंतर वज्रजंघ राजकुमारने निरंतर उत्सव होनेवाले चक्रवर्तीके राजमहलमें बहुत दिनोंतक निवास किया था, वह वहां अनंत भोगोपभोगसंपदाओंके द्वारा अनेकप्रकारके भोगोपभोगोंका अनुभव करता था ॥ १ ॥ श्रीमतीके कठिनस्तनोंका स्पर्श करनेसे तथा उसके मुखरूपीकमलको देखनेसे उसे बहुत ही संतोष होता था। सो ठीक ही है इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर किसे संतोष नहीं होता है ॥ २ ॥ जैसे भ्रमर कमलसे रस ग्रहण करता हुआ कभी तृप्त नहीं होता उसीप्रकार वह राजकुमार भी श्रीमतीके मुखरूपीकमलसे रसका आनंद ग्रहण करता हुआ तृप्त नहीं होता था। सो ठीक ही

मुखेंदुमस्याः सो पश्यान्निर्निमेषोत्कया दृशा। कांतिमद्दशनज्योतिर्ज्योत्स्नया सततोज्ज्वलं ॥ ४ ॥ अपांगवीक्षितैर्लीलास्मितैश्च कलभाषितैः। मनो बबंध सा तस्य स्वासिन्नत्यंतबंधुरैः ॥ ५ ॥ त्रिवलीवीचिरम्येसौ नाभिकावर्त्तशोभिनि। उदरे कृशमध्याया रेमे नद्या इवाह्रदे ॥ ६ ॥ नितंबपुलिने तस्याः स चिरं धृतिमातनोत् । कांचीविहंगविरुते रम्ये हंसयुवायितः ॥ ७ ॥ तत्स्तनांशुकमाहृत्य तत्र व्यापारयन्करं। मदेभ इव सोभासीत्पद्मिन्याः कुड्मलं स्पृशन् ॥ ८ ॥ स्तनचक्राह्वये तस्याः श्रीखंडद्रवकर्दमे। उरःसरसि रेमेऽसौ सत्कुचांशुकशैवले ॥९॥ मृदुबाहुलते कंठे गाढमासज्य सुंदरी। कामपाशायिते तस्य मनोबध्नान्मनस्विनी ॥ १० ॥ मृदुपाणितले स्पर्शं रसगंधौ मुखांबुजे । शब्दमालपिते

है कामसेवनसे कभी तृप्ति नहीं होती है ॥ ३ ॥ श्रीमतीका मुखरूपी चंद्रमा उसके कांतियुक्त दांतोंके प्रकाशरूपी चांदनीसे सदा उज्ज्वल रहता था और इसलिये ही उसे राजकुमार बज्रजंघ टिमिकाररहित उत्कंठित दृष्टिसे देखता रहता था ॥ ४ ॥ श्रीमतीने अत्यंत मनोहर कटाक्ष, लीलापूर्वक मृदु हास्य और मनोहर मधुर भाषणोंके द्वारा बज्रजंघका चित्त अपने स्वाधीन करलिया था ॥ ५ ॥ जैसे जिस नदीका मध्यभाग कृश होगया है ऐसी नदीके किसी गहरे कुंडमें लोग क्रीडा किया करते हैं उसीप्रकार वह बज्रजंघ त्रिवलीरूपी लहरोंसे शोभायमान और नाभिरूपी भ्रमरोंसे सुशोभित ऐसे कृशीभूत मध्यभाग युक्त श्रीमतीके उदरपर क्रीडा करता था ॥ ६ ॥ अथवा राजहंसके समान वह बज्रजंघ करधनीरूपी पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे शब्दायमान और अतिसुंदर ऐसे उस श्रीमतीके नितंबरूपी तटभागपर बहुत देरतक संतुष्ट रहता था ॥ ७ ॥ तथा उसके स्तनभागसे वस्त्र हटाकर उसपर हाथ फेरता हुआ वह ऐसा सुशोभित होता था जैसे कमलिनीकी कलीको स्पर्श करता हुआ मदोन्मत्त हाथी शोभायमान होता है ॥ ८ ॥ श्रीमतीका वक्षःस्थल एक सरोवरके समान शोभायमान हो रहा था क्योंकि वहां स्तनरूपी चक्रवाक पक्षी उपस्थित थे वक्षःस्थलपर लगी हुई घिसी केशर ही कीचड़ थी और कुचोंपर पड़ाहुआ हरे रंगका वस्त्र ही शैवाल था उसी सरोवरपर वह बज्रजंघ क्रीडा किया करता था ॥ ९ ॥ सदा सुखी

तस्यास्तनौ रूपं निरूपयन् ॥ ११ ॥ सुचिरं तर्पयामास सोऽक्षग्राममशेषतः । सुखमैंद्रियकं प्रेप्सोर्गतिर्नातः परांगिनः ॥ १२ ॥ कांचीदाममहानागसंरुद्धेऽन्यैर्दुरासदे । रेमे तस्याः कटिस्थाने महतीव निधानके ॥ १३ ॥ कचग्रहैर्मृदीयोभिः कर्णोत्पलविताडितैः । अभूत्प्रणयकोपोऽस्या यूनः प्रीत्यै सुखाय च ॥ १४ ॥ गलिताभरणन्यासे रतिघर्मांबुकर्दमे । तस्यासीद्धृतिरंगेऽस्याः सुखोत्कर्षः स कामिनां ॥ १५ ॥ सौधवातायनोपांतकृतशय्यौ रतिश्रमं । अपनिन्यतुरास्पृष्टौ तौ शनैर्मृदुमारुतैः ॥१६॥ तस्या मुखेंदुराल्हादं लोचने नयनोत्सवं। स्तनौ स्पर्शसुखासंगमस्य तेनुर्दुरासदं

रहनेवाली उस सुंदरी श्रीमतीने कामपाशके समान अपनी कोमल भुजलताओंको वज्रजंघके गलेमें डालकर उसका मन अपने वश कर लिया था ॥ १० ॥ राजकुमार वज्रजंघ श्रीमतीकी कोमल हथेलीके स्पर्शसे स्पर्शनेंद्रियके सुखका अनुभव करता था, उसके मुखरूपी कमलसे मधुररस और सुगंधिका आस्वादन लेता हुआ रसना और घ्राण इंद्रियको तृप्त करता था, उसके मधुर शब्द सुनकर कर्णोंको तृप्त करता था और शरीरका रूप देखकर नेत्रोंको तृप्त करता था इसप्रकार वह अपनी पाचों इंद्रियोंको चिरकालतक तृप्त करता रहता था। सो ठीक ही है ऐंद्रियक सुख चाहनेवाले जीवोंको इसके सिवाय अन्य कोई उपाय ही नहीं है ॥ ११-१२ ॥ करधनीरूपी महासर्पसे घिरे हुये और इसलिये ही अन्यपुरुषोंकेद्वारा अप्राप्य ऐसे किसी वड़े खजानेके समान उसके कटिभागपर भी वह वज्रजंघ क्रीडा करता था॥१३॥ अत्यंत कोमल केशोंके पकड़नेसे तथा कोमल कर्णफूल रूपी कमलोंकी ताड़नासे श्रीमतीको जो प्रणयकोप होता था उससे वज्रजंघको वहुत ही संतोष और सुख होता था ॥ १४ ॥ जिसके आभरण सब शिथिल होगये हैं तथा जो रतिसमयके प्रस्वेदबिंदुओंसे कर्दमयुक्त होगया है ऐसे श्रीमतीके शरीरमें भी वह वज्रजंघ संतुष्ट रहता था। सो ठीक ही है कामीजनोंको ऐसा शरीर ही सुखप्रद होता है। भवार्थ- ऐसे ग्लानियुक्त शरीरसे वैराग्य उत्पन्न होना चाहिये परंतु कामीजनोंको उसमे वैराग्य न होकर उलटा सुख होता है यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ १५ ॥ राजमहलमें झरोखेके समीप ही इन

॥ १७ ॥ तत्कन्यामृतमासाद्य दिव्यौषधमिवातुरः । स काले सेवमानोभूत्सुखी निर्मदनज्वरः ॥ १८ ॥ कदाचिन्नंदनस्पार्द्धिपरार्ध्यतरुशोभिषु । गृहोद्यानेषु रेमेसौ कांतयामा महर्द्धिषु ॥ १९ ॥ कदाचिद्बहिरुद्याने लतागृहविराजिनि । क्रीडाद्रिसहितेदव्यिात्प्रियया स समुत्सुकः ॥ २० ॥ नदीपुलिनदेशेषु कदाचिद्विजहार सः । स्वयं गलितसंफुल्ललताकुसुमशोभिषु ॥ २१ ॥ कदाचिद्दीर्घिकांभस्सु जलक्रीडां समातनोत् । मकरंदरजःपुंजपिंजरेषु स सप्रियः ॥ २२ ॥ चामीकरमयैर्यंत्रैर्जलकेलिविशावसौ । प्रियामुखाब्जमंभोभिरसिंचत्कोणितेत्तणं ॥ २३ ॥ साप्यस्य मुखमासेक्तुं

दोनोंकी शय्या थी झरोखेसे मंद मंद वायु आती थी जिससे उनका रतिश्रम दूर होता था ॥ १६ ॥ श्रीमतीके मुखरूपी चंद्रमासे वज्रजंघको अत्यंत आनंद होता था उसके नेत्रोंसे नेत्रोंको सुख मिलता था और उसके स्तनोंसे स्पर्शसुखका अपूर्व आनंद प्राप्त होता था ॥ १७ ॥ जैसे कोई रोगी पुरुष दिव्य औषधि पाकर और उसे समयपर सेवनकर सुखी होता है उसीप्रकार वह वज्रजंघ भी उस कन्यारूपी अमृतको पाकर और उसे समयानुसार सेवनकर कामज्वरसे मुक्तहोकर सुखी हुआ था ॥ १८ ॥ वह राजकुमार वज्रजंघ कभी तो नंदनबनकी स्पर्द्धा करनेवाली उत्तमवृक्षोंकी शोभासे सुशोभित और महा विभूति संयुक्त घरके उद्यानोंमें श्रीमतीके साथ क्रीडा करता था और ॥ १९ ॥ कभी अत्यंत उत्सुक होकर अपनी प्रियाके साथ साथ लाताओंके बने हुये घरोंसे शोभायमान और क्रीडा करनेकेलिये बने हुये कृत्रिमपर्वतोंसहित वाहरके उद्यानोंमें क्रीडा करता था ॥ २० ॥ वसंतऋतुमें कभी वह लताओंसे गिरे हुये खिले हुये फूलोंसे शोभायमान नदियोंके तटभागपर विहार करता था ॥ २१ ॥ और ग्रीष्म ऋतुमें कभी २ अपनी प्रियाके साथ कमलोंकी परागरजके समूहसे कुछ २ पीले हुये वावडीके जलमें जलक्रीड़ा करता था ॥ २२ ॥ कभी वह जलक्रीडा करते समय जलयंत्रोंसे (पिचकारियोंसे) गिरे हुये स्वेत चमरके समान सुशोभित जलसे किंचित् संकुचितयुक्त प्रियाके मुखरूपी कमलको सिंचन करता था ॥ २३ ॥ उससमय श्रीमती भी उसका मुख सिंचन करनेकेलिये इच्छा करती थी परंतु वह उसे

कृतवांछापि नाशकत् । स्तनांशुके गलत्याविर्भवद्व्रीडापराङ्मुखी ॥ २४ ॥ जलकेलिविधौ तस्या लग्नं स्तनतटेंऽशुकं । चलच्छाया दधे श्लक्ष्णं स्तनशोभामकर्षयत् ॥ २५ ॥ स्तनकुड्मलसंशोभा मृदुबाहुमृणालिका । सा दधे नालिनीशोभां मुखांबुजविराजिनी ॥२६॥ कर्णोत्पलं स्वमित्यस्या विलोलैरादधे जलैः । तन्मुखांबुरुहच्छायां स्वाब्जैर्जेतुमिवाक्षमैः ॥२७॥ धारागृहे स निपतद्धाराबद्धघनागमे । प्रियया विद्युतेवोच्चैश्चिक्रीड सुखनिर्वृतः ॥२८॥ कदाचित्सौधपृष्ठेषु तारकाप्रतिबिंबितैः । कृताच्चनेष्वसौ रेमे ज्योत्स्नां रात्रिषु निर्विशन् ॥२९॥ इति तत्र चिरं भोगैरुपभोगैश्च हारिभिः ।

सिंचन कर नहीं सकती थी क्योंकि ज्यों ही वह सिंचन करनेकेलिये तैयार होती थी त्यों ही उसके स्तनभागका वस्त्र गिरजाता था और वह लज्जित होकर उसकार्यसे विमुख हो जाती थी ॥ २४ ॥ जलक्रीडा करते समय श्रीमतीके स्तनभागपर जो महीन वस्त्र पानीसे भीगकर चिपक गया था वह स्तनोंकी और अधिक शोभा बढ़ाता हुआ जलकी छायाके समान सुशोभित होता था ॥ २५ ॥ इसके स्तन कलियोंके समान सुशोभित होते थे कोमल भुजायें कमलनालके समान थीं और मुख कमलके समान जलके ऊपर शोभायमान था इसप्रकार पानीमें खड़ीहुई वह श्रीमती कमलिनीके (कमलकी वेल) समान सुशोभित होती थी ॥ २६ ॥ अपने कमल श्रीमतीके मुखकमलकी शोभा जीत नहीं सकते हैं यह समझकर मानों तरंगोंके द्वारा हिलते हुये चंचल जलने श्रीमतीके कानोंमें लगे हुये कमलोंको अपने समझ कर हरण करलिये थे। भवार्थ—चंचलजलमें कानोंमें लगे हुये कमलोंकी परछाहीं पड़ती थी उसे देखकर ही आचार्यने ऊपर लिखी उत्प्रेक्षा की है ॥ २७ ॥ ऊपरसे पड़ती हुई जलधारासे जिसमें वर्षा ऋतु ही जान पड़ती है ऐसे लतामंडपसे बने हुये धारागृहमें विजलीके समान प्रतिभासित होनेवाली श्रीमतीके साथ साथ वह राजकुमार वज्रजंघ सुख पूर्वक क्रीडा करता था ॥ २८ ॥ और कभी शरद ऋतुमें फूलोंके द्वारा की हुई पूजाके समान ताराओंसे प्रतिबिंबित स्फाटिकमणिकी बनी हुई राजमहलकी छतपर रात्रियोंमें चांदनीका अनुभव करता हुआ क्रीड़ा करता था ॥ २९ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे अनुसार स्वर्गोंके भोगोंसे भी

वधूवरमरंस्तैतत्स्वर्गभोगातिशायिभिः ॥ ३० ॥ तयोस्तथाविधैर्भोगैर्जिनेंद्रमहिमोत्सवैः । पात्रदानविनोदैश्च तत्र कालोगमद्बहुः ॥ ३१ ॥ तस्य प्रसादलाभेन तयोर्नित्यमहोत्सवैः । पुत्रोत्पत्यादिसर्गैश्च स कालोविदितोगमत् ॥ ३२ ॥ वज्रजंघानुजां कन्यामनुरूपामनुंधरीं । वज्रबाहुर्विभूत्यासावदितामिततेजसे ॥ ३३ ॥ चक्रिसूनुं तमासाद्य सुतरां पिप्रिये सती । अनुंधरी नवोढासौ वसंतमिव कोकिला ॥ ३४ ॥ अथ चक्रधरः पूजासत्कारैरभिपूजितं । स्वपुरं प्रतियानाय व्यसृजत्तद्वधूवरं ॥ ३५ ॥ हस्त्यश्वरथपादातं रत्नं देशं सकोशकं । तदान्वायिनिकं पुत्र्यै ददौ चक्र-

अत्यंत मनोहर ऐसे भोग और उपभोगोंको अनुभव करते हुये वे दोनों वर बधू चिरकालतक क्रीड़ा करते हुये निवास करते थे ॥ ३० ॥ ऊपर कहे अनुसार भोगोंका अनुभव करते हुये जिनेंद्रदेवकी पूजा आदि अनेक उत्सव और पात्रदान आदि अनेक मंगलकार्य करते हुये उन दोनोंका बहुतसा समय वहीं व्यतीत हो गया था ॥ ३१ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा आदि होनेवाले अनेक उत्सवोंसे उन दोनोंका चित्त सदा प्रसन्न रहता था तथा पुत्रोत्पत्ति आदिके भी अनेक उत्सव होते थे जिससे उन दोनोंको व्यतीत होता हुआ समय भी जान नहीं पड़ता था ॥ ३२ ॥

अनुंधरी नामकी वज्रजंघकी एक छोटी बहिन थी जो कि वज्रजंघके समान ही सुंदरी थी वह राजा वज्रवाहुने बड़ी विभूतिके साथ चक्रवर्तीके वडे पुत्र अमिततेजकेलिये दे दी थी ॥ ३३ ॥ जैसे बसंतऋतुको पाकर कोयल प्रसन्न होती है उसीप्रकार वह सती नवोढा अनुंधरी चक्रवर्तीके पुत्र अमिततेजका समागम पाकर बहुत ही संतुष्ट हुई थी ॥ ३४ ॥ इसप्रकार चक्रवर्ती जब सब कार्य कर चुका और राजा वज्रबाहुने घर जानेकेलिये आज्ञा मांगी तब उसने वज्रवाहुके साथ आनेवाले सब लोगोंका तथा वधूवरका यथायोग्य आदरसत्कारकर सबको विदा किया था ॥ ३५ ॥ उससमय चक्रवर्तीने अपनी पुत्री श्रीमतीकेलिये हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, रत्न, देश और खजाना आदि वंशपरंपरासे चलाआया बहुतसा धन दिया था ॥ ३६ ॥ इधर जब नगरवासियोंने वज्रजंघके गमन करनेके चोभका-

धरो महत् ॥ ३६ ॥ अथ प्रयाणसंक्षोभाद्दंपत्योस्तत्पुरं तदा । परमाकुलतां भेजे तद्गुणैरुन्मनायितं ॥ ३७ ॥ ततः प्रस्थानगंभीरभेरीध्वानैः शुभे दिने । प्रयाणमकरोच्छ्रीमान्वज्रजंघः सहांगनः ॥३८॥ वज्रबाहुमहाराजो देवी चास्य वसुंधरा । वज्रजंघं सपत्नीकं व्रजंतमनुजग्मतुः ॥ ३९ ॥ पौरवर्गं तथा मंत्रिसेनापतिपुरोहितान् । सोनुव्रजतुमायातान्नातिदूराद्व्यसर्जयत् ॥ ४० ॥ हस्त्यश्वरथभूयिष्ठं साधनं सहपात्तिकं । संवाहयत्स संप्रापत्पुरमुत्पलखेटकं ॥ ४१ ॥ परार्ध्यरचनोपेतं सोत्सवं प्रविशन्पुरं । पुरंदर इवाभासीद्वज्रजंघोमितद्युतिः ॥ ४२ ॥ पौरांगना महावीथीविशंतं तं प्रियान्वितं । सुमनोऽञ्जलिभिः प्रीत्या चिकिरुः सौधसंश्रिताः ॥ ४३ ॥ पुष्पाक्षतयुतां पुण्यां शेषां पुण्याशिषा समं । प्रजाः समंततोऽभेत्य

रक समाचार सुने तब वे उनके गुणोंसे उत्कंठित होकर बड़े ही व्याकुल हो उठे थे ॥ ३७ ॥ निदान किसी शुभदिन श्रीमान् राजा वज्रजंघने अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ २ तथा प्रस्थानसमयमें होनेवाले भेरियोंके गंभीर शब्दोंके साथ २ उस नगरसे प्रस्थान किया था ॥३८॥ अपनी पत्नी श्रीमतीसहित राजकुमार वज्रजंघ आगे आगे चलता था और महाराज वज्रबाहु अपनी देवी बसुंधरासहित उनके पीछे २ चलते थे ॥ ३९ ॥ अनेक नगरवासी लोग तथा मंत्री सेनापति पुरोहित आदि राजकुमारने नगरके थोड़ी ही दूर वाहर जाकर सबको वापिस बिदा कर दिया था ॥४०॥ हाथी घोड़े रथ पियादे आदिकी बड़ी भारी सेना साथ लेकर वह बहुत शीघ्र अपने उत्पलखेटक नगरमें जा पहुंचा ॥४१॥ इसके आनेके समाचार सुनकर नगरकी बड़ी भारी सजावट की गई थी लोग अनेकप्रकारके उत्सव मना रहे थे ऐसे नगरमें प्रवेश करता हुआ और अतिशय कांतियुक्त राजकुमार वज्रजंघ ठीक इंद्रके समान सुशोभित होता था ॥ ४२ ॥ जिससमय वज्रजंघने श्रीमतीसहित राजमार्गमें प्रवेश किया था उससमय नगरमें रहनेवाली अनेक स्त्रियोंने अपने २ महलकी छतोंपर खड़े होकर बड़े प्रेमके साथ उन दोनोंपर फूलोंकी वर्षा की थी ॥४३॥ उससमय चारोंओरसे प्रजाके अनेक लोग आते थे और शुभ आशीर्वादके साथ २ पुष्प और अक्षतोंसे मिला हुआ पुण्यरूप अपना २ प्रसाद (वधाईके पुष्पाक्षत) उन दोनों वर वधु-

दंपती तावलंभयन् ॥ ४४ ॥ ततः प्रहतगंभीरपटहध्वानसंकुलं । पुरमुत्तोरणं पश्यन्स विवेश नृपालयं ॥ ४५ ॥ तत्र श्रीभवने रम्ये सर्वर्तुसुखदायिनि । श्रीमत्या सह संप्रीत्या वज्रजंघोऽबसत्सुखं ॥ ४६ ॥ स राजसदनं रम्यं प्रीत्यामुष्यै प्रदर्शयन् । तत्र तां रमयामास खिन्नां गुरुवियोगतः ॥ ४७ ॥ पंडिता सममायाता सखीनामग्रणीः सती । तामसौ रंजयामास विनोदैर्नर्तनादिभिः ॥४८॥ भोगैरनारतैरेवं काले गच्छत्यनुक्रमात् । श्रीमती सुषुवे पुत्रान्व्येकपंचाशतं यमान् ॥ ४९ ॥ अथान्येद्युर्महाराजो वज्रबाहुर्महाद्युतिः । शरदंबुधरोत्थानं सौधाग्रस्थो निरूपयन् ॥ ५० ॥ दृष्ट्वा तद्विलयं सद्यो निर्वेदं परमागतः । विरक्तस्यास्य चित्तेऽभूदिति चिंता गरीयसी ॥ ५१ ॥ पश्य न. पश्यतामेव कथमेष शरद्-

ओंके समीप पहुंचाते थे ॥ ४४ ॥ इसप्रकार सबका किया हुआ आदरसत्कार स्वीकार करते हुये और नगरकी शोभा देखते हुये वज्रजंघने वजते हुये नगाड़ोंके गंभीर शब्दोंसे शब्दायमान और ऊंचे २ तोरणोंसे शोभायमान ऐसे राजमहलमें प्रवेश किया ॥ ४५ ॥ वह राजमहल बड़ा ही सुशोभित था बड़ा ही सुंदर था और सब ऋतुओंके सुख देनेवाले सामान उसमें उपस्थित थे । उसी राजमहलमें वह राजकुमार वज्रजंघ श्रीमतीके साथ २ बड़े प्रेम और बड़े सुखसे निवास करता था ॥ ४६ ॥ यद्यपि पिताके वियोगसे श्रीमतीको कुछ दुःख हुआ था परंतु वज्रजंघ बड़े प्रेमसे अतिमनोहर राजमहलोंको दिखलाकर उसे वहीं प्रसन्न रखता था ॥ ४७ ॥ सब सखियोंमें मुख्य सखी सती पंडिता भी उसके साथ आई थी वह भी नृत्य आदि अनेकप्रकारके विनोदोंसे उसे प्रसन्न किया करती थी ॥ ४८ ॥ इसप्रकार निरंतर भोगोपभोगोंका अनुभव करते हुये उन दोनोंका समय व्यतीत होता चला जाता था । इसी लंबे समयमें श्रीमतीसे अनुक्रमसे अठानवे पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ ४९ ॥

किसी एकदिन महा देदीप्यमान महाराज वज्रवाहु अपने राजमहलकी छतपर बैठे हुये शरद ऋतुके उठे हुये बादलोंकी शोभा देख रहे थे ॥ ५० ॥ जिस बादलको वे देख रहे थे वह उनके देखते २ ही नष्ट होगया था उसे नष्ट होता देखकर महाराज वज्रवाहुको उसीसमय वैराग्य उत्पन्न हुआ था उसी-

घनः । प्रासादाकृतिरुद्भूतो विलीनश्च क्षणांतरे ॥५२॥ संपदश्रविलायं नः क्षणादेषा विलास्यते । लक्ष्मीस्तटिद्विलोलेयमित्वर्यो यौवनाश्रियः ॥५३॥ आपातमात्ररम्याश्च भोगाः पर्यंततापिनः । प्रतिक्षणं गलत्यायुर्गलन्नालिजलं यथा ॥ ५४ ॥ रूपमारोग्यमैश्वर्यमिष्टबंधुसमागमः । प्रियांगना रतिश्चेति सर्वमप्यनवस्थितं ॥ ५५ ॥ विचिंत्येति चलां लक्ष्मीं प्रजिहासुः सुधीरसौ । अभिषिच्य सुतं राज्ये वज्रजंघमतिष्ठिपत् ॥ ५६ ॥ स राज्यभोगनिर्विण्णास्तूर्णं यमधरांतिके । नृपैः सार्द्धं सहस्रार्द्धमितैर्दीक्षामुपाददे ॥ ५७ ॥ श्रीमतीतनयाश्चामी वीरबाहुपुरोगमाः । समं राजर्षिणा·

समय वे सब संसारके भोगोंसे विरक्त हुये थे और उनके चित्तमें नीचे लिखी हुई बड़ी भारी चिंता उत्पन्न हुई थी ॥ ५१ ॥ उस समय वे सोचने लगे थे कि देखो हमारे देखते २ यह शरद ऋतुका बादल कैसा राजमहलके आकारका दिखाई दियाथा और क्षणभरमें हमारे देखते २ ही नष्ट होगया ॥ ५२ ॥ ठीक इसीप्रकार यह संपदा भी क्षणनश्वर है क्षणभरमें नष्ट हो जायगी । यह लक्ष्मी विजलीके समान चंचल है यह यौवनकी शोभा भी थोड़ेदिन ही रहकर चली जाती है ॥ ५३ ॥ ये भोग सेवन करतेसमय ही मनोहर जान पड़ते हैं परंतु फल देते समय बड़ा ही दुःख देते हैं । जैसे अरहटकी घड़ीका जल प्रतिक्षण नष्ट होता है उसी प्रकार यह आयु भी प्रतिक्षण नष्ट होती चली जाती है ॥ ५४ ॥ रूप, आरोग्य, ऐश्वर्य इष्टवंधुओंका समागम और प्रियांगनाप्रेम आदि सब कुछ क्षणनश्वर है ॥ ५५ ॥ इसप्रकार विचारकर तथा लक्ष्मीको चंचल समझकर और उसे छोड़नेकी इच्छाकर उस बुद्धिमानने अपने पुत्र वज्रजंघका राज्याभिषेककर उसे राज्यसिंहासनपर विठाया ॥ ५६ ॥ और स्वयं राज्य और भोगोंसे विरक्त होकर श्रीयमधरमुनिके समीप पहुंचे और पांचसौ राजाओंके साथ २ उनसे श्रीजैनेश्वरी दीक्षा धारण की ॥ ५७ ॥ उसीसमय वीरवाहु आदि श्रीमतीके अठानवे पुत्रोंने भी श्रीवज्रवाहु राजऋषिके साथ २ दीक्षा ग्रहण की थी ॥ ५८ ॥ श्रीवज्रवाहुमुनिराजने अनेक कर्मोंके नाश होनेसे परम शुद्ध हुये ऐसे वीरबाहु आदि मुनियोंके साथ अनेक दिनोंतक विहार किया और फिर अनुक्रमसे केवलज्ञान

नेन तदा संयमिनोभवन् ॥ ५८ ॥ यमैः सममुपारूढशुद्धिभिर्विहरन्नसौ । क्रमादुत्पाद्य कैवल्यं परं धाम समासदत् ॥ ५९ ॥ वज्रजंघस्ततो राज्यसंपदं प्राप्य पैतृकीं । निरविक्षच्चिरं भोगान्प्रकृतीरनुरंजयन्॥ ६० ॥ अथान्यदा महाराजो वज्रदंतो महर्द्धिकः । सिंहासने सुखासीनो नरेंद्रैः परिवेष्टितः ॥ ६१ ॥ तदासीनस्य चोद्यानपाली विकासितं नवं । सुगंधिपद्ममानीय तस्य हस्ते ददौ मुदा ॥ ६२ ॥ पाणौ कृत्य तदाजिघ्रन्स्वाननामोदसुंदरं । संप्रीतः करपद्मेन सविभ्रममविभ्रमन् ॥ ६३ ॥ तद्गंधलोलुपं तत्र रुद्धं लोकांतराश्रितं । दृष्ट्वालिं विषयासंगाद्विरराम सुधीरसौ ॥ ६४ ॥ अहो मदालिरेषोत्र गंधाकृष्टो रसं पिबन् । दिनापाये निरुद्धोऽभूद्धयसुर्धिग्विषयैषितां ॥ ६५ ॥ विषया विषमाः पाके

प्राप्तकर सिद्धपद प्राप्त किया ॥ ५९ ॥ इधर महाराज वज्रजंघ वंश परंपरासे चलीआई राज्यसंपदाको पाकर प्रजाको प्रसन्न करता हुआ अनेकप्रकारके भोग भोगने लगा था ॥ ६० ॥

किसी एक दिन अनेक ऋद्धियोंसे सुशोभित तथा अनेक राजाओंसे वेष्ठित महाराज वज्रदंत अपने सिंहासन पर बड़े आनंदसे वैठा हुआ था ॥ ६१ ॥ कि इतनेमें ही बनका माली तुरंतका खिला हुआ एक सुगंधित कमल लाया और बड़े हर्षसे महाराजके करकमलोंमें उसे अर्पण किया ॥६२॥ अपने मुखपरकी सुगंधिसे वह कमल बहुत ही सुंदर था महाराजने उसे अपने हाथमें लिया और अपने करकमलसे उसे फिराता हुआ तथा आश्चर्य करता हुआ बड़ी प्रसन्नताके साथ वह उसे सूंघ रहा था ॥ ६३ ॥ सूंघते सूंघते उसने देखा कि कमलकी सुगंधिका लोलुपी एक भ्रमर उसमें मरा हुआ पडा है। उसे देखकर उस बुद्धिमानको विषयभोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥ ६४ ॥ और वह विचार करने लगा कि देखो यह मदोन्मत्त भ्रमर इसकी सुगंधसे आसक्त होकर इसमें आया था और रस पीते २ ही सूर्य अस्त होनेसे वह इसमें घिर गया और मरगया ऐसी विषयलोलुपताको भी धिक्कार हो ॥ ६५ ॥ ये विषयभोग ठीक किंपाकफलके (इंद्रायण) समान विषम हैं सेवन करते समय तो ये अच्छे लगते हैं परंतु फल देते समय अत्यंत दुःख देनेवाले अनिष्ट फल देते हैं इसलिये इन्हें बार बार धिक्कार है ॥ ६६ ॥

किंपाकसदृशा इमे । आपातरम्या धिगिमाननिष्टफलदायिनः ॥ ६६ ॥ अहो धिगस्तु भोगांगमिदमंगं शरीरिणां । विलीयेत शरन्मेघविलायमतिपेलवं ॥ ६७ तडिदुन्मिषिता लोला लक्ष्मीराकालिकं सुखं । इमाः स्वप्नार्द्धिदेशीया विनश्वर्यो धनर्द्धयः ॥ ६८ ॥ भोगान्भो गाढमीहंते कथमेतान्मनस्विनः । ये विलोभयितुं जंतूनायांति च वियंति च ॥ ६९ ॥ वपुरारोग्यमैश्वर्यं यौवनं सुखसंपदः । वस्तुवाहनमन्यच्च सुरचापवदस्थिरं ॥ ७० ॥ तृणाग्रलग्नवार्बिंदुर्विनिपातोन्मुखो यथा । तथा प्राणभृतामायुर्विलासो विनिपातुकः ॥ ७१ ॥ अग्रेसरीजरातंकाः पार्ष्णिग्राहास्तरस्विनः । कषायाटविकैः सार्द्धं यमराड्डमरोद्यमी ॥७२॥ अक्षग्रामं दहंत्येते संतर्षविषमार्च्चिषा । विषया विषमोत्थानवेदना लूषयंत्यसून् ॥७३॥

विषय भोगोंको सेवन करनेवाले प्राणियोंके इस शरीरको भी बार बार धिक्कार हो । क्योंकि यह शरीर भी अत्यंत अस्थिर है शरद ऋतुके मेघके समान नश्वर है किसी न किसी दिन अवश्य ही नष्ट होता है ॥ ६७ ॥ यह हाथी घोड़े आदि राज्यसंपदा विजलीके समान चंचल है इंद्रियसंबंधी सुख भी अस्थिर हैं यह धन ऐश्वर्य आदिक भी स्वप्नमें प्राप्त हुई संपत्तिके समान शीघ्र ही नाश होनेवाला है ॥ ६८ ॥ भो विद्वज्जन हो तुम लोग इन भोगोंके सेवन करनेकी इच्छा क्यों करते हो ये भोग तो केवल संसारी प्राणियोंको लोभ उत्पन्न करानेकेलिये आते हैं और उन्हें मोहितकर तुरंत ही चले जाते हैं ॥ ६९ ॥ शरीर, आरोग्य, ऐश्वर्य, यौवन, सुखसंपत्ति, यान, वाहन, रत्न आदि संसारके सब पदार्थ इंद्रधनुषके समान अस्थिर हैं ॥ ७० ॥ जैसे तृणके अग्रभागपर लगा हुआ जलका विंदु शीघ्र ही नष्ट हो जाता है उसीप्रकार यह प्राणियोंके आयुका विलास भी क्षणनश्वर है ॥ ७१ ॥ वृद्धावस्थाको आगे कर तथा अनेक रोगरूपी योद्धाओंको अपने चारोंओरकर और कषाय रूपी भीलोंको साथ लेकर यह यमराज संसारी जीवोंके साथ अब युद्ध करनेकेलिये तैयार हुआ है अर्थात् अब यह अवश्य ही सबका प्राणनाश करेगा ॥ ७२ ॥ ये विषय वांछारूपी विषम वन्हिके द्वारा इंद्रियोंको जला देते हैं और विषमरूपसे उत्पन्न हुई यह वेदना प्राणोंको चुरालेती है ॥ ७३ ॥ इस संसारमें प्राणियोंको सुख तो बहुत थोडा है

प्राणिनां सुखमल्पीयो भूयिष्ठं दुःखमेव तु । संसृतौ तदिहाश्वासः कस्कः कौतस्कुतोथवा ॥ ७४ ॥ तनुमान्विषयानीप्सन्क्लेशैः प्रागेव ताम्यति । भुंजानस्तृप्त्ययोगेन वियोगेनुशयानकः ॥ ७५ ॥ यदद्याढ्यतरं तृप्तं श्वस्तदाढ्यचरं भवेत् । यच्चाद्य व्यसनैर्भुक्तं तत्कुलं श्वोवसीयसं ॥ ७६ ॥ सुखं दु खानुबंधीदं सदा सानिधनं धनं । संयोगा विप्रयोगांता विपदंताश्च संपदः ॥ ७७ ॥ इत्यशाश्वतिकं विश्वं जीवलोकं विलोकयन् । विषयान्विषवन्मेने पर्यंताविरसानसौ ॥ ७८ ॥ इति निर्विद्य भोगेषु साम्राज्यभरमात्मन. । सूनवेऽमिततेजोऽभिधानाय स प्रदित्सति ॥ ७९ ॥ प्रादित्सतामुना राज्यं भूयोभूयोनुबध्नता । समादिष्टोऽप्यसौ नैच्छत्सानुजो राज्यसंपदं ॥ ८० ॥ स देव यदिदं राज्यं युष्माभिः प्राजिहासितं ।

और दुःख बहुत भारी है । तब फिर इस संसारमें विश्वास कैसा ? अथवा क्यों करना चाहिये ॥ ७४ ॥ विषयोंकी इच्छा करता हुआ यह प्राणी प्रथम ही तो अनेक क्लेशोंको सहन करता हुआ दुःखी हो लेता है । यदि कदाचित दैवयोगसे विषयोंकी प्राप्ति भी हो जाय तो फिर यह उन्हें सेवन करता हुआ कभी तृप्त ही नहीं होता इतनेमें ही नाशमान स्वभावहोनेसे उनका वियोग हो जाता है तब फिर यह प्राणी सदा पश्चात्ताप किया करता है ॥ ७५ ॥ जो कुल आज ऐश्वर्यशाली गिना जाता है वह दूसरे दिन ही दरिद्र हो जाता है और जो कुल आज अत्यंत दुःखी है वह दूसरे दिन ही अत्यंत सुखी माना जाता है ॥ ७६ ॥ यह सांसारिक सुख अवश्य ही दुःख उत्पन्न करनेवाला है धन भी अवश्य नष्ट होनेवाला है संयोगके बाद वियोग अवश्य होता है और संपत्तियोंके बाद ही आपत्तियां आती हैं ॥ ७७ ॥ इस प्रकार उस वज्रदंत चक्रवर्तीको यह समस्त संसार अनित्य दिखाई पड रहा था और अंतमें नीरस होनेवाले ये विषय विषके समान जान पडते थे ॥ ७८ ॥ इसप्रकार वह भोगोंसे विरक्त होकर अपने राज्यका भार अपने पुत्र अमिततेजको देना चाहता था ॥ ७९ ॥ राज्य देनेकेलिये उससे बार वार आग्रह भी किया गया था तथापि वह राज्य लेनेकेलिये राजी नहीं हुआ । इसके राजी न होनेपर अन्य पुत्रोंसे कहा गया परंतु वे भी उसे स्वीकार करनेकेलिये राजी न हुये ॥ ८० ॥ और सब एक साथ कहने लगे

नेच्छाम्यलमनेनार्य मा भूदाज्ञाप्रतपिता ॥ ८१ ॥ युष्माभिः सममेवाहं प्रयास्यामि तपोवनं । यौष्माकीया गतिः सैवे ममापीत्यभणीद्गिरं ॥ ८२॥ ततस्तान्निश्चयं ज्ञात्वा राज्यं तत्सूनवे ददौ । पुंडरीकाय बालाय संतानस्थितिपालिने ॥ ८३ ॥ स यशोधरयोगींद्राशिष्यं गुणधरं श्रितः । सपुत्रदारो राजर्षिरदीक्षिष्ट नृपैः समं ॥ ८४ ॥ देव्यः षष्टिसहस्राणि तत्त्र्यंशप्रमिता नृपाः । प्रभुं तमन्वदीक्षंत सहस्रं च सुतोत्तमाः ॥८५॥ पंडितापि तदात्मानुरूपां दीक्षां समाददे । तदेव ननु पांडित्यं यत्संसारात्समुद्धरेत् ॥ ८६ ॥ ततश्चक्रधरापायाल्लक्ष्मीमतिरगाच्छुचं । अनुंधर्या सहो-

कि हे देव यदि आप ही इस राज्यको छोडते हैं तो यह हमें भी नहीं चाहिये अब हमें इससे कुछ प्रयोजन नहीं है। हे पिता इसमें आपकी आज्ञा भंग करनेका दोष भी नहीं लग सकता है क्योंकि हम सब लोग आपके साथ साथ ही तपोवनको चलेंगे जो आपकी गति है वही हम लोगोंकी गति है ॥ ८१-८२ ॥ इसप्रकार पुत्रोंके बचनोंसे उनके विरक्त परिणामोंका दृढ़ निश्चयकर बज्रदंतने अपने राज्यका भार अमिततेजके पुत्र अल्पवयस्क पुंडरीक बालकको समर्पण कर दिया॥ ८३ ॥ और आपने राजर्षि होकर भी श्रीयशोधर तीर्थंकरके शिष्य श्रीगुणधरमुनिके समीप पुत्र स्त्री और अनेक राजाओंके साथ दीक्षा धारण की ॥ ८४ ॥ महाराज वज्रदंतके साथ साथ बीस हजार राजाओंने और एक हजार पुत्रोंने दीक्षा धारण की थी तथा साठहजार रानियोंने अर्जिकाके व्रत धारण किये थे॥८५॥ श्रीमतीकी धाय पंडिताने भी अपने योग्य दीक्षा धारण की अर्थात् शूद्री होनेके कारण वह अर्जिका नहीं हो सकी थी इसलिये सातवीं प्रतिमा धारणकर ब्रह्मचारिणी श्राविका होगई थी। सो ठीक ही है पांडित्य वही है जो संसारसे पार करदे ॥ ८६ ॥

अथानंतर जैसे सूर्यके वियोगसे नलिनीको दुःख होता है उसीप्रकार वज्रदंत और अमिततेजके वियोगसे लक्ष्मीमति और अनुंधरीको भी बहुत ही शोक हुआ था ॥ ८७ ॥ अनंतर जिन्होंने दीक्षा नहीं ली थी वे सब प्रजाके लोग मंत्रियोंके साथ २ राजपुत्र पुंडरीक बालकको साथ लेकर नगरमें आये

ष्णांशुवियोगान्नलिनी यथा ॥ ८७ ॥ पुंडरीकमथादाय बालं मंत्रिपुरस्कृतं । ते प्रविष्टाः पुरीं शोकाद्विच्छायत्वमुपागतं ॥ ८८ ॥ ततोऽभून्महती चिंता लक्ष्मीमत्या महाभरे । राज्ये बालोऽयमव्यक्तः स्थापितो नप्तृभांडकः ॥ ८९ ॥ कथं नु पालयाम्येनं विना पक्षबलादहं । वज्रजंघस्य तन्मूलं प्रहिणोम्यद्य धीमतः ॥ ९० ॥ तेनाधिष्ठितमस्येदं राज्यं निष्कंटकं भवेत् ॥ अन्यथा गतमेवैतदाक्रांतं बलिभिर्नृपैः ॥ ९१ ॥ निश्चित्येति समाहूय सुतौ मंदरमालिनः । सुंदर्याश्च खगाधीशौ गंधर्वपुरपालिनः ॥ ९२॥ चिंतामनोगती स्निग्धौ शुची दक्षौ महान्वयौ । अनुरक्तौ श्रुताशेषशास्त्रार्थौ कार्यकोविदौ ॥ ९३ ॥ करंडस्थिततत्कार्यपत्रौ सोपायनौ तदा प्राहिणोद्वज्रजंघस्य पार्श्वे संदेशपूर्वकं ॥ ९४ ॥ चक्रवर्ती वनं यातः

उस समय वे सब शोकसे उदास हो रहे थे ॥ ८८ ॥ उससमय अधिक चिंता लक्ष्मीमतीको हो रही थी वह सोच रही थी कि यह राज्य बहुत बड़ा है पुंडरीक निरा अबोध बालक है हमलोगोंकेलिये वही एक मात्र पौत्र सहायक है और उसे ही इतने बड़े राज्यपर स्थापन किया है ॥ ८९ ॥ इससमय मुझे अन्य कोई सहायक भी नहीं दिखाई पड़ता है । किसीकी सहायताके बिना मैं इसका पालन कैसे कर सकूंगी । इसलिये आजही अति बुद्धिमान् वज्रजंघके समीप इसके समाचार भेजने चाहिये ॥ ९० ॥ यदि वह हमारा जंवाई वज्रजंघ इस राज्यका प्रबंध कर देगा तो अवश्य ही यह हमारा राज्य निष्कंटक होजायगा अन्यथा बलवान राजा लोग अवश्य ही इसपर आक्रमण करेंगे और इसे नष्टभ्रष्ट करदेंगे ॥ ९१ ॥ इसप्रकार निश्चयकर लक्ष्मीमतीने दो विद्याधर बुलाये ये दोनों ही विद्याधर गंधर्वपुरनगरके राजा मंदरमाली और रानी सुंदरीके पुत्र थे ॥९२॥ चिंतागति और मनोगति इन दोनोंका नाम था, ये दोनों ही चक्रवर्तीके साथ अत्यंत प्रेम रखते थे, कार्य करनेमें निपुण थे, हृदयसे पवित्र थे, बड़े वंशमें उत्पन्न हुये थे, दोनों ही परस्पर प्रेम रखते थे, नीतिशास्त्र आदि अनेक शास्त्रोंके जानकार थे और बड़े ही चतुर थे ॥९३॥ इन दोनोंको एक पिटारेमें रखकर समाचार पत्र दिया तथा धन वस्त्र आदि दामादको देनेकेलिये भेट दी और सब संदेशा कहकर उन दोनोंको वज्रजंघके समीप भेज दिया ॥ ९४ ॥ जो

सपुत्रपरिवारकः । पुंडरीकस्तु राज्येऽस्मिन्पुंडरीकाननः स्थितः ॥ ९५ ॥ क्व चक्रवर्तिनो राज्यं क्वायं बालोऽतिदुर्बलः । तदयं पुंगवोद्धार्ये भारे दम्यो नियोजितः ॥ ९६ ॥ बालोऽयमबले चार्वा राज्यं चेदमनायकं । विशीर्णप्रायमेतस्य पालनं त्वयि तिष्ठते ॥ ९७ ॥ अकालहरणं तस्मादागंतव्यं महाधिया । त्वया त्वत्सान्निधानेन भूयाद्राज्यमविप्लवं ॥ ९८ ॥ इति वाचिकमादाय तौ तदोत्पेततुर्नभः । पयोदांस्त्वरया दूरमाकर्षंतौ समीपगान् ॥ ९९ ॥ क्वचिज्जलधरांस्तुगान्स्वमार्गपरिरोधिनः । विभिदंतौ पयोबिंदून्क्षरतोऽश्रुलवानिव ॥ १०० ॥ तौ पश्यंतौ नदी-

संदेशा लक्ष्मीमतीने वज्रजंघके लिये भेजा था वह यह था कि तुम्हारे मामा वज्रदंत चक्रवर्ती अपने पुत्र और परिवारको साथ लेकर दीक्षित होगये हैं और उनके विस्तृत राज्यपर कमलके समान सुंदर मुखयुक्त यह पुंडरीक वालक ही विठाया गया है ॥ ९५ ॥ परंतु कहां तो चक्रवर्तीका विशाल राज्य और कहां यह अति दुर्वल बालक । सचमुच ही एक बड़े वैलके द्वारा धारण करने योग्य भार एक छोटेसे बच्चेपर लाद दिया गया है ॥ ९६ ॥ यह पुंडरीक अभी बालक है हम दोनों ही सास पतोहू स्त्री हैं इसलिये विना स्वामीका यह राज्य प्रायः नष्ट हो रहा है अब इसकी रक्षा करना केवल आपके हाथमें है ॥ ९७ ॥ अतएव आपसे जितनी शीघ्रता हो सके उतना ही शीघ्र चले आइये आप अतिशय बुद्धिमान हैं आशा है कि आपके संबंधसे यह राज्य अवश्य ही निष्कंटक हो जायगा ॥९८॥ इसप्रकार समाचारपत्र लेकर वे दोनों ही विद्याधर आकाशमार्गसे चलने लगे । मार्गमें जो जो बादल समीप आते जाते थे उन्हें वे बहुत शीघ्र दूर करदेते थे अर्थात् मार्गमें वे बहुत शीघ्रगतिसे जा रहे थे ॥९९॥ कहींपर अपने मार्ग को रोकनेवाले बड़े ऊंचे बादलोंको भी भेदन करते हुये जाते थे उनके भेदन करनेसे आंसुओंके समान जो थोड़ीसी पानीकी बूंदे पड़ती थीं उन्हें भी देखते जाते थे । मार्गमें आनेवाली नदियोंकी शोभा भी देखते थे ऊपरसे वे नदियां अत्यंत कृश और बड़ी ही सफेद जान पड़ती थीं मानों मेघरूपी पतिके वियोगसे ही कृश और सफेद पड़गई हों ॥ १००-१०१ ॥ वे दोनों भाई पर्वतोंको

दूरात्तन्वीरत्यंतपांडुराः । घनागमस्य कांतस्य विरहेणेव कार्शिताः ॥ १०१ ॥ मन्वानौ दूरभावेन पारिमांडल्यसंगतान् । भूमाविव निमग्नांगान-र्कतापभयाद्गिरीन् ॥ १०२ ॥ दीर्घिकांभो भुवो न्यस्तमिवैकमातिबर्त्तुलं । तिलकं दूरताहेतोः प्रेक्षमाणावनुक्षणं ॥ १०३ ॥ क्रमादवापतामेतौ पुर-मुत्पलखेटकं । मंद्रसंगीतनिर्घोषबधिरीकृतदिङ्मुखं ॥ १०४ ॥ द्वाःस्थैः प्रणीयमानौ च प्रविश्य नृपमंदिरं । महानृपसभासीनं वज्रजंघमदर्शतां ॥ १०५ ॥ कृतप्रणामौ तौ तस्य पुरो रत्नकरंडकं । निचिक्षिपतुरंतस्थपत्रकं सदुपायनं ॥ १०६ ॥ तदुन्मुच्य तदंतस्थं गृहीत्वा कार्यपत्रकं । निरूप्य विस्मितश्चक्रवर्त्तिप्राव्राज्यनिर्णयात् ॥१०७॥ अहो चक्रधरः पुण्यभागी साम्राज्यवैभवं । त्यक्त्वा दीक्षामुपायंस्त विविक्तांगींवधूमिव॥१०८॥

भी देखते जाते थे ऊपरसे उन्हें वे पर्वत गोल और अत्यंत सूक्ष्म जान पड़ते थे तथा ऐसे मालूम पड़ते थे मानों सूर्यके संतापके भयसे उन्होंने अपना शरीर भूमिमें ही छिपालिया है ॥ १०२ ॥ पृथिवीमें जो चौकोर वावड़ी थीं वे उन्हें ऊपरसे गोल जान पड़ती थीं और वे दूरसे ऐसी सुशोभित होती थीं मानों पृथिवीने एक गोल तिलक ही दिया हो। मार्गकी यह सब शोभा देखते हुये वे दोनों भाई अनुक्रमसे गीत वाद्य आदिके गंभीर शब्दोंसे अन्य दिशाओंको बधिर करनेवाले उत्पलखेटक नामके नगरमें जा पहुंचे ॥ १०३-१०४ ॥ क्रमसे वे दोनों भाई राजमंदिरके समीप पहुंचे द्वारपालोंने उन्हें राजमंदिरमें प्रवेश कराया। राजमंदिरमें जाकर वज्रजंघके दर्शन किये ॥ १०५ ॥ उसे प्रणाम किया और उसके सामने लाई हुई भेट अर्पण की तथा पत्र रक्खा हुआ वह रत्नयुक्त पिटारा भी सामने रखदिया ॥ १०६ महाराज वज्रजंघने वह पिटारा खोला और अपनेलिये जो आवश्यक पत्र आया था वह पढा उसमें महाराज वज्रदंत चक्रवर्तीके दीक्षा ग्रहण करनेके समाचार पढ कर उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥ १०७ ॥ वह विचार करने लगा कि अहो चक्रवर्ती बड़ा ही पुण्यात्मा है जिसने इतने बड़े साम्राज्यकी विभूति छोड़कर पवित्र स्त्रीके समान दीक्षा स्वीकार की ॥ १०८ ॥ अहा चक्रवर्तीके पुत्र भी बड़े ही पुण्यवान् हैं बड़े ही साहसी हैं देखो इन्होंने इतने बड़े साम्राज्यका तिरस्कारकर अपने पिताके साथ

अहो पुण्यधनाः पुत्राश्चाक्रिणोऽचिंत्यसाहसाः । अवमत्याधिराज्यं ये समं पित्रा दिदिक्षिरे ॥ १०९ ॥ पुंडरीकस्तु संफुल्लपुंडरीकाननद्युतिः । राज्ये निवेशितो धुर्ये रूढभारे स्तनंधयः ॥ ११० ॥ मामी च सान्निधानं मे प्रतिपालयति द्रुतं । तद्राज्यप्रशमायेति दुर्बोधः कार्यसंभवः ॥ १११ ॥ इति निश्चितलेखार्थः कृतधीः कृत्यकोविदः । स्वयं निर्णीतमर्थं तं श्रीमतीमप्यबोधयत् ॥ ११२ ॥ वाचिकेन च संवादं लेखार्थस्य विभावयन् । प्रस्थाने पुंडरीकिण्यामतिमाधात्स धीधनः ॥ ११३ ॥ श्रीमतीं च समाश्वास्य तद्वार्ताकर्णनाकुलां । तया समं समालोच्य प्रयाणं निश्चिचाय सः ॥ ११४ ॥ विसृज्य च पुरो दूतमुख्यौ तौ कृतसत्क्रियौ । स्वयं तदनुमार्गेण प्रयाणायोद्यतो नृपः ॥ ११५ ॥ ततो मतिवरानंदौ

दीक्षा धारण की है ॥ १०९ ॥ जिसके मुखकी कांति फूले हुये कमलके समान सुशोभित है ऐसा यह पुंडरीक बालक ही बड़े प्रभावशाली पुरुषोंके द्वारा नीति और विवेकसे चलाने योग्य राज्यसिंहासनपर नियुक्त किया है ॥ ११० ॥ तथा लक्ष्मीमति मामी राज्यका काम चलाना अत्यंत कठिन समझकर अपने राज्यमें शांति रखने और सब उपद्रव दूर करनेकेलिये शीघ्र ही मुझे बुला रही है ॥ १११ ॥ कार्य करनेमें अत्यंत चतुर और तत्पर उस वज्रजंघने उस पत्रका अर्थ स्वयं समझा और समझकर जो कुछ निर्णय किया था वह श्रीमतीको भी समझाया ॥ ११२ ॥ पत्र लानेवाले चिंतागति और मनोगतिसे भी लक्ष्मी-मतिका कहा हुआ सब संदेशा सुना । सब सुनकर तथा कुछ सोच विचारकर उस बुद्धिमानने पुंडरी-किणी जानेका ही अपना विचार निश्चय किया ॥ ११३ ॥ अपने पिताके दीक्षित हो जानेके समाचार सुनकर श्रीमतीको भी बहुत शोक हुआ था परंतु वज्रजंघने उसे समझाया और उसके साथ भी सबप्र-कारका विचारकर उसने वहां जानेका ही निश्चय किया ॥ ११४ ॥ तदनंतर आये हुये उन दोनों विद्या-धरोंका यथेष्ट आदरसत्कारकर उन्हें आगे भेजदिया और उनके पीछे ही अपने चलनेकी तैयारी की ॥११५॥ जैसे देव लोग प्रस्थान करते हुये इंद्रके समीप इकट्ठे हो जाते हैं उसीप्रकार मतिवर आनंद धनमित्र और अकंपन ये चारों महामंत्री पुरोहित राजश्रेष्ठी सेनापति तथा और भी चलनेको तैयार हुये अनेक

धनमित्रोऽप्यकंपनः । महामंत्रिपुरोधोऽन्यश्रेष्ठिसेनाधिनायकाः ॥ ११६ ॥ प्रधानपुरुषाश्चान्ये प्रयाणोद्यतबुद्धयः । परिवव्रुर्नरेंद्रं तं शतक्रतुमिवामराः ॥ ११७ ॥ तस्मिन्नेवाह्नि सोऽह्नाय प्रस्थानमकरोत्कृती । महान्प्रयाणसंक्षोभस्तदाभूत्तन्नियोगिनां ॥ ११८ ॥ यूयमाबद्धसौवर्णग्रैवेयादिपरिच्छदाः । करेणूर्मदवैमुख्यात्सतीः कुलवधूरिव ॥ ११९ ॥ राज्ञीनामधिरोहाय सज्जाः प्रापयत द्रुतं । यूयमश्वतरीराशु पर्याणयत शीघ्रगाः ॥ १२०॥ नृपवल्लभिकानां च यूयमर्पयताश्विमाः । काचवाहजनान्यूयं गवेषयत दुर्दमान् ॥१२१॥ तुरंगमकुलं चेदमापाय्योदकमाशुगं । बद्धपर्याणकं यूयं कुरुध्वं सुवयोऽन्वितं ॥ १२२ ॥ भुजिष्याः सर्वकर्माणा यूयमाह्वयत द्रुतं । पाकधान्यपरिक्षोदशोधनादिनियोगिनीः ॥१२३॥ यूयं सेनाग्रगा

प्रधान पुरुष राजा वज्रजंघके समीप आकर इकट्ठे हुये ॥ ११६-११७ ॥ उस पुण्यवानने बहुत शीघ्र उसी दिन प्रस्थान किया अर्थात् उसने न तो विचार करनेकेलिये ही एक दो दिनका समय दिया और न सामग्री इकट्ठी करनेकेलिये ही देर की उसके पुण्यके प्रभावसे उसीदिन चलनेकी सब सामग्री इकट्ठी होगई थी उसदिन कर्मचारी लोगोंमें महाराजके प्रस्थान करनेका बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥११८॥ अधिकारी लोग अपने २ सेवकोंसे कह रहे थे कि तुम लोग महाराणीके सवार होनेकेलिये शीघ्र ही ऐसी हथिनियां तैयार करो जिनपर सुवर्णमय झूल पड़ी हो गलेमें सुवर्णकी माला पड़ी हो और जो मदरहित कुलबधुओंके समान साध्वी हों। तुम लोग शीघ्र चलनेवाली खच्चरियोंको जीन कसकर तैयार करो। तुम स्त्रियोंके चढ़नेकेलिये पालकी लाओ और तुम पालकी लेजानेवाले मजबूत कहारोंको ढूंढ कर लाओ ॥ ११९-१२०-१२१॥ तुम अच्छे २ शीघ्रगामी जवान घोड़ोंको छांटकर पानी पिलाकर और जीन कसकर शीघ्र ही उन्हें तैयार करो ॥१२२॥ तुम ऐसी दासियोंको शीघ्र बुलाकर लाओ जो सब काम कर सकें तथा जो गेहूं चांवल आदि धान्यों को शोधना बीनना पीसना आदि कार्य कर सकें ॥ १२३ ॥ तुम सेनाके आगे २ जाओ और मार्गमें जहां २ ठहरनेका स्थान हो वहांपर डेरा तंबू आदि तैयार करो तथा घास भुस आदि के ढेर लगाकर भी तैयार करो ॥ १२४ ॥ तुम हमारे विश्वासपात्र हो तथा बहुतसी संपत्तिके अधिकारी

भूत्वा निवेशं प्रति सुच्छ्रिताः । अनुतिष्ठत सत्कायमानगर्भा महावृती ॥ १२४ ॥ यूयं महानसे राज्ञो नियुक्ताः सर्वसंपदाः । समग्रयत तद्योग्यां सामग्रीं निरवग्रहाः ॥ १२५ ॥ यूयं गोमंडलं चारु वात्सकं बहुधेनुकं । सोदकेषु प्रदेशेषु सच्छायेष्वभिरक्षत ॥ १२६ ॥ यूयमारक्षत स्त्रैणं राजकीयं प्रयत्नतः । सपाठीना इवांभोधेस्तरंगामासुरासयः ॥ १२७ ॥ यूयं कंचुकिनो वृद्धा मध्येऽतःपुरयोषितां । अंगरक्षानियोगं स्वमशून्यं कुरुताद्दताः ॥ १२८ ॥ यूयमत्रैव पाश्चात्यकर्मांसयेवानुतिष्ठत । यूयं समं समागत्य स्वान्नियोगान्प्रपश्यत ॥ १२९ ॥ देशाधिकारिणो गत्वा यूयं चोदयत द्रुतं । प्रतिग्रहीतुं भूनाथं सामग्र्या स्वानुरूपया ॥ १३० ॥ यूयं विभृत हस्त्यश्वं यूयं पालयतौष्ट्रकं । यूयं सवात्सकं भूरिक्षीरं रक्षत धैनुकं ॥ १३१ ॥ यूयं जैनेश्वरीमर्च्यां रत्नत्रयपुरस्सरां । यजेत शांतिकं कर्म समाधाय महीक्षितः ॥ १३२ ॥ कृताभिषेचनाः सिद्धशेषां गंधाम्बुमिश्रितां ।

हो इसलिये तुम महाराजकी भोजनशालाके अधिकारी बनाये जाते हो तुम मार्गमें भोजनशालाकी सब सामग्री तैयार करना ॥ १२५ ॥ तुम बहुतसा दूध देनेवाली और बच्चोंसहित सुंदर २ गायें साथ साथ ले जाओ मार्गमें उन्हें किसी जलाशयके किनारे छायामें सुरक्षित रखना ॥ १२६ ॥ तुम लोग हाथमें ढाल तलवार लेकर मछलियोंसहित समुद्रकी लहरोंके समान सुशोभित होते हुये बड़े प्रयत्नके साथ महाराजके रणवासकी रक्षा करना ॥ १२७ ॥ तुम वृद्ध कंचुकी लोग अंतःपुरकी स्त्रियोंमें रहकर बड़े आदरके साथ निर्विघ्न उनके शरीरकी रक्षा करना ॥१२८॥ तुम लोग यहां ही रहना और महाराजके पीछे बड़ी सावधानीसे अपना काम करना । तुम महाराजके साथ जाओ और सावधानीसे अपना २ काम देखो ॥ १२९ ॥ तुम लोग अलग २ देशोंके अधिकारी हो इसलिये अपने २ अधिकृत देशोंमें जाकर वहांके लोगोंमे शीघ्र प्रेरणा करो जिससे कि वे लोग अपनी योग्यतानुसार सामग्री लेकर महाराज वज्रजंघको लेनेके लिये सामने आवें ॥ १३० ॥ मार्गमें तुम हाथी घोड़े और ऊंटोंकी रक्षा करना । तुम बहुत दूध देनेवाली बच्चोंसहित गायोंकी रक्षा करना ॥१३१॥ तुम महाराजकेलिये शांतिकर्म करके रत्नत्रयकी पूजाके साथ २ श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमाकी पूजन करो ॥१३२॥ तुम प्रथम ही श्रीजिनेंद्रदेवका

यूयं क्षिपेत पुण्याशीःशांतिघोषैः समं प्रभोः ॥ १३३ ॥ यूयं नैमित्तिकाः सम्यग्निरूपितशुभोदयाः । प्रस्थानसमयं ब्रूत राज्ञो यात्राप्रसिद्धये ॥ १३४ ॥ इति तंत्रनियुक्तानां तदा कोलाहलो महान् । उदतिष्ठत्प्रयाणाय सामाग्रमिनुतिष्ठतां ॥ १३५ ॥ ततः करींद्रैस्तुरगैः पत्तिभिश्चोद्यतायुधैः । नृपाजिरमभूद्रुद्धं स्यंदनैश्च समंततः ॥ १३६ ॥ सितातपत्रैर्मायूरपिच्छच्छत्रैश्च सूच्छ्रितैः । निरुद्धमभवद्व्योम घनैरिव सितासितैः ॥ १३७ ॥ छत्राणां निकुरंबेण रुद्धं तेजोऽपि भास्वतः । सद्वृत्तसन्निधौ नूनं नाभा तेजस्विनामपि ॥ १३८ ॥ रथानां वारणानां च केतवोऽन्योऽन्यमाश्लि-

---

अभिषेक करो और फिर शांतिपाठ पढ़ते हुये तथा पुण्यरूप अनेक आशीर्वाद देते हुये गंधोदक मिले-हुये सिद्धोंके शेषाक्षतोंको महाराजके मस्तकपर क्षेपण करो ॥ १३३ ॥ तुम ज्योतिषी लोग ग्रहोंका शुभोदय आदि बहुत अच्छा जानते हो इसलिये महाराजकी यात्रा करनेकेलिये प्रस्थानका समय बतलाओ ॥ १३४ ॥ इसप्रकार उसदिन वहां महाराज वज्रजंघकी यात्राकेलिये सामग्री इकट्ठी करनेवाले कर्मचारी लोगोंका बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥१३५॥ थोड़ी ही देर वाद महाराजके राजमहलके सामनेका चौक हाथी घोड़े रथ और शस्त्र धारण करनेवाले योद्धाओंसे चारोंओरसे खूब भरगया ॥ १३६ ॥ मणिमय सफेद छत्रोंसे तथा ऊंचे उठे हुये मयूर पिच्छिकाके छत्रोंसे आकाश व्याप्त होगया और वह ऐसा शोभायमान होने लगा मानों कुछ सफेद और कुछ काले वादलोंसे ही व्याप्त हो गया हो ॥ १३७ ॥ उस-समय वहां इतने छत्र लगे हुये थे कि उनसे सूर्यका प्रकाश भी रुक गया था । सो ठीक ही है जो सद्वृत्त अर्थात् शांति क्षमा आदि सदाचार सहित होते हैं उनके समीप तेजस्वी पुरुषोंका भी तेज ठहर नहीं सकता । छत्र भी सद्वृत अर्थात् गोल थे इसलिये उनसे भी सूर्यका प्रकाश रुक गया था ॥ १३८ ॥ उस चौकमें जो रथ और हाथी इकट्ठे हुये थे उनपर लगी हुई ध्वजायें वायुसे हिलती हुई परस्पर मिलरही थीं और इसलिये ही वे ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों बहुत दिनोंके वाद एक दूसरेको देखकर तथा संतुष्ट होकर परस्पर मिल रही हों ॥ १३९ ॥ घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई धूल आगे २ उड रही थी मानों

घन् । पवनांदोलिता दीर्घकालादृष्ट्वेव तोषिणः ॥ १३९ ॥ तुरंगमखुरोद्धूताः प्रासर्पद्रेणवः पुरः । मार्गमस्येव निर्देष्टुं नभोभागविलंघिनः ॥ १४० ॥ करिणां मदधाराभिः शीकरैश्च करोज्झितैः । हयलालाजलैश्चापि प्रणनाश महीरजः ॥ १४१॥ ततः पुराद्विनिर्याती सा चमूर्व्यरुचद्भृशं । महानदीव सच्छत्रफेना वाजितरांगिका ॥ १४२ ॥ करींद्रपृथुयादोभिस्तुरंगमतरंगकैः । विलोलासिलतामत्स्यैः शुशुभे सा चमूधुनी ॥ १४३ ॥ ततः समीकृताशेषस्थलनिम्नमहीतला:। अपर्याप्तमहामार्गा यथास्वं प्रसृता चमूः ॥ १४४ ॥ वनेभकटमुज्झित्वा दानशक्ता मदालिनः । न्यलीयंत नृपेभेंद्रकरटे प्रक्षरन्मदे ॥ १४५ ॥ रम्यान्वनतरून्हित्वा राजस्तंबेरमानमून् । आश्रयन्मधुपाः प्रायः प्रत्यग्रं लोकरंजनं ॥१४६॥ नृपं वनानि

महाराज वज्रजंघको मार्ग दिखलानेकेलिये ही आकाशका उल्लंघन कर रही हो ॥ १४० ॥ उस सेनाके हाथियोंसे मदकी धारा वह रही थी । उनकी सूंडसे पानीके छींटे उड रहे थे और घोड़ोंके मुंहसे फेन गिर रहा था जिससे वह पृथिवीकी सब धूल शांत होगई थी ॥ १४१ ॥ तदनंतर वह सेना शहरसे बाहर निकली उससमय वह छत्ररूपी फेनसे और घोडेरूपी तरंगोंसे सुशोभित होती हुई एक महानदीके समान शोभायमान हो रही थी ॥ १४२॥ अथवा बड़े २ हाथी ही जिसमें बड़े २ मत्स्य थे, चंचल घोड़े ही तरंगे थीं और चमकती हुई चंचल तलवारें ही जिसमें मछलियां थीं ऐसी वह सेनारूपी नदी बड़ी शोभायमान हो रही थी ॥१४३॥ वह सेना ऊंची नीची सब जमीनको समान करती जाती थी । चलतेसमय वह विशाल मार्गमें भी नहीं समाती थी इसलिये वह इच्छानुसार चली जा रही थी ॥ १४४॥ चलते २ जब वह सेना किसी बनमें जा रही थी उससमय जंगली हाथियोंके मदमें आसक्त हुये मदोन्मत्त भ्रमर उन जंगली हाथियोंका गंडस्थल छोड़कर महाराज वज्रजंघके हाथीके गंडस्थलसे झरते हुये मदमें निमग्न होगये थे ॥ १४५ ॥ अनेक भ्रमर बनके मनोहर वृक्षोंको छोड़कर महाराजके हाथियोंपर आ लगे थे । सो ठीक ही है प्रायः नई वस्तुसे लोगोंका मन प्रसन्न होता ही है ॥ १४६ ॥ मार्गमें अनेक मनोहर बन फल और पुष्पोंके भारसे नम्रीभूत हुये तथा घनीभूत छायासे शोभायमान ऐसे अनेक बड़े २ वृक्षोंके

रम्याणि प्रत्यगृण्हन्विबाध्वनि । फलपुष्पभरानम्रैः सांद्रच्छायैर्महाद्रुमैः ॥ १४७ ॥ तदा वनलतापुष्पपल्लवान्करपल्लवैः । आजहारावतंसादिविन्यासाय वधूजनः ॥ १४८ ॥ ध्रुवमक्षीणपुष्पर्द्धिंप्राप्तास्ते वनशाखिनः । यत्सैनिकोपभोगेऽपि न जहुः पुष्पसंपदं ॥१४९॥ हयहेषितमातंगबृहद्बृंहितनिस्वनैः । मुखरं तद्बलं शष्पसरोवरमथासदत् ॥ १५० ॥ यदंबुजरजःपुंजपिंजरीकृतवीचिकं । कनकद्रवसच्छायं बिभर्ति स्मांबुशीतलं ॥१५१॥ वनखंडवृतप्रांतं यदर्कस्यांशवो भृशं । न तेपुः संवृतं को वा तपेदार्द्रीतरात्मकं ॥ १५२ ॥ विहंगमरुतैर्नूनं तत्सरो नृपसाधनं । आजुहाव निवेष्टव्यामिहेत्युद्वीचिबाहुकं ॥ १५३ ॥ ततस्तास्मिन्सरस्यस्य न्यविक्षत बलं प्रभोः । तरुगुल्मलताच्छन्नपर्यंतमृदुमारुते ॥ १५४ ॥ दुर्बलाः स्वं जहुः

द्वारा मानों महाराज वज्रजंघका सत्कार ही करते थे ॥ १४७ ॥ उससमय अंतःपुरकी स्त्रियोंने भी अपने कर्णफूल आदि अनेक आभरण बनानेकेलिये अपने करपल्लवोंसे उन बनोंकी लताओंमेंसे बहुतसे फूल पत्ते तोडलिये थे ॥ १४८ ॥ कहना चाहिये कि उन बनोंके वृक्षोंको अवश्य ही अक्षीणपुष्पऋद्धि प्राप्त होगई थी । क्योंकि महाराज वज्रजंघकी सेनाने बहुतसे फूल तोड़लिये थे तथापि उनके फूलोंकी शोभा कम नहीं हुई थी ॥ १४९ ॥ घोड़ोंके हींसने और हाथियोंके महा चिंघाडके शब्दोंसे वह सेना शब्दायमान हो रही थी और इसप्रकार चलते २ वह शष्प नामके सरोवरपर जा पहुंची थी ॥ १५० ॥ उस तालावकी लहरें कमलोंकी परागसमूहसे पीली पड़ रही थीं और इसालिये ही उस तलावका शीतल जल सुवर्णजलके समान सुशोभित हो रहा था ॥ १५१ ॥ उस तालावके किनारे चारोंओर बन था इसलिये सूर्यकी किरणें उस तालावके जलको संतप्त नहीं कर सकती थीं । सो ठीक ही है जिसका अंतःकरण शीतल है आर आचरण उत्तम है उसे कोई संतप्त नहीं कर सकता ॥ १५२ ॥ उस तालावमें लहरें उठ रही थीं और किनारेपर अनेक पक्षी मधुर भाषण कर रहे थे । इसालिये वह तालाव ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों अपनी लहरेंरूपी हाथोंको उठाता हुआ और पक्षियोंके द्वारा मधुर शब्द करता हुआ महाराज वज्रजंघकी सेनाको ठहरनेकेलिये बुला रहा हो ॥ १५३ ॥ तदनंतर छोटे बड़े वृक्ष और लताओंसे

स्थानं बलवद्भिरभिद्रुताः । आदेशैरिव संप्राप्तैः स्थानिनो हनिपूर्वकाः ॥ १५५ ॥ विजहुर्निजनीडानि विहंगास्तत्रसुर्मृगाः । मृगेंद्रा बलसंक्षोभाच्छनैः समुदमीलयन् ॥ १५६ ॥ शाखाविषक्तभूषादिरुचिरा वनपादपाः । कल्पद्रुमश्रियं भेजुराश्रितैर्मिथुनैर्मिथः ॥ १५७ ॥ कुसुमापचये तेषां पादपा विटपैर्नताः । आनुकूल्यमिवातेनुः समतातिथ्यसत्क्रियाः ।। १५८ ॥ कृतावगाहनाः स्नातुं स्तनदघ्नं सरोजलं । रूपसौंदर्यलाभेन तदगारी दिवांगनाः ॥ १५९ ॥ किणीभूतदृढस्कंधान्विशतः काचवाहकान् । स्वांभोऽतिव्ययमीत्येव चकंपे वीक्ष्य तत्सरः ॥ १६० ॥ विष्वग्दद्दशिरे दूष्य-

घिरे हुये और मंद वायुके वहनेसे सुशोभित उस तालाबके किनारे महाराज वज्रजंघकी सेना विश्राम करनेकेलिये ठहर गई ॥ १५४ ॥ जैसे आदेश होनेपर हन् अद् आदि धातुओंका स्थान बदल जाता है अर्थात् उनके स्थानमें वध घस्लृ आदि आदेश हो जाते हैं उसीप्रकार उस तालावके किनारे सेनाके बलवान योद्धाओंसे ताडित हुये हरिण आदि दुर्वल जीवोंने अपना स्थान छोड़ दिया था और उनके स्थानपर सेनाके लोग निवास करने लगे थे ॥१५५॥ उस सेनाके क्षोभसे पक्षियोंने अपने घोंसले छोड़दिये थे, हरिण बड़े ही भयभीत हुये थे ओर सिंहोंने धीरे २ अपनी आंखे खोली थीं ॥१५६॥ सेनाके स्त्रीपुरुषोंने उस बनमें वृक्षोंके नीचे विश्राम किया था उन्होंने अपने आभूषण उन वृक्षोंपर टांग दिये थे इसलिये वे वृक्ष ऐसे शोभायमान होते थे मानों साक्षात् कल्पवृक्ष ही हों ॥१५७ ॥ जिससमय स्त्रीपुरुष उन वृक्षोंसे पुष्प तोड़ते थे उससमय वे वृक्ष अपनी शाखाओंसे झुक जाते थे। मानों उनका आदर सत्कार करनेकेलिये अपनी अनुकूलता ही दिखलाते थे ॥ १५८ ॥ सेनाकी अनेक स्त्रियां उस तालावके पानीमें वक्षस्थलतक प्रवेशकर स्नान कर रहीं थीं उससमय वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो उस तालावका जल अपूर्व रूपसौंदर्यका लाभ समझकर उन्हें निगल रहा ही हो ॥ १५९ ॥ भार ढोनेसे जिनके कंधे घिसगये हैं ऐसे कहार लोग जिससमय उस तालावमें घुसते थे उससमय व्यर्थ ही अपना जल खर्च होनेके डरसे उन्हें देखकर ही मानों वह तालाव थर थर कांपने लगता था ॥ १६० ॥ उस तालावके चारों-

कुटीभेदा निवेशिताः । कलसा वत्स्यज्जिनस्यास्य वनश्रीभिरिवालयाः ॥ १६१ ॥ निपत्य भुवि भूयोऽपि प्रोत्थाय कृतवल्गनाः । रेजिरे वाजिनः स्नेहैः पुष्टा मल्ला इवोद्धताः ॥ १६२ ॥ मधुपानादिव क्रुद्धा बद्धाः शाखिषु दंतिनः। सुवंशा जगतां पूज्या बलादाधोरणैस्तदा । १६३ ॥ यथास्वं सन्निविष्टेषु सैन्येषु स ततो नृपः । शिबिरं प्रापदध्वन्यैर्हयैरविदितांतरं ॥१६४॥ तुरंगमखुरोद्धूतरेणुरूषितमूर्तयः । स्विद्यंतः सादिनः प्रापास्ते ललाटंतपे रवौ ॥ १६५ ॥ कायमाने महामाने राजा तत्रावसत्सुखं । सरोजलतरंगोत्थमृदुमारुतशीतले ॥१६६ ॥ ततो दमधराभिख्यः श्रीमानंबरचारणः । समं सागरसेनेन तन्निवेशमुपाययौ ॥ १६७ ॥ कांतारचर्यां संगीर्य पर्यटंतो यदृच्छया । वज्रजंघमहीभर्तुरावासं तावुपेयतुः ॥१६८॥

ओर कपड़ोंके बने हुये तंबू ऐसे शोभायमान होते थे मानों बनलक्ष्मीने आगामीकालमें तीर्थंकर होनेवाले महाराज वज्रजंघकेलिये मंदिर ही तैयार किये हों ॥ १६१ ॥ सेनाके घोड़े जमीनमें लोटते थे और फिर खड़े होकर हींसते थे उससमय वे ऐसे शोभायमान होते थे मानों तेल लगाकर पुष्ट हुये मदोन्मत्त मल्ल ही हों ॥ १६२ ॥ जो हाथी जगतपूज्य अर्थात् बहुत बड़े थे तथा जो सुवंश अर्थात् ऊंची पीठवाले थे वे भी भ्रमरोंके गुंजार शब्दोंसे क्रोधित होगये थे इसलिये महावतोंने बलात्कार उन्हें वृक्षोंसे बांध दिया था जैसे उत्तम वंशमें उत्पन्न हुये जगतपूज्य पुरुष भी मद्यपान करनेसे क्रोधित होते हैं और बांधे जाते हैं ॥ १६३ ॥ इसप्रकार जब सब सेना अपने २ स्थानपर ठहरगई तब महाराज वज्रजंघ तेज घोड़ेपर सवार होकर बहुत शीघ्र अपने तंबूमें जा पहुंचे थे ॥ १६४ ॥ घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई धूलसे जिनके शरीर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे घुडसवार लोग पसीनासे तरबतर हुये ठीक दोपहरके समय वहां पहुंचे थे ॥ १६५ ॥ जहां तालावके जलकी तरंगोंसे उठी हुई शीतल और मंद पवन चल रही है ऐसे उस तालावके किनारेपर बड़े ऊंचे तंबूमें महाराज वज्रजंघने सुखपूर्वक निवास किया था ॥१६६॥ तदनंतर आकाशमें गमन करनेवाले श्रीमान् दमधर चारणमुनिने सागरसेन मुनिराजके साथ २ महाराज वज्रजंघके पडावमें शुभागमन किया ॥ १६७ ॥ उन दोनों मुनियोंने बनचर्या (बनमेंही विधिपूर्वक आहार लेनेकी) करनेकी

दूरादेव मुनींद्रौ तौ राजापश्यन्महाद्युती । स्वर्गापवर्गयोर्मार्गाविव प्रक्षीणकल्मषौ ॥ १६९ ॥ स्वांगदीप्तिविनिर्धूततमसौ तौ ततो मुनी । ससंभ्रमं समुत्थाय प्रतिजग्राह भूमिपः ॥१७०॥ कृतांजलिपुटो भक्त्या दत्तार्घ्यः प्रणिपत्य तौ । गृहं प्रवेशयामास श्रीमत्या सह पुण्यभाक् ॥१७१॥ प्रक्षालितांघ्री संपूज्य मान्ये स्थाने निवेश्य तौ । प्रणिपत्य मनःकायवचोभिः शुद्धिमुद्वहन् ॥१७२॥ श्रद्धादिगुणसंपत्या गुणवद्भ्यां विशुद्धिभाक् । दत्वा

प्रतिज्ञा की थी । इसलिये वे दोनों इच्छानुसार विहार करते हुये महाराज वज्रजंघके तंबुओंके सामने आ निकले ॥ १६८ ॥ वे दोनोंही मुनिराज बड़े दैदीप्यमान, पपकर्मोंसेरहित तथा स्वर्गमोक्षके साक्षात् मार्गके समान सुशोभित थे । महाराज वज्रजंघने दूरसे ही उन्हें देखा ॥ १६९ ॥ उनके शरीरकी कांतिसे बनका अंधकार नष्ट हो गया था ऐसे उन दोनों मुनियोंको महाराज वज्रजंघने बड़े संभ्रमके साथ उठकर पड़गाहन किया ॥ १७० ॥ पुण्यशाली महाराज वज्रजंघने रानी श्रीमतीके साथ २ वडी भक्तिसे उन दोनों मुनियोंको हाथ जोड़े अर्घ दिया नमस्कार किया और उन्हें अपनी भोजनशालोमें लेगया ॥१७१॥ वहां ले जाकर उन्हें ऊंचे आसनपर विराजमान किया उनके चरणकमलोंका प्रक्षालन किया, उनकी पूजा की नमस्कार किया और मन बचनकायकी शुद्धिपूर्वक तथा श्रद्धा भक्ति आदि [१]गुणोंसे विभूषित होकर और उन दोनों गुणवान् मुनियोंके संयोगसे अत्यंत विशुद्ध होकर महाराज वज्रजंघने उन दोनों मुनियोंको विधिपूर्वक आहार दिया । जिससे वज्रजंघके घर पंचाश्चर्यकी वृष्टि हुई । पंचाश्चर्योंके नाम इसप्रकार हैं. देवलोग आकाशसे रत्नोंकी वर्षा करते थे पुष्पोंकी वर्षा करते थे आकाशगंगाके जलसे सींचा हुआ शीतल मंद वायु वहता था दुंदुभियोंके गंभीर शब्द हो रहे थे और देव लोग अहोदान अहोदान इसप्रकार ऊंचे शब्दोंसे दानकी प्रशंसा कर रहे थे । उससमय इन सब शब्दोंसे आकाश व्याप्त

१-प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और भोजनशुद्धि यह नवधा भक्ति कहलाती है । श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, अलोभ क्षमा ज्ञान और शक्ति ये सात दाताके उत्तम गुण कहलाते हैं ॥

विधिवदाहारं पंचाश्चर्याण्यवाप सः ॥१७३॥ वसुधारा दिवो देवाः पुष्पवृष्ट्या सहाकिरन्। मंदं व्योमापगावारिकणकीर्मरुदाववौ ॥१७४॥ मंद्रदुंदुभिनिर्घोषैर्घोषणां च प्रचक्रिरे। अहो दानमहो दानमित्युच्चैरुद्धदिग्मुखं ॥१७५॥ ततोऽभिवंद्य संपूज्य विसर्ज्य मुनिपुंगवौ। कांचुकीयादबुद्धैनौ चरमावात्मनः सुतौ ॥१७६॥ श्रीमत्या सह संश्रित्य संप्रीत्या निकटं तयोः। स धर्ममश्रृणोत्पुण्यकामः सद्गृहमेधिनां ॥१७७॥ दानं पूजां च शीलं च प्रोषधं च प्रपंचतः। श्रुत्वा धर्मं ततोऽपृच्छत्सकांतः स्वां भवावलीं ॥१७८॥ मुनिर्दमवरः प्राख्यत्तस्य जन्मावलीमिति। दशनांशुभिरुद्योतमातन्वन्दिङ्मुखेषु सः ॥ १७९ ॥ चतुर्थे जन्मनीतस्त्वं जंबूद्वीपविदेहगे। गंधिले विषये सिंहपुरे श्रीषेणपार्थिवात् ॥ १८० ॥ सुंदर्यामतिसुंदर्यां

हो रहा था ॥ १७२-१७३-१७४-१७५ ॥ आहार ग्रहण करलेनेके अनंतर वज्रजंघने उन्हें नमस्कार किया पुष्पादिकसे उनकी पूजा की और इसप्रकार भोजनकार्यसे उन्हें विवृत्त किया। कंचुकीके कहनेसे वज्रजंघको यह भी मालूम होगया कि ये दोनों ही उसके अंतिम पुत्र हैं ॥ १७६ ॥ राजा वज्रजंघ श्रीमतीके साथ २ बड़े प्रेमसे उन दोनों मुनियोंके समीप बैठा और अपना पुण्य बढ़ानेकी इच्छा कर सद्गृहस्थोंका धर्म श्रवण करने लगा ॥ १७७ ॥ उसने विस्तारपूर्वक दान पूजा शील और प्रोषध आदि धर्मोंका स्वरूप सुना और तदनंतर अपने तथा श्रीमतीके पूर्व भव पूंछे ॥ १७८ ॥ उन दोनों मुनियोंमेंसे दमवर नामके मुनि अपने दांतोंकी किरणोंसे संपूर्ण दिशाओंको प्रकाशमान करते हुये नीचे लिखे अनुसार उन दोनोंके पूर्व भव कहने लगे ॥ १७९ ॥

हे राजन् तू इस जन्मसे चौथे जन्ममें जंबूद्वीपके पश्चिमविदेहक्षेत्र गंधिला देशके सिंहपुर नगरमें राजा श्रीषेण और अत्यंत रूपवती सुंदरी रानीके जयवर्मा नामका ज्येष्ट पुत्र हुआ था। कारणवश भोगोंसे विरक्त होकर तूने श्रीजैनेश्वरी दीक्षा धारण की थी और द्रव्यलिंगी मुनि होकर तथा विद्याधरोंके भोग प्राप्त होनेका निदान कर शरीर छोड़ा था। उस निदानके निमित्तसे तू उसी गंधिलादेशके विजयार्द्धपर्वतकी उत्तरश्रेणीमें अलका नगरीमें विद्याधरोंका स्वामी महाबल नामका राजा हुआ था।

ज्यायान्सूनुरजायथाः । निर्वेदादार्हतीं दीक्षामादायाव्यक्तसंयतः ॥ १८१ ॥ विद्याधरेंद्रभोगेषु न्यस्तधीर्मृतिमापिवान् । प्रागुक्ते गंधिले रूप्यगिरेरुत्तरसत्तटे ॥ १८२ ॥ नगर्यामलकाख्यायां व्योमगानामधीशिता । महाबलोऽभूर्भोगांश्च यथाकामं त्वमन्वभूः ॥ १८३ ॥ स्वयंबुद्धात्प्रबुद्धात्मा जिनपूजापुरःसरं । त्यक्त्वा संन्यासतो देहं ललितांगः सुरोऽभवः ॥१८४ ॥ ततश्च्युत्वाधुनाभूस्त्वं वज्रजंघमहीपतिः । श्रीमती च पुरैकस्मिन्भवे द्वीपे द्वितीयके ॥ १८५ ॥ प्राग्मेरोर्गंधिले देशे प्रत्यक्पुत्री कुटुंबिनः । पलालपर्वतग्रामे जाताल्पसुकृतोदयात् ॥ १८६ ॥ तत्रैव विषये भूयः पाटलीग्रामकेऽभवत् । निर्नामिका वणिक्पुत्री संश्रित्य पिहितास्रवं ॥ १८७ ॥ विधिनोपोप्य तत्रासीत्तव देवी स्वयंप्रभा । श्रीप्रभेऽभूदिदानीं च श्रीमती वज्रदंततः ॥ १८८ ॥ श्रुत्वेति स्वान्भवान्भूयो भूनाथः प्रियया समं । पृष्टवानिष्टवर्गस्य भवानतिकुतूहलात् ॥ १८९ ॥ स्वबंधुनिर्विशेषा

वहां तूने अपनी इच्छानुसार अनेक भागोपभोगोंका अनुभव किया था ॥ १८०-१८१-१८२-१८३ तथा वहां स्वयंबुद्ध मंत्रीके उपदेशसे तुझे आत्मकल्याणका बोध हुआ था और अंतमें श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजाकर समाधिमरण धारणकर शरीर छोड़ा था जिससे दूसरे स्वर्गमें ललितांग देव हुआ था ॥ १८४ ॥ और वहांसे चयकर अब तू बज्रजंघ राजा हुआ है। यह श्रीमती भी पहले भवमें धातकी द्वीपमें पूर्वमंदराचलपर्वतके पश्चिमविदेहक्षेत्रमें गंधिलादेशके पलालपर्वत नामके ग्राममें देविल नामके गृहस्थीके धनश्री नामकी पुत्री हुई थी ॥ १८५-१८६ ॥ वहां उसने मुनिका अपमानकर भारी पाप किया था परंतु तुरंत ही उन्हीं मुनिके उपदेशसे पश्चात्तापकर अपनी निंदा की थी इसलिये उस थोड़ेसे पुण्यकर्मके उदयसे अपनी आयु समाप्तकर उसीदेशके पाटली ग्राममें निर्नामिका नामकी वणिक्पुत्री हुई थी वहां उसने श्रीपिहितास्रव मुनिके समीप विधिपूर्वक जिनेंद्रगुणसंपत्ति और श्रुतज्ञान इन दोनों व्रतोंके उपवास किये थे। उस पुण्यके प्रभावसे वह दूसरे स्वर्गके श्रीप्रभ विमानमें स्वयंप्रभा देवी हुई थी और वहांसे चयकर राजा वज्रदंतके यह श्रीमती पुत्री हुई है ॥ १८७-१८८ ॥ इसप्रकार राजा वज्रजंघने अपने तथा श्रीमतीके पूर्व भव सुने और फिर एक कोतूहलमात्रसे अपने इष्ट संबंधियोंके पूर्व भव पूछने लगा ॥ १८९ ॥ वह

मे स्निग्धा मतिवरादयः । तत्प्रसीद भवानेषां ब्रूहीत्याख्यच्च तान्मुनिः ॥ १९० ॥ अयं मतिवरोऽत्रैव जंबूद्वीपे पुरोगते । विदेहे वत्सकावत्यां विषये त्रिदिवोपमे ॥ १९१ ॥ तत्र पुर्यां प्रभाकर्यामतिगृध्रो नृपोऽभवत् । विषयेषु विषक्तात्मा बह्वारंभपरिग्रहैः ॥ १९२ ॥ बध्वायुर्नरकं यातः श्वभ्रे पंकप्रभाह्वये । दशाब्ध्युपमितं कालं नारकीं वेदनामगात् ॥ १९३ ॥ ततो निर्गत्य पूर्वोक्तनगरस्य समीपगे । व्याघ्रोऽभूत्प्राक्तनात्मीयधननिक्षेपपर्वते ॥ १९४ ॥ अथान्यदा पुराधीशस्तत्रागत्य समावसत् । निवर्त्य स्वानुजन्मानं व्युत्थितं विजिगीषया ॥ १९५ ॥ सानुजन्मानमत्रस्थं नृपमाख्यत्पुरोहितः । अत्रैव ते महांल्लाभो भविता मुनिदानतः ॥ १९६ ॥ स मुनिः कथमेवात्र लभ्यश्चेच्छृणु पार्थिव । वक्ष्ये तदागमोपायं

कहने लगा कि हे स्वामिन् मतिवर मंत्री, आनंद पुरोहित, धनमित्र श्रेष्ठी और अकंपन सेनापति ये चारों ही मुझे भाईके समान प्रिय हैं इसलिये आप प्रसन्न होकर इनके भी पूर्व भव कहिये इसप्रकार वज्रजंघके निवेदन करनेपर मुनिराज कहने लगे कि ॥ १९० ॥ यह मतिवर मंत्री पूर्व भवमें इसी जंबूद्वीपके पूर्वविदेहक्षेत्रमें स्वर्गके समान अति सुंदर वत्सकावती देशकी प्रभाकरी नगरीमें अतिगृध्र नामका राजा था। वह विषयोंमें बहुत ही आसक्त था बहुत आरंभ और बहुत परिग्रहके द्वारा उसने नरक आयुका बंध किया था और मरकर चौथे नरकमें नारकी उत्पन्न हुआ था। वहां उसने दश सागरतक नारकियोंके दुःख भोगे थे ॥ १९१-१९२-१९३ ॥ वहांसे निकलकर उसी प्रभाकरी नगरीके समीप एक पर्वतपर कि जहां उसने पूर्वभवमें अपना बहुतसा धन गाढ रक्खा था व्याघ्र उत्पन्न हुआ ॥ १९४ ॥ उससमय प्रभाकरी नगरीमें राजा प्रीतिवर्द्धन राज्य करता था उसका छोटा भाई उससे प्रतिकूल होगया था उसे जीतनेकेलिये वह निकला था सो उसे जीतकर लौटकर एकदिन वहां भी विश्राम किया था। किसी समयपर वहां ये दोनों ही भाई बैठे थे कि इतनेमें ही पुरोहितने आकर राजासे निवेदन किया कि महाराज यहांपर आज आपको मुनिदानके निमित्तसे बड़ा भारी लाभ होनेवाला है ॥ १९५-१९६ ॥ परंतु हे राजन् ! वे मुनिराज यहां किसप्रकार पधारेंगे इसका उपाय मैं निमित्तज्ञानसे जानकर आपसे निवेदन करता हूं

दिव्यज्ञानावलोकितं ॥ १९७ ॥ महानद्य नरेंद्रस्य प्रमदस्तेन नागराः । सर्वे यूयं स्वगेहेषु बध्वा केतून्सतोरणान् ॥ १९८ ॥ गृहांगणानि रथ्याश्च कुरुताशु प्रसूनकैः । सोपहाराणि नीरंध्रमिति दद्यः प्रघोषणां ॥१९९॥ ततो मुनिरसौ त्यक्त्वा पुरमलागमिष्यति । विचिंत्याप्रासुकत्वेन विहारायोग्यमात्मनः ॥ २०० ॥ पुरोधोवचनात्तुष्टो नृपोऽसौ प्रीतिवर्धनः । तत्तथैवाकरोत्प्रीतो मुनिरप्यागमत्तदा ॥ २०१ ॥ पिहितास्रवनामासौ मासक्षपणसंयुतः । प्रविष्टो नृपतेः सद्म चरंश्चर्यामनुक्रमात् ॥ २०२ ॥ ततो नृपतिना तस्मै दत्तं दानं यथाविधि। पातिता च दिवो देवैर्वसुधारा कृतारवं ॥ २०३ ॥ ततस्तदवलोक्यासौ शार्दूलो जातिमस्मरत् । उपशांतश्च निर्मूर्च्छः शरीराहारमत्यजत् ॥ २०४ ॥ शिलातले निविष्टं च

आप सुनिये ॥१९७॥ हम लोग नगरमें यह घोषणा करदें कि आज महाराजके हर्षका दिन है इसलिये नगरके सब लोग अपने २ घरमें तोरण ध्वजा पताका आदि लटकाओ तथा अपने घरके आंगनमें गलियोंमें सड़कोंमें सबजगह जल सींचकर इसप्रकार फूल बिछादो कि जिसमें वीचमें कहीं जगह खाली न रहे ऐसा करनेसे जो मुनि चर्या करनेकेलिये शहरमें जाने वाले होंगे वे सबजगह अप्रासुक जगह देखकर वहां नहीं जा सकेंगे और फिर वे लौटकर अवश्य ही यहां आवेंगे ॥ १९८-१९९-२०० ॥ पुरोहितके बचन सुनकर राजा प्रीतिवर्द्धनको भी संतोष हुआ और उसने प्रसन्न होकर वैसा ही किया। तथा वैसा करनेसे मुनिराज भी लौटकर वहां आये ॥ २०१ ॥ श्रीपिहितास्रव मुनि एक महीनेका उपवासकर चर्या करनेकेलिये निकले थे सो क्रमसे चर्या करते हुये महाराज प्रीतिवर्द्धनके घर आये ॥ २०२ ॥ राजाने भी उनका पडगाहन किया और विधिपूर्वक उन्हें आहार दिया । जिससे देवोंने प्रसन्न होकर पंचाश्चर्यकी वृष्टि की ॥ २०३ ॥ मतिवरके जीव सिंहने भी वह पंचाश्चर्यकी वृष्टि और मुनिराजकी पूजा देखी । उसे देखकर उसे जातिस्मरण (पूर्वभवका स्मरण) हो आया, तत्काल ही वह क्रोधादिक छोड़कर शांत होगया, उसका मोहनीयकर्म अतिशय मंद पड़ गया और शरीर तथा आहारसे भी उसने अपना ममत्व छोड़ दिया अर्थात् आहारादिकका भी उसने त्याग कर दिया ॥२०४॥ वह सिंह जन्मपर्यंत आहारका

संन्यस्तनिखिलोपधिं । दिव्यज्ञानमयेनाच्णा सहसाबुद्ध तं मुनिः ॥ २०५ ॥ ततो नृपमुवाचेत्थमस्मिन्नद्रावुपासकः । संन्यासं कुरुते कोऽपि स त्वया परिचर्यतां ॥ २०६ ॥ स चक्रवर्तितामेत्य चरमांगः पुरा पुरोः । सूनुर्भूत्वा परं धाम व्रजत्यत्र न संशयः ॥ २०७ ॥ इति तद्वचनाज्जातविस्मयो मुनिना समं । गत्वा नृपस्तमद्राक्षीच्छार्दूलं कृतसाहसं ॥ २०८ ॥ ततस्तस्य सपर्यायां साचिव्यमकरोन्नृपः । मुनिश्चास्मै ददौ कर्णजापं स्वर्गी भवत्यसौ ॥ २०९ ॥ व्याघ्रोऽष्टादशभिर्भक्तमहोभिरुपसंहरन् । दिवाकरप्रभो नाम्ना देवोऽभूत्तद्विमानके ॥ २१० ॥ तदाश्चर्यं महद्दृष्ट्वा नृपस्यास्य चमूपतिः । मंत्री पुरोहितश्च द्रागुपशांतिं परां गताः ॥ २११ ॥ नृपदानानुमोदेन कुरुष्वार्यास्ततोभवन् । कालांते ते ततो गत्वा

त्यागकर सन्यास धारणकर एक शिलापर बैठगया। मुनिराज श्रीपिहितास्रवने भी अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे अकस्मात् उस सिंहका सब हाल जानलिया ॥ २०५ ॥ मुनिराजने राजा प्रीतिवर्द्धनसे कहा कि हे राजन्! इस पर्वतपर कोई जीव श्रावकके व्रत ग्रहणकर सन्यास धारण कर रहा है इसलिये तू जाकर उसकी सेवा कर ॥ २०६ ॥ वह आगामी कालमें भरतक्षेत्रमें प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभदेवका चरमशरीरी और चक्रवर्ती पुत्र होगा तथा उसी भवसे मुक्त होगा इसमें किंचित भी संदेह नहीं है ॥ २०७॥ मुनिराजके ये बचन सुनकर राजा प्रीतिवर्द्धनको आश्चर्य हुआ वह मुनिराजके साथ वहां गया और अतिशय साहस करनेवाले सिंहको वहां देखा ॥ २०८ ॥ राजाने उसकी सेवामें यथोचित सहायता की। तथा धर्मके प्रभावसे यह देव होगा यही समझकर मुनिराजने उसे नमस्कार मंत्र सुनाया ॥ २०९ ॥ वह सिंह अठारहदिनका उपवासकर अंतमें समाधि पूर्वक शरीर छोड़ दूसरे स्वर्गमें दिवाकरप्रभ नामके विमानमें दिवाकरप्रभ नामका देव हुआ ॥ २१० ॥ उस सिंहकी इस आश्चर्यजनक घटनाको देखकर राजा प्रीतिवर्द्धनके सेनापति मंत्री और पुरोहितके परिणाम भी बहुत शीघ्र उपशांत होगये थे॥ २११ ॥ इन सबने राजा प्रीतिवर्द्धनके दिये हुये दानकी अनुमोदना की थी इसलिये आयु समाप्त होनेपर वे तीनों ही उत्तरकुरु भोगभूमिमें आर्य हुये थे। वहांकी भी आयु समाप्तकर वे तीनों दूसरे ऐशान स्वर्गमें

श्रीमदैशानकल्पजाः ॥ २१२ ॥ सुरां जाता विमानेशा मंत्री कांचनसंज्ञके । विमाने कनकाभोऽभूद्रुषिताख्ये पुरोहितः ॥ २१३ ॥ प्रभंजनोऽभूत्सेनानीः प्रभानाम्नि प्रभाकरः । ललितांगभवे युष्मत्परिवारामरा इमे ॥ २१४ ॥ ततः प्रच्युत्य शार्दूलचरो देवोऽभवत्स ते । मंत्री मतिवरः सूनुः श्रीमत्यां मतिसागरात् ॥ २१५ ॥ अपराजितसेनान्यश्च्युतः स्वर्गात्प्रभाकरः । आर्जवायाश्च पुत्रोऽभूदकंपनसमाह्वयः ॥ २१६ ॥ श्रुतकीर्तेरथानंतमत्याश्च कनकप्रभः । सुतोभूदयमानंदः पुरोधास्तव संमतः ॥ २१७ ॥ प्रभंजनश्च्युतस्तस्माच्छ्रेष्ठ्यभूद्धनमित्रकः । धनदत्तोदरे जातो धनदत्ताद्धनर्द्धिमान् ॥ २१८ ॥ इति तस्य मुनींद्रस्य वचः श्रुत्वा नराधिपः । श्रीमती च तदा धर्मे परं संवेगमापतुः ॥ २१९ ॥ राजा स्ववि-

---

बड़ी ऋद्धिको धारण करनेवाले देव हुये थे। उनमेंसे मंत्री कांचन नामके विमानमें कनकाभ नामका देव हुआ था, पुरोहित रुषित नामके विमानमें प्रभंजन नामका देव हुआ था और सेनापति प्रभा नामके विमानमें प्रभाकर नामका देव हुआ था। जब तू दूसरे स्वर्गमें ललितांग देव था तब ये सब ही तेरे परिवार देव थे ॥ २१२-२१३-२१४ ॥ सिंहका जीव वहांसे चयकर मतिसागर और श्रीमतीके पुत्र हुआ है जो कि यह तेरा मतिवर मंत्री है ॥ २१५ ॥ प्रभाकरका जीव देवपर्यायको समाप्तकर अपराजित सेनापति और आर्जवाके पुत्र हुआ है जो कि यह अकंपन सेनापति कहलता है ॥ २१६ ॥ कनकप्रभका जीव वहांसे चयकर श्रुतकीर्ति और अनंतमतीका पुत्र हुआ है जोकि आनंद नामका तेरा प्रिय पुरोहित है ॥ २१७ ॥ तथा प्रभंजनका जीव वहांसे चयकर शेठ धनदत्त और धनदत्ताके धनमित्र नामका पुत्र हुआ है जो कि धन विभूति आदिसे सुशोभित राजश्रेष्ठी हुआ है ॥ २१८ ॥ इसप्रकार मुनिराजके कहे हुये ये उपर्युक्त वचन सुनकर राजा वज्रजंघ और श्रीमतीको धर्ममें बहुत भारी प्रेम उत्पन्न हुआ ॥ २१९ ॥ अनंतर राजा वज्रजंघने फिर भी बड़े आश्चर्यके साथ मुनिराजसे प्रश्न किया कि हे देव ! ये नकुल (नौला) सिंह, बंदर और सूकर ये चारों जीव आपके मुखरूपी कमलको देखनेकेलिये गाढ़ दृष्टि लगाये हुये इस मनुष्योंसे भरे हुये स्थानमें भी निर्भय होकर बैठे हैं इसका क्या कारण है

सयं भूयोप्यपृच्छत्तं मुनीश्वरं । अमी नकुलशार्दूलगोलांगूलाः सशूकराः ॥ २२० ॥ कस्मादस्मिन् जनाकीर्णे देशे तिष्ठंत्यनाकुलाः । भवन्मुखारविंदावलोकने दत्तहृष्टयः ॥ २२१ ॥ इति राज्ञानुयुक्तोऽसौ चारणर्षिरवोचत । शार्दूलोऽयं भवेऽन्यस्मिन्देशेऽस्मिन्नेव विश्रुते ॥ २२२ ॥ हस्तिनाख्यपुरे ख्याते वैश्यात्सागरदत्ततः । धनवत्यामभूत्सूनुरुग्रसेनसमाह्वयः ॥ २२३ ॥ सोऽप्रत्याख्यानतः क्रोधात्पृथिवीभेदसान्निभात् । तिर्यगायुर्बबंधाज्ञो निसर्गादतिरोषणः ॥ २२४ ॥ कोष्ठागारनियुक्तांश्च निर्भर्त्स्य घृततंडुलं । बलादादाय वेश्याभिः संप्रायच्छत दुर्मदी ॥ २२५ ॥ तद्वार्त्ताकर्णनाद्राज्ञा बंधितस्तीव्रवेदनः । चपेटाचरणाघातैर्मृत्वा व्याघ्र इहाभवत् ॥ २२६ ॥ वराहोऽयं भवेऽतीते पुरे विजयनामनि । सूनुर्वसंतसेनायां महानंदनृपादभूत् ॥ २२७ ॥ हरिवाहननामासावप्रत्याख्यानमानतः । मानमस्थिसमं बिभ्रत्पित्रोरप्यविनीतकः ॥ २२८ ॥ तिर्यगायुरतो बध्वा

२२०-२२१ ॥ इसप्रकार राजाके प्रश्न कर चुकनेपर चारण ऋद्धिको धारण करनेवाले मुनिराज कहने लगे कि यह सिंह इसभवसे पहले भवमें इसी पुष्कलावती देशके हस्तिनागपुर नगरमें सागरदत्त नामके वैश्यसे उसकी धनवती स्त्रीसे उत्पन्न हुआ उग्रसेन नामका पुत्र था ॥ २२२-२२३ ॥ उग्रसेन स्वाभाविक क्रोधी था इसलिये उस मूर्खने पृथिवीभेदके समान अप्रत्याख्यानावरण क्रोधके निमित्तसे तिर्यंच आयुका बंध किया था ॥ २२४ ॥ एक दिन उस दुष्टने राजाके कोठारकी रक्षा करनेवाले लोगोंको खूब तर्जना की तथा उस कोठारमेंसे बलपूर्वक बहुतसा घी चांवल आदि निकालकर वेश्याओंको दे दिया ॥ २२५ ॥ वहांके राजाने यह समाचार सुनकर उसे पकड बुलाया और बंधवाकर लात घूंसे थप्पड आदिकी बहुतसी मार दिलाई । जिससे वह बहुत दुःख सहकर मरा और यहां यह व्याघ्र हुआ है ॥ २२६ ॥ यह सूकर इसभवसे पहले भवमें विजयपुर नामके नगरमें राजा महानंद और रानी बसंतसेनाके हरिवाहन नामका पुत्र था । यह बड़ा ही अभिमानी था इसके हड्डियोंके थंभेके समान अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय था । इसलिये यह अपने पिताका विनय भी नहीं करता था ॥ २२७-२२८ ॥ अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदय होनेसे ही उसने तिर्यंच आयुका बंध किया था । एकदिन वह अपने माता पिता

नैच्छत्पित्रनुशासनं । धावमानः शिलास्तंभजर्जरीकृतमस्तकः॥२२९॥आर्तो मृत्वा वराहोऽभूद्वानरोऽयं पुरा भवे । पुरे धन्याह्वये जातः कुबेराख्यवणीक्सुतः॥२३०॥ सुदत्तागर्भसंभूतो नागदत्तसमाह्वयः । अप्रत्याख्यानमायां तां मेषशृंगसमां श्रितः ॥२३१॥ स्वानुजाया विवाहार्थं स्वापणे स्वापतेयकं। स्वांबायामाददानायां सुपरीक्ष्य यथेप्सितं ॥ २३२ ॥ ततस्तद्वंचनोपायमजानन्नार्त्तधीर्मृतः । तिर्यगायुर्वशेनासौ गोलांगूलत्वमित्यगात् ॥ २३३ ॥ नकुलोऽयं भवेऽन्यस्मिन्सुप्रतिष्ठितपत्तने । अभूत्कादंविको नाम्ना लोलुपो धनलोलुपः ॥ २३४ ॥ सोऽन्यदा नृपतौ चैत्यगृहनिर्मापणोद्यमे ।

की आज्ञासे विरुद्ध होकर दौडा जा रहा था कि मार्गमें ही एक पत्थरके खंभेमें उसका शिर जा लगा जिससे उसके शिरके टुकडे २ हो गये और आर्तध्यानसे मरकर यह सूकर हुआ है ॥ २२९ यह वंदर भी इस भवसे पहले भवमें धन्यपुर नामके नगरमें कुवेर नामके वैश्यके घर उसकी स्त्री सुदत्तासे नागदत्त नामका पुत्र हुआ था। वह मेंडेके सींगके समान अप्रत्याख्यानावरणकषायके उदयसे स्वाभाविक मायावी था ॥ २३०-२३१ ॥ उसने अप्रत्याख्यानावरणकषायके उदयसे ही तिर्यंच आयुका बंध किया था। एकदिन उसकी माता अपनी पुत्री नागदत्तकी छोटी बहिनके विवाहकेलिये अपनी इच्छानुसार देख देख कर बाजारसे सामान खरीद रही थी। नागदत्त उस सब सामानको स्वयं लेलेना चाहता था लेनेके लिये उसने मायाचारी भी बहुत की परंतु वह उसे ले न सका इसलिये आर्त्तध्यानसे मरकर यहां यह बंदर हुआ है ॥ २३२-२३३ ॥ इसीप्रकार यह न्योला भी इस भवसे पहले भवमें इस सुप्रतिष्ठित नगरमें लोलुप नामका धनका अत्यंत लोभी पूआ बडे आदि बेचनेवाला छोटासा हलवाई था ॥ २३४ ॥ इसके समयमें वहांका राजा एक जिनालय बनवा रहा था,उसकेलिये मजूरलोग ईंटें ढो रहे थे,उस समय उस मूर्ख महालोभी लोलुपने मजूर लोगोंको थोड़से पूआ देकर आधिकारी लोगोंसे छिपाकर थोडीसी ईंटें अपने घरमें डलवा लीं थीं। उन ईंटोंके फोडनेपर उनमेंसे थोडासा सुवर्ण निकला, तब तो इसे और भी लोभ बढा और फिर उसने उन मजूरोंको बहुतसे पूआ और भोजन आदि देकर छिपा छिपाकर

इष्टकाविष्टिपुरुषैरानाययति लुब्धधीः ॥ २३५ ॥ दत्वा पूपं निगूढं स्वं मूढः प्रावेशयद्गृहं । इष्टकास्तत्र कासांचिद्भेदेऽपश्यच्च कांचनं ॥ २३६॥ तल्लोभादिष्टका भूयोऽप्यानाययितुमुद्यतः । पुरुषैर्वैष्टिकैस्तेभ्यो दत्वा पूपादिभोजनं ॥२३७॥ स्वसुताग्राममन्येद्युः स गच्छन्पुत्रमात्मनः । न्ययुंक्त पुत्रकाहारं दत्वानाय्यास्त्वयेष्टकाः ॥ २३८ ॥ इत्युक्त्वास्मिन् गते पुत्रस्तत्तथा नाकरोदतः । स निवृत्य सुतं पृष्ट्वा रुष्टोऽस्मै दुष्टमानसः ॥ २३९ ॥ शिरः पुत्रस्य निर्भिद्य लकुटोपलताडनैः । चरणौ स्वौ च निर्वेदाद्बभंज किल मूढधीः ॥ २४० ॥ राज्ञा च घातितो मृत्वा नकुलत्वमुपागमत् । अप्रत्याख्यानलोभेन नीतः सोऽयं दशामिमां ॥ २४१ ॥ युष्मद्दानं समीक्ष्यैते प्रमोदं परमागताः । प्राप्ता जातिस्मरत्वं च निर्वेदमधिकं श्रिताः ॥ २४२ ॥ भवद्दानानुमोदेन बद्धायुष्काः कुरुष्वमी । ततोऽमी भीतिमुत्सृज्य स्थिता धर्मश्रवार्थिनः ॥ २४३ ॥ इतोऽष्टमे भवे

अपने घर ईंटें डलवाना प्रारंभ किया ॥ २३५-२३६-२३७ ॥ एकदिन उसे अपनी पुत्रीके गांव जाना पड़ा था इसलिये वह अपना सब काम अपने पुत्रको सोंप गया था और कह गया था कि हे पुत्र उन मजूरोंको भोजनादि देकर अपने घर ईंटें डलवा लेना ॥ २३८ ॥ यह कहकर वह तो चला गया परंतु उसकी आज्ञानुसार उसका पुत्र अपने घर उन मजूरोंसे ईंटें न डलवा सका जब वह दुष्ट लौट कर घर आया और पूछनेसे उसे मालूम हुआ कि उसके पुत्रने घर ईंटें नहीं डलवाई हैं तब तो उसके क्रोधका ठिकाना न रहा ॥ २३९ ॥ मारे क्रोधके लकडी और पत्थरोंकी मारसे अपने उस पुत्रका शिर तोड डाला तथा उसमूर्खने उस दुःखसे दुःखी होकर अपने भी पैर तोड लिये ॥ २४० ॥ अंतमें वहांके राजाने भी ये सब समाचार सुनकर उसे कठोर दंड दिया जिससे मरकर अप्रत्याख्यानावरण लोभकषायके उदयसे यह न्योला हुआ है ॥ २४१ ॥ हे राजन् ! तेरे दिये हुये दानको देखकर इन चारोंको ही बड़ा भारी हर्ष हुआ है, तथा इन्हें जातिस्मरण भी हुआ है जिससे अब ये संसारसे विरक्त भी हुये हैं ॥ २४२ ॥ इन्होंने तेरे दिये हुये दानकी अनुमोदना की है इसलिये इन्हें उत्तमभोगभूमिका बंध हुआ है और इसलिये ही ये सब डर छोड़कर धर्मश्रवण करनेकेलिये यहां हमारे पास बैठे हुये हैं ॥ २४३ ॥ हे राजन् ! इस भवसे

भाविन्यपुनर्भवतां भवान् । भवितामी च तत्रैव भवे सेत्स्यत्यसंशयं ॥ २४४ ॥ तावच्चाभ्युदयं सौख्यं दिव्यमानुषगोचरं । त्वयैव सममेतेऽनुभोक्तारः पुण्यभागिनः ॥ २४५ ॥ श्रीमती च भवत्तीर्थे दानतीर्थप्रवर्त्तकः । श्रेयान्भूत्वा परं श्रेयः श्रयिष्यति न संशयः ॥ २४६ ॥ इति चारणयोगींद्रवचः श्रुत्वा नराधिपः । दधे रोमांचितं गात्रं ततं प्रेमांकुरैरिव ॥ २४७ ॥ ततोऽभिवंद्य योगींद्रौ नरेंद्रः प्रिययाऽन्वितः । स्वावासं प्रत्यगात्प्रीतैः समं मतिवरादिभिः ॥ २४८ ॥ मुनी च वातवसनौ वायुमन्वीयतुस्तदा । मुनिवृत्तेरसंगत्वं ख्यापयंतौ नभोगती ॥ २४९ ॥ नृपोऽपि तद्गुणध्यानमुत्कंठितमानसः । तत्रैव तदहःशेषमतिवाह्य ससाधनः ॥ २५० ॥ ततः प्रयाणकैः कैश्चित्संप्रापत्पुंडरीकिणीं । तत्रापश्यच्च

आठवें भवमें जब तुम वृषभदेव तीर्थंकर होकर सिद्ध होओगे उससमय ये भी तुम्हारे ही पुत्र होकर निःसंदेह सिद्ध होंगे ॥ २४४ ॥ और तबतक ये पुण्यवान् जीव तुम्हारे साथ साथ ही देव और मनुष्योंके उत्तम उत्तम सुख और विभूतिओंका अनुभव करते रहेंगे ॥ २४५ ॥ इस श्रीमतीका जीव भी तुम्हारे तीर्थंकर होनेके समय दानतीर्थको प्रवर्तन करनेवाला राजा श्रेयान होगा और तपश्चरणकर सिद्ध होगा इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ २४६ ॥ इसप्रकार उन चारण मुनिराजके वचन सुनकर राजा वज्रजंघका शरीर हर्षसे रोमांचित हो गया था और उससमय वह शरीर ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों प्रेमसे उत्पन्न हुये अंकूरोंका समूह ही हो ॥ २४७ ॥ तदनंतर वज्रजंघने उन दोनों मुनिराजोंको नमस्कार किया और रानी श्रीमती तथा अति प्रसन्न हुये मतिवर आदि मंत्री पुरोहितादिकोंके साथ साथ अपने डेरेपर लौट आया ॥ २४८ ॥ तदनंतर वायुरूपी वस्त्रोंको धारण करनेवाले वे दोनों ही चारणमुनि मुनिके परिग्रहरहित आचरणको साक्षात् प्रगट करते हुये वायुके साथ साथ ही आकाशमार्गसे गमन कर गये ॥ २४९ ॥ महाराज वज्रजंघने भी उन मुनिराजका ध्यान करते हुये तथा उनके ध्यानसे उत्कंठित चित्त होकर सेनाके साथ साथ बचे हुये उस दिनको वहीं व्यतीत किया ॥ २५० ॥ तदनंतर सबने वहांसे प्रस्थान किया और कितने ही दिन चलकर पुंडरीकिणी नगरीमें जा पहुंचे । वहां जाकर राजा

शोकार्त्तां देवीं लक्ष्मीमतीं सतीं ॥ २५१ ॥ अनुंधरीं च सोत्कंठां समाश्वास्य शनैरसौ । पुंडरीकस्य तद्राज्यमकरोन्निरुपप्लवं ॥२५२॥ प्रकृतीरपि सामाद्यैरुपायैः सोऽन्वरंजयत् । सामंतानपि संमान्य यथापूर्वमतिष्ठपत् ॥ २५३ ॥ समंत्रिकं ततो राज्ये बालं बालार्क्कसप्रभं । निवेश्य पुनराश्वृत्तः प्रापदुत्पलखेटकं ॥ २५४ ॥ अथ परमविभूत्या वज्रजंघः क्षितीशः पुरममरपुराभं स्वं विशत्कांतयामा । शतमख इव शच्या संभृतश्रीः स रेजे पुरवरवनितानां लोचनैः पीयमानः ॥ २५५ ॥ किमयममरनाथः किंस्विदीशो धननां किमुत फणिगणेशः किं वपुष्माननंगः । इति पुरनरना-

वज्रजंघने शोकसे व्याकुल हुई सती लक्ष्मीमती देवीको देखा ॥ २५१ ॥ तथा भाईके मिलनेकी उत्कंठासे बैठी हुई अपनी छोटी वहिन अनुंधरीको भी देखा। वज्रजंघने दोनोंको धीरे२ समझाकर आश्वासन दिया तथा उस राज्यमें जो कुछ उपद्रव थे उन सबको दूरकर पुंडरीकका वह राज्य सर्वथा उपद्रवरहित कर दिया ॥ २५२ ॥ वज्रजंघने साम दाम दंड भेद आदि उपायोंसे सब प्रजाको प्रसन्न किया तथा शूरवीर राजाओं और शत्रुओंको भी साम दामादि यथायोग्य उपायोंसे आदर सत्कारकर सबको पहिलेके समान (चक्रवर्तीके समयके समान) स्थापन किया ॥२५३॥ तदनंतर वाल सूर्यके समान तेजस्वी वालक पुंड-रीकको राज्यसिंहासनपर बिठाकर और राज्यका सब भार वहांके मंत्रियोंको सौंपकर राजा वज्रजंघ अपने उत्पलखेटक नामके नगरमें वापिस लौटकर आ पहुंचा ॥ २५४ ॥ जैसे इंद्र अपनी शचीसहित स्वर्गपुरीमें प्रवेश करता हुआ शोभायमान होता है उसीप्रकार उत्कृष्ट शोभासे सुशोभित होनेवाला राजा वज्रजंघ भी लक्ष्मी और अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ साथ स्वर्गपुरीके समान अपने उत्पलखेटक नगरमें बड़ी विभूतिके साथ २ प्रवेश करता हुआ सुशोभित हो रहा था। जिससमय वह नगरमें होकर अपने राजमहलको जा रहा था उससमय नगरकी अनेक सुंदर स्त्रियां अपने २ नेत्रोंके द्वारा उसकी सुंदरता-का पान कर रहीं थीं ॥ २५५ ॥ क्या यह कोई इंद्र है अथवा कुवेर है अथवा धरणींद्र है अथवा कामदेव ही साक्षात् शरीर धारणकर आ गया है। इसप्रकार उस नगरकी स्त्रीपुरुषोंकी परस्पर बातचीतके

रीजल्पनैः कथ्यमानो गृहमविशदुदारश्रीः पराध्यै महर्द्धिः ॥ २५६ ॥ तत्रासौ सुखमावसत्स्वरुचितान्भोगान्स्वपुण्योर्ज्जितान् भुंजानः षड्तु-प्रमोदजनने हर्म्ये मनोहारिणि । संभोगैरुचितैः शचीमिव हरिः संभावयन्प्रेयसीं नैनं धर्ममनुस्मरन्स्मरनिभः कीर्तिं च तन्वन्दिशि ॥ २५७ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रीमतीवज्रजंघपात्रदानानुवर्णनं नामाष्टमं पर्व ।

द्वारा चारों ओर जिसकी प्रशंसा हो रही है तथा जो अनेक महा ऋद्धिओंको धारण करनेवाला है ऐसे उस राजा वज्रजंघने अतिउत्कृष्ट शोभा और बहुतसी संपत्तिओंसे शोभायमान ऐसे अपने घरमें प्रवेश किया ॥ २५६ ॥ वह राजमहल बहुत ही मनोहर था छहों ऋतुओंके अनुकूल सुख देनेवाले सब सामान जिसमें उपास्थित थे ऐसे उस राजमहलमें अपने पुण्योदयसे प्राप्त हुये इच्छानुसार अनेक भोगोपभोगोंका अनुभव करता हुआ राजा वज्रजंघ सुखसे निवास करता था । तथा जैसे संभोगादि उचित उपायोंके द्वारा इंद्र शचीको प्रसन्न करता है उसीप्रकार कामदेवके समान अतिशय सुंदर वह राजा संभोगादि समुचित उपायोंके द्वारा अपनी प्रियतमा श्रीमतीको प्रसन्न करता था । तथा सदा जैनधर्मको स्मरण रखता था और सब दिशाओंमें अपनी कीर्त्तिका विस्तार करता रहता था ॥२५७॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें श्रीमती और वज्रजंघके पात्रदानका वर्णन करनेवाला यह आठवां पर्व समाप्त हुआ ।



अथ नवमं पर्व ।

अथ त्रिवर्गसंसर्गैरम्यं राज्यं प्रकुर्वतः । तस्य कालोगमद्भूयान्भोगैः षड्तुसुंदरैः ॥ १ ॥ स रेजे शरदारंभे प्रफुल्लाब्जसरोजले। वनेष्वयुक्छदामोदसुभगेषु प्रियान्वितः ॥ २ ॥ सरित्पुलिनदेशेषु प्रियाजघनहारिषु । राजहंसो धृतिं लेभे सध्रीचीमनुयन्नयं ॥ ३ ॥ कुर्वन्नीलोत्पलं कर्णे स कांताया वतंसकं । शोभामिव दृशोरस्यास्तेनाभूत्सन्निकर्षयन् ॥ ४ ॥ सरसाब्जरजःपुंजपिंजरं स्तनमंडलं । स पश्यन्बहुमेनेस्याः कामस्येव करंडकं ॥ ५ ॥ वासगेहे समुत्सर्पद्धूपामोदसुगांधिनि । प्रियास्तनोष्मणा भेजे हिमर्तौ स परां धृतिं ॥ ६ ॥ कुंकुमालिप्तसर्वांगीमन-

अथ नवम पर्व

तदनंतर वह राजा वज्रजंघ धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंके संबंध प्राप्त होनेसे अतिशय मनोहर राज्यका सुख अनुभव करने लगा तथा छहों ऋतुओंके सुंदर भोग भोगने लगा । इसप्रकार राज्य और भोगोंका अनुभव करते हुये उसका बहुतसा समय व्यतीत हो गया था ॥ १ ॥ अपनी प्रियतमा श्रीमतीके साथ वह राजा शरदऋतुके प्रारंभसमयमें खिले हुये कमलोंसे अत्यंत सुशोभित तालावोंमें क्रीडा करता था अथवा सप्तच्छद जातिके वृक्षोंसे अत्यंत सुगंधित और सुहावने बनोंमें क्रीडा करता था ॥ २ ॥ कभी राजहंसके समान श्रीमतीके पीछे पीछे गमन करता हुआ श्रीमतीके जघनस्थलोंके समान मनोहर नदियोंके किनारेपर क्रीडा करता हुआ संतुष्ट होता था ॥ ३ ॥ कभी श्रीमतीके कानोंमें नील कमलोंके आभूषण पहनाता था मानों उन नीलकमलके आभूणोंके बहानेसे श्रीमतीके नेत्रोंकी शोभा ही स्थापन करता हो ॥४॥ श्रीमतीके दोनों ही स्तनमंडल उन तालावोंके कमलोंकी परागरजके समूहसे पीले पडगये थे जिससे वे दोनों ऐसे जान पडते थे मानों कामदेवके केसर रखनेके पिटारे ही हों । राजा वज्रजंघ उन दोनों स्तनमंडलोंको देखता हुआ बहुत ही प्रसन्न होता था ॥५॥ हिमऋतुमें वह धूपकी मधुर सुगंधिसे अत्यंत सुगंधित ऐसे शय्यागृहमें श्रीमतीके स्तनोंकी उष्णतासे ही अत्यंत प्रसन्न होता

म्लानमुखांबुजां । प्रियामरमयद्गाढमाश्लिष्यन् शिशिरागमे ॥ ७ ॥ मधौ मधुमदायत्तकामिनीजनसुंदरे । वनेषु सहकाराणां स रेमे रामया समं ॥ ८ ॥ अशोककलिकां कर्णे न्यस्यन्नस्या मनोभवः । जनचेतोभिदो दध्यौ शोणिताक्ताः स तीरकाः ॥ ९ ॥ घर्मे घर्मांबुविच्छेदिसरोनिलहृतक्लमः । जलकेलिविधौ कांतां रमयन्विजहार सः ॥ १० ॥ चंदनद्रवसिक्तांगीं प्रियां हारविभूषणां । कंठे गृह्णन् स घर्मोत्थं नाज्ञासीत्कमपि श्रमं ॥ ११ ॥ शिरीषकुसुमैः कांतामलंकुर्वन्वतंसितैः । रूपिणीमिव नैदाघीं श्रियं तां बहुमंस्त सः ॥ १२ ॥ घनागमे घनोपांतस्फुरत्तडितिसाध्वसात् । कांतयाश्लेष विश्लेषभीतया घनमेव सः ॥ १३ ॥ इंद्रगोपचिता भूमिरामंद्रस्तनिता घनाः । ऐंद्रचापं च पांथनां चक्रुरुत्कंठितं मनः

था ॥ ६ ॥ तथा शिशिरऋतुमें जिसका संपूर्ण शरीर केशरसे लिप्त हो रहा है तथा जिसका मुखकमल प्रसन्नतासे किंचित् खिल रहा है ऐसी श्रीमतीको गाढ आलिंगनकर प्रसन्न करता था॥७॥ बसंतऋतुमें वह श्रीमतीके साथ २ मद्यके (पौष्टिकपदार्थोंके) मदसे मदोन्मत्त हुई स्त्रियोंसे अत्यंत सुंदर ऐसे आम्रवृक्षोंके बनोंमें क्रीड़ा करता था॥८॥ कभी वह श्रीमतीके कानोंमें अशोक वृक्षकी नई कली पहनाता था। मानों मनुष्योंके चित्तको भेदन करनेवाले तथा रक्तसे रंगे हुये कामदेवके बाण ही स्थापन करता हो ॥ ९ ॥ गीष्मऋतुमें पसीनेको सोखलेनेवाली ऐसी तालावोंके समीपवर्ती वायुसे जिसकी सब खिन्नता दूर हो गई है ऐसा वह राजा वज्रजंघ जलक्रीडाकर श्रीमतीको प्रसन्न करता हुआ विहार करता था ॥ १० ॥ तथा घिसे हुये चंदनसे जिसका संपूर्ण शरीर लिप्त हो रहा है और जो गलेमें सुंदर हार डाले हुये है ऐसी श्रीमतीका आलिंगन करता हुआ वह राजा गर्मीके किसी भी परिश्रमको नहीं जानता था ॥११॥ इन्हीं गर्मियोंके दिनों में वह सरसोंके फूलोंके आभूषण बनाकर उनसे श्रीमतीको अलंकृत करता था और फिर उस श्रीमतीको ही साक्षात् रूपधारण करनेवाली ग्रीष्म ऋतुकी शोभाके समान सब कुछ मानता था ॥ १२ ॥ इसीप्रकार वर्षा ऋतुमें जबकि बादलोंके किनारेपर बिजली चमकती थी उससमय वियोगके भयसे अत्यंत भयभीत हुई श्रीमतीके साथ वह राजा वज्रजंघ स्वयं बिजलीके डरसे डरकर

॥ १४ ॥ नभः स्थगितमस्साभिः सुरगोपैस्तथा मही । क्व यांथेति न्यषेधन्नु पथिकान्गर्जिता घनाः ॥ १५ ॥ विकासिकुटजच्छन्ना भूधराणामुपत्यकाः । मनोऽस्य निन्युरौत्सुक्यं स्वनैरुन्मदकेकिनां ॥ १६ ॥ कदंबानिलसंवाससुरभीकृतसानवः । गिरयोस्य मनो जन्हुः काले नृत्यच्छिखावले ॥ १७ ॥ अनेहसि लसद्विद्युद्योतितविहायसि । स रेमे रम्यहर्म्याग्रमधिशय्य प्रियासखः ॥ १८ ॥ सरितामुद्धतांभोभिः प्रियामानप्रभाविभिः । प्रवाहैर्धृतिरस्यासीद्वर्षर्त्तौ समुपागमे ॥ १९ ॥ भोगान्षड्तुजानित्थं भुंजानोसौ सहांगनः । साक्षात्कृत्येव मूढानां तपःफलमदर्शयत् ॥२०॥

गाढ आलिंगन करता था ॥ १३ ॥ वर्षा ऋतुमे पृथिवी वीरवहूटियोंसे (एकप्रकारके लालरंगके छोटे छोटे कीडे) भरगई थी, बादल गंभीरशब्दोंसे गरज रहे थे और चारों ओर इंद्रधनुष दिखाई दे रहे थे इन सब कारणोंसे उससमय पाथिकोंका मन अत्यंत उत्कंठित होता था ॥ १४ ॥ जो बादल गरज रहे थे वे मानों यह कहकर ही पाथिकलोगोंको गमन करनेसे रोक रहे थे कि आकाश तो हम लोगोंने घेर लिया है और पृथिवी वीरवहूटियोंसे भरी हुई है अब तुम कहां जाओगे ? ॥ १५ ॥ इसी वर्षाऋतुमें फूले हुये कुटज जातिके वृक्षोंसे (कुरैया) अत्यंत शोभायमान पर्वतकी तराईकी भूमि उन्मत्त हुये मयूरोंके सुंदर शब्दोंसे राजा वज्रजंघका मन उत्कंठित कर रही थी ॥ १६ ॥ तथा जिससमय मयूर नृत्य कर रहे थे उस समय जिनके शिखर कदंव पुष्पोंकी सुगंध वायुसे अत्यंत सुगंधित हो रहे हैं ऐसे पर्वत राजा वज्रजंघका मन हरण कर रहे थे ॥ १७ ॥ जिसदिन चमकती हुई विजलीसे आकाश चमक रहा था उसदिन दिनमें ही वह राजा अपने सुंदर राजमहलके ऊपरीभागमें प्रियाके साथ शयन करता हुआ क्रीडा करता था ॥ १८ ॥ वर्षाऋतुमें स्त्रियोंका आभिमान दूर करनेवाले और उछलते हुये जलसे सुशोभित ऐसे नदियोंके प्रवाहसे ही उसे संतोष होता था ॥ १९ ॥ इसप्रकार वह राजा वज्रजंघ अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ साथ छहों ऋतुओंके भोगोपभोगोंका अनुभव करता था । मानों अज्ञानी लोगोंको पूर्व जन्ममें किये हुये तपश्चरणका फल प्रत्यक्ष ही दिखला रहा हो ॥ २० ॥

अथ कालागुरूध्द्दामधूपधूमाधिवासिते । मणिप्रदीपकोद्योतदूरीकृततमस्तरे ॥ २१ ॥ प्रतिपादुकविन्यस्तरत्नमंचोपशोभिनि । दधत्यालंबिभिर्मुक्ताजालकैर्हसितश्रियं ॥ २२ ॥ कुंदेंदीवरमंदारसांद्रमोदाश्रितालिनि । चित्रभित्तिगतानेकरूपकर्ममनोहरे ॥ २३ ॥ वासगेहेऽन्यदा शिश्ये तल्पे मृदुनि हारिणि । गंगासैकतनिर्भासिदुकूलप्रच्छलोज्ज्वले ॥ २४ ॥ प्रियास्तनतटस्पर्शसुखामीलितलोचनः । मेरुकंदरमाश्लिष्यन्साविद्युदिव वारिदः ॥ २५ ॥ तत्र वातायनद्वारापिधानारुद्धधूमके । केशसंस्कारधूपोद्यध्दूमेन क्षणमूर्च्छितौ ॥ २६ ॥ निरुद्धोच्छ्वासदौःस्थित्यादंतःकिंचिदिवाकुलौ । दंपती तौ

एकदिन वह राजा वज्रजंघ अपने शय्यागृहमें कोमल शय्यापर शयन कर रहा था, जिस महलमें वह सो रहा था वह महल कृष्ण अगुरुकी बनी हुई तेज धूपके धूमसे अत्यंत सुगंधित था। उसमें दीपककी जगहपर अनेक मणि रक्खे हुये थे जिनके प्रकाशसे अंधकार दूर जा खडा हुआ था। जिनके प्रत्येक पायोंमें रत्न लगे हुये हैं ऐसे अनेक मंचोंसे वह महल शोभायमान था। उसमें चारों ओर जो मोतियोंके गुच्छे लटक रहे थे उनसे उस महलकी शोभा वहुत वढगई थी। कुंद, नीलकमल और पारिजात जातिके फैले हुये पुष्पोंकी सुगंधिसे लुब्ध हुये भ्रमर उस महलमें गुंजार शद्ध कर रहे थे। उसकी दीवालोंपर जो अनेक प्रकारके चित्र बने हुये थे उनसे वह महल वहुत ही मनोहर जान पडता था। इसप्रकार सब तरहसे सुंदर उस महलमें कोमल मनोहर और गंगाकी वालूके समान शोभायमान स्वच्छ वस्त्रसे आच्छादित शय्यापर राजा वज्रजंघ शयन कर रहा था ॥ २१-२२-२३-२४ ॥ जैसे विजलीसहित वादल मेरुपर्वतकी गुफाओंका स्पर्श करते हुये सुशोभित होते हैं। उसीप्रकार वह वज्रजंघभी अपने दोनों नेत्र बंदकर श्रीमतीके स्तनोंके स्पर्शसे उत्पन्न हुये सुखका अनुभव करता हुआ निद्रा ले रहा था ॥ २५ ॥ सेवक लोग धूपघडोंमें धूप डालकर बाहर निकल गये थे। वे लोग झरोखोंके द्वार खोलना भूलगये थे इसलिये उनका धूआं उसी मकानमें रुककर भरगया था। उस धूपमेंसे जो केशोंको संस्कार करनेवाला धूपका समूह था उसके धूमसे वे

निशामध्ये दीर्घनिद्रामुपेयतुः ॥ २७ ॥ जीवापाये तयोर्देहौ क्षणाद्विच्छायतां गतौ । प्रदीपापायसंरुद्धतमस्कंधौ यथा गृहौ ॥२८ ॥ वियुतासुरसौ छायां न लेभे सह कांतया । पर्यस्त इव कालेन सलतः कल्पपादपः ॥ २९ ॥ भोगांगेनापि धूपेन तयोरासीत्परासुता । धिगिमान्भोगिभोगाभान्भोगान्प्राणापहारिणः ॥ ३० ॥ तौ तदा सुखसाद्भूतौ संभोगैरुपलालितैः । प्राप्तावेकपदे शोच्यां दशां धिक्संसृतिस्थितिं ॥ ३१ ॥ भोगांगैरपि जंतूनां यदि चेदीदृशी दशा । जनाः किमेभिरस्वंतैः कुरुतास्मते रतिं ॥ ३२ ॥ पात्रदानात्तपुण्येन बद्धोदक्कुरुजायुषौ । क्षणात्कुरूनसमासाद्य तत्र तौ जन्म

दोनों ही पतिपत्नी क्षणभरमें मूर्च्छित होगये ॥ २६ ॥ उन दोनोंके श्वास रुकगये जिसके दुःखसे उन दोनोंके अंतःकरणमें कुछ व्याकुलता हुई । अंतमें उसी रात्रिमें वे दोनों ही पति पत्नी सदाके लिये सोगये ॥ २७ ॥ जैसे दीपक वुझजानेसे वढे हुये अंधकारसमूहसे घर मलिन हो जाते हैं उसीप्रकार जीवके निकलजानेसे उन दोनोंके शरीर क्षणभरमें ही प्रभाशून्य मलिन हो गये थे ॥ २८ ॥ जैसे समय पाकर जडउखडकर नष्ट भ्रष्ट हो जानेसे लतासहित कल्पवृक्ष भी सुशोभित नहीं होते हैं उसीप्रकार प्राणरहित हो जानेसे प्रियाके साथ रहनेपर भी वह सुशोभित नहीं होता था ॥ २९ ॥ देखो ! जो धूप भोगोपभोग सेवन करनेमें कारण है उसीसे इन दोनोंकी मृत्यु हुई । इसलिये सर्पके फणाके समान प्राण हरण करनेवाले इन भोगोंको बार बार धिक्कार हो ॥ ३० ॥ जो श्रीमती और वज्रजंघ सदा ऊपर कहे हुये सुखोंका अनुभव करते थे तथा जो संभोग अथवा उत्तम भोगोपभोगादिके द्वारा अनेक प्रकारकी क्रीडा करते थे वे क्षणभरमें ही इस शोचनीय अवस्थाको प्राप्त हो गये? इसलिये इस संसारकी ऐसी स्थितिको बार बार धिक्कार हो ॥ ३१ ॥ भो भव्यजन हो देखो जो भोगोंके साधनोंसे ही प्राणियोंकी ऐसी अवस्था हो जाती है तो फिर अंतमें सदा दुःख देनेवाले इन भोगोंसे क्या प्रयोजन? अर्थात् इन्हें छोडो और श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये वीतरागमार्गमें श्रद्धान करो ॥ ३२ ॥ इन दोनोंने मुनियोंको जो दान दिया था और उससे जो

भेजतुः ॥ ३३ ॥ जंबूद्वीपमहामेरोरुत्तरां दिशमाश्रिताः । संत्युदक्कुरवो नाम स्वर्गश्रीपरिहासिनः ॥ ३४ ॥ मद्यातोद्यविभूषास्रग्दीपज्योतिर्गृहांगकाः । भोजनामत्रवस्त्रांगा इत्यन्वर्थसमाह्वयाः ॥ ३५ ॥ यत्र कल्पद्रुमा रम्या दशधा परिकीर्तिताः । नानारत्नमयाः स्फीतप्रभोद्योतितदिङ्मुखाः ॥ ३६ ॥ मद्यांगा मधुमैरेयसीध्वरिष्टासवादिकान् । रसभेदांस्तताामोदान्वितरंत्यमृतोपमान् ॥ ३७ ॥ कामोद्दीपनसाधर्म्यान्मद्यमित्युपचर्यते । तारवो रसभेदोऽयं यः सेव्यो भोगभूमिजैः ॥ ३८ ॥ मदस्य करणं मद्यं पानशौंडैर्यदादृतं । तद्वर्जनीयमार्याणामंतःकरणमोहदं ॥ ३९ ॥ पटहान्मर्दलांस्तालं झल्लरी-

---

कुछ पुण्य प्राप्त हुआ था उससे इन दोनोंके उत्तरकुरु भोगभूमिका बंध हुआ था इसलिये इन दोनोंने क्षणभरमें ही उत्तरकुरुमें पहुंचकर वहां जन्म धारण करलिया ॥ ३३ ॥ जंबूद्वीपके अंतर्गत सुदर्शन नामक महा मेरुपर्वतकी उत्तर दिशाकी ओर उत्तरकुरु नामकी एक भूमि है जो कि अपनी शोभासे स्वर्गकी शोभाकीओर भी हंस रही है ॥ ३४ ॥ जहांपर मद्यांग, वादित्रांग, भूषणांग, मालांग, दीपांग, ज्योतिरंग, गृहांग, भोजनांग, भाजनांग और वस्त्रांग ये अपने २ सार्थक नामको धारण करनेवाले दशप्रकारके मनोहर कल्पवृक्ष हैं, ये कल्पवृक्ष अनेक रत्नमय हैं अपनी उज्ज्वल प्रभाके प्रकाशसे दशों दिशाओंको प्रकाश करनेवाले हैं ॥ ३५-३६ ॥ इनमेंसे मद्यांग जातिके वृक्ष अमृतके समान मीठे तथा जिनकी सुगंधि चारोंओर फैल रही है ऐसे मैरेय सीधु अरिष्ट और आसव आदि इक्षुरसके समान अनेक प्रकारके रस देते हैं ॥ ३७ ॥ जैसे मद्यमें कामोद्दीपन धर्म रहता है। उसीप्रकार इन रसोंमें भी कामोद्दीपन धर्म रहता है इसलिये इनमें मद्यका केवल एक धर्म रहनेसे उपचारसे इन रसोंको मद्य कहते हैं। वास्तवमें ये वृक्षोंके एकप्रकारके रस हैं जिन्हें आर्य भोगभूमिजलोग सेवन करते हैं ॥ ३८ ॥ उन्मत्त पुरुष मद उत्पन्न करनेवाले तथा अंतःकरणको मोहित करनेवाले जिस मद्यका सेवन करते हैं वह मद्य आर्यपुरुषोंकेलिये सर्वथा त्याज्य है भावार्थ— मद्यांग जातिके वृक्ष केवल पौष्टिक रस देते हैं मद उत्पन्न करनेवाला और अंतःकरणको

शंखकाहलं । फलंति पणवाद्यांश्च वाद्यभेदांस्तदंघ्रिपाः ॥ ४० ॥ तुलाकोटिककेयूररुचिकांगदवेष्टिकान् । हारान्मकुटभेदांश्च सुवते भूषणांगकाः ॥४१॥ स्रजो नानाविधाः कर्णपूरभेदांश्च नैकधा । सर्वर्तुकुसुमाकीर्णाः सुमनोंऽगा दधत्यलं ॥ ४२ ॥ मणिप्रदीपैराभांति दीपांगाख्या महाद्रुमाः । ज्योतिरंगाः सदोद्योतमातन्वंति स्फुरद्रुचः ॥ ४३ ॥ गृहांगाः सौधमुत्तुंगं मंडपं च सभागृहं । चित्रनर्त्तनशालाश्च सन्निधापयितुं क्षमाः ॥ ४४ ॥ भोजनांगा वराहारानमृतस्वादुदायिनः । वपुष्करान्फलंत्यात्तषड्सानशनादिकान् ॥ ४५ ॥ अशनं पानकं खाद्यं स्वाद्यं चान्नं चतुर्विधं । कट्वाम्लतिक्तम-

मोहित करनेवाला मद्य न तो उन वृक्षोंसे उत्पन्न ही होता है और न भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले आर्यलोग ऐसा मद्य पीते हैं। वह रस केवल पौष्टिक होनेसे ही मद्य कहलाता है ॥ ३९ ॥ मद्यांगके समान वादित्रांग वृक्ष दुंदुभी, मृदंग, ताल झल्लरी शंख भेरी चंग आदि अनेकप्रकारके वाजे देते हैं ॥ ४० ॥ भूषणांग जातिके वृक्ष नूपुर (पाजेव) वाजूवंद गलेमें पहननेके आभूषण, भुजाओंमें पहननेके अनंत, करधनी, हार और मुकुट आदि अनेक प्रकारके आभूषण देते हैं ॥ ४१ ॥ मालांग जातिके वृक्ष छहों ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पुष्पोंकी वनी हुई अनेकप्रकारकी मालायें और छहों ऋतुओंके पुष्पोंसे बने हुये अनेक प्रकारके कर्णफूल आदि वहुतायतसे देते हैं ॥ ४२ ॥ दीपांग जातिके कल्पवृक्ष मणिमय अनेक प्रकारके दीपोंसे सुशोभित रहते हैं। ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्ष अपनी कांतिसे दैदीप्यमान रहते हुये सदा प्रकाश किया करते हैं ॥ ४३ ॥ गृहांग जातिके कल्पवृक्ष ऊंची ऊंची शिखरवाले, राजभवन, मंडप, सभाभवन, चित्रशाला नृत्यशाला आदि अनेकप्रकारके मकान स्थापन करनेकेलिये समर्थ होते हैं ॥ ४४ ॥ भोजनांग जातिके वृक्ष अमृतके समान स्वादिष्ट, शरीरको पुष्ट करनेवाले और छहों रससहित अशनादि उत्तमोत्तम आहार अर्पण करते हैं ॥४५॥ अशन अथात् रोटी दाल भात आदि खानेकी चीजें पानक अर्थात् दूध पानी आदि पीनेकी चीजें खाद्य अर्थात् रबडी आदि चाटनेकी चीजें और स्वाद्य अर्थात् पान सुपारी आदि स्वाद लेनेकी

धुरकषायलवणा रसाः ॥ ४६ ॥ स्थालानि चषकान् शूक्तिभृंगारकरकादिकान् । भाजनांगा दिशंत्याविर्भवच्छाखाविषंगिणः ॥ ४७ ॥ चीनपट्टदुकूलानि प्रावारपरिधानकं । मृदुश्लक्ष्णमहार्घाणि वस्त्रांगा दधति द्रुमाः ॥ ४८ ॥ न वनस्पतयोऽप्येते नैव देवैरधिष्ठिताः । केवलं पृथिवीसारस्तन्मयत्वमुपागताः ॥ ४९ ॥ अनादिनिधनाश्चैते निसर्गात्फलदायिनः । न हि भावस्वभावानामुपालंभः सुसंगतः ॥ ५० ॥ नृणां दानफलादेते फलंति

चीजें, इसप्रकार यह चारप्रकारका आहार कहलाता है। कडवा, खट्टा, चरपरा, मीठा, कषायला और लवण ये छह प्रकारके रस कहलाते हैं ॥ ४६ ॥ भाजनांगजातिके वृक्ष थाली, कटोरा, सीपके आकारके बर्तन झारी करका (करवा) आदि अपनी शाखाओंपर लगे हुये अनेकप्रकार बर्तन देते हैं ॥ ४७ ॥ इसीप्रकार वस्त्रांगजातिके वृक्ष रेशमी वस्त्र, दुपट्टे, धोती आदि अनेकप्रकारके कोमल चिकने और बहुमूल्य वस्त्र देते हैं ॥४८॥ ये कल्पवृक्ष न तो कोई वनस्पति हैं और न देवोंने स्थापन किये हैं। किंतु केवल पृथिवीका सार अर्थात् भूगर्भके रसविशेष सार पदार्थ ही कल्पवृक्षरूप और भोजन वस्त्र वादित्र आदि पदार्थरूप परिणत हो जाते हैं ॥४९॥ ये कल्पवृक्ष अनादिनिधन हैं अर्थात् नित्य रहते हैं। अपने २ नामके अनुसार फल देना इनका स्वाभाविक धर्म रहता है किसी पदार्थके किसी स्वभावमें दोष देना युक्तिसंगत नहीं है। भावार्थ—कदाचित् कोई पुरुष कल्पवृक्षोंको साधारण वृक्ष मानकर उनमें भोजन वस्त्र आदि पदार्थोंका लगना असंभव मानकर दोष दे अथवा इन कल्पवृक्षोंको पार्थिव ही मानकर इनमें भोजन वस्त्रादिका लगना असंभव मानकर दोष दे उसकेलिये आचार्य कहते हैं कि जिसका जो स्वभाव है उसमें कोई किसीतरहका दोष देना युक्तिशून्य है। जैसे नीम कडवा होता है उसके कडवेपनमें कोई किसीतरहका दोष नहीं दे सकता इसीप्रकार पृथिवीके साररूप रसविशेषसे बने हुये पार्थिव कल्पवृक्षोंमें भोजन वस्त्र आदि भिन्न २ पदार्थोंके लगनेका स्वभाव है। उसमें भी कोई किसीप्रकारका दोष नहीं दे सकता। जैसे आजकलके वृक्ष समय

विपुलं फलं । यथाऽन्यपादपाः काले प्राणिनामुपकारिणः ॥ ५१ ॥ सर्वरत्नमयं यत्र धरणीतलमुज्ज्वलैः ॥ प्रसूनैः सोपहारत्वान्मुच्यते जातु न श्रिया ॥ ५२ ॥ यत्र तृण्या महीपृष्ठं चतुरंगुलसंमिता । शुकच्छायांशुकेनेव प्रच्छादयति हारिणी ॥ ५३ ॥ मृगाश्चरंति यत्रत्याः कोमलास्तृणसंपदः । स्वाद्वी मृर्दीयसी हृद्या रसायनरसास्थया ॥ ५४ ॥ सोत्पला दीर्घिका यत्र विदलत्कनकांबुजाः । हंसानां कलमंद्रेण विरुतेन मनोहराः ॥ ५५ ॥ सरांस्युत्फुल्लपद्मानि वनमुन्मत्तकोकिलं । क्रीडाद्रयश्च रुचिराः संति यत्र पदेपदे ॥ ५६ ॥ यत्राधूय तरून्मंदमावाति मृदुमारुतः । पटवासमिवातन्वन्मकरंदरजोऽभितः ॥ ५७ ॥ यत्र गंधवहाधूतैराकीर्णा पुष्परेणुभिः । वसुधा राजते पीतक्षौमेणेवावकुंठिता ॥ ५८ ॥ यत्रामोदितदिग्भागैर्मरुद्भिः

पाकर प्राणियोंका उपकार करते हैं उसीप्रकार ये कल्पवृक्ष भी मनुष्योंके दान देनेके फलसे अनेक फलोंसे फलते हैं । ५१ । वहांकी पृथिवी सबतरहके रत्नोंसे वनी हुई है और उसपर उज्ज्वल फूल सदा पडे रहते हैं इसलिये वहांकी पृथिवीकी शोभा कभी कम होती ही नहीं है ॥ ५२ ॥ वहांकी भूमिपर सदा चार अंगुल ऊंची घास जमी रहती है उस घाससे वह पृथ्वी ऐसी शोभायमान होती है मानों इसने तोतेके रंगके समान हरितवर्णके वस्त्रसे अपनी पीठ ही ढक ली हो ॥ ५३ ॥ वहांके हरिण अमृतरसके समान अतिशय स्वादिष्ट कोमल और मनोहर तृणरूपी कोमल संपतिका स्वाद लेते हैं ॥ ५४ ॥ वहां अनेक वावडी हैं जो कि सब कमलोंसे सुशोभित हैं जिनमें सुवर्णके समान पीले रंगके कमल फूल रहे हैं वे वावडिमें हंसोंके मधुर और गंभीर शब्दोंसे वडी ही मनोहर जान पडती हैं ॥ ५५ ॥ उस देशमें जगह जगह तालाव हैं जिनमें कमल फूल रहे हैं जगह २ उन्मत्त कोपलोंसे भरे हुये बन हैं और जगह २ वडे ही मनोहर क्रीडापर्वत हैं ॥ ५६ ॥ उस देशमें सुगंधित चूर्णके समान चारों ओर परागरजको फैलाता हुआ कोमल वायु वृक्षोंको हिलाता हुआ धीरे २ वहता है ॥ ५७ ॥ वायुके द्वारा उड २ कर आये हुये परागरजसे आच्छादित हुई वहांकी पृथ्वी ऐसी शोभायमान हो रही है मानों वह पीले रंगके पाटके वने हुये वस्त्रसे ही ढकी हो ॥ ५८ ॥ उस देशमें संपूर्ण दिशाओंको

पुष्पजं रजः । नभसि श्रियमाधत्ते वितानस्यामितो हृतं ॥ ५९ ॥ यत्र नातपसंबाधा न वृष्टिर्न हिमादयः । नेतयो दंदशूका वा प्राणिनां भयहेतवः ॥ ६० ॥ न ज्योत्स्ना नाप्यहोरात्रविभागो नर्तुसंक्रमः । नित्यैकवृत्तयो भावा यत्रैषां सुखहेतवः ॥ ६१ ॥ वनानि नित्यपुष्पाणि नलिन्यो नित्यपंकजाः । यत्र नित्यसुखा देशा रत्नपांसुभिराचिताः ॥ ६२ ॥ यत्रोत्पन्नवतां दिव्यमंगुल्याहारमुद्रसं । वदंत्युत्तानशय्यायामासप्ताहव्यतिक्रमात् ॥ ६३ ॥ ततो दशांतरं तेषामामनंति मनीषिणः ॥ दंपतीनां महीरंगरंगिणां दिनसप्तकं ॥ ६४ ॥ सप्ताहेन परेणाथ प्रोत्थाय कलभाषिणः ।

सुगंधित करनेवाले वायुके द्वारा उडउडकर आकाशमें भरा हुआ पराग रज ऐसा सुशोभित होता है मानों चारोंसे तना हुआ सुगंधित चंदोवा ही हो ॥ ५९ ॥ उस देशमें न तो कभी गर्मीका क्लेश होता है न पानी वरसता है और न शीत आदिका दुःख सहना पडता है । प्राणियोंको भय उत्पन्न करनेवाल सर्प आदिक अथवा किसीप्रकारकी ईति भीती भी वहां कभी नहीं होती हैं ॥६०॥ वहां न चांदनी है न दिनरातका विभाग है और न ऋतुओंका संक्रमण होता है । वहांके सब पदार्थ वहांके आर्यपुरुषोंको सुख देनेवाले सदा एकसे रहते हैं ॥ ३१ ॥ वहांके बन सदा फूले फले रहते हैं नलिनियोंपर (कमलोंकी लताओंपर) सदा कमल लगे रहते हैं । और रत्नोंकी धूलसे व्याप्त हुये वहांके देश सदा सुखदायी रहते हैं ॥ ६२॥ उस देशमें उत्पन्न हुये आर्यपुरुष प्रथम सात दिनतक तो अपनी शय्यामें ही ऊपरको मुंह किये हुये पडे रहते हैं और अपना अंगूठा चोखनेसे जो दिव्य रस निकलता है उसीसे जीवित रहते हैं ॥ ६३ ॥ तदनंतर दूसरे सप्ताहकेलिये पंडित लोग ऐसा मानते हैं की दूसरे सप्ताहमें उन दोनों दंपतियोंमें एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जानेकी सामर्थ्य हो जाती है और वे दोनों ही पृथ्वीरूपी रंगभूमिमें घुटनोंके बल इधरसे उधरतक फिरा करते हैं ॥ ६४ ॥ तीसरे सप्ताहमें वे लोग खडे हो जाते हैं मीठी २ बातें कहने लगते हैं और क्रीडा करते हुये गिरते पडते स्वलितगतिसे पृथ्वीपर विहार किया करते हैं ॥ ६५ ॥ चौथे सप्ताहमें वे अपने पैर स्थिरतासे

स्खलद्गति सहेलं च संचरंति महीतले॥ ६५ ॥ ततः स्थिरपदन्यासैर्व्रजंति दिनसप्तकं । कलाज्ञानेन सप्ताहं निर्विशंति गुणैश्च ते ॥ ६६ ॥ परेण सप्तरात्रेण संपूर्णनवयौवनाः । लसदंशुकसद्भूषा जायंते भोगभागिनः ॥ ६७ ॥ नवमासं स्थिता गर्भे रत्नगर्भगृहोपमे । यत्र दंपतितामेत्य जायंते दानिनो नराः ॥ ६८ ॥ यदा दंपतिसंभूतिर्जनयित्रोः परासुता । तदैव तत्र पुत्रादिसंकल्पो यत्र देहिनां ॥ ६९ ॥ क्षुतजृंभितमात्रेण यत्रा-हुर्मृतिमंगिनां । स्वभावमार्दवाद्यांति दिवमेव यदुद्भवाः ॥ ७० ॥ देहोच्छ्रायं नृणां यत्र नानालक्षणसुंदरं । धनुषां षट्सहस्राणि विवृण्वंत्याप्तसूक्तयः

रखकर चलने लगते हैं। तथा पांचवें सप्ताहमें उन्हें चौंसट कलाओंका ज्ञान हो जाता है और वे अनेक गुणोंसे सुशोभित हो जाते हैं ॥ ६६ ॥ छठे सप्ताहमें वे संपूर्ण नव यौवनसे सुशोभित हो जाते हैं और सातवें सप्ताहमें वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित होकर अनेकप्रकारके भोगोपभोगोंको अनुभव करने-वाले हो जाते हैं ॥ ६७ ॥ जो पुरुष पूर्व भवमें उत्तम दान देते हैं वे उस भोगभूमिमें आकर उत्पन्न होते हैं उन्हें गर्भमेंभी दुःख नहीं होता जैसे कोई रत्नोंके महलमें निवास करे उसीप्रकार वे नौ महीनेतक गर्भमें रहते हैं और फिर स्त्रीपुरुष दोनोंही साथ साथ जन्म लेकर तथा दोनों ही दंपति-पनेको प्राप्त होकर वहां निवास करते हैं ॥ ६८ ॥ वहां जिस समय दंपतिका जन्म होता है उसीसमय उनके मातापिताका मरण हो जाता है इसलिये वहांके जीवोंमें पुत्र पुत्री आदिका संकल्प[1] भी नहीं होता है ॥६९॥ केवल छींक और जंभाई लेनेसे ही वहांके जीवोंकी मृत्यु हो जाती है अर्थात् संतान उत्पन्न होनेके समय ही स्त्रीको छींक और पुरुषको जंभाई आती है और उसीसे उन दोनोंकी मृत्यु हो जाती है। उस देशके उत्पन्न होनेवाले जीव स्वभावसे ही कोमल परिणामी होते हैं इसलिये वे मरकर स्वर्गमें ही उत्पन्न होते हैं ॥ ७० ॥ उनका शरीर सामुद्रिक शास्त्रमें कहे हुये अनेक लक्षणोंसे सुशोभित होता है गणधरादि देवोंने उनके शरीरकी उंचाई छह हजार धनुष कही है ॥ ७१ ॥ वहांके

१ पुत्र पुत्री आदिका संकल्प न होनेसे उन दोनों दंपतियोंमें साथ साथ उत्पन्न होनेपरभी भाई वहिनका संकल्प नहीं होता है.

॥ ७१ ॥ पल्यत्रयमितं यत्र देहिनामायुरिष्यते । दिनत्रयेण चाहारः कुवलीफलमात्रकः ॥ ७२ ॥ यद्भुवां न जरातंका न वियोगो न शोचनं । नानिष्टसंप्रयोगश्च न चिंता दैन्यमेव च ॥ ७३ ॥ न निद्रा नातितंद्राणं नात्युन्मेषनिमेषणं । न शरीरमलं यत्र न लाला स्वेदसंभवः ॥ ७४ ॥ न यत्र विरहोन्मादो न यत्र मदनज्वरः । न यत्र खंडना भोगे सुखं यत्र निरंतरं ॥ ७५ ॥ न विषादो भयं ग्लानिर्नारुचिः कुपितं च न । न कार्पण्यमनाचारो न बली यत्र नाबलः ॥ ७६॥ बालार्कसमनिर्भासा निःस्वेदा नीरजोऽम्बराः । यत्र पुण्योदयान्नित्यं रंरम्यंते नराः सुखं ॥ ७७ ॥ दशांगतरुसंभूतभोगानुभवनोद्भवं । सुखं यत्रातिशेते तां चक्रिणो भोगसंपदं ॥ ७८ ॥ यत्र दीर्घायुषां नृणां नाकांडे मृत्युसंभवः । निरुपद्रवमायुः

जीवोंकी आयु तीन पल्य होती है और वे तीन दिन बाद बदरीफलके (छोटे बेरके) समान आहार लेते हैं ॥ ७२ ॥ वहांके उत्पन्न हुये जीवोंके न तो बुढापा आता है, न रोग होता है, वियोग, शोक, अनिष्टसंयोग, चिंता आदि भी नहीं होते हैं ॥ ७३ ॥ उन्हें न निद्रा आती है न अतिशय तंद्रा आती है उनके न आलस ही होता है और न उनकी आखोंकी टिमिकार लगती है उनके शरीरमें मल मूत्र भी नहीं होता और न लार पसीना आदि होता है ॥ ७४ ॥ वहां किसी विरहसे उत्पन्न होनेवाला उन्माद भी नहीं होता और न वहां किसीके कामज्वर होता है । वहांपर किसीके भोगोप-भोगमें कभी विच्छेद भी नहीं होता । केवल वहां निरंतर सुख ही सुख रहता है ॥ ७५ ॥ वहां न किसीको विषाद है न भय है न ग्लानि है न अरुचि है न क्रोध है न कृपणता है न अनाचार है न कोई बलवान है और न कोई निर्बल है ॥ ७६ ॥ वहांके मनुष्य प्रातःकालमें उदय होते हुये सूर्यके समान दैदीप्यमान होते हैं । उनके शरीरपर पसीना नहीं आता वे सदा निर्मल वस्त्रोंसे सुशोभित रहते हैं और अपने पुण्यकर्मके उदयसे सदा सुखपूर्वक क्रीडा किया करते हैं ॥ ७७ ॥ उन्हें दश प्रकारके कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुये भोगोंके अनुभव करनेसे जो सुख मिलता है वह चक्रवर्तीके भोग और संपत्तिकाभी उल्लंघन करता है । भावार्थ— भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंको जो भोगोप-

स्वं जीवंत्युक्तप्रमाणकं ॥ ७९ ॥ सर्वेऽपि समसंभोगाः सर्वे समसुखोदयाः । सर्वे सर्वर्तुजान्भोगान्यत्र विंदंत्यनामयाः ॥ ८० ॥ सर्वेऽपि सुंदराकाराः सर्वे वज्रास्थिबंधनाः । सर्वे चिरायुषः कांत्या गीर्वाणा इव यद्भुवः ॥ ८१ ॥ यत्र कल्पतरुच्छायामुपेत्य ललितास्मितौ । दंपती गीतवादित्रै रमेते सततोत्सवैः ॥ ८२ ॥ कलाकुशलता कल्पदेहत्वं कलकंठता । मात्सर्येर्ष्यादिवैकल्यमपि यत्र निसर्गजं ॥ ८३ ॥ स्वभावसुंदराकाराः स्वभावललितेहिताः । स्वभावमधुरालापा मोदंते यत्र देहिनः ॥ ८४ ॥ दानाद्दानानुमोदाद्वा यत्र पात्रसमाश्रितात् ।

भोगोंके सुख प्राप्त होते हैं वे चक्रवर्तीको कभी नहीं मिल सकते ॥ ७८ ॥ वहांके मनुष्य दीर्घायुवाले होते हैं तथापि वीचमें उनका कभी मरण नहीं होता, वे सदा अपनी पूर्ण आयुको भोगकर ही मरते हैं और ऊपर कही हुई तीन पल्यकी पूर्ण आयुतक उपद्रवरहित सुखसे जीवित रहते हैं ७९ वहांके सब लोगोंकी समान आयु होती है सब समान सुखी होते हैं और सब समान ही नीरोग रहकर सब ऋतुओंके भोगोपभोगोंका अनुभव करते हैं ॥ ८० ॥ वहां उत्पन्न होनेवाले जीव सब सुंदर होते हैं सबके वज्रवृषभ नाराच संहनन होता है सब दीर्घजीवी होते हैं और कांतिसे सब देवोंके समान होते हैं ॥ ८१ ॥ वहांके स्त्रीपुरुष कल्पवृक्षकी छायामें बैठकर कुछ कुछ हंसते हुये गीत वादित्र आदि निरंतर उत्सब करते हुये सदा क्रीडा किया करते हैं ॥ ८२ ॥ वहांपर सब कलाओंमें कुशल होना, दिव्य शरीर प्राप्त होना, मधुर कंठ होना, मात्सर्य ईर्ष्या आदि दोषोंका अभाव होना आदि सब गुण स्वभावसे ही होते हैं ॥ ८६ ॥ वहांके जीवोंका आकार स्वभावसे ही सुंदर होता है उनकी चेष्टा भी स्वभावसे ही सुंदर होती है और उनकी वाणी भी स्वभावसे ही मीठी होती हैं। इस प्रकार वहांके सब जीव सदा प्रसन्न चित्तसे क्रीडा किया करते हैं ॥ ८४ ॥ जो जीव उत्तम पात्रोंको दान देते हैं अथवा उत्तमपात्रको दिये हुये दानकी अनुमोदना करते हैं वे जीव उपर्युक्त भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं और जीवनपर्यंत नीरोग रहकर सदा सुखोंका अनुभव किया करते हैं

प्राणिनः सुखमेधंते यावज्जीवमनामयाः ॥ ८५ ॥ कुदृष्टयो व्रतैर्हीनाः केवलं भोगकांक्षिणाः । दत्वा दानान्यपात्रेषु तिर्यक्त्वं यत्र यांत्यमी ॥ ८६ ॥ कुशीलाः कुत्सिताचाराः कुवेषा दुरुपोषिताः । मायाचाराश्च जायंते मृगा यत्र व्रतच्युताः ॥ ८७ ॥ मैथुनं मिथुनं तेषां मृगाणामपि जायते । न मिथोऽस्ति विरोधो वा वैरं वैरस्यमेव वा ॥ ८८ ॥ इत्यत्यंतसुखे तस्मिन् क्षेत्रे पात्रप्रदानतः । श्रीमती वज्रजंघश्च दंपतित्वमुपेयतुः ॥ ८९ ॥ प्रागुक्ताश्च मृगा जन्म भेजुस्तत्रैव भद्रकाः । पात्रदानानुमोदेन दिव्यं मानुष्यमाश्रिताः ॥ ९० ॥ तथा मतिवराद्याश्च तद्वियोगाद्व्रताः शुचं । दृढधर्मांतिके दीक्षां जैनीमाशिश्रियन्परां ॥ ९१ ॥ ते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राचारसंपदं । समाराध्य

॥ ८५ ॥ जो जीव मिथ्यादृष्टि और व्रतरहित होते हैं तथा जो केवल भोगोंकी आकांक्षा करके ही अपात्रोंको दान देते हैं वे मरकर उस भोगभूमिमें तिर्यंच उत्पन्न होते हैं ॥ ८६ ॥ जो जीव कुशील हैं अर्थात् जिनका शास्त्रज्ञान नीच कार्योंमें काम आता है जो हिंसा झूठ चोरी आदि नीच आचरण पालन करते हैं जो कुवेषी हैं मिथ्या उपवास करनेवाले हैं जो मायाचारी और व्रतरहित हैं वे जीव मरकर कुदान और कुतपके प्रभावसे भोगभूमिमें हरिण आदि पशु होते हैं ॥ ८७ ॥ वहांके पशुभी स्त्रीपुरुषके जोडेसे ही उत्पन्न होते हैं उनमें चूहे बिल्लीके समान वा सर्प न्योलेके समान परस्पर विरोध भी नहीं होता और न किसीके मानासिक द्वेष रहता है वहांके पशुओंमें नीरसता भी नहीं होती है ॥ ८८ ॥ इस प्रकार अनेक सुखोंसे भरपूर उस भोगभूमिमें पात्रदानके प्रभावसे वे दोनों ही श्रीमती और वज्रजंघ स्त्रीपुरुष होकर उत्पन्न हुये थे ॥ ८९ ॥ पहले कहे हुये नाहर सूकर न्योला और वंदर इन पशुओंने जो पात्रदानकी अनुमोदना की थी वे उस अनुमोदनाके प्रभावसे उसी भोगभूमिमें आकर दिव्य शरीरको धारण करनेवाले भद्र मनुष्य उत्पन्न हुये थे ॥ ९० ॥ इसीप्रकार मतिवर मंत्री आनंद पुरोहित धनमित्र शेठ और अकंपन सेनापति ये चारों ही जीव श्रीमती और वज्रजंघके वियोगसे बडे दुःखी और शोकाकुल हुये थे तथा चारोंने ही दृढधर्म नामके आचार्यके समीप उत्कृष्ट

यथाकालं स्वर्गलोकमयासिषुः ॥ ९२ ॥ अधोग्रैवेयकस्याधो विमाने तेऽहमिंद्रतां । प्रापास्तपोऽनुभावेन तपो हि फलतीप्सितं ॥ ९३ ॥ अथातो वज्रजंघार्यः कांतया सममेकदा । कल्पपादपजां लक्ष्मीमीक्षमाणः क्षणं स्थितः ॥ ९४ ॥ सूर्यप्रभस्य देवस्य नभोयायि विमानकं । दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा प्रबुद्धः प्रियया समं ॥ ९५ ॥ तावच्चारणयोर्युग्मं दूरादागच्छदैक्षत । तं च तावनुगृह्णंतौ व्योम्नः समवतेरतुः ॥ ९६ ॥ दृष्ट्वा तौ सहसाऽस्यासीदभ्युत्थानादिसंभ्रमः । संस्काराः प्राक्तना नूनं प्रेरयंत्यंगिनो हि ते ॥ ९७ ॥ अभ्युत्तिष्ठन्नसौ रेजे मुनींद्रौ सह कांतया । नलिन्या दिवसः सूर्यप्रतिसूर्याविवोद्गतौ ॥ ९८ ॥ तयोराधिपदद्वंद्वं दत्तार्घः प्रणनाम सः । आनंदाश्रुलवैः सांद्रैः

जैनेश्वरी दीक्षा धारण की थी ॥ ९१ ॥ इन चारोंने ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रयरूप संपत्तिका आराधन किया था इसलिये वे चारों ही अपनी २ आयुके अनुसार शरीर छोडकर स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुये थे ॥९२॥ वे चारों ही तपश्चरणके प्रभावसे अधोग्रैवेयकके सबसे नीचेके विमानमें अहमिंद्र हुये थे। सो ठीक ही है तपश्चरणके प्रभावसे अभीष्ट फलोंकी प्राप्ति होती ही है ९३ अथानंतर एक दिन यह वज्रजंघ आर्य अपनी प्रियतमाके साथ २ कल्पवृक्षकी शोभा देखता हुआ क्षणभर बैठा ही था ॥ ९४ ॥ कि इतनेमें ही सूर्यप्रभ नामके देवका विमान आकाशमें जाता हुआ वहांसे निकला उसे देखकर उन दोनोंको जातिस्मरण (पूर्वभवका स्मरण आजाना) हुआ और साथ २ संसारके स्वरूपका ज्ञान भी उन्हें हुआ ॥ ९५ ॥ वह वज्रजंघका जीव संसारका स्वरूप विचार ही रहा था कि इतनेमें ही उसे दूरसे आते हुये दो चारणमुनियोंके दर्शन हुये। वे दोनों मुनि भी वज्रजंघके जीवपर अनुग्रह करते हुये आकाशसे उतरपडे ॥ ९६ ॥ वज्रजंघने भी उन दोनोंको देखकर बहुत शीघ्र खडे होकर आदरसत्कार कर आसन दिया ॥ ९७ ॥ सो ठीक ही है जीवोंको अपना हित करनेमें पूर्वभवके लगे हुये संस्कार ही प्रेरणा करते हैं ॥ ९८ ॥ मुनिराजका आदर सत्कार करता हुआ वह वज्रजंघ अपनी प्रियतमा श्रीमतीके साथ २ ऐसा शोभायमान होता

क्षालयन्निव तत्क्रमौ ॥ ९९ ॥ तमाशीर्भिरथाश्वास्य प्रणतं प्रमदान्वितं । यतेः समुचितं देशमध्यासीनौ यथाक्रमं ॥ १०० ॥ ततः सुखोपविष्टौ तौ सोऽपृच्छदिति चारणौ । लसद्दंतांशुसंतानैः पुष्पांजलिमिवाकिरन् ॥ १०१ ॥ भगवंतौ युवां कस्यौ कुतस्त्यौ किन्नु कारणं । युष्मदागमने ब्रूतमिदमेतत्तथाऽद्य मे ॥ १०२ ॥ युष्मत्संदर्शनाज्जातसौहार्दं मम मानसं । प्रसीदति किमु ज्ञातपूर्वौ ज्ञाती युवां मम ॥ १०३ ॥ इति प्रश्नावसानेऽस्य मुनिर्ज्यायानभाषत । दशनांशुजलोत्पीडैः क्षालयन्निव तत्तनुं ॥ १०४ ॥ त्वं विद्धि मां स्वयंबुद्धं यतोऽबुद्धाः प्रबुद्धधीः ।

था जैसे उदय होते हुये सूर्य और प्रतिसूर्यके समीप नलिनीके साथ दिवस सुशोभित होता है ॥९८॥ वज्रजंघने उन दोनों मुनिराजोंके चरणकमलोंमें अर्घ दिया और उन्हें प्रमाण किया । अर्घ देते और प्रणाम करते समय वज्रजंघके नेत्रोंसे आनंदसे निकला हुआ बहुतसा आंसुओंका पानी निकल रहा था उससे वह ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों उस अश्रुजलसे मुनिराजके चरणकमलोंका प्रक्षालन ही कर रहा हो ॥ ९९ ॥ उन दोनों मुनियोंने श्रीमतीके साथ २ प्रणाम करते हुये वज्रजंघको आशीर्वाद देकर आश्वासन दिया और वे दोनों ही यथाक्रमसे अपने २ योग्य स्थानपर विराजमान हो गये ॥ १०० ॥ जब वे दोनों ही चारण मुनि सुखसे विराजमान होगये तब सुशोभित दांतोंकी किरणसमूहसे मानों पुष्पांजलिको वखेरता हुआ वज्रजंघ उन मुनियोंसे इसप्रकार पूछने लगा ॥१०१॥ कि हे भगवन्! आपका निवास कहां है यहां आप कहांसे आये हैं आपके आनेका मुख्य कारण क्या है यह सब आज मुझसे कहिये ॥ १०२ ॥ हे प्रभो आपके दर्शन करनेसे मेरा चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ है ऐसा जान पडता है कि आप मेरे पूर्वभवके परिचित बंधु हैं ॥ १०३ ॥ वज्रजंघके इसप्रकार प्रश्न कर चुकनेपर अपने दांतोंकी किरणरूपी जलसमूहसे वज्रजंघके शरीरका प्रक्षालन करते हुये ज्येष्ठ मुनि कहने लगे ॥ १०४ ॥ कि हे आर्य! तू मुझे स्वयंबुद्ध मंत्रीका जीव जान, जिससे तूने इस भवसे चौथे भवमें राजा महाबलकी पर्यायमें प्रसन्न चित्त होकर कर्मोंको नाश करनेवाले

महाबलभवे जैनं धर्मं कर्मनिबर्हणं ॥ १०५ ॥ त्वद्वियोगादहं जातनिर्वेदो बोधमाश्रितः । दीक्षित्वाऽभूवमुत्सृष्टदेहः सौधर्मकल्पजः ॥१०६॥ स्वयंप्रभविमानेऽग्रे मणिचूलाह्वयः सुरः । साधिकाब्ध्युपमायुष्कस्ततश्च्युत्वा भुवं श्रितः ॥ १०७ ॥ जंबूद्वीपस्य पूर्वस्मिन्विदेहे पौष्कलावते । नगर्यां पुंडरीकिण्यां प्रियसेनमहीभृतः ॥ १०८ ॥ सुंदर्यांश्च सुतोऽभूवं जायान्प्रीतिंकराह्वयः । प्रीतिदेवः कनीयान्मे मुनिरेष महातपाः । १०९ ॥ स्वयंप्रभजिनोपांते दीक्षित्वाऽऽवामलप्स्वहि । सावधिज्ञानमाकाशचारणत्वं तपोबलात् ॥ ११० ॥ बुध्वाऽवधिमयं चक्षुर्व्यापार्याजर्यसंगतं । त्वामावामिह संभूतं प्रबोधयितुमागतौ ॥ १११ ॥ विदांकुरु कुरुष्वार्य पात्रदानविशेषतः । समुत्पन्नमिहात्मानं विशुद्धादर्शनाद्विना ॥ ११२ ॥

जैनधर्मका स्वरूप जाना था ॥ १०५ ॥ उस भवमें तेरे स्वर्गवासके अनंतर तेरे वियोगसे विरक्त होकर मैंने दीक्षा धारण की थी और सम्यग्ज्ञान प्राप्तकर शरीर छोडकर सौधर्म स्वर्गके स्वयंप्रभविमानमें मणिचूल देव हुआ था । वहांसे चयकर यहां मनुष्य हुआ हूं ॥ १०६–१०७ ॥ जंबूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें पुष्कलावती देशकी पुंडरीकिणी नगरीमें राजा प्रियसेन रानी सुंदरीके प्रीतिंकर नामका मैं जेष्ठ पुत्र हुआ हूं । यह प्रीतिदेव नामका महातपस्वी मेरा छोटा भाई है ॥ १०८–१०९ ॥ हम दोनों भाइयोंने श्रीस्वयंप्रभ जिनेंद्रके समीप दीक्षा ली है और तपश्चरणके प्रभावसे हम दोनोंको ही अवधि ज्ञान और आकाशचारण ऋद्धि प्राप्त हुई है ॥ ११० ॥ हे आर्य ! हम दोनोंने अवधिज्ञानरूपी चक्षुको उसके पूर्ण विस्तार होनेतक फैलाया और देखा कि तू यहां आकर उत्पन्न हुआ है इसलिये तुझे समझानेकेलिये ही हम दोनों यहां आये हैं ॥१११॥ हे आर्य ! तू निश्चय समझ कि विशुद्ध सम्यग्दर्शनके बिना ही केवल पात्रदान देनेसे तू यहां उत्तरकुरुमें आकर उत्पन्न हुआ है ॥११२॥ महाबलकी पर्यायमें तेने हमसे ही जैनधर्मका स्वरूप समझकर (समाधिमरण पूर्वक) शरीर छोडा था परंतु उससमय तेरी भोगोंकी आकांक्षा नहीं छूटी थी इसलिये उससमय तुझे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता प्राप्त नहीं हुई थी ॥ ११३ ॥ अब हम दोनों सर्वोत्कृष्ट और स्वभावसे ही स्वर्गमोक्षका कारण ऐसे सम्यग्दर्शनको तुझे

महाबलभवेऽस्मत्तो बुध्वा त्यक्ततनुस्थितिः । नालब्धो दर्शने शुद्धिं भोगकांक्षानुबंधतः ॥ ११३ ॥ तस्मात्ते दर्शनं सम्यग्विशेषणमनुत्तरं । आयातौ दातुकामौ स्वः स्वर्मोक्षसुखसाधनं ॥ ११४ ॥ तद्गृहाणाद्य सम्यक्त्वं तल्लाभे काल एष ते । काललब्ध्या विना नार्य तदुत्पत्तिरिहांगिनां ॥ ११५ ॥ देशनाकाललब्ध्यादिबाह्यकारणसंपदि । अंतःकरणसामग्र्यां भव्यात्मा स्याद्विशुद्धदृक् ॥ ११६ ॥ शमाद्दर्शनमोहस्य सम्यक्त्वादानमादितः । जंतोरनादिमिथ्यात्वकलंककलिलात्मनः ॥ ११७ ॥ यथा पित्तोदयोद्भ्रांतस्वांतवृत्तेस्तदत्ययात् । यथार्थदर्शनं तद्वदंतमोंहोपशांतितः ॥ ११८ ॥ अनिर्द्धूय तमो नैशं यथा नोदयतेंऽशुमान् । तथाऽनुद्भिद्य मिथ्यात्वतमो नोदेति दर्शनं ॥ ११९ ॥ त्रिधा

देनेकी इच्छासे ही यहां आये हैं ॥ ११४ ॥ इसलिये हे आर्य! आज तू सम्यग्दर्शन स्वीकार कर उसके ग्रहण करनेका यह समय है। काललब्धिके विना इस संसारमें जीवोंको सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति कभी नहीं होती है ॥११५ ॥ जब गुरुका उपदेशरूप देशनालब्धि तथा काललब्धि आदि बाह्य कारणरूप संपत्तिकी प्राप्ति होती है और दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम क्षय अथवा क्षयोपशमरूप अतरंगकारणरूप सामिग्रीकी प्राप्ति होती है तब इस भव्यजीवको विशुद्ध सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ॥ ११६ ॥ जिस जीवके सम्यग्दर्शनको घात करनेवाले मोहनीयकर्मका उदय है तथा जिसका आत्मा अनादिकालसे लगे हुये मिथ्यात्वरूपी कलंकसे दूषित हो रहा है ऐसे इस जीवको प्रथम ही दर्शनमोहनीयका उपशमकर सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिये ॥ ११७ ॥ जैसे पित्तका विकार उत्पन्न होनेसे चित्तकी वृत्ति भ्रांत हो जाती है और चित्तकी वृत्ति भ्रांत होनेसे यथार्थ दर्शन नहीं होता है जब पित्तका विकार दूर हो जाता है तब अपनेआप यथार्थ दर्शन हो जाता है। उसीप्रकार अंतरंगकारणरूप मोहनीयकर्मके उपशम होनेसे यथार्थ सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ॥ ११८ ॥ जैसे सूर्य रात्रिका अंधकार दूर किये विना उदय नहीं होता है उसीप्रकार सम्यग्दर्शन भी मिथ्यात्वरूप अंधकारको नष्ट किये विना प्राप्त नहीं होता है ॥ ११९ ॥ यह भव्यजीव अधःकरण, अपूर्वकरण और

विपाट्य मिथ्यात्वप्रकृतिं करणैस्त्रिभिः । भव्यात्मा ह्रासयन् कर्मस्थितिं सम्यक्त्वभाग्भवेत् ॥ १२० ॥ आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं परया मुदा । सम्यग्दर्शनमाम्नातं तन्मूले ज्ञानचेष्टिते ॥ १२१ ॥ आत्मादिमुक्तिपर्यंततत्त्वश्रद्धानमंजसा । त्रिभिर्मूढैरनालीढमष्टांगं विद्धि दर्शनं ॥ १२२ ॥ तस्य प्रशमसंवेगावास्तिक्यं चानुकंपनं । गुणाः श्रद्धारुचिस्पर्शप्रत्ययाश्चेति पर्ययाः ॥ १२३ ॥ तस्य निःशंकितत्वादीन्यष्टावंगानि निश्चिनु । यैरंशुभिरिवाभाति रत्नं सद्दर्शनाह्वयं ॥ १२४ शंकां जहीहि सन्मार्गे भोगकांक्षामपाकुरु । विचिकित्साह्वयं हित्वा

अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणोंके द्वारा मिथ्यात्व समयमिथ्यात्व और समयप्रकृतिमिथ्यात्व इस तीनों प्रकारके मिथ्यात्वको नष्टकर तथा कर्मोंकी स्थितियोंको अत्यंत सूक्ष्मकरके सम्यग्दर्शनका ग्रहण करता है ॥ १२० ॥ श्री अरहंतदेवके कहे हुये आगम और पदार्थोंका अत्यंत प्रसन्नचित्तसे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है, सम्यग्दर्शनके होनेपर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं ॥१२१॥ तीन मूढता रहित और आठ अंगसहित जीवादिमोक्षपर्यंत सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥ १२२॥ प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य ये चार सम्यग्दर्शनके गुण हैं तथा श्रद्धा, रुचि, स्पर्श और प्रत्यय (प्रतीति) ये सम्यग्दर्शनके पर्याय हैं ॥ १२३ ॥ निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यग्दर्शनके अंग हैं, जैसे किरणोंसे रत्न सुशोभित होता है उसीप्रकार इन अंगरूपी किरणोंसे यह सम्यग्दर्शनरूपी रत्न सदा सुशोभित रहता है ॥ १२४ ॥ हे आर्य ! तू इस श्रेष्ठ जिनमार्गमें (जैनमतमें) कोई संदेह मत कर अर्थात् निःशंकित अंग धारण कर, भोगोपभोगोंकी आकांक्षा छोडकर निःकांक्षित अंग धारण कर, अपने शरीरकी ग्लानि तथा अन्य पदार्थोंकी ग्लानि छोडकर निर्विचिकित्सा अंग धारण कर । कुमार्ग और कुमार्गको सेवन करनेवाले पुरुषोंकी प्रशंसा आदिका त्यागकर अमूढदृष्टि चौथा अंग स्वीकार कर, किसी अशक्त वा बालकके द्वारा उत्पन्न हुये दोषोंको छिपाकर धर्मकी सहायता

मजस्वामूढदृष्टितां ॥ १२५ ॥ कुरूपबृंहणं धर्मे मलस्थाननिगूहनैः । मार्गाच्चलति धर्मस्थे स्थितीकरणमाचर ॥ १२६ ॥ रत्नत्रितयवत्यार्यसंघे वात्सल्यमातनु । विधेहि शासने जैने यथाशक्ति प्रभावनां ॥ १२७ ॥ देवतालोकपाषंडव्यामोहांश्च समुत्सृज । मोहांधो हि जनस्तत्वं पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १२८ ॥ प्रतीहि धर्मसर्वस्वं दर्शनं चारुदर्शनं । तस्मिन्नाप्ते दुरापाणि न सुखानीह देहिनां ॥ १२९ ॥ लब्धं तेनैव सज्जन्म स कृतार्थः स पंडितः । परिस्फुरति निर्व्याजं यस्य सद्दर्शनं हृदि ॥ १३० ॥ सिद्धिप्रासादसोपानं विद्धि दर्शनमग्रिमं दुर्गतिद्वारसंरोधि कवाटपटमूर्जितं ॥ १३१ ॥ स्थिरं धर्मतरोर्मूलं द्वारं स्वर्मोक्षवेश्मनः । शीलाभरणहारस्य तरलं तरलोपमं ॥ १३२ ॥ अलंकरिष्णु

कर अर्थात् उपगूहन अंग धारण कर । यदि कोई जीव किसीकारणसे इस पवित्र जैनमार्गसे चलायमान होता हो वा इसे छोडना चाहता हो तो उसे धर्ममें स्थिर करके स्थिरीकरण वा स्थितीकरण अंगका पालन कर ॥ १२५--१२६ ॥ इसीप्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धारण करनेवाले जीवोंमें तथा मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका इन चारोंप्रकारके संघोंमें प्रेम धारणकर वात्सल्य अंगका पालन कर । तथा विद्या तपश्चरण आदिके द्वारा जैनमतका माहात्म्य प्रगटकर प्रभावना अंगका पालन कर ॥ १२७ ॥ इन आठ अंगोंके पालन करनेके साथ साथ देवमूढता लोकमूढता और पाखंडिमूढता इन तीनों मूढताओंकाभी त्याग कर । क्योंकि इन तीनों मूढताओंसे अंधा हुआ मनुष्य तत्त्वोंको देखता हुआ भी नहीं देखता है अर्थात् तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप नहीं जानता है इसलिये तीनों मूढता अवश्य छोडनी चाहिये ॥ १२८ ॥ हे आर्य ! सम्यग्ज्ञानकर सहित इस सम्यग्दर्शनको धर्मका सारभूत पदार्थ समझ । सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे फिर संसारमें ऐसा कोई सुख नहीं है जो जीवोंको दुर्लभ हो ॥ १२९ ॥ इस संसारमें जिसके हृदयमें कपटरहित सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उसीका जन्म सफल है संसारमें वही कृतार्थ है और वही पंडित है ॥ १३० ॥ यह सम्यग्दर्शन मोक्षमहलमें चढनेकेलिये प्रथम सीढी है तथा नरकादि दुर्गतियोंके द्वार रोकनेकेलिये बंद

रोचिष्णु रत्नसारमनुत्तरं । सम्यक्त्वं हृदये धत्स्व मुक्तिश्रीहारविभ्रमं ॥ १३३ ॥ सम्यग्दर्शनसद्रत्नं येनासादि दुरासदं । सोऽचिरान्मुक्तिपर्यंतां सुखतातिमवाप्नुयात् ॥ १३४ ॥ लब्धसद्दर्शनो जीवो मुहूर्तमपि पश्य यः । संसारलतिकां छित्वा कुरुते ह्रासिनीमसौ ॥ १३५ ॥ सुदेवत्वसुमानुष्ये जन्मनी तस्य नेतरत् । दुर्जन्म जायते जातु हृदि यस्यास्ति दर्शनं ॥ १३६ ॥ किं वा बहुभिरालापैः श्लाघैवास्तु दर्शने । लब्धेन येन संसारो यात्यनंतोऽपि सांततां ॥ १३७ ॥ तत्त्वं जैनेश्वरीमाज्ञामस्मद्वाक्यात्प्रमाणयन् । अनन्यशरणो भूत्वा

किये हुये मजबूत कपाट (किवाड) है ॥ १३१ ॥ तथा धर्मरूपी वृक्षकी मजबूत जड है, स्वर्गलोकरूपी घरमें जानेकेलिये खुलाहुआ द्वार है और शीलरूपी आभरणका दैदीप्यमान मुख्य रत्न है ॥१३२॥ यह सम्यग्दर्शन इस जीवको सुशोभित करनेवाला है, सन्मार्गमें रुचि वढानेवाला है, समस्तरत्नोंका सारभूत है, उपमारहित है और मुक्तिरूपीलक्ष्मीके हारमें विलास करनेवाला है । हे आर्य ! ऐसे इस सम्यग्दर्शनको तू अपने हृदयमें धारण कर ॥ १३३ ॥ जिन पुरुषोंको अत्यंत दुर्लभ यह सम्यग्दर्शनरूपी उत्तमरत्न प्राप्त हो जाता है उन्हें इंद्र चक्रवर्ती आदि मोक्षपर्यंतके समस्त सुख बहुत शीघ्र ही प्राप्त होते हैं ॥ १३४ ॥ हे आर्य ! देख ! यदि मुहूर्तमात्रके लिये भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाय तो यह जीव संसाररूपी लताको काटकर उसे बहुत छोटी कर देता है ॥१३५॥ जिसके हृदयमें सम्यग्दर्शन विराजमान है वह इंद्रादिक देवपर्यायमें वा चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि उत्तम मनुष्य पर्यायमें ही जन्म धारण करता है उसे अन्य नारकी और तिर्यंचोंके खोटे जन्म कभी धारण नहीं करने पडते ॥ १३६ ॥ इस सम्यग्दर्शनकी अधिक प्रशंसा करना व्यर्थ है इसकी केवल एक यही प्रशंसा बहुत है कि इसके प्राप्त होनेसे इस अनंत संसारका भी अंत हो जाता है अर्थात् उसका संसारपरिभ्रमण छूटकर उसे शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ १३७ ॥ हे आर्य ! तू श्रीजिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको तथा मेरे कहे हुये वाक्योंको प्रमाण मानकर और अन्य देवोंका शरण छोडकर सम्यग्दर्शन स्वीकार कर

प्रतिपद्यस्व दर्शनं ॥ १३८ ॥ उत्तमांगमिवांगेषु नेत्रद्वयमिवानने । मुक्त्यंगेषु प्रधानांगमाप्ताः सद्दर्शनं विदुः ॥ १३९ ॥ अपास्य लोकपाषंडिदेवतासु विमूढतां । परतीर्थैरनालीढमुज्ज्वलीकुरु दर्शनं ॥ १४० ॥ संसारलतिकायामं छिंदि सद्दर्शनासिना । नासि नाऽऽसन्नभव्यस्त्वं भविष्यत्तीर्थनायकः ॥ १४१ ॥ सम्यक्त्वमधिकृत्यैवमाप्तसूक्त्यनुसारतः । कृतार्य देशनाऽस्माभिर्ग्राह्यैषा श्रेयसे त्वया ॥ १४२ ॥ त्वमप्यंबावलंबेथाः सम्यक्त्वमविलंबितं । भवांबुधेस्तरंडं तत्स्त्रैणात्किं बत खिद्यसि ॥ १४३ ॥ सद्दृष्टेः स्त्रीष्वनुत्पत्तिः पृथिवीष्वपि षट्स्वधः । त्रिषु देवनिकायेषु नीचेष्वन्येषु वांबिके ॥ १४४ ॥ धिगिदं स्त्रैणमश्लाघ्यं नैर्ग्रंथ्यप्रतिबंधि यत् । कारीषाग्निनिभं तापं निराहुस्तत्र

॥ १३८ ॥ जैसे शरीरके अंगोंमे शिर प्रधान है और मुखमें नेत्र प्रधान हैं उसीप्रकार गणधरादिक देव मोक्षके कारणोंमें सम्यग्दर्शनको ही प्रधान कारण मानते हैं ॥ १३९ ॥ हे आर्य ! तू लोकमूढता पाखंडिमूढता और देवमूढता इन तीनों मूढताओंका त्याग कर और मिथ्यादृष्टी जीव जिसे कभी स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं ऐसे इस सम्यग्दर्शनको स्वीकार कर ॥ १४० ॥ सम्यग्दर्शनरूपी तलवारसे संसाररूपी लताओंके बनको काट । हे आर्य ! तू आसन्नभव्य है और आगे तीर्थंकर होनेवाला है ॥ १४१ ॥ इसलिये श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंके अनुसार सम्यग्दर्शनको स्वीकार कर और मोक्षरूप कल्याण प्राप्त करनेकेलिये हमारा यह उपदेश स्वीकार कर ॥ १४२ ॥ इसप्रकार वे मुनिराज वज्रजंघके जीवको समझाकर श्रीमतीके जीवसे भी कहने लगे कि हे मातः तूभी बहुत शीघ्र ही संसाररूपी समुद्रसे पार करनेवाले इस सम्यग्दर्शनको स्वीकार कर । वृथा ही स्त्रीपर्यायमें क्यों खेद-खिन्न हो रही है ॥ १४३ ॥ हे मातः ! सम्यग्दृष्टी जीव स्त्रीपर्यायमें उत्पन्न नहीं होता तथा दूसरेसे सातवें तक नीचेके छह नरकोंमें, भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क इन तीनों प्रकारके देवोंमें और एकेंद्रिय द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय असेनी पंचेंद्रिय आदि अन्य नीच कुलोंमें भी कभी उत्पन्न नहीं होता है ॥ १४४ ॥ इस निंद्य स्त्रीपर्यायको धिक्कार हो । यह स्त्रीपर्याय निर्ग्रंथ मुनियोंका धर्म पालन करनेके

तद्विदः ॥ १४५ ॥ तदेतत्स्त्रैणमुत्सृज्य सम्यगाराध्य दर्शनं । प्राप्तासि परमस्थानसप्तकं त्वमनुक्रमात् ॥ १४६ ॥ युवां कतिपयैरेव भवैः श्रेयोऽनुबंधिभिः । ध्यानाग्निदग्धकर्माणौ प्राप्तास्थः परमं पदं ॥ १४७ ॥ इति प्रीतिंकराचार्यवचनं स प्रमाणयन् । सजानिरादधे सम्यग्दर्शनं प्रीतमानसः ॥ १४८ ॥ स सद्दर्शनमासाद्य सप्रियः पिप्रिये तरां । पुष्णात्यलब्धलाभो हि देहिनां महतीं धृतिं ॥ १४९ ॥ प्राप्य सूत्रानुगां हृद्यां सम्यग्दर्शनकंठिकां । यौवराज्यपदे सोऽस्थान्मुक्तिसाम्राज्यसंपदः ॥ १५० ॥ साऽपि सम्यक्त्वलाभेन नितरामतुपत्सती । विशुद्धपुंस्त्वयोगेन निर्वाणमभिलाषुका ॥ १५१ ॥ अलब्धपूर्वमास्वाद्य सद्दर्शनरसायनं । प्रापतुस्तौ परां पुष्टिं धर्मे कर्मनिबर्हणे ॥ १५२॥

लिये प्रतिबंधक है और इस पर्यायमें विद्वानोंने कारीष जातिकी अग्निके (सूके गोवरकी अग्निके) समान तीव्र कामका संताप निरूपण किया है ॥१४५॥ हे मातः! अब तू सम्यग्दर्शनका आराधनकर और इस निंद्य स्त्रीपर्यायको छोडकर अनुक्रमसे 'उत्कृष्टजाति' श्रावकके व्रत, यतिके व्रत, इंद्रपद, चक्रवर्तीका पद, केवलज्ञान और निर्वाण इन सातों परमस्थानोंको प्राप्त होगी ॥ १४६ ॥ तुम दोनों ही जीव कल्याण करनेवाले थोडेसे भव धारणकर और अंतमें ध्यानरूपी अग्निसे कर्मोंको नष्टकर मोक्षस्थानको प्राप्त होओगे ॥ १४७ ॥ इसप्रकार श्रीप्रीतिंकर आचार्यके वचनोंको प्रमाण मानकर वज्रजंघके जीवने अपनी स्त्री श्रीमतीके जीवके साथ साथ प्रसन्न चित्त होकर सम्यग्दर्शन धारण किया ॥ १४८ ॥ वह वज्रजंघका जीव अपनी प्रियाके साथ २ सम्यग्दर्शन धारण कर बहुत ही प्रसन्न हुआ सो ठीक ही है अपूर्व वस्तुका लाभ होनेसे प्राणियोंको अपार संतोष होता ही है ॥ १४९ ॥ जैसे कोई राजकुमार सूत्रमें पोई हुई मालाको पहनकर युवराजकी पदवीको सुशोभित करता है उसी-प्रकार वह आर्य जैनसिद्धांतके सूत्रोंमें पोये हुये और अति मनोहर ऐसे कंठाभरणको पाकर मुक्तिरूपी राज्यसंपदाके युवराजपदको सुशोभित करने लगा ॥ १५० ॥ विशुद्ध पुरुषपर्याय पाकर मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा करती हुई वह सती आर्या भी सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे बहुत ही संतुष्ट हुई ॥ १५१ ॥

शार्दूलार्यादयोऽप्याभ्यां समं सद्दर्शनामृतं । तथा भेजुर्गुरोरस्य पादमूलमुपाश्रिताः ॥ १५३ ॥ तौ दंपती कृतानंदसंदर्शितमनोरथौ । मुनींद्रौ धर्मसंवेगाच्चिरस्यास्पृक्षतां मुहुः ॥१५४॥ जन्मांतरनिबद्धेन प्रेम्णा विस्फारितेक्षणः । क्षणं मुनिपदांभोजसंस्पर्शात्सोऽन्वभूद्धृतिं ॥ १५५ ॥ कृतप्रणाममाशीर्भिराशास्य तमनुस्थितं । ततो यथोचितं देशं तावृषी गंतुमुद्यतौ ॥ १५६ ॥ पुनर्दर्शनमस्त्वार्य सद्धर्मं मा स्म विस्मरः । इत्युक्त्वांऽतर्हितौ सद्यश्चारणौ व्योमचारणौ ॥ १५७ ॥ गतेऽथ चारणद्वंद्वे सोऽभूदुत्कंठितः क्षणं । प्रेयसां विप्रयोगो हि मनस्तापाय

वे दोनों ही दंपती अपूर्व सम्यग्दर्शनरूपी रसायन पाकर कर्मको नाश करनेवाले जिनधर्ममें बडे ही दृढ होगये ॥ १५२ ॥ पहले कहे हुये सिंह वानर न्योला और सूकरके जीव जो कि इसी भोगभूमिमें आर्य हुये थे वे भी इसीप्रकार श्रीप्रीतिंकर गुरुके चरणकमलोंका आश्रय लेकर श्रीमती और वज्रजंघके जीवके साथ सम्यग्दर्शनरूपी अमृतको सेवन करने लगे ॥ १५३ ॥ वे दोनों ही दंपती आनंद रूप मनोरथकी सिद्धिको प्राप्त हुये थे और वे दोनों ही चारणमुनि केवल धर्मप्रेमसे उन दोनोंके शिरपर बार बार हाथ फेरते थे ॥ १५४ ॥ पूर्व जन्मकी महाबलपर्यायके समय स्वयंबुद्ध मंत्रीके साथ जो प्रेम था उसी प्रेमके संस्कारसे वह वज्रजंघका जीव श्रीप्रीतिंकर आचार्यके चरणकमलोंको आंखे फाड फाडकर देखता था और क्षणभर उनका स्पर्श करनेसे बडा ही आनंदित होता था ॥१५५॥ तदनंतर वे दोनों ही चारणमुनि अपने योग्य देशमें जानेके लिये तैयार हुये, उससमय वज्रजंघके जीवने भी उन्हें प्रणाम किया तथा थोडीदूरतक उनके पीछे २ चलनेके लिये तैयार हुआ, चलते समय दोनों मुनियोंने भी उसे आशीर्वाद देकर आश्वासन दिया और कहा कि हे आर्य! फिर भी तेरा दर्शन हो, तू इस सम्यग्दर्शनरूप उत्तम धर्मको भूलना मत। यह कहकर वे दोनों ही चारण मुनि बहुत शीघ्र आकाशमार्गसे गमन करगये ॥ १५६--१५७ ॥ उन दोनों चारणमुनियोंके चलेजानेके वाद वह वज्रजंघका जीव क्षणेक उत्कंठित हुआ सो ठीक ही है प्रेमकरनेवाले मनुष्योंके वियोग

कल्प्यते ॥ १५८ ॥ मुहुर्मुनिगुणाध्यानैरार्दयन्नात्मनो मनः । इति चिंतामसौ भेजे चिरं धर्मानुबंधिनीं ॥ १५९ ॥ धुनोति दवथुं स्वांतात्तनोत्यानंदथुं परं । विनोति च मनोवृत्तिमहो! साधुसमागमः ॥ १६० ॥ मुष्णाति दुरितं दूरात्परं पुष्णाति योग्यतां । भूयः श्रेयोऽनुबध्नाति प्रायः साधुसमागमः ॥ १६१ ॥ साधवो मुक्तिमार्गस्य साधनेऽर्पितधीधनाः । लोकानुवृत्तिसाध्यांशो नैषां कश्चन पुष्कलः ॥ १६२ ॥ परानुग्रहबुध्या तु केवलं मार्गदेशनं । कुर्वतेऽमी प्रगल्यापि निसर्गोऽयं महात्मनां ॥ १६३ ॥ स्वदुःखे निर्घृणारंभाः परदुःखेषु दुःखिताः । निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्ष्या मुमुक्षवः ॥ १६४ ॥ क्व वयं निःस्पृहाः क्वेमे क्वेयं भूमिः सुखोचिता । तथाऽप्य-

---

होनेपर मनको संताप होता ही है ॥१५८॥ वह बार बार मुनियोंके गुण चिंतवनकर मनको सुकोमल करनेलगा और बडी देरतक धर्मको वढानेवाले नीचे लिखे हुये विचारोंका चिंतवन करने लगा ॥ १५९ ॥ वह सोचने लगा कि देखो मुनियोंका समागम कैसा आश्चर्यजनक है। वह हृदयका सब संताप दूर कर देता है आनंदको वढाता है और मनकी वृत्तिको प्रसन्न कर देता है ॥ १६० ॥ मुनियोंका समागम करनेसे पाप सब दूरसे ही भाग जाते हैं। मोक्ष प्राप्त होनेकी उत्कृष्ट योग्यता और भी वढ जाती है और आत्माको बार बार सुखकी प्राप्ति होती है ॥ १६१ ॥ ये साधुजन मोक्ष-मार्गको सिद्ध करनेमें बडे ही सावधान रहते हैं। सांसारिक लोगोंको प्रसन्न करनेके लिये इन्हें कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता है ॥ १६२ ॥ ये मुनि केवल जीवोंका कल्याण करनेकेलिये उनके समीप जाकर भी मोक्षमार्गका उपदेश दिया करते हैं सो ठीक ही है केवल अनुग्रहबुद्धिसे सन्मार्गका उप-देश देना महात्मापुरुषोंका स्वभाव ही है ॥ १६३ ॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले ये साधुजन अपने ऊपर दुःख आजानेपर कोई किसीप्रकारका उद्यम नहीं करते हैं दूसरेके दुःखमें सदा दुःखी रहते हैं और दूसरोंके कार्यसिद्ध करनेमें सदा अपेक्षा रहित होकर कमर कसकर तैयार रहते हैं ॥ १६४ ॥ देखो! कहां तो निस्पृह हमलोग? कहां ये सिंह शूकरादिके जीव और कहां यह केवल सुखमय भोग-

तुमहेऽस्माकं सावधानास्तपोधनाः ॥ १६५ ॥ भवंतु सुखिनः सर्वे सत्त्वा इत्येव केवलं। यतो यतंते तेनैषां यतित्वं सन्निरुच्यते ॥ १६६ ॥ एवं नाम महीयांसः परार्थे कुर्वते रतिं । दूरादपि समागत्य यथैतौ चारणावुभौ ॥ १६७ ॥ अद्यापि चारणौ साक्षात्पश्यामीव पुरःस्थितौ । तपस्तनूनपाचापतनूकृततनू मुनी ॥ १६८ ॥ चारणौ चरणद्वंद्वे प्रणतं मृदुपाणिना । स्पृशंतौ स्नेहनिघ्नं मां व्यधाता-माधिमस्तकं ॥ १६९ ॥ अपिप्यतां च मां धर्मतृषितं दर्शनामृतं । अपास्य भोगसंतापं निर्वृतं येन मे मनः ॥ १७० ॥ सत्यं प्रीतिंकरो जायान्मुनिर्योऽस्मास्वदर्शयत् ॥ प्रीतिं सर्वत्रगः प्रीतः सन्मार्गप्रतिबोधनात् ॥ १७१ ॥ महाबलभवेऽप्यासीत्स्वयंबुद्धो गुरुः स

भूमि । उन मुनियोंने इनका कुछ भी विचार नहीं किया । देखो! वे तपस्वी केवल हमारा कल्याण करनेकेलिये कैसे सावधान हैं ॥ १६५ ॥ वे साधुजन सदा यही प्रयत्न किया करते हैं कि संसारके समस्त जीव सुखी हों और इसलिये ही लोग उन्हें यति कहते हैं ॥ १६६ ॥ जैसे इन दोनों चारण-मुनियोंने दूरसे आकर मेरा उपकार किया है इसीप्रकार महापुरुष दूरदूरसे आकर भी दूसरोंका उपकार करनेमें सदा आसक्त रहते हैं ॥ १६७ ॥ जिनका शरीर तपश्चरणरूपी अग्निसे अत्यंत कृश होगया है ऐसे उन दोनों चारणमुनियोंको मैं अब भी साक्षात् देख रहा हूं मानों वे अब भी मेरे सामने विराजमान होकर मुझे उपदेश दे रहे हैं ॥१६८॥ मैं उनके चरणकमलोंमें प्रणाम कर रहा हूं और वे दोनों ही चारण मुनि अपना कोमल हाथ मेरे मस्तकपर फेरते हुये मेरा प्रेम वढा रहे हैं ॥ १६९ ॥ मैं धर्मका अभिलाषी था सो उन दोनों मुनियोंने मेरी भोगोंकी तृष्णा दूरकर मुझे सम्यग्दर्शनरूपी अमृत पिलाया जिससे मेरा मन बहुत ही प्रसन्न हुआ है ॥ १७० ॥ वे प्रीतिंकर नामके बडे मुनि यथार्थमें प्रीतिंकर हैं क्योंकि उन्होंने परभवके प्रेमसे ही मोक्षमार्गका उपदेश देकर हमलोगोंको प्रीति दिखलाई है ॥ १७१ ॥ जब मैं राजा महाबल था तब भी ये स्वयंबुद्ध मंत्री होकर मेरे गुरु हुये थे और अब मुझे सम्यग्दर्शन स्वीकार कराया है इसलिये अब मेरे विशेष गुरु हुये हैं ॥ १७२ ॥ यदि

नः । वितीर्यं दर्शनं सम्यगधुना तु विशेषतः ॥ १७२ ॥ गुरूणां यदि संसर्गो न स्यान्नस्याद्गुणार्जनं । विना गुणार्जनात्तस्य जंतोः सफलजन्मता ॥ १७३ ॥ रसोपविद्धः सन् धातुर्यथा याति सुवर्णतां । तथा गुरुगुणाश्लिष्टो भव्यात्मा शुद्धिमृच्छति ॥ १७४ ॥ न विना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः । नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः ॥ १७५ ॥ यथांधतमसच्छन्नानर्थान्दीपाद्विनेक्षते । तथा जीवादिभावांश्च नोपदेष्टुर्विनेक्षते ॥ १७६ ॥ बंधवो गुरवश्चेति द्वये संप्रीतये नृणां । बंधवोऽत्रैव संप्रीत्यै गुरवोऽमुत्र चात्र च ॥ १७७ ॥ यतो गुरुनिदेशेन जाता नः शुद्धिरीदृशी । ततो गुरुपदे भक्तिर्भूयाज्जन्मांतरेऽपि नः ॥ १७८ ॥ इति चिंतयतोऽस्यासीद् दृढा सम्यक्त्वभावना।

संसारमें गुरुकी संगति न हो तो सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती है और सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी प्राप्तिके बिना इस जीवका मनुष्यजन्म सफल नहीं हो सकता है? ॥ १७३ ॥ जैसे रसायनके संयोगसे तांबा भी सुवर्ण हो जाता है उसीप्रकार गुरुके द्वारा उपदेश दिये हुये सम्यग्दर्शनादि गुणोंके संयोगसे यह भव्य जीव भी शुद्ध हो जाता है ॥ १७४ ॥ जैसे जहाजके विना कोई मनुष्य समुद्रसे पार नहीं हो सकता उसीप्रकार गुरुके उपदेश विना भी कोई जीव संसाररूपी समुद्रसे पार नहीं हो सकता है ॥ १७५ ॥ जैसे कोई पुरुष विना दीपकके गाढ अंधकारमें छिपे हुये घट पट आदि पदार्थोंको नहीं देख सकता उसी प्रकार यह जीव भी उपदेश देनेवाले गुरुके विना जीव अजीव आदि पदार्थोंका स्वरूप नहीं जान सकता है ॥ १७६ ॥ इस संसारमें मनुष्योंके हित करनेवाले या तो भाई बंधु आदि कुटुंबीजन हैं अथवा गुरु हैं इन दोनोंमें इतना विशेष है कि कुटुंबीजन केवल इसलोकमें ही सुख देनेवाले होते हैं और गुरु इसभव परभव दोनों लोकोंमें सुखदायी होते हैं ॥ १७७ ॥ हम लोगोंको गुरुके उपदेशसे ही जन्म मरण दूर करनेवाले शुद्ध सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हुई है इसलिये परभवमें भी हमें गुरुके चरणकमलोंमें भक्ति प्राप्त हो ॥ १७८ ॥ इसप्रकार चिंतवन करनेसे वज्रजंघकी सम्यक्त्वभावना दृढ होगई । यही सम्यक्त्वभावना इस वज्रजंघकेलिये समस्त इष्टफल देने

सा तु कल्पलतेवास्मै सर्वमिष्टं फलिष्यति ॥ १७९ ॥ समानभावनाऽनेन साऽप्यभूच्छ्रीमती चरी । समानशीलयोश्चासीदच्छिन्ना प्रीतिरेनयोः १८०
दंपत्योरिति संप्रीत्या भोगान्निर्विशतोश्चिरं । भोगकालस्तयोर्निष्ठां प्रापत्पल्यत्रयोन्मितः ॥ १८१ ॥ जीवितांते सुखं प्राणान् हित्वा तौ पुण्यशेषतः ।
प्रापतुः कल्पमैशानं गृहादिव गृहांतरं ॥ १८२ ॥ विलीयंते यथा मेघा यथाकालं कृतोदयाः । भोगभूमिभुवां देहास्तदंते विशरारवः ॥ १८३ ॥
यथा वैक्रियिके देहे न दोषमलसंभवः । तथा दिव्यमनुष्याणां देहे शुद्धिरुदाहृता ॥ १८४ ॥ विमाने श्रीप्रभे तत्र नित्यालोके स्फुरत्प्रभः । सः
श्रीमान् वज्रजंघार्यः श्रीधराख्यः सुरोऽभवत् ॥ १८५ ॥ साऽपि सम्यक्त्वमाहात्म्यात्स्त्रैणाद्विश्लेषमीयुषी । स्वयंप्रभविमानेऽभूत्तत्सनामा सुरोत्तमः

वाली होगी ॥ ॥ १७९ ॥ वज्रजंघके जीवके साथ २ श्रीमतीके जीवने भी सम्यक्त्वभावना दृढ की । इन दोनोंका स्वभाव एकसा था इसलिये इन दोनों पति पत्नियोंमें अखंड प्रीति हो गई थी ॥१८०॥ इसप्रकार प्रेमपूर्वक चिरकालतक भोगोपभोगोंका सेवन करते हुये इन दोनों जीवोंका तीन पल्यका समय व्यतीत होगया, आयुके अंतसमयमें इन दोनोंने सुखपूर्वक प्राण छोडे और जैसे कोई एक घर छोड कर दूसरे घरमें जा वसता है उसीप्रकार ये दोनों शेष वचे हुये पुण्यकर्मके उदयसे दूसरे ऐशान स्वर्गमें उत्पन्न हुये ॥ १८१-१८२ ॥ जैसे वर्षाऋतुमें मेघ उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं उसीप्रकार भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंका शरीर भी उत्पन्न होता है और अंतमें अपने आप नष्ट हो जाता है ॥ १८३ ॥ जैसे देवोंके वैक्रियक शरीरमें मल मूत्रादिक नहीं होता है उसीप्रकार भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंके शरीरमें भी मलमूत्रादिक नहीं होता है उनका शरीर भी सदा शुद्ध रहता है ॥१८४॥ वह वज्रजंघ आर्य दूसरे स्वर्गमें सदा प्रकाशमान ऐसे श्रीप्रभनामके विमानमें दैदीप्यमान कांति और बडी ऋद्धिको धारण करनेवाला श्रीधर नामका देव हुआ ॥ १८५ ॥ और वह श्रीमतीका जीव सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे स्त्रीलिंगको नष्टकर उसी दूसरे ऐशान स्वर्गके स्वयंप्रभ विमानमें स्वयंप्रभनामका उत्तम देव हुआ ॥ १८६ ॥ इसीप्रकार सिंह बानर न्योला और शूकरके

॥ १८६ ॥ शार्दूलार्यादयोऽप्यस्मिन्कल्पेऽनल्पसुखोदये । महर्द्धिकाः सुरा जाताः पुण्यैः किन्नु दुरासदं ॥ १८७ ॥ ऋते धर्मात्कुतः स्वर्गः कुतः स्वर्गादृते सुखं । तस्मात्सुखार्थिनां सेव्यो धर्मकल्पतरुश्चिरं ॥ १८८ ॥ शार्दूलभूतपूर्वो यः स विमाने मनोहरे । चित्रांगदे ज्वलन्मौलिरभूच्चित्रांगदोऽमरः ॥ १८९ ॥ वराहार्यश्च नंदाख्ये विमाने मणिकुंडली । ज्वलन्मुकुटकेयूरमणिकुंडलभूषितः ॥ १९० ॥ नंद्यावर्त्तविमानेऽभूद्वानरार्यो मनोहरः । सुरांगनामनोहारिचतुराकारसुंदरः ॥ १९१ ॥ प्रभाकरविमानेऽभून्नकुलार्यो मनोरथः । मनोरथशतावाप्तदिव्यभोगामृताशनः ॥ १९२ ॥ इति पुण्योदयाच्चेषां स्वर्लोकसुखभागिनां । रूपसौंदर्यभोगादिवर्णना ललितांगवत् ॥ १९३ ॥ इत्युच्चैःप्रमदोदयात्सुरवरः श्रीमानसौ श्रीधरः । स्वर्गश्रीन-

---

जीव भी अत्यंत सुखमय ऐसे इसी दूसरे स्वर्गमें बडी बडी ऋद्धियोंके स्वामी देव हुये । सो ठीक ही है पुण्यकर्मके उदयसे कौनसी बस्तु दुर्लभ है ? ॥ १८७ ॥ इस संसारमें विना धर्मके स्वर्ग कहां ? और विना स्वर्गके सुख कहां ? इसलिये सुख प्राप्त होनेकी इच्छा रखनेवाले जीवोंको सदा धर्मरूपी कल्पवृक्षका सेवन करना चाहिये ॥ १८८ ॥ जो जीव पहिले भवमें सिंह था वह चित्रांगद नामके मनोहर विमानमें दैदीप्यमान मुकुट धारण किये हुये चित्रांगद नामका देव हुआ ॥ १८९ ॥ शूकरका जीव नंद नामके विमानमें दैदीप्यमान मुकुट, वाजूवंद और अनेक मणि जडेहुये कुंडलोंसे शोभायमान ऐसा मणिकुंडली नामका देव हुआ ॥ १९० ॥ वानरका जीव नंद्यावर्त नामके विमानमें देवांगनाओंके चित्तको हरण करनेवाले सुंदर रूपसे शोभायमान ऐसा मनोहर नामका देव हुआ ॥ १९१ ॥ और नकुलका जीव प्रभाकर नामके विमानमें सैकडों मनोरथोंके द्वारा दिव्य भोगोपभोगोंका सेवन करनेवाला मनोरथ नामका देव हुआ ॥ १९२ ॥ इसप्रकार पुण्यकर्मके उदयसे ये छहों जीव स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुये इनका रूप सौंदर्य भोग आदिका वर्णन सब ललितांगदेवके समान जानना ॥ १९३ ॥ इसप्रकार वह श्रीधर देव अपने उत्कृष्ट पुण्यकर्मके उदयसे बडी विभूतिका स्वामी उत्तम देव हुआ । इसका शरीर देवांगनाओंके नेत्रोंको आनंद देनेवाला, अत्यंत पवित्र और दैदीप्यमान था । मधुर-

यनोत्सवं शुचितरं बिभ्रद्वपुर्भास्वरं ॥ कांताभिः कलभाषिणीभिरुचितान्भोगान्मनोरंजना- । न्भुंजानः सततोत्सवैररमत स्वस्मिन्विमानोत्तमे ॥१९४॥ कांतानां करपल्लवैर्मृदुतलैः संवाह्यमानक्रम- । स्तद्वक्त्रेंदुशुचिस्मितांशुसलिलैः संसिच्यमानो मुहुः॥ सभ्रूविभ्रमतत्कटाक्षविशिखैर्लक्षीकृतोऽनुक्षणं । भोगांगैरपि सोऽतृपत्प्रमुदितो बत्स्र्यज्जिनः श्रीधरः ॥ १९५ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे श्रीमतीवज्रजंघार्यसम्यग्दर्शनोत्पत्तिवर्णनं नाम नवमं पर्व ॥

भाषण करनेवाली अनेक देवांगनाओंके साथ वह चित्तको प्रसन्न करनेवाले अनेक भोगोपभोगोंका सेवन करता था और अपने उत्तम विमानमें निरंतर उत्सव करता हुआ काल व्यतीत करता था ॥ १९४ ॥ कभी देवांगनायें अतिशय कोमल करपल्लवोंसे उसके चरणकमल दावतीं थीं कभी अपने मुखरूपी चंद्रमासे निकलती हुई श्वेत मंदहास्यरूपी किरणोंकी छोटी २ बूंदोंसे उसे बार बार सिंचन करती थीं और कभी उसे प्रत्येक क्षणमें सुंदर भ्रूयुक्त नेत्रोंके विलास और कटाक्षरूपी वाणोंका निशाना बनाती थीं। इसप्रकार भोगोपभोगोंका सेवन करता हुआ वह आगामीकालमें श्रीजिनेंद्र-देव होनेवाला और सदा प्रसन्न रहनेवाला श्रीधरदेव सदा संतुष्ट रहता था ॥ १९५ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें श्रीमतीवज्रजंघका भोगभूमिमें जन्म लेना सम्यक्त्वकी प्राप्ति आर स्वर्गगमनका वर्णन करनेवाला नौवां पर्व समाप्त हुआ ॥

अथ दशमं पर्व.

अथाऽन्येद्युरबुद्धासौ प्रयुक्तावधिरंजसा । स्वगुरुं प्राप्तकैवल्यं श्रीप्रभाद्रिमधिष्ठितं ॥१॥ जगत्प्रीतिंकरो योऽस्य गुरुः प्रीतिंकराह्वयः । तमर्चितुमभीयाय वर्यया स सपर्यया ॥ २ ॥ श्रीप्रभाद्रौ तमभ्यर्च्य सर्वज्ञमभिवंद्य च। श्रुत्वा धर्मं ततोऽपृच्छादित्यसौ स्वमनीषितं ॥ ३ ॥ महाबलभवे येऽस्मन्मंत्रिणो दुर्दृशस्त्रयः । क्वाद्य ते लब्धजन्मानः कीदृशीं वा गतिं श्रिताः ॥ ४ ॥ इति पृष्टवते तस्मै सोऽवोचत्सर्वभाववित् । तन्मनोध्वांतसंतानमपाकुर्वन्वचोंऽशुभिः ॥ ५ ॥ त्वयि स्वर्गगतेऽस्मासु लब्धबोधिषु ते तदा । प्रपद्य दुर्मृतिं याता वियाता बत दुर्गतिं ॥ ६ ॥ द्वौ निगोदास्पदं

अथ दशम पर्व

तदनंतर किसी एक दिन इस श्रीधरदेवको अवधिज्ञानसे अकस्मात् मालूम हुआ कि उसके गुरु श्रीप्रभ नामके पर्वतपर विराजमान हैं तथा उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ है ॥ १ ॥ समस्त प्राणियोंसे प्रेम रखनेवाले जो प्रीतिंकर नामके आचार्य थे वे ही इसके गुरु थे। उन्हींकी पूजा करनेके लिये पूजाकी उत्तमोत्तम सामग्री लेकर वह श्रीधर देव आया ॥ २ ॥ आते ही उसने श्रीप्रभपर्वतपर विराजमान श्रीसर्वज्ञदेवकी पूजा की, नमस्कार किया, धर्मश्रवण किया और फिर वह अपने मनकी वात इसप्रकार पूछने लगा ॥ ३ ॥ कि हे भगवन् जब मैं राजा महाबल था और उससमय जो मेरे तीन मिथ्यादृष्टि मंत्री थे उन्होंने अब कौनसी गतिमें कहां जन्म लिया है? ॥ ४ ॥ इसप्रकार जब श्रीधरने पूछा तब वे सर्वज्ञदेव अपने वचनरूपी किरणोंसे उसके हृदय का समस्त अज्ञानांधकार दूर करते हुये उससे कहने लगे ॥ ५ ॥ कि हे वत्स! जब तू महाबलकी पर्याय छोडकर स्वर्गमें उत्पन्न हुआ था और मैंने संसारको अनित्य समझकर दीक्षा धारण करली थी तब वे तीनों ही धृष्ट मंत्री आर्त और रौद्रध्यानसे मरकर दुर्गतिको प्राप्त हुये थे ॥ ६ ॥ इन तीनोंमेंसे महामति और संभिन्न

यातौ तमोंधं यत्र केवलं । तप्तादिश्रयणोद्वर्त्तभूयिष्ठैर्जन्ममृत्युभिः ॥ ७ ॥ गतः शतमतिः श्वभ्रं मिथ्यात्वपरिपाकतः । विपाकक्षेत्रमाम्नातं तद्धि दुष्कृतकर्मणां ॥ ८ ॥ मिथ्यात्वविषसंसुप्ता ये मार्गपरिपंथिनः । ते यांति दीर्घमध्वानं कुयोन्यावर्त्तसंकुलं ॥ ९ ॥ तमस्यंधे निमज्जंति सज्ज्ञानद्वेषिणो नराः । आप्तोपज्ञमतो ज्ञानं बुधोऽभ्यस्येदनारतं ॥ १० ॥ धर्मेणात्मा व्रजत्यूर्ध्वमधर्मेण पतत्यधः । मिश्रस्तु याति मानुष्यमित्याप्तोक्तिं विनिश्चिनु ॥ ११ ॥ स एष शतबुद्धिस्ते मिथ्याज्ञानस्य दार्ब्यतः । द्वितीयनरके दुःखमनुभुंक्तेऽतिदारुणं ॥ १२ ॥ सोऽयं स्वयंकृतोऽनर्थो जंतोरविजिता-

---

मति ये दो तो निगोदमें पडे हैं जहां केवल गाढ अंधकार रहता है और जिसमें अतिशय उष्ण-जलमें उठती हुई खलबलाहटके समान अनंत जन्म मरण धारण करने पडते हैं ॥७॥ तथा शतमति मंत्री मिथ्यात्व कर्मके उदयसे नरक गया है, सो ठीक ही है क्योंकि अशुभ कर्मोंका फल भोगनेके-लिये एक नरक ही मुख्य स्थान है ॥ ८ ॥ जो जीव सन्मार्गके (जैनमार्गके) विरोधी हैं और मिथ्यात्वरूपी विषसे मूर्छित हैं वे कुयोनिरूपी भंवरोंके समूहमें पडकर अनंतकालतक दुःख सहन किया करते हैं ॥९॥ जो मनुष्य सम्यग्ज्ञानके विरोधी हैं वे अवश्य नरकमें पडते हैं । इसलिये बुद्धि-मानपुरुषोंको अरहंत देवके कहे हुये शास्त्रोंका निरंतर अभ्यास करना चाहिये ॥ १० ॥ यह जीव धर्मके निमित्तसे ऊर्ध्वलोकमें जाकर स्वर्गादिकोंके सुख भोगता है और पापके निमित्तसे नरकादि अधोगतिमें पडता है तथा पुण्य पाप दोनोंके संयोगसे मनुष्यपर्याय धारण करता है। हे भद्र तू निश्चय रख यही श्रीजिनेंद्रदेवका कहा हुआ वचन है ॥ ११ ॥ वह तेरा शतबुद्धिमंत्रीका जीव मिथ्या-ज्ञानकी अत्यंत दृढतासे दूसरे नरकमें पडा हुआ अत्यंत दारुण दुःख भोग रहा है ॥ १२ ॥ यह जीव अपने आत्माका स्वरूप नहीं जानता इसलिये यह धर्मसे द्वेष करता है और अधर्मसे प्रेम रखता है परंतु यदि वास्तवमें देखा जाय तो यह इसप्रकारका अनर्थ न तो किसीने कराया है न किसीने प्रेरणा की है किंतु इसने स्वयं किया है ॥ १३ ॥ ' इस संसारमें धर्मसे सुखकी प्राप्ति होती है

त्मनः । यदयं विद्विषन्धर्ममधर्मे कुरुते रतिं ॥ १३ ॥ धर्मात्सुखमधर्माच्च दुःखमित्यविगानतः । धर्मैकपरतां धत्ते बुधोऽनर्थजिहासया ॥ १४ ॥ धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षांतिः शौचं वितृष्णता । ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः ॥ १५ ॥ तनोति विषयासंगः सुखसंतर्षमंगिनः । स तीव्रमनुसंधत्ते तापं दीप्त इवानलः ॥ १६ ॥ संतप्तस्तत्प्रतीकारमीप्सन्पापेऽनुरज्यते । द्वेष्टि पापरतो धर्ममधर्माच्च पतत्यधः ॥ १७ ॥ विपच्यते यथाकालं नरके दुरनुष्ठितं । अनेहसि समभ्यर्णे यथाऽलर्कशुनो विषं ॥ १८ ॥ यथोपचारैर्जंतुं तीव्रं ज्वरयति ज्वरः । तथा दुरीहितैः पाप्मा गाढीभवति दुर्दृशः ॥ १९ ॥ दुरंतः कर्मणां पाको ददाति कटुकं फलं । येनात्मा पतितः श्वभ्रे क्षणं दुःखान्न मुच्यते ॥ २० ॥ कीदृशं नरके दुःखं तत्रोत्पत्तिः

और अधर्मसे दुःख मिलता है ' यह समझकर ही बुद्धिमान् पुरुष दुःखोंके छोडनेकी इच्छाकरके केवल धर्म सेवन करनेमें ही तल्लीन हो जाते हैं ॥१४॥ हे भव्य! प्राणीमात्रपर दया करना, सत्य बोलना, क्षमा धारण करना, शरीरकी शुद्धता रखना अथवा लोभका त्याग करना, तृष्णा घटाना और सम्यग्ज्ञान तथा वैराग्यरूप संपत्तिका धारण करना ही धर्म है । अधर्मका स्वरूप ठीक इससे उलटा है १५ जैसे प्रज्वलित हुई अग्निसें अधिक संताप होता है उसीप्रकार जीवोंको विषयोंमें आसक्त होनेसे सुखकी तृष्णा और अधिक वढती है तथा तृष्णासे संतप्त होकर वे जीव उस संतापको दूर करनेकी इच्छा करते हुये पापमें तल्लीन हो जाते हैं और जो पापमें तल्लीन होते हैं वे अवश्य ही धर्मसे द्वेष रखते हैं। इसप्रकार धर्मसे द्वेष रखने और अधर्म सेवन करनेसे वे अधोगतिको प्राप्त होते हैं ॥ १६-१७ ॥ जिस प्रकार वर्षाऋतुका समय पाकर पागल कुत्तेका विष चढता है उसीप्रकार किये हुये पाप भी समय पाकर नरकोंमें दारुण दुःख देते हैं ॥ १८ ॥ जैसे अपथ्य भोजन करनेसे मूर्ख पुरुषोंके ज्वरका संताप और अधिक वढजाता है उसीप्रकार पापाचरण करनेसे मिथ्यादृष्टियोंके पाप भी बहुत दृढ हो जाते हैं ॥ १९ ॥ उपार्जित किये हुये कर्मोंका परिपाक बहुत ही बुरा है । यह जीवोंको अनेक कटुक फल देता है तथा इसी कटुकफलके निमित्तसे यह जीव नरकमें पडता है और फिर वहां क्षणभरभी दुःखसे नहीं छूट

कुतोंगिनां। इति चेच्छृणु तत्सम्यक्प्रणिधाय मनः क्षणं ॥ २१ ॥ हिंसायां निरता ये स्युर्ये मृषावादतत्पराः । चुराशीलाः परस्त्रीषु ये रता मद्यपाश्च ये ॥ २२ ॥ ये च मिथ्यादृशः क्रूराः रौद्रध्यानपरायणाः ।सत्त्वेषु निरनुक्रोशा बह्वारंभपरिग्रहाः ॥ २३ ॥ धर्मद्रुहश्च ये नित्यमधर्मपरितोषकाः । दूषकाः साधुवर्गस्य मात्सर्योपहताश्च ये ॥ २४ ॥ रुष्यंत्यकारणं ये च निर्ग्रंथेभ्योऽतिपातकाः । मुनिभ्यो धर्मशीलेभ्यो मधुमांसाशने रताः ॥२५॥ वधकान्पोषयित्वाऽन्यजीवानां येऽनितिर्घृणाः । खादका मधुमांसस्य तेषां ये चानुमोदकाः ॥ २६ ॥ ते नराः पापभारेण प्रविशंति रसातलं । विपाकक्षेत्रमेतद्धि विद्धि दुष्कृतकर्मणां ॥ २७ ॥ जलस्थलचराः क्रूराः सोरगाश्च सरीसृपाः । पापशीलाश्च मानिन्यः पक्षिणश्च प्रयांत्यधः ॥ २८ ॥

सकता ॥ २० ॥ हे भव्य! नरकोंमें कैसे कैसे दुःख हैं, किन किन कारणोंसे वहां जीव उत्पन्न होते हैं आदि जाननेकी जो तेरी इच्छा हो तो क्षणभर मनको स्थिरकर सुन ॥ २१ ॥ जो जीव हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, परस्त्रीसेवन करते हैं, मद्यपान करते हैं, जो मिथ्यादृष्टी हैं, क्रूर हैं, रौद्रध्यानी हैं, जो प्राणियोंमें सदा निर्दयी रहते हैं, जो अधिक आरंभ करते हैं, बहुत परिग्रह रखते हैं, धर्मसे द्रोह रखते हैं, अधर्मका पालन करते हैं, मुनियोंकी निंदा करते हैं, सबसे ईर्ष्या करते हैं, तथा जो अतिशय पापीजीव परिग्रहरहित सदा धर्मसेवन करनेवाले मुनियोंसे विनाकारण ही क्रोध करते हैं, जो शहत और मांस खाते हैं, जो निर्दयी वाज कुत्ता आदि हिंसक जीवोंका पालन पोषणकर अन्य जीवोंकी हिंसा कराते हैं, जो शहत तथा मांस खाते हैं, और जो शहत तथा मांस खानेवालोंकी अनुमोदना करते हैं, वे मनुष्य पापके भारसे नरकमें पडते हैं। यह नरक अशुभकर्मोंके फल देनेका स्थान है ॥ २२-२७ ॥ मगर मत्स्य आदि जलचर सिंहादिक थलचर, सर्प, सरीसृप, पापाचारिणी स्त्रियां और पक्षी आदि क्रूर जीव नरकमें पडते हैं ॥ २८ ॥ एकेंद्रिय द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय और असेनी पंचेंद्रिय जीव घर्मा नामकी पहली पृथ्वी (नरक) तक जाते हैं, सरीसृप जातिके जीव वंशा नामकी दूसरी पृथ्वीतक जाते हैं, पक्षी तीसरे

प्रयांत्यसंज्ञिनो घर्मां तां वंशां च सरीसृपाः । पक्षिणस्ते तृतीयां च तां चतुर्थीं च पन्नगाः ॥२९॥ सिंहास्तां पंचमीं चैव ताश्च षष्ठीं च योषितः । प्रयांति सप्तमीं ताश्च मर्त्या मत्स्याश्च पापिनः ॥ ३० ॥ रत्नशर्करवालूकाः पंकधूमतमःप्रभाः । तमस्तमःप्रभा चेति सप्ताधः श्वभ्रभूमयः ॥ ३१ ॥ तासां पर्यायनामानि घर्मा वंशा शिलांजना । अरिष्टा मघवी चैव माघवी चेत्यनुक्रमात् ॥ ३२ ॥ तत्र बीभत्सुनि स्थाने जाले मधुकृतामिव । तेऽधोमुखाः प्रजायंते पापिनामुन्नतिः कुतः ॥ ३३ ॥ तेंऽतर्मुहूर्ततो गात्रं पूतिगंधि जुगुप्सितं । पर्याप्नुवंति दुष्प्रेक्षं विकृताकृति दुष्कृतात् ॥ ३४ ॥ पर्याप्ताश्च महीपृष्ठे ज्वलति व्यतिदुःसहे । विच्छिन्नबंधनानीव पत्राणि विलुठंत्यधः ॥३५॥ निपत्य च महीपृष्ठे निशितायुधमूर्द्धसु । पूत्कुर्वंति दुरा-

---

नरकतक जाते हैं, सर्प चौथे नरकतक जाते हैं, सिंह पांचवे नरकतक जाते हैं, स्त्रियां छठे नरकतक जाती हैं और पापी मनुष्य तथा मत्स्य सातवें नरकतक जाते हैं ॥ २९-३० ॥ रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सातों नरकोंकी सात भूमि हैं। ये सातों भूमियां क्रमसे नीचे नीचे हैं ॥ ३१ ॥ घर्मा, वंशा, शिला वा मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये उन सातों पृथ्वियोंके नामांतर हैं अर्थात् अनुक्रमसे सातों नरकोंके नाम हैं ॥३२॥ उन नरकोंमे नारकी जीव मधुमक्खियोंके छत्तेके समान अत्यंत घृणित स्थानमें अधोमुख होकर [नीचेकी ओर मुंह करके] उत्पन्न होते हैं। सो ठीक ही है पापी जीवोंकी उन्नति कैसे हो सकती है ॥ ३३ ॥ पापकर्मके उदयसे अत्यंत दुर्गंध, घृणित, वुरी आकृतिका और देखनेके सर्वथा अयोग्य ऐसा उन नारकीयोंका शरीर जन्मके अंतर्मुहूर्त वाद ही पूर्ण हो जाता है ॥ ३४ ॥ जिसप्रकार पत्ते वृक्षसे टूटकर नीचे जमीनपर गिर पडते हैं उसीप्रकार वे नारकी भी शरीरकी पूर्णता होते ही उस उत्पन्न होनेके स्थानसे जलती हुई अत्यंत दुस्सह नरककी भूमिपर गिर पडते हैं ॥ ३५ ॥ वहांकी भूमिपर बडे पैने शस्त्र पडे हुये हैं उन्हींपर वे नारकी पडते हैं। उन शस्त्रोंसे उनके शरीरके टुकडे हो जाते हैं जिससे वे पापी बडे ही दुःख भरे शब्दोंसे चिलाते हैं ॥ ३६ ॥

स्मानश्छिन्नसर्वांगसंचयः ॥ ३६ ॥ भूम्युष्मणा च संतप्ता दुस्सहेनाकुलीकृताः । तप्तभ्राष्ट्रे तिला यद्वन्निपतंत्युत्पतंति च ॥ ३७ ॥ ततस्तेषां निकृंतंति गात्राणि निशितायुधैः । नारकाः परुषक्रोधास्तर्जयंतोऽतिभीषणं ॥ ३८ ॥ तेषां छिन्नानि गात्राणि संधानं यांति तत्क्षणात् । दंडाहतानि वारीणि यद्वद्विक्षप्य शल्कशः ॥ ३९ ॥ वैरमन्योऽन्यसंबंधि निवेद्यानुभवाद्गतं । दंडांस्तदनुरूपांस्ते योजयंति परस्परं ॥ ४० ॥ चोदयंत्यसुराश्चैतान्यूयं युध्यध्वमित्यरं । संस्मार्य पूर्ववैराणि प्राक्चतुर्थ्याः सुदारुणाः ॥ ४१ ॥ वज्रचंचुपुटैर्गृध्राः कृंतंत्येतान्भयंकराः । श्वानश्चानर्जुनाः सूना दशंति नखैः खरैः ॥ ४२ ॥ मूषाक्वथित ताम्रादिरसान्केचित्प्रपायिताः । प्रयांति विलयं सद्यो रसंतो विरसस्वनं ॥ ४३ ॥ इक्षुयंत्रेषु निक्षिप्य

वहांकी भूमि भी अत्यंत उष्ण है जिसकी उष्णतासे अत्यंत संतप्त होकर तथा उसके दुस्सह दुःखसे व्याकुल होकर वे नारकी गरम भाडमें डाले हुये तिलोंके समान उछलते पडते रहते हैं ॥ ३७ ॥ वहां पडते ही अत्यंत भयंकर ताडना करते हुये नारकी अतिशय क्रुद्ध होकर बडे पैने शस्त्रोंसे उन नये नारकियोंका शरीर छिन्न भिन्न कर डालते हैं ॥ ३८ ॥ जैसे किसी दंडेकी चोटसे बूंद२होकर विखरा हुआ जल मिलकर एक हो जाता है उसीप्रकार उन नारकियोंका छिन्नभिन्न हुआ शरीर भी उसी क्षणमें मिलकर एक हो जाता है ॥ ३९ ॥ वे सब नारकी परस्पर एक दूसरेको अपना पूर्व भवका वैर जतलाकर उसीके अनुसार एक दूसरेको दंड देते हैं ॥ ४० ॥ पहलेके तीन नरकोंतक संक्लेशपरिणामोंको धारण करनेवाले अतिशय भयंकर असुरकुमारजातिके देव जाते हैं और वहांके नारकियोंको उनके पूर्वभवके वैर स्मरण कराकर परस्पर लडनेकेलिये प्रेरणा करते हैं ॥ ४१ ॥ उन नारकियोंके शरीरको वहांके भयंकर गिद्ध अपनी वज्रके समान तीव्र चोंचोंसे फाडते हैं और बडे काले कुत्ते अपने पैने नखोंसे फाड डालते हैं ॥ ४२ ॥ कितने ही नारकियोंको तांबा आदि धातुयें गलागलाकर पिलाई जाती हैं जिसके दुःखसे वे बडी बुरीतरह चिल्लाते हैं और तत्कालही उनका शरीर भस्म हो जाता है ॥ ४३ ॥ कितने ही नारकियोंके शरीरके टुकडे कर और उन्हें

पीड्यंते खंडशः कृताः । उष्ट्रिकासु च निष्क्वाथ्य नीयंते रसतां परे ॥ ४४ ॥ केचित्स्वान्येव मांसानि खाद्यंते बलिभिः परैः । विशस्य निशितैः शस्त्रैः परमांसाशिनः पुरा ॥ ४५ ॥ संदंशकैर्विदार्यास्यं गले पादिकया बलात् । ग्रास्यंते तापितांल्लोहपिंडान्मांसप्रियाः पुरा ॥ ४६ ॥ सैषा तव प्रियेत्युक्त्वैस्तप्तायःपुत्रिकां गले । आलिंग्यंते बलादन्यैरनलार्च्चिःकणाचितां ॥ ४७ ॥ संकेतकेतकोद्याने कर्कशक्रकचच्छदे । त्वामिहोपह्वरे कांताह्वयत्यभिसिसीर्षया ॥ ४८ पुरा परांगनासंगरतिदुर्ललितानिति । संयोजयंति तप्तायःपुत्रिकाभिर्बलात्परे ॥ ४९ ॥ तांस्तदालिंगनासंगात्क्षणमूर्च्छामुपागतान् । तुदंत्ययोमयैस्तोत्रैरन्ये मर्मसु नारकाः ॥ ५० ॥ तदंगालिंगनासंगक्षणामीलितलोचनाः । निपतंति महीरंगे तेंऽगारांकितविग्रहाः ॥५१॥

कोल्हूमें डालकर पलेते हैं और किन्हींके शरीरको मिट्टीकी कढाईमें ओटाकर उसका रस निकालते हैं ॥ ४४ ॥ जिन जीवोंने पूर्वभवमें मांसभक्षण किया है उन नारकियोंके शरीरको अन्य जवर्दस्त नारकी पैने शस्त्रोंसे काटकाटकर मांस निकालते हैं और वह उन्हें ही खिलाते हैं ॥ ४५ ॥ जो जीव परभवमें मांस खानेके बडे शौकीन थे उनके गलेपर पैर रखकर और सडासीसे उनका मुख फाडकर जवर्दस्ती गरम किये हुये लोहेके गोले उनके मुखमें डाले जाते हैं ॥ ४६ ॥ वहांके नारकी अग्निके फुलिंगोंसे भरपूर रासी गरम की हुई लोहेकी पुतली जवर्दस्ती गलेसे आलिंगन कराते हैं और कहते हैं कि देखो यह तुह्मारी पूर्व भवकी प्रिया है ॥ ४७ ॥ जिन्होंने पूर्वभवमें परस्त्रियोंके साथ क्रीडा की है ऐसे नारकीजीवोंको अन्य नारकीजीव आकर कहते हैं कि 'चलो तुह्में तुह्मारी प्रिया संकेत किये हुये केतकीबनके एकांत स्थानमें बुला रही है' इसप्रकार कहकर उसे कठोर करोंतके पत्तेवाले बनमें लेजाते हैं और जवर्दस्ती गर्म की हुई लोहेकी पुतलीसे आलिंगन कराते हैं ॥ ४८-४९ ॥ उस गर्म की हुई लोहेकी पुतलीके आलिंगन करनेसे वे नारकी तत्काल ही मूर्छित हो जाते हैं और फिर उन्हें अन्य नारकी जीव लोहेके सांटेसे उनके मर्मस्थानोंको विदारण करते हैं ॥ ५० ॥ गर्म की हुई लोहेकी पुतलीके आलिंगन करनेके दुःखसे वे क्षणमात्रमें अपने नेत्र बंद कर लेते हैं उनका शरीर

भल्लाग्निदीपितान्केचिदायसान् शाल्मलिद्रुमान् । आरोप्यंते हठात्कैश्चित्तीक्ष्णोर्ध्वाधोग्रकंटकान् ॥ ५२ ॥ ते तदारोपणोर्ध्वाधःकर्षणैरतिकर्षिताः । मुच्यंते नारकैः कृच्छ्रात्क्षरत्क्षतजमूर्तयः ॥ ५३ ॥ अरुष्करद्रवापूर्णनदीरन्ये विगाहिताः । क्षणाद्विशीर्णसर्वांगा विलिप्यंतेऽबुवीचिभिः ॥ ५४ ॥ विस्फुलिंगमयीं शय्यां ज्वलतीमधिशायिताः । शेरते प्लुष्यमाणांगा दीर्घनिद्रासुखेप्सया ॥ ५५ ॥ असिपत्रवनान्यन्ये श्रयंत्युष्णार्दिता यदा । तदा वाति मरुत्तीव्रो विस्फुलिंगकणान् किरन् ॥ ५६ ॥ तेन पत्राणि सात्यंते सर्वायुधमयान्यरं । तैश्छिन्नभिन्नसर्वांगाः पूत्कुर्वंति वराककाः ॥ ५७ ॥

अग्निके समान लाल हो जाता है और वे तुरंत ही पृथ्वीपर गिर पडते हैं ॥ ५१ ॥ कितनेही नारकी जिनपर नीचेसे ऊपरतक पैने कांटे लगे हुये हैं ऐसे लोहेके बने हुये शाल्मलीवृक्षोंको धोंकनीके द्वारा अग्निसे गरमकर उनपर जवर्दस्ती नारकियोंको चढाते हैं ॥ ५२ ॥ वे नारकी उन वृक्षोंपर चढते हैं और फिर उतरते हैं, उन वृक्षोंके गर्म किये हुये पैने कांटोंसे उनका सब शरीर छिल जाता है, अनेक घावोंसे रक्त बहने लगता है तब कहीं जाकर बडी कठिनतासे वे छुट्टी पाते हैं ॥ ५३ ॥ कितनेही नारकियोंको भिलावेके तेलसे भरी हुई नदीमें पटकते हैं जिससे क्षणभरमें उनके शरीरके टुकडे टुकडे हो जाते हैं और फिर उस नदीकी खारी लहरोंसे उनके घावोंको बहुतही दुःख पहुंचता है ॥ ५४ ॥ कितनेही नारकियोंको अन्य नारकी जीव जलती हुई अग्निकी शय्यापर सुलाते हैं दीर्घ निद्रा लेकर (मरकर) सुखानुभव करनेकी इच्छासे वे नारकी उसपर सोते हैं और तत्कालही भस्म हो जाते है ॥ ५५ ॥ जब वे नारकी उष्णतासे अत्यंत व्याकुल होते हैं तब वे किसी बनका आश्रय लेते हैं वहांके बनोंके वृक्षोंके पत्ते तलवारके समान पैने हैं नारकियोंके वहां पहुंचतेही अग्निके फुलिंगोंकी वर्षा करता हुआ तीव्र वायु वहता है जिससे शीघ्रही तलवार बरछा आदि अनेक आयुधमय वे पत्र गिर पडते हैं जिनसे उनका संपूर्ण शरीर छिन्न भिन्न हो जाता है और वे दीन नारकी बडे जोर शोरसे चिल्लाने लगते हैं ॥ ५६-५७ ॥ कितनेही नारकियोंका मांस लोहेकी सलाईपर सुखाये हुये

वल्लूरीकृत्य शोष्यंते शूल्यमांसीकृताः परे । पात्यंते च गिरेरग्रादधःकृतमुखाः परे ॥ ५८ ॥ दार्यंते क्रकचैस्तीक्ष्णैः केचिन्मर्मास्थिसंधिषु । तप्तायः सूचिनिर्भिन्ननखाग्रोल्बणवेदनाः ॥ ५९ ॥ कांश्चिन्निशातशूलाग्रप्रोतान् लंबांत्रसंततीन् । भ्रमयत्युच्छलच्छोणशोणितारुणविग्रहान् ॥ ६० ॥ व्रणजर्जरितान्कांश्चित्सिंचंति क्षारवारिभिः । तत्किलाप्यायनं तेषां मूर्च्छाविह्वलितात्मनां ॥ ६१ ॥ कांश्चिदुत्तुंगशैलाग्रात्पातितानतिनिष्ठुराः । नारकाः परुषं घ्नंति शतशो वज्रमुष्टिभिः ॥ ६२ ॥ अन्यानन्ये विनिघ्नंति द्रुघणैरतिनिर्घृणाः । विच्छिन्नप्रोच्छलच्चक्षुर्गोलकानधिमस्तकं ॥ ६३ ॥ उरभ्रैश्च रणैरन्यान्योधयंति मिथोऽसुराः । स्फुरद्ध्वनिदलन्मूर्द्धगलन्मास्तिककर्दमान् ॥ ६४ ॥ तप्तलोहासनेष्वन्यानासयंति पुरोद्धतान् । शाययंति

मांसके समान सुखाते हैं और कितनोंहीको नीचेकी ओर मुंह करके पहाडकी चोटीपरसे पटक देते हैं ॥ ५८ ॥ कितने जीवोंके मर्मस्थान और हड्डियोंके संधिस्थानोंको [हड्डियोंके जोडको] पैने करोतोंसे काट डालते हैं तथा उनके नखोंके अग्रभागमें गर्मकी हुई लोहेकी सुइयां चुभाकर उन्हें तीव्र दुःख देते हैं ॥ ५९ ॥ कितनेही जीवोंको तीक्ष्ण की हुई शूलीकी नोकपर चढाकर फिराते हैं जिससे उनकी अंतडी निकलकर लंबी हो जाती है और निकले हुये रक्तसे उनका सब शरीर डूब जाता है ॥ ६० ॥ इसप्रकार अनेक घावोंसे भरे हुये उनके शरीरको खारे जलसे सींचते हैं । जो नारकी अनेक घावोंके लगनेसे मूर्छित हो जाते हैं खारे पानीसे तुरंतही उनकी मूर्छा दूर हो जाती है ॥ ६१ ॥ कितनेही नारकी जीवोंको बडी ऊंची पहाडकी चोटीसे पटक देते हैं और ज्योंही वे नीचे गिरते हैं त्योंही अनेक निर्दय नारकी मिलकर वडी निर्दयताके साथ वज्रमय सैकडों मुष्टियोंसे (घूंसोसे) उन्हें मारते हैं ॥ ६२ ॥ कितनेही निर्दय नारकी अन्य नारकियोंके मस्तकपर मुद्गरोंकी मार मारते हैं जिससे उनके चक्षु बहुत शीघ्र निकलकर बाहर गिर पडते हैं ॥ ६३ ॥ तीसरे नरकतक असुरकुमार जातिके देव नारकियोंको मेंढा बनाकर परस्पर लडाते हैं जिससे उनके मस्तक बड़ी आवाजके साथ फट जाते हैं और उनेस रक्त मांस आदि बहुतसा मल बाहर निकल पडता है ॥६४॥

विविन्यासैः शितायःकंटकास्तरे ॥ ६५ ॥ इत्यत्युत्कटतरां घोरां नारकीं प्राप्य यातनां ॥ उद्विग्नानां मनस्येषामेवं
चिंतोपजायते ॥ ६६ ॥ अहो दुरासदा भूमिः प्रदीप्ता ज्वलनार्चिषा ॥ वायवो वांति दुःस्पर्शाः स्फुलिंगकणवाहिनः ॥ ६७ ॥
दीप्ता दिशश्च दिग्दाहशंकां संजनयंत्यमूः ॥ तप्तपांसुमयीं वृष्टिं किरंत्यंबुमुचोऽम्बरात् ॥ ६८ ॥ विषारण्यमिदं विष्वग्विषवल्लीभिराततं ॥
असिपत्रवनं चेदमसिपत्रैर्भयानकं ॥ ६९ ॥ मृषाभिसारिकाश्चैतास्तप्तायोमयपुत्रिकाः ॥ काममुद्दीपयंत्यस्मानालिंगंत्यो बलाद्गले ॥ ७० ॥
योधयंति बलादस्मानिमे केऽपि महत्तराः ॥ नूनं प्रेताधिनाथेन प्रयुक्ताः कर्मसाक्षिणः ॥ ७१ ॥ खरारटितमुत्प्रोत्थं ज्वलज्ज्वालाकरालितं ॥

जो जीव पूर्वभवमें बडे उद्धत थे उन्हें वे असुरकुमारदेव गर्म किये हुये लोहेके सिंहासनपर बिठालते हैं तथा विधिपूर्वक तीक्ष्ण कांटोंके बिछोनेपर सुलाते हैं ॥ ६५ ॥ इसप्रकार नरककी अत्यंत असह्य और घोर वेदना पाकर उदास हुये उन नारकियोंके चित्तमें इसप्रकारकी चिंता उत्पन्न होती है कि ॥ ६६ ॥ देखो जलती हुई अग्निसे तप्तायमान यह भूमि कैसी कठिन है यहांपर सदा अग्निके फुलिंगोंकी वर्षा करता हुआ वायु वहा करता है जिसका स्पर्श भी सहन नहीं किया जा सकता ॥ ६७ ॥ इन तप्तायमान दिशाओंको देखकर संपूर्ण दिशाओंमें अग्नि लगनेकी शंका उत्पन्न होती है तथा आकाशसे ये बादल गरम बालूकी वरसा करते हैं ॥ ६८ ॥ यह देखो चारोंओरसे विषलताओंसे भरा हुआ यह विषवृक्षोंका बन है और यह तलवारके समान तीक्ष्ण पत्तोंसे अत्यंत भयानक असिपत्रवन (तलवारके समान पत्तेवाले वृक्षोंका बन) है ॥ ६९ ॥ नीच दुराचारिणी स्त्रियोंके समान ये गरम की हुई लोहेकी पुतलियां जबर्दस्ती आकर गलेसे आलिंगन करती हैं और हम लोगोंको अतिशय संताप देती हैं ॥ ७० ॥ ये कोई महा बलवान पुरुष (असुरकुमार) हमारी बिना इच्छाके भी हमें परस्पर लडाते हैं और ऐसे जान पडते हैं मानों हमारे अशुभकर्मोंकी साक्षी देनेकेलिये यमराजने ही भेजे हों ॥ ७१ ॥ जो दुःखकी जाज्वलमान अग्निसे अत्यंत भयानक दीख पडते हैं, जिन्होंने

गिलितुमनलोद्गारि खरोष्ट्रं नोऽभिधावति ॥ ७२ ॥ अमी च भीषणाकाराः कृपाणोद्यतपाणयः ॥ पुरुषास्तर्जयंत्यस्मानकारणरणोद्धुराः ॥ ७३॥ इमे च परुषापाता गृध्रा नोऽभिद्रवंत्यरं ॥ भषंतः सारमेयाश्च भीषयंतेतरामिमे ॥ ७४ ॥ नूनमेतन्निभेनास्मद्दुरितान्येव निर्दयं ॥ पीडामुत्पादयंत्येवमहो व्यसनसन्निधिः ॥ ७५ ॥ इतः स्वरति पद्घोषो नारकाणां प्रधावतां ॥ इतश्च करुणाक्रंदगर्भः पूत्कारनिस्वनः ॥ ७६॥ इतोऽयं प्रध्वनद्ध्वांक्षः कठोरारावमूर्छितः ॥ शिवानामशिवाध्वानः प्रध्वानयति रोदसी ॥ ७७ ॥ इतः परुषसंपातपवनाधूननोत्थितः ॥

अपनी नासिकायें ऊपर उठा रक्खी हैं जिनके मुखसे अग्नि निकल रही है और जो भयानक शब्द कर रहे हैं ऐसे ये ऊंट और गधे हमलोगोंको निगलनेकेलिये ही मानों हम लोगोंके पीछे पीछे दौडे फिरते हैं ॥ ७२ ॥ ये देखो जिन्होंने हाथमें तलवार उठा रक्खी है जिनकी सूरत भी अत्यंत भयंकर है और जो विनाकारण ही लडनेकेलिये तैयार हो रहे हैं ऐसे ये पुरुष भी हमलोगोंको कैसी ताडना कर रहे हैं ॥ ७३ ॥ भयंकर रीतिसे आकाशसे पडते हुये गीध कितनी जल्दी हमपर टूटते हैं और ये भोंकते हुये कुत्ते हमें कितना और कैसा दुःख देते हैं ॥ ७४ ॥ अवश्य ही इन दुष्ट प्राणियोंके बहानेसे पूर्व भवमें किये हुये हमारे पाप ही निर्दय होकर हम लोगोंको पीडा देते हैं इसमें किसीप्रकारका संदेह नहीं। बडे आश्चर्यकी बात है कि हमलोगोंको चारोंओरसे दुःखोंने घेर रक्खा है ॥ ७५ ॥ और देखो इधर यह दौडतेहुये नारकियोंके पैरोंकी आवाज कैसा संताप उत्पन्न कर रही है इधर यह करुणा उत्पन्न करनेवाली विलाप करनेकी आवाज आरही है ॥ ७६ ॥ इधर देखो ये अमंगल करनेवाले शृगालोंके शब्द आकाश पाताल दोनोंको शब्दायमान कर रहे हैं इन शब्दोंमें कांव कांव करते हुये कौवोंके कठोर शब्द भी मिले हुये हैं ॥ ७७ ॥ इधर देखो ये असिपत्रबनमें (तलवारके समान पत्तेवाले वृक्षोंके बनमें) कठिन और बडे वेगसे चलनेवाली वायुके चलनेसे उत्पन्न हुये शब्द तथा उस वायुके वेगसे गिरते हुये तल-

असिपत्रवने पत्रनिर्मोक्षपरुषध्वा ॥ ७८ ॥ सोऽयं कंटकितस्कंधः कूटशाल्मलिपादपः ॥ यस्मिन्स्मृतेऽपि नोंऽगानि तुदंत इव कंटकैः ॥ ७९ ॥
सैषा वैतरणी नाम सरित्क्षारजला ॥ आस्तां तरणमेतस्याः स्मरणं च भयावहं ॥ ८० एते च नरकावासाः प्रज्वलंत्यंतरूष्मणा ॥ अंधमूषा
स्विवावर्तं नीयंते यत्र नारकाः ॥ ८१ ॥ दुस्सहा वेदनास्तीव्राः प्रहारा दुर्धरा इमे ॥ अकाले दुस्त्यजा प्राणा दुर्निवाराश्च नारकाः ॥ ८२ ॥
क्व यामः क्व नु तिष्ठामः क्वास्महि क्व नु शेमहि ॥ यत्र यत्रोपसर्पामस्तत्र तत्राधयोऽधिकाः ॥ ८३ ॥ इत्यपारमिदं दुःखं तरिष्यामः कदा वयं ॥

वारके समान पत्तोंके काठिन शब्द कैसा त्रास उत्पन्न कररहे हैं ॥ ७८ ॥ और देखो जिसके स्कंधभागपर कांटे लगे हुये हैं ऐसा यह वही टेडा शाल्मलि वृक्ष है जिसके स्मरण करनेमात्रसे हमलोगोंके समस्त अंग अनेक कांटे चुभनेके समान दुःखित होते हैं ॥ ७९ ॥ इधर यह वही वैतरणी नामकी नदी है जिसमें सब जगह बिलावेका तैल भरा हुआ है इसमें स्नान करना वा तैरना तो दूर रहो, केवल इसका स्मरण करने मात्रसे अत्यंत भय लगता है ॥ ८० ॥ ये वही नारकियोंके रहनेके आवास (बिले) हैं जोकि अतिशय तीव्र गर्मीसे जल रहे हैं और जिनमें नारकी जीव इसप्रकार भ्रमण कराये जाते हैं जैसे छिद्ररहित सोना चांदी तांबा आदि गलानेके पात्रमें गला हुआ धातु इधरसे उधर फिरा करता है ८१ अहो यह तीव्र वेदना भी अत्यंत दुस्सह है किसीसे सहन नहीं की जा सकती यहांकी मार भी अत्यंत दुर्धर है। ये प्राण विना आयु पूरी हुये छूट नहीं सकते अर्थात् आयु पूर्ण हुये विना मरण हो नहीं सकता और दुःख देते हुये ये नारकी किसीसे किसीप्रकार भी रोके नहीं जा सकते ॥८२॥ ऐसे समयमें हम लोग कहां जायं, कहां बैठें, कहां सोवें कहां रहें। हम लोग जहां जहां जाते हैं वहां अधिक ही अधिक दुःख पाते हैं ॥ ८३ ॥ इसप्रकार यहांका यह दुःख अपार है न जाने हम लोग कब इससे पार होंगे। हम लोगोंकी आयु भी इतनी बडी है कि इसकी उपमा सागरोंकी भी नहीं है

न.ब्धयोप्युपमानं नो जीवितस्याऽधीयसः ॥८४॥ इत्यनुध्यायतां तेषां योऽतस्तापोऽनुसंततः 'स एव प्राणसंशीतिं तानारोपयितुं क्षमः ॥८५॥ किमत्र बहुनोक्तेन यद्यद्दुःखं सुदारुणं ॥तत्तत्पिंडीकृतं तेषु दुर्मोचैः पापकर्मभिः॥ ८६ ॥ अक्ष्णोर्निमेषमात्रं च न तेषां सुखसंगतिः॥ दुःखमेवानुबंधीदृग् नारकाणामहर्निशं ॥८७॥ नानादुःखशतावर्ते मग्नानां नरकार्णवे ॥ तेषामास्तां सुखावाप्तिस्तत्स्मृतिश्च दवीयसी ॥ ८८ ॥ शीतोष्णनरकेष्वेषां दुःखं यदुपजायते ॥ तदसह्यमचिंत्यं च कतकेनोपमीयते ॥८९॥ शीतं षष्ठ्यां च सप्तम्यां पंचम्यां तद्द्वयं समं ॥ पृथिवीषूष्णमुद्दिष्टं चतसृष्वादिमासु च ॥९०॥ त्रिंशत्पंचहताः पंच त्रिपंचदश च

सकते हैं अर्थात् वह सागरोंसे भी बडी बडी जान पडती है ॥ ८४ ॥ इसप्रकार चिंतवन करनेसे उन नारकियोंको निरंतर संताप उत्पन्न होता रहता है और वही संताप उनके प्राणोंको सदा संदेहमें डालता रहता है ॥ ८५ ॥ यहां अब बहुत कहनेसे क्या लाभ? जो बडी कठिनतासे दूर हो सकते हैं ऐसे पापकर्मोंके उदयसे जो जो दारुण दुःख होते हैं वे सब इकट्ठे होकर ही मानों नारकियोंको प्राप्त होते हैं ॥ ८६ ॥ नरकमें रहनेवाले नारकियोंको एक निमेषमात्र (जितनी देरमें आंखके ऊपरका पलक नीचेके पलकसे लगता है उतनी देरको निमेष कहते हैं) भी सुख नहीं है उन्हें रातदिन सदा ऊपर लिखे अनुसार दुःख ही दुःख भोगना पडता है ॥ ८७ ॥ अनेक प्रकारके सैकडों दुःखरूपी भंवरोंसे भरे हुये उस नरकरूपी समुद्रमें डूबे हुये नारकियोंको सुखकी प्राप्ति होना तो दूर रहो उन्हें सुखका स्मरण होना भी बहुत दूर रहता है ॥ ८८ ॥ जिन नरकोंमें अत्यंत शीतता ही है अथवा जिनमें अत्यंत उष्णता ही है ऐसे उन नरकोंमें उस शीतता और उष्णतासे नारकियोंको जो दुःख होता है वह सर्वथा असह्य (सहन करने अयोग्य) और अचिंत्य (चिंतवन करने अयोग्य) है उस दुःखकी उपमा देने योग्य भी संसारमे कोई पदार्थ नहीं है ॥ ८९ ॥ सातों नरकोंमेंसे पहलेके चार नरकोंमें उष्ण वेदना है पांचवेंमें ऊपरके दो लाख विलोंमें उष्ण वेदना है और नीचेके एक लाख विलोंमें शीत वेदना है छठे नरकमें शीतवेदना है और सातवें नरकमें महा शीत वेदना है ॥ ९० ॥ पहले नरकमें तीस लाख

क्रमात् । तिस्रः पंचभिरूनैका लक्षाः पंच च सप्तसु ॥९१॥ नरकेषु बिलानि स्युः प्रज्वलंतिमहांति च ॥ नारका येषु पच्यंते कुंभेष्विव दुरात्मकाः ॥९२॥ एकं त्रीणि तथा सप्त दश सप्तदशापि च ॥ द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशदायुरन्त्राब्धिसंख्यया ॥ ९३ ॥ धनूंषि सप्त तिस्रः स्युररत्न्योऽङ्गुलयश्च षट् घर्मायां नारकोत्सेधो द्विर्द्विःशेषासु लक्ष्यतां ॥ ९४ ॥ पोगंडा हुंडसंस्थानाः षंढकाः पूतिगंधयः ॥ दुर्वर्णाश्चैव दुःस्पर्शा दुःस्वरा दुर्भगाश्च ते ॥ ९५ तमोमयैरिवारब्धा विरूक्षैः परमाणुभिः ॥ जायंते कालकालाभा नारका द्रव्यलेश्यया ॥ ९६ ॥ भावलेश्या तु कापोती

बिले हैं, दूसरेमें पचीस लाख, तीसरेमें पंद्रह लाख, चौथेमें दश लाख, पांचवेंमें तीन लाख, छट्ठेमें पांच कम एक लाख और सातवेंमें पांच बिले हैं। इसप्रकार ये सब चौरासी लाख बिले हैं। ये सब बिले बहुत बडे हैं और सदा जाज्वल्यमान रहते हैं इनमें पापी नारकी जीव किसी वर्तनमें औटाये हुये जलके समान सदा सीजते रहते हैं॥९१--९२॥ पहले नरकमें एक सागरकी उत्कृष्ट आयु है, दूसरेमें तीन सागर, तीसरेमें सात सागर, चौथेमें दश सागर, पांचवेंमें सत्रह सागर, छट्ठेमें बाईस सागर और सातवेंमें तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है॥ ९३ ॥ पहले नरकके नारकियोंके शरीरकी उत्कृष्ट उंचाई सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल है। दूसरे तीसरे आदि नरकोंमें क्रमसे शरीरकी उंचाई इससे दूनी दूनी है अर्थात् दूसरे नरकमें पंद्रह धनुष दो हाथ बारह अंगुल है, तीसरे नरकमें इकतीस धनुष एक हाथ, चौथे नरकमें वासठ धनुष दो हाथ, पांचवें नरकमें एकसौ पचीस धनुष, छट्ठेमें दोसौ पचास धनुष और सातवें नरकमें पांचसौ धनुष है॥ ९४ ॥ वे सब नारकी विकलांग हुंडकसंस्थानवाले और नपुंसक होते हैं उनका शरीर बुरीदुर्गंधमय होता है, उनका वर्ण बुरा और काला, स्पर्श नितांत कठिन और स्वर अतिशय कठोर होता है, वे देखनेमें भी बहुत बुरे जान पडते हैं॥ ९५ ॥ उन नारकियोंका शरीर गाढ अंधकारके समान काले और रूखे परमाणुओंसे बना हुआ है। उनकी द्रव्यलेश्या भी महाकृष्ण है॥ ९६ ॥ इसीप्रकार भावलेश्या भी पहले नरकमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके जघन्य कापोती ले-

जघन्या मध्यमोत्तमा ॥ नीला च मध्यमा नीला नीलोत्कृष्टा च कृष्णया ॥ ९७ ॥ कृष्णा च मध्यमोत्कृष्टा कृष्णा [illegible]
घर्मादिसप्तमी यावत्तावत्पृथ्वीषु वर्णिताः ९९ यादृशः कटुकालाबुकांजीरादिसमागमे ॥ रसः कटुरनिष्टश्च तद्गात्रेष्वपि [illegible]
श्वमार्जारखरोष्ट्रादिकुणपानां समाहृतौ ॥ यद्दौर्गंध्यं [illegible]पमा ॥ १०० ॥ यादृशः करपत्रेषु गोक्षुरु [illegible]
तादृशः कर्कशः स्पर्शस्तदंगेष्वपि जायते ॥ १०१ ॥ [illegible]शुभाद्दुरतीदेयात् ॥ ततो विकृतबीभत्सविरूप[illegible]
॥ १०२ ॥ विबोधोस्ति विभंगाख्यस्तेषां पर्याप्त्यनंतरं ॥ [illegible]वैराणां स्मरंत्युद्वट्टयंति च ॥ १०३ ॥ यदमी [illegible]

श्या है, दूसरेमें मध्यम कापोती लेश्या है, तीसरेमें उत्कृष्ट कापोती और मध्यम नीललेश्या है, चौथे[illegible] जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट तीनों प्रकारकी साधारण नील लेश्या है, पांचवेंमें उत्कृष्ट नील और जघ[illegible] कृष्ण लेश्या है, छठेमें कृष्णलेश्या है और सातवेंमें उत्कृष्ट कृष्णलेश्या है। इसप्रकार सातों नरकों[illegible] भावलेश्या समझना ॥ ९७–९८ ॥ जिसप्रकार कडवी तूंवी और कांजरिके संयोगसे नितांत क[illegible] और अनिष्ट रस उत्पन्न होता है उसीप्रकार नारकियोंके शरीरका रस भी अतिशय कडवा [illegible] अनिष्ट होता है ॥ ९९ ॥ कुत्ता विली गधा ऊंट आदि जीवोंके मृतक शरीरोंको इकठ्ठा करनेसे दुर्गंध उत्पन्न होती है वह भी नारकियोंके शरीरकी स्वाभाविक दुर्गंधके सामने कुछ नहीं है ॥ १०० ॥ करोंत गोंखुरू आदि पदार्थोंका स्पर्श जैसा कठिन और घाव उत्पन्न करनेवाला है उसीप्रकार[illegible] कठिन और अनेक व्रण (घाव) उत्पन्न करनेवाला स्पर्श नारकियोंके शरीरका होता है ॥ १०१ ॥ अशु[illegible] कर्मके उदयसे नारकियोंकी विक्रिया भी अशुभ ही होती है और वह भी अपृथक्‌रूप ही होती है अर्थात् एक नारकी एक समयमें अपने शरीरका एक ही आकार बना सकता है, देवोंके समान वह अनेक रूप नहीं बना सकता। उनकी वह एक विक्रिया भी महा वीभत्स कुरूपा और विकाररूप होती है ॥ १०२ ॥ जन्म होनेके अंतर्मुहूर्त वाद पर्याप्त होते ही उन्हें विभंगावधिज्ञान उत्पन्न होता है जिससे उन्हें पूर्वभवके वैर स्मरण हो आते हैं और वे परस्पर एक दूसरेको मारने लगते हैं ॥ १०३ ॥

सन्पापेषु पंडिताः ॥ कद्वदाश्च दुराचारास्तद्विपाकोऽयमुल्वणः ॥ १०४ ॥ ईदृग्विधं महादुःखं द्वितीयनरकाश्रितं ॥ पापेन कर्मणा प्राप-
च्छतबुद्धिरसौ सुर ॥ १०५ ॥ तस्माद्दुःखमनिच्छूनां नारकं तीव्रमीदृशं ॥ उपास्योयं जिनेंद्राणां धर्मो मतिमतां नृणां ॥ १०६ ॥
धर्मः प्रपाति दुःखेभ्यो धर्मः शर्म तनोत्ययं ॥ धर्मो नैःश्रेयसं सौख्यं दत्ते कर्मक्षयोद्भवं ॥ १०७ ॥ धर्मादेव सुरेंद्रत्वं नरेंद्रत्वं गणद्रता ॥
धर्मात्तीर्थकरत्वं च परमानंत्यमेव च ॥ १०८ ॥ धर्मो बंधुश्च मित्रं च धर्मोऽयं गुरुरंगिनां ॥ तस्माद्धर्ममतिं धत्स्व स्वर्मोक्षसुखदायिनि ॥ १०९ ॥
तदा प्रीतिंकरस्येति वचः श्रुत्वा जिनेशिनः ॥ श्रीधरो धर्मसंवेगं परं प्रापत्स पुण्यधीः ॥ ११० ॥ गत्वा गुरुनिदेशेन शतबुद्धिम-

---

जो जीव पहले भवमें पापकार्योंके करनेमें बडे पंडित थे जो दुर्वचन कहनेमें बडे चतुर थे और बडे दुराचारी थे उन्हें नरकमें आकर सब पापोंका ऊपर कहा हुआ कटुक फल भोगना पडता है ॥१०४॥ हे श्रीधर देव ? वह शतबुद्धि मंत्रीका जीव अपने पाप कर्मके उदयसे दूसरे नरकमें पडकर ऊपर लिखे अनुसार अनेक बडे बडे दुःख भोग रहा है ॥ १०५ ॥ इसलिये जो जीव ऊपर लिखे हुये नरकोंके तीव्र दुःख भोगना नहीं चाहते उन बुद्धिमान मनुष्योंको इस जैनधर्मकी उपासना करना चाहिये ॥ १०६ ॥ यह जैनधर्म ही जीवोंको दुःखोंसे बचाता है, यही धर्म सुखोंको बढाता है, और इसी धर्मके प्रभावसे कर्मोंके क्षय होनेसे प्राप्त होनेवाले मोक्षके सुखकी प्राप्ति होती है ॥ १०७ ॥ इस जैनधर्मके प्रभावसे ही इंद्र चक्रवर्ती और गणधरादिके उत्तम पद प्राप्त होते हैं। तीर्थंकर पद भी धर्मसे ही प्राप्त होता है और सिद्धपद भी इसीसे मिलता है ॥ १०८ ॥ यह जैनधर्म ही जीवोंका कल्याणक हित कर-नेवाला बंधु है यही मित्र है और यही गुरु है इसलिये हे श्रीधरदेव ! स्वर्ग और मोक्षके सुख देनेवाले इस जैनधर्ममें तू अपना चित्त लगा ॥ १०९ ॥ इसप्रकार अपने गुरु श्रीप्रीतिंकर जिनेंद्रदेवके वचन सुन-कर वह पुण्यवान् श्रीधर देव धर्ममें बहुत बडा प्रेम धारण करने लगा ॥ ११० ॥ वह अपने गुरुकी आज्ञा-नुसार दूसरे नरकमें गया और वहां जाकर शतमति मंत्रीके जीवको इसप्रकार समझने लगा कि भद्र!

बोधयत् ॥ किं भद्र मुग्ध मां वेत्सि शतबुद्धे महाबलं ॥ १११ ॥ तदासीत्तव मिथ्यात्वमुद्रिक्तं दुर्नयश्रयात् ॥ पश्य तत्परिपाकोऽयमस्तंतस्ते पुरःस्थितः ॥ ११२ ॥ इत्यसौ बोधितस्तेन शुद्धं दर्शनमग्रहीत् ॥ मिथ्यात्वकलुषापायात्परां शुद्धिमुपाश्रितः ॥ ११३ ॥ कालांते नरकाद्भीमान्निर्गत्य शतधीचरः ॥ पुष्करद्वीपपूर्वार्द्धप्राग्विदेहमुपागतः ॥ १४ ॥ विषये मंगलावत्यां नगर्यां रत्नसंचये ॥ महीधरस्य सम्राजस्सुंदर्याश्च सुतोऽभवत् ॥ १५ ॥ जयसेनश्रुतिर्बुध्वा विवाहसमये सुरात् ॥ श्रीधराख्यात्प्रवव्राज गुरुं यमधरं श्रितः ॥ १६ ॥ नारकीं वेदनां घोरां तेनासौ किल बोधितः ॥ निर्विद्य विषयांसंगात्तपो दुश्चरमाचरत् ॥ १७ ॥ ततो ब्रह्मेंद्रतां सोऽगाज्जीवितांते समाहितः ॥

हे मूर्ख! शतबुद्धि! क्या तू मुझे जानता है मैं राजा महाबलका जीव हूं ॥ १११ ॥ पहले भवमें अनेक खोटी युक्तियोंके आश्रयसे तेरा मिथ्यात्व बहुत ही प्रबल था। देख! उसी मिथ्यात्वका यह भयंकर फल तेरे सामने उपस्थित है ॥ ११२ इसप्रकार श्रीधरदेवके उपदेशसे शतमतिके जीवने शुद्ध सम्यग्दर्शन ग्रहण किया और मिथ्यात्वरूपी मैल दूर हो जानेसे उसने एकप्रकारकी परमविशुद्धता धारण की ११३ अनंतर वह शतमतिका जीव समयानुसार अपनी आयु समाप्त होनेपर उस भयानक दूसरे नरकसे निकला और पुष्करार्द्ध द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें मंगलावती देशके रत्नसंचयपुर नगरमें चक्रवर्ती महाराज महीधरके रानी सुंदरीसे जयसेन नामका पुत्र हुआ किसी एकदिन जबकि उसका विवाह होने वाला ही था उससमय श्रीधरदेवने आकर उसे समझाया जिससे प्रबुद्ध होकर उसने यमधर मुनिके निकट दीक्षा धारण की ११४-११५-११६ श्रीधरदेवने जयसेनको विवाहसमयमें नरकोंके घोर दुःखोंकी याद दिलाई जिससे वह तत्काल ही विषयोंसे विरक्त हुआ और दीक्षा धारणकर महातपश्चरण करने लगा ११७ आयुके अंतसमयमें उसने समाधिमरणपूर्वक प्राण छोडे इसलिये वह पांचवें ब्रह्मस्वर्गमें जाकर इंद्र हुआ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक देख कहां तो नारकी होना और कहां इंद्रपदकी प्राप्ति होना। वास्तवमें इन कर्मोंकी गति बडी ही विचित्र है ॥११८॥

क नारकः क देवोऽयं विचित्रा कर्मणां गतिः ॥ १८ ॥ नीचैर्वृत्तिरधर्मेण धर्मेणोच्चैः स्थितिं भजेत् ॥ तस्मादुच्चैः पदं वांछन्नरो धर्मपरो भवेत् ॥ १९॥ ब्रह्मलोकादथागत्य ब्रह्मेंद्रः सोवधी्क्षणः ॥ श्रीधरं पूजयामास गतं कल्याणमित्रतां ॥ २० ॥ श्रीधरोथ दिवश्च्युत्वा जंबूद्वीपमुपाश्रिते ॥ प्राग्विदेहे महावत्सविषये स्वर्गसन्निभे ॥ २१ ॥ सुसीमानगरे जज्ञे सुदृष्टिनृपतेः सुतः ॥ मातुः सुंदरनंदायाः सुविधिर्नाम पुण्यधीः ॥ २२ ॥ बाल्यात्प्रभृति सर्वासां कलानां सोऽभवन्निधिः ॥ शशीव जगतस्तन्वन्नन्वहं नयनोत्सवं ॥ २३ ॥ स बाल्य एव सद्धर्ममनुबुद्ध प्रतिबुद्धधीः ॥ प्रायेणात्मवतां

यह जीव अधर्मकार्य (हिंसा चोरी आदि निषिद्ध कार्य) करनेसे नरकादि नीच गतियोंमें उत्पन्न होता है और अहिंसा सत्य आदि भले योग्य धर्मकार्य करनेसे स्वर्गादिक उच्चगतियोंको प्राप्त होता है इसलिये जो जीव स्वर्गादि उच्चगतियोंमें प्राप्त होना चाहते हैं उन्हें धर्मसाधनकरनेमें सदा तत्पर रहना चाहिये ॥११९॥ ब्रह्मस्वर्गमें उत्पन्न होते ही जयसेन वा शतमतिके जीवको अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे उसने अपने परम उपकारक श्रीधरदेवको भी जानलिया तथा वह तुरंत ही उस पांचवें स्वर्गसे चलकर दूसरे स्वर्गमें आया और उसे अपना कल्याणमित्र मानकर उसकी बडी प्रतिष्ठा आदि की ॥१२०॥

अथानंतर—वह श्रीधरदेव स्वर्गसे चयकर जंबूद्वीपके पूर्वविदेहक्षेत्रमें स्वर्गके समान सुशोभित होनेवाले महावत्स नामके देशमें सुसीमानगरके महाराज सुदृष्टिके रानी सुंदरनंदादेवीसे पुण्यवान् सुविधि नामका पुत्र हुआ ॥ १२१–१२२ ॥ वह सुविधिकुमार बाल्यावस्थासे ही चंद्रमाके समान संपूर्ण कलाओंको धारण करता था और संसारके संपूर्ण नेत्रोंको आल्हादन करनेवाला था ॥१२३॥ बालक अवस्थामें ही उसकी बुद्धि स्फुरायमान थी और वह सद्धर्मका स्वरूप अच्छीतरह जानता था । सो ठीक ही है बुद्धिमान् पुरुषोंका चित्त प्रायः आत्माके कल्याण करनेमें ही प्रसन्न होता है ॥ १२४ ॥ बालक अवस्थामें ही उसे लोगोंको आनंद देनेवाला मनोहररूप प्राप्त था और वह यौवनावस्थामें और भी मनोहर होगया था ॥ १२५ ॥ जैसे कुलपर्वतोंके बीचमें चूलिका सहित मेरुपर्वत उचता धारण

चित्तमात्मश्रेयसि रज्यते ॥ २४ ॥ शैशवेऽपि स संप्रापज्जनतानंददायिनीं ॥ रूपसंपदमापूर्णयौवनस्तु विशेषतः ॥ १२५ मकुटालंकृतप्रांशुमूर्ध्नो प्रोन्नतिमादधे ॥ मेरुः कुलमहीध्राणामिव मध्ये स भूभृतां ॥ २६ ॥ कुंडलोद्भासि तस्याभान्मुखमुद्भ्रविलोचनं ॥ सचंद्रार्कं सतारं च सेंद्रचापमिवांबरं ॥ २७ ॥ मुखं सुरभिनिश्वासं कांताधरमभाद्विभोः ॥ महोत्पलमिवोद्भिन्नदलं सुरभिगंधि च ॥ २८ ॥ नासिका घ्रातुमस्यैव गंधमायतिमादधे ॥ अवाङ्मुखी विरेकाभ्यामापिबंतीव तद्रसं ॥ २९ ॥ कंधरस्तन्मुखाब्जस्य नाललीलां दधे परां ॥ मृणालवलयेनेव हारेण परिराजितः ॥ ३० ॥ महोरःस्थलमस्याभा-

---

करता है उसीप्रकार अन्य सब राजाओंके बीचमें उन्नत मस्तकपर मुकुट धारण किये हुये वह सुविधि कुमार उच्चता धारण करता था ॥ १२६ ॥ उसका मुख सूर्यचंद्रमा तारे और इंद्रधनुषसे सुशोभित आकाशके समान शोभायमान होता था क्योंकि उसके दोनों कानोंमें दो रत्नमय कुंडल शोभायमान थे वे सूर्य और चंद्रमाके समान थे और किंचित् ऊंची उठी हुई भोओंसहित चमकते हुये नेत्र शोभायमान थे वे इंद्रधनुष और तारोंके समान थे ॥१२७॥ अथवा उस सुविधिकुमारका मुख खिले हुये कमलके समान सुशोभित होता था जैसे खिले हुये कमलमें उसके दल विकसित हो जाते हैं उसीप्रकार उसके मुखमें मनोहर अधर शोभायमान थे और जिसप्रकार कमलमें सुगंध रहता है उसीप्रकार उसके मुखका निश्वास भी अतिशय सुगंधित था ॥ १२८ ॥ उसकी नाकने मानों उसके मुखकमलकी सुगंध सूंघनेकेलिये ही लंवाई धारण की थी और अपने दोनों छिद्रोंके द्वारा उस मुखकमलका रस पीनेके लियेही मानों उसने अपना मुख नीचेकी ओर करलिया था ॥ १२९ ॥ उसके कंठमें जो कमलनालके समान सफेद हार पडा हुआ था उससे वह कंठप्रदेश ऐसा सुशोभित होता था मानों मुखरूपी कमलका उत्तम नाल ही हो ॥ १३० ॥ अनेक रत्नोंकी किरणोंसे अत्यंत मनोहर ऐसा उसका विशाल वक्षःस्थल ऐसा सुशोभित होता था मानों कमलपर निवास करनेवाली लक्ष्मीका अनेक जलते हुये दीपकोंसे शोभायमान निवासस्थान ही हो ॥ १३१ ॥ उसके ऊंचे उठे हुये दोनों कंधे दिग्गजके कुंभस्थलके समान सुशो-

न्महारत्नांशुपेशलं ॥ ज्वलद्दीपमिवांभोजवासिन्या वासगेहकं ॥ ३१ ॥ अंसावभ्युन्नतौ तस्य दिग्गजस्येव सद्गतेः ॥ कुंभाविव रराजेते सुवंशस्य महोन्नतेः ॥ ३२ ॥ व्यायामशालिनावस्य रेजतुर्भूभुजो भुजौ ॥ भूलोकापायरक्षार्थं क्लृप्तौ वाज्राविवार्गलौ ॥ ३३ ॥ नखताराभिरुद्भूतचंद्रार्कस्फुटलक्षणं ॥ चारुहस्ततलं तस्य नभस्थलमिवाबभौ ॥ ३४ ॥ मध्यमस्य जगन्मध्यविभ्रमं बिभ्रयुदतत् ॥ धृततानवमूर्ध्वाधोविस्तीर्णपरिमंडलं ॥ ३५ ॥ जघनाभोगमामुक्तकटिसूत्रमसौ दधे ॥ मेरुर्नितंबमालंबिसेंद्रचापांबुदं यथा ॥ ३६ ॥ सोधात्कनकराजीवकिंजल्कपरिपिंजरौ॥ ऊरू जगद्गृहोदग्रतोरणस्तंभसन्निभौ॥३७॥

भित होते थे क्योंकि जिसप्रकार दिग्गज सद्गति अर्थात् अच्छी चालवाला होता है उसीप्रकार वह सुविधि भी सद्गति अर्थात् श्रेष्ठ आचरणोंको धारण करनेवाला था दिग्गज जिसप्रकार सुवंश अर्थात् ऊंची उठी हुई पीठकी रीढसहित होता है उसीप्रकार वह भी सुवंश अर्थात् उत्तम वंशमें उत्पन्न हुआ था। और दिग्गज जिसप्रकार सबसे उन्नत अर्थात् ऊंचा होता है उसीप्रकार वह भी सबसे उन्नत अर्थात् श्रेष्ठ था ॥ १३२ ॥ इसीप्रकार उसकी दोनों लंबी भुजायें ऐसी सुशोभित होती थीं मानों संसारमें होनेवाले अनेक अपायोंको (नाशको) रोकनेकेलिये वज्रके बने हुये मजबूत दो अर्गल ही हों ॥ १३३ ॥ उसके दोनों हाथोंकी सुंदर हथेलियां आकाशके समान शोभायमान होती थीं, क्योंकि जिसप्रकार आकाशमें तारे चमकते हैं उसीप्रकार उसकी हथेलियोंमें नखरूपी तारे चमकते थे और जिसप्रकार आकाशमें सूर्य चंद्रमा होते हैं उसीप्रकार उसकी हथेलियोंमें भी सूर्य चंद्रमाके चिन्ह विद्यमान थे ॥ १३४ ॥ उसका मध्यभाग [कमर] लोकाकाशके मध्यभागके समान सुशोभित होता था । क्योंकि जिसप्रकार लोकाकाशका मध्यभाग अत्यंत कृश है उसीप्रकार उसका मध्यभाग भी अत्यंत कृश था और जिसप्रकार लोकाकाशका ऊपर नीचेका भाग विशाल (चौडा) होता है उसीप्रकार उसके ऊपर नीचेका भाग भी विशाल था । १३५ । जिसप्रकार मेरु पर्वत इंद्रधनुषसहित वादलसे घिरेहुये नितंवभागको धारण करता है उसीप्रकार वह सुविधि भी सुवर्णकी करधनीसे अत्यंत सुशोभित हुये नितंवस्थलोंको (कमरके

जंघाद्वयं च सुश्लिष्टं नृणां चित्तस्य रंजकं । सालंकारं व्यजेष्टास्य सुकवेः काव्यबंधनं ॥ ३८ ॥ तत्क्रमाब्जं मृदुरासीं लक्ष्मीसंवाहनोचितं ॥ शोणिमानं दधे व्यक्तमिव तत्करपल्लवात् ॥ ३९ ॥ इत्याविष्कृतरूपेण हारिणा चारुलक्ष्मणा ॥ मनांसि जगतां जह्रे स बलाद्बालकोऽपि सन् ॥ ४० ॥ स तथा यौवनारंभे मदनोत्कोचकारिणि ॥ वशी युवजरन्नासीदरिषड्वर्गनिग्रहात् ॥ ४१ ॥ सोऽनुमेने यथाकालं सत्कलत्रपरिग्रहं ॥ उपरोधाद्गुरोः प्राप्तराज्यलक्ष्मीपरिच्छदः ॥ ४२ ॥ चक्रिणोऽभयघोषस्य स्वस्रीयोऽयं यतो युतः ॥ ततश्चक्रिसुताऽनेन परिणिन्ये मनोरमा ॥ ४३ ॥ तयानुकूलया सत्या

पीछेके भागको) धारण करता था ।१३६। सुवर्णकमलकी केसरके समान पीले ऐसे उसके दोनों ऊरु [जंघाके ऊपरी भाग] ऐसे शोभायमान होते थे मानों इस संसाररूपी घरपर तोरण बांधनेके लिये दो ऊंचे खंबे ही खडे किये गये हों ॥ १३७ ॥ उसकी दोनों जंघायें किसी अच्छे कविकी काव्यरचनाको भी जीतती थीं क्योंकि जिसप्रकार काव्यरचना अलंकार सहित होती है उसीप्रकार उसकी जंघायें भी अलंकार सहित थीं, काव्यरचना जिसप्रकार मनुष्योंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली होती है उसीप्रकार उसकी जंघायें भी मनुष्योंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली (सुंदर) थीं और काव्यरचना जिसप्रकार सुश्लिष्ट अर्थात् श्लेषादि गुणसहित होती है उसीप्रकार उसकी जंघायें भी सुश्लिष्ट अर्थात् संगठनमें सुंदर और गोल थीं ॥ १३८ ॥ उसके दोनों चरणकमल बडे ही कोमल और लक्ष्मीके द्वारा सेवा करने योग्य थे । उनपर धारण की हुई स्वाभाविक लालिमा ऐसी जान पडती थी मानों सेवा करतीहुई लक्ष्मीके करपल्लवसे ही छूटकर लगगई हो ॥ १३९ ॥ इसप्रकार वह सुविधिकुमार बालक होकर भी अपने प्रगट हुये सुंदर रूपसे और अनेक सुंदर लक्षणोंसे संसारमात्रके हृदयोंको बलात्कार हरण करता था ॥ १४० ॥ कामदेवको उद्रेक करनेवाले यौवन अवस्थाके प्रारंभ समयमें संपूर्ण इंद्रियोंको वश करनेवाला वह कुमार काम क्रोध लोभ मान मद हर्ष इन छह अंतरंग शत्रुओंको निग्रह करनेसे तरुण अवस्थामें ही वृद्धोंके समान

स रेमे सुचिरं नृपः ॥ सुशीलमनुकूलं च कलत्रं रमयन्नरं ॥ ४४ ॥ तयोः स्वयंप्रभो काले गच्छत्यनंतरं ॥ स्वर्यप्रभो दिवश्च्युत्वा केशवाख्यः सुतोजनि ॥ ४५ ॥ वज्रजंघभवे यासौ श्रीमती तस्य वल्लभा ॥ सैवास्य पुत्रतां याता संसृतिःस्थितिरीदृशी ॥ ४६ ॥ तस्मिन्पुत्रे नृपस्यास्य प्रीतिरासीद्गरीयसी ॥ पुत्रमात्रे च संप्रीत्यै किमु तेष्वंगनाचरः ॥ ४७ ॥ शार्दूलार्यचराद्याश्च देशेऽत्रैव नृपात्मजाः ॥ जाताः समानपुण्यत्वादन्योन्यसदृशर्द्धयः ॥४८ ॥ विभीषणनृपात्पुत्रः प्रियदत्तोदरेजनि ॥ देवश्चित्रांगदश्च्युत्वा वरदत्ताह्वयो दिवः ॥ ४९ ॥ नंदिषेणनृपानंतमत्योः सूनुरजायत ॥ मणिकुंडलनामासौ

जान पडता था ॥ १४१ ॥ यथायोग्य समयपर माता पिताके हठसे उसने विवाह किया तथा राज्यलक्ष्मीके चिन्ह चमर छत्रादि भी धारण किये अर्थात् उसने राज्यभार भी स्वयं धारण किया ॥ १४२ ॥ वह सुविधिकुमार अभयघोष चक्रवर्तीका भानजा था इसलिये उस चक्रवर्तीकी मनोरमा नामकी कन्यासे उसने पाणिग्रहण किया था ॥ १४३ ॥ वह मनोरमा वडी साध्वी और अपने स्वामीकी आज्ञाकारिणी थी इसलिये वह राजा सुविधि चिरकालतक उसके साथ क्रीडा करता था, सो ठीक ही है जो स्त्री सुशील और पतिकी आज्ञाकारिणी होती है वही मनुष्यको प्रसन्न करसकती है ॥ १४४ ॥ इसप्रकार प्रीतिपूर्वक क्रीडा करते हुये उन दोनोंका बहुत कुछ समय व्यतीत होगया तब श्रीमतीका जीव जो स्वयंप्रभ देव हुआ था वह आयु समाप्त होनेपर स्वर्गसे चयकर उन दोनोंके केशव नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १४५ ॥ देखो महाराज वज्रजंघके भवमें जो उसकी श्रीमती नामकी प्यारी रानी थी उसीका जीव इसभवमें आकर उसके पुत्र हुआ है इसलिये कहना पडता है कि इस संसारकी स्थिति वडी ही विचित्र है । १४६ । महाराज सुविधिकी उस पुत्रपर बडी भारी प्रीति थी सो ठीक ही है पुत्रपर पिताकी प्रीति होती ही है यदि पूर्व भवका प्रेमपात्र अतिशय प्रिय ऐसी अपनी स्त्रीका जीव ही आकर पुत्र उत्पन्न हो तो फिर कहना ही क्या है उसपर सबसे अधिक प्रेम होता ही है । १४७ पहले कहे हुये सिंह शूकर न्योला और बंदरके जीव जो दूसरे स्वर्गमें देव

वरसेनसमाह्वयः ॥ ५० ॥ रतिषेणमहीभर्तुश्चंद्रमत्यां सुतोऽजनि ॥ मनोहरो दिवश्च्युत्वा चित्रांगदलमाह्वयः ॥ ५१ ॥ प्रभंजननृपाच्चित्रमालिन्यां स मनोरथः ॥ प्रशांतमदनः सूनुरजनिष्ट दिवश्च्युतः ॥ ५२ ॥ ते सर्वे सदृशाकारा रूपलावण्यसंपदः ॥ स्वोचितां श्रियमासाद्य चिरं भोगानभुंजत ॥ ५३ ॥ ततोऽमी चक्रिणाऽन्येद्युरभिवंद्य समं जिनं ॥ भक्त्या विमलवाहाख्यं महाप्राव्राज्यमाश्रिताः ॥ ५४ ॥ नृपैरष्टादशाभ्यस्तसहस्रप्रमितैरमी ॥ सहस्रैः पंचभिः पुत्रैः प्राव्राजीच्चक्रवर्त्यसौ ॥ ५५ ॥ परं संवेगनिर्वेदपरिणाममुपागताः ॥ ते तेपिरे तपस्तीव्रं मार्गे स्वर्गापवर्गयोः ॥ ५६ ॥ संवेगः

हुये थे वे भी वहांसे चयकर इसी वत्सकावती देशमें महाराज सुविधिके समान पुण्याधिकारी होनेसे उसीके समान विभूतिको धारण करनेवाले राजपुत्र हुये ।१४८। पहले जो जीव व्याघ्र था और दूसरे स्वर्गमें चित्रांगद नामका देव हुआ था वह स्वर्गसे चयकर महाराज विभीषणके रानी प्रियदत्तासे वरदत्त नामका राजपुत्र हुआ ॥ १४९ ॥ जो जीव पहले शूकर था और मणिकुंडल नामका देव हुआ था वह राजा नंदिषेण रानी अनंतमतिके वरसेना नामका पुत्र हुआ॥१५०॥जो जीव पहिले बंदर था और मनोहर नामका देव हुआ था वह स्वर्गसे चयकर राजा रतिषेण रानी चंद्रमतीके चित्रांगद नामका पुत्र हुआ ॥ १५१ ॥ इसीप्रकार पहले जो नकुल था और मनोरथ नामका देव हुआ था वह स्वर्गसे चयकर राजा प्रभंजन रानी चित्रमालिनीके प्रशांतमदन नामका पुत्र हुआ॥१५२॥उन सबका रूप, आकार, लावण्य और संपत्ति आदि सब समान थे सब ही अपने अपने योग्य विभूतिको पाकर चिरकालतक भोगोंका अनुभव कररहे थे॥१५३॥ एक दिन वे चारों ही राजा अभयघोष चक्रवर्तीके साथ श्री विमलवाह जिनेंद्रदेवकी बंदना करनेकेलिये गये, वहां सबने बंदना की धर्मश्रवण किया और सब ही विरक्त होकर दीक्षित होगये ॥१५४॥वह अभयघोष चक्रवर्ती अठारह हजार राजा और पांच हजार पुत्रोंके साथ दीक्षित हुआ। उन सब राजाओंमें ऊपर कहे हुये वरदत्त, वरसेन चित्रांगद और प्रशांतमदन नामके राजाभी शामिल थे ॥ १५५ ॥ वे चारों ही जीव उत्कृष्ट संवेग और निर्वेद परिणामोंको प्राप्त होकर

परमा प्रीतिर्धर्मे धर्मफलेषु च ॥ निर्वेदो देहभोगेषु संसारे च विरक्तता ॥ ५७ ॥ नृपस्तु सुविधिः पुत्रस्नेहाद्गार्हस्थ्यमत्यजन् ॥ उत्कृष्टोपासकस्थाने तपस्तेपे सुदुश्चरं ॥ ५८ ॥ सद्दर्शनं व्रतोद्योतं समतां प्रोषधव्रतं ॥ सचित्तसेवाविरतिमह्नःस्त्रीसंगवर्जनं ॥ ५९ ॥ ब्रह्मचर्यमथारंभपरिग्रहपरिच्युतिं ॥ तत्रानुमननत्यागं स्वोद्दिष्टपरिवर्जनं ॥ ६० ॥ स्थानानि गृहिणां प्राहुरेकादश जिनाधिपाः ॥ स तेषु पश्चिमं स्थानमाससाद क्रमान्नृपः ॥ ६१ ॥ पंचैवाणुव्रतान्येषां त्रिविधं च गुणव्रतं ॥ शिक्षाव्रतानि चत्वारि व्रतान्यहुर्गृहाश्रमे ॥ ६२ ॥ स्थूलात्प्राणातिपाताच्च मृषावादाच्च चौर्यतः ॥

स्वर्ग और मोक्षका कारण ऐसा तीव्र तपश्चरण करने लगे ॥ १५६ ॥ धर्म और धर्मके फलमें गाढ प्रेम होनेको संवेग कहते हैं और शरीर, विषय भोग व संसारसे विरक्त होनेको निर्वेद कहते हैं ॥ १५७ ॥ राजा सुविधि केवल पुत्रके गाढ स्नेहके कारण गृहस्थ धर्मका त्याग नहीं कर सका था परंतु श्रावकके उत्कृष्ट स्थानमें रहकर अर्थात् उत्कृष्ट प्रतिमाओंको धारणकर अति कठिन तपश्चरण करता था ॥ १५८ ॥ श्रावककी सब ग्यारह प्रतिमा हैं पहली दर्शन प्रतिमा दूसरी व्रतप्रतिमा तीसरी सामायिक चौथी प्रोषधोपवास पांचवीं सचित्तत्याग षष्ठी दिवामैथुनत्याग सातवीं ब्रह्मचर्य आठवीं आरंभ-त्याग नौवीं परिग्रहत्याग दशवीं आरंभ और परिग्रहमें अनुमतिका त्याग और ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग। इसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेवने श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमा वा ग्यारह स्थान कहे हैं। इनमेंसे राजा सुविधिने अनुक्रमसे अंतकी ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा धारण की थी ॥ १५९–१६०–१६१ ॥ इन ग्यारह प्रतिमाओंके सिवाय पांच अणुव्रत श्रावकोंके और कहे हैं ॥ १६२ ॥ स्थूल हिंसाका त्याग करना अर्थात् त्रसजीवोंकी हिंसाका त्याग करना अहिंसा अणुव्रत है, स्थूल असत्यका त्याग करना सत्याणुव्रत है स्थूल चोरीका त्याग करना अचौर्याणुव्रत है परस्त्री सेवनका त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है और तीव्र तृष्णाका घटाना वा परिग्रहका परिमाण करना परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है ॥ १६३ ॥ इसप्रकार गृहस्थोंके ये पांच व्रत हैं इनकी रक्षा करनेकेलिये प्रत्येककी पांच पांच भावना हैं। यदि

परस्त्रीसेवनात्तृष्णाप्रकर्षाच्च निवृत्तयः ॥ ६३ ॥ व्रतान्येतानि पंच स्युर्भावनासंस्कृतानि वै ॥ सम्यक्त्वशुद्धियुक्तानि मनोदर्काण्यगारिणां ॥ ६४ ॥ दिग्देशानर्थदंडेभ्यो विरतिः स्याद्गुणव्रतं ॥ भोगोपभोगसंख्यानमप्याहुस्तद्गुणव्रतं ॥ ६५ ॥ समतां प्रोषधविधिं तथैवातिथिसंग्रहं ॥ मरणांते च संन्यासं प्राहुः शिक्षाव्रतान्यपि ॥ ६६ ॥ द्वादशात्मकमेतद्धि व्रतं स्याद्गृहमेधिनां ॥ स्वर्गसौधस्य सोपानं विधानमपि दुर्गतेः ॥ ६७ ॥ ततो दर्शन संपूतां व्रतशुद्धिमुपेयिवान् ॥ उपासिष्ट स मोक्षस्य मार्गं राजर्षिरूर्जितं ॥ ६८ ॥ अथावसाने नैर्ग्रंथ्यं प्रव्रज्यामुपसेदिवान् । सुविधिर्विधिनाराध्य

भावना और शुद्ध सम्यग्दर्शनसहित ये पांचों ही व्रत पालन किये जायं तो इनसे गृहस्थोंको बडे बडे उत्तम फलोंकी प्राप्ति होती है ॥ १६४ ॥ दिग्विरति देशविरति और अनर्थदंडविरति ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं कोईकोई आचार्य भोगोपभोगपरिमाणको भी गुणव्रत कहते हैं ॥ १६५ ॥ सामयिक प्रोषधोपवास अतिथिसंविभाग और मरणसमयमें समाधिमरण करना ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं ॥ १६६ ॥ इसप्रकार पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये गृहस्थोंके बारह व्रत कहलाते हैं ये व्रत स्वर्गरूपी राजभवनपर चढनेकेलिये सीढीके समान हैं और नरकादि दुर्गतियोंसे बचानेकेलिये अर्गलके समान हैं ॥ १६७ ॥ तदनंतर राजा सुविधिने सम्यग्दर्शनकरसहित ऊपर कहे हुये बारह व्रतोंकी पूर्ण शुद्धता धारण की और उत्तम ऋषियोंके द्वारा सेवन करने योग्य ऐसे मोक्षमार्गकी आराधना की ॥१६८॥ अनंतर आयुके अंतसमयमें संपूर्ण वाह्य आभ्यंतर परिग्रहका त्यागकरके उसने निर्ग्रंथ दीक्षा धारण की और उत्कृष्टरीतिसे विधिपूर्वक मोक्षमार्गका अराधनकर तथा समाधि पूर्वक शरीरका त्यागकर वह सोलहवें अच्युतस्वर्गका स्वामी इंद्र उत्पन्न हुआ । उसकी वाईससागरकी आयु थी और वह अनेक बडी ऋद्धियोंका स्वामी हुआ था ॥१६९–१७० ॥ राजा सुविधिके पुत्र केशवने भी वाह्य आभ्यंतर संपूर्ण परिग्रहोंका त्यागकर जैनेश्वरी निर्ग्रंथदीक्षा धारण की और आयुके अंत समयमें शरीरका त्यागकर वह उसी अच्युतस्वर्गमें प्रतींद्र उत्पन्न हुआ ।१७१।

मुक्तिमार्गमनुत्तरं ॥ ६९ ॥ समाधिना तनुत्यागादनुत्तरेंद्रोऽभवद्विभुः ॥ द्वाविंशत्यब्धिसंख्यातपरमायुर्महर्द्धिकः ॥ ७० ॥ केशवश्च परित्यक्तकृत्स्नबाह्येतरो-
पधिः ॥ नैःसंगीमाश्रितो दीक्षां प्रतींद्रोऽभवदच्युते ॥ ७१ ॥ पूर्वोक्ता नृपपुत्राश्च वरदत्तादयः क्रमात् ॥ समजायंत पुण्यैः स्वैस्तत्र सामानिकाः सुराः ॥७२॥
तत्राष्टगुणमैश्वर्यं दिव्यं भोगं च निर्विशन् ॥ स रेमे सुचिरं कालमच्युतेंद्रोऽच्युतस्थितिः ॥ ७३ ॥ दिव्यानुभावमस्यासीद्वपुरत्यच्छसुंदरं ॥ विषशस्त्रादिबा-
धाभिरस्पृष्टमतिनिर्मलं ॥ ७२ ॥ संतानकुसुमोत्तंसमसौ धत्ते स्म मौलिना ॥ ततःकल्पतरोस्फीतं मूर्द्धेनेवोद्धृत्य दर्शयन् ॥ ७५ ॥ सहजैर्भूषणैरस्य रुरुचे
रुचिरं वपुः ॥ दयावल्लीफलैरुद्धैः प्रत्यंगमिव संगतैः ॥ ७६ ॥ समसुप्रविभक्तांगः स रेजे दिव्यलक्षणैः ॥ सुरद्रुम इवाकीर्णः पुष्पैरुच्चावचात्मभिः ॥ ७७ ॥

पहले कहे हुये व्याघ्रादिके जीव वरदत्त आदि राजपुत्र भी अपने अपने किये हुये पुण्य कर्मके उदयसे उसी अच्युत स्वर्गमें सामानिक जातिके देव (इंद्रके गुरु उपाध्याय आदि आज्ञाके विना जिनकी ऋद्धि आदि सब इंद्रके समान हों) उत्पन्न हुये ॥ १७२ ॥ आयु पूर्ण हुये विना जिसकी आयु कभी कम नहीं हो सकती ऐसा वह अच्युत स्वर्गका इंद्र अणिमादि आठ गुण वडे ऐश्वर्य और स्वर्गसंबंधी अनेक भोगोपभोगोंका अनुभव करता हुआ चिरकालतक क्रीडा करता था ॥ १७३ ॥ उसका शरीर अतिशय प्रभाव युक्त, अतिशय निर्मल और स्वाभाविक सुंदर था उसपर विष शस्त्र अग्नि आदिकी कोई बाधा भी असर नहीं कर सकती थी ॥ १७४ ॥ उसके मस्तकपर विराजमान कल्पवृक्षोंके पुष्पोंका शेखर ऐसा जान पडता था मानों वह किये हुये तपश्चरणके अतिशय वढे हुये फलको मस्तकपर रखके दिखलाता हो ॥ १७५ ॥ जन्मसे उत्पन्न होनेवाले स्वाभाविक आभूषणोंसे उसका सुंदर शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों उसके प्रत्येक अंगपर दयारूपी बेलके फल ही आकर लगे हों ॥ १७६ ॥ उसके शरीरका समचतुरस्रसंस्थान था अर्थात् उसके शरीरका संगठन ऐसा अच्छा था कि जहां जितनी उंचाई निचाई वा मोटाई चाहिये वहां उतनी ही थी उसके शरीरपर अनेक दिव्य लक्षण

शिरः सकुंतलं तस्य रेजे सोष्णीषपट्टकं ॥ सतमालमिवाद्रींद्रकूटं व्योमापगाश्रितं ॥ ७८ ॥ मुखमस्य लसन्नेत्रभृंगसंगतमाबभौ ॥ स्मितांशुभिर्जलाक्रांतं प्रबुद्धमिव पंकजं ॥ ७९ ॥ वक्षःस्थले पृथौ रम्ये हारं सोऽधत्त निर्मलं ॥ शरदंभोदसंघातमिव मेरोस्तटाश्रितं ॥ ८० ॥ लसदंशुकसंवीतं जघनं तस्य निर्बभौ॥ तरंगाक्रांतमंभोधेरिव सैकतमंडलं ॥ ८१ ॥ सुवर्णकदलीस्तंभविभ्रमं रुचिमानशे ॥ तस्योरुद्वितयं चारु सुरनारीमनोहरं ॥ ८२ ॥ तस्य पादद्वये लक्ष्मीः काप्यभूदब्जशोभिनि ॥ नखांशुस्वच्छसलिले सरसीव झषांकिते ॥ ८३ ॥ इत्युदारतरं बिभ्रद्दिव्यं वैक्रियिकं वपुः ॥ स तत्र बुभुजे भोगानच्युतेंद्रः

भी थे जिनसे वह शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों ऊंचे नीचे अनेक पुष्पोंसे शोभायमान कल्पवृक्ष ही हों ॥ १७७ ॥ काले सुंदर केश और वांधनेके सफेद वस्त्रसे शोभायमान उसका शिर ऐसा जान पडता था मानों तंवाकूके काले पत्तों सहित आकाशगंगाके समीपतक पहुंचा हुआ किसी पर्वतका शिखर ही हो ॥१७८॥ उसका मुख खिले हुये कमलके समान सुशोभित था क्योंकि जिसप्रकार खिले हुये कमलपर भ्रमर बैठते हैं उसीप्रकार उसके मुखपर नेत्ररूपी भ्रमर सुशोभित थे और कमल जिसप्रकार जलसे सुशोभित रहता है उसीप्रकार उसका मुख भी मंदहास्यरूपी किरणोंसे सुशोभित था ॥ १७९ ॥ उसके विशाल और मनोहर वक्षःस्थलपर धारण किया हुआ सफेद निर्मल हार ऐसा जान पडता था मानों सुमेरुपर्वतके तटपर शरदऋतुके सफेद वादलोंका समूह ही हो ॥ १८० ॥ सुंदर चमकते हुये वस्त्रोंसे ढके हुये उसके दोनों जघन ऐसे सुशोभित होते थे मानों समुद्रकी लहरोंसे ढके हुये बालके पुंज ही हों ॥ १८१ ॥ देवांगनाओंके चित्तको आकर्षण करनेवाले और अत्यंत सुंदर ऐसे उसके दोनों ऊरु (दोनों जंघाके ऊपरी भाग) ऐसे सुशोभित होते थे मानो सुवर्णमय केलेके स्तंभ ही हों ॥ १८२ ॥ उसके दोनों चरण एक सरोवरके समान जान पडते थे क्योंकि जिसप्रकार सरोवर जलसे सुभोमित रहता है उसीप्रकार उसके चरण भी नखोंकी किरणरूपी स्वच्छ जलसे सुशोभित थे, सरोवरमें जिसप्रकार मत्स्यादिक होते हैं उसीप्रकार उसके चरणोंमें भी मत्स्यादिकके चिन्ह थे और

स्वकल्पजान् ॥ ८४ ॥ इतो रज्जूः षडुत्पत्य कल्पोऽस्त्यच्युतसंज्ञकः ॥ सोऽस्य भुक्तिभूपुण्यात्पुण्यैः किं नु न लभ्यते ॥ ८५ ॥ तस्य भुक्तौ विमानानां परिसंख्या मता जिनैः । शतमेकमथैकोनषष्टिश्च परमागमे ॥ ८६ ॥ त्रयोविंशं शतं तेषु विमानेषु प्रकीर्णकाः । श्रेणीबद्धास्ततोऽन्ये स्युरतिरुंद्राः सहेंद्रकाः ॥ ८७ ॥ त्रयस्त्रिंशदथास्य स्युस्त्रायस्त्रिंशाः सुरोत्तमाः ॥ ते च पुत्रीयितास्तेन स्नेहनिर्भरया धिया ॥ ८८ ॥ अयुतप्रमिताश्चास्य सामानिकसुरा मताः ॥ ते ह्यस्य सदृशाः सर्वैर्भोगैराज्ञा तु भिद्यते ॥ ८९ ॥ आत्मरक्षाश्च तस्योक्ताश्चत्वारिंशत्सहस्रायुतानि वै । तेऽप्यंगरक्षकैस्तुल्या विभवायैव वर्णिताः

सरोवर जिसप्रकार कमलोंसे सुशोभित रहता है उसीप्रकार उसके चरण भी सामुद्रिक शास्त्रमें कहे हुये अनेक प्रकारके कमलोंके चिन्होंसे सुशोभित थे इसप्रकार उसके दोनों चरणोंमें एक अपूर्व ही शोभा दिखलाई पडरही थी ॥ १८३ ॥ इसप्रकार अतिशय सुंदर, अतिशय मनोहर ऐसे वैक्रियिक शरीरको धारण करता हुआ वह अच्युत स्वर्गका इंद्र अपने स्वर्गमें उत्पन्न हुये अनेक प्रकारके भोगोपभोगोंका अनुभव करता था ॥ १८४ ॥ देखो वह अच्युतस्वर्ग इस मध्यलोकसे छह राजू ऊंचा है तथापि राजा सुविधिके पुण्यकर्मके उदयसे वह उसके भोगोपभोगका स्थान हुआ, सो ठीक ही है पुण्यकर्मके उदयसे किस बस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती है ! ॥ १८५ ॥ अच्युतेंद्रके उपभोग करनेके विमानोंकी संख्या जैनशास्त्रोंमें श्रीजिनेंद्रदेवने एकसौ उनसठ कही है ॥ १८६ ॥ इन एकसौ उनसठ विमानोंमेंसे एकसौ तेईस तो प्रकीर्णक विमान होते हैं एक इंद्रक विमान और शेष बडे २ पेंतीस विमान श्रेणीबद्ध होते हैं ॥ १८७ ॥ उसके तेतीस त्रायस्त्रिंश जातिके मंत्री पुरोहित आदिके समान उत्तम देव होते हैं उन्हें वह इंद्र सदा पुत्रके समान स्नेहभरी दृष्टिसे देखता है ॥१८८॥ उसके सामानिक जातिके देव दशहजार हैं भोगोपभोगोंसे वे सब इंद्रके समान हैं केवल आज्ञामात्रका अंतर है अर्थात् इंद्रकी सबपर आज्ञा चलती है और सामानिक देवोंकी आज्ञा नहीं चलती, आज्ञाके सिवाय और सबकी विभूति इंद्रके समान ही रहती है ॥ १८९ ॥ इसीप्रकार अच्युतेंद्रके चालीस हजार आत्मरक्षक हैं, वे सब

॥ ९० ॥ अंतः पारिषदस्याद्या सपादं शतमिष्यते । मध्यमार्द्धतृतीयं स्याद्बाह्या तद्द्विगुणा मता ॥ ९१ ॥ चत्वारो लोकपालाश्च तस्त्रैकांतप्रपाठकाः ॥ प्रत्येकं च तथैतेष देव्यो द्वात्रिंशदेव हि ॥ ९२ ॥ अष्टावस्य महादेव्यो रूपसौंदर्यसंपदा ॥ तन्मनोलोहमाक्रष्टुं कल्पनायस्कांतपुत्रिकाः ॥ ९३ ॥ अन्या वल्लभिकास्तस्य त्रिषष्टिः परिकीर्तिताः ॥ एकशोऽग्रमहिष्यर्द्धतृतीयत्रिशतैर्वृता ॥ ९४ ॥ द्वे सहस्रे तथैकाग्रा सप्ततिश्च समुच्चिताः । सर्वा देव्योऽस्य याः स्मृत्वा याति चेतोऽस्य निर्वृतिं ॥ ९५ ॥ तासां मृदुकरस्पर्शैर्वक्त्राब्जनिरीक्षणैः । स लेभेऽभ्यधिकां तृप्तिं संभोगैरपि मानसैः ॥ ९६ ॥ पट्चतुष्कं

राजाओंके अंगरक्षकोंके समान हैं यद्यपि स्वर्गमें किसीका डर नहीं तथापि इंद्रकी केवल विभूति दिखलानेके लिये ही वे सब हैं ॥ १९० ॥ इंद्रकी तीन सभायें हैं एक अंतःपरिषद दूसरी मध्यमापरिषद और तीसरी बाह्य परिषद। अंतःपरिषदमें एकसौ पच्चीस सभासद होते हैं मध्यमा परिषदमें दोसौ पचास और बाह्य परिषदमें पांचसौ सभासद होते हैं ॥ १९१ ॥ अच्युत स्वर्गकी सीमातक रक्षा करनेवाले चार लोकपाल होते हैं और प्रत्येक लोकपालके बत्तीस बत्तीस देवांगनायें होती हैं ॥ १९२ ॥ अच्युतेंद्रके आठ महादेवी होती हैं जो कि अपने रूप और सुंदरतारूपी संपत्तिके द्वारा इंद्रके मनरूपी लोहेके आकर्षण करनेकेलिये चुंवकपत्थरकी पुतलियोंके समान जान पडती हैं ॥ १९३ ॥ इन आठ महादेवियोंके सिवाय उसके तिरेसठ देवांगनायें और होती हैं तथा प्रत्येक महादेवीके साथ दोसौपचास अन्य देवांगनायें रहती हैं ॥ १९४ ॥ इसप्रकार ८ × २५० = २००० । २००० + ६३ + ८ = २०७१ सब देवांगनाओंकी संख्या दोहजार इकहत्तर होती है। इन सब देवियोंका स्मरण करनेमात्रसे उस इंद्रका चित्त शांत हो जाता है ॥ १९५ ॥ वह अच्युत स्वर्गका इंद्र उन देवांगनाओंके कोमल हाथोंके स्पर्श करके, उनके मुखरूपी कमलोंका निरीक्षण करके और मानसिक संभोगके द्वारा अत्यंत तृप्त रहता है ॥ १९६ ॥ इस इंद्रकी प्रत्येक देवी अपनी विक्रिया शक्तिके द्वारा दशलाख चौवीस हजार प्रकारके सुंदर स्त्रियोंके रूप बना सकती है ॥ १९७ ॥ इसीप्रकार अच्युतेंद्र की सेना

सहस्राणि नियुतानि दशैव च ॥ विकरोत्येकशो देवी दिव्यरूपाणि योषितां ॥ ९७ ॥ चमूनां सप्तकक्षाः स्युरायात्रायुतयोर्द्वयं । द्विर्द्विः शेषनिकायेषु महाब्धिरिव वीचयः ॥ ९८ ॥ हस्त्यश्वरथपादातवृषगंधर्वनर्तकी ॥ सप्तानीकान्युशंत्यस्य प्रत्येकं च महत्तरं ॥ ९९ ॥ एकैकस्याश्च देव्याः स्यादप्सरःपरिषत्त्रयं ॥ पंचवर्गश्च पंचाशच्छतं चैव यथाक्रमं ॥ २०० ॥ इत्युक्तपरिवारेण सार्द्धमच्युतकल्पजां । लक्ष्मीं निर्विशतस्तस्य न्यावर्ण्यासं परां श्रियं ॥ २०१ ॥ मानसोस्य प्रवीचारो विश्राणोप्यस्य मानसः । द्वाविंशतिसहस्रैश्च समानां सकृदाहरेत् ॥ २०२ ॥

भी हाथी घोडे रथ पियादे बैल गंधर्व और नृत्य कारिणी इनके भेदसे सातप्रकारकी होती है। इनमें हाथियोंकी संख्या वीस हजार, घोडोंकी संख्या चालीस हजार, रथोंकी संख्या अस्सी हजार, पियादों की संख्या एकलाख साठहजार, बैलोंकी संख्या तीनलाख वीस हजार, गंधर्वोंकी संख्या छहलाख चालीस हजार और नृत्यकारिणियोंकी संख्या बारह लाख अस्सी हजार होती है। यह सब बडी भारी सेना महासागरकी लहरोंके समान जान पडती है॥ १९८-१९९ ॥ इसकी देवियोंमेंसे प्रत्येक देवीकी तीन तीन सभा हैं, पहली अंतपरिषदमें पचीस अप्सरा होती है दूसरी मध्यमा पारिषदमें पचास और तीसरी बाह्य पारिषदमें सौ अप्सरायें होती हैं ॥ २०० ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये परिवारके साथ साथ वह अच्युतेंद्र अच्युतस्वर्गमें उत्पन्न होनेवाली अपार संपत्तिका उपभोग करता था। उसकी पूर्ण शोभाका वर्णन करना भी बहुत कठिन है ॥ २०१ ॥ अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न होनेवाले देवोंका प्रवीचार (मैथुन) केवल मनके संकल्पमात्रसे होता है उनका आहार भी मानसिक (मनके संकल्पमात्रसे) होता है और बाईस हजार वर्ष व्यतीत होनेपर उन्हें एकवार भूखकी इच्छा होती है ॥ २०२ ॥ ग्यारह महीने पीछे उनका एकवार उच्छ्वास होता है और अत्युत्तम शरीरकी उंचाई केवल तीन हाथकी होती है ॥ २०३ ॥ देखो केवल धर्म सेवन करनेसे ही अच्युत स्वर्गके इंद्रको ऐसी उत्तमोत्तम संपत्तियां प्राप्त हुईं इसलिये

तथैकादशभिर्मासैः सकृदुच्छ्वसितं भजेत् ॥ अरत्निप्रमितोत्सेधदिव्यदेहधरः स च ॥ २०३ ॥ धर्मेणेत्यच्युतेंद्रोऽसौ प्रापत्सत्परंपरां तस्मात्तदर्थिभिर्धर्मे मतिः कार्या जिनोदिते ॥ २०४ ॥ अथ सुललितवेषा दिव्ययोषाः सभूषाः सुरभिकुसुममालाः स्रस्तचूलाः सलीलः मधुरविरुतगानारब्धतानाः समानाः प्रमदभरमनूनं निन्युरेनं सुरेन्द्रं ॥ २०५ ॥ ललितपदविहारैर्भ्रूविकारैरुदारै— र्नयनयुगविलासैरंगलासैः सुहासैः प्रकटितमृदुभावैः सानुभावैश्च भावैर्जगृहुरथ मनोऽस्याब्जोपमास्या वयस्याः ॥ २०६ ॥ तासामिंदुकलामले स्ववदनं पश्यन्कपोलाब्दके । तद्वक्त्रांबुजभृंगतां च

जो जीव उत्तमोत्तम संपत्तियोंको प्राप्तकरना चाहते हैं उन्हें श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये सद्धर्ममें ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिये ॥ २०४ ॥ उस अच्युत स्वर्गमें जिनके वेष बहुत ही सुंदर हैं जो मनोहर अलंकार पहने हुये हैं सुगंधित पुष्पोंकी मालायें डाले हुये हैं जिनके खुले केश लटकरहे हैं जो मोठी आवाजसे गाती हुई राग रागनियोंका प्रारंभ कररही है जो अनेकप्रकारके हाव भाव विलास करनेवाली और सवतरह समान हैं ऐसी देवांगनायें उस अच्युत स्वर्गके इंद्रको निश्चय ही वडा आनंद दे रही थीं ॥ २०५ ॥ वे कमलमुखी देवांगनायें मनोहर पैरोंके विहार, सुंदर भोंओंके विकार, मनोहर दोनों नेत्रोंके कटाक्ष, सुंदर शरीरकी मोड, मनोहर हास्य व्यक्त और कोमल हाव मान तथा स्वेद और रोमांच आदि उत्पन्न करनेवाले लास्य और मुखविकारादिके द्वारा उस अच्युतद्रेक मनको आकर्षण करती थीं ॥ २०६ ॥ वह अच्युतेंद्र कभी तो उन देवांगनाओंके चंद्रमाकी कलाओंके समान अतिशय निर्मल कपोलरूपी दर्पणमें अपना मुख देखता था, कभी उनके मुखकी सुगंध ग्रहण करता हुआ उनके मुखरूपी कमलपर भ्रमरके समान क्रीडा करता था और कभी उन देवियोंके भोंहरूपी चापसे छोडे हुये कामदेवके वाणोंके समान नेत्रोंके कटाक्षोंसे घायल हुये अपने हृदयको उन्हीं देवांगनाओंके कोमल हाथोंका स्पर्श करके धैर्य वंधाता हुआ सुखी करता था ॥ २०७ ॥ कभी वह अपनी देवियोंके मुखरूपी चंद्रमाकी कांतिके समान अतिशय दैदीप्यमान

घटयन्नाघ्रातवक्त्रानिलः। तन्नेत्रैश्च मनोजबाणसदृशैर्भ्रूचापमुक्तैर्भृशं। विद्धं स्वं हृदयं तदीयकरसंस्पर्शैः समाश्वासयन् ॥२०७॥ रेमे रामाननेंदुद्युतिशचिरतरे स्वे विमाने विमाने। भुंजानो दिव्यभोगानमरपरिवृतो यान् सुरेभैः सुरेभैः॥ जैनीं पूजां च तन्वन्मुहुरतनुरुचा भासमानोऽसमानो। लक्ष्मीवानच्युतेंद्रः सुचिरमुरुतरस्वांसकांतः सकांतः ॥ २०८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे श्रीमदच्युतेंद्रैश्वर्यवर्णनं नाम दशमं पर्व १०.

और असंख्यात योजन लंबे चौडे अपने विमानमें क्रीडा करता था, कभी अनेक देवोंके साथ साथ उत्तमोत्तम शब्द करते हुये हाथीके रूपमें बने हुये देवोंपर चढकर गमन करता था कभी अनेक प्रकारके स्वर्ग संबंधी भोगोपभोगोंका अनुभव करता था और कभी श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करता था। उससमय उसस्वर्गमें उसके समान कोई नहीं था, वह अपनी सबसे बढी हुई कांतिसे बहुत ही शोभायमान था, ऊंचे उठे हुये कंधोंसे बहुत ही सुशोभित था और बडा ही संपत्तिशाली था। इस प्रकार वह अच्युत स्वर्गका इंद्र अपनी देवांगनाओंके साथ चिरकालतक क्रीडा करता था ॥२०८॥

इसप्रकार श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत संस्कृतमहापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें
अच्युतस्वर्गके इंद्रका ऐश्वर्य वर्णन करनेवाला दशवां पर्व समाप्त हुआ

एकादशं पर्व.

स्फुरंति यस्य वाक्पूजाप्राप्युपायगुणांशवः ॥ स वः पुनातु भव्याब्जवनबोधी जिनांशुमान् ॥ १ ॥ अथ तस्मिन्दिवं मुक्त्वा भुव-मेष्यति तत्तनौ ॥ म्लानिमायात्किलम्लानपूर्वा मंदारमालिका ॥ २ ॥ स्वर्गप्रच्युतिलिंगानि यथान्येषां सुधाशिनां ॥ स्पष्टानि न तथेंद्राणां किंतु लेशेन केनचित् ॥ ३ ॥ ततोऽबोधि सुरेंद्रोऽसौ स्वर्गप्रच्युतिमात्मनः । तथापि न व्यषीदत्स तद्धि धैर्यं महात्मनां ॥ ४ ॥ षण्मासशेषमात्रायुः सपर्यां

अथ ग्यारहवां पर्व.

अब ग्यारहवें अध्यायके प्रारंभमें आचार्य श्रीजिनेंद्रदेवको नमस्कार करते हैं । जिसके स्तोत्रोंके द्वारा की हुई पूजासे प्राप्त होनेवाले और मोक्षके साक्षात् कारण ऐसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुण ही जिसकी किरणें स्फुरायमान हो रही हैं और जो भव्यरूपी कमलोंके वनको प्रफुल्लित करनेवाला है ऐसा वह श्रीजिनेंद्ररूपी सूर्य तुम श्रोता लोगोंको सदा पवित्र करो ॥ १ ॥

अथानंतर—जब उस अच्युतेंद्रकी आयु थोडी रह गई और वह स्वर्ग छोडकर इस मध्यलोकमें आनेके सन्मुख हुआ तब उसके शरीरपर पडी हुई कल्पवृक्षोंकी पुष्पमाला कुछ कुछ ऐसी मुरझागई, जैसी पहले कभी नहीं मुरझाई थी ॥ २ ॥ स्वर्गसे च्युत होनेके चिन्ह जैसे अन्यदेवोंके स्पष्ट दिखाई पडते हैं वैसे इंद्रोंके स्पष्ट दिखाई नहीं पडते किंतु लेशमात्र कुछ २ चिन्ह जान पडते हैं ॥ ३ ॥ कल्पवृक्षोंकी माला मुरझानेसे उस अच्युतेंद्रने अपने स्वर्गसे च्युत होनेके समाचार जानलिये तथापि वह कुछ खेदखिन्न न हुआ सो ठीक ही है महापुरुषोंका ऐसा ही धैर्य होता है ॥ ४ ॥ जब उसकी आयु केवल छह महीनेकी शेष रह गई तबसे वह पुण्यवान् अच्युतेंद्र बराबर श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करने लगा सो भी ठीक ही है प्रायःमरनेके सन्मुख होते हुये भी बुद्धिमान् पुरुष अपने आत्माके कल्याण करनेमें ही तत्पर रहते हैं दुःखी नहीं होते ॥ ५ ॥ आयुके अंतसमयमें उसने अपना चित्त पंच परमेष्ठियोंके गुण

मर्हतामसौ । प्रारंभे पुण्यधीः कर्तुं प्रायः श्रेयोऽर्थिनो बुधाः ॥ ५ ॥ स मनः प्रणिधायांते पदेषु परमेष्ठिनां । निष्ठितायुरभूत्पुण्यैः परिशिष्टैरधिष्ठितः ॥ ६ ॥ तथापि सुखसाद्भूता महाधैर्या महर्द्धयः । प्रच्यवंते दिवो देवा धिगेनां संसृतिस्थितिं ॥ ७ ॥ ततोऽच्युतेंद्रः प्रच्युत्य जंबूद्वीपे महाद्युतौ । प्राग्विदेहाश्रिते देशे पुष्कलावत्यभिष्टवे ॥ ८ ॥ नगर्यां पुंडरीकिण्यां वज्रसेनस्य भूभुजः । श्रीकांतायाश्च पुत्रोऽभूद्वज्रनाभिरिति प्रभुः ॥ ९ ॥ तयोरेव सुता जाता वरदत्तादयः क्रमात् । विजयो वैजयंतश्च जयंतोऽप्यपराजितः ॥ १० ॥ तदाऽभूवंस्तयोरेव प्रियाः पुत्रा महोदयाः । पूर्वोद्दिष्टाहमिंद्रास्तेऽप्यधोग्रैवेयकाच्च्युताः ॥ ११ ॥ सुबाहुरहमिंद्रोभूयः प्राग्मतिवरः कृती । आनंदश्च महाबाहुः पीठश्चाभूदकंपनः ॥ १२ ॥ महापीठोऽभवत्सोऽपि धनमित्रचरः सुरः । संस्कारैः प्राक्तनैरेव

स्मरण करनेमें लगाया और आयु समाप्त होनेपर शेष बचे हुये पुण्यकर्मोंको साथ लिये हुये वह वहांसे अदृश्य होगया ॥ ६ ॥ देखो स्वर्गोंके देव बडे सुखी हैं बडे धीर वीर हैं और बडी २ ऋद्धियोंके स्वामी हैं तथापि उन्हें स्वर्गसे च्युत होना पडता है इसलिये संसारकी इस ऐसी स्थितिको बार २ धिक्कार हो ॥७॥ वह अच्युतेंद्र स्वर्गसे चयकर अतिशय शोभायुक्त ऐसे जंबूद्वीपके पूर्वविदेहक्षेत्रमें पुष्कलावती देशकी पुंडरीकिणी नगरीमें राजा वज्रसेन रानी श्रीकांताके वज्रनाभिनामका सत्ताधिकारी पुत्र हुआ॥ ८--९॥ तथा पहले जो व्याघ्रादिके जीव थे और अंतमें वरदत्त आदि राजा होकर सोलहवें स्वर्गमें सामानिक जातिके देव हुये थे वे भी वहांसे चयकर उन्हीं राजा वज्रसेन और रानी श्रीकांताके विजय वैजयंत जयंत और अपराजित नामके पुत्र हुये ॥ १० ॥ पहले कहे हुये मतिवरमंत्री आदिके जो जीव थे और जो अधोग्रैवेयकमें अहमिंद्र हुये थे वे भी वहांसे चयकर उन्हीं दोनों राजा रानियोंके बडे प्रभावशाली और प्रिय पुत्र उत्पन्न हुये ॥ ११ ॥ जो महाराज वज्रजंघके समयमें मतिवर मंत्री था और अधोग्रैवेयकमें अहमिंद्र हुआ था वह वहांसे चयकर सुबाहु नामका पुत्र हुआ, आनंद पुरोहितका जीव उसी अधोग्रैवेयकसे चयकर महाबाहु नामका पुत्र हुआ और धनमित्र सेठका जीव उसी अधोग्रैवेयकसे चयकर महापीठ नामका पुत्र हुआ। इसप्रकार वे सब जीव एकही वंशमें उत्पन्न हुये

घटते ह्यत्र देहिनां ॥ १३ ॥ नगर्यां केशवोऽत्रैव धनदेवाह्वयोऽप्यभूत् ॥ कुबेरदत्तवणिजोऽनंतमत्याश्च नंदनः ॥ १४ ॥ वज्रनाभिरथापूर्णयौवनो रुरुचे भृशं ॥ बालार्क इव निष्टप्तचामीकरसमद्युतिः ॥ १५ ॥ विनीलकुटिलैः केशैः शिरोऽस्य रुचिमानशे ॥ प्रावृषेण्यांबुदच्छन्नमिव शृंगं महीभृतः ॥ १६ ॥ कुंडलार्ककरस्पृष्टगंडपर्यंतशोभिना ॥ स बभासे मुखाब्जेन यथाकर इवोन्मिषन् ॥ १७ ॥ ललाटाद्रितटे तस्य भ्रूलते रेजतुस्तरां ॥ नेत्रांशुपुष्पमंजर्यां मधुपायिततारया ॥ १८ ॥ कामिनीनेत्रभृंगालिमाकर्षन्मुखपंकजं ॥ स्वामोदमाविरस्याभूत् स्मितकेसरनिर्गमं ॥ १९ ॥

सो ठीक ही है एक देश वा एक वंशमें जो जीव इकट्ठे होते हैं वे पहलेभवके संस्कारोंसे ही होते हैं ॥ १२-१३ ॥ श्रीमतीका जीव जो केशव हुआ था वह भी अच्युतस्वर्गके प्रतींद्रकी पर्याय छोडकर उसी पुंडरीकिणी नगरीमें शेठ कुवेरदत्तके उसकी स्त्री अनंतमतीसे धनदेव नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था ॥ १४ ॥ इधर राजकुमार वज्रनाभि पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ उसका शरीर उदय होते हुये सूर्यके समान तपाये हुये सुवर्णकी कांतिको धारण करता हुआ नितांत ही सुशोभित होता था ॥ १५ ॥ अतिशय काले और कुटिल केशोंसे उसका मस्तक ऐसा सुशोभित होता था मानों वर्षा ऋतुके काले वादलोंसे ढका हुआ किसी पर्वतका शिखर ही हो ॥ १६ ॥ कानोंमें पहने हुये कुंडलरूपी सूर्यकी किरणोंके स्पर्श करनेसे कपोलपर्यंत अत्यंत सुशोभित हुये अपने मुखरूपी कमलसे वह राजपुत्र खिले हुये कमलोंसे सुशोभित किसी सरोवरके समान वहुत ही सुंदर जान पडता था। भावार्थ— उसका मुख कमलके समान सुशोभित था ॥ १७ ॥ उसके ललाटरूपी पर्वतके तटपर दोनों भौंहरूपी लतायें वहुत अच्छी जान पडती थीं जिनपर नेत्रोंकी सफेद किरणें (कटाक्ष) ही पुष्पमंजरीके समान और काले तारे ही भ्रमरोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १८ ॥ उसका मुख ठीक कमलके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार कमलपर पराग रहता है उसीप्रकार उसके मुखपर मंदहास्यरूपी पराग था जिसप्रकार कमल सुगंधित होता है उसीप्रकार उसके मुखके निश्वाससे भी सुगंधि

कांयासवमिवायातुमापंतंस्तृपत्तरां ॥ जनतानेत्रभृंगाली तन्मुखाब्जे विकासिनि ॥ २० ॥ नासिकाऽस्य रुचिं दधे नेत्रयोर्मध्यवर्तिनी ॥ सीमेव रचिता धात्रा तयोः क्षेत्रानतिक्रमे ॥ २१ ॥ हारेण कंठपर्यंतवर्तिनाऽसौ श्रियं दधे ॥ मृणालवलयेनेव लक्ष्म्यालिंगनवंतिना ॥ २२ ॥ वक्षोस्य पद्मरागांशुच्छुरितं रुचिमानशे ॥ सांद्रबालातपच्छन्नसानोः कनकशृंगिणः ॥ २३ ॥ वक्षःस्थलस्य पर्यंते तस्यांसौ रुचिमापतुः ॥ लक्ष्म्याः क्रीडार्थमुत्तुंगौ क्रीडाद्री घटिताविव ॥ २४ ॥ वक्षोभवनपर्यंते तोरणस्तंभविभ्रमं ॥ बाहू दधतुरस्यांचैर्हारतोरणधारिणौ ॥ २५ ॥

निकलती थी और कमल जिसप्रकार भ्रमरोंको अपनी ओर खींच लेता है उसीप्रकार उसका मुख भी कामिनी स्त्रियोंके नेत्ररूपी भ्रमर समूहोंको अपनी ओर खींच लेता था ॥१९॥ उसका मुखरूपी कमल सदा प्रफुल्लित रहता था इसलिये लोगोंके नेत्ररूपी भ्रमरोंके समूह मानों उसके मुखकमलके कांतिरूपी रसको पीनेकेलिये ही उसपर टूट टूटकर पडते थे और कांतिरूपी रस पीकर बडे ही तृप्त होते थे ॥ २० ॥ दोनों नेत्रोंके मध्यभागमें उसकी नासिका ऐसी सुशोभित होती थी मानों दोनों नेत्र अपने क्षेत्रको उल्लंघन न कर जावें इसलिये नामकर्मरूपी ब्रह्माने उन दोनोंके बीचमें सीमा ही बना दी हो ॥ २१ ॥ उसके कंठमें लटकता हुआ हार ऐसा सुशोभित होता था मानों लक्ष्मीको आलिंगन करनेवाला गोल किया हुआ सफेद कमलनाल ही हो ॥ २२ ॥ हारमें लगी हुई पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे सुशोभित उसका वक्षःस्थल ऐसा अच्छा जान पडता था मानों उदय होते हुये सूर्यकी किरणोंसे सुशोभित सुमेरुपर्वतका तट ही हो ॥ २३ ॥ वक्षःस्थलके आसपास दोनोंओर उसके ऊंचे कंधे ऐसे सुशोभित होते थे मानों लक्ष्मीकी क्रीडा करनेके लिये ऊंचे ऊंचे दो क्रीडापर्वत ही वनाये गये हों ॥ २४ ॥ उसकी लंबी २ दोनों भुजायें ऐसी जान पडती थीं मानों वक्षःस्थलरूपी घरके दोनों ओर हाररूपी तोरणको धारण करनेवाले तोरण बांधनेके दो खंभे ही हों ॥ २५ ॥ उसके शरीरका संगठन वज्रके समान मजबूत था उसशरीरके मध्यभागमें वज्रके चिन्ह सहित व्यक्त नाभि ऐसी जान

वज्रांगबंधनस्यास्य मध्यनाभि समैक्ष्यत ॥ वज्रालांछनमुद्भूतं वज्रनाभ्र उपलांछनं ॥ २६ ॥ लसद्दुकूलपुलिनं रतिहंसीनिषेवितं ॥ परां
श्रियमधादस्य कटिस्थानसरोवरं ॥ २७ ॥ सुवृत्तमसृणावूरू तस्य कांतिमवापतां ॥ संचरत्कामगंधेभरोधे कल्पितनिर्गले ॥ २८ ॥ जानुगुल्फस्पृशौ
जंघे तस्य श्लिष्टे श्रियं ॥ संधिमेव युवां धत्तमित्यादेष्टुमिवोद्यते ॥ २९ ॥ पद्मकांतिश्रियावस्य पादावंगुलिपत्रकौ ॥ चिरं
सुचिरं लक्ष्मीनखदुतिकेसरौ ॥ ३० ॥ इति लक्ष्मीपरिष्वंगादस्यातिरुचिरं वपुः ॥ नूनं सुरांगनानां च कुर्वीत स्पृहयालुतां ॥ २१ ॥

पडती थी मानों आगामीकालमें प्राप्त होनेवाले साम्राज्यका चिन्ह ही हो और उसी वज्रमय नाभिसे वज्रनाभि यह उसका सार्थक नाम प्रसिद्ध था ॥ २६ ॥ उसका मध्यभाग (कमर) एक सरोवरके समान बडी अच्छी शोभा धारण करता था क्योंकि जिसप्रकार सरोवरके सुंदर तट होते हैं उसीप्रकार उसके मध्यभागपर सुंदर वस्त्ररूपी तट थे और जिसप्रकार सरोवरपर हंसिनी क्रीडा किया करती हैं उसीप्रकार उसके मध्यभागपर रति रूपी हंसिनी क्रीडा किया करती थी ॥ २७ ॥ गोल और कोमल ऐसे उसके दोनों ऊरु (जंघाके ऊपरी भाग) ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों इधर उधर फिरनेवाले कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथीके रोकनेकेलिये दो अर्गल [आड देनेके डंडा] ही बनाये गये हों ॥ २८ ॥ जानु [घुटना] और गुल्फों [पैरके ऊपरकी दोनों ओरकी गांठे] से मिले हुये उसके दोनों जंघे ऐसे सुशोभित होते थे मानों अन्य लोगोंको यह उपदेश देनेकेलिये ही तैयार हुये हों कि हमारे समान तुम भी संधि धारण करो । भावार्थ-तुम लोग संधि करो यह चक्रवर्ती किसीसे संधि नहीं करेगा ॥ २९ ॥ उसके दोनों चरण कमलकी शोभाको धारण करते थे और इसलिये ही लक्ष्मी बहुत दिनोंसे उनकी सेवा करती थी कमलमें जिस-प्रकार पत्ते होते हैं उसीप्रकार उसके चरणोंमें भी अंगुलीरूपी पत्ते थे और कमलमें जिसप्रकार केसर होती है उसीप्रकार उसेक चरणोंमें भी नखरूपी चंद्रमाकी कांति ही केसरके समान थी ॥ ३० ॥

तथापि यौवनारंभे मदनज्वरकोदिनि ॥ नास्याजनि मदः कोऽपि स्वभ्यस्तश्रुतसंपदः ॥ ३२ ॥ सोऽधीते स्म त्रिवर्गार्थसाधनीर्विपुलोदयाः ॥ समंत्रा राजविद्यास्ता लक्ष्म्याकर्षविधौ क्षमाः ॥ ३३ ॥ तस्मिंल्लक्ष्मीसरस्वत्योरतिवाल्लभ्यमाश्रिते । ईर्ष्ययेवाभजत्कीर्तिर्दिगंतान्विधुनिर्मला ॥ ३४ ॥ नूनं तद्गुणसंख्यानं वेधसा संविधित्सुना ॥ शलाका स्थापिता व्योम्नि तारकानिकरच्छलात् ॥ ३५ ॥ तस्य तद्रूपमाहार्यं सा विद्या तच्च यौवनं ॥ जनानावर्जयंति स्म गुणैरावर्ज्यते न कः ॥ ३६ ॥ गुणैरस्यैव शेषाश्च कुमाराः कृतवर्णनाः ॥ ननु चंद्रगुणानशैर्भजत्युडुगणोऽप्ययं ॥३७॥

इसप्रकार लक्ष्मीके आलिंगन करनेसे उसका शरीर बहुत ही सुंदर था और वह अपनेमें देवांगनाओंकी भी स्पृहा उत्पन्न करता था ॥ ३१ ॥ यद्यपि उसका शरीर बहुत ही सुंदर था तथापि मदनज्वरका वेग बढानेवाले यौवनके प्रारंभ समयमें भी उसे कोई किसीप्रकारका मद उत्पन्न नहीं हुआ था और इसका भी कारण उसका शास्त्ररूपी संपतिका अभ्यास करना ही था ॥ ३२ ॥ जो धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाली हैं जो अनेक बडे फल देनेवाली हैं और जो लक्ष्मीको अपनी ओर खींचनेकेलिये पूर्ण समर्थ हैं ऐसी आन्वीक्षिकी त्रयी दंडनीति वार्ता आदि समस्त राजविद्यायें उसने मंत्र सहित पढलीं थीं ॥ ३३ ॥ लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही उसपर बहुत प्रेम रखती थीं और इन्हीं दोनोंकी ईर्ष्यासे ही मानों चंद्रमाके समान निर्मल कीर्ति दशों दिशाओंको भाग गई थी । भावार्थ—लक्ष्मी और सरस्वती सदा उसके समीप रहती थीं और कीर्ति दशों दिशाओंमें फैली हुई थी ॥ ३४ ॥ उसके गुणोंको देखकर कहना पडता था कि अवश्य ही ब्रह्माने उसके गुणोंकी संख्या निर्धारित करनेके लिये ही ताराओंके समूहके बहानेसे आकाशमें यह तारोंकी लंबी रेखा बनाई हो भावार्थ—उसके गुणोंकी संख्या आकाशके तारोंसे भी अधिक थी ॥३५॥ उसका वह मनोहर रूप वह विद्या और वह यौवन ये सबकुछ लोगोंको मोहित करता था सो ठीक ही है गुणोंसे कौन मोहित नहीं होता है ॥ ३६ ॥ जिसप्रकार आकशका तारामंडल चंद्रमाके एकदेश

ततोऽस्य योग्यतां मत्वा वज्रसेनमहाप्रभुः ॥ राज्यलक्ष्मीं समग्रां स्वामस्मिन्नेव न्ययोजयत् ॥ ३८ ॥ नृपोऽभिषेकमस्योच्चैः स्वसमक्षमकारयत् ॥
पट्टबंधं च सामन्तैर्नृपैर्मकुटधारिभिः ॥ ३९ ॥ नृपासनस्थमेनं च वीजयंति स्म चामरैः ॥ गंगातरंगसच्छायैर्भंगिभिर्ललितांगनाः ॥ ४० ॥
धुन्वानाश्चामराण्यस्य तां मन्ये उत्प्रेक्षते मनः ॥ जनापवादजं लक्ष्म्या रजोणसितुमुद्यताः ॥ ४१ ॥ वक्षसि प्रणयं लक्ष्मीर्दृढमस्याकरोत्तदा ॥
पट्टबंधापदेशेन तस्मिन्प्राग्बद्धकृतेव सा ॥ ४२ ॥ मुकुटं मूर्ध्नि तस्याधान्नृपैर्नृपवरः समं ॥ स्वं भारमवतार्यास्मिन्ससाक्षिकामिवार्पयन् ॥४३॥
हारेणालंकृतं वक्षो भुजावस्यांगदादिभिः ॥ पट्टिकाकटिसूत्रेण कटी पट्टांशुकेन च ॥ ४४ ॥ कृती कृताभिषेकाय सोऽस्मै नार्पयमार्पिपत् ॥

गुणोंको धारण करता है उसीप्रकार केवल उस वज्रनाभिके गुणोंसे ही उसके अन्यभाई भी प्रशंसनीय गिने जाते थे ॥ ३७ ॥ महाराज वज्रसेननेभी इसकी पूर्ण योग्यता जानकर अपनी संपूर्ण राजलक्ष्मी इसे ही सोंप दी अर्थात् अपना संपूर्ण राज्य इसे दे दिया ॥ ३८ ॥ और अपने सामने ही बडी धूमधामके साथ इसका राज्याभिषेक कराया तथा अनेक मुकुटवद्ध राजा और अमात्य आदि प्रधान राजपुरुषोंके द्वारा पट्टबंध कराया ॥ ३९ ॥ जब यह राजसिंहासनपर विराजमान हुआ तब अनेक सुंदर स्त्रियें गंगाकी लहरोंके समान निर्मल और कुछकुछ टेडे होकर ऊपर और नीचेकी ओर आते जाते हुये चमर ढाल रही थीं ॥ ४० ॥ जो वे सुंदर स्त्रियां चमर ढाल रहीं थीं उन्हें देखकर मेरा मन यही कल्पना करता है कि मानों इस वज्रनाभिपर राजलक्ष्मीके संसर्गसे उत्पन्न होनेवाली जो लोकापवादकी धूलि पडगई है उसे झाडदेनेकेलिये ही वे स्त्रियां तैयार हुई हों ॥४१॥ उससमय राजलक्ष्मी भी इसपर अपना बडा प्रेम प्रकट कर रही थी और वह ऐसी जान पडती थी मानों पट्टबंधके बहानेसे इसके वक्षःस्थलपर बांध दी गई हो ॥ ४२ ॥ अतिशय श्रेष्ठ महाराज वज्रसेनने सब राजाओंके सामने अपना मुकुट महाराज वज्रनाभिके मस्तकपर स्थापन किया मानों सबकी साक्षीपूर्वक अपना भार ही उतारकर उसे समर्पण किया हो ॥ ४३ ॥ उससमय राजा वज्रनाभिका

नृपैः समं समाश्वास्य महान्सम्राड्भवेत्यमुं ॥ ४५ ॥ अनंतरं च लौकांतिकामरैः प्रतिबोधितः ॥ वज्रसेनमहाराजो न्यधान्निःष्क्रमणे मतिं ॥ ४६ ॥ यथोचितामपचितिं तन्वत्सूत्तमनाकिषु ॥ परिनिष्क्रम्य चक्रेसौ मुक्तिलक्ष्मीं प्रमोदिनीं ॥ ४७ ॥ समं भगवतानेन महस्र गणनामिताः ॥ महत्याम्रवनोद्याने नृपाः प्राव्राजिषुस्तदा ॥ ४८ ॥ राज्यं निष्कंटकीकृत्य वज्रनाभिरपालयत् ॥ भगवानपि योगींद्रस्तपश्चक्रे विकल्मषं ॥ ४९ ॥ राज्यलक्ष्मीपरिष्वंगाद्वज्रनाभिस्तुतोष सः ॥ तपोलक्ष्मीसमासंगाद्गुरुरस्यातिविप्रिये ॥ ५० ॥ भ्रातृभिर्धीभिरस्या[illegible]वज्रनाभिः समाहितैः ॥ गुणैस्तु धृतिमातेने योगी श्रेयोनुबंधिभिः ॥ ५१ ॥ वज्रनाभिनृपोमात्यैः संविधत्ते स्म राजकं ॥ मुनींद्रोपि तपायोगैर्गु-

---

वक्षःस्थल हारसे सुशोभित हो रहा था, दोनों भुजायें केयूर भुजबंध आदि आभूषणोंसे सुशोभित हो रहीं थीं और कमर करधनी तथा रेशमी वस्त्रोंसे सुशोभित हो रही थी ॥ ४४ ॥ महाप्रवीण महाराज वज्रसेनने सब राजाओंके सामने वज्रनाभिका राज्याभिषेककर तथा 'तू बडा भारी चक्रवर्ती राजा हो' ऐसा आशीर्वाद देकर उसे अपना सब राज्य सौंप दिया ॥ ४५ ॥ जिससमय महाराज वज्रसेनने राज्यभार समर्पण किया उसी समय लौकांतिक देव आये आर महाराज वज्रसेनको प्रवोध कराते हुये उनकी स्तुति करने लगे । महाराज वज्रसेन भी दीक्षा ग्रहण करनेके लिये तैयार हुये ॥ ४६ ॥ उससमय इंद्रादिक उत्तमोत्तम देवोंनेभी आकर यथायोग्य भगवानकी पूजा की और भगवान वज्रसेनने भी दीक्षा ग्रहणकर मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्रसन्न किया ॥ ४७ ॥ उससमय भगवान वज्रसेनके साथ साथ आम्रवनके बडे भारी उद्यानमें एक हजार राजाओंने दीक्षा धारण की ॥ ४८ ॥ इधर महाराज वज्रनाभि निष्कंटक रीतिसे राज्यका पालन करता था और उधर भगवान वज्रसेन मुनिराज निर्दोष तपश्चरण करते थे ॥ ४९ ॥ इधर महाराज वज्रनाभि राज्यलक्ष्मीके समागम होनेसे बहुत संतुष्ट होता था और उधर उसके पिता भगवान वज्रसेन तपश्चरणरूपी लक्ष्मीके समागम होनेसे अतिशय संतुष्ट होते थे ॥ ५० ॥ इधर महाराज वज्रनाभि अपने संमिलित भाइयोंसे प्रसन्न होता था

...ममयोजयत् ॥५२॥ निजे राज्याश्रमे पुत्रः गुरुरंग्रं श्रमे स्थितः । परार्थे बद्धकक्षौ तौ पालयामासतुः प्रजाः ॥५३॥ वज्रनाभेर्जपागारे चक्रं भास्वरमुद्बभौ ॥ ...नापि मनोगारे ध्यानचक्रं स्फुरत्युतिः ॥ ५४ ॥ ततो व्यजेष्ट निःशेषां महीमेव महीपतिः ॥ मुनिः कर्मजयात्तन्महिमा जगतीत्रयं ॥ ५५ ॥ स्पर्द्धमानाविवान्योन्यमित्यास्तां तौ जयोद्धुरौ । किंत्वेकस्य जयोऽल्पत्वः परस्य भुवनातिगः ॥ ५६ ॥ धनदेवोपि तस्यार्धाद्धक्रीणो रत्नमूर्जितं । राज्यांग

और उधर योगिराज श्री वज्रसेन कल्याण करनेवाले उत्तमक्षमा आदि अनेक संमिलित गुणोंसे प्रसन्न होते थे ॥ ५१ ॥ इधर महाराज वज्रनाभि अपने मंत्रियोंके द्वारा संपूर्ण राजाओंके समूहको अपने अनुकूल करता था और उधर मुनिराज वज्रसेन भी अनेक प्रकारके तपश्चरणोंके द्वारा अनेक गुणोंके समूहको पालन करते थे ॥ ५२ ॥ महाराज वज्रनाभि अपने राज्याश्रममें स्थित थे और भगवान् वज्रसेन अंतके मुनिआश्रममें विराजमान थे। इसप्रकार पिता पुत्र दोनोंने ही परोपकार करनेकेलिये कमर बांधी थी और दोनों ही प्रजाका पालन करते थे। भावार्थ-महाराज वज्रनाभि प्रजाका पालन करते थे और भगवान वज्रसेन सब जीवोंकी रक्षा करते थे ॥ ५३ ॥ महाराज वज्रनाभिकी आयुधशालामें देदीप्यमान चक्र उत्पन्न हुआ था और योगिराज वज्रसेनके मनरूपी घरमें स्फुरायमान ध्यानरूपी चक्र उत्पन्न हुआ था ॥५४॥ महाराज वज्रनाभिने उस चक्रके प्रभावसे छहों खंडोंकी संपूर्ण पृथ्वी जीत ली थी और मुनिराज वज्रसेनने ध्यानरूपी चक्रके प्रभावसे संपूर्ण कर्मोंको जीतकर तथा अतुल महिमा प्राप्तकर तीनों लोक जीतलिये थे ॥ ५५ ॥ इसप्रकार विजय प्राप्त करनेमें अत्यंत प्रधान ऐसे वे दोनों ही पिता पुत्र परस्पर एक दूसरेकी स्पर्द्धा करनेवालोंके समान जान पडते थे, परंतु उन दोनोंका वह विजय प्राप्त करना बडा ही विषम था क्योंकि महाराज वज्रनाभिके विजय प्राप्त करनेका फल बहुत थोडा था और भगवान वज्रसेनके विजय प्राप्त करनेका फल संसारमात्रको उलंघन करगया था, अर्थात् सबसे अधिक था ॥ ५६ ॥

गृहपत्याख्यं निधौ रत्ने च योजितं ५७। ततः कृतधीर्भुक्त्वा चिरं पृथ्वीं पृथूदयः। गुरोस्तीर्थकृतोऽबोधि बोधिमत्यंतदुर्लभां ॥५८॥ सद्दृष्टिज्ञानचारित्रत्रयं यः सेवते कृती ॥ रसायनमिवातर्क्यं सोमृतं पदमश्नुते ॥५९॥ इत्याकलय्य मनसा चक्री चक्रे तपोमतिं ॥ जरत्तृणमिवाशेषं साम्राज्यमवमन्य सः ॥६०॥ वज्रदंताह्वये सूनौ कृतराज्यसमर्पणः ॥ नृपैः स्वमौलिबद्धाद्यैःतुर्भिश्च दशभिः श्रुतैः ॥ ६१ ॥ समं भ्रातृभिरष्टाभिः धनदेवेन चाददे । दीक्षां भव्यजनोदीक्ष्यां मुक्त्यै स्वगुरुसन्निधौ ॥६२॥ तमन्वीयुर्नृपा जन्मदुःखार्त्तास्तपसे वनं ॥ शीतार्त्तः को न कुर्वीत सुधी रातपसेवनम् ॥६३॥ त्रिधा प्राणिवधान्मिथ्यावादात्स्तेयात्परिग्रहात् ॥

जो पहले केशव था और अब आकर धनदेव नामका श्रेष्ठिपुत्र हुआ था वह उस चक्रवर्तीके नौ निधि और चौदह रत्नोंमें शामिल होनेवाला और राज्यका अंगभूत ऐसा महातेजस्वी गृहपति नामका रत्न हुआ ॥५७॥ इसप्रकार उस बुद्धिमान और अतिशय प्रभावशाली महाराज वज्रनाभि ने चिरकालतक राज्यका उपभोग किया। एकदिन अपने पिता श्रीवज्रसेन तीर्थंकरके समीप उसने अत्यंत दुर्लभ ऐसे रत्नत्रयका स्वरूप जाना। ५८। रत्नत्रयका स्वरूप जानकर वह विचार करने लगा कि देखो जो बुद्धिमान रसायनके समान सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंका सेवन करते हैं उन्हें अचिंत्य ऐसे मोक्षरूपी अमृतकी प्राप्ति होती है। ५९। इसप्रकार चिंतवनकर वह चक्रवर्ती अपने इतने बडे संपूर्ण साम्राज्य को जीर्ण तृणके समान मानने लगा और सबको छोडकर तपश्चरण करनेकेलिये तैयार हुआ ॥ ६० ॥ उसने वज्रदंत नामके अपने पुत्रको राज्य समर्पण किया और सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं एकहजार पुत्रों आठ भाइयों और धनदेवके साथ साथ मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये अपने पिता श्रीवज्रसेन तीर्थंकरके समीप भव्यजीवोंको सदाग्रहण करने योग्य ऐसी श्रीजैनेश्वरी दीक्षा धारण की ॥ ६१–६२ ॥ जन्ममरणादि अनेक दुःखोंसे दुःखी ऐसे अनेक राजालोग तपश्चरण करनेकेलिये उसके साथ वनमें गये सो ठीक ही है शीतके दुःखसे दुःखी हुआ ऐसा कौन बुद्धिमान है जो धूप वा अग्निका सेवन न करे? ॥ ६३ ॥ उसने जीवन-

विरतिं स्त्रीप्रसंगाच्च स यावज्जीवमग्रहीत् ॥ ६४ ॥ व्रतस्थः समितीर्गुप्तीरादधेऽसौ सभावनाः ॥ मातृकाभिर्दृढप्रवचनसमावनाः ॥ ६५ ॥ उत्कृष्टतपसो धीरान्मुनीन्ध्यायन्ननन्यमनाः ॥ एकचर्यो ततो भेजे युक्तः सद्दर्शनेन सः ॥ ६६ ॥ स एकचरता प्राप्य चिरं गज इवागजः ॥ मंथरं विजहारोर्वी प्रपश्यन्सवनं वनं ॥ ६७ ॥ ततोऽसौ भावयामास भावितात्मा सुधीरधीः ॥ स्वगुरोर्निकटे तीर्थकृत्त्वस्यांगानि षोडश ॥ ६८ ॥ सद्दृष्टिं विनयं शीलव्रतेष्वनतिचारतां । ज्ञानोपयोगमाभीक्ष्ण्यात्संवेगं चाप्यभावयत् ॥ ६९ ॥ यथाशक्ति तपस्तेपे स्वयं वीर्यमहापयन् ॥ त्यागे च

पर्यंत मन वचन कायसे संपूर्ण हिंसा झूठ चोरी स्त्रीसेवन और परिग्रहका त्याग किया अर्थात् पांचों महाव्रत धारण किये। तथा पांचों महाव्रतोंकी पचीस भावनाओंका चितवन किया। ईर्या, भाषा-एषणा, आदाननिक्षेपण उत्सर्ग ये पांचो समिति और मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति ये तीनों गुप्ति धारण कीं। पांचों समिति और तीनों गुप्ति मिलकर मात्राष्टक वा प्रवचनमातर [जिनप्रवचनकी मातृका मूल] कहलाती हैं मुनियोंको ये अवश्य धारण करना चाहिये ऐसी इंद्रकी सभा समोसर-णकी रक्षा करनेवाले गणधर देवोंकी आज्ञा है ॥ ६४-६५ ॥ तदनंतर उत्कृष्ट तपश्चरण करनेवाले धीर वीर और निष्पाप मुनियोंका चिंतवन करता हुआ और सम्यग्दर्शन करके सहित वह चक्रवर्ती मुनि एकाकी विहार करने लगा ॥ ६६ ॥ जैसे किसी पर्वतपर उत्पन्न हुआ हाथी जलाशयोंसे सुशोभित वन उपवनोंको देखता हुआ धीरे २ पृथ्वीपर विहार करता है उसीप्रकार चिरकालतक वह मुनिराज भी एकाकी विहार करता हुआ जलाशयोंसे सुशोभित ऐसे वन उपवनोंकी शोभा देखता हुआ (ईर्यासमितिसे) पृथ्वीपर विहार करता था ॥ ६७ ॥ तदनंतर उस धीर वीर और बुद्धि-मान् वज्रनाभि मुनिने अपने पिता श्रीवज्रसेन तीर्थंकरके समीप तीर्थंकर पदके प्राप्त होनेके कारण ऐसी सोलहकारण भावनाओंका चिंतवन किया ॥ ६८ ॥ उसने शंकादि पचीस दोषरहित शुद्ध सम्य-ग्दर्शन धारण किया, दर्शन ज्ञान चारित्र और उपचार ये चारोंप्रकारकी विनय धारण की, शील

मतिमाधत्त ज्ञानसंयमसाधने ॥ ७० ॥ मत्यवधानः समाधाने ... ॥ ... हि सर्वोऽयं परिस्पंदो हितार्थिनां ॥ ७१ ॥
स वैयावृत्यमातेने व्रतस्थेष्वामयादिषु । अनात्मीनरको भूत्वा तपो ... हि तत् ॥ ७२ ॥ ... तेने भक्तिमर्हत्सु पूजामर्हत्सु निश्चलां । आचार्येष्वप्य...
... मुनीनपि ... ॥ ७३ ॥ ... प्रवचने भक्तिमातेने ... ; न परमाणि रागादीन्विजेतुं संततानमः ॥ ७४ ॥ अवशस्यापि सोऽप्य...
वशी स्ववश... । ... ॥ ७५ ॥ ... तपो ज्ञानादिदीधितिः । ... मुनीनेनो ...

चार रहित शील और व्रत पालन किये, निरंतर पठन पाठन आदि ज्ञान उत्पन्न करनेवाले ... अपना चित्त लगाया और जन्ममरणरूप संसारसे भय उत्पन्न करनेवाला संवेग धारण किया ... स्वयं अपनी शक्तिको नहीं छिपाता हुआ अपनी पूर्ण शक्तिके अनुसार उसने तपश्चरण पालन किया तथा ज्ञान और संयममें सहायता देनेवाले ... के त्याग वा ज्ञानदानादिमें अपनी बुद्धि लगाई ॥ ७० ॥ मुनियोंके व्रतशीलादिकमें किसीप्रकारका विघ्न उपस्थित होनेपर उसके दूर करनेको वह सदा सावधान रहता था सो ठीक ही है हितैषी लोगोंकी संपूर्ण चेष्टायें दूसरोंके विघ्न दूर करनेके लिये ही होती हैं ॥ ७१ ॥ किसी मुनिके रोगादि हो जानेपर अपने आत्मासे अभिन्न मानता हुआ वह उनकी सेवा सुश्रूषा और औषधदान आदिके द्वारा वैयावृत्य करता था सो ठीक ही है मुनियोंकी वैयावृत्य करना ही मुख्य तपश्चरण है ॥ ७२ ॥ इंद्रादिकोंके द्वारा पूज्य ऐसे अरहंत भगवानमें वह निर्मल भक्ति करता था आचार्योंकी विनय करता था तथा अंगपूर्वादिको जाननेवाले बहुश्रुत मुनियोंका भी विनय और भक्ति करता था ॥ ७३ ॥ इसीप्रकार वह अरहंतदेवके कहे हुये शास्त्रों में परम भक्ति करता था सो भी ठीक ही है क्योंकि जो पुरुष प्रवचन भक्ति नहीं करता है वह बढे हुये रागादिकोंको भी नहीं जीत सकता है ॥ ७४ ॥ वह अवश (वश रहित) अर्थात् इच्छा रहित होकर भी वशी अर्थात् इंद्रियोंको वश करनेवाला था और संपूर्ण देश तथा संपूर्ण कालमें समता

प्रबोधकः ॥ ७६ ॥ वात्सल्यमाधिकं चक्रे स मुनिर्धर्मवत्सलः । विनेयान्स्थापयन्धर्मे जिनप्रवचनाश्रितान् ॥ ७७ ॥ इत्यमूनि महाधैर्यो मुनिश्चिरमभावयत् । तीर्थकृत्वस्य संप्राप्तौ कारणान्येष षोडश ॥ ७८ ॥ ततोऽमूर्भावनाः सम्यग्भावयन्मुनिसत्तमः । स बबंध महत्पुण्यं त्रैलोक्यक्षोभकारणं ॥ ७९ ॥ सकोष्ठबुद्धिममलां बीजबुद्धिं च शिश्रिये । पदानुसारिणीं बुद्धिं संभिन्नश्रोतृतामिति ॥ ८० ॥ ताभिर्बुद्धिर्द्धिभिः परलोकगतागतं । राजर्षी राजविद्याभिरिव सम्यगबुद्ध सः ॥ ८१ ॥ स दीप्ततपसा दीप्तिं भेजे तप्ततपाः परं । तेपे तपोऽप्यमुग्रं च घोरायातिर्मनिन् ॥ ८२ ॥ स तपोमंतिभि

वंदना स्तुति प्रतिक्रमण स्वाध्याय और व्युत्सर्ग इन छहों आवश्यकोंको पूर्ण रीतिसे पालन करता था ॥ ७५ ॥ भव्यरूपी कमलोंको प्रफुलित करनेवाला और तपश्चरण ज्ञान आदि अनेक किरणोंको धारण करनेवाला वह मुनीश्वररूपी सूर्य जैनमार्गका प्रकाश करता था ॥ ७६ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंके अनुकूल चलनेवाले शिष्योंको धर्ममें स्थापन करता हुआ और धर्ममें प्रेम रखनेवाला वह वज्रनाभि मुनि सबसे अधिक वात्सल्य (धर्मप्रेम) रखता था ॥ ७७ ॥ इसप्रकार महा धीर वीर उस वज्रनाभि मुनिने तीर्थंकरपदके प्राप्त होनेके कारण ऐसी ऊपर लिखी सोलह कारण भावनाओंका चिरकालतक चिंतवन किया ॥ ७८ ॥ और उत्तमरीतिसे उन भावनाओंका चिंतवन करनेसे उस मुनिराजने तीनों लोकोंको क्षोभ उत्पन्न करनेवाला और तीर्थंकर पदको देनेवाला महापुण्यका बंध किया ॥७९॥ निर्मल कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारिणी बुद्धि और संभिन्नश्रोतृबुद्धि ये चार ऋद्धिभी उसे प्राप्त हुईं ॥ ८० ॥ जिसप्रकार कोई उत्तम राजा राजविद्याओंके द्वारा अपने शत्रुओंका गमनागमन जान लेता है उसीप्रकार अनेक उत्तम ऋद्धियोंको धारण करनेवाले उस मुनिराजने भी ऊपर कही हुई चारों ऋद्धियोंके द्वारा परलोक संबंधी सब गमनागमन जानलिया था ॥८१॥ दीप्त ऋद्धिके द्वारा उसका शरीर सूर्यकेसमान अतिशय देदीप्यमान होगया था। तप्तऋद्धिके द्वारा वह मलमूत्रादिसे रहित होकर बडे कठिन तपश्चरण करता था,

द्वंद्वममंत्रयत मंत्रवित्। परलोकजयोयुक्तो विजिगीषुः पुरा यथा ॥ ८३ ॥ अणिमादिगुणोपेतां विक्रियर्द्धिमवाप सः ॥ पदं वांछन् त मन्त्रमहेच्छो गरिमास्पदं ॥ ८४ ॥ जल्लाद्यौषधिसंप्राप्तिरस्यासीज्जगतोहिता ॥ कल्पद्रुमफलावाप्तिः कस्य वा नोपकारिणी ॥ ८५ ॥ रसत्यागप्रतिज्ञस्य रसर्द्धि मुनेः सूते निवृत्तिरिष्टार्थादधिकं हि महत्फलं ॥ ८६ ॥ स बलर्द्धिबलादानादसोढोग्रान्परीषहान् ॥ अन्यथा तादृशं द्वंद्वं कः सहेत सुदुस्सहं ॥ ८७ ॥ मोऽ

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदिको प्राप्त करानेवाला और श्रेष्ठ ऐसा उग्रतपश्चरण (उग्रऋद्धिसाहित तपश्चरण) करता था और भयानक कर्मोंके मर्मको नाश करनेवाला ऐसा मनवचनकायकी क्रियाको सर्वथा रोकनेवाला घोर ऋद्धिसाहित घोर नामका तपश्चरण करता था ॥ ८२ ॥ मंत्रको जाननेवाला वह वज्रनाभि जिसप्रकार पहले राज्यावस्थामें शत्रुओंको जीतनेके लिये मंत्रियोंके साथ सलाहकर शत्रुओंके साथ युद्ध करता था उसीप्रकार अब मुनिराजअवस्थामें भी नमस्कारादि अनेक मंत्रोंको जाननेवाला और परलोकको जीतनेकेलिये तैयार हुआ वह वज्रनाभि मुनि ऊपर कहे हुये तपश्चरणरूपी मंत्रियोंसे सलाहकर समता आदि इष्ट पदार्थोंको ग्रहण करता था ॥ ८३ ॥ यद्यपि वह केवल मोक्ष प्राप्त होनेकी इच्छा रखता था और अतिशय गौरव युक्त ऐसे सिद्ध पदकी वांछा करता था। ऋद्धियोंकी इच्छा उसे कभी नहीं हुई थी तथापि अणिमा महिमा आदि अनेक ऋद्धियों साहित विक्रिया ऋद्धि उसे प्राप्त हुई थी ॥ ८४ ॥ इनके सिवाय जल्ल आदि अनेक औषधि ऋद्धियां उसे प्राप्त हुईं जो कि संपूर्ण जगतका हित करती थीं सो ठीक ही है यदि कल्पवृक्ष पर फल लगें तो उससे किसका उपकार नहीं होता है अर्थात् उससे सबका उपकार होता ही है ॥ ८५ ॥ यद्यपि उसके दूध दही घी नमक आदि सब रसोंका त्याग था तथापि उसे अमृतस्राविणी आदि अनेक रसऋद्धियोंकी प्राप्ति हुई थी सो भी ठीक है इष्ट पदार्थोंके त्याग करनेसे उससे भी अधिक महाफलोंकी प्राप्ति होती ही है ॥ ८६ ॥ बलऋद्धिके प्राप्त होनेसे उसके शरीरमें बडी भारी सामर्थ्य

र्द्धीणार्द्धिप्रभावेणाक्षीणावासयोऽभवत् । एवं तपोऽकृशं तप्तं पंफलीत्यक्षयं फलं ॥ ८८ ॥ विशुद्धभावनः सम्यग्विशुध्यन्विशुद्धिभिः । उपशम-
श्रेणीमारुरोह मुनीश्वरः ॥ ८९ ॥ अपूर्वकरणं श्रित्वाऽनिवृत्तिकरणोऽभवत् । स सूक्ष्मरागः संप्रापदुपशांतकषायतां ॥ ९० ॥ कृत्स्नस्य मोहनीयस्य
प्रशमादुपपादितं । तत्रौपशमिकं प्रापच्चारित्रं सुविशुद्धिकं ॥ ९१ ॥ सोऽन्तर्मुहूर्तात् भूयोऽपि स्वस्थानस्थोऽभवद्यतिः । नोर्ध्वं मुहूर्तात्तत्रास्ति निसर्गो-
त्थितिरात्मनः ॥ ९२ ॥ सोऽबुद्ध परमं मंत्रं सोऽबुद्ध परमं तपः । सोऽबुद्ध परमामिष्टिं सोऽबुद्ध परमं पदं ॥ ९३ ॥ ततः कालात्यये धीमान्

हो गई थी जिससे वह कठिन कठिन परिषहोंको जीतता था यदि बल ऋद्धि प्राप्त न हो तो शीत उष्णकी ऐसी कठिन बाधाओंको भला कौन सहन कर सकता है ॥ ८७ ॥ अक्षीण ऋद्धिके प्रभावसे वह अक्षीण अन्नका स्थान ही बन गया था अर्थात् जिसके यहां वह आहार लेता था उसदिन उसके यहां वह अन्न अक्षय हो जाता था सो ठीक ही है जो उग्रतप करता है उसे अक्षयफलकी प्राप्ति होती ही है ॥ ८८ ॥ विशुद्ध भावनाओंसहित वह वज्रनाभि मुनीश्वर जब अपने विशुद्ध परिणामोंसे विशुद्ध हुआ तब उसने उपशम श्रेणीका प्रारंभ किया (जिसमें मोहनीयकर्मका उपशम होता जाय उसे उपशमश्रेणी कहते हैं ॥ ८९ ॥ क्रमसे अधः प्रवृत्तिकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण अर्थात् सात आठ नौ इन तीनों गुणस्थानोंको प्राप्त होकर दशवें सूक्ष्मसांपराय और ग्यारहवें उपशांतकषायगुण-स्थानमें जा पहुंचा ॥ ९० ॥ ग्यारहवें गुणस्थानमें संपूर्ण मोहनीयकर्मके उपशम होजानेसे अतिशय विशुद्ध ऐसा औपशमिक चारित्र प्राप्त हुआ ॥ ९१ ॥ ग्यारहवें गुणस्थानमें अंतर्मुहूर्त रहकर फिर वह मुनि सातवें स्वस्थानअप्रमत्त गुणस्थानमें आया क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थानमें आत्माके ठहरनेकी स्वाभाविक स्थिति अंतर्मुहूर्तसे आगे है ही नहीं ॥ ९२ ॥ वह वज्रनाभि मुनि परम मंत्रको जानता था परम तपश्चरणको जानता था उत्कृष्ट भावपूजाको जानता था और परमपद अर्थात् सिद्धपदको जानता था ॥ ९३ ॥ तदनंतर आयुके अंतसमयमें श्रीप्रभ नामके बडे ऊंचे पर्वतपर उसबुद्धिमानने प्रायो-पगमन

श्रीप्रभाद्रौ समुन्नते । प्रायोपवेशनं कृत्वा शरीराहारमत्यजत् ॥ ९४ ॥ रत्नत्रयमयीं शय्यामधिशय्य तपोनिधिः । प्रायेणोपविशत्यस्मिन्नित्यन्वर्थत्वमापिपत् ॥ ९५ ॥ प्रायेणोपगमो यस्मिन्रत्नत्रितयगोचरः । प्रायेणापगमो यस्मिन्दुरितारिकदंबकात् ॥ ९६ ॥ प्रायोवास्माज्जनस्थानादपसृत्य गमोऽटवेः । प्रायोपगमनं तज्ज्ञैर्निरुक्तं श्रमणोत्तमैः ॥ ९७ ॥ स्वपरोपकृतां देहे सोनिच्छंस्तां प्रतिक्रियां । रिपोरिव शवं त्यक्त्वा देहमास्त निराकुलः ॥ ९८ ॥

[सन्यास] धारणकर शरीर और आहारका त्याग [शरीर और आहारसे ममत्वका त्याग] किया ॥९४॥ प्रायोग्यवेशन धारण करनेमें प्रायः तपस्वियोंको रत्नत्रय रूपी शय्यापर बैठकर रहना पडता है इस-लिये उसका प्रायोपवेशन यह सार्थक नाम पडा है ॥ ९५ ॥ इसका दूसरा नाम प्रायेणोपगमन है। प्रायेण शब्दका अर्थ 'बहुत करके' है और उपगमन शब्दका अर्थ 'प्राप्ति' है, इसके धारण करनेसे बहुतकरके रत्नत्रयकी प्राप्ति अवश्य होती है इसलिये इसे प्रायेणोपगमन कहते हैं। अथवा इसका तीसरा नाम 'प्रायेणापगम' भी है अपगम शब्दका अर्थ नाश है। सन्यास धारण करनेसे बहुत करके पापरूप शत्रुसमूहोंका नाश हो जाता है इसलिये इसे प्रायेणापगम कहते हैं ॥ ९६ ॥ अथवा प्रायोपगमका स्वरूप जाननेवाले गणधरादिदेवोंने इसका नाम प्रायोपगम भी रक्खा है और उसका अर्थ यह है कि जिसमें प्रायः अर्थात् बहुत करके संसारी जीवोंके रहने योग्य ग्राम नगर आदि स्थानोंसे अपसृत्य अर्थात् हटकरके किसी वनमें गमन अर्थात् जानापडे उसे प्रायोपगमन कहते हैं ॥ ९७ ॥ इसप्रकार उस वज्रनाभि मुनिने प्रायोपगमन धारण किया, वह न तो स्वयं कुछ शरीरका उपचार करता था और न किसी दूसरेसे उपचार करानेकी इच्छा रखता था। जैसे किसी शत्रुके मृतक शरीरको छोडकर निराकुल हो जाते हैं उसीप्रकार वह भी अपने शरीरसे ममत्व छोडकर बिलकुल निराकुल होगया था ॥ ९८ ॥ उसका उदर नितांत कृश होगया था समस्त शरीरमें केवल चमडा और [illegible] ही रहगया था तथापि उस मुनिराजने निष्कंप होकर केवल

त्वगस्थिभूतसर्वांगो मुनिः पारेकृशोदरः । सत्वमेवावलंब्यासौ तपोऽगमदनाकुलः ॥ ९९ ॥ क्षुधं पिपासां शीतं च तथोष्णं दंशमशकं । नाग्न्यं तथा रतिस्त्रियं चर्यां शय्यां निषद्यकां ॥ १०० ॥ आक्रोशं वधयाचे च तथा, लाभमदर्शनं ।...रोगं च तृणस्पर्शं प्रज्ञाज्ञाने मलं तथा । १ सत्कारपुरस्कारमसोढैतान्परीषहान् । मार्गाच्यवनमाशंसुर्महतीं निर्जरामपि ॥ २ ॥ स भेजे मतिमान् क्षान्तिं परं मार्दवमार्जवं । शौचं च संयमं सत्यं तपस्त्यागौ च निर्मदः ॥ ३ ॥ आकिंचन्यमथ ब्रह्मचर्यं च वदतां वरः । धर्मो दशतयायं हि गणेशामपि सम्मतः ॥ ४ ॥ सोऽनुदध्याविनित्यत्वं सुखायुर्बलसंपदां । तथा

धैर्यका सहारा लेकर कितने ही दिन व्यतीत किये थे ॥ ९९ ॥ मैं इस जैनमार्गसे कभी च्युत न हो जाऊं अथवा मेरे बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा होजाय" ऐसी इच्छा करता हुआ वह वज्रनाभि मुनि क्षुधा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, निशद्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, अदर्शन, रोग, तृणस्पर्श, प्रज्ञा, अज्ञान, मल और सत्कारपुरस्कार इन बाईस परिषहोंका सहन करता था ॥ १००–१०१–१०२ ॥ अतिशय बुद्धिमान् मदरहित और पंडितोंमें श्रेष्ठ ऐसे उस वज्रनाभिने उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म धारण किये सो ठीक ही है ये दशप्रकारके धर्म गणधरदेवोंको भी बहुत प्रिय हैं ॥ १०३–१०४ ॥ इसीप्रकार उस योगिराजने बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन किया। संसारसंबंधी सुख, आयु, बल और संपदा आदि सब अनित्य हैं जन्म मरण बुढापा भय आदि उपस्थित होनेपर मनुष्योंको कोई शरण नहीं है २ द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव आदिके परिवर्तनोंसे यह संसार नितांत दुःखस्वरूप है ३ ज्ञानदर्शन स्वरूप यह आत्मा सदा अकेला रहता है ४ शरीर धन भाई बंधु स्त्री आदि सबसे यह आत्मा भिन्न है ५ इस शरीरके मुख नाक कान आदि नौ द्वारोंसे सदा मल निकला करता है इसलिये यह शरीर सदा अपवित्र है ६ इस जीवके पुण्यपापरूप कर्मोंका सदा आस्रव होता रहता है गुप्ति समिति आदिसे संवर होता है ८ तपश्चरणादिकोंसे कर्मोंकी निर्जरा होती है ९ इस संसाररूपी समुद्रमें रत्नत्रयको प्राप्ति

शरणतां मृत्युजराजन्मभये नृणां ॥ ५ ॥ संसृतेर्दुःखभावत्वं विचित्रैरिवर्तनैः ॥ एकत्वमात्मनो ज्ञानदर्शनात्मत्वमीयुषः ॥ ६ ॥ अन्यत्वमात्मनो देहधनबंधुकलत्रतः ॥ तथाऽशौचं शरीरस्य नवद्वारैर्मलस्रुतः ॥ ७ ॥ आस्रवं पुण्यपापात्मकर्मणां सह संवरं ॥ निर्जरां विपुलां बोधेर्दुर्लभत्वं भवांबुधौ ॥ ८ ॥ धर्मस्वाख्याततां चेति तत्त्वानुध्यानभावनाः ॥ लेश्याविशुद्धिमधिकां दधानः शुभभावनः ॥ ९ ॥ द्वितीयवारमारुह्य श्रेणीमुपशमादिकां ॥ पृथक्त्वध्यानमापूर्य समाधिं परमं श्रितः ॥ १० ॥ उपशांतगुणस्थाने कृतप्राणविसर्जनः । सर्वार्थसिद्धिमासाद्य संप्रापत्सोऽहमिंद्रतां ॥ ११ ॥ द्विषट्कयोजनैर्लोकप्रांतमप्राप्य यत्स्थितं । सर्वार्थसिद्धिनामाग्र्यं विमानं तदनुत्तरं ॥ १२ ॥ जंबूद्वीपसमायामविस्तारपरिमंडलं ।

होना अत्यंत दुर्लभ है यह लोक वातवलयके आधार है अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक ऐसे तीन इसके भेद हैं इसमें सब जगह जीव भरे हुये हैं ११ और संसारमें सुख देनेवाला दयामय धर्म ही है १२ इसप्रकार तत्वोंका विचार करते हुये उसने बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन किया। शुभ परिणाम धारण किये और लेश्याओंकी परम विशुद्धि धारण की ॥ १०५--१०६--१०७--१०८--१०९ ॥ वह मुनिराज फिर दूसरीवार उपशमश्रेणी चढा पृथक्त्ववितर्क नामका पहला शुक्लध्यान पूर्ण किया और परम समाधिको प्राप्त हुआ ॥११०॥ उपशांत नामके ग्यारहवें गुणस्थानमें उसने प्राण छोडे और सर्वार्थसिद्धिमें जाकर अहमिंद्र पद प्राप्त किया ॥१११॥ यह सर्वार्थसिद्धिविमान सिद्धशिलासे बारह योजन नीचा है सबसे श्रेष्ठ और सबसे उत्कृष्ट है ॥११२॥ इसकी लंबाई चौडाई और परिधि सब जंबूद्वीपके समान है स्वर्गके तिरेसठ पटलोंके अंतमें यह चूडामणि रत्नके समान विराजमान है ॥११३॥ जो जीव सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न होते हैं उनके संपूर्ण प्रयोजन विना प्रयत्न किये ही सिद्ध हो जाते हैं इसलिये ही मानों उसने अपना सर्वार्थसिद्धि ऐसा सार्थक नाम धारण कर रक्खा है ॥ ११४ ॥ यह विमान बहुत बडा है बहुत ऊंचा है और ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों सुख देनेकी इच्छासे अपनी शिखरपर फह-राती हुई दैदीप्यमान ध्वजाओंके द्वारा मुनियोंको बुला रहा ही हो ॥ ११५ ॥ वहांकी भूमि इंद्रनी-

...यत्र चूडारत्नमिव स्थितं ॥ १३ ॥ यत्रोत्पन्नवतामर्थाः सर्वे सिध्यंत्ययत्नतः ॥ इति सर्वार्थसिद्ध्याख्यां यद्बिभर्त्यर्थयोगिनीं ॥ १४ ॥ महाधिष्ठानमुत्तुंगशिखरोल्लासिकेतनैः । समाह्वयदिवाभाति यन्मुनीन्सुखदित्सया ॥ १५ ॥ इंद्रनीलमयीं यत्र भुवं पुष्पोपहारिणीं । दृष्ट्वा तारांकितं व्योम स्मरंति त्रिदिवौकसः ॥ १६ ॥ सुसदां प्रतिबिंबानि धारयंत्यश्वकासति॥ सिसृक्षव इवापूर्वं स्वर्गं यन्मणिभित्तयः ॥ १७ ॥ किरणैर्यत्र रत्नानां तमो दूरं विदूरतः ॥ पदं न कुरुते सत्यं निर्मला मलिनैः सह ॥ १८ ॥ रत्नांशुभिर्जटिलितैर्यत्र शक्रशरासनं । पर्यंते लक्ष्यते दीप्तसाललीलां विलंबयत् ॥ १९॥

लमणिकी बनी हुई है और उसपर पुष्प विखरे हुये हैं इसलिये देवोंको वह ऐसी जान पडती है मानों खिले हुये तारोंसहित आकाश ही हो ॥११६॥ जिनमें देवोंके प्रतिबिंब पड रहे हैं ऐसी मणियोंकी बनी हुई वहां की दीवालें ऐसी सुशोभित हो रहीं हैं मानों एक अपूर्व स्वर्गका निर्माण ही कर रही हों ॥११७॥ वहां रत्नोंकी किरणोंसे अंधकार बिलकुल दूर भाग गया है सो ठीक ही है ऐसे लोग दुष्टपुरुषोंका संसर्ग कभी नहीं करते हैं ॥ ११८ ॥ उस सर्वार्थसिद्धिके प्रांतभागमें देदीप्यमान कोटकी शोभाका धारण करता हुआ ऐसा अनेक वर्णोंकी किरणोंसे बना हुआ इंद्रधनुष बहुत सुशोभित जान पडता है ॥ ११९ ॥ वहांपर अतिशय कोमल और सुगंध युक्त लटकती हुई कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी मालायें ऐसी अच्छी जान पडती हैं मानों वहांके अहमिंद्रोंके सामनस्य (पुष्पोंकाबना हुआ) उत्तम मनका परिचय ही दे रही हों ॥१२०॥ उस सर्वार्थसिद्धि विमानमें मोतियोंके बंदनवार सदा ऐसे सुशोभित रहते हैं मानों वहांकी शोभा का दांतोंकी किरणोंसे स्पष्ट दिखाई पडनेवाला हंसना ही हो ॥ १२१ ॥ इसप्रकार जिसमें संपूर्ण उत्कृष्ट और सुंदर रचना अनादिकालसे स्वयं बनी हुई है ऐसे उस सर्वार्थसिद्धि विमानमें उपपाद शय्यापर वह वज्रनाभि चक्रवर्तीका जीव उत्पन्न हुआ ॥ १२२ ॥ धातु उपधातुओंके संपूर्ण दोषोंसे रहित और अनेक सुंदर लक्षणोंसहित ऐसा उसका शरीर क्षणभरमें पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हो गया ॥ १२३ ॥ जिसकी शोभा कभी मलिन नहीं होती, जो स्वाभाविक सुंदर और नेत्रोंको आनंद

भांति पुष्पस्रजो यत्र लंबमानाः सुगंधयः । सौमनस्यं निवेद्रांणां सूचयंत्येऽतिनिवलाः ॥ २० ॥ मुक्तादामानि रम्याणि यत्रांतानि निरंतरं ।
विस्पष्टदशनांशूनि हसितानीव तच्छ्रियः ॥ २१ ॥ इत्यकृत्रिमनिःशेषपरार्द्ध्यरचनांचिते । तत्रोपपादशयने स पर्याप्तिं क्षणादयौ ॥ २२ ॥ देवमानुषं
सर्वांगीणं चारुलक्षणं । क्षणादाविरभूदस्य रूपमापूर्णयौवनं ॥ २३ ॥ अम्लानशोभमस्याभाद्वपुरत्यन्तसुंदरं । दृशोरुत्सवमानन्दममृतेनेव निर्मितं ॥ २४ ॥
शुभाः सुगंधयः स्निग्धा लोके ये केचनाणवः । तैरस्य देहनिर्माणमभूत्पुण्यानुभावतः ॥ २५ ॥ पर्यंकशयनेनरं सोऽपास्वदेहद्योतिना वृतः । ... न
मेरौ शशीवाखंडमंडलः ॥ २६ ॥ दिव्यहंसः स तत्तल्पमावसन्क्षणमाबभौ । गंगासैकतमाश्लिष्यन्निव हंसयुवैककः ॥ २७ ॥ सिंहासनमथाध्यासीत्कुर्वे-

---

देनेवाला है ऐसा उसका शरीर ऐसा जान पडता था मानों अमृतसे ही बनाया गया हो ॥ १२४ ॥ उसके पुण्योदयसे संसारमें जो कुछ शुभ सुगंधियुक्त चिकने परमाणु हैं उन्हींसे मानों उसका शरीर बनाया गया था ॥ १२५ ॥ जन्म होनेके अनंतर उपपाद शय्यापर उसके शरीरकी कांतिसे घिरा हुआ उसका शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों आकाशमें पूर्णमंडल [चंद्रमाके चारों ओरकी सफेद रेखा] सहित चंद्रमा ही हो ॥ १२६ ॥ उपपाद शय्यापर बैठा हुआ वह उत्तम देव क्षणभरके लिये ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों गंगाकी वालूके टीलेपर कोई एक तरुण हंस ही सुशोभित हो रहा हो ॥ १२७ ॥ उपपाद शय्याके समीप ही पडे हुये सिंहासनपर विराजमान हुआ वह देव ऐसा सुशोभित होता था मानों अत्युत्कृष्ट निषध पर्वतपर विराजमान सूर्य ही हो ॥ १२८ ॥ उसने केवल अपने पुण्यरूपी जलसे स्नान ही नहीं किया था किंतु आभूषणोंके समान शरीरमें उत्पन्न होनेवाले अनेक गुणोंसे अलंकार भी किया था ॥ १२९ ॥ वक्ष स्थलपर केवल पुष्पमाला ही धारण नहीं की थी किंतु आयुपर्यंत निर्बाध रहनेवाली और जन्मसे ही अपने आप प्राप्त होनेवाली स्वर्गकी लक्ष्मी भी धारण की थी ॥१३०॥ वह वज्रनाभिका जीव अहमिंद्र देवोंके मस्तकपर स्वर्गलोकके एक शिखामणि सूर्य-के समान देदीप्यमान होता था। जिसप्रकार सूर्य स्वाभाविक आकाशरूप आभूषणोंसे सुशोभित होता

न्दमादसौ । परार्घ्यनेपथ्योत्संगमाश्रयन्निव भानुमान् ॥ २८ ॥ स्वपुण्यांशुभिरेवायमभ्यषेचि न केवलं । अलंचक्रे च माणिक्यैर्गुणैरिव विभूषणैः ॥ २९ ॥ सोऽधिवक्षःस्थलं दध्रे स्रजमेव न केवलं । सहजां दिव्यलक्ष्मीं च यावदायुरविप्लुतां ॥ ३० अस्नातलिप्तसर्वांगः सहजाभरभूषणः । मोचयुत्कुसुदां मूर्ध्नि लोकैकशिखामणिः ॥ ३१ ॥ शुचिस्फटिकनिर्भासिनिर्मलोदारविग्रहः । स बभौ प्रज्वलन्मौलिः पुण्यराशिरिवोच्छिखः ॥ ३२ किरीटाग्रदंडयत्कुंडलदिव्यस्रक् सदंशुकः श्रीमान्सोऽधात्कल्पद्रुमश्रियं ॥ ३३ ॥ अणिमादिगुणैः श्लाघ्यां दधद्वैक्रियिकीं तनुं । स्वक्षेत्र विहारासौ जिनेंद्रार्चाः समर्चयन् ॥ ३४ ॥ संकल्पमात्रनिर्वृत्तैर्दिव्यैर्गंधाक्षतादिभिः । पुण्यानुबंधिनीं पूजां स जैनीं विधिवद्व्यधात् ॥ ३५ ॥ तत्रस्थ एव चाशेषभुवनोदरवर्तिनीः । आनर्चार्चा

है उसीप्रकार वह अहमिंद्र भी स्वाभाविक वस्त्र और आभूषणोंसे सुशोभित होता था और सूर्य जिसप्रकार विना स्नान लेपन आदि किये ही देदीप्यमान रहता है उसीप्रकार वह अहमिंद्र भी विना स्नान लेपन आदि किये ही देदीप्यमान रहता था ॥ १३१ ॥ जिसके मस्तकपर मुकुट प्रकाशमान हो रहा है और जो शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है ऐसा उसका उदार शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों जिसकी शिखर ऊंची उठी हुई है ऐसी पुण्यकी राशि ही हो ॥ १३२ ॥ अथवा वह किसी कल्पवृक्षके समान सुशोभित होता था जिसप्रकार कल्पवृक्ष मुकुट, बाजूबंध, केशर कुंडल माला और वस्त्र आदिकोंसे सुशोभित रहता है उसीप्रकार वह श्रीमान् अहमिंद्र भी मुकुट बाजूबंध केशर कुंडल पुष्पमाला और वस्त्रोंसे सुशोभित था ॥ १३३ ॥ उसका वैक्रियक शरीर भी अणिमादि गुणोंके संयोगसे अत्यंत प्रशंसनीय था । वह भी श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमाओंका पूजन करता हुआ केवल अपने क्षेत्रमें ही विहार करता था ॥ १३४ ॥ और संकल्प करनेमात्रसे प्राप्त हुये दिव्य गंध अक्षत आदि अष्टद्रव्योंसे विधिपूर्वक पुण्यकर्मोंका बंध करनेवाली श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करता था ॥ १३५ ॥ पुण्यवानोंमें भी अत्यंत श्रेष्ठ ऐसा वह अहमिंद्र अपने सर्वार्थसिद्धिविमानमें रहकर ही समस्त संसारमें विराजमान ऐसी संपूर्ण जिनेंद्रदेवकी प्रतिमाओंकी पूजन करता था ॥ १३६ ॥ वह पुण्यवान् अहमिंद्र

जिनेंद्राणां सोऽग्रणीः पुण्यकर्मणां ॥ ३६ ॥ जिनार्चास्तुतिवादेषु वाग्वृत्तिं तद्गुणस्मृतौ । स्वं मनस्तन्नतौ कायं पुण्यधीः संन्ययोजयत् ॥ ३७ ॥ धर्मगोष्ठीष्वनाहूतामिलितैः स्वसमर्द्धिभिः ॥ संभाषणादरोस्यासीदहमिंद्रैः शुभंयुभिः ॥ ३८ ॥ क्षालयन्निव दिग्भित्तीः स्मितांशुसलिलप्लवैः । सहाहमिंद्रै रुंद्रश्रीः स चक्रे धर्मसंकथां ॥ ३९ ॥ स्वावासोपान्तिकोद्यानसरःपुलिनभूमिषु । दिव्यहंसश्चिरं रेमे विहरन्स यदृच्छया ॥ ४० ॥ परक्षेत्रविहारस्तु नाहमिंद्रेषु विद्यते । शुक्लेश्यानुभावेन स्वभोगैर्धृतिमीयुषां ॥ ४१ ॥ स्वस्थाने याच संप्रीतिर्निरपायसुखोदये । न सान्यत्र ततो नैषां रिंरसा परभुक्तिषु ॥ ४२ ॥ अहमिंद्रोऽस्मि नेंद्रोन्यो मत्तोऽस्तीत्यात्तकत्थनाः । अहमिंद्राख्यया ख्यातिं गतास्ते हि सुरोत्तमाः ॥ ४३ ॥ नासूया परनिंदा वा नात्मश्लाघा न मत्सरः ॥

अपने बचनोंकी प्रवृत्ति श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमाओंकी स्तुति करनेमें लगाता था । अपना मन उनके गुण स्मरण करनेमें लगाता था और अपना शरीर उनको नमस्कार करनेमें लगाता था ॥ १३७ ॥ धर्मगोष्ठीमें विना बुलाये आनेवाले, अपने समान अणिमा आदि ऋद्धियोंको धारण करनेवाले और शुभ परिणाम युक्त ऐसे अन्य अहमिंद्रोंके साथ संभाषणकर वह उनका आदर सत्कार करता था तथा ॥ १३८ ॥ अपने मंद हास्यके किरणरूपी जलसमूहसे संपूर्ण दिशारूपी दीवालोंका प्रक्षालन करता हुआ और महा शोभाकर सहित वह अहमिंद्र अन्य अहमिंद्रोंके साथ धर्मचर्चा करता था और ॥ १३९ ॥ कभी राजहंसके समान अपने निवासस्थानके निकटवर्ती उद्यानके सरोवरके किनारेकी भूमिमें अपनी इच्छानुसार चिरकालतक विहार करता हुआ क्रीडा करता था ॥ १४० ॥ शुक्ललेश्याके प्रभावसे अहमिंद्रोंके अपने ही क्षेत्रमें परम संतोष रहता है इसलिये उनके परक्षेत्रमें विहार करनेका सर्वथा अभाव है ॥ १४१ ॥ अहमिंद्रोंके अपने दुःखरहित सदा सुखमय स्थानमें जैसी अच्छी प्रीति होती है वैसी प्रीति उन्हें अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होती इसलिये अन्यक्षेत्रमें क्रीडा करनेकी उनकी इच्छा भी नहीं होती है ॥ १४२ ॥ वे सदा अपनी यह ही प्रशंसा किया करते हैं कि "मैं ही इंद्र हूं मेरे सिवाय अन्य कोई इंद्र नहीं है" और इसलिये ही

केवलं सुखसाद्भूता दीव्यंते ते प्रमोदिनः ॥ ४४ ॥ स एष परमानंदं स्वसाद्भूतं समुद्वहन् । त्रयस्त्रिंशत्पयोराशिप्रमितायुर्महाद्युतिः ॥ ४५ ॥ सनेन चतुरस्रेण संस्थानेनातिसुंदरं । हस्तमात्रोच्छ्रितं देहं हंसाभं धवलं दधत् ॥ ४६ ॥ सहजांशुकदिव्यस्रग्विभूषाभिरलंकृतं । सौंदर्यस्येव संदोहं दधानो रुचिरं वपुः ॥ ४७ ॥ प्रशांतललितोदात्तधीरनेपथ्यविभ्रमः । स्वदेहप्रसरज्योत्स्नाक्षीराब्धौ मग्नविग्रहः ॥ ४८ ॥ स्फुरदाभरणोद्योतद्योतिताखिलदिङ्मुखः । तेजोराशिरिवैकध्यमुपनीतोतिभास्वरः ॥ ४९ ॥ विशुद्धलेश्यः शुद्धदेहदीप्तिदिग्धदिक् । सौधेनेव रसेनात्तनिर्माणः सुखनिर्वृतः ॥ ५० ॥ सुखाशिनां सुना

वे देवोत्तम अहमिंद्र नामसे कहे जाते हैं ॥ १४३ ॥ उनके परस्पर न तो असूया (गुणोंमें दोषारोपण करना) है न निंदा है न आत्मप्रशंसा है और न ईर्ष्या है सदा हर्षयुक्त और केवल सुखरूप क्रीडा किया करते हैं ॥ १४४ ॥ वह वज्रनाभिका जीव अहमिंद्र अपनी स्वाधीनतासे उत्पन्न हुये परमानंदको धारण करता था तेतीस सागरकी उसकी आयु थी शरीर महा देदीप्यमान था ॥१४५॥ समचतुरस्रसंस्थान होनेसे वह अतिशय सुंदर जान पडता था, इसके शरीरावयवोंके समान श्वेत था और उसकी उंचाई केवल एक हाथकी थी ॥ १४६ ॥ साथ २ उत्पन्न होनेवाले दिव्य वस्त्र दिव्य माला और दिव्य अलंकारोंसे अलंकृत हुआ उसका शरीर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों सुंदरता का समूह ही हो ॥ १४७ ॥ वह अहमिंद्र प्रशांत अर्थात् परिणाम शांत रखना, ललित अर्थात् सुंदरता, उदात्त अर्थात् उच्चता और धीर अर्थात् धीरता ये चारों ही वेश धारण करता था और अपने शरीरकी फैली हुई सफेद कांतिसे ऐसा जान पडता था मानों क्षीरसमुद्रमें डूबा ही हो ॥ १४८ ॥ उसके शरीरपर जो देदीप्यमान आभरण थे उनके प्रकाशसे दशों दिशायें प्रकाशादान हो रहीं थी और वह ऐसा जान पडता था मानों एक जगह इकठा किया हुआ अतिशय देदीप्यमान तेजका समूह ही हो ॥ १४९ ॥ उसकी लेश्यायें अत्यंत विशुद्ध थीं उसकी शुद्ध और निर्मल शरीरकी कांति सब दिशाओंमें फैली हुई थी वह अत्यंत सुख-

सौख्यमुख्याणामगोचरं । संप्राप्तः परमानंदप्रदं पदमनुत्तरं ॥ ५१ ॥ त्रिभहस्राधिकं त्रिंशत्सहस्राब्दव्यतिक्रमे । मानसं दिव्यमाहारं स्वसात्कुर्वन्धृतिं दधौ ॥ ५२ ॥ मासैःषोडशभिः पंचदशभिश्च दिनैर्मतैः । प्राप्तोच्छ्वासस्थितिस्तत्र सोहमिंद्रोऽस्वसुखं ॥ ५३ ॥ लोकनाडीगतं योग्यं मूर्तद्रव्यं सपर्ययं । स्वावधिज्ञानदीपेन द्योतयन्नोतुतत्तरां ॥ ५४ ॥ तन्मात्रां विक्रियां कर्तुमस्य सामर्थ्यमस्त्यदः । वीतराग्स्तु तन्नैवं कुरुते निष्प्रयोजनः ॥ ५५ ॥ नलिनाभं मुखं तस्य नेत्रे नीलोत्पलोपमे । कपोलाविंदुसच्छायौ बिंबकांतिधरोधरः ॥ ५६ ॥ इत्यादिवर्णनातीतं वपुरस्यातिभास्वरं । कामनीयकसर्वस्वमेकीभूतमिवा रुचत् ॥ ५७ ॥ आहारकशरीरं यन्निरलंकारभास्वरं । योगिनामृद्धिजं तेन सदृगस्याचकाद्वपुः ॥ ५८ ॥ एकांतशांतरूपं यत्नुत्तमातैर्निरूपितं । तदंडस्य

स्वरूप था और ऐसा जान पडता था मानों अमृतके रससे ही बनाया गया हो ॥ १५० ॥ इसप्रकार वह वज्रनाभिका जीव ऐसे उत्तम पदको प्राप्त हुआ कि जो इंद्रादिक मुख्य २ देवोंके भी अगोचर है परमानंद देनेवाला है और सबसे श्रेष्ठ है ॥ १५१ ॥ अहमिंद्र पद पाकर वह तेतीस हजार वर्ष व्यतीत होनेपर दिव्य मानसिक आहार ग्रहण करके संतुष्ट रहता था और ॥ १५२ ॥ तेतीस पक्ष अर्थात् सोलह महीने पंद्रहदिन व्यतीत होनेपर श्वास लेता था, इसप्रकार वह सुखसे निवास करता था ॥१५३॥ अपने अवधिज्ञानरूपी दीपकसे समस्त लोकनाडीमें रहनेवाले मूर्तीक द्रव्योंको उनकी पर्यायोंसहित प्रकाश करता हुआ अतिशय सुशोभित होता था ॥ १५४ ॥ उसके अवधिज्ञानका जितना क्षेत्र था उसके समान विक्रिया करनेकी भी उसकी सामर्थ्य थी परंतु वह सबसे विरक्त था इसलिये बिना प्रयोजन कभी विक्रिया नहीं करता था ॥ १५५ ॥ उसका मुख गुलाबी कमलके समान था, नेत्र नीलकमलके समान थे, कपोल चंद्रमाके समान थे और अधर-विंबाफलकी शोभाको धारण करते थे ॥ १५६ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये वर्णनसे भी अत्यंत सुंदर और अतिशय देदीप्यमान उसका शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों सुंदरताका सब सार ही एक जगह इकट्ठा करके रक्खा हो १५७ उसका शरीर ऐसा देदीप्यमान था जैसा

मिवापन्नमभूत्तस्मिन्सु त्तमे ॥ ५९ ॥ तेप्यष्टौ भ्रातरस्तस्य धनदेवोप्यमल्पधीः ॥ जातास्तत्सदृशा एव देवाःपुण्यानुभावतः ॥ ६० ॥ इति तत्राहमिंद्रास्ते मुखं मोक्षसुखोपमं । भुंजाना निष्प्रवीचाराश्चिरमासन्प्रमोदिनः ॥ ६१ ॥ पूर्वोक्तसप्रवीचारसुखानंतगुणात्मकं । सुखमव्याहतं तेषां शुभकर्मोदयोद्भवं ॥६२॥ संसारे स्त्रीसमासंगादंगिनां सुखसंगमः । तदभावे कुतस्तेषां सुखमित्यत्र चर्च्यते ॥ ६३ ॥ निर्द्वंद्ववृत्तितामाप्ताः शमुशंतीह देहिनां । तत्कुतस्त्यं सरागाणां

कि आहारक ऋद्धिसे उत्पन्न हुआ और मुनियोंके मस्तकसे निकला हुआ आहारक शरीर देदीप्यमान होता है। अंतर केवल इतना ही था कि आहारक शरीर बिना अलंकारोंके प्रकाशमान रहता है और उसका शरीर अनेक अलंकारोसे प्रकाशमान था ॥ १५८ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवने जो निरतिशय सुख एकांत और शांतरूप निरूपण किया है वह सब इकट्ठा होकर ही मानों उस अहमिंद्रको आ प्राप्त हुआथा ॥ १५९ ॥ वज्रनाभिके जो आठ भाई थे और अत्यंत बुद्धिमान धनदेव-नामका गृहपति रत्न था वे सब अपने २ पुण्यकर्मके उदयसे उसी सर्वार्थसिद्धि विमानमें आकर उसी वज्रनाभिके जीव अहमिंद्रके समान ऋद्धि विभूति आदिको धारण करनेवाले अहमिंद्र उत्पन्न हुये ॥ १६० ॥ इसप्रकार कभी किसी प्रकारका भी मैथुन न करनेवाले और सदा प्रसन्न रहनेवाले वे सब अहमिंद्र चिरकालतक मोक्षके समान सुखोंका अनुभव करते थे ॥ १६१ ॥ यद्यपि अहमिंद्रोंके प्रवीचार (मैथुन) नहीं है तथापि उनके शुभ कर्मोंके उदयसे जो निर्बाध सुख उन्हें प्राप्त होता है वह पहिले कहे हुये प्रवीचारसुखसे अनंतगुना होता है ॥ १६२ ॥ कदाचित् यहां कोई यह शंका करे कि संसारमें जीवोंको स्त्री संसर्गसेही सुखकी प्राप्ति होती है अहमिंद्रोंके स्त्रीसंसर्ग है नहीं इसलिये उन्हें सुखकी प्राप्ति किसप्रकार हो सकती है तो इसका विचार वा समाधान इसप्रकार किया जाता है कि ॥१६३॥ इस संसारमें सर्वज्ञदेवने निर्द्वंद अर्थात् निराकुलरूप परिणामोंका धारण करना ही जीवोंका सुख निरूपण किया है। वह निराकुल परिणाम चित्तमें सदा आकुलता धारण करनेवाले सरागी जीवोंके हो नहीं सकता इस-

द्वंद्वोपहतचेतसां ॥६४॥ स्त्रीभोगो न सुखं चेतःसंमोहाद्गात्रसादनात् । तृष्णानुबंधात्संतापरूपत्वाच्च यथा ज्वरः ॥ ६५ ॥ मदनज्वरसंतप्तस्तत्प्रतीकारवांछया । स्त्रीरूपं सेवतेत्यार्त्तो यथा कट्वपि भेषजं ॥ ६६ ॥ मनोज्ञविषयासेवा तृष्णायै न वितृप्तये । तृष्णार्चिषा च संतप्तः कथं नाम सुखी जनः ॥ ६७ ॥ रजो यन्नोपघाताय तदौषधमनौषधं । यन्नोदन्याविनाशाय नांजसा तज्जलं जलं ॥ ६८ ॥ न विहंत्यापदं यच्च नार्थतस्तद्धनं धनं ॥ तथा तृष्णाछिदे यन्न

लिये प्रवीचार करनेवाले सरागी जीवोंके सुखकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती ॥ १६४ ॥ दूसरी बात-यह है कि स्त्री भोग सुख नहीं है क्योंकि स्त्रीसंभोग करनेसे चित्त मोहित हो जाता है शरीर शिथिल हो जाता है तृष्णा वढती है और संताप होता है। जिससे चित्त मोहित हो शरीर शिथिल हो तृष्णा वढै और संताप हो वह कभी सुखरूप नहीं हो सकता जैसे ज्वर। भावार्थ—जिसप्रकार ज्वरसे चित्त मोहित होता है शरीर शिथिल हो जाता है तृष्णा वढती है और संताप होता है उसीप्रकार स्त्रीसंभोगसे भी होता है इसलिये जिसप्रकार ज्वर सुखरूप नहीं है उसीप्रकार स्त्रीसंभोग भी कभी सुखरूप नहीं हो सकता ॥ १६५ ॥ जिसप्रकार कोई रोगी पुरुष कडवी औषधिका भी सेवन करता है उसीप्रकार कामज्वरसे संतप्त हुआ यह प्राणी उसके दूर करनेकेलिये स्त्रीका सेवन करता है। १६६। परंतु चित्तको प्रसन्न करनेवाले मनोज्ञ विषयोंके सेवन करनेसे कुछ तृप्ति नहीं होती किंतु उल्टी तृष्णा वढती है और तृष्णारूपी अग्निसे जो पुरुष संतप्त हो रहा है वह सुखी कैसे हो सकता है। १६७। जिसप्रकार जो जल प्यास दूर नहीं करसके वह जल नहीं कहला सकता उसीप्रकार जो औषधि रोग दूर न करसके वह औषधि नहीं कहला सकती है। १६८। तथा जिस धनसे आपत्तियां दूर न हो सकें वह वास्तविक धन नहीं कहला सकता उसीप्रकार जिस सुखसे तृष्णा दूर न हो सके वह विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख कभी वास्तविक सुख नहीं कहला सकता। १६९। जब यह स्त्रीसंभोगसे उत्पन्न हुआ सुख केवल कामज्वरके दूर करनेका उपायमात्र ही है तब फिर यह जीव उसे दूर करनेकेलिये

न तद्विषयजं सुखं ॥ ६९ ॥ रुजामेव प्रतीकारो यत्स्त्रीसंभोगजं सुखं ॥ निर्व्याधिः स्वास्थ्यमापन्नः कुरुते किं नु भेषजं ॥ ७० ॥ परं स्वास्थ्यं सुखं नैतद्विषयेष्वनुरागिणां । ते हि पूर्वं तदात्वे च पर्यंते च विदाहिनः ॥ ७१ ॥ मनोनिर्वृत्तिमेवेह सुखं वांछंति कोविदाः ॥ तत्कुतो विषयांधानां नित्यमायस्तचेतसां ॥ ७२ ॥ विषयानुभवे सौख्यं यत्पराधीनमंगिनां ॥ साबाधं सांतरं बंधकारणं दुःखमेव तत् ॥ ७३ ॥ आपातमात्ररसिका विषया विषदारुणाः ॥ तदुद्भवं सुखं नृणां कंडुकंडूयनोपमं ॥ ७४ ॥ दग्धव्रणे यथा सांद्रचंदनद्रवचर्चनं । किंचिदाश्वासजननं तथा विषयजं सुखं ॥ ७५ ॥

ऐसी औषधि क्यों नहीं करता जिससे फिर कभी उसे यह रोग ही न हो और वह सदा नीरोग बना रहे। १७०। विषयोंमें अनुराग करनेवाले जीवोंको उन विषयोंसे जो सुख प्राप्त होता है वह कुछ भी शांति देनेवाला नहीं है। क्योंकि विषय सेवन करनेसे पहले, सेवन करते समय और अंतमें केवल संताप ही देते हैं सुख नहीं।१७१। विद्वान् लोग उसी सुखको चाहते हैं जिसमें मनके संकल्प विकल्प न हों अर्थात् मन सदा तृप्त बना रहे। जिनके चित्त विषयोंके अनेक संकल्प विकल्पोंसे सदा खिन्न रहते हैं ऐसे विषयांध जीवोंको वह तृप्तिरूप सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? ॥ १७२ विषयोंके अनुभव करनेसे जीवोंको जिससुखकी प्राप्ति होती है वह पराधीन है उसमें अनेक बाधायें हैं वह निरंतर नहीं रहता और बंधका कारण है इसलिये वह सुख नहीं कहा जा सकता उसे केवल दुःख ही कहना चाहिये ॥ १७३ ॥ ये विषय विषके समान अतिशय भयंकर हैं सेवन करते समय तो अच्छे लगते हैं परंतु फल देते समय बडा ही दारुण दुःख देते हैं। इन विषयोंसे उत्पन्न हुआ मनुष्योंका सुख भी ठीक दादकी खुजलीके समान है जिसप्रकार दादकी खुजली खुजाते समय तो बहुत अच्छी लगती है परंतु उस खुजानेका फल बहुत बुरा और दुखदायी होता है उसीप्रकार इन विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख भी सेवन करतेसमय अच्छा जानपडता है परंतु उसका परिणाम बहुत बुरा होता है ॥ १७४ ॥ जिसप्रकार जले हुये फोडेपर घिसे हुये चंदनका लेप करनेसे कुछ देरकेलिये थोडा आरामसा जान पडता

॥ दुष्ट्रणे यथा क्षारशस्त्रपातादुपक्रमः ॥ प्रतीकारो रुजां जंतोस्तथा विषयसेवनं ॥ ७६ ॥ प्रियांगनांगसंसर्गाद्यदीह सुखमंगिनां । ननु पक्षिमृगादीनां तिरश्चामस्तु तत्सुखं ॥ ७७ ॥ शुनीमिद्रमदे पूतिव्रणीभूतकुयोनिकां । अवशं सेवमानः श्वा सुखी चेत्स्त्रीजुषां सुखं ॥ ७८ ॥ निंबद्रुमे यथोत्पन्नः कीटकस्तद्रसोपभुक् । मधुरं तद्रसं वेत्ति तथा विषयिणोऽप्यमी ॥ ७९ ॥ संभोगजनितं खेदं श्लाघमानाः सुखास्थया । तत्रैव रतिमायांति भवावस्करकीटकाः

है परंतु उससे वास्तविकमें आराम नहीं होता उसी प्रकार विषयसेवन करनेसे भी थोडी देरकेलिये ही सुखसा जान पडता है ॥ १७५ ॥ जिसप्रकार पीवसे भरे हुये फोडेको क्षारयुक्त शस्त्रसे चीरनेसे उसका घाव और अधिक हो जाता है उसीप्रकार विषयसेवन करनेसे प्राणियोंका तृष्णारूपी रोग कुछ घटता नहीं है किंतु और अधिक बढता है ॥ १७६ यदि इस संसारमें प्रिय स्त्रियोंके कुच आदि अंगोंके आलिंगन करनेसे ही प्राणियोंको सुख मिलता हो तो वह सुख पक्षी हरिण आदि तिर्यंचोंको भी मानना चाहिये । भावार्थ—यदि स्त्रियोंके आलिंगन करनेसे ही सुख माना जाय तो पशु पक्षियोंको बहुत सुखी कहना चाहिये अथवा ऐसे सुखको सुख माननेवाले मनुष्यको भी पशुओंके समान ही मानना चाहिये ॥ १७७ ॥ यदि स्त्री सेवन करनेवाले ही सुखी माने जायं तो कार्तिक महीनेमें जिसकी योनि अतिशय दुर्गंधयुक्त फोडोंसे बह रही है ऐसी कुत्तीको स्वतंत्रतासे सेवन करते हुये कुत्तेको भी सुखी मानना चाहिये । भावार्थ— जिसप्रकार कुत्तीके संयोगसे कुत्तेको दुःख हुआ करता है उसीप्रकार स्त्रीसंयोगसे भी दुःख ही होता है सुख नहीं ॥ १७८ ॥ जिसप्रकार नीमके वृक्षमें उत्पन्न हुआ कीडा उसी नीमके कडवे रसको पीता है और उसे मीठा मानता है उसीप्रकार संसाररूपी विष्ठामें उत्पन्न हुये ये विषय सेवन करनेवाले मनुष्यरूप कीडे संभोगसे उत्पन्न हुये खेदको ही सुख मानकर उसकी प्रशंसा करते हैं और बारबार उसीमें तल्लीन रहते हैं ॥ १७९-१८० ॥ विषयोंका अनुभव करनेसे प्राणियोंको केवल प्रेम उत्पन्न होता है और वही सुख

॥ ८० ॥ विषयानुभवात्पुंसो रतिमात्रं प्रजायते ॥ रतिश्चेत्सुखमायातं नन्वेनोऽध्यादनेऽपि तत् ॥ ८१ ॥ यथाऽमी रतिमाधाय विषयाननुभुंजते । तथा श्वसूकरा तद्वद्वैवात्यमेध्यकं ॥ ८२ ॥ गूथकृमिर्यथा गूथरससेवा परं सुखं । तथैव विषयानीप्सोः सुखं जंतोर्निगद्यते ॥ ८३ ॥ विषयाननुभुंजानः स्त्रीप्रधानान् सवेपथुः । श्वसन्प्रास्विन्नसर्वांगः सुखी चेदसुखीह कः ॥ ८४ ॥ आयासमात्रमत्राज्ञः सुखमित्यभिमन्यते । विषयाशाविमूढात्मा श्वेवास्थि दशनैर्दशन् ॥ ८५ ॥ ततः स्वाभाविकं कर्मक्षयात्तत्प्रशमादपि । यदाह्लादनमेतत्स्यात्सुखं नान्यच्यपाश्रयं ॥ ८६ ॥ परिवारर्द्धिसामग्र्या सुखं स्यात्कल्पवासिनां । तदभावेऽहमिंद्राणां कुतस्त्यमिति चेत्तु न

माना जाता है परंतु यदि केवल प्रेममात्र ही सुख माना जाय तो यह भी मानना पडेगा कि विष्ठा खानेमें भी सुख होता है। क्योंकि जैसे कामी पुरुष प्रेममें तल्लीन होकर विषयोंका सेवन करते हैं उसीप्रकार कुत्ता शूकर आदि प्राणी भी बडे प्रेमसे विष्ठाभोजन करते हैं ॥ १८१--१८२ ॥ अथवा जिसप्रकार विष्ठाका कीडा विष्ठाका रस पीनेमें परम सुख मानता है उसीप्रकार विषयसेवनकी इच्छा करनेवाला यह जंतु भी निंद्य विषयसेवन करनेको ही सुख मानता है ॥१८३॥ स्त्रीसंबंधी विषय सेवन करनेसे सब शरीर कंपने लगता है श्वास वढ जाता है और सब शरीर पसीनेसे डूब जाता है यदि संसारमें ऐसा प्राणी ही सुखी माना जाय तो फिर दुःखी किसे कहेंगे? ॥ १८४ ॥ जिसप्रकार कोईएक कुत्ता दांतोंसे हाड चवाता हुआ अपनेको सुखी मानता है उसीप्रकार विषयोंकी आशासे मोहित हुआ यह मूर्ख पुरुष भी विषयसेवन करनेसे उत्पन्न हुये परिश्रममात्रको ही सुख मानता है ॥ १८५ ॥ इसलिये पुण्यपाप-रूप कर्मोंके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे अपने आप जो आल्हाद उत्पन्न होता है वही सुख है किसी अन्य वस्तुके आश्रयसे कभी सुख उत्पन्न नहीं हो सकता है ॥ १८६ ॥ इसप्रकार यह निर्बाध सिद्ध होगया कि स्त्रीसेवनसे कभी सुख नहीं मिल सकता और स्त्रियोंके न होनेसे ही अहमिंद्र परम सुखी रहते हैं। अब कदाचित् कोई यह शंका करे कि सोलहवें स्वर्गपर्यंत कल्पवासी देव परिवार ऋद्धि आदि सामिग्रीसे बहुत सुखी रहते हैं अहमिंद्रोंके परिवार आदि सामग्री है नहीं, इस-

॥ ८७ ॥ परिवारर्द्धिसत्त्वैव किं सुखं किमु तद्धनां । तत्सेवा सुखमित्येवमत्र स्यात् द्विनयी गतिः ॥ ८८ ॥ सांतःपुरो धनर्द्धिद्धपरिवारो ज्वरी नृपः सुखी स्याद्यदि सन्मात्राद्विषयात्सुखमीप्सितं ॥ ८९ ॥ तत्सेवासुखमित्यत्र दत्तमेवोत्तरं पुरा । तत्सेवी तीव्रमायस्तः कथं वा सुखभाग्भवेत् ॥ ९० ॥ पश्यैते विषयाः स्वप्नभोगाभा विप्रलंभकाः । अस्थायुकाः कुतस्तेभ्यः सुखमार्त्तधियां नृणां ॥ ९१ ॥ विषयार्जनमेवेह तावत् दुःखं महद्व्रजेत् ॥ तद्रक्षाचिंतने भूयो भवेदत्यंतमार्त्तधीः ॥ ९२ ॥ तद्वियोगे पुनर्दुःखमपारं परिवर्त्तते । पूर्वानुभूतविषयान् स्मृत्वा स्मृत्वावसीदतः ॥ ९३ ॥ अनाशितभवानेतान्विषयांन्विगपायिनः ।

लिये उन्हें सुख भी नहीं मिलता होगा? तो इसका समाधान यह है कि ॥ १८७ ॥ जो लोग परिवार ऋद्धि आदिसे सुख मानते हैं वे परिवार ऋद्धि आदिकी सत्तामात्रसे ही सुख मानते हैं या उनकी सेवा करनेसे सुख मानते हैं इसप्रकार परिवार दिसे सुख माननेवालोंकेलिये दो प्रश्न उपस्थित होते हैं ॥ १८८ ॥ कदाचित् परिवार आदिकी सत्तामात्रसे ही सुख माना जाय तो जिस राजाको ज्वर चढ रहा है और अनेक रानियां धन ऋद्धि परिवार आदि सब सामिग्री उसके समीप ही उपस्थित हैं उसे भी बहुत सुखी मानना चाहिये ॥ १८९ ॥ कदाचित् परिवारकी सेवा करनेसे ही सुख माना जाय तो इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि परिवारकी सेवा करनेवालेको तीव्र परिश्रम होता है और परिश्रम करनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता है ॥ १९० ॥ देखो ये विषय स्वप्नमें प्राप्त हुये विषय भोगोंके समान अस्थिर और ठगनेवाले हैं। इन विषयोंके सेवन करनेसे आर्तध्यान होता है और आर्तध्यान करनेवाले मनुष्योंको कभी सुख नहीं हो सकता ॥ १९१ ॥ प्रथम तो इन विषयोंके संग्रह करनेमें बडा भारी दुःख होता है यदि किसीप्रकार इनका संग्रह भी हो जाय तो फिर इनकी रक्षा करनेकी चिंता करनेमें बडा भारी दुःख होता है ॥ १९२ ॥ रक्षा करते हुये भी ये विषय नष्ट हो ही जाते हैं और नष्ट होनेसे फिर उनके वियोगसे अपार दुःख होता है क्योंकि पहले भोगे हुये विषयोंको बार बार स्मरण करता हुआ वह प्राणी बहुत ही दुःखी होता है ॥ १९३ ॥

देषामासेवनं जंतोर्न संतापोपशांतये ॥ ९४ ॥ वह्निरिंधनैः सिंधोः स्रोतोभिरिव सारितैः । न जातु प्रिय जैनैरुरभुक्तैर्वितृष्णता ॥ ९५ ॥ क्षारमंबु यथा पीत्वा तृष्यत्यतितरां नरः । तथा विषयसंभोगैः परं संतर्षमृच्छति ॥ ९६ ॥ अहो विषयिणां व्यापद्वैद्रियवशात्मनां ॥ विषयामिषगृध्नूनामचिंत्यं दुःखमीयुषां ॥ ९७ वने वनगजास्तुंगा यूथपाः प्रोन्नादिग्गवः ॥ अवपातेषु सीदंति करिणीस्पर्शमोहिताः ॥ ९८ ॥ सरस्सरसि संफुल्लकह्लारस्वादुवारिणि । मत्स्यो बडिशमांसार्थी जीवनाशं प्रणश्यति ॥ ९९ ॥ मधुव्रतो मदामोदम जिघ्रन्मददंतिनां ॥ मृत्युमाह्वयते गुंजन् कर्णतालाभिताडनैः ॥ २०० ॥

इन विषयोंसे जन्म मरणरूप संसार कभी नष्ट नहीं होता किंतु प्रतिदिन उल्टा बढता है इसके सिवाय इन विषयोंसे अनेक प्रकारके नाश होते हैं इसलिये इन्हें बार बार धिक्कार हो । इनके सेवन करनेसे प्राणियों के संताप कभी शांत नहीं होते हैं ॥ १९४ ॥ जिसप्रकार ईंधनसे अग्निकी तृष्णा नहीं घटती, नदियोंके प्रवाहसे समुद्रकी तृष्णा नहीं घटती उसीप्रकार विषयोंके सेवन करनेसे भी कभी प्राणियोंकी तृष्णा दूर नहीं होती है ॥ १९५ ॥ जिसप्रकार खारे जलके पीनेसे और अधिक तृष्णा बढती है उसीप्रकार विषय सेवन करनेसे भी मनुष्योंकी विषयाभिलाषा और अधिक बढती है ॥ १९६ ॥ देखो विषयरूपी मांस-भक्षणकी आकांक्षा करनेवाले और इसलिये ही अचिंत्य दुःख पानेवाले ऐसे पंचेंद्रियोंके वशीभूत हुये विषयाभिलाषी जीवोंका दुःख बडा ही भयंकर है ॥ १९७ ॥ वनोंमें बडे २ ऊंचे हाथी जो सब हाथियोंके अधिपति होते हैं और बडे मदोन्मत्त होते हैं वे भी मायामयी हथिनीके स्पर्श करनेकी इच्छासे मोहित होकर गड्ढेमें पडजाते हैं और वहां अनेक प्रकारके दुःख पाते हैं ॥ १९८ ॥ केवल जिव्हेंद्रियके विषयोंका लोलुपी और खिले हुये कमलोंसे अत्यंत स्वादिष्ट जलवाले सरोवरमें इच्छानुसार इधर उधर फिरता हुआ मत्स्य धीवरकी वंशीमें लगे हुये मांसकी अभिलाषासे ही उस वंशीमें आकर फंस जाता है और अपने प्राण खो बैठता है ॥ १९९ ॥ इसीप्रकार सुगंधिका लालची भ्रमर मदोन्मत्त हाथियोंके मदका रस ग्रहण करता हुआ उन हाथियोंके कानोंके समीप जाकर गुंजार करता है और हाथियोंके

रागः पवनालोडदीपार्चिषि पतन्मुहुः ॥ मृत्युमिच्छन्ननिच्छोऽपि मषिनादभूत्विग्रहः ॥ १ ॥ यथेष्टगतिका पुरा मृदुस्वादुतृणांकुरैः । गीतासंगान्मृतिं यांति मृगा मृगयवेषिताः ॥ २ ॥ इत्येकशोऽपि विषयो बहूपायो निषेवितः ॥ किं पुनर्विषयाः पुंसां सामस्त्येन निषेविताः ॥ ३ ॥ ह्रदोऽयं विषयैर्जंतुः स्रोतोभिः सरितामिव । श्वभ्रे पतित्वा गंभीरे दुःखावर्तेषु सीदति ॥ ४ ॥ विषयैर्विप्रलब्धोऽयमर्थैरतिधनायति । धनायाऽऽसितो जंतुः क्लेशानाप्नोति दुःसहान् ॥ ५ ॥ क्लिष्टो मुहुरार्तःस्यादिष्टालाभे शुचं गतः ॥ तल्लाभेऽप्यसंतुष्टो दुःखमेवानुधावति ॥ ६ ॥ ततस्तद्गतदुर्वासनात्मा जडाशयः ॥

कर्णरूपी ताडके वीजनोंसे ताडित हुआ मृत्युको प्राप्त होता है॥ २०० ॥ तथा पतंग नेत्रेंद्रियके वशीभूत होकर वायुसे हिलती हुई दीपककी शिखापर बार बार पडता है जिससे उसका शरीर काजलके समान काला हो जाता है और वह मृत्युकी इच्छा नहीं करता हुआ भी मर ही जाता है ॥ २०१ ॥ और जो हिरिणयां कोमल और स्वादिष्ट घास चरकर पुष्ट रहती हैं और अपनी इच्छानुसार इधर उधर क्रीडा करती हैं वे कर्णेंद्रियके वशीभूत होकर केवल व्याधके गीत सुनकर ही मृत्युको प्राप्त हो जाती हैं ॥ २०२ ॥ इसप्रकार जब एक एक इंद्रियके एक एक विषयके सेवन करनेसे अनेकप्रकारके दुःख होते हैं तो फिर जो पांचों इंद्रियोंको एकसाथ सेवन करते हैं उनके दुःखोंका क्या ठिकाना है ! ॥ २०३ ॥ जिसप्रकार नदियोंके प्रवाहसे खींचा हुआ जल किसी गहरे गड्ढेमें पडकर उसके भंवरोंमें फिरा करता है उसीप्रकार इंद्रियोंके विषयोंसे खिंचा हुआ यह प्राणी नरकरूपी गहरे गढेमें पडकर दुःखरूपी अनेक आवर्तोंमें परिभ्रमण किया करता है॥२०४ विषयोंसे ठगा हुआ यह मूर्ख प्राणी प्रथम ही बहुतसे धनकी इच्छा करता है और उस धनकेलिये अतिशय दुखी होकर अनेक बडे २ दुस्सह क्लेशोंको सहन करता है। जब यह क्लेश सहन करता है तब इसे बारबार आर्तध्यान भी होता है, यदि कदाचित् उसकार्यमें इष्टपदार्थकी प्राप्ति न हुई तो फिर शोक करता है यदि उसमें इष्ट पदार्थकी प्राप्ति होगई तो उतनेसे संतुष्ट नहीं होता और असंतुष्ट होकर फिर उसी

कर्म बध्नाति दुर्मोक्षं येनामुत्रावसीदति ॥ ७ ॥ कर्मणानेन दौस्थित्यं दुर्गतावनुसंश्रितः । दुःखासिकामवाप्नोति महतीमतिगर्हितां ॥ ८ ॥ विषयानीहते दुःखी तत्प्रसादातिगृद्धिमान् ॥ ततोतिदुरनुष्ठानैः कर्म बध्नात्यशर्मदं ॥ ९ ॥ इति भूयोपि तेनैव चक्रेण परिभ्रमन् । संसारापारदुर्वार्द्धौ पतत्यत्यंतदुस्तरे ॥ १० ॥ तस्माद्विषयजामेनां मत्वानर्थपरंपरां । विषयेषु रतिस्त्याज्या तीव्रदुःखानुबंधिषु ॥ ११ ॥ कारीषाग्नीष्टकापाकतार्णाग्निसदृशा मताः । त्रयोमी

दुःखकेलिये दौडता है ॥ २०५–२०६ ॥ इसप्रकार जडबुद्धि यह जीव इष्ट पदार्थोंमें राग करने और अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष करनेसे अपने आत्माको कलंकित करता है तथा बडे २ तीव्र अशुभकर्मों का बंध करता रहता है और फिर उन कर्मोंके उदय होनेपर परलोकमें अनेक प्रकारके दुःख भोगता है ॥ २०७ ॥ उन्हीं अशुभ कर्मोंके उदयसे नरकादि दुर्गतियोंमें पडकर बहुत बुरी अवस्था-को प्राप्त होता है और वहां बहुत दिनोंतक इसे अतिशय निंद्य और बडे २ अनेक दुःख भोगने पडते हैं ॥ २०८ ॥ इसप्रकार दुःखी होता हुआ भी यह जीव विषयोंकी इच्छा करता है तथा उसे पूरी करनेकेलिये बडे २ दुष्कर्म करता है और उनसे फिर दुःख देनेवाले तीव्र अशुभकर्मोंका बंध करता है २०९ इसप्रकार दुःखी होकर विषयोंकी स्पृहा करना और उसके लिये दुष्कर्म और अशुभकर्मोंका बंध करना तथा फिर उनके उदयसे दुःख भोगना इसप्रकारके चक्रमें पडकर वार वार परिभ्रमण करता हुआ यह जीव अत्यंत दुस्तर (जिससे पार होना नितांत कठिन है) और अपार ऐसे संसाररूपी कुसमुद्रमें पडता है ॥२१०॥ इसलिये मानना चाहिये कि संसारमें जितने अनर्थ हैं वे सब विषयोंसे ही उत्पन्न होते हैं और ऐसा निश्चयकर तीव्र दुःख देनेवाले इन विषयोंकी इच्छा करनेका त्याग कर देना चाहिये ॥ २११ ॥ स्त्रीवेदका संताप सूके गोवरकी अग्निके समान है नपुंसकवेदका संताप भीतर ही भीतर सुलगनेवाली ईंटोंके पजावाकी अग्निके समान है और पुरुषवेदका संताप तृणोंकी अग्निके समान है। जब ये तीनों ही वेद संतापकारक हैं तब फिर इनको धारण करनेवाले

वेदसंतापारस्तद्वजंतुःकथं सुखी ॥ १२ ॥ ततोधिकमिदं दिव्यं सुखमप्रविचारकं । देवानामहमिंद्राणामिति निश्चिनु मागध ॥ १३ ॥ सुखमेतेन सिद्धानामत्युक्तं विषयातिगं । अप्रमेयमनंतं च यदात्मोत्थमनीदृशं ॥ १४ ॥ यद्दिव्यं यच्च मानुष्यं सुखं त्रैकालगोचरं ॥ तत्सर्वं पिंडितं नार्घेः सिद्धक्षणसुखस्य च ॥ १५ ॥ सिद्धानां सुखमात्मोत्थमव्याबाधमकर्मजं । परमाह्लादरूपं तदनौपम्यमनुत्तरं ॥ १६ ॥ सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्ताः शीतीभूता निरुत्सुकाः । सिद्धाश्चेत्सुखिनः सिद्धमहमिंद्रास्पदे सुखं ॥ १७ ॥ निरतिशयमुदारं निष्प्रवीचारमाविष्कृतसुकृतफलानां कल्पलोकोत्तराणां । सुखममरवराणां

जीव भला सुखी कैसे हो सकते हैं ॥ २१२ ॥ इसलिये हे श्रेणिक ! तू निश्चयकर कि अहमिंद्र देवोंके प्रवीचार रहित जो दिव्य सुख है वह विषयोंके अनुभव करनेरूप सुखसे अनंत गुना है ॥ २१३ ॥ इसप्रकार जो विषयरहित अहमिंद्रोंका सुख वर्णन किया है उससे विषयरहित, प्रमाणरहित, अंतरहित, उपमारहित और केवल आत्मासे उत्पन्न ऐसा सिद्धोंका सुख बहुत ही अधिक समझना चाहिये ॥ २१४ ॥ जो स्वर्गलोक और मनुष्यलोक संबंधी भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंका इकट्ठा किया हुआ सुख है वह भी सिद्धोंके एक क्षणमात्रके सुखके समान नहीं हो सकता है ॥ २१५ ॥ सिद्धोंका सुख केवल आत्मासे उत्पन्न होता है उसमें कभी किसीतरहकी बाधा नहीं, वह कर्मसे भी उत्पन्न नहीं होता और परम आनंदरूप होता है इसलिये वह उपमारहित है और सबसे उत्कृष्ट है ॥२१६॥ श्रीसिद्धभगवान् समस्त परिग्रह रहित हैं संपूर्ण उत्कंठा रहित हैं और परम शांत हैं यदि वे परम सुखी कहलाते हैं तो अल्पपरिग्रही शांत और अभिलाषारहित ऐसे अहमिंद्रोंके भी अवश्य सुख मानना चाहिये ॥ २१७ ॥ जिनके पुण्यका फल साक्षात् प्रगट हुआ है ऐसे कल्पातीत अहमिंद्र देवोंके जो सुख होता है वह ऐसा जान पडता है मानों मोक्षका सुख ही सामने आया हो । क्योंकि जिसप्रकार मोक्षका सुख अतिशयरहित उदार और प्रवीचाररहित है उसीप्रकार अहमिंद्रोंका सुख भी अतिशयरहित उदार और प्रवीचाररहित है जिसप्रकार सिद्धोंका सुख किसी अन्य

दिव्यमव्याजरम्यं दिवसुखमिव तेषां संमुखायातमासीत् ॥ १८ ॥ सुखमसुखमिदीदं संसृतौ देहभाजां द्विविधमुदितमेतैः कर्मबंधानुरूपं । सुकृतदुरितभेदात्तच्च कर्म द्विधोक्तं मधुरकटुकपाकं भुक्तमेकं यथान्नं ॥ १९ ॥ सुकृतफलमुदारं विद्धि सर्वार्थसिद्धौ दुरितफलमुदग्रं सप्तमीनारकाणां । शमदमयमयोगैरग्रिमं पुण्यभाजामशमदमयमानां कर्मणा दुष्कृतेन ॥२०॥ कृतमतिरिति धीमान् शंकरीं श्रीजिनाज्ञां शमदमयमशुद्ध्यै भावयेदस्ततंद्रः । सुखमतुलमभीप्सुर्दुःखभारं जिहासु निकटतरजिनश्रीर्वज्रनाभिर्यथायं ॥ २१ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवद्वज्रनाभिसर्वार्थसिद्धिगमनवर्णनं नाम एकादशं पर्व ॥ ११ ॥

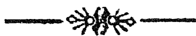
वस्तुके संबंधसे उत्पन्न नहीं होता उसीप्रकार अहमिंद्रोंका सुख भी अन्य किसीवस्तुके निमित्तसे नहीं होता है। सिद्धोंका सुख दिव्य अर्थात् उपमा रहित है और अहमिंद्रोंका सुख भी दिव्य करणातीत स्वर्गमें उत्पन्न होनेसे हुआ है ॥ २१८ ॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक संसारमें प्राणियोंके जो सुख और दुख होते हैं वे दोनों ही पूर्वोपार्जित कर्मोंके अनुसार ही होते हैं ऐसा श्रीजिनेंद्रदेवने कहा है। जिसप्रकार एकही अन्नके खानेसे मीठा और कडवा दोनोंतरहका विपाक होता है उसीप्रकार उसकर्मके भी दो भेद हैं एक पुण्यरूप और दूसरा पापरूप। पुण्यरूप कर्मका फल मधुर अर्थात् सुखरूप होता है और पापरूप कर्मका फल कडवा अर्थात् दुःखरूप होता है ॥ २१९ ॥ पुण्यरूप कर्मोंका उत्कृष्ट फल सर्वार्थसिद्धिमें प्राप्त होता है और पापरूप कर्मोंका उत्कृष्ट फल सातवें नरकमें मिलता है। परिणामोंको शांत रखने इंद्रियोंके दमन करने और निरतिचार व्रत पालन करनेसे पुण्यवान् जीवोंके पुण्यकर्मोंका बंध होता है और परिणामोंको शांत न रखने इंद्रियोंका निग्रह न करने तथा व्रतोंका पालन न करनेसे पापकर्मोंका बंध होता है ॥ २२० ॥ जिसप्रकार बहुत शीघ्र तीर्थंकर पदको प्राप्त करनेवाले वज्रनाभिने शम (शांतपरिणाम) दम (इंद्रियनिग्रह) और यम (जीवनपर्यंत व्रत पालन करना) को शुद्धरीतिसे पालन करनेके लिये

॥ अथ द्वादश पर्व. ॥

अथ तस्मिन्महाभागे स्वर्लोकाद्भुवमेष्यति । यद्वृत्तकं जगत्यस्मिंस्तद्वक्ष्ये श्रृणुताधुना ॥ १ ॥ अत्रांतरे पुराणार्थकोविदं वदतांवरं । पप्रच्छुर्मुनयो नम्रा गौतमं गणनायकं ॥ २ ॥ भगवन्भारते वर्षे भोगभूमिस्थितिच्युतौ । कर्मभूमिव्यवस्थायां प्रसृ... यथायथं ॥ ३ ॥ तदा कुलधरोत्पत्तिस्त्वया

श्रीजिनेंद्रदेवकी आज्ञाका पालन किया था उसीप्रकार अपार सुख चाहनेवाले, दुःखोंसे बचनेकी इच्छा करनेवाले, बुद्धिमान् विद्वान् पुरुषोंको शम दम यमको शुद्धरीतिसे पालन करनेकेलिये प्रमाद-रहित होकर सवतरहसे कल्याण करनेवाली श्रीजिनेंद्रदेवकी आज्ञाका चिंतवन और पालन करना चाहिये ॥ २२१ ॥

इसप्रकार श्रीभगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें भगवान वज्रनाभिके सर्वार्थसिद्धिके सुख वर्णन करनेवाला ग्यारहवां पर्व समाप्त हुआ.



अथ वारहवां पर्व.

अथानंतर—श्रीगौतमस्वामी कहने लगे कि जब सर्वार्थसिद्धिमें वज्रनाभिके जीव अहमिंद्रकी आयु थोडी रहगई और वह वहांसे चयकर मध्यलोकमें जन्म लेनेके सन्मुख हुआ उससमय इस संसारमें जो वृत्तांत हुआ था वही अब कहा जाता है तुमलोग सावधान होकर सुनो ॥ १ ॥ इसी वीचमें समवसरणकी सभामें विराजमान मुनियोंने नम्रीभूत होकर पुराणके पूर्ण अर्थको जाननेवाले और वक्ताओंमें अतिशय श्रेष्ठ ऐसे गौतम गणधरसे एक प्रश्न किया ॥ २ ॥ कि हे भगवन्! जब इस भरतक्षेत्रमें भोगभूमिकी स्थिति व्यतीत होगई थी और समयानुसार घटते घटते कर्मभूमिकी अवस्था प्रगट हुई थी उससमय यहां जो चौदह कुलकर हुये थे सो तो आप

प्रागेव वर्णिता । नाभिराजश्च तत्रांत्यो विश्वक्षत्रगणाग्रणीः ॥ ४ ॥ स एव धर्मसर्गस्य सूत्रधारं महाधियं । इक्ष्वाकुज्येष्ठमृषभं कथमे समजीजनत् ॥ ५ ॥ तस्य स्वर्गावतारादिकल्याणर्द्धिश्च कीदशी । इदमेतत्त्वया बोध्दुमिच्छामस्त्वदनुग्रहात् ॥ ६ ॥ तत्प्रश्नावसिताविस्थं व्याजहार गणाधिपः । स तान् विक्लमषान्कुर्वन् शुचिभिर्दशनांशुभिः ॥ ७ ॥ इह जंबूमति द्वीपे भरते खचराचलात् । दाक्षिणे मध्यमे खंडे कालसंधौ पुरोदिते ॥ ८ ॥ पूर्वोक्तकुलकृत्स्वंत्यो नाभिराजोऽग्रिमोऽप्यभूत् । व्यावर्णितायुरुत्सेधरूपसौंदर्यविभ्रमः ॥ ९ ॥ सनाभिर्मनिनां राज्ञां सनाभिः स्वगुणांशुभिः । भास्वानिव बभौ लोके भास्वन्मौलिमहाद्युतिः ॥ १० ॥ शशीव स कलाधारस्तेजस्वी भानुमानिव । प्रभुः शक्र इवाभीष्टफलदः कल्पशाखिवत् ॥ ११ ॥ तस्यासीन्मरुदेवीति देवी देवीव

वर्णन कर ही चुके हैं । उन चौदह कुलकरोंमें सबसे अंतमें संपूर्ण क्षत्रियोंमें मुख्य ऐसे महाराज नाभिराज हुये थे और उनके जो धर्मरूप सृष्टिको प्रवर्तन करनेवाले, बडे बुद्धिमान और इक्ष्वाकुवंशमें श्रेष्ट ऐसे श्रीऋषभदेव उत्पन्न हुये थे वे कहां उत्पन्न हुये थे, और स्वर्गावतार आदि उनके पांचों कल्याणोंका ऐश्वर्य कैसा था, हे भगवन्! आपके अनुग्रहसे हम लोग यह सब बात जानना चाहते हैं ॥ ३-४-५-६ ॥ इसप्रकार जब वे मुनिराज कहचुके तब श्रीगौतमस्वामी अपनी निर्मल दांतोंकी किरणोंसे उन मुनियोंके पापोंका प्रक्षालन करते हुये कहने लगे कि ॥ ७ ॥ भोगभूमिके अंतमें और कर्मभूमिके प्रारंभसे कुछ समय पहले इसी जंबूद्वीपके भरतक्षेत्रमें विजयार्द्ध पर्वतके दक्षिणदिशाकी ओर आर्यखंडमें पहले कहे हुये तेरह कुलकरोंके अंतमें चौदहवें मुख्य कुलकर महाराज नाभिराज हुये थे उनकी आयु, शरीरकी उंचाई, रूप, सुंदरता और विलास आदि सबकुछ पहले वर्णन कर चुके हैं ॥ ८-९ ॥ जिसका मुकुट अतिशय प्रकाशमान हो रहा है ऐसा महा तेजस्वी वह नाभिराज आगामीकालमें उत्पन्न होने वाले राजाओंका बंधु था और अपने गुणरूपी किरणोंसे संसारमें सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा था ॥ १० ॥ वह चंद्रमाके समान अनेक कलाओंका आधार था, सूर्यके समान तेजस्वी था, इंद्रके समान प्रभु था और कल्पवृक्षके समान अभीष्ट फल

सा शची । रूपलावण्यकांतिश्रीमतिद्युतिविभूतिभिः ॥ १२ ॥ सा कलेवेंदवी कांत्या जनतानंददायिनी । स्वर्गस्त्रीरूपसर्वस्वमुष्टिस्येव विनिर्मिता ॥१३॥ तन्वंगी पक्वबिंबोष्ठी सुभ्रूश्चारुपयोधरा । मनोभुवा जगज्जेतुं सा पताकेव दर्शिता ॥ १४ ॥ तद्रूपसौष्ठवं तस्या हावं भावं च विभ्रमं । भावयित्वा कृती कोपि नाट्यशास्त्रं व्यधाद्ध्रुवं ॥ १५ ॥ नूनं तस्याः कलालापे भावयन् स्वरमंडलं । प्रणीतगीतशास्त्रार्थो जनो जगति सम्मतः ॥ १६ ॥ रूपसर्वस्व

देनेवाला था ॥ ११ ॥ उसके मरुदेवी नामकी रानी थी जो कि रूप (सुंदरवर्ण) लावण्य, [अवयवोंकी मनोहरता] कांति (वस्त्र आभूषण और पुष्पादिकोंका चाकचिक्य) यथायोग्य अवयवोंकी सुंदरता, बुद्धि द्युति और विभूति आदि गुणोंसे इंद्राणी देवीके समान थी ॥ १२ ॥ वह चंद्रमाकी कलाके समान अपनी कांतिके द्वारा सब लोगोंको आनंदित करनेवाली थी और ऐसी जान पडती थी मानों स्वर्गकी संपूर्ण देवांगनाओंके रूपका सार इकट्ठा करके ही बनाई गई हो ॥ १३ ॥ उस मरुदेवीका शरीर बहुत ही कृश था उसके अधर पके हुये बिंबीफलके समान सुंदर थे उसकी भौंहें भी बहुत ही अच्छी थीं और उसके दोनों कुच भी बडे ही सुंदर थे। वास्तवमें वह ऐसी जान पडती थी मानों कामदेवने संसारको जीतनेकेलिये एक पताका ही दिखलाई हो ॥ १४ ॥ ऐसा जान पडता है मानों अवश्य ही किसी चतुर कारीगरने उसके रूपकी सुंदरता उसके हाव [मुखके विकार] भाव [हृदयके विकार] और विलास [नेत्रोंके विकार] इन सबको पूर्ण रीतिसे विचार करके ही संगीतशास्त्रकी रचना की है ॥ १५ ॥ अथवा जिसने संगीतशास्त्रकी रचना की है उसने अवश्य ही उस मरुदेवीकी मिष्ट वाणीमें ही संगीतके सब स्वरोंका विचार करलिया था और इसलिये ही वह संगीतशास्त्रकी रचना करनेवाला संसारमें प्रसिद्ध हुआ है ॥ १६ ॥ उस मरुदेवीने मानों किसी दुष्ट राजाकी अवस्था धारण की थी जैसे कोई दुष्ट राजा अन्य लोगोंका संपूर्ण धन हरणकर उन्हें दारिद्र बना देता है उसीप्रकार उस मरुदेवीने भी अन्य संपूर्ण स्त्रियोंका रूप हरण कर उन्हें

हरणं कृत्वान्यस्त्रीजनस्य सा । वैरूप्यं कुर्वती व्यक्तं किराह्वां श्रुतिमन्वियात् ॥ १७ ॥ सा दधेधिपदद्वंद्वं लक्षणानि विचक्षणा । प्रणिन्युर्लक्षणं स्त्रीणां यैरुदाहरणीकृतैः ॥ १८ ॥ मृद्वंगुलिदले तस्याः पादाब्जे श्रियमूहतुः । नखदीधितिसंतानलसत्केसरशोभिनी ॥ १९ ॥ जित्वा रक्ताब्जमेतस्याः क्रमौ संप्राप्तनिर्वृती । नखांशुमंजरी व्याजात् स्मितमातेनतुर्ध्रुवं ॥ २० ॥ नखैः कुरबकच्छायां क्रमौ जित्वाप्यनिर्वृतौ । विजिग्याते गतेन यस्या हंसीनां गतिविभ्रमं ॥ २१ ॥ मणिनूपुरझंकारमुखरौ सुभ्रुवः क्रमौ । पद्माविव रणद्भृंगसंगतौ रुचिमापतुः ॥ २२ ॥ निगूढगुल्फसंधित्व युक्तपार्ष्णिपरिग्रहात् । श्रितौ याना-

---

कुरूपा बनादिया था ॥ १७ ॥ अतिशय कुशल ऐसी उस मरुदेवीके दोनों चरणोंमें सामुद्रिकशास्त्रमें कहे हुये अनेक लक्षण थे उन लक्षणोंको उदाहरण मानकर ही मानों आचार्योंने अन्यस्त्रियोंके लक्षण निरूपण किये हैं ॥ १८ ॥ उसके दोनों ही चरण कमलके समान थे और उनमें साक्षात् लक्ष्मी [शोभा] निवास करती थी क्योंकि उन चरणोंकी कोमल अंगुलियां ही कमलकी पंखुरियोंके समान थीं और नखोंकी कांतिका समूह ही दैदीप्यमान केसरके समान सुशोभित था ॥ १९ ॥ अवश्य ही उसके चरण लालकमलोंको जीतकर बडे आनंदित हुये थे और नखोंकी किरणरूप मंजरियोंके बहानेसे वे कुछ कुछ हंस रहे थे ॥ २० ॥ यद्यपि उसके दोनों चरणोंने अपने नखोंकी कांतिके द्वारा कुरबक जातिके वृक्षोंकी (कुरंटोंकी) शोभा जीत ली थी तथापि वे संतुष्ट नहीं हुये थे और इसलिये ही उन्होंने अपनी मनोहर चालसे हंसनियोंकी चालके सुंदर विलासको भी जीतलिया था ॥ २१ ॥ सुंदर भौंहवाली उस मरुदेवीके पैरोंमें लगे हुये इंद्रनीलमणियोंके नूपुरोंसे [बिछुओंसे] रुणझुण शब्द करते हुये दोनों चरण ऐसे सुशोभित होते थे मानों जिनपर बैठे हुये भ्रमर गुंजार कर रहे हैं ऐसे दो कमल ही हों ॥ २२ ॥ उसके पैरोंकी बनावट ऐसी सुंदर थी कि उसमें गुल्फोंकी संधि तो दिखाई नहीं पडती थी परंतु एडी साफ दिखाई पडती थी । इसलिये जैसे कोई राजा संधि पार्ष्णिपरिग्रह [किसी युद्धके समय अपने नगरकी रक्षा करनेके लिये छोडी हुई अवशिष्ट सेना]

सनाभ्यां च तत्क्रमौ विजिगीषुनां ॥ २३ ॥ शोभा जंघाद्वये या स्यात्काप्यन्यत्र न साऽस्ततः ॥ अन्योन्योपमयैवास्तवर्णनं तत्र वर्ण्यते ॥ २४ ॥ जानुद्वयं समाश्लिष्टं यदस्याः कामनीयकं । तदेवालं जगज्जेतुं किं तरां चिंतयानया ॥ २५ ॥ ऊरुद्वयमुदागश्रि चारु हारि सुखावहं । स्पर्द्धयेव सुरस्त्रीभिरितिरम्य बभार सा ॥ २६ ॥ वामोरुरिति या रूढिस्तां स्वसात्कर्तुमन्यथा । वामवृत्ती कृतावूरू मन्येन्यस्त्रीजयेमुया ॥ २७ ॥ फलत्रस्थानमेतस्याः स्थानीकृत्य

यान आसन आदि गुणोंसे अन्य राजाओंके जीतनेकी इच्छा करता है उसी प्रकार छिपी हुई गुल्फोंकी संधि और पार्ष्णिपरिग्रह [एडी] से यान अर्थात् गमन करने और आसन अर्थात् बैठनेमें उसके दोनों पैर अन्य सब पैरोंके जीतनेकी इच्छा करनेके समान जान पडते थे ॥२३॥ उसके जंघाओंमें जो शोभा थी वह अन्यत्र कहीं नहीं थी उन दोनोंकी उपमा परस्पर ही दी जाती थी अर्थात् एक जंघा उसीकी दूसरी जंघाके समान सुंदर थी और इसलिये ही उन दोनोंका वर्णन अन्य किसीकी उपमा देकर नहीं किया जा सकता ॥ २४ ॥ "अतिशय सुंदर और परस्पर सटे हुये ऐसे उसके दोनों ही घुटने क्या अकेले ही संसारके जीतनेको समर्थ हैं" ऐसी चिंतासे भी कोई लाभ नहीं था क्योंकि अपनी सुंदरतासे वे स्वयं संसारको जीत ही रहे थे ॥ २५ ॥ उसके दोनों ऊरु [जंघाके ऊपरी भाग] बडे ही सुशोभित थे बडे ही सुंदर थे बडे ही मनोहर और बडे ही सुखदायी थे। ऐसा जान पडता था मानों देवांगनाओंसे स्पर्द्धा करके ही उसने ऐसे सुंदर ऊरु धारण किये हों ॥ २६ ॥ उसके दोनों ही सुंदर ऊरुओंको देखकर मुझे तो यह ही कल्पना होती है कि वामोरु (जिसके बहुत मनोहर ऊरु हों) इस नामको केवल अपने ही स्वाधीन करनेकेलिये अन्य स्त्रियोंके विजय करनेमें उसने ऐसे सुंदर और गोल ऊरु करलिये हैं जैसे कि और जगह कहीं नहीं पाये जाते ॥ २७ ॥ इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं कि कामदेवने मरुदेवीके नितंबस्थानको ही अपना स्थान कायम कर इतने बडे विस्तृत संसारको अपने वश कर लिया है ॥ २८ ॥ करधनीरूपी कोटसे घिरा हुआ उसका कटिमं-

मनोमुवा । विनिर्जितं जगन्नूनमनूनपरिमंडलं ॥ २८ ॥ कटीमंडलमेतस्याः कांचीसालपरिष्कृतं ॥ मन्ये दुर्गमनंगस्य जगद्भारकारिणः ॥ २९ ॥ लसदंशुकसंसक्तं कांचीविष्टं बभार सा । फाणिनं स्रस्तनिर्मोकमिव चंदनवल्लरी ॥ ३० ॥ रोमराजी विनीलास्या रेजे मध्येतनूदरं । हरिनीलमयीवावष्टंभयष्टिर्मनोभुवः ॥ ३१ ॥ तनुमध्यं बभारासौ वालभं निम्ननाभिकं । शरन्नदीव सावर्त्तं स्रोतः प्रतनुवीचिकं ॥३२॥ स्तनावस्याः समुत्तुंगौ रेजतुः परिणाहिनौ । यौवनश्रीविलासाय कल्पितौ क्रीडाचलाविव ॥ ३३ ॥ धृतांशुकमसौ दध्रे कुंकुमांकं कुचद्वयं । वीचिरुद्धमिवानंगमिथुनं सुरनिम्नगा ॥ ३४ ॥ स्तनाव

डल (कमर) ऐसा जान पडता था मानों संसारभरमें उपद्रव करनेवाले कामदेवका किला ही हो ॥ २९ ॥ जिसप्रकार चंदनकी लतापर जिसकी कांचली निकल गई है ऐसा सर्प सुशोभित होता है उसीप्रकार सुंदर वस्त्रोंसे सटी हुई करधनी भी उसके शरीरपर वहुत ही सुशोभित होती थी ॥३०॥ अत्यंत दुवले पतले ऐसे मरुदेवीके उदर भागपर अतिशय काली रोमोंकी रेखा ऐसी सुशोभित होती थी मानो सहारा लेनेके लिये इंद्रनीलमणिकी बनीहुई कामदेवके हाथकी लकडी ही हो ॥ ३१ ॥ जिसप्रकार शरदऋतुकी कृश नदी जिसमें बडे २ भंवर पडरहे हैं और वडीलहरें उठरही हैं ऐसे प्रवाहसे सुशोभित होती है उसीप्रकार वह मरुदेवी भी त्रिवली और गंभीरनाभि सहित अतिशय कृश ऐसे अपने मध्यभागसे सुशोभित होती थी ॥ ३२ ॥ अतिशय ऊंचे और विशाल उसके दोनों स्तन ऐसे सुशोभित होते थे मानों यौवन अवस्थाकी शोभाके क्रीडा करनेकेलिये दो क्रीडापर्वत ही बनाये गये हों ॥ ३३ ॥ जिनपर कुंकुम लगी हुई है और जो वस्त्रसे ढके हुये हैं ऐसे उसके दोनों स्तन ऐसे जान पडते थे मानों आकाशगंगामें लहरोंसे रुके दो चक्रवाक ही हों ॥ ३४ ॥ जिसप्रकार कमलकी पंखुरियोंके समीपमें लगे हुये फेनसे कमलिनी [कमलकी वेल] सुशोभित होती है उसी प्रकार उसके स्तनोंके मध्यभागमें पडे हुये सफेदहारकी कांतिसे वह मरुदेवी वडी ही सुशोभित हो रही थी ॥ ३५ ॥ अत्यंत सूक्ष्म रेखाओंसे सुशोभित ऐसा उसका

कण्ठसंलग्नहाररोचिरसौ बभौ । सरोजकुड्मलाभ्यर्णस्थितफेना यथाब्जिनी ॥ ३५ ॥ व्यराजि कंधरणास्यास्तनुराजीविभासिना । उल्लिख्य घटितेनेव धात्रा निर्माणकौशलात् ॥ ३६ ॥ अधिकंधरमाबद्धहारयष्टिर्व्यभादसौ ॥ पतन्निरिसरित्स्रोताः सानुलेखेव शृंगिणः ॥ ३७ ॥ शिरीषसुकुमारांग्यास्तस्या बाहू विरेजतुः । कल्पवल्ल्या इवाबग्रौ विटपौ मणिभूषणौ ॥ ३८ ॥ मृदुबाहुलते तस्याः करपल्लवसंश्रिते । नखांशूल्लसितव्याजाद्दधतुः पुष्पमंजरीं ॥ ३९ ॥ अशोकपल्लवच्छायं बिभ्रती करपल्लवं । पाणौ कृतमिवाशेषं मनोरागमुवाह सा ॥ ४० ॥ सा दधे किमपि स्रस्तांसौ हंसीव पक्षती । आस्रस्तकबरी

कंठ बहुत ही अच्छा लगता था और ऐसा जान पडता था मानों नामकर्मरूपी ब्रह्माने अपना निर्माण करनेका कौशल दिखानेके लिये ही सूक्ष्म रेखायें उकेरकर सुंदर कंठ बनाया हो ॥ ३६ ॥ जिसप्रकार ऊपरसे पडते हुये नदीके प्रवाहसे पर्वतका मध्यभाग सुशोभित होता है उसीप्रकार गलेमें लटकते हुये सफेद हारसे वह मरुदेवी भी बहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ ३७ ॥ सरसोंके फूलके समान अतिशय कोमल अंगको धारण करनेवाली उस मरुदेवीकी मणियोंके आभूषणोंसे सुशोभित दोनों भुजायें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों मणियोंके आभूषणोंसे सुशोभित ऐसी कल्पलताकी दो मुख्य शाखा ही हों ॥ ३८ ॥ उसकी दोनों कोमल भुजायें लताओंके समान थीं जिनपर हाथ ही पत्ते लग रहे थे और उनके समीप ही दैदीप्यमान नखोंकी किरणोंके बहानेसे पुष्पमंजरियां लगरही थीं ॥३९॥ उसके दोनों ही हाथ अशोक वृक्षके कोमल पत्तोंके समान जान पडते थे और उनपरकी ललाई ऐसी जान पडती थी मानों उसके मनका संपूर्ण अनुराग हाथमें ही आकर इकट्ठा हुआ हो ॥४०॥ जिसप्रकार हंसिनीके ढालवां (कुछ नीचे) पंख सुशोभित होते हैं उसीप्रकार मरुदेवीके कुछ कुछ निचाई धारण करते हुये कंधे भी सुशोभित हो रहे थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों फैले हुये केशपाशोंका भार धारण करनेसे कुछ खेदखिन्न होकर ही कुछ २ नीचे होगये हों ॥ ४१ ॥ उस कमलनयनी मरुदेवीका मुख अपनी सुंदरताके सामने चंद्रमाकी भी हंसी उडा रहा था क्यों-

भारवाहिकाखेदिताविव ॥ ४१ ॥ मुखमस्याः सरोजाक्ष्या जहास शशिमंडलं । सकलं विकलंकं च विकलं सकलंककं ॥ ४२ ॥ वैधव्यदूषितेंदुश्री-रब्जश्रीः पंकदूषिता । तस्याः सदोज्ज्वलास्यश्रीर्वद केनोपमीयते ॥ ४३ ॥ दशनच्छदरागोस्याः स्मितांशुभिरनुद्रुतः । पयःकणावकीर्णस्य विद्रुमस्याजयत् श्रियं ॥ ४४ ॥ सुकंठ्याः कंठरागोस्या गीतगोष्ठीषु पप्रथे । मौर्वीरव इवाकृष्टधनुषःपुष्पधन्वनः ॥ ४५ ॥ कपोलावलकानस्या दधतुः प्रतिबिंबितान् । शुद्धिभाजोनुगृह्णंति मलिनानपि संश्रितान् ॥ ४६ ॥ तस्या नासाग्रमभ्यग्रं बभौ मुखमभिस्थितं । तदामोदमिवाघ्रातुं तन्निःश्वसितमुत्थितं ॥ ४७ ॥

कि चंद्रमामें कलंक है और वह कलंकरहित था और चंद्रमा पौर्णमासीको छोडकर सदा अपूर्ण ही उदय होता है और वह सदा पूर्ण उदयरूप ही रहता था ॥ ४२ कविलोग मुखकेलिये चंद्रमा या कमलकी उपमा देते हैं परंतु मरुदेवीके मुखकेलिये ये दोनों ही उपमा योग्य नहीं थीं क्योंकि चंद्रमाकी शोभा न तो दिनमें ही रहती है और न अपूर्ण उदयमें रहती है इसलिये वह वैधव्य [विधवापन] दोषसे दूषित है और मरुदेवीके मुखकी शोभा सदा बनी रहती है इसलिये व[illegible] सदा सुहागरूप रहती थी। इसीप्रकार कमल कीचडके संबंधसे दूषित है और मरुदेवीका मुख नि[illegible]ष था इसप्रकार मरुदेवीका मुख उपमारहित था उसकेलिये उपमा देने योग्य संसारमें कोई वस्तु नहीं थी ॥ ४३॥ उसके मं[illegible]हास्यकी सफेद किरणोंकर सहित दोनों होठोंकी लाली जलकी बूंदोंसे सुशोभित ऐ[illegible]से मूंगाकी शोभाको भी जीत रही थी ॥ ४४ ॥ उसका स्वरभी अत्यंत मधुर था और इसलिये ही उसके कंठका मधुर राग संगीतशास्त्रमें ऐसा प्रसिद्ध था मानों धनुष चढानेवाले कामदेवके ध[illegible]की डोरीका शब्द ही हो ॥ ४५ ॥ उसके दोनों कपोल भी बडे ही निर्मल और बडे ही दैदी[illegible]यमान थे और इसलिये ही उनमें काले वालोंका प्रतिबिंब पडता था सो ठीक ही है जिनका [illegible]तःकरण शुद्ध है वे अपने आधीन आये हुये मलिन (कलंकी) पुरुषोंको भी अनुग्रह पूर्वक [illegible]कार करते ही हैं ॥ ४६ ॥ अतिशय प्रशंसनीय और मुखके सन्मुख स्थित हुआ ऐसा उसके नासिकाका अग्रभाग

नयनोत्पलयोः कांतिस्तस्याः कर्णांतमाश्रयत् ॥ कर्णेजपत्वमन्योन्यस्पर्धयेव चिकीर्षती: ॥ ४८ ॥ श्रुतेनालंकृतावस्याः कर्णौ पुनरलंकृतौ ॥ कर्णाभरणविन्यासैः श्रुतदेव्या इवार्चनैः ॥ ४९ ॥ ललाटेनाष्टमीचंद्रचारुणास्या विदिद्युते ॥ मनोजश्रीविलासिन्या दर्पणेनेव हारिणा ॥ ५० ॥ विनीलैरलकैरस्या मुखाब्जे मधुपायितं ॥ भ्रूभ्यां विनिर्जिता सज्या मदनस्य धनुर्लता ॥ ५१ ॥ कचभारो बभौ तस्या विनीलकुटिलायतः ॥ मुखेंदुग्रासलोभेन विधुंतुद इवाश्रितः ॥ ५२ ॥ विस्रस्तकबरीबंधविगलत्कुसुमोत्करैः ॥ सोपहारामिव क्षोणीं चक्रे चंक्रमणेषु

ऐसा अच्छा सुशोभित होता था मानों उस नासिकाके निश्वाससे निकली हुई सुगंधिको सूंघनेके लिये ही वहांतक आया हो ॥ ४७ ॥ कमलके समान अत्यंत सुंदर ऐसे उसके दोनों नेत्रोंकी कांति कानतक पहुंच गई थी और वह ऐसी जान पडती थी मानों दोनोंमें परस्पर स्पर्द्धा होनेसे वे दोनों ही कानतक पहुंचकर एक दूसरेकी चुगली खाना चाहते हों ॥ ४८ ॥ यद्यपि उसके कर्ण शास्त्रोंके श्रवण करनेसे अलंकृत थे तथापि सरस्वती देवीकी पूजाके सफेद पुष्पोंके समान कर्णभूषण पहनाकर फिर भी और अलंकृत [सुशोभित] किये गये थे॥ ४९ ॥ अष्टमीके चंद्रमाके समान उसका सुंदर ललाट ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों अनेक प्रकारके विलास करनेवाली कामदेवकी शोभाका मनोहर दर्पण ही हो ॥ ५० ॥ उसके शिरपर अतिशय काले केशपाश ऐसे सुशोभित होते थे मानों उसके मुखरूपी कमलपर भ्रमरोंका समूह हो तथा उसकी दोनों भोंहें तो इतनी सुंदर थीं कि वे डोरी सहित कामदेवके धनुषको भी जीत रहीं थीं ॥ ५१ ॥ कुटिल विस्तृत और अतिशय काला ऐसा उसका केशसमूह ऐसा सुशोभित होता था मानों उसके मुखरूपी चंद्रमाको ग्रास करनेके लोभसे राहु ही आकर बैठगया हो ॥ ५२ ॥ जब वह मरुदेवी चलती थी उससमय फूलोंसे गुथी हुई उसकी चोटी कुछ ढीली हो जाती थी और उससे अनेक फूल विखर विखर कर पृथ्वीपर गिर पडते थे। उससमय उन फूलोंसे वह पृथ्वी ऐसी सुशोभित होती थी मानों फूलोंसे

सा ॥ ५३ ॥ समसुप्रविभक्तांगमिलस्या वपुरूर्जितं ॥ स्त्रीसर्गस्य प्रतिच्छंदभावेनेव विधिर्व्यधात् ॥ ५४ ॥ सुयशाः सुचिरायुश्च सुप्रजाश्च सुमंगला ॥ पतिवत्नी च या नारी सा तु तामनुवर्णिता ॥ ५५ ॥ सा खनिर्गुणरत्नानां साऽत्रनिः पुण्यसंपदां ॥ पावनी श्रुतदेवी च साऽनधीत्यैव पंडिता ॥ ५६ ॥ सौभाग्यस्य परा कोटिः सौरूप्यस्य परा भृतिः ॥ सौहार्दस्य परा प्रीतिः सौजन्यस्य परा गतिः ॥ ५७ ॥ प्रसूतिः कामतत्त्वस्य कलागमसरित्स्रुतिः ॥ प्रसूतिर्यशसां साऽऽसीत्सतीत्वस्य परा धृतिः ॥ ५८ ॥ तस्याः किल समुद्वाहे सुरराजेन चोदिताः ॥ सुरोत्तमा महाभूत्या चक्रुः कल्याणकौतुकं ॥ ५९ ॥ पुण्यसंपत्तिरिवास्या जननीत्वमुपागता ॥ सखीभूय मता लज्जा गुणाः-

---

उसपर सांथिया आदि अनेक तरहकी रचना की गई हो ॥ ५३ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे अनुसार जिसका प्रत्येक अंग उपांग सुंदर है ऐसा उस मरुदेवीका सुंदर शरीर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों नामकर्म रूपी ब्रह्माने स्त्रियोंकी सृष्टि निर्माण करनेकेलिये एक सुंदर नमूना ही बनाया हो ॥ ५४ ॥ संसारमें जो स्त्रियां यशस्विनी, [जिनका यश फैल रहा हो] दीर्घ आयुवाली, सुपुत्रोंको उत्पन्न करनेवाली, मंगलरूपिणी और भाग्यवती हैं वे सब मरुदेवीसे पीछे थीं अर्थात् मरुदेवी उन सबमें मुख्य थी ॥ ५५ ॥ वह मरुदेवी गुणरूप रत्नोंकी खानि थी, पुण्यरूप संपत्तियोंके निवास करनेवाली पृथ्वी थी, अतिशय पवित्र, साक्षात् सरस्वती देवी और बिना पढे भी सब शास्त्रों-अधिकार रखनेवाली पंडिता थी ॥ ५६ ॥ वह सौभाग्यकी परम सीमा थी सुंदरताकी उत्कृष्ट निवासस्थान थी सुहृदपनेकी उत्कृष्ट प्रीतिभाजन थी और सुजनताकी परम शरण थी ॥ ५७ ॥ इसीप्रकार वह कामशास्त्रके उत्पन्न होनेका स्थान थी कलाओंके शास्त्ररूप नदीके प्रवाहके समान थी कीर्तिके उत्पन्न होनेका स्थान थी और सतीत्व गुणकी परम सीमा थी ॥ ५८ ॥ उस मरुदेवीके विवाहके समय इंद्रकी प्रेरणासे समस्त उत्तम देवोंने बडी विभूतिके साथ उसका विवाहोत्सव किया था ॥ ५९ ॥ उसका जन्म मानों पुण्यरूप संपत्तिसे ही हुआ था, लज्जा उसकी सखीके समान सदा साथ रहती थी और

परिजनायिताः ॥ ६० ॥ रूपप्रभावविज्ञानैरितिरूढिं परां गता ॥ भर्तुर्मनोगजालाने भेजे साऽऽलानयष्टितां ॥ ६१ ॥ तद्वक्त्रेन्दोः स्मित_ ज्योत्स्ना तन्वती नयनोत्सवं ॥ भर्तुश्चेतोऽम्बुधेः क्षोभमनुवेलं समातनोत् ॥ ६२ ॥ रूपलावण्यसंपत्त्या पत्या श्रीरिव सा मता ॥ मताविव मुनिस्तस्यामतानीत्स परां धृतिं ॥ ६३ ॥ परिहासेष्वमर्मस्पृक्संभोगेष्वनुवर्त्तिनी ॥ साचिव्यमकरोत्साऽस्य नर्मणः प्रणयस्य च ॥ ६४ ॥ साऽभवत्प्रेयसी तस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ शचीव देवराजस्य परा प्रणयभूमिका ॥ ६५ ॥ स तया कल्पवल्ल्येव लसदंशुकभूषया ॥ समाश्लिष्टतनुः श्रीमान्कल्पद्रुम इवाद्युतत् ॥ ६६ ॥ स एव पुण्यवाँल्लोके सैव पुण्यवती सती ॥ ययोरयोनिजन्मासौ वृषभो भवितात्मजः

गुण भी परिवारके समान सदा साथ रहते थे ॥६०॥ रूप प्रभाव और विज्ञानके द्वारा वह बहुत ही प्रसिद्ध थी और अपने पति महाराज नाभिरायके मनरूपी हाथीको बांधनेकेलिये हाथीके बांधनेके खंबेके समान जान पडती थी ॥६१॥ उसके मुखरूपी चंद्रमासे निकली हुई मंदहास्यरूपी चांदनी नेत्रोंको आनंदित करती थी तथा अपने पतिके चित्तरूपी समुद्रको आनंदरूप लहरोंसे क्षोभित करती थी ॥ ६२ ॥ महाराज नाभिराय रूप और लावण्यरूप संपत्तिके द्वारा उसे लक्ष्मीके समान मानते थे और उससे इतने भारी संतुष्ट होते थे जैसे कोई मुनि निर्मल बुद्धि पाकर संतुष्ट होता है ॥ ६३ ॥ परिहास करते समय वह अपने पतिके मर्मस्पर्श करनेवाले (बुरे लगने वाले) वाक्य कभी नहीं कहती थी और संभोगादि क्रीडा करतेसमय वह पतिकी आज्ञानुसार चलती थी इसप्रकार महाराज नाभि-राजके हास्य और प्रणय (प्रेम) करनेमें वह मंत्रीका काम करती थी अर्थात् हरतरहसे उनकी सहायता करती थी ॥ ६४ ॥ जिसप्रकार इंद्रके इंद्राणी बडी ही प्रिय होती है उसीप्रकार महा-राज नाभिरायके वह बडी ही प्रियथी और वे उसे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानते थे ॥६५॥ अतिशय शोभा युक्त महाराज नाभिराय उस मरुदेवीके साथ एक कल्पवृक्षके समान सुशोभित होते थे, क्योंकि जिसप्रकारकल्पवृक्षकाशरीर वस्त्र आभूषणोंसे सुशोभित कल्पलताके समागमसे सुशोभित

॥ ६७ ॥ तौ दंपती तदा तत्र भोगैकरसतां गतौ ॥ भोगभूमिश्रियं साक्षाच्चक्रतुर्विंयुतामपि ॥ ६८ ॥ ताभ्यामलंकृते पुण्ये देशे कल्पांघ्रिपात्यये ॥ तत्पुण्यैर्मुहुराहूतः पुरुहूतः पुरीं व्यधात् ॥ ६९ ॥ सुराः ससंभ्रमाः सद्यः पाकशासनशासनात् ॥ तां पुरीं परमानंदाद्दधुः सुरपुरीनिभां ॥ ७० ॥ स्वर्गस्यैव प्रतिच्छंदं भूलोकेस्मिन्निधित्सुभिः ॥ विशेषरमणीयैव निर्ममे सामरैः पुरी ॥ ७१ ॥ स्वस्वर्गस्त्रिदशावासः स्वल्प इत्यवमत्य त ॥ परःशतजनावासभूमिकां तां नु ते व्यधुः ॥ ७२ ॥ इतस्ततश्च विक्षिप्तानानीयानीय मानवान् ॥ पुरीं निवेशयामासुर्वि-

---

होता है उसीप्रकार नाभिरायकाशरीर भी वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित मरुदेवीकेसमागमसे सुशोभित होता था ॥६६॥ संसारमें महाराज नाभिरायही सवसे अधिक पुण्यवान् थे और मरुदेवी ही सवसे अधिक पुण्यवती थी क्योंकि जिनके स्वयंभू भगवान वृषभदेव सदृश पुत्र होंगे उनके समान पुण्यवान् और कौन हो सकता है ॥ ६७ ॥ उससमय वे दोनों ही दंपती भोगोपभोगोंमें अतिशय निरत होकर इसप्रकार काल व्यतीत कर रहे थे मानों नष्ट हुई भोगभूमिकी शोभाको ही साक्षात् दिखला रहे हों ॥ ६८ ॥ जिस पुण्यस्थानमें वे दोनों रहते थे वहांके कल्पवृक्ष जब भोगभूमिके अभावसे नष्ट होगये तब इनके पुण्यके द्वारा बार बार बुलाये हुये इंद्रने वहीं एक नगरीकी रचना कराई ॥ ६९ ॥ इंद्रकी आज्ञासे शीघ्र ही नगरकी रचनाकरनेवाले देव बडे उत्साहके साथ आये और बडे प्रसन्न होकर उन्होंने इंद्रपुरीके समान नगरीकी रचना की ॥ ७० ॥ उनदेवोंने वह नगरी इतनी विशेष सुंदर बनाई थी मानों इस मध्यलोकमें भी स्वर्गका एक प्रतिनिधि रखनेकी इच्छासे ही स्वर्गके समान बनाई हो ॥७१॥ देवोंने समझा था कि यह हमारा स्वर्ग वहुत ही थोडा है क्योंकि यह त्रिदशावास (देवोंका निवासस्थान) अर्थात् केवल त्रि×दश तीस आदमियोंके रहनेकी जगह है [त्रिदश देवोंका नाम है और तीस संख्याका वाचक भी है) इसलिये उन्होंने सैकडों हजारों मनुष्योंके रहने योग्य वह नगरी बनाई थी ॥ ७२ ॥ उससमय जो लोग इधर उधरके प्रदेशोंमें जहां तहां निवास करते थे देवोंने

न्यासैर्विविधैः सुराः ॥ ७३ ॥ नरेंद्रभवनं चास्याः सुरैर्मध्ये निवेशितं ॥ सुरेंद्रनगरस्पर्धि परार्ध्यविभवान्वितं ॥ ७४ ॥ सुत्रामा सूत्रधारोस्याः शिल्पिनः कल्पजाः सुराः । वास्तुजातं महीकृत्स्ना सोद्या नास्तु कथं पुरी ॥ ७५ ॥ संचस्करुश्च तां वप्रप्राकारपरिखादिभिः ॥ अयोध्यां न परं नाम्ना गुणेनाप्यरिभिः सुराः ॥ ७६ ॥ साकेतरूढिरप्यस्या श्लाघ्यैव स्वनिकेतनैः । स्वर्निकेतमिवाव्हातुं साकूतैः केतुबाहुभिः ॥ ७७ ॥ सुकोशलेति च ख्यातिं सा देशाभिख्यया गता । विनीतजनताकीर्णा विनीतेति च सा मता ॥ ७८ ॥

उन सबको लाकर उस नगरीमें वसाया और अनेक प्रकारकी रचनाकर उस नगरीकी शोभा बढाई ॥ ७३ ॥ उन देवोंने उस नगरीके मध्यभागमें इंद्रपुरीकी स्पर्द्धा करनेवाला और बहुमूल्य अनेक विभूतियोंसे विभूषित ऐसा एक राजभवन बनाया ॥ ७४ ॥ इस नगरीकी रचना करनेकेलिये कारीगर सौधर्मादि स्वर्गोंके देव थे, और उनका अधिकारी सूत्रधार इंद्र था तथा मकान बनानेके लिये संपूर्ण पृथ्वी पडी हुई थी। फिर भी वह नगरी प्रशंसनीय क्यों नहीं हो सकती अर्थात् वह अतिशय प्रशंसनीय थी ॥७५॥ छोटे बडे कोट खाई आदिकोंसे वह नगरी बहुत ही सुशोभित की गई थी तथा उसका नाम अयोध्या रक्खा था। वह केवल नाममात्रसे ही अयोध्या नहीं थी किंतु गुणोंसे भी अयोध्या अर्थात् (अ-योध्या] कोई भी शत्रु जिससे युद्ध न करसके ऐसी थी ॥ ७६॥ वह नगरी सुंदर मकानोंसे बडी ही प्रशंसनीय थी और इसलिये ही उसका साकेत (स आकेत। आकेत अर्थात् मकान। साकेत अर्थात् सुंदर मकानोंसहित)नाम प्रसिद्ध होगया था। उन सुंदर मकानोंसे वह ऐसी जान पडती थी मानों किसी अभिप्रायसे अपनी ध्वजारूप भुजाओंको ऊंचा उठाकर स्वर्गके विमानोंको ही बुला रही हो ॥ ७७ ॥ वह सुकोशल देशके मध्यभागमें थी इसलिये उस देशके संबंधसे सुकोशला कहलाती थी तथा उसमें रहनेवाले लोग सब विनयवान थे इसलिये वह विनीता भी कहलाती थी ॥ ७८ ॥ वह राजधानी सुकोशला बडी ही प्रसिद्ध थी और आगामी कालमें होनेवाले बडे देशके नाभिके समान मध्यभागमें थी इसलिये वह बडी ही

बभौ सुकोशला भाविविषयस्याऽग्रधीयसः । नाभिलक्ष्मीं दधानासौ राजधानीसुविश्रुता ॥ ७९ ॥ सनृपालयमुद्वप्रं दीर्घशालं सखातिकं । तद्व्यस्यर्न्नारांभे प्रतिच्छंदायितं पुरं ॥ ८० ॥ पुण्येहनि मुहूर्ते च शुभयोगे शुभोदये । पुण्याहघोषणां तत्र सुराश्चक्रुः प्रमोदिनः ॥ ८१ ॥ अध्यवास्तां तदानीं तौ तामयोध्यां महार्द्धिकां । दंपती परमानंदावाप्तसंपत्परंपरौ ॥ ८२ ॥ विश्वदृश्वैतयोः पुत्रो जनिनेति शतक्रतुः । तयोः पूजां व्यधत्तोच्चैरभिषेकपुरःसरां ॥ ८३ ॥ षड्भिर्मासैरथैतस्मिन् स्वर्गादवतरिष्यति ॥ रत्नवृष्टिं दिवो देवाः पातयामासुरादरात् ॥ ८४ ॥ संक्रंदननियुक्तेन धनदेन निपातिता । सामात्यसंपदौत्सुक्यात्प्रास्थितेवाग्रतो विभोः ॥ ८५ ॥ हारिन्मणिमहानीलपद्मरागांशुकेसरैः । साद्युतत् सुरचापश्रीः प्रगुणत्वमिवाश्रिता ॥ ८६ ॥

सुशोभित होती थी ॥ ७९ ॥ उस नगरीमें राजभवन भी था और तारण, कोट तथा खाई भी थी उन सबसे वह ऐसी सुशोभित होती थी मानों आगामी कर्म भूमिके समयमें होनेवाली नगरी आदिकोंका प्रतिबिंब ही हो ॥ ८० ॥ इसप्रकार सर्वशोभायुक्त उस अयोध्यानगरीमें सब देवोंनें मिलकर किसी शुभदिन, शुभमुहूर्त, शुभयोग और शुभलग्नमें बडे हर्षके साथ पुण्याहवाचन मंत्रका पाठ किया अर्थात् शुभकामना और आशीर्वादपूर्वक महाराज नाभिरायके निवास करनेका मुहूर्त किया ॥ ८१ ॥ उससमय महाराज नाभिराय और मरुदेवी दोनों ही अतिशय विभूति और ऋद्धि युक्त उस अयोध्यामें निवास करनेलगे उससमय उन्हें अनेक प्रकारकी संपत्तियां प्राप्त हुई थीं और इसलिये वे बडे ही आनंदित हो रहे थे ॥ ८२ ॥ इन दोनोंके भगवान सर्वज्ञदेव जन्म लेंगे यही समझकर इंद्रने बडे आदरसे इन दोनोंका महाभिषेक कर पूजा की ॥ ८३ ॥ अब वज्रनाभि अहमिंद्र छठे महीने बाद ही स्वर्गसे चयकर महाराणी मरुदेवीके गर्भमें विराजमान होंगे यही जानकर देवोंने बडे आदरसे रत्नोंकी वर्षा की ॥ ८४ ॥ इंद्रकी आज्ञासे कुबेरने जो रत्नवृष्टि की थी वह ऐसी सुशोभित होती थी मानों भगवान् श्रीऋषभदेवकी विभूति उनके आनेके पहिले ही उत्कंठा पूर्वक आगई हो ॥ ८५ ॥ उन रत्नोंमें हारिन्मणि इंद्रनीलमणि पद्मरागमणि आदि अनेकप्रकारके रत्न थे उनके किरणोंकी समूहसे वह रत्नवृष्टि

रैधारैरावतस्थूलसमायतकराकृतिः । बभौ पुण्यद्रुमस्येवं पृथुः प्रारोहसंततिः ॥ ८७ नीरंध्रं रोधसी रुध्वा रायां धारा पतंत्यभात् ॥ सुरद्रुमैरिवोन्मुक्ता सा प्रारोहपरंपरा ॥ ८८ ॥ रेजे हिरण्मयी वृष्टिः खांगणान्निपतंत्यसौ । ज्योतिर्गणप्रभेवोच्चैरायांती सुरसद्मनः ॥ ८९ ॥ खादुत्पतद्रत्नवृष्टिः सा क्षणमुत्प्रेक्षिता जनैः । गर्भस्रुतिर्निधीनां किं जगत्क्षोभादभूदिति ॥ ९० ॥ खांगणे विप्रकीर्णानि रत्नानि क्षणमावभुः ॥ सुगजैरिवनां कल्पद्रुमानीव शातितानि सुरद्विपैः ॥ ९१ ॥ खांगणे गणनातीता रत्नधारा रराज सा ॥ विप्रकीर्णेव कालेन तरला तारकावली ॥ ९२ ॥ विद्युदिंद्रायुधं किंचिज्जटिले सुरनायकैः । दिवो विगलितं स्यातामित्यसौ क्षणमैक्षत ॥ ९३ ॥ किमेषा वैद्युती दीप्तिःकिमुत तुसदां द्युतिः ॥ इति व्योमचरैरैक्षि क्षणमाशंक्य सांद्रे ॥ ९४ ॥

ऐसी सुशोभित होती थी मानों एकरेखामें सीधी होकर इंद्रधनुषकी शोभा ही आ रही हो ॥८६॥ ऐरावत हाथीकी सूंडके समान मोटी और गोल वह रत्नोंकी धारा बरस रही थी और वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों पुण्यरूप वृक्षकी मोटी जटाओंका समूह ही हो ॥ ८७ ॥ अथवा अतिशय सघन और दशों दिशाओंको रोककर बरसती हुई वह रत्नोंकी धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानों कल्पवृक्षोंसे निकली हुई जटाओंका समूह ही हो ॥ ८८ ॥ अथवा स्वर्गरूपी आंगनसे पडती हुई वह सुवर्णमयी वृष्टि ऐसी सुशोभित होती थी मानों स्वर्गसे ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट प्रभा ही आ रही हो ॥ ८९ ॥ अथवा आकाशसे पडती हुई उस रत्नवृष्टिको देखकर लोग यही उत्प्रेक्षा करते थे कि क्या जगतमें कोई क्षोभ होनेसे निधियोंका यह गर्भपात हुआ है ॥ ९० ॥ अथवा आकाशरूपी आंगनमें इधर उधर फैले हुये वे रत्न क्षणभरके लिये ऐसे सुशोभित होते थे मानों देवोंके अनेक हाथियोंने कल्पवृक्षोंके फल ही तोड तोडकर डाले हों ॥ ९१ ॥ आकाशरूपी आंगनमें असंख्यात रत्नोंकी धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानों समयानुसार इधर उधर फैली हुई नक्षत्रोंकी पंक्ति ही हो ॥ ९२ ॥ अथवा उस रत्नवृष्टिको देखकर क्षणभरकेलिये यही कल्पना होती थी कि स्वर्गसे मानों परस्पर सघन मिलेहुये विजली और इंद्रधनुषको ही क्या देवोंने फेंकदिया हो ॥ ९३ ॥ अथवा देव

सैषा हिरण्मयी वृष्टिर्धनेशेन निपातिता । विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत् ॥ ९५ ॥ षण्मासानिति सापप्तत् पुण्ये नाभिनृपालये । स्वर्गावतरणाद्भर्तुः प्राक्तरां द्युम्नसंततिः ॥ ९६ ॥ पश्चाच्च नवमासेषु वसुधारा तथा मता । अहो महान् प्रभावोस्य तीर्थकृत्त्वस्य भाविनः ॥ ९७ ॥ रत्नगर्भा धरा जाता हर्षगर्भाः सुरोत्तमाः । क्षोभमायाज्जगद्गर्भो गर्भादानोत्सवे विभोः ॥ ९८ ॥ सिक्ता जडकणैर्गांगैर्मही रत्नैरलंकृता । गर्भादाने जगद्भर्तुःर्गर्भिणीवाभवद्गुरुः ॥ ९९ ॥ रत्नैः कीर्णा प्रसूनैश्च सिक्ता गंधांबुभिर्बभौ । तदा स्नानानुलिप्तेव भूषितांगी धरांगना ॥ १०० ॥ सम्मता

विद्याधर तो उसे देखकर क्षणभरकेलिये यही कल्पना करते थे कि क्या यह बिजलीकी कांति है अथवा देवोंकी प्रभा है ॥ ९४ ॥ । कुबेरने जो वह हिरण्य अर्थात् सुवर्णको वर्षा की थी वह ऐसी जान पडती थी मानों संसारमें भगवानका 'हिरण्यगर्भ' यह नाम प्रसिद्ध करनेकेलिये ही की हो ॥ ९५ ॥ इसप्रकार श्रीवृषभदेवके गर्भावतरणसे पहिले छह महीने तक अतिशय पुण्यवान् महाराज नाभिराजके घरपर रत्न और सुवर्णकी वर्षा हुई थी ॥ ९६ ॥ जिसप्रकार छह महीनेतक रत्नोंकी वर्षा हुई थी उसीप्रकार गर्भधारणके पीछे भी बराबर नौ महीनेतक होती रही थी । जिसे देखकर लोग आश्चर्यके साथ कहते थे कि होनेवाले श्रीवृषभदेव तीर्थंकरका बडा भारी प्रभाव है ॥ ९७ ॥ जिससमय श्रीवृषभदेव मरुदेवीके गर्भमें पधारे थे उससमय यह समस्त पृथ्वी रत्नमयी हो गई थी देव सब हर्षित हो गये थे और यह समस्त संसार आनंदित हो गया था ॥ ९८ ॥ भगवान श्रीवृषभदेवके गर्भोत्सवके समय यह पृथ्वी भी गर्भिणी स्त्रीके समान भारी होगई थी । क्योंकि उससमय यह गंगाके शीतल जलबिंदुओंसे सींची गई थी और अनेक प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित की गई थी ॥ ९९ ॥ उससमय यह पृथ्वीरूपी नायिका ऐसी जान पडती थी मानों स्नानकर चंदनविलेपनकर और वस्त्राभूषण पहन कर ही सुसज्जित हुई हो । क्योंकि उससमय यह अनेक प्रकारके रत्न और पुष्पोंसे सुसज्जित की गई थी और गंधोदकसे सींची गई थी ॥ १०० ॥ उससमय यह पृथ्वी श्री-

नाभिराजस्य पुष्पवत्यरजस्वला । वसुंधरा तदा मेजे जिनमातुरनुक्रियां ॥ १ ॥ अथ सुप्तैकदा देवी तीर्थं सृंगुनि तल्पके । गंगातरंगसच्छाये

दुकूलप्रच्छदोज्ज्वले ॥ २ ॥ सापश्यत् षोडश स्वप्नानिमान् शुभफलोदयान् । निशायाः पश्चिमे यामे जिनजन्मानुशंसिनः ॥ ३ ॥ गजेंद्रमैंद्रमामंद्रबृंहितं

त्रिमदस्रुतं । ध्वनंतमिव सासारं सा ददर्श शरद्घनं ॥ ४ ॥ गवेंद्रं दुंदुभिस्कंधं कुमुदापांडुरच्छविं । पीयूषराशिनीकाशं साप३यन्मंद्रनिःस्वनं ॥ ५ ॥

मृगेंद्रमिंदुसच्छायवपुषं रक्तकंधरं । ज्योत्स्नया संध्यया चैव घटितांगमिवैक्षत ॥ ६ ॥ पद्मां पद्ममयोत्तुंगविष्टरे सुरवारणैः । स्नाप्यां हिरण्मयैः

ऋषभदेवकी माता मरुदेवीके समान जान पडती थी। क्योंकि जिसप्रकार मरुदेवी श्रीनाभिराजको अभीष्ट सुख देनेवाली थी उसीप्रकार पृथ्वी भी नाभिराजकेलिये अभीष्ट सुख देनेवाली थी और मरुदेवी जिसप्रकार रजस्वला न होकर भी पुष्पवती थी उसीप्रकार पृथ्वी भी रजस्वलारहित अर्थात् धूलिरहित होकर भी पुष्पवती अर्थात् अनेक प्रकारके पुष्पोंसे सुशोभित थी ॥ १०१ ॥

अथानंतर-- किसी एकदिन श्रीमती मरुदेवी सुंदर राजभवनमें गंगाकी लहरोंके समान सफेद और निर्मल वस्त्रोंसे ढकी हुई अतिशय कोमल शय्यापर सो रही थी। सोते ही सोते उसने रात्रिके पिछिले पहरमें श्रीजिनेंद्रदेवके जन्मको सूचित करनेवाले और अतिशय उत्तम फल देनेवाले नीचे लिखे हुये सोलह स्वप्न देखे ॥ १०२--१०३ ॥ प्रथम ही उसने सफेद ऐरावत हाथी देखा वह हाथी बडे गंभीर शब्दोंसे गरज रहा था और उसके दोनों कपोलों तथा सूंडसे मद बह रहा था इसलिये वह ऐसा जान पडता था मानों जलसे भरा हुआ और गर्जता हुआ शरद ऋतुका सफेद बादल ही हो ॥१०४॥ दूसरे स्वप्नमें उसने एक बैल देखा, वह बैल सफेदकमलके समान कुछ सफेद था अमृतके समूहके समान वा चंद्रमाके समान देखनेमें मनोहर था उसका कंधा ठीक नगाडेके समान ऊंचा उठा हुआ था और वह धीरे २ गंभीर शब्द कररहा था ॥१०५॥ तीसरे स्वप्नमें उसने एक सिंह देखा उस सिंहका शरीर चंद्रमाके समान सफेद था और कंधे उसके लाल थे इसलिये वह ऐसा

कुमुदर्शत्स्वामिव श्रियं ॥ ७ ॥ दामनी कुसुमामोदसमलग्नमहालिनी । तज्झंकारैरिवारब्धगाने सानंदमैक्षत ॥ ८ ॥ समग्रबिंबमुज्ज्योत्स्नं तारााधीशं सतारकं । स्मेरं स्वमिव वक्राब्जं समौक्तिकमलोकयत् ॥ ९ ॥ विधूतध्वांतमुद्यंतं भास्वंतमुदयाचलात् । शातकुंभमयं कुंभमिवाद्राक्षीत्स्वमंगले ॥ १० ॥ कुंभौ हिरण्मयौ पद्मापिहितास्यौ व्यलोकत । स्तनकुंभाविवात्मीयौ समासक्तकरांबुजौ ॥ ११ ॥ झषौ सरसि संफुल्लकुमुदोत्पलपंकजे । सापश्यन्नयनायामं

जान पडता था मानों चांदनी और संध्या दोनोंके मिलनेसे ही उसका शरीर बना हो ॥ १०६ ॥ श्रीमती मरुदेवीने चौथे स्वप्नमें अपनी शोभाके समान लक्ष्मी देखी । उससमय वह लक्ष्मी कमलमय ऊंचे सिंहासनपर बैठी हुई थी और देवोंके दो उत्तम हाथी अपनी सूंडमें दबाये हुये सुवर्णके बने हुये दो घडोंसे उसका अभिषेक कर रहे थे ॥ १०७ ॥ तदनंतर पांचवें स्वप्नमें उस महारानीने आनंद पूर्वक दो लटकतीहुई पुष्पमालायें देखीं । उन दोनों पुष्पमालाओंपर फूलोंकी अतिशय सुगंधिके वशीभूत होकर अनेक भ्रमर आलगे थे और वे मनोहर झंकार शब्द कर रहे थे जिससे वे मालायें ऐसी जान पडती थीं मानों उन्होंने गाना ही प्रारंभ किया हो ॥ १०८ ॥ छठे स्वप्नमें उसने ताराओंसहित और जिसकी चांदनी चारों ओर फैल रही है ऐसा पूर्ण चंद्रमंडल देखा। उससमय वह चंद्रमंडल उसे ऐसा जान पडता था मानों मंदहास्य और अनेक मोतियोंसहित अपना (मरुदेवीका) मुखकमल ही हो ॥१०९॥ सातवें स्वप्नमें उसने अपने मंगलकार्यमें सुवर्णमय कलशके समान अंधकारको नष्ट करते हुये और उदयाचल पर्वतसे उदय होते हुये सूर्यको देखा ॥ ११० ॥ आठवें स्वप्नमें उसने करकमलोंसे आच्छादित अपने दोनों कुचरूपी कलशोंके समान मुखपर कमलसे ढके हुये ऐसे दो सुवर्णमय कलश देखे ॥ १११ ॥ नौवें स्वप्नमें उसने जिसमें कुमोदनी (चंद्रविकासी कमल) और कमल दोनों ही खिल रहे हैं ऐसे किसी सरोवरमें क्रीडा करती हुई मछलियां देखीं । महादेवीको स्वप्नमें वे दोनों ही मछलियां ऐसी देख पडी थीं

दर्शयंतीवितात्मनः ॥ १२ ॥ तरत्सरोजकिंजल्कपिंजरोदकमैक्षत । सुवर्णद्रवसंपूर्णमिव दिव्यं सरोवरं ॥ १३ ॥ क्षुभ्यंतमब्धिमुद्वेलं चलत्कल्लोलकाहलं । सादरच्छीकरैर्मौक्तुमट्टहासमिवोद्यतं ॥ १४ ॥ सैंहमासनमुत्तुंगं स्फुरन्मणिहिरण्मयं । सापश्यन्मेरुशृंगस्य वैदग्धीं दधदूर्जितां ॥ १५ ॥ नाकालयं व्यलोकिष्ट परार्ध्यमणिभासुरं । स्वसूनोः प्रसवागारमिव देवैरुपाहृतं ॥ १६ ॥ फणींद्रभवनं भूमिमुद्भिद्योद्गतमैक्षत । प्राग्दृष्टस्वर्विमानेन स्पर्द्ध

मानों वे दोनों अपने (मरुदेवीके) नेत्रोंकी लंबाई और चंचलता ही दिखला रही हों ॥ ११२ ॥ दशवें स्वप्नमें उसने एक दिव्य सरोवर देखा । उससमय उस सरोवरपर अनेक कमल तैर रहे थे और उनकी पीली परागसे उसका सब पानी पीला हो रहा था जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों वह संपूर्ण सरोवर तपाकर पानीके समान पतले किये हुये सुवर्णसे भरा हो ॥ ११३ ॥ ग्यारहवें स्वप्नमें उसने समुद्र देखा उससमय उस समुद्रमें लहरें उठ रहीं थीं उन लहरोंके चलनेसे धीरे २ गंभीर शब्द भी हो रहा था और पानीकी छोटी बूंदें भी लहरोंसे उड २ कर किनारोंपर पड रहीं थीं जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों वह जोरसे हंस रहा ही है ॥ ११४ ॥ बारहवें स्वप्नमें उसने एक सिंहासन देखा वह सिंहासन वहुत ही ऊंचा था सुवर्णका बना हुआ था और अनेक प्रकारके देदी- मान मणि उसमें जडे हुये थे जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों सुमेरु पर्वतके शिखरकी उत्तम शोभा ही उसने धारण कर ली हो ॥ ११५ ॥ तेरहवें स्वप्नमें उसने अनेक बहुमूल्य मणियोंसे दैदीप्यमान ऐसा एक स्वर्गका विमान देखा मानों देवोंके द्वारा भेटमें आया हुआ ऐसा होनेवाले अपने पुत्रके लिये प्रसूतिगृह (जिसघरमें पुत्रका जन्म होता है) ही हो ॥ ११६ ॥ चौदहवें स्वप्नमें उसने पृथ्वीको फाडकर ऊपर आया हुआ नागेंद्रका भवन (नागकुमारजातिके भवनवासी देवोंके इंद्रका भवन) देखा मानों वह भवन पहिले देखे हुये स्वर्गके विमानकी स्पर्द्धा करनेकेलिये ही तैयार हुआ हो ॥ ११७ ॥ पंद्रहवें स्वप्नमें उसने रत्नोंकी राशि (समूह) देखी उस रत्नराशिकी निकलती

दर्शुनिवेशितं ॥ १७ ॥ रत्नानां राशिमुत्सर्पदंशुपल्लवितांबरं । सा निदध्यौ धरादेव्या निधानमिव दर्शितं ॥ १८ ॥ ज्वलद्भासुरनिर्धूमवपुषं त्विषां निधिं । प्रतापमिव पुत्रस्य मूर्त्तिरूपं न्यचायत ॥ १९ ॥ न्यशामयच्च तुंगांगं पुंगवं रुक्मसच्छविं । प्रविशंतं स्ववक्त्राब्जं स्वप्नांते पीनकंधरं ॥ २० ॥ ततः प्राबोधिकैस्तूर्यैर्ध्वनद्भिः प्रत्यबुद्ध सा । बंदिनां मंगलोद्गीतीः शृण्वतीति सुमंगलाः ॥ २१ ॥ सुखप्रबोधमाधातुमेतस्याः पुण्यपाठकाः । तदा प्रपेठुरित्युच्चैर्मंगलान्यस्खलद्गिरः ॥ २२ ॥ प्रबोधसमयोयं ते देवि सम्मुखमागतः । रचयन्दरविश्लिष्टैरब्जैरांजलिं ॥ २३ ॥ विभावरी विभालेशा दधती विधवैंदवं । जितं त्वन्मुखकांत्येव गलज्ज्योत्स्नापरिच्छदं ॥ २४ ॥ विच्छायतां गते चंद्रबिंबे मंदीकृतादरं । जगदानंदयत्वद्य विबु

हुई किरणोंसे आकाश पलवित हो रहा था और वह ऐसी जान पडती थी मानों पृथ्वी देवीने अपना खजाना ही दिखाया हो॥ ११८ ॥ सोलहवें स्वप्नमें उसने धूमरहित और जलती हुई दैदीप्यमान वन्हि देखी उससमय वह अग्नि ऐसी जान पडती थी मानों होनेवाले पुत्रके प्रतापने मूर्तिमान रूप ही धारण किया हो॥ ११९ ॥ इसप्रकार ये ऊपर लिखे हुये सोलह स्वप्न देखनेके अनंतर उसने देखा कि जिसकी कांति सुवर्णके समान है कंधे बहुत मोटे हैं और जिसका शरीर भी बहुत ऊंचा है ऐसा एक बैल उसके मुखरूपी कमलमें प्रवेश कर रहा है॥ १२० ॥ इसके देखनेके बाद ही प्रबोधकरानेवाले प्रातःकालके बाजे बजने लगे जिसे सुनकर वह जग गई और वंदीजन जो मंगल करनेवाले मंगलगीत गा रहे थे उसे सुनने लगी॥ १२१ ॥ महारानी मरुदेवी सुखपूर्वक जग जांय जगनेमें उन्हें किसीप्रकारका क्लेश न हो इसलिये ही प्रातःकालके समय मंगलपाठ पढनेवाले बंदीजन ऊंची और स्पष्ट वाणीसे नीचे लिखा हुआ मंगलपाठ पढने लगे ॥ १२२ ॥ हे देवि ! किंचित् खिले हुये कमलोंके द्वारा दूरसे ही हाथ जोडता हुआ यह तेरे जगनेका समय सामने आ रहा है॥ १२३ ॥ चंद्रमंडलकी चांदनी सब नष्ट हो गई है और वह ऐसा कांतिरहित हो गया है मानों तेरे मुखकी कांतिसे जीता गया ही हो, ऐसे कांतिरहित चंद्रमंडलको धारण करती हुई यह चांदनी

न्मुखांबुजं ॥ २५ ॥ दिगंगनामुखानींदुः संस्पृशन्नस्फुटैः करैः । आपिपृच्छिषते नूनं प्रवसन्स्वप्रियांगनाः ॥ २६ ॥ तारानतिरियं व्योम्नि विर
लक्ष्यतेधुना । विप्रकीर्णेव हारश्रीर्यामिन्या गतिसंभ्रमात् ॥ २७ ॥ रूवते कलमामंद्रमितः सरसि सारसैः । स्तोतुकामैरिवास्माभिः समं त्वामात्तमंगलैः
॥ २८ ॥ उच्छ्वसत्कमलास्येयमितो वेश्मगृहदीर्घिका । भवन्तीं गायतीवेयं चैरविणी भ्रमरारवैः ॥ २९ ॥ निशाविरहसंतप्तमितश्चक्राह्वयोर्युगं । सरस्तरंगसंस्प
र्शैरिदमाश्वास्यतेधुना ॥ ३० ॥ रथांगमिथुनैरद्य प्रार्थ्यते मित्रसन्निधिः । तीव्रमायासितैरंतः करैरिंदोर्विदाहिभिः ॥ ३१ ॥ दुनोति कमलाकूतां

कैसी विचित्र सुशोभित हो रही है ॥ १२४ ॥ हे देवि ! अब चंद्रमाकी शोभा नष्ट हो गई है संसार भी उसे अब अनादरकी दृष्टिसे देखने लगा है इसलिये प्रफुल्लित हुआ तेरा मुख कमल ही अब संसारको आनंद देनेवाला हो ॥१२५॥ यह चंद्रमा अब छिपी हुई किरणोंसे अपनी दिशारूप स्त्रियोंके मुखका स्पर्श कर रहा है मानों अब परदेश गमन करनेकेलिये अपनी प्यारी स्त्रियोंसे आज्ञा लेनाही चाहता हो॥१२६॥ आकाशमें ताराओंका समूह अब बहुतकम कहीं २ पर दिखाई देरहा है और ऐसा जानपडता है मानों अब जानेकी जल्दीमें रात्रिके हारकी शोभा ही बिखरकर कहीं २ पर गिर गई हो ॥ १२७ ॥ हे देवि? इधर देख तालावोंपर ये सारस पक्षी भी कैसा मधुर और गंभीर शब्द कर रहे हैं मानों मंगलपाठ पढते हुये हमारे साथ साथ तेरी स्तुति ही करना चाहते हों ॥ १२८ ॥ इधर घरकी बावडियोंमें भी कमलिनियोंके [कमलकी बेलके] कमलरूपी मुख प्रफुल्लित होगये हैं और उनपर भ्रमर गुंजार शब्द कररहे हैं जिससे वह कमलिनी ऐसी जान पडती है मानों तेरा यश ही गा रही हो ॥ १२९ ॥ इधर रात्रिमें परस्पर वियोग होनेसे अतिशय संतप्त हुआ चकवा चकवी पक्षियोंका जोडा भी अब सरोवरकी तरंगोंके स्पर्श होनेसे कुछ कुछ शांत हो रहा है ॥ १३० ॥ अतिशय दाह करनेवाली चंद्रमाकी किरणोंसे अत्यंत क्लेशित [दुःखी) हुये चकवा चकवी दोनों ही अब सूर्यके साथ समागम करनेकी प्रार्थना कर रहे हैं भावार्थ-अब सूर्य उदय

ध्वनिरेष समुच्चरन् ॥ कांतासन्नवियोगार्तिपिशुनः कामिनां मनः ॥ ३२ ॥ अद्रींदोः प्रागस्तंगतस्य नोदस्तं मृदुभिः करैः ॥ तत्प्रलीनं तमो नैशं खरांशावुदयोन्मुखे ॥ ३३ ॥ तमः शार्वरमुद्रिच्य करैर्भानोरुदेष्यतः । सैनेवाग्रेसरी संध्या स्फुरत्येतानुरागिणी ॥ ३४ ॥ मित्रमंडलमुद्यच्छदिदमातनुते द्वयं । विकाशमब्जिनीखंडे म्लानिं च कुमुदाकरे ॥ ३५ ॥ विकस्वरं समालोक्य पद्मिन्याः पंकजाननं । सासूयेव परिम्लानिं प्रयात्येषा कुमुद्वती ॥ ३६ ॥ पुरः प्रसारयन्नुच्चैः करानुद्याति भानुमान् । प्राचीदिग्ंगनागर्भात्तेजोगर्भ इवार्भकः ॥ ३७ ॥ लक्ष्यते निषधोत्संगे भानुरारक्तमंडलः । पुंजीकृत इवैकत्र

होना ही चाहता है ॥ १३१ ॥इधर देखो बहुत शीघ्र होनेवाले स्त्रियोंके वियोगसे उत्पन्न होनेवाले दुःखकी सूचना करनेवाली यह मुरगोंकी तेज आवाज आरही है और वह कामी पुरुषोंके मनको खेदखिन्न भी कर रही है ॥ १३२ ॥ रात्रिके अंधकारको मंद करनेवाले चंद्रमाकी कोमल किरणोंसे जो अंधकार नष्ट नहीं हूआ था वह अब तीव्रकिरणवाले सूर्यके उदय होनेके सन्मुख होते ही नष्ट हो गया है ॥ १३३ ॥ केवल अपनी किरणोंसे ही रात्रिके समस्त अंधकारको नष्ट करनेवाला सूर्य अभी उदय भी नहीं हुआ है परंतु उससे अनुराग करनेवाली संध्या (सूर्योदय होनेसे पहिलेका लालिमासहित्त प्रकाश) पहिलेसे ही आगई है । मानों उदय होनेवाले कैथसू आगे आगे चलनेवाली उसकी सेना ही हो ॥ १३४ ॥ हे देवि ! यह उदय होता हुआ सूर्यमंडल एक साथ दो काम करता है एक तो कमलोंको प्रफुलित करता है और द्वितीय कमोदनियोंके समूहको मलिन करता है ॥ १३५ ॥ अथवा कमलिनीके कमलरूपी मुखको प्रफुलित देखकर वह कमोदिनी मानों कमलिनीसे ईर्ष्या करके ही स्वयं मलिन हो गई जान पडती है ॥ १३६ ॥ यह सूर्य अपने ऊंचे कर (हाथ) अर्थात् किरणोंको सामने फैलाता हुआ उदय हो रहा है मानों पूर्वदिशारूपी स्त्रीके गर्भसे अत्यंत तेजस्वी वालक ही निकल रहा हो ॥ १३७ ॥ निषध पर्वतके समीप यह अतिशय आरक्त (लाल) हुआ सूर्यमंडल ऐसा जान पडता है मानों इंद्रोंने संध्याका सब अनु-

सांध्यो रागः सुरेश्वरैः ।३८॥ तमो विधुमुद्भूतश्चक्रवाकपरिक्लमः। प्रबोधिताब्जिनी भानोर्जन्मनोन्मीलितं जगत् ॥३९॥ समंतादापतत्येष प्रभाते शिशिरो मरुत्। कमलामोदमाकर्षन् फुल्लादब्जिनीवनात् ॥ ४० ॥ इति प्रस्पष्ट एवायं प्रबोधसमयस्तव । देवि मुंचाधुना तल्पं शुचि हंसीव सैकतं ॥ ४१ ॥ सुप्रातमस्तु ते नित्यं कल्याणशतभाग्भव । प्राचीवार्कं प्रसौषीष्ठाः पुत्रं त्रैलोक्यदीपकं ॥ ४२ ॥ स्वप्नसंदर्शनादेव प्रबुद्धा प्राक्तरां पुनः ॥ प्रबोधितेत्यदर्शत्सा संमोदमयं जगत् ॥ ४३ ॥ प्रबुद्धा च शुभस्वप्नदर्शनानंदनिर्भरा ॥ तनुं कंटकितामूहे साब्जिनीव विकासिनी ॥ ४४ ॥ ततस्तद्दर्शनानंदं वोढुं

राग (ललिमा) एक जगह ही इकट्ठा किया हो ॥ १३८ ॥ सूर्यके उदय होते ही अंधकार सब नष्ट हो गया चकवा चकवीका सब क्लेश दूर हुआ कमलिनी प्रफुल्लित होगई और संसार सब प्रकाशमान होगया ॥ १३९ ॥ अब प्रभातके समय खिले हुये कमलवनसे कमलोंकी सुगंध ग्रहण करता हुआ यह शीतल पवन सब जगह वह रहा है ॥ १४० इसलिये हे देवि! अब तेरे उठनेका ठीक समय होगया है । जिसप्रकार निर्मल वालूके टीलोंको हंसिनी छोडदेती है उसीप्रकार तू भी अब अपनी निर्मल शय्या छोड ॥ १४१ ॥ तेरा प्रभातसमय सदा मंगलमय हो तुझे अनंतकल्याण प्राप्त हों और जिसप्रकार पूर्व दिशासे सूर्य उदय होता है उसीप्रकार तेरेभी तीनों लोकोंको प्रकाश करनेवाले दीपकके समान पुत्र हो ॥ १४२ ॥ वह श्रीमती देवी स्वप्न देखनेके अनंतर मंगलपाठ पढनेसे पहिले ही जाग्रत हो चुकी थी परंतु मंगलपाठ होनेके वाद वह उठी और समस्त संसारको आनंदमय देखने लगी ॥ १४३ ॥ जिसप्रकार प्रफुल्लित कमलिनीका शरीर कंटकित हो जाता है उसीप्रकार मरुदेवीका शरीर भी स्वप्न देखनेके आनंदसे आनंदित होकर रोमांचित हो गया था ॥ १४४ ॥ तदनंतर वह मरुदेवी अपने स्वप्न देखनेके आनंदको मानों अपने शरीरमें धारण नहीं करसकी थी इसलिये ही वह मंगलमय स्नानकर और वस्त्राभूषणसे सुसज्जित होकर अपने पतिके समीप प्राप्त हुई थी ॥ १४५ ॥ उससमय महाराज नाभिराज राज्यकी छत्र चामरादि विभूतिसहित राज्यसिंहासनपर विरा-

स्वांगेष्विवाक्षमा । कृतमंगलनेपथ्या सा भेजे पत्युरंतिकं ॥ ४५ ॥ उचितेन नियोगेन दृष्ट्वा सा नाभिभूभुजं । तस्मै नृपासनस्थाय सुखासीना व्यजिज्ञपत् ॥ ४६ ॥ देवाद्य यामिनीभागे पश्चिमे सुखनिद्रिता । अद्राक्षं षोडशस्वप्नानिमानत्यद्भुतोदयान् ॥ ४७ ॥ गजेंद्रमवदातांगं वृषं दुंदुभिनिःस्वनं । सिंहमुल्लंघिताद्यग्रं लक्ष्मीं स्नाप्यां सुरद्विपैः ॥ ४८ ॥ दामनी लंबमाने खे शीतांशुं द्योतितांबरं । प्रोद्यंतमब्जिनीबंधुं बंधुरं झषयुग्मकं ॥ ४९ ॥ कलशावमृतापूर्णौ सरः स्वच्छांबु सांबुजं । वाराशिं क्षुभितावर्त्तं सैंहं भासुरमासनं ॥ १५० ॥ विमानं नागभवनं स्वर्गात् भुवो भवनमुद्भवत् । रत्नराशिं स्फुरद्रश्मिं ज्वलनं प्रज्वलद्युतिं ॥ ५१ ॥ दृष्ट्वैतान्षोडशस्वप्नानथादर्शं महीपते । वदनं मे विशंतं च गजेंद्रं कनकच्छविं ॥ ५२ ॥

जमान थे उन्हें देखकर वह भी उसी सिंहासनपर जा बैठी और महाराजसे इसप्रकार निवेदन करने-लगी कि ॥ १४६ हे देव ? आज मैं सुखसे सो रही थी सोते ही सोते रात्रिके पिछिले पहरमें अद्भुत फल देनेवाले ये सोलह स्वप्न देखे हैं ॥ १४७ ॥ पहले स्वप्नमें सफेद ऐरावत हाथी देखा है, दूसरे स्वप्नमें दुंदुभिके समान शब्द करता हुआ बैल देखा है, तीसरे स्वप्नमें पर्वतकी शिखरको उल्लंघन करता हुआ सिंह देखा है, चौथे स्वप्नमें देवोंके हाथियों द्वारा स्नान करती हुई लक्ष्मी देखी है, पांचवें स्वप्नमें आकाशमें लटकती हुई दो मालायें देखी हैं। छठे स्वप्नमें आकाशको प्रकाशित करता हुआ चंद्रमा देखा है, सातवें स्वप्नमें कमलोंको प्रफुल्लित करता हुआ सूर्य देखा है, आठवें स्वप्नमें मनोहर मछलियोंका जोडा देखा है, नौवें स्वप्नमें अमृतसे भरे हुये दो पूर्ण कलश देखे हैं, दशवें स्वप्नमें स्वच्छ जलसे भरा हुआ और कमलोंसे सुशोभित सरोवर देखा है, ग्यारहवें स्वप्नमें तरंगोंकी अनेक मालाओंसहित समुद्र देखा है, बारहवें स्वप्नमें देदीप्यमान सिंहासन देखा है, तेरहवें स्वप्नमें स्वर्गसे उतरता हुआ विमान देखा है, चौदहवें स्वप्नमें पृथ्वीसे निकलता हुआ भवन देखा है, पंद्रहवें स्वप्नमें अपनी किरणोंसे अतिशय प्रकाशमान रत्नोंकी राशि देखी है और सोलहवें स्वप्नमें जलती हुई निर्धूम अग्नि देखी है । १४८--१४९--१५०--१५१ ॥ हे राजन् ? आज मैंने ये सोलह स्वप्न देखे

वदैतेषां फलं देव शुश्रूषा मे विवर्द्धते। अपूर्वदर्शनात्कस्य न स्यात्कौतुकवन्मनः॥ ५३॥ अथासावगधिज्ञानाविबुद्धस्वप्नसत्फलः। प्रोवाच तत्फलं देव्यै लसद्दशनदीधितिः॥ ५४॥ शृणु देवि महान्पुत्रो भविता ते गजेक्षणात्। समस्तभुवनज्येष्ठो महावृषभदर्शनात्॥ ५५॥ सिंहेनानंतवीर्योऽसौ दाम्ना सद्धर्मतीर्थकृत्॥ लक्ष्म्याभिषेकमाप्तेऽसौ मेरोर्मूर्ध्नि सुरोत्तमैः॥ ५६॥ पूर्णेंदुना जनाह्लादी भास्वता भास्वरद्युतिः। कुंभाभ्यां निधिभागी स्यात्सुखी मत्स्ययुगेक्षणात्॥ ५७॥ सरसा लक्षणोद्भासी सोऽब्धिना केवली भवेत्। सिंहासनेन साम्राज्यमवाप्स्यति जगद्गुरुः॥ ५८॥

हैं और स्वप्न देखनेके वाद ही सुवर्णके समान कांतिको धारण करनेवाला एक उत्तम बैल अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ देखा है ॥ १५२ ॥ हे देव? आप इन स्वप्नोंका फल कहिये इनके फल सुननेकी मेरी बड़ी ही उत्कट इच्छा है। सो ठीकभी है किसी अपूर्व वस्तुके देखनेसे भला किसका चित्त उत्कंठित नहीं होता है? अर्थात् सबका होता है ॥ १५३ ॥ मरुदेवीके ये बचन सुनकर और अवधिज्ञानके द्वारा उन स्वप्नोंका उत्तम फल जानकर महाराज नाभिराज अपने दांतोंकी किरणोंसे सुशोभित होते हुये मरुदेवीकेलिये उन स्वप्नोंका फल कहने लगे कि ॥ १५४ ॥ हे देवि! सुन स्वप्नमें हाथीके देखनेसे तेरे उत्तम पुत्र होगा, उत्तम वृषभके देखनेसे वह समस्तसंसारमें ज्येष्ठ अर्थात् गुरु होगा, ॥ १५५ ॥ सिंह देखनेसे वह अनंतबलशाली होगा, पुष्पमालायें देखनेसे वह उत्तमधर्मरूपी तीर्थका चलानेवाला होगा, लक्ष्मीके देखनेसे सुमेरु-पर्वतके मस्तकपर इंद्रादिक देव भी उसका अभिषेक करेंगे ॥ १५६ ॥ पूर्ण चंद्रमाके देखनेसे वह संसारको आनंदित करनेवाला होगा, सूर्यके देखनेसे वह सूर्यके समान तेजस्वी होगा, दो मछलियोंके देखनेसे वह बहुत सुखी होगा ॥ १५७ ॥ सरोवरके देखनेसे वह अनेक शुभलक्षणोंसे सुशोभित होगा, समुद्रके देखनेसे वह जगतका गुरु होकर साम्राज्यका अधिकारी होगा, ॥ १५८ ॥ देवोंका विमान देखनेसे वह स्वर्गसे चयकर अवतार लेगा, नागेंद्रका भवन देखनेसे वह अवधि

आ० पु०
पर्व १२

स्वर्विमानावलोकेन स्वर्गादवतरिष्यति ॥ फणींद्रभवनालोकात्सोवधिज्ञानलोचनः ॥ ५९ ॥ गुणानामाकरः प्रोद्यद्रत्नराशिनिशामनात् । कर्मेन्धनधगप्येष निर्धूमज्वलनेक्षणात् ॥ ६० ॥ वृषभाकारमादाय भवत्यास्यप्रवेशनात् । त्वद्गर्भे वृषभो देवः स्वमाधास्यति निर्मले ॥ ६१ ॥ इति तद्वचनादेवी दधे रोमांचितं वपुः । हर्षांकुरैरिवाकीर्णं परमानंदनिर्भरं ॥ ६२ ॥ तृतीयकालशेषेस्मावशीतिश्चतुरुत्तरा । पूर्वलक्षा त्रिवर्षाष्टमासपक्षयुता तदा ॥ ६३ ॥ अवतीर्य सुराधीशे अखिलार्थविमानतः । आषाढसितपक्षस्य द्वितीयायां सुरोत्तमः ॥ ६४ ॥ उत्तराषाढनक्षत्रे देव्या गर्भे समाश्रितः । स्थितो यथा

ज्ञानी होगा, ॥ १५९ ॥ दैदीप्यमान रत्नराशि देखनेसे वह अनेक गुणोंका खजाना होगा और निर्धूम अग्निके देखनेसे वह कर्मरूपी ईंधन को जलानेवाला होगा ॥ १६० ॥ इसप्रकार सोलह स्वप्नोंका फल कहकर श्रीनाभिराज फिर कहने लगे कि हे देवि? तेरे मुखमें जो वृषभका रूप-धारणकर प्रवेश किया है उसका फल यह है कि तेरे निर्मल गर्भमें श्रीवृषभदेव अपना शरीर धारण करेंगे ॥ १६१ ॥ इसप्रकार महाराज नाभिराजके वचन सुनकर वह मरुदेवी बहुत प्रसन्न हुई उसका शरीर ऐसा रोमांचित हो गया मानों परम आनंदसे भरा हुआ हर्षके अंकूरोंमे व्याप्त ही हो ॥ १६२ ॥ जब अवसर्पिणी कालके तीसरे सुषमदुःषमकालमें चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष साडे आठ महीना बाकी रहे थे उससमय असाढ शुक्ला द्वितीयाके दिन उत्तराषाढ नक्षत्रमें वज्रनाभि अहमिंद्र अपनी आयु पूर्णकर सर्वार्थसिद्धि विमानमे चयकर श्रीमती मरुदेवीके गर्भमें आये और जिसप्रकार सीपके संपुटमें मोती रहता है उसीप्रकार सबतरहकी बाधारहित वहां विराजमान हुये ॥१६३-१६४-१६५॥ इंद्रादिक देवोंने अपने२ चिन्होंसे *भगवानके गर्भमें आनेके समाचार जानलिये और तुरंत ही वे आये। प्रथम

---

* भगवानके कल्याणोंके समय सब देवोंके आसन कंपायमान होने लगते हैं तथा कल्पवासी देवोंके विमानोंमे अपने आप घंटा बजने लगता है ज्योतिषियोंके विमानोंमें सिंहनाद गर्जना होने लगती है भवनवासियोंके विमानोंमे शंख बजने लगता है और व्यंतरोंके यहां तांसे बजने लगते हैं। इन २ कारणोंको देखकर और अवधिज्ञान जोडकर सब देव भगवानके कल्याणका समय जानलेते हैं।

विबाधोसौमौक्तिकं शुक्तिसंपुटे ॥ ६५ ॥ ज्ञात्वा तदा स्वचिह्नैन सर्वेष्वगुः सुरेश्वराः । पुरं प्रदक्षिणीकृत्य तद्गुरूंश्च ववंदिरे ॥ ६६ ॥ संगीतकं समारब्धं वज्रिणा हि सहामरैः । क्वचिद्गीतं क्वचिद्वाद्यं क्वचिन्नृत्यं मनोहरं ॥ ६७ ॥ तत्प्रांगणं समाक्रांतं नाकलोकैरिहागतैः ॥ कृत्वा गर्भककल्याणं पुनर्जग्मुर्यथायथं ॥ ६८ ॥ तदाप्रभृति सुत्रामशासनात्ताः सिषेविरे । दिक्कुमार्योनुचारिण्यस्तत्कालोचितकर्मभिः ॥ ६९ ॥ श्रीर्ह्रीर्धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिलक्ष्म्यौ च देवताः ॥ श्रियं लज्जां च धैर्यं च स्तुतिं बोधं च वैभवं ॥ ७० ॥ तस्यामादधुरर्पर्णवर्तिन्यः स्वानिमान् गुणान् । तत्संस्काराच्च सा रेजे संस्कृतेवाग्निना मणिः ॥ ७१ ॥ तास्तस्याः परिचर्यायां गर्भशोधनमादितः । प्रचक्रुः शुचिभिर्द्रव्यैः स्वर्गलोकादुपाहृतैः ॥ ७२ ॥ स्वभावनिर्मला

ही आकर उन्होंने नगरकी प्रदक्षिणा दी तथा भगवानके माता पिताको नमस्कार किया ॥१६६ सौधर्म इंद्रने देवोंके साथ २ संगीत प्रारंभ किया, कहीं गीत होने लगे कहीं बाजे बजने लगे और कहीं मनोहर नृत्य होने लगा ॥ १६७ ॥ महाराज नाभिराजका आंगन स्वर्गसे आये हुये देवलोगोंसे भरगया । वे देव भगवानका गर्भकल्याणका उत्सवकर अपने २ स्थानपर चले गये ॥ १६८॥ उसीदिनसे लेकर इंद्रकी आज्ञानुसार दिक्कुमारी देवी उससमयमें होने योग्य उचित कार्योंके द्वारा दासीके समान माताकी सेवा करने लगीं ॥ १६९ ॥ श्री ह्री आदि षट्कुमारिका देवियां माताके समीप रहकर अपने २ गुणों-से माताकी सेवा करनेलगीं । श्री देवीने माताकी शोभा बढादी; ह्री देवीने लज्जा बढादी, धृति देवीने धैर्य गुण बढाया, कीर्ति देवीने स्तुति करना प्रारंभ किया, बुद्धिदेवीने बुद्धिको निर्मल करादिया और लक्ष्मीदेवीने विभूति बढाई । इसप्रकार उससेवाके संस्कारसे वह माता ऐसी सुशोभित होनेलगी जैसे अग्निके संस्कारसे मणि सुशोभित होने लगता है ॥ १७०-१७१ ॥ उन सब देवियोंने स्वर्गलोकसे लाये हुये पवित्र द्रव्योंसे प्रथम ही माताका गर्भशोधन किया और फिर वे अनेक तरहसे माताकी सेवा करने लगीं ॥ १७२ ॥ वह माता मरुदेवी स्वभावसे ही निर्मल और सुंदर थी और फिर देवि-योंके द्वारा विशुद्ध किये जानेपर वह ऐसी सुशोभित होनेलगी मानों उसका शरीर शुद्ध स्फटि

चार्वी भूस्ताभिर्विशोधिता । सा शुचिस्फटिकेनेव घटितांगी तदा बभौ ॥ ७३ ॥ काश्चिन्मंगलधारिण्यः काश्चित्तांबूलदायिकाः ॥ काश्चिन्मज्जनपालिन्यः काश्चिदासन् प्रसाधिकाः ॥ ७४ ॥ काश्चिन्महानसे युक्ताः शय्याविरचने पराः ॥ पादसंवाहने काश्चित्काश्चिन्माल्यैरुपाचरन् ॥ ७५ ॥ प्रसाधनविधौ काचित्स्पृशंती तन्मुखांबुजं । सानुरागं व्यधात्तोरीं प्रभेवाब्जं सरोरुहं ॥ ७६ ॥ तांबूलदायिनी काचिद्बभौ पत्रैः करास्थितैः । शुकाध्यासितशाखाग्रा लतेवामरकामिनी ॥ ७७ ॥ काचिदाभरणान्यस्यै ददती मृदुपाणिना । बिबभौ कल्पवल्लीव शाखाग्रोद्धितभूषणा ॥ ७८ ॥ वासः क्षौमं स्रजो दिव्याः सुमनोमंजरीरपि । तस्यै समर्पयामासुः काश्चित्कल्पलता इव ॥ ७९ ॥ काचित्सौगंधिकाकृष्टद्विरेफैरनुलेपनैः । स्वकरस्थैः कृतामोदां वर्तिरिवारुचत्

कमणिसे ही बनाया गया हो ॥ १७३ ॥ माताकी सेवा करनेवाली देवियोंमेंसे किसीने तो दर्पण आदि अष्ट मंगल द्रव्य धारण किये, कोई माताको तांबूल देनेके कामपर, कोई माताको स्नान करानेके कामपर और कोई माताको आभूषण पहनानेके कामपर नियुक्त हुई ॥ १७४ ॥ कोई भोजन तयार करनेके कामपर और कोई शय्या विछोना आदि विछानेपर नियुक्त हुई । कोई पांव दावकर और कोई पुष्पमाला पहनाकर माताकी सेवा करने लगी ॥ १७५ ॥ जिसप्रकार सूर्यकी प्रभा कमलिनीके कमलको अनुराग अर्थात लालिमासहित प्रफुलित बना देती है उसी प्रकार जो देवियां माताका अलंकार कर रहीं थीं वह उसके मुखरूपी कमलको स्पर्श करती हुई उसे अनुराग सहित प्रफुल्लित कर रही थीं ॥ १७६ ॥ जो तांबूल देनेवाली देवी थी वह हाथमें पान लिये ऐसी सुशोभित होती थी मानों जिसकी शाखाके अग्रभागपर शुक (तोता) बैठा हो ऐसी कोई लता ही हो ॥ १७७ ॥ जो अपने कोमल हाथोंसे माताके लिये आभूषण दे रही थी वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों जिसकी शाखाके अग्रभागपर अनेक आभूषण लगे हों ऐसी कोई कल्पलता ही हो ॥ १७८ ॥ माता मरुदेवीके लिये कोई देवी तो कल्पलताके समान रेशमी वस्त्र दे रही थी कोई दिव्य मालायें दे रही थी और कोई फूलोंके गुच्छे दे रही थी ॥ १७९ ॥ कोई देवी अपने हाथपर रक्खे हुये शरीरपर लेपन करने योग्य अति

॥ ८० ॥ अंगरक्षाविधौ काश्चिदुत्खातासिलता बभुः । सरस्य इव विस्रस्तपाठीनाः सुरयोषितः ॥ ८१ ॥ संमार्जुर्महीं काश्चिदाकीर्णां पुष्परेणुभिः । तद्गंधासंगिनो भृंगानाधुनानास्तनांशुकैः ॥ ८२ ॥ कुर्वंति स्मापराः सांद्रचंदनच्छटयांक्षितां । क्षितिमार्द्रांशुकैरन्या निर्ममार्जुरतंद्रिताः ॥ ८३ ॥ कुर्वते बलिविन्यासं रत्नचूर्णैः पुरोपराः । पुष्पैरुपहरंत्यन्यास्ततामोदैर्द्रुमशाखिनां ॥ ८४ ॥ काश्चिद्दर्शितदिव्यानुभावाः प्रच्छन्नविग्रहाः । नियोगैरुचितैरेनामनारतमुपाचरन् ॥८५॥ प्रभातरलितां काश्चिद्दधानास्तनुयष्टिकां । सौदामिन्य इवानिन्युरुचितं रुचितं च यत् ॥८६॥ काश्चिदंतर्हिता देव्यो देव्यै दिव्यानुभावतः ।

शय सुगंधित द्रव्यको दे रही थी उसकी सुगंधिसे आकर्षित हुये अनेक भ्रमर आकर उसपर गुंजार शब्द कर रहे थे जिससे वह देवी ऐसी सुशोभित होती थी मानों सुगंधि द्रव्यकी उत्पत्तिको निरूपण करनेवाले शास्त्रकी युक्ति ही हो ॥ ॥ १८० ॥ अनेक देवियां हाथमें नंगी तलवार लेकर माताकी रक्षा करती हुई ऐसी सुशोभित होती थीं मानों मछलियोंसे भरा हुआ कोई छोटासा सरोवर ही हो ॥ १८१ ॥ कितनी देवियां पुष्पकी परागसे भरे हुये आंगनमें बुहारी दे रही थीं और उस परागकी सुगंधसे आकर बैठे हुये भ्रमरोंको अपने स्तन ढकनेके अंचलसे उडाती भी जाती थीं ॥ १८२ ॥ कितनी ही देवियां सावधान होकर पहिले दिनकी चंदन छिडकी हुई भूमिको गीले कपडेसे साफ करती थीं और कितनी ही घिसे हुये गाढे चंदनसे उसपर छिरकाव करती थीं ॥ १८३ ॥ कोई देवी माताके सामने रत्नोंके चूर्णसे रंगावलीकी रचना करती थी और कोई चारों ओर सुगंधिको फैलानेवाले कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे माताकी पूजा करती थी ॥ १८४ ॥ कितनी ही देवियां मनुष्योंकी स्त्रियोंके रूप धारणकर और अपनी दिव्य सामर्थ्य प्रगटकर नियुक्त किये हुये अपने कार्योंके द्वारा माताकी निरंतर सेवा किया करती थीं ॥ १८५ ॥ कितनी ही देवियां अतिशय प्रकाशमान शरीरको धारण करती हुई बिजलीके समान माताके योग्य और अच्छे लगनेवाले पदार्थ देती थीं ॥ १८६ ॥ कितनी ही देवियां अदृश्य होकर अपनी अलौकिक शक्तिके प्रभावसे माताके

स्रजः दुकूलमाहारं भूषां चास्यै समर्पयन् ॥ ८७ ॥ अंतरिक्षस्थिताः काश्चिदनालक्ष्यमूर्तयः । यत्नेन रक्ष्यतां देवीत्युच्चैर्गिरमुदाहरन् ॥ ८८ ॥
गते ष्वंशुकसंधानमासितेष्वासनाहृतिं । स्थिते षु परितः सेवां चक्रुरस्याः सुरांगनाः ॥ ८९ ॥ काश्चिदुच्चैःपुरोभागे तिरस्कृत मणिदीपिकाः । निशामुखेषु
हर्म्याग्रे दिधुन्वानः स्तमोभितः ॥९०॥ काश्चिन्नीराजयामासुरुचितैर्बलिवर्मभिः ॥ न्यस्यन्मंत्राक्षरैः काश्चिद्रस्यै रक्षामुपाक्षिपन् ॥९१॥ नित्यजागरितैः काश्चिद्निमेषा
लसलोचनाः । उपासांचक्रिरे नक्तं तां देव्यो विधृतायुधाः ॥९२॥ कदाचिज्जलकेलीभिर्वनक्रीडाभिरन्यदा ॥ कथागोष्ठीभिरन्येद्युर्देव्यस्तां धृतिं व्यधुः ॥९३॥

लिये माला वस्त्र आहार आभूषण आदि पदार्थ देती थीं ॥ १८७ ॥ कितनी ही देवियां ऊपर आकाशमें अदृश्य होकर बडे ऊंचे शब्दोंसे कहतीं थीं कि माता मरुदेवीकी रक्षा बडे यत्नसे करना ॥ १८८ ॥ वे देवियां अनेक प्रकारसे माताकी सेवा करती थीं जब माता चलती थी तब वे देवियां उसके कपडे ऊपर उठा लेती थीं जब वह बैठना चाहती थी तब वे सिंहासन ला देती थीं और जब वह खडी होती थी तब वे देवियां उसके चारों ओर खडी होकर अनेक प्रकारसे माताकी सेवा करती थीं ॥ १८९ ॥ कितनी ही देवियां रात्रिके समय राजमहलकी ऊपरी छतपर अतिशय प्रकाशमान अनेक मणियोंके दीपक रखतीं थीं जिनसे चारो ओरका सब अंधकार नष्ट हो जाता था ॥ १९० ॥ कितनी ही देवियां सायंकालके समय यथायोग्य वस्तुओंके द्वारा माताकी आरती उतारती थीं अथवा किसीका दृष्टिदोष [नजर] न लगजाय इसलिये उचित वस्तुओंके द्वारा उतारना उतारती थीं और कितनी ही देवियां किसी मंत्रके कुछ अक्षर पढकर इसके रक्षाबंधन बांधती थीं ॥१९१॥ प्रतिदिन जागरण करनेसे जिनके नेत्रोंमें खूब आलस भरा हुआ है अथवा उस आलससे जिनके नेत्र टिमिकार रहित हो गये हैं ऐसी कितनी ही देवियां रात्रिमें शस्त्र धारणकर माताकी सेवा करती थीं ॥ १९२ ॥ वे देवांगनायें किसीदिन जलक्रीडा और किसीदिन बनक्रीडा कराकर तथा किसीदिन मनोहर कथायें कहकर माताको संतुष्ट करती थीं ॥ १९३ ॥ तथा किसीदिन गीतोंकी चरचा किसी-

कदाचिद्गीतगोष्ठीभिर्वाद्यगोष्ठीभिरन्यदा । कदाचिन्नृत्यगोष्ठीभिर्देव्यस्तां पर्युपासत ॥ ९४ ॥ काश्चित्प्रेक्षणगोष्ठीषु सलीलानर्तितभ्रुवः । वर्धमानलयैर्नेटुः सांगहाराः सुरांगनाः ॥ ९५ ॥ काश्चिन्नृत्तविनोदेषु रेजिरे कृतरेचकाः । नभोमार्गे विलोलाङ्ग्यः सौदामिन्य इवोरुचः ॥ ९६ ॥ काश्चिदाराचितैः स्थानैर्बभुर्विक्षिप्तबाहवः । शिक्षमाणा इवानंगाद्धनुर्वेदं जगज्जये ॥ ९७ ॥ पुष्पांजलिं किरन्त्येका परितो रंगमंडलं । मदनग्रहमावेशे योक्तुकामेव लक्षिता ॥ ९८ ॥ तद्वृरोजसरोजातमुकुलानि चकंपिरे । अनुवर्तितुमन्यासामिव नृत्तं कुतूहलात् ॥ ९९ ॥ अपांगशरसंधानैर्भ्रूलताचापकर्षणैः । धनुर्गुणनिक्वा-

---

दिन बाजोंकी चरचा और किसी दिन न्टत्योंकी चरचाकर वे देवांगनायें माताकी सेवा करती थीं । १९४ कितनी ही देवांगनायें नेत्रोंके द्वारा ही अपने अभिप्राय बतलानेके लिये बडी लीलाके साथ अपनी भौंहें नचाती थीं और वढते हुये तालके साथ शरीरको मोडती हुई न्टत्य करती थीं । १९५॥ कितनी ही देवांगनायें न्टत्य करते समय ऊपर आकाशमें जाकर फिरकी लेती थीं और उससमय अपनी शरीरकी कांति और चंचल अंगोंके द्वारा वे ठीक विजलीके समान जान पडती थीं । १९६ ॥ न्टत्य करते समय नाट्यशास्त्रकी आज्ञानुसार जहां जहां चाहिये वहीं वहीं अपने हाथोंको फैलाती हुई वे देवांगनायें ऐसी सुशोभित होती थीं मानों संसारको जीतनेके लिये साक्षात् कामदेवसे धनुषविद्या ही सीख रहीं हों । १९७ ॥ कोई देवांगना रंगावलीके चारोंओर हाथमें लेलेकर फूल वखेर रही थी और उससमय ऐसी जान पडती थी मानों कामदेवको प्रवेश करानेके लिये ही वह नियुक्त की गई हो । १९८ ॥ न्टत्य करती हुई उन देवांगनाओंके स्तनरूपी मुकुलित कमल हिलते थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों न्टत्य करती हुई उन देवांगनाओंका अनुकरण कर कौतूहलवश नृत्य ही कर रहे हों ॥ १९९ ॥ देवांगनाओंकी वह नृत्यगोष्ठी ऐसी जान पडती थी मानों कामदेवकी धनुषविद्याका बार बार किया हुआ अभ्यास ही हो । क्योंकि जिसप्रकार धनु-षविद्याके सीखनेमें बार २ वाणोंका निशाना छोडना पडता है और बार २ चाप खींचना पडता है

सीम्नृत्तगोष्ठी मनोभुवः ॥ २०० ॥ स्मितमुद्भिन्नदंतांशु पाठ्यं कलमनाकुलं । सापांगवीक्षितं चक्षुः सलयश्च परिक्रमः ॥ १ ॥ इतीदमन्यदप्यासां धत्तेनंगशरांगतां । किमंगसंगतं भावैरांगिकैरसतां गतैः ॥ २ ॥ चारिभिः करणैश्चित्रैः सांगहारैश्च रेचकैः । मनोरमाः सुरनर्तक्यश्चक्रुः संप्रेक्षणोत्सुकं ॥ ३ ॥ काश्चित्संगीतगोष्ठीषु दरोद्भिन्नस्मितैर्मुखैः । बभुः पद्मैरिवाब्जिन्यो विरलोद्भिन्नकेसरैः ॥ ४ ॥ काश्चिदोष्ठाग्रसंदष्टवेणवोऽणुभ्रुवोबभुः । मदनाग्निमिश्रा

उसीप्रकार उस नृत्यगोष्ठीमें भी बार बार कटाक्षरूपी बाणोंका निशाना छूट रहा था और बार बार लताके समान टेडे ऐसे भौंहरूपी चाप खींचे जाते थे । २०० । नृत्य करते समय वे सब देवियां अपने दांतोंकी किरणें फैलाकर मंदरूपसे किंचित् हंसती जाती थीं, स्पष्ट और मधुर गीत गाती थीं, नेत्रोंसे कटाक्ष फेंकती थीं और तालके साथ साथ पैर उठाती थीं । उन देवियोंका वह ऐसा नृत्य तथा और भी अनेक हाव भाव विलास आदि सब कामदेवके बाणोंके सहायक जान पडते थे और शृंगारके परमरसको प्राप्त हुई ऐसी उनकी शरीरसंबंधी चेष्टाओंसे मिलकर बना हुआ उनका शरीर सर्वथा अवर्णनीय (कहनेमें न आवे) हो रहा था ॥ २०१-२०२ ॥ वे नृत्य करनेवालीं देवियां अनेक प्रकारकी गति, पुष्पोंपर नृत्य, और विचित्र शरीरकी चेष्टासहित फिरकी आदिके द्वारा माता मरुदेवीका मन उस नृत्यके देखनेके लिये उत्कंठित करती थीं ॥ २०३ ॥ कितनी ही देवांगनायें गीत गाते समय मंद मंद हंसते हुये मुखसे ऐसी सुशोभित होती थीं मानों जिसपर थोडीसी केसर निकली है अर्थात् जो किंचित् प्रफुल्लित हुआ है ऐसे कमलसे कमलिनी (कमलकी बेल) ही सुशोभित हो रही हो ॥ २०४ ॥ जिनकी भौओंके बाल बहुत छोटे छोटे हैं ऐसी कितनी ही देवांगनायें अपने ओठोंसे वीणा दबाकर बजाती हुई ऐसी सुशोभित होती थीं मानों कामदेवरूपी अग्निको जाज्वल्यमान करनेकेलिये उसे बडे यत्नसे फूंक रहीं हों ॥ २०५ ॥ वीणा बजानेवालीं कितनी ही देवांगनायें यह एक बडे आश्चर्यका काम कर रहीं थीं

ष्मातुं कृतयत्नाः सपल्लवं ॥ ५ ॥ वेणुध्मा वैणवीर्यष्टीर्मार्जन्त्यः करपल्लवैः ॥ चित्रं पल्लवितांश्चक्रुः प्रेक्षकाणां मनोद्रुमान् ॥ ६ ॥ संगीतकविधौ काश्चित्
संसृत्य परिवादिनी. ॥ करांगुलीभिरानेतुर्गानमामंद्रमूर्छनः ॥ ७ ॥ तंत्र्योमधुरमारेणुस्तत्करांगुलिताडिताः । अयं तांत्रो गुणः कोऽपि ताडनाद्यानि वश्यतां
॥ ८ ॥ वंशैः संदष्टमालोक्य तासां तु दशनच्छदं ॥ वीणालाबुभिराश्लेषि घनं तत्स्तनमंडलं ॥ ९ ॥ मृदंगवादनैः काश्चिद्भुजावुत्क्षिप्य तत्कराः ॥ तत्कला
कौशले श्लाघां कर्तुकामा इवाननैः ॥ १० ॥ मृदंगस्तत्करस्पर्शात्तदा मंद्रं विसस्वनुः ॥ तत्कलाकौशलं तासामुद्घोषयन्त इवोच्चकैः ॥ ११ ॥ मृदंगा

कि वे अपने करपल्लवोंसे (हाथरूपी कोमल पत्तोंसे) वीणाकी लकडीको साफ करती हुई देखनेवा-
लोंके मन रूपी वृक्षोंको भी पल्लवित [कोमलपत्तोंसहित] अर्थात् हर्षित कर रहीं थीं । भावार्थ-
उनके हाथकी चंचलता और सुंदरता देखकर ही लोग बहुत हर्षित हो जाते थे ॥ २०६ ॥ उसी
प्रकार अनेक देवियां गीतसमय हाथमें इकीस प्रकारके गंभीर शब्द करनेवाली वीणा लेकर अपने
हाथकी उंगलियोंसे बजाती हुई गा रहीं थीं ॥ २०७ ॥ उन देवियोंके हाथकी उंगलियोंसे ताडित
हुई वीणा बहुत ही मीठे स्वरसे बजरही थी । सो ठीक ही है संसारमें वीणामें ही यह एक अद्भुत
गुण है कि जो ताडन करनेसे ही वश होती है अर्थात् मीठे स्वरसे बजती है ॥ २०८ ॥ वीणामें
लगे हुये तूंबोंने देखा कि वांस (बजानेकी वंशी) उन देवांगनाओंके ओठोंमें लग गया है यह
देखकर वे तूंबे भी उन देवांगनाओंके कठिन स्तनमंडलसे जा लगे थे । भावार्थ--अनेक देवांगनाओंको
वंशी बजाते देखकर अन्य अनेकदेवांगनायें वीणा बजाने लगीं थीं ॥ २०९ ॥ जो देवियां अपनी
भुजाओंको ऊंची उठाकर मृदंग बजा रही थीं वे ऐसी सुशोभित होती थीं मानों अपने कला-
कौशलकी प्रशंसा करनेके लिये ही भुजायें उठाकर तैयार हुई हों ॥ २१० ॥ उन बजानेवाली
देवियोंके हाथके स्पर्शसे वे मृदंग भी बडे ही मीठे और गंभीर शब्दोंसे बज रहे थे मानों ऊंचे
स्वरसे उन बजानेवालोंके कला कौशलकी घोषणा ही कर रहे हों ॥ २११ ॥ उन देवियोंके हाथसे

न वयं सत्यं पश्यतास्मान् हिरण्मयान् ॥ इतीवारसितं चक्रुस्ते मुहुस्तत्कराहताः ॥ १२ ॥ सुरवाः कृत्वा नैते वादनीयाः कृशस्वनं ॥ इतीव स्वनुद्र पणवाद्याः सुरानकाः ॥ १३ ॥ प्रभातमंगळे काश्चित् शंखानाध्मासिषुः पृथून्। तत्करोत्पीडनं सोढुमक्षम निव सारवान् ॥ १४ ॥ काश्चिन्नादो धैर्य तूर्यं समुत्तालतालकैः ॥ जगुः कलं च मंद्रं च मंगळानि सुरांगनाः । १५ ॥ इति तत्कृतया देवी सा बभौ परिचर्यया ॥ त्रिजगच्छ्रीरिवैकत्र सुसंनीता कथंचन ॥ १६ ॥ दिक्कुमारीभिरित्यात्तसंभ्रमं समुपासिता ॥ तत्प्रभावैरिव विष्टैः सा बभार परां श्रियं ॥ १७ ॥ अंतर्वत्नीमथाम्बां नवमे मासि सादरं॥

बार २ ताडित हुये मृदंग ऐसी मिष्टध्वनि कर रहे थे मानों लोगोंको यही कह रहे हों कि देखो हम केवल मृदंग [मृत् अंग] अर्थात् मिट्टीके बने हुये नहीं हैं किंतु सुवर्णके बने हुये हैं ॥ २१२ ॥ उन देवियोंके द्वारा पणव नगाडे आदि कितने ही जातिके देवोंके बाजे बडे गंभीर और मिष्ट ध्वनिसे बज रहे थे मानों लोगोंको यही कह रहे हों कि देखो हम सदा मीठे शब्दोंमें ही बजा करते हैं कडवे और बुरे शब्द हमसे कभी नहीं निकलते और इसलिये ही बडे परिश्रमसे बजाये जाते हैं ॥ २१३ ॥ प्रातःकालके समय जो देवियां बडे बडे शंख बजा रही थीं उनके द्वारा वे शंख ऐसे बज रहे थे मानों उन देवियोंके हाथकी पीडा सहन न कर सकनेके कारण पुकार ही कर रहे हों ॥ २१४ ॥ प्रातःकालके समय माता मरुदेवीको जगानेके लिये जो ऊंची तालके साथ तूर्य [तुरई] जातिके बाजे बज रहे थे उनके साथ कितनी ही देवांगनायें मिष्ट और गंभीर शब्दोंसे मंगलगीत गारही थीं ॥ २१५ ॥ इसप्रकार वह माता मरुदेवी उन देवियोंकी सेवासे ऐसी सुशोभित होती थी मानों तीनों जगतकी लक्ष्मी किसीतरह एकजगह आकर ही इकट्ठी हुई हो ॥ २१६ ॥ इस प्रकार बडे संभ्रमके साथ दिक्कुमारी देवियां जिसकीसेवा कर रही हैं ऐसी उस मरुदेवीने बडी ही उत्कृष्ट शोभा धारण की थी और वह ऐसी जान पडती थी मानों शरीरमें प्रवेश किये हुये देवियोंके प्रभावसे ही उसने ऐसी शोभा धारण की हो ॥ २१७ ॥

विशिष्टकाव्यगोष्ठीभिरिदं०स्तामियरंजयन् ॥ १८ ॥ निगूढार्थक्रियापादैर्बिंदुमात्राक्षरच्युतैः ॥ देव्यस्तां रंजयामासुः श्लोकैरन्यैश्च केश्चन ॥ १९ ॥ किमिं दुरेको लोकेस्मिँस्त्वयांब मृदुरीक्षितः ॥ आछिनत्सि बलादस्य यदशेषं कलाधनं ॥ २० ॥ (व्याजस्तुतिः) मुखेंदुना जितं नूनं तवाब्जं से द्रुपक्षमं । बिंबमप्यैंदवं साम्यात्संकोचं यात्यदो निशं ॥ २१ ॥ राजीवनालिनिर्जितं सालकेन मुखेन ते ॥ जितं भीतमयापि यात संकोचनं मुहुः ॥ २२ ॥ आजि

अथानंतर-जब नौवां महीना लगनेके दिन समीप आगये तब वे देवियां नीचे लिखे हुये विशेष विशेष काव्यकी कथाओंके द्वारा गर्भिणी माता मरुदेवीका चित्त प्रसन्न करती थीं ॥ २१८ ॥ जिनमें अर्थ गूढ है क्रिया गूढ है पाद गूढ है अथवा विंदु छूटा हुआहै मात्रा छूटी हुई है वा अक्षर छूटा हुआ है ऐसे कितने ही श्लोकोंसे तथा अन्य कितने ही प्रकारके श्लोकोंसे वे देवियां माता मरुदेवीका चित्त प्रसन्न करती थीं ॥ २१९ ॥ वे देवियां कहने लगीं कि हे माता क्या आपने इससंसारमें एक चंद्रमा ही दुर्बल देख पाया है जो इसके समस्त कला-रूपी धनको बलात्कार ग्रहण किये जा रहीं हो । भावार्थ--यह निंदास्तुति है ऊपरसे निंदासी जान पडती है परंतु वास्तवमें स्तुति है । वे देवियाँ कहती हैं कि आपके मुखकी शोभा ज्यों २ वढती जाती है त्यों २ चंद्रमाकी कलायें घटती जाती हैं इससे जान पडता है कि आपने इसकी सब कलायें ग्रहण करली हैं ॥ २२० ॥ हे माता आपके मुखरूपी चंद्रमासे यह कमल अवश्य ही जीता गया है क्योंकि इसलिये ही वह सदा संकुचित होता रहता है । कमलकी इस हारको चंद्रमंडल भी नहीं देख सका है और न आपके मुखको जीत सकता है इसलिये कमलके समान होनेसे वह [illegible] होता रहता है । २२१ । हे माता केशपाशसहित आपके मुखसे यह भ्रमर [illegible] ही जीता गया था और [illegible] डरकर मानों आजतक भी वह बार [illegible] सुदतार्द्रः, [illegible] आपके मुखको कमल समझकर बार

देवा मंदरागं च सेवितुं ॥ सुदंतींद्रैः समं यांति सुंदरीभिः समुत्सुकाः ॥ ३७ ॥ (बिंदुच्युतं) लसद्बिंदुभिराभांति मुखैरंबरवारणाः ॥ घटावटनया व्योम्नि विचरत्-त्रिधा श्रुताः ॥ ३८ ॥ मकरंदारुणं तोयं धत्ते तत्पुरखातिका ॥ सांबुजं क्वचिदुद्बिंदु जलं मकरंदारुणं ॥ ३९ ॥ (मात्राच्युतकप्रश्नोत्तरं) सामजं

अनुस्वार रखकर पाठ दिया गया है इसलिये इसका दूसरा ऐसा अर्थ होता है कि हे देवि ये देवदंती अर्थात् हाथियोंके इंद्र ऐरावत हाथियोंपर चढकर अपनी देवांगनाओंके साथ बडे उत्साहसे नंदीश्वर द्वीप और सुमेरुपर्वतपर क्रीडा करनेकेलिये जारहे हैं। २३७ ॥ हे देवि ! जिनके दोनों कपोलों और सूंडसे मद वह रहा है तथा जो बादलोंकी काली घटाके समान आकाशमें इधर उधर विहार करते हैं ये ऐसे ये देवोंके हाथी मुखपर लगे हुये सफेद बिंदुओंसे बडे ही सुशोभित होते हैं। यह बिंदुच्युतक श्लोक है इसमें बिंदु शब्दपरका अनुस्वार निकालदेनेसे और घटा शब्दके घकारपर अनुस्वार रखदेनेसे दूसरा अर्थ होजाता है और वह यह है कि हे देवि ! दो, अनेक तथा बारहभेदरूप श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले तथा घंटानाद करते हुये आकाशमें विहार करने वाले ये उत्तम देव ज्ञानको धारण करनेवाले अपने सुंदर मुखसे बडे ही सुशोभित होते हैं। २३८ ॥ हे देवि ! देवोंके नगरकी खाईमें ऐसा जल भरा हुआ है जो लाल कमलोंकी परागसे कुछ कुछ लाल हो रहा है जिसमें कमल खिल रहे हैं पानीकी छोटी बूंदें लहरोंके साथ उछल रही हैं और जो मगर मच्छ आदि जलचर जीवोंसे भयानक है। इस श्लोकमें जलके वाचक तोय और जल दो शब्द हैं इन दोनोंमें एकको व्यर्थ अवश्य मानना पडेगा । इसलिये जल-शब्दके अनुस्वारको निकालकर 'जलमकरदारुणं' यह एक पद बना लेते हैं ऐसा करनेसे अर्थ भी नहीं बदलता है और यह श्लोक भी बिंदुच्युतक कहा जाता है। २३९ ॥ हे माता सिंह अपने ऊपर घात करनेवाले हाथियोंके समूहकी क्षणभर भी उपेक्षा नहीं करता है अर्थात् उसे तुरंत

घातुकं बालं क्षणं नोपेक्षते हारिः ॥ का तु कं स्त्री हिमे वांछेत्समजंघा तुकं बलं ॥ ४० ॥ (व्यंजनच्युतकं) जगले कयापि सोत्कंठं किमप्याकुलमूर्च्छनं । विरहेंगनया कांतसमागमनिराशया ॥ ४१ ॥ [अक्षरच्युतकप्रश्नोत्तरं] कः पंजरमध्यास्ते कः परुषनिस्वनः ॥ कः प्रतिष्ठा जीवानां कः पाठ्योक्षरच्युतः ॥ ४२ ॥ शुकः पंजरमध्यास्ते काकः परुषनिस्वनः ॥ लोकः प्रतिष्ठा जीवानां श्लोकः पाठ्योक्षरच्युतः ॥ ४२ ॥ [द्व्यक्षरच्युतप्रश्नो-

---

ही मारता है। तथा हे देवि ! शीत ऋतुमें कौनसी स्त्री क्या इच्छा करती है। माताने उत्तर दिया कि समजंघा अर्थात् गरीब स्त्री शीत ऋतुमें अपने पुत्रकी ही इच्छा करती है। यह मात्राच्युतक श्लोक है इसमें पहिले पादके बाल शब्दमे आकारकी मात्रा निकालकर बल अर्थात् समूह वा सेना ऐसा पाठ पढना चाहिये और अंतके बल शब्दमें आकारकी मात्रा जोडकर बाल अर्थात् पुत्र ऐसा पाठ पढना चाहिये। एक जगह मात्रा च्युत करनेसे दोनों ही जगह मात्राच्युतक कहलाता है ॥ २४० ॥ हे देवि! कोई स्त्री अपने पतिके विरह होनेपर और फिर उसके समागमसे निराश होकर तथा व्याकुल और मूर्छित होकर गदगदस्वरसे कुछ भी क्लेशित हो रही है। इस श्लोकका ऐसा अर्थ करनेसे असंगतसा जान पडता है क्योंकि क्लेशित न तो गदगदस्वरसे ही हुआ जाता है और न उसके साथ 'कुछ भी' यह विशेषण लग सकता है इसलिये इस श्लोककी 'जग्ले' क्रियामेंसे लकारको निकालकर जगे पढना चाहिये और उसका अर्थ यह करना चाहिये कि वह गदगदस्वरसे कुछ भी गा रही है। इस श्लोकमें लकार व्यंजन च्युत किया गया है इसलिये इसे व्यंजनच्युतक कहते हैं ॥ २४१ ॥ इसप्रकार अनेकतरहके चित्रश्लोक सुनाकर वे देवियां फिर चित्र श्लोकोंसे ही पूछने लगीं कि हे माता पिंजरेमें कौन रहता है, कठोरशब्द कौन बोलता है, जीवोंका आधार क्या है और पढने योग्य अक्षरच्युत अर्थात् एक दो अक्षररहित क्या है। इन प्रश्नोंके उत्तरमें माता मरुदेवीने कः इस प्रश्नवाचक अक्षरके पहिले एक एक अक्षर लगाकर ही उत्तर दे दिया, और

चरं]॥ के मधुराराचाः के हारिकंधरे ॥ केनोह्यते गंधः केनाखिलार्थदृक् ॥ ४३ ॥ कोकिनो मधुरारावाः केसरा हारिकंधरे ॥ केतकिनाह्यते गंधः केवलेनाखिलार्थदृक् ॥ २४३ ॥ को मंजुलालापः को विटपी जरन् ॥ को नृपतिर्वर्ज्यः । को विदुषां मतः ॥ ४४ ॥ कोकिलो मधुरालापः कोटरी विटपी जरन् । कोपनो नृपतिर्वर्ज्यः कोविदो विदुषां मतः ॥ २४४ ॥ का स्वरभेदेषु का रुचिहा रुजा ॥ का रमयेत्कांतं का तारनिस्वना ॥ २४५ ॥

ककके प्रत्येक पादमें जो एक २ अक्षर कम था वह भी पूरा कर दिया। यथा- पिंजरेमें शुक (तोता) रहता है काक कठोर शब्द बोलता है जीवोंका आधार लोक है और अक्षरच्युत पढने योग्य श्लोक है ॥ १४२ ॥ देवियोंने फिर पूछा कि हे माता मधुरशब्द किसके होते हैं, सिंहके कंधेपर क्या होते हैं दूरसे ही किसकी गंध जान ली जाती है और किस ज्ञानसे संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान होता है। माता उनके समान प्रश्नमें ही दो दो अक्षरजोडकर उत्तर देती है कि कोकी अर्थात् समूह ही मधुर शब्दों-से बोलते हैं, सिंहके कंधेपर केसर (बालोंका समूह) होती है, केतकीकी गंध दूरसे जान ली जाती है और केवलज्ञानसे संपूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्षज्ञान हो जाता है। श्लोकके इस प्रत्येक पादमें दो दो अक्षर कम हैं जो कि उत्तरमें दो दो अक्षर मिलानेसे पूरे हो जाते हैं ॥२४३॥ इसीप्रकार वे देवांगनायें फिर पूछती हैं कि मधुरध्वनि किसकी होती है, सबसे पुराना वृक्ष कौनसा है, कैसा राजा छोडदेने योग्य है और विद्वान् लोग किसको मान्य समझते हैं। माता इसी श्लोकके दो दो कम अक्षरोंको पूराकर उत्तर देती है कि को-किलकी मधुरध्वनि होती है सबसे पुराना वृक्ष वही है जिसमें कोटर (खोल) हो, क्रोधी राजा छोड देने योग्य है और विद्वान् लोग पूर्ण विद्वान्को ही मान्य समझते हैं। २४४ ॥ देवियां फिर पूछती हैं कि हे मात: स्वरके अनेक भेदोंमें उत्तम स्वर कौनसा है शरीरकी कांति नष्ट कर देनेवाला रोग कौनसा है पतिको कौन प्रसन्न कर सकती है और गंभीर शब्दोंसे बजनेवाला बाजा कौनसा है। इन प्रश्नोंके उत्तरमें भी माता दो दो अक्षर जोडकर और श्लोकके अक्षर पूर्ण कर उत्तर देती

काकली स्वरभेदेषु कामला रुचिहा रुजा ॥ कामिनी रमयेत्कांतं काहला तारनिस्वना ॥ २४५ ॥ काकली स्वरभेदेषु का मता रुचिहा रुजा । का वधू रमयेत्कांतं काहला तारनिस्वना ॥ ४६ ॥ का कः श्रयते नित्यं का कीं सुरतप्रियां ॥ कानने वदेदानीं चरक्षरविच्युतं ॥ २४७ ॥ कामुकः श्रयते नित्यं कामुकीं सुरतप्रियां ॥ कांतानने वदेदानीं चतुरक्षरविच्युतं ॥ २४७ ॥ तवांब किं वसत्यंतः का नास्त्यविधवे त्वयि ॥ का हंति जनमायूनं

है कि स्वरोंके अनेक भेदोंमें वीणाका स्वर उत्तम होता है शरीरकी कांति नष्ट करने वाला कामला अर्थात् पीलिया रोग है, कामिनी स्त्री पतिको प्रसन्न कर सकती है और गंभीर शब्दोंसे वजनेवाला बाजा काहला (भेरी नगाडा) है ॥ २४५ ॥ देवियां फिर पूछतीं हैं कि हे माता ! स्वरके भेदोंमें कौनसा स्वर अच्छा है, कांतिको नष्ट करनेवाला रोग कौनसा है, कोनसी स्त्री पतिको प्रसन्न कर सकती है और गंभीर शब्द करनेवाला बाजा कौनसा है । इस श्लोकमें पहिले ही प्रश्न हैं तथा वे प्रत्येक पादमें दो दो अक्षर और बढाकर कियेगये हैं और इनके उत्तर भी वे ही हैं जो पहले श्लोकमें कहे गये हैं ॥ २४६ ॥ देवियां फिर पूछती हैं कि हे माता ! ' किसी जंगलमें एक कौवा संभोगप्रिय कागलीको सदा सेवन करता है ' परंतु यह बात असंभव है इसलिये इस श्लोकमें जो चार अक्षर कम हैं उन्हें पूराकर अर्थात् प्रत्येक चरणमें एक एक अक्षर बढाकर उत्तर दीजिये । तव माताने उत्तरमें कहा कि हे कांतानने अर्थात् सुंदरमुखी ' कामी पुरुष संभोगप्रिय ऐसी कामिनीको सदा सेवन करता है । इस श्लोकमें देवियोंने जो प्रत्येक चरणमें एक एक अक्षर कम कहा था उसे पूराकरके माताने यथार्थ अर्थ कहा है । २४७ ॥ वे देवियां फिर पूछती हैं कि हे माता आपके गर्भमें कौन निवास करता है, हे सौभाग्यवती ऐसी कौनसी चीज है जो आपके पास नहीं है और बहुत भूखे मनुष्यको मारनेवाला कोन है । इन प्रश्नोंका ऐसा उत्तर दीजेये जिनमें अंतका अक्षर तो सबमें एकसा हो और वह व्यंजन हो परंतु पहिलेके अक्षर भी व्यंजन हों और

वदाद्वैर्व्यंजनैः पृथक् ॥ ४८ ॥ वराशनेषु को रुच्यः को गंभीरो जलाशयः ॥ कः कांतस्तव तन्वंगि वदादिव्यंजनैः पृथक् ॥ ४९ ॥ कः समुत्सृज्यते धान्ये घटयत्यंब को घटं ॥ वृषान्दशति कः पापी वदाद्यैरक्षरैः पृथक् ॥ २५० ॥ संबोध्यसे कथं देवि किमस्त्यस्ति क्रियापदं । शोभा च कीदृशी व्योम्नि

अलग अलग हों। माताने उत्तरमें कहा कि तुक्, शुक्, रुक्। इनमें अंतके अक्षर एकसे हैं और पहिलेके अलग २ हैं इनका अर्थ यह है कि मेरे गर्भमें तुक् अर्थात् पुत्र है, मेरे समीप शुक् अर्थात् शोक नहीं है और भूखे मनुष्यको रुक् अर्थात् रोग मार देता है ॥२४८॥ इसीप्रकार वे देवियां फिर पूछने लगीं कि हे तन्वंगि! उत्तम भोजनोंमें भी रुचि उत्पन्न करनेवाला क्या है, अत्यंत गहरा जलाशय (जिसमें पानी हो) कौनसा है और आपका पति कौन है! इन प्रश्नोंका उत्तर भी उसी प्रकार दीजिये कि जिनमें प्रथम अक्षर अलग२हों। माताने उत्तर दिया कि सूप, कूप, भूप। अर्थात् भोजनोंमें रुचि उत्पन्न करनेवाली सूप अर्थात् दाल है गहरा जलाशय कूप अर्थात कूआ है, मेरा पति भूप अर्थात् महाराज नाभिराज है। २४९ देवियां फिर पूछती हैं कि हे माता धानोंमेंसे कौनसी चीज छोड दी जाती है, घडेको कौन बनाता है और कौनसा पापी चूहोंको खाता है। इनका उत्तर भी उसीप्रकार दीजिये जिनमें प्रथम अक्षर अलग अलग हों। माताने उत्तरमें कहा कि पलाल, कुलाल, विडाल। भावार्थ—धानोंमेंसे पलाल अर्थात् तृण वा भूसी छोड दी जाती है घडेको कुलाल अर्थात् कुंभार बनता है और चूहोंको विडाल अर्थात् बिलाव खा जाता है।२५०॥ देवियां फिर पूछती हैं कि दे देवि! आपका संबोधन क्या है, अस्ति अर्थात् है इसको कहनेवाला अन्य क्रिया पद कौनसा है और कैसे आकाशमें शोभा जान पडती है आप इन सब प्रश्नोंका एक ही उत्तर दीजिये। माताने उत्तर दिया कि इस श्लोकमें जो भवति शब्द है वही तीनों प्रश्नोंका उत्तर है अर्थात् मेरा संबोधन भी भवति अर्थात् हे भवति (भवती शब्दका संबोधन) हे पूज्य है। अस्तिका वाचक भी भवति (भू धातुका वर्त-

भवतीदं निगद्यतां ॥ ५१ ॥ (बहिर्लापिका ॥) जिनमानम्रनाकौकोनायकार्चितसत्क्रमं । क्रमाहुः कारिणं चोद्यल्लक्षणं कदितं विदुः ॥ ५२ ॥ भो केतकादिवर्णेन संध्यादिसजुषामुना ॥ शरीरमध्यवर्णेन त्वं सिंहत्वमुपलक्षय ॥ ५३ ॥ (शब्दप्रहेलिका) आसादयति यद्रूपं करेणुः करणैर्विना । तत्त

मान प्रथमाका एकवचन) है और भवति (जिसमें भ अर्थात् नक्षत्र हों उसे भवत् अर्थात् आकाश कहते हैं भवत् शब्दके सप्तमीका एकवचन भवति बनता है) अर्थात् नक्षत्र सहित आकाशमें अच्छी शोभा जान पडती है। यह निन्हतैकालापक श्लोक कहलाता है। ऐसे श्लोकके प्रश्नोंका उत्तर उसीमें छिपा रहता है ॥ २५१ ॥ वे देवांगनायें फिर पूछती हैं कि हे माता! देवोंके स्वामी इंद्र भी अतिशय नम्र होकर जिनके उत्तम चरणोंकी सेवा करते हैं ऐसे जिनेंद्रदेवको क्या कहते हैं और जिसके सब लक्षण अच्छे हैं ऐसे हाथीको किस नामसे पुकारते हैं माताने उत्तर दिया ' सुरवरद ' अर्थात् जिनेंद्रदेवको सुरवरद अर्थात् देवोंको वर देनेवाले कहते हैं और सुलक्षण हाथीका नाम भी सु-रव-रद (अर्थात् जिसका शब्द और दांत दोनों ही अच्छे हों) है। यह वहिर्लापक श्लोक कहाजाता है इसमें बाहरसे उत्तर देना पडता है । २५२ ॥ वे देवांगनायें फिर पूछती हैं कि हे माता केतकी कुंद आदि पुष्पोंके वर्णके समान, संध्याके सुवर्णके समान और शरीरके मध्यवर्ती एक वर्णके समान इस अपने पुत्रको तू सिंह ही समझ। यह सुनकर माताने उत्तर दिया कि ठीक है केतकी शब्दका पहला अक्षर के, संध्या शब्दका पहिला अक्षर ' स ' और शरीरका मध्यवर्ण (बीचका अक्षर) ' री ' इन तीनों को मिलानेसे ' केसरी ' यह शब्द सिंहका वाचक ही बनता है और इस श्लोकका यह ही अर्थ है। इसे शब्द प्रहेलिका कहते हैं ॥ २५३ ॥ देवियां फिर कहती हैं कि हे कमलों के दलके समान सुंदर नेत्रोंको धारण करनेवाली देवि! करेणु शब्दमेंसे करण शब्दको घटादेनेसे बचे हुये शेष

कनकपत्रं वो भवत्वक्षयमव्ययं ॥ ५४ ॥ (आदिविषमंतरालापकं प्रश्नोत्तरं) कः कीदृग् नृपैर्दंड्यः कः खे भाति कुतो भीः ॥ भीः कीदृग्भिर्वसते नानागारविराजितः ॥ ५५ ॥ [बहिरालापकमंतर्विषमप्रश्नोत्तरं] त्वत्तनौ कात्र गंभीरा राज्ञो दोर्लंब आकुतः । कीदृक्किंतु विगाढव्यं त्वं च कीदृग्व्या कथं सति

अक्षरोंसे जो रूप बनता है वह आपके लिये अक्षय और अविनाशीक हो। हे माता बताइये वह क्या है। माताने उत्तर दिया कि करेणुः– करण = अ ए उः इन तीनों अक्षरोंकी संधि होनेसे अ + अय् + उः = आय् उः = आयुः। अर्थात् करेणु शब्दमेंसे करण घटा देनेसे आयुः बच रहता है। २५४ ॥ देवियां फिर पूछती हैं कि हे माता। राजाओंके द्वारा कौन दंडनीय नहीं हैं, आकाशमें कौन सुशोभित होता है भय किससे लगता है और भयवाला पुरुष कहां निवास करता है। इन प्रश्नोंके उत्तरमें माताने श्लोकका चौथा चरण कहा और उसमें सब प्रश्नोंका उत्तर आगया। यथा- अनागा [जिसके आगः अर्थात् अपराध न हो] अर्थात् अपराध रहित पुरुष दंडनीय नहीं है, आकाशमें रविः अर्थात् सूर्य सुशोभित होता है, भय आजितः अर्थात् युद्धसे लगता है और भयवान पुरुष नानागारविराजितः अर्थात् अनेक घरोंमें निवास करता है। यह आदिविषम अंतरालापक श्लोक है ॥ २५५ ॥ वे देवांगनायें फिर प्रश्न करने लगीं कि हे माता! आपके शरीरमें गंभीर क्या है महाराज नाभिरायकी भुजायें कहांतक लंबी हैं, कितने गहरे जलमें प्रवेश करना चाहिये और हे पतिव्रते आप किसप्रकार अधिक प्रशंसनीय हैं। इन प्रश्नोंके उत्तरमें माताने अपनी ओरसे श्लोकका एक चरण बनाकर कहा और उसमें सब प्रश्नोंका उत्तर आगया। वह चरण यह है 'नाभिराजानुगाधिकं' अर्थात् मेरे शरीरमें गंभीर नाभि है, महाराजकी भुजायें आजानु अर्थात्, घोंटूतक लंबी हैं, गाधिक अर्थात् नाभिपर्यंततक जलमें स्नान करना अच्छा है और नाभिराजानुगाधिकं अर्थात् महाराज नाभिराजकी अज्ञाकारिणी होनेसे मैं अधिक प्रशंसनीय

॥ ५६ ॥ त्वां विनोदयितुं देवि प्राप्ता नाकालयादिमाः । नृत्यंति करणैश्चित्रैर्नभोरंगे सुरांगनाः ॥ ५७ ॥ [गोमूत्रिका] त्वमंत्र रेचितं पश्य नाटके सुरसान्वितं । स्वमंब रेचितं वैश्यपेटकं सुरसारितं ॥ ५८ ॥ वसुधा राजते तन्वि परितस्त्वद्गृहांगणं । वसुधारानिपातेन दधतीव महानिधिं ।५९। वसुधारानिभेनारात्स्वर्गश्रीस्त्वामुपासितुं ॥ सेयमायाति पश्यैनां नानारत्नांशुचित्रितां ॥ ६० ॥ (अर्धभ्रमः) मुदेस्तु वसुधारा ते देवताशीस्ततांबरा ।

गिनी जाती हूं । यह बहिर्लापक अंतर्विषय प्रश्नोत्तर है । इसमें बाहरसे उत्तर देना पडता ॥ २५६ ॥ इसप्रकार उन देवियोंने अनेक चित्र विचित्र प्रश्न किये और सबके यथेष्ट उत्तर मातासे पाये तब वे फिर चित्रवद्ध श्लोकोंसे माताकी स्तुति करनेलगीं कि–हे देवि ! देखो ये देवांगनायें आपको प्रसन्न करनेकेलिये स्वर्गलोकमे आकर आकाशरूपी रंगभूमिमें संगीतशास्त्रमें कहे हुये स्वास्तिक आदि अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा नृत्य कर रही हैं ॥ २५७ ॥ हे देवि ! आपके आंगनके ऊपर जो नाटक हो रहा है उसमें हाव भाव विलासआदि रससहित यह नृत्य देखिये तथा हे माता देवोंके द्वारा लायागया और एक जगह इकट्ठा हुआ यह अप्सराओंका समूह देखिये । इस श्लोकमें देवियोंनें गोमूत्रिकावद्ध श्लोकसे नृत्य देखनेकेलिये मातासे प्रार्थना की है ॥ २५८ ॥ हे तन्वि ! रत्नोंकी वर्षासे यह आपके घरके आंगनके चारोंओरकी भूमि ऐसी सुशोभित होरही है मानों इसने कोई बडा भारी खजाना इकट्ठा किया हो ॥ २५९ ॥ हे देवि ' रत्नोंकी वर्षाके बहानेसे यह स्वर्गकी लक्ष्मी आपकी सेवा करनेकेलिये आई है अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे यह कैसी चित्रविचित्र हो रही है इसे देखिये ॥ २६० ॥ हे स्तुतादेशे अर्थात् जिसकी आज्ञा प्रशंसनीय है ऐसी तथा हे वशीशे ' अर्थात् इंद्रिय वश करनेवालोंमें भी मुख्य ऐसी हे मरुदेवी ' जिसने देवताओंके आशीर्वादसे आकाशको व्याप्त कर रक्खा है, जो अत्यंत सुशोभित है जो प्राणियोंके परिभ्रमण रूप दरिद्रताको नाश करनेवाली है और नम्रीभूत होकर आकाशसे पडरही है ऐसी

स्तुतादेशे नता ताभ्यां वत्सीशे स्वस्तनरत्नसुः ॥ ६१ ॥ इति ताभिः प्रयुक्तानि दुष्कराणि विशेषतः ॥ जानाना मुदितं तेन सा भितो सुमहिता ॥६२॥ निसर्गाच्च धृतिस्तस्याः परिज्ञानेभवत्परा ॥ प्रज्ञामयं परंज्योतिरुद्वहंत्या निजोदरे ॥ ६३ ॥ सा तदात्मीयगर्भांतर्गतं तेजोतिनमपुरं ॥ दधानार्कांशुगर्भेव प्राची प्राप परां रुचिं ॥ ६४ ॥ सूचिता वसुधारोरुदीपेनाधः कृतार्चिषा ॥ निधिगर्भस्थलीवासौ रेजे राजीवलोचना ॥ ६५ ॥ महासत्वेन तेनासौ गर्भस्थेन परां श्रियं । बभार रत्नगर्भेव भूमिराकरगोचरा ॥ ६६ ॥ स मातुरुदरस्थोपि नास्याः पीडामजीजनत् । दर्पणस्थोपि किं वन्हिर्दहेत्तं प्रतिबिं-

---

आपके घर होनेवाली रत्नवृष्टि जीवोंको आनंद देनेवाली हो । २६१ ॥ इसप्रकार उन देवियोंने जो कठिन २ श्लोक पूछे थे उन सबके अर्थोंको विशेष रीतिसे जानती हुई वह मरुदेवी माता बडे सुखसे अपने दिन व्यतीत करती थीं ॥ २६२ ॥ वह माता मरुदेवी स्वभावसे ही सदा आनंदित रहनेवाली थी फिर जब उसे यह मालूम हो गया कि मेरे गर्भमें ज्ञानस्वरूप और परम ज्योतिरूप श्रीवृषभदेव विराजमान हैं तब उसे और भी अधिक आनंद हुआ ॥ २६३ ॥ जिसप्रकार प्रातःकालके समय सूर्यकी किरणोंको धारण करनेवाली पूर्व दिशा सुशोभित होती है उसीप्रकार उससमय अतिशय दैदीप्यमान गर्भके अंतर्गत तेजको धारण करनेवाली वह मरुदेवी भी बहुत ही सुशोभित हो रही थी॥ २६४॥ अन्य सब कांतियोंको मंद करनेवाली ऐसी आकाशसे पड़ती हुई रत्नोंकी धारारूपी दीपकसे जिसकी पूर्ण अवस्था जानली गई है ऐसी कमलके समान सुंदर नेत्रोंको धारण करनेवाली मरुदेवी ऐसी सुशोभित होती थी मानों किसी दीपकसे जानी गई ऐसी किसी खजानेको धारण करनेवाली भूमि ही सुशोभित हो रही हो ॥ २६५ ॥ जिसप्रकार रत्नोंको धारण करनेवाली किसी खजाने की भूमि सुशोभित होती है उसीप्रकार गर्भमें विराजमान अतिशय बलशाली महाराज वृषभदेवके निमित्तसे महारानी मरुदेवीने भी बडी अच्छी शोभा धारण की थी ॥ २६६ ॥ वे श्रीवृषभदेव अपनी माता मरुदेवीके उदरमें रहकर भी उसे किसीप्रकारकी पीडा नहीं देते थे सो ठीक

बितः ॥ ६७ ॥ त्रिवलीभंगुरं तस्यास्तथैवास्थात्तनूदरं ॥ तथापि ववृधे गर्भस्तेजसः प्राभवं हि तत् ॥ ६८ ॥ नोदरे विकृतिः कापि स्तनौ न नीलचूचुकौ । न पांडुवदनं तस्याः गर्भोप्यवृद्धदद्भुतं ॥ ६९ ॥ स्वामोदं मुखमेतस्या राजा प्रायैव सोतृपत् ॥ मदालिरिव पद्मिन्याः पद्ममस्पष्टकेसरं ॥ ७० ॥ सोभाद्विशुद्धगर्भस्थास्त्रिबोधविमलाशयः ॥ स्फटिकागारमध्यस्थः प्रदीप इव निश्चलः ॥ ७१ ॥ कुशेशयशयं देवं सा दधानोदरेशयं ॥ कुशेशयशयेवासीन्माननीया दिवौकसां ॥ ७२ ॥ निगूढं च शची देवी सिषेवे किल साप्सरा ॥ मघानाघविनाशाय प्रहिता ता महासतीं ॥ ७३ ॥ सानंसीत्र परं किं-

---

है दर्पणमें प्रतिबिंबित हुई अग्नि क्या दर्पणको जला सकती है? ॥ २६७ माता मरुदेवीका कृश उदर जैसे पहिले त्रिवलियोंसे सुशोभित था वह वैसा ही बना रहा तथापि भगवानका शरीर बढता ही गया । यह भी भगवानके प्रतापका एक अतिशय था ॥ २६८ ॥ इसके सिवाय एक आश्चर्यकी बात यह भी थी कि न तो माताके उदरमें किसीप्रकारका विकार हुआ, था न स्तनोंके चूचुक (मुह) ही नीले हुये थे और न मुखपर कुछ सफेदी आई थी तथापि गर्भ [बालक] बढता ही रहा ॥ २६९ ॥ जिसप्रकार मदोन्मत्त भ्रमर कमलिनीके कमलकी परागको विना स्पर्श किये ही केवल उसकी सुगंध सूंघकर ही तृप्त हो जाता है उसीप्रकार महाराज नाभिराज भी उस-समय केवल मरुदेवीके सुगंधसहित मुखकी सुगंध लेकर ही तृप्त हो जाते थे ॥ २७० ॥ जिस प्रकार स्फटिकमणिके बने हुये घरके बीचमें रक्खा हुआ निश्चल (स्थिर) दीपक सुशोभित होता है उसीप्रकार विशुद्ध गर्भाशयमें विराजमान और मतिश्रुतअवधिज्ञानकेद्वारा विशुद्ध अंतःकरणको धारण करनेवाले श्रीवृषभदेव भी अतिशय सुशोभित हो रहे थे ॥ २७१ ॥ अनेक देव देवियां जिसकी सेवा कर रही हैं और जिसके उदरमें नाभिकमलके ऊपर श्रीभगवान वृषभदेव विराजमान हैं ऐसी वह मरुदेवी माता साक्षात् लक्ष्मीके समान सुशोभित होती थी ॥ २७२ ॥ इंद्रने अपने समस्त पाप शांत करनेकेलिये महासती माता मरुदेवीकी सेवाके लिये इंद्राणीको भेजा

चित्तम्यते स्म स्वयं जनैः । चांद्री कलेव शंद्रश्रीर्देवीव च सरस्वती ॥ ७४ ॥ बहुनात्र किमुक्तेन श्लाघ्या सैका जगत्त्रये । या स्रष्टुर्जगतां स्रष्ट्री बभूव भुवनांबिका ॥ ७५ ॥ सातिप्रभावभिरामतरांगी श्रीभिरुपामितमूर्तिरमूभिः । श्रीभवने भुवनैककलाग्नि श्रीभृति भूभृति तन्वति सेवा ॥ ७६ ॥ अतिरुचिरतरांगी कल्पवल्लीव साभूत् स्मितकुसुममनूनं दर्शयंती फलाय ॥ नृपतिरपि तदास्याः पार्श्ववर्ती रराज सुरतरुरिव तुंगो मंगलश्रीविभूषः ॥७७॥

था इसलिये वह इंद्राणी भी अनेक अप्सराओंके साथ साथ छिप छिपकर माताकी सेवा किया करती थी ॥ २७३ ॥ जिसप्रकार अतिशय शोभाको धारण करनेवाली चंद्रमाकी कला अथवा सरस्वती देवी किसीके आगे नम्रीभूत नहीं होती है और अन्य सब लोगोंको नम्रीभूत कर देती है उसी-प्रकार माता मरुदेवी भी किसीके आगे नम्रीभूत नहीं होती थी अर्थात् किसीको नमस्कार नहीं करती थी किंतु अन्य सब लोगोंको नम्रीभूत करदेती थी अर्थात् उसे देखकर अन्य सब लोग स्वयं नमस्कार करने लग जाते थे ॥ २७४ ॥ अधिक कहांतक कहा जाय केवल इतने-से ही समझ लेना चाहिये कि तीनों जगतोंमें वह एक ही प्रशंसनीय थी । क्योंकि संसारमें कर्मभूमि अथवा पुनः धर्मकी सृष्टि करनेवाले श्रीऋषभदेवकी जननी थी और इसलिये ही वह तीनों लोकोंकी जननी थी ॥ २७५ ॥ इसप्रकार जो स्वभावसे ही अतिशय सुंदर है श्री ह्री आदि अनेक देवियां जिसकी सेवा करती हैं तथा अनेक प्रकारकी शोभाको धारण करनेवाले महाराज नाभिराज स्वयं जिसकी सेवा करते हैं ऐसी वह मरुदेवी माता तीनों लोकोंमें अतिशय सुंदर ऐसे श्रीभवनमें निवास करती हुई बहुत ही सुशोभित होती थी ॥ २७६ ॥ अतिशय मनोहर अंगोंको धारण करनेवाली वह मरुदेवी एक कल्पलताके समान सुशोभित होती थी और मंदहास्यरूपी पुष्पोंसे लोगोंको दिखला रही थी कि अब शीघ्र ही फल लगनेवाला है अर्थात् त्रैलोक्यनाथ शीघ्र ही उत्पन्न होंगे । इसके समीप ही विराजमान हुये महाराज नाभिराज

ललिततरमथास्यावक्त्रपद्मं सुगंधि स्फुरितदशनरोचिर्मंजरीकेसराढ्यं ॥ वचनमधुरसाशासंसजद्राजहंसं भृशमनयत बोधं बालभानुः समुद्यन् ॥ ७८ ॥ मुहुरमृतमिवास्या वक्त्रपूर्णेंदुरुद्यत् वचनमसृजदुच्चैर्लोकचेतोभिनंदी ॥ नृपतिरपि सतृष्णस्तत्पिपासन् स रेमे स्वजनकुमुदखंडैः स्वं विभक्तं यथास्वं ॥७९॥ इत्याविष्कृतमंगला भगवती देवीभिराप्तादरं । दध्रेतः परमोदयं त्रिभुवने साश्चर्यभूतं महः । राजेनं जिनभाविनं सुतरविं पद्माकरस्यानुयन् सावांः प्रतिपालयन्धृतिमधात्प्राप्तोदयां भूयसीं ॥ ८० ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्स्वर्गावतरणवर्णनं नाम द्वादशं पर्व ॥ १२ ॥

एक ऊंचे कल्पवृक्षके समान सुशोभित होते थे क्योंकि जिसप्रकार कल्पवृक्ष अनेक तरहकी शोभासे विभूषित रहता है उसीप्रकार महाराज नाभिराज भी अनेक मंगलीक शोभाओंसे विभूषित हो रहे थे ॥ २७७ ॥ उससमय माता मरुदेवीका मुख एक कमलके समान था क्योंकि वह बहुत ही सुंदर था बहुत ही सुगंधित था, प्रकाशमान दाँतोंकी किरणरूप मंजरी ही जिसकी केशर थी और बचनरूपी परागरसकी आशासे उसमें अत्यासक्त हुये महाराज नाभिराज ही उसके समीप बैठे हुये हंस थे। इसप्रकारके माता मरुदेवीके मुखरूपी कमलको उत्पन्न होनेवाला वह बालकरूपी सूर्य बहुत ही प्रफुल्लित कर रहा था ॥ २७८ ॥ माता मरुदेवीका मुख पूर्ण चंद्रमाके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार चंद्रमा लोगोंके चित्तको अतिशय आनंदकारी होता है उसीप्रकार माता मरुदेवीका मुख भी लोगोंके चित्तको अतिशय आनंदकारी था और चंद्रमासे जिसप्रकार अमृत उत्पन्न होता है उसीप्रकार माता मरुदेवीके मुखसे बार बार निकलते हुये बचन ही अमृतके समान बरस रहे थे, महाराज नाभिराजको इन बचनरूपी अमृतके पीनेकी बडी ही लालसा थी और वे अपने कुटंबरूपी कुमुदसमूहको [चंद्रविकासी कमलोंके समूहको] यथायोग्य उस बचनामृतका विभागकर तथा अपने भागको इच्छानुसार पीते हुये बडे ही सुखसे निवास करते थे।२७९। इसप्रकार

अथ त्रयोदशं पर्व ।

अथातो नवमासानामत्यये सुषुवे विभुं ।। देवी देवीभिरुक्ताभिर्यथास्वं परिवारिता ।। १ ।। प्राचीव बंधुमब्जानां सा लेभे भास्वरं सुतं ।। चैत्रे मास्यसिते पक्षे नवम्यामुदये रवेः ।। २ ।। विश्वे ब्रह्ममहायोगे जगतामेकवल्लभं ।। भासमानं त्रिभिर्बोधैः शिशुमप्यशिशुं गुणैः ।। ३ ।। त्रिबोधकिरणोद्भासि-

देवियोंके द्वारा बडे आदरसत्कारसे प्राप्त हुये अनेक मंगलोंका अनुभव करती हुई वह माता मरुदेवी अत्यंत सुखदेनेवाले और तीनोंलोकोंको आश्चर्य करनेवाले तेजःपुंज श्रीवृषभनाथको धारण करती थी और कमलवनसे सुशोभित सरोवरके समान महाराज नाभिराज उदय होनेवाले श्रीजिनेंद्ररूपी सूर्यकी अभिलाषा करते हुये उनका अनुनय और पालन करते हुये अतिशय संतोष देनेवाले बडे भारी धैर्यको धारण करते थे ॥२८० ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें स्वर्गावतार वर्णन करनेवाला बारहवां पर्व समाप्त हुआ ॥१२॥

अथ तेहरवां पर्व.

अथानंतर—जिसप्रकार पूर्वदिशामें अनेक कमलोंको प्रफुलित करनेवाले सूर्यका उदय होता है उसीप्रकार नौवां महीना व्यतीत हो जानेपर ऊपर कही हुई श्री ह्री धृति आदि अनेक देवांगनाओंके द्वारा पूजित हुई उस मरुदेवीकेगर्भसे चैत्रकृष्ण नवमीके दिन सूर्योदयके समय उत्तराषाढ ❋ नक्षत्र और ब्रह्म महायोगमें मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानोंको धारण करनेसे अतिशय प्रकाशमान, तीनों लोकोंके एक मात्र स्वामी और बालक होकर भी गुणोंसे वृद्ध ऐसे श्रीऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर उत्पन्न हुये ॥ १-२-३ ॥ अत्यंत कांतिको धारण करनेवाला, मतिश्रुतअवधिज्ञान रूपी किरणोंसे दैदीप्यमान और सबका स्वामी तथा नाभिराजारूपी उदयाचलपर्वतसे उदय

बालार्कोसौ स्फुरद्द्युतिः ॥ नाभिराजोदयाद्रींद्रादुदितो विबभौ विभुः ॥ ४ ॥ दिशः प्रसत्तिमासेदुरासीन्निर्मलमबरं ॥ गुणानामस्य वैमल्यमनुकर्तुमिव प्रभोः ॥ ५ ॥ प्रजानां ववृधे हर्षः सुरा विस्मयमाश्रयन् ॥ अम्लानिकुसुमान्युच्चैर्मुमुचुः सुरभूरुहाः ॥ ६ ॥ अनाहताः पृथुध्वाना दध्वनुर्दिविजानकाः ॥मृदुः सुगंधिः शिशिरो मरुन्मंदं तदा ववौ ॥ ७ ॥ प्रचचाल मही तोषात् नृत्यंतीव चलद्गिरिः ॥ उद्वेलो जलधिर्नूनमगमत्प्रमदं परं ॥ ८ ॥ ततोबुद्ध सुराधीशः सिंहासनविकंपनात् ॥ प्रयुक्तावधिरुद्भूतिं जिनस्य विजितैनसः ॥९॥ ततो जन्माभिषेकाय मतिं चक्रे शतक्रतुः । तीर्थकृद्भाविभव्याब्जबंधौ तस्मि-

हुआ वह वालकरूपी सूर्य बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ ४ ॥ उससमय सब दिशायें निर्मल थीं आकाश सब साफ था ऐसा जान पडता था मानो उत्पन्न हुये भगवान *ऋषभदेवके गुणोंकी निर्मलता प्रगट करनेकेलिये ही उसका अनुकरण कर रहे हों ॥ ५॥ उससमय प्रजामें हर्ष बढ रहा था देव सब आश्चर्यान्वित हो रहे थे और कल्पवृक्ष बडे ऊंचेसे अपने नये पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे॥ ६ ॥ स्वर्गोंके दुंदुभी बाजे विना वजाये ही ऊंचे शब्द कर रहे थे और वायु भी उससमय शीतल कोमल सुगंधित और मंद मंद वह रहा था॥ ७॥ उससमय संतुष्ट होकर पृथ्वी भी हिलने लगी मानों नृत्य ही कर रही हो पर्वत भी डगमगागये और अतिशय आनंदित होकर समुद्र भी अपनी लहरोंसे उछलने लगा ॥८॥ तथा इंद्रका सिंहासन कंपायमान होने लगा जिससे तुरंत ही उसने अवधिज्ञानसे जान लिया कि संपूर्ण पापोंको नाश करनेवाले भगवान जिनेंद्रदेव उत्पन्न हुये हैं ॥ ९ ॥ आगामी कालमें उत्पन्न होनेवाले भव्यजीवरूपी कमलोंको प्रफुलित करनेवाले भगवान तीर्थंकर वृषभदेव जिससमय उत्पन्न हुये थे उसीसमय इंद्रने उनका जन्माभिषेक करनेकेलिये विचार करलिया था

---

* उत्तराषाढके अंतिम पाद अभिजिन्नक्षत्रमें भगवानका जन्म हुआ था। उससमय उत्तराषाढका स्वामी विश्व और अभिजितके स्वामी ब्रह्म इन दोनोंका योग प्राप्त था । उत्तराषाढकी अंतकी पंद्रह घडी और श्रवण नक्षत्रकी पहिली चार घडी अभिजित कहलाता है।

न्युदंयुषि ॥ १० ॥ तदासनानि देवानामकस्मात्प्रचकंपिरे ॥ देवानुच्चासनेभ्योऽधः पातयंतीव संभ्रमात् ॥ ११ ॥ शिरांसि प्रचलन्मौलिमणीनि प्रणतिं दधुः ॥ सुरासुरगुरोर्जन्म भावयंतीव विस्मयात् ॥ १२ ॥ घंटाकंठीरवध्वानभेरीशंखाः प्रदध्वनुः ॥ कल्पेशज्योतिषां वन्यभावनानां च वेश्मसु ॥ १३ ॥ तेषामुद्भिन्नवेलानामब्धीनामिव निःस्वनं ॥ श्रुत्वा बुबुधिरे जन्म विबुधा भुवनेशिनः ॥१४॥ ततः शक्राज्ञया देवपृतना निर्ययुर्दिवः ॥ तारतम्येन सध्वाना महाब्धेरिव वीचयः ॥ १५ ॥ हस्त्यश्वरथगंधर्वनर्तकीपत्तयो वृषाः ॥ इत्यमूनि सुरेंद्राणां महानीकानि निर्ययुः ॥ १६ ॥ अथ सौधर्मकल्पेशो महैरावतदं-

---

॥ १० ॥ उससमय सब देवोंके आसन अकस्मात् कांपने लगे थे मानों उन देवोंको बडे संभ्रमके साथ उस ऊंचे आसनसे नीचे उतार रहे हों ॥ ११ ॥ जिनके मुकुटोंमें लगेहुये मणि कुछ कुछ हिल रहे हैं ऐसे देवोंके मस्तक अपने आप ऐसे नम्रीभूत होगये थे मानों बडे आश्चर्यसे सुर असुर आदि सबके गुरु श्रीवृषभदेवके जन्मकी सूचना ही कर रहे हों ॥ १२ ॥ भगवानके जन्म होनेके समय कल्पवासी देवोंके विमानोंमें अपने आप घंटा बजने लगा, ज्योतिषियोंके विमानोंमें सिंहनाद होने लगा, व्यंतरोंके आवासोंमें भेरी बजने लगी और भवनवासियोंके भवनोंमें शंख बजने लगे ॥ १३ ॥ उठी हुई लहरोंसे गरजते हुये समुद्रके समान उन बाजोंके गंभीर शब्द सुनकर सब देवोंने समझलिया कि तीनों लोकोंके स्वामी श्रीवृषभदेव का जन्म हुआ है ॥ १४ ॥ जिसप्रकार शब्द करती हुई महासागरकी लहरें अनुक्रमसे आती हैं उसीप्रकार इंद्रकी आज्ञासे देवोंकी सेना भी शब्द करती हुई अनुक्रमसे स्वर्गसे निकली ॥ १५ ॥ हाथी, घोडे, रथ, गंधर्व, नृत्यकरनेवाली, अप्सरायें और बैल इसप्रकार इंद्रकी यह सातप्रकारकी महासेना निकली ॥ १६ ॥

अथानंतर—सौधर्म स्वर्गके इंद्रने इंद्रानी सहित ऐरावत हाथीपर चढकर अनेक देवों सहित स्वर्गसे प्रस्थान किया ॥ १७ ॥ इंद्रके चारों ओर सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषद आत्मरक्ष और लोकपाल जातिके देव चल रहे थे ॥ १८ ॥ उससमय दुंदुभी वाजे भी बडे जोरसे वज रहे थे

तिर्न । समारुह्य समं शच्या प्रतस्थे विबुधैर्वृतः ॥ १७ ॥ ततः । सामानिकत्रायस्त्रिंशत्पारिषदामराः । आत्मरक्षैः समं लोकपालास्तं परिवव्रिरे ॥ १८ ॥ दुंदुभीनां महाध्वानैः सुराणां जयघोषकैः । महानभूत्तदा ध्वानः सुरानीकेषु विस्फुरन् ॥ १९ ॥ हसंति केचिन्नृत्यंति वल्गंत्यास्फोटयंत्यपि । पुरो धावंति गायंति सुरास्तत्र प्रमोदिनः ॥ २० ॥ नभोंगणं तदा कृत्स्नमारुध्य त्रिदशाधिपाः । स्वैस्स्वैर्विमानैराजग्मुर्वाहनैश्च पृथग्विधैः ॥ २१ ॥ तेषामापततां यानविमानैराततं नभः । त्रिषष्टिपटलेभ्योऽन्यत्स्वर्गांतरमिवासृजत् ॥ २२ ॥ नभः सरसि नाकींद्रदेहोद्योताच्छवारिणि । स्मेराण्यप्सरसां वक्त्राण्यातेनुः पंकजश्रियं ॥ २३ ॥ नभोंबुधौ सुराधीशपृतनाचलवीचिके । मकरा इव संरेजुरुत्कराः सुरवारणाः ॥ २४ ॥ क्रमादथ सुरानीकान्यंबरादाचिराद् भुवं ।

और देव भी जय जय शब्द कर रहे थे जिससे देवोंकी उस सेनामें उत्तरोत्तर बडा भारी कोलाहल बढता जाता था ॥ १९ ॥ उससमय आनंदित हुये कितने ही देव हँस रहे थे, कितने ही नृत्य कर रहे थे, कितने ही उछल रहे थे, कितने ही गरज रहे थे, कितने ही आगे आगे दौडे जा रहे थे उस समय—॥ २० ॥ वे सब देव पृथक् पृथक् अपने अपने विमान और वाहनों पर चढकर संपूर्ण आकाशरूपी आंगनको घेरकर आ रहे थे ॥ २१ ॥ अपने अपने विमान और वाहनोंके द्वारा नीचे उतरते हुये उन देवोंसे आकाश व्याप्त हो गया था और ऐसा जान पडता था मानों तिरेसठ पटल वाले स्वर्गसे यह कोई दूसरा स्वर्ग ही बन रहा है ॥२२॥ उस समय वह आकाश एक सरोवरके समान जान पडता था, क्योंकि इंद्रके शरीरका शीतल प्रकाश ही उसमें स्वच्छ जलके समान जान पडता था और अप्सराओंके मंदमंद हंसते हुये मुख ही कमलकी शोभा धारण करते थे ॥२३॥ अथवा वह आकाश समुद्रके समान जान पडताथा क्योंकि इंद्रकी चलती हुई सेना ही उसमें तरंगोंके समान जान पडती थी और ऊपरको सूंड किये हुये देवोंके हाथी ही उसमें बडे बडे मगरमच्छोंके समान जान पडते थे ॥ २४ ॥ इसप्रकार अनुक्रमसे चलती हुई वह देवोंकी सब सेना बहुत शीघ्र जमीनपर उत्तर पडी और अनेक उत्कृष्ट ऋद्धियोंसे सुशोभित अयोध्या नगरीमें जा पहुंची ॥ २५ ॥ उस समय देवोंकी

अवतीर्य पुरीं प्रापुरयोध्यां परमर्द्धिनीं ॥ २५ ॥ तत्पुरं विष्वगावेष्टय तदास्थुः सुरसैनिकाः । राजांगणं च संरुद्धमभूदिंद्रैर्महोत्सवैः ॥ २६ ॥ प्रसवागारमिंद्राणी ततः प्राविशदुत्सवात् । तत्रापश्यत्कुमारेण सार्द्धं तां जिनमातरं ॥ २७ ॥ जिनमाता तदा शच्या दृष्टा सा सानुरागया । संध्येव हरित्प्राची संगता बालभानुना ॥ २८ ॥ मुहुः प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च जगद्गुरुं । जिनमातुः पुरः स्थित्वा श्लाघते स्मेति तां शची ॥२९॥ त्वमंबभुवनांबासि कल्याणी त्वं सुमंगला । महादेवी त्वमेवाद्य त्वं सपुण्या यशस्विनी ॥ ३० ॥ इत्यभिष्टुत्य गूढांगी तां मायानिद्रयायुजत् । पुरो निधाय सा तस्या मायाशिशुमथापरं ॥ ३१ ॥ जगद्गुरुं समादाय कराभ्यां सागमन्मुदं । चूडामणिमिवोत्सर्पत्तेजसा व्याप्तविष्टपं ॥ ३२ ॥ तद्गात्र-

---

सेना सब ओर उस अयोध्या नगरीमें फैल गई और बडे उत्सवके साथ आयेहुये इंद्रोंके द्वारा महाराज नाभिका आंगन खूब भरगया ॥ २६ ॥ तदनंतर इंद्रानीने बडे हर्षके साथ प्रसूतिगृहमें प्रवेश किया और वहां कुमार श्रीऋषभदेवके साथ साथ जिनमाता श्रीमरुदेवीके दर्शन किये ॥ २७ ॥ जिसप्रकार लालिमा सहित संध्या उदय होते हुये सूर्यसहित पूर्वदिशाको देखती है उसीप्रकार उस समय इंद्रानीने जिनमाताको बडे प्रेमसे देखा था ॥ २८ ॥ इंद्रानीने वहां जाकर पहिले ही प्रदक्षिणा दी फिर जगतगुरु श्रीऋषभदेवको नमस्कार किया और तदनंतर माताके सामने खडे होकर वह इसप्रकार उसकी स्तुति करने लगी कि-॥ २९ ॥ हे माता आज तू तीनों लोकोंकी माता हुई है संसारका कल्याण और मंगल करनेवाली तू ही है, तुझे ही महादेवी कहना चाहिये, पुण्यवती भी तू ही है और संसारमें यशश्विनी भी तू ही है ॥ ३० ॥ इसप्रकार इंद्रानीने गुप्तरूपसे जाकर जिनमाताकी स्तुति की और उसे मायामयी निद्रासे अचेत कर दिया, तदनंतर एक दूसरे मायामयी बालकको माताके सामने रखकर अपने शरीरसे निकलते हुये तेजसे संसारको व्याप्त करनेवाले चूडामणिरत्नके समान जगतगुरु श्रीऋषभदेवको दोनों हाथोंसे उठाया और वह बडी प्रसन्न हुई ॥ ३१-३२ ॥ अत्यंत दुर्लभ ऐसे भगवानके शरीरको स्पर्श कर वह इंद्रानी उस समय ऐसी प्रसन्न

स्पर्शमासाद्य सुदुर्लभमसौ तदा । मेने त्रिभुवनैश्वर्यं स्वसात्कृतमिवाखिलं ॥ ३३ ॥ मुहुस्तन्मुखमालोक्य स्पृष्ट्वाघ्राय च तद्वपुः । परां प्रीतिमसौ भेजे हर्षविस्फारितेक्षणा ॥ ३४ ॥ ततः कुमारमादाय व्रजंती सा बभौ भृशं । द्यौरिवार्कमभिव्याप्तनभसं भासुरांशुभिः ॥ ३५ ॥ तदा मंगलधारिण्यो दिक्कुमार्यः पुरो ययुः । त्रिजगन्मंगलस्यास्य समृद्धय इवोच्छ्रिताः ॥ ३६ ॥ छत्रं ध्वजं सकलशं चामरं सुप्रतिष्ठकं । भृंगारं दर्पणं तालमित्याहुर्मंगलाष्टकं ॥ ३७ ॥ स तदा मंगलानां च मंगलत्वं परं वहन् । स्वदीप्त्या दीपिकालोकानरुणत्तरुणांशुमान् ॥ ३८ ॥ ततः करतले देवी देवराजस्य तं न्यधात् । बालार्कमौदये सानौ प्राचीव प्रस्फुरन्मणौ ॥ ३९ ॥ गीर्वाणेंद्रस्तमिंद्राण्याः करादादाय सादरं । व्यलोकयत्स तद्रूपं

हुई मानों तीनों लोकोंका संपूर्ण ऐश्वर्य उसने अपने आधीन ही कर लिया हो ॥ ३३ ॥ उसने कईबार भगवानका मुख देखा कईवार उनके शरीरको स्पर्श किया और उसकी सुगंध ग्रहण की । इन सब कारणोंसे उत्पन्न हुये हर्षसे उसके नेत्र प्रफुल्लित होगये थे और वह बहुत ही संतुष्ट होती हुई ॥ ३४ ॥ तदनंतर भगवानको गोदीमें लेकर वह चलने लगी उस समय वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों अपनी प्रकाशमान किरणोंसे आकाशको व्याप्त करनेवाले सूर्यको ले जाता हुआ आकाश ही सुशोभित हो रहा हो ॥ ३५ ॥ तीनोंलोकोंमें मंगल करनेवाले भगवानके आगे आगे अष्टमंलद्रव्यको धारण करनेवालीं दिक्कुमारी देवियां चलने लगीं उस समय वे ऐसी जान पडती थीं मानों इकट्ठी की हुई भगवानकी ऋद्धियां ही हों ॥ ३६ ॥ छत्र ध्वजा, कलश, चामर सुप्रतिष्ठ (ठौना) झारी, दर्पण ताडका पंखा ये आठ मंगलद्रव्य कहलाते हैं ॥ ३७॥ मंगलोंमें जो उत्तम २ मंगलोंको देनेवाले और तरुण सूर्यके समान वे भगवान उससमय अपनी कांतिसे दीपकोंको भी मंद कर रहे थे ॥ ३८ ॥ जिसप्रकार पूर्व दिशा अनेक मणियोंसे प्रकाशमान उदयाचल पर्वतके शिखरपर उदय होते हुये प्रातःकालके सूर्यको विराजमान करती है उसीप्रकार इंद्रानीने भी उस समय इंद्रकी हथेलीपर भगवान वृषभदेवको विराजमान किया ॥ ३९ ॥ सौधर्मस्वर्गके इंद्रने बडे

संप्रीतिस्फारितेक्षणः ॥ ४० ॥ त्वं देव जगतां ज्योतिस्त्वं देव जगतां गुरुः । त्वं देव जगतां धाता त्वं देव जगतां पतिः ॥ ४१ ॥ त्वामामनंति सुधियः केवलज्ञानभास्वतः । उदयाद्रिं मुनींद्राणामभिवंद्यं महोन्नतिं ॥ ४२ ॥ त्वया जगदिदं मिथ्याज्ञानांधतमसावृतं । प्रबोधं नेष्यते भव्यकमलाकरबंधुना ॥ ४३ ॥ तुभ्यं नमोधिगुरवे नमस्तुभ्यं महाधिये । तुभ्यं नमोस्तु भव्याब्जबंधवे गुणसिंधवे ॥ ४४ ॥ त्वत्तः प्रबोधमिच्छंतः प्रबुद्धभुवनत्रयात । तव पादांबुजं देव मूर्ध्ना दध्मो धृतादरं ॥ ४५ ॥ त्वयि प्रणयमाधत्ते मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका । त्वयि सर्वे गुणाः स्फीतिं यांत्यब्धौ मणयो यथा

आदरसे इंद्रानीके हाथसे भगवानको अपनी गोदीमें लिया और अतिशय प्रसन्न होकर तथा नेत्रोंको प्रफुल्लित कर वह भगवानका रूप देखने लगा और ॥ ४० ॥ भगवानकी स्तुति करनेलगा कि- हे देव आप इस जगतको प्रकाश करनेवाले हैं, जगतके गुरु हैं आप ही इस जगतके विधाता हैं और आप ही इस जगतके स्वामी हैं ॥ ४१ ॥ हे नाथ! विद्वान लोग आपको ही मुनियोंके द्वारा वंदना करने योग्य और अतिशय ऊंचा ऐसा केवलज्ञानरूपी सूर्यको उदय होनेके लिये उदयाचल पर्वत मानते हैं ॥ ४२ ॥ हे देव ! भव्यरूपी कमलसमूहको प्रफुल्लित करनेकेलिये आप सूर्यके समान हैं, मिथ्याज्ञानरूपी गाढ अंधकारसे ढकाहुआ यह संसार अब आपके द्वारा ही प्रकाशमान होगा ॥ ४३ ॥ हे देव ! आप गुरुओंके भी गुरु हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आपभूत भविष्यत वर्तमान तीनोंकालोंके सब पदार्थोंको जाननेवाले महाबुद्धिमान हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप भव्यरूपी कमलोंको प्रफुलित करनेवाले सूर्य हैं और गुणोंके समुद्र हैं इसलिये आपको बारंबार नमस्कार हो ॥ ४४ ॥ हे देव ! आप तीनोंलोंको जाननेवाले हैं आपसे ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करते हुये हम लोग आपके चरणकमलोंको बडे आदरसे अपने मस्तकपर धारण करते हैं ॥ ४५ ॥ हे नाथ ! मुक्तिरूपी लक्ष्मी बडी उत्कंठित होकर आपसे स्नेह रखती है और जिसप्रकार समुद्रमें मणि बढते रहते हैं उसीप्रकार संपूर्ण गुण आपमें सदा बढते

॥ ४६ ॥ स्तुत्वेति स तमारोप्य स्वमंकं सुरनायकः । हस्तमुच्चालयामास मेरुप्रस्थानसंभ्रमी ॥ ४७ ॥ जयेश नंद वर्द्धस्व त्वमित्युच्चैर्गिरः सुराः । तदा कलकलं चक्रुर्बधिरीकृतदिङ्मुखं ॥ ४८ ॥ नभोंगणमथोत्पेतुरुच्चरज्जयघोषणाः । सुरचापानि तन्वंतः प्रसरद्भूषणांशुभिः ॥ ४९ ॥ गंधर्वारब्धसंगीता नेटुरप्सरसः पुरः । भ्रूपताकाः समुत्क्षिप्य नभोरंगे चलत्कुचाः ॥ ५० ॥ इतो मुतः समाकीर्णं विमानैर्व्युसदा नभः ॥ सरत्नैर्निर्मलं नेत्रमिव रेजे विनिर्मलं ॥ ५१ ॥ सिताः पयोधरा नीलैः करींद्रैः सितकेतनैः । सबलाकैर्विनीलाभ्रैः संगता इव रेजिरे ॥ ५२ ॥ महाविमानसं-

---

रहते हैं ॥४६॥ इसप्रकार इंद्रने भगवानकी स्तुति की और उन्हें, अपनी गोदीमें विराजमान कर सब-सेनाको मेरुपर्वतपर प्रस्थान करनेकी सूचना देनेकेलिये अपना हाथ ऊंचा उठाकर इशारा किया ॥ ४७ ॥ उस समय देवोंमें बडा भारी कोलाहल हो रहा था 'हे स्वामिन् आपकी सदा जय हो आप सदा आनंदरूप रहें' इसप्रकार देव लोग बडे जोरसे कलकल शब्द कर रहे थे. जिनसे सब दिशायें भर गई थीं किसीको कुछ भी सुनाई नहिं पडता था ॥ ४८ ॥ इंद्रकी आज्ञा पाते ही जयजय शब्द करते हुये और अपने आभूषणोंकी फैली हुई किरणोंसे अनेक इंद्रधनुष बनाते हुये वे सब देव आकाशमें चलने लगे ॥ ४९ ॥ उस आकाशरूपी रंगभूमिमें सबके आगे अनेक अप्सरायें नृत्य करती हुई जा रहीं थीं उस समय उनके साथ साथ गंधर्वदेव अपना संगीत प्रारंभ कर रहे थे, उन अप्सराओंके स्तन कुछ कुछ हिल रहे थे और वे अपनी भौंहरूपी पताकायें इधर उधर उडा रही थीं ॥ ५० ॥ रत्नजडित देवोंके विमानोंसे इधर उधर सब जगह व्याप्त हुआ निर्मल आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों भगवानको देखनेके लिये उसने अपने नेत्र ही प्रफुल्लित किये हों ॥ ५१ ॥ आकाशके सफेद बादल सफेदध्वजाओंसहित काले हाथियोंसे मिलकर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों वे क्रौंचपक्षियोंसहित काले बादलोंसे ही मिलरहे हों ॥५२॥ कहीं कहींपर अनेक बादल देवोंके बडे बडे विमानोंकी टक्करसे चूरचूर हो नष्ट हो गये थे सो ठीक

घट्टैः क्षुण्णा जलधराः कचित् । प्रणेमुमर्हतां रोधात्तश्यंत्यवे जडात्मकाः ॥ ५३ ॥ सुरभकटदानांबुगंधाकृष्टमधुव्रताः । वनाभोगाञ्जहुर्लोकस्सत्यमेष नवाश्रियः ॥ ५४ ॥ अंगभाभिः सुरेंद्राणां तेजोर्कस्य पराहतं । निलिल्ये काप्यविज्ञातं लज्जामिव परां गतं ॥ ५५ ॥ दिवाकरकराश्लेषं विघटय्य सुरेशिनां । देहोद्योता दिशो भेजुर्भोग्या हि बलिनां श्रियः ॥ ५६ ॥ सुरेभरदनोभूतसरोंबुजदलाश्रितं । नृत्तमप्सरसा देवानकरोद्रासिकाभृशं ॥ ५७ ॥ श्रृण्वंतः कलगीतानि किन्नराणां जिनेशिनः । गणैर्विरचितान्यापुरमराः कर्णयोः फलं ॥ ५८ ॥ वपुर्भगवतो दिव्यं

ही है क्योंकि जा जड (जल) रूप होकर भी बडोंसे विरोध करते हैं वे नष्ट होते ही हैं ॥५३॥ देवोंके हाथियोंके गंडस्थलसे जो मद झर रहा था उसकी सुगंधसे अनेक भ्रमर बनोंके अच्छे २ प्रदेशोंको छोडकर वहां आगये थे। सो ठीक ही है क्योंकि यह कहावत सत्य है कि लोगोंको नईनई वस्तु अच्छी लगती है ॥ ५४ ॥ उस समय इंद्रोंके शरीरोंकी कांतिसे सूर्यका प्रकाश भी मंद पड गया था और इसलिये ही वह मानों अतिशय लज्जित होकर न जाने कहां छिप गया था ॥ ५५ ॥ इंद्रोंके शरीरोंका उद्योत सूर्यकी किरणोंका (हाथोंका) आलिंगन छोडकर सब दिशाओंके समीप जा पहुंचा था सो ठीक ही है स्त्रियां बलवान पुरुषोंके ही योग्य होती हैं । भावार्थ—इंद्रोंकी कांति सूर्यकी कांतिको भी मंदकर सब जगह फैल गई थी ॥ ५६ ॥ ऐरावत* हाथीके दांतोंपर सरोवर बने हुये थे उनमें कमल खिल रहे थे और उनकी कलियोंपर अप्सराओंका नृत्य हो रहा था। वह नृत्य उस समय देवोंको भी रसिक बना रहा था ॥ ५७ ॥ किन्नर जातिके देव भगवानके गुणोंसे भरे

---

* सौधर्म स्वर्गका इंद्र भगवानकी जन्मोत्सवकी सवारीकेलिये एक मायामयी ऐरावत हाथी बनाता है जो कि एक लाख योजनका होता है उसके सौ मुंह होते हैं प्रत्येक मुखमें आठ आठ दांत होते हैं, प्रत्येक दांतपर एक एक सरोवर होता है एक एक सरोवरमें एकसौपच्चीस कमलिनी (कमलकी बेल) होती हैं, प्रत्येक कमलिनीपर पच्चीस २ कमल होते हैं, एक एक कमलकी एकसौआठ कलियां होती हैं और एक एक कलीपर एक एक अप्सरा नृत्य करती है। इसप्रकार सब सत्ताईस करोड अप्सरायें हाथीके दांतोंपर नृत्य करती हैं। १००×८×१×१२५×२५×१०८×१=२७०००००००।

पश्यतोनिमिषेक्षणाः । नेत्रयोरनिमेषात्तौ फलं प्रापुस्तदामराः ॥ ५९ ॥ स्वांकारोपं सितच्छत्रधृतिं चामरधूननं ॥ कुर्वंतः स्वयमेवेंद्राः प्राहुरस्य स्म वैभवं ॥ ६० ॥ सौधर्माधिपतेरंकमध्यासीनमधीशिनं ॥ भेजे सितातपत्रेण तदैशानसुरेश्वरः ॥ ६१ ॥ सनत्कुमारमाहेंद्रनायकौ धर्मनायकं । चामरैस्तं व्यधुन्वातां बहुक्षीराब्धिवीचिभिः ॥ ६२ ॥ दृष्ट्वा तदातनीं भूतिं कुदृष्टिमरुतो परे । सन्मार्गरुचिमातेनुरिंद्रप्रामाण्यमास्थिताः॥६३॥ कृतं सोपानमामेरोरिंद्रनीलैर्व्यराजत । भक्त्या खमेव सोपानपरिणाममिवाश्रितं ॥ ६४ ॥ ज्योतिःपटलमुल्लंघ्य ययुः सुरनायकाः । अधस्तारकितां

हुये बडे मधूर गीत गा रहे थे जिन्हें सुनकर अन्य देवलोग भी अपने कानोंको सफल कर रहे थे ॥ ५८ ॥ वे देवगण टिमिकार रहित दृष्टिसे भगवानका दिव्य शरीर देख रहे थे और उसी समय अपने टिमिकार रहित नेत्रोंकी प्राप्तिका यथेष्ट फल भोग रहे थे ॥ ५९ ॥ भगवानको गोदमें लेना, सफेद छत्र धारण करना और चमर ढुलाना आदि समस्तकार्य स्वयं इंद्रलोग कर रहे थे । सो ठीक ही है वैभव इसीका नाम है ॥ ६० ॥ भगवान श्री वृषभदेव सौधर्म स्वर्गके इंद्रकी गोदमें विराजमान थे, ऐशान स्वर्गका इंद्र उनपर सफेद छत्र लगाये हुये था और ॥ ६१ ॥ सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गके इंद्र तीर्थंकर भगवानके दोनों ओर खडे होकर क्षीर-सागरकी अनेक लहरोंके समान चमर ढुला रहे ॥ ६२ ॥ अन्य कितने ही मिथ्यादृष्टी देव श्रीजिनेंद्र देवके जन्मसमयकी भारी विभूति देखकर और इंद्रोंकी भक्ति तथा कर्तव्यपर विश्वास रखकर सद्धर्ममें श्रद्धा करने लगे थे ॥६३॥ इंद्रनीलमणिकी मेरुपर्वतपर्यंत बनाई हुई सीढियां ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों आकाश ही भक्तिवश सीढीरूप परिणत होकर उपस्थित हुआ हो ॥ ६४ ॥ अनुक्रमसे वे इंद्र ज्योतिषमंडलको उलंघनकर उपरके मार्गकी ओर जाने लगे । उनके नीचे ताराओंसहित आकाश उन्हें ऐसा जान पडता था मानों खिली हुई कमोदिनियों सहित सरोवर ही हो ॥ ६५ ॥ चलते चलते वे सब इंद्र निन्यानवें हजार योजन ऊंचे गिरिराज मेरुपर्वतपर जा

चोर्थि मन्यमानाः कुमुद्वतीं ॥ ६५ ॥ ततः प्रापुः सुराधीशा गिरिराजं तमुच्छ्रितं । योजनानां सहस्राणि नवतिं च नवैव च ॥ ६६ ॥ मुकुटश्रीरिवाभाति चूलिका यस्य मूर्द्धनि । चूडारत्नश्रियं धत्ते यस्यामृजुविमानकं ॥ ६७ ॥ यो धत्ते स्वनितंबेन भद्रशालवनं महत् । परिधानमिवालीनं घनच्छायैर्महाद्रुमैः ॥ ६८ ॥ मेखलायामथाद्यायां बिभ्रते नंदनं वनं । यः कटीसूत्रदामेव नानारत्नमयांघ्रिपं ॥ ६९ ॥ यश्च सौमनसोद्यानं बिभर्ति शुकसच्छविः । सपुष्पमुपसंख्यानमिवोल्लासितपल्लवं ॥ ७० ॥ यस्यालंकुरुते कूटपर्यंतं पांडुकं वनं । आहूतमधुपैः पुष्पैर्दधानं शेखरश्रियं ॥ ७१ ॥ यस्मिन्प्रतिवने दिक्षु चैत्यवेश्मानि भांत्यलं । हसंतीव दिवःसद्मानि प्रोन्मिषन्मणिदीप्तिभिः ॥ ७२ ॥ हिरण्मयः सतुंगो धत्ते

पहुंचे ॥ ६६ ॥ उसपर्वतके मस्तक परकी चूलिका मुकुटके समान सुशोभित है और उसके ऊपर सौधर्मस्वर्गका ऋजुविमान चूडामणि रत्नकी शोभा धारण करता है ॥६७॥ उस पर्वतके नितंब भागके नीचे घनी छायावाले अनेक बडे बडे वृक्षोंसे सुशोभित भद्रशाल महा बन ऐसा जान पडता है मानों उस मेरु पर्वतने हरित वर्णकी धोती ही पहनी हो ॥६८॥ उसकी पहिली मेखलापर (कटनीपर) अनेक रत्नमय वृक्षोंसे सुशोभित नंदन बन ऐसी शोभा धारणकर रहा है मानों उसकी करधनी ही हो ॥ ६९॥ तोतेके समान हरितवर्णके अनेक पत्र और पुष्पोंसे सुशोभित सौमनस बन ऐसा अच्छा जान पडता है मानों हरितवर्णके पत्ते और पुष्पोंसे सुशोभित मेरु पर्वतका दुपट्टा ही हो ॥ ७० ॥ आये हुये भ्रमरोंसे सुशोभित अनेक पुष्पोंके द्वारा मुकुटकी शोभा धारण करता हुवा पांडुक बन उसके शिखरपर्यंतके ऊपरी भागको सुशोभित कर रहा है ॥ ७१ ॥ इसप्रकार उसपर चार बन हैं प्रत्येक बनकी एक एक दिशामें एक एक जिन मंदिर है सब मिलकर सोलह जिनमंदिर हैं और वे देदीप्यमान मणिकी कांतियोंसे ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों स्वर्गोंके विमानोंकी ओर हंस रहे ही हों ॥ ७२ ॥ वह पर्वतस्वर्णमय है और बहुत ऊंचा है इसलिये ऐसा जान पडता है मानों लवणसमुद्ररूपी वस्त्र पहने हुये जंबूद्वीपरूपी महाराजका मुकुट ही हो ॥ ७३ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवके पुण्य

यो मौलिविभ्रमं । जंबूद्वीपमहीभर्तुर्लवणांभोधिवाससः ॥ ७३ ॥ ज्योतिर्गणश्च सातत्याद्यं पर्येति महोदयं । पुण्याभिषेकसंभारैः पवित्रीकृतमर्हतां ॥ ७४ ॥ आराधयंति यं नित्यं चारणाः पुण्यवांछया । विद्याधराश्च मुदिता जिनेंद्रमिव सून्नतं ॥ ७५ ॥ देवोत्तरकुरूंश्च स्वपादगिरिभिः सदा । आवृत्य पाति निर्बाधं तद्धि माहात्म्यमुन्नतेः ॥ ७६ ॥ यस्य कंदरभागेषु निवसंति सुरासुराः । सांगनाः स्वर्गमुत्सृज्य नाकशोभापहासिषु ॥ ७७ ॥ यः पांडुकवनोद्देशे शुचीः स्फटिकनिर्मिताः । शिला बिभर्ति तीर्थेशामभिषेकक्रियोचिताः ॥ ७८ ॥ यस्तुंगो विबुधाराध्यः सततर्तुसमाश्रयः।

रूप अभिषेककी सामिग्री धारण करनेसे वह सदा पवित्र रहता है और अतिशय समृद्धशाली है इसलिये ही मानों ज्योतिषी जातिके देव सदा उसकी प्रदक्षिणा दिया करते हैं॥ ७४ ॥ वह पर्वत श्रीजिनेंद्रदेवके समान उन्नत (श्रेष्ट) है इसलिये ही अनेक चारणमुनि पुण्यकी इच्छा करतेहुये ही सदा उसपर विहार किया करते हैं और विद्याधर लोग बडे हर्षसे उसकी सेवा किया करते हैं ॥७५॥ वह पर्वत अपने आश्रित देवकुरु उत्तरकुरु भोगभूमियोंको अपने समीपवर्ती गजदंत आदि पर्वतोंसे घेरकर सदा निर्बाधरीतिसे उनकी रक्षा किया करता है सो ठीक ही है अपने आश्रितकी रक्षा करना ही बडे पुरुषोंका माहात्म्य है ॥७६॥ उसकी गुफाओंके प्रदेश इतने सुंदर हैं कि स्वर्गकी शोभाको भी लज्जित कर रहे हैं और इसलिये ही अनेक देव और भवनवासी आदि असुर अपने स्वर्ग और भवनोंको छोडकर अपनी देवांगनाओंसहित वहां आकर निवास करते हैं ॥ ७७ ॥ उस पर्वतके पांडुक वनसंबंधी प्रदेशोंमें अत्यंत निर्मल स्फटिक मणिकी बनी हुई और तीर्थकरोंके अभिषेक करने योग्य ऐसी पांडुक शिलायें बडी अच्छी सुशोभित हो रही हैं ॥७८ ॥ वह मेरुपर्वत ठीक सौधर्म स्वर्गके समान जान पडता है क्योंकि जिसप्रकार सौधर्म स्वर्ग बहुत ऊंचा है उसीप्रकार वह पर्वत भी बहुत ऊंचा है सौधर्मस्वर्गमें जिसप्रकार देवलोग सदा निवास किया करते हैं उसीप्रकार उस पर्वतपर भी देवलोग सदा निवास किया करते हैं सौधर्मस्वर्ग जिसप्रकार ऋजुविमानसे सुशोभित है उसीप्रकार वह

सौधर्मेंद्र इवाभाति संसेव्योऽप्सरसां गणैः ॥ ७९ ॥ तमासाद्य सुराः प्रापुः प्रीतिमुन्नतिशालिनं । रामणीयकसंभूतिं स्वर्गस्येवाधिदैवतं ॥ ८० ॥ ततः परीत्य तं प्रीत्या सुरराजः सुरैः समं । गिरिराजं जिनेंद्रार्कं मूर्द्धन्यस्य न्यधान्मुदा ॥ ८१ ॥ तस्य प्रागुत्तराशायां महती पांडुकाह्वया । शिलास्ति जिननाथानामभिषेकं बिभर्ति या ॥ ८२ ॥ शुचिः सुरभिरत्यंतरामणीया मनोहरा । पृथिवीवाष्टमी भाति या युक्तपरिमंडला ॥ ८३ ॥ शतायता तदर्द्धं च विस्तीर्णाष्टोच्छ्रिता मता । जिनैर्योजनमानेन सा शिलार्द्धेंदुसंस्थितिः ॥ ८४ ॥ क्षीरोदवारिभिर्भूयः क्षालिता या सुरोत्तमैः । शुचित्वस्य परां काष्ठां संबिभर्त्ति सर्वोज्वला ॥ ८५ ॥ शुचित्वान्महनीयत्वात्पवित्रत्वाच्च भाति या । धारणाच्च जिनेंद्राणां जिनमातेव

पर्वत भी छहों ऋतुओंसे सदा सुशोभित है अथवा सौधर्मस्वर्गमें जिसप्रकार सदा सब ऋतुओंकी शोभा रहती है उसीप्रकार मेरुपर्वतपर भी सबऋतुओंकी शोभा रहती है, सौधर्मस्वर्ग जिसप्रकार अनेक अप्सराओंसे सेव्य है उसीप्रकार वह पर्वत भी अनेक अप्सराओंसे सेव्य है अथवा वह पर्वत अनेक जलाशयोंसे सुशोभित है ॥ ७९ ॥ इसप्रकार अतिशय मनोहर, अतिशय उन्नत, स्वर्गके अधिष्ठाता देवताके समान उस सुमेरुपर्वतको पाकर देवलोग बहुत ही प्रसन्न हुये ॥ ८० ॥ तदनंतर इंद्रने सब देवोंके साथ साथ बडे प्रेमसे उस गिरिराज सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा दी उसके मस्तकपर बडे हर्षसे श्रीजिनेंद्ररूपी सूर्यको विराजमान किया ॥ ८१ ॥ उस मेरु पर्वतके पांडुकबनमें उत्तर दिशाकी ओर एक बडी भारी पांडुकशिला है ॥ ८२ ॥ वह शिला अत्यंत पवित्र है अत्यंत सुंदर और अत्यंत मनोहर है तथा अपनी गोलपरिधिसे अष्टमी पृथ्वी सिद्धशिलाके समान सुशोभित होती है ॥ ८३ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवने उसकी लंबाई सौ योजन चौडाई पचास योजन और उंचाई आठ योजन कही है तथा उसका आकार ठीक अर्द्धचंद्राकार कहा है ॥ ८४ ॥ वह पांडुकशिला सदा निर्मल रहती है और सदा पवित्र रहती है तिसपर भी इंद्रोंने क्षीरसमुद्रके जलसे अनेक बार उसका प्रक्षालन किया है इसलिये वह पवित्रताकी चरमसीमाको प्राप्त हो गई है ॥ ८५ ॥ वह

निर्मला ॥ ८६ ॥ यस्यां पुष्पोपहारश्रीर्व्यज्यते जातु नांजसा । सावर्ण्यादमरोन्मुक्तमुक्ताव्यक्तफलच्छविः ॥ ८७ ॥ जिनानामभिषेकाय या धत्ते सिंहविष्टरं । मेरोरिवोपरि परं परार्घ्यं मेरुमुच्चकैः ॥ ८८ ॥ तत्पर्यंते च या धत्ते सुस्थिते दिव्यविष्टरे । जिनाभिषेचने कल्पसे सौधर्मैशाननाथयोः ॥८९॥ नित्योपहाररुचिरा सुरैर्नित्यं कृतार्चना । नित्यमंगलसंगीतनृत्तवादित्रशोभिनी ॥ ९० ॥ छत्रचामरभृंगारसुप्रतिष्ठकदर्पणं । कलशध्वजतालानि मंगला-

पांडुकशिला सदा जिनमाताके समान सुशोभित रहती है क्योंकि जिसप्रकार जिनमाता शुचि अर्थात् स्वच्छ है उसी प्रकार पांडुकशिला भी स्वच्छ है जिनमाता जिसप्रकार महनीय अर्थात् पूज्य है उसीप्रकार वह पांडुकशिला भी महनीय अर्थात् पूज्य और निर्मल है, जिनमाता जिसप्रकार अपने गर्भमें श्रीजिनेंद्रदेवको धारण करती है उसीप्रकार वह शिला भी जन्माभिषेकके समय श्रीजिनेंद्रदेवको धारण करती है ॥ ८६ ॥ वह शिला साक्षात् मुक्ताफलके समान निर्मल है देव-लोग उसपर जो सफेद पुष्प चढाते हैं वे उस शिलाके समान ही सफेद होनेसे उसीके रंगमें मिल जाते हैं तुरंत पहिचाने नहीं जा सकते ॥ ८७ ॥ उस पांडुक शिलापर श्रीजिनेंद्रदेवके अभिषेक करनेकेलिये अति उत्तम और बहुत ऊंचा एक सिंहासन रक्खा हुआ है जो कि ऐसा जान पडता है मानों एक मेरुके ऊपर दूसरा मेरुपर्वत ही रक्खा हो ॥ ८८ ॥ उस सिंहासनके इधर उधर दोनोंओर सुंदर दो सिंहासन और रक्खे हुये हैं जिनपर सौधर्म और ऐशान स्वर्गके इंद्र खडे होकर भगवानका अभिषेककरते हैं ॥ ८९ ॥ देवलोगोंके द्वारा चढाई हुई उत्तम सामिग्रीसे वह शिला बडी ही मनोहर जान पडती है देव लोग सदा उसकी पूजा किया करते हैं मंगल गीत नृत्य वादित्र आदिसे वह सदा सुशोभित रहती है ॥ ९० ॥ उसके समीप ही छत्र, चामर, झारी, सुप्रतिष्ठ, दर्पण कलश, ध्वजा और तालवृंत (ताडका पंखा) ये आठ मंगलद्रव्य रक्खे हुये हैं ॥९१॥ वह पांडुकशिला मुनियोंकी शीलमाला(शीलव्रतकी परंपरा)के समान

नि बिभर्ति या ॥ ९१ ॥ यामला शीलमालेव मुनीनामभिसंमता । जैनी तनुरिवात्यंतभास्वरा सुरभिः शुचिः ॥ ९२ ॥ स्वयं धौतापि या धौता शतशः सुरनायकैः । क्षीरार्णवांबुभिः पुण्यैः पुण्यस्येवाकरक्षितिः ॥ ९३ ॥ यस्याः पर्यंतदेशेषु रत्नालोकैर्वितन्यते । परितः सुरचापश्रीरन्योन्यव्यतिषंगिभिः ॥ ९४ ॥ तामावेष्ट्य सुरास्तस्थुर्यथास्वं दिक्ष्वनुक्रमात् । द्रष्टुकामा जिनस्यामुं जन्मकल्याणसंपदं ॥ ९५ ॥ दिक्पालाश्च यथायोग्यदिग्विदिग्भागसंश्रिताः । तिष्ठंति स्म निकायैः स्वैर्जिनोत्सवदिदृक्षया ॥ ९६ ॥ गगनांगणमारुध्य व्याप्य मेरोरधित्यकां । निवेशः सुरसैन्यानामभवत्पांडुके वने ॥ ९७ ॥ पांडुकं वनमारुद्धं समंतात्सुरनायकैः । जहासेव दिवो लक्ष्मीं क्ष्मारुहां कुसुमोत्करैः ॥ ९८ ॥ स्वस्थानाच्चलितः स्वर्गः सत्यमुद्वासि-

---

निर्मल और मान्य है तथा श्रीजिनेंद्रदेवके शरीरके समान अत्यंत देदीप्यमान सुगंधित और पवित्र है ॥ ९२ ॥ यद्यपि वह शिला स्वयं धौत अर्थात् श्वेतवर्णकी है तथापि पुण्य उत्पन्न करनेके लिये खानिकी पृथ्वीके समान उसे इंद्रोंने पुण्यरूप क्षीर सागरके जलसे सैकडोंबार प्रक्षालन किया है ॥९३॥ उस शिलाके समीपवर्ती प्रदेशोंमें परस्पर खूब मिला हुआ अनेकप्रकारके रत्नोंका प्रकाश पडता है जिससे उस शिलाके चारों ओर सदा इंद्रधनुष सुशोभित रहता है ॥ ९४ ॥ ऐसी उस शिलाको घेरकर श्रीवृषभदेवके जन्मकल्याणकी विभूतिको देखनेकी इच्छा करते हुये वे सब देवलोग अनुक्रमसे सब दिशाओंमें अपने अपने योग्य स्थानपर बैठ गये ॥ ९५ ॥ दिक्पाल जातिके देव भी अपने अपने परिवार सहित श्रीजिनेंद्रदेवका जन्मोत्सव देखनेके लिये दिशा विदिशाओंमें यथायोग्य स्थानपर जा बैठे ॥ ९६ ॥ देवोंकी सेना भी उस पांडुक वनमें आकाशरूपी आंगनको रोककर और मेरुपर्वतके ऊपरीभागमें व्याप्त होकर जा ठहरी ॥ ९७ ॥ इसप्रकार चारोंओरसे देव और इंद्रोंसे भरा हुआ वह पांडुकवन ऐसा जान पडता था मानों अपने वृक्षोंके पुष्पसमूहोंसे स्वर्गकी शोभाकी ओर हंस रहा ही हो ॥ ९८ ॥ उस जन्माभिषेकके समय मेरुको देखकर कहना पडता था कि स्वर्ग अवश्य ही अपने स्थानसे च्युत होकर शून्य हो गया है और इंद्रकी सब वि-

स्तदा । मेरुस्तु स्वर्गतां प्राप धृतनाकेशवैभवः ॥ ९९ ॥ ततोऽभिषेचनं भर्तुं कर्तुमिंद्रः प्रचक्रमे । निवेश्याधिशिलं सैंहे विष्टरे प्राङ्मुखं प्रभुं ॥ १०० ॥ नभोशेषं तदापूर्य सुरदुंदुभयोध्वनन् । समंतात्सुरनारीभिरारेभे नृत्यमूर्जितं ॥ १ ॥ महान्कालागरूद्दामधूपधूसरतदोदगात् । कलंक इव निर्धूतः पुण्यैः पुण्यजनाशयात् ॥ २ ॥ विक्षिप्यंते स्म पुण्यार्घाः साक्षतोदकपुष्पकाः । शांतिपुष्टिवपुष्कांतैर्विष्वक्पुण्यांशका इव ॥ ३ ॥ महानंडपविन्यासस्तत्र चक्रे सुरेश्वरैः । यत्र त्रिभुवनं कृत्स्नमास्ते स्माबाधितं मिथः ॥ ४ ॥ सुरानोकहसंभूता मालास्तत्रावलंबिताः । रेजुर्भ्रमरसंगीतैर्गातुकामा

भूति इस मेरुपर्वतपर ही आगई है इसलिये यह मेरु ही स्वर्ग हो गया है ॥ ९९ ॥ तदनंतर सौधर्मस्वर्गके इंद्रने भगवान वृषभदेवको पूर्वदिशाकी ओर मुख करके पांडुकशिलाके सिंहासनपर विराजमान किया और स्वयं उनका अभिषेक करनेकेलिये तैयारी करने लगा ॥ १०० ॥ जिससमय इंद्रने भगवानको सिंहासनपर विराजमान किया था उससमय देवोंके दुंदुभी संपूर्ण आकाशमें व्याप्त होकर बजने लगे थे और अप्सराओंने चारों ओर महानृत्य करना प्रारंभ कर दिया था ॥ १०१ ॥ उसीसमय काला गुरु नामकी अतिशय सुगंधित धूपका धूआं भी खूब निकलने लगा था और वह ऐसा जान पडता था मानों भगवानके जन्मोत्सवमें संचय किये हुये पुण्यसे पुण्यवान लोगोंके अंतःकरणसे निकला हुआ कलंक ही हो ॥ १०२ ॥ उसीसमय शांति पुष्टि और शरीरकी कांतिकी इच्छा करते हुये अनेक देवलोग चारों ओरसे अक्षत पुष्प और जल सहित अनेक पुण्यरूप अर्घ चढा रहे थे जो कि ऐसे जान पडते थे मानों पुण्यके अंश ही हों ॥ १०३ ॥ उस अभिषेकके समय इंद्रोंने वहीं एक बडा भारी मंडप बनाया था । वह मंडप ऐसा था कि उसमें यह संपूर्ण तीनों लोक परस्पर बाधारहित समा सकता था ॥ १०४ ॥ उस मंडपमें कल्पवृक्षके पुष्पों की अनेक मालायें लटक रहीं थीं जिनपर बैठे हुये भ्रमर गा रहे थे उन गातेहुये भ्रमरोंसे वे मालायें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों भगवानका यश ही गा रही हों ॥ १०५ ॥

इवोशिनं ॥ ५ ॥ अथ प्रथमकल्पेंद्रः प्रभोः प्रथममज्जने । प्रचक्रे कलशोद्धारं कृतप्रस्तावनाविधिः ॥ ६ ॥ ऐशानेंद्रोपि इंद्रश्रीः सांद्रचंदनचर्चितं । मोदास्थात्कलशं पूर्णं कलशोद्धारमंत्रवित् ॥ ७ ॥ शेषैरपि च कल्पेंद्रैः सानंदजयघोषणैः । परिचारकतां भेजे यथोक्तपरिचर्यया ॥ ८ ॥ इंद्राणीप्रमुखा देव्यः साप्सरःपरिवारिकाः । बभूवुः परिचारिण्यो मंगलद्रव्यसंपदा ॥ ९ ॥ शातकुंभमयैः कुंभैः क्षीरांबुधेः शुचि । सुराः श्रेणीकृताः स्तोषादानेतुं प्रसृतास्ततः ॥ १० ॥ पूतं स्वायंभुवं गात्रं स्प्रष्टुं क्षीराच्छशोणितं । नान्यदस्ति जलं योग्यं क्षीराब्धिसलिलादृते ॥ ११ ॥ मत्वेति नाकिभिर्नूनमनूनप्रमदोदयैः । पंचमस्यार्णवस्यांभः स्नानीयमुपकल्पितं ॥ १२ ॥ अष्टयोजनगंभीरैर्मुखे योजनविस्तृतैः । प्रारेभे कांचनैः कुंभैर्जन्माभि-

---

अथानंतर-- प्रथम सौधर्मस्वर्गके इंद्रने भगवानका प्रथम अभिषेक करनेकेलिये प्रथम ही भगवानकी स्तुति कर पहला कलश उठाया और ॥ १०६ ॥ उसीप्रकार उत्तम शोभा युक्त और कलशोंद्वारा मंत्रको जाननेवाले ऐशान स्वर्गके इंद्रने घनीभूत चंदनसे चर्चित हुये दूसरे पूर्ण कलशको उठाया ॥ १०७ ॥ शेष इंद्रोंने आनंदके साथ जय जय शब्द किये और उन दोनों इंद्रोंके कथनानुसार सेवा करते हुये उनकी सहायता करने लगे ॥ १०८ ॥ अपनी अपनी सहायक अप्सराओंके साथ इंद्राणी आदि मुख्य देवियां भी मंगलद्रव्य धारणकर इंद्रकी सहायता करने लगीं ॥ १०९ तदनंतर बहुतसे देव श्रेणीबद्ध होकर सुवर्णके कलशे लेकर क्षीरसमुद्रका पवित्र जल लानेकेलिये बडे संतोषसे निकले ॥ ११० ॥ देवोंने समझा कि भगवान स्वयंभू हैं अतिशय पवित्र हैं उनके शरीरका रुधिर भी दूधके समान सफेद और स्वच्छ है इसलिये उनके शरीरको स्पर्श करनेके लिये क्षीरसागरके जलके सिवाय अन्य कोई जल योग्य नहीं है यही विचारकर देवोंने बडे हर्षके साथ भगवानका अभिषेक करनेकेलिये पांचवें क्षीरसागरका जल लाना निश्चय किया ॥ १११-११२ ॥ उन देवोंने सुवर्णके जिन कलशोंसे भगवानका जन्माभिषेक करना प्रारंभ कियाथा वे कलश आठ योजन गहरे थे और उनका मुख एक योजन चौडा था । (उनका उदर भी चार

नवणोत्सवः ॥ १३ ॥ महामाना विरेजुस्ते सुराणामुद्धृताः करैः । कलशाः कल्मषोन्मेषमोषिणो विघ्नकार्षिणः १४ ॥ प्रादुरासन्नभोभागे स्वर्ण कुंभाधृतार्णसः। मुक्ताफलांचितग्रीवाश्चंदनद्रवचर्चिताः ॥ १५ ॥ तेषामन्योन्यहस्ताग्रसंक्रांतैर्जलपूरितैः। कलशैर्व्यानशे व्योम हैमैः सांध्यैरिवांबुदैः॥१६॥ विनिर्ममे बहून्बाहून्स्तानादित्सुः शताध्वरः । स तैः साभरणैर्भेजे भूषणांग इवांघ्रिपः ॥ १७ ॥ दोः सहस्रोद्धृतैः कुंभैरौक्मैर्मुक्ताफलांचितैः । भेजे पुलोमजाजानिर्भाजनांगसमोपमां ॥ १८ ॥ जयेति प्रथमां धारां सौधर्मेंद्रो न्यपातयत् । तथा कलकलो भूयान्प्रचक्रे सुरकोटिभिः ॥ १९ ॥ सैषा

योजन चौडा था) ॥ ११३ ॥ भगवानके अभिषेकके समय छिद्रकालिमा आदि दोषोंसे रहित, अनेक विघ्नोंको दूर करनेवाले और देवोंके द्वारा हाथों हाथ उठाये हुये वे बडे भारी कलश बहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ ११४ ॥ अब वे सुवर्णकलश जलसे भरे हुये आकाशमें दिखाई देने लगे, उनके कंठभाग अनेक प्रकारके मोतियोंसे जडेहुये थे और चारोंओरसे घिसे हुये चंदनसे चर्चित हो रहे थे ॥ ११५ ॥ जलसे भरे हुये उन सुवर्णकलशोंको देवलोग परस्पर एक दूसरेके हाथसे ले रहे थे उससमय उन कलशोंसे आकाश ऐसा व्याप्त होगया था मानों वह संध्याकी कुछ २ लालिमा युक्त बादलोंसे ही व्याप्त हो गया हो ॥ ११६॥ इंद्रने एक साथ उन सब कलशोंको हाथमें लेनेके लिये अपने विक्रियाबलसे अनेक भुजायें निर्माण करलीं । उस समय आभूषणसहित उन अनेक भुजाओंसे वह ऐसा अच्छा जान पडता था मानों भूषणांग जातिका कल्पवृक्ष ही हो ॥ ११७ ॥ अथवा मोतियोंकी मालाओंसे सुशोभित सुवर्णमय हजार कलशोंको एक साथ हजार हाथोंसे उठाये हुये वह इंद्र ऐसा सुशोभित होता था मानों भाजनांग जातिका कल्पवृक्ष ही हो ॥ ११८ ॥ सौधर्म स्वर्गके इंद्रने जयजय शब्द करते हुये भगवानके मस्तकपर पहिली धारा छोडी उसीसमय जय जय शब्द करते हुये अन्य करोडों देवोंने भी एक बडा भारी कोलाहल कर दिया था ॥ ११९ ॥ भगवानके मस्तकपर पडती हुई वह जलकी धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानों हिम-

धारा जिनस्याधिमूर्द्धं रेजे पतंता । हिमाद्रेः शिरसीवोच्चैरच्छिन्नांबुर्निम्नगा ॥ २० ॥ ततः कल्पेश्वरैस्सर्वैस्समं धारा निपातिताः । संध्याभ्रैरिव सौवर्णैः कलशैरंबुसंभृतैः ॥ २१ ॥ महानद्य इवापप्तन्धारा मूर्धनीशितुः । हेलयैव महिम्नासौ ताः प्रत्यैच्छदद्रिरींद्रवत् ॥ २२ ॥ विरेजुरप्छटा दूरमुच्छलन्त्यो नभोंगणे । जिनांगस्पर्शसंसर्गात्पापान्मुक्ता इवोर्ध्वगाः ॥ २३ ॥ काश्चनोच्चलिता व्योम्नि विबभुः शीकरच्छटाः । छटामिवामरावासप्रांगणेषु वितांसवः ॥ २४ ॥ तिर्यग्विसारिणः केचित्स्नानांभःशीकरोत्कराः । कर्णपूरश्रियं तेनुर्दिग्वधूमुखसंगिनीं ॥ १२५ ॥ निर्मले श्रीपतेरंगे पतित्वा

वान पर्वतके मस्तकपर बडे ऊंचेसे अखंड जलसे पडती हुई आकाशगंगा ही हो ॥ १२० ॥ सौधर्म इंद्रकी पडी हुई धाराके अनंतर कल्पवासी देवोंके अन्य सब इंद्रोंने मिलकर संध्यासमयकी कुछ कुछ ललाई लियेहुये बादलोंके समान जलसे भरे सुवर्णके कलशोंसे भगवानके मस्तकपर एक साथ जलधारा छोडी । यद्यपि वह धारा भगवानके मस्तकपर ऐसी पडरही थी मानों गंगासिंधू आदि सब महानदियों की मिली हुई एक धारा ही हो तथापि मेरुपर्वतके समान भगवान वृषभदेव अपने माहात्म्यसे लीलामात्रमें ही सब सहन कररहे थे ॥ १२१-१२२ ॥ उस जलधाराकी बहुतसी बूंदे भगवानके शरीरपर पडकर फिर ऊपर आकाशकी ओर दूरतक उछलती थीं और वे ऐसी जान पडती थीं मानों भगवानका शरीर स्पर्शकर पापरहित होनेसे ऊपरको ही जा रही हों ॥ १२३ ॥ उससमय आकाशमें उछलती हुई कितनी ही पानीकी बूंदे ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों देवोंके निवास करनेवाले विमानोंके आंगनोंमें छींटे देकर उन्हें पवित्रही करना चाहती हों ॥ १२४ ॥ भगवानके स्नान किये हुये जलकी कितनी ही बूंदे दिशा विदिशाओंमें तिरछी जा रही थीं और वे ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों दिशारूपी स्त्रियोंके मुखपर कर्णफूलकी शोभा ही हो ॥ १२५ ॥ भगवानका शरीर अत्यंत निर्मल था उसपर पडकर उसमें प्रतिबिंबित हुई जलकी धारायें ऐसी सुंदर जान पडती थीं मानों भगवानके शरीरका स्पर्श बडे ही भाग्यसे होता है इस-

प्रतिबिंबिताः । जलधाराः स्फुरंति स्म दिष्टिवृद्ध्येव संगताः ॥ २६ ॥ गिरेरिव विभोर्मूर्ध्नि सुरेंद्राभ्रैर्निपातिताः । विरेजुर्निर्झराकारा धाराः क्षीरार्णवांभसां ॥ २७ ॥ तोषादिव खमुत्पत्य भूयोऽपि निपतंत्यधः । जलानि जहसुर्नूनं जडतां स्वां स्वशीकरैः ॥ २८ ॥ स्वर्धुनीशीकरैः सार्द्धं स्पर्द्धां कर्त्तुमिवोर्ध्वगैः । शीकरैर्द्राक्पुनाति स्म स्वर्धामान्यमृतप्लवः ॥ २९ ॥ पवित्रो भगवान्पूतैरंगैस्तदपुनाज्जलं । तत्पुनर्जगदेवेदमपावीद्व्याप्तदिङ्मुखं ॥ ३० ॥ तेनांभसा सुरेन्द्राणां पृतनाः प्लाविताः क्षणं । लक्ष्यंते स्म पयोवार्द्धौ निमग्नांग्य इवाऽकुलाः ॥ ३१ ॥ तदंभः कलशास्यस्थैः सरोजैः सममापतत् ।

समय भगवानके शरीरका स्पर्श करती हुई हम बडी ही भाग्यशालिनी हैं' इसप्रकार अपने भाग्यकी प्रशंसा करती हुई भगवानके शरीरसे मिल रही हों ॥१२६ ॥ पर्वतरूपी भगवानके मस्तकपर इंद्र-रूपी बादलोंसे निर्झरनेके समान एक साथ पडती हुई क्षीरसमुद्रके जलकी धारा बडी ही अच्छी जान पडती थी ॥ १२७ ॥ भगवानके अभिषेकका जल संतुष्ट होकर प्रथम तो आकाशकी ओर उछलता था और फिर नीचे गिर पडता था । नीचे पडते समय वह ऐसा जान पडता था मानों अपनी छोटी छोटी सफेद बूंदोंसे अपनी मूर्खतापर ही हंस रहा हो क्योंकि मूर्ख ही ऊपर जाकर नीचे पडता है ॥१२८॥ वह क्षीरसागरका जल आकाशगंगाके जलबिंदुओंसे स्पर्द्धा करनेकेलिये ही मानों ऊपर उछलते हुये अपने जल बिंदुओंसे स्वर्गके विमानोंको बहुत शीघ्र पवित्र कर रहा था ॥ १२९ ॥ भगवानका शरीर स्वयं पवित्र था उसपर पडकर वह जल भी पवित्र हो गया था और वह पवित्र हुआ जल सब दिशाओंमें भरगया था इसलिये उसने यह समस्त संसार पवित्र कर दिया था ॥ १३० ॥ उस अभिषेकके जलमें देवोंकी सब सेना डूब गई थी और क्षणभरके लिये ऐसी दिखाई दे रही थी मानों क्षीरसागरमें डूबकर व्याकुल ही हो रही हो ॥ १३१ वह अभिषेकका जल मेरुपर्वतके मस्तकपर कलशोंके मुखपर रक्खे हुये कमलोंसहित पड रहा था इसलिये ऐसा जान पडता था मानों वह हंसोंके समूह सहित ही पड रहा हो ॥१३२॥ उस जलके साथ साथ कलशोंके मुखपर रक्खे हुये अशोक

हंसैरिव परां कांतिमवापाद्रींद्रमस्तके ॥ ३२ ॥ अशोकपल्लवैः कुंभमुखमुक्तैस्ततं पयः । सच्छायमभवत्कीर्णं विद्रुमाणामिवांकुरैः ॥ ३३ ॥ स्फाटिके स्नानपीठे तत्स्वच्छशोभमभाज्जलं । भर्तुः पादप्रसादेन प्रसेदिवदिवाधिकं ॥ ३४ ॥ रत्नांशुभिः क्वचिद्व्यातं विचित्रैस्तद्बभौ पयः । चापमैंद्रं द्रवीभूय पयोभावमिवागतं ॥ ३५ ॥ क्वचिन्महोपलोत्सर्पत्प्रभाभिररुणीकृतं । संध्यांबुदद्रवच्छायां भेजे तत्पावनं वनं ॥ ३६ ॥ हरिनीलोपलच्छायाततं क्वचिद्दो जलं । तमोघनमिवैकत्र निलीनं समदृश्यत ॥ ३७ ॥ क्वचिन्मरकताभीषुप्रतानैरनुरंजितं । हरितांशुकसच्छायमभवत्स्नपनोदकं ॥ ३८ ॥ तदंबुशीकरैर्व्योम समाक्रामद्भिराबभौ । जिनांगस्पर्शसंतोषात्प्रहासमिव नाटयत् ॥ ३९ ॥ स्नानांबुशीकराः केचिदागुसीमविलंविनः । व्यात्युक्षिं स्वर्गल-

---

वृक्षोंके पत्ते भी पडते थे जिनसे वह ऐसा जान पडता था मानों मूंगाके अनेक अकूरोंसे व्याप्त ही हो रहा हो ॥१३३॥ भगवानके विराजमान होनेका सिंहासन स्फटिकमणिका बना हुआ स्वच्छ था इसलिये उसपर पडता हुआ क्षीरसागरका स्वच्छ जल ऐसा अच्छा जान पडता था मानों भगवानके चरणकमलके प्रसादसे वह और भी अधिक स्वच्छ हो गया हो ॥ १३४ ॥ कहीं कहीं चित्र विचित्र रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त हुआ वह जल ऐसा मनोहर जान पडता था मानों गलकर जलरूप हुआ इंद्रधनुष ही आगया हो ॥ १३५ ॥ कहीं कहींपर पद्मरागमणियोंकी उत्कटकांतिसे कुछ कुछ लाल हुआ वह पवित्र जल ऐसा अच्छा जान पडता था मानो संध्यासमयका कुछ कुछ लाल बादल ही गलकर जलरूप हो गया हो ॥१३६ कहीं कहींपर इंद्रनीलमणिकी कांतिसे व्याप्त हुआ वह अभिषेकका जल ऐसा दिखाई दे रहा था मानों अंधकारका समूह ही एक जगह आकर छिप गया हो १३७॥ और कहीं कहींपर हरितवर्णकी मरकतमणियोंकी किरणोंके समूहसे मिला हुआ वह अभिषेकका जल ठीक हरे वस्त्रके समान जान पडता था ॥ १३८ ॥ भगवानके अभिषेककी छोटी छोटी बूंदोंसे भरा हुआ आकाश ऐसा अच्छा जान पडता था मानों भगवानके शरीरके स्पर्शसे अतिशय संतुष्ट होकर हंस ही रहा हो ॥ १३९ ॥ भगवानके अभिषेककी कितनी ही बूंदें आकाशकी सीमाका उलंघन करती हुई ऐसी सुशो-

क्ष्म्येव कर्तुकामाश्चकाशिरे ॥ ४० ॥ विष्वगुच्चलिताः काश्चिदच्छटा रुद्धादिक्तटाः । व्यापहासीमिवानंदाद्दिग्वधूनिः समं व्यधुः ॥ ४१ ॥ दूर-मुत्सारयन्स्वैरमासीनान्सुरदंपतीन् । स्नानपूरः स पर्यंतान्मेरोराशिश्रियत् द्रुतं ॥ ४२ ॥ उदभारः पयोवार्द्धेरापतन्मंदरादधः । आभूतलं तदुन्मानं मिमान इव दिद्युते ॥ ४३ ॥ गुहामुखैरिवापीतः शिखरैरिव खात्कृतः । कंदरैरिव निष्ठ्यूतः प्राध्नोन्मेरौ पयः प्लवः ॥ ४४ ॥ किं गौर्यस्त्रिदशैर्मुक्तो युक्ता मे स्वर्गताधुना । नूनमित्यकथीन्मेरुर्दिवं स्नानांबुनिर्झरैः ॥ ४५ ॥ अह्लगीदखिलं व्योम ज्योतिश्चक्रं समस्थगीत् । प्रौर्णवीन्मेरुमारुंधन्क्षी-

---

भित हो रही थीं मानों स्वर्गकी लक्ष्मीके साथ परस्पर जलक्रीडा करना ही चाहती हों ॥ १४० ॥ उस जलकी कितनी ही बूंदें सब दिशाओंको रोककर सबओर उछल रही थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों हर्षसे दिशारूपी स्त्रियोंके साथ हास्य ही कर रहीं हों ॥ १४१ ॥ वह भगवानके अभिषेक-जलका भारी प्रवाह अपनी इच्छानुसार बैठे हुये सुरदंपतियोंको (देवदेवियोंको) दूर हटाता हुआ बहुत शीघ्र मेरुके अंत पर्यंत पहुंच गया था तथा ॥ १४२ ॥ मेरुपर्वतसे नीचे भूमिपर्यंत पडता हुआ वह क्षीरसागरका जलप्रवाह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों मेरुपर्वतको नापनेका एक (रस्सी) ही हो ॥ १४३ ॥ मेरु पर्वतपर जलका प्रवाह इतना बढ गया था कि शिखरोंपर आकाशके समान जान पडता था, कंदराओंसे निकल रहा था और गुफाओंके द्वारोंपर रुका हुआ ऐसा जान पडता था मानो उसे मेरुपर्वत पान ही कर रहा हो ॥१४४॥ अभिषेकजलके जो निर्झरने पड रहे थे उनमें ऐसा जान पडता था मानों वह पर्वत स्वर्गको धिक्कार देता हुआ यही कह रहा हो कि अब तो स्वर्गको देवोंने भी छोड दिया अब वह क्या चीज है अब देव सब मेरे यहां आगये हैं इसलिये अब तो-साक्षात् स्वर्ग मुझे ही कहना चाहिये ॥१४५॥ उस क्षीरसागरके प्रवाहने समस्त आकाशको आच्छादन करलिया था, ज्योतिश्चक्रको घेर लिया था मेरुको ढकलिया था और पृथ्वी आकाश सबको रोक लिया था ॥ १४६॥ उस अभिषेकके जलके प्रवाहने मेरुपर्वतके वनोंमें जाकर देखा कि वहांके वृक्ष कभी

रपूरः स रोदसी ॥ ४६ ॥ क्षणमक्षीणनीवेषु वनेषु कृतविश्रमः । प्राप्तक्षण इवान्यत्र व्याप सोंभःप्लवः क्षणात् ॥ ४७ ॥ तरुखंडनिरुद्धत्वादंतर्वण-मनुल्बणः । वनवीथीरतीत्यारात्ससार महाप्लवः ॥ ४८ ॥ स बभासे पयःपूरः प्रसर्पन्नधिशैलराट् । सितैरिवांशुकैरेनं स्थगयन्स्थगितांबरः ॥ ४९ ॥ विष्वगद्रींद्रमूर्णुत्वा पयोर्णवजलप्लवः । प्रवहन्नवहच्छायां स्वःसवंत्याः पयःस्रुतेः ॥ १५० ॥ शब्दाद्वैतमिवातन्वन्कुर्वन्सृष्टिमिवाप्मयीं । विललास पयःपूरः मध्वनन्नद्रिकुक्षिषु ॥ ५१ ॥ विष्वगाप्लावितो मेरुरपप्लवैरामहीतलं । अज्ञातपूर्वतां भेजे मनसा ज्ञायिनामपि ॥ ५२ ॥ न मेरुरयमुत्फुल्ल-

---

नष्ट नहीं होते यह देखकर उसने वहां क्षणभर विश्राम किया और फिर संतुष्ट होकर दूसरे ही क्षणमें वह सब जगह व्याप्त हो गया ॥ १४७ ॥ वह जल जबतक बनमें था तबतक तो वृक्षोंके समूहसे रोका गया था इसलिये वहां उसे बहुत धीरे धीरे चलना पडा था परंतु बनसे निकलते ही वह बहुत शीघ्र फैल गया था ॥ १४८ ॥ मेरुपर्वतको सुशोभित करनेवाला और आकाशको आच्छादन करनेवाला वह जलका प्रवाह ऐसा सुशोभित होता था मानों मेरुपर्वतको सफेद वस्त्रसे आच्छादन ही कर रहा हो ॥ १४९ ॥ वह क्षीरसागरके जलका प्रवाह मेरुपर्वतको चारोंओरसे आच्छादनकर बहता हुआ ऐसा जान पडता था मानों आकाशगंगाके जलकी मोटी धारा ही हो ॥ १५० ॥ अथवा वह जलका प्रवाह मेरुपर्वतकी गुफाओंमें गंभीर शब्द करता हुआ ऐसा जान पडता था मानों वैयाकरणके द्वारा मानेहुये स्फोटवादकी (संसारको शब्दमय मानना स्फोटवाद कहलाता है) सिद्धि ही कर रहा हो अथवा इस संसारको जलमय ही करना चाहता हो ॥ १५१ ॥ वह पर्वत ऊपरसे नीचे पृथ्वीतक चारों ओरसे उस जलके प्रवाहसे ढक गया था इसलिये प्रत्यक्षज्ञानी देवोंको भी वह एक अपूर्व ही जान पडा था। क्योंकि वह मेरु पहिले सुवर्णमय पीला था और अब सर्वथा सफेद जान पडता था ॥ १५२ ॥ उस समय वह पर्वत कमलनालके तंतुओंके समान अथवा खिले हुये सफेद फूलोंसे सुशोभित नमेरु जातिके वृक्षोंके (देववृक्षोंके)

मेरुतरुराजितः । राजतो गिरिरेषः स्यादुल्लसाद्विसपांडुरः ॥ ५३ ॥ पीयूषस्यैष राशिर्नु स्फाटिको नु शिलोच्चयः । सुधाधवलितः किं तु प्रासादास्त्रिजगच्छ्रियः ॥ ५४ ॥ वितर्कमिति तन्वानो गिरिराजे पयः प्लवः । व्यानशे विश्वदिक्कांतो दिक्कांताः स्नपयन्निव ॥ ५५ ॥ ऊर्ध्वमुच्चालिताः केचिच्छीकरा विश्वदिग्गताः । श्वेतच्छत्रश्रियं मेरोरातेनुर्विधुनिर्मलाः ॥ ५६ ॥ हारनीहारकल्हारकुमुदांभोजसात्विषः । प्रावर्त्तंत पयःपूरा यशःपूरा इवार्हतः ॥ ५७ ॥ गगनांगणपुष्पोपहारा हारामलत्विषः । दिग्वधूकर्णपूरास्ते बभुः स्नानांबुशीकराः ॥ ५८ ॥ शीकरैराकिरन्नाकमालोकांतविसर्पिभिः । ज्योतिर्लोकमनुनाप्य जजृंभे सोंऽभसां प्लवः ॥ ५९ ॥ स्नानपूरे निमग्नांग्यस्तारास्तरलरोचिषः । मुक्ताफलश्रियं भेजुर्विप्रकीर्णाः समंततः ॥ १६० ॥

समान सफेद हो रहा था इसलिये वह मेरु नहीं जान पडता था किंतु रजतमय (चांदीका) कोई अन्य पर्वत ही जान पडता था । १५३ ॥अथवा क्या यह अमृतकी राशि है अथवा स्फटिकपाषाणकी शिलाओंका ढेर है अथवा चूनेसे सफेद किया हुआ तीनों जगतकी लक्ष्मीका राजभवन है इसप्रकार अनेक तर्क वितर्क उत्पन्न करता हुआ वह जलका प्रवाह उस मेरुपर्वतकी सब दिशाओंमें इसप्रकार फैल गया था मानों दिशारूप स्त्रियोंका अभिषेक ही करा रहा हो ॥ १५४-१५५ ॥ चंद्रमाके समान निर्मल उस अभिषेकके जलकी कितनी ही बूंदें सब दिशाओंकी ओर ऊपरको उछलती हुईं ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों मेरुपर्वतपर सफेद छत्र ही लगा हो ॥ १५६ ॥ वह जलका प्रवाह मोतियोंका हार, बरफ, सफेद कमल और कमोदिनियोंके समान सफेद था इसलिये ऐसा जान पडता था मानों भगवान अरहंतदेवके यशका समूह ही हो ॥ १५७ ॥हारके समान निर्मल कांतिको धारण करनेवाले वे आकाशमें उछलतेहुये जलबिंदु ऐसे सुशोभित होते थे मानों आकाशरूपी आंगनमें पूजाके पुष्प ही फैले हों अथवा दिशारूप स्त्रियोंके कर्णफूल ही हों ॥ १५८ ॥ वह जलका प्रवाह लोकपर्यंत उछलनेवालीं बूंदोंसे स्वर्गलोकमें भी व्याप्त हो गया था और नीचेकी ओर ज्योतिर्मंडलतक पहुंचकर सबओर फैल गया था तब ॥ १५९ ॥ भगवानके अभिषेकजलके प्रवाहमें डूबकर सब ताराओंकी कांति चंचल हो

तारकाः क्षणमध्यास्य स्नानपूरं विनिःसृताः । पयोलवप्लुतो रेजुः करकाणामिवालयः ॥ ६१ ॥ स्नानांभसि बभौ भास्वांस्तत्क्षणं कृतनिर्वृतिः । तप्तः पिंडो महांल्लौहः पानीयमिव पायितः ॥ ६२ ॥ पयःपूरे वहत्यस्मिन् श्वेतभानुर्व्यभाव्यत । जरद्धंस इवोदूढजडिमा मंथरं तरन् ॥ ६३ ॥ ग्रहमंडलमाकृष्टं पर्यस्तैः सलिलप्लवैः । विपर्यस्तां गतिं भेजे वक्रचारमिवाश्रितं ॥ ६४ ॥ भगणः प्रगुणीभूतकिरणं जलविप्लुतं । सिषेवे पूषणं मोहात्प्रालेयांशुविशंकया ॥ ६५ ॥ ज्योतिश्चक्रं क्षरज्ज्योतिः क्षीरपूरमनुभ्रमत् । वेलातिक्रमभीत्येव नास्थादेकमपि क्षणं ॥ ६६ ॥ ज्योतिःपटलमित्या-

---

गई थी और इसलिये वे ऐसे सुशोभित होते थे मानों सब ओर भरेहुये मोती ही हों ॥१६० ॥ वे तारे क्षणभर उस जल प्रवाहमें रहकर तुरंत ही अलग होगये थे। जलप्रवाहसे अलग होनेपर भी उनसे थोडा थोडा पानी टपक रहा था इसलिये उस समय वे ऐसे जान पडते थे मानों गलती हुई ओलोंकी पंक्ति ही हो ॥ १६१ ॥ सूर्य भी क्षणभर उस जलप्रवाहमें रहकर और उससे अलग होकर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों एक बडा भारी लोहेका गोला आग्निमें तपाकर और पानीमें डालकर निकाला गया हो ॥ १६२ ॥ उस जलप्रवाहके बहते समय स्वेत किरणयुक्त चंद्रमा भी ऐसा सुंदर जान पडता था मानों अत्यंत कमजोर और धीरे धीरे तैरता हुआ बूढा हंस ही हो ॥ १६३ ॥ उस समय ग्रहमंडल (नक्षत्र तारे आदि) भी ऐसा जान पडता था मानों चारों ओर फैले हुये जलप्रवाहके खिंचावसे विपरीत गतिको प्राप्त हो गया हो और इसलिये ही उसने वक्रगतिका (गोलाईरूप टेडी गतिका) आश्रय लिया हो ॥ १६४ ॥ उस समय सूर्य भी उस जलप्रवाहमें डूब गया था उसकी किरणें भी शीतल और सीधी हो गई थीं इसलिये नक्षत्र मंडल भी उसे चंद्रमा समझकर उसकी सेवा करने लगा था ॥ १६५ ॥ समस्त ज्योतिश्चक्र भी उस जलप्रवाहमें डूबकर और कांतिरहित होकर उस जलप्रवाहके साथ साथ बहने लगा था मानों अस्त होनेका समय व्यतीत हो जानेके भयसे एक क्षण भी न ठहर सका हो ॥ १६६ ॥ जिसप्रकार

सीरत्नानौघैः क्षणमाकुलं । कुलालचक्रमाविद्धमिव तिर्यक्परिभ्रमं ॥ ६७ ॥ पर्यापतद्भिरुत्संगाद्रिरेः स्वर्लोकधारिणः । विरलैः स्नानपूरस्तैर्नृलोकः पावनीकृतः ॥ ६८ ॥ निर्वापिता मही कृत्स्ना कुलशैलाः पवित्रिताः । कृता निरीतयो देशाः प्रजाः क्षेमेण योजिताः ॥ ६९ ॥ कृत्स्नामिति जगन्नाडीं पवित्रीकुर्वतामुना । किं नाम स्नानपूरेण श्रेयः शेषितमंगिनां ॥ ७० ॥ अथ तस्मिन्महापूरे ध्वानापूरितदिङ्मुखे । प्रशांते शमिताशेषभुवनोष्मण्यशेषतः ॥ ७१ ॥ रेचितेषु महामेरोः कंदरेषु जलप्लवैः । प्रत्याश्वासमिवायाते मेरौ सवनकानने ॥ ७२ ॥ धूपेषु दह्यमानेषु सुगंधींधनयोनिषु । ज्वलत्सु मणिदीपेषु भक्तिमात्रोपयोगिषु ॥ ७३ ॥ पुण्यपाठान्पठत्सूचैः संपाठं सुरबंदिषु । गायंतीषु सुकंठीषु किन्नरीषु कलस्वनं ॥ ७४ ॥

फिराया हुआ कुंभारका चाक टेडा फिरता है उसीप्रकार उस जलप्रवाहके द्वारा क्षणभरके लिये व्याकुल हुआ ज्योतिश्चक्र भी टेडा (तिरछा) फिरने लगा था ॥ १६७ ॥ स्वर्गलोकको धारण करनेवाले मेरु पर्वतके मस्तकपरसे वह अभिषेकजलका प्रवाह छितिर वितिर होकर पड रहा था और समस्त मनुष्यलोकको पवित्र कर रहा था ॥ १६८ ॥ उस जलप्रवाहने समस्त पृथ्वी सुखरूप कर दी थी, कुलपर्वत सब पवित्र कर दिये थे, देशोंकी अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि सब ईति भीति दूर कर दी थीं और सब प्रजाको सुखी करदिया था। इसप्रकार उसने यह समस्त लोकनाडी ही पवित्र कर दी थी फिर भला जीवोंका ऐसा कौनसा कल्याण था जो उसने बाकी छोड दिया हो। भावार्थ- उसने जीवोंके सब कल्याण पूर्ण कर दिये थे ॥ १६९-१७० ॥

अथानंतर जिस समय दशों दिशाओंको शब्दायमान करनेवाला और संपूर्ण संसारकी समस्त उष्णता शांत करनेवाला वह जलप्रवाह शांत होगया ॥ १७१ ॥ जब मेरु पर्वतकी गुफाओंमेंसे सब जलका प्रवाह निकल गया, मेरु जल और बन सबने थोडा विश्राम लिया और ॥१७२॥ देवोंने अगुरु चंदन आदि सुगंधित लकडियोंकी अग्निमें धूप डालना प्रारंभ किया, और केवल भक्ति वश होकर ही मणियोंके दीपक जलाये, ॥ १७३ ॥ जब देवोंके बंदीजन बडी अच्छीतरह

जिनकल्याणसंबंधिमंगलोद्गीतिनिस्वनैः । कुर्वाणे दिविगीर्वाणलोकस्य श्रवणोत्सवं ॥ १७५ ॥ जिनजन्माभिषेकार्थप्रतिबद्धाभिदर्शनैः । नाट्यवेदं प्रयुंजाने सुरशैलक्षपेटके ॥ १७६ ॥ गंधर्वारब्धगानीतमृदंगध्वनिमूर्छिते । दुंदुभिध्वनिते मंद्रे श्रोत्रानंदं प्रतन्वति ॥ १७७ ॥ कुचकुंभैः सुरस्त्रीणां कुंकुमाक्तैरलंकृते । हाररोचिःप्रसूनौघकृतपुष्पोपहारके ॥ १७८ ॥ मेरुरंगेप्सरोवृंदे सलीलं परिनृत्यति । करणैरंगहारैश्च सलयैश्च परिक्रमैः ॥१७९॥ शृण्वत्सु मंगलोद्गीतीः सावधानं सुधाशिषु । स्तुवत्सु जनजन्मेषु जिनप्राभवशंसिषु ॥ १८० ॥ नांदीतूर्यरवे विष्वगापूरयति रोदसी । जयघोषप्रति-

---

और जोर जोरसे पुण्य उत्पन्न करनेवाला पाठ पढ रहे थे, मनोहर कंठवालीं किन्नरी देवियां मधुर गीत गा रहीं थीं, ॥१७४॥ भगवानके कल्याणसंबंधी मंगल गीतोंके+ शब्द जब समस्त देवलोगोंके कानोंको सुखी कर रहे थे, ॥ १७५ ॥ जब अनेकप्रकारके नृत्य करनेवाले देवोंके समूह भगवानके जन्म कल्याणके अर्थोंसे भरे हुये अनेक दृष्टांतोंके द्वारा नृत्य कर रहे थे, ॥१७६॥ जब गंधर्वदेवोंके द्वारा गायेहुये गीत और मृदंगकी मधुर ध्वनिसे मिले हुये दुंदुभी बाजोंके गंभीर शब्द कानोंको आनंद पहुंचा रहे थे ॥ १७७ ॥ जब कुंकुम लगे हुये देवियोंके कुचरूपी कुंभोंसे सुशोभित और हारोंकी किरणरूपी पुष्पोंके द्वारा विखरे हुये पुष्पोंके समान अलंकृत ऐसे मेरुपर्वत रूपी रंगभूमिमें अनेक अप्सराओंका समूह हाथ उठाकर शरीर हिलाकर, अद्भुत रीतिसे पैर उठाकर और तालके साथ अनेक लीलायें करता हुआ नृत्य कर रहा था तथा ॥ १७८-१७९ ॥ देवलोग सावधान होकर मंगल गीत सुन रहे थे और अनेक जन भगवानके जन्म कल्याणकी प्रशंसा करते हुये अनेक श्लोक पढ रहे थे, ॥ १८० ॥ जब मंगलकारक बाजोंके शब्द पृथ्वी और आकाशमें सब ओर भरगये थे, जब जय जय शब्दोंकी प्रतिध्वनियोंसे मानों मेरुपर्वत ही भगवानकी स्तुति

+ हे देव आपकी जय हो, आप सदा जीवित रहें, सदा बढते रहें, सदा विजय प्राप्त करते रहें, शत्रुओंको जीतते रहें, चिरकालतक आपका प्रताप बढता रहे, आपका कल्याण हो, मंगल हो, आप दीर्घायु हों इत्यादि मंगलगीत कहलाते हैं।

ध्वानैःस्तुवान इव मंदरे ॥ ८१ ॥ संचरत्खेचरीवक्त्रघर्माबुकणचुंबिनि । धूनोपांतवने वाति मंदं मंदं नभस्वति ॥ ८२ ॥ सुरदौवारिकैश्चित्रवेत्रदंडध-रैर्मुहुः । सामाजिकजने विष्वक्सार्यमाणे सहुंकृतं ॥ ८३ ॥ तत्समुत्सारणत्रासान्मूकीभावमुपागते । अनियुक्तजने सद्यश्चित्रार्पित इव स्थिते ॥८४॥ शुद्धांबुस्नपने निष्ठां गते गंधांबुभिः शुभैः । ततोभिषेक्तुमीशानं शतयज्वा प्रचक्रमे ॥ ८५ ॥ श्रीमद्गंधोदकैर्द्रव्यैर्गंधाहूतमधुव्रतैः । अभ्यषिंचद्विधा-नज्ञो विधातारं शताध्वरः ॥ ८६ ॥ पूता गंधांबुधारासावापतंती तनौ विभोः । तद्गंधातिशयात्प्रासलज्जेवासीदवाङ्मुखी ॥ ८७ ॥ कनत्कनकभृं-गारनालाद्धारा पतंत्यसौ । रेजे भक्तिभरेणेव जिनमानंतुमुद्यता ॥ ८८ ॥ विभोर्देहप्रभोत्सर्पैस्तडिदापिंजरैस्तता । सामाद्भिावसौ दीप्रे प्रयुक्तेव पृना-

---

कर रहा था, ॥ १८१ ॥ जब इधर उधर फिरती हुई विद्याधरियोंके मुखके पसीनेके जलबिंदुओंको स्पर्श करता हुआ वायु अपने समीपवर्ती बनके वृक्षोंको हिलाता हुआ धीरे धीरे बह रहा था, ॥ १८२ ॥ जब अनेक चित्र विचित्र बेंत हाथमें लिये देवोंके द्वारपाल चारों ओर फैले हुये सभाके लोगोंको हुंकार (हुं हुं) शब्दोंके द्वारा बार बार कुछ पीछेकी ओर हटा रहे थे ॥ १८३ ॥ उन द्वारपालोंके डरसे जब अनेक सभासद अपने आप ही चित्रमें लिखी हुई मूर्तिके समान निश्चल और चुप हो गये थे ॥ १८४ ॥ और जब शुद्धजलका अभिषेक समाप्त हो गया था तब इंद्रने पवित्र गंधोदकसे भगवान वृषभदेवका अभिषेक करना प्रारंभ किया ॥ १८५ ॥ जिसकी सुगंधसे लुब्ध होकर अनेक भ्रमर चारोंओर उड रहे हैं ऐसे उत्तमोत्तम गंधोदक द्रव्यसे विधिविधान जाननेवाले इंद्रने भगवान वृषभदेवका अभिषेक किया ॥ १८६ ॥ वह पवित्र गंधोदककी धारा भगवानके शरी-रपर पडती हुई ऐसी जान पडती थी मानों भगवानके शरीरकी अतिशय सुगंधि देखकर लज्जा-वश उसने अपना मुख नीचा ही कर लिया हो ॥ १८७ ॥ देदीप्यमान सुवर्णमयी झारीकी नालसे वेगसे पडती हुई वह धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानों भक्तिवश वह भगवानको नमस्कार ही कर रही हो ॥ ८८ ॥ बिजलीके समान कुछ कुछ पीले ऐसे भगवानके शरीरकी कांतिके समूहसे मिली

द्युतिः ॥ ८९ ॥ निसर्गसुरभिण्यंगे विभोरत्यंतपावने । पतित्वा चरितार्था सा स्वसादकृत तद्गुणान् ॥ ९० ॥ सुगंधिकुसुमैर्गंधद्रव्यैरपि सुवासिता । साधात्रातिशयं कंचिद्विभोरंगेंभसां ततिः ॥ ९१ ॥ समस्ताः पूरयंत्याशा जगदानंददायिनी । वसुधारेव धारासौ क्षीरधारा मुदेस्तु नः ॥ ९२ ॥ या पुण्यास्त्रवधारेव सूते संपत्परंपरां । सास्मान्गंधपयोधारा धिनोत्वनिधनैर्धनैः ॥ ९३ ॥ या निशातासिधारेव विघ्नवर्गं विनिघ्नती । पुण्यगंधांभसां धारा सा शिवाय सदास्तु नः ॥ ९४ ॥ माननीया मुनींद्राणां जगतामेकपावनी । सा-

---

हुई वह गंधोदककी धारा ऐसी जान पडती थी मानों दैदीप्यमान जलती हुई अग्निमें घीकी आहूति ही पड रही हो ॥ १८९ ॥ भगवानका शरीर स्वभावसे ही सुगंधित था अत्यंत पवित्र था इसलिये वह गंधोदककी धारा उस शरीरपर पडकर स्वयं कृतार्थ हो गई थी और भगवानके शरीरकी सुगंधता और पवित्रता ये दोंनो गुण भी उसने ग्रहण कर लिये थे ॥ १९० ॥ यद्यपि वह जलसमूह अतिशय सुगंधित पुष्पोंसे और अनेक सुगंधित द्रव्योंसे सुवासित किया गया था तथापि वह भगवानके शरीरपर कुछ भी अधिक अतिशय नहीं कर सका था, क्योंकि भगवानका शरीर स्वभावसे ही सर्वोत्कृष्ट था ॥ १९१ ॥ दुग्धधारारूप परिणत हुई वह गंधोदककी धारा हम भक्तजनोंकेलिये रत्नधाराके समान संतोषकारक हो, क्योंकि जिसप्रकार रत्नधारा समस्त आशा अर्थात् इच्छाओंको पूर्ण करती है उसीप्रकार वह गंधोदककी धारा भी समस्त आशा अर्थात् दिशाओंमें व्याप्त हो रही थी और रत्नधारा जिसप्रकार संसारको आनंद देनेवाली होती है उसीप्रकार वह धारा भी समस्त संसारको आनंद देनेवाली थी ॥ १९२ ॥ जो सुगंध जलकी धारा पुण्यकर्मोंकी आस्त्रवधाराके समान अनेक संपत्तियोंको उत्पन्न करनेवाली है वह कभी जन्ममरण उत्पन्न न करनेवाले सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी धनसे हम भक्तजनोंको संतुष्ट करो ॥ १९३ ॥ अथवा जो तलवारके समान तीक्ष्ण होकर विघ्नसमूहको नाश करनेवाली है वह पुण्य

व्याद्धंधांबुधारासान्या स व्योमापगायते ॥ ९५ ॥ तनुं भगवतः प्राप्य याता यातिपवित्रतां । पवित्रयतु नः स्वांतं धारा गंधांभसामसौ ॥९६॥ कृत्वा गंधोदकैरित्थमभिषेकं सुरोत्तमाः । जगतां शांतये शांतिं घोषयामासुरुच्चकैः ॥ ९७ ॥ [illegible] । स्वर्गस्योपायनं चक्रुस्तद्गंधांबु दिवौकसः ॥ ९८ ॥ गंधांबुस्नपनस्यांते जयकोलाहलैः समं । व्यात्युक्षीममराश्च [illegible] ॥ ९९ ॥ निर्वृत्तावभिषेकस्य कृतावभृथमज्जनाः । परीत्य परमं ज्योतिरानर्चुर्भुवनार्चितं ॥ २०० ॥ गंधैर्धूपैश्च दीपैश्च साक्षतैः कुसुमोदकैः । मंत्रपूतैः फलैः सार्घैः सुरेंद्रा विभुमीजिरे ॥ १ ॥ कृतेष्टयः कृतानिष्टविघाताः कृतपौष्टिकाः । जन्माभिषेकामित्युच्चैर्नाकेंद्रा निरतिष्ठिपन् ॥ २ ॥ इंद्रेंद्राण्यौ समं देवैः परमानंददायिनं ।

उत्पन्न करनेवाली गंधोदककी धारा हमलोगोंके लिये सदा मोक्ष सुख देनेवाली हो ॥ १९५ ॥ जो गंधोदककी धारा मुनियोंको भी मान्य है, संसारको पवित्र करनेवाली [illegible] है और इसीलिये ही जो आकाशगंगाके समान जान पडती है वह धारा हमलोगोंकी [illegible] ॥ जो गंधोदककी धारा भगवानके शरीरको पाकर अतिशय पवित्र हो गई है [illegible] अंतःकरणको पवित्र करो ॥ १९६ ॥ इसप्रकार इंद्रोंने भगवान वृषभदेवका गंधोदकसे अभिषेक किया और तदनंतर वे संसारकी शांतिके लिये बडे जोरसे शांति करनेवाले मंत्र पढने लगे ॥ १९७ ॥ शांतिपाठ पूर्ण होने पर सब देवोंने प्रथम ही वह गंधोदक अपने २ मस्तकपर लगाया फिर अपने सब शरीरसे लगाया और फिर भी जो बचा उसे स्वर्गको ले जानेके लिये रख लिया ॥ १९८ ॥जब गंधोदकसे भगवानका अभिषेक हो चुका तब सब देव एकसाथ जयजय शब्द करतेहुये चूर्ण मिला हुआ सुगंध जल परस्पर एक दूसरेके ऊपर डालने लगे ॥ १९९ ॥ इसप्रकार अभिषेकक्रिया समाप्त होनेपर सब देवोंने जलस्नान किया और फिर त्रिलोकपूज्य और परम ज्योतिस्वरूप भगवान ऋषभदेवकी प्रदक्षिणा देकर पूजा की ॥ २०० ॥मंत्रसे पवित्र कियेहुये जल चंदन अक्षत पुष्प नैवेद्य दीप धूप फल और अर्घ इन सब द्रव्योंसे सब इंद्रोनें भगवानकी पूजा की ॥२०१॥ इसप्रकार इंद्रोंने भगवानकी पूजा, की उस पूजाके

क्षणं चूडामणिं मेरोः परीत्यैनं प्रणेमतुः ॥ ३ ॥ दिवोपसत्तदा पौष्पी वृष्टिर्जलकणैः समं । मुक्तानंदाश्रुबिंदूनां श्रेणीव त्रिदिवश्रियः ॥ ४ ॥ रज:- पटलमाधूय सुरागसुमनोभवं । मातरिश्वा ववौ मंदं स्नानांभःशीकरान्किरन् ॥ ५ ॥ सज्योतिर्भगवान्मेरोः कुलशैलायिताः सुराः । क्षीराभसायिताः कुंभाः सुरनार्योप्सरायिताः ॥ ६ ॥ शक्रः स्नापयितार्द्रींद्रः स्नानपीठः सुरांगनाः । नर्तक्यः किंकरा देवाः स्नानद्रोणी पयोर्णवः ॥ ७ ॥ इति श्लाघ्यतमे मेरौ निर्वृत्तः स्नपनोत्सवः । स यस्य भगवान्पूयात्पूतात्मा वृषभो जगत् ॥ ८ ॥ अथ पवनकुमाराः स्वामिभक्त्याच्यतार्के क्षिति क्षिति

द्वारा अपने सब अनिष्टोंका नाश किया और अंतमें पौष्टिककर्म करके बडे समारोहके साथ भगवा- नका जन्माभिषेक समाप्त किया ॥ २०२ ॥ अनंतर सौधर्मस्वर्गके इंद्र और इंद्राणीने सब देवोंके साथ सब जीवोंको आनंदित करनेवाले और क्षणभरकेलिये मेरुपर्वतको चूडामणिके समान सुशोभित होनेवाले भगवान ऋषभदेवकी प्रदक्षिणा दी और उन्हें नमस्कार किया ॥२०३॥ उस समय स्वर्गसे पानीकी छोटी २ बूंदोंके साथ पुष्पवृष्टि हो रही थी और वह ऐसी जान पडती थी मानो स्वर्गकी लक्ष्मीकी आनंदाश्रुकी वहुतसी बूंदेंही पडरही हों॥२०४॥उससमय कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे उत्पन्न हुये परागसमू- हको हिलाता हुआ और भगवानके अभिषेकजलकी बूंदोंको बरसाता हुआ वायु भी मंद मंद रीतिसे वह रहा था ॥२०५॥ उससमय भगवान ऋषभदेव मेरुके समान जान पडते थे, देव कुलपर्वतोंके समान जान पडते थे, कलश दूधके मेघसमान मालूम हो रहे थे और देवांगनायें सरोवरोंके समान जान पडती थीं ॥ २०६ ॥ जिस भगवानके अभिषेकोत्सवमें इंद्र स्वयं अभिषेक करानेवाला था, मेरुपर्वत स्नानकरनेका सिंहासन था, देवांगनायें नृत्य करनेवाली थीं, देव सब किंकर थे और स्नान- करनेका जलपात्र क्षीरसमुद्र था । इसप्रकार अतिशय प्रशंसनीय मेरुपर्वतपर जिसका अभिषे कोत्सव समाप्त हुआ था वह महापवित्र भगवान ऋषभदेव संसारको पवित्र करो ॥ २०७-२०८ ॥

अथानंतर–पवनकुमार जातिके देव भगवानकी उत्कृष्ट भक्तिको अपनी समझकर ही

विभजंतो मंदमंदं विचेरुः । मुमुचुरमृतगर्भाः सीकरासारधाराः किल जलदकुमारा मैरवीषु स्थलीषु ॥ ९ ॥ सपदि विधुतकल्पानोकहैर्व्योमगंगा शिशिरतरतरंगोत्क्षेपदक्षैर्मरुद्भिः । तटवनमनुपुष्पाण्याहरद्भिः समंतात् परिगतिमिव कर्तुं बभ्रमे शैलभर्तुः ॥ १० ॥ अनुचितमशिवानां स्थातुमद्य त्रिलोक्यां जनयति शिवमस्मिन्नुत्सवे विश्वभर्तुः । इति किल शिवमुच्चैर्घोषयन् दुंदुभीनां सुरकरनिहतानां शुश्रुवे मंद्रनादः ॥ ११ ॥ सुरकुजकुसुमानां वृष्टिरापप्तदुच्चैरमरकरविकीर्णा विष्वगाकृष्टभृंगा । जिनजननसपर्यालोकनार्थं समंतात् नयनततिरिवाविर्भाविता स्वर्गलक्ष्म्या ॥ १२ ॥ इत्थं यस्य सुरासुरैः प्रमुदितैर्जन्माभिषेकोत्सवश्चक्रे शक्रपुरस्सरैः सुरगिरौ क्षीरार्णवस्यांबुभिः । नृत्यंतीषु सुरांगनासु सलयं नानाविधैर्लास्यकैः

सब दिशाओंमें बांटते हुये मंद मंद रीतिसे वायु चलाने लगे और मेघकुमार जातिके देव-उस मेरुपर्वतकी भूमिपर अमृतसे भरी हुई जलवृष्टि करने लगे ॥२०९॥ जो वायु शीघ्रशीघ्र कल्पवृक्षोंको हिला रहा था, आकाशगंगाकी अत्यंत शीतल तरंगोको उडा रहा था और मेरुपर्वतके समीपवर्ती बनोंके पुष्पोंको ग्रहण कर रहा था वह चारों ओर भ्रमण करता हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों भगवान ऋषभदेवकी प्रदक्षिणा ही दे रहा हो ॥ २१० ॥ देवोंके हाथोंसे बजाये हुये दुंदुभी बाजोंके गंभीर शब्द ऐसे सुनाई दे रहे थे मानों अनेक कल्याणोंकी घोषणा ही कर रहे हों और साथ साथमें यह भी कह रहे हों कि अब विश्वनाथ भगवान ऋषभदेवके जन्मोत्सवमें अनेक कल्याण हो रहे हैं, अब तीनों लोकोंमें कहीं भी अकल्याणोंका ठहरना उचित नहीं है ॥२११॥ आकाशसे देवोंके द्वारा छोडहुये कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी और उन पुष्पोंपर चारोंओरसे भ्रमर पड रहे थे इसलिये वे भ्रमरों सहित पुष्प ऐसे जान पडते थे मानों स्वर्गकी लक्ष्मीने भगवानके जन्मोत्सवका पूजन देखनेकेलिये चारों ओरसे अनेक नेत्र ही बनाकर भेजे हों ॥२१२॥ इसप्रकार जिससमय अनेकदेवांगनायें ताल और नानाप्रकारकी नृत्यकलाके साथसाथ नृत्यकररही थीं उससमय इंद्रादि देव और भवनवासी आदि असुरोंने बडे हर्षसे मेरुपर्वतपर क्षीरसागरके जलसे जिनका जन्मा-

स श्रीमान्वृषभो जगत्त्रयगुरुर्जीयाज्जिनः पावनः ॥ १३ ॥ जन्मानंतरमेव यस्य मिलितैर्देवा सुराणां गणैर्नानायानविमानपाविनिवहव्यारुद्धरोदोगणैः । क्षीराब्धेः समुपाहृतैः शुचिजलैः कृत्वाभिषेकं विभोर्मेरोर्मूर्धनि जातकर्म विदधे सोव्याज्जिनो वोग्रिमः ॥ १४ ॥ सद्यः संहृत मौष्ण्यमुष्णकिरणैराम्रेडितं शीकरैः शैत्यं शीतकरैरुदूढमुडुभिर्बद्धोडुपैः क्रीडितं । तारौघैस्तरलैस्तरद्भिरधिकं डिंडीरपिंडायितं यस्मिन्मज्जनसंविधौ स जयताज्जैनो जगत्पावनः ॥ २१५ ॥ सानंदं त्रिदशेश्वरैः सचकितं देवीभिरुत्पुष्करैः सत्रासं सुरवारणैः प्रणिहितैराचादरं चारणैः । साशंकं गगनेचरैः किमिदमित्यालोकितो यः स्फुरन्मेरोमूर्ध्नि स नोवताज्जिनविभोर्जन्मोत्सवांभःप्लवः ॥ २१६ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवज्जन्माभिषेकवर्णनं नाम त्रयोदशं पर्व ॥१३॥

भिषेकका उत्सव किया था वे परम पवित्रजगतके गुरु भगवान वृषभदेव जिनेंद्र सदा जयशील हों ॥ २१३ ॥ जन्म होनेके बाद ही अनेकप्रकारके आसन विमान आदिके समूहोंसे आकाशमें व्याप्त होकर सब मिलकर आये हुये देव और असुरोंके समूहोंने मेरुपर्वतके मस्तकपर क्षीरसागरका पवित्र जल लाकर जिन भगवानका अभिषेक और नामकर्म किया था वे प्रथम जिनेंद्रदेव भगवान वृषभदेव तुम श्रोता लोगोंकी सदा रक्षा करें ॥ २१४ ॥ जिस भगवानके जन्माभिषेकके समय सूर्य आदि उष्णकिरणवाले पदार्थोंने बहुत शीघ्र उष्णता छोड दी थी अभिषेककी छटायें बारं बार उछल रहीं थीं, चंद्रमा आदि शीतलकिरणवाले पदार्थोंमें अत्यंत शीतलता आगई थी, नक्षत्रगण परस्पर बंधी हुई छोटी छोटी नावोंके समान इधर उधर तैरते हुये क्रीडा कर रहे थे और ताराओंके समूह अतिशय चंचल होकर तैरते हुये मक्खनके (लोनी वा नवनीतके) पिंड समान जान पडते थे ऐसे वे जगतको पवित्र करनेवाले भगवान वृषभदेव सदा जयशील हों ॥ २१५ ॥ मेरुपर्वतके मस्तकपर स्फुरायमान होते हुये जिसे इंद्रोंने बडे आनंदसे देखा था, देवियोंने आश्चर्यकी दृष्टिसे देखा था, ऐरावत हाथियोंने अपनी सूंड ऊंचीकर बडे त्राससे देखा था, चारण मुनियोंने एकाग्रचित्त होकर

अथ चतुर्दशं पर्व.

अथाभिषेकनिर्वृत्तौ शची देवी जगद्गुरोः । प्रसाधनविधौ यत्नमकरोत्कृतकौतुका ॥ १ ॥ तस्याभिषिक्तमात्रस्य दधतः पावनीं तनुं । सांगलग्नान्ममार्जांभःकणान्स्वच्छामलांशुकैः ॥ २ ॥ स्वासन्नापांगसंक्रातासितच्छायं विभोर्मुखं । प्रमृष्टमपि साऽम्राक्षीत् भूयो जलकणास्थया ॥ ३ ॥ गंधैः सुगंधिभिः सांद्रैरिंद्राणी गात्रमीशितुः । अन्वालिंपत लिंपद्भिरिवामोदैस्त्रिविष्टपं ॥ ४ ॥ गंधेनामोदिना भर्तुः शरीरसहजन्मना । गंधास्ते न्यक्कृ-

---

बडे आदरसे देखा था और विद्याधरोंने 'यह क्या है' ऐसी शंका करते हुये देखा था ऐसा वह भगवानके जन्माभिषेकके जलका प्रवाह हमारी रक्षा करो ॥ २१६ ॥

इसप्रकार श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत संस्कृतमहापुराणकी नवीन हिंदी भाषानुवादमें भगवानके जन्माभिषेकका वर्णन करनेवाला तेरहवां पर्व समाप्त हुआ ॥

अथ चौदहवां पर्व ।

अथानंतर—अभिषेक समाप्त हो चुकनेपर इंद्रानीने बडे हर्षके साथ जगतगुरु भगवान वृषभदेवको आभूषण पहिनानेका प्रयत्न किया॥ १ ॥ जिनका अभिषेक किया जा चुका है तथा जिन्होंने पवित्र शरीर धारण किया है ऐसे भगवान वृषभदेवके शरीरमें लगे हुये जलबिंदुओंको इंद्रानीने स्वच्छ और निर्मल वस्त्रसे पोंछा ॥ २ ॥ भगवानके मुखपर जो इंद्रानीके निकटवर्ती कटाक्षोंकी सफेद छाया पड रही थी उसे जलकी बूंद समझकर वह इंद्राणी पोंछे हुये मुखको भी बार बार पोंछे रही थी ॥ ३ ॥ अपनी सुगंधिसे स्वर्गलोकको भी लेप करनेवाले, अतिशय सुगंधित और गाढे सुगंध द्रव्योंसे इंद्राणीने भगवानके शरीरपर लेप किया ॥ ४ ॥ यद्यपि वह इंद्राणीका किया हुआ लेप अनेक सुगंधित द्रव्योंसे मिला हुआ था तथापि भगवानके शरीरके साथ २ उत्पन्न हुये अतिशय सुगंधित गंधसे वह लज्जित ही हो गया था ॥ ५ ॥ इंद्राणीने बडे आदरसे भगवानके लला-

ता: एव सौगंध्येनापि संश्रिताः ॥ ५ ॥ तिलकं च ललाटेस्य शची चक्रे किलादरात् । जगतां तिलकस्तेन किमलंक्रियते विभुः ॥ ६ ॥ मंदारमालयोत्तंसमिंद्राणी विदधे विभोः । तयालंकृतमूर्द्धासौ कीर्त्येव व्यरुचद्भृशं ॥ ७ ॥ जगच्चूडामणेरस्य मूर्ध्नि चूडामणिं न्यधात् । सतां मूर्द्धाभिषिक्तस्य पौलोमी भक्तिनिर्भरा ॥ ८ ॥ अनंजितासिते भर्तुर्लोचने सांद्रपक्ष्मणी । पुनरंजनसंस्कारमाचार इति लंभिते ॥ ९ ॥ कर्णावविद्धसच्छिद्रौ कुंडलाभ्यां विरेजतुः । कांतिदीप्तिमुखे द्रष्टुमिंद्वर्काभ्यामिवाश्रितौ ॥ १० ॥ हारिणा मणिहारेण कंठशोभा महत्यभूत् । मुक्तिश्रीकंठिकादामचारुणा त्रिजगत्पतेः ॥ ११ ॥ बाह्वोर्युगं च केयूरकटकांगदभूषितं । तस्य कल्पांघ्रिपस्येव विटपद्वयमाबभौ ॥ १२ ॥ रेजे मणिमयं दाम किंकिणीनिर्विरा-

---

टपर तिलक लगाया परंतु संसारके तिलकभूत भगवान क्या उस तिलकसे सुशोभित हो सकते-हैं ? ॥ ६ ॥ इंद्रानीने भगवानके मस्तकपर कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी मालाओंसे बना हुआ मुकुट पहनाया । उन मालाओंसे मस्तकको सुशोभितकर भगवान ऐसे सुशोभित होने लगे मानों कीर्तिसे ही अलंकृत किये गये हों ॥ ७ ॥ यद्यपि भगवान तीनों लोकोंके चूडामणि थे सज्जनोंमें मुख्य और क्षत्रियोंके नायक थे तथापि इंद्रानीने केवल अपनी भक्तिसे ही भगवानके मस्तकपर चूडामणि स्थापन किया ॥ ८ ॥ यद्यपि भगवानके दोनों नेत्र विना अंजन दिये ही श्याम थे उनकी दोनों विरूनी (बाफणी) सघन थीं तथापि इंद्रानीने केवल नियोग पूरा करनेकेलिये भगवानके नेत्रोंमें काजल लगाया ॥ ९ ॥ भगवानके दोनों कान जन्मसे ही छिद्रसहित थे उनमें पहनाये हुये कुंडल ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों कांति और दीप्ति सहित भगवानके कानोंके दोनों छिद्रोंको देखनेकेलिये सूर्य और चंद्रमाके प्रतिबिंब ही आये हों १० ॥ मोक्षलक्ष्मीकी कंठमालाके समान अतिशय सुंदर और मनोहर मणियोंके हारसे त्रिजगतपति भगवान वृषभदेवके कंठकी शोभा बहुत ही अच्छी हो गई थी ॥ ११ ॥ केयूर कटक अंगद आदिसे सुशोभित दोनों भुजायें ऐसी सुशोभित होती थीं मानों वृषभदेवरूपी कल्पवृक्षकी दोनों शाखायें हीं हों ॥ १२ ॥

जितं । कटीतटेस्य कल्पांगप्रारोहश्रियमुद्वहत् ॥ १३ ॥ पादौ गोमुखनिर्भासैर्मणिभिस्तस्य रेजतुः । वाचालितौ सरस्वत्या कृतसेवाविवादरात् ॥१४॥ लक्ष्म्याः पुंज इवोद्भूतो धाम्नां राशिरिवोच्छिखः । भोग्यानामिव संपातस्तदाभाद्भूषितो विभुः ॥ १५ ॥ सौंदर्यस्येव संदोहः सौभाग्यस्येव सन्निधिः । गुणानामिव संवासः सालंकारो विभुर्बभौ ॥ १६ ॥ निसर्गरुचिरं भर्तुर्वपुर्भेजे सभूषणं । सालंकारं कवेः काव्यमिव सुश्लिष्टबंधनं ॥१७॥ प्रत्यंगमिति विन्यस्तैः पौलोम्या मणिभूषणैः । स रेजे कल्पशाखीव शाखोल्लासिविभूषणः ॥ १८ ॥ इति प्रसाध्य तं देवमिंद्रोत्संगगतं शची ।

भगवानके कटिप्रदेशमें किंकिणियोंसहित मणिमय करधनी ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों कल्पवृक्षके छोटे छोटे अंकूरे ही हों ॥ १३ ॥ गोमुख (गायका मुख) के आकारके प्रकाशमान मणियोंसे शब्द करते हुये दोनों चरण ऐसे सुशोभित होते थे मानों सरस्वती देवी ही आदरपूर्वक उनकी सेवा कर रही हो ॥ १४ ॥ उससमय अनेक आभूषणोंसे सुशोभित भगवान कईप्रकारके जान पडते थे, कभी तो ऐसे जान पडते थे मानों लक्ष्मीका समूह ही प्रगट हुआ हो, कभी ऐसे जान पडते थे मानों तेजोराशिकी ऊंची शिखा ही हो और कभी ऐसे जान पडते थे मानों योग्य वस्तुओंका एक समूह ही हो ॥ १५ ॥ अथवा अलंकारसहित वे भगवान ऐसे सुशोभित होते थे मानों सौंदर्यका समूह ही हो, सौभाग्यका खजाना ही हो अथवा गुणोंका निवासस्थान ही हो ॥ १६ ॥ भगवानका शरीर स्वभावसे ही सुंदर था और फिर अलंकारोंसे तो ऐसा मनोहर हो गया था मानों उपमा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों सहित पद और अर्थकी सुंदर रचनासे संयोजित हुआ किसी कविका मनोहर काव्य ही हो ॥ १७ ॥ इसप्रकार इंद्रानीके द्वारा प्रत्येक अंगमें मणियोंके आभूषणोंसे अलंकृत किये हुये वे भगवान ऐसे शोभित होते थे मानों प्रत्येक शाखापर लगे हुये आभूषणोंसे दैदीप्यमान कल्पवृक्ष ही हो ॥ १८ ॥ इसप्रकार इंद्राणीने इंद्रकी गोदीमें विराजमान भगवान वृषभदेवको अनेक प्रकारके आभूषण पहनाये और अनंतर जब

स्वयं विस्मयमायासीत्पश्यंती रूपसंपदं ॥ १९ ॥ संक्रंदनोऽपि तद्रूपशोभां द्रष्टुं तदातनीं । सहस्राक्षोऽभवन्नूनं स्पृहयालुरतृप्तकः ॥ २० ॥ तदा निमेषविमुखैर्लोचनैस्तं सुरासुराः । ददृशुर्गिरिराजस्य शिखामणिमिव क्षणं ॥ २१ ॥ ततस्तं स्तोतुमिंद्राद्याः प्राक्रमंत सुरोत्तमाः । वर्त्स्यत्तीर्थकरत्वस्य प्राभवं तद्धि पुष्कलं ॥ २२ ॥ त्वं देव परमानंदमस्माकं कर्तुमुद्गतः । किमु प्रबोधमायांति विनार्कात्कमलाकराः ॥ २३ ॥ मिथ्याज्ञानांधकूपेस्मिन्निपतंतमिमं जनं । त्वमुद्धर्तुमना धर्महस्तालंवं प्रदास्यसि ॥ २४ ॥ तव वाक्किरणैर्नूनमस्मच्चेतोगतं तमः । पुरा प्रलीयते देव तमो भास्वत्करैरिव ॥२५॥ त्वमादिर्देव देवानां त्वमादिर्जगतां गुरुः । त्वमादिर्जगतां स्रष्टा त्वमादिर्धर्मनायकः ॥ २६ ॥ त्वमेव जगतां भर्ता त्वमेव जगतां पिता । त्वमेव

उसने भगवानका रूप देखा तो उसे स्वयं बडा आश्चर्य हुआ ॥ १९ ॥ इंद्रने भगवानके उससमयका रूप देखना चाहा परंतु वह तृप्त न हुआ इसलिये उसने अपने हजार नेत्र बनाकर भगवानका रूप देखा ॥ २० ॥ उस समय सब देव और असुरोंने अपने अनिमेष (जिनके पलक न लगते हों) नेत्रोंसे क्षणभर मेरुपर्वतकी शिखामणिके समान भगवानको देखा ॥ २१ ॥ और तदनंतर इंद्रादिक समस्त उत्तम देव भगवानकी स्तुति करने लगे, सो ठीक ही है वर्तमान तीर्थंकरकी प्रभुता ही बहुत अधिक होती है ॥ २२ ॥ इंद्र स्तुति करने लगा कि हे देव ! हमलोगोंको अतिशय आनंद देनेके लिये ही आपका उदय हुआ है क्या सूर्यके उदय हुये विना कमलोंका समूह कभी प्रफुल्लित होता है? ॥ २३ ॥ हे नाथ मिथ्याज्ञानरूपी अंधकूपमें पडे हुये इस संसारी जीवको उद्धार करनेके-लिये आप धर्मरूपी अपने हाथका सहारा देनेवाले हैं ॥ २४ ॥ हे स्वामिन् ! जिसप्रकार सूर्यकी किरणोंके उदय होनेसे पहिले ही अंधकार नष्ट हो जाता है उसीप्रकार आपके बचनरूपी किरणोंके उदय होनेसे पहिले ही हमलोगोंके हृदयका अंधकार नष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥ हे देव आप समस्त देवोंमें आदिदेव (मुख्य वा प्रथम देव) हैं धर्मरूपी सृष्टिके प्रथम विधाता हैं और आप ही धर्मके प्रथम नायक हैं ॥ २६ ॥ हे करुणानिधे ! इस जगतके आप ही स्वामी हैं आप ही इस जगतके पिता हैं

जगतां त्राता त्वमेव जगतां पतिः ॥ २७ ॥ त्वं पूतात्मा जगद्विश्वं पुनासि परमैर्गुणैः । स्वयं धौतो यथा लोकं धवलीकुरुते शशी ॥ २८ ॥ त्वत्तः कल्याणमाप्स्यंति संसारामयलंघिताः । उल्लाघिता भवद्वाक्यभेषजैरमृतोपमैः ॥ २९ ॥ त्वं पूतस्त्वं पुनानोसि परं ज्योतिस्त्वमक्षरं । निर्धूय निखिलं क्लेशं यत्प्राप्तोसि परं पदं ॥ ३० ॥ कूटस्थोपि न कूटस्थस्त्वमद्य प्रतिभासि नः । त्वय्येव स्फीतिमेष्यंति यदमी योगजा गुणाः ॥ ३१ ॥ अस्नातपूतगात्रोपि स्नापितोस्यद्य मंदरे । पवित्रयितुमेवैतज्जगदेनोमलीमसं ॥ ३२ ॥ युष्मज्जन्माभिषेकेण वयमेव न केवलं । नीताः पवित्रतां मेरुः क्षीरा-

---

जतगकी रक्षा करनेवाले भी आप ही हैं तथा जगतके आधार वा स्वामी भी आप ही हैं ॥२७॥ हे विभो जिसप्रकार चंद्रमा स्वयं सफेद है इसलिये वह अपनी चांदनीसे संसारभरको सफेद कर देता है उसीप्रकार आप भी स्वयं पवित्र हैं अतएव अपने उत्कृष्ट गुणोंसे संसारभरको पवित्र कर देते हैं ॥ २८ ॥ हे प्रभो ! ये संसारी जीव जन्ममरणरूप अनेक रोगोंसे दुखी हो रहे हैं सो अब अमृतके समान आपके वचनरूपी औषधिके सेवन करनेसे सर्वथा नीरोग हो जांयगे, इसके सिवाय आपसे उन्हें और भी अनेक कल्याण प्राप्त होंगे ॥ २९ ॥ हे करुणालय आप संपूर्ण क्लेशोंको नष्टकर परमसुखरूप मोक्षस्थानको प्राप्त हुये हो अतएव आप परम पवित्र हैं अन्य लोगोंको पवित्र करनेवाले हैं और अविनाशीक परमज्योतिस्वरूप हैं ॥ ३० ॥ हे देव यद्यपि आप कूटस्थ (नित्य) अर्थात् शरीरादिके समूहमें रहनेवाले हैं तथापि आज हमलोगोंको वैसे कूटस्थ नहीं जान पडते, क्योंकि योगाभ्याससे प्राप्त होनेवाले योगनिरोध आदि गुण आपमें सदा वढते हैं ॥ ३१ ॥ हे देव ! यद्यपि आपका शरीर विना स्नान किये ही परम पवित्र था तथापि अनेक पापोंसे मलिन हुये इस जगतको पवित्र करनेकेलिये ही आज मेरुपर्वतपर आपका अभिषेक किया गया है ॥ ३२ ॥ हे नाथ ! आपका जन्माभिषेक करनेसे केवल हम लोग ही पवित्र नहीं हुये हैं किंतु यह मेरुपर्वत क्षीरसागर मेरुपर्वतपरके वन आदि सब पवित्र हो गये

ङ्घिस्तद्वनान्यपि ॥ ३३ ॥ दिग्मुखेपूल्लसंति स्म युष्मत्स्नानांबुशीकराः । जगदानंदिनः सांद्रा यशसामिव राशयः ॥ ३४ ॥ अविलिप्तसुगंधिस्त्वमविभूषितसुंदरः । भक्तैरभ्यर्चितोस्माभिर्भूषणैः सानुलेपनैः ॥ ३५ ॥ लोकाधिकं दधद्धाम प्रादुरासीस्त्वमात्मभूः । मेरोर्गर्भादिवोद्भूतो भुवनैकशिखामणिः ॥ ३६ ॥ सद्योजातश्रुतिं बिभ्रत्स्वर्गावतरणेच्युतः । त्वमद्य वामतां धत्से कामनीयकमुद्वहन् ॥ ३७ ॥ यथा शुद्धाकरोद्भूतो मणिः संस्कारयोगतः । दीप्यतेधिकमेव त्वं जातकर्माभिसंस्कृतः ॥ ३८ ॥ आरामं तस्य पश्यंति न तं पश्यंति केचन । इत्यसत्यत्परंज्योतिः प्रत्यक्षोसि

हैं ॥ ३३ ॥ हे भगवन् ! आपके अभिषेकजलकी बूंदें सब दिशाओंमें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों संसारको आनंद देनेवाला और घनीभूत आपके यशका समूह [illegible] हो ॥ ३४ ॥ हे स्वामिन् ! यद्यपि आपका शरीर सुगंधित द्रव्यका लेप किये विना ही परम सुगंधित है और विना आभूषणोंके ही परम सुंदर है तथापि हम लोगोंने केवल भक्तिसे ही सुगंधित द्रव्योंका लेपकर और वस्त्राभूषण पहनाकर आपकी पूजा की है ॥ ३५ ॥ हे देव ! आप स्वयंभू हैं संसारमें सबसे अधिक तेजस्वी हैं इसलिये ऐसे जान पडते हैं मानों मेरुपर्वतके गर्भसे [illegible] सूर्य ही उदय हुआ हो ॥३६॥ हे भगवन् स्वर्गावतारके समय [illegible] भी नाम था और आज अतिशय सुंदरता धारण करते हो इसलिये वामदेव [मनोहर [illegible] स्वामी] यह नाम भी आज प्रसिद्ध हो रहा है ॥ ३७ ॥ जिसप्रकार शुद्ध खानिसे निकला हुआ मणि संस्कारके [illegible] अधिक प्रकाशमान हो जाता है उसीप्रकार आप भी जन्माभिषेकरूपी जातकर्मके [उत्पन्न होतेसमयकी क्रियायोंके] संस्कार करनेसे अधिक दैदीप्यमान हो रहे हो ॥३८॥ हे नाथ! संसारमें यह जो कहावत है कि "सबलोग परमब्रह्म परमात्माकी शरीर आदि पर्यायें ही देख सकते हैं उसे साक्षात् कोई नहीं देख सकता" वह सर्वथा मिथ्या है क्योंकि परमज्योतिस्वरूप आप आज हमलोगोंके प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हो ॥ ३९ ॥ हे देव ! विस्ताररीतिसे आपकी स्तुति करनेवाले योगिराज आपको

त्वमद्य नः ॥ ३९ ॥ त्वामामनंति योगींद्राः पुराणपुरुषं पुरुं । कविं पुराणमित्यादि पठंतः स्तवविस्तरं ॥ ४० ॥ पूतात्मने नमस्तुभ्यं नमः स्यातगुणाय ते । नमो भीतिभिदे तुभ्यं गुणानामेकभूतये ॥ ४१ ॥ क्षमागुणप्रधानाय नमस्ते क्षितिमूर्त्तये । जगदाह्लादिने तुभ्यं नमोऽस्तु सलिलात्मने ॥ ४२ ॥ निःसंगवृत्तये तुभ्यं बिभ्रते पावनीं तनुं । नमस्तरस्विने भग्नमहामोहमहीरुहे ॥ ४३ ॥ कर्मेंधनदहे तुभ्यं नमः पावकमूर्त्तये । पिशंगजटिलांगाय समिद्धध्यानतेजसे ॥ ४४ ॥ अरजोमलसंगाय नमस्ते गगनात्मने । विभवेनाद्यनंताय निर्विकाराय तायिने ॥ ४५ ॥ सुयज्वने नमस्तुभ्यं

पुराणपुरुष, पुरु, कवि और पुराण आदि अनेक नामोंसे स्मरण किया करते हैं ॥ ४० ॥ हे भगवान्! आप परम पवित्र हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आपके गुण सबजगह प्रसिद्ध हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप ईति भीतियोंको नाश करनेवाले हैं अतएव आपको नमस्कार हो आपसे अनेक गुण उत्पन्न होते हैं अतएव आपको नमस्कार है ॥ ४१ ॥ हे प्रभो आप क्षमा गुणको प्रधान रीतिसे धारण करनेवाले हैं अतएव क्षमा अर्थात् पृथ्वीरूप भी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप संसारको आनंद देनेवाले जलस्वरूप हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥४२॥ आप परिग्रह रहित हैं, पवित्र शरीरको धारण करनेवाले हैं मोहरूपी महावृक्षको उखाडनेवाले हैं और वेगवान वायुके समान हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ४३ ॥ हे देव आप अग्निस्वरूप हैं क्योंकि आप कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले हैं सुवर्णके समान पीतवर्ण हैं और दैदीप्यमान ध्यानरूपी तेजसे सदा प्रकाशमान हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ४४ ॥ हे नाथ ! आप आकाशस्वरूप भी हैं क्योंकि आप पापरूपी धूलिकी संगतिसे रहित हैं विभु हैं अनादि अनंत हैं निर्विकार और सबके रक्षक हैं इसलिये भी आपको नमस्कार है ॥ ४५ ॥ हे विभो ! आप सर्वयज्ञस्वरूप यजमान हैं अतएव आपको नमस्कार है, आप मोक्षरूपी परमानंद देनेवाले चंद्रमाके प्रतिबिंबके समान हैं इसलिये भी आपको नमस्कार है ॥ ४६ ॥ हे स्वामिन् आप अनंत ज्ञानरूपी सूर्यसे

सर्वक्रतुमयात्मने । निर्वाणदायिने तुभ्यं नमः शीतांशुमूर्त्तये ॥ ४६ ॥ नमस्तेनंतबोधार्कादीविनिर्भक्तशक्तये । तीर्थकृद्भाविने तुभ्यं नमःस्तादष्टमूर्त्तये ॥ ४७ ॥ महाबल नमस्तुभ्यं ललितांगाय ते नमः । श्रीमते वज्रजंघाय धर्मतीर्थप्रवर्त्तिने ॥ ४८ ॥ नमोस्तु तुभ्यमार्याय दिव्यश्रीधर ते नमः । नमः सुविधये तुभ्यमच्युतेंद्र नमोस्तु ते ॥ ४९ ॥ वज्रस्तंभस्थिरांगाय नमस्ते वज्रनाभये । सर्वार्थसिद्धिनाथाय सर्वार्थां सिद्धिमीयुषे ॥ ५० ॥

सर्वथा अभिन्न शक्तिको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो इसप्रकार आप पृथ्वी जल, वायु, अग्नि, आकाश, यजमान, चंद्र, सूर्य इन आठ मूर्त्तिस्वरूप हैं और तीर्थंकर हैं इसलिये आपको बार बार नमस्कार हो॥ ४७ ॥ (इसप्रकार आचार्यने शंकरके समान भगवानको भी पृथ्वी जल वायु आदि अष्टमूर्तिस्वरूप मानकर उनकी स्तुति की है और इसीप्रकार अब कृष्णके समान दशावतार मानकर स्तुति करते हैं)। हे नाथ आप महाबल अर्थात् अनंत बलको धारण करनेवाले हैं अथवा दशवें भवमें आप विद्याधरोंके राजा महाबल थे इसलिये आपको नमस्कार हो, आप सुंदर शरीरको धारण करनेवाले हैं अथवा नौवें भवमें जो ललितांग देव थे ऐसे आपको नमस्कार हो, आप धर्मरूपी तीर्थको प्रगट करवाले ऐश्वर्यशाली और वज्रजंघ अर्थात् वज्रके समान दृढ जंघाओंको धारण करनेवाले हैं अथवा जो आठवें भवमें वज्रजंघ महाराज थे ऐसे आपको नमस्कार हो ॥ ४८ ॥ आप आर्य अर्थात् पूज्य हैं अथवा सातवें भवमें जो आर्य अर्थात् उत्तम भोगभूमिज थे ऐसे आपको नमस्कार है। आप दिव्य संपदाओंके स्वामी हैं अथवा छठे भवमें जो ऐशानस्वर्गके श्रीप्रभ विमानमें श्रीधर देव थे ऐसे आपको नमस्कार है । आप अतुल भाग्यशाली हैं अथवा पांचवें भवमें सुविधि महाराज थे ऐसे आपको नमस्कार है । आप अविनश्वर लक्ष्मीको धारण करनेवाले हैं अथवा चौथे भवमें जो सोलहवें अच्युत स्वर्गके इंद्र थे ऐसे आपको नमस्कार हो ॥ ४९ ॥ आपका शरीर वज्रके स्तंभके समान मजबूत है और

दशावतारचरमपरमौदारिकत्विषे । सूनवे नाभिराजस्य नमोस्तु परमेष्ठिने ॥ ५१ ॥ भवंतमित्यभिष्टुत्य फलमाशास्महे वयं । भक्तिस्त्वय्येव नो भूयादलमन्यैर्मितैः फलैः ॥ ५२ ॥ इति स्तुत्वा सुरेंद्रास्तं परमानंदनिर्भराः । अयोध्यागमने भूयो मतिं चक्रुः कृतोत्सवाः ॥ ५३ ॥ तथैव प्रहता भेर्यस्तथैवाघोषितो जयः । तथैरावतमैंद्रस्कंधारूढं व्यधुर्जिनं ॥ ५४ ॥ महाकलकलैर्गीतैर्नृत्यैः सजयघोषणैः । गगनांगणमुत्पत्य द्रागाजग्मुरमूं पुरीं ॥ ५५ ॥ याचकाद्गगनोल्लंघीशिखरैः पृथुगोपुरैः । स्वर्गमाह्वयमानेव पवनोच्छ्रितकेतनैः ॥ ५६ ॥ यस्या माणिमयी भूमिस्तारकाप्रतिबिंबितैः ।

आप वज्रनाभि अर्थात् वज्रके समान मजबूत नाभिको धारण करनेवाले हैं अथवा तीसरे भवमें जो वज्रनाभि चक्रवर्ती थे ऐसे आपको नमस्कार हो। आप समस्त पदार्थोंकी सिद्धिके स्वामी हैं सब पदार्थोंकी सिद्धियोंको प्राप्त हुये हैं अथवा जो दूसरे भवमें सर्वार्थसिद्धि विमानमें अहमिंद्र थे ऐसे आपको नमस्कार है ॥ ५० ॥ दशावतारोंमें अंतके परमौदारिक शरीरको धारण करनेवाले नाभिराजके पुत्र परमेश्वर वृषभदेव! आपको बार बार नमस्कार है ॥ ५१ ॥ हे प्रभो! इसप्रकार आपकी स्तुतिकर हम लोग इसी फलकी आशा करते हैं कि आपमें हमलोगोंकी भक्ति सदा बनी रहे, इसके सिवाय अन्य फलोंसे हमें कुछ प्रयोजन नहीं है क्योंकि अन्य सब फल परिमित और तुच्छ हैं ॥ ५२ ॥ इसप्रकार भगवानकी स्तुतिकर अतिशय प्रसन्न होकर सब इंद्रोंने उत्सवके साथ अयोध्या चलनेकेलिये फिर तैयारी की ॥ ५३ ॥ जिसप्रकार अयोध्यासे मेरुतक आते समय उत्सव किया था उसीप्रकार फिर उत्सव होने लगा उसीप्रकार दुंदुभी बजने लगे, जय जय शब्द होने लगा और उसीप्रकार ऐरावत हाथीपर भगवानको विराजमान किया ॥ ५४ ॥ बडा भारी कोलाहल गीत नृत्य और जयजय शब्द करते हुये वे सब आकाशरूपी आंगनको उल्लंघन कर बहुत शीघ्र अयोध्यामें आ पहुंचे ॥ ५५ ॥ आकाशको उल्लंघन करनेवाले शिखर और वायुसे हिलती हुई ध्वजाओंसे सुशोभित अनेक शहरके बडे २ दरवाजोंसे

दधे कुमद्वतीलक्ष्मीमक्षुण्णां क्षणदामुखे ॥ ५७ ॥ या पताकाकरैर्दूरमुक्षिप्तैः पवनाहतैः । आजुहूषुरिव स्वर्गवासिनो मुक्तकुतूहलात् ॥ ५८ ॥ यस्यां मणिमयैर्हर्म्यैः कृतदंपतिसंश्रयैः । आक्षिप्तेव सुराधीशविमानश्रीरसंभ्रमं ॥ ५९ ॥ यत्र सौधाग्रसंलग्नैरिंदुकांतशिलाशतैः । चंद्रपादाभिसंस्पर्शात् क्षरद्भिर्जलदायितं ॥ ६० ॥ या धत्ते स्म महासौधशिखरैर्मणिभासुरैः । सुरचापश्रियं दिक्षु वितता रत्नभामयीं ॥ ६१ ॥ सरोजरागमाणिक्यकिरणैः क्वचिदंबरं । यत्रसंध्यांबुदच्छन्नमिवालक्ष्यत पाटलं ॥ ६२ ॥ इंद्रनीलोपलैः सौधकूटलग्नैर्विलंघितं । स्फुरद्भिर्ज्योतिषां चक्रं यत्र नालक्ष्यतांबरे ॥ ६३ ॥

वह अयोध्या ऐसी शोभायमान हो रही थी मानों स्वर्गको वुला रही हो ॥५६॥ जिसपर अनेक ताराओंके प्रतिबिंव पड रहे है ऐसी वहांकी मणिमई भूमि रात्रिमें ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों रात्रिविकासी सफेद कमोदनियोंसे सुशोभित सरोवरके साथ स्पर्द्धा ही कर रही हो ॥ ५७ ॥ ऊंचे आकाशमें वायुके द्वारा हिलती हुई पताकाओंसे वह अयोध्या ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों कौतुकवश अपने हाथ ऊंचे उठाकर स्वर्गवासी देवोंको वुलाना ही चाहती हो ॥५८॥ उस नगरीमें मणियोंके मकान बने हुये थे जिनमें सुंदर स्त्रीपुरुष निवास करते थे उन मकान और स्त्रीपुरुषोंको देखकर निसंदेह यह कहना पडता था कि वहांकी शोभाने इंद्रके विमानकी शोभाका भी तिरस्कार कर दिया है ॥ ५९ ॥ वहांपर बडे २ मकानोंके अग्रभागोंपर लगे हुये चंद्रकांता मणियोंसे चंद्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे जो पानी गिर रहा था उससे सदा मेघवृष्टि ही जान पडती थी ॥ ६० ॥ तथा राजमहलके शिखरोंपर लगे हुये अनेकप्रकारके दैदीप्यमान मणियोंसे जो रत्नोंकी प्रकाशस्वरूप छाया पड रही थी उससे सब दिशाओंमें सदा इंद्रधनुषकी शोभा दिखाई पडती थी ॥ ६१ ॥ उस अयोध्यामें कहीं कहींपर पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे कुछ कुछ लाल और सफेद हुआ आकाश ऐसा अच्छा जान पडता था मानों सायंकालका बादल ही हो ॥ ६२ ॥ वहांके राजमहलकी शिखरोंमें लगे हुये दैदीप्यमान इंद्रनील मणियोंसे लज्जित हुआ ज्योतिश्चक्र (ताराओंका समूह)

गिरिकूटतटानीव सौधकूटानि शारदाः । घना यत्राश्रयंति स्म सून्नतः कस्य नाश्रयः ॥ ६४ ॥ प्राकारवलयो यस्याश्चामीकरमयोद्युतत् । मानुषोत्तरशैलस्य श्रियं रत्नैरिवाहसत् ॥ ६५ ॥ यत्खातिका महांभोधेर्लीलां यादोभिरुद्धतैः । धत्ते स्म क्षुभितालोलकल्लोलावर्त्तभीषणा ॥ ६६ ॥ जिनप्रसवभूमित्वाद्या शुद्धाकरभूमिवत् । सूते स्म पुरुषानर्घ्यमहारत्नानि कोटिशः ॥ ६७ ॥ यस्याश्च बहिरुद्यानैरनेकानोकहाकुलैः । फलच्छायाप्रदैः कल्पतरुच्छाया स्म लंघ्यते ॥ ६८ ॥ यस्याः पर्यंतमावेष्ट्य स्थिता सा सरयूर्नदी । लसत्पुलिनसंसुप्तसारसा हंसनादिनी ॥ ६९ ॥ यामाहुरतिदुर्लंघ्यामयोध्यां योधसंकुलां । विनीताखंडमध्यस्था या तन्नाभिरिवाबभौ ॥ ७० ॥ तामारुध्य पुरीं विष्वगनीकानि सुधाशिनां । तस्थुर्जगंति तच्छोभा-

---

आकाशमें दिखाई ही नहीं पडता था ॥ ६३ ॥ वहांके राजमहल पर्वतोंकी शिखरोंके समान ऊंचे थे और उनपर शरदऋतुके बादल विश्राम लेते थे सो ठीक ही है क्योंकि जो अतिशय उन्नत है उसका आश्रय कौन नहीं लेता है ॥ ६४ ॥ उस अयोध्या नगरीके चारों ओर सुवर्णका बना हुआ परकोटा ऐसा अच्छा प्रकाशमान हो रहा था मानों अपनेमें लगेहुये रत्नोंकी किरणोंसे मानुषोत्तर पर्वतकी शोभाकी ओर हंस रहा ही हो ॥ ६५ ॥ परकोटाके चारोंओर एक गहरी खाई थी जो कि उठते हुये चंचल कल्लोल करनेवाले भंवरोंसे बडी ही भयानक थी और उद्धत हुये जलचर जीवोंसे समुद्रकी लीला दिखला रही थी ॥ ६६ ॥ भगवान वृषभदेवने उस नगरीमें अवतार लिया था इसलिये वह शुद्ध खानिकी भूमिके समान थी और करोडों महापुरुषरूपी अमूल्य महारत्नोंको उत्पन्न करनेवाली थी ॥ ६७ ॥ अनेक प्रकारके फल और छाया देनेवाले तथा अनेक वृक्षोंसे भरे हुये वहांके बाहरी उद्यान कल्पवृक्षोंकी शोभाको भी तिरस्कृत कर रहे थे ॥ ६८ ॥ उसके समीप ही चारों ओर सरयू नदी थी जिसके किनारेपर सारस पक्षी सो रहे थे और हंस मधुर शब्द कर रहे थे ॥ ६९ ॥ वह नगरी अनेक शूरवीर योद्धाओंसे भरी हुई थी और अन्य शत्रुओंके द्वारा दुर्लंघ्य (जो जीती न जा सके) थी इसलिये ही उसका 'अ-योध्या' यह नाम पडा था । वह आर्य

मागतानीव वीक्षितुं ॥ ७१ ॥ ततः कतिपयैर्देवैर्देवमादाय देवराट् । प्रविवेश नृपागारं परार्ध्यश्रीपरंपरं ॥ ७२ ॥ तत्रामरकृतानेकविन्यासे श्रीगृहांगणे । हर्यासने कुमारं तं सौधर्मेंद्रो न्यवीविशत् ॥ ७३ ॥ नाभिराजः समुद्भिन्नपुलकं गात्रमुद्वहन् । प्रीतिविस्फारिताक्षस्तं ददर्श प्रियदर्शनं ॥७४॥ मायानिद्रामपाकृत्य देवी शच्या प्रबोधिता । देवीभिः सममैक्षिष्ट प्रहृष्टा जगतां पतिं ॥ ७५ ॥ तेजःपुंजमिवोद्भूतं सापश्यत्स्वमुतं सती । बालार्केणेव सा तेन दिगैंद्रीव विदिद्युते ॥ ७६ ॥ शच्या समं च नाकेशं तावद्राष्टां जगद्गुरोः । पितरौ नितरां प्रीतौ परिपूर्णमनोरथौ ॥ ७७ ॥ ततस्तौ

खंडके मध्यमें थी इसलिये आर्यखंडकी नाभिके समान सुशोभित होती थी ॥ ७० ॥ इसप्रकार अनेक शोभा संयुक्त उस अयोध्या नगरीके चारों ओर वह देवोंकी सेना आकर ठहर गई । उस समय वह सेना ऐसी जान पडती थी मानों अयोध्याकी शोभा देखनेकेलिये तीनों लोक ही आ गये हों ॥ ७१ ॥ तदनंतर इंद्रने थोडेसे देवोंके साथ साथ भगवान वृषभदेवको लेकर अमूल्य रत्नोंसे सुशोभित महाराज नाभिराजके घर प्रवेश किया ॥ ७२ ॥ जहांपर देवोंने अनेक प्रकारकी सुंदर रचना की है ऐसे महाराज नाभिराजके घरके आंगनमें सौधर्मस्वर्गके इंद्रने वालक भगवान वृषभदेवको सिंहासनपर विराजमान किया ॥ ७३ ॥ महाराज नाभिराज सर्वप्रिय वालक भगवानको देखने लगे उससमय उनके शरीरपर रोमांच खडे हो रहे थे और प्रेमसे नेत्र प्रसन्न और बडे हो रहे थे ॥ ७४ ॥ इंद्रानीने माताकी मायामयी निद्रा दूर की जिससे वह भी जगकर उठी और बहुत प्रसन्न होकर देवियोंके साथ साथ तीनों जगतके स्वामी वृषभदेवको देखने लगी ॥ ७५ ॥ वह सती मरुदेवी उदय हुये तेजके समूहके समान अपने पुत्रको देखने लगी और प्रातःकालके समय उदय होते हुये सूर्यके समान अपने पुत्रसे वह पूर्वदिशाके समान सुशोभित होने लगी ॥ ७६ ॥ जिनके मनोरथ परिपूर्ण हो चुके हैं ऐसे जगतगुरु भगवान वृषभदेवके माता पिता अतिशय प्रसन्न होकर इंद्रानीके साथ साथ इंद्रको देखने लगे ॥ ७७ ॥

जगतां पूज्यौ पूजयामास वासवः । विचित्रैर्भूषणैः स्रग्भिरद्भुतैश्च महार्घकैः ॥ ७८ ॥ तौ प्रीतः प्रशशंसेति सौधर्मेंद्रः सुरैः समं । युवां पुण्यधनौ धन्यौ ययोर्लोकाग्रणीः सुतः ॥ ७९ ॥ युवामेवमहाभागौ युवां कल्याणभागिनौ । युवयोर्न तुला लोके युवामधिगुरोर्गुरू ॥ ८० ॥ भो नाभिराज सत्यं त्वमुदयाद्रिर्महोदयः । देवी प्राच्येव यज्ज्योतिर्युष्मत्तः परमुद्बभौ ॥ ८१ ॥ देवधिष्ण्यमिवागारमिदमाराध्यमद्य वां । पूज्यौ युवां च नः शश्वत्पितरौ जगतां पितुः ॥ ८२ ॥ इत्यभिष्टुत्य तौ देवमर्पयित्वा च तत्करे । शताध्वरः क्षणं तस्थौ कुर्वंस्तामेव सत्कथां ॥ ८३ ॥ तौ शक्रेण यथावृत्तमावेदितजिनोत्सवौ । प्रमदस्य परां कोटिमारूढौ विस्मयस्य च ॥ ८४ ॥ जातकर्मोत्सवं भूयश्चक्रतुस्तौ शतक्रतोः । लब्ध्वानुमतिमिद्धर्घ्या समं

तदनंतर इंद्रने भी अद्भुत, बहुमूल्य, और विचित्र आभूषणोंसे तथा मालाओंसे जगतपूज्य उन माता पिताओंकी पूजा की और ॥ ७८ ॥ वह सौधर्म स्वर्गका इंद्र अत्यंत संतुष्ट होकर देवोंके साथ साथ उन दोनों मरुदेवी और नाभिराजकी स्तुति करने लगा कि हे प्रभो ! आप बड़े ही पुण्यवान हैं बड़े ही धन्य हैं क्योंकि संपूर्ण लोकमें श्रेष्ठ ऐसा पुत्ररत्न आपके ही उत्पन्न हुआ है ॥ ७९ ॥ हे राजन् ! महा भाग्यशाली संसारमें आप ही हैं अनेक कल्याणोंके भोक्ता भी आप ही हैं आपकी समानता करनेवाला इसलोकमें कोई नहीं है क्योंकि आप जगतके गुरुके भी गुरु अर्थात् माता-पिता हैं ॥ ८० ॥ हे नाभिराज ! अवश्य ही आप ऐश्वर्यशाली उदयाचल पर्वत हैं और यह देवी पूर्व दिशा है क्योंकि संसारमें जो उत्कृष्ट तेजसमूह है वह आप ही दोनोंसे उदय हुआ है ॥ ८१ ॥ आज यह आपका घर हमलोगोंके लिये जिनालयके समान पूज्य है और आप जगतपिताके भी माता पिता हैं इसलिये सदा पूज्य हैं ॥ ८२ ॥ इसप्रकार इंद्रने मातापिताकी स्तुतिकर उनके करकमलोंमें भगवानको अर्पण किया और फिर वह भगवानके जन्माभिषेककी उत्तम कथा कहता हुआ क्षण भर वहां बैठा ॥ ८३ ॥ इंद्रके द्वारा भगवानके जन्माभिषेककी सब कथा सुनकर माता पिता दोनों ही आनंद और आश्चर्य दोनोंकी परम सीमाको पहुंच गये ॥ ८४ ॥ माता पिताने

पौरैर्धृतोत्सवैः ॥ ८५ ॥ सा केतुमालिकापूर्णा पुरी साकेतसाह्वया । तदासीत्स्वर्गमाह्वातुं साकूतेवात्तकौतुका ॥ ८६ ॥ पुरी स्वर्गपुरीवासौ समाः पौरा दिवौकसां । तदा संधृतनेपथ्याः सुरनार्योप्सरःसमाः ॥ ८७ ॥ धूपामोदैर्दिशो रुद्धाः पटवासैस्ततं नभः । संगीतमुरजध्वानैर्दिक्चक्रं बधिरीकृतं ॥ ८८ ॥ पुरवींध्यस्तदा भूवनूरत्नचूर्णैरलंकृताः । निरुद्धातपसंपाताः प्रचलत्केतनांशुकैः ॥ ८९ ॥ चलत्पताकमाबद्धतोरणांचितगोपुरं । कृतोपशोभमारब्धसंगीतरवरुद्धदिक् ॥ ९० ॥ प्रनृत्यदिव सौमुख्यमिव तद्दर्शयत्पुरं । सनेपथ्यमिवानंदात्प्रजल्पन्निव चाभवत् ॥ ९१ ॥ ततो गीतैश्च

इंद्रकी सम्मतिसे बडी विभूति और उत्सव करते हुये नगरनिवासियोंके साथ फिर जन्मोत्सव करना प्रारंभ किया ॥ ८५ ॥ उससमय वह अयोध्या नगरी ध्वजाओंसे ऐसी भर रही थी मानों उत्कंठित होकर कौतुकवश स्वर्गको ही बुला रही हो ॥ ८६ ॥ उससमय वह अयोध्या नगरी स्वर्गपुरीके समान जान पडती थी, नगरनिवासी लोग देवोंके समान जान पडते थे और अनेक आभूषण पहनेहुये नगर निवासिनी स्त्रियां अप्सराओंके समान जान पडती थीं ॥ ८७ ॥ धूपकी सुगंधसे सब दिशायें भर गई थीं, सुगंध चूर्णकी धूलसे आकाश आच्छादित हो गया था और संगीत तथा मृदंगोंके मधुर शब्दोंसे सब दिशायें बहरी होगई थीं, भावार्थ--कहीं कुछ सुनाई नहीं पडता था ॥ ८८ ॥ उससमय नगरकी सब गलियां रत्नोंके चूर्णसे सुशोभित हो रही थीं और उडती हुई ध्वजाओंके वस्त्रोंसे सब आच्छादित हो रही थीं तथा उनमें सबजगह धूप रुक गई थी ॥८९॥ उससमय उस नगरमें सब जगह ध्वजायें फहरा रहीं थीं जिससे ऐसा जान पडता था मानों वह नगर नृत्य ही कर रहा हो, नगरके बडे दरवाजे तोरणोंसे अलंकृत किये थे जिससे ऐसा जान पडता था मानों वह अपने मुखकी सुंदरता ही दिखला रहा हो, तथा और भी अनेक तरहसे वह सजाया गया था जिससे ऐसा जान पडता था मानों उसने वस्त्राभरण ही पहने हों और संगीतके मधुर शब्दोंसे सब दिशायें भरगई थीं जिससे ऐसा जान पडता था मानों वह आनंदित

नृत्तैश्च वादित्रैश्च समंगलैः । व्यग्रः पौरजनः सर्वोप्यासीदानंदनिर्भरः ॥ ९२ ॥ न तदा कोप्यभूद्दीनो न तदा कोपि दुर्विधः। न तदा कोप्यपूर्णेच्छो न तदा कोप्यकौतुकः ॥ ९३ ॥ सप्रमोदमयं विश्वमित्यातन्वन्महोत्सवः । यथा मेरौ तथैवास्मिन्पुरे सांतःपुरेऽवृतत् ॥ ९४ ॥ दृष्ट्वा प्रमुदितं तेषां स्वं प्रमोदं प्रकाशयन् । संक्रंदनो मनोवृत्तिमाबद्धानंदनाटके ॥ ९५ ॥ नृत्तारंभे महेंद्रस्य सज्जः संगीतविस्तरः । गंधर्वैस्तद्विधानज्ञैर्भांडोपवहनादिभिः ॥ ९६ ॥ कृतानुकरणं नाट्यं तत्प्रयोज्यं यथागमं । सचागमो महेंद्राद्यैर्यथाम्नायमनुस्मृतः ॥ ९७ ॥ वक्तॄणां तत्प्रयोक्तृत्वे लालित्यं किमु

होकर गा रहा ही हो ॥ ९०-९१ ॥ तदनंतर नगरनिवासी सब लोग गीत नृत्य बादित्र और अनेक मंगलकार्योंमें मग्न हो रहे थे तथा सब ही अतिशय आनंदित हो रहे थे ॥ ९२ ॥ भगवानके जन्मोत्सवके समय उस नगरमें न तो कोई दीन रहा था, न दरिद्री रहा था और न कोई ऐसा रह गया था कि जिसकी कोई इच्छा पूर्ण नहीं हुई हो अथवा जो आनंदित न हो। भावार्थ–उससमय सबको इच्छानुसार दान दिया गया था जिससे दीन दरिद्री भी सब पूर्ण सुखी हो गये थे ॥ ९३ ॥ इसप्रकार संपूर्ण संसारको आनंदित करनेवाला वह महोत्सव जैसा मेरु पर्वतपर हुआ था वैसा ही अंतःपुरसहित इस अयोध्या नगरमें हुआ ॥ ९४ ॥ उन नगर निवासियोंका आनंद देखकर इंद्रने भी अपना आनंद प्रकाश करते हुये आनंदरूप नाटक करनेमें अपना चित्त लगाया ॥ ९५ ॥ जिससमय इंद्रने नृत्य करना प्रारंभ किया उससमय संगीतकलाको जाननेवाले गंधर्वोंने अपने बाजे लेकर संगीत करना प्रारंभ किया ॥ ९६ ॥ पूर्वमें किये हुये किसी पदार्थका अनुकरण (नकल) करना अर्थात् उसका वैसा ही अभिनय दिखला देना नाट्य कहलाता है वह नाट्य शास्त्रानुसार करना चाहिये और उस नाट्यशास्त्रको अपनी संप्रदायके अनुसार इंद्रादिक देव ही अच्छीतरह जानते हैं ॥ ९७ ॥ जो नृत्य शिष्य प्रतिशिष्योंकी संतान परंपरा द्वारा किया हुआ भी सज्जनोंका चित्त रंजन करता है यदि उसे स्वयं उसका निरूपण करनेवाला ही दिखलावे तो फिर उसकी मनोहरताका क्या वर्णन करना है

वर्ण्यते । पात्रांतरेपि संक्रांतं यत्सतां चित्तरंजनं ॥ ९८ ॥ ततः श्रव्यं च दृश्यं च तत्प्रयुक्तं महात्मनां । पाठ्यैर्नानाविधैश्चित्रैरांगिकाभिनयैरपि ॥ ९९ ॥ विकृष्टः कुतपन्यासो मही सकुलभूधरा । रंगस्त्रिभुवनाभोगः सहस्राक्षो महानटः ॥ १०० ॥ प्रेक्षका नाभिराजाद्याः समाराध्यो जगद्गुरुः । फलं त्रिवर्गसंभूतिः परमानंद एव च ॥ १ ॥ इत्येकशोऽपि संप्रीत्यै वस्तुजातमिदं सतां । किमु तत्सर्वसंदोहः पुण्यैरेकत्र संगतः ॥ २ ॥ कृत्वा समवतारं तु त्रिवर्गफलसाधनं । जन्माभिषेकसंबंधं प्रायुंक्तैनं तदा हरिः ॥ ३ ॥ तदा प्रयुक्तमन्यच्च रूपकं बहुरूपकं । दशावतारसंदर्भमधिकृत्य जिनेशिनः ॥ ४ ॥ तत्प्रयोगविधौ पूर्वं पूर्वरंगं समंगलं । प्रारेभे मघवाघानां विघाताय समाहितः ॥ ५ ॥ पूर्वरंगप्रसंगेन पुष्पांजलिपुरस्सरं ।

॥ ९८ ॥ तदनंतर गद्यपद्यमय पाठोंसे, अनेक प्रकारके चित्र विचित्र शरीरके हाव भावादि अभिनयोंसे, इंद्रके द्वारा किया हुआ वह नृत्य महात्मा पुरुषोंके देखने और सुनने योग्य था ॥ ९९ ॥ उससमय साडे बारह करोड जातिके बाजे बजरहे थे, तीनों लोकोंमें फैली हुई कुलपर्वतोंसहित पृथ्वी ही रंगभूमि थी, स्वयं इंद्र नृत्य कर रहा था, नाभिराजा आदि भगवानके माता पिता देखनेवाले थे, उस नृत्यसे भगवान वृषभदेवको प्रसन्न करना था और उसका फल धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होना और अंतमें परमानंद मोक्षकी प्राप्ति होना था। इन ऊपर कही हुई वस्तुओंमेंसे एक एक वस्तु भी सज्जनपुरुषोंको आनंदित करनेवाली है यदि किसी पुण्योदयसे उन सब वस्तुओंका समुदाय किसी एक जगह ही आ मिले तो फिर कहना ही क्या है उससे तो अतिशय आनंद होगा ही ॥ १००-१०१-१०२ ॥ इंद्रने उससमय प्रथम ही धर्म अर्थ काम इन त्रिवर्गोंको सिद्ध करनेवाला गर्भावतार नाटक किया और फिर जन्माभिषेक संबंधी नाटक करना प्रारंभ किया ॥ १०३ ॥ तदनंतर इंद्रने भगवानके महावल वज्रजंघ आदि दशावतारका अभिनय दिखलानेवाले अनेक प्रकारके नाटक करना प्रारंभ किये [illegible] उन नाटकोंका अभिनय दिखलानेके लिये इंद्रने प्रथम ही पापोंके नाश करनेकेलिये मंगलाचरण किया और फिर सावधान होकर पूर्व

तांडवारंभमेवाग्रे सुरप्राग्रहरोग्रहीत् ॥ ६ ॥ प्रयोज्य नांदीमंतेस्याविशन्रंगं बभौ हरिः । धृतमंगलनेपथ्यो नाट्यवेदावतारवित् ॥ ७ ॥ स रंग-
मवतीर्णोभाद्वैशाखस्थानमास्थितः । लोकस्कंध इवोद्भूतो मरुद्भिरभितो वृतः ॥ ८ ॥ मध्येरंगमसौ रेजे क्षिपन्पुष्पांजलिं हरिः । विभजन्निव पीता-
वशिष्टं नाट्यरसं स्वयं ॥ ९ ॥ ललितोद्भटनेपथ्यो लसन्नयनसंततिः । स रेजे कल्पशाखीव सप्रसूनः सभूषणः ॥ १० ॥ पुष्पांजलिः पतन्रेजे मत्ता-

---

रंगका प्रारंभ किया ॥ १०५ ॥ पूर्वरंग प्रारंभ करते समय इंद्रने प्रथम ही पुष्पांजलि समर्पण की और फिर सबसे पहिले तांडवनृत्य करना प्रारंभ किया ॥ १०६ ॥ तांडवमें भी प्रथम उसने नांदीमंगल किया, झर झर बाजोंके शब्द, पूजा, मंगल, पुष्पांजलि आदि तांडवनृत्यका नांदीमंगल कहलाता है। नांदीमंगलके बाद उसने रंगभूमिमें प्रवेश किया उससमय नाट्यशास्त्रके वेद और अवतारोंको जानने वाला तथा वस्त्राभरण पहने हुये वह इंद्र बहुत ही सुशोभित हो रहा था १०७ ॥ जिससमय वह रंगभूमिमें आया था उससमय उसके चारोंओर देव खडे थे और उसके दोनों हाथ कमरपर रक्खे हुये थे इसलिये वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों बातवलयसे घिरा हुआ लोकाकाश ही हो ॥ १०८ ॥ वह इंद्र रंगभूमिके मध्य खडे होकर पुष्पांजलि वखेरता हुआ ऐसा अच्छा जान पडता था मानों जो नाट्यरस उसके स्वयं पीनेसे बच रहा है उसको चारों ओर बांट रहा ही हो । १०९ ॥ अथवा वह एक कल्पवृक्षके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिसप्रकार कल्पवृक्षपर आभूषण लगे रहते हैं उसीप्रकार वह भी वस्त्राभूषणोंसे सुंदर था और कल्पवृक्षपर जिसप्रकार पुष्प सुशोभित रहते हैं उसीप्रकार वह भी अपनी प्रकाशमान नेत्रोंकी पंक्तियोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ ११० ॥ इंद्रके द्वारा जो पुष्पांजलि वखेरी जा रही थी वह पडते हुये उन्मत्त भ्रमरोंसे सफेद काली मिली हुई विचित्र रंगकी हो रही थी और ऐसी जान पडती थी मानों आकाशरूपी आंगनको विचित्र रंगके करनेवाले इंद्रके नेत्रोंका समूह ही हो

लिभिरनुद्रुतः । नेत्रौघ इव वार्त्तघ्नः कल्माषितनभोंगणः ॥ ११ ॥ पारिव: परितस्तार तारास्य नयनावली । रंगमातमप्रभोत्सर्पैः श्रितैर्जवनिकाश्रियं ॥ १२ ॥ सलयैः पदविन्यासैः परितो रंगमंडलं । परिक्रामन्नसौ रेजे मिमान् इव काश्यपीं ॥ १३ ॥ कृतपुष्पांजलेरस्य तांडवारंभसंभ्रमे । पुष्पवर्षं दिवो मुंचन्सुरास्तद्भक्तितोषिताः ॥ १४ ॥ तदा पुष्करवाद्यानि मंद्रं दध्वनुरक्रमात् । दिक्तटेषु प्रतिध्वानानातन्वानानि कोटिशः ॥ १५ ॥ वीणा मधुरमारेणुः कलवंशा विसस्वनुः । गेयान्यनुगतान्येषां समं तालैरराणिषुः ॥ १६ ॥ उपवादकवाद्यानि परिवादकवादितैः । बभूवुः संगतान्येव

॥ १११ ॥ उससमय चमकतेहुये तारोंसे सुशोभित इंद्रकी नेत्रपंक्ति अपनी फैलते हुये प्रभाके समूहसे जवनिका [परदा] की शोभा धारण करती हुई चारों ओर फैल रही थी ॥११२ ॥ वह इंद्र तालके साथ साथ पैर उठाता हुआ रंगभूमिमें चारों ओर फिरता हुआ ऐसा जान पडता था मानों पृथ्वीका नाप ही कर रहा हो ॥ ११३ ॥ जिससमय इंद्रने पुष्पांजलि समर्पणकर तांडव-नृत्य करना प्रारंभ किया उससमय देवोंने भी भगवानमें इंद्रकी गाढ भक्ति देखकर और उससे प्रसन्न होकर आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा की ॥ ११४ ॥ उससमय भेरी आदि करोडों बाजे एक साथ गंभीर शब्दोंसे बजने लगे थे जिनकी अनेक प्रतिध्वनियां दिशाओंके अंतभागमें हो रही थीं ॥ ११५ ॥ वीणा भी मधुर शब्दोंसे वजने लगी थी वंशी भी मोठे शब्द करने लगी थी और उन बाजों तथा तालोंके साथ साथ संगीत भी अपने आप होने लगा था ॥ ११६ ॥ साथ साथ बजनेवाले सब वाजे वीणाके साथ २ मिलकर बज रहे थे उनमें अणुमात्र का भी अंतर नहीं रहता था सो ठीक ही है एकसी वस्तुओंका मिलाप अच्छा होता ही है ॥ ॥ ११७ ॥ उससमय वीणा लेकर गाती हुई किन्नरी देवियोंका कोमल गंभीर और कुछ ऊंचा ऐसा सूक्ष्म [महीन] शब्द निकल रहा था ॥ ११८ ॥ जिसप्रकार शिष्य वाद विवाद छोडकर गुरुके उपदेशानुसार अनु-मानादि प्रयोगोंमें निसंदेह प्रवृत्ति करता है और इसप्रकार अपने उत्तमवंशमें उत्पन्न होनेका कर्तव्य

इव श्रीमांश्चलन्मुकुटशेखरः ॥ ३६ ॥ सहस्राक्षसमुत्फुल्लविकसत्पंकजाकरे । ताः पद्मिन्य इवाभूवन्स्मेरवक्त्रांबुजश्रियः ॥ ३७ ॥ स्मितांशुभिर्विभिन्नानि तद्वक्त्राणि चकासिरे । विकस्वराणि पद्मानि प्लुतानीवामृतप्लवैः ॥ ३८ ॥ कुलशैलायितानस्य भुजानध्यास्य काश्चन । रेजिरे परिनृत्यंत्यो मूर्तिमत्य इव श्रियः ॥ ३९ ॥ नेटुरैरावतालानस्तंभयष्टिसमायतान् । अध्यासीना भुजानस्य वीरलक्ष्म्य इवापराः ॥ ४० ॥ हारमुक्ताफलेष्वन्याः संक्रांतप्रतियातनाः । ननृतुर्बहुरूपिण्यो विद्या इव बिडौजसः ॥ ४१ ॥ करांगुलीषु शक्रस्य न्यस्यंत्यः क्रमपल्लवान् । सलीलमनटन्काश्चित्सूचीनाट्यमिवाश्रिताः ॥ ४२ ॥ भ्रेमुः करांगुलीरन्याः सुपर्वाश्रितरेखिनः । वंशयष्टीरिवारुह्य तदग्रार्पितनाभयः ॥ ४३ ॥ प्रतिबाहुमरेंद्रस्य सन्नटंत्योमरांगनाः । सयत्नं

वाला वह इंद्र एक सरोवरके समान जान पडता था और मंद मंद हंसते हुये मुखरूपी कमलोंसे सुशोभित वे भुजाओंपरकी देवांगनायें कमलिनियोंके [कमलकीवेल] समान जान पडती थीं ॥ १३७ ॥ उस समय मंदहास्यकी किरणों सहित उन देवांगनाओंके मुख ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों अमृतके समूहमें डूब हुये प्रफुल्लित कमल ही हों ॥ १३८ ॥ कितनी ही देवांगनायें कुलपर्वतोंके समान इंद्रकी भुजाओंपर न्टत्य करती हुई ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों मूर्त्तिमान अनेक शरीर धारणकर लक्ष्मी ही न्टत्य कर रहीं हों ॥ १३९ ॥ ऐरावत हाथीके बांधनेके खंभेके समान लंबी ऐसी इंद्रकी भुजाओंपर विराजमान होकर न्टत्य करती हुई वे देवांगनायें ऐसी जान पडती थीं मानों अन्य कोई वीर लक्ष्मियोंका समुदाय ही हो ॥ १४० ॥ कंठमें पडे हुये हारके मोतियोंमें जिनके प्रतिबिंब पड रहे हैं ऐसी कितनी ही देवांगनायें इंद्रकी बहुरूपिणी विद्याके समान न्टत्य कर रही थीं ॥ १४१ ॥ कितनी ही देवांगनायें इंद्रके हाथोंकी उंगलिओंपर अपने चरण पल्लवोंको रखती हुई लीलासहित इसप्रकार न्टत्य कर रही थीं मानों सूचीनाट्य अर्थात् सूइयोंके नोंकपर ही नृत्य कर रही हों ॥ १४२ ॥ कितनी ही देवांगनायें सुंदर रेखाओंसहित इंद्रके हाथकी उंगलियोंपर अपनी नाभि रखकर इसप्रकार भ्रमण कर रही थीं मानों सुंदर बांसकी लकडीपर ही न्टत्य कर

हसैरिव संततं ॥ २५ ॥ विक्षिप्ता बाहुविक्षेपैस्तारकाः परितोभ्रमन् । भ्रमणाविद्धविच्छिन्नहारमुक्ताफलश्रियः ॥ २६ ॥ नृत्यतोस्य भुजोल्लासैः पयोदाः परिघट्टिताः । पयोलवच्युतो रेजुः शुचेव क्षरदश्रवः ॥ २७ ॥ रेचकस्य चलन्मौलिप्रोच्छलन्मणिरीतयः । वेगाविद्धाः समं भ्रेमुरलातवलयायिताः ॥ २८ ॥ नृत्तक्षोभान्महीक्षोभे क्षुभिता जलराशयः । क्षालयंति स्म दिग्भित्तीः प्रोच्छलज्जलशीकरैः ॥ २९ ॥ क्षणादेकः क्षणान्नैकः क्षणाद्व्यापी क्षणादणुः । क्षणादारात्क्षणाद्दूरे क्षणाद्व्योम्नि क्षणाद् भुवि ॥ ३० ॥ इतिप्रतन्वतात्मीयं सामर्थ्यं विक्रियोत्थितं । इंद्रजालमिवेंद्रेण प्रयुक्तमभवत्तदा

उसके मुकुटमें लगेहुये रत्नोंकी किरणोंके मंडलसे आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों हजारों बिजलियोंसे भर रहा हो ॥ १२५ ॥ इंद्रके नृत्य करते समय उसकी भुजाओंसे टकराकर इधर उधर फैलेहुये तारे चारों ओर फिरते हुये ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों इंद्रकी फिरकी लेनेसे फिरकर छिन्न भिन्न हुये हारके मोती ही हों ॥ १२६ ॥ इसके नृत्य करते समय इसकी भुजाओंसे बादल भी टकरा गये थे और उनसे थोडी २ जलकी बूंदें भी पडने लगी थीं इसलिये उससमय वे बादल ऐसे जान पडते थे मानों चोट लगनेके दुखसे आंसू ही वहा रहे हों ॥ १२७ ॥ जिस समय इंद्र नृत्य करते समय फिरकी लेता था उस समय वेगके आवेशसे फिरती हुई, उसके मस्तकमें लगीहुई मणियोंकी पंक्तियां ठीक+ आलातचक्रके समान भ्रमण कर रहीं थीं ॥ १२८ ॥ इंद्रके उस अतिशय नृत्यसे पृथ्वी क्षुब्ध हो गई थी और पृथ्वीके क्षुब्ध होनेसे समुद्र भी क्षुब्ध हो रहा था तथा वह उछलती हुई लहरोंके जलबिंदुओंसे दिशारूप भित्तियोंको प्रक्षालन कर रहा था ॥ १२९ ॥ नृत्य करते समय वह इंद्र क्षणभरमें एक दिखाई पडता था, क्षणभरमें अनेक रूप धारण करता था, क्षणभरमें बडा होकर व्याप्त हो जाता था, क्षणभरमें परमाणुके समान छोटा हो जाता

+ छोटी और चौडी शीशीके समान कच्ची मिट्टीका एक वर्तन बनाकर उसपे चारोंओर अनेक छोटे छोटे छेद करते हैं फिर उसमें पिसे हुये कोयेला और अग्नि भरकर रस्सीसे फिराते हैं उसे आलातचक्र कहते हैं, अथवा जलती हुई लकडीको फिराना भी आलातचक्र कहलाता है।

॥ ३१ ॥ नेदुरप्सरसः शक्रभुजशाखासु संस्मिताः। सलीलभ्रूलतोत्क्षेपमंगहारैः सचारिभिः ॥ ३२ ॥ वर्द्धमानलयैः काश्चित्काश्चित्तांडवलास्यकैः। ननृतुः सुरनर्तक्याश्चित्रैरभिनयैस्तदा ॥ ३३ ॥ काश्चिदैरावतीं पिंडीमैंद्रीं बध्वामरांगनाः। प्रानर्तिषुः प्रवेशैश्च निष्क्रमैश्च नियंत्रितैः ॥ ३४ ॥ कल्पद्रुमस्य शाखासु कल्पवल्य इवोद्गताः। रेजिरे सुरराजस्य बाहुशाखासु तास्तदा ॥ ३५ ॥ स ताभिः सममारब्धरेचको व्यरुचत्तरां। चक्रांदोल

था, क्षणभरमें दूर पहुंच जाता था क्षणभरमें समीप आ जाता था, क्षणभरमें आकाशमें दिखाई पडता था और क्षणभरमें पृथ्वीपर आजाता था। इसप्रकार वह विक्रियासे उत्पन्न हुई अपनी सामर्थ्य प्रगट कर रहा था और ऐसा जान पडता था मानों इंद्रजालका खेल ही दिखला रहा हो ॥ १३०-१३१ ॥ इंद्रकी भुजारूप शाखाओंको मंद मंद हंसती हुई अपनी सुंदर लीलाओंसे भौंहरूपी लताओंको नचाती हुई शरीर मटकाती हुई अनेक अप्सरायें अपने पांव अनेक तरहसे उठाती रखती हुई नृत्य कर रही थीं ॥ १३२ ॥ उस समय कितनी ही अप्सरायें वर्द्धमान लयके साथ नृत्य कर रही थीं कितनी ही तांडव(पुरुषनृत्य) लास्य (स्त्रियोंका नृत्य) के साथ और कितनी ही हाव भाव आदि अनेक तरहके अभिनय दिखलाती हुई नृत्य कर रही थीं ॥१३३॥ कितनी ही देवांगनायें बिजलीका शरीर धारणकर और कितनी ही अप्सरायें इंद्रका वेश धारणकर नाट्यशास्त्रकी विधिके अनुसार प्रवेश (प्रवेश करना) और निष्क्रमण (निकलना) करती हुईं नृत्य कर रही थीं ॥ १३४ ॥ उस समय इंद्रकी भुजारूप शाखाओंपर नृत्य करती हुईं वे देवांगनायें ऐसी सुशोभित हो रहीं थीं मानों कल्पवृक्षकी शाखाओंपर फैली हुईं कल्पलतायें ही हों ॥ १३५ ॥ वह श्रीमान् इंद्र जिस समय अपनी भुजाओंपर नृत्य करतीहुईं देवांगनाओंके साथ नृत्य करता हुआ फिरकी लेता था उससमय उसके मस्तकका मुकुट भी हिल जाता था और वह ऐसा सुशोभित होता था मानों हिलते हुये शिखरसहित कोई एक चक्र ही फिर रहा हो ॥ १३६ ॥ अथवा उससमय हजार नेत्ररूपी प्रफुल्लित और देदीप्यमान कमलोंको धारण करने

इव श्रीमांश्चलन्मुकुटशेखरः ॥ ३६ ॥ सहस्राक्षसमुत्फुल्लविकसत्पंकजाकरे । ताः पद्मिन्य इवाभूवन्स्मेरवक्त्रांबुजश्रियः ॥ ३७ ॥ स्मितांशुभिर्विभिन्नानि तद्वक्त्राणि चकासिरे । विकस्वराणि पद्मानि प्लुतानीवामृतप्लवैः ॥ ३८ ॥ कुलशैलायितानस्य भुजानध्यास्य काश्चन । रेजिरे परिनृत्यंत्यो मूर्तिमत्य इव श्रियः ॥ ३९ ॥ नेदुरैरावतालानस्तंभयष्टिसमायतान् । अध्यासीना भुजानस्य वीरलक्ष्म्य इवापराः ॥ ४० ॥ हारमुक्ताफलेष्वन्याः संक्रांतप्रतियातनाः । ननृतुर्बहुरूपिण्यो विद्या इव बिडौजसः ॥ ४१ ॥ करांगुलीषु शक्रस्य न्यस्यंत्यः क्रमपल्लवान् । सलीलमनटन्काश्चित्सूचीनाट्यमिवाश्रिताः ॥ ४२ ॥ भ्रेमुः करांगुलीरन्याः सुपर्वाणीरिदेहिनः । वंशयष्टीरिवारुह्य तदग्रार्पितनाभयः ॥ ४३ ॥ प्रतिबाहुभरं दत्य सन्नटंतोमरांगनाः । सदलं

वाला वह इंद्र एक सरोवरके समान जान पडता था और मंद मंद हंसते हुये मुखरूपी कमलोंसे सुशोभित वे भुजाओंपरकी देवांगनायें कमलिनियोंके [कमलकीबेल] समान जान पडती थीं ॥ १३७ ॥ उस समय मंदहास्यकी किरणों सहित उन देवांगनाओंके मुख ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों अमृतके समूहमें डूब हुये प्रफुल्लित कमल ही हों ॥ १३८ ॥ कितनी ही देवांगनायें कुलपर्वतोंके समान इंद्रकी भुजाओंपर नृत्य करती हुई ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों मूर्तिमान अनेक शरीर धारणकर लक्ष्मी ही नृत्य कर रही हों ॥ १३९ ॥ ऐरावत हाथीके बांधनेके खंभेके समान लंबी ऐसी इंद्रकी भुजाओंपर विराजमान होकर नृत्य करती हुई वे देवांगनायें ऐसी जान पडती थीं मानों अन्य कोई वीर लक्ष्मियोंका समुदाय ही हो ॥ १४० ॥ कंठमें पडे हुये हारके मोतियोंमें जिनके प्रतिबिंब पड रहे हैं ऐसी कितनी ही देवांगनायें इंद्रकी बहुरूपिणी विद्याके समान नृत्य कर रही थीं ॥ १४१ ॥ कितनी ही देवांगनायें इंद्रके हाथोंकी उंगलियोंपर अपने चरण पल्लवोंको रखती हुई लीलासहित इसप्रकार नृत्य कर रही थीं मानों सूचीनाट्य अर्थात् सूइयोंके नोंकपर ही नृत्य कर रही हों ॥ १४२ ॥ कितनी ही देवांगनायें सुंदर रेखाओंसहित इंद्रके हाथकी उंगलियोंपर अपनी नाभि रखकर इसप्रकार भ्रमण कर रही थीं मानों सुंदर बांसकी लकडीपर ही नृत्य कर

संचरंतिस्म पंचयंत्योक्षिसंकुलं ॥ ४४ ॥ स्फुटन्निव कटाक्षेषु कपोलेषु स्फुरन्निव । प्रसरन्निव पादेषु करेषु विलसन्निव ॥ ४५ ॥ विहसन्निव वक्रेषु नेत्रेषु विकसन्निव । रज्यन्निवांगरागेषु निमज्जन्निव नाभिषु ॥ ४६॥ चलन्निव कटीष्वासां मेखलासु स्खलन्निव । तदा नाट्यरसोंगेषु ववृधे वर्द्धितोत्सवः ॥ ४७ ॥ प्रत्यंगममरेंद्रस्य याश्चेष्टा नृत्यतोभवन् । ता एव तेषु पात्रेषु संविभक्ता इवारुचन् ॥ ४८ ॥ रसास्त एव ते भावास्तेनुभावास्तदिंगितं । अनुप्रवेशितो नूनमात्मा तेष्वमरेशिना ॥ ४९ ॥ सोभात्स्वभुजदंडेषु नर्त्तयन्सुरनर्त्तकीः । तारवीः पुत्रिका यंत्रफलकेष्विव यांत्रिकः ॥५०॥

रही हों ॥ १४३ ॥ इंद्रकी प्रत्येक भुजापर न्टत्य करती हुईं और चारों ओर अपने नेत्रोंका कटाक्ष फैलाती हुईं वे देवांगनायें बडे यत्नसे संचार कर रही थीं ॥ १४४ ॥ उस समय वह नाट्यरस उत्सवको बढाता हुआ उन देवांगनाओंके शरीरमें खूब ही बढ रहा था और ऐसा जान पडता था मानों वह कटाक्षोंमें प्रगट हो रहा है, कपोलोंमें भी साफ प्रगट हो रहा है, पैरोंमें बढ रहा है, हाथोंमें विलास कर रहा है, मुखोंमें हंस रहा है, नेत्रोंमें प्रफुलित हो रहा है शरीरके चंदन आदि लेपन किये हुये द्रव्योंमें प्रेम कर रहा है, नाभिमें डुबकी ले रहा है, कटिभागमें (कमरमें) चल रहा है और करधनियोंसे स्खलित हो रहा है ॥ १४५-१४६-१४७ ॥ नृत्य करते समय प्रत्येक अंगमें इंद्रकी प्रत्येक जो चेष्टा होती थी वही चेष्टा अन्य न्टत्य करनेवाले सब पात्रोंमें होती थी इसलिये वह ऐसी जान पडती थी मानों इंद्रने सबकेलिये वही अपनी चेष्टा बांट दी हो ॥ १४८ ॥ उस समय इंद्रके न्टत्यमें जो शृंगारादि रस था, चित्तकी उन्नति करनेवाले जो भाव थे, उन भावोंको व्यक्त करनेवाले जो अनुभाव थे और उसके जो संकेत थे वे ही रस, वे ही भाव, वे ही अनुभाव और वे ही सब संकेत अन्य न्टत्य करनेवाले पात्रोंमें भी दिखाई पडते थे जिससे ऐसा जान पडता था मानों इंद्रके आत्माने ही सब जगह प्रवेश करलिया हो ॥ १४९ ॥ अपने भुजदंडोंपर अनेक देवांगनाओंको न्टत्य कराता हुआ वह इंद्र ऐसा सुशोभित होता था मानों किसी यंत्रकी अनेक

ऊर्ध्वमुच्चलयन्व्योम्नि नटंतीर्दर्शयन्पुरः । क्षणात्कुर्वन्नदृश्यास्ताः सोभून्माहेंद्रजालकः ॥ ५१ ॥ इतश्चेतः स्वदोर्जाले गूढं संचारयन्नटीः । सभवान्हस्तसंचारमिवासीदाचरन्हरिः ॥ ५२ ॥ नर्तयन्नेकतो यूनो युवतीरन्यतो हरिः । भुजशाखासु सोनर्तीद्दर्शिताद्भुतविक्रियः ॥ ५३ ॥ नेटुस्तद्भुजरंगेषु ते च ताश्च परिक्रमैः । सुत्रामा सूत्रधारोभून्नाट्यवेदविदां वरः ॥ ५४ ॥ दीप्तोद्धतरसप्रायं नृत्यं तांडवमेकतः । सुकुमारप्रयोगाढ्यं ललितं लास्यम

शाखाओंपर अनेक काठकी पुतलियोंको न्टत्य कराता हुआ कोई यांत्रिक अर्थात् न्टत्य करानेवाला बाजीगर ही हो ॥ १५० ॥ अथवा उससमय वह इंद्र इंद्रजालिया (इंद्रजालके खेल करनेवाले) के समान जान पडता था क्योंकि वह क्षणभरमें उन देवांगनाओंको आकाशमें उडा देता था तथा क्षणभरमें ही सामने न्टत्य करती हुई दिखला देता था और क्षणभरमें ही उन्हें अदृश्य कर देता था ॥ १५१ ॥ अपने हाथोंके समूहमें न्टत्य करनेवालियोंको गुप्तरीतिसे इधरसे उधर फिराता हुआ वह इंद्र हाथकी सफाईके खेल दिखलानेवाले बाजीगरके समान जान पडता था ॥ १५२ ॥ वह इंद्र अपनी एक ओरकी भुजाओंपर तरुण देवोंको नचा रहा था तथा दूसरी ओरकी भुजाओंपर तरुण देवांगनाओंको नचा रहा था तथा अपनी अद्भुत विक्रिया शक्तिके द्वारा अपनी भुजारूप शाखाओंपर स्वयं भी वह न्टत्य करता दिखलाई पडता था ॥ १५३ ॥ इंद्रकी भुजारूप रंगभूमिपर वे देवदेवांगनायें अपने पैरोंको उठाती रखतीहुई न्टत्य कर रही थीं इसलिये नाट्यशास्त्रको जाननेवालोंमें उत्तम विद्वान् वह इंद्र उस समय सूत्रधारके (नटाचार्यके) समान जान पडता था ॥ १५४ ॥ इंद्रकी भुजाओंपर एक ओर तो दैदीप्यमान उद्धतरस प्रकट करता हुआ तांडवन्टत्य (पुरुषान्टत्य) हो रहा था और एक ओर सुकुमार प्रयोगोंसे भरा हुआ लास्यन्टत्य (स्त्रियोंका न्टत्य) हो रहा था ॥ १५५ ॥ इसप्रकार परस्पर भिन्न रसोंसे भरा हुआ और अत्यंत आश्चर्यकारक ऐसा न्टत्य दिखलाता हुआ वह इंद्र सभाके लोगोंमें अतिशय प्रेम उत्पन्न करा रहा था

न्यतः ॥ ५५ ॥ विभिन्नरसमित्युच्चैर्दर्शयन्नाट्यमद्‌भुतं । सामाजिकजनै शक्रः परां प्रीतिमजीजनत् ॥ ५६ ॥ गंधर्वनायकारब्धविविधातोद्यसंविधिः। आनंदनृत्यमित्युच्चैर्मघवा निरवर्त्तयत् ॥ ५७ ॥ सकंसतालमृद्वेणुविततध्वनिसंकुलं । साप्सरं सरसं नृत्तं तदुद्यानमिवाद्युतत् ॥ ५८ ॥ नाभिराजः समं देव्या दृष्ट्वा तन्नाट्यमद्‌भुतं । विसिस्मये परां श्लाघां प्रापच्च सुरसत्तमैः ॥ ५९ ॥ वृषभोयं जगज्ज्येष्ठो वर्षिष्यति जगद्धितं । धर्मामृतमितींद्रास्तमकार्षुर्वृषभाह्वयं ॥ ६० ॥ वृषो हि भगवान्धर्मस्तेन यद्भाति तीर्थकृत् । ततोयं वृषभस्वामीत्याह्वास्तैनं पुरंदरः ॥ ६१ ॥ स्वर्गावतरणे दृष्टः स्वप्नेस्य वृषभो यतः । जनन्या तदयं देवैराहूतो वृषभाख्यया ॥ ६२ ॥ पुरुहूतः पुरुं देवमाह्वयन्नाख्ययानया । पुरुहूत इति ख्यातिं बभारान्वर्थतां गतां

॥ १५६ ॥ इसप्रकार इंद्रने बडे ठाटवाटसे जिसमें मुख्य मुख्य गंधर्व देवोंने अनेक प्रकारके बाजे बजाना आरंभ किया है ऐसा वह आनंद न्टत्य ऊपर लिखे अनुसार बडे ठाटवाटके साथ समाप्त किया ॥ १५७ ॥ उससयय वह न्टत्य एक उद्यानके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिसप्रकार उद्यान कांस जातिके वृक्षोंके तथा बहुतसे बांस और पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे व्याप्त रहता है उसीप्रकार वह न्टत्य भी मृदंगकी ताल और वीणा आदि मधुर शब्दोंसे व्याप्त हो रहा था और उद्यानमें जिसप्रकार मधुर रससे भरा सरोवर रहता है उसीप्रकार वह न्टत्य भी अप्सराओं और रससे भरा हुआ था ॥ १५८ ॥ वह अद्भुत नाटक देखकर महाराज नाभिराज और मरुदेवीको भी बहुत आश्चर्य हुआ और इंद्रोंने भी उसकी खूब प्रशंसा की ॥ १५९ ॥ ये भगवान वृषभदेव संसारभरमें उत्तम हैं जगतका हित करनेवाले धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करेंगे इसलिये ही इंद्रोंने इनका वृषभदेव नाम रक्खा था ॥ १६० ॥ पूज्य धर्मका नाम वृष है यह तीर्थंकर भगवान् वृष अर्थात पूज्य धर्मसे सुशोभित हैं इसलिये ही इंद्रने इन्हें 'वृषभस्वामी' नामसे पुकारा था अर्थात् इनका वृषभस्वामी नाम रक्खा था ॥ १६१ ॥ अथवा माता मरुदेवीने भगवानके गर्भावतरणके समय स्वप्नमें वृषभ अर्थात् बैल देखा था इसलिये देव इन्हें वृषभ नामसे पुकारने लगे ॥ १६२ ॥ ऐसा जान पडता है मानों इंद्रने

॥ ६३ ॥ ततोऽस्य सवयोरूपवेषान्सुरकुमारकान् । निरूप्य परिचर्यायै दिवं जग्मुर्नुनायकाः ॥ ६४ ॥ धात्र्योनियोजिताश्चास्य देव्यः शक्रेण सादरं । मज्जने मंडने स्तन्ये संस्कारे क्रीडनेपि च ॥ ६५ ॥ ततोसौ स्मितमातन्वन् संसर्पन्मणिभूमिषु । पित्रोर्मुदं ततानार्भे वयस्यद्भुतचेष्टितः ॥ ६६ ॥ जगदानंदि नेत्राणामुत्सवप्रदमूर्जितं । कलोज्वलं तदस्यासीच्छैशवं शशिनो यथा ॥ ६७ ॥ मुग्धास्मितमभूदस्य मुखेंदौ चंद्रिकामलं । तेन पित्रोर्म-

---

पहिले ही भगवान वृषभदेवको पुरु (आदिदेव) इस नामसे बुलाया था इसलिये इंद्रका पुरुहूत (पुरु अर्थात् आदिदेवको आह्वान करनेवाला-बुलानेवा ा) यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हो गया है ॥१६३॥ तदनंतर अर्थात् जन्मोत्सव और नामकर्म करनेके अनंतर वे सब इंद्र भगवानकी सेवा करनेकेलिये भगवानके समान ही आयु रूप और वेष धारण करनेवाले देवकुमारको छोडकर अपने अपने स्वर्गमें जा पहुंचे ॥ १६४ ॥ इंद्रने वडे आदरसे भगवानको स्नान कराने, वस्त्राभरण पहनाने, दूध पिलाने शरीरके संस्कार कराने और क्रीडा करानेके लिये अनेक देवियोंको धाय बनाकर नियुक्त किया था ॥ १६५ ॥ तदनंतर वे भगवान वृषभदेव प्रथम बालक अवस्थामें अनेक प्रकारकी आश्चर्यकारक लीलायें करते थे कभी मंदमंद हंसते थे और कभी मणिखचितभूमिपर घुटनोंके बल धीरे धीरे चलते थे इसप्रकार वे मातापिताको बहुत ही आनंदित करते थे ॥ १६६ ॥ भगवानकी वह बालक अवस्था ठीक चंद्रमाके समान जान पडती थी क्योंकि चंद्रमा जिसप्रकार संसारको आनंद करनेवाला है उसीप्रकार वह अवस्था भी सबको आनंद करनेवाली थी चंद्रमा जिसप्रकार नेत्रोंको आनंदित करता है उसीप्रकार वह बालक अवस्था भी नेत्रोंको आनंदित करनेवाली थी और चंद्रमा जिसप्रकार बढती हुई उज्वल कलाओंको धारण करता है उसीप्रकार भगवानकी वह बालक अवस्था भी प्रतिदिन बढती हुई अनेक निर्मल कलाओंको धारण करती थी ॥ १६७ ॥ भगवानके मुखरूपी चंद्रमापर मंदहास्य रूपी निर्मल चांदनी बडी ही अच्छी जान पडती थी और उससे मातापिताके मनका संतो-

नस्तोषजलधिर्ववृधे तरां ॥ ६८ ॥ गीतबंधः सरस्वत्या लक्ष्म्या हसितविभ्रमः । कीर्तिवल्ल्या विकासोऽस्य मुखे मन्मनमोऽभवत् ॥ ६९ ॥ श्रीमन्मुखांबुजेस्यासीत्क्रमान्मन्मनभारती । सरस्वतीव तद्वाल्यमनुकर्तुं समाश्रिता ॥ ७० ॥ स्खलत्पदं शनैरिंद्रनीलभूमिषु संचरन् । स रेजे वसुधां रक्तैरब्जैरुपहरन्निव ॥ ७१ ॥ रत्नपांसुषु चिक्रीड स समं सुरदारकैः । पित्रोर्मनसि संतोषमातन्वन् ललिताकृतिः ॥ ७२ ॥ प्रजानां दधदानंदं गुणैराह्लादिभिर्निजैः । कीर्तिज्योत्स्नापरीतांगः स बभौ बालचंद्रमाः ॥ ७३ ॥ बालावस्थामतीतस्य तस्याभूद्रुचिरं वपुः । कौमारं देवनाथानामर्चितस्य महौ

षरूपी समुद्र भी खूब बढता था ॥ १६८ ॥ उस बालक अवस्थामें भगवानका मंदहास्य ऐसा अच्छा जान पडता था मानों सरस्वतीका गीतबंध (गानेके प्रारंभ अवास्थाका राग) ही हो अथवा लक्ष्मी-का हास्यका विलास ही हो अथवा कीर्तिरूपी लताका अंकुरा ही हो ॥ १६९ ॥ भगवानके शोभायमान मुखरूपी कमलमें क्रमक्रमसे उत्पन्न होनेवाली अव्यक्त वाणी ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों भगवानकी बालक अवस्थाका अनुकरण करनेकेलिये सरस्वती देवीने ही आश्रय लिया हो। भावार्थ-यद्यपि भगवानमें स्पष्ट बोलनेकी शक्ति थी तथापि सरस्वती मानों भगवानकी बालक अवस्था दिखलानेकेलिये ही अव्यक्त रूपसे प्रगट हो रही हो ॥ १७० ॥ इंद्रनील मणियोंकी बनी हुई भूमिपर धीरे धीरे गिरते पडते चलते हुये वे बालक भगवान ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों पृथ्वीको लाल कमलोंका उपहार ही दे रहे हों ॥ १७१ ॥ मनोहर आकृतिको धारण करनेवाले वे भगवान कभी कभी मातापिताके मनको संतुष्ट करतेहुये बालकरूप देवोंके साथ साथ रत्नोंके चूर्णकी बनी हुई धूलिमें क्रीडा करते थे ॥ १७२ ॥ वे बालक भगवान चंद्रमाके समान सुशोभित होते थे जिसप्रकार चंद्रमा आल्हाद करनेवाले अपने गुणोंसे प्रजाको आनंदित करता है उसीप्रकार वे भगवान भी आल्हाद करनेवाले अनेक गुणोंसे प्रजाको आनंदित करते थे और चंद्रमाका शरीर जिसप्रकार चांदनीसे भरपूर रहता है उसीप्रकार भगवानका शरीर भी कीर्तिरूपी चांदनीसे भर

जसः ॥ ७४ ॥ वपुषो वृद्धिमन्वस्य गुणा ववृधिरे विभोः । शशांकमंडलस्येव कांतिदीप्त्यादयोन्वहं ॥ ७५ ॥ वपुः कांतं प्रिया वाणी मधुरं तस्य वीक्षितं । जगतां प्रीतिमातेनुः सस्मितं च प्रजल्पितं ॥ ७६ ॥ कलाश्च सकलास्तस्य वृद्धौ वृद्धिमुपाययुः । इंदोरिव जगच्चेतोनंदनस्य जगत्पतेः ॥ ७७ ॥ मतिश्रुते सहोत्पन्ने ज्ञानं चावधिसंज्ञकं । ततोबोधि स निःशेषा विद्या लोकस्थितीरपि ॥ ७८ ॥ विश्वविद्येश्वरस्यास्य विद्याः परिणताः स्वयं । ननु जन्मांतराभ्यासः स्मृतिं पुष्णाति पुष्कलां ॥ ७९ ॥ कलासु कौशलं श्लाध्यं विश्वविद्यासु पाटवं । क्रियासु कर्मठत्वं च स भेजे शिक्षया

पूर था ॥ १७३ ॥ बाल्यावस्थाके व्यतीत होनेपर इंद्रोंके द्वारा पूज्य और अतिशय तेजस्वी ऐसी भगवानकी कुमारावस्थाका शरीर बहुत ही सुंदर सुशोभित होता था ॥ १७४ ॥ जिसप्रकार चंद्रमंडलके बढनेसे उसके कांति दीप्ति आदि गुण प्रतिदिन बढते जाते हैं उसीप्रकार ज्यों ज्यों भगवानका शरीर बढता जाता था त्यों त्यों उसके साथ साथ अनेक गुण भी बराबर बढते चले जाते थे ॥ १७५ ॥ उस समय भगवानका मनोहर शरीर, कोमल वाणी, मधुर अवलोकन (देखना) और मंदहास्य सहित बोलना यह सब संसारको बहुत ही संतुष्ट कर रहे थे ॥ १७६ ॥ जिसप्रकार संसारके समस्त चित्तोंको आनंदित करनेवाले चंद्रमाके बढनेसे उसकी सब कलायें बढती हैं उसीप्रकार जगतपति भगवानके बढनेसे भी उनकी समस्त विद्यायें बढ गईं थीं ॥ १७७ ॥ मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान तीनों भगवानके साथ साथ ही उत्पन्न हुये थे अतएव उनसे समस्त विद्यायें और लोककी स्थिति (अवस्था) आदि सबको वे भगवान जानते थे ॥ १७८ ॥ वे भगवान समस्त विद्याओंके ईश्वर थे इसलिये उन्हे समस्त विद्यायें बिना पढे स्वयं ही आगईं थीं सो ठीक ही है क्योंकि जन्मांतरके दृढ अभ्याससे बहुतसी स्मृतियां प्रगट हो ही जातीं हैं ॥ १७९ ॥ वे भगवान विना शिक्षा प्राप्त किये ही (अपने आप ही) समस्त कलाओंमें प्रशंसनीय निपुणता धारण करने लगे थे समस्त विद्याओंमें चतुर हो गये थे और समस्त क्रियाओंको बडे यत्नसे

विना ॥ ८० ॥ वाङ्मयं सकलं तस्य प्रत्यक्षं वाक्प्रभोरभूत् । येन विश्वस्य लोकस्य वाचस्पत्यादभूद् गुरुः ॥८१॥पुराणः स कविर्वाग्मी गमकश्चेति-रुच्यते । कोष्ठवुध्यादयो बोधा येन तस्य निसर्गजाः ॥८२॥क्षायिकं दर्शनं तस्य चेतोमलमपाहरत् । वाग्मलं च निसर्गेण प्रसृतास्य सरस्वती ॥८३॥ श्रुतं निसर्गतोस्यासीत्प्रसूतः प्रशमः श्रुतात् । ततो जगद्धितास्यासीच्चेष्टा सापालयत्प्रजाः ॥ ८४ ॥ यथायथास्य वर्द्धंते गुणांशा वपुषा समं । तथातथास्य जनता बंधुता चागमन्मुदं ॥ ८५ ॥ स पित्रोः परमानंदं बंधुतायाश्च निर्वृतिं । जगज्जनस्य संप्रीतिं वर्द्धयन्समवर्द्धत ॥ ८६ ॥ परमायुरथास्या

पूर्ण रीतिसे संपादन करने लगे थे ॥ १८० ॥ वे भगवान सरस्वतीके स्वामी थे इसलिये उन्हें समस्त शास्त्र प्रत्यक्ष हो गया था और उस शास्त्रसे वे वाचस्पति हो गये थे इसलिये वे समस्त जगतके गुरु हो गये थे ॥ १८१ ॥ वे भगवान अतिशय प्राचीन थे, कवि थे, सबका चित्त प्रसन्न करनेवाले वक्ता थे टीकाकार गमक थे और बडे ही इतिहास वेत्ता थे। क्योंकि कोष्टबुद्धि आदि कितनी ही विद्यायें उन्हें स्वभावसे ही आगईं थीं ॥ १८२ ॥ उनका क्षायिक सम्यग्दर्शन उनके चित्तकी सब मलिनता दूर करनेवाला था और स्वभावसे विस्तारको प्राप्त हुई सरस्वती उनके बचन संबंधी दोष दूर करनेवाली थी ॥ १८३ ॥ उन भगवान वृषभदेवके जन्मसे ही शास्त्रज्ञान था तथा उस शास्त्रज्ञानसे उनके परिणाम बहुत शांत थे उनकी समस्त चेष्टायें संसारका हित करनेवाली थीं और वे चेष्टायें सब प्रजाका पालन कर रहीं थीं ॥ १८४ ॥ ज्यों ज्यों उनके शरीरके साथ गुण बढते चले जाते थे त्यों त्यों संसारके समस्त मनुष्य और कुटुंबी आदि सब हर्षित होते जाते थे ॥ १८५ ॥ इसप्रकार वे भगवान माता पिताको परम आनंद, कुटुंबियोंको सुख और संसारके लोगोंको संतोष बढाते हुये वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे ॥ १८६ ॥ चरम शरीरको (अंतका शरीर, जिससे मोक्ष प्राप्त हो) धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवकी संपूर्ण आयु चौरासी लाख पूर्वकी थी ॥ १८७ ॥ वे भगवान दीर्घदर्शी थे दीर्घ आयु और दीर्घ (बडी) भुजाओंको धारण

भूत्तरमं बिभ्रतो वपुः । संपूर्णा पूर्वलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा ॥ ८७ ॥ दीर्घदर्शी सुदीर्घायुर्दीर्घबाहुश्च दीर्घदृक् । स दीर्घसूत्रो लोकानामभजत्सूत्रधारतां ॥ ८८ ॥ कदाचिल्लिपिसंख्यानं गंधर्वादिकलागमं । स्वभ्यस्तपूर्वमभ्यस्यन्स्वयमभ्यासयत्परान् ॥ ८९ ॥ छंदोविचित्यालंकारप्रस्तारादिविवेचनैः । कदाचिद्भावयन्गोष्ठीश्चित्राद्यैश्च कलागमैः ॥ ९० ॥ कदाचित्पदगोष्ठीभिः काव्यगोष्ठीभिरन्यदा । [illegible] समं कैश्चिज्जल्पगोष्ठीभिरेकदा ॥ ९१ ॥ कर्हिचिद्गीतगोष्ठीभिर्नृत्तगोष्ठीभिरेकदा । कदाचिद्वाद्यगोष्ठीभिर्वीणागोष्ठीभिरन्यदा ॥ ९२ ॥ कर्हिचिद्बर्हिरूपेण नटतः सुरचेटकान् ॥ नाटयन्करतालेन लयमार्गानुयायिना ॥ ९३ ॥ कांश्चिच्च शुकरूपेण समासादित[illegible] पाठयन् श्लोकान-

---

करनेवाले थे, सुंदर और बडे बडे नेत्र धारण करनेवाले थे तथा दृढतासे कार्य करनेवाले थे । इन सब गुणोंसे वे संसारके सूत्रधार अर्थात् गुरु समझे जाते थे । भावार्थ—उनके गुण देखदेखकर अन्य सब लोग उन गुणोंको धारण करते थे ॥ १८८ ॥ वे भगवान कभी लिखनेकी कला, कभी गणितशास्त्र और गंधर्वादिकोंके शास्त्रोंको पूर्वजन्ममें अच्छीतरह अभ्यास करनेके कारण स्वयं अभ्यास करते थे और दूसरोंको अभ्यास कराते थे ॥ १८९ ॥ वे भगवान कभी छंदशास्त्र, कभी अलंकार शास्त्र, कभी नष्टोद्दिष्ट आदि प्रस्तारोंका विवेचन और कभी चित्र खींचने आदिके कलाशास्त्रोंको अच्छीतरह समझकर देवकुमारोंके, साथ २ विचार करते हुये सुखसे रहते थे ॥ १९० ॥ उन देवकुमारोंके साथ२ कभी व्याकरणशास्त्रका विचार करते थे, कभी काव्यशास्त्रका विचार करते थे, कभी बहुत बोलनेवाले वाचालोंके साथ और कभी अपना २ मत स्थापन करनेवालोंके साथ विचार करते थे ॥१९१॥ कभी गानकलाकी चरचा कभी नृत्यकलाकी चरचा कभी वाद्यगोष्ठी और वीणा बजानेकी गोष्ठीसे अपना काल व्यतीत करते थे ॥ १९२ ॥ कभी मयूरोंका रूप धारणकर नृत्य करतेहुये देव कुमारोंको लयके अनुसार हाथकी ताल देते हुये नृत्य कराते थे ॥ १९३ ॥ जो देव अपनी विक्रियासे तोतेका रूप धारण किये थे उन्हें स्पष्ट और मधुर अक्षरोंसे श्लोकोंका पाठ कराते थे ॥ १९४ ॥ जो देव

श्लिष्टमधुराक्षरं ॥ ९४ ॥ हंसविक्रियया कांश्चित्कूजतो मंदगद्गदं । बिसभंगैः स्वहस्तेन दत्तैः संभावयन्मुहुः ॥ ९५ ॥ गजविक्रियया कांश्चिद्दधतः कालभीं दशां । सांत्वयन्मुहुराताड्य करमाक्रीडयन्मुदा ॥ ९६ ॥ मणिकुट्टिमसंक्रांतैः स्वैरेव प्रतिबिंबकैः । कृकवाकूयितान्कांश्चिद्योद्धुकामान्परानृशन् ॥ ९७ ॥ मल्लविक्रियया कांश्चिद्युयुत्सूननभिद्रुहः । प्रोत्साहयन्कृतास्फोटवल्गनानभिनृत्यतः ॥ ९८ ॥ क्रौंचसारसरूपेण तारकेंकारकारिणां । शृण्वन्ननुगतं शब्दं केषांचित् श्रुतिपेशलं ॥ ९९ ॥ स्रग्विणः शुचिलिप्तांगान्समेतान्सुरदारकान् । दंड्यां क्रीडां समायोज्य नर्त्तयंश्च कदाचन ॥ २०० ॥ अनारतं च कुंदेंदुमदाकिन्यप्छटामलं । सुरवंदिभिरुद्गीतं स्वं समाकर्णयन्यशः ॥ १ ॥ अतंद्रितं

अपनी विक्रिया ऋद्धिसे हंसका रूप धारणकर धीरे धीरे गदगदस्वरसे बोल रहे थे उन्हें अपने हाथसे कमलके तंतु देकर बारं बार क्रीडा करते थे ॥ १९५ ॥ जिन देवोंने विक्रिया ऋद्धिसे हाथीके बच्चों की अवस्था धारण की थी उन्हें प्रथम ही शिक्षा देकर अपने वश करते थे और फिर अंकुशसे ताडना करते हुये उनकी सूंडसे क्रीडा करते थे ॥१९६॥ जो देव मुर्गोंका रूप धारणकर मणियोंकी बनी हुई दीवालोंमें पडतेहुये अपने प्रतिबिंबोंमें लडनेकी इच्छा कर रहे थे उन्हें देखते थे ॥ १९७ ॥ मल्लोंका रूप धारणकर परस्पर विरोधरहित केवल चित्त प्रसन्न करनेकेलिये युद्ध करनेवाले तथा शब्दोंके द्वारा गर्जना करते हुये नृत्य करनेवाले देवोंको युद्ध करनेकेलिये उत्तेजित करते थे और ॥ १९८ ॥ कभी जो देव उच्चस्वरसे क्रौं क्रौं शब्द करनेवाले क्रौंच और सारस पक्षियोंका रूप धारण कर आये थे उनके निरंतर होनेवाले और कानोंको अच्छे लगनेवाले शब्द सुनते थे ॥ १९९ ॥ कभी माला पहनेहुये, शरीरमें चंदन लगाये हुये और एक जगह इकट्ठे हुये देवकुमारोंको दंडोंसे क्रीडा कराते थे अर्थात् एक दंडको रखकर उसपर दूसरे दंडकी चोट दिलाते थे भावार्थ--उन्हें किली दंडा खिलाते थे तथा उन्हें नचाते भी थे ॥ २०० ॥ कभी वंदीजन देवोंके द्वारा निरंतर गाये हुये कुंदपुष्प, चंद्रमा और आकाशगंगाके जलकी छटाके समान अपने निर्मल यशको सुनते थे ॥२०१॥

च देवीभिर्न्यस्यमानं गृहांगणे । रत्नचूर्णैर्बलिं चित्रं सानंदमवलोकयन् ॥ २०२ ॥ संभावयन्कदाचिच्च प्रकृतीर्द्रष्टुमागताः । वीक्षितैर्मधुरैः स्निग्धैः स्मितैः सादरभाषितैः ॥ ३ ॥ कदाचिद्दीर्घिकांभस्सु समं सुरकुमारकैः । जलक्रीडाविनोदेन रममाणः ससंमुदं ॥ ४ ॥ सारवं जलमासाद्य सारवं हंसकूजितैः । तारवैर्यंत्रकैः क्रीडन् जलास्फालकृतारवैः ॥ ५ ॥ जलकेलिविधावेनं भक्त्या मेघकुमारकाः । भेजुर्धारागृहीभूय स्फुरद्धाराः समंततः ॥ ६ ॥ कदाचिन्नंदनस्पर्द्धितरुशोभांचिते वने । वनक्रीडां समातन्वन्वयस्यैरन्वितः सुरैः ॥ ७ ॥ वनक्रीडाविनोदेस्य विरजीकृतभूतलाः । मंदं दुधुवुरुद्यानपादपान्पवनामराः ॥ ८ ॥ इति कालोचिताः क्रीडा विनोदांश्च स निर्विशन् । आसांचक्रे सुखं देवः समं देवकुमारकैः ॥ ९ ॥ इति भुव-

---

कभी अपने घरके आंगनमें आलस्य रहित देवियोंके द्वारा बनाई हुई रत्नचूर्णकी चित्रावलीको आनंदसे देखते थे ॥ २०२ ॥ कभी कभी अपने दर्शन करनेकेलिये आयेहुये प्रजाके लोगोंको मधुर अवलोकनके द्वारा प्रेमयुक्त मंदहास्यके द्वारा और आदरसहित संभाषणके द्वारा अपने अनुकूल करते थे ॥ २०३ ॥ कभी बावडियोंसे जलमें देवकुमारोंके साथ साथ बडे आनंदसे जलक्रीडाका विनोद करते हुये क्रीडा करते थे ॥ २०४ ॥ कभी हंसोंके मधुर शब्दोंसे शब्दायमान ऐसे सरजू नदीके जलमें पहुंचकर जलमें तैरनेसे मधुर शब्द करनेवाले लकडीके बनेहुये यंत्रोंसे अर्थात् नावोंसे क्रीडा करते थे ॥ २०५ ॥ कभी कभी जब वे जलक्रीडा करते थे उस समय मेघ कुमारजातिके देव जलके धारागृहका (जिसमें चारों ओर जलकी थोडी २ वर्षा हो रही हो, ऐसा गृह) रूप धारण-कर चारों ओरसे जलकी धारा छोडते हुये भगवानकी सेवा करते थे ॥ २०६ ॥ कभी २ वे भगवान अपने वृक्षोंकी शोभासे नंदनवनकी स्पर्द्धा करनेवाले बनोंमें मित्ररूप हुये देवोंके साथ साथ बन क्रीडा करते थे ॥२०७॥ जिस समय भगवान बनक्रीडा करते थे उस समय पवनकुमार जातिके देव पृथिवीको धीरे २ हिलाते थे अर्थात् मंद मंद वायु चलाते थे ॥ २०८ ॥ इसप्रकार अपने अपने समयके अनुसार देवकुमारोंके साथ क्रीडा और विनोद करते हुये वे वृषभदेव भगवान सुखसे काल व्यतीत

नपतीनामर्च्चनीयोभिगम्यः सकलगुणमणीनामाकरः पूण्यमूर्तिः । समममरकुमारैर्निर्विशन्दिव्यभोगानरमत चिरमस्मिन्पुण्यगेहे स देवः ॥ २१० ॥ प्रतिदिनममरेंद्रोपाहृतान्भोगसारान् सुरभिकुसुममालाचित्रभूषांबरादीन् । ललितसुरकुमारैरिंगितज्ञैर्वयस्यैःसममुपहृतरागःसोन्वभूत्पुण्यपाकात् ॥ ११ ॥ स श्रीमान्नृसुरासुरार्चितपदो बाल्येप्यबालक्रियो लीलाहारविलासवेषचतुरामाबिभ्रदुच्चैस्तनुं । तन्वानः सुमुदं जगज्जनमनःप्रह्लादिभिर्वा करैर्बालेंदुर्ववृधे शनैरमलिनः कीर्त्युच्छ्वलच्चंद्रिकः ॥ १२ ॥ तारालीतरलां दधत्समुचितां वक्षस्स्थलासंगिनीं लक्ष्म्यांदोलनवल्लरीमिव ततां तां हारयष्टिं पृथुं । ज्योत्स्नामन्यमथांशुकं परिदधत्कांचीकलापांचितं रेऽजेसौ सुन्दारैकैरुडुसमैः क्रीडन् जिनेंदुर्भृशं ॥ २१३ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवज्जातकर्मोत्सववर्णनं नाम चतुर्दशं पर्व ॥१४॥

करते थे ॥ २०९ ॥ इसप्रकार जो भगवान इंद्रादिदेवोंके द्वारा भी पूज्य हैं, इंद्रादि देव भी जिनका आश्रय लेते हैं जो समस्त गुण रूप मणियोंको उत्पन्न करनेकेलिये खानिके समान हैं जिनकी मूर्तिके दर्शन करनेमात्रसे पुण्य होता है ऐसे वे वृषभदेव महाराज नाभिराजके पवित्र घरमें देवकुमारोंके साथ साथ दिवा भोगोंका अनुभव करते हुये चिरकालतक क्रीडा करते रहे ॥ २१० ॥ इंद्र प्रतिदिन सुगंधित पुष्पमालायें तथा चित्र विचित्र वस्त्राभूषण आदि उत्तम भोगोपभोगोंकी वस्तुयें स्वर्गसे लाकर भेट करता था और वे भगवान समस्त चेष्टा और अभिप्रायोंको जाननेवाले सुंदर सर्वांग मित्र देवकुमारोंके साथ साथ प्रसन्न होकर अपने पुण्य कर्मके उदयसे उन भोगोंका अनुभव करते थे ॥ २११ ॥ मनुष्य, सुर, असुर आदि सब जिनके चरण कमलोंकी पूजा करते हैं, जो बाल्यावस्थामें भी वृद्धोंके समान क्रिया करनेवाले हैं, जो लीला, आहार विलास भेष आदि सबमें अति चतुर ऐसे शरीरको धारण करते हैं जो संसारके सबलोगोंके मन प्रसन्न करनेवाले अपने वचनरूपी किरणोंसे सबको हर्षित करते हैं, जो सदा निर्मल हैं और जिनकी कीर्तिरूपी चांदनी सब जगह प्रकाशमान हो रही है ऐसे वे श्रीमान् वृषभदेव बालचंद्रमाके समान धीरे धीरे वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे ॥ २१२ ॥ ताराओंकी पंक्तिके समान चंचल, लक्ष्मीके झूलनेकी रस्सीके समान, समु-

अथ पंचदशं पर्व

अथास्य यौवने पूर्णे वपुरासीन्मनोहरं । प्रकृत्यैव शशी कांतः किं पुनः शरदागमे ॥१॥ निष्टप्तकनकच्छायं निःस्वेदं नीरजोमलं । क्षीराच्छ-क्षतजं दिव्यसंस्थानं वज्रसंहतं ॥ २ ॥ सौरूप्यस्य परां कोटिं दधानं सौरभस्य च । अष्टोत्तरसहस्रेण लक्षणानामलंकृतं ॥ ३ ॥ अप्रमेयं महावीर्यं दधत्प्रियहितं वचः । कांतमाविरभूदस्य रूपमप्राकृतं प्रभोः ॥ ४ ॥ मकुटालंकृतं तस्य शिरो नीलशिरोरुहं । सुरेंद्रमणिभिः कांतं मेरोः शृंगमिवा-बभौ ॥ ५ ॥ रुरुचे मूर्ध्नि मालास्य कल्पानोकहसंभवा । हिमाद्रेः कूटमावेष्ट्यापतंतीवामरापगा ॥ ६ ॥ ललाटपट्टे विस्तीर्णे रुचिरस्य महत्यभूत् ।

चित, विस्तृत और वक्षःस्थलपर पडे हुये बडे भारी हारको पहने हुये तथा चांदनीके समान करध-नीसे सुशोभित वस्त्रोंको धारण किये हुये वे भगवान चंद्रमाके समान देवकुमाररूपी तारामंडलके साथ साथ यथेष्ट क्रीडा करते हुये बडे ही सुशोभित होते थे ॥ २१३ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें भगवानका जन्मोत्सव वर्णन करनेवाला चौदहवां पर्व समाप्त हुआ ॥१४॥

अथ पंद्रहवां पर्व।

अथानंतर यौवन अवस्था पूर्ण होनेपर भगवानका शरीर बहुत ही मनोहर होगया था सो ठीक ही है चंद्रमा स्वभावसे ही सुंदर होता है यदि शरदऋतु हो तो फिर उसकी सुंदरताका पूछना ही क्या है ॥ १ ॥ उनका रूप बहुत ही सुंदर दिखाई पडता था तपायेहुये सुवर्णके समान उसकी कांति थी, उसपर पसीना कभी आता नहीं था, मैल मलमूत्र आदिसे रहित था, उसका रुधिर दूधके समान निर्मल था, उसका दिव्य समचतुरस्र संस्थान था वज्रवृषभनाराच संहनन था, अर्थात् वह वज्रमय था, सुंदरता और सुगंधताकी परम सीमाको धारण करता था, एक हजार आठ लक्षणोंसे सुशोभित था, अन्य लौकिक शरीरोंसे वह सर्वथा भिन्न था अनंतवीर्य युक्त था प्रिय और हितरूप

वाग्देवीललिताक्रीडस्थललीलां वितन्वती ॥ ७ ॥ भ्रूलते रेजतुर्भर्तुर्ललाटाद्रितटाश्रिते । वागुरे मदनैणस्य संरोधायैव कल्पिते ॥ ८ ॥ नयनोत्पलयोरस्य कांतिरानीलतारयोः । आसीद् द्विरेफसंसक्तमहोत्पलदलश्रियोः ॥ ९ ॥ मणिकुंडलभूषाभ्यां कर्णावस्य रराजतुः । पर्यंतौ गगनस्येव चंद्रार्काभ्यामलंकृतौ ॥ १० ॥ मुखेंदौ या द्युतिस्तस्य न सान्यत्र त्रिविष्टपे । अमृते या धृतिः सा किं क्वचिदन्यत्र लक्ष्यते ॥ ११ ॥ स्मितांशुरुचिरं तस्य

वचनोंको धारण करनेवाला था और अतिशय मनोहर तथा असाधारण था ॥ २-३-४-॥ श्यामकेशयुक्त और मुकुटसे सुशोभित उनका शिर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों इंद्रनील मणियोंसे सुशोभित मेरु पर्वतका शिखर ही हो ॥ ५ ॥ उनके मस्तकपर धारण की हुई कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी माला ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों हिमवान् पर्वतके शिखरको घेरकर नीचे पडती हुई आकाशगंगा ही हो ॥ ६ ॥ उनके विस्तीर्ण ललाटकी शोभा ऐसी अच्छी थी मानों सरस्वती देवीकी सुंदर क्रीडास्थलकी शोभा ही धारण कर रही हो ॥ ७ ॥ ललाटरूपी पर्वतके शिखरपर आश्रय लेनेवाली भगवानकी भौंहरूपीलतायें ऐसी अच्छी सुशोभित होती थीं मानों कामदेवरूपी हिरणको रोकनेके लिये उसके बांधनेकी रस्सी ही हों ॥ ८ ॥ नीले ताराओंसे (पुतलियोंसे) सुशोभित भगवानके नेत्रकमलोंकी शोभा ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों भ्रमरसे सुशोभित कमलकी पंखुरीकी ही शोभा हो ॥ ९ ॥ मणियोंके बने हुये कुंडलोंसे सुशोभित भगवानके दोनों कान ऐसे सुशोभित होते थे मानों चंद्र और सूर्यसे सुशोभित आकाशके दोनों भाग ही हों ॥ १० ॥ भगवानके मुखरूपी चंद्रमामें जो कांति थी वह तीनोंलोकोंमें अन्यत्र कहीं नहीं थी सो ठीक ही है जो संतुष्टि अमृतमें है वह क्या किसी अन्य रसमें पाई जाती है ॥ ११ ॥ अथवा भगवानका मुख एक कमलके समान सुशोभित था क्योंकि जिसप्रकार कमल प्रकाशमान सफेद पंखुरियोंसे सुशोभित होता है उसीप्रकार उनका मुख-भी मंद हास्यकी किरणोंसे सुशोभित था और कमल जिसप्रकार पानीके फेनसे सुशोभित होता

मुखमापाटलाधरं । लसद्दलस्य पद्मस्य सफेनस्य श्रियं दधौ ॥ १२ ॥ दधेस्य नासिकोत्तुंगा श्रियमायतिशालिनीं । सरस्वत्यवताराय कल्पितेव प्रणालिका ॥ १३ ॥ धत्ते स्म रुचिरा रेखाः कंधरोस्यास्यसद्मनः । उल्लिख्य घटितो धात्रा रौक्मस्तंभ इवैककः ॥ १४ ॥ महानायकसंसक्तां हारयष्टिमसौ दधौ । वक्षसा गुणराजन्यपृतनामिव संहतां ॥ १५ ॥ इंद्रच्छंदं महाहारमधतासौ स्फुरद्द्युति । वक्षसा सानुनाद्रींद्रो यथा निर्झरसंकरं ॥ १६ ॥ हारेण हारिणा तेन तद्वक्षो रुचिमानशे । गंगाप्रवाहसंसक्ताहिमाद्रितटसंभवां ॥ १७ ॥ वक्षःसरसि रम्येस्य हाररोचिश्छटांभसा । संभूते सुचिरं

है उसीप्रकार भगवानका मुख भी कुछ लालिमा और सफेदी लियेहुये ओठोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ १२ ॥ भगवानकी उठी हुई ऊंची और लंबी नाक ऐसी शोभा धारण करती थी मानों सरस्वतीदेवीके (मुख या जिह्वापर) आनेके लिये एक लंबी सुरंग ही बनाई हो ॥ १३ ॥ सुंदर रेखाओंसे सुशोभित भगवानका कंठभाग ऐसा अच्छा जान पडता था मानों नाम कर्मरूपी ब्रह्माने भगवानके मुखरूपी घरकेलिये उकेरकर बनाया हुआ एक सुवर्णमय स्तंभ ही हो ॥ १४ ॥ जिसप्रकार गुणरूप क्षत्रियोंकी सेना अपने महानायक महाराजके साथ सुशोभित होती है उसीप्रकार भगवानके वक्षःस्थलपर पडी हुई महानायक अर्थात् मध्यभागके बडे मणिसे सुशोभित मोतियोंकी हारलता (माला) शोभायमान थी ॥ १५ ॥ जिसप्रकार सुमेरुपर्वत अपने तटभागपर पडतेहुये अनेक निर्झरनोंसे सुशोभित होता है उसीप्रकार वे भगवान भी अपने वक्षःस्थलपर पडेहुये अतिशय दैदीप्यमान एक हजार आठ लडियोंके सुंदर महाहारसे सुशोभित हो रहे थे ॥ १६ ॥ उस मनोहर हारसे भगवानका वक्षःस्थल ऐसा अच्छा जान पडता था मानों गंगाके प्रवाहके संबंधसे शोभायमान हिमवान पर्वतका तट ही हो ॥ १७ ॥ भगवानका वक्षःस्थल हारके प्रकाशकी छटा रूप जलसे भरा हुआ एक सुंदर सरोवरके समान जान पडता था और उसपर दिव्य लक्ष्मीरूपी कलहंसिनी (मिष्टभाषण करनेवाली हंसिनी) चिरकालतक क्रीडा करती थी ॥ १८ ॥ वक्षःस्थलपर रहने-

रेमे दिव्यश्रीकलहंसिका ॥ १८ ॥ वक्षःश्रीगेहपर्यंते तस्यांसौ श्रियमापतुः । जयलक्ष्मीकृतावासौ तुंगावट्टालकाविव ॥ १९ ॥ बाहू केयूरसंघट्टमसृणांसौ दधे विभुः । कल्पांघ्रिपाविवाभीष्टफलदौ श्रीलताश्रितौ ॥ २० ॥ नखानूहे सुवालोकान्सरलांगुलिसंश्रितान् । दशावतारसंभुक्तलक्ष्मीविभ्रमदर्पणान् ॥ २१ ॥ मध्येकायमसौ नाभिमदधन्नाभिनंदनः । सरसीमिव सावर्तां लक्ष्मीहंसीनिषेवितां ॥ २२ ॥ समेखलमधात्कांतिं जवनं तस्य सांशुकं। नितंबमिव भूभर्तुः सतडिच्छरदंबुदं ॥ २३ ॥ बभारोरुद्वयं धीरः कार्त्तस्वरविभास्वरं । लक्ष्मीदेव्या इवांदोलस्तंभयुग्मकमुच्चकैः ॥ २४ ॥ जंघे मद-

---

वाली लक्ष्मीके घरपर्यंत ऊंचे पहुंचे हुये भगवानके दोनों कंधे ऐसे सुशोभित होते थे मानों जयलक्ष्मीके निवास करने योग्य दो उंची अटारी ही हों ॥ १९ ॥ शोभारूप लतासहित तथा बाजूबंधके संघटनसे चिकने हो गये हैं कंधे जिनके ऐसी भगवानकी दोनों भुजायें ऐसी जान पडती थीं मानों अभीष्ट फल देनेवाले और लक्ष्मीरूपी लतासे आश्रित दो कल्पवृक्ष ही हों ॥ २० ॥ सब लोगोंको सुख देनेवाला प्रकाश करनेवाला और सरल उंगलियोंके आश्रित ऐसे भगवानके हाथोंके नख ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों भगवानने महाबल आदि पूर्वभवके दश अवतारोंमें जिस लक्ष्मीका अनुभव किया था उसके विलासकेलिये दश दर्पण ही धारण किये हों ॥ २१ ॥ भगवान नाभिनंदन श्रीवृषभदेवके शरीरके मध्यभागमें नाभि ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों आवर्त (भंवर) सहित और लक्ष्मीरूपी हंसिनी द्वारा सेवित ऐसी कोई छोटीसी सरोवरी (तलैया) ही हो ॥ २२ ॥ तथा करधनी और वस्त्रसे सुशोभित भगवानका जवनभाग ऐसा अच्छा जान पडता था मानों विजली और शरदऋतुके सफेद बादलोंसहित किसी पर्वतका नितंबभाग ही हो ॥ २३ ॥ धीरवीर भगवान वृषभदेवके सुवर्णके समान दैदीप्यमान दोनों ऊरु (जंघाके ऊपरीभाग) ऐसे मनोहर जान पडते थे मानों लक्ष्मी देवीके झूलाके खंभोंकी ऊंची जोडी ही हो ॥ २४ ॥ कामदेवरूपी हाथीकेलिये उलंघन न करने योग्य दो अर्गलके समान भगवानकी दोनों जंघायें ऐसी

नमातंगदुर्लंघ्यार्गलविभ्रमे । लक्ष्म्येवोद्वर्त्तिते भर्त्तुः परां कांतिमवापतां ॥ २५ ॥ पादारविंदयोः कांतिरस्य केनोपमीयते । त्रिजगच्छ्रीसमाश्लेषसौभाग्यमदशालिनोः ॥ २६ ॥ इत्यस्याविरभूत्कांतिरावालाग्रं नखाग्रतः । नूनमन्यत्र नालब्ध सा प्रतिष्ठां स्ववांछितां ॥ २७ ॥ निसर्गसुंदरं तस्य वपुर्वज्रास्थिबंधनं । विषशस्त्राद्यभेद्यत्वं भेजे रुक्माद्रिसच्छवि ॥ २८ ॥ यत्र वज्रमयास्थीनि वज्रैर्वलयितानि च । वज्रनाराचभिन्नानि तत्संहननमीशितुः ॥ २९ ॥ त्रिदोषजा महातंका नास्य देहे व्यधुः पदं । मरुतां चलितागानां ननु मेरुरगोचरः ॥ ३० ॥ न जरास्य न खेदो वा नोपघा-

---

अच्छी कांतियुक्त जान पडती थीं मानों स्वयं लक्ष्मीने उवटनकर उज्ज्वल की हों ॥ २५ ॥ भगवानके चरणकमलोंकी कांतिकी उपमा देनेकेलिये तो संसारमें कोई पदार्थ ही नहीं है इसलिये उनकेलिये किसीकी उपमा दे ही नहीं सकते हैं । क्योंकि उनके दोनों ही चरणकमल तीनों जगतोंकी लक्ष्मीके संबंधसे उत्पन्न हुये सौभाग्यके मदसे बडे ही अच्छे सुशोभित हो रहे थे ॥ २६ ॥ इसप्रकार पैरोंके नखके अग्रभागसे लेकर शिरके बालोंके अंततक भगवानके संपूर्ण शरीरकी कांति बहुत ही अच्छी प्रगट हो रही थी, और ऐसी जान पडती थी मानो उसे भगवानके शरीरको छोडकर अन्यत्र कहीं अपनी इच्छानुसार स्थान प्राप्त नहीं हुआ था इसलिये वह भगवानके शरीरमें ही आ बसी थी ॥ २७ ॥ भगवानका शरीर स्वभावसे ही सुंदर था उसके हड्डियोंका बंधन वज्रमय था, विष शस्त्र अग्नि आदि किसीसे वह छिद भिद नहीं सकता था, और इसीलिये ही वह सुवर्णस्वरूप सुमेरु पर्वतके समान जान पडता था ॥ २८ ॥ उन भगवान वृषभदेवके शरीरकी हड्डियां वज्रमय थीं वेष्टन अर्थात् नसोंके द्वारा हड्डियोंका बंधनविशेष भी वज्रमय था और नाराच अर्थात् हड्डियोंको मिलानेवाले कीले भी वज्रमय थे इसप्रकार उनके शरीरका संहनन वज्रवृषभनाराच नामका था ॥ २९ ॥ भगवानके शरीरमें वात पित्त कफ तीनों दोषोंसे उत्पन्न होनेवालीं व्याधियां बिलकुल नहीं थीं सो ठीक ही है वृक्षोंको हिलानेवाली वायुसे

तीपे जातुचित् । केवलं सुखसाद् भूतोमहीतल्पे महीयत ॥ ३१ ॥ तदस्य रुरुचे गात्रं परमौदारिकाह्वयं । महाभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां मूलकारणं ॥ ३२ ॥ मानोन्मानप्रमाणानामन्यूनाधिकतां श्रितं । संस्थानमाद्यमस्यासीच्चातुरस्रं समंततः ॥ ३३ ॥ यथास्य रूपसंपत्तिरतथा भोगैश्च पप्रथे । न हि कल्पांघ्रिपोद्भूतिरनाभरणभासुरा ॥ ३४ ॥ लक्षणानि बभुर्भर्तुर्देहमाश्रित्य निर्मलं । ज्योतिषामिव बिंबानि मेरोर्मणिमयं तटं ॥ ३५ ॥

क्या मेरु पर्वत भी कहीं हिल सकता है ? भावार्थ--भगवानका शरीर सर्वथा नीरोग था ॥ ३० ॥ दीर्घायु होनेपर भी उनके शरीरमें कभी बुढापा नहीं आता था न कभी उन्हें खेद ही होता था उनकी इच्छाका प्रतिबंध भी कभी नहीं होता था । वे केवल सुखमय होकर ही पृथ्वीरूपी शय्यापर सबके द्वारा पूज्य माने जाते थे ॥ ३१ ॥ भगवानका परमौदारिक शरीर महाभ्युदय अर्थात् निरंतर सुखसंपत्तिरूप मोक्षके प्राप्त होनेके उपायोंका मूलकारण था और इसलिये ही वह बहुत ही शोभायमान जान पडता था ॥ ३२ ॥ उसका संस्थान समचतुरस्रसंस्थान था अंग उपांगोंकी लंबाई चौडाई उंचाई आदि न तो कहीं कम थी और न कहीं अधिक थी भावार्थ-जिस अंग उपांगमें जितनी लंबाई चौडाई उंचाई होनी चाहिये वहां उतनी ही थी न्यूनाधिक नहीं थी इसलिये उनका वह शरीर बहुत ही मनोहर जान पडता था ॥ ३३ ॥ वास्तवमें भगवानकी जैसी रूपसंपत्ति थी वैसे ही भोगोपभोगकी अनेक सुखमय सामग्रियोंसे वह वृद्धिंगत हुई थी सो ठीक ही है क्योंकि कल्पवृक्षोंकी उत्पत्ति उनपर उत्पन्न होनेवाले आभरणोंके प्रकाश विना कभी नहीं होती है ॥ ३४ ॥ भगवानके निर्मल शरीरपर अनेक लक्षण ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सुमेरुपर्वतके रत्नमय तटभागपर सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिषियोंके बिंब ही हों ॥ ३५ ॥ अथवा अनेक आभरणोंसे देदीप्यमान भगवान वृषभदेव कल्पवृक्षके समान जान पडते थे और उनके शरीपर अनेक शुभलक्षण पुष्पोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ३६ ॥ उन लक्षणोंमेंसे पहिला

विभुः कल्पतरुच्छायां बभाराभरणोज्वलः । शुभानि लक्षणान्यस्मिन्कुसुमानीव रेजिरे ॥ ३६ ॥ तानि श्रीवृक्ष शंखाब्जस्वास्तिकांकुशतोरणं । प्रकीर्णकसितच्छत्रसिंहविष्टरकेतनं ॥ ३७ ॥ झषौ कुंभौ च कूर्मश्च चक्रमब्धिः सरोवरं । विमानभवने नागो नरनार्यौ मृगाधिपः ॥ ३८ । बाणबाणासने मेरुः सुरराट् सुरनिम्नगा । पुरं गोपुरमिंद्वर्कौ जात्यश्वस्तालवृंतकं ॥ ३९ ॥ वेणुर्वीणा मृदंगश्च स्रजौ पट्टांशुकापणौ । स्फुरंति कुंडलादीनि विचित्राभरणानि च ॥ ४० ॥ उद्यानं फलितं क्षेत्रं सुपक्वकलमांचितं । रत्नद्वीपश्च वज्रं च मही लक्ष्मीः सरस्वती ॥ ४१ ॥ सुरभिः सौरभेयश्च चूडारत्नं महानिधिः । कल्पवल्ली हिरण्यं च जंबूद्वीपश्च पक्षिराट् ॥ ४२ ॥ उडूनि तारकाः सौधं ग्रहाः सिद्धार्थपादपः । प्रातिहार्याण्य

लक्षण श्रीवृक्ष अर्थात् बेलका वृक्ष था अथवा वक्षःस्थलपर मणि विशेषका चिन्ह था । दूसरा शंख, तीसरा कमल, चौथा स्वास्तिक (सांथिया,) पांचवां अंकुश, छठा तोरण अथवा समवसरणका महाद्वार, सातवां चमर, आठवां सफेद छत्र, नौवां सिंहासन, दशवां ध्वजा, ग्यारहवां दो मछलियां, बारहवां दो कुंभ (घडे) तेरहवां कच्छप, चौदहवां चक्र, पंद्रहवां समुद्र, सोलहवां सरोवर, सत्रहवां विमान, अठारहवां भवन (नागेंद्रका भवन), उन्नीसवां हाथी, वीसवां मनुष्य इकीसवां स्त्री, बाईसवां सिंह, तेईसवां बाण, चौवीसवां धनुष, पच्चीसवां सुमेरुपर्वत, छब्बीसवां इंद्र, सत्ताईसवां गंगा, अठाईसवां नगर, उन्तीसवां नगरका द्वार, तीसवां चंद्रमा, इकतीसवां सूर्य, बत्तीसवां उत्तम घोडा, तेतीसवां ताडका पंखा, चौतीसवां बांस, पैंतीसवां वीणा छत्तीसवां मृदंग, सैंतीसवां दो मालायें, अडतीसवां रेशमी वस्त्र, उनतालीसवां दुकान, चालीसवां कुंडल आदि अनेकप्रकारके दैदीप्यमान आभरण, इकतालीसवां अनेक फलवाला बाग, ब्यालीसवां पके हुये कलमी चांवलोंका खेत, तेतालीसवां रत्नद्वीप, चवालीसवां वज्र, पैतालीसवां पृथ्वी, छयालीसवां लक्ष्मी, सैंतालीसवां सरस्वती, अडतालीसवां कामधेनु, उनंचासवां वृषभ, पचासवां चूडामणि रत्न, इक्यावनवां पद्मकाल आदि महानिधि, बावनवां कल्पलता, तिरेपनवां सुवर्ण, चौवनवां जंबूद्वीप पचपनवां गरुड, छप्पनवां नक्षत्र, सत्ताव-

हार्याणि मंगलान्दपराणि च ॥ ४३ ॥ लक्षणान्येवमादीनि विभोरष्टोत्तरं शतं । व्यंजनान्यपराण्यासन् शतानि नव संख्यया ॥ ४४ ॥ अभिरामं वपुर्भर्तु लक्षणैरेभिरूर्जितैः । ज्योतिर्भिरिव संछन्नं गगनप्रांगणं बभौ ॥ ४५ ॥ लक्षणानां च ध्रुवं किंचिदस्त्यंतर्लक्षणं शुभं । येन तैः श्रीपतेरंगं स्पष्टुं लब्धमकल्मषं ॥ ४६ ॥ लक्ष्मीर्निकामकठिने विरागस्य जगद्गुरोः । कथं कथमपि प्रापदवकाशं मनोगृहे ॥ ४७ ॥ सरस्वती प्रियास्यासीत्कीर्तिश्चाकल्पवर्तिनी । लक्ष्मीं तडिल्लतालोलां मंदप्रेम्णैव सोवहत् ॥ ४८ ॥ तदीयरूपलावण्ययौवनादिगुणोद्गमैः । आकृष्टा जनतानेत्रभृंगा

नवां तारे अट्ठावनवां राजभवन, उनसठवां ग्रह, साठवां सिद्धार्थवृक्ष (सफेदसरसोंका वृक्ष) इकसठवां आठ प्रातिहार्य और बासठवां मंगलद्रव्य । इसप्रकार ऊपर कहे हुये लक्षणोंको आदि लेकर भगवानके शरीरपर एकसौ आठ लक्षण थे तथा इनके सिवाय तिल आदि नौसै व्यंजन अर्थात् शुभ चिन्ह थे । इसतरह सब मिलाकर एकहजार आठ लक्षण थे ॥ ३७-३८-३९-४०-४१-४२-४३-४४ ॥ जिसप्रकार सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिर्मंडलसे व्याप्त हुआ आकाशरूपी आंगन बहुत सुंदर जान पडता है उसीप्रकार भगवानका सुंदर शरीर भी ऊपर कहे अनेक शुभ लक्षणोंसे बहुत ही सुशोभित जान पडता था ॥ ४५ ॥ उनलक्षणोंको भगवान वृषभदेवका निर्मल शरीर स्पर्श करनेको प्राप्त हुआ था इसलिये यह अवश्य मानना चाहिये कि उन लक्षणोंके भी अंतर्लक्षण कुछ शुभ अवश्य थे ॥ ४६ ॥ जगतगुरु भगवान वृषभदेव स्वयं वीतराग थे उनका मनरूपी गृह भी नितांत कठिन (लक्ष्मीके प्रवेश करनेके लिये) था । इसलिये भगवानके मनोरूपी घरमें निवास करनेकेलिये विचारी लक्ष्मीको बडी कठिनतासे स्थान मिला था ॥ ४७ ॥ उन भगवान वृषभदेवके दो प्रिया थीं एक तो सरस्वती देवी थी और दूसरी कल्पांतकालतक टिकनेवाली कीर्ति थी । चूंकि लक्ष्मी बिजलीके समान चंचल थी इसलिये उसपर भगवान बहुत थोडा प्रेम रखते थे (संसारमें भी चंचल स्त्रीपर कम प्रेम करते ही हैं) ॥ ४८ ॥ भगवानके रूप लावण्य यौवन आदि उत्तम २ गुणरूपी पुष्पोंसे खींचे

नान्यत्र रेमिरे ॥ ४९ ॥ नाभिराजोन्यदा दृष्ट्वा यौवनारंभमीशितुः । परिणाययितुं देवमिति चिंतां मनस्यधात् ॥ ५० ॥ देवोयमतिकांतांगः कास्य स्याच्चित्तहारिणी । सुंदरी मंदरागेस्मिन्प्रारंभो दुर्घटो ह्ययं ॥ ५१ ॥ अपि चास्य महानस्ति प्रारंभस्तीर्थवर्त्तने । सोतिवर्त्तीव गंधेभो नियमाद्वनविशद्वनं ॥ ५२ ॥ तथापि काललब्धिः स्याद्यावदस्य तपस्यतुं । तावत्कलत्रमुचितं चिंत्यं लोकानुरोधतः ॥ ५३ ॥ ततः पुण्यवती काचिदुचिताभिजना वधूः । कलहंसीव निष्पंकमस्याविशतु मानसं ॥ ५४ ॥ इति निश्चित्य लक्ष्मीवान्नाभिराजोतिसंभ्रमी । समांत्वमुपसृत्येदमवोचद्वदतां वरं

हुये लोगोंके नेत्ररूपी भ्रमर दूसरी जगह कहीं भी नहीं ठहरते थे॥ ४९ ॥ किसी एक दिन महाराज नाभिराज भगवानकी यौवन अवस्था देखकर अपने चित्तमें उनके विवाह करनेकी इसप्रकार चिंता करने लगे कि--॥ ५० ॥ भगवान वृषभदेवका शरीर बहुत ही मनोहर है इसलिये इनका चित्त हरण करनेवाली कौनसी सुंदरी श्रेष्ठ हो सकेगी। कदाचित इनका चित्त हरण करनेवाली सुंदरी स्त्री भी मिल सकती है परंतु इनके विषयाभिलाषा बहुत ही कम है इसलिये इनके विवाह करनेका यह विचार पूर्ण होना अत्यंत कठिन है ॥ ५१ ॥ इसके सिवाय इनकी तीर्थंकर पदवीका (धर्मरूपी तीर्थकी प्रवृत्ति करनेका) उद्योग भी बहुत बडा है। ये मदोन्मत्त हाथीके समान संपूर्ण परिग्रहोंको छोडकर अवश्य ही बनमें प्रवेश करेंगे अर्थात् अवश्य ही दीक्षा धारण करेंगे ॥ ५२ ॥ तथापि जबतक इनके तपश्चरण करनेकेलिये काललब्धि न हो तबतक लोकव्यवहारके अनुसार इनके सदृश किसी कन्याके साथ इनका विवाह करदेना योग्य ही है ॥ ५३ ॥ इसलिये जिसप्रकार मधुर भाषण करनेवाली हंसिनी कीचडरहित मानसरोवरमें प्रवेश करती है उसीप्रकार उत्तम वंशमें उत्पन्न होनेवाली कोई पुण्यवती स्त्री पापरहित भगवानके मनमें प्रवेश करो ॥ ५४ ॥ इसप्रकार निश्चयकर लक्ष्मीवान् महाराज नाभिराज भगवानके समीप पहुंचे और बडे आदरके साथ वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान वृषभदेवको मधुर वाणीसे नीचे लिखे हुये वाक्य

॥ ५५ ॥ देव किंचिद्विवक्ष्यामि सावधानमितः शृणु । त्वयोपकारो लोकस्य करणीयो जगत्पते ॥ ५६ ॥ हिरण्यगर्भस्त्वं धाता जगतां त्वं स्वभूरसि । निभमात्रं त्वदुत्पत्तौ पितृमन्या यतो वयं ॥ ५७ ॥ यथार्कस्य समुद्भूतौ निमित्तमुदयाचलः । स्वतस्तु भास्वानुद्याति तथैवास्मद्भवानपि॥५८॥ गर्भगेहे शुचौ मातुस्त्वं दिव्ये पद्मविष्टरे । निधाय स्वां परां शक्तिमुद्भूतो निष्कलोऽस्यतः ॥ ५९ ॥ गुरुर्बुवोऽहं तद्देव त्वामित्यभ्यर्थये विभुं । मतिं विधेहि लोकस्य सर्जनं प्रति संप्रति ॥ ६० ॥ त्वामादिपुरुषं दृष्ट्वा लोकोऽप्येवं प्रवर्त्ततां । महतां मार्गवर्तिन्यः प्रजाः सुप्रजसो ह्यमूः ॥ ६१ ॥

कहने लगे कि-॥ ५५ ॥ हे देव मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूं आप सावधानचित्त होकर सुनिये । हे जगत्पते (जगतके नायक) आपको कुछ संसारका उपकार भी करना चाहिये ॥ ५६ ॥ हे देव! लोक जिसे जगतका उत्पन्न करनेवाला ब्रह्मा मानते हैं वह आप ही हैं इसलिये आप स्वभू अर्थात् अपने आप उत्पन्न होनेवाले हैं आपके उत्पन्न होनेमें हम दोनों तो केवल नाम मात्रके माता पिता हैं ॥ ५७ ॥ जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेमें उदयाचल पर्वत केवल निमित्तमात्र है सूर्य तो स्वयं ही उदय हो जाता है उसीप्रकार आप भी स्वयं उत्पन्न हुये हैं आपकी उत्पत्तिमें हम दोनों केवल निमित्तमात्रके माता पिता हैं ॥ ५८ ॥ आप अपनी माताके पवित्र गर्भगृहमें दिव्य सिंहासनपर अपनी परम शक्ति स्थापन कर प्रगट हुये हो इसलिये आप वास्तवमें शरीररहित हैं ॥ ५९ ॥ हे देव जगतके गुरु आप हैं मैं तो केवल कहनेमात्रकेलिये आपका गुरु अर्थात् पिता हूं और इसलिये ही आपसे यह प्रार्थना करता हूं कि आप अब संसारका मार्ग चलानेमें भी अपनी बुद्धि लगावें ॥ ६० ॥ हे देव आप आदिपुरुष हैं आपको देखकर ही संसारके लोग आपके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करेंगे क्योंकि जिनके उत्तम संतति उत्पन्न होनेवाली है ऐसे ये लोग महापुरुषोंकी प्रवृत्तिके अनुसार ही चलते हैं॥६१॥ इसलिये हे विदांवर (ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ) आप! इस संसारमें किसी इष्ट कन्याके साथ विवाह करनेकी इच्छा कीजिये। आपके इसप्रकार करनेसे प्रजाकी संततिका विच्छेद

ततः कलत्रमत्रेष्टं परिणेतुं मनः कुरु। प्रजासंततिरेवं हि नोच्छेत्स्यति विदांवर ॥ ६२ ॥ प्रजासंतत्यविच्छेदे तनुते धर्मसंततिः । मनुष्व मानवं धर्मं ततो देवेनमच्युतं ॥ ६३ ॥ देवेमं गृहिणां धर्मं विद्धि दारपरिग्रहं । संतानरक्षणे यत्नः कार्यो हि गृहमेधिनां ॥ ६४ ॥ त्वया गुरुर्मतोयं चेज्जनः केनापि हेतुना । वचो नोलंघ्यमेवास्य नेष्टं हि गुरुलंघनं ॥ ६५ ॥ इत्युदीर्य गिरं धीरो व्यरंसीन्नाभिपार्थिवः । देवस्तु सस्मितं तस्य वचः प्रत्यैच्छदोमिति ॥ ६६ ॥ किमेतत्पितृदाक्षिण्यं किं प्रजानुग्रहैषिता । नियोगः कोपि वा तादृग्येनैच्छत्तादृशं वशी ॥ ६७ ॥ ततोस्यानुमतिं मत्वा विशंको नाभिभूपतिः । महद्विवाहकल्याणमकरोत्परया मुदा ॥ ६८ ॥ सुरेंद्रानुमतात्कन्ये सुशीले चारुलक्षणे । सत्यौ सुरुचिराकारे वरयामास नाभि-

---

नहीं हो सकैगा ॥६२॥ यदि प्रजाकी संततिका विच्छेद नहीं होगा तो धर्मपरंपराकी वृद्धि भी होती रहैगी। इसलिये हे देव मनुष्योंके इस अविनाशिक धर्म अर्थात् विवाहकार्यको स्वीकार कीजिये ॥६३ ॥ हे देव विवाह करना गृहस्थोंका एक धर्म है क्योंकि गृहस्थोंको अपनी संततिकी रक्षा करनेका प्रयत्न करना ही चाहिये ॥ ६४ ॥ यदि आप अनुग्रह करने आदि किसी भी कारणसे इस मनुष्यको अर्थात् मुझ नाभिराजाको गुरु मानते हैं तो फिर मेरा यह वाक्य भी उल्लंघन मत कीजिये क्योंकि गुरुके (बडोंके) वाक्योंका उलंघन करना कभी उचित नहीं होता ॥ ६५ ॥ धीरवीर महाराज नाभिराज इसप्रकार वचन कहकर चुप होगये। उस समय भगवान वृषभदेवने भी कुछ कुछ हंसते हुये 'ओं' शब्द कहा अर्थात् पिताका वचन स्वीकार किया ॥ ६६ ॥ भगवान वृषभदेव सर्वथा स्वतंत्र थे तथापि उन्होंने पूज्यपिताके वचन स्वीकार किये! यह कुछ तो पिताकी चतुरता थी कुछ उन्हें प्रजाके अनुग्रह करनेकी इच्छा थी अथवा पूर्वोपार्जित कर्मके उदयसे ऐसा कोई नियोग ही था जिससे भगवानको अपने विवाहके वाक्य भी स्वीकार करने पडे ॥ ६७ ॥ तदनंतर महाराज नाभिराज विवाह करनेमें भगवानकी संमति समझकर और इसलिये ही निःसंदेह होकर बडे हर्षके साथ विवाहका बडा भारी उत्सव करनेकेलिये तैयारी करने लगे ॥ ६८ ॥ महाराज नाभिराजने इंद्रकी

राट् ॥ ६९ ॥ तन्व्यौ कच्छमहाकच्छजाम्यौ सौम्ये पतिंवरे । यशस्वतीसुंनदाख्ये स एने पर्यणीनयत् ॥ ७० ॥ पुरुः पुरुगुणो देवः परिणेतेति संभ्रमात् । परं कल्याणमातेनुः सुराः प्रीतिपरायणाः ॥ ७१ ॥ पश्यन्पाणिगृहीत्यौ ते नाभिराजः सनाभिभिः । समं समतुषत्प्रायो लोकधर्मप्रियो जनः ॥ ७२ ॥ पुरुदेवस्य कल्याणे मरुदेवी तुतोष सा । दारकर्मणि पुत्राणां प्रीत्युत्कर्षो हि योषितां ॥ ७३ ॥ दिष्ट्या स्म वर्द्धते देवी पुत्रकल्याणसंपदा । कलयेंदोरिवांभोधिवेला कल्लोलमालिनी ॥ ७४ ॥ पुरोर्विवाहकल्याणे प्रीतिं भेजे जनोखिलः । स्वभोगतिनया भोक्तुर्भोगांल्लोको-

---

संमातिसे सुशील, अनेक शुभ लक्षण संयुक्त, सती, और बहुत ही सुंदर ऐसी दो कन्यायें भगवान वृषभदेवकेलिये याचना कीं ॥ ६९ ॥ ये दोनों ही कन्यायें कच्छ महाकच्छकी बहिने थीं बडी ही शांत और यौवनवती थीं यशस्वती और सुनंदा इनका नाम था । इन्हीं दोनों कन्याओंके साथ महाराज नाभिराजने भगवान वृषभदेवका विवाह करादिया था ॥ ७० ॥ अनेक गुणोंको धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवका विवाह होता है यह जानकर देवलोग भी भगवानके प्रेममें तल्लीन होकर बडे उत्साहके साथ अतिशय उत्तम मंगलोत्सव करने लगे ॥ ७१ ॥ महाराज नाभिराज अपने भाई बंधुओंके साथ भगवान वृषभदेवकी दोनों बहुओंको देखकर सबके साथ साथ बडे ही संतुष्ट हुये सो ठीक ही है संसारी लोगोंको प्रायः विवाह आदि लौकिक अभिलाषाओंके योग्य धर्म ही प्रिय होते हैं ॥ ७२ ॥ भगवान वृषभदेवके विवाहोत्सवमें मरुदेवी बहुत ही संतुष्ट हुई सो ठीक ही है पुत्रोंके विवाहोत्सवमें स्त्रियोंको अधिक संतोष होता ही है ॥ ७३ ॥ जिसप्रकार चंद्रमाकी कलासे जलकी बडी बडी तरंगोंवाली समुद्रकी बेला बढती है उसीप्रकार पूर्वकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाली पुत्रकी विवाहोत्सव संपत्तिसे माता मरुदेवीको भी बहुत ही आनंदकी वृद्धि हुई ॥ ७४ ॥ भगवानके विवाहोत्सवमें प्रजाके सब ही लोगोंको आनंद हुआ सो ठीक ही है लोग स्वयं भोगाभिलाषी थे और सब ही भगवानके मार्गके अनुसार चलनेवाले थे इसलिये स्वामीको भोगोपभोग स्वीकार करते देखकर

नुरुध्यते ॥ ७५ ॥ प्रमोदाय नृलोकस्य न परं स महोत्सवः । स्वर्लोकस्यापि संप्रीतिमतनोदतनीयसीं ॥ ७६ ॥ वरोरू चारुजंघे ते मृदुपादपयोरुहे । सुश्रेणिनाधरेणापि कायेनाजयतां जगत् ॥ ७७ ॥ वरारोहे तनूदर्यौ रोमराजिं तनीयसीं । अधत्तां कामगंधेभमदस्रुतिमिवाग्रिमां ॥ ७८ ॥ नाभिं कामरसस्यैककूपिकां बिभृतः स्म ते । रोमराजीलतामूल बद्धां पालीमिवाभितः ॥ ७९ ॥ स्तनाब्जकुड्मले दीर्घरोमराजीकनालके । ते पद्मिन्याविव

सबको स्वाभाविक आनंद होना ही चाहिये ॥ ७५ ॥ भगवानके उस [illegible] केवल मनुष्यलोकमें ही आनंद नहीं हुआ था किंतु स्वर्गलोकमें भी बहुत [illegible] गया था ॥ ७६ ॥ भगवान वृषभदेवकी उन दोनों महादेवियोंकी जंघा और ऊरु ([illegible] ऊपरी भाग) बडे ही सुंदर थे तथा उनके कोमल चरण कमलके समान मनोहर थे । वे दोनों ही देवियां अधर (नाभिके नीचले भाग) सुंदर कटि (कमर) संयुक्त अपने शरीरसे जगतको ही जीत रहीं थीं ॥ ७७ ॥ वे दोनों ही देवियां वडी ही उत्तम स्त्रियां थीं उनका उदर अत्यंत ही सूक्ष्म था उदरपर जो पतली रोमराजी थी वह ऐसी जान पडती थी मानों कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथीके मदके प्रवाहकी मुख्य धारा ही हो ॥ ७८ ॥ उनकी नाभि कामरसकी भरी हुई एक अद्वितीय बावडी थी अथवा यों कहना चाहिये कि रोमराजीरूपी लताके दोनों ओर बंधीहुई पाल ही थी ॥ ७९ ॥ जिसप्रकार कमलिनी (कमलकी बेल) मुकुलित कमलोंको धारण करती है उसीप्रकार वे दोनों महादेवियां भी स्तनरूपी मुकुलित कमलोंको धारण करतीं थीं क्योंकि जिसप्रकार कमलोंकी एक नाल होती है उसीप्रकार लंबी रोमराजी ही उन स्तनकमलोंकी एक नाल थी और जिसप्रकार कमलोंपर भ्रमर बैठते हैं उसीप्रकार उनके स्तनरूपी कमलोंपर भी काले चूचुकरूपी भ्रमर बैठे हुये थे ॥ ८० ॥ उनके गलेमें जो मुक्ताहार अर्थात मोतियोंके हार पडे हुये थे उन्हें देखकर तो यही कहना पडता था कि उन्होंने अवश्य ही अपने

वाधत्तां नीलचूचुकषट्पदे ॥ ८० ॥ मुक्ताहारेण तन्नूनं तपस्तेपे स्वनामजं । यतोवाप स तत्कंठकुचस्पर्शसुखामृतं ॥ ८१ ॥ एकावल्यास्तनोपांत-स्पर्शिन्या ते विरेजतुः । सख्येव कंठसंगिन्या स्वच्छया स्निग्धमुक्तया ॥ ८२ ॥ हारं नक्षत्रमालाख्यं ते स्तनांतरलंबिनं । दधतुः कुचसंस्पर्शाद्धसंतमिव रोचिषा ॥ ८३ ॥ मृदू भुजलते चार्व्यावधिपातां सुसंहते । नखांशुकुसुमोद्भेदैर्दधाने हसितश्रियं ॥ ८४ ॥ मुखेंदुरेनयोः कांतिमधान्मुग्धस्मि

नामका अर्थात् (मुक्त-आहार) आहारका त्याग वा अनशन अथवा उपवासरूप तपश्चरण किया था और इसलिये ही उन हारोंको उन दोनों महादेवियोंके कंठ और कुचके स्पर्शरूपी सुखामृतकी प्राप्ति हुई थी ? ॥ ८१ ॥ दोनोंके गलेमें जो एक एक लडीके हार पडे हुये थे उनसे वे दोनों देवियां ऐसी सुशोभित हो रहीं थीं मानों अपनी सखीके संबंधसे सुशोभित हो रहीं हों क्योंकि जिसप्रकार सखी स्तनके समीपवर्ती भागको स्पर्श करती है उसीप्रकार वह हारकी लडी भी स्तनके समीपवर्ती भागको स्पर्श करती थी, सखी जिसप्रकार कंठके समीप ही रहती है (बुलानेपर तुरंत आती है) उसीप्रकार वह हारकी लडी भी कंठमें ही लटक रही थी, सखी भी स्वच्छ (मायारहित) होती है उसीप्रकार वह हारकी लडी भी स्वच्छ अर्थात् निर्मल थी, और सखी जिसप्रकार स्निग्धमुक्ता अर्थात् पतिके द्वारा बडे प्रेमसे भेजी जाती है उसीप्रकार वह हारकी लडी भी स्निग्धमुक्ता अर्थात् चिकने सुंदर मोतियोंसे सुशोभित थी ॥ ८२ ॥ उन दोनों महादेवियोंके दोनों स्तनोंके मध्यभागमें लटकता हुआ नक्षत्रमाला नामका हार अर्थात् सत्ताईस मोतियोंका बना हुआ हार ऐसा अच्छा जान पडता था मानों कुचोंके स्पर्श करनेसे अपने प्रकाशके द्वारा हंस ही रहा हो ॥ ८३ ॥ कोमल, सुंदर और सुडौल ऐसी उनकी दोनों भुजारूपी लतायें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों हाथोंके नखोंकी किरणेंरूपी पुष्पोंके विकाससे हास्यकी शोभा ही धारण कर रही हों ॥ ८४ ॥ उन दोनों महादेवियोंके मुखरूपी चंद्रमा बहुत

तांशुभिः । ज्योत्स्नालक्ष्मीं समातन्वन् जगतां कांतदर्शनः ॥ ८५ ॥ कुदक्ष्मणी तयोर्नेत्रे रेजाते स्निग्धतारके । यथोत्पले समुत्फुल्ले केसरालग्नषट्पदे ॥ ८६ ॥ नामकर्मविनिर्माणरचिरे सुभ्रुवोर्भ्रुवौ । चापयष्टिरनंगस्य नानुयातुमलं तरां ॥ ८७ ॥ नीलोत्पलावतंसेन तत्कर्णौ दधतुः श्रियं । मिथः श्री त्सनवांछयायाति नयनाब्जयोः ॥ ८८ ॥ ते ललाटतटालंबानलकानूहतुर्भृशं । सुवर्णपट्टपर्यंतखचितेंद्रोपलत्विषः ॥ ८९ ॥ स्रस्तस्रक्कबरीबंधस्तयोरुत्प्रेक्षितो जनैः । कृष्णाहिरिव शुक्लाहिं निगीर्य पुनरुद्गिरन् ॥ ९० ॥ इति स्वभावमधुरामाकृतिं भूषणोज्वलां । दधाने दधतुर्लीलां कल्पवल्ल्योः

ही मनोहर जान पडते थे। अपने मंदहास्यकी किरणोंसे वे चांदनीकी शोभा बढा रहे थे और देखनेमें वे संसारको बडे ही सौम्य और मनोहर जान पडते थे॥ ८५॥ सुंदर विरूनी (पलकके बाल) और चिकनी ताराओंसहित उन दोनों महादेवियोंके नेत्र ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों जिनके परागपर भ्रमर वैठे हुये हैं ऐसे फूलेहुये कमल ही हों॥ ८६॥ नामकर्मके उदयसे यशस्वती और सुनंदाकी भौंहें ऐसी मनोहर बनी थीं कि कामदेवकी साक्षात् धनुषलता भी उनकी बराबरी नहीं करसकती थी॥ ८७॥ नीलकमलरूपी कर्णभूषणोंसे सुशोभित उन दोनों महादेवियोंके कान ऐसे जान पडते थे मानों नेत्ररूपी कमलोंके अतिशय विस्तारको परस्पर नापनेकी इच्छा ही कर रहे हों॥ ८८॥ उन दोनोंके ललाटके ऊपरी भागपर लटकती हुई श्याम अलकावली ऐसी सुशोभित होती थी मानों सुवर्णपट्टके किनारेपर जडेहुये इंद्रनीलमणिकी कांति ही हो॥ ८९ ॥ जिनपरकी पुष्पमालायें कुछ कुछ ढीली होकर नीचेकी ओर गिर रही हैं ऐसा उन दोनों महादेवियोंका पुष्पमालाओंसे गुथा हुआ केशपास ऐसा जान पडता था मानों कोई काला सर्प सफेद सर्पको निगलकर फिरसे बाहर निकाल रहा हो॥ ९०॥ इसप्रकारसे स्वभावसे ही सुंदर और आभूषणोंके निमित्तसे उज्ज्वल ऐसी कांतिको धारण करनेवाली वे दोनों ही महादेवियां देदीप्यमान कांति सहित कल्पलताके समान सुशोभित होती थीं। क्योंकि कल्पलता भी आभूषणोंसे

स्फुरत्त्विषो: ॥ ९१ ॥ दृष्ट्वैनयोरदो रूपं जनानां मतिरित्यभूत् । एताभ्यां निर्जिताः सत्यं स्त्रियंमन्याः सुरस्त्रियः ॥ ९२ ॥ स ताभ्यां कीर्तिलक्ष्मीभ्यामिव रेजे वरोत्तमः । ते च तेन महानद्यौ वार्द्धिनेव समेयतुः ॥ ९३ ॥ सरूपे सद्युती कांते ते मनो जन्हतुर्विभोः । मनोभुव इवाशेषं जिगीषोर्वैजयंतिके ॥ ९४ ॥ तयोरपि मनस्तेन रंजितं भुवनेशिना । हारयष्ट्योरिवारक्तमणिना मध्यमुद्रुचा ॥ ९५ ॥ बहुशो भग्नमानोऽपि यत्पुरास्य मनोभवः । चचार गूढसंचारं कारणं तत्र चिंत्यतां ॥ ९६ ॥ नूनमेनं प्रकाशात्मा व्यहुं हृदिशयोऽक्षमः । अनंगतां तदा भेजे सोपाया हि जिगीषवः

उज्ज्वल तथा स्वभावसे ही सुंदर होती है और वे महादेवियां भी आभरणोंसे उज्ज्वल और स्वाभाविक सुंदरी थीं॥ ९१ ॥ इन दोनोंका यह अद्भुत रूप देखकर लोग यही कहते थे कि अवश्यही इन दोनोंने केवल अपनेको ही स्त्री माननेवालीं ऐसी देवांगनाओंको भी जीत लिया है ॥ ९२ ॥ समस्त वरोंमें उत्तम ऐसे श्रीवृषभदेव कीर्ति और लक्ष्मीके समान उन दोनों स्त्रियोंसे बहुत ही सुशोभित होते थे और श्रीवृषभदेवसे उन दोनों स्त्रियोंका ऐसा समागम हुआ था जैसे महानदियोंका समुद्रके साथ समागम होता है ॥ ९३ ॥ वे दोनों ही महादेवियां बडी रूपवती थीं कांतियुक्त और मनोहर थीं संपूर्ण जगतको जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवकी पताकाके समान थीं और इसलिये ही वे दोनों भगवान वृषभदेवका मन हरण करती थीं ॥९४॥ जिसप्रकार मध्यभागमें पिरोया हुआ उत्तम कांतियुक्त पद्मरागमणिसे हारकी दोनों ओरकी लडियां अनुरक्त हो जाती हैं उसीप्रकार तीनों जगतके स्वामी भगवान वृषभदेवसे भी उन दोनों महादेवियोंका चित्त अनुरक्त रहता था ॥ ९५ ॥ यद्यपि कामदेव भगवान वृषभदेवके सामने अनेकबार भग्न होकर भाग चुका था तथापि वह गुप्त रीतिसे अपनी चेष्टायें करता ही था इसका कारण पाठकोंको स्वयं विचार लेना चाहिये। भावार्थ–इन दोनों महादेवियोंकी सुंदरता ही इसका कारण था ॥ ९६ ॥ अवश्य ही कामदेव प्रकाशरूपसे भगवान वृषभदेवको कुछ बाधा नहीं दे सकता था इसलिये

॥ ९७ ॥ अनंगदेहेन वा नूनमेनयोः प्राविशन्नसुः । दुर्गाश्रित इवानंगो विजिगीषुः स्वशक्तिः ॥ ९८॥ आभ्यामिति समं भोगान्भुंजानस्य जगद्गुरोः कालो महानगादेकक्षणवत्सततोत्सवैः ॥ ९९ ॥ अथान्यदा महादेवी सौधे सुप्ता यशस्वती । स्वप्ने पश्यन्महीं ग्रस्तां मेरुं सूर्यं च सोडुपं ॥ १०० ॥ सरः सहंसमब्धिं च चलवीचिकमैक्षत । स्वप्नांते च व्यबुद्धासौ पठन्मागधनिःस्वनैः ॥ १०१ ॥ त्वं बिबुध्यस्व कल्याणि कल्याणशतभागिनि । प्रबोधसमयोयं ते सहाब्जिन्या धृतश्रियः ॥ १०२ ॥ मुदे तवांब भूयासुरिमे स्वप्नाः शुभावहाः । महीमेरूदधीन्द्वर्कसरोवरपुरःसराः ॥ १०३ ॥ ननः

वह शरीररहित अदृश्य होगया था सो ठीक ही है जो किसीको जीतना चाहते हैं वे कोई न कोई उपाय करते ही हैं ॥९७॥ अथवा कामदेव स्वयं शरीररहित होकर सहज रीतिसे यशस्वती और सुनंदाके शरीरमें प्रवेश कर गया था और किलेके समान इन दोनोंके शरीरमें बैठकर अपने बाणोंके द्वारा वह इन श्रीवृषभदेवको घायल करता था ॥ ९८ ॥ इस प्रकार इन दोनों महादेवियोंके साथ साथ भोगोपभोगोंका सेवन करते हुये तीनों जगतके गुरु भगवान आदिदेवका बडा लंबा समय भी प्रतिदिन होनेवाले उत्सवोंके द्वारा एक क्षणके समान व्यतीत होगया था ॥ ९९ ॥

अथानंतर–किसी एकदिन यशस्वती महादेवी राजमहलमें सो रही थी उसदिन उसने चार स्वप्न देखे। पहले स्वप्नमें देखा कि मेरु पर्वत समस्त पृथ्वीको निगल रहा है, दूसरे स्वप्नमें सूर्य चंद्रमा सहित मेरुको देखा, तीसरे स्वप्नमें हंससहित सरोवर देखा और चौथे स्वप्नमें चंचल लहरों सहित समुद्र देखा। इसप्रकार स्वप्न देखनेके अनंतर मंगलपाठ पढते हुये वंदीजनोंके शब्द सुनकर वह जग पडी ॥ १००-१०१ ॥ उस समय बंदीजन जो मंगलपाठ पढ रहे थे वह यह था कि हे कल्याण करनेवाली और सैकडों कल्याणोंका अनुभव करनेवाली यशस्वती देवी अब तू जाग क्योंकि तू कमलिनीके साथ साथ सुशोभित होने वाली है इसलिये तेरा यह जगनेका ही समय है ॥ १०२ ॥ हे मातः पृथ्वी मेरु समुद्र सूर्य चंद्रमा और सरोवर आदिक जो अनेक मंगल करने-

सरोवरेऽन्विष्य चिरं तिमिरशैवलं । खेदादिवाधुनाभ्येति शशिहंसोस्तपादपं ॥ १०४ ॥ ज्योत्स्नांभासि चिरं तीर्त्वा ताराहंस्यो नभोऽह्रदे । नूनं विलेतुमस्ताद्रेः शिखराण्याश्रयंत्यमूः ॥ १०५ ॥ निद्राकषायितैर्नेत्रैः कोकीनां सेर्ष्यमीक्षितः । तद्दृष्टिदूषितात्मेव विधुर्विच्छायतां गतः ॥ १०६ ॥ प्रयाति यामिनी यामानिवान्वेतुं पुरोगतान् । ज्योत्स्नांशुकेन संवेष्ट्य तारासर्वस्वमात्मनः ॥ १०७ ॥ इतोस्तमेति शीतांशुरितो भास्वानुदीयते । संसारस्येव वैचित्र्यमुपदेष्टुं समुद्यतौ ॥ १०८ ॥ तारका गगनांभोधौ मुक्ताफलनिभश्रियः । अरुणौर्वानलेनेमा विलीयंते गतत्विषः ॥ १०९ ॥ सारितां सैकतादेष

वाले स्वप्न देखे हैं वे आपके लिये आनंद देनेवाले हों ॥ १०३ ॥ हे देवि ! देख यह चंद्रमारूपी हंस बहुत देरसे आकाशरूपी सरोवरमें घूम रहा था परंतु वहां इसे केवल अंधकार रूपी शैवाल ही (पानी पर जमने वाली घास) प्राप्त हुआ इसलिये अब वह मानों खेदखिन्न होकर अस्ताचलरूपी वृक्षका सहारा ले रहा है अर्थात् चंद्रमा अब अस्त हो रहा है ॥ १०४ ॥ ये तारा रूपी हंसनियां भी आकाश रूपी गहरे सरोवरके चांदनी रूपी जलमें बहुत देरतक तैर कर अब मानों निवास करनेके लिये ही अस्ताचलपर्वतके शिखरका आश्रय ले रही हैं। भावार्थ-अब तारे भी अस्त होना चाहते हैं ॥ १०५ ॥ हे देवि यह चंद्रमा सर्वथा कांतिरहित हो गया है ऐसा मालूम पडता है मानों रात्रिमें चकवियोंने निद्राके कारण आलस भरे हुये नेत्रोंसे बडी ईर्षाके साथ इसे देखा है इसलिये उनकी दृष्टिके दोषसे ही यह कांतिरहित होगया है। (रात्रिमें चकवा चकवियोंका वियोग हो जाता है इसलिये ही उन्होंने इसे ईर्षाके साथ देखा है। क्योंकि यह चंद्रमा ही रात्रि करनेवाला है) ॥ १०६ ॥ हे देवि । अब यह रात्रि भी भागी जा रही है मानों नक्षत्र रूपी अपने धनको चांदनीरूपी वस्त्रमें लपेटकर पहले बीते हुये प्रहरोंको (समयको) ढूंढनेके लिये ही भागी जा रही हो ॥ १०७ ॥ हे देवि ! देख इधर पश्चिममें यह चंद्रमा अस्त हो रहा है और इधर पूर्वमें यह सूर्य उदय हो रहा है। ऐसा जान पडता है मानों ये दोनों संसारकी विचित्रताका उपदेश देनेकेलिये ही तैयार हुये हों ॥ १०८ ॥ हे देवि देख आकाशरूपी समुद्रमें मो-

चक्रवाको रुदन्रुवन् । अन्विच्छति निजां कांतां निशाविरहविक्लवः ॥ ११० ॥ अयं हंसयुवा हंस्या सुषुप्सति समं साति । मृणालशकलेनांगं कंडूयंश्चं-चुलंबिना ॥ १११ ॥ अब्जिनीयमितो धत्ते विकसत्पंकजाननं । इतश्च म्लानिमासाद्य नम्रास्येयं कुमुद्वती ॥ ११२ ॥ सरसां पुलिनेष्वेताः कुरर्यः कुर्वते रुतं । युष्मन्नूपुरसंवादि तारं मधुरमेव च ॥ ११३ ॥ स्वनीडादुत्पतंत्यच कृतकोलाहलस्वनाः । प्रभातमंगलानीव पठंतोमी शकुंतयः ॥११४॥ अप्राप्तस्त्रैणसंस्काराः परिक्षीणदशा इमे । कांचुकीयैः समं दीपा यांति कालेन मंदतां ॥ ११५ ॥ इतो निजगृहे देवि त्वन्मंगलविधित्सया । कुब्जवा-

---

तियोंकी शोभा धारण करनेवाले ये तारे सूर्य रूपी बडवानल आमिसे कांतिरहित होकर नष्ट हो रहे हैं । ॥ १०९ ॥ चकवीके वियोगसे रात्रिभर व्याकुल हुआ यह चकवा नदियोंके बालूके बनेहुये किनारोंपर ही रो रहा है और रोता रोता ही अपनी प्यारी चकवीको ढूंढ रहा है ॥ ११० ॥ हे साति ! देख यह जवान हंस अपनी चोंचमें कमलनालका टुकडा लेकर उससे अपना शरीर खुजलाता हुआ अपनी हंसिनीके साथ सोना चाहता है ॥ १११ ॥ हे देवि ! देख इधर यह कमलिनी (कमलकी बेल) प्रफुल्लित हुये अपने मुखरूपी कमलको ऊंचा कर रही है और इधर यह कुमोदनी (रात्रिमें खिलनेवाले पुष्पोंकी बेल) मुरझाकर अपना मुख नीचा कर रही है ॥ ११२ ॥ सरोवरोंके किनारोंपर ये कुरर जातिके पक्षियोंकी स्त्रियां आपके नूपुरके (बिछुओंके) शब्दोंके समान बहुत ही मधुर शब्द कर रही हैं ॥ ११३ ॥ देखो ये पक्षीगण आज मानों प्रातःकालका मंगलपाठ पढते हुये ही कल कल शब्द करते हुये अपने अपने घोंसलोंसे निकलकर उड रहे हैं ॥ ११४ ॥ प्रातःकालका समय पाकर ये दीपक भी कंचुकियोंके (स्त्रियोंके पहरोंपर जो नपुंसक हिजडे रहते हैं वे कंचुकी वा खोजा कहलाते हैं) साथ साथ ही मंद पड गये हैं सो ठीक ही है क्योंकि प्रातःकालके समय दीपकोंकी ज्योति भी मंद पड जाती है और कंचुकियोंका आदर भी कम हो जाता है क्योंकि प्रायः रात्रिमें ही कंचुकियोंका आदर होता है और दीपकका भी स्त्रीलिंग नहीं होता है और कंचुकियोंके भी कुच केश आदि स्त्रियोंके संस्कार नहीं होते हैं ॥ ११५ ॥

मनिकाप्राय: परिवार: प्रतीच्छति ॥ ११६ ॥ विमुंच शयनं तस्मान्नदीपुलिनसन्निभं । हंसीव राजहंसस्य वल्लभा मानसाश्रया ॥ ११७ ॥ इत्युच्चैर्वंदिवृंदेषु पठत्सु समयोचितं । प्राबोधिकानकध्वानैस्सा विनिद्राभवच्छनैः ॥ ११८ ॥ विमुक्तशयना चैषा कृतमंगलमज्जना । प्रष्टुकामा स्वदृष्टानां स्वप्नानां तत्त्वत: फलं ॥ ११९ ॥ प्रीतिकंटकिता भेजे पद्मिनीवार्कमुद्युचं । प्राणनाथं जगत्प्राणिस्वांतध्वांतनुदं विभुं ॥ १२० ॥ तमुपेत्य सुखासीना स्वोचिते भद्रविष्टरे । लक्ष्मीरिव रुचिं भेजे भर्तुरभ्यर्णवर्तिनी ॥ १२१ ॥ सा पत्यै स्वप्नमालां तां यथादृष्टं न्यवेदयत् । दिव्यचक्षुरसौ देवस्तत्फलानी-

---

हे देवि ! इधर आपके घरमें आपका मंगलाचार करनेकी इच्छासे यह आपका परिवार प्रायः कुब्ज और वामन (बौना) के समान नम्र होता हुआ आपकी बाट देख रहा है ॥ ११६ ॥ इसलिये प्रातःकालके समय जिसप्रकार मानस सरोवरपर निवास करनेवाली राजहंसकी प्रिय वल्लभा राजहंसी नदियोंका किनारा छोडदेती है उसीप्रकार भगवान वृषभदेवके मनमें निवास करनेवाली और उनकी प्रिय वल्लभा ऐसी तू भी अपनी शय्या छोड़ ॥ ११७ ॥ इसप्रकार जिससमय अनेक बंदीजन उस प्रातःकालके समयके योग्य मंगलपाठ पढ रहे थे उससमय जगानेवाले नगाडोंके शब्द सुनकर वह यशस्वती महादेवी धीरे धीरे जगी ॥ ११८ ॥ और शय्याको त्यागकर तथा प्रातःकालका मंगलस्नानकर प्रेमसे रोमांचित शरीर होकर अपने देखे हुये स्वप्नोंका यथार्थ फल पूछनेकेलिये संसारी जीवोंके अंतःकरणके अंधकारको दूर करनेवाले, अतिशय दैदीप्यमान और सबके स्वामी ऐसे अपने प्राणनाथ श्रीवृषभदेवके समीप इसप्रकार पहुंची जैसे कमलिनी अंधकार दूर करनेवाले दैदीप्यमान सूर्यके सन्मुख होती है ॥ ११९-१२० ॥ भगवानके समीप पहुंचकर वह महादेवी अपने योग्य सिंहासनपर सुख पूर्वक बैठ गई । उस समय पतिके समीप बैठी हुई वह ऐसी सुशोभित होती थी मानों साक्षात् लक्ष्मी ही हो ॥ १२१ ॥ तदनंतर उसने भगवानसे रात्रिमें देखे हुये सब स्वप्न कहे, भगवान वृषभदेव भी अवधिज्ञानसे उन स्वप्नोंका फल इस प्रकार कहने लगे कि ॥ १२२ ॥ हे देवि ! स्वप्नमें जो तूने सुमेरुपर्वत देखा है उसका फल यही है कि

त्यभाषत ॥ १२२ ॥ त्वं देवि पुत्रमाप्तासि गिरींद्राच्चक्रवर्तिनं । तस्य प्रतापितामर्क्कः शास्तींदुः कांतिसंपदं ॥ १२३ ॥ सरोजाक्षि सरोदृष्टेरसौ पंकजवासिनीं । वोढा व्यूढोरसा पुण्यलक्षणांकितविग्रहः ॥ १२४ ॥ महीग्रसनतः कृत्स्नां महीं सागरवाससं । प्रतिपालयिता देवि विश्वराट् तव पुत्रकः ॥ १२५ ॥ सागराच्चरमांगोसौ तरिता जन्मसागरं । ज्यायान्पुत्रशतस्यायमिक्ष्वाकुकुलनंदनः ॥ १२६ ॥ इति श्रुत्वा वचो भर्त्तुः सा तदा प्रमदोदयात् । ववृधे जलधेर्वेला यथेंदौ समुदेष्यति ॥ १२७ ॥ ततः सर्वार्थसिद्धिस्थो योऽसौ व्याघ्रचरः सुरः । सुबाहुरहमिंद्रोऽतश्चुत्वा तद्गर्भे

तेरे चक्रवर्ती पुत्र होगा, सूर्यके देखनेसे वह प्रतापी होगा और चंद्रमाके देखनेसे वह कांतिमान् होगा ॥ १२३ ॥ हे कमलनयने सरोवर देखनेका यह फल है कि अपने शरीरपर मत्स्य आदि अनेक पुण्यरूप लक्षणोंको धारण करनेवाला वह तेरा पुत्र अपने विशाल वक्षःस्थलपर लक्ष्मीको धारण करेगा ॥ १२४ ॥ हे देवि ! स्वप्नमें जो मेरुके द्वारा पृथ्वीका निगलना देखा है उसका यह फल है कि छहों खंड पृथ्वीका स्वामी चक्रवर्ती वह तेरा पुत्र समुद्ररूपी वस्त्रोंको पहने हुये इस समस्त पृथ्वीका पालन करनेवाला होगा ॥ १२५ ॥ हे देवि ! सप्नमें जो समुद्र देखा है उसका फल यह है कि वह चरमशरीरी होगा, जन्ममरणरूप संसारसागरका पारगामी होगा अर्थात् उसी शरीरसे मुक्त होगा और इक्ष्वाकु कुलको आनंद देनेवाला वह तेरे सौ पुत्रोंमें सबसे बडा होगा ॥ १२६ ॥ इस प्रकार अपने प्राणनाथके वाक्य सुनकर आनंदके कारण उस समय वह यशस्वती देवी ऐसी वृद्धिंगत हुई थी जैसे चंद्रमाके उदय होनेसे समुद्रकी बेला बढती है ॥ १२७ ॥

अथानंतर–राजा अतिगृद्धका जो जीव तीसरे नरकसे निकल व्याघ्र हुआ था और फिर देव, वज्रजंघका महामतिमंत्री, ग्रैवेयक विमानमें अहमिंद्र और वज्रनाभिका भाई सुबाहु होकर सर्वार्थसिद्धि विमानमें अहमिंद्र हुआ था वह वहांसे चयकर यशस्वती देवीके गर्भमें आकर निवास करने लगा ॥१२८॥ उस यशस्वती देवीने भगवान वृषभदेवकी स्वाभाविक सामर्थ्यसे गर्भ धारण किया तथा उस तेजस्वी

मावसत् ॥ १२८ ॥ सा गर्भमवहद्देवी देवाद्दिव्यानुभावजं । येन नासहतार्कं च समाक्रामंतमंबरे ॥ १२९ ॥ सापश्यत्स्वमुखच्छायां वीरसूरसिदर्पणे । तत्र प्रातिपिकीं स्वां च छायां नासोढ मानिनी ॥१३०॥ अंतर्पन्नीमपश्यत्तां पतिरुत्सुकया दृशा । जलगर्भामिवांभोदमालां काले शिखावलः ॥१३१॥ रत्नगर्भेव सा भूमिः फलगर्भेव वल्लरी । तेजोगर्भेव दिक्प्राची नितरां रुचिमानसे ॥ १३२ ॥ सा मंदं गमनं भेजे मणिकुट्टिमभूमिषु । हंसीव नूपुरोदारशिंजानैर्मंजुभाषिणी ॥ १३३ ॥ सावष्टंभपदन्यासैर्मुद्रयंतीव सा धरां । स्वभुक्त्यै मंथरं यातं मणिकुट्टिमभूमिषु ॥ १३४ ॥ उदरेस्या वलीभंगो नाद-

---

गर्भके निमित्तसे वह अपने ऊपर होकर आकाश मार्गसे गमन करनेवाले सूर्यको भी सहन नहीं करती थी ॥ १२९ ॥ वीर पुत्रको उत्पन्न करनेवाली वह देवी अपने मुखकी शोभा तलवाररूपी दर्पणमें देखती थी और अतिशय मान करनेवाली वह उस तलवारमें पडती हुई अपनी प्रतिकूल छायाको भी नहीं देख सकती थी ॥ १३० ॥ जिसप्रकार मयूर वर्षाऋतुके समय जलसे भरे हुये बादलोंको बडी उत्कंठित दृष्टिसे देखते हैं उसी प्रकार भगवान वृषभवदेव भी उस गर्भवती यशस्वतीदेवीको बडी उत्कंठित दृष्टिसे देखते थे ॥ १३१ ॥ जिसके गर्भमें रत्न भरे हुये हैं ऐसी पृथवीके समान अथवा जिसके गर्भमें फल भरे हुये हैं ऐसी बेलके समान अथवा जिसके गर्भमें तेज भरा हुआ है ऐसी पूर्व दिशाके समान वह अपने गर्भमें तेजस्वी पुत्रको धारण करनेवाली यशस्वती देवी बडी ही दैदीप्यमान हो रही थी ॥ १३२ ॥ जिस प्रकार मधुर शब्द करनेवाली हंसिनी धीरे धीरे गमन करती है उसी प्रकार रत्नखचित भूमिपर नूपुरोंके उदार शब्दोंसे मधुर शब्द करती हुई वह गर्भवती यशस्वती देवी बहुत धीरे धीरे गमन करती थी ॥ १३३ ॥ रत्नखचित भूमिपर स्थिरतासे पैर रखकर वह धीरे २ गमन करती थी और उस समय वह ऐसी जान पडती थी मानों यह पृथवी केवल हमारे ही भोगके लिये है यही समझकर वह पृथ्वीपर मुहर ही लगा रहीं हो ॥ १३४ ॥ उसके उदरपर गर्भवती होनेसे पहले जैसी त्रिवलियां दिखाई पडती थीं वैसी अब गर्भवती होनेपर दिखाई नहीं पडती थीं और त्रिवली भंग न होना अर्थात् उन त्रिवलियोंका

श्यत यथा पुरा । अभंगं तत्सुतस्यैव दिग्जयं सूचयन्नसौ ॥ १३५ ॥ नीलिमा तत्कुचापाग्रमास्पृशद्गर्भसंभवे । गर्भस्थोऽस्याः सुतोऽन्येषां निर्दहेन्नूनमुन्नतिं ॥ १३६ ॥ दौहृदं परमोदात्तमाहारे मंदिमा रुचे. सालस गतमायासीत्स्रस्तांगं शयनं भुवि ॥ १३७ ॥ मुखमापांडु गंडांतं वीक्षितं सालसेक्षणं । आपाटलाधरं वक्त्रं मृत्स्नासुरभि गंधि च ॥ १३८ ॥ इत्यस्या गर्भचिह्नानि मनः पत्युररंजयन् । ववृधे च शनैर्गर्भो द्विपच्छक्तीररं जयन् ॥ १३९ ॥ नवमासेष्वतीतेषु तदा सा सुषुवे सुतं । प्राचीवार्कं स्फुरत्तेजःपरिवेषं महोदयं ॥ १४० ॥ शुभे दिने शुभे लग्ने योगेंदुभपुराह्वये । सा प्रासौष्ट सुता-

---

नहीं पडना यही सूचित करता था कि उसका पुत्र अभंग (जिसका कहीं भंग न हो) दिग्विजय प्राप्त करेगा ॥ १३५ ॥ गर्भ धारण करनेपर उसके कुचोंका अग्रभाग सर्वथा काला हो गया था और वह यही सूचित करता था कि इस यशस्वती देवीके गर्भका बालक अवश्य ही शत्रुओंकी उन्नतिको जला (नष्ट कर) देगा ॥ १३६ ॥ उस समय उस यशस्वतीदेवीके जो परम सुंदर दोहद (दोहले-गर्भचिन्ह) हुये थे वे ये थे कि आहारकी रुचि मंद हो गई थी, पृथवीपर बडे आलसके साथ गमन करती थी, शरीरको शिथिल कर पृथ्वीपर सोती थी, मुख कपोलोंतक कुछ कुछ सफेद पड गया था, आलसभरे नेत्रोंसे देखती थी, मुखपरके अधर कुछ सफेद और कुछ लाल हो गये थे तथा मुखमें मिट्टीकी सुगंध आती थी ॥ १३७-१३८ ॥ इसप्रकार उसके गर्भके सब चिन्ह भगवान वृषभदेवके मनको प्रसन्न करते थे और शत्रुओंकी शक्तिको बहुत शीघ्र विजय करता हुआ वह गर्भ धीरे धीरे बढता जाता था ॥ १३९ ॥ जिसका उदय बहुत विस्तृत है और जिसका परिमंडल देदीप्यमान तेजसे परिपूर्ण हो रहा है ऐसा सूर्य जिसप्रकार पूर्व दिशासे उदय होता है उसी प्रकार गर्भके नौ महीने बीतजानेपर उस यशस्वती देवीसे अतिशय तेजस्वी और महोदय सहित पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १४० ॥ श्रीवृषभदेवके जन्म समयमें जो दिन लग्न नक्षत्र योग राशि आदि शुभ पडे थे वे ही दिन नक्षत्रादिक उस समय पडे थे अर्थात् ब्रह्मयोग, धन राशिका चंद्रमा, उत्तराषाढ नक्षत्र, मीन लग्न, चैत्र कृष्णा नवमीका दिन था, उस दिन जिसके शरीरपर सम्राटके शुभ लक्षण प्र-

ग्रण्यं स्फुरत्साम्राज्यलक्षणं ॥ १४१ ॥ आश्लिष्य पृथिवीं दोर्भ्यां यदसावुदपद्यत । ततोऽस्य सार्वभौमत्वं जगुर्नैमित्तिकास्तदा ॥ १४२ ॥ सुतेंदुनाति-सौम्येन व्यद्युतच्छर्वरीव सा । बालार्केण पितुश्चासीद्दिवसस्येव दीप्तता ॥ १४३ ॥ पितामहौ च तस्यामू प्रमोदं परमीयतुः । यथा सवेलो जलधिरुदये शशिनः शिशोः ॥ १४४ ॥ तां तदा वर्धयामासुः पुण्याशीर्भिः पुरंध्रिकाः । सुखं प्रसूष्व पुत्राणां शतमित्यधिकोत्सवाः ॥ १४५ ॥ तदानंदमहाभेर्यः प्रहताः कोणकोटिभिः । दध्वनुर्ध्वनदंभोदगभीरं नृपमंदिरे ॥ १४६ ॥ तुटीपटहझल्लर्यः पणवास्तुणवास्तदा । सशंखकाहलास्ताला: प्रमदादिव सस्व-

---

गट सुशोभित हो रहे हैं ऐसा वह प्रथम पुत्र श्रीयशस्वती देवीके उत्पन्न हुआ ॥ १४१ ॥ वह पुत्र अपनी दोनों भुजाओंसे पृथिवीको आलिंगन करता हुआ उत्पन्न हुआ था इसलिये ज्योतिषियोंने इसी निमित्त को देखकर उस समय कहा था कि यह पुत्र संपूर्ण पृथिवीका सार्वभौम सम्राट् होगा ॥ १४२ ॥ वह पुत्र चंद्रमाके समान सौम्य अर्थात् सुंदर था इसलिये उसके निमित्तसे उसकी माता यशस्वती देवी उस समय रात्रिके समान सुशोभित हो रही थी और वह पुत्र उदय होते हुये सूर्यके समान प्रतापी था इसलिये उसी के निमित्तसे उसके पिता श्रीवृषभ भगवान दिवसके समान दैदीप्यमान होते थे ॥ १४३ ॥ जिस प्रकार चंद्रमाके उदय होनेसे समुद्रकी लहरें बढती हैं उसी प्रकार उस पुत्रके उत्पन्न होनेसे उसके दादा और दादी अर्थात् महाराज नाभिराज और माता मरुदेवी भी बहुत प्रसन्न हुइ ॥ १४४ ॥ उस समय पुत्रवती और सौभाग्यवती स्त्रियां अनेक पुण्यरूप आशीर्वाद देकर यशस्वतीदेवीको बढा रहीं थीं और कह रहीं थीं कि हे देवि तू सुखपूर्वक बडे बडे उत्सवोंके साथ सौ पुत्र उत्पन्न कर ॥ १४५ ॥ उस समय राज-मंदिरमें करोडों दंडोंसे ताड़ित हुये आनंदके नगाडे गरजते हुये बादलोंके समान गंभीर शब्दोंसे बज रहे थे ॥ १४६ ॥ तुरई, ढोल, झल्लरी, सहनाई, सितार, शंख काहल (भेरी अथवा करताल) और ताल आदि अनेक बाजे बडे आनंदसे बजते थे ॥ १४७ ॥ उस समय सुगंधित, प्रफुल्लित, उडते हुये भ्रमरोंसे सुशोभित और देवोंके हाथसे छूटकर पडता हुआ पुष्पोंका समूह आकाशसे बरस रहा था ॥ १४८ ॥ कल्पवृ-

नुः ॥ १४७ ॥ तदा सुरभिरम्लानिरपतत्कुसुमोत्करः । दिवो देवकरोन्मुक्तो भ्रमद्भ्रमरसेवितः ॥ १४८ ॥ मृदुमंदममंदेन मंदाररजसा ततः । ववाववावा रजसामपच्छटाशिशिरो मरुत् ॥ १४९ ॥ जयेत्यमानुषी वाक्च जजृंभे पथि वार्मुचां । जीवेति दिक्षु दिव्यानां वाचः पप्रथिरे भृशं ॥१५०॥ वर्द्धमानलयैर्नृत्तमारप्सत जिताप्सरः । नर्तक्यः सुरनर्त्तक्यो यकाभिर्हेलया जिताः ॥ १५१ ॥ पुरवीध्यस्तदा रेजुश्चंदनांभश्छटोक्षिताः । कृताभिरुपशोभाभिः प्रहसंत्यो दिवः श्रियं ॥ १५२ ॥ रत्नतोरणविन्यासाः पुरे रेजुर्गृहेगृहे । इंद्रचापतडिद्वल्लीलालितं दधतोंबरे ॥ १५३ ॥ कृतरंगावलौ रत्नचूर्णैर्भूमौ

की परागसे भराहुआ, धूलिको सर्वथा दूर करनेवाला और पानीके कणोंसे शीतल हुआ ऐसा प्रचुर वायु धीरे धीरे बह रहा था ॥ १४९ ॥ आकाशमार्गमें जय जय ऐसी दिव्य बाणी अर्थात् देवोंकी वाणी खूब भरगई थी, और सब दिशाओंमें चिरंजीव, ऐसे देवियोंके वाक्य सर्वत्र फैल गये थे ॥ १५० ॥ जिन्होंने अपनी सुंदरतासे अप्सरायें भी जीत लीं हैं और जिन्होंने नृत्य करनेमें भी नृत्य करनेवालीं देवांगनायें लीलामात्रमें जीत ली हैं ऐसी नृत्य करनवालीं स्त्रियोंने बढते हुये गीत और बाजिलोंके साथ साथ नृत्य करना प्रारंभ कर दिया था ॥ १५१ ॥ उस समय अयोध्या नगरकी सब गलियां चंदनके जलसे सींची गईं थीं तथा उनमें और भी अनेक सजावटें की गईं थीं जिसमे वे गलियां ऐसी सुशोभित हो रहीं थीं मानों स्वर्गकी शोभाकी ओर हंस रही हों ॥ १५२ ॥ उस समय आकाशमें इंद्रधनुष अथवा विजलीरूपी लताओंकी अनेक लीलाओंको धारण करते हुये एमे अनेक प्रकारके रत्नोंके बने हुये तोरणोंकी सुंदर रचनायें उस नगरके घर घरमें सुशोभित हो रहीं थीं ॥ १५३ ॥ उस समय भूमिपर रत्नोंके चूर्णकी रंगावली की गई थी और उनपर बडे बडे उदरके सुवर्णमय कलश रक्खे हुये थे, उन कलशोंके मुख सुवर्णमय कमलोंसे ढके हुये थे इसलिये वे बहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ १५४ ॥ जिस प्रकार समुद्रकी वृद्धि होनेसे उसकी तरंगोंके आश्रय रहनवाली नदियां भी बढ जाती हैं उसीप्रकार उस समय राजमंदिरमें उत्सव होनेसे संपूर्ण अयोध्या नगरीमें उत्सव हो रहा था ॥ १५५ ॥ उस सम-

महोदराः । कुंभा हिरण्मया रेजू गैक्माब्जपिहिताननाः ॥ १५४ ॥ तस्मिन्नृपोत्सवे सासीत्पुरी सर्वैव सोत्सवा । यथाब्धिवृद्धौ संवृद्धिं याति वेलाश्रिता नदी ॥ १५५ ॥ न दीनोभूत्तदा कश्चिन्नदीनोदकभूयसीं । दानधारां नृपेंद्रेभे मुक्तधारं प्रवर्षति ॥ १५६ ॥ इति प्रमोदमुत्पाद्य पुरे सांतःपुरे परं ॥ वृषभाद्रेरसौ बालःप्रालेयद्युतिरुद्ययौ ॥ १५७ ॥ प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा बंधुता तदा । तमाह्वद्भरतं भाविसमस्तभरताधिपं ॥ १५८ ॥ तन्नाम्ना भारतं वर्षमितिहासीज्जनास्पदं । हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदं ॥ १५९ ॥ स तन्वन्परमानंदं बंधुताकुमुदाकरे । धुन्वन्वैरिकुलध्वांतमवृधद्बालचंद्रमाः ॥ १६० ॥ स्तनंधयन्नसौ मातुः स्तन्यं गंडूषितं मुहुः । समुद्गिरन्यशो दिक्षु विभजन्निव दिद्युते ॥ १६१ ॥ स्मितैश्च हसितैर्मुग्धैः सर्पणैर्मणि-

---

य भगवान वृषभदेव रूपी हाथीसे संकोचतारहित समुद्रके जलके समान बहुतसे रत्नादि द्रव्यके दान देनेकी धारा बरस रही थी इसलिये उस समय कोई भी दरिद्री बाकी नहीं रहा था ॥ १५६ ॥ इस प्रकार वृषभदेवरूपी उदयाचल पर्वतसे वह बालकरूपी चंद्रमा समस्त नगर और अंतःपुरमें परम आनंद उत्पन्न करता हुआ उदय हुआ था ॥ १५७ ॥ उस समय बडे प्रेममें डूबे हुये भाई बंधु लोगोंने प्रमोदभरतः अर्थात् बडे संतोषसे समस्त भरतक्षेत्रके अधिपति होनेवाले उस पुत्रको भरत इस नामसे पुकारा था ॥ १५८ ॥ उसी भरतके नामसे आर्य लोगोंके रहनेका स्थान यह भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ है, हिमवान पर्वतके दक्षिणकी ओर तीनोंओर समुद्रसे घिरा हुआ यह चक्रवर्तियोंका क्षेत्र भारतवर्ष कहलाता है ॥१५९॥ वह बालकरूपी चंद्रमा कुटुंबीरूप कमोदिनियोंको परम आनंद उत्पन्न करता हुआ और शत्रुओंके वंशरूपी अंधकारको नष्ट करता हुआ क्रमसे बढता जाता था ॥ १६० ॥ अपनी माता यशस्वतीका दूध पीता हुआ वह बालक जब कभी मुहमें बचे हुये दूधकी बार २ कुरली करता था उस समय वह ऐसा सुशोभित होता था मानों यशको उगल उगलकर सब दिशाओंमें बांटना ही चाहता हो ॥ १६१ ॥ वह बालक मंदहास्य, अधिक हास्य, रत्नखचित भूमिपर बडी सुंदरतासे घुटनोंके बल चलना और अव्यक्त मिष्ट भाषण आदि लीलाओंके द्वारा माता पिताको बहुत ही आनंदित करता था ॥ १६२ ॥ ज्यों ज्यों वह बढता

भूमिषु । मन्मनाल्पितैः पित्रोः स संप्रीतिमजीजनत् ॥ १६२ ॥ तस्य वृद्धावभूद् वृद्धिर्गुणानां सहजन्मनां । नूनं ते तस्य सौंदर्यात्तद्वृध्यनुविधायिनः ॥ १६३ ॥ अन्नप्राशनचौलोपनयनादीननुक्रमात् । क्रियाविधीन्विधानज्ञः स्रष्टैवास्य निसृष्टवान् ॥ १६४ ॥ ततः क्रमभुवो बाल्यकौमारांतभुवो भिदाः । सोतीत्य यौवनावस्थां प्रापदानंदिनीं दृशां ॥१६५॥ तदेव पैतृकं यातं समाक्रांतत्रिविष्टपं । तदेवास्य वपुर्दीप्तं तदेव हसितं स्मितं ॥१६६॥ सैव वाणी कला सैव सा विद्या सैव च द्युतिः । तदेव शीलं विज्ञानं सर्वमस्य तदेव तत् ॥ १६७ ॥ इति तन्मयतां प्राप्तं पुत्रं दृष्ट्वा तदा प्रजाः । आत्मा वै पुत्रनामासीदभ्यगीषत सूनृतं ॥ १६८ ॥ पित्रा व्याख्याततद्रूपादिगुणः प्रत्यक्षमन्मथः । स सम्मतः सतामासीत्स्वैर्गुणैराभिगामिकैः ॥१६९॥

जाता था त्यों त्यों उसके साथ उत्पन्न हुये गुण भी बढते जाते थे· ऐसा जान पडता था मानों उसकी सुंदरतापर मोहित होकर ही उसके गुण उसके साथ बढते थे ॥ १६३ ॥ विधि विधानको जाननेवाले भगवान् वृषभदेवने अनुक्रमसे अपने पुत्र भरतके अन्नप्राशन अर्थात् प्रथम ही अन्न खिलाना, चौल अर्थात् मुंडन और कर्ण छेदन तथा यज्ञोपवीत आदि सब संस्कार स्वयं किये थे ॥ १६४ ॥ अथानंतर–उस बालक भरतने क्रमसे बढते हुये बालक और कुमार अवस्थामें होनेवालीं अनेक दशायें व्यतीतकर नेत्रोंको आनंद देनेवाली यौवनावस्था धारण की ॥ १६५ ॥ अपने पिता श्रीवृषभदेवके समान ही भरतका चलना था उन्हींके समान तीनों लोकोंको उलंघन करनेवाली ऐसी दीप्तिको धारण करनेवाला उसका शरीर था और वैसा ही उसका मंद हास्य था ॥ १६६ ॥ अपने पिताके समान ही उसकी वाणी थी, वैसी ही उसमें सब कलायें थीं, वैसी ही विद्या थी, वैसी ही कांति थी, वैसा ही पवित्र चरित्र और वैसा ही विज्ञान था, प्रायः पिताके समान ही सब गुण भरतमें विद्यमान थे ॥ १६७ ॥ इसप्रकार समस्त गुणोंसे भगवान वृषभदेवके समान ही पुत्र भरतको देखकर प्रजा यही कहती थी कि पुत्र पिताका आत्मा ही होता है यह बात सर्वथा ठीक है ॥ १६८ ॥ भगवान वृषभदेवने जिसके गुणोंकी स्वयं प्रशंसा की है तथा जो साक्षात् कामदेवके समान है ऐसा वह भरत राजकुमार अपनी सुंदरताके अनेक म-

मनोर्मनोऽर्पयन्प्रीतौ मनुरेवोद्गतः सुतः । मनो मनोभवाकारः प्रजानामध्युवास सः ॥ १७० ॥ जयलक्ष्म्यानपायिन्या वपुस्तस्यातिभास्वरं । पुंजीकृतमिवैकत्र क्षात्रं तेजो विदिद्युते ॥ १७१ ॥ दिव्यमानुषतामस्य ख्यापयद्वपुरूर्जितं । तेजोमयैरिवारब्धमणुभिर्व्यद्युतत्तरां ॥ १७२ ॥ तस्योत्तमांगमुत्तुंगमौलिरत्नांशुपेशलं । सचूलिकमिवाद्रींद्रशिखरं भृशमद्युतत् ॥ १७३ ॥ क्रमोन्नतं सुवृत्तं च शिरोऽस्य रुरुचे तरां । धात्रा निवेशितं दिव्यमातपत्रमिव श्रियः ॥ १७४ ॥ शिरोऽस्याकुंचितस्निग्धविनीलैकजमूर्द्धजं । विनीलरत्नविन्यस्तशिरस्त्राणमिवारुचत ॥ १७५ ॥ ऋज्वीं मनोवचःकायवृत्तिमुद्वहतः

नोहर गुणोंसे सज्जन पुरुषोंको बहुत ही मान्य हुआ था ॥ १६९ ॥ वह पुत्र भरत पद्रहवें कुलकर भगवान वृषभदेवके मनको भी अपने प्रेममें बांधलेता था इसलिये लोग उसे सोलहवां कुलकर ही कहते थे और वह स्वयं कामदेवके समान सुंदर था इसलिये वह सब प्रजाके मनमें निवास करता था ॥ १७० ॥ कभी नाश न होनेवाली ऐसी जयलक्ष्मीके द्वारा अतिशय दैदीप्यमान भरतका शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों क्षत्रियोंका सब तेज एक जगह ही इकट्ठा होगया हो ॥ १७१ ॥ स्वर्गसे कोई उत्तम देव ही चयकर यह मनुष्य हुआ है इस बात को स्पष्टरीतिसे दिखलानेवाला और अतिशय प्रकाशमान राजकुमार भरतका शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों वह तेज रूप परमाणुओंसे ही बना हुआ हो ॥ १७२ ॥ अत्यंत ऊंचे मुकुटमें लगे हुये रत्नोंकी किरणोंसे अतिशय सुंदर ऐसा उसका मस्तक चूलिका सहित मेरुपर्वतकी शिखरके समान बहुत ही सुशोभित जान पडता था ॥ १७३ ॥ क्रमसे ऊंचा होता हुआ और गोल उसका शिर ऐसा अच्छा सुशोभित होता था मानों नामकर्मरूपी ब्रह्माने लक्ष्मीके लिये दिव्य छत्र ही बनाया हो ॥ १७४ ॥ जिसप्रकार इंद्रनीलमणिसे बना हुआ शिरका कवच सुशोभित होता है उसीप्रकार कुछ कुछ संकुचित हुये, चिकने, अतिशय काले और सब एक साथ उत्पन्न हुये ऐसे बालों से सुशोभित उसका शिर बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥ १७५ ॥ यद्यपि राजकुमार भरतके मन, बचन, कायकी प्रवृत्ति, बहुत ही सरल थी तथापि भ्रमरके समान अत्यंत काले ऐसे उसके

प्रभोः । केशांतानलिसंकाशान्भेजे कुटिलता परं ॥ १७६ ॥ स्मेरं वक्त्रांबुजं तस्य दशनाभीषुकेसरं । बभौ सुरभिनिःश्वासपवनाहूतषट्पदं ॥ १७७ ॥ मुखमस्य सुखालोकमखंडपरिमंडलं । शशांकमंडलस्याधाल्लक्ष्मीमक्षुण्णकांतिकं ॥ १७८ ॥ कर्णाभरणदीप्तांशुपरिवेषेण दिद्युते । मुखेंदुरस्य दंतांशुचंद्रिकामभितः किरन् ॥ १७९ ॥ रवौ दीप्तिर्विधौ कांतिर्विकासश्च महोत्पले । इति व्यस्ता गुणाः प्रापुस्तदास्ये सहयोगितां ॥ १८० ॥ शशी परि-

केशोंके अंतिम भागमें कुटिलता ही बनी हुई थी ॥ १७६ ॥ उसका मुख ठीक कमलके समान सुशोभित होता था, क्योंकि जिसप्रकार कमल प्रफुल्लित होता है उसीप्रकार उसका मुख भी मंदहास्य सहित था कमलमें जिसप्रकार केशर होती है उसीप्रकार उसके मुखमें दांतोंकी किरणें ही केशर थीं और जिसप्रकार कमलपर उसकी सुगंध से भ्रमर आते हैं उसीप्रकार उसके मुखके निश्वासकी सुगंध वायुसे उसपर बहुतसे भ्रमर आ रहे थे ॥ १७७ ॥ अथवा उसका मुख पूर्ण चंद्रमंडलकी शोभा धारण करता था, क्योंकि जिसप्रकार चंद्रमाके देखनेसे सुख होता है उसीप्रकार उसका मुख देखनेसे भी लोगोंको बहुत सुख होता था, जिसप्रकार चंद्रमंडलकी गोलाई पूर्ण होती है उसीप्रकार उसके मुखकी गोलाई भी पूर्ण थी और जिसप्रकार चंद्रमंडल पूर्णकांति युक्त होता है उसीप्रकार उसका मुख भी पूर्ण कांतियुक्त था। ॥ १७८ ॥ चारोंओर अपने दांतोंकी किरणोंकी चांदनीको फैलाता हुआ उसका मुख रूपी चंद्रमा कानोंमे पहने हुये कर्णभूषणकी प्रकाशमान किरणोंके गोल परिमंडलसे बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ १७९ ॥ सूर्यमें दीप्ति, चंद्रमामें कांति, और कमलमें प्रफुल्लता इसप्रकार ये सब गुण अलग अलग रहते हैं परंतु राजकुमार भरतके मुखपर वे सब गुण इकट्ठे होकर रहते थे अर्थात् उसके मुखपर दीप्ति, कांति और प्रफुल्लता ये तीनों गुण विद्यमान थे ॥ १८० ॥ चंद्रमा सदा क्षय होता रहता है और कमल प्रत्येक रात्रिमें संकुचित होता रहता है परंतु भरतका मुख सदा प्रफुल्लित रहता था और कभी क्षय वा म्लान नहीं होता था इसलिये संसारमें उसकी उपमाके योग्य कोई पदार्थ था ही नहीं। अर्थात् उसका

क्षयी पद्मः संकोचं यात्यनुक्षपं । सदा विकासि पूर्णं च तन्मुखं क्वोपमीयते ॥ १८१ ॥ जितं सदा विकासिन्या तन्मुखाब्जस्य शोभया । प्रस्थितं वनवासाय मन्ये वनजमुद्विजं ॥ १८२ ॥ पट्टबंधोचितस्यास्य ललाटस्याहतद्युतेः । तिग्मांशोरंशवो नूनं त्रिनिर्माणांगतां गताः ॥ १८३ ॥ विलोक्य विलसत्कांती तत्कपोलौ हिमद्युतिः । स्वपराजयनिर्वेदाद्गतः शंके कलंकितां ॥ १८४ ॥ भ्रूलते ललिते तस्य लीलां दधतुरूर्जितां । वैजयंत्याविवोत्क्षिप्ते मदनेन जगज्जये ॥ १८५ ॥ मुखप्रांगणपुष्पोपहारः सारितादिङ्मुखः । नेत्रोत्पलविकासोस्य पप्रथे प्रथयन्मुदं ॥ १८६ ॥ तरलापांगभासास्य सश्रुता-

---

मुख उपमा रहित था ॥ १८१ ॥ मैं समझता हूं कि सदा विकासरूप रहनेवाली भरतके मुखरूप कमलकी शोभासे हारकर ही कमलने अत्यंत खेदखिन्न होकर बनमें अर्थात् जलमें निवास करनेके लिये प्रस्थान किया है, अर्थात् वह भरतके मुखसे हारकर ही मानो जलमें रहता है ॥ १८२ ॥ राज्याभिषेकका पट्टबंध बांधने योग्य और अतिशय कांतियुक्त ऐसे उसके ललाटके बननेमें अवश्य ही सूर्यकी किरणें सहायक हुई थीं अर्थात् उसका ललाट बहुत ही प्रकाशमान था ॥ १८३ ॥ उसके कांति युक्त दोनों कपोलोंको देखकर चंद्रमा अवश्य तिरस्कृत हुआ था और इसलिये ही वह मानों विरक्त होकर कलंकित अर्थात् मालिन होगया जान पडता है ॥ १८४ ॥ राजकुमार भरतकी दोनों भौंहरूप सुंदर लतायें बहुत ही अच्छी सुशोभित होती थीं और वे ऐसी जान पडती थीं मानों कामदेवने जिस समय जगतको विजय किया था उस समयकी उसके विजयकी उडाई हुई पताका ही हो ॥ १८५ ॥ उसके नेत्ररूपी कमलका विकास मुखरूपी आंगनमें भेटमें आये हुये पुष्पोंकी शोभा धारण करता था तथा समस्त दिशाओंको रंग विरंगी कर रहा था और इसलिये ही वह सब जगह आनंद करता हुआ प्रसिद्ध हो रहा था ॥ १८६ ॥ उसके चंचल नेत्रोंके कटाक्षसे शास्त्र युक्त दोनों कान भी उलंघन किये गये थे सो ठीक ही है चंचल हृदयवालोंसे प्रायः सब ही उलंघन किये जाते हैं। भावार्थ—उसके नेत्र बहुत ही दीर्घ थे ॥ १८७ ॥ कामदेवके बाणोंके समान उसके आधे नेत्रोंके कटा-

वपि लंघितौ । कर्णौ लोलात्मनां प्रायो नानुलंघ्योऽस्ति कश्चन ॥ १८७ ॥ दृगर्धवीक्षितैस्तस्य शरैरिव मनोभुवः । कामिन्यो हृदये विद्धा दधुः सद्यो-तिरक्ततां ॥ १८८ ॥ रत्नकुंडलयुग्मेन गंडपर्यंतचुंबिना । प्रतिमानं श्रुतार्थस्य विधित्सन्निव सोद्युतत् ॥ १८९ ॥ मदनाग्नेरिवोद्बोधनालिका ललिताकृतिः । नासिकास्य बभौ किंचिदवाग्रा शुकतुंडरुक् ॥ १९० ॥ बभौ पयःकणाकीर्णविद्रुमांकुरसच्छविः । सिक्तस्तस्यामृतेनेव स्मितांशुच्छुरितोधरः ॥१९१॥ कंठे हारलतारम्ये काप्यस्य श्रीरभूद्विभोः । प्रत्यग्रोद्भिन्नपुष्पौघकंबुग्रीवोपमोचिता ॥ १९२ ॥ कंठाभरणरत्नांशुसंभृतं तदुरस्स्थलं । रत्नद्वीपश्रियं बिभ्रे

क्षोंसे हृदयमें घायल हुई स्त्रियां बहुत शीघ्र अनुरक्त हो जाती थीं भावार्थ–स्त्रियां जैसे बाणसे घायल होकर रक्त धारण करती है उसी प्रकार उसके आधे खुले हुये नेत्रोंके कटाक्षोंसे घायल होकर अनुराग धारण करती थीं ॥ १८८ ॥ वह राजकुमार भरत कपोलतक लटकते हुये ऐसे रत्नोंके बने हुये कानोंके दोनों कुंडलोंसे ऐसा सुशोभित होता था मानों शास्त्र और अर्थकी तुलना (बराबरीका) का प्रमाण ही कर रहा हो ॥ १८९ ॥ उसकी नासिका बडी ही सुंदर थी, कुछ नीचेकी ओर झुकी हुई थी तथा तोतेकी चोंचके समान कांतियुक्त थी और इसलिये ही वह ऐसी जान पड़ती थी मानों कामदेवरूपी अग्निको उद्दीपन करनेकेलिये अग्निको फूंकनेकी नाली (फूंकनी) ही हो ॥ १९० ॥ जिसप्रकार जलके कणोंसे व्याप्त हुआ प्रवालका अंकुर सुशोभित होता है उसी प्रकार मंद हास्यकी किरणोंसे व्याप्त हुआ उसका अधर (ओठ) ऐसा सुशोभित होता था मानों अमृतसे ही सींचा गया हो ॥ १९१ ॥ सुंदर राजकुमार भरतका कंठ हाररूपी लतासे बहुत सुंदर जान पडता था, उसपर एक अपूर्व शोभा आगई थी और वह नवीन पुष्पसमूहोंसे सुशोभित ऐसे शंखके कंठकी उपमा देने योग्य हो रहा था ॥ १९२ ॥ कंठाभरण अर्थात् हारमें लगे हुये रत्नोंकी किरणोंसे खूब भरा हुआ उसका उरःस्थल हाररूपी बेलसे घिरे हुये रत्नद्वीपकी शोभाको धारण करता था ॥ १९३ ॥ भुजारूप खंभोंके अंत पर्यंत लटकती हुई उसकी हाररूप लता ऐसी सुशोभित होती थी मानों लक्ष्मीदेवीके झूलनेकी दो रस्सियां ही

हारवल्लीपरिष्कृतं ॥ १९३ ॥ स बभार भुजस्तंभपर्यंतपरिलंबिनीं । लक्ष्मीदेव्या इवांदोलवल्लरीं हारवल्लरीं ॥ १९४ ॥ जयश्रीर्भुजयोरस्य बबंध प्रेमनिघ्नतां । केयूरकोटिसंघट्टकिणीभूतांसपीठयोः ॥ १९५ ॥ बाहुदंडेस्य भूलोकमानदंड इवायते । कुलशैलास्थया नूनं तेने लक्ष्मीः परां धृतिं ॥ १९६ ॥ शंखचक्रगदाकूर्मझषादिशुभलक्षणैः । रेजे हस्ततलं तस्य नभःस्थलमिवोडुभिः ॥ १९७ ॥ अंसावलंबिना ब्रह्मसूत्रेणासौ दधे श्रियं । हिमाद्रिरिव गांगेन स्रोतसोत्संगसंगिना ॥ १९८ ॥ हसन्निवाधरं कायमूर्ध्वकायोस्य दिद्युते । कटकांगदकेयूरहाराद्यैः स्वैर्विभूषणैः ॥ १९९ ॥ वर्णिते पूर्वकायेस्य कायो व्यावर्णितोधरः । यथोपरि तथाधश्च ननु श्रीः कल्पपादपे ॥ २०० ॥ पुनरुक्तं तथाप्यस्य क्रियते वर्णनादरः । पंक्तिभेदे महान्दोषः स्यादित्युद्देश-

---

हों ॥ १९४ ॥ भरतकी दोनों भुजाओंके कंधे बाजूबंधके अग्रभागके संघट्टनसे बहुत ही कठिन हो गये थे और इसलिये ही जयलक्ष्मीने बडे प्रेमसे उसकी भुजाओंकी आधीनता स्वीकार की थी ॥ १९५ ॥ उसके दोनों ही भुजदंड (हाथ) इस पृथ्वीको नापनेके दंडेके समान बडे ही लंबे थे और उनपर निवास करनेवाली लक्ष्मी उन्हें कुलपर्वत समझकर बहुत ही संतुष्ट रहती थी ॥ १९६ ॥ शंख, चक्र, गदा, कच्छप, मछली आदि अनेक शुभ लक्षणोंसे सुशोभित उसके हाथकी हथेलियां ऐसी सुशोभित होती थीं मानों तारे और नक्षत्रोंसे सुशोभित आकाश ही हो ॥ १९७ ॥ कंधेपरसे लटकते हुये सफेद यज्ञोपवीतसे राजकुमार भरतकी ऐसी शोभा बढ गई थी जैसे हिमवान पर्वतके ऊपर बहनेवाले गंगाके प्रवाहसे हिमवान पर्वतकी शोभा बढ जाती है ॥ १९८ ॥ राजकुमार भरतके शरीरका ऊपरी भाग कडे, बाजूबंध, भुजाबंध, हार आदि अनेक आभूषणोंसे ऐसा दैदीप्यमान हो रहा था मानों नाभिसे नीचेके भागकी ओर हंस रहा हो ॥ १९९ ॥ ऊपर जो कुछ राजकुमार भरतके शरीरके ऊपरी भागका वर्णन कर चुके हैं उसपरसे ही नीचेके भागका वर्णन भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि कल्पवृक्षकी शोभा जैसी ऊपर होती है वैसी ही उसकी शोभा नीचे भी होती है ॥ २०० ॥ यद्यपि अधोभागका वर्णन दुबारा करनेसे पुनरुक्त दोष आता है तथापि उद्देशके अनुसार उसका वर्णन फिर भी किया

मात्रतः ॥ २०१ ॥ लावण्यरसनिष्यंदवाहिनीं रसकूपिकां । स बभारापतत्कामगंधेभस्येव पद्धतिं ॥ २०२ ॥ स साररसनोल्लासि दुकूलं जघनं दधौ । सेंद्रचापशरन्मेघनितंबमिव मंदरः ॥ २०३ ॥ पीवरौ स बभारोरू युक्तायामौ कनद्युती । मनोभुवेव विन्यस्तौ स्तंभौ स्वे वासवेश्मनि ॥ २०४ ॥ जंघे सुरुचिराकारे चारुकांती दधेधिराट् । उद्वर्त्य कणयेनेव घटिते चित्तजन्मना ॥ २०५ ॥ तत्पदांबुजयोर्युग्ममध्युवासानपायिनी । लक्ष्मीर्भृंगांगनेवाविर्भवदंगुलिपत्रकं ॥ २०६ ॥ तत्क्रमौ रेजतुः कांत्या लक्ष्मीं जित्वांबुजन्मनः । प्रहासमिव तन्वानौ नखोद्योतैर्विसारिभिः ॥ २०७ ॥ चक्रच्छत्रासिदं-

---

जाता है क्योंकि वर्णन करते करते किसी भागको छोड देना भी बडा भारी दोष है ॥ २०१ ॥ लावण्यरूप रसके प्रवाहको धारण करनेवाली और रसकी बावडीके समान उसकी नाभि ऐसी सुशोभित होती थी मानों आनेवाले कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथीका मार्ग ही हो ॥ २०२ ॥ अनेक वर्णके रत्नोंकी बनी हुइ करधनीसे सुशोभित ऐसी सफेद धोती उसके जघनभागपर बहुत ही अच्छी जान पडती थी तथा उस धोतीसे वह राजकुमार भरत ऐसा सुशोभित होता था मानों जिसके नितंबभाग पर इंद्रधनुषसहित शरद ऋतुके मेघ लगे हुये हैं ऐसा मंदराचल पर्वत ही हो ॥ २०३ ॥ उसके उरूभाग (जंघाका ऊपरीभाग) बडे ही मजबूत थे उनकी लंबाई भी यथायोग्य थी और वर्ण उनका सुवर्णके समान था इसलिये वे ऐसे जान पडते थे मानों कामदेवने अपने काममंदिरमें दो मजबूत सोनेके खंभे ही लगाये हों ॥ २०४ ॥ उसकी दोनों जंघा भी बडी देदीप्यमान और बडी ही सुंदर थी तथा ऐसी जान पडती थी मानों कामदेवने लकडी छीलनेके हथियारसे छीलकर गोल ही कर ली हों ॥ २०५ ॥ राजकुमार भरतके दोनों चरण उंगलीरूपी पत्रोंसे सुशोभित कमलके समान सुंदर जान पडते थे और उनपर कभी नष्ट न होनेवाली लक्ष्मी भ्रमरीके समान सदा निवास करती थी ॥ २०६ ॥ उसके दोनों ही पांव अपनी कांतिसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों चारोंओर फैलती हुई नखोंकी कांतिसे कमलकी शोभा जीतकर उसकी हंसी ही उडा रहे हों ॥ २०७ ॥ उसके चरणकमलमें

डादिरत्नान्यस्य पदाब्जयोः । लग्नानि लक्षणव्याजात्पूर्वसेवामिव व्यधुः ॥ २०८ ॥ समाक्रांतधराचक्रः क्रमयोरेव विक्रमः । सर्वांगीणस्तु केनास्य सोढपूर्वः समानिनः ॥ २०९ ॥ चरमांगतयैवास्य वर्णितं बलमांगिकं । सात्विकं तु बलं बाह्यैर्लिंगैर्दिग्विजयादिभिः ॥ २१० ॥ यद्बलं चक्रभृत्क्षेत्रवर्तिनां नृसुधाशिनां । ततोधिकगुणं तस्य बभूव भुजयोर्बलं ॥ २११ ॥ रूपानुरूपमेवास्य बभूवे गुणसंपदा । गुणैर्विमुच्यते जातु नहि तादृग्विधं वपुः ॥ २१२ ॥ यत्राकृतिर्गुणास्तत्र वसंतीति न संशयः । यतोस्यानीदृगाकारो गुणैरेत्य स्वयं वृतः ॥ २१३ ॥ सत्यं शौचं क्षमा त्यागः प्रज्ञोत्साहो दया

चक्र छत्र तलवार दंड आदि चौदह रत्नोंके चिन्ह बने हुये थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों ये चौदह रत्न लक्षणोंके बहानेसे होनेवाले चक्रवर्तीकी पहिलेसे ही सेवा कर रहे हों ॥ २०८ ॥ केवल उसके पैरोंका ही पराक्रम संपूर्ण भूमंडलको आक्रमण करता था फिर भला महा अभिमानी उस भरतके संपूर्ण शरीरका पराक्रम कौन सहन कर सकता है ॥ २०९ ॥ उसका शरीरसंबंधी बल केवल इसीसे वर्णन किया जाता था कि वह चरमशरीरी अर्थात् उसी शरीरसे मोक्ष जानेवाला था तथा उसके आत्माका बल दिग्विजय आदि बाह्य चिन्होंसे जाना जाता था ॥ २१० ॥ चक्रवर्तीके क्षेत्रमें अर्थात् छः खंडों में रहनेवाले देव मनुष्योंके जितना बल होता है उससे कई गुणा बल केवल चक्रवर्ती भरतकी भुजाओंमें था ॥ २११ ॥ जैसा उसका सुंदर रूप था वैसे ही उसमें गुण रूप संपत्ति विद्यमान थी, सो ठीक ही है क्योंकि गुणोंसे ऐसा सुंदर शरीर कभी नहीं छोडा जा सकता ॥२१२॥ सामुद्रिक शास्त्रका जो यह सिद्धांत है कि 'जहां शरीरकी सुंदरता होती है वहां गुण अवश्य ही निवास करते हैं' इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। क्योंकि गुणोंने उपमारहित अर्थात् अत्यंत सुंदर ऐसे भरतके शरीरको स्वयं आकर स्वीकार किया है ॥२१३॥ सत्य अर्थात् यथार्थ भाषण, शौच अर्थात् अंतरंग और बाह्य शुद्धि, क्षमा अर्थात् सहनशीलता, त्याग अर्थात् दान, प्रज्ञा अर्थात् निश्चयरूप बुद्धि, उत्साह अर्थात् उद्यम, दया, दम अर्थात् बाह्य पांचों इंद्रियोंका निग्रह करना, प्रशम अर्थात् मनका निग्रह करना, शांतता और विनय अर्थात् नम्रता ये सब गुण उ-

दमः । प्रशमो विनयश्चेति गुणाः सत्त्वानुषंगिणः ॥ २१४ ॥ वपुःकांतिश्च दीप्तिश्च लावण्यं प्रियवाक्यता । कलाकुशलता चेति शरीरान्वयिनो गुणाः ॥ २१५ ॥ निसर्गरुचिराकारो गुणैरेभिर्विभूषितः । स रेजे नितरां यद्वन्ममणिः संस्कारयोगतः ॥ २१६ ॥ अप्राकृताकृतिर्दिव्यमनुष्यो महसां निधिः । लक्ष्म्याः पुंजोयमित्युच्चैर्बभूवाद्भुतचेष्टितः ॥ २१७ ॥ रूपसंपदमित्युच्चैर्दृष्ट्वा नान्यत्रभाविनीं । जनाः पुरातनीमस्य शशंसुः पुण्यसंपदं ॥ २१८ ॥ वपुरारोग्यमैश्वर्यं धनर्द्धिः कामनीयकं । बलमायुर्यशो मेधा वाक्सौभाग्यं विदग्धता ॥ २१९ ॥ इति यावान् जगत्यस्मिन्पुरुषार्थः सुखोचितः । स सर्वोभ्युदयः पुण्यपरिपाकादिहांगिनां ॥ २२० ॥ न विनाभ्युदयः पुण्यादस्ति कश्चन पुष्कलः । तस्मादभ्युदयं प्रेप्सुः पुण्यं संचिनुयाद्बुधः ॥ २२१ ॥

सके ज्ञानके साथ साथ रहते थे ॥ २१४ ॥ शरीरकी कांति, दीप्ति (शोभा), लावण्य, मधुरभाषण करना और समस्त कलाओंमें कुशलता प्राप्त करना ये उसके शरीर संबंधी गुण थे ॥ २१५ ॥ जिसप्रकार स्वभावसे ही सुंदर ऐसा मणि संस्कारके निमित्तसे अर्थात् शाणपर रखकर घिसनेसे और अधिक सुंदर हो जाता है उसीप्रकार भरतका शरीर भी स्वभावसे ही सुंदर था तथापि वह ऊपर कहे हुये गुणोंसे और भी अत्यंत सुशोभित हो गया था ॥ २१६ ॥ वह राजकुमार भरत एक दिव्य मनुष्य था, उसकी आकृति भी अन्य मनुष्योंसे विलक्षण अर्थात् अपूर्व सुंदर थी, वह तेजका खजाना था और उसकी सब चेष्टायें आश्चर्य करनेवाली थीं और इसलिये ही वह लक्ष्मीके एक बडे भारी पुंजके समान बहुत ही सुशोभित होता था ॥ २१७ ॥ जो दूसरी जगह कहीं न देखी जाय ऐसी इसकी अतिशय रूपसंपदा देखकर सब लोग इसके पूर्व भवकी पुण्यसंपदाकी प्रशंसा करते थे ॥ २१८ ॥ सुंदर शरीर, नीरोगता, ऐश्वर्य, धनसंपत्ति, सुंदरता, बल, आयु, यश, बुद्धि, मधुरभाषण, चतुरता आदि इस संसारमें जो कुछ सुखका कारण पुरुषार्थ है वह सब अभ्युदय गिना जाता है और वह अभ्युदय इन संसारी जीवोंको पुण्यके उदयसे ही मिलता है ॥ २१९-२२० ॥ इस संसारमें कोई भी बडा अभ्युदय पुण्यकर्मके उदयकेबिना नहीं मिलता, इसलिये जिसे अभ्युदयकी इच्छा है उस बुद्धिमानको पहिले पुण्यकर्मोंका संचय करना

इत्यानंदपरंपरां प्रतिदिनं संवर्द्धयन्स्वैर्गुणैः पित्रोर्बंधुजनस्य च प्रशमयंल्लोकस्य दुःखासिकां। नाभेयोदयभूधरादधरितक्षोणीधराद्रुद्गतः प्रालेयांशुरिवाबभौ भरतराड् भूलोकमुद्भासयन्॥ २२२॥ श्रीमान्हेमशिलाघनैरपघनैः प्रांशुः प्रकृत्या गुरुः पादाक्रांतधरातलो गुरुभरं वोढुं क्षमायाः क्षमः। हारं नि-

चाहिये॥ २२१॥ इसप्रकार वह राजा भरत एक चंद्रमाके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि चंद्रमा जिसप्रकार अपने गुण अर्थात् कलाओंसे सबको आनंदित करता है उसीप्रकार वह भरत भी ऊपर कहे हुये अपने गुणोंसे माता, पिता, भाई, बंधुओंको प्रतिदिन अनेक प्रकारके आनंद देता हुआ सुखी करता था। (चंद्रमा प्रतिदिन आनंद नहीं दे सकता भरत प्रतिदिन सबको आनंदित करते थे) चंद्रमा जिसप्रकार लोगोंके दुःख दूर करता है उसीप्रकार भरत भी लोगोंके अनेक दुःख दूर करता था, चंद्रमा जिसप्रकार समस्त क्षोणीधर अर्थात् पर्वतोंको नीचा करनेवाले ऐसे उदयाचल पर्वतसे उदय होता है उसीप्रकार वह भरत भी समस्त क्षोणीधर अर्थात् राजाओंको नीचा करनेवाले भगवान वृषभदेव रूपी उदयाचल पर्वतसे उदय हुआ था और चंद्रमा जिसप्रकार संपूर्ण पृथ्वीको प्रकाशित करता है उसीप्रकार वह भरत भी संपूर्ण पृथ्वीको प्रकाशित करता था॥ २२२॥ अथवा वह भरत चक्ररूपी सूर्यको उदय करनेवाला उदयाचल पर्वतके समान सुशोभित होता था। जिसप्रकार उदयाचलपर्वत सुवर्णमय शिलाओंके समूह रूप अवयवोंसे सुशोभित रहता है उसीप्रकार वह भरत भी अपने सुवर्णमय शरीरके अवयवोंसे सुशोभित होता था, उदयाचल जिसप्रकार ऊंचा होता है उसीप्रकार भरत भी ऊंचा था, जिसप्रकार उदयाचल स्वभावसे ही भारी है उसीप्रकार भरत भी स्वभावसे ही गुरू अर्थात् गंभीरस्वभाववाला था, जिसप्रकार उदयाचल पर्वतने अपने पाद अर्थात् समीपवर्ती छोटे २ पर्वतोंसे पृथ्वीतलको आक्रमण कर लिया है उसीप्रकार भरतने भी अपने पाद अर्थात् पैरोंसे संपूर्ण पृथ्वीतलको आक्रमण कर दबा लिया था, जिसप्रकार उदयाचल पर्वत पृथ्वीके भारी

र्रचारुकांतिमुरसा बिभ्रत्तटस्पर्द्धिना चक्राकोंदयभूधरः स रुरुचे मौलीद्धकूटोद्धुरः ॥ २२३ ॥ संपश्यन्नयनोत्सवं सुरुचिरं तद्वक्त्रमप्राकृतं संश्रुण्वन्कल-निक्वणंश्रुतिसुखं सप्रश्रयं तद्वचः । आश्लिष्यन्प्रणतोत्थितं मुहुरमुं स्वोत्संगमारोपयन् श्रीमान्नाभिसुतः परां धृतिमगाद्भत्स्यंजिनश्रीर्विभुः ॥ २२४ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्कुमारकालयशस्वतीसुनंदाविवाहभरतोत्पत्तिवर्णनं नाम पंचदशं पर्व ॥ १५ ॥

भारको भी सह सकता है उसीप्रकार भरत भी क्षमाका अथवा पृथ्वीका भी भारी भार (राज्यभार) सह सकता था, उदयाचल पर्वत जिसप्रकार अपने किनारोंपर निर्झरनोंकी सुंदरता धारण करता है उसीप्रकार वह भरत भी पर्वतके तटके समान विशाल वक्षःस्थलपर हारकी सुंदरता धारण करता था और उदयाचल पर्वत जिसप्रकार अपने मस्तकपरके दैदीप्यमान शिखरोंसे सुशोभित होता है उसीप्रकार वह भरत भी अपने मस्तकके दैदीप्यमान मुकुटसे सुशोभित हो रहा था ॥ २२३ ॥ जिनको अर्हंत पदकी लक्ष्मी प्राप्त होनेवाली है ऐसे वे भगवान् वृषभदेव नेत्रोंको आनंद देनेवाले, परमसुंदर और अत्यंत उत्तम ऐसे भरतके मुखको देखकर तथा कानोंको सुख देनेवाले और नम्रताके साथ कहेहुये भरतके मधुर शब्दोंको सुनकर, प्रणाम करनेके बाद उठे हुये भरतको बारंबार आलिंगनकर और उसे अपनी गोदमें बिठाल कर बडे ही संतुष्ट होते थे ॥ २२४ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें भगवानकी कुमार अवस्था, यशस्वती और सुनंदाके साथ विवाह और यशस्वतीसे भरतकी उत्पत्ति वर्णन करनेवाला पंद्रहवां पर्व समाप्त हुआ.

अथ षोडशं पर्व ।

अथ क्रमाद्यशस्वत्यां जाताः स्रष्टुरिमेसुताः । अवतीर्य दिवो मूर्ध्नस्तेहमिंद्राः पुरोदिताः ॥ १ ॥ पीठो वृषभसेनोभूत्कनीयान्भरतेश्वरात् । महापीठोभवत्तस्य सोनंतविजयोनुजः ॥ २ ॥ विजयोनंतवीर्योऽभूद्वैजयंतोच्युतोभवत् । जयंतो वीर इत्यासीद्वरवीरोपराजितः ॥ ३ ॥ इत्येकोनशतं पुत्रा बभूवुर्वृषभेशिनः । भरतस्यानुजन्मानश्चरमांगा महौजसः ॥ ४ ॥ ततो ब्राम्हीं यशस्वत्यां ब्रह्मा समुदपादयत् । कलामिवापराशायां ज्यौत्स्नपक्षेमलां विधोः ॥ ५ ॥ सुनंदायां महाबाहुरहमिंद्रो दिवोऽमतः । च्युत्वा बाहुबलीत्यासीत्कुमारोऽमरसन्निभः ॥ ६ ॥ वज्रजंघभवे यास्य भगिन्यासीदनुंधरी । सा सुंदरीत्य-

---

अथ सोलहवां पर्व ।

अथानंतर—सर्वार्थसिद्धिके जिन अहमिंद्रोंका वर्णन पहिले किया जा चुका है वे वहांसे क्रमसे च्युत होकर भगवान वृषभदेवके यशस्वती देवीसे नीचे लिखे पुत्र उत्पन्न हुये ॥ १ ॥ जो पहिले पीठ नामका वज्रनाभिका भाई था उसका जीव सर्वार्थसिद्धिसे चयकर वृषभसेन नामका भरतका छोटा भाई हुआ, जो राजश्रेष्ठिका जीव महापीठ था वह अनंतविजय नामका वृषभसेनका छोटा भाई हुआ ॥ २ ॥ जो विजय नामका व्याघ्रका जीव था वह अनंतविजयका छोटा भाई अनंतवीर्य हुआ । जो वैजयंत नामका सूकरका जीव था वह अनंतवीर्यका छोटा भाई अच्युत हुआ । जो वानरका जीव जयंत था वह अच्युतसे छोटा वीर हुआ और न्योलाका जीव जो अपराजित था वह वीरसे छोटा वरवीर हुआ । ॥ ३ ॥ इसप्रकार भगवान् वृषभदेवके यशस्वतीदेवीसे भरतके बाद निन्न्यानवे पुत्र हुये और वे सब ही पुत्र बडे प्रतापी और चरमशरीरी थे ॥ ४ ॥ तदनंतर प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभदेवके उसी यशस्वती देवीसे ब्राह्मी नामकी पुत्री हुई, वह पुत्री ऐसी सुंदरी थी मानों पश्चिमदिशामें उदय होनेवाली शुक्लपक्षके चंद्रमाकी एक निर्मल कला ही हो ॥ ५ ॥ आनंद पुरोहितका जीव जो पहिले महाबाहु था और फिर अहमिंद्र हुआ था वह वहांसे चयकर भगवान् वृषभदेवकी दूसरी महारानी सुनंदासे देवके समान सुंदर बा-

भूत्पुत्री वृषभस्यातिसुंदरी ॥ ७ ॥ सुनंदा सुंदरीं पुत्रीं पुत्रं बाहुबलीशिनं । लब्ध्वा रुचिं परां भेजे प्राचीवार्कं सह विषा ॥ ८ ॥ तत्काले कामदेवोऽभूद्युवा बाहुबली बली । रूपसंपदमुत्तुंगां दधानोऽसुमतां मतां ॥ ९ ॥ तस्य तद्रूपमन्यत्र समदृश्यत न क्वचित् । कल्पद्रुमात्किमन्यत्र दृश्यते हारिभूषणं ॥ १० ॥ कुंचितास्तस्य केशाग्रा बिभ्रुर्भ्रमरत्विषः । मनोभुवः शिरस्त्राणसूक्ष्मायोवलयैः समाः ॥ ११ ॥ ललाटमष्टमीचंद्रचारु तस्य दधे रुचिं । धात्रेव राज्यपट्टस्य निवेशाय पृथूकृतं ॥ १२ ॥ कुंडलद्वयसंशोभि तस्य वक्त्रमदीप्यत । सरोरुहमिवोपांतवर्तिचक्राह्वयुग्मकं ॥ १३ ॥ नेत्रोत्पलद्वयेनास्य

हुबली नामका राजकुमार उत्पन्न हुआ ॥ ६ ॥ और पहिले जब भगवान्का जीव वज्रजंघ था और उससमय उसकी जो अनुंधरी बाहिन थी उसका जीव इन्हीं भगवान् वृषभदेवके सुनंदादेवीसे अत्यंत सुंदरी ऐसी सुंदरी नामकी कन्या उत्पन्न हुई ॥ ७ ॥ जिसप्रकार पूर्व दिशा प्रभाके साथ साथ सूर्यको पाकर प्रकाशमान होती है उसीप्रकार सुनंदा देवी भी सुंदरी पुत्री और बाहुबली पुत्रको पाकर बहुत ही दैदीप्यमान हुई थी ॥ ८ ॥ उससमय समस्त जीवोंको मान्य और सबसे अधिक ऐसी रूपसंपत्तिको धारण करता हुआ वह बलवान् युवा बाहुबली राजकुमार चौवीस कामदेवोंमेंसे प्रथम कामदेव हुआ था ॥ ९ ॥ राजकुमार बाहुबलीका जैसा सुंदर रूप था वैसा रूप दूसरीजगह कहीं भी देखनेमें नहीं आया था, सो ठीक ही है मनोहर आभूषण जैसे कल्पवृक्षपर लगते हैं क्या वैसे आभूषण कहीं दूसरी जगह देखे जाते हैं? ॥ १० ॥ भ्रमरके समान काले और कुटिल ऐसे उसके बालोंके अग्रभाग ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों कामदेवके शिरके कवचके सूक्ष्म लोहेके गोल तार ही हों ॥ ११ ॥ अष्टमीके चंद्रमाके समान सुंदर उसका ललाट ऐसा सुशोभित होता था मानों नाम कर्मरूपी ब्रह्माने राज्यको सूचित करनेवाला सुवर्णका पट्टा बांधनेके लिये ही उसे बडा बनाया हो ॥ १२ ॥ कानोंमें पडे हुये दोनों कुंडलोंसे सुशोभित उसका मुख ऐसा दैदीप्यमान जान पडता था मानों जिसके इधर उधर समीप ही दो चकवा चकवी बैठे हैं ऐसा कमल ही हो ॥ १३ ॥ मंदहास्यकी किरणरूप जलसे भरा हुआ तथा लक्ष्मीके नि-

बभौ वक्त्रसरोवरं । स्मितांशुसलिलोत्पीडं लक्ष्म्यावासपवित्रितं ॥ १४ ॥ विजयच्छंदहारेण वक्षःस्थलविलंबिना । सोधान्मरकतागस्य श्रियं निर्झरशोभिनः ॥ १५ ॥ तस्यांसौ वक्षसः प्रांते श्रियमातेनतुः परां । द्वीपस्थलस्य पर्यंते स्थितौ क्षुद्रनगाविव ॥ १६ ॥ बाहू तस्य महाबाहोरधातां बलमूर्जितं । यतो बाहुबलीत्यासीन्नामास्य महसां निधेः ॥ १७ ॥ मध्येगात्रमसौ दध्रे गभीरं नाभिमंडलं । कुलाद्रिरिव पद्मायाः सेवनीयं महत्सरः ॥ १८ ॥ कटीतटं बभावस्य कटिसूत्रेण वेष्टितं । महाहिनेव विस्तीर्णं तटं मेरोर्महोन्नतेः ॥ १९ ॥ कदलीस्तंभनिर्भासावूरू तस्य विरेजतुः । लक्ष्मीकरतलाजस्रस्पर्शादिव समुज्ज्वलौ ॥ २० ॥ शुशुभाते शुभे जंघे तस्य विक्रमशालिनः । भविष्यत्प्रतिमायोगतपःसिध्यंगतां गते ॥ २१ ॥ क्रमौ मृदुतलौ तस्य

वास करनेसे अति पवित्र ऐसा उसका मुखरूपी सरोवर नेत्ररूपी दोनों कमलोंसे बहुत ही सुशोभित होता था ॥ १४ ॥ वह राजकुमार बाहुबलि अपने विशाल वक्षःस्थलपर लटकते हुये पांचसौ चार लडीके विजयछंद नाम हारसे ऐसा सुशोभित होता था मानों अनेक निर्झरनोंसे शोभायमान मरकतमणिका पर्वत ही हो ॥ १५ ॥ विशाल वक्षःस्थलके प्रांतभागमें उसके दोनों ही कंधे ऐसे अच्छे सुशोभित होते थे मानों किसी द्वीपके इधर उधरके दोनों किनारोंके समीप दो छोटे २ पर्वत ही हों ॥ १६ ॥ अत्यंत तेजस्वी और लंबी भुजाओंको धारण करनेवाले उस बाहुबलीकी भुजाओंमें बहुत ही बल था और केवल उसके भुजाओंके बलसे ही उसका बाहुबली नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥ १७ ॥ उस बाहुबलिके शरीरके मध्यभागमें गंभीर नाभिमंडल ऐसा अच्छा जान पडता था मानों कुलाचल पर्वतपर लक्ष्मीके निवास करने योग्य एक बडा तलाव हो ॥ १८ ॥ सुवर्णमय करधनीसे घिरा हुआ उसका कटीतट अर्थात् कमर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों किसी बडे सर्पसे घिरा हुआ अतिशय ऊंचे ऐसे मेरुपर्वतका एक बडा किनारा ही हो ॥ १९ ॥ केलेके थंभेके समान दैदीप्यमान उसके दोनों ऊरु (जंघाका ऊपरी भाग) ऐसे सुंदर जान पडते थे मानों वे लक्ष्मीकी हथेलीके बार बार स्पर्श होनेसे ही बहुत उज्ज्वल हो गये हों ॥ २० ॥ अतिशय पराक्रमको धारण करनेवाले उस बाहुबलीके दोनों ही जंघा बडे ही सुंदर थे और ऐसे जान पडते थे

लसदंगुलिसद्दली । रुचिं दधतुरारक्तौ रक्ताभोजस्य सश्रियः ॥ २२ ॥ इत्यसौ परमोदारं दधानश्चरमं वपुः । संमाति स्म कथं नाम मानिनीहृत्कुटीर-के ॥ २३ ॥ स्वप्नेऽपि तस्य तद्रूपमनन्यमनसोंगनाः । पश्यंति स्म मनोहारि निखातमिव चेतासि ॥ २४ ॥ मनोभवो मनोजश्च मनोभूर्मन्मथोंगजः । मदनोनन्यजश्चेति व्याजन्हुस्तं तदांगनाः ॥ २५ ॥ सुमनोमंजरीबाणैरिक्षुधन्वा किलांगजः । जगत्संहारकारीति कः श्रद्दध्यादयुक्तिकं ॥ २६ ॥ स-

मानों वह बाहुबली जो आगामी कालमें प्रतिमायोग तपश्चरण धारण करेगा उसके सिद्ध करनेके-लिये कारण ही हों ॥ २१ ॥ उसके दोनों ही चरण लाल कमलके समान सुशोभित होते थे क्योंकि जिसप्रकार कमल कोमल होता है उसीप्रकार उसके पैरोंका तलवा (नीचेकाभाग) भी बहुत कोमल था, कमलमें जिसप्रकार पंखुरियां होती हैं उसीप्रकार उसके पैरोंमें भी उंगलीरूपी पंखुरियां सुशोभित हो रही थीं, लाल कमल अरुण अर्थात् कुछ २ लाल होता है उसीप्रकार उसके पैर भी कुछ कुछ लाल थे और कमलपर जो लक्ष्मी रहती है वही लक्ष्मी अर्थात् शोभा उसके पैरोंपर विद्यमान थी ॥ २२ ॥ इसप्रकार अतिशय उदार और मुक्तिके योग्य चरमशरीरको धारण करनेवाला वह बाहुबली कामदेव अभिमान करनेवाली स्त्रियोंके हृदयरूपी छोटेसे झोंपडेमें न जाने कैसे प्रवेश करगया था, भावार्थ-स्त्रियोंका हृदय बहुत छोटा होता है और उसका शरीर बहुत ऊंचा था, द्वितीय वह चरमशरीरी (मोक्ष जानेवाला) था, अभिमानिनी स्त्रियां चरमशरीरी अर्थात् वृद्धको पसंद ही नहीं करती हैं इन कारणोंके होते हुये भी उसका वह शरीर स्त्रियोंके हृदयमें प्रवेश कर गया यह बडे आश्चर्यकी बात है ॥२३॥ जिनका चित्त कहीं दूसरी जगह नहीं जाता केवल बाहुबलीमें ही लगा हुआ है ऐसी स्त्रियां स्वप्नमें भी उस बाहुबलीका मनोहर रूप इसप्रकार देखती थीं मानों वह रूप उनके चित्तमें ही उकेर दिया गया हो ॥२४॥ स्त्रियां उसे मनोभव, मनोज, मनोभू, मन्मथ, अंगज, मदन और अनन्यज आदि कितने ही नामोंसे पुकारती थीं (मनोभव मनोज आदि ऊपर कहे हुये सब कामदेवके नाम हैं) ॥२५॥

मा भरतराजेन राजन्याः सर्व एव ते । विद्यया कलया दीप्त्या कांत्या सौंदर्यलीलया ॥ १७ ॥ शतमेकोत्तरं पुत्रा भर्तुस्ते भरतादयः । क्रमात्प्रापुर्युवावस्थां मदावस्थामिव द्विपाः ॥ २८ ॥ तद्यौवनमभूत्तेषु रमणीयतरं तदा । उद्यानपादपौघेषु वसंतस्येव जृंभितं ॥ २९ ॥ स्मितांशुमंजरीः शुभ्राः सताम्रान् पाणिपल्लवान् । भुजशाखाः फलोदग्रास्ते दधुर्युवपार्थिवाः ॥ ३० ॥ ततामोदेन धूपेन वासितास्तच्छिरोरुहाः । गंधांधैरलिभिर्लीनैः कृताः सो-

---

लोग कहते हैं कि कामदेवके पास ईखका धनुष है तथा फूल और मंजरियोंके बाण हैं, तथापि वह उसी ईखके धनुष और उसी पुष्प और मंजरियोंके बाणोंसे इस जगतको संहार कर डालता है इस युक्तिरहित बातपर भला कौन विश्वास कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। भावार्थ--कामदेव कमल, अशोक वृक्षके फूल, आमकी मंजरी, वेलाके फूल और नीलकमल इन पांच पुष्पबाणोंसे जगतको वश करता है यह बात मिथ्या है वास्तवमें कामदेव बाहुबली थे जो कि अपने बलसे ही सब जगतको बश कर लेते थे ॥ २६ ॥ इसप्रकार भगवान् वृषभदेवके वे सब ही राजपुत्र विद्या, कला, दीप्ति, कांति और सुंदरताके विलाससे राजकुमार भरतके समान थे ॥ २७ ॥ जिसप्रकार हाथी अनुक्रमसे मदोन्मत्त अवस्थाको प्राप्त होता है उसीप्रकार भगवान् वृषभदेवके वे भरत आदि एकसौएक पुत्र अनुक्रमसे युवावस्थाको प्राप्त हुयेथे ॥ २८ ॥ जिसप्रकार कृत्रिम बगीचेके वृक्षसमूहोंपर बसंतऋतुका फैलाव मनोहर लगता है उसीप्रकार उन राजकुमारोंमें भी उससमयकी वह यौवन अवस्था बहुत ही मनोहर जान पडती थी ॥ २९ ॥ युवावस्थाको प्राप्त हुये वे पार्थिव अर्थात् राजपुत्र पार्थिव अर्थात् पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्षोंके समान जान पडते थे, क्योंकि जिसप्रकार वृक्षोंपर सफेद मंजरियां होती हैं उसीप्रकार उनके मुखपर भी मंदहास्यकी किरणेंरूप सफेद मंजरियां थीं, वृक्षोंपर जिसप्रकार लाल नये पत्ते होते हैं उसीप्रकार उनके भी कुछ २ लाल ऐसे हाथरूपी कोमल पत्ते थे, और वृक्षोंके जिसप्रकार फल देनेवाली शाखायें होती हैं उसीप्रकार उनके भी उत्तम फल देनेवाली भुजायेंरूप शाखायें थीं ॥ ३० ॥ चारोंओर

पच्चया इव ॥ ३१ ॥ तन्मुखामोदमाघ्रातुमायांती भ्रमरावली । सर्वांगीणं तदामोदमन्वभूत्क्षणमाकुला ॥ ३२ ॥ रत्नकुंडलयुग्मेन मकरांकेण भूषितं । कर्णद्वयं बभौ तेषां मदनेनेव चिन्हितं ॥ ३३ ॥ नेत्रोत्पलद्वयं तेषामिषूकृत्य मनोभवः । भ्रूलताचापयष्टिभ्यां स्त्रीसृष्टिं वशमानयत् ॥ ३४ ॥ वपुर्दीप्तं मुखं कांतं मधुरो नेत्रविभ्रमः । कर्णाविभ्यर्णविश्रांतनेत्रोत्पलवतंसितौ ॥ ३५ ॥ भ्रुवौ सविभ्रमे शस्तं ललाटं नासिकांचिता । कपोलावुपमातीतावपोढितशशिश्रियौ ॥ ३६ ॥ रक्तो रागरसेनेव पाटलो दशनच्छदः । स्वरो मृदंगनिर्घोषगंभीरः श्रुतिपेशलः ॥ ३७ ॥ सूत्रमार्गमनुप्रौतैर्जगच्चेतोभिनंदिभिः ।

जिसकी सुगंध फैल रही है ऐसी सुगंधित धूपसे उन राजकुमारोंके शिरके बाल सुगंधित किये जाते थे उस सुंगधसे अंधे होकर बहुतसे भ्रमर उनपर आकर बैठते थे जिससे वे बाल उन भ्रमरोंके समूहके समान जान पडते थे ॥ ३१ ॥ अनेक भ्रमर उन राजकुमारोंके मुखकी सुगंध सूंघनेके लिये आते थे परंतु उस समय वे क्षणभर व्याकुल होकर समस्त शरीरमें व्याप्त हुई उस सुगंधिका अनुभव करते थे ॥ ३२ ॥ मगरके आकारके हीरोंसे जडे हुये रत्नोंके दोनों कुंडलोंसे सुशोभित हुये उन राजकुमारोंके कर्ण ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों उनपर कामदेवने अपना चिन्ह ही लगा दिया हो ॥ ३३ ॥ उनके नेत्ररूपी कमल और भोंहरूपी लतायें ऐसी सुंदर थीं कि मानों कामदेव उनके नेत्ररूपी कमलोंको बाण बनाकर और भोंहरूपी लताओंको धनुषकी लकडी बनाकर ही संपूर्ण स्त्रियोंको अपने वश करता था ॥ ३४ ॥ उन राजकुमारोंका शरीर दैदीप्यमान था, मुख मनोहर था, नेत्रोंका विलास (कटाक्ष) मधुर था, दोनों कर्ण समीपमें रहनेवाले नेत्ररूपी कमलोंसे विभूषित थे ? ॥ ३५ ॥ दोनों भोहोंका विलास (भोहोंका नाचना) बहुत अच्छा था, ललाट प्रशंसनीय था, नासिका पूज्य थी, दोनों कपोल चंद्रमाकी शोभाको भी तिरस्कार करनेवाले थे और इसलिये ही वे उपमारहित थे ॥ ३६ ॥ उनके अधर कुछ कुछ लाल थे मानों अनुरागके रससे ही लाल होगये हों, स्वर अर्थात् आवाज मृदंगके शब्दके समान गंभीर था और वह कानोंको बहुत मधुर लगता था ॥ ३७ ॥ उनका कंठ अक्षरोंके समान मोतियोंसे व्याप्त था अर्थात् उस-

कंठ्यैरिवाक्षरैः शुद्धैः कंठो मुक्ताफलैर्वृतः ॥ ३८ ॥ वक्षो लक्ष्म्या परिष्वक्तमंसौ च विजयश्रिया । व्यायामकर्कशौ बाहू पीनावाजानुलंबिनौ ॥ ३९ ॥ नाभिः शोभानिधानोर्वी चार्वी निर्वापणी दृशां । तनुमध्यं जगन्मध्यनिर्विशेषमशेषतः ॥ ४० ॥ लसद्वसनमामुक्तरशनं जघनं घनं । कायमानमिवानंगनृपतेः कृतनिर्वृति ॥ ४१ ॥ पीनौ चारुरुचावूरू नारीजनमनोरमौ । जंघे विनिर्जितानंगनिषंगरुचिराकृती ॥ ४२ ॥ सर्वांगसंगतां कांतिमिवौचित्य

में अक्षरोंके समान मोती पडे हुये थे जिसप्रकार अक्षर शब्द अर्थके दोषोंसे अथवा स्थान (जहांसे अक्षरोंका उच्चारण होता है) और प्रयत्नके दोषोंसे रहित शुद्ध होते हैं उसीप्रकार वे मोती भी कलंकादिरहित शुद्ध थे, अक्षर जिसप्रकार कंठ्य अर्थात् कंठसे उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार मोती भी कंठ्य अर्थात् कंठमें पहनने योग्य थे, अक्षर जिसप्रकार संसारके चित्तको आनंद उत्पन्न करनेवाले होते हैं उसीप्रकार वे मोती भी संसारके चित्तको आनंद उत्पन्न करनेवाले थे और अक्षर जिसप्रकार सूत्रमार्ग अर्थात् मूल ग्रंथके अनुसार ही स्थापित किये जाते हैं उसीप्रकार मोती भी सूत्रमार्ग अर्थात् डोरेमें पिरोये हुये थे ॥ ३८ ॥ उनका वक्षःस्थल लक्ष्मीके द्वारा आलिंगन किया हुआ था दोनो कंधे विजयरूपी लक्ष्मीसे आलिंगन किये हुये थे और दोनों भुजायें व्यायाम अर्थात् मल्लविद्याके परिश्रमसे (कसरतसे) बडी ही कठिन हो रही थीं बडी ही पुष्ट थीं और घुटनोंतक लटक रही थीं ॥ ३९ ॥ उनकी नाभि भी सुंदरताके खजानेकी भूमि थी, बडी ही सुंदर थी और नेत्रोंको सुख देनेवाली थी, इसीप्रकार उनके शरीरका मध्यभाग भी तीनों लोकोंके मध्यभागके समान था अर्थात् वह बहुत ही सूक्ष्म था ॥ ४० ॥ जिनपर चारों ओरसे देदीप्यमान वस्त्र सुशोभित हो रहे हैं और थोडी थोडी करधनी लटक रही है ऐसे उनके घनीभूत जघन ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों कामदेवरूपी राजाको सुख देनेवाले कपडेके बने हुये तंबू ही हों ॥ ४१ ॥ उनके दोनों ही ऊरू (जंघाके ऊपरी भाग) बडे मजबूत थे, सुंदर कांतिको धारण करनेवाले थे और स्त्रियोंके मन हरण करनेवाले थे तथा उनकी जंघाये कामदेवके तरकसकी सुंदर शो-

स्तुतामधः । क्रमौ विनिर्मितौ लक्ष्म्या न्यक्कृतारुणपंकजौ ॥ ४३ ॥ तेषां प्रत्यंगमत्युद्धा शोभा स्वात्मगतैव या । तत्समुत्कीर्त्तनैवालं खल्वुक्त्वा वर्णनांतरं ॥ ४४ ॥ निसर्गरुचिराण्येषां वपूंषि मणिभूषणैः । भृशं रुरुचिरे पुष्पैर्वनानीव विकासिभिः ॥ ४५ ॥ तेषां विभूषणान्यासन्मुक्तारत्नमयानि वै । यष्टयो हारभेदाश्च रत्नावल्यश्च नैकधा ॥ ४६ ॥ यष्टयः शीर्षकं चोपशीर्षकं चावघाटकं । प्रकांडकं च तरलप्रबंधश्चेति पंचधा ॥ ४७ ॥ केषांचिच्छीर्षकं यष्टिः केषांचिदुपशीर्षकं । अवघाटकमन्येषामपरेषां प्रकांडकं ॥ ४८ ॥ तरलप्रतिबंधश्च केषांचित्कंठभूषणं । मणिमध्याश्च शुद्धाश्च तास्तेषां यष्टयोभ-

भाको भी जीतनेवाली थीं ॥ ४२ ॥ अपनी शोभासे लाल कमलोंको भी तिरस्कार करनेवाले ऐसे उनके दोनों पैर ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों समस्त शरीरमें रहनेवाली जो कांति वहकर नीचेकी ओर गई थी उसे इकट्ठा करके ही वे बनाये गये हों ॥ ४३ ॥ इसप्रकार उन राजकुमारोंको प्रत्येक अंगकी प्रशंसनीय शोभा उसीशोभाके समान थी वैसी शोभा दूसरी जगह कहीं भी नहीं थी इसलिये अन्य पदार्थोंका वर्णनकर उनके शरीरकी सुंदरता वर्णन करनेसे क्या लाभ है ? भावार्थ—उनका शरीर इतना सुंदर था कि उनके उपमा योग्य संसारमें कोई दूसरा पदार्थ नहीं था ॥ ४४ ॥ जिसप्रकार खिले हुये पुष्पोंसे बन सुशोभित होता है उसीप्रकार स्वभावसे ही सुंदर ऐसे उन राजकुमारोंके शरीर भी मणियोंके आभूषणोंसे बहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ ४५ ॥ उन राजकुमारोंके यष्टि, हार और पद्मरागमणियोंकी बनी हुई मालायें आदि मोती और रत्नोंके बने हुये अनेक प्रकारके आभूषण थे ॥ ४६ ॥ उनमेंसे यष्टिके शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकांडक और तरलप्रबंध ये पांच भेद हैं ॥ ४७ ॥ इन पांच प्रकारकी यष्टियोंमेंसे उन राजकुमारोंके किसीके शीर्षक यष्टि थी कितनोंके उपशीर्षक थी कितनोंके अवघाटक और कितनोंके ही प्रकांडक यष्टि थी ॥ ४८ ॥ तथा कितने ही राजकुमारोंने पांचवीं तरलप्रतिबंध नामकी यष्टिका कंठाभरण पहना था । ऊपर कही हुई पांचों प्रकारकी यष्टियोंमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद होते है एक मणिमध्या यष्टि अर्थात् जिसके बीचमें कोई मणि लगा हो

वन् ॥ ४९ ॥ सूत्रमेकावली सैव यष्टिः स्यान्मणिमध्यमा । रत्नावली भवेत्सैव सुवर्णमणिचित्रिता ॥ ५० ॥ युक्तप्रमाणसौवर्णमणिमाणिक्यमौक्तिकैः । सांतरं ग्रथिता भूषा भवेदुरपवर्तिका ॥ ५१ ॥ यष्टिः शीर्षकसंज्ञा स्यान्मध्यैकस्थूलमौक्तिका । मध्यैस्त्रिभिः क्रमस्थूलैर्मौक्तिकैरुपशीर्षकं ॥ ५२ ॥ प्रकांडकं क्रमस्थूलैः पंचभिर्मध्यमौक्तिकैः । मध्यादनुक्रमाद्धीनैर्मौक्तिकैरवघाटकं ॥ ५३ ॥ तरलप्रतिबंधः स्यात्सर्वत्र सममौक्तिकैः । तथैव मणियुक्ता-

---

और दूसरा शुद्धायष्टि अर्थात् जिसके मध्यमें कोई मणि नहीं लगा हो केवल मोतियोंसे ही बनी हो । इसप्रकार यष्टिके (लडियोंके) सब दश भेद हुये, शीर्षक आदि पांच मणिमध्या और ये ही पांच शुद्धा ॥४९॥ जो मणिमध्यमायष्टि है उसे सूत्र और एकावली भी कहते हैं (जो यष्टि केवल मोतियोंसे बनाई जाती हैं उसे भी सूत्र अथवा एकावली कहते हैं ।) यदि वही मणिमध्यमायष्टि सुवर्ण और मणियोंसे गुंथी हुई हो तो फिर उसे रत्नावली कहते हैं ॥ ५० ॥ यदि सुवर्ण, मणि, माणिक्य और मोती ये दो, तीन, चार, पांच आदि नियमित संख्याके अंतरसे गूंथे गये हों अर्थात् कितनेमें ही दो दो के अंतरसे मणि लगे हैं, कितनेहीमें तीन तीनके अंतरसे, कितनेहीमें चारके अंतरसे और कितनेहीमें पांच पांचके अंतरसे माणि गूंथे हुये हों उसे अपवर्तिका यष्टि कहते हैं । (जो मणि सूतमें पिरोई हो उसे मणि कहते हैं और जो सुवर्णमें जडी हो उसे माणिक कहते हैं) ॥ ५१ ॥ जिसके बीचमें एक बडा मोती हो उसे शीर्षक यष्टि कहते हैं जिसके बीचमें अनुक्रमसे बढते हुये बडे २ तीन मोती हों (एक बडा बीचमें और अन्य मोतियोंसे बडा किंतु बडेसे छोटा एक एक इधर उधर) उसे उपशीर्षक कहते हैं ॥ ५२ ॥ जिसके बीचमें अनुक्रमसे बढते हुये पांच मोती लगे हों उसे प्रकांडक कहते हैं तथा जिसके बीचमें एक बडा मोती हो और दोनोंओर अंततक अनुक्रमसे घटते हुये छोटे छोटे मोती लगे हों उसे अवघाटक यष्टि कहते हैं ॥ ५३ ॥ और जिसमें सबजगह सब मोती एकसे लगे हों न कोई छोटा हो और न कोई बडा हो उसे तरलप्रतिबंध कहते हैं । ऊपर जो एकावली रत्नावली और अपव-

नामूह्या भेदास्त्रिधात्मनां ॥ ५४ ॥ हारो यष्टिकलापः स्यात्सचैकादशधा मतः । इंद्रच्छंदादिभेदेन यष्टिसंख्याविशेषतः ॥ ५५ ॥ यष्टयोऽष्टसहस्रं तु यत्रेंद्रच्छंदसंज्ञकः । स हारः परमोदारः शक्रचक्रिजिनेशिनां ॥ ५६ ॥ तदर्द्धप्रमितो यस्तु विजयच्छंदसंज्ञकः । सोर्द्धचक्रधरस्योक्तो हारोन्येषु स केषु-चित् ॥ ५७ ॥ शतमष्टोत्तरं यत्र यष्टीनां हार एव सः । एकाशीत्या भवेद्देवच्छंदो मौक्तिकयष्टिभिः ॥ ५८ ॥ चतुःषष्ट्यार्धहारः स्याच्चतुःपंचाशता पु-नः । भवेद्रश्मिकलापाख्यो गुच्छो द्वात्रिंशता मतः ॥ ५९ ॥ यष्टीनां सप्तविंशत्या भवेन्नक्षत्रमालिका । शोभां नक्षत्रमालाया या हसंती स्वमौक्तिकैः ॥ ६० ॥ चतुर्विंशत्यार्द्धगुच्छो विंशत्या माणवाह्वयः । भवेन्मौक्तिकयष्टीनां तदर्द्धेनार्द्धमाणवः ॥ ६१ ॥ इंद्रच्छंदादिहारास्ते यदा स्युर्मणिमध्यमाः । मा-

---

र्तिका ये मणियुक्त यष्टियोंके तीन भेद कहे हैं उनमें भी प्रत्येकके शीर्षक आदि पांच पांच भेद जानना, इसप्रकार ये पंद्रह भेद हुये ॥ ५४ ॥ जो यष्टि अर्थात् लडियोंका समूह हो उसे हार कहते हैं वह हार लडियोंकी न्यूनाधिक संख्या होनेसे इंद्रछंद आदिके भेदसे ग्यारह प्रकारका माना जाता है ॥ ५५ ॥ जिसमें एकहजार आठ लडियां हों वह सबसे बडा इंद्रछंद नामका हार कहलाता है, यह हार इंद्र चक्रवर्ती और जिनेंद्रदेवके पहनने योग्य होता है ॥ ५६ ॥ जिसमें पांचसौ चार लडियां हों उसे विजयच्छंद हा-र कहते हैं, यह अर्धचक्रवर्ति अर्थात् नारायणके पहनने योग्य होता है, बलभद्र प्रतिनारायण आदि अ-न्य कोई कोई मनुष्य भी इसे पहन सकते हैं ॥ ५७ ॥ जो एकसौ आठ लडियोंसे बनाया गया हो उसे हार कहते हैं और जो मोतियोंकी इक्यासी लडियोंसे बनाया गया हो उसे देवच्छंद हार कहते हैं ॥५८॥ जिसमें चौसठि लडियां हों वह अर्द्धहार कहलाता है, जिसमें चौवन लडियां हों उसका नाम रश्मिकलाप है तथा जिसमें बत्तीस लडियां हो उसे गुच्छ कहते हैं ॥ ५९ ॥ सत्ताईस लडियोंके हारको नक्षत्रमाला अथवा नक्षत्रमालिका कहते हैं, यह नक्षत्रमाला हार अपने मोतियोंसे अश्विनी भरणी आदि नक्षत्रोंकी माला अर्थात् समूहकी ओर भी हंसता हुआ जान पडता है ॥ ६० ॥ चौवीस लडियोंके हारको अर्द्ध-गुच्छ, वीस लडियोंके हारको माणव और मोतियोंकी दश लडियोंके हारको अर्द्धमाणव कहते हैं ॥ ६१ ॥

णवाख्या विभूषाः स्युस्तत्पदोपपदास्तदा ॥ ६२ ॥ य एकशीर्षकः शुद्धहारः स्याच्छीर्षकात्परः । इंद्रच्छंदाद्युपपदः स चैकादशभेदभाक् ॥ ६३ ॥ तथोपशीर्षकादीनामपि शुद्धात्मनां भिदा । तर्ह्याः शुद्धास्ततो हाराः पंचपंचाशदेव हि ॥ ६४ ॥ भवेत्फलकहाराख्यो मणिमध्योर्द्धमाणवः । त्रिहेमफलकः पंचफलको वा यदा तदा ॥ ६५ ॥ सोपानमणिसोपानद्वैविध्यात्स मतो द्विधा । सोपानाख्यस्तु फलकै रौक्मैरन्यः सरत्नकैः ॥ ६६ ॥ इत्यमूनि युगारंभे कंठोरोभूषणानि वै । स्रष्टासृजत्स्वपुत्रेभ्यो यथास्वं ते च तान्यधुः ॥ ६७ ॥ इत्याद्याभरणैः कंठ्यैरन्यैश्चान्यत्रभाविभिः । ते राजन्या व्यराजंत

यदि इन्हीं इंद्रछंद आदि हारोंकी लडियोंके मध्यभागमें मणि पिरोया हो तो फिर उन नामोंके अंतमें माणव शब्द और सुशोभित हो जाता है अर्थात् इंद्रछंदमाणव, विजयछंदमाणव, हारमाणव, देवछंदमाणव आदि कहलाते हैं॥ ६२ ॥ जो एकशीर्षक हार है वह शुद्धहार कहलाता है । शीर्षकके साथ २ यदि इंद्रछंद आदि उपपद लगा दिये जायं तो शीर्षकके भी ग्यारह भेद हो जाते हैं ॥६३॥ जिसप्रकार शीर्षकके ग्यारह भेद होते हैं उसीप्रकार उपशीर्षक प्रकांडक आदि पांचों ही शुद्ध हारोंके इंद्रछंद आदि उपपद लगानेसे प्रत्येकके ग्यारह ग्यारह भेद होते हैं, इसप्रकार शुद्ध हारोंके सब पचपन भेद होते हैं। इंद्रछंद शीर्षक विजयछंदशीर्षक आदि ग्यारह शीर्षक, ग्यारह उपशीर्षक, ग्यारह अवघाटक, ग्यारह प्रकांडक और ग्यारह तरलप्रपंच, इसप्रकार सब पचपन भेद होते हैं॥ ६४ ॥ दश लडियोंका जो अर्द्धमाणव हार होता है यदि उसकी लडियोंके मध्यभागमें मणि पिरोया हो तो फिर उसे फलक हार कहते हैं, उसी फलकहारमें सोनेके तीन फलक और पांच फलक लगे रहनेसे उसके दो भेद हो जाते हैं, जिसमें तीन फलक हों उसे सोपान कहते हैं और जिसमें पांच फलक हों उसे मणिसोपान कहते हैं, इन दोनोंमें भी इतना अंतर है कि सोपान नामके हारमें सोनेके फलक रहते हैं और मणिसोपान हारमें रत्नजडित सुवर्णके फलक होते हैं, (सुवर्णके बने हुये गोल दानेको फलक कहते हैं) ॥ ६५-६६ ॥ इसप्रकार कर्मभूमिके प्रारंभमें भगवान् वृषभदेवने अपने पुत्रोंकेलिये कंठ और वक्षःस्थलपर पहनने योग्य अनेक प्रकार-

ज्योतिर्गणमया इव ॥ ६८ ॥ तेषु तेजस्विनां धुर्यो भरतोऽर्क इवाद्युतत् । शशीव जगतः कांतो युवा बाहुबली बभौ ॥ ६९ ॥ शेषाश्च ग्रहनक्षत्रताराराणनिभा बभुः । ब्राम्ही दीप्तिरिवैतेषामभूज्ज्योत्स्नेव सुंदरी ॥ ७० ॥ स तैः परिवृतः पुत्रैर्भगवान्वृषभो बभौ । ज्योतिर्गणैः परिक्षिप्तो यथा मेरुर्महोदयः ॥ ७१ ॥ अथैकदा सुखासीनो भगवान् हरिविष्टरे । मनो व्यापारयामास कलाविद्योपदेशने ॥ ७२ ॥ तावच्च पुत्रिके भर्तुर्ब्राह्मीसुंदर्यभिष्टवे । धृतमंगलनेपथ्ये संप्राप्ते निकटं गुरोः ॥ ७३ ॥ ते च किंचिदिवोद्भिन्नस्तनकुड्मलशोभिनि । वयस्यनंतरे बाल्याद्वर्त्तमाने मनोहरे ॥ ७४ ॥ मेधावि-

के आभूषण निर्माण किये और उन पुत्रोंने भी अपने अपने योग्य वे सब आभूषण पहिने ॥ ६७ ॥ कंठमें पहनेहुये हारोंसे तथा हाथ पैर आदि अन्य स्थानोंमें भी पहने हुये कडे आदि अनेक आभूषणोंसे वे राजकुमार ऐसे सुशोभित होते थे मानों ज्योतिषी जातिके देवोंके विमानोंका समूह हो ॥ ६८ ॥ उन सब राजपुत्रोंमें तेजस्वियोंमें भी अतिशय तेजस्वी ऐसा भरत सूर्यके समान सुशोभित होता था और संसारको मनोहर दिखनेवाला ऐसा युवा बाहुबली चंद्रमाके समान सुंदर जान पडता था ॥ ६९ ॥ तथा अन्य सब राजपुत्र ग्रह नक्षत्र और ताराओंके समान सुशोभित होते थे, उन सब राजपुत्रोंमें ब्राह्मी कांतिके समान और सुंदरी चांदनीके समान मनोहर दिखाई पडती थी ॥ ७० ॥ जिसप्रकार सूर्य चंद्रमा ग्रह नक्षत्र तारा आदि ज्योतिर्मंडलसे घिरा हुआ अतिशय ऊंचा मेरुपर्वत सुशोभित होता है उसीप्रकार अपने पुत्रोंके मध्यभागमें अतिशय उन्नत भगवान् वृषभदेव भी सुशोभित होते थे ॥ ७१ ॥

अथानंतर-किसी एकदिन भगवान् वृषभदेव बडे सुखसे सिंहासनपर बैठे हुये थे कि अकस्मात् उनका चित्त कला और विद्याओंके उपदेश देनेकेलिये उन्हें प्रेरणा करने लगा ॥ ७२ ॥ जिससमय वे यह ऊपर लिखा हुआ विचार कर रहे थे उसीसमय दैवयोगसे ब्राह्मी और सुंदरी नामकी उनकी पुत्री भी मंगलाभूषण पहनकर उनके समीप आई थीं ॥ ७३ ॥ उससमय वे दोनों ही कन्यायें कुछ कुछ उठे हुये स्तनरूपी कलियोंसे सुशोभित हो रहीं थीं, उन्होंने बाल्यावस्था व्यतीतकर किशोर अवस्थामें पांव र-

न्यौ विनीते च सुशीले चारुलक्षणे । रूपवत्यौ यशस्विन्यौ श्लाध्ये मानवतीजनैः ॥ ७५ ॥ अधिक्षोणिपदन्यासैर्हंसीगतिविडंबिभिः । रक्तांबुजोपहारस्य तन्वाने परितः श्रियं ॥ ७६ ॥ नखदर्पणसंक्रांतस्वांगच्छायापदेशतः । कांत्या न्यक्कृतादिक्कन्याः पद्भ्यां कृष्टुमिवोद्यते ॥ ७७ ॥ सलीलपदविन्यासरणन्नूपुरनिक्कणैः । शिक्षयंत्याविवाहूय हंसीःस्वं गतिविभ्रमं ॥७८॥ चारूरू रुचिमज्जंघे तत्कांतिमतिरेकिणीं । जनानां दृक्पथे स्वैरं विक्षिपंत्याविवाभितः ॥ ७९ ॥ दधाने जघनाभोगं कांचीतूर्यरवांचितं । सौभाग्यदेवतावासमिवांशुकवितानकं ॥ ८० ॥ लावण्यदेवतां यष्टुमनंगाध्वर्युणा कृतं । होमकुंडमि-

---

क्खा था और इसलिये ही वे बडी मनोहर दिखाई पडती थीं ॥ ७४ ॥ वे दोनों ही पुत्रियां बुद्धिमती थीं, विनयशालिनी थीं, उनका स्वभाव भी बहुत अच्छा था, मत्स्य कमल आदि शरीरके बाह्य चिन्ह और भक्ति आदि अंतरंग चिन्ह भी सुंदर थे, वे बडी रूपवती थीं, उनका यश भी खूब फैल रहा था और अभिमानिनी स्त्रियां भी उनकी प्रशंसा करती थीं ॥ ७५ ॥ हंसिनीकी चालको भी लाजित करनेवाली अपनी सुंदर चालसे जिससमय वे पृथ्वीपर पैर रखती हुईं चलती थीं उससमय वे चारोंओर लाल कमलोंकी रचनाकी शोभा बढातीं थीं ॥ ७६ ॥ उनके पैरोंके नखरूपी दर्पणमें जो उन्हींके शरीरका प्रतिबिंब पडता था उससे वे ऐसी जान पडती थीं मानों उस प्रतिबिंबके बहानेसे वे अपनी कांतिसे तिरस्कृत हुई दिक्कुमारियोंको अपने पैरोंसे ऊपर खींचनेकेलिये ही तैयार हुई हों ॥ ७७ ॥ जिससमय वे लीलाके साथ पैर रखती हुईं चलती थीं उससमय रुण झुण शब्द करते हुये उनके नूपुरोंसे (बिछुओंसे) जो मधुर शब्द होता था उससे वे ऐसी जान पडती थीं मानो हंसिनियोंको बुलाकर उन्हें अपनी चालका सुंदर विलास ही सिखला रहीं हों ॥ ७८ ॥ उनके ऊरू (जंघाके ऊपरी भाग) बडे ही सुंदर थे और उनकी जंघायें भी बहुत मनोहर थीं । उन दोनोंसे वे ऐसी जान पडती थीं मानों ऊरू और जंघाकी बहुत बढी हुई कांतिको लोगोंकी आंखोंके सामने चारोंओर वे स्वयं फेंक रहीं हों ॥ ७९ ॥ करधनी और अधोवस्त्र (धोती) से सुशोभित उनका विस्तृत जघन ऐसा अच्छा जान पडता था मानों करध-

वानिम्नं दधत्यौ नाभिमंडलं ॥ ८१ ॥ वहंत्यौ किंचिदुद्भूतश्यामिकां रोमराजिकां । मनोभवगृहावेशधूपधूमशिखामिव ॥ ८२ ॥ तनुमध्ये कृशोदर्यो-
वारक्तकरपल्लवे । मृदुबाहुलते किंचिदुद्भिन्नकुचकुड्मले ॥ ८३ ॥ दधाने रुचिरं हारमाक्रांतस्तनमंडलं । तदाश्लेषसुखासंगात्स्मयमानमिवांशुभिः ॥८४॥
सुकंठ्यौ कोकिलालापनिर्हारिमधुरस्वरे । ताम्राधरे दरोद्भिन्नस्मितांशुरुचिरानने ॥ ८५ ॥ सुदंत्यो ललितापांगवीक्षिते सांद्रपक्ष्मणी । मदनस्येव जैत्रास्त्रे

नीमें लगी हुई छुद्रघंटिका (छोटी २ घंटी) रूप तुरईके बाजेसे पूज्य ऐसा धोतीका चंदोवा जिसपर टंगा हुआ है ऐसा सौभाग्यरूप देवताके निवास करनेका तंबू ही हो ॥८०॥ उनका अतिशय गहरा नाभिमंडल ऐसा अच्छा जान पडता था मानों कामदेवरूपी पूजा करनेवाले यजमानने लावण्यरूपी देवताकी पूजा करनेकेलिये होम करनेका कुंड बनाया हो ॥८१॥ जिसकी श्यामता (कालापन) कुछ कुछ प्रगट हो रही है ऐसी उसकी रोमावली ऐसी जान पडती थी मानों जिससमय कामदेवने अपने घरमें प्रवेश किया था उससमयकी खेई हुई धूपसे उठी हुई धूमकी शिखा ही हो ॥ ८२ ॥ उन दोनों कन्याओंके शरीरका मध्यभाग बहुत ही कृश (सूक्ष्म) था, उदर भी कृश था, हाथरूपी पल्लव कुछ २ लाल थे, भुजारूप लतायें कोमल थीं और स्तनरूप कलियां कुछ कुछ उठ रहीं थीं ॥ ८३ ॥ उनके वक्षःस्थलपर स्तनमंडलको आक्रमण करते हुये सफेद सुंदर हार पडे हुये थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों कुचोंके आलिंगन करनेसे उन्हें जो कुछ सुखकी प्राप्ति हुई थी उसके निमित्तसे अपनी किरणोंके द्वारा मंद मंद रीतिसे हंस रहे ही हों ॥ ८४ ॥ उनके कंठ बडे ही सुंदर थे, उनकी वाणी कोयलोंकी वाणीके समान मनोहर और मधुर थी, ओठ कुछ कुछ लाल थे और मुख कुछ कुछ प्रफुल्लित थे तथा मंदहास्यकी किरणोंसे बहुत ही सुंदर दिखाई दे रहे थे ॥ ८५ ॥ उनके दांत भी बहुत सुंदर थे, कटाक्षोंके द्वारा देखना भी सुंदर था, बिरूनी (पलकपरके बाल) बहुत सघन थीं और नेत्ररूपी कमल कामदेवके विजय करनेवाले अस्त्रके समान मनोहर थे ॥ ८६ ॥ उनके कपोल बड़े ही दैदीप्यमान और उज्ज्वल थे इस-

दधाने नयनोत्पले ॥ ८६ ॥ लसत्कपोलसंक्रांतैरलकप्रतिबिंबकैः । न्हेपर्यंत्यावभिव्यक्तलक्ष्मणः शशिनः श्रियं ॥ ८७ ॥ समाल्यं कबरीभारं धारयंत्यौ तरंगितं । स्वांतःसंक्रांतगांगौघं प्रवाहमिव यामुनं ॥ ८८ ॥ इति प्रत्यंगसंगिन्या कांत्या कांततमाकृती । सौंदर्यस्येव संदोहमेकीकृत्य विनिर्मिते ॥ ८९ ॥ किमेते दिव्यकन्ये स्तां किंनु कन्ये फणीशिनां । दिक्कन्ये किमुत स्यातां किं वा सौभाग्यदेवते ॥ ९० ॥ किमिमे श्रीसरस्वत्यौ किं वा तदधिदेवते । किं स्यात्तदवतारोयमेवंरूपः प्रतीयते ॥ ९१ ॥ लक्ष्म्याविमे जगन्नाथमहावार्द्धेः किमुद्गते । कल्याणभागिनी च स्यादनयोरियमाकृतिः ॥ ९२ ॥ इति सं-

---

लिये उनमें केशपाशोंका प्रतिबिंब पड रहा था, उन कपोलोंमें पडते हुये केशपाशके प्रतिबिंबसे वे दोनों कन्यायें ऐसी जान पडती थीं मानों जिसमें कलंक प्रगट दिखाई दे रहा है ऐसे चंद्रमाकी शोभाको ही लज्जित कर रही हों ॥ ८७ ॥ उनके काले केशापशोंमें सफेद पुष्पमालायें गुंथी हुई थीं जिससे वह केशपाश ऐसा अच्छा जान पडता था मानों तरंगो सहित गंगाके पानीसे मिला हुआ जमुना नदीका प्रवाह ही हो ॥ ८८ ॥ इसप्रकार शरीरके प्रत्येक अंगमें रहनेवाली कांतिसे वे दोनों ही कन्यायें बडी ही सुंदर थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानों सुंदरताके समूहको एक जगह इकट्ठा करके उससे ही वे दोनों बनाई गई हों ॥ ८९ ॥ उन्हें देखकर लोग आश्चर्यके साथ उनकी प्रशंसा करते थे कि क्या ये दोनों दिव्य कन्यायें हैं, अथवा नागकन्यायें हैं, किंवा दिक्कन्यायें हैं, अथवा कोई सौभाग्यदेवी हैं, अथवा ये दोनों लक्ष्मी और सरस्वती देवी हैं, अथवा लक्ष्मी और सरस्वतीके भी आराधन करने योग्य देवता हैं, अथवा यह ऐसा सुंदर लक्ष्मी और सरस्वतीके आराधन करने योग्य देवताका अवतार ही है, अथवा क्या जगन्नाथ भगवान् वृषभदेव रूपी महासागरसे उत्पन्न हुई ये दोनों लक्ष्मी ही हैं, क्योंकि इन दोनों की यह आकृति बहुत ही सुंदर और कल्याणोंका अनुभव करनेवाली है। इसप्रकार देखनेवाले लोग बडे आश्चर्यसे जिनकी प्रशंसा करते हैं ऐसी वे दोनों ही कन्यायें बडी विनयके साथ भगवान्के समीप आई और आकर उन्हें नमस्कार किया ॥ ९०-९१-९२-९३ ॥ जिनका मस्तक दूरसे ही नम्रीभूत हो रहा

श्लाघ्यमाने ते जनैरुत्पन्नविस्मयैः । सप्रश्रयमुपाश्रित्य जगन्नाथं प्रणेमतुः ॥ ९३ ॥ प्रणते ते समुत्थाप्य दूरान्नमितमस्तके । प्रीत्या स्वमंकमारोप्य स्पृष्ट्वाघ्राय च मस्तके ॥ ९४ ॥ सप्रहासमुवाचैवमेतं मन्ये सुरैः समं । यास्यथोद्यामगेद्यानं नैत्रमेते गताः सुराः ॥ ९५ ॥ इत्याक्रीड्य क्षणं भूयोप्येवमाख्यद्गिरांपतिः । युवां युवजरत्यौ स्थः शीलेन विनयेन च ॥ ९६ ॥ इदं वपुर्वयश्चेदमिदं शीलमनीदृशं । विद्यया चेद्विभूष्येत सफलं जन्म वामिदं ॥९७॥ विद्यावान्पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः । नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदं ॥९८॥ विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी मता । सम्यगा-

है ऐसी प्रणाम करती हुई उन दोनों कन्याओंको उठाकर भगवान्‌ने बडे प्रेमसे अपनी गोदीमें बिठाया तथा उनपर हाथ फेर कर उनका मस्तक सूंघा और हंसते हुये उनसे कहने लगे कि आओ, तुम दोनों यह समझती होंगीं कि हम देवोंके साथ अमरबनको जायंगी परंतु तुम दोनों अब नहीं जा सकोंगीं क्योंकि देव लोग पहिले ही चले गये । भावार्थ–यह हंसीका वाक्य है भगवान् उन कन्याओंसे कहते हैं कि जिसप्रकार देवलोग अमरबन अर्थात् मोक्षको नहीं जा सकते उसीप्रकार तुम दोनों भी मोक्ष नहीं जा सकोंगी (यहां व्याकरणके नियमके अनुसार हंसीके वाक्योंका प्रयोग होनेसे 'मन्ये' यहां मध्यम पुरुषकी जगह उत्तम पुरुष और एक बचन हो गया है और 'यास्यथः' यहां उत्तम पुरुषकी जगह मध्यम पुरुष हो गया है) ॥ ९४-९५ ॥ इसप्रकार भगवान् वृषभदेवने क्षणभर उन दोनों कन्याओंके साथ क्रीडा की और फिर कहने लगे कि तुम दोनों किशोर अवस्थामें भी शील और विनय आदि गुणोंसे वृद्धाके समान हो ॥ ९६ ॥ तुम्हारा यह शरीर, यह अवस्था और यह अनुपम शील यदि विद्यासे विभूषित किया जाय तो तुम दोनोंका जन्म सफल हो सकता है ॥ ९७ ॥ इससंसारमें विद्यावान् पुरुष पंडितोंके द्वारा भी मान्य गिना जाता है और यदि स्त्री पढी लिखी विद्यावती हो तो वह सब स्त्रियोंमें प्रधान स्त्री गिनी जाती है ॥९८॥ मनुष्योंको यश देनेवाली विद्या है, विद्या ही समस्त कल्याण करने वाली है, यदि विद्यारूपी देवताका अच्छीतरह आराधन किया जाय तो वह अनेक इष्ट पदार्थोंको देती है

राधिता विद्यादेवता कामदायिनी ॥९९॥ विद्या कामदुघा धेनुर्विद्या चिंतामणिर्नृणां। त्रिवर्गफलितां सूते विद्या संपत्परंपरां ॥१००॥ विद्या बंधुश्च मित्रं च विद्या कल्याणकारकं। सहयायि धनं विद्या विद्या सर्वार्थसाधनी ॥ १०१ ॥ तद्विद्याग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुतं युवां। तत्संग्रहणकालोयं युवयोर्वर्त्ततेधुना ॥ १०२ ॥ इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके। अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया ॥ १०३ ॥ विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकां। उपादिशल्लिपिं संख्याज्ञानं चांकैरनुक्रमात् ॥ १०४ ॥ ततो भगवतो वक्त्रान्निःसृतामक्षरावलीं। सिद्धं नम इति व्यक्तमंगलां सिद्धमातृकां ॥ १०५ ॥ अकारादिहकारांतां शुद्धां मुक्तावलीमिव। स्वरव्यंजनभेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीं ॥ १०६ ॥ अयोगवाहपर्यंतां सर्वविद्यासु संगतां।

॥९९॥ मनुष्योंको इच्छानुसार पदार्थ देनेके लिये विद्या कामधेनुके समान है, अथवा विद्या ही चिंतामणी के समान है, धर्म अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंको उत्पन्न करनेवाली अनेक संपदाओंकी उत्पत्ति केवल विद्यासे ही होती है ॥ १०० ॥ संसारमें विद्या ही बंधु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करनेवाली है, विद्या ही सहायक धन है, और विद्या ही समस्त पदार्थोंको तथा मनोरथोंको सिद्ध करनेवाली है ॥ १०१ ॥ इसलिये हे पुत्रियो! तुम भी विद्या ग्रहण करनेका प्रयत्न करो, तुम दोनोंके विद्या ग्रहण करनेका यही समय है ॥ १०२ ॥ भगवान वृषभदेवने इसप्रकार कहकर तथा बार बार उन्हें आश्वासन देकर विशाल सुवर्णके पट्टेपर अपने चित्तमें विराजमान श्रुतदेवताको पूजनकर स्थापन किया और फिर दोनों हाथोंसे अ, आ, इ, ई आदि अक्षरमालिका लिखी तथा अनुक्रमसे इकाई दहाई आदि अंकोंके द्वारा संख्याका ज्ञान कराया इसप्रकार भगवानने उन दोनों पुत्रियोंको लिखनेका उपदेश दिया। भावार्थ—भगवानने दायें हाथसे अकारादि अक्षर लिखे और वायें हाथसे इकाई दहाई आदि अंकोंके द्वारा संख्या लिखी ॥ १०३-१०४ ॥ तदनंतर भगवान् वृषभदेवके मुखसे निकली हुई तथा जिसमें सिद्धं नमः ऐसा प्रगट रीतिसे मंगलाचरण किया गया है अर्थात् जिसमें प्रथम ही सिद्धं नमः ऐसा उच्चारण किया गया है, जिसका नाम सिद्धमातृका अर्थात् समस्त शास्त्रोंको उत्पन्न करनेवाली है,

संयोगाक्षरसंभूतिं नैकबीजाक्षरैश्चितां ॥ १०७ ॥ समवादीधरत् ब्राह्मी मेधाविन्यतिसुंदरी । सुंदरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत् ॥ १०८ ॥ न विना वाङ्मयात्किंचिदस्ति शास्त्रं कलापि वा । ततो वाङ्मयमेवादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत् ॥ १०९ ॥ सुमेधसावसम्मोहादध्येषातां गुरोर्मुखात् । वाग्देव्याविव निःशेषं वाङ्मयं ग्रंथतोर्थतः ॥ ११० ॥ पदविद्यामधिछंदोविचितिं वागलंकृतिं । त्रयीं समुदितामेतां तद्विदो वाङ्मयं विदुः ॥ १११ ॥ तदा स्वायंभुवं नाम पदशास्त्रमभून्महत् । यत्तत्परःशताध्यायैरतिगंभीरमब्धिवत् ॥ ११२ ॥ छंदोविचितिमप्येवं नानाध्यायैरुपादिशत् । उक्तात्युक्ता-

---

स्वर और व्यंजनके भेदसे जिसके दो भेद होते हैं और जो समस्त विद्याओंमें पाई जाती है ऐसी अकारसे लेकर हकार पर्यंत तथा विसर्ग, अनुसार, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इन अयोगवाह पर्यंत समस्त शुद्ध अक्षरावली अर्थात् अक्षरोंके समूहको मुक्तावली अर्थात् मोतियोंकी मालाके समान अतिशय बुद्धिमती ब्राह्मी देवीने धारण किया इसके सिवाय उसने दो तीन आदि अनेक अक्षरोंसे बने हुये क्, ष्णि आदि संयोगाक्षरोंका उच्चारण भी सीखा और अतिशय सुंदरी ऐसी सुंदरी देवीने इकाई दहाई आदि स्थानोंके अनुक्रमसे गणितशास्त्रको अच्छीतरह सीखा ॥ १०५-१०६ १०७- १०८ ॥ वाङ्मय अर्थात् व्याकरण छंद और अलंकार शास्त्रके बिना न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है इसलिये आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेवने उन दोनों कन्याओंके लिये सबसे पहिले वाग्मय अर्थात् व्याकरण छंद और अलंकार शास्त्र पढाया ॥ १०९ ॥ अतिशय बुद्धिमती उन दोनों कन्याओंने सरस्वती देवीके समान भगवान् वृषभदेवके मुखसे संशय विपर्यय आदि दोषोंसे रहित शब्दरूप तथा अर्थरूप समस्त वाग्मय पढा ॥११०॥ वाग्मयके जाननेवाले गणधरादि देव व्याकरणशास्त्र, मात्राछंद वर्णछंद आदि छंदोंकी रचना तथा शब्दालंकार और अर्थालंकार आदि अलंकारशास्त्र इन तीनोंके समुदायको वाग्मय कहते हैं ॥ १११ ॥ उससमय स्वयंभू अर्थात् भगवान् वृषभदेवका बनाया हुआ स्वायंभुव नामका व्याकरणशास्त्र प्रसिद्ध हुआ था, उस व्याकरणशास्त्रमें सौसे भी अधिक अध्याय थे, इसलिये वह समुद्रके समान अत्यंत गंभीर था ॥११२॥

द्विभेदांश्च षड्विंशतिमदीदृशत् ॥ ११३ ॥ प्रस्तारं नष्टमुद्दिष्टमेकद्वित्रिलघुक्रियां । संख्यामथाध्वयोगं च व्याजहार गिरांपतिः ॥ ११४ ॥ उपमादीनलंकारांस्तन्मार्गद्वयविस्तरं । दशप्राणानलंकारसंग्रहे विभुरभ्यधात् ॥ ११५ ॥ अथैनयोः पदज्ञानदीपिकाभिः प्रकाशिताः । कला विद्याश्च निःशेषाः स्वयं परिणतिं ययुः ॥ ११६ ॥ इति ह्यधीतनिःशेषविद्ये ते गुर्वनुग्रहात् । वाग्देवतावताराय कन्ये पात्रत्वमीयतुः ॥ ११७ ॥ पुत्राणां च यथाम्नायं विनया-

---

भगवान् वृषभदेवने छंदशास्त्रकी रचनाका उपदेश भी अनेक अध्यायोंमें दिया था। उक्ता, अत्युक्ता, मध्या, प्रतिष्ठा, सुप्रतिष्ठा, गायत्री, उष्णिक, अनुष्टप्, बृहती पंक्ति, त्रिष्टुप, जगती अतिजगती, शक्करी अतिशक्करी अष्टती, अष्टी, धृति, अतिधृति कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अतिकृति और उत्कृति ये छंदशास्त्रके छब्बीस भेद भी दिखाये थे ॥ ११३ ॥ भगवान् वृषभदेवने प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एक द्वि त्रि लघुक्रिया संख्या और अध्वयोग ये वर्णमालाके छंदोंके छह भेद छंदशास्त्रमें बतलाये ॥११४॥ भगवानने अलंकारशास्त्रमें यमक उपमा आदि शब्दालंकार तथा अर्थालंकारका उपदेश दिया तथा गौडी (जिसमें अनेक पदोंका समास हो) और वैदर्भी अर्थात् जिसमें समास न हो अथवा एक दो पदका समास हो इन दोनों रीतियोंको विस्तार रीतिसे बतलाया और औदार्य समता कांति आदि दश प्राण भी बतलाये ॥ ११५ ॥

अथानंतर—ब्राह्मी और सुंदरी दोनों पुत्रियोंको व्याकरणशास्त्र तथा और भी अनेक शास्त्ररूपी दीपकसे प्रकाशित हुई समस्त विद्यायें तथा समस्त कलायें अपने आप आगई थीं ॥ ११६ ॥ इसप्रकार भगवान वृषभदेवके अनुग्रहसे समस्त विद्याओंको पढकर वे दोनों कन्यायें सरस्वती देवीका अवतार लेने योग्य हो गई थीं। भावार्थ—उनमें सरस्वतीको प्रगट करनेकी योग्यता प्राप्त होगई थी ॥ ११७ ॥ जगत्गुरु भगवान वृषभदेवने स्त्रियोंको पढाने के बाद भरत आदि एकसौ एक पुत्रोंको भी विनय

दानपूर्वकं । शास्त्राणि व्याजहारैवमानुपूर्व्या जगद्गुरुः ॥ ११८ ॥ भरतायार्थशास्त्रं च भरतं च ससंग्रहं । अध्यायैरतिविस्तीर्णैः स्फुटीकृत्य जगौ गुरुः ॥ ११९ ॥ विभुर्वृषभसेनाय गीतवाद्यार्थसंग्रहं । गंधर्वशास्त्रमाचख्यौ यत्राध्यायाः परःशतं ॥ १२० ॥ अनंतविजयायाख्यद्विद्यां चित्रकलाश्रितां । नानाध्यायशताकीर्णां साकलाः सकलाः कलाः ॥ १२१ ॥ विश्वकर्ममतं चास्मै वास्तुविद्यामुपादिशत् । अध्यायविस्तरस्तत्र बहुभेदोवधारितः ॥१२२॥ कामनीतिमथ स्त्रीणां पुरुषाणां च लक्षणं । आयुर्वेदं धनुर्वेदं तंत्रं चाश्वेभगोचरं ॥१२३॥ तथा रत्नपरीक्षां च बाहुबल्याख्यसूनवे । व्याचख्यौ बहुधाम्नातैरध्यायैरतिविस्तृतैः ॥ १२४ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रं लोकोपकारि यत् । तत्सर्वमादिकर्त्तासौ स्वाः समन्वशिषत्प्रजाः ॥ १२५ ॥

पूर्वक अनुक्रमसे शास्त्रानुसार समस्त शास्त्र पढाये ॥ ११८ ॥ भगवानने अपने पुत्र भरतकेलिये बडे २ अनेक अध्यायोंसे विशद करके नीतिशास्त्र तथा अनेक प्रकरणोंके साथ नृत्य शास्त्र पढाया॥११९ उन्हीं भगवानने अपने पुत्र वृषभसेनके लिये जिसमें गाना बजाना आदि अनेक मनोहर पदार्थोंका संग्रह है और जिसमें सौ से भी अधिक अध्याय हैं ऐसा गंधर्वशास्त्र अर्थात् संगीतशास्त्र पढाया ॥१२०॥ अनन्तविजय पुत्रके लिये सैकडों अध्यायोंसे भरी हुई चित्रकला विद्या अर्थात् कलमके द्वारा रंगसे चित्र खींचना आदि सिखलाया, तथा सा अर्थात् लक्ष्मीसे वा अपनी २ शोभासे मनोहर ऐसी समस्त कलायें सिखलाईं ॥ १२१ ॥ उसी अनंतविजय पुत्रको सूत्रधारकी विद्या तथा मकान बनानेकी विद्या का उपदेश दिया अर्थात् उसे ऊपर लिखे हुये दोनों शास्त्र सिखलाये। जिसमें मकान बनानेकी विधि थी उस शास्त्रमें बहुतसे अध्याय थे और उसके भेद भी बहुत थे भगवानने वे सब उसे सिखलाये थे॥१२२॥ उन्हीं भगवाननें बाहुबली पुत्रकेलिये कामशास्त्र, स्त्रीपुरुषोंके लक्षण, वैद्यशास्त्र, धनुर्वेद अर्थात् धनुष चलानेकी विद्या, हाथी घोडा आदि जानवरोंके लक्षण जाननेके तंत्र और रत्नपरीक्षा आदि शास्त्र अनेक बडे बडे अध्यायोंके द्वारा बहुत बहुत तरहसे सिखलाये ॥ १२३-१२४ ॥ बहुत कहांतक कहा जाय संसारके उपकार करनेवाले जो जो शास्त्र थे वे सब भगवान वृषभदेवने अपने पुत्रोंको सिखलाये थे ॥ १२५ ॥ जि-

समुद्दीपितविद्यस्य काप्यासीद्दीप्तता विभोः। स्वभावभास्वरस्येव भास्वतः शरदागमे ॥ १२६ ॥ सुतैरधीतनिःशेषविद्यैरद्युतदीशिता। किरणैरिव तिग्मांशुरासादितशरद्युतिः ॥ १२७ ॥ पुत्रैरिष्टैः कलत्रैश्च वृतस्य भुवनेशिनः। महान्कालो व्यतीयाय दिव्यैर्भोगैरनारतैः ॥ १२८ ॥ ततः कुमारकालोऽस्य कलितो मुनिसत्तमैः। विंशतिः पूर्वलक्षाणां पूर्यते स्म महाधियः ॥ १२९ ॥ अत्रांतरे महौषध्यो दीप्तौषध्यश्च पादपाः। ससर्वौषधयः कालाज्जाताः प्रक्षीणशक्तिकाः ॥ १३० ॥ सस्यान्यकृष्टपच्यानि यान्यासन् स्थितये नृणां। प्रायस्तान्यपि कालेन ययुर्विरलतां भुवि ॥ १३१ ॥ रसवीर्यविपाकैस्तैः प्रहीणाः पादपा यदा। तदातंकादिबाधाभिः प्रजा व्याकुलतां गताः ॥ १३२ ॥ तत्प्रहाणान्मनोवृत्तिं दधाना व्याकुलीकृतां। नाभिराजमुपासेदुः प्रजा

न्होंने अपनी समस्त विद्यायें प्रकाशित करदी हैं ऐसे विभु भगवान बृषभदेवका तेज उससमय बहुत ही अधिक हो रहा था सो ठीक ही है सूर्य स्वभावसे ही प्रकाशमान है परंतु वह सरदऋतुमें और भी अधिक प्रकाशमान हो जाता है ॥१२६॥ जिसप्रकार शरदऋतुमें अधिक कांति पाकर सूर्य अपनी किरणोंसे दैदीप्यमान होता है उसीप्रकार जिन्होंने समस्त विद्यायें पढली हैं ऐसे उन पुत्रोंसे भगवान वृषभदेव उस समय बहुत ही दैदीप्यमान हो रहे थे ॥१२७॥ इष्ट पुत्र और इष्ट स्त्रियोंके साथ निरंतर अनेक प्रकारके भोगोपभोगोंका अनुभव करते हुये भगवान वृषभदेवका बहुत बडा समय व्यतीत होगया था ॥ १२८ ॥ इतना सब भोगोपभोगोंका अनुभव कर लेनेके बाद अतिशय बुद्धिमान भगवान वृषभदेवका बीसलाख पूर्वका कुमारकाल व्यतीत हुआ था, ऐसा उत्तममुनि भगवान गणधरदेवने कहा है ॥ १२९ ॥ इतने लंबे समयमें कालके प्रभाव से कल्पवृक्ष सब नष्ट होगये थे और दीप्त औषधियां अर्थात् मंत्रसे उत्तेजित होनेवाली औषधियां तथा सोंठ मिरच आदि साधारण औषधियां सब शक्तिहीन होगई थीं ॥ १३० ॥ मनुष्योंके शरीरकी स्थितिके लिये जो बिना बोये अपने आप उगे हुये धान्य थे वे भी काल के प्रभाव से प्रायः पृथ्वीमें ही नष्ट होगये थे ॥ १३१॥ जिस समय कल्पवृक्षोंमें से स्वाद, वीर्य और पित्तादि उत्पन्न करनेवाला उनका विपाक नष्ट हो गया था उस समय यहांकी प्रजा रोग

जीवितकाम्यया ॥ १३३ ॥ नाभिराजाज्ञया स्त्रष्टुस्ततोंऽतिकमुपाययुः । प्रजाः प्रणतमूर्द्धानो जीवितोपायलिप्सया ॥ १३४ ॥ अथ विज्ञापयामासुरित्युपे-
त्य सनातनं । प्रजाः प्रजातसंत्रासाः शरण्यं शरणाश्रिताः १३५ ॥ वांछंतो जीविकां देव त्वां वयं शरणं श्रिताः । तन्नस्त्रायस्व लोकेश तदुपायप्रदर्श-
नात् ॥ १३६ ॥ विभो समूलमुच्छन्नाः पितृकल्पा महांघ्रिपाः । फलंत्यकृष्टपच्यानि सस्यान्यपि न नाधुना ॥ १३७ ॥ क्षुत्पिपासादिबाधाश्च दुन्वंत्य-
स्मान् समुत्थिताः । न क्षमाः क्षणमप्येकं प्राणितुं प्रोज्झिताशनाः ॥ १३८ ॥ शीतातपमहावातप्रवर्षोपप्लवश्च नः । निराश्रयान्दुनोत्यद्य ब्रूहि नस्तत्प्र-

---

आदि अनेक पीडाओंसे बहुत ही व्याकुल हो गई थी ॥ १३२ ॥ वृक्षोंका रस विपाक आदि नष्ट होने से सब प्रजाके चित्त व्याकुल होगये थे और व्याकुल हुई वह सब प्रजा अपने जीवित रहनेकी इच्छासे अर्थात् जीवित रहनेके उपाय पूछनेके लिये महाराज नाभिराजके समीप आई थी ॥१३३॥ महाराज नाभिराजने उस आई हुई प्रजाको भगवान वृषभदेवके समीप जानेकेलिये आज्ञा दी। उनकी आज्ञानुसार वह भगवानके समीप पहुंची और अपने जीवित रहनेके उपाय पूछनेकी इच्छासे उन्हें मस्तक नवाकर नमस्कार करने लगी ॥ १३४ ॥ तथा अन्नादिके नष्ट होनेसे भयभीत हुई और सबको शरण देनेवाले भगवानके शरणमें प्राप्त हुई वह प्रजा भगवानके समीप पहुंचकर उनसे निवेदन करने लगी कि ॥१३५॥ हे देव! हम लोग जीविकाका उपाय पूछनेकी इच्छासे ही आपके शरणमें आये हुये हैं इसलिये हे तीन लोकके स्वामी जीविकाका उपाय दिखलाकर हम लोगोंकी रक्षा कीजिये ॥ १३६ ॥ हे प्रभो पिताके समान पालन करनेवाले कल्पवृक्ष सब मूल सहित नष्ट हो चुके हैं और विना बोये जो धान्य उगे थे वे भी अब नहीं फलते हैं अर्थात् उनसे अब धान्य उत्पन्न नहीं होते हैं ॥ १३७ ॥ हे देव! अन्न पानी न मिलनेसे उत्पन्न हुई भूख प्यास आदि अनेक बाधायें हम लोगोंको पीडा दे रहीं हैं, अन्नपानीसे रहित हुये हमलोग अब एक क्षण भी नहीं जी सकते हैं ॥१३८॥ हे देव! शीत आतप महावायु और वर्षा आदिका उपद्रव निराश्रय हमलोगोंको बहुत दुःख देते हैं इसलिये हे नाथ अब इन सबके दूर करनेका उपाय ब-

तिक्रियां ॥ १३९ ॥ त्वां देवमादिकर्त्तारं कल्पांघ्रिपमिवोन्नतं । समाश्रिताः कथं भीतेः पदं स्याम वयं विभो ॥ १४० ॥ ततोस्माकं यथाद्य स्याज्जीविका निरुपद्रवा । तथोपदेष्टुमुद्योगं कुरु देव प्रसीद नः ॥ १४१ ॥ श्रुत्वेति तद्वचो दीनं करुणाप्रेरिताशयः । मनः प्रणिदधावेवं भगवानादिपूरुषः ॥ १४२ ॥ पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता । साद्य प्रवर्त्तनीयात्र ततो जीवंत्यमूः प्रजाः ॥ १४३ ॥ षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः । यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः ॥ १४४ ॥ तथात्राप्युचिता वृत्तिरुपायैरेभिरंगिनां । नोपायांतरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति ॥ १४५ ॥ कर्मभूरद्य जातेयं व्यतीतौ कल्पभूरुहां । ततोत्र कर्मभिः षड्भिः प्रजानां जीविकोचिता ॥ १४६ ॥ इत्याकलय्य तत्क्षेमवृत्युपायं

तलाइये ॥ १३९ ॥ हे विभो आप इस जगतके (कर्मभूमिके) आदि कर्ता हैं और कल्पवृक्षके समान उन्नत हैं। आप ऐसे देवके आश्रित होकर भी हम लोग भयके स्थानको क्यों प्राप्त हों? ॥ १४० ॥ इसलिये हे देव ! हम लोगोंपर आप प्रसन्न हूजिये और जिसतरह हम लोगोंकी आजीविका उपद्रवरहित हो जाय उसीप्रकार हम लोगोंको उपदेश देनेका प्रयत्न कीजिये ॥ १४१ ॥ इसप्रकार उन लोगोंके दीन वचन सुनकर जिनके हृदयमें करुणाका जोष उत्पन्न हो आया है ऐसे आदि पुरुष भगवान् वृषभदेव अपने मनमें विचार करने लगे कि ॥ १४२ ॥ पूर्वविदेह और पश्चिमविदेहमें जो स्थिति वर्तमान है वही स्थिति आज यहां भी होनी चाहिये। उसी स्थितीसे यह प्रजा जीवित रह सकती है ॥ १४३ ॥ विदेहक्षेत्रमें जिसप्रकार असि मासि कृषि आदि छह कर्म जीविकाके उपाय हैं जैसी वर्णाश्रमकी स्थिति है और जैसी अलग अलग गांव घर आदिकोंकी रचना है, उसीप्रकारके छह कर्म, वैसी ही वर्णाश्रमकी स्थिति और वैसी ही अलग २ घर गांव नगर आदिकी रचना यहां भरतक्षेत्रमें भी होनी चाहिये इन्हीं उपायोंसे जीवोंकी आजीविका चल सकती है, इन मनुष्योंकी जीविकाकेलिये अन्य दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ १४४-१४५ ॥ कल्पवृक्षोंके नष्ट हो जानेसे अब यहां यह कर्मभूमि प्रगट हुई है, इसलिये अब मनुष्योंको असि मसि आदि छह कर्मोंके द्वारा ही आजीविका करना योग्य है ॥ १४६ ॥ इसप्रकार भ-

क्षणं विभुः । मुहुराश्वासयामास मा भैष्टेति तदा प्रजाः १४७ ॥ अथानुध्यानमात्रेण विभोः शक्रः सहामरैः । प्राप्तस्तज्जीवनोपायानित्यकार्षीद्विभागतः ॥ १४८ ॥ शुभे दिने सुनक्षत्रे सुमुहूर्ते शुभोदये । स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषूच्चैरानुकूल्ये जगद्गुरोः ॥ १४९ ॥ कृतप्रथममांगल्ये सुरेंद्रो जिनमंदिरं । न्यवेशयत्पुरस्यास्य मध्ये दिक्ष्वप्यनुक्रमात् ॥ १५० ॥ कोशलादीन्महादेशान् साकेतादिपुराणि च । सारामसीमनिगमान् खेटादींश्च न्यवेशयत् ॥१५१॥ देशाः सुकोशलावंतीपुंड्रोड्राश्मकरम्यकाः । कुरुकाशीकलिंगांगवंगसुह्माः समुद्रकाः ॥ १५२ ॥ काश्मीरोशीनरानर्त्तवत्सपंचालमालवाः । दशार्णाः कच्छमगधा विदर्भा कुरुजीगलं ॥ १५३ ॥ करहाटमहाराष्ट्रसुराष्ट्राभीरकोंकणाः । वनवासांध्रकर्णाटकोशलाश्चोलकेरलाः ॥ १५४ ॥ दार्वाभिसारसौवीर-

---

गवान वृषभदेवने क्षणभर प्रजाके कल्याण करनेवाली आजीविकाका उपाय सोचा और फिर प्रजाको बार २ आश्वासन देते हुये उससे कहने लगे कि तुम किसीप्रकारका भय मत करो ॥ १४७ ॥ तदनंतर भयवानके स्मरण करनेमात्रसे देवोंके साथ इंद्र आया और उसने नीचे लिखे अनुसार भिन्नभिन्न प्रजाके आजीविकाके उपायोंकी रचना की ॥ १४८ ॥ प्रथम ही जिस दिन शुभदिन था, शुभ नक्षत्र था, शुभ मुहूर्त था, शुभ लग्न थी सूर्यादि ग्रह सब उच्च दशामें पडे हुये थे और जगत्गुरु भगवान् वृषभदेवके लिये सबतरह अनुकूलता थी उसदिन इंद्रने प्रथम ही मांगलिक क्रिया की और फिर इस अयोध्याके मध्यभागमें जिनमंदिरकी रचना की तथा इसीप्रकार पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर इन दिशाओंमें भी अनुक्रमसे जिनमंदिरोंकी रचना की ॥ १४९-१५० ॥ तदनंतर इंद्रने कौशल आदि महादेश अयोध्या आदि महानगर बन उपवन और सीमासहित नगर तथा गांव आदिकोंकी रचना की ॥ १५१ ॥ सुकौशल, अवंती, पुंड्र, उंड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, बंग, सुह्म, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, बनवास, आंध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, सूरसेन, अपरांत, विदेह, सिंधु, गांधार, यवन, चेदि, पल्लव, कांबोज, आरट्ट, वाल्हीक, तुरुष्क, शक और केकय इन बावन देशों-

शूरसेनापरांतकाः । विदेहसिंधुगांधारयवनाश्चेदिपल्लवाः ॥ १५५ ॥ कांबोजारट्टबाल्हीकतुरुष्कशककेकयाः । निवेशितास्तथान्येपि विभक्ता विषयास्तदा ॥ १५६ ॥ अदेवमातृकाः केचिद्विषया देवमातृकाः । परे साधारणाः केचिद्यथास्वं ते निवेशिताः ॥ १५७ ॥ अभूतपूर्वैरुद्भूतैर्भूरभात्तैर्जनास्पदैः । दिवःखंडैरिवायातैः कौतुकाद्धरणीतलं ॥ १५८ ॥ देशैः साधारणानूपजांगलैस्तैस्तता मही । रेजे रजतभूभर्त्तुराराद्‌ा च पयोनिधेः १५९ ॥ तदंतेष्वंतपालानां दुर्गाणि परितोभवन् । स्थानानि लोकपालानामिव स्वर्धामसीमसु ॥ १६० ॥ तदंतरालदेशाश्च बभूवुरनुरक्षिताः । लुब्धकारण्यचरटपुलिंदशब-

---

की रचना की तथा इनके सिवाय उससमय और भी अनेक देशोंका विभाग किया ॥ १५२-१५३-१५४-१५५-१५६ ॥ इंद्रने उन देशोंमेसे कितने ही देश तो नदीसे सींचनेवाले अदेवमातृक अर्थात् नदीमातृक और कितने ही देश वर्षासे सींचनेवाले देवमातृक और कितने ही वर्षा नदी दोनोंसे सींचनेवाले साधारण देश निर्माण किये थे ॥ १५७ ॥ जो पहिले नहीं थे नवीन ही प्रगट हुये थे ऐसे उन देशोंसे वह पृथ्वी ऐसी सुशोभित होती थी मानों लीलामात्रसे पृथ्वीको देखनेकेलिये स्वर्गके टुकडे ही आये हों ॥ १५८ ॥ विजयार्द्ध पर्वतसे लेकर समुद्रपर्यंत कितने ही तो बहुत जलसे भरे हुये अनूप जातिके देश थे और कितने ही ऐसे देश थे जिनमें जल बहुत दुर्लभ था। इन दोनों प्रकारके देशोंसे व्याप्त हुई वह पृथ्वी बडी ही सुशोभित होती थी ॥ १५९ ॥ जिसप्रकार स्वर्गकी सीमाओंपर लोकपाल जातिके देवोंके स्थान होते हैं उसीप्रकार ऊपर कहे हुये देशोंकी सीमाओंपर सब ओर उन देशोंसे संधि रखनेवाले राजाओंके किले बने हुये थे ॥ १६० ॥ उन देशोंके बीचमें और भी छोटे छोटे देश थे जिनमेंसे कोई तो लुब्धक अर्थात् शिकार खेलनेवालोंके आधीन थे, कोई आरण्य अर्थात् फूलफल इकट्ठे करनेवालोंके आधीन थे, कोई चरट अर्थात् मार्गमें लूटनेवालोंके आधीन थे, कोई पुलिंद अर्थात् राज्यकी ओरसे देशसे निकाले हुओंके आधीन थे और कोई शबर अर्थात् मरे हुये पशुओंको ग्रहण करनेवालोंके आधीन थे। इसीप्रकार वे अंतरालवर्ती छोटे छोटे देश अन्य कईप्रकारके शूद्रोंके हाथमें थे ॥ १६१ ॥ उन देशोंके म-

रादिभिः ॥ १६१ ॥ मध्ये जनपदं रेजू राजधान्यः परिष्कृताः । वप्रप्राकारपरिखागोपुराट्टालकादिभिः ॥ १६२ ॥ तानि स्थानीयसंज्ञानि दुर्गाण्यावृत्य सर्वतः । ग्रामादीनां निवेशोभूद्यथाभिहितलक्षणां ॥ १६३ ॥ ग्रामा वृतिपरिक्षेपमात्राभिरुचिताश्रयाः । शूद्रकर्षकभूयिष्ठाः सारामाः सजलाशयाः ॥१६४॥ ग्रामः कुलशतेनेष्टो निकृष्टः समधिष्ठितः । परस्तत्पंचशत्या स्यात्सुसमृद्धकृषीवलः ॥ १६५ क्रोशद्विक्रोशसीमानो ग्रामाः स्युरधमोत्तमाः। संपन्नसस्यसुक्षेत्राः प्रभूतयवसोदकाः ॥ १६६ ॥ सरिद्गिरिदरीभृष्टिक्षीरकंटकशाखिनः । वनानि सेतवश्चेति तेषां सीमोपलक्षणं ॥ १६७ ॥ तत्कर्तृभोक्तृनियमो यो-

ध्यभागमें कोट, शहरका बाहरी परकोटा, खाई, शहरके बाहरी बडे दरवाजे और अटारी तथा राजमार्ग (सडक), चौरास्ता, सभामंडप आदिकोंसे सुशोभित राजधानी शोभायमान थीं ॥ १६२ ॥ उन्हीं राजधानियोंको स्थानीय कहते हैं उन्हीं राजधानी रूप किलेको घेरकर चारोंओर जिनमें शास्त्रोक्त सब लक्षण विद्यमान हैं ऐसे गांव वसते थे ॥ १६३ ॥ जिसमें कांटे वगैरहकी बाडसे घिरे हुये घर हों तथा जिसमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हों और जिसमें बन उपवन तालाव आदि जलाशय हों उसे गांव कहते हैं ॥ १६४ ॥ जिसमें सौ घर हों उसे छोटा गांव कहते हैं और जिसमें पांचसौ घर हों तथा जिसके किसान लोग धनी हों उसे बडा गांव कहते हैं ॥ १६५ ॥ छोटे गांवकी सीमा एक कोशकी होती है और बडे गांवकी सीमा दो कोशकी होती है। इन गावोंमें धान्योंके खेत सदा सुशोभित रहते हैं और घास तथा जल भी बहुत रहता है ॥ १६६ ॥ नदी, पर्वत, गुफा, स्मशान, क्षीरवृक्ष अर्थात् बड, गूलर आदि, बबूल आदि कांटेदार वृक्ष, बन और पुल ये सब उन गावोंकी सीमा गिनी जाती हैं ॥ १६७ ॥ गांवोंको बसाना, उनका उपभोग करना, उनकेलिये कोई नियम बनाना, जो वस्तु वहां नहीं है उसके बनानेका विचारकरना, जो वस्तु वहां है उसकी रक्षाका उपाय सोचना, वहांके लोगोंसे जवर्दस्ती राज्यका काम कराना अपराधियोंसे दंड वसूल करना और कर वसूल करना यह सब राज्यके आधीन रहता है ॥ १६८ ॥ जो खाई, शहरमें आने जानेके बडे दरवाजे, अटारी, कोट, शहरपनाह (शहर-

गक्षेमानुचिंतनं । विष्टिदंडकराणां च निबंधो राजसाद्भवेत् ॥ १६८ ॥ परिखागोपुराट्टालवप्राकारमंडितं । नानाभवनविन्यासं सोद्यानं सजलाशयं ॥ १६९ ॥ पुरमेवंविधं शस्तमुचितोद्देशसुस्थितं । पूर्वोत्तरप्लवांभस्कं प्रधानपुरुषोचितं ॥ १७० ॥ सरिद्गिरिभ्यां संरुद्धं खेडमाहुर्मनीषिणः । केवलं गिरिसंरुद्धं खर्वटं तत्प्रचक्षते ॥ १७१ ॥ मडंबमामनंति ज्ञाः पंचग्रामशतीवृतं । पत्तनं तत्समुद्रांते यन्नौभिरवतीर्यते ॥ १७२ ॥ भवेत् द्रोणमुखं नाम्ना निम्नगातटमाश्रितं । संवाहस्तु शिरोव्यूढधान्यसंचय इष्यते ॥ १७३ ॥ पुटभेदनभेदानाममीषां च क्वचित्क्वचित् । सन्निवेशोभवत्पृथ्व्यां यथोद्देशमितो-

---

का परकोटा) आदिसे सुशोभित हो जिसमें अनेक अच्छे अच्छे मकान बने हों, बाग बगीचे हों, नदी सरोवर आदि जलाशय हों, जो योग्य रीतिसे वसा हो जिसमें अच्छे अच्छे प्रधान पुरुष रहते हों और जिसका पानी निकलनेका रास्ता प्रायः पूर्व उत्तर दिशाके बीचवाली ईशान दिशाकी ओर हो ऐसा प्रशंसनीय पुर वा नगर गिना जाता है ॥ १६९-१७० ॥ जो नगर नदी और पर्वतसे घिरा हो उसे पंडित लोग खेड कहते हैं और जो केवल पर्वतसे ही घिरा हो अर्थात् जिसके चारोंओर पर्वत हो उसे खर्वट कहते हैं ॥ १७१ ॥ जिसके चारोंओर पांचसौ गांव हों उसे विद्वान्‌लोग मडंव कहते हैं। जो नगर समुद्रके किनारे हो और जहांपर लोग जहाज और नावोंके द्वारा आते जाते हों उसे पत्तन कहते हैं ॥१७२॥ जो नगर किसी नदीके किनारेपर हो उसे द्रोणमुख कहते हैं, और जिसमें मस्तकपर्यंत ऊंचे २ धान्योंके ढेर लगे हों उसे संवाह कहते हैं ॥ १७३ ॥ इसप्रकार पृथ्वीपर इधर उधर अपने अपने योग्य स्थानपर कहीं कहींपर ऊपर कहे हुये गांव नगर आदिकी रचना हुई थी। भावार्थ—कहीं गांव थे और कहीं नगर थे ॥ १७४ ॥ एक राजधानीमें आठसौ गांव होते हैं, एक द्रोणमुखमें चारसौ गांव होते हैं और एक खर्वटमें दोसौ गांव रहते हैं। जो दश गांवोंके बीचमें बडा गांव हो उसे संग्रह (जहांपर व्यवहारके योग्य सब वस्तुयें मिलें) कहते हैं, जहांपर बहुतसे घोष (दूध दही बेचनेवाले) रहें उसे घोष कहते हैं, जिसमें सोना, चांदी, हीरा आदि निकले उसे आकर वा खान कहते हैं। इसीप्रकार अन्य सबके लक्षणभी

मुतः ॥ १७४ ॥ शतान्यष्टौ च चत्वारि द्वे च स्युर्ग्रामसंख्यया । राजधान्यास्तथा द्रोणमुखखर्वटयोःक्रमात् ॥ १७५ ॥ दशग्राम्यास्तु मध्ये योमहान् ग्रामः स संग्रहः । तथा घोषाकरादीनामपि लक्ष्म विकल्प्यतां॥ १७६ ॥ पुरां विभागमित्युच्चैः कुर्वन् गीर्वाणनायकः । तदा पुरंदरख्यातिमगादन्वर्थतां गतां ॥ १७७ ॥ ततः प्रजा निवेश्यैषु स्थानेषु स्रष्टुराज्ञया । जगाम कृतकार्यो गां मघवानुज्ञया प्रभोः ॥ १७८ ॥ असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च । कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥१७९॥ तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान्मतिकौशलात् । उपादिशत्सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरुः ॥ १८० ॥ तत्रासिकर्म सेवायां मषिर्लिपिविधौ स्मृता । कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने ॥१८१॥ वाणिज्यं वणिजां कर्म शिल्पं स्यात्करकौशलं । तच्च चित्रकलापत्रछेद्यादि बहुधा स्मृतं ॥ १८२ ॥ उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा । क्षत्रिया वाणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुः

कल्पना कर लेना चाहिये ॥ १७५-१७६ ॥ इसप्रकार इंद्रने नगर और गांवोंके विभाग बडे अतिशयके साथ किया और इसलिये ही उससमयसे उसका पुरंदर यह सार्थक नाम पड गया था ॥ १७७ ॥ तदनंतर इंद्रने भगवानकी आज्ञासे इन नगर गांव आदि स्थानोंमें प्रजाको बसाया और फिर अपना सब कार्य पूर्णकर भगवानकी आज्ञानुसार अपने स्वर्गमें चला गया ॥ १७८ ॥ असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कर्म प्रजाके आजीविकाके कारण हैं सो भगवान वृषभदेवने अपनी बुद्धिकी कुशलतासे प्रजाकेलिये इन छहों कर्मोंका उपदेश दिया, सो ठीक ही है क्योंकि भगवान वृषभदेव उससमय कुछ वीतराग नहीं थे सरागी थे ॥ १७९-१८० ॥ इन छह कर्मोंमेसे शस्त्र धारणकर सेवा करना असिकर्म कहलाता है, लिखकर जीविका करना मसिकर्म है, पृथ्वीको जीतना बोना कृषिकर्म है शास्त्र अर्थात् नृत्य गायन आदिसे आजीविका करना विद्याकर्म कहलाता है ॥१८१॥ व्यापार करना वाणिज्य है और हाथकी कुशलतासे जीविका करना शिल्प कहा जाता है। यह शिल्प चित्र खींचना फूल पत्ते बनाना आदि अनेक प्रकारका कहा जाता है ॥ १८२ ॥ इसप्रकार भगवानने छह कर्मोंका उपदेश दिया तथा उसीसमय उन्हीं आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेवने तीनों वर्ण प्रगट किये थे, और वे आगे कहे

णैः ॥ १८३ ॥ क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदाभवन् । वैश्याश्च कृषिवाणिज्य पशुपाल्योपजीविनः॥ १८४ ॥ तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः । कारवो रजकाद्याः स्युस्ततोन्ये स्युरकारवः ॥ १८५ ॥ कारवोपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः । तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्त्तकादयः ॥ १८६ ॥ यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजा दध्युरसंकरं । विवाहजातिसंबंधव्यवहारश्च तन्मतं ॥ १८७ ॥ यावती जगतो वृत्तिरपापोपहता च या । सा सर्वास्य मतेनासीत्स हि धाता सनातनः ॥ १८८ ॥ युगादिब्रह्मणा तेन यदित्थं स कृतो युगः । ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः

हुये क्षतत्राण अर्थात् शत्रुओंके हथियारसे जीवोंकी रक्षा करना आदि अपने अपने गुणोंसे क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कहलाते थे ॥ १८३ ॥ उससमय जो शस्त्र धारण कर जीविका करते थे वे क्षत्रिय कहलाते थे, जो खेती व्यापार और पशु पालनकर जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे और ॥ १८४ ॥ जो क्षत्रिय तथा वैश्योंकी सेवा सुश्रूषा कर जीविका करते थे वे शूद्र कहलाते थे। उन शूद्रोंके भी दो भेद प्रगट किये गये थे एक कारु दूसरा अकारु । धोबी नाई वगैरह कारु कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारु कहलाते थे ॥१८५॥ कारु शूद्र भी दो प्रकारके थे एक स्पृश्य अर्थात् स्पर्श करने योग्य और दूसरे अस्पृश्य अर्थात् स्पर्श करने अयोग्य। जो प्रजासे अलग निवास करते थे वे स्पर्श करने अयोग्य कहलाते थे और नाई वगैरह स्पर्श करने योग्य कहलाते थे ॥ १८६ ॥ ऊपर कहे हुये तीनों वर्ण सब अपना २ काम करते थे, वैश्यका काम क्षत्रिय वा शूद्र नहीं करता था और न क्षत्रिय वा शूद्रका काम कोई दूसरा करता था। विवाह, जातियोंके संबंध और व्यवहार ये सब श्रीवृषभदेवकी आज्ञानुसार ही सब लोग करते थे ॥ १८७ ॥ संसारमें जितने पापरहित आजिविकाके उपाय हैं वे सब उससमय श्रीवृषभदेवकी आज्ञानुसार प्रवृत्त हुये थे, सो ठीक ही है क्योंकि सनातन ब्रह्मा श्रीवृषभदेव ही हैं ॥ १८८ ॥ इस युगके प्रथम ब्रह्मा श्रीवृषभदेवने इसप्रकार इस युगका प्रारंभ किया था इसलिये ही पुराणके जाननेवाले गणधरादि देव उन्हें कृतयुग (युगकेकरनेवाले) नामसे जानते हैं ॥ १८९ ॥ कृ-

॥ १८९ ॥ आषाढमासबहुलप्रतिपद्दिवसे कृती । कृत्वा कृतयुगारंभं प्राजापत्यमुपेयिवान् ॥१९०॥ कियत्यपि गते काले षट्कर्मविनियोगतः । यदा सौस्थित्यमायाताः प्रजाः क्षेमेण योजिताः ॥ १९१ ॥ तदास्याविरभूत् द्यावापृथिव्योः प्राभवं महत् । आधिराज्येभिषिक्तस्य सुरैरागत्य सत्वरं ॥१९२॥ सुरैः कृतादरैर्दिव्यैः सलिलैरादिवेधसः । कृतोभिषेक इत्येव वर्णनास्तु किमन्यया ॥ १९३ ॥ तथाप्यनूद्यते किंचित्तद्गतं वर्णनांतरं । सुप्रतीतमपि प्रायो यन्नावैति पृथग्जनः ॥ १९४ ॥ तदा किल जगद्विश्वं बभूवानंदनिर्भरं । दिवोवतारिपुर्देवाः पुरोधाय पुरंदरं ॥ १९५ ॥ कृतोपशोभमभवत्पुरं साकेतसाह्वयं । हर्म्याग्रभूमिकाबद्धकेतुमालाकुलांबरं ॥ १९६ ॥ तदानंदमहाभेर्यः प्रणेदुर्नृपमंदिरे । मंगलानि जगुर्वारनार्यो नेटुः सुरांगनाः ॥ १९७ ॥

तत्कृत्य भगवान वृषभदेवने आसाढ महीनेके कृष्णपक्षकी पडिवाके दिन युगका प्रारंभ किया था इसलिये ही उनका नाम प्रजापति अर्थात् प्रजाके स्वामी महाराज पड गया था ॥ १९० ॥ इसप्रकार जब षट्कर्मकी रचना करते हुये भगवान वृषभदेवका कितना ही समय व्यतीत होगया । उन छह कर्मोंकी प्रवृत्तिसे जब प्रजाकी स्थिति अच्छी हो गई, सब प्रजा शांततासे रहने लगी तब भगवान वृषभदेवको सम्राट् पदपर स्थापन करनेकेलिये देवोंने आकर शीघ्रताके साथ उनका राज्याभिषेक किया । उससमय भगवानकी प्रभुता स्वर्गलोक और पृथ्वीलोकमें खूब ही फैल गई थी ॥१९१-१९२॥ यद्यपि उससमयके राज्याभिषेकके विशेष वर्णन करनेसे कुछ लाभ नहीं है केवल इतना ही कहदेना बहुत है कि उससमय देवोंने आकर बडे आदरके साथ आदिब्रह्मा भगवान वृषभका अभिषेक किया था । तथापि उस राज्याभिषेकका थोडासा वर्णन करदिया जाता है क्योंकि बहुत प्रसिद्ध बातको भी प्रायः साधारण लोग नहीं जानते हैं ॥ १९३-१९४ ॥ भगवानके इस राज्यभिषेकके समय यह समस्त संसार आनंदसे भरगया था । देवलोग इंद्रको आगे करके स्वर्गसे उतरकर अयोध्या आये थे ॥ १९५ ॥ उससमय अयोध्यानगरकी शोभा खूब वढाई गई थी । मकानोंकी छतपर अनेक ध्वजायें फहराई गईं थीं जिनसे आकाश खूब भरगया था ॥ १९६ ॥ उससमय राजमहलमें बडी २ आनंदभेरी बज रहीं थीं, वारांगनायें मंगलगीत गा रहीं थीं और

सुरवैतालिकाः पेठुरुत्साहात्सह मंगलैः । प्राचक्रुरमरास्तोषाज्जयजीवेति घोषणं ॥ १९८ ॥ प्रथमं पृथिवीमध्ये मृत्स्नारचितवेदिके । सुरशिल्पिसमारब्धप-राध्यानंदमंडपे ॥ १९९ ॥ रत्नचूर्णचयन्यस्तरंगावल्युपचित्रिते । प्रत्यग्रोद्भिन्नविक्षिप्तसुमनःप्रकरांचिते ॥ २०० ॥ मणिकुट्टिमसंक्रांतबिंबमौक्तिकलंबिते । लसद्वितानकक्षौमच्छायाचित्रितरंगके ॥ २०१ ॥ धृतमंगलनाकस्त्रीरुद्धसंचारवर्त्मनि । पर्यंतनिहितानल्पमंगलद्रव्यसंपदि ॥ २०२ ॥ सुरवारवधूहस्त-विधूतचलचामरे । अन्योन्यहस्तसंक्रांतनानास्नानपरिच्छदे ॥२०३॥ सलीलपदविन्याससंचरन्नाककामिनी- । रणन्नूपुरझंकारमुखरीकृतदिङ्मुखे॥२०४॥

देवांगनायें नृत्य कर रहीं थीं ॥ १९७ ॥ देवोंके वैतालिक अर्थात् बंदीजनलोग मंगलोंके साथ २ भगवानके पराक्रम पढ रहे थे और देवलोग बडे संतुष्ट होकर जय जीव इत्यादि शुभ शब्द करते थे ॥ १९८ ॥ उस राज्याभिषेकके समय प्रथम ही पृथ्वीके मध्यभागमें मिट्टीकी वेदी बनाई गई थी उस वेदीपर एक बहुमूल्य आनंदमंडप बनाया गया था, उस आनंदमंडपके बनानेमें देवलोगोंने कारीगरीका काम किया था॥१९९॥ रत्नोंके पूर्ण समूहसे चौक पूरे गये थे जिनसे वह मंडप बहुत ही सुंदर जान पडता था । उस मंडपमें नवीन खिले हुये पुष्प बखेरे गये थे जिनसे वह पूज्य हो रहा था ॥२००॥ उसकी पृथ्वी स्वच्छ मणियोंकी बनी हुई थी जिसमें ऊपर लटकते हुये तोरणोंका प्रतिबिंब पड रहा था। उसमें रेशमी कपडेका चंदोवा तन रहा था जिससे उस पृथ्वीपर बडी ही चित्रविचित्रकी तरंगे फैल रहीं थीं ॥ २०१ ॥ उसके दरवाजोंपर देवांगनायें मंगलद्रव्य लेकर खडी हुई थीं जिससे आने जानेका रास्ता भी रुक गया था, मंडपके चारोंओर दही दूध आदि बहुतसे मंगलद्रव्य शोभायमान हो रहे थे ॥ २०२ ॥ देवोंकी अनेक अप्सरायें अपने हाथोंसे चंचल चमर ढुला रहीं थीं। सुगंधित जल, पुष्पमंजरी, पल्लव आदि स्नान करनेकी सामिग्रीको लोग एक दूसरेके हाथमें दे रहे थे ॥ २०३ ॥ तथा जो देवांगनायें बडी लीलाके साथ पैर रखती हुई इधर उधर फिर रहीं थीं और उनके पैरके नूपुरोंसे (बिछुओंसे) जो रुणझुण शब्द हो रहा था उससे सब दिशायें शब्दायमान हो रहीं थीं ॥ २०४ ॥ और जिसमें अनेक मंगलद्रव्योंका संग्रह हो रहा है ऐसे उस

नृपांगणमहीरंगे धृतमंगलसंग्रहे । निवेश्य प्राङ्मुखं देवमुचिते हरिविष्टरे ॥ २०५ ॥ गंधर्वारब्धसंगीतमृदंगामंद्रनिःस्वने । त्रिविष्टपकुक्षीक्रोडमाक्रामति सादिक्तटं ॥ २०६ ॥ नृत्यन्नाकांगनापाठ्यनिस्वनानुगतस्वरं । गायंतीषु यशो जिष्णोः किन्नरीषु श्रवःसुखं ॥ २०७ ॥ ततोभिषेचनं भर्त्तुः कर्त्तुमारेभिरेमराः । शातकुंभविनिर्माणैः कुंभैस्तीर्थांबुसंभृतैः ॥२०८॥ गंगासिंध्वोर्महानद्योरप्राप्य धरणीतलं । प्रपाते हिमवत्कूटाद्यदंबु समुपाहृतं ॥ २०९ ॥ यच्च गांगं पयः स्वच्छं गंगाकुंडात्समाहृतं । सिंधुकुंडात्समानीतं सिंधोर्यत्कमपंककं ॥ २१० ॥ शेषण्योमापगानां च ससिलं यदनाविलं । तत्तत्कुंडतदा-

महाराज नाभिराजके आंगनरूप रंगभूमिमें यथायोग्य मनोहर सिंहासनपर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके भगवान श्रीवृषभदेवको बिठाया था ॥ २०५ ॥ उससमय गंधर्वदेव संगीत (गाना) प्रारंभ कर रहे थे। मृदंगोंके गंभीर शब्द हो रहे थे, और वे गंभीर शब्द तीनों लोकोंमें तथा सब दिशाओंके अंततक खूब भरगये थे ॥ २०६ ॥ उसीसमय जो देवांगनायें नृत्य कर रहीं थीं, गद्यपद्यमय पाठ पढ रहीं थीं उनके अनुसार ही किन्नरी जातिकी देवांगनायें कानोंको सुख देनेवाला भगवानका यश गा रहीं थीं ॥ २०७ ॥ ऐसे समयमें ऊपर लिखे उत्सवके साथ साथ देवोंने तीर्थके जलसे भरे हुये सुवर्णके कलशोंसे भगवान वृषभदेवका राज्याभिषेक करना प्रारंभ किया था ॥ २०८ ॥ उस राज्याभिषेक करनेकेलिये गंगा और सिंधु इन दोनों महानदियोंका ऐसा स्वच्छ जल लाया गया था जो हिमवानपर्वतकी शिखरसे धारारूपमें नीचे पडरहा था तथा जिसने पृथ्वीतल छूआतक नहीं था ॥ २०९ ॥ इसके सिवाय गंगाकुंडसे गंगानदीका स्वच्छ जल लाया गया था और सिंधु कुंडसे सिंधुनदीका निर्मल जल लाया गया था ॥ २१० ॥ इसीतरह ऊपर पर्वतोंसे पडती हुई सब नदियोंका निर्मल जल लाया गया था तथा जिन २ कुंडोंमें वे नदियां पडती थीं उनका भी जल लाया गया था ॥ २११ ॥ श्री ह्री आदि देवियां भी पद्म महापद्म आदि सरोवरोंका जल लाईं थीं जोकि सुवर्ण वर्णके कमलोंकी केसरके समूहसे कुछ २ पीला हो रहा था ॥ २१२ ॥ सायंकालमें खिलनेवाले कमलोंकी सुगंधसे सुगंधित, आतिशय मनोहर और खिले हुये

पातसमासादितजन्मकं ॥ २११ ॥ श्रीदेवीभिर्यदानीतं पद्मादिसरसां पयः । हेमारविंदकिंजल्कपुंजसंजातरंजनं ॥ २१२ ॥ यद्वारि सारसं हारि कल्हारस्वादु सोत्पलं । यच्च तन्मौक्तिकोद्गारतारं लावणसैंधवं ॥ २१३ ॥ यास्ता नंदीश्वरद्वीपवाप्यो नंदोत्तरादयः । सुप्रसन्नोदकास्तासामापोयाश्च वि-कल्मषाः ॥ २१४ ॥ यच्चांभः संभृतं क्षीरसिंधोर्नंदीश्वरार्णवात् । स्वयंभूरमणाब्धेश्च दिव्यैः कुंभैर्हिरण्मयैः ॥ २१५ ॥ इत्याम्नातैर्जलैरेभिरभिषिक्तो जगद्गुरुः । स्वयंपूततमैरंगैरपुनात्तानि केवलं ॥ २१६ ॥ सुरैरावर्जिता वारां धारा मूर्ध्नि विभोरभात् । राजलक्ष्म्या निवेशोयमिति धारेव पातिता ॥ २१७ ॥ चराचरगुरोर्मूर्ध्नि पतंत्यो रेजुरच्छटाः । जगत्तापच्छिदः स्वच्छा गुणानामिव संपदः ॥ २१८ ॥ सुरेंद्रैरभिषिक्तस्य सलिलैः सौरसैंधवैः ।

कमलोंसहित ऐसा सरोवरोंका मधुर जल लाया गया था तथा जिसकी तरंगोके द्वारा मोतियोंका समूह बाहर फेंका जा रहा है ऐसे लवण समुद्रका जल लाया गया था ॥ २१३ ॥ नंदीश्वरद्वीपमें जो अत्यंत स्वच्छ जलसे भरी हुई और अतिशय निर्मल ऐसी नंदोत्तरा नंदिषेणा आदि वावडीं थीं उनका भी जल लाया गया था ॥ २२४ ॥ इसके सिवाय क्षीरसागर नंदीश्वरसमुद्र और स्वयंभूरमण समुद्रका जल सुवर्णके बने हुये दिव्य कलशोंमें भरकर लाया गया था ॥ २१५ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये जलसे जगत्-गुरु भगवान वृषभदेवका राज्याभिषेक किया गयाथा। भगवानका शरीर तो स्वयं पवित्र था तथापि उन्होंने केवल उस जलको अवश्य ही पवित्र कर दिया था ॥२१६॥ उससमय भगवानके मस्तकपर देवोंके द्वारा छोडी हुई जलकी धारा जो पड रही थी वह ऐसी सुशोभित होती थी मानों वह उस मस्तकको राज्यलक्ष्मीका आश्रय समझकर ही पड रही हो ॥ २१७ ॥ त्रस स्थावर आदि सब जीवोंके गुरु भगवान वृषभदेवके मस्तक पर पडती हुई जलकी छटायें ऐसी सुशोभित होती थीं मानों संसारका संताप नाश करनेवाली और अ-तिशय निर्मल ऐसी गुणोंकी संपदायें हीं हों ॥ २१८ ॥ यद्यपि भगवानका शरीर स्वभावसे ही पवित्र था तथापि इंद्रने गंगानदीके जलसे उसका अभिषेक किया था इसलिये वह और भी बहुत शुद्ध हो गया था ॥ २१९ ॥ उस समय इंद्रोंने केवल भगवानके शरीरका ही प्रक्षालन नहीं किया था किंतु देखनेवाले

निसर्गशुचिगात्रस्य परा शुद्धिरभूद्विभोः ॥ २१९ ॥ नाकींद्राः क्षालयांचक्रुर्विभोर्नागानि केवलं । प्रेक्षकाणां मनोवृत्तिं नेत्राण्यपघनान्यपि ॥ २२० ॥ नृत्यत्सुरांगनापांगशरास्तस्मिन्प्रवेशिताः । पायिता नु जलं तीव्रं यच्चेतांस्यभिदन् नृणां ॥ २२१ ॥ जलैरनाविलैर्भर्तुरंगसंगात्पवित्रितैः । धराक्रांता ध्रुवं दिष्ट्या वर्द्धिता स्वामिसंपदा ॥ २२२ ॥ कृताभिषेको रुरुचे भगवान् सुरनायकैः । हैमैः कुंभैर्घनैः सांध्यैर्यथा मंदरभूधरः ॥ २२३ ॥ नृपा मूर्द्धाभिषिक्ता ये नाभिराजपुरःसराः । राजवद्राजसिंहोयमभ्यषिच्यत तैः समं ॥ २२४ ॥ पौराश्च नालिनीपत्रपुटैः कुंभैश्च मार्तिकैः । सारवेणांबुना चक्रुर्भर्तुः

लोगोंके नेत्र उनकी मनोवृत्ति और उनके शरीरका भी प्रक्षालन कर डाला था। भावार्थ–देखनेवाले लोगोंके चित्तकी वृत्ति तथा उनके नेत्र और शरीर आदि सब पवित्र हो गये थे ॥ २२० ॥ उससमय जो देवांगनायें नृत्य कर रहीं थीं उनके कटाक्षरूपी बाण उस जलके प्रवाहमें घुस गये थे इसलिये वह जल तीव्र अर्थात् विषसे मिला हुआ हो गया था और लोगोंके चित्तको भेदन करता था। भावार्थ–उन देवांगनाओंके कटाक्षोंसे लोगोंके चित्त भिद जाते थे ॥ २२१ ॥ भगवानके हाथ पैर आदि शरीरके संसर्गसे अतिशय पवित्र हुआ वह निर्मल जल समस्त पृथ्वीपर फैल गया था और उससे वह पृथ्वी ऐसी सुशोभित होती थी मानों अपने स्वामी श्रीवृषभदेवकी राज्यसंपत्ति देखकर और उससे संतुष्ट होकर वृद्धिकोही प्राप्त हुई हो ॥ २२२ ॥ जिसप्रकार सायंकालके समयके बादलोंसे सुमेरु पर्वत सुशोभित होता है उसीप्रकार जिससमय इंद्रने सुवर्णमय कलशोंसे भगवानका अभिषेक किया था उससमय वे भगवान सुशोभित हो रहे थे ॥२२३॥ नाभिराजको आदि लेकर जो बडे २ क्षत्रिय राजा थे उन्होंने सब राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसे भगवान वृषभदेवको राजाके योग्य मानकर एक साथ अभिषेक किया था ॥ २२४ ॥ उससमय नगरनिवासी लोगोंने भी किसीने कमलके पत्तेसे किसीने घडेसे और किसीने मिट्टीके घडेसे सरयू नदीका जल लेकर भगवानके चरणकमलका अभिषेक किया था ॥ २२५ ॥ मागध बरतनु और प्रभास आदि व्यंतर जातिके इंद्रोंने भी मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानको धारण करनेवाले भगवान वृषभदेव-

पादाभिषेचनं ॥ २२५ ॥ मागधाद्याश्च बन्येंद्रास्त्रिज्ञानधरमार्चिचन् । नाथोऽस्मद्विषयस्येति प्रीत्या पुण्याभिषेचनैः ॥ २२६ ॥ पूनस्तीर्थांबुभिः स्नातः कषायसलिलैः पुनः । धौतो गंधांबुभिर्द्रव्यैरस्नापि चरमं विभुः ॥ २२७ ॥ कृतावगाहनो भूयो हैमे स्नानोदकुंडके । सुखोष्णैः सलिलैर्धाता सुखमज्जनमन्वभूत् ॥ २२८ ॥ स्नानांतोज्झितविक्षिप्तमाल्यांशुकविभूषणैः । भर्तुः प्राप्तांगसंस्पृष्टिदानेवासीद्धरांगना ॥ २२९ ॥ सुस्नानमंगलान्युच्चैः पठत्सु सुरवंदिषु । राज्यलक्ष्मीसमुद्वाहस्नानं निरविशद्विभुः ॥ २३० ॥ अथ निर्वार्तितस्नानं कृतनीराजनं विभुं । स्वर्भुवो भूषयामासुर्दिव्यैः स्रग्भूषणांबरैः

को अपने देशका स्वामी मानकर बडे प्रेमसे पवित्र जलसे अभिषेक किया था ॥ २२६ ॥ प्रथम ही ऊपर कहे हुये पवित्र तीर्थोंके जलसे भगवानका अभिषेक किया गया था फिर कुंकुम कपूर अगुरु चंदन आदि सुगंधित पदार्थोंके मिले हुये कषाय जलसे अभिषेक किया गया। तदनंतर पानीमें पुष्पोंका सार निकालकर उससे अभिषेक किया गया और फिर अंतमें रत्न आदि द्रव्योंसे अभिषेक किया गया था ॥ २२७ ॥ इसप्रकार अभिषेक हो जानेपर आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेवने थोडे थोडे गरम जलसे भरे हुये स्नान करने योग्य सुवर्णके कुंडमें डूब डूबकर स्नान करनेका सुख अनुभव किया था ॥ २२८ ॥ भगवानने स्नान करनेके बाद जो माला वस्त्र और आभूषण आदि पृथ्वी पर डाल दिये थे उससे वह पृथ्वी ऐसी सुशोभित होती थी मानों अपने स्वामी भगवान वृषभदेवके शरीरका स्पर्श करनेके बदलेमें उसे दाय अर्थात् विवाहोत्सवमें देने योग्य द्रव्य ही मिला हो ॥ २२९ ॥ इसप्रकार जिससमय देवलोगोंके बंदीजन बडे जोरसे शुभस्नान सूचक मंगलपाठ पढ रहे थे उससमय राज्यलक्ष्मीके साथ विवाह करनेका वह भगवानका अभिषेक समाप्त हुआ ॥ २३० ॥ तदनंतर स्नान और आरती समाप्त हो जानेपर देवलोगोंने दिव्य माला दिव्य आभूषण और दिव्य वस्त्रोंसे भगवानका अलंकार किया था ॥ २३१ ॥ उससमय महाराज नाभिराजने सबके सामने 'समस्त महा मुकुटबद्ध राजाओंके पालन करनेवाले भी भगवान वृषभदेव हैं, मैं नहीं हूं' यह कहकर अपने हाथसे अपने मस्तकका मुकुट उतारकर भगवानके

॥ २३१ ॥ नाभिराजः स्वहस्तेन मौलिमारोपयत्प्रभोः । महामुकुटबद्धानामधिराड्भगवानिति ॥ २३२ ॥ पट्टबंधो जगद्बंधोर्ललाटे विनिवेशितः । बंधनं राज्यलक्ष्म्याः स्विद्गत्वार्याः स्थैर्यसाधनं ॥ २३३ ॥ स्रग्वी सदंशुकः कर्णद्वयोल्लसितकुंडलः । दधानो मुकुटं मूर्ध्ना लक्ष्म्याः क्रीडाचलायितं २॥३४॥ कंठे हारलतां बिभ्रत्कटिसूत्रं कटीतटे । ब्रह्मसूत्रोपवीतांगं स गांगौघमिवाद्रिराट् ॥ २३५ ॥ कटकांगदकेयूरभूषितायतदोर्युगः । पर्युल्लसन्महाशाखः कल्पशाखीव जंगमः ॥ २३६ ॥ सनीलरत्ननिर्माणनूपुरखुद्बहत्क्रमौ । निर्लानभृंगसंफुल्लारक्ततामरसश्रियौ ॥ २३७ ॥ इति प्रत्यंगसंगिन्या बभौ भूषणसंपदा । भगवानादिमो ब्रह्मा भूषणांग इवांघ्रिपः ॥२३८॥ ततः सानंदमानंदनाटकं नाट्यवेदवित् । प्रयुज्यास्थायिकारंगे प्रत्यगाद्गां सहस्रगुः

मस्तकपर धारण किया था ॥ २३२ ॥ तथा जगतमात्रके बंधु भगवान वृषभदेवके ललाटपर पट्टबंध स्थापन किया था मानों इधर उधर भागनेवाली राजलक्ष्मीके स्थिर करनेवाला एक बंधन ही बांधा हो॥२३३॥ इसके सिवाय भगवानने माला पहिनी थी, सुंदर वस्त्र पहने थे, दोनों कानोंमें दैदीप्यमान कुंडल पहने थे, मस्तकपर लक्ष्मीके क्रीडा करनेयोग्य पर्वतके समान मुकुट धारण किया था, कंठमें हारलता पहनी थी, कटिभागपर (कमरपर) करधनी पहनी थी, तथा जिसप्रकार हिमवान् पर्वतपर गंगानदीका प्रवाह वहता है उसीप्रकार भगवानने अपने शरीरपर यज्ञोपवीत धारण कियाथा। जिसप्रकार आभूषणसहित बडी २ शाखाओंसे चलता हुआ कल्पवृक्ष अच्छा लगता है उसीप्रकार कडे बाजुबंध और अनंत आदि आभूषणोंसे सुशोभित लंबी २ भुजाओंसे भगवान सुशोभित हो रहे थे और जिसप्रकार भ्रमरोंसे सुशोभित खिला हुआ लाल कमल सुशोभित होता है उसीप्रकार नीलमणि रत्नोंके बने हुये नूपुरोंसे भगवानके दोनों चरण कमल सुशोभित हो रहे थे ॥ २३४-२३५-२३६-२३७ ॥ इसप्रकार प्रत्येक अंग उपांगमें पहने हुये आभूषण रूप संपदाओंसे आदिब्रह्मा भगवान वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भूषणांग जातिका कल्पवृक्ष ही हो ॥२३८॥ तदनंतर नाट्यशास्त्रको जाननेवाले इंद्रने उस सभारूपी रंगभूमिमें बडे आनंदके साथ आनंद नामका नाटक किया और फिर उसके बाद वह अपने स्वर्गको चला गया ॥२३९॥ जिनके चित्तकी वृत्ति

॥ २३९ ॥ व्रजंतमनुजग्मुस्तं कृतकार्याः सुरासुराः । भगवत्पादसंसेवानियुक्तस्वांतवृत्तयः ॥ २४० ॥ अथाधिराज्यमासाद्य नाभिराजस्य सन्निधौ । प्रजानां पालने यत्नमकरोदिति विश्वसृट् ॥ २४१ ॥ कृत्वादितः प्रजासर्गं तद्वृत्तिनियमं पुनः । स्वधर्मानतिवृत्त्यैव नियच्छन्नन्वशात्प्रजाः ॥ २४२ ॥ स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद्विभुः । क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ॥ २४३ ॥ ऊरूभ्यां दर्शयन्यात्रामस्राक्षीद्वणिजः प्रभुः । जलस्थलादियात्राभिस्तद्वृत्तिर्वार्त्तया यतः ॥ २४४ ॥ न्यग्वृत्तिनियतान् शूद्रान् पद्भ्यामेवासृजत्सुधीः । वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥२४५॥

भगवानके चरणकमलोंकी सेवामें लगी हुई है ऐसे समस्त वैमानिक देव तथा भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क आदि असुर जातिके देव अपना २ कार्य समाप्तकर इंद्रके साथ ही साथ अपनी २ जगहपर चले गये ॥ २४० ॥

अथानंतर—कर्मभूमिकी रचना करनेवाले भगवान वृषभदेवने अपने पिता महाराज नाभिराजसे साम्राज्य पाकर नीचे लिखे अनुसार प्रजाके पालन करनेका प्रयत्न किया ॥ २४१ ॥ प्रथम ही भगवानने प्रजाकी सृष्टि उत्पन्न की, तदनंतर प्रजाके आजीविकाके नियम बनाये और फिर प्रजाके लिये अपनी २ मर्यादाके उल्लंघन न करनेका नियम बनाया, इसप्रकार वे अपनी प्रजाका शासन करने लगे ॥ २४२ ॥ उससमय भगवानने अपने दोनों हाथोंमें शस्त्र धारणकर क्षत्रियोंकी रचना की अर्थात् उन्हें शस्त्रविद्या सिखलाई सो ठीक ही है क्योंकि जो हाथमें शस्त्र लेकर दूसरे सबल वा शत्रुके प्रहारसे जीवोंकी रक्षा करें उन्हें ही क्षत्रिय कहते हैं ॥२४३॥ तदनंतर भगवानने अपने ऊरुओंसे यात्रा करना अर्थात् परदेश जाना दिखलाकर वैश्योंकी सृष्टिकी, सो भी ठीक ही है क्योंकि समुद्र आदि जलप्रदेशोंमें तथा स्थल प्रदेशोंमें यात्रा करके व्यापार करना वैश्योंकी मुख्य आजीविका है ॥ २४४ ॥ सदा नीच कामोंमें तत्पर रहनेवाले शूद्रोंकी रचना भगवानने अपने पैरोंसे ही की, सो ठीक ही है क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णोंके पैर दाबना, हरतरहसे उनकी सेवा सुश्रूषा करना उनकी आज्ञा पालन करना आदि शूद्रोंकी आजीविका अनेक प्रकारकी कही गई है ॥ २४५ ॥ इसप्रकार तीन वर्णोंकी सृष्टि

मुखतोध्यापयन् शास्त्रं भरतः स्रक्ष्यति द्विजान् । अधीत्यध्यापने दानं प्रतिक्षेज्येति तत्क्रियाः ॥ २४६ ॥ शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः । वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः ॥ २४७ ॥ स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत् । स पार्थिवैर्नियंतव्यो वर्णसंकीर्णिरन्यथा ॥ २४८ ॥ कृष्यादिकर्मषट्कं च स्रष्टा प्रागेव सृष्टवान् । कर्मभूमिरियं यस्मात्तदासीत्तव्द्यवस्थया ॥ २४९ ॥ स्रष्टेति ताः प्रजाः सृष्ट्वा त-

---

तो प्रथम ही हो चुकी थी उसके बाद भगवान वृषभदेवके पुत्र महाराज भरत अपने मुखसे शास्त्रोंका अध्ययन (पाठ) कराते हुये ब्राह्मणोंकी रचना करेंगे और पढना, पढाना, दान देना, दान लेना, पूजा करना कराना आदि उनकी आजीविकाके उपाय होंगे ॥२४६॥ इसप्रकार चारों वर्णोंकी रचना हुई, तथा उससमय विवाहका नियम इसप्रकार हुआ था कि शूद्र शूद्रकी कन्याके साथ विवाह करे, शूद्रको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकी कन्याके साथ विवाह करनेका अधिकार नहीं है । वैश्य वैश्यकी कन्याके साथ विवाह करे, तथा शूद्रकी कन्याके साथ भी विवाह करे । क्षत्रिय क्षत्रियकी कन्याके साथ विवाह करे तथा वह वैश्य और शूद्रकी कन्याके साथ भी विवाह करे । इसीप्रकार ब्राह्मण केवल ब्राह्मणकी कन्याके साथ ही विवाह करे । ब्राह्मणको क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकी कन्याके साथ विवाह करनेकी आवश्यकता नहीं है परंतु कभी कभी वह क्षत्रिय वैश्य और शूद्रकी कन्याके साथ विवाह कर सकता है ॥२४७॥ उससमय भगवानने एक नियम यह भी बनाया कि ऊपर जो अपने २ वर्णोंके अनुसार जो आजीविका कही गई है उसका उल्लंघन कोई न करे अर्थात् किसी वर्णका कोई भी मनुष्य अपनी आजीविका छोडकर दूसरे वर्णकी आजीविका स्वीकार न करे, जो कोई इस नियमका उल्लंघन करेगा उसे राजाकी ओरसे दंड दिया जायगा, क्योंकि यदि ऐसा नियम न बनाया जायगा अर्थात् दूसरे वर्णकी आजीविका करनेवालोंको दंड न दिया जायगा तो लोग वर्णसंकर हो जायंगे ॥ २४८ ॥ भगवान वृषभदेवने चारों वर्ण तथा उनका विवाहसंबंध आदिकी रचना करनेके पहिले ही असि, मसि, कृषि आदि छह कर्मोंकी रचना कर

योगक्षेमसाधनं । प्रायुंक्त युक्तितो दंडं हामाधिक्कारलक्षणं ॥ २५० ॥ दुष्टानां निग्रहः शिष्टप्रतिपालनमित्ययं । न पुराभीत्क्रमो यस्मात्प्रजाः सर्वा निरागसः ॥ २५१ ॥ प्रजा दंडधराभावे मात्स्यं न्यायं श्रयंत्यमूः । ग्रस्यतेंतःप्रदुष्टेन विबलो हि बलीयसा ॥ २५२ ॥ दंडभीत्या हि लोकोयमपथं नानुधावति । युक्तदंडकरस्तस्मात्पार्थिवः पृथिवीं जयेत् ॥ २५३ ॥ पयस्विन्या यथा क्षीरमद्रोहेणोपजीव्यते । प्रजाप्येयं धनं दोह्या नातिपीडाकरैः

दी थी और उससमयसे लोग अपने कर्म करने लग गये थे इसलिये उन कर्मोंके करनेसे इस भारतवर्षमें कर्मभूमि प्रगट हो गई थी। भावार्थ—अबतक भोगभूमि थी, अब असि, मसि, आदि कर्मकर जीविका होनेसे कर्मभूमि कही जाती थी ॥२४९॥ इसप्रकार भगवान वृषभदेवने क्षत्रिय वैश्य आदि प्रजाकी रचना की और उसका योग अर्थात् जो वस्तु नहीं है उसे उत्पन्न करना और क्षेम अर्थात् जो वस्तु विद्यमान है उसकी रक्षा करना इन दोनोंको अच्छीतरह चलानेकेलिये बडी युक्तिसे हा, मा और धिक्कार ये तीनोंप्रकारके दंड स्थापन किये थे॥२५०॥ दुष्ट पुरुषोंको निग्रह करना अर्थात् उन्हें दंड देना और सज्जन पुरुषोंका पालन करना यह क्रम कर्मभूमिसे पहिले अर्थात् भोगभूमिमें नहीं था, क्योंकि भोगभूमिमें प्रजाके सब लोग निरपराध होते थे, कोई भी कुछ अपराध नहीं करता था ॥ २५१ ॥ यदि कर्मभूमिमें दंड देनेवाला राजा न होगा तो फिर संसारमें मात्स्य न्यायकी प्रवृत्ति हो जायगी अर्थात् जिसप्रकार बडी २ मछलियां छोटी २ मछलियोंको खा जाती हैं उसीप्रकारकी रीति यहां भी प्रचलित हो जायगी, क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है कि जो अंतरंगका दुष्ट और बलवान होता है वह निर्बलको खा जाता है अर्थात् उसे पीडा देता है ॥२५२॥ यदि अपराधी लोगोंको दंड दिया जायगा तो फिर वे दंडके डरसे कुमार्गकी ओर नहीं दौडेंगे इसलिये अपराधी लोगोंको दंड देनेवाला राजा अवश्य होना चाहिये और ऐसा राजा ही पृथ्वीको जीत सकता है ॥ २५३ ॥ जिसप्रकार बिना किसीतरहकी पीडा दिये दूध देनेवाली गायसे दूध निकालनेमें गाय सुखी रहती है और उसका दूध बढता है उसीप्रकार राजाको प्रजासे भी धन वसूल करना चाहिये उसपर अधिक पीडा देनेवाला कर

करैः ॥ २५४ ॥ ततो दंडधरानेताननुमेने नृपान्प्रभुः । तदायत्तं हि लोकस्य योगक्षेमानुचिंतनं ॥ २५५ ॥ समाहूय महाभागान् हर्यकंपनकाश्यपान् । सोमप्रभं च सन्मान्य सत्कृत्य च यथोचितं ॥२५६॥ कृताभिषेचनान्तान्महामंडलिकान्नृपान् । चतुःसहस्रभूनाथपरिवारान्व्यधाद्विभुः ॥ २५७॥ सोमप्रभः प्रभोराप्तकुरुराजसमाह्वयः । कुरूणामधिराजोभूत्कुरुवंशशिखामणिः ॥ २५८ ॥ हरिश्च हरिकांताख्यां दधानस्तदनुज्ञया । हरिवंशमलंचक्रे श्रीमान् हरिपराक्रमः ॥ २५९ ॥ अकंपनोपि सृष्टीशात्प्राप्तश्रीधरनामकः । नाथवंशस्य नेताभूत्प्रसन्ने भुवनेशिनि ॥ २६० ॥ काश्यपोपि गुरोः प्राप्तम-

नहीं लगाना चाहिये, ऐसा करनेसे ही प्रजा सुखी रहती है और धन भी अच्छा बहुमूल्य हो जाता है ॥ २५४ ॥ यही समझकर भगवान वृषभदेवने नीचे लिखे हुये पुरुषोंको प्रजाको दंड आदि देनेवाला राजा बनाया सो ठीक ही है क्योंकि प्रजाका योग अर्थात् जो वस्तु नहीं है उसे उत्पन्न करना और क्षेम अर्थात् जो वस्तु है उसकी रक्षाका उपाय करना, इन दोनोंका विचार करना राजाके ही आधीन है ॥ २५५ ॥ भगवानने प्रथम ही हरि, अकंपन, काश्यप और सोमप्रभ इन चारों महाभाग्यशाली क्षत्रियोंको बुलाया और सबका यथायोग्य सन्मान और आदर सत्कार किया। तदनंतर उन चारोंका राज्याभिषेक कर उन्हें महामांडलिक राजा बनाया प्रत्येक महामांडलिक राजाके आधीन एक एक हजार राजा होते हैं, सो भगवानने भी चारहजार छोटे २ राजा बनाकर उन चारों महामांडलिक राजाओंके आधीन किये ॥ २५६-२५७ ॥ भगवानने राज्याभिषेकके अनंतर उन चारों क्षत्रियोंमेंसे सोमप्रभका नाम कुरुराज रक्खा और उसे कुरुवंशका शिखामणि बनाकर कुरुदेशका राजा बनादिया ॥ २५८ ॥ भगवानकी आज्ञासे हरिने भी अपना नाम हरिकांत रक्खा तथा वह श्रीमान् हरिपराक्रमी अर्थात् इंद्रके समान पराक्रमी था इसलिये वह हरिवंशको सुशोभित करनेवाला अर्थात् हरिवंशका नायक हुआ ॥ २५९ ॥ राज्याभिषेकके अनंतर भगवानने अकंपनका नाम भी श्रीधर रक्खा और भगवानकी प्रसन्नता होनेसे वह नाथवंशका नायक हुआ ॥ २६० ॥ ॥ काश्यप भी भगवानकी आज्ञासे अपना नाम मघवा रखकर उग्रवं-

घवाख्यः पतिर्विशां । उग्रवंशस्य वंश्योभूर्त्कि नाप्यं स्वामिसंपदा ॥ २६१ ॥ तथा कच्छमहाकच्छप्रमुखानपि भुभूजः । सोधिराजपदे देवः स्थापयामास सत्कृतान् ॥ २६२ ॥ पुत्रानपि तथा योग्यं वस्तुवाहनसंपदा । भगवान् संविधत्ते स्म तद्धि राज्यार्जने फलं ॥ २६३ ॥ आकनाच्च तदेक्षूणां रससंग्रहणे नृणां । इक्ष्वाकुरित्यभूद्देवो जगतामभिसम्मतः ॥ २६४ ॥ गौः स्वर्गः स प्रकृष्टात्मा गौतमोभिमतः सतां । स तस्मादागतो देवो गौतमश्रुतिमन्वभूत् ॥ २६५ ॥ काश्यमित्युच्यते तेजः काश्यपस्तस्य पालनात् । जीवनोपायमननान्मनुः कुलधरोप्यसौ ॥ २६६ ॥ विधाता विश्वकर्मा च स्रष्टा

शका मुख्य राजा हुआ सो ठीक ही है स्वामीकी संपत्तिमेंसे सेवकको क्या २ नहीं मिलता है अर्थात् सब कुछ मिलता ही है ॥२६१॥ भगवान वृषभदेवने जिसप्रकार सोमप्रभ आदि क्षत्रियोंको महामांडलिक राजा बनाया था उसीप्रकार कच्छ महाकच्छ आदि अनेक राजाओंका राज्याभिषेक कर तथा उनका योग्य सत्कारकर उन्हें अधिराज पदपर स्थापन किया था ॥ २६२ ॥ इसीप्रकार भगवानने अपने पुत्रोंकेलिये भी यथायोग्य अर्थात् छोटे बडेके हिसाबसे वस्तु सवारी आदि बहुतसी संपत्ति दी थी सो ठीक ही है अपने पुत्रोंकेलिये यथायोग्य संपत्तिका बांटदेना ही राज्य प्राप्त करनेका मुख्य फल है ॥ २६३ ॥ जिससमय कल्पवृक्ष नष्ट होगये थे उससमय भगवानने मनुष्योंकेलिये प्रथम ही इक्षु अर्थात् ईखका रस संग्रह करने का उपदेश दिया था इसलिये ही संसारके लोग भगवानको इक्ष्वाकु कहते थे । ' इक्षून् आकयति कथयतीति इक्ष्वाकुः ' अर्थात् जो इक्षु अर्थात् ईख लानेका उपदेश दे उसे इक्ष्वाकुः कहते हैं ॥ २६४ ॥ अथवा गो शब्दका अर्थ स्वर्ग है जो उत्तम स्वर्ग हो उसे सज्जन लोग ' गोतम ' कहते हैं । भगवान वृषभदेव स्वर्गोंमें सबसे उत्तम ऐसे सर्वार्थसिद्धि विमानसे आये थे इसलिये लोग उन्हें गौतम भी कहते थे ॥ २६५ ॥ अथवा काश्य शब्दका अर्थ तेज है जो काश्य अर्थात् तेजकी रक्षा करे उसे काश्यप कहते हैं भगवान वृषभदेवने उस तेजकी रक्षा की थी पूर्ण रीतिसे उसका पालन किया था इसलिये लोग उन्हें काश्यप भी कहते थे । भगवानने लोगोंकी आजीविकाके उपायोंका भी विचार किया था इसलिये

चेत्यादिनामभिः । प्रजास्तं व्याहरंति स्म जगतांपतिमच्युतं ॥ २६७ ॥ त्रिषष्टिलक्षाः पूर्वाणां राज्यकालोस्य सम्मितः । स तस्य पुत्रपौत्रादिवृतस्याविदितोगमत् ॥२६८॥ स सिंहासनमायोध्यमध्यासीनो महाद्युतिः । सुखादुपनतां पुण्यैः साम्राज्यश्रियमन्वभूत् ॥ २६९ ॥ इत्थं सुरासुरगुरुर्गुरुपुण्ययोगाद्भोगान्वितन्वति तदा सुरलोकनाथे । सौख्यैरगाद्धृतिमचिंत्यधृतिः स धीरः पुण्यार्जने कुरुत यत्नमतो बुधेंद्राः ॥ २७० ॥ पुण्यात्सुखं न सुखमस्ति विनेह पुण्याद्वीजाद्विना न हि भवेयुरिह प्ररोहाः । पुण्यं च दानदमसंयमसत्यशौचत्यागक्षमादिशुभचेष्टितमूलमिष्टं ॥ २७१ ॥ पुण्यात्सुरासुरनरोरगभो-

---

वे मनु कहलाते थे और कुलधर अथवा कुलकर भी कहलाते थे ॥ २६६ ॥ इन नामोंके सिवाय तीनों लोकोंके स्वामी और अच्युत (अविनाशीक) भगवान वृषभदेवको उससमयकी प्रजा विधाता विश्वकर्मा स्रष्टा आदि कई नामोंसे पुकारती थी ॥ २६७ ॥ भगवान वृषभदेवका राज्यकाल तिरेसठ लाख पूर्वका नियमित था सो वह उनका इतना लंबा काल भी पुत्र पौत्र आदिका सुख अनुभव करते हुये सहज ही व्यतीत होगया था अर्थात् बीतते हुये मालूम भी नहीं हुआ था ॥ २६८ ॥ अतिशय देदीप्यमान भगवान वृषभदेवने इतने लंबे समयतक अयोध्या नगरके सिंहासनपर विराजमान होकर अपने पुण्योदयसे सुखपूर्वक मिली हुई राज्यसंपदाका अनुभव किया था ॥ २६९ ॥ इसप्रकार वैमानिक देव तथा भवनवासी व्यंतर और ज्योतिष्क जातिके देवोंके गुरु, अचिंत्य धैर्यको धारण करनेवाले और धीर वीर भगवान वृषभदेवको उससमय उनके अतिशय पुण्यकर्मके उदयसे देवोंका स्वामी इंद्र सदा भोगोपभोगकी सामग्री पहुंचाता रहता था जिससे वे भगवान सुखपूर्वक बडे ही संतुष्ट होते थे। इसलिये पंडित जनोंको उचित है कि वे पुण्योपार्जन करनेमें सदा प्रयत्न करते रहें ॥ २७० ॥ इस संसारमें पुण्यसे ही सुखकी प्राप्ति होती है। जिसप्रकार बिना बीजके वृक्षकी उत्पत्ति नहीं होती उसीप्रकार बिना पुण्यके सुखकी प्राप्ति भी कभी नहीं हो सकती है। दान देना, इंद्रियोंको वश करना, संयम अर्थात् व्रतोंका धारण करना समितियोंको पालन करना, कषायोंका निग्रह, अनर्थदंडोंका त्याग और इंद्रियोंका

गसाराः श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयोगीः । साम्राज्यमैंद्रमपुनर्भवभावनिष्ठमार्हंत्यमंत्यरहिताखिलसौख्यमग्र्यं ॥ २७२ ॥ तस्माद्बुधाः कुरुत धर्ममवाप्तुकामाः स्वर्गापवर्गसुखमग्रयमचिंत्यसारं । प्रापय्य सोभ्युदयभोगमनंतसौख्यमानंत्यमापयति धर्मफलं हि शर्म ॥ २७३ ॥ दानं प्रदत्त मुदिता मुनिपुंगवेभ्यः पूजां कुरुध्वमुपनम्य च तीर्थकृद्भ्यः । शीलानि पालयत पर्वदिनोपवासान् विस्मार्ष्ट मा स्म सुधियः सुखमीप्सवश्चेत् ॥ २७४ ॥ स श्रीमानिति

विजय आदि, सत्यभाषण करना, लोभका त्याग रूप शौचका पालन करना, बाह्य आभ्यंतर परिग्रहका त्याग करना, क्षमा अर्थात् दुष्ट पुरुषोंके गाली देने, मारने, ताडना करने निंदा हंसी करनेपर भी कलुषित परिणाम नहीं करना, आदि शब्दसे अहिंसाका पालन करना, शांत परिणाम रखना इत्यादि शुभाचरणोंसे पुण्य कर्मोंका बंध होता है ॥ २७१ ॥ सुर, असुर, मनुष्य, नागकुमार आदिकोंके उत्तम २ भोगोंकी प्राप्ति पुण्यकर्मोंके उदयसे ही होती है, लक्ष्मी दीर्घायु, अत्यंतसुंदर रूप, अनेक ऋद्धियां भी पुण्यसे ही मिलती हैं, वाणीकी शुद्धता भी पुण्यसे ही होती है, चक्रवर्तीका साम्राज्य, इंद्रपद, साक्षात् मोक्षका कारण ऐसा अरहंतपद और विनाशरहित अनंत सुख देनेवाला तथा सबसे श्रेष्ठ ऐसा निर्वाणस्थान अर्थात् मोक्ष भी पुण्यसे ही प्राप्त होती है ॥ २७२ ॥ इसलिये भो पंडितजन हो जिसका अचिंत्य महात्म्य है और जो सबसे श्रेष्ठ है ऐसे स्वर्ग और मोक्षके सुख प्राप्त करना चाहते हो तो धर्मका सेवन करो, यह धर्म ही इंद्र चक्रवर्ती आदिके सुख देकर अंतमें विनाशरहित और अनंत सुखस्वरूप ऐसे मोक्षसुखकी प्राप्ति कराता है। क्योंकि शर्म अर्थात् कल्याण वा सुखकी प्राप्ति होना धर्मका ही फल है ॥ २७३ ॥ भो भव्यजन हो प्रसन्न होकर उत्तम मुनियोंकेलिये दान दो, तीर्थंकर भगवानको नमस्कार कर उनकी पूजा करो, शीलव्रतोंका पालन करो और अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें उपवास करो। भो बुद्धिमान हो यदि आप लोग सुख चाहते हो तो ऊपर लिखे हुये शुभाचरणोंको कभी मत भूलो ॥ २७४॥ इसप्रकार जो वृषभदेव अत्युत्तम लक्ष्मीके स्वामी थे, सदा ऊपर कहे हुये भोगोंका अनुभव करते थे, अत्यंत

नित्यभोगनिरतः पुत्रैश्च पौत्रैर्निजै रारूढप्रणयैरुपाहितधृतिः सिंहासनाध्यासितः । शक्रार्केंदुपुरःसरैः सुरवरैर्व्यूढोल्लसच्छासनः शास्तिस्माप्रतिशासनो भुवमिमामासिंधुसीमां जिनः ॥ २७५ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्साम्राज्यवर्णनं नाम षोडशं पर्व ।

स्नेह करनेवाले अपने पुत्र पौत्रोंके साथ संतोष धारण करते थे, इंद्र, सूर्य, चंद्रमा आदि सब उत्तम २ देव जिनकी आज्ञा अपने मस्तकपर धारण करते थे और जिनपर किसीकी भी आज्ञा नहीं चल सकती थी ऐसे वे भगवान वृषभदेव राज्यसिंहासनपर विराजमान होकर समुद्रपर्यंत इस समस्त पृथ्वीपर शासन करते थे अर्थात् सबका पालन करते थे ॥ २७५ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें भगवानका साम्राज्य और भोगोपभोग वर्णन करनेवाला सोलहवां पर्व समाप्त हुआ ।

अथ सप्तदशं पर्व।

अथान्येद्युर्महास्थानमध्ये नृपशतैर्वृतः। स सिंहासनमध्यास्त यथार्को नैषधं तटं ॥ १ ॥ तथासीनं च तं देवं देवराट् पर्युपासितुं। साप्सरः सहगंधर्वैः ससपर्यमुपासदत् ॥ २ ॥ ततो यथोचितं स्थानमध्यासीष्टाधिविष्टरं। जयन्नुदयमूर्द्धस्थमर्कमात्मीयतेजसा ॥ ३ ॥ आरिराधयिषुर्देवं सुरराड्भक्तिनिर्भरः। प्रायूयुजत्सगंधर्वो नृत्यमाप्सरसं तदा ॥ ४ ॥ तन्नृत्यं सुरनारीणां मनोस्यारंजयत्प्रभोः। स्फाटिको हि मणिः शुद्धोप्यादत्ते रागमन्यतः ॥५॥

अथ सत्रहवां पर्व।

अथानंतर—किसी एक दिन भगवान वृषभदेव अयोध्या नगरमें सैकडों राजाओंके मध्यभागमें सिंहासनपर ऐसे विराजमान थे मानों निषध पर्वतके किनारेपर सूर्य ही हो ॥ १ ॥ इसप्रकार सिंहासनपर विराजमान हुये भगवान वृषभदेवकी सेवा करनेकेलिये गंधर्व जातिके देव और अप्सराओंको साथ लेकर तथा पूजाकी सब सामग्री लेकर इंद्र आया ॥ २ ॥ और अपने तेजसे उदयाचल पर्वतके मस्तकपर विराजमान सूर्यको भी जीतता हुआ वह अपने यथायोग्य स्थानपर सिंहासनपर विराजमान हुआ ॥ ३ ॥ गंधर्वोंके साथ आये हुये इंद्रने अतिशय भक्तिवश होकर भगवानकी आराधना करनेकेलिये अप्सराओंका नृत्य कराना प्रारंभ किया ॥ ४ ॥ देवांगनाओंके उस नृत्यसे भगवान वृषभदेवका मन भी अनुरक्त हो गया था, सो ठीक ही है अत्यंत शुद्धस्फटिक मणि भी दूसरेके निमित्तसे अर्थात् जपाकुसुम अथवा अन्य किसी लाल पुष्पके निमित्तसे राग अर्थात् लालिमा धारण करता है ॥ ५ ॥ भगवान वृषभदेव राज्य और भोगोंसे विरक्त होकर किसप्रकार दीक्षा धारण करेंगे यही सोचकर इंद्रने उस नृत्यमें एक ऐसे पात्रको खडा किया था कि जिसकी आयु पूर्ण हो चुकी थी बिलकुल थोडी बाकी रही थी ॥६॥ तदनंतर (क्षणभर के बाद ही जिसकी आयु पूर्ण होनेवाली है ऐसी) वह अत्यंत सुंदरी नीलांजना नामकी नृत्य करनेवाली देवांगना रस, भाव और तालसहित तथा पादसंचार अर्थात् पांव रखना उठाना फिरकी लेना आदिसहित

राज्यभोगात्कथं नाम विरज्येद्भगवानिति । प्रक्षीणायुर्दशं पात्रं तदा प्रायुंक्त देवराट् ॥ ६ ॥ ततो नीलांजना नाम ललिता सुरनर्त्तकी । रसभावलयोपेतं नटंती सपरिक्रमं ॥ ७ ॥ क्षणाददृश्यतां प्राप किलायुर्दीपसंक्षये । प्रभातरलितां मूर्तिं दधाना तडिदुज्ज्वलां ॥ ८ ॥ सौदामिनीलतेवासौ दृष्टनष्टाभवत्क्षणात् । रसभंगभयादिंद्रः संदधेत्रापरं वपुः ॥ ९ ॥ तदेव स्थानकं रम्यं सा भूमिः स परिक्रमः । तथापि भगवान्वेद तत्स्वरूपांतरं तदा ॥१०॥ ततोस्य चेतसीत्यासीच्चिंता भोगाद्विरज्यतः । परां संवेगनिर्वेदभावनामुपजग्मुषः ॥ ११ ॥ अहो जगदिदं भंगि श्रीस्तडिद्वल्लरी चला । यौवनं वपुरारोग्यमैश्वर्यं च चलाचलं ॥ १२ ॥ रूपयौवनसौभाग्यमदोन्मत्तः पृथग्जनः । बध्नाति स्थायिनीं बुद्धिं किं तत्र न विनश्वरं ॥ १३ ॥ संध्यारागनिभा रू-

---

नृत्य कर रही थी, इतनेमें ही वह अपने आयुरूपी दीपकके क्षय होनेसे क्षणभरमें ही अदृश्य होगई। जिसप्रकार बिजलीरूपी लता देखते देखते ही क्षणभरमें नष्ट हो जाती है उसीप्रकार अपनी प्रभासे अत्यंत चंचल ऐसी बिजलीके समान स्वच्छ मूर्तिको धारण करनेवाली वह नीलांजना देखते देखते ही क्षणभरमें नष्ट होगई थी। उसके अदृश्य होते ही नृत्यके रसका भंग न हो जाय इसके भयसे ही इंद्रने उसी समय उसी जगह दूसरी नीलांजना स्थापन कर दी और वह नृत्य बराबर ज्योंका त्यों चलता रहा ॥ ७-८-९ ॥ यद्यपि दूसरी नीलांजना स्थापन करनेके बाद वही मनोहर स्थान था वही भूमि थी और वही नृत्य था तथापि भगवान वृषभदेव उससमयका सब रूपांतर जान गये थे ॥ १० ॥ तदनतर भोगोंसे विरक्त हुये और अत्यंत संवेग तथा वैराग्य भावनाओंको प्राप्त हुये भगवान वृषभदेवके चित्तमें यह चिंता उत्पन्न हुई कि ॥ ११ ॥ देखो यह बडे आश्चर्यकी बात है कि जिसको हम नित्य मान रहे हैं ऐसा यह जगत बडा ही विनश्वर है, लक्ष्मी बिजलीकी लताके समान चंचल है यौवन, शरीर, आरोग्य और ऐश्वर्य आदि जो सदा रहनेवालेसे दिखाई पडते हैं वे सब चञ्चल हैं ॥ १२ ॥ रूप, यौवन और सौभाग्य आदिसे मदोन्मत्त हुआ यह नीच पुरुष इन रूपादि सबमें स्थिर बुद्धि कर लेता है अर्थात् सबको नित्य समझ लेता है परंतु यदि विचार किया जाय तो इस संसारमें कौनसी वस्तु विनश्वर नहीं है अर्थात् सब ही विनश्वर

पशोभा तारुण्यमुज्ज्वलं । पल्लवच्छाविवत्सद्यः परिम्लानिमुपाश्नुते ॥ १४ ॥ यौवनं वनवल्लीनामिव पुष्पं परिक्षयि । विषवल्लीनिभा भोगसंपदो भंगि जीवितं ॥ १५ ॥ घटिकाजलधारेव गलत्यायुःस्थितिर्द्रुतं । शरीरमिदमत्यंतपूतिगंधि जुगुप्सितं ॥ १६ ॥ निःसारे खलु संसारे सुखलेशोपि दुर्लभः । दुःखमेव महत्तस्मिन्सुखं काम्यति मंदधीः ॥ १७ ॥ नरकेषु यदेतेन दुःखमासेवितं महत् । तच्चेत्स्मर्येत कः कुर्याद्भोगेषु स्पृहयालुतां ॥ १८ ॥ नून-

---

हैं ॥ १३ ॥ देखो यह रूपकी शोभा सायंकालके बादलोंकी लालिमाके समान क्षणभर रहकर ही नष्ट हो जाती है और मनोहर तरुणअवस्था भी नवीन पत्तेकी कांतिके समान बहुत शीघ्र मलिन हो जाती है अर्थात् नष्ट हो जाती है ॥१४॥ बनबेलके पुष्पोंके समान यह यौवन अवस्था भी तुरंत नष्ट होनेवाली है भोगोपभोगोंकी संपदायें विषवेलके समान ऊपरसे मनोहर और परिणाममें दुःख देनेवाली हैं, और यह जीवन भी अवश्य ही नाश होनेवाला है ॥ १५ ॥ यह आयुकी स्थिति घडीयंत्रकी जलधाराके समान बडी शीघ्रताके साथ गलती जा रही है तथा यह शरीर भी अत्यंत दुर्गंध है और ग्लानि उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥ यह संसार बिलकुल असार है, इसमें सुखका एक कण मिलना भी अत्यंत दुर्लभ है, इसमें बिलकुल दुःख ही दुःख भरा हुआ है तथापि यह मंदबुद्धि जीव इससंसारमें सुखकी इच्छा करता है (यह बडे दुःखकी बात है) ॥ १७ ॥ इस जीवने नरकोंमें जो बडे भारी दुःख भोगे हैं यदि उनका स्मरण भी हो जाय तो फिर ऐसा कौन है जो भोगोंकी इच्छा करे । भावार्थ—जबतक इस जीवको पहिले भोगे हुये दुःखोंका स्मरण नहीं होता है तबतक ही यह जीव भोगोंकी वांछा करता है यदि इसे पहिले भोगे हुये दुःखोंका स्मरण हो जाय तो फिर कोई जीव कभी भी भोगोंकी इच्छा नहीं कर सकता ॥ १८ ॥ अवश्य ही आर्तध्यान करनेवाले जीव जो कुछ भोगोपभोगोंका सेवन करते हैं वे सब भोगोपभोग उन प्राणियोंको जिनमें सदा अशुभकर्मोंका ही उदय रहता है ऐसे नरकोंमें दुःखरूप होकर ही उदयमें आते हैं ॥ १९ ॥ अनेक दुःखोंसे भरे हुये नरकोंमें कभी स्वप्नमें भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती

मार्तधियां भुक्ता भोगाः सर्वेपि देहिनां । दुःखरूपेण पच्यंते निरये निरयोदये ॥१९॥ क्षमजं च सुखं नास्ति नरके दुःखभूयसि । दुःखं दुःखानुबंध्येव यतस्तत्र दिवानिशं ॥ २० ॥ ततो विनिःसृतो जंतुस्तैरश्चं दुःखमायतं । स्वसात्करोति मंदात्मा नानायोनिषु पर्यटन् ॥ २१ ॥ पृथिव्यामप्सु वन्हौ च पवने स वनस्पतौ । बंभ्रम्यते महदुःखमश्नुवानो बताज्ञकः ॥ २२ ॥ खननोत्तापनज्वालिज्वालाविध्यापनैरपि । घनाभिघातैश्छेदैश्च दुःखं तत्रैति दुस्तरं ॥ २३ ॥ सूक्ष्मबादरपर्याप्तद्विपक्षात्मयोनिषु । पर्यटत्यसकृज्जीवो घटीयंत्रस्थितिं दधत् ॥२४॥ त्रसकायेष्वपि प्राणी वधबंधोपरोधनैः । दुःखासिकामवा-

---

है । क्योंकि वहां रात दिन दुःख अर्थात् असाता वेदनीयका बंध करनेवाला दुःख ही दुःख दिखाई पडता है । भावार्थ—वहां निरंतर दुःख ही रहता है और वह दुःख भी ऐसा होता है कि जिससे दुःख देनेवाले असातावेदनीय कर्मका ही बंध होता है ॥ २० ॥ वहां सागरोंपर्यंत दुःख भोगकर यह क्षुद्र प्राणी किसीतरह उन नरकोंसे निकलता है और फिर मंदबुद्धि यह जीव अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ तिर्यंच योनिका बडा भारी दुःख भोगता है ॥ २१ ॥ हाय यह अज्ञानी जीव पृथ्वीकायक जलकायिक अग्निकायक वायुकायक और वनस्पतिकायक आदि अनेक योनियोंमें बडे २ दुःख भोगता हुआ परिभ्रमण करता है ॥ २२ ॥ पृथ्वीकायके जीव खोदेजाते हैं, जलकायके जीव तपाये जाते हैं, अग्निकायके जीव बुझाये जाते हैं, वायुकायके जीवोंमें बादलोंका टक्कर लगता है और वनस्पतिकायके जीव काटे जाते हैं छेदे जाते हैं, इसप्रकार वनस्पती कायके जीव बहुतही दुःख भोगते हैं ॥ २३ ॥ जिसप्रकार अरहटकी घडीके घडे कभी ऊपर और कभी नीचे होते रहते हैं उसीप्रकार जीव सूक्ष्म बादर (स्थूल) पर्याप्तक अपर्याप्तक आदि अनेक योनियोंमें बार बार परिभ्रमण करता है ॥ २४ ॥ इसप्रकार अनंतकालतक स्थावरकायमें परिभ्रमण करता हुआ बडी कठिनतासे वहांसे निकलता है और फिर त्रसकायमें जन्म लेकर यह जीव बांधना, मारना, रोकना आदि अनेक दुःख जन्मसे मरणपर्यंत बराबर भोगता रहता है ॥ २५ ॥ प्रथम इसे जन्म लेनेका दुःख भोगना पडता है, फिर बालावस्थाका दुःख,

प्नोति सर्वावस्थानुयायिनीं ॥ २५ ॥ जन्मदुःखं ततो दुःखं जरा मृत्युस्ततोधिकं । इति दुःखशतावर्ते जन्माब्धौ स निमग्नवान् ॥ २६ ॥ क्षणान्नश्य न्क्षणाज्जीर्यन् क्षणाज्जन्म समाप्नुवन् । जन्ममृत्युजरातंकपंके मज्जति गौरिव ॥ २७ ॥ अनंतं कालमित्यज्ञस्तिर्यक्त्वे दुःखमश्नुते । दुःखस्य हि परं धाम तिर्यक्त्वं मन्वते जिनाः ॥ २८ ॥ ततः कृच्छ्राद्विनिःसृत्य शिथिले दुष्कृते मनाक् । मनुष्यभावमाप्नोति कर्मसारथिचोदितः ॥ २९ ॥ तत्रापि विविधं दुःख शारीरं चैव मानसं । प्राप्नोत्यनिच्छुरेवात्मा निरुद्धः कर्मशत्रुभिः ॥ ३० ॥ पराराधनदारिद्र्यचिंताशोकादिसंभवं । दुःखं महन्मनुष्याणां प्रत्यक्षनरकायते ॥ ३१ ॥ शरीरशकटं दुःखदुर्भांडैः परिपूरितं । दिनैस्त्रिचतुरैरेव पर्यस्यति न संशयः ॥३२॥ दिव्यभावे किलैतेषां सुखभाक्त्वं शरीरिणां ।

तदनंतर बुढापेका दुःख और फिर उससेभी अधिक मृत्युका दुख। इसप्रकार सैकडों दुःखों के चक्रमें पडकर यह जीव जन्म मरण रूप समुद्रमें सदा डूबा रहता है ॥ २६ ॥ क्षणभरमें नष्ट होता है, क्षणभरमें जीर्ण होता है, और क्षणभरमें जन्म लेता है। जिसप्रकार गाय कीचडमें फंसजाती है उसीप्रकार यह जीव भी जन्म मरण बुढापा और रोगरूपी कीचडमें सदा फसा रहता है ॥ २७ ॥ इसप्रकार यह अज्ञानी जीव अनंतकालतक तिर्यंच योनिमें दुःख भोगता है, सो ठीक ही है क्योंकि श्रीजिनेंद्रदेव भी यही कहते हैं कि दुःखोंका सबसे बडा स्थान तिर्यंच योनि ही है ॥ २८ ॥ तदनंतर अशुभकर्मोंके कुछ कुछ मंद होनेसे यह जीव बडी कठिनतासे तिर्यंच योनिसे निकलता है और कर्मरूप सारथीकी प्रेरणासे फिर मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है ॥ २९ ॥ मनुष्ययोनिमें भी यद्यपि यह जीव दुःख भोगनेकी इच्छा नहीं करता है तथापि कर्मरूप शत्रुकी जवर्दस्तीसे इसे अनेकप्रकारके शारीरिक और मानसिक दुःख भोगने पडते हैं ॥ ३० ॥ मनुष्योंको दूसरोंकी सेवा करनी पडती है, दरिद्रताका दुख भोगना पडता है, अनेक प्रकारकी चिंतायें करनी पडती हैं और इष्ट वियोग तथा अनिष्टसंयोग होनेपर शोक करना पडता है। कहांतक कहाजाय मनुष्ययोनिके बडे २ दुख भी प्रत्यक्ष नरकके समान जान पडते हैं ॥३१॥ वास्तवमें यह मनुष्योंका शरीर एक छकडा गाडीके समान है जोकि दुःखरूपी खोटे वर्तनोंसे भरी है। अवश्य ही यह श-

तत्रापि त्रिदिवात्पातः परं दुःखं दुरुत्तरं ॥ ३३ ॥ तत्रापीष्टवियोगोऽस्ति न्यूनास्तत्रापि केचन । ततोमानसमेतेषां दुःखं दुःखेन लंघ्यते ॥ ३४ ॥ इति संसारचक्रेस्मिन्विचित्रैः परिवर्त्तनैः । दुःखमाप्नोति दुष्कर्मपरिपाकाद्वराककः ॥ ३५ ॥ नारीरूपमयं यंत्रमिदमत्यंतपेलवं । पश्यतामेव नः साक्षात्कथमेतद्गाह्लयं ॥ ३६ ॥ रमणीयमिदं मत्वा स्त्रीरूपं बहिरुज्ज्वलं । पतंतस्तत्र नश्यंति पतंगा इव कामुकाः ॥ ३७ ॥ कूटनाटकमेतत्तु प्रयुक्तममरेशिना । नूनमस्मत्प्रबोधाय स्मृतिमाधाय धीमता ॥ ३८ ॥ यथेदमेवमन्यच्च भोगांगं यत्किलांगिनां । भंगुरं नियतापायं केवलं तत्प्रलंभकं ॥ ३९ ॥ किं किला

रीररूपी गाडी तीन चार दिनमें ही नष्ट हो जायगी इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ३२ ॥ यद्यपि देव पर्यायमें जीवोंको कुछ सुख मिलता है तथापि जब यह जीव स्वर्गसे च्युत होता है (और च्युत होनेकी अर्थात् मरनेकी छह महीने पहिलेसे खबर हो जाती है) तब इसे सबसे अधिक दुःख होता है ॥ ३३ ॥ स्वर्गमें भी देवांगनाओंके वियोग होनेसे इष्ट वियोगका दुःख सहना पडता है। वहां भी बहुतसे कम ऋद्धिवाले हैं जोकि अधिक समृद्धशाली देवोंको देखकर दुःख किया करते हैं। इसलिये देवोंका मानसिक दुःख भी बडे दुखसे कटता है ॥ ३४ ॥ इसप्रकार यह क्षुद्रजीव चारों गतियोंके जन्ममरणरूप इस संसारचक्रमें पडकर अशुभकर्मोंके उदयसे अनेकप्रकारके परिभ्रमणोंके द्वारा अनेक दुःख भोगता है ॥३५॥ देखो जो नीलांजना यहां नृत्य कर रही थी उसका अत्यंत मनोहर ऐसा स्त्रीरूप यंत्र हमारे साक्षात् देखते ही किसप्रकार नष्ट हो गया ॥ ३६ ॥ जिसप्रकार पंतग दीपकपर पडते ही नष्ट हो जाता है उसीप्रकार ये कामीजन भी केवल बाहरसे उज्वल ऐसे स्त्रीके रूपको अत्यंत मनोहर मानकर उसपर पडते हैं और उसपर पडते ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ३७ ॥ अवश्य ही इंद्रने जो यह नृत्य कराना प्रारंभ किया है वह उस बुद्धिमानने बहुत सोच विचारकर केवल हमारे बोध करानेकेलिये एक कपटरूप नाटक किया है ॥ ३८ ॥ जिसप्रकार यह नीलांजनाका शरीर क्षणभंगुर था, तुरंत ही नष्ट हो गया उसीप्रकार जीवोंके अन्य भी जो कुछ भोगोपभोगके पदार्थ हैं वे सब क्षणभंगुर हैं, अवश्य नष्ट

भरणैर्भारैः किं मलैरनुलेपनैः । उन्मत्तचेष्टितैर्नृत्तैरलं गीतैश्च शोचितैः ॥ ४० ॥ यद्यस्ति स्वगता शोभा किं किलालंकृतैः कृतं । यदि नास्ति स्वतः शोभा भारैरेभिस्तथापि किं ॥ ४१ ॥ तस्माद्धिग्धिगिदं रूपं धिक्संसारमसारकं । राज्यभोगं धिगस्त्वेनं धिग्धिगाकालिकीं श्रियं ॥ ४२ ॥ इति निर्विद्य भोगेभ्यो विरक्तात्मा सनातनः । मुक्तावुत्तिष्ठते स्माशु काललब्धिमुपाश्रितः ॥ ४३ ॥ तदा विशुद्धयस्तस्य हृदये पदमादधुः । मुक्तिलक्ष्म्येव संदिष्टास्तत्सख्यः सम्मुखागताः ॥ ४४ ॥ तदास्य सर्वमप्येतच्छून्यवत्प्रत्यभासत । मुक्त्यंगनासमासंगे परां चिंतामुपेयुषः ॥ ४५ ॥ सौधर्मेंद्रस्ततोबोधि गुरो-

---

होनेवाले हैं और जीवोंको केवल ठगनेवाले हैं ॥ ३९ ॥ अतएव भाररूप इन आभरणोंसे क्या लाभ है मैलके समान इस सुगंध चंदनादिके लेपनसे क्या प्रयोजन है, उन्मत्तकी चेष्टाके समान यह नृत्य भी नहीं चाहिये और शोकके समान ये गीत भी नहीं चाहिये ॥ ४० ॥ यदि शरीरकी सुंदर शोभा स्वयं अच्छी है तो फिर अलंकारोंका क्या काम है और यदि शरीरमें शोभा है ही नहीं तो फिर ये भाररूप अलंकार कर ही क्या सकते हैं ॥ ४१ ॥ इसलिये इस रूपको भी धिक्कार है, इस असार संसारको भी धिक्कार है, इस राज्य भोगको भी धिक्कार है और इस असमयमें उत्पन्न होनेवाली विजलीके समान चंचल लक्ष्मीको भी बार बार धिक्कार है ॥ ४२ ॥ इसप्रकार जिनका अंतःकरण अत्यंत विरक्त होगया है ऐसे सनातन अर्थात् अनादि ब्रह्मा भगवान वृषभदेव भोगोंसे खेदखिन्न हुये और काललब्धिके प्राप्त होनेसे बहुत शीघ्र मुक्तिकेलिये उद्योग करने लगे ॥ ४३ ॥ उससमय भगवानके हृदयमें अत्यंत विशुद्ध परिणामोंने इसप्रकार अपना दखल जमालिया था मानों वे मुक्तिलक्ष्मीकी प्रेरणासे उसकी सखीके समान सामने ही आ उपस्थित हुये हों ॥ ४४ ॥ उससमय भगवान मुक्तिरूपी स्त्रीके साथ समागम करनेकेलिये बडे ही चिंतित हो रहे थे इसलिये उन्हे यह समस्त संसार शून्यके समान दिखाई दे रहा था ॥ ४५ ॥ भगवान वृषभदेवको बोध होगया है, वे अब संसारसे विरक्त होगये हैं यह जगतगुरु भगवानके अंतःकरणका हाल इंद्रने अपने अवधिज्ञानसे उसीसमय जानलिया था ॥४६॥ उसीसमय भगवानको प्रबोध करानेकेलिये और

रंतःसमीहितं । प्रयुक्तावधिरीशस्य बोधिर्जातेति तत्क्षणं ॥ ४६ ॥ प्रभोः प्रबोधमाधातुं तदा लौकांतिकामराः । परिनिष्क्रमणेज्यार्थं ब्रह्मलोकादवातरन् ॥ ४७ ॥ ते च सारस्वतादित्यौ वन्हिश्चारुण एव च । गर्दतोयः सतुषितोऽव्याबाधोरिष्ट एव च ॥ ४८ ॥ इत्यष्टधानिकायाख्यां दधाना विबुधोत्तमाः । प्राग्भवेऽभ्यस्तनिःशेषश्रुतार्थाः शुभभावनाः ॥ ४९ ॥ ब्रह्मलोकालयाः सौम्याः शुभलेश्या महर्द्धिकाः । तल्लोकांतनिवासित्वाद्गता लौकांतिकश्रुतिं ॥५०॥ दिव्यहंसा विरेजुस्ते शिवोरुपुलिनोत्सुकाः । परिनिष्क्रांतिकल्याणशरदागमशंसिनः ॥ ५१ ॥ सुमनोंजलयो मुक्ता वभुर्लौकांतिकामरैः । विभोरुपासितुं पादौ स्वचित्तांशा इवार्पिताः ॥ ५२ ॥ तेभ्यर्च्य भगवत्पादौ प्रसूनैः सुरभूरुहां । ततस्तुतिभिरर्थ्याभिः स्तोतुं प्रारेभिरे विभुं ॥ ५३ ॥ मोहारिविज-

---

उनके तप कल्याणकी पूजा करनेकेलिये लौकांतिकदेव भी ब्रह्मलोकसे उतरे ॥ ४७ ॥ लौकांतिक देवोंके सारस्वत, आदित्य, वन्हि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ भेद होते हैं, वे लौकांतिक देव सब ही उत्तम देव होते हैं, वे पूर्वभवमें संपूर्ण श्रुतज्ञानका अभ्यास करते हैं और उनकी भावनायें सदा शुभ रहती हैं ॥ ४८-४९ ॥ वे लौकांतिकदेव ब्रह्मलोक अर्थात् पांचवे स्वर्गके अंतके पटलमें रहते हैं, बडे शांत होते हैं, उनकी लेश्यायें शुभ होती हैं और वे बडी २ ऋद्धियोंको धारण करनेवाले होते हैं। ब्रह्मलोक अर्थात् पांचवां स्वर्ग एक लोक कहलाता है, वे देव उस लोकके अंतमें अर्थात् पांचवें स्वर्गरूपी लोकके अंतमें निवास करते हैं इसलिये वे लौकांतिक कहलाते हैं ॥ ५० ॥ उस समय वे लौकांतिक देव भगवानके तपकल्याणरूपी शरदऋतुके आनेकी प्रशंसा कर रहे थे और मोक्षके सुखरूप नदीके किनारेपर निवास करनेकेलिये उत्कंठित हो रहे थे, इसलिये उससमय वे स्वर्गोंके राजहंसोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ५१ ॥ उन लौकांतिक देवोंने आकर भगवानकेलिये जो पुष्पांजलि अर्पण की थी वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों भगवानके चरण कमलोंकी उपासना करनेकेलिये उन्होंने अपने चित्तके अंश ही अर्पण किये हों ॥ ५२ ॥ उन लौकांतिकदेवोंने प्रथम ही कल्पवृक्षके पुष्पोंसे भगवानके चरणकमलोंकी पूजाकी और फिर अनेक अर्थ भरेहुये स्तोत्रोंसे भगवानकी स्तुति करना प्रारंभ की ॥५३॥

योयोगमधुना संविधित्सुना । भगवन्भव्यलोकस्य बंधुकृत्यं त्वयेहितं ॥ ५४ ॥ त्वं देव परमं ज्योतिस्त्वामाहुः कारणं परं । त्वमिदं विश्वमज्ञानप्रपाता-दुद्धरिष्यसि ॥ ५५ ॥ त्वयाद्य दर्शितं धर्मतीर्थमासाद्य दुस्तरात् । भव्याः संसारभीमाब्धेरुत्तरिष्यंति हेलया ॥ ५६ ॥ तव वागंशवो दीप्ता द्योतयं-तोखिलं जगत् । भव्यपद्माकरे बोधमाधास्यंति रवेरिव ॥ ५७ ॥ धातारमामनंति त्वां जेतारं कर्मविद्विषां । नेतारं धर्मतीर्थस्य त्रातारं च जगद्गुरुं ॥ ५८ ॥ मोहपंके महत्यस्मिन् जगन्मग्नमशेषतः । धर्महस्तावलंबेन त्वया मंक्षूद्धरिष्यते ॥ ५९ ॥ त्वं स्वयंभूः स्वयंबुद्धसन्मार्गो मुक्तिपद्धतिं । यत्प्रबो

कि हे भगवान आज आपने जो मोहरूपी शत्रुके जीतनेके उद्योग करनेकी इच्छा की है सो अवश्य ही आपने भव्य जीवोंको सहायता देनेके लिये भाईपनेका काम करना विचार लिया है ॥ ५४ ॥ हे देव आप उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप हैं, सबलोग आपको समस्तकार्योंका उत्तम कारण बतलाते हैं। हे देव आप ही अज्ञानरूपी प्रपात अर्थात् ऊपरसे पडती हुई धारसे इस संसारका उद्धार करेंगे ॥ ५५ ॥ हे देव आज आपने जो धर्मरूपी तीर्थ दिखलाया है उसे पाकर भव्यजीव इस संसार रूपी भयानक और दुस्तर समुद्रसे लीलामात्रमें पार हो जायंगे ॥ ५६ ॥ हे स्वामिन् जिसप्रकार सूर्यकी तेज किरणें संसारको प्रकाशित करती हुई कमलोंको प्रफुल्लित करती हैं उसीप्रकार आपकी वचनरूपी दैदीप्यमान किरणें भी संसारके समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करती हुई भव्यजीवरूपी कमलसमूहोंको प्रफुल्लित करेंगी ॥५७॥ हे नाथ ! लोग आपको जगतका पालन करनेवाले ब्रह्मा मानते हैं, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले कहते हैं, धर्मरूपी तीर्थके नायक बतलाते हैं और सबकी रक्षा करनेवाले जगत्गुरु कहते हैं ॥ ५८ ॥ हे स्वामिन् ! यह संपूर्ण जगत मोहरूपी महा कीचडमें फंसा हुआ है उसे आप धर्मरूपी हस्तावलंबन देकर शीघ्र उसका उद्धार करेंगे ॥ ५९ ॥ हे भगवान ! आप स्वयंभू हैं, अपने आप अनादिकालसे चले आये मोक्षमार्गको जाननेवाले हैं और हमलोगोंकेलिये मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले हैं इसलिये हे नाथ ! आप बिना कारण ही करुणा करनेवाले हैं ॥ ६० ॥ हे देव ! आज आपने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान

धयितास्यस्मानकस्मात्करुणार्द्रधीः ॥ ६० ॥ त्वं बुद्धोसि स्वयंबुद्धस्त्रिबोधामललोचनः । यद्वेत्थ स्वत एवाद्य मोक्षस्य पदवीं त्रयीं ॥ ६१ ॥ स्वयंप्रबुद्धसन्मार्गस्त्वं न बोध्योस्मदादिभिः । किंत्वास्मकं नियोगोयं मुखरीकुरुतेद्य नः ॥ ६२ ॥ जगत्प्रबोधनोद्योगे न त्वमन्यैर्नियुज्यसे । भुवनोद्योतने किंतु केनाप्युत्थाप्यतेंशुमान् ॥ ६३ ॥ अथवा बोधितोऽप्यस्मान्बोधयस्यपुनर्भव । बोधितोऽपि यथा दीपो भुवनस्योपकारकः ॥ ६४ ॥ सद्योजातस्त्वमाद्येऽभूः कल्याणे वामतां मतः । प्राप्तेनंतरकल्याणे धत्से संप्रत्यघोरतां ॥ ६५ ॥ भुवनस्योपकाराय कुरूद्योगं त्वमीशितः । त्वां नवाब्दमिवासेव्य

और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकतारूप मोक्षमार्गको अपने आप जाना है इसलिये ही आप स्वयंबुद्ध हैं और मतिज्ञान श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानरूपी निर्मल नेत्रोंको धारण करने वाले बुद्ध हैं ॥ ६१ ॥ हे विभो ! आप सन्मार्गका स्वरूप स्वयं जानते हैं इसलिये हमारे ऐसे देवोंके द्वारा प्रबुद्ध कराने योग्य नहीं है, तथापि हमलोगोंका यह नियोग है, वही आज हम लोगोंको वाचालित कर रहा है ॥ ६२ ॥ हे प्रभो ! समस्त संसारको प्रबुद्ध करानका उद्योग करनेकेलिये आपको अन्य कौन प्रेरणा कर सकता है । क्या संसारको प्रकाशित करनेकालये सूर्यको अन्य कोई उठाता है ? भावार्थ—जिसप्रकार सूर्य अपने आप संसारको प्रकाशित करता है उसीप्रकार आप भी अपने आप संसारी जीवोंको उपदेश देते हैं ॥ ६३ ॥ अथवा जन्ममरणरहित हे जिनद्र देव ! जिसप्रकार प्रबोधित किया हुआ अर्थात् जलाया हुआ दीपक संसारका उपकारक होता है अर्थात् सबको प्रकाशित करता है उसीप्रकार आप भी यद्यपि हमारे द्वारा ही प्रबुद्ध हुये हैं तथापि हमलोगोंको ही प्रबोध करावेंगे ॥ ६४ ॥ हे नाथ ! आप गर्भकल्याणमें सद्योजात (शीघ्र अवतार लेनेवाले) कहलाये थे । द्वितीय जन्मकल्याणकमें आपने वामता अर्थात् मनोहरता धारण की थी और अब तीसरे तपकल्याणमें संसारी जीवोंको सुखी करनेका उपाय धारण करेंगे ॥ ६५ ॥ हे ईश्वर ! आप संसारके उपकार करनेका उद्योग कीजिये । ये भव्यरूपी चातक नवीन बादलोंके समान आपको पाकर तथा आपकी सेवा कर संतुष्ट हों

प्रार्थ्यतां भव्यचातकाः ॥ ६६ ॥ तव धर्मामृतं स्रष्टुमेष कालः सनातनः । धर्मसृष्टिमतो देव विधातुं धातरर्हसि ॥ ६७ ॥ जय त्वमीश कर्मारीन् जय मोहमहासुरं । परीषहभटान्दृप्तान्विजयस्व तपोबलात् ॥ ६८ ॥ उत्तिष्ठतां भवान्मुक्तौ भुक्तैर्भोगैरलं तरां । न स्वादंतरमेषु स्याद्भूयोऽप्यनुभवेंगिनां ॥ ६९ ॥ इति लौकांतिकैर्देवैस्तुवानरुपनार्थितः । परिनिष्क्रमणे बुद्धिमधाद्धाता द्रढीयसीं ॥ ७० ॥ तावतैव नियोगेन कृतार्थास्ते दिवं ययुः । हंसा इव नभोवीथीं द्योतयंतोऽगदीप्तिभिः ॥७१॥ तावच्च नाकिनो नैकविक्रियाः कंपितासनाः । पुरोभूवन्पुरोगस्य पुरोधाय पुरंदरं ॥ ७२ ॥ नभोंऽगण-

---

॥ ६६ ॥ हे भगवन् ! यह नित्य काल भी अब आपके धर्मरूपी अमृत उत्पन्न करनेके अनुकूल हुआ है इसलिये हे देव अब आप धर्मरूपी सृष्टिको उत्पन्न करनेके अनुकूल हुये हैं ॥ ६७ ॥ हे स्वामिन् ! अब आप अपने तपश्चरणरूपी बलसे कर्मरूप शत्रुओंका विजय कीजिये मोहरूपी महा असुरको जीतिये और परीषहरूपी घमंडी योद्धाओंका भी विजय कीजिये ॥ ६८ ॥ हे नाथ ! अब आप मोक्ष जानेकेलिये उठिये, तैयार हूजिये, अब इन बार बार भोगे हुये भोगोंको छोडिये, क्योंकि जीवोंको इन भोगोंका बार २ अनुभव करनेसे कुछ भी स्वाद नहीं बदलता है ॥ ६९ ॥ इसप्रकार लौकांतिक देवोंने भगवान वृषभदेवकी स्तुतिकर तपश्चरण धारण करनेकेलिये उनसे प्रार्थना की । तब आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने तपश्चरण करनेकेलिये अपनी बुद्धि दृढ की ॥ ७० ॥ जिसप्रकार हंस आकाश मार्गको प्रकाशित करते हुये जाते हैं उसीप्रकार अपने शरीरकी कांतिसे आकाशमार्गको प्रकाशित करते हुये वे लौकांतिक देव अपने इतने ही नियोगसे अर्थात् भगवानको तपश्चरण धारण करनेका स्मरण दिलाकर ही कृतार्थ होकर स्वर्गको चलेगये ॥ ७१ ॥ इतनेमें इधर सब देवोंके आसन कंपायमान हुये थे, इसलिये सब देव अवधिज्ञानसे भगवानका तपकल्याणक जानकर अपने अपने निकायके इंद्रोंके साथ २ अनेक विक्रयाओंको धारणकर आने लगे ॥ ७२ ॥

अथानंतर-समस्त इंद्र अपनी २ सवारी और अपने अपने समूहोंको लेकर आकाशमें व्याप्त होते हुये

मधारुध्य तेऽयोध्यां परितः पुरीं । तस्थुः सवाहनानीका नाकिनाथा निकायशः ॥ ७३ ॥ ततोस्य परिनिष्क्रांतिमहाकल्याणसंविधौ । महाभिषेकमिंद्राद्याश्चक्रुः क्षीरार्णवांबुभिः ॥ ७४ ॥ अभिषिच्य विभुं देवा भूषयांचक्रुरादृताः । दिव्यैर्विभूषणैर्वस्त्रैर्माल्यैश्च मलयोद्भवैः ॥ ७५ ॥ ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये भरतं सूनुमग्रिमं । भगवान्भारतं वर्षं तत्सनाथं व्यधादिदं ॥ ७६ ॥ यौवराज्ये च तं बाहुबलिनं समतिष्ठिपत् । तदा राजन्वतीत्यासीत्पृथ्वी ताभ्यामधिष्ठिता ॥ ७७ ॥ परिनिष्क्रांतिराज्यानुसंक्रातिद्वितयोत्सवे । तदा स्वर्लोकभूलोकावास्तां प्रमदनिर्भरौ ॥ ७८ ॥ भगवत्परिनिष्क्रांतिकल्याणो-

---

आये और आकर अयोध्यापुरीके चारोंओर ठहरगये ॥७३॥ तदनंतर इंद्रादिक देवोंने भगवानके निष्क्रमण अर्थात् तपश्चरण धारण करनेका महाकल्याणोत्सव करनेकेलिये क्षीरसागरके जलसे भगवानका महाभिषेक किया ॥ ७४ ॥ उन्होंने प्रथम ही भगवानका अभिषेक किया और फिर दिव्य आभूषण, दिव्य वस्त्र, दिव्य माला और मलयागिरिचंदनसे बडे आदरपूर्वक भगवानका अलंकार किया ॥७५॥ यह सब क्रिया हो जानेके अनंतर भगवानने साम्राज्यपदपर स्थापन करनेकेलिये अपने ज्येष्ठपुत्र भरतका अभिषेककर इस भारतवर्षको सनाथ बनाया ॥७६॥ और युवराजपदपर महारानी सुनंदाके पुत्र बाहुबलिको विराजमान किया। उससमय भरत और बाहुबलीके आश्रित होनेसे यह पृथ्वी साक्षात् राजन्वती (जिसका पालन करनेवाला राजा दयालु हो) हो गई थी ॥७७॥ उससमय भगवान वृषभदेवके दीक्षाकल्याणका उत्सव हो रहा था और भरत तथा बाहुबलीके राज्याभिषेकका उत्सव हो रहा था, इन दोनोंप्रकारके उत्सवोंसे उससमय स्वर्गलोक और पृथ्वीलोक दोनोंमें ही खूब आनंद मनाया जा रहा था ॥७८॥ उससमय एकओर तो बडे धूमधामसे भगवानके दीक्षाकल्याणका उत्सव हो रहा था और दूसरीओर दोनों राजकुमारोंके समस्त पृथ्वीका राज्यस्वीकार करनेका उत्सव हो रहा था ॥ ७९ ॥ एकओर तो राजऋषि भगवान वृषभदेव तपश्चरणरूपी राज्य करनेकेलिये कमरबांधकर तैयार हुये थे और दूसरीओर वे दोनों ही राजकुमार राज्यलक्ष्मीके साथ विवाह करनेकेलिये तैयार हो रहे थे ॥ ८० ॥ एकओर तो देवलोगोंके शिल्पिकार (कारीगर) भगवान

त्सव एकतः । स्फीतर्द्धिरन्यतो यूनोः पृथ्वीराज्यार्पणक्षणः ॥ ७९ ॥ बध्दकक्षस्तपोराज्ये सज्जो राजर्षिरेकतः । युवानावन्यतो राज्यलक्ष्म्योद्वाहे कृतोद्यमौ ॥ ८० ॥ एकतः शिबिकायाननिर्माणं सुरशिल्पिनां । वास्तुवेदिभिरारब्धः पराध्यों मंडपोऽन्यतः ॥ ८१ ॥ शचीदेव्यैकतो रंगवल्यादिरचना कृता । देव्यान्यतो यशस्वत्या सानंदं ससुनंदया ॥ ८२ ॥ एकतो मंगलद्रव्यधारिण्यो दिक्कुमारिकाः । अन्यतः कृतेनेपथ्या वारमुख्या वरस्त्रियः ॥ ८३ ॥ सुरवृंदारकैः प्रीतैर्भगवानेकतो वृतः । क्षत्रियाणां सहस्रेण कुमारावन्यतो वृतौ ॥ ८४ ॥ पुष्पांजलिः सुरैर्मुक्तः स्तुवानैर्भर्तुरेकतः । अन्यतः साशिषः शेषाः क्षिप्ताः पौरैर्युवेशिनोः ॥ ८५ ॥ एकतोऽप्सरसां नृत्तमस्पृष्टधरणीतलं । सलीलपदविन्यासमन्यतो वारयोषितां ॥ ८६ ॥ एकतः सुरतूर्याणां प्रध्वा-

---

को सवारकर बनमें लेजानेकेलिये पालकी बना रहे थे और दूसरीओर वास्तुविधानको (घर मकान आदिको) जाननेवाले शिल्पिकार लोग राजकुमारोंको अभिषेक करानेकेलिये बहुत सुंदर और मूल्यवान मंडप तैयार कर रहे थे ॥८१॥ एकओर तो शचीदेवी अर्थात् इंद्रानी चौक वगैरह पूर रही थी और दूसरीओर यशस्वती और सुनंदादेवी बडे आनंदके साथ चौक पूर रही थीं ॥८२॥ एकओर तो दिक्कुमारी देवियां मंगलद्रव्य धारण किये हुये खडी थीं और दूसरीओर वस्त्र और आभूषणोंसे सुशोभित ऐसी उत्तम वारांगनायें मंगलद्रव्य लेकर खडी हुई थीं ॥ ८३ ॥ एकओर भगवान वृषभदेव अति संतुष्ट हुये मुख्य मुख्य देवोंसे घिरे हुये थे और दूसरीओर वे दोनों राजकुमार हजारों क्षत्रियोंसे घिरे हुये थे ॥ ८४ ॥ एकओर भगवान वृषभदेवके सामने स्तुति करते हुये देवलोग पुष्पांजलि अर्पण कर रहे थे और दूसरीओर पुरवासी लोग दोनों राजकुमारोंके सामने आशीर्वादके साथ शेषाक्षत फेंक रहे थे ॥ ८५ ॥ एकओर भगवानके सामने अधर आकाशमें अप्सराओंका नृत्य हो रहा था और दूसरीओर अनेक वारांगनायें लीलापूर्वक पैर उठाती रखती हुई नृत्य कर रहीं थीं ॥ ८६ ॥ एकओर सब दिशाओंमें व्याप्त होते हुये देवलोगोंके बाजे बज रहे थे और दूसरीओर मांगलिक बाजोंके घोर शब्द चारोंओर फैल रहे थे ॥८७॥ एकओर किन्नर जातिके देव मधुर मंगलगीत गा रहे थे और दूसरीओर अंतःपुरकी स्त्रियां मधुर गीत गा रहीं थीं ॥८८॥ एकओर

नो रुद्धदिग्मुखः । नांदीपटहनिर्घोषप्रविजृंभितमन्यतः ॥ ८७ ॥ एकतः किंनरारब्धः कलमंगलनिःक्वणः । अन्यतोंतःपुरस्त्रीणां मंगलोद्गीतिनिःस्वनः ॥ ८८ ॥ एकतः सुरकोटीनां जयकोलाहलध्वनिः । पुण्यपाठककोटीनां संपाठध्वनिरन्यतः ॥ ८९ ॥ इत्युच्चैरुत्सवद्वैतव्यग्रद्युजनभूजनं । परमानंदसाद्भूतमभूत्तद्राजमंदिरं ॥ ९० ॥ वितीर्णराज्यभारस्य विभोरधियुवेश्वरं । परिनिष्क्रमणोद्योगस्तदा जज्ञे निराकुलः ॥ ९१ ॥ शेषेभ्योपि स्वसूनुभ्यः संविभज्य महीमिमां । विभुर्विश्राणयामास निर्मुमुक्षुरसंभ्रमी ॥ ९२ ॥ सुरेंद्रनिर्मितां दिव्यां शिबिकां स सुदर्शनां । सनाभिर्नाभिराजादीनापृच्छयारुक्षदक्षरः ॥ ९३ ॥ सादरं च शचीनाथदत्तहस्तावलंबनः । प्रतिज्ञामिव दीक्षायामारूढः शिबिकां प्रभुः ॥९४॥ दीक्षांगनापरिष्वंगपरिवर्धितकौतुकः । प्रशय्यां तु स-

---

करोडों देवलोग जय जय ऐसा कोलाहल शब्द कर रहे थे और दूसरीओर पुण्यपाठ पढनेवाले करोडों मनुष्य अपना २ पुण्यपाठ पढ रहे थे ॥८९॥ इसप्रकार उस राजमंदिरमें होने वाले दोनों ही बडे २ उत्सवोंमें स्वर्गमें रहनेवाले देवलोग और पृथ्वीलोकमें रहनेवाले मनुष्य लोग सबही व्यग्र हो रहे थे तथा वह राजमंदिर बडा ही आनंस्वरूप हो रहा था ॥९०॥ भगवान वृषभदेवने अपने राज्यका भार दोनों ही पुत्रोंकेलिये समर्पण कर दिया था इसालिये अब उनका दीक्षा ग्रहण करनेका उद्योग बिलकुल निराकुल होगया था ॥ ९१ ॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले भगवान वृषभदेवने निराकुल होकर अन्य पुत्रोंकेलिये भी यह पृथ्वी बांटकर अर्पण कर दी थी ॥ ९२ ॥ तदनंतर अविनाशीक भगवान वृषभदेव महाराज नाभिराज तथा अपने कुटुंबी लोगोंसे पूछकर इंद्रकी बनाई हुई दिव्य सुदर्शन नामकी पालकीपर सवार हुये ॥ ९३ ॥ पालकीमें सवार होतेसमय इंद्रने बडे आदरके साथ भगवानको अपने हाथका सहारा दिया था । इसप्रकार वे भगवान दीक्षा ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञाके समान उस पालकीपर सवार हुये ॥९४॥ दीक्षारूपी स्त्रीके साथ समागम करनेका जिनका कौतूहल बढ रहा है ऐसे वे भगवान वृषभदेव पालकीपर सवार होते हुये ऐसे जान पडते थे मानों पालकीके बहानेसे उस दीक्षारूपी स्त्रीके पलंगपर ही आरूढ हुये हों ॥ ९५ ॥ जिनके गलेमें सुंदर माला पडी हुई है, जिनका शरीर मलयागिरि चंदनके लेपसे दैदीप्यमान हो रहा है और

मारूढः स धाता शिबिकाछलात् ॥ ९५ ॥ स्रग्वी मलयजालिप्तदीप्तमूर्त्तिरलंकृतः । स रेजे शिबिकारूढस्तपोलक्ष्म्या वरोत्तमः ॥ ९६ ॥ परां विशु-द्धिमारूढः प्राक्पश्चाच्छिबिकां विभुः । तदाकरोदिवाभ्यासं गुणश्रेण्यधिरोहणे ॥ ९७ ॥ पदानि सप्त तामूहुः शिबिकां प्रथमं नृपाः । ततो विद्याधरा निन्युर्व्योम्नि सप्त पदांतरं ॥ ९८ ॥ स्कंधाधिरोपितां कृत्वा ततोमूमविलंबितं । सुरासुराः खमुत्पेतुरारूढप्रमदोदयाः ॥ ९९ ॥ पर्याप्तमिदमेवास्य प्र-भोर्माहात्म्यशंसनं । यत्तदा त्रिदिवाधीशा जाता युग्यकवाहिनः ॥ १०० ॥ तदावचकरुः पुष्पवर्षमामोदि गुह्यकाः । ववौ मंदाकिनीसीकराहारः शिशि-रो मरुत् ॥ १०१ ॥ प्रस्थानमंगलान्युच्चैः प्रपेठुः सुरबंदिनः । तदा प्रयाणभेर्यश्च विष्वगास्फालिताः सुरैः ॥ १०२ ॥ मोहारिविजयोद्योगसमयोऽयं

जो वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो रहे हैं ऐसे वे भगवान उस पालकीपर सवार हुये ऐसे जान पडते थे मानों तपरूपी लक्ष्मीके उत्तम बर ही हों ॥ ९६ ॥ भगवान वृषभदेवने पहिले तो परम विशुद्धता धारण की थी और फिर पीछे पालकीपर सवार हुये थे, उससमय वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों आगेके गुणस्था-नोंकी श्रेणी चढनेका अभ्यास ही कर रहे हों ॥ ९७ ॥ इसप्रकार भगवान जब पालकीमें सवार हो लिये तब प्रथम ही राजालोग उसे सात पेंडतक ले चले और फिर विद्याधरलोग आकाशमें सात पेंडतक ले चले ॥ ९८ ॥ तदनंतर वैमानिक और भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क जातिके देवोंने बडे प्रसन्न होकर वह पालकी अपने कंधेपर रक्खी और बहुत शीघ्र उसे आकाशमें ले गये ॥ ९९ ॥ भग-वान वृषभदेवके माहात्म्यकी प्रशंसा केवल इतनेमें ही समाप्त कर देनी चाहिये कि उससमय स्वर्ग-के स्वामी इंद्र भी पालकी लेजानेवालेका काम कर रहे थे, अर्थात् वे स्वयं पालकी ले जा रहे थे ॥ १०० ॥ उससमय यक्ष आकाशसे सुगंधित पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे और गंगानदीके जल-बिंदुओंको धारण करनेवाला शीतल वायु चल रहा था ॥१०१ ॥ देव लोगोंके बंदीजन बडे जोरसे प्रस्थानसमयके मंगल पाठ पढ रहे थे और देवलोग चारोंओर उससमय प्रस्थान करनेसमयकी भे-रियां बजा रहे थे ॥ १०२ ॥ उससमय इंद्रकी आज्ञासे समस्तदेव यही घोषणा कर रहे थे कि जगत-

जगद्गुरोः इत्युच्चैर्घोषयामासुस्तदा शक्राज्ञयामराः ॥ १०३ ॥ जयकोलाहलं भर्तुरग्रे हृष्टाः सुरासुराः । तदा चक्रुर्नभोशेषमारुध्य प्रमदोदयात् ॥१०४॥ तदा मंगलसंगीतैः प्रक्रुतैर्जयघोषणैः । नभोमहानकध्वानैरारुद्धं शद्बसादभूत् ॥ १०५ ॥ देहोद्योतस्तदेंद्राणां नभः कृत्स्नमदिद्युतत् । दुंदुभीनां च निर्ह्रादी ध्वनिर्विश्वमादिध्वनत् ॥१०६॥ सुरेंद्रकरविक्षिप्तैः प्रचलद्भिरितोऽमुतः । तदा हंसायितं व्योम्नि चामराणां कदंबकैः ॥ १०७ ॥ ध्वनंतीषु नभो व्याप्य सुरेंद्रानककोटिषु । कोटिशः सुरचेटानां करकोणाभिताडनैः ॥ १०८ ॥ नटंतीषु नभोरंगे सुरस्त्रीषु सविभ्रमं । विचित्रकरणोपेतं छत्रबंधादिलाघवैः ॥ १०९ ॥ गायंतीषु सुकंठीषु किन्नरीषु कलस्वनं । श्रवःसुखं च हृद्यं च परिनिष्क्रमणोत्सवं ॥ ११० ॥ मंगलानि पठत्सूच्चैः सुरवं

गुरु भगवान वृषभदेवके मोहरूपी शत्रुके जीतनेका उद्योग करनेकेलिये यही समय है ॥ १०३ ॥ उससमय अतिसंतुष्ट हुये सुर असुर सब जातिके देव बडे हर्षसे समस्त आकाशमें व्याप्त होकर भगवानके सामने जय जय ऐसा कोलाहल कर रहे थे ॥ १०४ ॥ मंगलगीतोंसे, उच्चारण होनेवाले जय जय शब्दोंसे और बडे बडे नगाडोंके शब्दोंसे सबओर व्याप्त हुआ आकाश उससमय शब्दमय हो रहा था ॥ १०५ ॥ इंद्रोंके शरीरका उद्योत समस्त आकाशको प्रकाशित कर रहा था और दुंदुभियोंके मनोहर शब्द समस्त संसारको शब्दायमान कर रहे थे ॥१०६॥ उससमय जो चमरोंके समूह इंद्रके हाथसे ढुलायेगये इधरसे उधर और उधरसे इधर फिर रहे थे वे आकाशमें ठीक हंसोंके समान जान पडते थे ॥ १०७ ॥ जिससमय भगवान वृषभदेव पालकीपर सवार हुये थे उससमय करोडों देवलोगोंके बालकोंके हाथोंसे बजते हुये करोडों देवोंके नगाडे आकाशमें व्याप्त होकर बज रहे थे ॥ १०८ ॥ आकाशरूपी रंगभूमिमें अनेक देवांगनायें बडी विलासताके साथ नृत्य कर रहीं थीं । नृत्य करते समय वे अपने हाथोंसे छत्र बनाना, वीणा बजाना आदि तरह तरहके संकेत बतला रहीं थीं ॥ १०९ ॥ किन्नरी जातिकी देवियां अपने मधुर स्वरसे कानोंको सुख देनेवाले, मनोहर और मधुर ऐसे तपकल्याणोत्सवके समयके गीत गा रही थीं ॥११०॥ देवलोगोंके बंदीजन बडे ज़ोरसे किंतु मधुर शब्दोंसे मंगल पाठ पढ रहे थे तथा उस तप-

सुरवंदिषु । तत्कालोचितमन्यच्च वचश्चेतोनुरंजनं ॥ १११ ॥ भूतेषूद्भूतहर्षेषु चित्रकेतनहारिषु । नानालास्यैः प्रधावत्सु सुसंघर्षमितोऽमुतः ॥ ११२ ॥ शंखानाध्मातगंडेषु पिंडीभूतांगयष्टिषु । सकाहलान्निलिंपेषु पूरयत्स्वनुरागतः ॥ ११३ ॥ अग्रेसरीषु लक्ष्मीषु पंकजव्यग्रपाणिषु । समं समंगलार्घाभिर्दिक्कुमारीभिरादरात् ॥ ११४ ॥ इत्यमीषु विशेषेषु प्रभवत्सु यथायथं । संप्रमोद यं विश्वमातन्वन्नद्भुतोदयः ॥ ११५ ॥ परार्ध्यरत्ननिर्माणं दिव्यं यानमधिष्ठितः । रत्नक्षोणीप्रतिष्ठस्य श्रियं मेरोर्विडंबयन् ॥ ११६ ॥ कंठाभरणभाभारपरिवेषोपरक्तया । मुखार्कभासा न्यक्कुर्वन् ज्योतिर्ज्योतिर्गणेशिनां ॥ ११७ ॥ उत्तमांगधृतेनोच्चैर्मौलिनाविर्मणित्विषा । धुन्वानोऽमींद्रमौलीनां त्विषमाविष्कृतार्चिषां ॥ ११८ ॥ किरीटोत्संगसंगिन्या सुमनःशेखरस्रजा ।

कल्याणके समयमें अच्छे लगनेवाले और सबके मनको प्रसन्न करनेवाले ऐसे अन्य पाठोंको भी पढ रहे थे ॥ १११ ॥ भूत जातिके व्यंतर देव तरह तरहकी मनोहर ध्वजायें हाथमें लियेहुये, बडे हर्षके साथ अनेकप्रकारके नृत्य करते हुये और लोगोंकी भीडमें धक्का देते हुये इधर उधर दौड रहे थे ॥ ११२ ॥ देवलोग बडे अनुरागसे झल्लरियोंके साथ साथ अपने गालोंको फुलाकर और शरीरको पिंडके समान संकुचितकर शंख बजा रहे थे ॥ ११३ ॥ तथा श्री ह्री धृति कीर्ति वृद्धि लक्ष्मी आदि देवियां अपने चंचल हाथोंमें कमल लिये आगे २ जा रहीं थीं और उनके साथ २ बडे आदरसे मंगलार्घ लेकर दिक्कुमारी देवियां जा रहीं थीं ॥११४॥ इसप्रकार जिससमय यथायोग्य विशेष विशेष उत्सव हो रहे थे उससमय अद्भुत भाग्यशाली भगवान वृषभदेव समस्त संसारको आनंदित करते हुये अमूल्य रत्नोंकी बनीहुई दिव्य पालकीपर सवार हुये । जिससमय भगवान उस पालकीपर सवार होकर अयोध्या नगरसे बाहर निकले थे उससमय वे रत्नसमूहोंसे बने हुये मेरुपर्वतकी शोभाको भी नीचा दिखा रहे थे ॥ ११५-११६ ॥ उनके गलेमें जो आभूषण पडे हुये थे उनकी कांतिके समूहसे उनके मुखपर कुछ २ लालिमा लिये हुये परिधिके आकारका जो गोल प्रभामंडल पड रहा था उससे उनका मुख ठीक सूर्यके समान जान पडता था, उस मुखरूपी सूर्यकी प्रभासे वे भगवान उससमय ज्योतिषी जातिके देवोंके इंद्रोंकी अर्थात् सूर्य चंद्रकी कां-

मन:प्रसादमात्मीयं मूर्ध्नेवोध्दृत्य दर्शयन् ॥ ११९ ॥ प्रसन्नया दृशोर्भासा प्रोल्लसंत्या समंततः । दृग्विलासं स इन्द्राय सांन्यासिकमिवार्पयन् ॥ १२० ॥ तिरस्कृताधरच्छायैर्दरोद्भिन्नैः स्मितांशुभिः । क्षालयन्निव निःशेषं रागशेषं स्वशुद्धिभिः ॥ १२१ ॥ हारेण हारिणा चारुवक्षःस्थलविलंबिना । विडंबयान्निवाद्रींद्रं प्रांतपर्यस्तनिर्झरं ॥ १२२ ॥ भुजयोः शोभया दीप्तकटकांगदभूषया । निर्भर्त्सयन्फणींद्राणां फणारत्नरुचां चयं ॥ १२३ ॥ कांचीदामपरीक्षिप्तजघनस्थललीलया । स्वीकुर्वन्वेदिकारुद्धजंबूद्वीपस्थलश्रियं ॥ १२४ ॥ क्रमोपधानपर्यंतोल्लसत्पदनखांशुभिः । प्रसादांशैरिवाशेषं पुनानः प्रणतं जनं ॥ १२५॥

तिको लज्जित कर रहे थे ॥ ११७ ॥ उनके मस्तकपर जो सूर्यके समान दैदीप्यमान ऊंचा मुकुट सुशोभित था उसकी कांतिसे वे जिनसे अग्निकी ज्वाला निकल रही है ऐसे अग्निकुमार देवोंके इंद्रोंके मुकुटकी कांतिको भी नीचा दिखला रहे थे ॥ ११८ ॥ मुकुटपर जो फूलोंका सेहरा पडा हुआ था, उसकी मालाओंके द्वारा मानों वे भगवान लोगोंकेलिये अपने मनकी प्रसन्नताको मस्तकपर धारण कर ही दिखला रहे थे ॥११९॥ उनके नेत्रोंकी स्वच्छ कांति जो चारों ओर खूब प्रफुल्लित हो रही थी उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों इंद्रकेलिये सन्यास धारण करनेके समयका नेत्रोंका विलास ही अर्पण कर रहे हों ॥१२०॥ उनकी कुछ २ निकलती हुई मंद हंसीकी स्वच्छ किरणोंसे उनके लाल ओठोंकी शोभा भी छिप जाती थी, और उससमय उससे वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों अपनी विशुद्धिके द्वारा बाकी बचे हुये संपूर्ण रागको धो रहे हों ॥ १२१ ॥ सुंदर वक्षःस्थलपर लटकते हुये मनोहर हारसे वे ऐसे जान पडते थे मानों किनारेसे नीचे पडते हुये निर्झरने सहित सुमेरुपर्वतको ही तिरस्कृत कर रहे हों ॥ १२२ ॥ जिसमें कडे बाजूबंध आदि आभूषण चमक रहे हैं ऐसी भुजाओंकी शोभासे वे ऐसे जान पडते थे मानों नागकुमार इंद्रके फणमें लगे हुये रत्नोंकी कांति समूहकी भर्त्सना ही कर रहे हों अर्थात् उसे नीचा ही दिखला रहे हों ॥१२३॥ उनके जघनस्थलमें अर्थात् कमरमें जो करधनी पडी हुई थी उसकी शोभासे वे ऐसे जान पडते थे मानों उन्होंने वेदिकासे घिरे हुये जंबूद्वीपकी शोभा ही स्वीकार की हो ॥ १२४ ॥ पैरोंके ऊपर गु-

न्यक्कृतार्करुचा स्वांगदीप्त्या व्याप्तककुम्मुखः । स्वेनोजसाधरीकुर्वन्सर्वान्गीर्वाणनायकान् ॥ १२६ ॥ इति प्रत्यंगसंगिन्या नैःसंग्योचितया श्रिया । निर्वासयन्निवासंगं चिरकालोपलालितं ॥ १२७ ॥ विधृतेन सितच्छत्रमंडलेनामलत्विषा । विधुनेवोपरिस्थेन सेव्यमानः क्रमच्छिदा ॥ १२८ ॥ प्रकीर्णकप्रतानेन विधूतेनामरेश्वरैः । जन्मोत्सवक्षणप्रीत्या क्षीरोदेनेव सेवितः ॥ १२९ ॥ इत्याविष्कृतमाहात्म्यः सुरेंद्रैः परितो वृतः । पुरः पुराद्विनिष्क्रांतः पौरैरित्यभिनंदितः ॥ १३० ॥ व्रज सिध्यै जगन्नाथ शिवः पंथाः समस्तु ते । निष्ठितार्थः पुनर्देव दृक्पथे नो भवाचिरात् ॥ १३१ ॥ नाथानाथंज -

---

ल्फोंतक अर्थात् पैरके ऊपर दोनोंओरकी गांठोंतक जो उनके नखोंकी कांति देदीप्यमान हो रही थी उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों उनके पैरोंमें नमस्कार करते हुये संपूर्ण लोगोंको अपनी प्रसन्नताकी किरणोंसे पवित्र ही कर रहे हों ॥१२५॥ उससमय सूर्यकी कांतिको भी तिरस्कृत करनेवाली उनके शरीरकी कांति सब दिशाओंमें व्याप्त हो रही थी और उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों अपने प्रतापसे स्वर्गके सब इंद्रोंको लज्जित कर रहे हों ॥ १२६ ॥ इसप्रकार उनके प्रत्येक अंग उपांगमें जो वैराग्यके योग्य शोभा थी उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों चिरकालसे पालन पोषण की हुई परिग्रहकी आसक्तिको बाहर ही निकाल रहे हों ॥१२७॥ भगवानके ऊपर जो निर्मल कांतिको धारण करनेवाला सफेद छत्र लग रहा था उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों समस्त क्लेशोंके दूर करनेवाला चंद्रमा ही ऊपर आकर भगवानकी सेवा कर रहा हो ॥ १२८ ॥ भगवानके ऊपर अनेक इंद्रोंके द्वारा जो चमरोंका समूह ढुलाया जा रहा था उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों चमरोंके बहानेसे होनेवाले अपने जन्मोत्सवके क्षण भरके प्रेमसे क्षीरसागर ही आकर उनकी सेवा कर रहा हो ॥ १२९ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार जिनका माहात्म्य प्रगट हो रहा है ऐसे वे भगवान वृषभदेव सब इंद्रोंसे घिरे हुये अयोध्या नगरसे बाहर निकले। जिससमय वे अयोध्यासे बाहर निकल रहे थे उससमय नगरनिवासी लोग उनकी स्तुति इसप्रकार कर रहे थे ॥१३०॥ कि हे जगन्नाथ! आप किसी कामकी सिद्धिकेलिये जा रहे हैं सो जाइये, आपका मार्ग कल्याणमय हो।

नं त्रातुं नान्यस्त्वमिव कर्मठः । तस्मादस्मत्परित्राणे प्रणिधेहि मनः पुनः ॥ १३२ ॥ परानुग्रहकारीणि चेष्टितानि तव प्रभो । निर्व्यपेक्षं विहायास्मा न्कोनुग्राह्यस्त्वयापरः ॥ १३३ ॥ इति श्लाघ्यं प्रसन्नं च सानुतर्षं सनाथनं । कैश्चित्संजल्पितं पौरैरागतप्रणतमूर्द्धभिः ॥ १३४ ॥ अयं स भगवान्दूरं देवैरुत्क्षिप्य नीयते । न विद्मः कारणं किंतु क्रीडेयमथवेदृशी ॥ १३५ ॥ भवेदपि भवेदेतन्नीतो मेरुं पुराप्ययं । प्रत्यानीतश्च नाकीन्द्रैर्जन्मोत्सवविधित्सया ॥ १३६ ॥ स एवाद्यापि वृत्तांतो जात्वस्मद्भाग्यतो भवेत् । ततो न काचनास्माकं व्यथेत्यन्ये मिथोब्रुवन् ॥ १३७ ॥ किमेष भगवान्भानुराश्रितः शिबिकामिमां । दिदीप्यतेंबरे भाभिः प्रतुदन्निव नो दृशः ॥ १३८ ॥ धृतमौलिर्विभात्युच्चैस्तत्तचामरकरच्छविः । विभुर्मध्ये सुरेंद्राणां कुलाद्री-

---

हे देव ! आप अपना काम पूराकर बहुत शीघ्र लौटियेगा और हमारे दृष्टिगोचर हूजियेगा ॥ १३१ ॥ हे नाथ ! अनाथ लोगोंकी रक्षा करनेकेलिये आपके सिवाय अन्य कोई इस कामके करनेमें समर्थ नहीं है । इसलिये हे देव ! हम लोगोंकी रक्षा करनेकी आप फिर अपनी इच्छा कीजिये ॥ १३२ ॥ हे प्रभो ! आपकी सब क्रियायें अन्य लोगोंको उपकार करनेवाली होती हैं, हे देव ! बिना कारण ही हम लोगोंको छोडकर अब आप अन्य किसका उपकार करेंगे ॥ १३३ ॥ इसप्रकार कितने ही नगरनिवासी लोगोंने उससमय अपना मस्तक नवाकर स्तुति करने योग्य, स्पष्ट अर्थको कहनेवाले और इच्छासहित प्रार्थनाके बचन कहे थे ॥ १३४ ॥ उससमय कितनेही लोग आपसमें कह रहे थे कि देवलोग भगवानको पालकीपर सवारकर दूर ले जा रहे हैं, इसका कारण क्या है सो कुछ समझमें नहीं आता, अथवा भगवानकी यह कोई ऐसी ही क्रीडा होगी ॥ १३५ ॥ शायद ऐसा भी हो सकता है कि पहिले इंद्रलोग जन्मोत्सव करनेकेलिये भगवानको मेरुपर्वतपर लेगये थे और फिर वापिस ले आये थे । कदाचित् हमारे भाग्योदयसे आज फिर भी वही वृतांत हो, इसलिये हमलोगोंकेलिये कोई दुःखकी बात नहीं है, इसप्रकार कितने ही मनुष्य आपसमें बातचीत कर रहे थे ॥१३६-१३७॥ अनेक लोग आश्चर्यके साथ कह रहे थे कि पालकीपर सवार हुये ये भगवान हैं अथवा साक्षात् सूर्य है, देखो ये अपने प्रतापसे हमलोगोंके नेत्रोंको पी

णामिवाद्रिराट् ॥ १३९ ॥ विभोर्मुखोन्मुखीर्दृष्टीर्दधानोद्भुतविक्रियः । कः स्विदाज्ञातमस्याज्ञाकरः सोऽयं पुरंदरः ॥ १४० ॥ शिबिकावाहिनामेषामंगभासो महौजसां । समंतात्प्रोल्लसंत्येतास्तडितामिव रीतयः ॥ १४१ ॥ महत्पुण्यमहो भर्त्तुरवाङ्मानसगोचरं । पश्यतानिमिषानेतान्प्रणम्रानितोमुतः ॥ १४२ ॥ इतो मधुरगंभीरं ध्वनंत्येते सुरानकाः । इतो मंद्रं मृदंगानामुच्चैरुच्चरति ध्वनिः ॥ १४४ ॥ इतो नृत्यमितो गीतमितः संगीतमंगलं । इतश्चामरसंघात इतश्चामरसंहतिः ॥ १४४ ॥ संचारी किमयं स्वर्गः साप्सरः सविमानकः । किं वापूर्वमिदं चित्रं लिखितं व्योम्नि केनचित् ॥१४९॥

डित करते हुये आकाशमें कैसे देदीप्यमान हो रहे हैं ॥ १३८ ॥ जिसप्रकार कुलपर्वतोंके मध्यभागमें चूलिकासहित सुवर्णमय सुमेरु पर्वत सुशोभित होता है उसीप्रकार स्वर्गके इंद्रोंके मध्यभागमें मस्तकपर मुकुट पहने हुये और तपायेहुये सुवर्णके समान कांतिको धारण करते हुये भगवान वृषभदेव बहुत ही सुशोभित हो रहे हैं ॥ १३९ ॥ देखो जिसकी विक्रियायें अनेक आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली हैं और जो भगवानके मुखके ठीक सामने बराबर अपनी दृष्टि लगाये हुये है वही यह इंद्र भगवानका सेवक है? यह बात हमें आज मालूम हुई है ॥१४०॥ और देखो जो महातेजस्वी देवलोक पालकी ले जा रहे हैं उनके शरीरकी कांति चारोंओर फैली हुई देदीप्यमान हो रही है मानों बिजलियोंकी मालाओंका समूह ही हो ॥ १४१ ॥ अहा! भगवानका पुण्योदय बहुत ही बडा है, वह न तो बचनसे ही कहा जा सकता है और न मनसे ही सोचा जा सकता है। देखो ये देव लोग क्षणक्षणभरमें इधर उधर कैसी नम्रताके साथ प्रणाम कर रहे हैं ॥ १४२ ॥ इधर देखो ये देवोंके नगाडे कैसे मधुर और गंभीर शब्दोंसे बज रहे हैं और इधर देखो यह मृदंगोंकी आवाज कैसी गंभीर और जोरकी आ रही है ॥ १४३ ॥ इधर नृत्य हो रहे हैं इधर गीत गाये जा रहे हैं, इधर मांगालिक संगीत हो रहा है, इधर चमरोंका समूह ढुलाया जा रहा है और इधर देवोंका समूह जा रहा है ॥ १४४ ॥ अहा! क्या यह चलता हुआ स्वर्ग है! जो इसमें अप्सरा भी दिखाई दे रही हैं और विमान भी दिखाई दे रहे हैं? अथवा आकाशमें यह किसीने

किमिंद्रजालमेतत्स्यादुतास्मन्मतिविभ्रमः । अदृष्टपूर्वमाश्चर्यमिदमीदृग्न जातुचित् ॥ १४६ ॥ इति कैश्चित्तदाश्चर्यं पश्यद्भिः प्राप्तविस्मयैः । स्वैरं संजल्पितं पौरैर्जल्पाकैः स विकल्पकैः ॥ १४७ ॥ यदाप्रभृति देवोयमवतीर्णो धरातलं । तदाप्रभृति देवानां न गत्यागमविच्छिदा ॥ १४८ ॥ नृत्तं नीलांजनाख्यायाः पश्यतः सुरयोषितः । उदपादि विभोर्भोगवैराग्यमानिमित्तकं ॥ १४९ ॥ तत्कालोपनतैर्मान्यैः सुरैर्लौकांतिकाह्वयैः । बोधितस्यास्य वैराग्ये दृढमासांजितं मनः ॥ १५० ॥ विरक्तः कामभोगेषु स्वशरीरेपि निःस्पृहः । सवास्तुवाहनं राज्यं तृणवन्मन्यतेधुना ॥ १५१ ॥ मतंगज इव स्वैरविहारसुखलिप्सया । प्रविविक्षुर्वनं देवः सुरैः प्रोत्साह्य नीयते ॥ १५२ ॥ स्वाधीनं सुखमस्त्येव वनेपि वसतः प्रभोः । प्रजनां क्षेमवृत्त्यै च पुत्रौ राज्ये निवे-

---

अपूर्व चित्र लिखा है ॥ १४५ ॥ अथवा क्या यह इंद्रजाल है ! अथवा हम लोगोंकी बुद्धिमें ऐसा भ्रम हो रहा है ? यह आश्चर्य बिलकुल अपूर्व है ऐसा आश्चर्य हम लोगोंने पहिले कभी नहीं देखा था ॥ १४६ ॥ इसप्रकार अनेक तर्क वितर्क करनेवाले और बहुत बोलनेवाले नगरनिवासी लोग भगवानके उस आश्चर्यकरनेवाले अतिशयको देखकर बडे आश्चर्यसे अपनी इच्छानुसार कह रहे थे ॥ १४७ ॥ कितने ही लोग कह रहे थे कि इन भगवानने जबसे इस पृथ्वीपर अवतार लिया है तबसे निरंतर देवोंका आना जाना बना रहता है ॥ १४८ ॥ भगवानको नीलांजना नामकी देवांगनाका नृत्य देखकर बिना किसी अन्य कारणके भोगोपभोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ था ॥१४९॥ उसीसमय भगवानकी सेवामें अतिशय मान्य लौकांतिक देव आ उपस्थित हुये थे और उन्होंने भगवानको प्रबोधित किया था जिससे भगवानका मन वैराग्यमें और भी अधिक दृढ हो गया है ॥ १५० ॥ काम और भोगोपभोगोंसे विरक्त हुये भगवान अपने शरीरसे भी निस्पृह होगये हैं अर्थात् उन्होंने अपने शरीरसे भी ममत्व छोडदिया है और अब वे घर सवारी तथा राज्य आदिको तृणके समान मान रहे हैं ॥ १५१ ॥ जिसप्रकार इच्छानुसार विहार करनेरूप सुखकीइच्छा करताहुआ हाथी बनमें प्रवेश करता है उसीप्रकार भगवानवृषभदेव भी बनमें प्रवेश कर रहे हैं और देवलोग उन्हें और अधिक उत्साह दिलातेहुये ले जा रहे हैं ॥१५२॥ भगवान यदि बनमें

शितौ ॥ १५३ ॥ तदियं प्रस्तुता यात्रा भूयाद्भर्तुः सुखावहा । दिष्ट्यायं वर्द्धतां लोको विषीदन्मास्म कश्चन ॥ १५४ ॥ सुचिरं जीवताद्देवो जयतादभिनंदतात् । प्रत्यावृत्तः पुनश्चास्मानक्षतात्माधिरक्षतात् ॥ १५५ ॥ दीयतेद्य महादानं भरतेन महात्मना । विभोराज्ञां समासाद्य जगदाशाप्रपूरणं ॥ १५६ ॥ वितीर्णेनामुना भूयाद्भूतिश्चामीकरेण वः । दीयंतेश्वाः सहयोगैरितश्चामी करेणवः ॥ १५७ ॥ इत्युन्मुग्धैः प्रबुद्धैश्च जनालापैः पृथग्विधैः । श्लाघ्यमानः शनैर्नाथः पुरोपांतं व्यतीयिवान् ॥ १५८ ॥ अथ संप्रस्थिते देवे देव्योमात्यैरधिष्ठिताः । अनुप्रचेलुरीशानं शुचांतर्बाष्पलोचनाः ॥१५९॥

निवास करेंगे तब भी उनकेलिये स्वाधीनरूप सुख विद्यमान ही है, और प्रजाको सुख देनेकेलिये उन्होंने अपने दोनों पुत्रोंको राज्यसिंहासनपर बिठला ही दिया है ॥१५३॥ इसलिये भगवानकी यह प्रारंभ की हुई यात्रा भगवानको सुख देनेवाली हो और ये लोगभी अपने भाग्यसे वृद्धिको प्राप्त हों, कोई किसीप्रकारका विषाद मतकरो ॥ १५४ ॥ अविनश्वर अर्थात् जिनका आत्मा कभी नाश होनेवाला नहीं है ऐसे भगवान वृषभदेव चिरकालतक जीवित रहें, विजयको प्राप्त हों, ऐश्वर्यशाली हों और फिर लौटकर हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ १५५ ॥ देखो महात्मा भरत आज भगवानकी आज्ञा लेकर जगतकी समस्त आशायें पूर्ण करनेवाला महादान दे रहे हैं॥१५६॥ भरत जो यह सुवर्णका दान दे रहे हैं इससे तुम लोगोंको संतोष हो। देखो ये भरत इधर पलान सहित घोडोंका दान दे रहें हैं और इधर हाथियोंका दान दे रहे हैं ॥१५७॥ इसप्रकार अजान और ज्ञानवान सब ही अलग अलग बचनोंके द्वारा जिनकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे वे भगवान वृषभदेव नगरके बाहर समीपवर्ती प्रदेशमें जा पंहुचे ॥ १५८ ॥

अथानंतर-भगवानके चले जानेपर मुख्य मुख्य मंत्रियोंके आश्रित हुई देवियां (रानियां) भगवानके पीछे पीछे चलने लगीं उससमय शोकसे उनके नेत्रोंमें आंसू भर रहे थे ॥ १५९ ॥ लताके समान उनके शरीरकी शोभा मलिन हो गई थी और उन्होंने अपने आभूषण भी फेंकदिये थे। उनमेंसे कितनी ही देवियां डगमगाते और कंपते हुये पैरोंसे जगतपति भगवानके पीछे २ जा रही थीं ॥ १६० ॥

लता इव परिम्लानगात्रशोभाविभूषणाः । काश्चित्स्खलत्पदन्यासमनुजग्मुर्जगत्पतिं ॥ १६० ॥ शोकानलहता काश्चिद्वेपमानांगयष्टयः । निपेतुर्धरणीपृष्ठे मूर्च्छामीलितलोचनाः ॥ १६१ ॥ क प्रस्थितोसि हा ! नाथ क गत्वास्मान्प्रतीक्षसे । कियत् दूरं च गंतव्यमित्यन्या मुमुहुर्मुहुः ॥ १६२ ॥ हृदि वेपथुमुत्कंपं स्तनयोर्म्लानतां तनौ । वाचि गद्गदतामक्ष्णोर्बाष्पं चान्या शुचा दधुः ॥ १६३ ॥ अमंगलमलं बाले रुदित्वेति निवारिता । काचिदंतर्निरुद्धाश्रुः स्फुटंतीव शुचाभवत् ॥ १६४ ॥ प्रस्थानमंगलं भंक्तुमक्षमा काप्युदश्रुदृक् । शुचामंतःप्रविष्टेव दृष्टा दृक्पुत्रिकाछलात् ॥ १६५ ॥ गतिसंभ्रमविच्छिन्नहारव्याकीर्णमौक्तिका । स्थूलानश्रुलवान्काश्चिच्छन्नं तच्छद्मनामुचन् ॥ १६६ ॥ विस्रस्तकबरीभारविगलत्कुसुमस्रजः । स्रस्तस्त-

---

और कितनी ही स्त्रियोंके शरीर शोकरूपी अग्निसे जर जरित होगये थे, उन्हें मूर्च्छा आगई थी, और वे आखें बंदकर जमीनपर पडगईं थीं ॥ १६१ ॥ कितनी ही स्त्रियां बार बार यह चिल्लाती हुईं मूर्छित हो रहीं थीं कि हा नाथ ! आप कहां जा रहे हैं? आप कौनसी जगह जाकर हम लोगोंकी बाट देखेंगे ? आपको कितनी दूर और जाना है ? ॥ १६२ ॥ शोकसे अन्य कितनी ही स्त्रियोंके हृदय कंपायमान हो रहे थे, कुच कंप रहे थे, शरीर मलिन हो गया था, बचन गद्गद होगये थे और नेत्रोंमें आंसू भर आये थे ॥ १६३ ॥ रोते देखकर कोई किसीका रोना बंद कर रहा था और कह रहा था कि हे पुत्रि ! रोकर अमंगल मत कर । इसप्रकार निवारण करनेपर उसने रोना बंद कर दिया था परंतु उसके आंसू नेत्रोंमें ही रुक गये थे और वह ऐसी जान पडती थीं मानों शोकसे वह फूट पडी हो ॥ १६४ ॥ कोई स्त्री प्रस्थान करतेसमयके मंगलको भंग नहीं करना चाहती थी इसलिये उसने अपने आंसू आंखोंमें ही रोक लिये थे और वह ऐसी जान पडती थी मानों आंखमें पडती हुई परछांहीके बहानेसे शोकके भीतर ही घुस गई हो ॥ १६५ ॥ कोई स्त्री बडी शीघ्रतासे जा रही थी इसलिये उसका हार टूट गया था और उसके मोती बिखर गये थे । उन बिखरे हुये मोतियोंसे वह ऐसी जान पडती थी मानों वह उन मोतियोंके वहानेसे बडी २ आंसुओंकी बूंदें ही छोड रही हो ॥ १६६ ॥ कितनी ही

नांशुकाः सास्राः काश्चिच्छोच्यां दशामधुः ॥१६७॥ उत्क्षिप्य शिबिकास्वन्या निक्षिप्ताः शोकविक्लवाः। कथंकथमपि प्राणैर्न व्ययुज्यंत सांत्विताः॥१६८॥ धीराः काश्चिदधीराक्ष्यो धीरिताः स्वामिसंपदा। विभुमन्वीयुरव्यग्रा राजपत्न्यः शुचिव्रताः॥ १६९॥ प्रस्थानमंगले जाते नाभिजातं प्ररोदनं। नाथः शनैरनुव्राज्यो मातर्मास्म शुचं गमः॥ १७०॥ त्वर्यतां त्वर्यतां देवि शोकवेगोवधीर्यतां। देवोयं नीयते देवैर्दिष्ट्यास्मत्दृष्टिगोचरे ॥ १७१॥ इत्यंतःपुरवृद्धाभिर्मुहुराश्वासिता सती। यशस्वती सुनंदा च प्रतस्थे पादचारिणी ॥ १७२॥ बहुनात्र किमुक्तेन मुक्तसर्वपरिच्छदाः। देव्यो यथाश्रुतं

स्त्रियोंके केशपाश शिथिल हो गये थे और उनमे लगीहुई फूलोंकी मालायें पडती चली जा रहीं थीं, उनके स्तनपरका वस्त्र भी शिथिल हो गया था और उनकी आखोंसे आंसुओंकी धारा भी बह रही थी इसप्रकार वे स्त्रियां शोककी अंतिम अवस्थाको प्राप्त हो गई थीं ॥१६७॥ कितनी ही स्त्रियां शोकसे बहुत २ विह्वल हो गई थीं इसलिये लोगोंने उन्हें उठाकर पालकीमें बिठाया था और बहुत समझाया था अतएव जिसतिसतरह उनके प्राण बच गये थे ॥ १६८ ॥ धीरवीर किंतु चंचल नेत्रयुक्त ऐसी कितनी ही पतिव्रता राजपत्नी केवल अपने स्वामीकी संपत्ति देखकर ही संतुष्ट हो गई थीं और वे बिना किसी आकुलताके भगवानके पीछे पीछे जा रहीं थीं ॥ १६९ ॥ कोई किसी राजपत्नीको समझा रहा था कि हे माता यह प्रस्थान करनेका मंगल हो रहा है इसमें बहुत रोना उचित नहीं है अब तुम शोक मत करो और धीरे धीरे भगवानके पीछे चली चलो ॥ १७० ॥ अंतःपुर अर्थात् रणवासके वृद्ध पुरुष यशस्वती और सुनंदा देवीको बार २ आश्वासन दे रहे थे तथा कह रहे थे कि हे देवि! जल्दी करो, जल्दी करो, शोकका बेग रोको, यह देखो हम लोगोंको भगवान दिखाई दे रहे हैं उन्हें देव लोग बडे आनंदके साथ ले जा रहे हैं। इसप्रकार समझाई हुई वे दोनों ही पतिव्रता महादेवियां पैदल ही जा रहीं थीं ॥ १७१-१७२ ॥ इसविषयमें बहुत कहांतक कहा जाय जिससमय उन देवियोंने भगवानके जानेके समाचार सुने थे उसीसमय उन्होंने छत्र चमर दासी दास आदि सब छोडकर भगवानके पीछे पीछे च-

भर्तुरनुमार्गं प्रतस्थिरे ॥ १७३ ॥ माभूद्व्याकुलता काचिद्भर्तुरित्यनुयायिभिः । रुद्धः सर्वावरोधस्त्रीसार्थः कस्मिंश्चिदंतरे ॥ १७४ ॥ ब्रुवाणैर्भर्तुराज्ञेति राज्ञीवर्गो महत्तरैः । संरुद्धः सरितामोघः प्रवृद्धोपि यथार्णवैः ॥ १७५ ॥ निश्वस्य दीर्घमुष्णं च निंदन्सौभाग्यमात्मनः । न्यवृतत्प्राप्तनैराश्यो नृपवल्लभिकाजनः ॥ १७६ ॥ महादेव्यौ तु शुद्धांतमुख्याभिः परिवारिते । भर्तुरिच्छानुवर्त्तिन्यावन्वयातां सपर्यया ॥ १७७ ॥ मरुदेव्या समं नाभिराजो राजशतैर्वृतः । अनूत्तस्थौ तदा द्रष्टुं विभोर्निष्क्रमणोत्सवं॥ १७८॥ समं पौरैरमात्यैश्च पार्थिवैश्च महान्वयैः। सानुजो भरताधीशो महर्ध्या गुरुमन्वगात्॥ १७९॥ नातिदूरं खमुत्पत्य जनानां दृष्टिगोचरे । यथोक्तैर्मंगलारंभैः प्रस्थानमकरोत्प्रभुः ॥ १८० ॥ नातिदूरे पुरस्यास्य नात्यासन्नेऽतिविस्तृतं । सिद्धार्थकवनो-

---

लना प्रारंभ कर दिया था ॥ १७३ ॥ भगवानके हृदयमें किसीप्रकारकी व्याकुलता न हो यही समझकर भगवानके साथ साथ जानेवाले वृद्ध पुरुषोंने कुछ दूर जाकर अंतःपुरकी सब स्त्रियां रोक दीं और कह दिया कि भगवानकी यही आज्ञा है कि महारानियोंको रोक देना । जिसप्रकार बढा हुआ नदियोंका प्रवाह भी समुद्रसे रुक जाता है उसीप्रकार वे देवियां उससमय रुक गईं थीं ॥ १७४-१७५ ॥ इसप्रकार रणवासकी सब स्त्रियां लंबा और गर्म श्वास लेकर आगे जानेसे बिलकुल निरास होकर अपने सौभाग्यकी निंदा करती हुईं घरको वापिस लौट गईं ॥ १७६ ॥ परंतु यशस्वती और सुनंदा ये दोनों ही महादेवियां अन्य परिवारकी शुद्ध हृदयवाली स्त्रियोंके साथ २ इच्छानुसार भगवानकी पूजाकी सामग्री लेकर भगवानके पीछे २ जा रहीं थीं ॥ १७७ ॥ उससमय महाराज नाभिराज भी महारानी मरुदेवी और सैकडों राजाओंके साथ साथ भगवानका तपकल्याणका उत्सव देखनेकेलिये भगवानके पीछे २ चल रहे थे ॥ १७८ ॥ महाराज भरत भी नगरनिवासी, मंत्री, बडे २ वंशमें उत्पन्न राजा और अपने छोटे भाइयोंके साथ २ बडी विभूति लेकर भगवानके पीछे चला था ॥ १७९ ॥ भगवान वृषभदेवने आकाशमें इतनी थोडी दूर जाकर कि जहांसे लोग अच्छी तरह देख सकते थे, ऊपर लिखे हुये मंगलोंका प्रारंभ होते ही प्रस्थान करना प्रारंभ किया ॥ १८० ॥ इसप्रकार वे जगतगुरु भगवान वृषभदेव

देशमभिप्रायाज्जगद्गुरुः ॥ १८१ ॥ ततः प्राप सुरेंद्राणां पृतना व्याप्य रोदसी । वयोरुतैरिवाह्वानं कुर्वत्सिद्धार्थकं वनं ॥ १८२ ॥ तत्रैकस्मिन् शिलापट्टे सुरैः प्रागुपकल्पिते । प्रथीयसि शुचौ स्वस्मिन्परिणाम इवोन्नते ॥ १८३ ॥ चंद्रकांतमये चंद्रकांतशोभोपहासिनि । पुंजीभूत इवैकत्र स्वस्मिन्यशशि निर्मिले ॥ १८४ ॥ स्वभावभास्वरे रम्ये सुवृत्तपरिमंडले । सिद्धक्षेत्र इव द्रष्टुं तां भूतिं भुवमागते ॥ १८५ ॥ सुशीतलतरुच्छायानिरुद्धोष्णकरत्विषि । पर्यंतशाखिशाखाग्रविगलत्कुसुमोत्करे ॥ १८६ ॥ श्रीखंडद्रवदत्ताच्छछटामंगलसंगते । शचीस्वहस्तविन्यस्तरत्नचूर्णोपहारके ॥ १८७ ॥

अत्यंत विशाल ऐसे सिद्धार्थक नामके बनमें जा पहुंचे वह बन अयोध्या नगरसे न तो बहुत दूर था और न बहुत समीप ही था ॥ १८१ ॥ तदनंतर इद्रोंकी सेना भी आकाश और पृथ्वीमें व्याप्त होती हुई उसी बनमें इसप्रकार जा पहुंची मानों उस बनने पक्षियोंके शब्दोंके द्वारा उसे बुलाया ही हो ॥१८२॥ उस बनके मध्यभागमें देवोंने पहिलेसे ही एक शिला स्थापन कर रक्खी थी । वह शिला बहुत बडी थी, पवित्र थी, और भगवानके परिणामोंके समान उन्नत थी ॥ १८३ ॥ वह चंद्रकांतमणिकी बनी हुई थी, चंद्रमाकी सुंदर शोभाको भी लज्जित कर रही थी और ऐसी जान पडती थी मानों भगवानका निर्मलयश ही एक जगह इकट्ठा हो गया हो ॥ १८४ ॥ वह शिला स्वभावसे ही देदीप्यमान थी, बडी मनोहर थी और उसका परिमंडल बहुत गोल था वास्तवमें वह शिला ऐसी जान पडती थी मानों भगवानका तपकल्याणका उत्सव देखनेकेलिये सिद्धक्षेत्र ही पृथ्वीपर उतर आया हो ॥ १८५ ॥ उस शिलाके चारोंओर वृक्ष थे जिनकी शीतल छायासे सूर्यका प्रकाश भी रुक गया था और उसके चारोंओर वृक्षोंकी शाखाओंके ऊपरसे गिर गिरकर फूलोंका ढेर हो गया था ॥ १८६ ॥ उस शिलापर घिसे हुये चंदनके मांगलिक छींटे दिये गये थे और इंद्राणीने अपने हाथसे रत्नोंके चूर्णके चौक वगैरह खींचकर उसकी पूजा की थी ॥ १८७ ॥ उस शिलाके चारोंओर बहुत बडे २ वस्त्रसे अद्भुत मंडप तैयार किया गया था और उसपर मंद २ वायुसे तरह तरहके ध्वजाओंके समूह फहरा रहे थे, जिनसे आकाश व्याप्त हो रहा था

विसंकटपटीक्षिप्तविचित्रपटमंडपे । मंदानिलचलच्चित्रकेतुमालावृतांबरे ॥ १८८ ॥ समंतादुच्चरध्दूपधूमामोदितदिग्मुखे । पर्यंतनिहितानल्पमंगलद्रव्यसंपदि ॥ १८९ ॥ इत्यनल्पगुणे तस्मिन् शस्तवास्तुप्रतिष्ठिते । यानादवातरद्देवः सुरैः क्ष्मामवतारितात् ॥ १९० ॥ धृतजन्माभिषेकर्द्धियां शिला पांडुकाह्वया । पश्यन्नेनं शिलापट्टं विभुस्तस्याः समस्मरत् ॥ १९१ ॥ तत्र क्षणमिवासीनो यथास्वमनुशासनैः । विभुः सभाजयामास सभां स नृसुरासुरां ॥ १९२ ॥ भूयोपि भगवानुच्चैर्गिरा मंद्रगभीरया । आपप्रच्छे जगद्बंधुर्बंधून्निःस्नेहबंधनः ॥ १९३ ॥ प्रशांतेऽथ जनक्षोभे दूरं प्रोत्सारिते जने । गंभीरमंगलारंभे सुप्रमुक्ते प्रगेतने ॥१९४॥ मध्ये यवनिकं स्थित्वा सुरेंद्रे परिचारिणि । सर्वत्र समतां सम्यग्भावयन् शुभभावनः ॥१९५॥ व्युत्सृष्टांतर्बहिःसंगो नैःसंग्ये

॥ १८८ ॥ उस शिलाके चारोंओर धूपका धूआं उठ रहा था जिसकी सुगंधसे सब दिशायें सुगंधित हो गईं थीं और उस शिलाके चारोंओर समीपभागमें बहुतसी मंगलद्रव्योंकी संपदायें रक्खी हुईं थीं ॥ १८९ ॥ इसप्रकार जिसमें अनेक गुण हैं और उत्तम घरके सब लक्षण जिसमें विद्यमान हैं ऐसे उस मंडपमें देवोंने भगवानकी वह पालकी पृथ्वीपर उतारी और उसमेंसे वे भगवान वृषभदेव नीचे उतरे ॥ १९० ॥ उस शिलाको देखते ही भगवान वृषभदेवको जन्माभिषेककी परम विभूति धारण करनेवाली पांडुक शिलाका स्मरण हुआ ॥१९१॥ और फिर क्षणभर उस शिलापर विराजमान हुये, तदनंतर उन भगवानने मनुष्य सुर असुर आदिकोंसे भरी हुई वह सभा यथायोग्य नियोगोंके द्वारा प्रसन्न की ॥ १९२ ॥ वे भगवान-जगतके बंधु थे, उनके स्नेहका बंधन बिलकुल नहीं था और वे दीक्षा धारण करनेकेलिये एकबार अपने बंधुवर्गोंसे आज्ञा ले चुके थे तथापि उन्होंने ऊंची और शब्द अर्थसे गंभीर ऐसी वाणीसे फिर एकवार-अपने बंधुजनोंसे आज्ञा ली ॥ १९३ ॥

अथानंतर–जिससमय लोगोंका कोलाहल बंद होगया था, लोग सब दूर हटा दिये गये थे, प्रभात समयके गंभीर मंगल वाजे बज रहे थे और स्वर्गका इंद्र स्वयं भगवानकी सेवा कर रहा था उससमय जिन्होंने अंतरंग और वहिरंग परिग्रहका त्याग करदिया है, जिन्होंने निष्परिग्रह रहनेकी प्रतिज्ञाकी है,

कृतसंगरः । वस्त्राभरणमाल्यानि न्यसृजन्मोहहानये ॥ १९६ ॥ तदंगविरहाद्धेजुर्विच्छायत्वं तदा भृशं । दीप्तान्याभरणानि प्राक् स्थानभ्रंशे हि का द्युतिः ॥ १९७ ॥ दासीदासगवाश्वादि यत्किंचिदधिचेतनं । मणिमुक्ताप्रवालादि यच्च द्रव्यमचेतनं ॥ १९८ ॥ तत्सर्वं विभुरत्याक्षीन्निर्व्यपेक्षं त्रिसाक्षिकं । निःपरिग्रहतामुख्यामास्थाय व्रतभावनां ॥ १९९ ॥ ततः पूर्वमुखं स्थित्वा कृतसिद्धनमस्क्रियः । केशानलुंचदाबद्धपल्यंकः पंचमुष्टिकं ॥ २०० ॥ निर्लुंच्य बहु मोहाप्रवल्लरीः केशवल्लरीः । जातरूपधरो धीरो जैनीं दीक्षामुपाददे ॥ २०१ ॥ कृत्स्नाद्विरम्य सावद्याच्छ्रितः सामायिकं यमं । व्रतगुप्तिस-

---

और जिनकी परमशुभ भावनायें हैं ऐसे उन भगवान वृषभदेवने परदेके भीतर विराजमान होकर शत्रु-मित्र आदि सबमें उत्तम समता धारण करते हुये मोह अर्थात् मोहनीय कर्म अथवा अज्ञानताको नाश करनेकेलिये वस्त्र आभूषण और माला आदि सबका त्याग किया ॥ १९४-१९५-१९६ ॥ जो आभूषण पहिले भगवानके शरीरपर बडे दैदीप्यमान दिखाई देते थे वे ही आभूषण उससमय भगवानके शरीरसे अलग हो जानेसे अत्यंत ही कांति रहित हो गये थे, सो ठीक ही है स्थानभ्रष्ट होनेपर कांति कहां रह सकती है ॥ १९७ ॥ दासी दास गाय घोडा आदि जो कुछ चेतनरूप परिग्रह था तथा माणि मोती प्रवाल (मूंगा) आदि अचेतन द्रव्य था वह सब भगवान वृषभदेवने अपेक्षारहित अपनी, देवोंकी और सिद्धोंकी साक्षी पूर्वक छोडदिया अर्थात् सबका त्याग कर दिया, और जिसमें निष्परिग्रहता अर्थात् परिग्रहरहितपना ही मुख्य है ऐसी व्रतोंकी भावना धारण की ॥ १९८-१९९ ॥ तदनंतर वे भगवान पूर्व दिशाकी ओर अपना मुखकर पद्मासन विराजमानहुये और सिद्धोंको नमस्कार कर उन्होंने पांच मुष्टि (मुठी) केशोंका लोंच किया ॥ २०० ॥ उन्होंने मोहनीय कर्मकी मुख्य वेलके समान बहुतसी केशोंकी वेलका अर्थात् बहुतसे बालोंके समूहका लोंच किया और फिर दिगंबर रूप धारण कर धीर वीर भगवानने श्रीजैनेश्वरी दीक्षा धारण की ॥ २०१ ॥ उन्होंने समस्त पापरूप योगोंका त्याग किया और सामायिक चारित्र स्वीकार किया । पांच महाव्रत तीन गुप्ति और पांच समिति आदि चारित्रके और भेद भी भगवा-

मित्यादींस्तद्वेदानाददे विभुः ॥ २०२ ॥ चैत्रे मास्यसिते पक्षे सुमुहूर्ते शुभोदये । नवम्यामुत्तराषाढे सायाह्ने प्राव्रजत्प्रभुः ॥ २०३ ॥ केशान्भगवतो मूर्ध्नि चिरवासात्पवित्रितान् । प्रत्यैच्छन्मघवा रत्नपटल्यां प्रीतमानसः ॥ २०४ ॥ सितांशुकप्रतिच्छन्ने पृथौ रत्नसमुद्गके । स्थिता रेजुर्विभोः केशा यथेंदोर्लक्ष्मलेशकाः ॥ २०५ ॥ विभूत्तमांगसंस्पर्शादिमे मूर्द्धन्यतामिताः । स्थाप्याः समुचिते देशे कस्मिंश्चिदनुपद्रुते ॥ २०६ ॥ पंचमस्यार्णवस्यातिपवित्रस्य निसर्गतः । नीत्वोपायनतामेते स्थाप्यास्तस्य शुचौ जले ॥ २०७ ॥ धन्याः केशा जगद्भर्तुर्यैरधिमूर्द्धमधिष्ठिताः । धन्योसौ क्षीरसिंधुश्च यस्तानाप्स्यत्युपायनं ॥ २०८ ॥ इत्याकलय्य नाकेशाः केशानादाय सादरं । विभूत्या परया नीत्वा क्षीरोदे तानिचिक्षिपुः ॥ २०९ ॥ महतां संश्रयान्नूनं

नने धारण किये ॥ २०२ ॥ भगवान वृषभदेवने चैत्र कृष्णा नवमीके दिन सायंकालके समय दीक्षा धारण की थी उससमय शुभ मुहूर्त था, शुभ लग्न थी और उत्तराषाढ नक्षत्र था ॥२०३॥ जो बाल भगवानने लोंच करनेमें उपाट डाले थे वे भगवानके मस्तकमें बहुत दिन रहनेसे पवित्र हो गये थे इसलिये इंद्रने बडी प्रसन्नताके साथ उन्हें रत्नकी पेटीमें रख लिया था ॥ २०४ ॥ वह पेटी सफेद वस्त्रसे ढकी हुई थी, बहुत बडी थी और रत्नोंकी बनी हुई थी इसलिये उसमें रक्खे हुये वे बाल ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों चंद्रमाके काले चिन्हकी किरणें ही हों ॥ २०५ ॥ देवोंने सोचा कि ये केश भगवानके उत्तम अंग अर्थात् मस्तकके स्पर्श करनेसे अत्यंत पूज्य होगये हैं इसलिये इन्हें उपद्रवरहित ऐसे किसी योग्य स्थानमें स्थापन करना चाहिये ॥ २०६ ॥ पांचवां क्षीरसागर स्वभावसे ही पवित्र है इसलिये उसकी भेटकर उसके पवित्र जलमें इन्हें स्थापन करना चाहिये ॥ २०७ ॥ ये केश भी धन्य हैं जिन्हें रहनेकेलिये भगवानका मस्तक प्राप्त हुआ है और वह क्षीरसागर भी धन्य है जिसे ये भेटमें प्राप्त होंगे ॥ २०८ ॥ यही समझकर देवोंने बडे आदरके साथ उन्हें उठाया और बडी विभूतिके साथ ले जाकर क्षीरसागरमें प्रवाहित करदिया ॥ २०९ ॥ पूज्यपुरुषोंका आश्रय पाकर नीच भी पूज्य हो जाते हैं यह बात बिलकुल ठीक है क्योंकि जो केश अत्यंत मलिन (काले) हैं वे भी भगवान वृषभदेवका आश्रय पाकर कैसे पूज्य माने

यांतीर्ष्यां मलिना अपि । मलिनैरपि यत्क्लेशैः पूजावाप्याश्रितैर्गुरुं ॥ २१० ॥ वस्त्राभरणमाल्यानि यान्युन्मुक्तान्यधीशिना । तान्यप्यनन्यसामान्यां नि-
न्युरत्युन्नतिं सुराः ॥ २११ ॥ चतुःसहस्रगणना नृपाः प्राव्राजिषुस्तदा । गुरोर्मतमजानानाः स्वामिभक्त्यैव चोदिताः ॥ २१२ ॥ यदस्मै रुचितं
भर्त्रे तदस्मभ्यं विशेषतः । इति प्रपन्नदीक्षास्ते केवलं द्रव्यलिंगिनः ॥ २१३ ॥ छंदानुवर्त्तनं भर्तुर्भृत्याचारः किलेत्यमी । भेजुः समीक्ष्य नैर्ग्रंथ्यं द्र-
व्यतो न तु भावतः ॥ २१४ ॥ गरीयसीं गुरौ भक्तिमुच्चैराविश्चिकीर्षवः । तद्वृत्तिं बिभरामासुः पार्थिवास्ते महान्वयाः ॥ २१५ ॥ गुरुः प्रमाणमस्मा-
कमात्रिकामुत्रिकार्थयोः । इति कच्छादयो दीक्षां भेजिरे नृपसत्तमाः ॥ २१६ ॥ स्नेहात्केचित्परे मोहाद्भयात्केचन पार्थिवाः । तपस्यां संगिरंते स्म पुरो-

---

गये हैं ॥ २१० ॥ इसीप्रकार भगवानने वस्त्र आभूषण और माला आदि जो कुछ उतारकर डाल दिया था देवलोगोंने उन सबकी बहुत भारी पूजा की और उन्हें बहुत ऊंचा स्थान दिया ॥२११॥ उससमय भगवानके साथ चार हजार राजाओंने दीक्षा ली थी, वे राजा लोग भगवानका अभिप्राय तो समझे नहीं थे, केवल भगवानमें अटल भक्ति होनेसे ही दीक्षित हो गये थे ॥ २१२ ॥ वे यही समझते थे कि जो हमारे स्वामीकेलिये अच्छा लगता है वही हम लोगोंको बहुत अच्छा लगना चाहिये। यही समझकर उन्होंने दीक्षा धारण की थी और वे केवल द्रव्यलिंगी मुनि हो गये थे ॥ २१३ ॥ स्वामीकी इच्छानुसार चलना ही सेवक लोगोंका काम है यही समझकर उन लोगोंने मूढताके साथ २ केवल द्रव्यसे अर्थात् ऊपरी वेषसे निर्ग्रंथपना (दिगंबरता) धारण किया था, वे भावोंसे अर्थात् वास्तविक परिणामोंसे निर्ग्रंथ नहीं थे ॥ २१४ ॥ अन्य जिन राजा लोगोंने दीक्षा धारण की थी वे बडे २ वंशोंमें उत्पन्न हुये थे भगवानमें उनकी बडी भारी गाढ भक्ति थी और उस भक्तिको प्रगट करनेकी इच्छासे ही उन्होंने भगवानके समान दिगंबर अवस्था धारण करली थी ॥२१५॥ इसलोक और परलोक संबंधी जितने पदार्थ हैं उन सबमें हमारे लिये भगवान ही प्रमाण हैं यही समझकर कच्छ आदि बडे २ राजाओंने दीक्षा धारण करली थी ॥२१६॥ उन चार हजार राजाओंमेंसे कितने ही स्नेहसे, कितने ही अज्ञानसे अथवा हठसे और कितने ही रा-

धायादिवेधसं ॥ २१७ ॥ स तैः परिवृतो रेजे विभुरव्यक्तसंयतैः । कल्पांघ्रिप इवोदग्र परितो बालपादपैः ॥ २१८ ॥ स्वभावभास्वरं तेजस्तपोदीप्त्योपबृंहितं । दधानः शरदेवार्को दिदीपेतितरां विभुः ॥ २१९ ॥ जातरूपमिवोदारकांतिकांततमं बभौ । जातरूपं प्रभोर्दीप्तं यथार्चिर्जातवेदसः ॥ २२० ॥ ततः स भगवानादिदेवो देवैः कृतार्चनः । दीक्षावल्लया परिष्वक्तः कल्पांघ्रिप इवाबभौ ॥ २२१ ॥ तदा भगवतो रूपमसरूपं विभास्वरं । पश्यन्नेत्रसहस्रेण नापत्तृप्तिं सहस्रदृक् ॥ २२२ ॥ ततस्त्रिजगदीशानं परंज्योतिर्गिरांपतिं । तुष्टास्तुष्टुवुरित्युच्चैः स्वःप्रष्ठाः परमेष्ठिनं ॥ २२३ ॥

जा केवल भयसे भगवान वृषभदेवके साथ २ दीक्षित हुये थे ॥ २१७ ॥ जिनका समय व्यक्त नहीं है अर्थात् जो संमय धारण करनेकी रीति ही नहीं जानते हैं ऐसे उन राजाओंसे घिरे हुये वे भगवान ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों छोटे २ कल्पवृक्षोंसे घिराहुआ एक बडा ऊंचा कल्पवृक्ष ही हो ॥ २१८ ॥ जिसप्रकार सूर्य स्वभावसे ही दैदीप्यमान होता है परंतु वह शरदऋतुमें और अधिक दैदीप्यमान होजाता है उसीप्रकार भगवानका तेज स्वभावसे ही दैदीप्यमान था तथापि वह तपकी कांतिसे और अधिक दीप्तिमान् हो गया था ॥ २१९ ॥ जिसप्रकार अग्निसे लालहुआ सुवर्ण दैदीप्यमान होता है उसीप्रकार बडीभारी कांतिसे अत्यंत मनोहर भगवानका नग्न रूप बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ २२० ॥ दीक्षा ग्रहण करनेके अनंतर देवोंने जिनकी पूजा की है ऐसे वे भगवान वृषभदेव दीक्षारूप लतासे आलिंगन करतेहुये ठीक कल्पवृक्षके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ २२१ ॥ उससमय भगवानका रूप बहुत ही दैदीप्यमान था और वह ऐसा सुंदर था कि उसके समान अन्य किसीका रूप नहीं था, उस रूपको इंद्र हजार नेत्रोंसे देखता हुआ भी तृप्त नहीं होता था ॥ २२२ ॥ तदनंतर स्वर्गके इंद्रोंने अत्यंत संतुष्ट होकर तीनों जगतके स्वामी, परमज्योतिस्वरूप, परमेष्ठी और वाचस्पति भगवान वृषभदेवकी बडे जोर २ से इसप्रकार स्तुति की ॥ २२३ ॥ कि हे स्वामिन् ! आप जगतके (धर्मरूप जगतके अथवा कर्मभूमिके) कर्ता हैं, सबके स्वामी हैं और अभीष्ट फल देनेवाले हैं, इसलिये हमलोग अपना अनिष्ट दूर करनेकेलि-

जगत्स्रष्टारमीशानमभीष्टफलदायिनं । त्वामनिष्टविघाताय समभिष्टुमहे वयं ॥ २२४ ॥ गुणास्ते गणनातीताः स्तूयंतेस्मद्विधैः कथं । भक्त्या तथापि तन्व्याजात्स्म: प्रोन्नतिमात्मनः ॥ २२५ ॥ बहिरंतर्मलापायात्स्फुरंतीश गुणास्तव । घनोपरोधनिर्मुक्तमूर्तेरिव रवेः कराः ॥ २२६ ॥ नृलोकपावनीं पुण्यां जैनीं श्रुतिमिवाऽमलां । प्रव्रज्यां दधते तुभ्यं नमः सार्वाय शंभवे ॥ २२७ ॥ विध्यापितजगत्तापा जगतामेकपावनी । स्वर्धुनीव पुनीयान्नो दीक्षे-

---

ये आपकी स्तुति करते हैं ॥ २२४ ॥ हे नाथ ! आपके गुणोंकी संख्या नहीं है, अनंत हैं, तब फिर हम ऐसे लोगोंसे उनकी स्तुति कैसे हो सकती है, तथापि हमलोग केवल भक्तिवश उस स्तुतिके बहानेसे अपने आत्माकी उन्नति करना चाहते हैं ॥ २२५ ॥ हे स्वामिन् ! जिसप्रकार बादलका परदा हटजानेसे सूर्यकी किरणें स्फुरायमान होती हैं उसीप्रकार भावकर्म तथा द्रव्यकर्म दोनोंके नाश होनेसे आपके गुण भी स्फुरायमान हो रहे हैं ॥ २२६ ॥ हे देव ! आपने जिनवाणीके समान मनुष्यलोकको पवित्र करनेवाली पुण्यस्वरूप और निर्मल ऐसी जिनेंद्रदेवकी कही हुई जैनेश्वरी दीक्षा धारण की है इसके सिवाय आप सबका हित करनेवाले हैं और सबको सुख देनेवाले हैं इसलिये हे नाथ ! आपको बार २ नमस्कार हो ॥ २२७ ॥ हे नाथ ! आपकी यह परमेश्वरी (जैनेश्वरी) दीक्षा गंगाके समान है, क्योंकि उसने जगतका संताप दूर कर दिया है और वह जगतको मुख्यतया पवित्र करनेवाली है। इसलिये हे नाथ ! ऐसी यह आपकी दीक्षा हम लोगोंको सदा पवित्र करो ॥ २२८ ॥ हे स्वामिन् ! आपकी यह दीक्षा ठीक धनकी धारा अर्थात् रत्नवृष्टिके समान हमलोगोंको संतुष्ट कर रही है, क्योंकि जिसप्रकार रत्नवृष्टि सुवर्णा अर्थात् सोनेसे भरी हुई होती है उसीप्रकार यह दीक्षा भी सुवर्णा अर्थात् क्षत्रिय आदि उत्तम कुलवालोंके द्वारा ही धारण की जाती है, रत्नवृष्टि जिसप्रकार रुचिरा अर्थात् कांतिवाली होती है उसीप्रकार यह दीक्षा भी रुचिरा अर्थात् मनोहर है, रत्नवृष्टि जिसप्रकार हृद्य अर्थात् हृदयको अच्छी लगनेवाली होती है उसीप्रकार यह दीक्षा भी हृदयको अच्छी लगनेवाली है और रत्नवृष्टि जिसप्रकार देदीप्यमान

यं पारमेश्वरी ॥ २२८ सुवर्णा रुचिरा हृद्या रत्नैर्दीप्तैरलंकृता । रैधारेवाभिनिष्क्रातिर्यौष्माकीयं धिनोति नः ॥ २२९ ॥ मुक्तावुत्तिष्ठमानस्त्वं तत्कालोपनतैः सितैः । प्रबुद्धः परिणामैः प्राक्पश्चाल्लौकांतिकामरैः ॥२३०॥ परिनिष्क्रमणे योऽयमभिप्रायो जगत्सृजः । स्व ते यतः स्वतो यातः स्वयंबुद्धोऽस्यतो मुने ॥ २३१ ॥ राज्यलक्ष्मीमसंभोग्यामाकलय्य चलामिमां । क्लेशहानाय निर्वाणदीक्षां त्वं प्रत्यपद्यथाः ॥ २३२ ॥ स्नेहालानकमुन्मूल्य विशतोऽद्य वनं तव । न कश्चित्प्रतिरोधोभून्मदांधस्येव दंतिनः ॥२३३॥ स्वप्नसंभोगनिर्भासा भोगाः संपत्प्रणश्वरी । जीवितं चलमित्याधास्त्वं मनः शाश्वते पथि॥२३४॥

रत्नोंसे अलंकृत होती है उसीप्रकार यह दीक्षा भी दैदीप्यमान सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणोंसे अलंकृत (सुशोभित) है ॥ २२९ ॥ हे देव ! आप मुक्त होनेका उद्योग करनेकेलिये उसी-समय प्राप्त हुये शुद्ध परिणामोंके द्वारा पहिले ही प्रबुद्ध हो चुके थे, लौकांतिक देवोंने पीछे आकर आपको केवल दृढ किया है ॥ २३० ॥ हे मुनिराज ! जगत निर्माण करनेवाले भगवानका दीक्षा ग्रहण करनेके विषयमें जो यह अभिप्राय है वह आपको अपने आप उत्पन्न हुआ है इसलिये ही आप स्वयंबुद्ध (अपने आप ज्ञाता) कहलाते हैं ॥ २३१ ॥ हे प्रभो । आपने इस राज्यलक्ष्मीको चंचल और उपभोग करनेके अयोग्य समझकर ही समस्तक्लेश दूर करनेकेलिये यह निर्वाणदीक्षा (मोक्षप्राप्त करानेवाली दीक्षा) धारण की है ॥ २३२ ॥ हे विभो ! जिसप्रकार मदांध हाथी अपना खूंटा तोडकर बनमें प्रवेश करता है और उसे कोई रोक नहीं सकता उसीप्रकार आपने भी स्नेह रूपी खूंटा तोडकर आज बनमें प्रवेश किया है और न किसीने आपको रोका है ॥ २३३ ॥ हे देव ये भोगोपभोग स्वप्नमें उपभोग किये हुये भोगोंके समान मिथ्या हैं, यह संपदा अवश्य नष्ट होनेवाली है और यह जीवन भी चंचल है, न जाने कब नष्ट हो जाय, यही समझकर आपने नित्य सदा एकसा सुखमय रहनेवाले ऐसे मोक्षमें जानेकेलिये विचार किया है ॥ २३४ ॥ हे प्रभो ! आप चंचल लक्ष्मीको दूरकर, स्नेहरूपी बंधनको तोडकर और धनरूपी धूलको उडाकर मुक्तिके साथ जायंगे ॥ २३५ ॥ हे प्रभो ! यद्यपि आप वीतराग हैं तथापि आ-

अवधूय चलां लक्ष्मीं निर्धूय स्नेहबंधनं । धनं रज इवोद्धूय मुक्त्वा संगस्यते भवान् ॥ २३५ ॥ राजलक्ष्म्यां परिम्लानिं मुक्तिलक्ष्म्यां परां मुदं । प्रव्यंजयंस्तपोलक्ष्म्यामासजस्त्वं विना रतेः ॥२३६॥ राज्यश्रियां विरक्तोऽसि संरक्तोऽसि तपःश्रियां । मुक्तिश्रियां च सोत्कंठो गतैवं ते विरागता ॥२३७॥ ज्ञात्वा हेयमुपेयं च हित्वा हेयमिवाखिलं । उपादेयमुपादित्सोः कथं ते समदर्शिता ॥ २३८ ॥ पराधीनं सुखं हित्वा सुखं स्वाधीनमीप्सतः । त्यक्त्वाल्पां विपुलां चर्द्धिं वांछतो विरतिः क्व ते ॥ २३९ ॥ आमनंत्यात्मविज्ञानं योगिनां हृदयं परं । कीदृक्तवात्मविज्ञानमात्मवत्पश्यतः परान् ॥ २४० ॥ तथा

पने राज्यलक्ष्मीसे अपनी उदासीनता प्रगट की, मुक्तिलक्ष्मीमें अत्यंत हर्ष दिखलाया और तपश्चरणरूप लक्ष्मीमें आसक्त होगये । यह एक बडे आश्चर्यकी बात है ॥ २३६ ॥ हे देव ! आप राज्यलक्ष्मीसे विरक्त हो गये हैं, तथापि तपश्चरणरूपी लक्ष्मीमें आसक्त हो गये हैं और मुक्तिरूपी लक्ष्मीकेलिये आपकी उत्कंठा बन-रही है, इससे जान पडता है कि आपकी वीतरागता सब नष्ट होगई है ॥ २३७ ॥ (यह सब निंदास्तुति है अर्थात् ऊपरसे निंदासी जान पडती है परंतु वास्तवमें भगवानकी स्तुति है) हे नाथ ! लोग आपको समदर्शी (सबको एकसा देखनेवाला) कहते हैं परंतु आपने हेय अर्थात् त्याग करने योग्य और उपादेय अर्थात् ग्रहण करनेयोग्य सब पदार्थोंका स्वरूप जानकर जितने हेय पदार्थ थे उन सबका तो त्याग करदिया है और जितने उपादेय पदार्थ हैं उन सबके ग्रहण करनेकी इच्छा कर रहे हैं तब फिर आपको समदर्शी कैसे कहा जाय ॥ २३८ ॥ हे स्वामिन् ! आपने इंद्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला पराधीन सुख छोडदिया है और मोक्षरूप स्वाधीन सुखकी इच्छा कर रहे हैं, आपने राज्य आदि थोडीसी विभूतिका त्याग कर दिया है और मोक्षरूप बडी भारी विभूतिकी इच्छा कर रहे हैं, हे नाथ ! इसतरह आपका पूर्णत्याग कहां रहा ॥ २३९ ॥ हे देव ! प्रत्यक्ष आत्माका ज्ञान योगियोंके हृदयका सब रहस्य जानता है, परंतु आप अन्य सब जीवोंको अपने समान ही जानते हैं, कहिये यह आपका प्रत्यक्ष आत्मज्ञान कैसा? ॥ २४० ॥ हे प्रभो ! सुर असुर आदि समस्त देव जिसप्रकार पहिले आपकी सेवा करते

परिचरंत्येते यथापूर्वं सुरासुराः। त्वामुपास्ते च गूढं श्रीः कुतस्त्यस्ते तपःस्मयः ॥ २४१ ॥ नैसंगीमास्थितश्चर्यां सुखानुशयमप्यहन्। सुखीति कृतिभिर्देव त्वं तथाप्यभिलप्यसे ॥ २४२ ॥ ज्ञानशक्तित्रयीमूढ्वा विभित्सोः कर्मसाधनं। जिगीषुवृत्तमद्यापि तपोराज्ये तवास्त्यदः ॥ २४३ ॥ मोहांधतमसध्वंसे बोधितां ज्ञानदीपिकां। त्वमादाय चरन्नेश क्लेशापातेवसीदासि ॥ २४४ ॥ भट्टारक बरीभृष्टिः कर्मणोष्टतयस्य या। तां प्रति प्रज्वलत्येषा त्वध्यानाग्निशिखोच्छिखा ॥ २४५ ॥ दृष्टतत्व बरीवृष्टिः कर्माष्टकवनस्य या। तत्रोत्क्षिप्ता कुठारीयं रत्नत्रयमयी त्वया ॥ २४६ ॥ ज्ञानवैराग्यसंपत्तिस्तवैषान-

---

थे उसीप्रकार अब भी आपकी सेवा करते हैं परंतु यह लक्ष्मी गुप्तरीतिसे आपकी सेवा करती है तब फिर आपके तपश्चरणका अहंकार कहां रहा ॥ २४१ ॥ हे प्रभो आपने निर्गंथ अवस्था धारणकर सुखानुबंधका भी नाश कर दिया है, तथापि हे देव ! भाग्यशाली लोग आपको ही सुखी बतलाते हैं ॥ २४२ ॥ हे नाथ ! यद्यपि आपने राज्य छोडकर तपश्चरण धारण करलिया है तथापि इस तपश्चरणरूपी राज्यमें आज भी आपकी शत्रुको जीतनेकी सब सामग्री ज्यों की त्यों बनी हुई है, क्योंकि जिसप्रकार राज्यमें प्रभुत्व मंत्र और उत्साह इन तीनों शक्तियोंसे शत्रुओंकी सेना जानी जाती है उसीप्रकार आप भी आज मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानरूप शक्तियोंको धारण कर कर्मरूपी सेनाके जीतनेकी इच्छा कर रहे हैं ॥ २४३ ॥ हे देव ! आप इस मोहरूपी गाढ अंधकारको नाश करनेकेलिये प्रकाशमान ज्ञानरूपी दीपक हाथमें लेकर चलते हैं इसलिये ही हे नाथ ! आपको क्लेशरूपी गढेमें पडनेका दुःख बिलकुल नहीं होता है ॥ २४४ ॥ हे भट्टारक ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंकी जो बडी भारी भट्टी बनी हुई है उसमें यह आपकी ध्यानरूपी अग्निकी बडी ऊंची शिखा खूब जल रही है ॥ २४५ ॥ हे समस्त तत्वोंको जाननेवाले जिनेंद्र देव ! आठों कर्मोंका बन जो अच्छीतरह काटने योग्य था उसके काटनेके लिये आपने यह रत्नत्रयरूपी कुल्हाडी ही उठाई है ॥ २४६ ॥ हे स्वामिन् ! यह जो आपकी ज्ञान और वैराग्यरूपी संपत्ति दिखाई दे रही है वह ऐसी है जो अन्य किसी जगह नहीं पाई जाती ।

न्यगोचरा। विमुक्तिसाधनायालं भक्तानां च भवच्छिदे ॥२४७॥ इति स्वार्थां परार्थां च बोधसंपदमूर्जितां। दधतेपि नमस्तुभ्यं विरागाय गरीयसे॥२४८॥ इत्यभिष्टुत्य नाकींद्राः प्रतिजग्मुः स्वमास्पदं। तद्गुणानुस्मृतिं पूतामादाय स्वेन चेतसा ॥ २४९ ॥ ततो भरतराजोपि गुरुं भक्तिभरानतः। पूजयामास लक्ष्मीवानुच्चावचवचःस्रजा ॥ २५० ॥ अथ भरतनरेंद्रो रुंद्रभक्त्या मुनींद्रं समधिगतसमाधिं सावधानं स्वसाध्ये। सुरभिसलिलधारागंधपुष्पाक्षताघैरयजत जितमोहं सप्रदीपैश्च धूपैः ॥ २५१ ॥ परिणतफलभेदैराम्रजंबूकापित्थैः पनसलकुचमोचैर्दाडिमैर्मातुलिंगैः। क्रमुकरुचिरगुच्छैर्नालिकेरैश्च रम्यै-

---

आपकी शरणमें आये हुये भक्त लोगोंको संसार चक्रका नाश करनेकेलिये और मोक्ष प्राप्त होनेकेलिये आपकी यही ज्ञान वैराग्यरूपी संपत्ति बहुत है, उन्हें इन दोनों कामोंके लिये अन्य किसी सामग्रीकी आवश्यकता नहीं है ॥ २४७ ॥ हे देव ! इसप्रकार आप अपना हित करनेवाली और अन्य जीवोंका हित करनेवाली ज्ञान रूपी बडी भारी संपदाको धारण करनेवाले हैं परंतु तो भी आप परम वीतराग हैं, हे भगवान् ! ऐसे आपके लिये बार बार नमस्कार हो ॥ २४८ ॥ इसप्रकार इंद्रोंने भगवान वृषभदेवकी स्तुति की और फिर वे अपने चित्तमें भगवानके पवित्र गुणोंको स्मरण करते हुये अपने अपने स्थानपर जा पहुंचे ॥ २४९ ॥ तदनंतर राज्यलक्ष्मीके स्वामी महाराज भरतने भी भक्तिके बोझसे आतिशय नम्र होकर अनेक प्रकारके बचनरूपी मालाओंके द्वारा अपने पूज्य पिता भगवान वृषभदेवकी पूजा की ॥ २५० ॥ और फिर उन्हीं राजा भरतने बडी भक्तिसे सुगंधित जलकी धारा, चंदन, अक्षत, पुष्प, दीप, धूप, और अर्घसे आत्मध्यानमें तल्लीन हुये और मोक्षकी प्राप्ति करनेरूप अपने कार्यमें सदा सावधान ऐसे मोहनीय कर्मको जीतनेवाले मुनिराज भगवान वृषभदेवकी पूजा की ॥ २५१ ॥ तथा जिनकी राज्यलक्ष्मी बहुत बडी हुई है ऐसे महाराज भरतने पके हुये और बहुत मनोहर ऐसे आम, जामुन, कैथ, पनस (कटहल) बडहल, बिजोरा, केला, अनार, सुपारियोंके सुंदर गुच्छे और नारियलोंसे भगवानके चरनकमलोंकी पूजा की ॥ २५२ ॥ इसप्रकार जो भगवानके चरणकमलोंकी पूजा कर चुके हैं, जिनके

गुरुचरणसपर्यामातनोदाततश्रीः ॥२५२॥ कृतचरणसपर्यो भक्तिनम्रेण मूर्ध्ना धरणिनिर्हितजानुः प्रोद्गतानंदबाष्पः । प्रणतिमतनुतोच्चैर्मौलिमाणिक्यरश्मि प्रविमलसलिलौघैः क्षालयन्भर्तुरंघ्री ॥ २५३ ॥ स्तुतिभिरनुगतार्थालंक्रियाश्लाघिनीभिः प्रकटितगुरुभक्तिः कल्मषध्वंसिनीभिः । समममरनिपपुत्रैः स्वानुजन्मानुयातो भरतपतिरुदारश्रीरयोध्योन्मुखोऽभूत् ॥ २५४ ॥ अथ सरसिजबंधौ मंदमंदायमानैः परिमृशति कराग्रैः पश्चिमाशांगनास्यं । धुवति मरुति मंदं प्रोल्लसत्केतुमालां प्रभुरविशदलंघ्यां स्वामिवाज्ञामयोध्यां ॥ २५५ ॥ तत्रस्थो गुरुमादरात्परिचरन्दूराद्युदारोदयः कुर्वन्सर्वजनोपकारकरणीं वृत्तिं

दोनों घुटने पृथ्वीपर लगे हुये हैं और जिनके नेत्रोंसे आनंदके आंसू निकल रहे हैं ऐसे महाराज भरतने अपने मस्तकमें लगे हुये रत्नोंकी किरणेंरूप निर्मळ जलसमूहसे भगवानके चरणकमलोंको प्रक्षालन करते हुये भक्तिवश अत्यंत नम्र हुये अपने मस्तकसे उन्हीं भगवानके चरणकमलोंको बार २ नमस्कार किया ॥ २५३ ॥ जिसने योग्य योग्य अलंकारोंसे अत्यंत प्रशंसा करने योग्य और समस्त पापोंको नाश करनेवाली ऐसी अनेक स्तुतियोंसे भगवानकी भक्ति प्रगट की है, और जो बडी भारी विभूतिका स्वामी है ऐसा वह भरतक्षेत्रका स्वामी राजा भरत अनेक राजपुत्रों और अपने छोटे भाइयोंके साथ साथ अयोध्याको लौटनेके लिये तैयार हुआ ॥ २५४ ॥

अथानंतर–जिससमय सूर्य अपनी मंद मंद किरणोंसे पश्चिम दिशारूपी स्त्रीका मुख स्पर्श कर रहा था अर्थात् सायंकालके समय वह पश्चिमकी ओर जा रहा था और वायु उडती हुई ध्वजाओंके समूहको धीरे धीरे हिला रहाथा उस समय अपनी आज्ञाके समान शत्रुओं के द्वारा सर्वथा उल्लंघन करने अयोग्य ऐसी अयोध्या नगरीमें महाराज भरतने प्रवेश किया ॥ २५५ ॥ जो बहुत बडे भाग्य शाली हैं और जो आगामी कालमें चक्रवर्ती होनेवाले हैं, ऐसे महाराज भरत उस अयोध्या नगरीमें रहकर दूरसे ही अपने पूज्य पिता श्रीवृषभदेवका आदर सत्कार और सेवा करते थे, उन्होंने अपने राज्यमें संपूर्ण मनुष्यों का उपकार करनेवाली आजीविकाका निर्वाह कर दिया था, वे अपने भाई बंधुओंको सदा हर्षित रखते

स्वराज्याश्रितां । तन्वानः प्रमदं सनाभिषु गुरून्संभावयन्सादरं भावी चक्रधरो धरां चिरमपादेकातपत्रांकितां ॥२५६॥ इत्थं निष्क्रमणे गुरोः समुचितं कृत्वा सपर्याविधिं प्रत्यावृत्य पुरिं निजामनुगतो राजाधिराजोऽनुजैः । प्रातःप्रातरनूत्थितो नृपगणैर्भक्त्या गुरोः संस्मरन् दिक्चक्रं विधुतारिचक्रम भुनक्पूर्वं यथासौ जिनः ॥ २५७ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्पारिनिष्क्रमणवर्णनं नाम सप्तदशं पर्व ।

थे और गुरुजनोंका आदर पूर्वक आदर सत्कार करते थे, इस प्रकार वे केवल एक छत्र धारणकर संपूर्ण पृथ्वीका पालन करते थे ॥ २५६ ॥ इस प्रकार राजाधिराज महाराज भरत भगवान वृषभदेवके तपकल्याणकी यथायोग्य पूजाकर छोटे भाइयोंके साथ २ अपनी अयोध्या नगरींमें लौटे और वहां जिसप्रकार पहिले भगवान वृषभदेव समस्त दिशाओंका उपभोग करते थे उसीप्रकार उन्होंने भी प्रतिदिन प्रातःकाल ही अनेक राजाओंके साथ २ उठकर भक्ति पूर्वक अपने पूज्य पिता भगवान वृषभदेवका स्मरण करते हुये समस्त शत्रुमंडलको नष्टकर सब दिशाओंका उपभोग किया था ॥ २५७ ॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें भगवानके तपकल्याणका वर्णन करनेवाला सत्रहवां पर्व समाप्त हुआ.

अथ अष्टादशं पर्व ।

अथ कायं समुत्सृज्य तपोयोगे समाहितः । वाचंयमत्वमास्थाय तस्थौ विश्वेड्विमुक्तये ॥ १ ॥ षण्मासानशनं धीरः प्रतिज्ञाय महाधृतिः । योगैकाग्र्यनिरुद्धांतर्बहिष्करणविक्रियः ॥ २ ॥ वितस्त्यंतरपादाग्रं तत्र्यंशांतरपार्ष्णिकं । समम्रृज्वायतं स्थानमास्थाय रचितस्थितिः ॥ ३ ॥ काठिनेपि शिलापट्टे न्यस्तपादपयोरुहः । लक्ष्म्योपढौकितं गूढमास्थितः पद्मविष्टरं ॥ ४ ॥ किमप्यंतर्गतं जल्पन्नव्यक्ताक्षरमक्षरः । निगूढनिर्झरारावगुंजद्गुह इवाचलः ॥ ५ ॥ सुप्रसन्नोज्ज्वलां मूर्तिं प्रलंबितभुजद्वयां । शमस्येव परां मूर्त्तिं दधानो ध्यानसिद्धये ॥ ६ ॥ शिरः शिरोरुहापायात्सुव्यक्तपरिमंडलं ।

अथ अठारहवां पर्व ।

अथानंतर—वे भगवान वृषभदेव शरीरसे ममत्व छोडकर तथा तपश्चरण करनेमें सावधान होकर और मौन धारणकर मोक्ष जानेकेलिये तैयार हुये ॥ १ ॥ अत्यंत संतोषी और धीरवीर भगवान वृषभदेवने छह महीनेतक उपवास धारण करनेकी प्रतिज्ञा की और चित्तके समस्त संकल्पविकल्प रोककर एकाग्रता धारणकर मन और इंद्रियोंके सब विकार रोकदिये ॥ २ ॥ वे भगवान समान सरल और लंबी जगहपर कायोत्सर्ग धारणकर खडे हुये थे उनके दोनों पैरोंके अग्रभागका (अंगूठोंका) अंतर बारह अंगुल था और एडियोंका अंतर चार अंगुल था ॥ ३ ॥ वे भगवान कठिन शिलापर भी अपना चरणकमल रखकर इसप्रकार विराजमान थे मानों लक्ष्मीके द्वारा रक्खे हुये गूढ पद्मासनपर विराजमान हों ॥ ४ ॥ अविनाशीक वे भगवान अस्पष्ट अक्षरोंसे कुछ भी भीतर ही भीतर पाठ पढते जाते थे जिससे वे ऐसे जान पडते थे मानों जिसकी गुफायें भीतरी निर्झरनोंके शब्दोंसे गूंज रहीं हों ऐसा कोई पर्वत ही हो ॥ ५ ॥ जिनकी दोनों भुजायें लटक रहीं हैं तथा जो अत्यंत प्रसन्न और निर्मल है ऐसी मूर्तिको धारण करते हुये वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों उन्होंने ध्यानकी सिद्धि होनेकेलिये शम अर्थात् इंद्रियोंके निग्रह करनेकी बडी उत्कृष्ट मूर्ति धारण की हो ॥ ६ ॥ शिरके बालोंका लोंच हो चुका था इसलिये शिर-

रोचिष्णूष्णीषमुष्णांशुमंडलस्पर्द्धि धारयन् ॥ ७ ॥ अभ्रूभंगमपापांगवीक्षणं स्तिमितेक्षणं । बिभ्राणो मुखमक्लिष्टसुश्लिष्टदशनच्छदं ॥ ८ ॥ सुगंधिमुखनिःश्वासगंधाहूतैरलिव्रजैः । बहिर्निष्कासिताशुद्धलेश्यांशैरिव लक्षितः ॥९॥ प्रलंबितमहाबाहुर्दीप्तप्रोत्तुंगविग्रहः । कल्पांघ्रिप इवोच्चाग्रशाखाद्वयपरिष्कृतः ॥१०॥ अलक्ष्येणातपत्रेण तपोमाहात्म्यजन्मना । कृतच्छायोप्यनार्थित्वादक्षतेच्छः परिच्छदे ॥ ११ ॥ पर्यंततरुशाखाग्रैर्मंदानिलविधूनितैः । प्रकीर्णकैरिवायत्नविधुतैर्विधुतक्लमः ॥ १२ ॥ दीक्षानंतरमुद्भूतमनःपर्ययबोधनः । चतुर्ज्ञानधरः श्रीमान्सांतर्दीप इवालयः ॥ १३ ॥ चतुर्भिरूर्जितैर्बोधैरमात्यैरिव चर्चितं ।

का ब्रह्मद्वार बहुत देदीप्यमान हो रहा था, उसका गोल परिमंडल साफ दिखाई दे रहा था और ऐसा जान पडता था मानों वह सूर्यमंडलकी स्पर्द्धा ही कर रहा हो ॥ ७ ॥ भगवानकी न तो कभी भौंहें ही चलती थीं और न कभी किसीको कटाक्षसे देखते थे उनके ओठ भी खेद रहित बिलकुल मिले हुये थे। इसप्रकार उनका मुख सर्वथा चेष्टा रहित था ॥ ८ ॥ उनके मुखपर जो सुगंधित निश्वासकी सुगंधसे भ्रमरोंके समूह आ गये थे उनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों कृष्णनील आदि अशुभ लेश्याओंके अंशोंको बाहर ही निकाल रहे हों ॥ ९ ॥ उनकी दोनों ही लंबी भुजायें घोंटुओंतक लटक रहीं थीं और उनका शरीर अत्यंत ऊंचा और देदीप्यमान था इसलिये वे ऐसे जान पडते थे मानों ऊंची दो मुख्य शाखाओंसे सुशोभित एक कल्पवृक्ष ही हो ॥ १० ॥ वे इच्छा रहित थे अर्थात् उनके कोई किसी तरहकी इच्छा नहीं थी इसलिये ही किसीको न दिखनेवाले ऐसे तपश्चरणके माहात्म्यसे उत्पन्न हुये छत्रने उनपर छायाकर रक्खी थी परंतु इस छत्रसे वे ऐसे जान पडते थे मानों परिग्रहमें अभीतक उनकी इच्छा दूर न हुई हो ॥ ११ ॥ मंद मंद वायुसे जो समीपवर्ती वृक्षोंकी शाखायें हिल रहीं थीं उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों बिना ही यत्नके ढुलाये हुये चमरोंसे उनका क्लेश दूर हो रहा हो ॥ १२ ॥ दीक्षा धारण करनेके बाद ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हुआ था जिससे वे चारों ज्ञानोंको धारण करते हुये ऐसे जान पडते थे मानों जिसके भीतर दीपक जल रहा है ऐसा कोई मंदिर ही हो ॥ १३ ॥ जिसप्रकार

विलोकयन् विभुः कृत्स्नं परलोकगतागतं ॥ १४ ॥ यदैवं स्थितवान्देवः पुरुः परमनिःस्पृहः । तदामीषां नृपर्षीणां धृतेः क्षोभो महानभूत् ॥ १५ ॥ मासा द्वित्राश्च नो यावत्तावत्ते मुनिमानिनः । परीषहमहावातैर्भग्नाः सद्यो धृतिं जहुः ॥ १६ ॥ अशक्ताः पदवीं गंतुं गुरोरतिगरीयसीं । त्यक्त्वाभिमानमित्युच्चैर्जजल्पुस्ते परस्परं ॥ १७ ॥ अहो धैर्यमहो स्थैर्यमहो जंघाबलं प्रभोः । को नामैवमिमं मुक्त्वा कुर्यात्साहसमीदृशं ॥ १८ ॥ कियंतमथवा कालं तिष्ठेदेवमतंद्रितः । सोढ्वा बाधाः क्षुधाद्युत्था गिरींद्र इव निश्चलः ॥ १९ ॥ तिष्ठेदेकं दिनं द्वे वा कामं त्रिचतुराणि वा । परं मासावधिस्तिष्ठंस्त्वसमा-

---

कोई महाराज अपने मंत्रियोंके कहनेपर शत्रुओंका सब जगहका आना जाना आदि जान लेता है उसीप्रकार भगवान वृषभदेव भी उत्तम चारों ज्ञानोंके द्वारा जानकर समस्त जीवोंका परलोक संबंधी आना जाना देखते थे ॥ १४ ॥ जिससमय भगवान वृषभदेव इसप्रकार परम निस्पृह होकर विराजमान थे उससमय कच्छादिक जिन राजा लोगोंने दीक्षा धारण करली थी उनका बडा भारी धैर्य भी छूट गया था ॥ १५ ॥ दीक्षा धारणकर दो तीन महीने भी नहीं हुये थे कि इतनेमें ही अपनेको मुनि माननेवाले कच्छ आदि राजा लोग परीषहरूप महा वायुसे भग्न हो गये थे और उनका धैर्य बहुत शीघ्र छूट गया था ॥ १६ ॥ भगवानका धारण किया हुआ मार्ग अर्थात् वह तपश्चरण बहुत ही कठिन था, वे लोग उसे धारण नहीं कर सके और अपना २ भारी अभिमान छोडकर परस्पर कहने लगे कि ॥ १७ ॥ अहा बडा आश्चर्य है देखो भगवानका कितना भारी धैर्य है, कितनी बडी स्थिरता है और जंघाओंमें कितना बल है । इन भगवानको छोडकर अन्य ऐसा कौन है जो इसप्रकारका साहस कर सके ॥ १८ ॥ अब ये भगवान इसीप्रकार आलसरहित होकर क्षुधा आदि अनेक बाधाओंको सहन करते हुये निश्चल पर्वतके समान न जाने कितने दिनतक खडे रहेंगे? ॥ १९ ॥ हम समझते थे कि ये एक दिन वा दो दिनतक खडे रहेंगे अथवा अधिकसे अधिक तीन चार दिनतक खडे रहेंगे, परंतु इन्हें तो इसीप्रकार खडे हुये कई महीने होगये अब तो ये भगवान महीनों इसीप्रकार खडे रहकर केवल हम लोगोंको दुःख

न्क्लेशयतीशिता ॥ २० ॥ कामं तिष्ठतु वा भुक्त्वा पीत्वा निर्वाप्य नः पुनः । अनाश्वान्निःप्रतीकारस्तिष्ठन्निष्ठां करोति नः ॥ २१ ॥ साध्यं किमथवोद्दिश्य तिष्ठेदूर्ध्वज्ञयीशिता । षाड्गुण्ये पठितो नैष गुणः कोपि महीक्षितां ॥ २२ ॥ अनेकोपद्रवाकीर्णे वनेस्मिन् रक्षया विना । तिष्ठन्ननीतिविद्धर्त्ता रक्ष्यो ह्यात्मा प्रयत्नतः ॥ २३ ॥ प्रायः प्राणेषु निर्विण्णो देहमुत्स्रष्टुमीहते । निर्विण्णा वयमेतेन तपसा प्राणहारिणा ॥ २४ ॥ वन्यैः कशिपुभिस्तावत्कंदमूलफलादिभिः । प्राणयात्रां करिष्यामो यावद्योगावधिर्गुरोः ॥ २५ ॥ इति दीनतरं केचिन्निर्व्यपेक्षास्तपोविधौ । ब्रुवाणाः कातरा दीनां वृत्तिं

देरहे है ॥ २० ॥ अथवा यदि स्वयं भोजन पानकर और हम लोगोंको भोजन पानादिकसे संतुष्टकर फिर इसीप्रकार खडे रहते तो कोई हानि भी नहीं थी, परंतु इन्होंने तो बिलकुल उपवास धारण करलिया है, भूख प्यासका कुछ भी उपाय नहीं करते हैं ! इसप्रकार हम लोगोंका तो नाश कर रहे हैं ॥२१॥ अथवा न जाने शत्रुओंका निग्रह करना आदि किस कामको सिद्ध करनेकेलिये भगवान खडे हैं, राजाओंके जो संधि (अन्य राजाओंसे मेल रखना) विग्रह (युद्ध) यान (सेना भेजना) आसन (पडाव डालना) द्वैधीभाव (राजाओंमे परस्पर वैमनस्य करादेना) और आश्रय (बडोंके आश्रय रहना और छोटोंको आश्रय देना) ये छह गुण हैं अथवा राजाकी शक्ति, मंत्रकी शक्ति, उत्साहकी शक्ति, दान देना, दंड देना और समझाना ये जो राजाओंके छह गुण हैं उनमेंसे इसप्रकार खडे रहना ऐसा कोई भी गुण नहीं पढा है ॥ २२ ॥ यह बन अनेक उपद्रवोंसे भरा हुआ है, इसमें भगवान वृषभदेव अपनी रक्षाका कुछ उपाय किये बिना ही निवास करते हैं इसलिये मालूम होता है कि ये नीति बिलकुल नहीं जानते हैं, क्योंकि अपने आत्माकी रक्षा पूर्ण प्रयत्नोंसे करनी चाहिये ॥ २३ ॥ भगवान तो प्रायः प्राणोंसे विरक्त होकर शरीर छोडना चाहते हैं परंतु हम लोग तो प्राण हरण करनेवाले इस तपश्चरणसे ही खेद खिन्न हो गये ! भावार्थ–भगवान् तो प्राणोंसे विरक्त हुये हैं और हम लोग इस तपश्चरणसे ही विरक्त हो गये हैं ॥ २४ ॥ इसलिये जबतक भगवानका योग समाप्त हो और जबतक स्वादिष्ट योग्य

प्रत्युन्मुखाः स्थिताः ॥ २६ ॥ परे परापरज्ञं तं परितोभ्यर्णवर्त्तिनः । इति कर्त्तव्यतामूढास्तस्थुरंतश्चलाचलाः ॥ २७ ॥ शयाने शायितं भुक्तं भुंजाने तिष्ठति स्थितं । गतं गच्छति राज्यस्थे तपःस्थेप्यास्थितं तपः ॥ २८ ॥ भृत्याचारोयमस्माभिः पूर्वं सर्वोप्यनुष्ठितः । कालः कुलाभिमानस्य गतोथ प्राणसंकटे ॥ २९ ॥ वने प्राविशतोस्माभिर्न भुक्तं जीवनं प्रभोः । यावच्छक्ताः स्थितास्तावदशक्ताः किं नुकुर्महे ॥ ३० ॥ मिथ्या कारयते योगं

भोजन वस्त्रादिक नहीं मिलें तबतक बनमें उत्पन्न होनेवाले कंदमूल फल आदिसे ही हम लोगोंको अपना जीवन निर्वाह करना चाहिये ॥ २५ ॥ इसप्रकार कितने ही कातर पुरुष तपश्चरण करनेकी इच्छा छोड़कर अत्यंत दीन वचन कहते हुये आगामी कालमें दुःख देनेवाली ऐसी दीन वृत्तिको धारण करनेकेलिये तैयार हो गये थे ॥ ॥ २६ ॥ अन्य कितने ही लोग समझते थे कि भगवान आगे पीछेका सब हाल जानते हैं हम लोगोंका भी आगा पीछा सोचकर कुछ न कुछ निश्चय जरूर करेंगे यही समझकर वे भगवानके चारोंओर खडे होगये थे और कभी स्थिर तथा कभी चंचल बुद्धि करते हुये नीचे लिखे अनुसार अपनी कर्तव्यताकी मूर्खता दिखला रहे थे ॥ २७ ॥ वे लोग परस्पर कह रहे थे कि जब भगवान राज्य करते थे तब हम लोग उनके सो जानेपर सोते थे, भोजन करने बाद भोजन करते थे, खडे होनेपर खडे हो जाते थे और उनके चलते ही चलते थे और अब जब भगवानने तपश्चरण धारण किया है तब हम लोगोंने भी तपश्चरण धारण कर लिया है ॥ २८ ॥ इसप्रकार सेवकका जितना कुछ काम है वह सब हम लोग पहले कर चुके हैं परंतु बडे कुलका अभिमान करनेवाले हम लोगोंका यह समय प्राणोंको संकट देनेवाला बनगया है ॥ २९ ॥ जिस दिनसे भगवानने बनमें प्रवेश किया है उस दिनसे हम लोगोंने कुछ भी अन्न जल नहीं खाया है, बिना भोजन पान किये जबतक हम लोगोंमें शक्ति थी तब तक तो रहे परंतु अब हम लोग इसतरह रह नहीं सकते हैं इसलिये अब क्या करें ॥३०॥ भगवान हम लोगोंपर कुछ भी दया नहीं करते हैं वे हम लोगोंसे झूठमूठ ही तपश्चरण कराते हैं। क्या

प्रभुरस्मासु निर्दयः । स्पर्धां कृत्वा सहैतेन मर्त्तव्यं किमशक्तकैः ॥ ३१ ॥ अनिवर्त्ती गुरुः सोऽयं कोस्यान्वेतुं पदं क्षमः । देवः स्वच्छंदचार्येष न देवचरितं चरेत् ॥ ३२ ॥ कच्चिज्जीवति मे माता कच्चिज्जीवति मे पिता । कच्चित्स्मरति मे कांता कच्चिन्नः सुस्थिताः प्रजाः ॥ ३३ ॥ इति स्वांतर्गतं केचिदच्छोद्य स्थातुमक्षमाः । अनुव्रज्य गुरोः पादौ प्रणता गमनोत्सुकाः ॥ ३४ ॥ अहो गुरुरयं धीरः किमप्युद्दिश्य कारणं । जितात्मा त्यक्तराज्यश्रीः पुनः संयोक्षते तया ॥ ३५ ॥ यदायमद्य वा श्वो वा योगं संहृत्य धीरधीः । निजराज्यश्रिया भूयो योक्ष्यते वदतां वरः ॥ ३६ ॥ तदास्मान्स्वामिकार्येस्मिन्भग्नोत्साहान्कृतच्छलान् । निर्वासयेदसत्कृत्य कुर्याद्वा वीतसंपदः ॥ ३७ ॥ भरतो वा गुरुं त्यक्त्वा गतानस्मान्विकर्शयेत् । तथावद्योगनिष्प-

---

इनकी बराबरी करते हुये हम असमर्थ लोगोंको मर जाना चाहिये ! ॥ ३१ ॥ जो हम लोगोंपर विलकुल दया नहीं करते हैं ऐसे ये भगवान अब घरको नहीं लौटेंगे ? अपना सोचा हुआ काम पूरा ही करेंगे इनकी बराबरी कौन कर सकता है, ये तो अपनी इच्छानुसार चलनेवाले हैं, इसलिये जो काम ये भगवान करते हैं वह मनुष्योंको कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३२ ॥ क्या मेरी माता जीवित है, क्या मेरे पिता जीवित हैं, क्या मेरी स्त्री मुझे याद करती है, क्या मेरी प्रजा अच्छीतरह है ? ॥ ३३ ॥ इसप्रकार उस बनके रहनेमें असमर्थ हुये कितने ही लोग अपने मनका अभिप्राय प्रगटकर अपनेघर जानेकी इच्छासे भगवानके सामने खडे होकर बार २ उनके चरणकमलोंको नमस्कार करते थे ॥ ३४ ॥ अन्य कितने ही लोग कहते थे कि अहा भगवान बडे ही धीर वीर हैं, अपने आत्माको भी वश करनेवाले हैं, इन्होंने कोई न कोई कारण सोचकर ही राज्यलक्ष्मीका त्याग किया है सो फिर भी ये राज्यलक्ष्मीको अवश्य प्राप्त होंगे ॥ ३५ ॥ स्थिर बुद्धिको धारण करनेवाले और उपदेश देनेमें अति निपुण ऐसे ये भगवान वृषभदेव जब आज या कल अपना ध्यान समाप्तकर अपनी राज्यलक्ष्मीको प्राप्त होंगे तब भगवान वृषभदेवके इस कार्यसे जिन्होंने अपना उत्साह भंग कर दिया है अथवा छल किया है ऐसे हम लोगोंका मान भंगकर हमें अवश्य ही निकाल देंगे अथवा हम लोगोंकी सब संपदायें हरण कर लेंगे ॥ ३६-३७ ॥

स्तैर्विभोस्तावत्सहामहे ॥ ३८ ॥ भगवानयमद्यश्वः सिद्धयोगो भवेत् ध्रुवं । सिद्धे योगे कृतक्लेशानस्मानभ्युपपत्स्यते ॥ ३९ ॥ गुरोर्वा गुरुपुत्राद्वा पीडैवं नैव जातु नः । पूजासत्कारलाभैश्च प्रीतः संप्रीणयेत्स नः ॥ ४० ॥ इति धीरतया केचिदंतःक्षोभेऽपि नातुराः । धीरयंतोपि नात्मानं शेकुः स्थापयितुं स्थितौ ॥ ४१ ॥ अभिमानधनाः केचिद्भूयोपि स्थातुमुद्यताः । पतित्वाप्यवशं भूमौ संस्मरुर्गुरुपादयोः ॥ ४२ ॥ इत्युच्चावचसंजल्पैः संकल्पैश्च पृथग्विधैः । विरम्य ते तपःक्लेशाज्जीविकायां मतिं व्यधुः ॥ ४३ ॥ मुखोन्मुखं विभोर्दत्तदृष्टय पृष्ठतो मुखाः । अशक्त्या लज्जया वान्ये भेजिरे स्खलिता ग-

---

अथवा यदि हम लोग इन भगवानको छोडकर चले जांयगे तो महाराज भरत ही हम लोगोंको पीडा देंगे। इसलिये जबतक भगवानका ध्यान समाप्त होता है तबतक हम लोगोंको सब कुछ सहन करना चाहिये ॥३८॥ ये भगवान अवश्य ही आज वा कलमें सिद्धयोग अर्थात् जिनका योग सिद्ध हो गया है ऐसे हो जांयगे। जब इनका योग सिद्ध हो जायगा तब अनेक क्लेश सहन करनेवाले हमलोगोंको किसी न किसी उपायसे अवश्य ही पालन करेंगे ॥ ३९ ॥ ऐसा करनेसे हमलोगोंको न तो कभी भगवान ही कोई पीडा देंगे और न कभी भगवानका पुत्र भरत ही कोई पीडा देगा, किंतु ये दोनों ही प्रसन्न होकर हम लोगोंका आदर सत्कारकर हम लोगोंसे विशेष प्रेम करेंगे ॥ ४० ॥ इसप्रकार कितने ही पुरुष अंतःकरणमें क्षोभित होते हुये भी मनको धैर्य देते हुये व्याकुल नहीं हुये थे और कितने ही पुरुष आत्माको धैर्य देते हुये भी उस अवस्थामें रह नहीं सके थे ॥ ४१ ॥ कितने ही महा अभिमानी लोग इतना क्लेश सहन करनेपर भी वहां ही रहनेकेलिये तैयार हुये थे, यद्यपि वे निर्बल होकर जमीनपर पड गये थे तथापि वहां पडे हुये भी भगवानके चरणकमलोंका ही स्मरण कर रहे थे ॥ ४२ ॥ इसप्रकार उन राजा लोगोंने अनेकप्रकारके भाषण और अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प किये, तथा वे तपश्चरणके क्लेशसे विरक्त होकर जीविकाके उपाय सोचने लगे ॥ ४३ ॥ कितने ही राजा लोगोंने अशक्त होकर भगवानके मुखके सामने अपना मुख करलिया और कितनों ही ने लज्जावश अपना मुख पीछेकी ओर फेर लिया

र्ति ॥ ४४ ॥ अनापृछ्य गुरुं केचित्केचिदापृछ्य योगिनं । परीत्य प्रणताः प्राणयात्रायां मतिमादधुः ॥ ४५ ॥ केचित्त्वमेव शरणं नान्या गतिरिहास्ति नः । इति ब्रुवाणा विद्राणाः प्राणत्राणे मतिं व्यधुः ॥ ४६ ॥ अपत्रपिष्णवः केचिद्वेपमानप्रतीकका । गुरोः पराङ्मुखीभूय जाता व्रतपराङ्मुखाः ॥ ४७ ॥ पादयोः पतिताः केचित्परित्रायस्व नः प्रभो । क्षुत्क्षामांगान्क्षमस्वेति ब्रुवंतोंतर्हिता गुरोः ॥ ४८ ॥ अहो किमृषयो भग्ना महर्षेर्गंतुमक्षमाः । पदवीं तामनालीढामन्यैः सामान्यमर्त्यकैः ॥ ४९ ॥ किं महादंतिनो भारं निर्वोढुं कलभाः क्षमः । पुंगवैर्वा भरं कृष्टं कर्षेयुः किमु दम्यकाः ॥ ५० ॥

इसप्रकार धीरे २ स्खलित गतिसे वे लोग जाने लगे ॥ ४४ ॥ कितने ही राजा लोग भगवान वृषभदेवको पूछकर और कितने ही उन्हें विना पूछे ही उनकी प्रदक्षिणा देकर तथा उन्हें नमस्कार कर अपने प्राणोंकी रक्षा करनेकेलिये उपाय करने लगे ॥ ४५ ॥ हे भगवन्! आप ही हम लोगोंको शरण हैं, इस संसारमें हमारी अन्य कोई गति नहीं है' यही कहकर भागते हुये कितने ही लोग अपने प्राणोंकी रक्षा करनेका उपाय सोच रहे थे ॥ ४६ ॥ कितने ही लज्जावान पुरुष थर थर कांपते हुये भगवानसे परान्मुख होकर व्रतोंसे परान्मुख होगये थे ॥ ४७ ॥ कितने ही लोग भगवानके चरणकमलपर पड़कर कह रहे थे कि हे प्रभो भूखसे हम लोगोंका शरीर अब बहुत कृश होगया है अब हम लोगोंको क्षमा कीजिये, हमारी रक्षा कीजिये, ऐसे कहते हुये ही वे लोग वहांसे चले गये थे ॥ ४८ ॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्! जिसे अन्य साधारण मनुष्य स्पर्श भी नहीं कर सकते ऐसे उस भगवानके मार्गपर चलनेकेलिये असमर्थ होकर वे सब खोटे ऋषि तपश्चरणसे भ्रष्ट हो गये थे ॥ ४९ ॥ सो ठीक ही है क्योंकि क्या एक बडे हाथीका बोझ एक हाथीका बच्चा धारण कर सकता है? अथवा एक बडे बैलके द्वारा ले जाने योग्य बोझको क्या एक छोटा बछडा लेजा सकता है॥ ५० ॥ तदनंतर भूख प्यास आदि परीषहोंसे भ्रष्ट होकर वे लोग फल लानेके लिये उस बनके प्रदेशोंमें फैलनेलगे और प्यास बुझानेके लिये तालावपर दौडने लगे ॥ ५१ ॥ भूखे प्यासे उन लोगोंको अपने हाथसे

ततः परीषहैर्भग्नाः फलान्याहर्तुमिच्छवः । प्रसस्रुर्वनखंडेषु सरःसु च पिपासिताः ॥ ५१ ॥ फलेग्रहीनिमान्दृष्ट्वा पिपासूंश्च स्वयंग्रहैः । न्यषेधन्मैवमै- हिष्वमिति तान्वनदेवताः ५२ ॥ इदं रूपमदीनानामर्हतां चक्रिणामपि । निषेव्यं कातरत्वस्य पदं माकार्ष्ट बालिशाः ॥ ५३ ॥ इति तद्वचनाद्भीता- स्तद्रूपेण तथेहितुं । नानाविधानिमान्वेषान् जगृहुर्दीनचेष्टिताः ॥ ५४ ॥ केचिद्वल्कलिनो भूत्वा फलान्यादन्पपुः पयः । परिधाय परे जीर्णं कौपीनं चक्रुरीप्सितं ॥ ५५ ॥ अपरे भस्मनोद्गुंठ्य स्वान्देहान् जटिनोऽभवन् । एकदंडधराः केचित्केचिच्चासंस्त्रिदंडिनः ॥ ५६ ॥ प्राणैरार्त्तास्तदेत्यादिवेषैर्वृतिरे

ही फल और पानी ग्रहण करते हुये देखकर उस बनके देवताओंने उन लोगोंसे मना किया और कहा कि तुम लोग ऐसा मत करो ॥ ५२ ॥ अरे मूर्ख हो यह तुम्हारा दीक्षा ग्रहण किया हुआ दिगंबर अवस्थाका रूप सर्वश्रेष्ठ ऐसे अरहंत चक्रवर्ती आदि लोगोंके धारण करने योग्य है । तुम लोग इस अवस्थाको धारणकर ऐसे कातर मत बनो अर्थात् दिगंबर अवस्था धारणकर फल मत तोडो और अप्रासुक पानी मत पीओ, क्योंकि ऐसा करना इस वेशमें शोभा नहीं देता ॥ ५३ ॥ बन देवताके ये बचन सुनकर वे ऋषिलोग फल तोडना तथा अप्रासुक तालावका पानी पीना आदि कामोंके करनेसे डर गये थे और उन नीच दरिद्री लोगोंने नीचे लिखे हुये अनेक प्रकारके वेष धारण कर लिये थे ॥ ५४ ॥ उनमेंसे कितने ही लोगोंने पेडोंकी छाल पहनकर फल खाना और पानी पीना प्रारंभ कर दिया था और अन्य कितने ही लोगोंने एक फटीसी लंगोटी पहनकर अपनी इच्छानुसार काम करना प्रारंभ कर दिया था ॥५५॥ अन्य कितने ही लोगोंने अपने सब शरीरपर भस्म लगा ली थी तथा जटायें बढा ली थीं, कितने ही एक दंड धारण कर दंडी बन गये थे कितने ही तीनदंड धारण कर त्रिदंडी बनगये थे ॥ ५६ ॥ इसप्रकार प्राणोंसे पीडित हुये वे लोग ऊपर लिखे हुये अनेक बेष धारणकर उस बनके वृक्षोंकी छाल, स्वच्छजल और कंद मूल आदि खाने पीने और पहननेकी चीजोंसे बहुत दिनतक अपना जीवन निर्वाह करते रहे थे ॥ ५७ ॥ वे लोग महाराज भरतसे

चिरं । वन्यैः काशिपुभिः स्वच्छैर्जलैः कंदादिभिश्च ते ॥ ५७ ॥ भरताद्बिभ्यतां तेषां देशत्यागः स्वतोभवत् । ततस्ते वनमाश्रित्य तस्थुस्तत्र कृतोटजाः ॥ ५८ ॥ तदासंस्तापसाः पूर्वं परिव्राजश्च केचन । पाषंडिनां ते प्रथमे बभूवुर्मोहदूषिताः ॥५९॥ पुष्पोपहारैः सजलैर्भर्तुः पादावयक्षत । न देवतांतरं तेषामासन्मुक्त्वा स्वयंभुवं ॥ ६० ॥ मरीचिश्च गुरोर्नप्ता परिव्राड्भूयमास्थितः । मिथ्यात्ववृद्धिमकरोदपसिद्धांतभाषितैः ॥ ६१ ॥ तदुपज्ञमभूद्योगशास्त्रं तंत्रं च कापिलं । येनायं मोहितो लोकः सम्यग्ज्ञानपराङ्मुखः ॥ ६२ ॥ इति तेषु तथाभूतां वृत्तिमासेदिवत्सु सः । तपस्यन्वीव्रलोपेतस्तथैवास्थान्महामुनिः ॥ ६३ ॥ स मेरुरिव निष्कंपः सोऽक्षोभ्यो जलराशिवत् । स वायुरिव निःसंगोनिर्लेपोंबरवत्प्रभुः ॥ ६४ ॥ तपस्तापेन तीव्रेण देहोस्य

डरकर ही बनमें रहते थे अर्थात् समझते थे कि यदि नगरमें जायंगे तो भरत कुछ न कुछ दुःख देंगे या निकाल देंगे, इसलिये उनके देशका त्याग स्वतः हो गया था और वे पत्तोंके छोटे २ झोंपड़े बनाकर उसी बनमें निवास करते थे ॥ ५८ वे लोग पहिलेसे ही पाखंडी तपस्वी थे परंतु उनमेंसे भी कितनेही वदको माननेवाले परिव्राज वा सन्यासी हो गये थे और वे मोहनीय कर्मके उदयसे दूषित होकर पाखंडियोंमें मुख्य माने जाते थे ॥ ५९ ॥ वे लोग जल और पुष्पोंसे भगवानके चरणकमलोंकी पूजा करते थे। स्वयंभू भगवान् वृषभदेवके सिवाय उनके अन्य कोई देवता नहीं था ॥ ६० ॥ मरीचि नामका एक भगवानका पोता (भरतका पुत्र) था वह भी सन्यासी हो गया था, उसने अनेक मिथ्या शास्त्रोंका उपदेश देकर मिथ्यात्वकी खूब वृद्धि की थी ॥ ६१ ॥ उसके कहे हुये योगशास्त्र (यौगिक वा नैयायिक) और सांख्यशास्त्र आदि शास्त्र थे, जिनसे मोहित होकर यह जीव सम्यग्ज्ञानसे परान्मुख हो जाता है ॥ ६२ ॥ इसप्रकार वे तपस्वी लोग ऊपर लिखे हुये अनेक प्रकारके मार्ग धारणकर निवास करते थे और बुद्धिरूपी बलको धारण करते हुये महामुनि भगवान वृषभदेव उसीप्रकार तपश्चरण करते हुये वहीं विराजमान थे ॥ ६३ ॥ वे भगवान मेरुपर्वतके समान निष्कंप थे, समुद्रके समान क्षोभरहित थे, वायुके समान परिग्रहरहित थे और आकाशके समान लेपरहित निर्मल थे ॥ ६४ ॥ जिसप्रकार तपा-

व्युतत्तरां । निष्टप्तस्य सुवर्णस्य ननु छायांतरं भवेत् ॥ ६५ ॥ गुप्तयो गुप्तिरस्यासन्नंगत्राणं च संयमः । गुणाश्च सैनिका जाताः कर्मशत्रुं जिगीषतः ॥ ६६ ॥ तपोनशनमाद्यं स्यात् द्वितीयमवमोदरं । तृतीयं वृत्तिसंख्यानं रसत्यागश्चतुर्थकं ॥ ६७ ॥ पंचमं तनुसंतापो विविक्तशयनासनं । षष्ठमित्यस्य बाह्यानि तपांस्यासन्महाधृतेः ॥ ६८ ॥ प्रायश्चित्तादिभेदेन षोढैवाभ्यंतरं तपः । तत्रास्य ध्यान एवासीत्परं तात्पर्यमीशितुः ॥ ६९ ॥ व्रतानि पंच पंचैव समित्याख्याः प्रयत्नकाः । पंचैवेंद्रियसंरोधाः षोढावश्यकमिष्यते ॥ ७० ॥ केशलोचश्च भूशय्या दंताधावनमेव च । अचेलत्वमथास्नानं स्थिति

ये हुये सुवर्णकी एक अद्भुत शोभा हो जाती है उसीप्रकार तीव्र तपश्चरणरूपी तापसे भगवानका शरीर भी बहुत दैदीप्यमान हो गया था ॥ ६५ कर्मरूप शत्रुको जीतनेकेलिये भगवान वृषभदेवकी मनोगुप्ति बचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीनों गुप्ति ही रक्षा करनेवाले किलेके समान थीं, संयम शरीरकी रक्षा करनेवाले कवचके समान था और आगे कहे हुये गुण ही सेनाके समान थे ॥६६॥ पहिला अनशन अर्थात् उपवास, दूसरा अवमोदर्य अर्थात् थोडा भोजन लेना, तीसरा वृत्तिसंख्यान अर्थात् नियमित पदार्थ ग्रहण करना, चौथा रसपरित्याग अर्थात् छहों रसोंका अथवा एक, दो, चार रसोंका त्याग करना, पांचवां कायक्लेश करना और छट्ठा विविक्तशय्यासन अर्थात् एकांतमें सोना बैठना, इसप्रकार यह छह प्रकारका बाह्य तप भी महा धैर्य धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवके था ॥ ६७-६८ ॥ प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकारका अतरंग तप है सो इनमें भगवान वृषभदेव ध्यानमें ही अपना मुख्य अभिप्राय रखते थे अर्थात् प्रायः ध्यानमें ही मग्न रहते थे ॥ ६९ ॥ उन भगवान वृषभदेवके अहिंसा महाव्रत सत्यमहाव्रत, अचौर्य महाव्रत ब्रह्मचर्य महाव्रत, और परिग्रहत्याग महाव्रत ये पांच व्रत थे, बडे प्रयत्नसे पालन की हुई ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति, और प्रतिष्ठापनसमिति, ये पांच समितियां थीं, वे पांचों इंद्रियोंका निग्रह करते थे, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, सामायिक, बंदना, स्तुति और स्वाध्याय इन छहों आवश्यकोंका पालन करते थे, केशलोंच करते थे, भू-

भोजनमप्यदः ॥ ७१ ॥ एकभुक्तं च तस्यासन्गुणा मौलाः पदातयः। तेष्वस्य महती शुद्धिरभूत् ध्यानविशुद्धितः ॥ ७२ ॥ महानशनमस्यासीत्तपः षण्मासगोचरं। शरीरोपचयस्त्विद्धस्तथैवास्थादहो धृतिः ॥ ७३ ॥ नानाशुषोप्यभूद्भर्तुः स्वल्पोप्यंगे परिश्रमः। निर्माणातिशयः कोपि दिव्यः स हि महात्मनः ॥ ७४ ॥ संस्कारविरहात्केशा जटीभूतास्तदा विभोः। नूनं तेपि तपःक्लेशमनुसोढुं तथा स्थिताः ॥ ७५ ॥ मुनेर्मूर्ध्नि जटा दूरं प्रसस्रुः पवनोद्धताः। ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिकाः ॥ ७६ तत्तपोतिशयात्तस्मिन्कानने भूत्परा द्युतिः। नक्तं दिवा च बालार्कतेजसेवाततांतिके ॥ ७७ ॥ शाखाः पुष्पफलानम्राः शाखिनां तत्र कानने। बभुर्भगवतः पादौ नमंत्य इव भक्तितः ॥ ७८ ॥ तस्मिन्वने वनलता भृंगसंगीतनिःस्वनैः।

मिपर सोते थे, दतौन कभी नहीं करतेथे लंगोटी आदि वस्त्र नहीं पहनते थे, स्नान नहीं करते थे, खडे होकर भोजन लेते थे, और दिनमें एकबार भोजन लेते थे, इसप्रकार ये अट्ठाईस मूलगुण ही भगवानके मुख्य गुण थे जो कि मुख्य पदातियोंके (पैदल चलनेवाली सेनाके) समान थे। चूंकि भगवानका ध्यान बहुत विशुद्ध था इसलिये ध्यानकी विशुद्धि होनेसे भगवानके ये मूलगुण भी बहुत विशुद्ध थे ॥ ७०-७१-७२ ॥ भगवानने छह महीनेका महा अनशन तप किया था तथापि यह बडा आश्चर्य है कि उनके शरीरकी अवस्था और कांति ज्योंकी त्यों बनी हुई थी ॥ ७३ ॥ यद्यपि भगवानके महा अनशन तप था तथापि उनके शरीरको बिलकुल परिश्रम नहीं होता था। भगवान वृषभदेवके निर्माण नाम कर्मका यह ऐसा ही कोई दिव्य अतिशय था ॥ ७४ ॥ उससमय भगवानके केश बिलकुल संस्काररहित थे इसलिये वे जटा सरीखे हो गये थे और ऐसे जान पडते थे मानों वे तपश्चरणका क्लेश सहन करनेकेलिये ही ऐसे कठिन हो गये हों ॥ ७५ ॥ वे भगवानके मस्तकपरकी जटायें वायुसे उडकर बहुत दूर-तक फैल गईं थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों ध्यानरूपी अग्निसे तपाये हुये जीवरूपी सुवर्णसे निकली हुई कालिमा ही हो ॥७६॥ भगवानके उस तपके आतिशयसे विस्तीर्ण और लंबे चौडे उस बनमें रात दिन ऐसी उत्तम कांति रहती थी जैसी कि उदय होते हुये सूर्यकी कांति होती है ॥ ७७ ॥ उस बन

उपवीणितमातेनुरिव भक्त्या जगद्गुरोः ॥ ७९ ॥ पर्यंतवर्तिनः क्ष्माजा गलद्भिः कुसुमैः स्वयं । पुष्पोपहारमातन्वान्निव भक्त्यास्य पादयोः ॥ ८० ॥ मृगशावाः पदोपांते स्वैरमध्यासिता मुनेः । तदाश्रमस्य शांतत्वमाचख्युः सामिनिद्रिताः ॥ ८१ ॥ मृगारित्वं समुत्सृज्य सिंहास्संहतवृत्तयः । बभूवुर्गजयूथेन माहात्म्यं तद्धि योगजं ॥ ८२ ॥ कंटकालग्नवालाग्राश्चमरीश्च मरीमृजाः । नखरैः स्वैरहो व्याघ्राः सानुकंपं व्यमोचयन् ॥ ८३ ॥ प्रस्नुवाना महाव्याघ्रीरुपेत्य मृगशावकाः । स्वजनन्यास्थया स्वैरं पीत्वा स्म सुखमासते ॥ ८४ ॥ पदयोरस्य वन्येभाः समुत्फुल्लं सरोरुहं । ढौकयामासुरानीय तपःश-

---

में वृक्षोंकी सब शाखायें फल और पुष्पोंसे नम्र हो रही थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों भक्ति पूर्वक भगवानके चरणकमलोंको नमस्कार ही कर रही हों ॥ ७८ ॥ जिस बनमें भगवान तपश्चरण कर रहे थे उसी बनमें अनेक प्रकारकी बनकी लताओंपर भ्रमर मधुर शब्दोंसे गुंजार कर रहे थे जिससे वे बनलतायें ऐसी जान पडती थीं मानों भक्ति पूर्वक वीणा बजाकर जगतगुरु भगवान वृषभदेवका यश ही गा रही हों ॥ ७९ ॥ भगवानके समीपवर्ती इधर उधरके वृक्षोंसे अपने आप जो फूल गिर रहे थे उनसे वे वृक्ष ऐसे जान पडते थे मानों भक्तिपूर्वक भगवानके चरणकमलोंकी पुष्पोंसे पूजा ही कर रहे हों ॥८०॥ भगवानके चरणकमलोंके समीप ही हिरणोंके बच्चे अपनी इच्छानुमार कुछ२ निद्रा लेते हुये अर्थात् निद्रासे थोडीसी आंखें खोले हुये बैठे थे और वे भगवानके आश्रमकी शांतता दिखला रहे थे ॥ ८१ ॥ सिंहोंने हरिण आदि जीवोंका मारना छोड दिया था और वे हाथियोंके समूहमें एक साथ मिलकर रहते थे । यह मब भगवान वृषभदेवके ध्यानकी महिमा ही समझनी चाहिये ॥ ८२ ॥ अहा? देखो जिनके बालोंकी नोंकपर कांटे लगगये हैं और जो बार २ उन्हें घिसकर छुडा रहीं हैं ऐसी चमरी गायोंके उन कांटोंको उस बनके बाघ बडी दयाके साथ अपने नखोंसे छुडा रहे थे ॥ ८३ ॥ हरिणके बच्चे दूध देती हुई बाघिनीके समीप जाकर और उसे अपनी माता समझकर इच्छानुसार उसका दूध पीकर सुखी होते थे ॥८४॥ अहा भगवानके तपश्चरणकी इतनी बडी शक्ति थी कि बनके हाथी भी फूले हुये कमल लाते थे और

क्रिहो परा ॥ ८५ ॥ बभौ राजीवमारक्तं करिणां पुष्कराश्रितं । पुष्कराश्रियमाम्रेडीकुर्वद्भर्तुरुपासने ॥ ८६ ॥ प्रशमस्य विभोरंगाद्विसर्पंत इवांशुकाः । प्रसह्य वशमानिन्युरवशानपि तान्मृगान् ॥ ८७ ॥ अनाशुषोऽपि नास्यासीत्क्षुद्बाधा भुवनेशिनः । संतोषभावनोत्कर्षाज्जियेत् गृद्धिमगृध्नुता ॥ ८८ ॥ चलंति स्म तदेंद्राणामासनान्यस्य योगतः । चित्रं हि महतां धैर्यं जगदाकंपकारणं ॥ ८९ ॥ इति षण्मासानिर्वर्त्यप्रतिमायोगमीयुषः । स कालः क्षणवद्भर्तुरगमद्धैर्यशालिनः ॥ ९० अत्रांतरे किलायाता कुमारौ सुकुमारकौ । सूनू कच्छमहाकच्छनृपयोर्निकटं गुरोः ॥ ९१ ॥ नमिश्च विनमिश्चेति

भगवानके चरणकमलोंपर चढाते थे ॥ ८५ ॥ जिससमय वे हाथी अपनी सूंडमें लिये हुये लाल कमलोंको भगवानके चरणकमलपर चढाते थे उस समय भगवानके लालचरणकमलोंके समीप रक्खे हुये वे लालकमल ऐसे सुशोभित होते थे मानों सूंडमें लगे हुये लाल कमलोंकी शोभा ही दूनी तिगुनी होगई हो ॥ ८६ ॥ जो सिंह आदि क्रूर पशु कभी किसीके वश नहीं होते थे वे भगवानके समीप आकर ऐसे वश होगये थे मानों भगवानके शरीरसे फैलती हुई शांतताकी किरणोंने हठ पूर्वक ही वश कर लिये हों ॥ ८७ ॥ यद्यपि भगवान बहुत दिनसे उपवास कर रहे थे तथापि उन्हें भूखका कुछ दुख नहीं होता था। सो ठीक ही है संतोषकी अति उत्तम भावनासे जो अनिच्छा (इच्छाका न होना) उत्पन्न होती है वह समस्त इच्छाओंको जीत लेती है ॥ ८८ ॥ उस समय भगवानके उस ध्यानके माहात्म्यसे इंद्रोंके आसन भी कंपायमान हो गये थे । देखो ! यह भी एक कैसा विचित्र आश्चर्य है कि महापुरुषोंका धैर्य भी जगतको कंपायमान करनेका कारण होजाता है ॥ ८९ ॥ इसप्रकार छह महीनेमें समाप्त होनेवाले प्रतिमा योगको (खडे होकर धारण की हुई ध्यानस्थ मुद्राको) धारण करनेवाले तथा अत्यंत धीर वीर भगवान वृषभदेवका वह इतना लंबा समय क्षणभरके समान व्यतीत हो गया था ॥ ९० ॥ इसी बीचके समयमें महाराज कच्छ और महाकच्छके अति सुकुमार लडके भगवानके समीप आये थे, वे दोनों ही कुमार तरुण थे, नमि तथा विनमि उनका नाम था और वे दोनों ही

स्तिमितस्याब्धेर्न्यक्कुर्वाणं गभीरतां ॥ १०३ ॥ परीषहमहावातैरक्षोभ्यमजलाशयं । दोषयादोभिरस्पृष्टमपूर्वमिव वारिधिं ॥ १०४ ॥ सादरं च समासाद्य पश्यन्भगवतो वपुः । विसिष्मिये तपोलक्ष्म्या परिरब्धमधीद्धया ॥ १०५ ॥ परीत्य प्रणतो भक्त्या स्तुत्वा च स जगद्गुरुं । कुमाराविति सोपायमवदत्संवृताकृतिः ॥ १०६ ॥ युवां युवानौ दृश्येते सायुधौ विकृताकृती । तपोवनं च पश्यामि प्रशांतमिदमूर्जितं ॥ १०७ ॥ केदं तपोवनं शांतं क्व

भगवानकी भी उपासना करते थे, अथवा महासत्त्व अर्थात् भारी धीर वीरता ही भगवानकी उपासना करती थी, अथवा जिसप्रकार देव विद्याधर आदि बडे २ जीव मेरुपर्वतकी उपासना करते हैं उसीप्रकार वे देव विद्याधर आदि बडे पुरुष भगवानकी भी उपासना करते थे और मेरुपर्वत जिसप्रकार क्षमा अर्थात् पृथ्वीकी अधिकता धारण करता है उसीप्रकार भगवान भी क्षमा आदि अनेक गुणोंके समूहको धारण करते थे ॥ १०२ ॥ अथवा वे भगवान उससमय वायु रहित निश्चल समुद्रकी गंभीरताको भी तिरस्कार कर रहे थे क्योंकि उन्होंने अपना आत्मा ध्यानमें भीतर स्थापन करलिया था और उनकी चेष्टायें बहुत ही गंभीर थीं, भावार्थ—वे बहुत ही गंभीर थे, चंचलपना उनमें बिलकुल नहीं था ॥ १०३ ॥ अथवा वे भगवान एक अपूर्व समुद्रके समान जान पडते थे । क्योंकि समुद्र वायुसे क्षुब्ध हो जाता है परंतु वे परीषहरूपी महावायुसे भी कभी क्षुब्ध नहीं होते थे, समुद्र जलाशय अर्थात् जलसे भराहुआ अथवा ल और ड को अभेद मानकर जडाशय अर्थात् जडरूप होता है परंतु वे भगवान जडाशय अर्थात् अज्ञानी नहीं थे पूर्ण ज्ञानवान थे और समुद्र दुष्ट जलचर जीवोंसे भरा होता है परंतु भगवानमें दोषरूपी जलचर जीवोंका स्पर्श भी नहीं था ॥१०४॥ इसप्रकार वर्णन किये हुये भगवान वृषभदेवके समीप वह धरणेंद्र बडे आदरसे पहुंचा और बहुत बढती हुई तपश्चरणरूपी लक्ष्मीसे आलिंगन कियेहुये उस भगवानके शरीरको देखकर उसे बडा आश्चर्य हुआ ॥१०५॥ प्रथम ही उसने बडी भक्तिसे जगतगुरु भगवान वृषभदेवकी प्रदक्षिणा दी, उन्हें नमस्कार किया, उनकी स्तुतिकी और फिर अपना वेश छिपाकर बडी यक्तिके साथ उन

युवां भीषणाकृती । प्रकाशतमसोरेष संगमो नन्वसंगतः ॥ १०८ ॥ अहो निंद्यतरा भोगा यैरस्थानेऽपि योजयेत् । प्रार्थनामर्थिनां का वा युक्तायुक्तविचारणा ॥ १०९ ॥ प्रवांछंतो युवां भोगान्देवोऽयं भोगनिस्पृहः । तद्वां शिलातलेंभोजवांछा चित्रीयतेऽद्य नः ॥ ११० ॥ सस्पृहः स्वयमन्यांश्च सस्पृहानेव मन्यते । को नाम स्पृहयेद्धीमान्भोगान्पर्यंततापिनः ॥ १११ ॥ आपातमात्ररम्याणां भोगानां वशगः पुमान् । महानप्यर्थिता दोषात्सद्यस्तृणलघुर्भवेत् ॥ ११२ ॥ युवां चेद्भोगकाम्यंतौ व्रजेतं भरतांतिकं । स हि साम्राज्यधौरेयो वर्त्तते नृपपुंगवः ॥ ११३ ॥ भगवांस्त्यक्तरागादिसंगो देहेपि

दोनों कुमारोंसे कहने लगा ॥ १०६ ॥ कि हे तरुण पुरुष हो मुझे तुम दोनों ही हथियार बांधे हुये भयंकर आकारके दिखाई दे रहे हो और यह अनेक फल फूलोंसे भरा हुआ तपोबन बडा ही शांत दिखलाई दे रहा है ॥ १०७ ॥ कहां तो यह शांत तपोबन और कहां भयंकर आकारवाले तुम दोनों, प्रकाश और अंधकारके समान तुम दोनोंका इस बनमें आकर समागम होना क्या अनुचित नहीं है? ॥ १०८ ॥ अहा ! देखो संसारमें ये भोग बडे ही निंद्य हैं, ये भोग मनुष्योंको अयोग्य स्थानमें भी प्रार्थना कराते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि मांगनेवालोंको योग्य अयोग्यका विचार कहां रह सकता है ॥ १०९ ॥ देखो ! ये भगवान वृषभदेव तो भोगोंसे निस्पृह हैं, और तुम लोग इनसे भोगोपभोगोंकी इच्छा कर रहे हो, सो तुम दोनोंकी पत्थरकी शिलासे कमलकी इच्छा करना आज हम लोगोंको बडा ही आश्चर्य कर रही है ॥ ११० ॥ संसारमें जो भोगोपभोगोंकी इच्छा करनेवाले मनुष्य हैं वे अन्य लोगोंको भी अपने समान ही समझते हैं परंतु तो भी अंतमें संताप देनेवाले इन भोगोंकी इच्छा भला कौन बुद्धिमान करता है ॥ १११ ॥ केवल प्रारंभमें ही मनोहर दिखाई देनेवाले इन भोगोंके वश हुआ यह प्राणी चाहे जितना बडा क्यों न हो परंतु वह प्रार्थना करने वा मांगनेरूप दोषसे बहुत शीघ्र तृणके समान तुच्छ हो जाता है ॥११२॥ यदि तुम दोनों भोगोपभोगोंकी सामग्री चाहते हो तो भरतके समीप जाओ, क्योंकि अब वही समस्त साम्राज्यका स्वामी है और वही सब राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ११३ ॥ भगवानने तो रागद्वेष

निस्पृहः । कुतो वामधुना दद्याद्भोगान्भोगस्पृहावतोः ॥११४॥ ततोऽमुमुपरुध्यैनं देवं मुक्त्यर्थमुद्यतं । भुक्तिकामौ युवां यातं भरतं पर्युपासितुं ॥११५॥ इति तद्वचनस्यांते कुमारौ प्रत्यवोचतां । परकार्येषु वः कास्था तूष्णीं यात महाधियः ॥ ११६ ॥ यदत्र युक्तमन्यद्वा जानीमस्तद्द्वयं वयं । अनभिज्ञा भवंतोत्र साधयंतु यथेहितं ॥ ११७ ॥ वर्षीयांसो यवीयांस इति भेदो वयस्कृतः । न बोधवृद्धिर्वार्द्धक्ये न यून्यपचयो धियः ॥ ११८ ॥ वयसः प-

आदि अंतरंग बाह्य सब परिग्रहका त्याग कर दिया है तथा अपने शरीरसे भी ममत्व छोड दिया है, भला ये अब भोगोपभोगोंकी इच्छा करनेवाले तुम दोनोंको भोगोपभोगकी सामग्री कैसे दे सकते हैं ॥ ११४ ॥ इसलिये इन भगवानको घेरनेसे अब कुछ लाभ नहीं है, अब तुम इनके ध्यानमें व्यर्थ विघ्न मत करो, क्योंकि ये तो केवल मोक्ष जानेकेलिये प्रयत्न कर रहे हैं, यदि तुम्हें भोगोपभोगोंकी इच्छा है तो तुम प्रार्थना करनेकेलिये भरतके समीप जाओ ॥ ११५ ॥ इसप्रकार जब वह धरणेंद्र कह चुका तब वे दोनों ही कुमार उसे प्रत्युत्तर देने लगे और कहने लगे कि दूसरेका काम करनेकेलिये आप क्यों प्रयत्न कर रहे हैं, यदि हम बालक (मूर्ख) हैं तो आप तो बडे बुद्धिमान हैं इसलिये आप चुपचाप यहांसे चले जाइये, हमारे बीचमें बोलनेका आपको कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ ११६ ॥ क्योंकि इस विषयमें जो योग्य अथवा अयोग्य है वह सब हम जानते हैं, यदि हम मूर्ख हैं तो सही, आपको क्या प्रयोजन, आप अपनी इच्छानुसार अपना काम सिद्ध कीजिये ॥ ११७ ॥ यह वृद्ध है और यह बालक है यह भेद तो केवल आयुके संबंधसे माना जाता है, परंतु वृद्धावस्थामें न तो कुछ ज्ञानकी वृद्धि होती है और न बालक अवस्थामें ज्ञान कुछ घटता रहता है। किंतु संसारमें इसके प्रतिकूल ही दिखाई पडता है क्योंकि इस संसारमें ज्यों ज्यों मनुष्यकी आयु अधिक पकती जाती है अर्थात् वृद्धावस्थामें ज्यों ज्यों ढलती जाती है त्यों २ यह बुद्धि प्रायः अधिक मंद होती चली जाती है और प्रायः पुण्यवान पुरुषोंकी बालक अवस्थामें ही यह बुद्धि बराबर बढती रहती है ॥ ११८-११९ ॥ न तो मनुष्योंकी यह नई तरुण

रिणामेन धियः प्रायेण मंदिमा । कृतात्मनां वयस्यादौ ननु मेधा विवर्द्धते ॥ ११९ ॥ नवं वयो न दोषाय न गुणाय दशांतरं । नवोपींदुर्जनाल्हादी दहत्यग्निर्जरन्नपि ॥ १२० ॥ अपृष्टः कार्यमाचष्टे यः स धृष्टतरो मतः । न विपृच्छिषिता यूयमावाभ्यां कार्यमीदृशं ॥ १२१ ॥ अपृष्टकार्यनिर्देशैर्व्य-लीकानिष्टचाटुभिः । छलयंति खला लोकानसद्वृत्ता भवद्विधाः ॥ १२२ ॥ नामृष्टभाषिणी जिह्वा चेष्टा नानिष्टकारिणी । नान्योपघातपरुषा स्मृतिः स्वप्नेपि धीमतां ॥ १२३ ॥ विदिताखिलवेद्यानां नोपदेश्यो भवादृशां । न्यायोस्मदादिभिः संतो यतो न्यायैकजीविकाः ॥ १२४ ॥ शांतो वयोऽनुरूपोयं

अवस्था दोष उत्पन्न करनेवाली है और न वृद्धावस्था गुण उत्पन्न करनेवाली है। क्योंकि चंद्रमा नवीन बालक अर्थात् द्वितियाका ही क्यों न हो तथापि वह लोगोंको आनंदही बढाता है और अग्नि चाहे वृद्ध क्यों न हो अर्थात् वह बुझनेवाली ही क्यों न हो तथापि वह लोगोंको जलाती ही है? इसलिये नयापन और पुरानापन व्यर्थ है ॥ १२० ॥ जो मनुष्य बिना पूछे ही किसी कामको कहता है वह संसारमें अत्यंत धृष्ट (धीठ) समझा जाता है। हम दोनों ही इस प्रकारका यह कार्य करनेकेलिये आपसे कुछ पूछना नहीं चाहाते फिर आप क्यों नाहक हमारे इस काममें पडते हैं ॥ १२१ ॥ संसारमें आप सरीखे निंद्य आचरणोंको धारण करनेवाले दुष्ट पुरुष बिना पूछे कार्योंका उपदेश देकर तथा सर्वथा असत्य और अनिष्ट ऐसे मीठे २ बचन कहकर लोगोंको ठगा करते हैं ॥ १२२ ॥ परंतु जो बुद्धिमान हैं उनकी जिव्हा कभी स्वप्नमें भी अशुद्ध भाषण नहीं करती, उनकी चेष्टा कभी स्वप्नमें भी किसीका अनिष्ट नहीं करती और उनका स्मरण भी कभी स्वप्नमें भी दूसरेके नाश करनेकेलिये कठिनता धारण नहीं करता। भावार्थ—वे मन बचन कायसे सर्वथा शुद्ध रहते हैं ॥ १२३ ॥ हम बालक लोग आप ऐसे संपूर्ण तत्त्व जाननेवालोंको धर्मशास्त्र नीति आदिका कुछ उपदेश देने योग्य नहीं हैं क्योंकि सज्जन पुरुष न्यायसे ही अपनी आजीविकाका उपाय करनेवाले होते हैं ॥ १२४ ॥ आपकी आयुको सुशोभित करनेवाला यह वेश बहुत शांत है, आपकी आकृति भी सौम्य है और आपके बचन भी बहुत साफ त-

वेष: सौम्येयमाकृति: । वच: प्रसन्नमूर्जस्वि व्याचष्टे व: प्रबुद्धतां ॥ १२५ ॥ बहि:स्फुरदिदमप्यंतर्गूढं तेजो जनातिगं । महानुभावतां वक्ति वपुरप्राकृतं च व: ॥ १२६ ॥ इत्यभिव्यक्तवैशिष्ट्या भवंतो भद्रशीलका: । कार्येस्मदीये मुह्यंति न विद्म: किं नु कारणं ॥ १२७ ॥ गुरुप्रसादनं श्लाघ्यमाभ्यां फलमीप्सितं । यूयं तत्प्रतिबंधार: परकार्येषु शीतला: ॥ १२८ ॥ परेषां वृद्धिमालोक्य नन्वसूयति दुर्जन: । युष्मादृशां तु महतां सतां प्रत्युत सा मुदे ॥ १२९ ॥ वनेपि वसतो भर्तु: प्रभुत्वं किं परिच्युतं । पादमूले जगद्विश्वं यस्याद्यापि चराचरं ॥ १३० ॥ कल्पानोकहमुत्सृज्य को नामान्यं म-

---

था तेजस्वी हैं और आपके पांडित्यको साफ कह रहे हैं ॥ १२५ ॥ जो अन्य साधारण लोगोंमें न पाया जाय ऐसा आपका भीतर छिपा हुआ अनिर्वचनीय (जो वचनसे न कहा जा सके) तेज बाहर प्रकाशमान हो रहा है तथा आपका यह अद्भुत शरीर भी बहुत उत्तम है, इससे यह साफ प्रगट होता है कि आप कोई बडे पुरुष हैं ॥ १२६ ॥ इसप्रकार यह साफ प्रगट हो रहा है कि आप कोई भद्रपरिणामी विशेष पुरुष हैं परंतु फिर भी आप हमारे कार्यमें भूलते हैं, इसका क्या कारण है सो हम लोग नहीं जान सकते ॥ १२७ ॥ गुरु भगवान वृषभदेवका प्रसन्न करना इस लोक और परलोक दोनों जगह प्रशंसा करने योग्य है और यही हम लोगोंका इच्छानुसार फल है। परंतु आप उसमें विघ्न डाल रहे हैं इसलिये दूसरेके कार्य करनेमें आप बडे ही शीतल अर्थात् उद्योग रहित जान पडते हैं ॥ १२८ ॥ अन्य पुरुषोंके ऐश्वर्यकी वृद्धि देखकर दुष्ट पुरुषोंको ही ईर्ष्या होती है, आप सरीखे सज्जन और महा पुरुषोंको तो दूसरोंकी वृद्धिसे उलटा आनंद होना चाहिये ॥ १२९ ॥ क्या भगवान् वृषभदेव बनमें रहते हैं इससे उनका कुछ प्रभूपना चला गया है ? देखो भगवानके चरणकमलोंके समीप आज भी यह चराचर समस्त जगत विद्यमान है ॥ १३० ॥ आप जो हम लोगोंको भरतके समीप जानेकेलिये कह रहे हैं सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान है कि जो सदा बढनेवाले ऐसे बहुतसे फलोंकी इच्छा करता हुआ भी कल्पवृक्षको छोडकर अन्य साधारण वृक्षकी सेवा करे ॥ १३१ ॥ अथवा रत्नोंकी

हीरुहं । सेवेत पद्मधीरीप्सन्फलं विपुलमूर्जितं ॥ १३१ ॥ महाब्धिमथवा हित्वा रत्नार्थी किमु संश्रयेत् । पल्वलं शुष्कशैवालं शाल्यर्थी वा पलालकं ॥१३२॥ भरतस्य गुरोश्चापि किमु नास्त्यंतरं महत् । गोष्पदस्य समुद्रेण समकक्षत्वमस्ति वा ॥ १३३ ॥ स्वच्छांभःकलिता लोके किं न संति जलाशयाः । चातकस्याग्रहः कोऽपि यद्वांछत्यंबुदात्पयः ॥ १३४ ॥ तदुन्नतेरिदं वित्त वृत्तं यद्विपुलं फलं । वांछंति परमोदारं स्थानमाश्रित्य मानिनः ॥ १३५ ॥ इत्यदीनतरां वाचं श्रुत्वाहींद्रः कुमारयोः । नितरां सोतुषच्चित्ते श्लाघ्यं धैर्यं हि मानिनां ॥१३६॥ अहो महेच्छता यूनोरहो गांभीर्यमेतयोः । अहो गुरौ परा भक्तिरहो श्लाघ्या स्पृहानयोः ॥ १३७ ॥ इति प्रीतस्तदात्मीयं रूपं दिव्यं प्रदर्शयन् । पुनरित्यवदत्प्रीतिलतायाः कुसुमं वचः ॥१३८॥

इच्छा करनेवाला मनुष्य महासागरको छोडकर जिसमें शेवाल (काई) भी सूखी पडी हुई है ऐसे किसी छोटे सरोवरकी सेवा करे, अथवा चांवलोंकी इच्छा करनेवाला डंठलोंकी सेवा करे ॥ १३२ ॥ क्या भरत और भगवान वृषभदेवमें बडा भारी अंतर नहीं है ? क्या गोष्पद (किसी कीचडमें गायके पैरका बना हुआ चिन्ह) समुद्रकी बराबरी कर सकता है ? ॥१३३॥ क्या संसारमें स्वच्छ जलसे भरे हुये नदी सरोवर आदि जलाशय नहीं हैं परंतु तो भी चातक पक्षी उन सबको छोडकर केवल बादलसे ही पानी मांगता है यह क्या उसका कोई अनिर्वचनीय (जो बचनमें न कहा जा सके) आग्रह नहीं है?॥१३४॥ इसलिये अभिमानी पुरुष अतिशय उदार स्थानका आश्रय लेकर बडे २ अनेक फलोंकी इच्छा करते हैं और यह उनका ऐसा आचरण उन्नतिका ही आचरण है ऐसा आप समझें ॥१३५॥ इसप्रकार वह धरणेंद्र नमि और विनमि दोनों कुमारोंके अभिमान जनक वाक्य सुनकर अपने चित्तमें बहुत ही संतुष्ट हुआ, सो ठीक ही है अभिमानी पुरुषोंका धैर्य भी प्रशंसा करने योग्य होता है ॥१३६॥ वह धरणेंद्र मन ही मन इनकी प्रशंसा करनेलगा और कहने लगा कि अहा इन दोनों कुमारोंकी इच्छा कितनी बडी है, इनकी गंभीरता भी कैसी आश्चर्य करनेवाली है, भगवान वृषभदेवमें इनकी भक्ति भी कितनी उत्तम है और इनकी स्पृहा भी कितनी प्रशंसनीय है ॥ १३७ ॥ इसप्रकार प्रसन्न होकर उस धरणेंद्रने अपना दिव्यरूप प्रगट किया और फिर उनसे प्रेमरूपी लताके फूलों

युवां युवजरंतौ स्थस्तुष्टो वां धीरचेष्टितैः । अहं हि धरणो नाम फणिनां पतिरग्रिमः ॥ १३९ ॥ मां वित्तं किंकरं भर्तुः पातालस्वर्गवासिनं । युवयोर्भोगभागित्वं विधातुं समुपागतं ॥ १४० ॥ आदिष्टोस्म्यहमीशेन कुमारौ भाक्तिकाविमौ । भोगैरिष्टैर्नियुंक्ष्वेति द्रुतं तेनागतोस्म्यहं ॥ १४१ ॥ तद्गुत्तिष्ठतमापृच्छ्य भगवंतं जगत्सृजं । युवयोर्भोगमद्याहं दास्यामि गुरुदेशितं ॥ १४२ ॥ इत्यस्य वचनात्प्रीतौ कुमारौ तमत्रोचतां । सत्यं गुरुः प्रसन्नो नौ भोगान्दित्सति वांछितान् ॥ १४३ ॥तद्ब्रूहि धरणाधीश यत्सत्यं मतमीशितुः । गुरोर्मताद्विना भोगा नावयोरभिसंमताः ॥ १४४ ॥ इत्युक्तवंतौ प्रत्याय्य सोपायं फणिनां पतिः । भगवंतं प्रणम्याशु युवानावनयत्समं ॥ १४५ ॥ स ताभ्यां फणिनां भर्त्ता रेजे गगनमुत्पतन् । युतस्तापप्रकाशाभ्यामिव

के समान नीचेलिखे हुये बचन कहने लगा ॥ १३८ ॥ कि हे कुमार हो ! तुम दोनों ही तरुण अवस्था में भी वृद्धके समान हो । तुम्हारे धीर वीर आचरणोंसे मैं बहुत संतुष्ट हुआ हूं, मैं नागकुमार जातिके देवोंका मुख्य स्वामी अर्थात् इंद्र हूं, और धरणेंद्र मेरा नाम है ॥ १३९ ॥ मैं पाताल स्वर्गका रहनेवाला भगवान वृषभदेवका सेवक हूं और तुम लोगोंको भोगोपभोगकी सामग्री देनेकेलिये ही यहां आया हूं ॥ १४० ॥ भगवान वृषभदेवने मुझे आज्ञा दी है कि ' ये कुमार बडे ही भक्त हैं इन्हें इनकी इच्छानुसार भोगोपभोगकी सामग्री दे दो ' इसलिये ही मैं यहां बहुत शीघ्र आया हूं ॥ १४१ ॥ इसलिये तुम दोनों ही जगतगुरु भगवान वृषभदेवसे आज्ञा लेकर उठो। आज मैं तुम्हें भगवानकी बतलाई हुई भोगोपभोगकी सामग्री दूंगा ॥ १४२ ॥ इसप्रकार धरणेंद्रके बचन सुनकर वे दोनों कुमार बडे ही प्रसन्न हुये और कहने लगे कि क्या सचमुच ही भगवान वृषभदेव हमपर प्रसन्न हुये हैं और हमारी इच्छानुसार भोगोपभोगकी सामग्री हमें देंगे? ॥ १४३ ॥ इसलिये हे धरणेंद्र सच कहो कि इस विषयमें भगवानका क्या मत है, क्योंकि भगवानकी संमतिके विना भोगोपभोगकी सामग्री मिलना हमें इष्ट नहीं है ॥ १४४ ॥ इसप्रकार जब उन कुमारोंने कहा तब धरणेंद्रने उन्हें अनेक उपायोंसे विश्वास दिलाया और भगवानको नमस्कार कर शीघ्र ही उन्हें अपने साथ लेगया ॥ १४५ ॥ अनेक ऐश्वर्योंको धारण करनेवाला वह धरणेंद्र

भास्वान्महोदयः ॥ १४६ ॥ बभौ फणिकुमाराभ्यामिव ताभ्यां समन्वितः । प्रश्रयप्रशमाभ्यां वा युक्तो योगीव भोगिराट् ॥ १४७ ॥ स व्योममार्गमुत्पत्य विमानमधिरोप्य तौ । द्राक्प्राप विजयार्द्धाद्रिं भूदेव्या हसितोपमं ॥ १४८ ॥ स्वपूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्य लवणार्णवं । मध्ये भारतवर्षस्य स्थितं तन्मानदंडवत् ॥ १४९ ॥ विराजमानमुत्तुंगैर्नानारत्नांशुचित्रितैः । मुकुटैरिव कूटैः स्वैः स्वैरमारुद्धखांगणैः ॥ १५० ॥ निपतन्निर्झरारावैरापूरितगुहामु-

---

उन दोनों राजकुमारोंके साथ आकाशमें गमन करताहुआ ऐसा सुशोभित होता था मानों प्रताप और प्रकाशके साथ २ उदय होता हुआ सूर्य ही हो ॥ १४६ ॥ जिसप्रकार विनय और शांतताके साथ २ कोई मुनि सुशोभित होता है उसीप्रकार वह धरणेंद्र भी नागकुमारोंके समान उन दोनों राजकुमारोंके साथ २ सुशोभित हो रहा था ॥ १४७ ॥ उसने उन दोनों नमि विनमि राजकुमारोंको विमानमें बिठाया और आकाशमार्गका उल्लंघनकर बहुत शीघ्र विजयार्द्ध पर्वतपर जापहुंचा । उससमय वह विजयार्द्धपर्वत ऐसा जानपडता था मानों पृथ्वीरूपी देवीका सफेद हास्य ही हो ॥ १४८ ॥ वह विजयार्द्ध पर्वत अपने पूर्व और पश्चिमके किनारोंसे लवण समुद्रको स्पर्श करता था और वह भरतक्षेत्रके बीचों बीच इसप्रकार पडा हुआ था मानों भरतक्षेत्रके नापनेका एक डंडा ही हो ॥ १४९ ॥ वह पर्वत अपने शिखरोंसे बहुत ही सुशोभित हो रहा था और उसके वे शिखर भी ठीक मुकुटके समान जान पडते थे क्योंकि जिसप्रकार मुकुट ऊंचा होता है और जडे हुए अनेकप्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे चित्र विचित्रका जान पडता है उसीप्रकार वे शिखर भी ऊंचे थे और अनेकप्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे चित्र विचित्रके हो रहे थे तथा उन्होंने अपनी इच्छानुसार आकाशको घेर रक्खा था॥१५०॥ उसके किनारेसे जो निर्झरने पडते थे उनके शब्दोंसे उसकी गुफाओंके मुख ऐसे शब्दायमान हो रहे थे मानों अत्यंत विश्राम करनेकेलिये देव और देवियोंको ही बुला रहे हों ॥ १५१ ॥ उसकी मेखला अर्थात् किनारा अतिशय गंभीर शब्द करते हुये, इधर उधर फिरते हुये और पर्वतके समान ऊंचे ऐसे बडे बडे बादलोंसे चारों ओरसे ढका हुआ था

खं । व्याजहुषुमिवात्यंतं विश्रांत्यै सुरदंपतीन् ॥ १५१ ॥ महाद्भिश्चलोदग्रैस्संचरद्भिरितोमुनः । घनाघनैर्नभध्यानैर्विष्वगारुद्धमेखलं ॥ १५२ ॥ स्फुरच्चामी करप्रस्थैर्दीप्तैरुष्णांशुराशिभिः । ज्वलद्दावानलाशंकां जनयंतं नभोजुषां ॥ १५३ ॥ क्षरद्भिः शिखरोपांतादृणायतैर्गुरुर्निर्झरैः । घनैर्जर्जरितैराराादारब्धबहुनिर्झरं ॥ १५४ ॥ नूनमामोदलोभेन प्रोत्फुल्ला वनवल्लरीः । विनीलैरंशुकैर्विष्वक्पिदधानमलिच्छलात् ॥ १५५ ॥ लतामवनाविश्रांताकिन्नरोद्गीतिनिःस्वनैः । सदा रम्यान्वनोद्देश नश्चानमविमेखलं ॥ १५६ ॥ लतागृहांतराबद्धदोलारूढानभश्चरीः । वनाधिदेवतादेश्या वहंतं वनवीथिषु ॥ १५७ ॥ संचरत्खचरीवक्त्रपंकजैः प्रतिबिंबकैः । दधंतं महानीलस्थलीरूढाब्जिनीश्रियः ॥ १५८ ॥ विचरत्खचरीचारुचरणालक्तकारुणाः । कृतार्चा इव रक्ताब्जैर्दधतं

॥ १५२ ॥ उसके किनारे दैदीप्यमान सुवर्णके बने हुये थे और उनपर सूर्यकी किरणें पड रहीं थीं, इसलिये वे उसपर रहनेवाले विद्याधरोंको जलते हुये दावानल अग्निकी शंका उत्पन्न करते थे ॥ १५३ ॥ उसकी शिखरोंके समीपभागसे जो बहुत बडे और मोटी धारके निर्झरने पडते थे, उनसे बादलोंमें धक्का लगता था जिससे वे झर झर शब्द करते थे और उनसे अरांटेके साथ बहुतसे निर्झरने बनकर निकल रहे थे ॥ १५४ ॥ उस पर्वतके बनोंमें जो अनेक बनकी लतायें फूली हुई थीं और उनपर भ्रमर बैठे हुये थे उनसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों उसने सुगंधिके लोभसे वे बनकी फूली हुई लतायें चारों ओरस काले वस्त्रसे ही ढक ली हों ॥ १५५ ॥ उसके किनारेपर बनके बहुत सुंदर प्रदेश सुशोभित रहते थे और वे उनकी लताकुंजोंमें जो किन्नरी जातिकी देवियां विश्राम लेती थीं और मधुरगीत गाती थीं उनके शब्दोंसे सदा मनोहर रहते थे ॥ १५६ ॥ उस पर्वतके बनमार्गमें लताकुंजोंमें पडे हुये झूलेमें झूलती हुई विद्याधरियें बनदेवताके समान निवास करती थीं ॥ १५७ ॥ उस पर्वतपर जो इधर उधर टहलती हुई विद्याधरियोंके मुखरूपी कमलोंका प्रतिबिंब पड रहा था उनसे वह ऐसा जान पडता था मानों उसने नीलमणिकी बनी हुई जमीनपर उत्पन्न हुई कमलिनीकी (कमलकी बेलकी) शोभा ही धारण की हो ॥ १५८ ॥ उस पर्वतकी स्फटिकमणिकी बनी हुई जमीनपर जो इधर उधर टहलती हुई विद्याधरियोंके

स्फाटिकीः स्थलीः ॥१५९॥ विदूरलंघिनो धीरध्वनितानमलच्छवीन् । निर्झरानिव बिभ्राणं मृगेंद्रानधिकंदरं ॥ १६० ॥अध्युपत्यकमारूढप्रणयान्सुरदंपतीन् । संभोगांते कृतातोद्यविनोदान् दधतं मिथः ॥ १६१ ॥ श्रेणीद्वयं वितत स्वं पक्षद्वयमिवायतं । विद्याधराधिवसतीर्धारयंतं पुरीर्वराः ॥१६२॥ अध्यधित्यकमाबद्धकेतनैरिव निर्झरान् । दधाद्भिः शिखरैः खाग्रं लंघयंतमिवोच्छ्रितैः ॥ १६३ अच्छिन्नधारमाच्छेदान्निर्झरैः शिखरस्तुतैः । जगन्नाडीमिवो-

सुंदर चरणोंमें लगे हुये महावरकी लालिमा लग जाती थी उससे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों उसकी स्फटिकमणिकी बनी हुई जमीनकी लाल कमलोंसे पूजा ही की गई हो ॥ १५९ उस पर्वतकी गुफाओंमें जो सिंह सो रहे थे वे ठीक निर्झरनोंके समान जान पडते थे क्योंकि निर्झरने जिसप्रकार विदूरलंघी अर्थात् बहुत ऊंचेसे पडते हैं उसीप्रकार वे सिंह भी विदूरलंघी अर्थात् बहुत उंचाईतक कूदनेवाले थे, जिसप्रकार निर्झरनोंका शब्द गंभीर होता है उसीप्रकार उन सिंहोंका शब्द भी गंभीर था और निर्झरने जिसप्रकार निर्मल कांतिवाले होते हैं उसीप्रकार वे सिंह भी निर्मल कांतिवाले थे ॥ १६० ॥ उस पर्वतकी समीपवर्ती भूमिपर परस्पर प्रेम करते हुये देव देवांगनायें क्रीडा करते थे और वे संभोग करनेके अनंतर वीणा आदि बाजे बजाकर अपना चित्त बहलाया करते थे ॥ १६१ ॥ उस पर्वतकी उत्तर दक्षिणकी ओर दो श्रेणियां थीं, जो कि लंबे दो पंखोंके समान दूरतक फैली हुई थीं और उन श्रेणियोंमें जिनमें अनेक विद्याधर निवास करते हैं ऐसी बहुत उत्तम नगरियां थीं ॥ १६२ ॥ उस पर्वतकी शिखरोंपर जो निर्झरने बह रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों उसकी ऊपरकी जमीनपर अनेक ध्वजायें फहरा रहीं हों और ऐसी २ अनेक ऊंची शिखरोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों आकाशके अग्रभागको भी उलंघन कर रहा हो ॥ १६३ ॥ जिनकी शिखरपरसे जमीनतक बराबर एकसी मोटी धार पड रही है ऐसे निर्झरनोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों उसने जगतकी लोकनाडी नापनेकेलिये एक लंबा डंडा ही धारण किया हो ॥ १६४ ॥ उस पर्वतपर अनेक चंद्रकांता मणि लगेहुये

भ्मातुं विधृतायतदंडकं ॥ १६४ ॥ चंद्रकांतोपलैश्चंद्रकरामर्शादनुक्षपं । क्षरद्भिर्दावभीत्येव सिंचंतं स्वतटद्रुमान् ॥ १६५ ॥ शशिकांतोपलैरिंदुं तारकाः कुमुदोत्करैः । उडूनि निर्झरच्छेदैर्न्यक्कुर्वंतमिवोच्चकैः स्थितं ॥ १६६ ॥ सितैर्घनैस्तटीः शुभ्राः श्रयद्भिरनिलाहतैः । कृतोपचयमारुह्यवनाभोगैर्घनालये ॥ १६७ ॥ प्रोत्तुंगो मेरुरेकांतान्न मद्वत्स धृतायतिः । इति तोषादिवोन्मुक्तप्रहासं निर्झरारवैः ॥ १६८ ॥ सुविशुद्धोहमामूलादाशृंगं रजतोच्चयः ।

थे जिनसे प्रत्येक रात्रिको चंद्रमाकी किरणोंका स्पर्श होते ही पानीकी धारा बहती थी जिससे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों दावानल अग्निके डरसे ही अपने किनारेके वृक्षोंको सींच रहा हो ॥ १६५ ॥ वह पर्वत चंद्रकांत मणियोंसे चंद्रमाको तिरस्कृत करता था, सफेद कमलोंसे ताराओंका तिरस्कार करता था और निर्झरनोंके छींटोंसे नक्षत्रोंको नीचा दिखलाता था। इसप्रकार वह सबको नीचा दिखलाता हुआ बहुत ऊंचा बिराजमान था ॥ १६६ ॥ शरदऋतुमें जब कभी सफेद बादल वायुसे टकराकर उस पर्वतके बन प्रदेशोंकी ओर पहुंचकर उसके सफेद किनारोंपर आश्रय लेते थे उससमय उन बादलोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों वह कुछ बढगया हो ॥ १६७ ॥ उस पर्वतपर जो निर्झरनोंके शब्द हो रहे थे उनसे वह ऐसा जान पडता था मानों सुमेरु पर्वत केवल ऊंचा है, वह मेरे समान लंबा नहीं है, इसीसे संतुष्ट होकर निर्झरनोंके शब्दोंसे बडे जोरका शब्द करता हुआ हंस रहा हो ॥१६८॥ वह पर्वत बहुत ऊंचा था इसलिये ऐसा जान पडता था मानों "मैं चांदीका बना हुआ हूं, जडसे शिखर तक बहुत ही शुद्ध हूं, अन्य कुलपर्वत मेरे समान शुद्ध नहीं हैं" यही समझकर उसने अपनी उंचाई प्रगट की हो ॥ १६९ ॥ उसपर विद्याधर लोग निवास करते थे तथा गंगा और सिंधु ये दोनों नदियां उसके नीचे होकर अर्थात् उसकी गुफामें होकर बहती थीं। इन्हीं हेतुओंसे मानों उसने कुल पर्वतोंको जीत लिया था और विजयार्द्ध यह सार्थक नाम पाया था। भावार्थ—कुलपर्वतोंपर न तो विद्याधर ही रहते हैं और न गंगा सिंधु सरीखी नदियां उनके नीचे होकर बहती हैं, इसलिये इन दो हेतुओंसे वह

शुद्धाः कुलाद्रयो नैवमितीवाविष्कृतोन्नतिं ॥ १६९ ॥ खचरैः सह संबंधाद्गंगासिंध्वोरधःस्थितेः । जित्वेव कुलकुत्कीलान्बिभ्राणं विजयार्द्धतां ॥ १७० ॥ अचलस्थितिमुत्तुंगं शुद्धिभाजं जगद्गुरुं । जिनेंद्रमिव नाकींद्रैः शश्वदाराध्यमादरात् ॥ १७१ ॥ अक्षरत्वादभेद्यत्वादलंध्यत्वान्महोन्नतेः । गुरुत्वाच्च जगद्धातुरातन्वानमनुक्रियां ॥ १७२ ॥ दिग्जयप्रसवागारं दधानं तद्गुहाद्वयं । सुसंवृतं सुगुप्तं च गूढांतर्गर्भनिर्गमं ॥१७३॥ कूटैर्नवभि-

कुलपर्वतोंसे भी अधिक था और इसलिये ही उसका विजयार्द्ध (विजय+ऋद्ध) अर्थात् 'जो विजयसे ही अधिक चढा बढा हो' यह सार्थक नाम था ॥ १७० ॥ इंद्रलोग उस पर्वतको श्रीजिनेंद्रदेवके समान आदरपूर्वक निरंतर अराधन करते थे, क्योंकि जिसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेवकी निश्चल स्थिति है उसीप्रकार उस पर्वतकी भी निश्चल स्थिति थी, जिसप्रकार श्रीजिनेंद्र उत्तुंग अर्थात् उत्तम हैं उसीप्रकार वह पर्वत भी उत्तुंग अर्थात् ऊंचा था, जिसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेवके निर्मल परिणाम हैं उसीप्रकार वह पर्वत भी निर्मल था और जिसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेव जगतगुरु हैं उसीप्रकार वह पर्वत भी जगतगुरु अर्थात् पृथ्वीका भाररूप था ॥ १७१ ॥ अथवा वह पर्वत जगतके ब्रह्मा भगवान जिनेंद्रदेवका अनुकरण (नकल) कर रहा था, क्योंकि जिसप्रकार जिनेंद्रदेव अक्षर अर्थात् विनाश रहित हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी अक्षर अर्थात् नाशरहित था, जिसप्रकार जिनेंद्रदेव अभेद्य अर्थात् उन्हें शस्त्रादिकसे कोई छेदन भेदन नहीं कर सकता उसीप्रकार वह पर्वत भी अभेद्य था अर्थात् उसे भी कोई छेदन भेदन नहीं कर सकता था, जिसप्रकार जिनेंद्रदेवका कोई उलंघन नहीं कर सकता उसीप्रकार उस पर्वतको भी कोई उलंघन नहीं कर सकता था, जिसप्रकार जिनेंद्रदेव महोन्नत अर्थात् परम श्रेष्ठ हैं उसीप्रकार वह पर्वत भी महोन्नत अर्थात् बहुत ऊंचा था और जिसप्रकार जिनेंद्रदेव सबके गुरु हैं उसीप्रकार वह पर्वत भी गुरु अर्थात् भारी था ॥ १७२ ॥ चक्रवर्तीके दिग्विजय करनेकेलिये प्रसूतिगृहके समान उसकी दो गुफायें थीं, क्योंकि जिसप्रकार प्रसूतिका गृह गुप्त और ढका हुआ होता है उसी-

कस्तुंगैर्भूदेव्या मुकुटोपमैः। विराजमानमानीलवनाळीपरिधानकं ॥ १७४ ॥ पृथुं पंचाशतं मूले तदर्द्धं च समुच्छ्रितं। तत्तुर्यमवगाढं गां दिव्ययोजनमानतः ॥ १७५ ॥ महीतलाद्दशोत्पत्य त्रिंशद्योजनविस्तृतं। ततोप्यूर्ध्वं दशोत्पत्य दशविस्तृतमग्रतः ॥ १७६॥ क्वचिदुन्नतमानिम्नं क्वचित्समतलं क्वचित्। क्वचिदुच्चावचग्रावस्थपुटं दधतं तटं ॥ १७७ ॥ क्वचिद्ध्नकरोत्तप्तरत्नग्रावाग्रगोचरात्। अपसर्पत्कपिव्रातकृतकोलाहलाकुलं ॥ १७८ ॥ क्वचित्कंठीरवारावत्रस्तानेकपयूथपं। कलकंठीकलालापवाचालितवनं क्वचित् ॥ १७९ ॥ क्वचिच्छिखिमुखोद्गीर्णकेकारवविभीषितैः। सर्पैः सत्रासमासृष्टकांता-

---

प्रकार वे गुफायें भी गुप्त और ढकी हुई थीं, तथा जिसप्रकार प्रसूतिगृहके भीतर जानेका मार्ग छिपा हुआ होता है उसीप्रकार उन गुफाओंका आने जानेका भीतरी मार्ग भी छिपा हुआ था ॥ १७३ ॥ उस पर्वतकी नौ ऊंची २ शिखरें थीं जोकि पृथ्वीरूपी देवीके मुकुटके समान जान पडती थीं तथा उसके चारोंओर जो श्याम बनोंकी पंक्ति शोभायमान थी वह ऐसी जान पडती थी मानों उस पर्वतने श्याम वस्त्र ही पहने हों ॥ १७४ ॥ वह मूलभागमें बडे योजनोंसे पचास योजन चौडा था पचीस योजन ऊंचा था और उसका चौथाई अर्थात् सवा छह योजन पृथ्वीके नीचे गढा हुआ था ॥ १७५ ॥ पृथ्वीसे दश योजनकी उंचाईपर वह तीस योजन चौडा था अर्थात् दश योजनतक पृथ्वीसे एकसा ऊंचा जाकर उत्तर दक्षिणकी ओर दश दश योजनकी दो श्रेणियां छूट गईं थीं और पर्वतकी चौडाई तीस योजन रहगई थी, इससे भी फिर और दश योजन ऊंचे चढकर आगे उसकी चौडाई केवल दश योजनकी रह गई थी ॥ १७६ ॥ इसका किनारा कहीं ऊंचा था, कहीं नीचा था, कहीं समान था और कहीं कहीं ऊंचे नीचे पत्थरोंसे विषम अर्थात् ऊंचा नीचा था ॥ १७७ ॥ कहीं कहीं पर सूर्यकी किरणोंसे गरम होकर सूर्यकांतमणिसे अग्नि निकल रही थी और उसके आगेके प्रदेशसे बंदरोंके समूह हट रहे थे, जिससे उस पर्वतपर एक बडा भारी कोलाहल हो रहा था ॥ १७८ ॥ उस पर्वतपर कहीं तो सिंहोंके भीषण शब्दोंसे हाथियोंके झुंड भय खा रहे थे और कहीं २ कोकिलोंके मधुर शब्दोंसे वह बन वाचालित हो रहा था, अ-

रांतर्बिलांतरं ॥ १८० ॥ चामीकरमयप्रस्थच्छायासंश्रयिणीर्मृगीः । हिरण्मयीरिवारूढतच्छाया दधतं क्वचित् ॥ १८१ ॥ क्वचिद्विचित्ररत्नांशुरचितैंद्रधनुर्लतां । दधानमनिलोध्दूतां ततां कल्पलतामिव ॥ १८२ ॥ क्वचिच्च विचरद्दिव्यकामिनीनूपुरारवैः । रमणीयसरस्तीरं हंसीविरुतमूर्च्छितैः ॥१८३॥ क्वचिद्विचतुरक्रीडामाचरद्भिरनेकपैः । सलीलांदोलितालानैरालोलि तवनद्रुमं ॥ १८४ ॥ क्वचित्पुलिनसंसुप्तसारसीरुतमूर्च्छितैः । कलहंसीकलक्वाणैर्वाचालितसरोजलं ॥ १८५ ॥ क्वचित्कुद्धाहिशूत्कारैः श्वसंतमिव हेलया । क्वाचिच्च चमरीयूथैर्हसंतमिव निर्मलैः ॥ १८६ ॥ गुहानिलैः क्वचिद्व्य-

---

थांत् कूज रहा था ॥ १७९ ॥ जहां कहीं उस पर्वतपर मयूर बोल रहे थे उनके शब्दोंसे सर्पोंको बहुत ही डर लग रहा था और वे डरकर बनोंके भीतर अपने २ बिलोंमें घुस रहे थे ॥ १८० ॥ कहीं २ उस पर्वतपर सुवर्णमय पत्थरोंकी छायामें जो हिरणियां बैठी हुई थीं उनकी शोभा ठीक सुवर्णकी सी हो गई थी-और वे सुवर्णमयी जान पडती थीं ॥ १८१ ॥ कहीं कहींपर अनेकप्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे इंद्रधनुषकी लता ही बन रही थी और वह ऐसी जान पडती थी मानों वायुके द्वारा उडी हुई और चारोंओर फैली हुई कल्पलता ही हो ॥ १८२ ॥ जहां कहीं वहां देवांगनायें विहार कर रही थीं उनके नूपुरोंके (बिछुओंके) शब्द हंसनियोंके मधुर शब्दोंमें मिल रहे थे उनसे तालावोंके किनारे बडे ही मनोहर जान पडते थे ॥ १८३ ॥ कहीं कहींपर लीलामात्रमें अपने खूंटोंको तोडनेवाले अनेक हाथियोंके झुंड बडी चतुरताके साथ क्रीडा कर रहे थे और उनसे बनके वृक्ष खूब ही हिल रहे थे ॥ १८४ ॥ कहींपर किनारेपर सोतेहुये सारस पक्षियोंके शब्दमें सुंदर हंसनियोंके मधुर शब्द मिलरहे थे जिनसे तालावका जल बहुत ही बाचालित (शब्दायमान) हो रहा था ॥ १८५ ॥ कहींपर क्रोधित हुये सर्प फूत्कार शब्द कर रहे थे जिनसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों वह क्रीडा करता हुआ श्वास ही ले रहा हो। तथा कहींपर निर्मल गायोंके झुंड फिर रहे थे जिनसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों हंस रहा ही हो ॥ १८६ ॥ कहींपर उसकी गुफासे वायु निकल रही थी जिससे वह ऐसा प्रगट दिखाई देता था मानों

क्तमुच्छ्वसंतमिवायतं । क्वच्चिच्च पवनाधूतैर्घूर्णंतमिव पादपैः ॥१८७॥ निभृतं चिंतयंतीभिरिष्टकामुकसंगमं । विजने खेचरस्त्रीभिर्मूकीभूतमिव क्वचि-
त् ॥ १८८ ॥ क्वचिच्च चटुलोदंचच्चंचरीककलस्वनैः । किमप्यारब्धसंगीतमिव व्यायतमूर्च्छनं ॥ १८९ ॥ कदंबामोदसंवादिसुरभिश्वासितैर्मुखैः । तरु-
णार्ककरस्पर्शाद्विबुद्धैरिव पंकजैः । ॥ १९० ॥ नेत्रैर्मधुमदाताम्रैरिंदीवरदलायतैः । मदनस्येव जैत्रास्त्रैः सालसापांगवीक्षितैः ॥ १९१ ॥ अरालैरलि-
नीलाभैः केशैर्गतिविसंस्थुलैः । विस्रस्तकबरीबंधविगलत्पुष्पदामकैः ॥ १९२ ॥ जितेंदुकांतिभिः कांतैः कपोलैरलकांकितैः । मदनस्य सुसंमृष्टैरालेख्य-

---

लंबा श्वास ही ले रहा हो । कहींपर वायुसे उसके वृक्ष हिल रहे थे जिससे ऐसा जान पडता था मानों वह झूम रहा ही हो ॥१८७॥ उसपर्वतपर कहीं विद्याधरोंकी स्त्रियां किसी एकांत स्थानमें बैठी हुई अपने प्रिय कामी लोगोंके समागमका खूब विचार कर रहीं थीं जिससे (सुनसान होनेसे) ऐसा जान पडता था मानों वह पर्वत चुपचाप ही हो रहा हो ॥ १८८ ॥ कहींपर बहुत अच्छीतरह उडते हुये भ्रमरोंके मधुर शब्द हो रहे थे जिनसे ऐसा जान पडता था मानों उस पर्वतने जिसकी आवाज चारोंओर फैल गई है ऐसे किसी अलौकिक गानेका ही प्रारंभ किया हो ॥ १८९ ॥ उसपर्वतपर अनेक तरुण विद्याधरियां अपने २ तरुण विद्याधरोंके साथ २ टहल रहीं थीं, उनके मुखका श्वास ठीक कदंबकी सुगंधिके समान सुगंधित था और जिसप्रकार सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे कमल खिल जाता है उसीप्रकार उनका मुखरूपी कमल भी तरुण पुरुष रूपी सूर्यके कर अर्थात् हाथके स्पर्शसे प्रफुल्लित हो रहा था ॥ १९० ॥ उनके नेत्र मद्यके मदसे कुछ २ लाल हो रहे थे, वे नीलकमलके दलके समान लंबे थे, आलस्यके साथ कटाक्ष फेंकते हुये देखते थे और ऐसे जान पडते थे मानों कामदेवके विजय करनेके शस्त्र ही हों ॥ १९१ ॥ उनके केश भी कुटिल थे, भ्रमरोंके समान काले थे, चलनेसे उनका बंधन कुछ ढीला पड गया था और उनपर की हुई पत्र रचना भी ढीली पड गई थी, जिससे उन केशोंकी बनी हुई चोटीमेंसे फूलोंकी मालायें गिरती चली जाती थीं ॥ १९२ ॥ उनके कपोल भी बहुत मनोहर थे, चंद्रमाकी कांतिको भी

फलकैरिव ॥ १९३ ॥ अधरैः पक्वबिंबाभैः स्मितांशुभिरनुद्रुतैः । सिक्तैर्जलकणैर्द्वित्रैरिव विद्रुमभंगकैः ॥ १९४ ॥ परिणाहिभिरुत्तुंगैर्भसुवृत्तैःस्तनमंडलैः । स्रस्तांशुकस्फुटालक्ष्यलसन्नखपदांकनैः ॥ १९५ ॥ हरिचंदनसम्मृष्टैर्हारज्योत्स्नोपहारितैः । कुचनर्त्तनरंगाभैः प्रेक्षणीयैरुरोगृहैः ॥ १९६ ॥ नखोज्ज्वलैः स्ताम्रतलैः सलीलांदोलितैर्भुजैः । सपुष्पपल्लवोल्लासिलताविटपकोमलैः ॥ १९७ ॥ तनूदरैः कृशैर्मध्यैस्त्रिवलीभंगशोभिभिः । नाभिवल्मीकनिःसर्पद्रोमालीकालभोगिभिः ॥ १९८ ॥ लसद्दुकूलवसनैर्विपुलैर्जघनस्थलैः । सकांचीबंधनैः काममृपकारालयायितैः ॥ १९९ ॥ स्खलद्गतिवशादुच्चैरारणन्म-

---

जीतते थे और उनपर काले केश पडे हुये थे जिनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों बहुत साफ किये हुये (निर्मल) कामदेवके लिखनेके तखतेके टुकडे ही हों ॥ १९३ ॥ उनके अधर भी पके हुये बिंवाफलके समान थे और उनपर मंद हास्यकी किरणें पड रहीं थीं, जिससे वे ऐसे जानपडते थे मानों दो तीन जलकी बूंदोंसे भीगे हुये मूंगाके टुकडे ही हों ॥ १९४ ॥ उनके कुचमंडल विशाल, ऊंचे और बहुत अच्छे गोल थे, उनका वस्त्र ढीला होगया था जिससे उनपर लगे हुये नखोंके चिन्ह (दाग) साफ दिखाई दे रहे थे ॥ १९५ ॥ उन विद्याधरियोंका वक्षःस्थलरूपी घर भी देखने योग्य सुंदर था, क्योंकि उसपर सफेद चंदनका लेप हो रहा था, उसपर भेटस्वरूप हारका प्रतिबिंब पडरहा था और वह कुचोंके नाचनेकी रंगभूमिके समान जान पडता था ॥१९६॥ उनके हाथोंके नख उज्वल थे, हथेलियां लाल थीं और भुजाओंको वे लीला पूर्वक इधर उधर फिरा रहीं थी, जिससे वे कोमल भुजायें ऐसी जान पडती थीं मानों पुष्प और नवीन पत्तोंसे सुशोभित किसी लताकी कोमल शाखा ही हों ॥१९७॥ उनका उदर बहुत छोटा था, मध्यभाग कृश था, और वह पडती हुई त्रिवलियोंसे सुशोभित हो रहा था, उनकी नाभिमेंसे जो काली रोमावलि निकल रही थी वह ऐसी जान पडती थी मानों नाभिरूपी सर्पके बिलसे रोमावली रूपी काला सर्प ही निकल रहा हो ॥ १९८ ॥ उन विद्याधरियोंका जघनस्थल भी बहुत बडा था, वह रेशमी वस्त्रोंसे ढकाहुआ था और चारों ओरसे करधनी उसपर पडी हुई थी, जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों कामदेवरूपी राजाका कारागार (जे-

णिमुपुरैः । चरणैररुणांभोजैरिव व्यक्तालिझंकृतैः ॥ २०० ॥ सलीलमंथरैर्यातैर्जितहंसीपरिक्रमैः । श्वसितैस्सकुचोत्कंपैर्व्यंजितांतर्गतक्रमैः ॥ २०१ ॥ समं युवभिरारूढनवयौवनकर्कशाः । विचरंतीर्वनांतेषु दधानं खचरीः क्वचित् ॥ २०२ ॥ अलकालीलसद्भृंगास्तन्वीः कोमलविग्रहाः । लतानुकारिणीरूढस्मितपुष्पोद्गमश्रियः ॥ २०३ ॥ प्रसूनरचिताकल्पावतंसीकृतपल्लवाः । कुसुमोपचये सक्तास्संचरंतीरितस्ततः ॥ २०४ ॥ वनलक्ष्मीरिव व्यक्तलक्षणा वनजेक्षणाः । धारयंतमनूद्यानं विद्याधरवधूः क्वचित् ॥ २०५ ॥ तमित्यद्रींद्रमुद्भूतमाहात्म्यं भुवनातिगं । जिनाधिपमिवासाद्य कुमारौ धृ-

---

लखाना) ही हो ॥ १९९ ॥ उनके चरण ठीक लाल कमलके समान जान पडते थे क्योंकि वे डगमगाती हुई पैर रखती थीं जिससे उनके माणियोंके बने हुये नूपुरोंसे (बिछुओंसे) बडे जोरके शब्द हो रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानों उन चरणरूपी लाल कमलोंपर भ्रमरोंके साफ झंकार शब्द ही हो रहें हों ॥ २०० ॥ वे विद्याधरियें लीलापूर्वक धीरे २ जा रहीं थीं, उनकी चालने हंसनियोंकी चाल भी मात कर दी थी, वे चलते समय श्वासोश्वास लेती जाती थीं जिससे उनके कुच कंपायमान हो रहे थे और उनके अंतःकरणका खेद साफ दिखाई दे रहा था ॥ २०१ ॥ इसप्रकार नवयौवनसे सुदृढ विद्याधरियें अपने तरुण पुरुषोंके साथ उस विजयार्द्ध पर्वतके सुंदर बनोंमें कहीं कहींपर टहल रहीं थीं ॥ २०२ ॥ उस पर्वतपर विद्याधरियें कहींपर अकेली ही फिर रहीं थीं और वे ठीक लताके समान जान पडती थीं क्योंकि जिसप्रकार लताओंपर भ्रमर रहते हैं उसीप्रकार उनके मस्तकपरके केश ही भ्रमरोंके समान थे, जिसप्रकार लतायें पतली होती है उसीप्रकार वे विद्याधरियें भी पतली थीं, जिसप्रकार लतायें कोमल होती हैं उसीप्रकार उनका शरीर भी कोमल था और जिसप्रकार लताओंपर पुष्पोंकी शोभा होती है उसीप्रकार वे विद्याधरियें भी मंदहास्य रूपी पुष्पोंसे सुशोभित थीं ॥ २०३ ॥ उन विद्याधरियोंने फूलोंके आभूषण बनाये थे तथा पत्तोंके कर्णफूल बनाये थे और वे इधर उधर टहलती हुई फूल तोडनेमें तल्लीन हो रहीं थीं ॥ २०४ ॥ उनके नेत्र कमलोंके समान थे तथा और भी अनेक लक्षणोंसे वे बनलक्ष्मीके स-

तिमापतुः ॥ २०६ ॥ धुततटवनाभोगाभागीरथीतटवेदिकापरिसरसरोवीचीभेदादुपोढपयःकणाः । वनकरिकटादाकृष्टालिव्रजा मरुतो गिरेरुपवनभुवो यूनोरध्वश्रमं व्यपनिन्यिरे ॥ २०७ ॥ मदकलकलकंठीडिंडिमारावरम्या मधुरविरुतभृंगीमंगलोद्गीतिहृद्याः । परिधृतकुसुमार्घास्संपतद्भिर्मरुद्भिः फणिपति-

---

मान जान पडतीं थीं, इसप्रकार अनेक विद्याधरियें उस पर्वतके प्रत्येक बनमें कहीं न कहीं अवश्य दिखाई देती थीं ॥ २०५ ॥ इसप्रकार जिसका अद्भुत माहात्म्य है और जो तीनों लोकोंको अतिक्रमण करनेवाला है ऐसे श्रीवृषभदेवके समान उस गिरिराजको देखकर वे नमि और विनमि दोनों ही राजकुमार बहुत संतुष्ट हुये थे ॥ २०६ ॥ उस पर्वतके बनोंकी जो वायु किनारेके बनोंके समीपवर्ती वृक्षोंको हिला रही थी, जिसने गंगाके किनारे रूपी वेदीकी समीपवर्ती भूमिपरके तालावोंकी लहरोंका आश्रय लेकर बहुतसी जलकी बूंदे संग्रह करलीं थीं और जिसने अपनी सुगंधिसे बनके हाथियोंके गंडस्थलों पर बैठे हुये भ्रमर समूहोंको भी अपनी ओर खींच लिया था ऐसा उस पर्वतके बनका वायु स्त्रीपुरुषोंके मार्गका सब परिश्रम दूर कर देता था ॥ २०७ ॥ उस पर्वतके बनकी वायु दूरसे ही धरणेंद्रके समीप आ रही थी जिससे वह ऐसा जान पडताथा मानों उस पर्वत के बनके प्रदेश ही दूरसे धरणेंद्रके सन्मुख आ रहे हों क्योंकि वे बनके प्रदेश मदोन्मत्त सुंदर कोयलोंके शब्दोंसे ऐसे मनोहर हो रहे थे मानों सन्मुख जानेकेलिये नगाडेके बाजोंसे ही मनोहर हों। भ्रमरियोंके मधुर गुंजार शब्दोंसे ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों उनमें सन्मुख जानेके लिये मंगलगीत ही गाये जा रहे हों और वे फूले हुये, पुष्पोंसे ऐसे जान पडते थे मानों सन्मुख जानेकेलिये उन्होंने अर्घ ही धारण किया हो ॥ २०८ ॥ इसप्रकार उस धरणेंद्रने उन दोनों राजकुमार नमि विनमिके साथ दूरसे ही श्रीजिनेंद्रदेवके समान वह विजयार्द्ध पर्वत देखा। क्योंकि जिसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेव समस्त विद्यारूपी खजानेके उत्पन्न करनेको एक अति उत्तम

मिव दूरात्प्रत्युदीयुर्वभांलाः ॥ २०८ ॥ रजतगिरिमहींद्रो नातिदूराद्गुदारं प्रसवभवनमेकं विश्वविद्यानिधीनां । जिनमिव भुवनांतर्व्यापिकीर्तिं प्रपश्यन्प्रमदमविभरंतः सार्द्धमाभ्यां युवाभ्यां ॥ २०९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे धरणेंद्रविजयार्द्धोपगमनं नामाष्टादशं पर्व ॥ १८ ॥

स्थान हैं उसीप्रकार वह पर्वत भी समस्त विद्याओंके खजाने ऐसे विद्याधरोंके उत्पन्न करनेका एक बहुत बडा स्थान था और जिसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेवकी कीर्ति तीनों लोकोंमें व्याप्त है उसीप्रकार उस पर्वतकी कीर्ति भी तीनों लोकोंमें व्याप्त थी । इसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेवके समान उस विजयार्द्ध पर्वतको देखकर राजकुमार नमि विनमिके साथ २ वह धरणेंद्र अपने मनमें बहुत ही प्रसन्न हुआ था ॥ २०९ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें धरणेंद्रका विजयार्द्धपर्वतपर गमन करनेका वर्णन करनेवाला अठारहवां पर्व समाप्त हुआ ।

अथ एकोनविंशं पर्व ।

अथास्य मेखलामाद्यामवतीर्णः फणीश्वरः । तत्र व्योमचरेंद्राणां लोकं तावित्यदीदृशत् ॥ १ ॥ अयं गिरिरसंभूष्णुर्नूनमूर्ध्वं महत्तया । वितत्य तिर्यगात्मानमवगाढो महार्णवं ॥ २ ॥ श्रेण्यौ सदानपायिन्यौ भूभृतोस्य विराजतः । देव्याविव महाभोगसंपन्ने विधृतायती ॥ ३ ॥ योजनानि दशोत्पत्य गिरेरस्याधिमेखलं । विद्याधरानिवासोयं भाति स्वर्गैकखंडवत् ॥ ४ ॥ विद्याधरा विभांत्यस्मिन् श्रेणीद्वयमधिष्ठिताः । स्वर्गादिव समागत्य कृतावासाः

अथ उन्नीसवां पर्व.

अथानंतर–वह धरणेंद्र राजकुमार नमि विनमिको साथ लिये उस विजयार्द्ध पर्वतकी प्रथम मेखलापर उतरा और वहां उसने विद्याधरोंका वह लोक दोनों राजकुमारोंको नीचे लिखे अनुसार वर्णन करते हुये दिखलाया ॥ १ ॥ धरणेंद्र कहने लगा कि देखो यह पर्वत कभी उत्पन्न नहीं हुआ है अर्थात् अनादि अनिधन है बहुत ऊंचा है और इतना बडा है कि इधर उधर दोनों ओर फैलता हुआ समुद्रमें जा मिला है ॥ २ ॥ इस पर्वतकी ये दोनों ही श्रेणियां महादेवीके समान सुशोभित हैं क्योंकि जिसप्रकार महादेवीके पास अनेकप्रकारकी भोगोपभोग सामग्री रहती है उसीप्रकार इन श्रेणियोंमें भी अनेकप्रकारके भोगोपभोगोंकी सामग्री विद्यमान है और देवी जिसप्रकार आयति अर्थात् शोभाको धारण करती है उसीप्रकार इन श्रेणियोंने भी आयती अर्थात् लंबाई धारण की है अर्थात् ये बहुत लंबी हैं और अविनश्वर हैं कभी नष्ट नहीं होतीं ॥ ३ ॥ जमीनसे दश योजन ऊंचा चढकर इस पर्वतकी प्रथम मेखला (कटनी) है उसीपर यह विद्याधरोंका निवासस्थान है जोकि स्वर्गके एक टुकडेके समान जान पडता है ॥ ४ ॥ इन दोनों श्रेणियोंमें रहनेवाले विद्याधर लोग ऐसे अच्छे जान पडते हैं मानों देव लोगोंने ही स्वर्गसे आकर यहां निवास किया हो ॥ ५ ॥ यह विद्याधरोंका स्थान ऐसा जान पडता है मानों हम लोगोंका अर्थात् भवनवासियोंका स्थान ही हो क्योंकि यहां धरणेंद्रके समान अनेक प्रकार-

सुधाशनाः ॥ ५ ॥ विद्याधराधिवासोयं धत्तेऽस्मल्लोकविभ्रमं । निषेवितो महाभोगैः फणीन्द्रैरिव खेचरैः ॥ ६ ॥ पाताळस्वर्गलोकस्य सत्यमद्य स्मराम्यहं । नागकन्या इव प्रेक्ष्याः पश्यन्खचरकन्यकाः ॥ ७ ॥ नात्र प्रतिभयं तीव्रं स्वचक्रपरचक्रजं । नेतयो नैव रोगादिबाधाः संतीह जातुचित् ॥ ८ ॥ प्रारंभे चापवर्गे च तुर्यकालस्य या स्थितिः । महाभारतवर्षेस्मिन् सात्रोत्कर्षापकर्षतेः ॥ ९ ॥ पराः स्थितिर्नृणां पूर्वकोटिवर्षशतांतरे । उत्सेधहानिरासप्ता-

के भोगोपगोग सेवन करनेवाले विद्याधर लोग सदा निवास करते रहते हैं ॥ ६ ॥ नागकन्याओंके समान सुंदर इन विद्याधरियोंकी कन्यायोंको देखकर सचमुच ही आज मुझे पातालके स्वर्गलोक का अर्थात् भवनवासियोंके रहनेके स्थानका स्मरण हो रहा है ॥ ७ ॥ यहां न तो अपने राजाका कोई तीव्र भय है और न दूसरे शत्रु राजाओंका कोई तीव्र भय होता है बहुत, बरसना कम बरसना आदि ईति भी यहां नहीं होती और न यहां कभी रोग आदिकी कोई बाधा होती है ॥ ८ ॥ इस भरतक्षेत्रके अवसर्पिणी कालके चतुर्थ कालमें जो उत्कृष्ट आयु होती है वही स्थिति (आयु) यहां की उत्कृष्ट आयु होती है तथा उसी चतुर्थ कालके अंतमें जो होती है वही आयु यहांकी जघन्य आयु होती है । इसी प्रकार चतुर्थकालके प्रारंभमें शरीरकी जितनी ऊंचाई होती है उतनी यहांकी उत्कृष्ट उंचाई होती है और चतुर्थ कालके अंतमें जितनी शरीरकी उंचाई होती है उतनी यहांकी जघन्य उंचाई होती है । इसी हिसावसे यहांकी उत्कृष्ट आयु एक करोड पूर्व वर्षकी और जघन्य आयु सौ वर्षकी होती है तथा शरीरकी उत्कृष्ट उंचाई पांचसौ धनुष और जघन्य सात हाथकी होती है । भावार्थ—भरतक्षेत्रमें सुषमा सुषमा कालमें जब मनुष्योंकी आयु तीन पल्य की होती है और शरीरकी उंचाई छह हजार धनुषकी होती है तब भी यहां आयु एककरोड पूर्व वर्षसे और शरीरकी उंचाई पांचसौ धनुषसे कभी बढती नहीं तथा दुःषम दुःषम कालमें जब आयु सोलह वर्ष और शरीरकी उंचाई एक हाथकी होती है तब भी यहां आयु सौ वर्षसे और शरीरकी उंचाई सात हाथसे कभी घटती नहीं ।

रत्निः पंचधनुःशतात् ॥ १० ॥ कर्मभूमिनियोगो यः स सर्वोऽप्यत्र पुष्कलः । विशेषस्तु महाविद्या ददत्येषामभीप्सितं ॥ ११ ॥ महाप्रज्ञप्तिविद्याद्याः सिध्यंतीह खगेशिनां । विद्याः कामदुघा यास्ताः फलिष्यंतीप्सितं फलं ॥ १२ ॥ कुलजात्याश्रिता विद्यास्तपोविद्याश्च ता द्विधा । कुलाम्नायागताः पूर्वा यत्नेनाराधिताः पराः ॥ १३ ॥ तासामाराधनोपायः सिद्धायतनसन्निधौ । अन्यत्र वा शुचौ देशे द्वीपाद्रिपुलिनादिके ॥ १४ ॥ संपूज्य शुचिवेषेण विद्या देवव्रताश्रितैः । महोपवासैराराध्या नित्यार्चनपुरःसुरैः ॥ १५ ॥ सिध्यंति विधिनानेन महाविद्या नभोजुषां । तपश्चरणनित्यार्चाजपहोमा-

---

घटती बढती होनेपर भी यहांकी आयु और शरीरकी उंचाई चतुर्थकालके समान ही रहती है ॥ ९-१० ॥ कर्मभूमिमें पानी बरसना गरमी सरदी पडना आदि जितने नियोग होते हैं वे यहां पूर्ण रीतिसे होते हैं इसके सिवाय यहां इतना और विशेष होता है कि महाविद्यायें यहांके लोगोंको इनकी इच्छानुसार फल दिया करती हैं ॥ ११ ॥ यहांके विद्याधर लोगोंको महाप्रज्ञप्ति आदि अनेक विद्यायें सिद्ध होती हैं जो कि कामधेनुके समान इन्हें अनेक यथेष्ट फल देती रहती हैं ॥ १२ ॥ वे विद्यायें दो प्रकारकी हैं एक तो ऐसी हैं कि जो कुल अथवा जातिके आश्रित हैं और दूसरी ऐसी हैं जो तपश्चरणसे सिद्ध की जाती हैं। इनमेंसे पहलेप्रकारकी विद्यायें हरिवंश इक्ष्वाकुवंश आदि पिता पक्षकी वंश परंपरासे अथवा मातापक्षकी वंश परंपरासे बराबर प्राप्त होती रहती हैं और तपश्चरणसे सिद्ध होनेवाली दूसरी विद्यायें ऐसी हैं जो प्रयत्नसे सिद्ध की जाती हैं ॥ १३ ॥ जो विद्यायें सिद्ध की जाती हैं उनके सिद्ध करनेका उपाय यह है कि सिद्धायतनके समीपवर्ती स्थानमें अथवा द्वीप पर्वत व नदीके किनारे आदि किसी दूसरे पवित्र स्थानमें स्नानादिकर पवित्र वेष धारणकर ब्रह्मचर्य व्रत पालनकर विद्याके अधिकारिणी देवताओंका पूजन करे तथा नित्य पूजन करते हुये महीने दो चार छह महीने आदिके महोपवास धारणकर उन विद्याओंका आराधन करे। इसप्रकार उन विद्याओंको आराधन करनेसे तथा तपश्चरण, नित्यपूजन, जप, होम आदि अनुक्रमसे करनेसे विद्याधरोंको वे महाविद्यायें सिद्ध हो जाती हैं ॥ १४-

ह्यनुक्रमात् ॥ १६ ॥ सिद्धविद्यैस्ततः सिद्धप्रतिमार्चनपूर्वकं । विद्याफलानि भोग्यानि वियद्गमनचंचुभिः ॥ १७ ॥ यथा विद्याफलान्येषां भोग्यानीह खगेशिनां । तथैव स्वैरसंभोग्याः सस्यादिफलसंपदः ॥ १८ ॥ सस्यान्यकृष्टपच्यानि वाप्यः सोत्फुल्लपंकजाः । ग्रामाः संसक्तसीमानः सारामाः सफलद्रुमाः ॥ १९ ॥ सरत्नसिकता नद्यो हंसाध्यासितसैकताः । दीर्घिकापुष्करिण्याद्या स्वच्छतोया जलाशयाः ॥ २० ॥ रमणीया वनोद्देशाः पुंस्कोकिलकलस्वनैः । लताः कुसुमिता गुंजद्भृंगीसंगीत संगताः ॥ २१॥ चंद्रकांतशिलानद्धसोपानाः सलतागृहाः। खचरीजनसंभोग्याः सेव्याश्च कृतकाद्रयः॥२२॥

१५-१६ ॥ तदनंतर विद्यायें सिद्ध होजानेपर आकाशमें गमन करनेवाले विद्याधर लोग प्रथम ही अरहंत भगवानकी प्रतिमाका पूजन करते हैं और फिर विद्याओंके यथेष्ट फलका उपभोग करते हैं ॥ १७ ॥ इस पर्वतपर ये विद्याधर लोग जिसप्रकार इन विद्याओंके फलोंका उपभोग करते हैं उसीप्रकार वे धान्य आदि फल संपत्तियोंका उपभोग भी अपनी इच्छानुसार ही करते हैं ॥ १८ ॥ यहांपर धान्य बिना बोये अपने आप पैदा होते हैं, यहांकी बावडियोंमें सदा कमल फूले हुये रहते हैं, यहांके गांवोंकी सीमायें परस्पर मिली हुई रहती हैं उनमें बाग बगीचे होते हैं और वे सब फले फूले वृक्षोंसे सुशोभित रहते हैं ॥ १९ ॥ यहांकी नदियोंमें रत्नमय बालू रहती है, बावडी छोटे तालाव आदिके किनारे बालुओंपर सदा हंस निवास करते हैं तथा यहांके सरोवर आदि जलाशयोंमें सदा स्वच्छ जल भरा रहता है ॥ २० ॥ यहांके बनप्रदेश कोकिलोंके मधुर शब्दोंसे सदा मनोहर रहते हैं और फूली हुई लतायें गुंजार करती हुई भ्रमरियोंके गीतोंसे सदा सुहावनी जान पडती हैं ॥ २१ ॥ यहांपर अनेक कृत्रिम पर्वत हैं जिनपर चंद्रकांत मणियोंकी सीढी बनी हुई हैं, अनेक लतागृह बने हुये हैं । ये पर्वत विद्याधरियोंके संभोग करने योग्य हैं और सबके निवास करने योग्य हैं ॥ २२ ॥ यहांके नगर खानें और गांवोंकी रचना बडी ही मनोहर है, वे बहुत बडे हैं और नदी, सरोवर, बाग, चांवलोंके, खेत, ईखके खेत तथा बन आदिसे बडे ही सुशोभित रहते हैं ॥ २३ ॥ यहांके स्त्री पुरुष रति और कामदेवके समान सुंदर होते हैं, वे भोगोपभो-

रम्याः पुराकरग्रामसन्निवेशाश्च विस्तृताः । सरित्सरोवरारामशालीक्षुवनमंडनाः ॥ २३ ॥ स्त्रीपुंसः सृष्टिरत्यंत्या रत्यनंगानुकारिणी । समग्रभोगसंपत्त्या स्वभोगेष्वप्यनुत्सुकाः ॥ २४ ॥ एवंप्राया विशेषा ये नृणां संप्रीतिहेतवः । स्वर्गेऽप्यसुलभास्तेमी संत्येवात्र पदे पदे ॥ २५ ॥ इति रम्यतराशेषविशेष नखचरोचितान् । धत्ते स्वमंकमारोप्य कौतुकादिव भूधरः ॥२६॥ श्रेण्योरथैनयोरुक्तशोभासंपन्निधानयोः । पुराणां सन्निवेशोयं लक्ष्यतेत्यंतसुंदरः ॥२७॥ पृथक्पृथगुभे श्रेण्यौ दशयोजनविस्तृते । अनुपर्वतदीर्घत्वमायते चापयोनिधेः ॥ २८ ॥ विष्कंभादिकृतः श्रेण्योर्न भेदोस्तीह कश्चन । आयाममूत्तरश्रेण्यां धत्ते साभ्याधिकां मितिं ॥ २९ ॥ स्वर्गावासापहासीनि पुराण्यत्र चकासती । दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः पंचाशत् षष्टिरेव च ॥ ३० ॥

गोंकी संपदाओंसे इतने भरपूर रहते हैं कि स्वर्गके भोगोंमें भी कभी उनकी इच्छा नहीं होती है ॥२४॥ इसप्रकार मनुष्योंको प्रसन्न करनेवाले जो जो विशेष पदार्थ हैं जो कि स्वर्गमें भी सुलभ रीतिसे प्राप्त नहीं हो सकते वे सब यहां पद पदपर (पेंड पेंडपर) उपस्थित रहते हैं ॥२५॥ इसप्रकार विद्याधरोंके योग्य अतिशय मनोहर ऐसे जो जो विशेष विशेष पदार्थ हैं उन सबको यह पर्वत मानों कौतूहलसे ही अपनी गोदीमें लेकर धारण करता है ॥२६॥ जो ऊपर कही हुई शोभा और संपत्तिको मुख्य स्थान हैं ऐसी इन दोनों श्रेणियोंमें यह नगरोंकी रचना बहुत ही सुंदर की गई है ॥२७॥ इन दोनों श्रेणियोंकी अलग अलग चौडाई दश दश योजन है अर्थात् प्रत्येक श्रेणीकी चौडाई दश योजन है और दोनोंकी लंबाई पर्वतकी लंबाईके समान समुद्र तक समझना चाहिये ॥२८॥ इन दोनों श्रेणियोंकी चौडाईमें तो कुछ अंतर नहीं है परंतु लंबाईमें कुछ अंतर है, दक्षिणश्रेणीसे उत्तरश्रेणीकी लंबाई कुछ अधिक है ॥ २९ ॥ इन्हीं श्रेणियोंमें स्वर्गके विमानोंको भी लज्जित करनेवाले नगर सुशोभित हैं वे नगर दक्षिण श्रेणीमें पचास और उत्तर श्रेणीमें साठ हैं ॥ ३० ॥ अनेक प्रकारकी संपदाओंको धारण करनेवाले इन नगरोंमें विद्याधर लोग निवास करते हैं और जिसप्रकार देवलोग भोगोपभोगोंका सेवन करते हैं उसीप्रकार ये भी अपने २ पुण्योदयसे उत्पन्न हुये भोगोपभोगोंका सेवन करते हैं ॥ ३१ ॥ यह देखो इधर पूर्वदिशाकी ओर किंनामित नामा नगर है जो आका-

विद्याधरा वसंत्येषु नगरेषु महर्द्धिषु । स्वपुण्योपार्जितान्भोगान्भुंजानाः स्वर्गिणो यथा ॥ ३१ ॥ इतः किंनामितं नाम्ना पुरं भाति पुरोदिशि । सौधैरभ्रंकषैः स्वर्गमिवास्प्रष्टुं समुद्यतैः ॥ ३२ ॥ तच्च किन्नरगीताख्यं पुरमिद्धार्द्धि लक्ष्यते । यस्योद्यानानि सेव्यानि गीतैः किन्नरयोषितां ॥ ३३ ॥ नरगीतं विभातीतः पुरमेतन्महर्द्धिकं । सदा प्रमुदिता यत्र नरा नार्यश्च सोत्सवाः ॥ ३४ ॥ बहुकेतुकमेतच्च प्रोल्लसद्बहुकेतुकं । केतुबाहुभिराह्वातुमस्मानिव समुद्यतं ॥ ३५ ॥ पुंडरीकमिदं यत्र पुंडरीकवनेष्वमी । हंसाः कलरुतैर्मंद्रं स्वनंति श्रोतृहारिभिः ॥ ३६ ॥ सिंहध्वजमिदं सैंहैर्ध्वजैः सौधाग्रवर्तिभिः । निरुणाद्धि सुरेंद्राणां मार्गं सिंहविशंकिनां ॥ ३७ ॥ श्वेतकेतुपुरं भाति श्वेतैः केतुभिराततैः । सौधाग्रवर्तिभिर्दूरादुज्झषकेतुमिवाह्वयत् ॥ ३८ ॥ गरुडध्वजसंज्ञं च पुरमाराद्विराजते । गरुडग्रावनिर्माणैः सौधाग्रैर्म्रस्तखांगणं ॥ ३९ ॥ श्रीप्रभं श्रीप्रभो-

---

शको छूनेवाले ऊंचे २ राजमहलोंसे ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों स्वर्गको छूनेकेलिये ही तैयार हुआ हो ॥ ३२ ॥ वह देखो जिसके उद्यान किन्नर जातिकी देवियोंके गीतोंसे सदा मनोहर विहार करने योग्य रहते हैं ऐसा वह अनेक संपदाओंसे सुशोभित किन्नरगीत नामका नगर दिखाई दे रहा है ॥ ३३ ॥ इधर यह तीसरा नरगीत नामका नगर है और इधर यह ४ महर्द्धिक नामका नगर है, यहांके स्त्रीपुरुष सदा उत्सव करते हुये प्रसन्न रहते हैं ॥ ३४ ॥ इधर यह अनेक ध्वजाओंसे सुशोभित ५ बहुकेतुक नामका पांचवा नगर है, देखो यह ऐसा जान पडता है मानों ध्वजारूप भुजाओंसे हम लोगोंको बुलानेकेलिये ही तैयार हुआ हो ॥ ३५ ॥ इधर यह ६ पुंडरीक नामका नगर है, इसके सफेद कमलोंके बनोंमें ये हंस कानोंको अच्छे लगनेवाले ऐसे मधुर और गंभीर शब्दोंसे सदा गाते रहते हैं ॥ ३६ ॥ इधर देखो जिसके राजमहलोंपर सिंहकी ध्वजायें लगी हुई हैं और उन ध्वजाओंसे जो सिंहसे डरनेवाले देवोंका मार्ग रोक रहा है ऐसा यह सिंहध्वज नगर है ॥ ३७ ॥ जिसके बडे २ महलोंपर सफेद ध्वजायें फहरा रही हैं और उन ध्वजाओंसे जो मानों कामदेवको ही बुला रहा है ऐसा यह ८ श्वेतकेतुपुर है ॥ ३८ ॥ इधर यह समीपमें ही ९ गरुडध्वज नामका नगर शोभायमान है इसके बडे २ महलोंकी छतों-

पेतं श्रीधरं च पुरोत्तमं। भातीदं द्वयमन्योन्यस्पर्धयेव श्रियं श्रितं ॥ ४० ॥ लोहार्गलमिदं लौहैरर्गलैरतिदुर्गमं । अरिंजयं च जित्वारीन् हसतीव स्वगोपुरैः ॥ ४१ ॥ वज्रार्गलं च वज्राढ्यं विभातीतः पुरद्वयं । वज्राकरैः समीपस्थैः समुन्मिषदिवान्वहं ॥ ४२ ॥ इदं पुरं विमोचाख्यं पुरमेतत्पुरंजयं । एताभ्यां निर्जितं नूनमधोऽगात्फणिनां जगत् ॥ ४३ ॥ शकटादिमुखी चैव पुरी भाति चतुर्मुखी । चतुर्भिर्गोपुरैस्तुंगैर्लंघयंतीव खांगणं ॥ ४४ ॥ बहुमुख्यरजस्का च विरजस्का च नामतः । नगर्यो भुवनस्येव त्रयस्य मिलिताः श्रियः ॥ ४५ ॥ रथनूपुरपूर्वं च चक्रवालाह्वयं पुरं । उक्तानां वक्ष्यमाणानां पुरां च तिलकायते ॥ ४६ ॥ राजधानीयमेतस्यां विद्याभृच्चक्रवर्तिनः । निवसंति परां लक्ष्मीं भुंजानाः स्वकृतोदयात् ॥ ४७ ॥ मेखलाग्रपुरं र-

---

पर गरुडोद्गार नामके मणि लगे हुये हैं जिनसे समस्त आकाश भरगया है ॥ ३९ ॥ इधर ये लक्ष्मीकी शोभासे सुशोभित श्रीप्रभ १० और श्रीधर ११ नामके उत्तम नगर हैं, ये दोनों ही नगर ऐसे अच्छे जान पडते हैं मानों इन्होंने एक दूसरेकी स्पर्द्धा करके ही इतनी अधिक संपत्ति धारण की हो ॥ ४० ॥ इधर देखो जो लोहेके अर्गलोंसे अत्यंत दुर्गम है अर्थात् जिसमें कोई शत्रु प्रवेश नहीं कर सकता ऐसा यह १२ लोहार्गल नगर है। इधर यह १३ अरिंजय नगर है जोकि अपने नगरके बडे दरवाजोंसे ऐसा जान पडता है मानों शत्रुओंको जीतकर हंस रहा ही हो ॥ ४१ ॥ इधर ये १४ वज्रार्गल और १५ वज्राढ्य नामके दो नगर सुशोभित हैं जो कि ऐसे जान पडते हैं मानों अपने समीपवर्ती हीराकी खानोंसे रात दिन हंस रहे ही हों ॥ ४२ ॥ और देखो इधर १६ विमोच नगर है, इधर यह १७ पुरंजय नगर है, ये दोनों ही नगर ऐसे मनोहर जान पडते हैं कि मानों भवनवासियोंके नगर इनसे लज्जित होकर ही नीचे अधोलोकमें चले गये हों ॥४३॥ इधर यह १८ शकटमुखी नगरी है और यह १९ चतुर्मुखी नगरी है। इन दोनों नगरियोंके चारों दिशाओंके गोपुर (नगरके बाहरी बडे दरवाजे) इतने ऊंचे हैं कि वे आकाशको भी उल्लंघन कर रहे हैं॥४४॥ यह २० बहुमुखी, यह २१ अरजस्का और यह २२ विरजस्का नामकी नगरी हैं। ये तीनों ही नगरियें ऐसी हैं मानों तीनों लोकोंकी लक्ष्मी एक जगह ही मिलगई हो ॥४५॥ इधर यह २३ रथनूपु-

म्यमितः क्षेमपुरी पुरी । अपराजितमेतत्स्यात्कामपुष्प मितः पुरं ॥ ४८ ॥ गगनादिचरीयं सा विनयादिचरी पुरी । परं चक्रपुरं चेतत्त्रिंशत्संख्यानपूरणं ॥ ४९ ॥ संजयंती जयंती च विजया वैजयंत्यपि । क्षेमंकरं च चंद्राभं सूर्याभं चातिभास्वरं ॥ ५० ॥ रतिचित्रमहद्धेमत्रिमेघोपपदानि वै । कूटानि स्युर्विचित्रादिकूटं वैश्रवणादि च ॥ ५१ ॥ सूर्यचंद्रपुरे चाम नित्योद्योतिन्यः क्रमात् । विमुखीनित्यवाहिन्यौ सुमुखी चैव पश्चिमा ॥ ५२ ॥ नगर्यो दक्षिणश्रेण्यां पंचाशत्संख्यया मिताः । प्राकारगोपुरोत्तुंगाः खातैस्त्रिभिरावृताः ॥ ५३ ॥ तिसृणामपि खातानामंतरं दंडसंमितं । दंडाश्चतुर्दशैकस्या व्यासो-

रचक्रवाल नामका नगर है, यह नगर ऊपर कहे हुये और आगे कहे जानेवाले सब नगरोंमें तिलकके समान सुंदर है, ॥ ४६ ॥ यह नगर इस श्रेणीकी राजधानी है, चक्रवर्ती विद्याधर अपने पुण्यकर्मके उदयसे उत्तम लक्ष्मीका उपभोग करते हुये इसमें निवास करते हैं ॥४७॥ इधर यह मनोहर २४ मेखलाग्र नगर है, यह २५ क्षेमपुरी है, यह २६ अपराजित नगर है और इधर यह २७ कामपुष्प नगर है ॥ ४८ ॥ यह २८ गगनचरी तथा यह २९ विनयचरी नगरी है और यह तीसवीं संख्या पूरण करनेवाला अर्थात् तीसवा उत्तम चक्रपुर नगर है ॥ ४९ ॥ यह ३१ संजयंता यह ३२ जयंती, यह ३३ विजया, यह ३४ वैजयंती नगरी है। यह ३५ क्षेमंकर, यह ३६ चंद्राभ और यह अतिशय देदीप्यमान ३७ सूर्याभ नामका नगर है ॥ ५० ॥ यह रतिकूट, यह ३९ चित्रकूट, यह ४० महत्कूट, यह ४१ हेमकूट, यह ४२ त्रिकूट, यह ४३ मेघकूट, यह ४४ विचित्रकूट और यह ४५ वैश्रवणकूट नगर है ॥ ५१ ॥ ये अनुक्रमसे सदा प्रकाशमान होनेवाले ४६ सूर्यपुर और ४७ चंद्रपुर नामके नगर हैं। यह ४८ विमुखी, यह ४९ नित्यवाहिनी और यह पचासवीं सुमुखी नामकी नगरी है ॥ ५२ ॥ इसप्रकार दक्षिण श्रेणीमें ये सब पचास नगरी हैं इन नगरियोंके कोट और बडे दरवाजे बहुत ऊंचे हैं, तथा प्रत्येक नगरी तीन तीन खाइयोंसे घिरी हुई है ॥ ५३ ॥ इन तीनों खाइयोंका अंतर एक एक दंड (धनुष) है तथा पहिली खाई चौदह दंड चौडी है, दूसरी बारह और तीसरी दस दंड चौडी है॥ ५४ ॥ पहली खाईकी गहराई चौडाईसे पौनी

घूनोन्ययोर्द्वयोः ॥ ५४ ॥ विष्कंभादवगाढास्ताः पादोनं चार्द्धमेव वा । त्रिभागमूलास्ता ज्ञेया मूलाद्वा चतुरस्त्रिकाः ॥ ५५ ॥ रत्नोपलैरुपहिताः स्वर्णेष्टकचिताश्च ताः । तौयांतिक्यः परीवाहयुक्ता वा निर्मलोदकाः ॥ ५६ ॥ पद्मोत्पलावतंसिन्यो यादोदोर्घट्टनक्षमाः । महाब्धिमिव स्पर्द्धां कुर्वाणास्तुंगवीचिभिः ॥५७॥ चतुर्दंडांतरश्चातो वप्रः षड्धनुरुच्छ्रितः। स्वर्णपांसूपलैश्छन्नःस्वोत्सेधाद्द्विश्च विस्तृतः ॥५८॥ तमूर्ध्वक्षयमिच्छंति यथा मंचकपृष्ठकं । कुंभकुक्षिसमाकारं गोक्षुरक्षोदनिस्तलं ॥५९॥ वप्रस्योपरि सालोभूद्विष्कंभाद्द्विगुणोच्छ्रितः । चतुर्विंशतिमुद्विद्धो धनुषां तलमूलतः ॥६०॥ मुरजैः

है अर्थात् साढेदश धनुष है, दूसरीकी गहराई चौडाईसे आधी अर्थात् छह धनुष है और तीसरीकी गहराई चौडाईसे तिहाई अर्थात् सवातीन धनुषसे कुछ अधिक है। ये सब खाइयां तलहटीसे ऊपरतक एकसी चौडी हैं ॥ ५५ ॥ ये सब खाइयां सुवर्णमय ईंटोंसे बनी हुई हैं, रत्नमय पाषाणोंसे जडीहुई हैं। इनमें ऊपर मुखतक बराबर जल भरा रहता है और वह जल भी बहुत ही स्वच्छ रहता है। इन खाइयोंमें जलके बाहर निकलनेके मार्ग भी बने हुये हैं ॥ ५६ ॥ इन खाईयोंमें जो सफेद और लाल कमल हैं वे इसके कर्णफूलके समान जान पडते हैं, जलचर जीवोंकी भुजाओंके संघट्टन करनेमें ये सब समर्थ हैं और अपनी ऊंची लहरोंसे ऐसी जान पडती हैं मानों महासागरके साथ बराबरी ही कर रही हों ॥ ५७ ॥ इन खाइयोंसे चार धनुष हटकर एक कोट है जोकि सुवर्णकी धूलके बनेहुये पत्थरोंसे जडा हुआ है यह कोट छह धनुष ऊंचा और बारह धनुष चौडा है ॥ ५८ ॥ इस कोटके ऊपर कंगूरे बने हुये हैं। ये कंगूरे कीचडमें रक्खे हुये गायके खुरके चिन्हके समान गोल हैं और घडेके पेटके समान बाहरकी ओर उठे हुये हैं ॥ ५९ ॥ इस कोटके बाद ही एक परकोटा है जो कि चौडाईसे दूना ऊंचा है। इसकी उंचाई नीचेसे ऊपरतक चौवीस धनुष है अर्थात् यह बारह धनुष चौडा है और चौवीस धनुष ऊंचा है ॥ ६० ॥ इस परकोटेका ऊपरीभाग कहींपर मृदंगके आकार गोल और ऊंचा बना हुआ है और कहींपर बंदरके शिरके समान गोल बना हुआ है, यह परकोटा अनेकतरहकी सुवर्णकी ईंटोंसे बना हुआ है तथा

कपिशीर्षैश्च रश्चिताग्रः समंततः । चित्रैर्हैमेष्टकाचितः क्वचिद्रत्नशिलामयः ॥६१॥ विष्कंभचतुरस्राश्च तत्राट्टालकपंक्तयः । त्रिंशदर्द्धं च दंडानां रुंद्रास्तद् द्विगुणोच्छ्रिताः ॥ ६२ ॥ त्रिंशद्दंडांतराश्चैता मणिहेमविचित्रिताः । उत्सेधसदृशारोहसोपाना गगनस्पृशः ॥६३॥ द्वयोरट्टालयोर्मध्ये गोपुरं रत्नतोरणं । पंचाशद्धनुरुत्सेधं तदर्द्धमपि विस्तृतं ॥ ६४ ॥ गोपुराट्टालयोर्मध्ये त्रिधनुष्कावगाहनं । इंद्रकोशमभूत्सापिधानैर्युक्तगवाक्षकैः ॥ ६५ ॥ तदंतरेषु राजंते स्वस्थादेवपथास्तथा । त्रिहस्तविस्तृताः पार्श्वे तच्चतुर्गुणमायताः ॥ ६६ ॥ इत्युक्तखातिकावप्रप्राकारैः परितो वृताः । विभासंते नगर्योमूः परिधानैरिवांगनाः ॥ ६७ ॥ चतुष्काणां सहस्रं स्याद्वीथ्यस्तद्द्वादशाहतं । द्वाराण्येकसहस्रं तु महांति क्षुद्रकाणि वै ॥ ६८ ॥ तदर्द्धं तद्द्विशत्यग्रिमाणि द्वाराणि

कहीं २ पर इसमें रत्नमय शिला भी लगी हुई हैं ॥ ६१ ॥ उस परकोटाके ऊपर अटारियोंकी पंक्तियां हैं जो कि बनीहुई परकोटाकी चौडाईके समान अर्थात् बारह धनुष चौडी हैं, पंद्रह धनुष लंबी हैं और तीस धनुष ऊंची हैं ॥ ६२ ॥ ये सब अटारियां तीस २ धनुषके अंतरसे बनी हुई हैं, सुवर्ण और माणियोंकी बनी हुई हैं, इसलिये तरह तरहकी दिखाई दे रही हैं। इनकी उंचाईके बराबर छततक सीढियां बनी हुई हैं और अपनी उंचाईसे ये आकाशको भी छू रही हैं ॥ ६३ ॥ दो दो अटारियोंके बीचमें एक एक गोपुर (बडा दरवाजा) है जिसपर रत्नोंके तोरण लगे हुये हैं। ये दरवाजे पचास धनुष ऊंचे हैं, और पच्चीस धनुष चौडे हैं ॥ ६४ ॥ गोपुर और अटारियोंके बीचमें तीन २ धनुष लंबे चौडे बुरज बने हुये हैं, इन बुरजोंमें किवाड भी लगे हुये हैं और झरोखे भी बने हुये हैं ॥ ६५ ॥ उन बुरजोंके बीचमें मृदंगके आकारके बहुत स्वच्छ देवपथ बने हुये हैं जोकि ये देवपथ तीन हाथ चौडे और बारह हाथ लंबे हैं ॥ ६६ ॥ इसप्रकार ऊपर कही हुई खाई कोट परकोटा इनसे चारोंओर घिरी हुई ये नगरियें ऐसी सुशोभित होती हैं मानों सुंदर वस्त्र पहने हुये स्त्रियां ही हों ॥ ६७ ॥ इन नगरियोंमेंसे प्रत्येक नगरीमें एक हजार चौक हैं, बारह हजार गलियां हैं और छोटे बडे सब एक हजार दरवाजे हैं ॥ ६८ ॥ इनमेंसे आधे अर्थात् पांचसौ दरवाजे तो ऐसे श्रेष्ठ हैं कि जिनमें किवाड लगे हुये हैं और जो नगरीकी शोभाके नेत्रोंके

तानि च । सकवाटानि राजंते नेत्राणीव पुरश्रियां ॥ ६९ ॥ पूर्वापरेण रुंद्राः स्युर्योजनानि नवैव ताः । दक्षिणोत्तरतो दीर्घा द्वादशप्राग्मुखं स्थिताः ॥ ७० ॥ राजगेहादिविस्तारमासां को नाम वर्णयेत् । ममापि नागराजस्य यत्र मोमुह्यते मतिः ॥ ७१ ॥ ग्रामाणां कोटिरेका स्यात्परिवारः पुरं प्रति । तथा खेटमडंबादिनिवेशश्च पृथग्विधः ॥ ७२ ॥ अकृष्टपच्यैः कलमैर्धान्यैरन्यैश्च संभृताः । पुंड्रेक्षुवनसंछन्नसीमानो निगमाः सदा ॥ ७३ ॥ पुराणामंतरं चात्र स्यात्पंचनवतं शतं । प्रमाणयोजनोदिष्टमानमाप्तैर्निदर्शितं ॥ ७४ ॥ पुराणि दक्षिणश्रेण्यां यथैतानि तथैव वै । भवेयुरुत्तरश्रेण्यामपि तानि समृद्धिभिः ॥ ७५ ॥ किंत्वंतरं पुराणां च स्यात्तत्रैकं प्रमाणतः । योजनानां शतं चाष्टसप्ततिश्चैव साधिका ॥ ७६ ॥ तेषां च नामनिर्देशो भवेदयम-

---

समान सुशोभित हो रहे हैं। इन पांचसौ दरवाजोंमें भी दो सौ दरवाजे बहुत ही अच्छे और मुख्य गिने जाते हैं ॥ ६९ ॥ इन नगरियोंकी चौडाई पूर्वसे पश्चिमतक नौ योजन है और लंबाई दक्षिणसे उत्तरतक बारह योजन है। इन सब नगरियोंका मुख पूर्व दिशाकी ओर है ॥ ७० ॥ इनके राजमहल आदिकी शोभा तथा लंबाई चौडाई आदिका वर्णन कौन कर सकता है क्योंकि मैं धरणेंद्र हूं तथापि इनका वर्णन करनेमें मेरी बुद्धि चक्कर खाती है ॥ ७१ ॥ इन नगरोंमेंसे प्रत्येक नगरसे एक करोड गांव लगते हैं, इनके सिवाय खेट अडंव आदिकी रचना जुदी समझनी चाहिये ॥ ७२ ॥ प्रत्येक गांव वा मुहल्ला बिना बोये शाली चांवलोंसे तथा और भी अनेक प्रकारके धान्योंसे सदा हरे भरे रहते हैं और उनकी सीमायें मोटी ईखोंके खेतोंसे सदा ढकी रहती हैं ॥ ७३ ॥ श्रीसर्वज्ञदेवने इस विजयार्द्ध पर्वतपर बसे हुये नगरोंका अंतर प्रमाणांगुलके बने हुये योजनोंसे अर्थात् बडे योजनोंसे एकसौ पिचानवे योजन कहा है ॥ ७४ ॥ जिसप्रकार इन दक्षिणश्रेणीके नगरोंकी रचना बतलाई है ठीक उसीप्रकार अनेकप्रकारकी विभूतियोंसे सुशोभित उत्तरश्रेणीके नगरोंकी रचना है ॥ ७५ ॥ किंतु अंतर केवल इतना है कि उत्तरश्रेणीके नगरोंमें प्रत्येक नगरका अंतर कुछ अधिक एकसौ अठहत्तर योजन है ॥ ७६ ॥ उत्तरश्रेणीके नगरोंके नाम पश्चिम दिशासे लेकर साठवें नगरतक अनुक्रमसे इस प्रकार हैं ॥७७॥ १ अर्जुनी २ वारुणी ३ कैलासवारु-

नुक्रमात् । पश्चिमां दिशमारभ्य यावत् षष्ठितमं पुरं ॥ ७७ ॥ अर्जुनी वारुणी चैव सकैलासा च वारुणी । विद्युत्प्रभं किलिकिलं चूडामणिशशिप्रभे ॥ ७८ ॥ वंशालं पुष्पचूडं च हंसगर्भबलाहकौ । शिवंकरं च श्रीहर्म्यं चमरं शिवमंदिरं ॥ ७९ ॥ वस्तुमुत्कं वसुमती नाम्ना सिद्धार्थकं पुरं । शत्रुंजयं ततः केतुमालाख्यं च भवेत्पुरं ॥ ८० ॥ सुरेंद्रकांतमन्यत्स्यात्ततो गगननंदनं । अशोकान्या विशोका च वीतशोका च सत्पुरी ॥ ८१ ॥ अलका तिलकाख्या च तिलकांतं तथांबरं । मंदिरं कुमुदं कुंदमतो गगनवल्लभं ॥ ८२ ॥ द्युभूमितिलके पुर्यौ पुरं गंधर्वसाह्वयं । मुक्ताहारः सानिमिषं चाग्निज्वालमतः परं ॥ ८३ ॥ महाज्वालं च विज्ञेयं श्रीनिकेतो जयाह्वयं । श्रीवासो मणिवज्राख्यं भद्राश्वं भवनंजयं ॥ ८४ ॥ गोक्षीरं फेनमक्षोभ्यं गिर्यादिशिखराह्वयं । धरणी धारणं दुर्गं दुर्ध्दराख्यं सुदर्शनं ॥ ८५ ॥ माहेंद्राख्यपुरं चैव पुरं विजयसाह्वयं । सुगंधिनी च वज्राख्यं परं रत्नाकराह्वयं ॥ ८६ ॥ भवेच्चंद्रपुरं चांत्यमुत्तरस्यां पुराणि वै । श्रेण्यां स्वर्गपुरश्रीणि भांत्येतानि महांत्यलं ॥ ८७ ॥ पुराणींद्रपुराणीव सौधानि स्वर्विमानतः । प्रति-

---

णी ४ विद्युत्प्रभ ५ किलकिल ६ चूडामणि ७ शशिप्रभा ८ वंशाल ९ पुष्पचूड १० हंसगर्भ ११ बलाहक १२ शिवंकर १३ श्रीहर्म्य १४ चमर १५ शिवमंदिर १६ वस्तुमत्क (वसुमांक) १७ वसुमती १८ सिद्धार्थक १९ शत्रुंजय २० केतुमाला २१ सुरेंद्रकांत २२ गगननंदन २३ अशोका २४ विशोका २५ उत्तम वीतशोका २६ अलका २७ तिलका २८ अंबरतिलक २९ मंदिर ३० कुमुद ३१ कुंद ३२ गगनवल्लभ ३३ द्युतिलक ३४ भूमितिलक ३५ गंधर्वपुर ३६ मुक्ताहार ३७ निमिष ३८ अग्निज्वाल ३९ महाज्वाल ४० श्रीनिकेत ४१ जय ४२ श्रीनिवास ४३ मणिवज्र ४४ भद्राश्व ४५ भवनंजय ४६ गोक्षीर ४७ फेन ४८ अक्षोभ्य ४९ गिरिशिखर ५० धरणी ५१ धारण ५२ दुर्ग ५३ दुर्द्धर ५४ सुदर्शन ५५ महेंद्रपुर ५६ विजयपुर ५७ सुगंधिनी ५८ वज्रपुर ५९ रत्नाकर और ६० चंद्रपुर । इसप्रकार उत्तरश्रेणीमें ये बडे २ साठ नगर सुशोभित हैं। इन सबकी शोभा स्वर्गके नगरोंकी शोभाके समान है ॥ ७८-८७ ॥ ये नगर इंद्रपुरीके समान हैं, बडे २ महल स्वर्गके विमानोंके समान हैं और प्रत्येक नगरकी अलग २ विभूति एककी दूसरेसे अधिक ही जान पडती है ॥ ८८ ॥ यहांके मनुष्य देवोंके कुमारोंके समान हैं और स्त्रियां अप्सराओंके समान हैं। ये सब

प्रतिपुरं व्यस्तं विभवं प्रतिवैभवं ॥ ८८ ॥ नराः सुरकुमाराभा नार्यश्चाप्सरसां समाः । सर्वर्तुविषयान्भोगान्भुंजतेमी यथोचितं ॥ ८९ ॥ इति पुराणि पुराणकवीशिनामपि वचोभिरशक्यनुतीन्ययं । दधदधित्यकया गिरिरुच्चकै र्दुवसतेः श्रियमाह्वयते ध्रुवं ॥ ९० ॥ गिरिरयं गुरुभिः शिखरैर्दिवं प्रविपुलेन तलेन च भूतलं । दधदुपांतचरैः खचरोरगैः प्रथयति त्रिजगच्छ्रियमेकतः ॥ ९१ ॥ निधुवनानि बनांतलतालयैर्मृदितपल्लवसंस्तरणाततैः । पिशुनयत्युपभोगसुगंधिभिर्गिरिरियं गगनेचरयोषितां ॥ ९२ ॥ इह सुरासुरकिंनरपन्नगा नियतमस्य तटेषु महीभृतः । प्रतिवसंति समं प्रमदाजनैः स्वरुचितैरुचितैश्च रतोत्सवैः ॥ ९३ ॥ सुरसिषेविषितेषु निषेदुषीः सरिदुपांतलताभवनेष्वमूः । प्रणयकोपविजिह्ममुखीर्वधूरनुनयंति सदात्र नभ-

---

स्त्रीपुरुष अपने अपने योग्य छहों ऋतुओंके विषय भोगोंका उपभोग करते रहते हैं ॥ ८९ ॥ इसप्रकार इस पर्वतपर ऐसे नगर हैं कि बडे २ प्राचीन कवि भी अपने वचनोंसे जिनकी स्तुति नहीं कर सकते हैं। इसके सिवाय इसके ऊपरकी भूमि बहुत ऊंची और मनोहर है जिससे ऐसा जान पडता है मानों यह स्वर्गकी शोभाको बुला रहा ही हो ॥९०॥ हे राजकुमार देखो यह पर्वत अपनी ऊंची शिखरोंसे मानों स्वर्गको धारण कर रहा है अपनी बहुत नीची तलहटीसे अधोलोकको धारण करता है और समीपमें ही विहार करनेवाले विद्याधर तथा नागकुमार जातिके देवोंसे मध्यलोककी शोभा धारण करता है। इसप्रकार यह पर्वत एक जगह ही तीनों लोकोंकी शोभा प्रगट कर रहा है ॥ ९१ ॥ इस पर्वतके बनोंमें अनेक लताओंके घर बने हुये हैं उनमें छिपकर अनेक विद्याधरियें कोमल पत्तोंके बिछोने बिछाकर रतिक्रीडा करती हैं परंतु उससमय उनके उपभोग करने योग्य सुगंधित पदार्थोंकी जो सुगंधि चारों ओर फैलती है उससे मानों यह पर्वत उनकी रतिक्रीडाको प्रगट ही कर देता है ॥ ९२ ॥ इस पर्वतके किनारोंपर देव असुरकुमार, नागकुमार किन्नर आदि देव अपनी २ स्त्रियोंके साथ अपनेको अच्छे लगनेवाले तथा अपने २ योग्य ऐसे रतिक्रीडा आदि अनेक उत्सव करते हुये अवश्य ही निवास करते रहते हैं ॥ ९३ ॥ तथा इस पर्वतपर देवोंके सेवन करने योग्य ऐसे नदियोंके किनारे बने हुये लताओंके कुंजोंमें

-श्वराः ॥ ९४ ॥ इह मृणालनियोजितबंधनैरिह वतंससरोरुहताडनैः । इह मुखासवसेचनकैः प्रियान्विमुखयंति रतेः कुपिताः स्त्रियः ॥ ९५ ॥ क्वचि-
दनंगनिवेश इवामरीललितनर्त्तनगीतमनोहरः । मदकलध्वनिकोकिलडिंडिमैः क्वचिदनंगजयोत्सवविभ्रमः ॥ ९६ ॥ क्वचिदुपोढपयःकणशीतलैर्धुतसरो-
जवनैः पवनैः सुखः । मदकलालिकुलाकुलपादपैरुपवनैरतिरम्यतरः क्वचित् ॥ ९७ ॥ क्वचिदनेकपयूथनिषेवितः क्वचिदनेकपतत्पतगाततः । क्वचिद-
नेकपरार्ध्यमणिद्युतिच्छुरितराजतसानुविराजितः ॥ ९८ ॥ क्वचिदकांडविनर्तितकेकिभिर्घननिभैर्हरिनीलतटैर्युतः । क्वचिदकालकृतोषसविप्लवैः परिग-

---

बैठी हुई तथा प्रणय कोपसे जिनके मुख कुछ मलिन हो रहे हैं ऐसी इन विद्याधरियोंको विद्याधर लोग सदा प्रसन्न करते रहते हैं ॥ ९४ ॥ देखो ये कुपित हुई स्त्रियां अपने पतियोंको कमलनालके तंतुओंसे बांधकर रतिक्रीडासे विमुख कर रहीं हैं, इधर कर्णफूलोंके कमलोंसे ताडना करके ही विमुख कर रही हैं और इधर देखो उनपर मुखका मद्य थूककर उन्हें रतिक्रीडासे विमुख कर रही हैं॥ ९५ ॥ देखो इसपर्वतके कितने ही प्रदेश तो देवियोंके सुंदर गीत और नृत्योंसे मनोहर दिखाई दे रहे हैं जिनसे ऐसा जान पडता है मानों ये कामदेवके निवासस्थान ही हों। तथा कहींपर कोयलोंके कोमल शब्द रूपी नगाडे बज रहे हैं जिनसे कामदेवके जयोत्सवका विलास ही जान पडता है ॥ ९६ ॥ देखो कहींपर तो जलके कणोंको धारण करनेवाले शीतल वायुसे कमलोंके बन हिलाये जा रहे हैं जिससे यह बहुत सुखदायी जान पडता है, और कहींपर कोमल शब्द करते हुये भ्रमरसमूहोंसे बगीचोंके वृक्ष व्याप्त हो रहे हैं जिनसे यह बहुत मनोहर जान पडता है ॥ ९७॥ देखो इसपर कहीं तो हाथियोंके समूह क्रीडा कर रहे हैं, कहीं ऊपरसे पडते हुये अनेक पक्षियोंसे व्याप्त हो रहा है और कहींपर जडी हुई अनेक बहुमूल्य मणियोंकी कांतिसे मिले हुये इसके चांदीके किनारे कैसे अच्छे सुशोभित हो रहे हैं ॥९८॥ इधर यह देखो कहीं कहींपर इंद्रनीलमणिके बने हुये इसके किनारे ठीक बादलोंके समान जान पडते हैं जिन्हें देखकर ये मयूर बिना वर्षाऋतुके भी नृत्य कर रहे हैं। इधर ये पद्मराग मणियोंकी लाल शिलायें पडी हुई हैं जिनसे बिना समयके भी

तोऽरुणरत्नशिलातलैः ॥ ९९ ॥ क्वचन कांचनभित्तिपराहतैः रविकरैरभिदीपितकाननः । नभसि संचरतां जनयत्ययं गिरिरुदीर्णदवानलसंशयं ॥ १०० ॥ इति विशेषपरंपरयान्वहं परिगतो गिरिरेष सुरेशिनां । अपि पुनः परिवर्द्धितकौतुकं वितनुते किमुतांबरचारिणां ॥ १०१ ॥ सुरसरिज्जलसिक्ततटद्रुमो जलदचुंबितसानुवनोदयः । मणिमयैः शिखरैः खचरोषितैर्विजयते गिरिरेष सुराचलान् ॥ १०२ ॥ सुरनदीसलिलप्लुतपादपैस्तटवनैः कुसुमांचितमूर्द्धभिः । मुखरितालिभिरेष महाचलो विहसतीव सुरोपवनश्रियं ॥ १०३ ॥ इयमितः सुरसिंधुरपां छटाः प्रकिरतीह विभाति पुरोदिशि । वहति सिंधुरितश्च महानदी मुखरिता कलहंसकलस्वनैः ॥ १०४ ॥ हिमवतः शिरसः किल निःसृते सकमलालयतः सरिताविमे । शुचितयास्य तु

प्रातःकालकीसी ललाईका समूह फैल रहा है ॥ ९९ ॥ इधर देखो ये सूर्यकी किरणें इसपर्वतकी सुवर्णमय दीवालपर पडकर फिर उलटकर लौट रही हैं जिससे यह बन बहुत ही प्रकाशमान हो रहा है और आकाशमें चलनेवाले विद्याधरोंको इसपर्वतपर दावानल आग्नि लगनेका संदेह उत्पन्न करा रहा है ॥ १०० ॥ इसप्रकार अनेकप्रकारकी विशेष २ संपदाओंसे सुशोभित रहनेवाला यह पर्वत रात दिन इंद्रोंके मनकी उत्कंठाको भी बढाता रहता है, फिर भला विद्याधरोंकी तो बात ही क्या है ॥ १०१ ॥ देखो इसपर्वतपर कहीं तो गंगानदीके जलसे इसके किनारेके वृक्ष सींचे जा रहे हैं और कहीं इसके किनारेके बनोंमें बादल छाये हुये हैं, जिनसे यह पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता है मानों यह विद्याधरोंके सेवन करने योग्य ऐसे अपने मणिमय शिखरोंसे कुलाचल पर्वतोंको ही जीत रहा हो ॥ १०२ ॥ और देखो इस पर्वतके किनारेके बनोंके वृक्ष गंगानदीके जलसे भरपूर सींचे हुये हैं इनके मस्तक फूलोंसे सुहावने लग रहे हैं और ये बन भ्रमरोंके झंकारोंसे शब्दायमान हो रहें हैं जिससे ऐसा जान पडता है मानों यह पर्वत स्वर्गलोकके उद्यानोंकी शोभाकी ओर हंस रहा ही हो ॥ १०३ ॥ इधर देखो यह गंगा नदी पूर्व दिशाकी ओर अपने जलकी बूंदोंकी वर्षा करती हुई सुशोभित हो रही है और इधर यह सिंधु महानदी सुंदर हंसोंके मधुर शब्दोंसे शब्द करती हुई वह रही है ॥ १०४ ॥ ये दोनों ही गंगा और सिंधु नदी

पादमुपाश्रिते शुचिरलंघ्यतरो हि बुधोन्नतिः ॥१०५॥ इह सदैव सदैवविचेष्टितैः सुकृतिनः कृतिनः खचराधिपाः। कृतनयास्तनया इव सत्पितुः समुपयान्ति फलान्यमुतो गिरेः॥१०६॥ क्षितिरकृष्टपच्येलिमसस्यसूः खनिरयत्नजरत्नविशेषसूः। इह वनस्पतयश्च सदोन्नता दधति पुष्पफलर्द्धिमकालजां ॥१०७॥ सरसि सारसहंसविकूजितैः कुसुमितासु लतास्वलिनिस्वनैः। उपवनेषु च कोकिलनिःक्वणैर्इदिशयोऽत्र सदैव विनिद्रितः ॥ १०८ ॥ कमलिनीवनरेणुविकर्षिभिः कुसुमितोपवनद्रुमधूननैः। धृतिमुपैति सदा खचरीजनो रतिपरिश्रमनुद्भिरिहानिलैः ॥ १०९ ॥ हरिरितः प्रतिगर्जति कानने करिकुलं वनमु-

हिमवान पर्वतके मस्तकपरसे पद्म सरोवरसे निकली है तथापि वे इस पर्वतकी पवित्रतासे इसके चरणोंकी सेवा करती हैं अर्थात् इसके नीचे होकर बहती ह। सो ठीक ही है जो पवित्र होता है उसे कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। पवित्रताके सामने उंचाई अथवा बढना व्यर्थ ही है। भावार्थ—यद्यपि हिमवान पर्वत इसकी अपेक्षा ऊंचा है तथापि वह इसकी पवित्रताके सामने कुछ नहीं है ॥ १०५ ॥ जिसप्रकार विनयवान पुत्रको श्रेष्ठ पितासे अनेक प्रकारके फल मिला करते हैं उसीप्रकार जो अपने भाग्याधीन आचरणोंसे बडे ही कुशल और पुण्यवान हैं ऐसे विनवान विद्याधरोंको इस पर्वतसे अनेक प्रकारके फल सदा मिलते रहते हैं ॥ १०६ ॥ यहांकी पृथ्वीपर बिना बोये धान्य सदा उत्पन्न होते रहते हैं यहांकी खानोंमेंसे बिना प्रयत्न किये ही अनेक प्रकारके उत्तम उत्तम रत्न निकलते रहते हैं और यहांकी वनस्पतियें सदा हरी भरी रहती हैं तथा बिना समयके भी अनेक प्रकारके पुष्प फल आदिकी शोभाको धारण करती रहती हैं ॥ १०७ ॥ यहांके सरोवरोंपर सारस और हंस पक्षी सदा मधुर शब्द करते रहते हैं, फूली हुई लताओंपर भ्रमर गुंजार करते रहते हैं और बाग बगीचोंमें सदा कोयलें बोलती रहती हैं इन सब हेतुओंसे ऐसा जान पडता है मानों यहां कामदेव सदा जगता ही रहता है ॥ १०८ ॥ यहांके जिस वायुमें कमलबनोंकी पराग मिली हुई है, जो उद्यानोंके फूले हुये वृक्षोंको हिला रहा है और जो रतिक्रीडाके परिश्रमको बिलकुल दूर कर देनेवाला है ऐसे इस वायुसे ये विद्याधरियें इस पर्वतपर सदा

ज्झति तद्भयात् । परिगलत्कबलं च मृगीकुलं गिरिनिकुंजतलादुपसर्पति ॥ ११० ॥ सरसि हंसवधूरियमुत्सुका कमलरेणुविपिंजरमंजसा । समनुयाति न कोकविशंकिनी सहचरं गलदश्रु विरौति च ॥ १११ ॥ इयमितो बत कोककुटुंबिनी कमलिनीनवपत्रतिरोहितं । अनवलोक्य मुहुः सहचारिणं भ्रमति दीनरुतैः परितः सरः ॥ ११२ ॥ इह शरद्घनमल्पकमाश्रितं मणितटं सुरखेचरकन्यकाः । लघुतया सुखहार्यमितस्ततः प्रचलयंति नयंति च कर्षणैः ॥ ११३ ॥ असुमतां सुमतां च समाततां धृतघनांतघनामिव वीचिभिः । ततवनांतवनाममरापगां वहति सानुभिरेष महाचलः ॥ ११४ ॥

संतुष्ट रहती हैं ॥ १०९ ॥ इधर देखो इस वनमें यह सिंह गरज रहा है इसके भयसे यह हाथियोंका समूह वनको छोडकर भागा जा रहा है तथा जिनके मुखमेंसे घासका ग्रास भी गिर गया है ऐसा यह हिरणियोंका समूह इस पर्वतकी कुंजलताओंमेंसे निकल निकलकर दौडा जा रहा है ॥ ११० ॥ इधर देखो तालावके किनारे हंसके साथ समागम करनेके लिये उत्कंठित हुई हंसिनी कमलके परागसे जो बहुत शीघ्र पीला पडगया है ऐसे अपने साथ रहनेवाले हंसको चक्रवाक पक्षी समझकर उसके समीप नहीं जाती है और नेत्रोंसे आंसू डालती हुई रो रही है ॥ १११ ॥ और देखो इधर इस चक्रवाकीको (चकवीको) कमलके नये पत्तेसे छिपा हुआ अपने साथ रहनेवाला चकवा दिखाई नहीं पडता, इसलिये वह खेदखिन्न हो रही है और दीनताके साथ रोती हुई तालावके चारों ओर बार बार चक्कर लगा रही है ॥ ११२ ॥ इधर देखो इस पर्वतके मणियोंके किनारेपर यह शरदऋतुका छोटासा बादल आ लगा है यह बादल इतना हलका है कि इसे हर कोई सुख पूर्वक उठा सकता है और इसलिये ही ये देवियां और विद्याधरियें इसे खींचकर अपनी अपनी ओर लेजाती हैं तथा इधर उधर हिलाती हैं ॥ ११३ ॥ और देखो जो-समस्त प्राणियोंको इष्ट है, जो बहुत बडी है तथा जो ऊंची और सफेद लहरोंसे ऐसी जान पडती है माना उसने शरदऋतुके बादलही धारण किये हों और जिसका जल बनोंके अंततक फैलाहुआ है ऐसी गंगानदीको भी यह महापर्वत अपने चट्टानोंपर धारण करता है ॥ ११४ ॥ और देखो जिसका बहुत बडा विस्तार है,

अमुतरां सुतरां पृथुमम्भसां पतिमितां तिमितांतलतावनां । अनुगतां स्वगतां स्वतटोपमां वहति सिन्धुमयं धरणीधरः ॥ ११५ ॥ इति यदेव यदेव निरूप्यते बहुविशेषगुणेऽत्र नगाधिपे । किमु तदेव तदेव सुखावहं हृदयहारि दृशां च विलोभनं ॥ ११६ ॥ धत्तेस्य सानौ कुसुमाचितेयं नीलावनाली परिधानलक्ष्मीं । शृंगाग्रलग्ना च सिताभ्रपंक्तिः संव्यानलीलाम्यिमातनोति ॥ ११७ ॥ तिरस्करिण्येव सिताभ्रपंक्त्या परिष्कृतांतेस्य निकुंजदेशे । मणिप्रभोत्सर्पहतांधकारे समं रमंते खचरैः खचर्यः ॥ ११८ ॥ शरद्घनेऽस्योपरि सुस्थिते घने वितानतां तन्वति खेचरांगनाः । कृतालयास्तत्र चिरं

जो अतिशय दुस्तर (कठिनतासे पार होने योग्य) है, जो बराबर समुद्रतक चली गई है, जिसने बनकी लतायें सब तरबतर कर दी हैं तथा जो ठीक अपने अनुकूल और अपने किनारेके समान है ऐसी सिंधुनदीको भी यह पर्वत धारण करता है ॥ ११५ ॥ इसप्रकार अनेक अनेक विशेष गुणोंसे सुशोभित इस पर्वतपर जो जो दिखाई देता है वह सब सुखदेनेवाला, हृदयको हरण करनेवाला और नेत्रोंको आनंद देनेवाला जान पडता है ॥ ११६ ॥ देखो इस पर्वतकी छोटी २ शिखरोंपर जो पुष्पोंसे सुशोभित यह हरितवर्णकी बनपांक्ति दिखाई दे रही है वह इसपर्वतके अधोवस्त्रकी (धोतीकी) शोभा धारण करती है तथा ये इसके ऊंचे शिखरपर लगी हुई सफेद बादलोंकी पंक्तियां शिरपर रक्खी हुई सफेद पगडीके समान जान पडती हैं ॥ ११७ ॥ और देखो इस पर्वतपर ऐसी बहुतसी कुंजलतायें हैं कि जो परदोंके समान सफेद बादलोंकी पंक्तियोंसे ढकी हुई ह और मणियोंके प्रकाशसे जिनका सब अंधकार दूर हो गया है ऐसी इन कुंजलताओंमें यहांकी विद्याधरियें अपने अपने विद्याधरोंके साथ सदा क्रीडा करती रहती हैं ॥ ११८ ॥ देखो इस पर्वतके ऊपर घनीभूत (मोटा मोटा) शरदऋतुकासा सफेदबादल सदा स्थिररूपसे छाया रहता है इसलिये यहांकी विद्याधरियें रतिक्रीडा करनेकी इच्छासे यहींपर अर्थात् मेघोंके समीप ही अपना घर सरीखा बना लेती हैं और कठिन गर्मीके दिनोंमें भी बहुत दिनोंतक गरमीका दुःख नहीं जानती हैं ॥ ११९ ॥ ये देखो शरदऋतुके सफेद बादल भी दैदीप्यमान इंद्रनील-

रिंसया घनातपेऽप्यहि न जानते क्रमं ॥ ११९ ॥ समुल्लसन्नीलमणिप्रभाप्लुतान् शरद्घनान्कालघनाघनायितान् । विलोक्य हृष्टोऽत्र रुवन् शिखावलः प्रनृत्यति व्याततबर्हमुन्मदः ॥१२०॥ सितान्घनानिह तटसांश्रितानिमाः स्थलास्थया समुपागताः खगांगनाः । दुकूलसंस्तरण इवातिविस्तृते विशायिकामुपरचयंति तत्तले ॥ १२१ ॥ सरस्तटं कलरुतसारसाकुलं वनद्विपे विशति सितच्छदावलिः । नभोभिया समुपगतोत्र लक्ष्यते नभःश्रियः पृथुतरहारयष्टिवत् ॥ १२२ ॥ क्वचिद्धरिन्मणितटरोचिषां चयैः परिष्कृतं वपुरिह तिग्मदीधितेः । सरोजिनीहरितपलाशशंकया नभश्चरैरुपतटमीक्ष्यते मुहुः

मणियोंकी प्रभामें डूबकर काले बादलके समान दिखाई दे रहे हैं। इन्हें देखकर यहांके मयूर भी कैसे प्रसन्न हो रहे हैं और उन्मत्त होकर शब्द करते हुये तथा पूंछ फैलाते हुये कैसे नृत्य कर रहे हैं। भावार्थ–उन्हें काले बादल ही समझकर प्रसन्न हो रहे हैं ॥ १२० ॥ जो सफेद बादल इस पर्वतके किनारेपर लगे हुये ह वे इस सफेद पर्वतमें ऐसे मिल गये हैं कि ये विद्याधरियें उन्हें पर्वतकी जमीन समझकर उनके समीप जाती हैं और उनके नीचे इसप्रकार शय्या बनाती हैं मानों किसी कपडेके लंबे चौडे चंदोबाके नीचे ही शय्या बना रहीं हों ॥ १२१ ॥ ॥ इधर देखो ये सरोवरके किनारे सारस पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे व्याप्त हो रहे हैं, इनमें जंगली हाथी प्रवेश कर रहे हैं, इसलिये ये हंसोंकी पंक्तियां श्रावणमास समझकर आकाशमें उडी जा रही हैं और ऐसी जान पडती हैं मानों आकाशलक्ष्मीकी बडे भारी हारकी एक लडी ही हो। भावार्थ–वे हंस उन हाथियोंको काले बादलोंकी परछाहीं समझते हैं और इसलिये श्रावणका महीना अर्थात् वर्षाऋतु समझकर आकाशमें उड जाते हैं। यह कहावत भी प्रसिद्ध है कि वर्षाऋतुमें हंस प्रायः ऐसी जगह चले जाते हैं जहां वर्षा कम होती हो ॥ १२२ ॥ इधर देखो यह सूर्य इसके किनारेपर आ लगा है और हरितवर्णके मरकतमणियोंके बने हुये किनारोंकी कांतिसमूहसे बिलकुल ढक गया है, इसलिये ये विद्याधर लोग इसे कमलिनीका हरा पत्ता समझकर बार बार इस पर्वतके इसी किनारेकी ओर देख रहे हैं ॥ १२३ ॥ इधर देखो सरोवरके किनारे बनके वृक्षोंमें जंगली हाथी अपने

॥ १२३ ॥ क्वचिद्वनद्विरदकपोलघट्टनैः क्षरत्त्वचोवनतरवः सरस्तटे । रुदंति नु च्युतकुसुमाश्रुबिंदवो निलीनषट्पदकरुणस्वनान्वितं ॥ १२४ ॥ इतः कलं कमलवनेषु रूयते मदोत्सुरध्वनिकलहंससारसैः । इतश्च कोकिलकलनादमूर्च्छितं मनोहरं शिखिविरुतं प्रतीयते ॥ १२५ ॥ इतः शरद्घनघनकालमेघयोर्यदृच्छया वन इव सन्निधिर्भवन् । मुखोन्मुखप्रहितकरः प्रवर्तते सितासितद्विरदनयोरयं रणः ॥ १२६ ॥ वनस्थलीमनिलविलोलितद्रुमामिमामितः कसुमरजोवगुंठितां । अलक्षितामधिगमयत्यलिव्रजः समाव्रजन्परिमललोलुपोऽभितः ॥१२७॥ इतो वनं वनगजयूथसेवितं विभाव्यते मदजल-

---

कपोलोंकी रगड लगा रहे हैं जिनसे उन वृक्षोंकी छाल गिरपडी है फूल गिरगये हैं और उनपर भ्रमर मधुर झंकार कर रहे हैं ऐसी अवस्थामें ये वृक्ष ऐसे जानपडते हैं मानो हाथियोंके कपोलोंकी रगडसे जो इनकी छाल गिरगई है जिससे ये पुष्परूपी आंसुओंकी बूंदे डालते हुये और भ्रमरोंके झंकार रूपी करुणाजनक शब्द करते हुये रो रहे ही हों ॥ १२४ ॥ इधर देखो इस कमलों के बनमें उन्मत्त होनेसे जिनके शब्द कुछ कठिन होगये हैं ऐसे कलहंस और सारस पक्षी मधुर शब्द कर रहे हैं, और इधर देखो कोइलोंके मधुर शब्दोंमें मिलाहुआ यह मयूरोंका मनोहर शब्द सुनाई दे रहा है ॥ १२५ ॥ इधर देखो इस बनमें शरदऋतुकेसे सफेद बादल और वर्षा ऋतुकेसे काले बादल ये दोनों ही स्वाभाविक रीतिसे मिल रहे हैं और ऐसे जानपडते हैं मानों काले सफेद दो हाथी मुंहसे मुंह मिलाकर तथा इधर उधर सूंड फकत हुये युद्ध ही कर रहे हों ॥१२६॥ इधर देखो वायुसे जिसके वृक्ष हिलरहे हैं और जो फूलोंकी परागसे बिलकुल ढकी हुई है ऐसी यह बनकी भूमि यद्यपि दिखाई नहीं दे रही है तथापि सुगंधीका लोलुपी और चारों ओरसे आकर एकजगह इकट्ठा हुआ यह भ्रमरोंका समूह इसे दिखला रहा है । भावार्थ—भ्रमरोंके इकट्ठे होनेसे लोगोंको उस बनकी भूमिका ज्ञान हो जाता है ॥ १२७ ॥ इधर देखो ! जिसम अनेक जंगली हाथियोंके समूह फिर रहे हैं जिसके वृक्ष उन हाथियोंके मदकी धारासे सींचे जा रहे हैं और जिसके वृक्ष तथा लतायें बीचमें पडते हुये तथा मधुर शब्द करते हुये भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त हो रही हैं

सिक्तपादपं । समापतन्मदकलभृंगमालिकासमाकुलद्रुमलतमंतरांतरे ॥ १२८ ॥ इह खगवनितानितांतरम्याः सुरभिसरोजवना वनांतवीथीः । परिहितरसनैः शनैः श्रयंते जित पुलिनैर्जघनैर्घनैः सुदत्यः ॥ १२९ ॥ सरसकिसलयप्रसूनक्लृप्तिं विततरिषूणि वनानि नूनमस्मिन् । द्रुममित इत इत्यमूः खगस्त्रीरलिविरुतैरविराममाह्वयंति ॥ १३० ॥ कुसुमितवनखंडमध्यमेतास्तरुगहनेन घनीकृतांधकारं । स्वतनुरुचिविधूतदृष्टिरोधाः खगवनिता बहुदीपिका विशंति ॥ १३१ ॥ कुसुमरसपिपासया निलीनैरलिभिरनारतमारुवद्भिरासां । युवतिकरजलूनपल्लवानामनुरुदितं तु वितन्यते लतानां ॥ १३२ ॥

ऐसा यह बन कैसा अच्छा सुशोभित हो रहा है ॥ १२८ ॥ इधर देखो जिन्होंने अपने सुगंधित कमलोंसे वनको भी सुगंधित कर दिया है तथा जो विद्याधरोंकी स्त्रियोंसे बहुत मनोहर जान पडती हैं ऐसी इस बनकी गलियोंमें ये सुंदर दांतोंवालीं स्त्रियां करधनियोंसे सुशोभित और नदियोंके किनारेके बालूके टीलोंको भी जीतनेवाले अपने बडे २ जघनोंसे (जंघाके ऊपरी भागोंसे) बहुत धीरे २ जा रहीं हैं ॥ १२९ ॥ इधर देखो इस पर्वतके बन अवश्य ही अपने कोमल पत्ते और सुंदर पुष्पोंकी रचनाको बांट देना चाहते हैं इसलिये वे मानों भ्रमरोंके मधुर शब्दोंसे ' इधर इस वृक्षपर आओ, इधर इस वृक्षपर आओ ' इसप्रकार इन विद्याधरियोंको हर समय बुलाते रहते हैं। भावार्थ--इसपर्वतके बनोंमें प्रत्येक वृक्षपर भ्रमरोंके मधुर शब्द हो रहे हैं ॥ १३० ॥ इधर देखो वृक्षोंकी बहुतायतसे जिसमें खूब अंधकार हो रहा है और जिसके फूल फूले हुये हैं ऐसे इस बनके मध्यभागमें अपने शरीरकी कांतिसे दृष्टिको रोकनेवाले अंधकारको दूर करती हुई ये विद्याधरियें साथमें अनेक दीपक लेकर प्रवेश करती हैं ॥ १३१ ॥ यह देखो इन तरुण स्त्रियोंने पुष्प तोडते समय इन लताओंके कोमल पत्ते अपने नाखूनोंसे छेद दिये हैं इसलिये पुष्परसके पीनेकी इच्छासे इन लताओंपर बैठे और हर समय गुंजार शब्द करते हुये इन भ्रमरोंके द्वारा ऐसा जान पडता है मानों इन लताओंके हर समय रोनेकी आवाज ही आरही है ॥ १३२ ॥ और देखो जिन्होंने अपने कानोंमें फूलोंके कर्णभूषण बनाकर पहने हैं तथा फूलोंकी परागसे जिनके

कुसुमरचितभूषणावतंसाः कुसुमरजःपरिपिंजरस्तनांताः। कुसुमशरशरायितायताक्ष्यस्तदवचिताविह यांत्यमूः खचर्यः ॥ १३३ ॥ ताः संचरंति कुसुमावचये तरुण्यः शक्ता वनेषु ललितभ्रुविलोलनेत्राः। तन्व्यो नखोरुकिरणोद्गमंजरीका व्यालोलषट्पदकुला इव हेमवल्ल्यः ॥ १३४ ॥ मृदुतरपवनो वने प्रफुल्ले कुसुमितमालतिकातिकांतपार्श्वे। मरुदयमधुना धुनोति वीथीरवनिरुहां मलिनालिनाममुष्मिन् ॥ १३५ ॥ आधूतकल्पतरुवीथिरितो नभस्वान् मंदारसांद्ररजसा सुरभीकृताशः। मत्तालिकोकिलरुतानि हरन् समंतादावाति पल्लवपुटानि शनैर्विभिंदन् ॥ १३६ ॥ धूतकमलवने वने तरंगानुपरचय-

---

स्तनमंडल पीले पडगये हैं और इसलिये ही जो साक्षात् कामदेवके बाणोंके समान जानपडती हैं ऐसी ये दीर्घ नेत्रवाली विद्याधरियें इस पर्वतपर फूल तोडनेके लिये इधर उधर फिर रही हैं ॥ १३३ ॥ और देखो जिनकी भौंहें सुंदर हैं, नेत्र चंचल हैं, नखोंकी किरणें निकली हुई मंजरियोंके समान हैं और फूल तोडनेके लिये बनोंमें तल्लीन हो रही हैं ऐसी ये तरुण स्त्रियें इधर उधर ऐसी फिर रही हैं मानों चंचल भ्रमरोंसे व्याप्त और मंजरियोंसे शुशोभित सुवर्णमय लता ही हों ॥ १३४ ॥ और देखो इस बनमें कैसा मंद वायु चल रहा है, फूल खिल रहे हैं और फूलीहुई मालती (चमेली) से जिसके किनारे सुंदर हो रहे हैं। ऐसे इस बनमें काले भ्रमरोंसे व्याप्त हुये वृक्षोंके समूहको इस समय यह वायु कैसी अच्छीतरह हिला रहा है ॥ १३५ ॥ इधर देखो जिसने कल्पवृक्षोंके समूह हिलाये हैं, जिसने मंदार जातिके पुष्पोंकी बहुतसी परागसे सब दिशायें सुगंधित कर दी हैं, जिसमें उन्मत हुये भ्रमर और कोइलोंके मधुर शब्द मिले हुये हैं और जो कोमल पत्तोंकों खिला रहा है ऐसा यह वायु इस पर्वतपर चारों ओर बह रहा है ॥ १३६ ॥ और देखो जिसमें पुष्पोंके रसकी सुगंध भरी हुई है और जो अत्यंत शीतल है ऐसा यह वायु कमलोंके बनोंसे सुशोभित ऐसे जलमें लहरें उत्पन्न करताहुआ इस पर्वतपरके पुष्प सहित वृक्षोंके ऊपरी भागको कैसा स्पर्श कर रहा है ॥ १३७ ॥ जो कोमल लताओंके ऊपरके पत्तोंको हिला रहा है और जिसमें निर्झरनोंके जलकी बूंदे मिली हुई हैं ऐसा यह वायु पुष्पोंकी परागको उडाता हुआ प्रत्येक बनमें कैसा

न्मकरंदगंधबंधुः । अयमतिशिशिरः शिरस्तरूणां सकुसुमभारस्पृशतीह गंधबाहः ॥ १३७ ॥ मृदितमृदुलताप्रपल्लवैर्वलयितनिर्झरसीकरोत्करैः । अनुवनमिह नीयतेनिलैःकुसुमरजोविधुतं वितानतां ॥ १३८ ॥ चलवलयरवैरवाततै रनुगतनूपुरहारिझंकृतैः । सुपरिगममिहांबरेचरीरतमतिवर्ति वनेषु किन्नरैः ॥ १३९ ॥ अत्र वनांते पत्रिगणोऽयं श्रोत्रहरं नः कूजति चित्रं । सत्रिपताकं नृत्यति नूनं तत्ततनादैर्मत्तशिखंडी ॥ १४० ॥ अस्य महाद्रेरनुतटमेषा राजति नानाद्रुमवनराजी । पश्यतमेनामनिलविधूतैर्नर्तितुकामामिव विटपैः स्वैः ॥ १४१ ॥ कूजद्द्विरेफा वनराजिरेषा प्रोद्गातुकामेव महीध्रमेनं।

चंदोवा सरीखा तान रहा है ॥ १३८ ॥ और देखो इस बनमें जो विद्याधरियें रतिक्रीडा करती हैं उसे चारों ओर फैले हुये चंचल कंकणोंके शब्दोंसे और उन शब्दोंके साथ साथ होनेवाले नूपुरोंके (बिछुओंके) मधुर झंकारोंसे किन्नर लोग बहुत शीघ्र जान लेते हैं ॥ १३९ ॥ इधर देखो यह पक्षियोंका समूह इस बनमें कानोंको आनंद देनेवाला कैसा तरह तरहका शब्द कररहा है और यह उन्मत्त हुआ मयूर तीनों गणोंके (संगीतशास्त्रोंके एक तरहके भेदोंके) शब्दोंके साथ अपनी पूंछ फैलाता हुआ कैसा अच्छा नृत्य कर रहा है ॥ १४० ॥ वह धरणींद्र कहता है कि हे राजकुमार ! इस महापर्वतके किनारे किनारे अनेकप्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित बनोंकी पंक्तियां लग रहीं हैं वे कैसी अच्छी जान पडती हैं। देखो वायुके द्वारा जो उनके वृक्ष हिलाये जा रहे हैं उनसे वे ऐसी जान पडती हैं मानों नृत्य ही करना चाहती हों ॥ १४१ ॥ और देखो इन बनकी पंक्तियोंमें जो भ्रमर गुंजार कर रहे हैं उनसे ऐसा जान पडता है मानों ये इस महापर्वतका यश गाना ही चाहती हों और इन्ही बनपंक्तियोंमें जो चारोंओर फूलोंके समूह फैले हुये हैं उससे ऐसा जान पडता है मानों ये बनपंक्तियां इस पर्वतको पुष्पांजलि ही दे रही हों ॥ १४२ ॥ देखो इन बनके वृक्षोंपर जो भ्रमर बैठे हुये हैं और कोइलें बोल रही हैं उससे ऐसा जान पडता है मानों भ्रमररूपी चोरोंके समूहोंने इन वृक्षोंके पुष्पोंका सार अर्थात् रस सब पी लिया है, इस लिये ये वृक्ष बोलती हुई कोइलोंके शब्दोंके द्वारा चिल्लाहट

पुष्पांजलिं विक्षिपतीव विष्वग् विकीर्यमाणैः सुमनःप्रतानैः ॥ १४२ ॥ वनद्रुमाः षट्पदचौरवृंदैर्विलुप्यमानप्रसवार्थसाराः । चोकूयमाना इव भात्यमुष्मिन् समुच्चरत्कोकिलकूजितेन ॥ १४३ ॥ महाद्रेरमुष्य स्थली: कालधौतीरुपेत्य स्फुटं नृत्यतां बर्हिणानां । प्रतिच्छायया तन्यते व्यक्तमस्मिन्समुत्फुल्लनीलाब्जखंडस्य लक्ष्मीः ॥ १४४ ॥ अतुलितमहिमा हिमावदातद्युतिरनतिक्रमणीयपुण्यमूर्तिः । रजतगिरिरयं विलंघिताब्धिः सुरसरिदोघ इवावभाति पृथ्व्यां ॥ १४५ ॥ अस्य महाद्रेरनुतटमुच्चैः प्रेक्ष्य विनीलामुपवनराजीं । नृत्यति हृष्टो जलदविशंकीबर्हिगणोयं विरचितबर्हः ॥ १४६ ॥ अस्यानुसानु

मचाते हुयेके समान सुशोभित हो रहे हैं ॥ १४३ ॥ इधर देखो इस पर्वतके चांदीके बने हुये स्वच्छ प्रदेशोंपर जो मयूर आकर खूब नृत्य कर रहे हैं और उनका प्रतिबिंब जो उस सफेद जमीनपर पड रहा है वह साफ ऐसा जान पडता है मानों सफेद पानीपर खिले हुये नील कमलोंकी शोभा ही हो ॥१४४॥ और देखो इस पर्वतका कितना बडा माहात्म्य है, वर्फके समान इसकी स्वच्छ कांति है तथा समुद्रतक पहुंचकर इसने समुद्रको भी तिरस्कृत करदिया है और स्वयं इतना पुण्यवान् हैं कि इसे कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसा यह रूपामय (चांदीका) पर्वत पृथ्वीपर गंगानदीके प्रवाहके समान सुशोभित हो रहा है ॥ १४५ ॥ देखो इस महापर्वतके प्रत्येक ऊंचे किनारेपर हरी हरी बनकी पंक्तियां लग रही हैं जिन्हे देखकर इन मयूरोंको बादलोंकी शंका हो रही है और वे प्रसन्न होकर पूंछ फैलाते हुये कैसा अच्छा नृत्य कर रहे हैं ॥ १४६ ॥ और देखो जिनमें देव विद्याधर और नागकुमार आदि सदा क्रीडा करते रहते हैं, जिनमें कहींपर अनेक प्रकारकी कुंजलतायें बनी हुई हैं कहीं तालाव बने हुये हैं, और कहीं बालुओंके ढेर लगे हुये हैं तथा जिनके वृक्ष कोमल पत्ते और फूलोंसे सदा सुहावने जान पडते हैं ऐसे ये उपवन इस पर्वतके प्रत्येक शिखरपर कैसे अच्छे सुशोभित हो रहे हैं ॥ १४७ ॥ इधर देखो यह सूर्य चलता चलता इस महापर्वतके किनारेके समीप आगया है और उसपर इस पर्वतके किनारोंपर लगे हुये अनेक प्रकारके मणियोंके किरणोंका समूह पड रहा है जिससे इसका प्रतिबिंब ऐसा विचित्र रं-

सुरपन्नगखेचराणामाक्रीडनान्युपवनानि विभांत्यमूनि । नानालतालयसरःसिकतोच्चयानि नित्यप्रवालकुसुमाञ्चितपादपानि ॥ १४७ ॥ अस्य महाद्रेरुप
तटमृच्छन्मूर्च्छति नानामणिकिरणौघैः । चित्रितमूर्तिर्वियति पतंगश्चित्रपतंगच्छविमिह धत्ते ॥ १४८ ॥ मणिद्युतिततांतरैः प्रमुदितोरगव्यंतरैर्निरुद्धरवि-
मंडलैः स्थगितविश्वदिग्मंडलैः । मरुद्गतिनिवारिभिः सुरवधूमनोहारिभिर्विभाति शिखरैर्घनैर्गिरिरयं नभोलंघनैः ॥ १४९ ॥ एष भीषणो महाहिरस्य कंद-
राद्गिरेरीषदुन्मिषन्पयोनिधेरिवायतस्तिमिः । कायपेषितांतिकस्थवल्लिगुल्मपादपो रोषफूत्कृतोष्मणा दहत्युपांतकाननं ॥ १५० ॥ रत्नालोकैः कृतपरभागे
तटभागे संध्यारागे प्रसरति सांद्रारुणरागे । रौप्यो दीप्तां प्रकृतिविरुद्धामपि धत्ते प्रेक्ष्यां लक्ष्मीं कनकमयाद्रेरयमद्रिः ॥ १५१ ॥ उद्धूतः परुषरयेण वा-

---

गका जान पडता है मानों ऊंचे आकाशमें अनेक रंगका कोई पक्षी ही हो ॥ १४८ ॥ और देखो जिनके मध्यभागमें अनेक प्रकारके मणियोंकी कांति फैली हुई है, जिनमें नागकुमार और व्यंतर जातिके देव प्रसन्न होकर क्रीडा करते हैं, जो सूर्यमंडलको भी रोकनेवाले हैं, जिन्होंने सब दिशायें आच्छादन करली हैं, जो वायुकी गतिको भी रोकते हैं, देवांगनाओंके मनको हरण करनेवाले हैं, और आकाशको उलंघन करनेवाले हैं ऐसे बडे २ शिखरोंसे यह पर्वत कैसा अच्छा सुशोभित हो रहा है ॥ १४९ ॥ यह देखो जिसप्रकार महामत्स्य समुद्रमेंसे धीरे २ निकलता है उसीप्रकार इस पर्वतकी इस गुफामेंसे यह महा भयंकर सर्प कैसा धीरे २ निकल रहा है । इसने अपने शरीरसे समीपवर्ती सब लता छोटे २ पौधे और वृक्षोंको चूर २ करदिया है तथा क्रोधसे यह फूत्कार शब्द कर रहा है और अपने उच्छ्वासकी गरम वायुसे समीपवर्ती बनको जला रहा है ॥ १५० ॥ देखो यह रूपामय पर्वत बिलकुल निर्मल है इसके किनारेपर अनेक प्रकारके रत्नोंके प्रकाशसे सायंकालकी ललाईके समान बहुत गहरी ललाई फैली हुई है, जिससे ऐसा जान पडता है मानों यह पर्वत अपनी प्रकृतिसे विरुद्ध ऐसी सुवर्णमय पर्वतकी देखने योग्य बहुत अच्छी शोभा धारण करता हो ॥ १५१ ॥ और देखो इस पर्वतके किनारेपरका बहुतसा पराग (फूलोंकी रज) वायुके बडे २ झकोरोंसे उड उडकर आकाशमें कैसा पीले रंगका छा रहा है और

युनोद्बैरावभ्रुर्नभासि परिस्फुरन्ननस्य: । अस्याद्रेरुपतटमासनः परागः संधत्ते कनककृतातपत्रलीलां ॥ १९२ ॥ एताः क्षरन्मदजलाविलगंडभित्तिकंडूयनव्यतिकरार्दितगंडशैलाः । भग्नद्रुमास्तटभुवो धरणीभृतोस्य संसूचयंति पदवीं वरवारणानां ॥ १९३ ॥ इहामी मृगौघा वनांतस्थलांते स्फुरद्घोणमाघ्राय तृण्यामगण्यां । यदेवात्र तृण्यं तृणं यच्च रुच्यं तदेवाद्रिकुंजे जिघत्संत्यमुष्मिन् ॥ १५४ ॥ यद्यत्तटं यद्विधरत्नजात्या संप्राप्तनिर्माणमिहाचलेंद्रे । तत्तत्समासाद्य मृगास्तदाभां भजंति जात्यंतरतामिवैते ॥ १५५ ॥ हरिन्मणीनां विततान्मयूखांस्तृणास्थयास्वाद्य मृगीगणोयं । अलब्धकामस्तदुपांतभाजि तृ-

---

ठीक ऐसा जान पडता है मानों इस पर्वतपर सुवर्णका छत्र ही लगा हो ॥ १५२ ॥ ये देखो जिनके गंडस्थल गलती हुई मदकी धारासे भरे हुये हैं ऐसे हाथियोंने अपने गंडस्थल बार बार इस पर्वतकी छोटी छोटी शिखरोंसे खुजलाये हैं, जिससे इसके वे छोटे २ शिखर टूट गये हैं। तथा उन्हींके खुजानेसे इस पर्वतके किनारेके बहुत सेवृक्ष भी टूट गये हैं जिससे यह जाना जाता है कि यहां होकर अच्छे अच्छे हाथी अवश्य आते जाते होंगे ॥ १५३ ॥ इधर देखो इस पर्वतकी कुंजलताओंमें तथा बनके भीतरी प्रदेशोंमें ये बहुतसे हिरणोंके समूह अपनी नाक फुलाकर बहुतसे घासके समूहको सूंघते हैं तथा उसमेंसे जो घास अपूर्व और अच्छी जान पडती है उसे ही खाना चाहते हैं ॥ १५४ ॥ और देखो इस पर्वतका जो जो किनारा जिसजिस प्रकारके रत्नोंका बना हुआ है उसपर यदि ये हरिण आदि पशु पहुंचते हैं तो इनकी कांति इसप्रकार बदल जाती है मानों इन्होंने कोई दूसरा रूप ही धारण किया हो। भावार्थ—इंद्रनील मणियोंके बने हुये किनारोंपर ये नीले सरीखे हो जाते हैं और पद्मरागमणियोंके किनारोंपर लालसरीखे हो जाते हैं ॥ १५५ ॥ और इधर देखो ये हिरण हरे रंगकी मरकतमणियोंकी फैली हुई किरणोंको घास समझकर खाना चाहते हैं परंतु उनसे उनकी इच्छा पूरी नहीं होती है। इसलिये वे उससे धोखा खाकर समीपमें खडी हुई सचमुचकी घासको भी नहीं खा रहे हैं ॥ १५६ ॥ ये देखो इस बनके भीतर किन्नरी जातिकी देवियां गीत गा रही हैं जिन्हें सुनता हुआ यह मनोहर हिर-

ण्यानि सत्यान्यपि नोपयुंक्ते ॥ १५६ ॥ गायंतीनां किन्नरीणां वनांते शृण्वन्गीतं हारिणं हारि यूथं । अर्द्धप्रस्तोत्सृष्टनिर्यत्तृणाग्रग्रासं किंचिन्मीलिताक्षं तदास्ते ॥ १५७ ॥ यात्यंतर्द्धिं भ्रष्टबिंबे महीध्रस्यास्योत्संगे किं गतोस्तं पतंगः । इत्याशंकाव्याकुलाभ्येति भीतिं प्रक्सायाह्नात्कोककांतोपकांतं ॥ १५८ ॥ सदा प्रफुल्ला वितता नलिन्यः सदात्र तन्वंति रवा नलिन्यः । क्षरन्मदाः संततमेव नागाः सदा च रम्याः फलिनो वनागाः ॥ १५९ ॥ अस्यानुसानुवनराजिरियं विनीला धत्ते श्रियं नगपतेः शरदभ्रभासः । शाटी विनीलरुचिराप्रतिपांडुकांते नीलांबरस्य रचितेव नितंबदेशे ॥ १६० ॥ विभ्रच्छ्रेणीद्वितिय

णोंका समूह आधी चबाई हुई मुंहकी घासको मुंहमेंसे धीरे २ निकालता हुआ और अपने नेत्रोंको कुछ २ बंद किये हुये कैसा चुपचाप खडा है ॥ १५७ ॥ और देखो यह सूर्य इस पर्वतकी दूसरी ओर शिखरकी ओटमें छिपगया है इसलिये क्या सूर्य अस्त हो गया इसी शंकासे व्याकुल हुई वह चकवी सायंकालके पहिले ही अपने पति चकवाके समीप खडी हुई डर रही है ॥१५८॥ देखो इस पर्वतके तालावोंमें खूब कमल हैं और वे सदा खिले हुये रहते हैं, यहांपर भ्रमरियां भी सदा मधुर झंकार करती रहती हैं, हाथी सदा मदकी धारा बहाया करते हैं और यहांके बनोंके वृक्ष भी सदा फले फूले हुये मनोहर रहते हैं ॥ १५९ ॥ और देखो यह पर्वत शरदऋतुके सफेद बादलके समान स्वच्छ है इसके प्रत्येक शिखरपर जो यह हरी २ बनकी पंक्तियां सुशोभित हो रही हैं वे ऐसी जानपडती हैं मानो बलभद्रके अत्यंत सफेद कांतिको धारण करनेवाले नितंबभागपर (कमरपर) नीले वस्त्रकी धोती ही पहनाई हो ॥ १६० ॥ और देखो यह पर्वत कैसी अच्छी शोभा धारण करता है और चंद्रमाके समान स्वभावसे ही निर्मल है। इस पर्वतपर दक्षिण उत्तर दोनों श्रेणियोंमें जो बनकी भूमि शोभायमान है वह ऐसी जान पडती है मानों मनोहर और सफेद बादलोंके समान स्वच्छ ऐसे ऐरावत हाथीके दोनों ओर समीप भागमें बडे बेगसे आया हुआ काला बादल ही हो ॥ १६१ ॥ इधर देखो जो सुगंधित पुष्पोंकी परागको सब दिशाओंमें फैला रहा है, जो इसकी सुगंधिसे आये हुये भ्रमरोंके झंकारोंके मधुर शब्दोंसे बहुत मनोहर जानपडता है और

विभागे वनखंडं भाति श्रीमानयमवनिध्रो विधुवीध्रः । नेगाविद्धं रुचिरसिताभ्रोज्ज्वलमूर्तिः पर्यंतस्थं घनमिव नीलं सुरदंती ॥१६१॥ सुरभिकुसुमरेणून्ना किरन्विश्वदिक्कं परिमलमिलितालिव्यक्तझंकारहृद्यः । प्रतिवनमिह शैले वाति मंदं नभस्वान्प्रतिविहितनभोगस्त्रैणसंभोगखेदः ॥ १६२ ॥ सुरयुवतिसमाजस्यास्य च स्त्रीजनस्य प्रकृतिकृतभियत्स्यादंतरं व्यक्तरूपं । स्तिमितनयनमैंद्रं स्त्रैणमेतत्तु लीलावलितललितलोलापांगवीक्ष्याविलासः ॥ १६३ ॥ अत्रायमुन्मदमधुव्रतसेव्यमानगंडस्थलो गजपतिर्वनमाजिहानः । दृष्ट्वा हिरण्मयतटीर्गिरिभर्तुरस्य दावानलप्रतिभयाद्वनमाजहाति ॥ १६४ ॥ अत्रानीलं मणितटमुच्चैः पश्यन् मेघाशंकी नटति कलापी हृष्टः । केकां कुर्वन्विरचितबर्हाटोपो लोकस्तत्त्वं गणयति नार्थी मूढः ॥ १६५ ॥ सरासि कलमभी रुवंति हं-

---

जो विद्याधरियोंकी रतिक्रिडाके परिश्रमको बहुतशीघ्र दूर करदेता है ऐसा यह वायु इस पर्वतके प्रत्येक बनमें धीरे २ चल रहा है ॥१६२॥ और देखो स्वर्गोंकी देवांगना और यहां रहनेवाले बिद्याधरोंकी स्त्रियोंमें ऊपरसे दिखनेवाला स्वाभाविक अंतर केवल इतना ही है कि देवांगनाओंके नेत्रोंमें तो टिमिकार नहीं लगता है अर्थात् उनके नेत्र ज्योंके त्यों निश्चल रहते हैं और यहांकी विद्याधरियोंके नेत्रोंमें लीलापूर्वक कुछ २ टेडा और मनोहर तथा चंचल कटाक्षोंका विलास रहता है। भावार्थ—सुंदरता तो दोनोंकी एकसी है परंतु विद्याधरियोंके नेत्रोंमें मनोहर कटाक्ष हैं और देवांगनाओंके नेत्र निश्चल हैं ॥ १६३ ॥ और देखो इसपर्वतपर जिसके गंडस्थलपर उन्मत्त भ्रमर लगे हुये हैं ऐसा यह बनमें प्रवेश करता हुआ हाथी इस पर्वतके सुवर्णमय किनारोंको देखकर और उसे दावानल अग्नि समझकर उसके डरसे बनको छोडकर भागा जा रहा है ॥ १६४ ॥ और देखो इस पर्वतके जो किनारे इंद्रनील मणियोंके बने हुये हैं इन्हें देखकर इस मयूरको बादलोंकी शंका हो रही है और इसलिये ही वह प्रसन्न होकर अपनी पूंछ ऊंचीकर [तथा] मधुर शब्द करता हुआ कैसा अच्छा नृत्य कर रहा है, सो ठीक ही है क्योंकि जो मनुष्य केवल अपना प्रयोजन सिद्ध करनेकी धुनमें लगे हुये हैं वे प्रायः मूर्ख होते हैं और कभी वास्तविक पदार्थका विचार नहीं करते हैं॥१६५॥ और देखो इस पर्वतके तालावोंमें ये हंस मधुर शब्द कर रहे हैं, वृक्षोंपर कोइल

सास्तरुषु च कोकिलषट्पदाः स्वनंति । फलनमितशिखाश्च पादपौघाश्चलविटपैर्ध्रुवमाह्वयंत्यनंगं ॥ १६६ ॥ मंथरं व्रजति काननमध्यादेष वाजिवदनः सहकांतः । संस्पृशंस्तनतटं दयितायास्तत्सुखानुभवमीलितनेत्रः ॥ १६७ ॥ एष सिंहचमरीमृगकोटीः सानुभिर्वहति निर्मलमूर्तीः । संततीरिव यशोविसरस्य स्वस्य लोध्रधवला रजताद्रिः ॥ १६८ ॥ यास्य सानुषु धृतिर्विबुधानां राजतेषु वनितानुगतानां । सा न नाकवसतौ न हिमाद्रौ नापि मंदरगिरेस्तटभागे ॥ १६९ ॥ गंडोपलं वनकरींद्रकपोलकाषसंक्रांतदानसलिलप्लुतमत्र शैले । पश्यन्नयं द्विपविशंकिमना मृगेंद्रो भूयोभिहंति नखरैर्विलिख-

---

और भ्रमर शब्द कर रहे हैं और फलोंके बोझसे इन सब वृक्षोंकी शाखायें नव गई हैं। जिससे ऐसा जानपडता है मानों फलोंके बोझसे नम्रीभूत हुआ यह वृक्षोंका समुदाय अपनी शाखाओंको हिलाहिला कर और भ्रमर कोइल आदिके शब्द करताहुआ अवश्य ही कामदेवको बुला रहा हो ॥१६६॥ और देखो अपनी देवांगनाके स्तनोंको स्पर्श करता हुआ और उस सुखके अनुभवसे कुछ अपने नेत्रोंको बंद करता हुआ यह किन्नरदेव अपनी देवांगनाके साथ २ इस बनके मध्यभागसे कैसा धीरे २ जा रहा है ॥१६७॥ और देखो इस पर्वतकी शिखरोंपर निर्मल शरीरको धारण करनेवाले करोडों सिंह, करोडों चमरीगायें, और करोडों हिरण फिरते हैं और वे ऐसे जानपडते हैं मानों इस रूपाचल पर्वतने लोधके वृक्षके समान सफेद ऐसा अपने फैले हुये यशका समूह ही धारण किया हो ॥ १६८ ॥ देखो अपनी २ देवांगनाओंके साथ फिरते हुये देवोंको इस पर्वतके रूपामयी (चांदीके बनेहुये सफेद) शिखरोंपर जो संतोश होता है वह संतोष न तो उन्हें स्वर्गमें मिलता है और न हिमावान पर्वतपर मिलता है और न सुमेरपर्वतके किसी किनारेपर ही मिलता है ॥१६९॥ और देखो इस पर्वतका यह छोटासा शिखर ठीक हाथीके गंडस्थल के समान है। इसपर जंगली हाथियोंने अपने गंडस्थल खूब घिसे हैं, इसलिये उन गंडस्थलोंके मदका पानी लग लगकर यह शिखर खूब तरबतर होगया है। ऐसे इस शिखरको देखकर यह सिंह उसे हाथी समझता है तथा हाथी समझकर ही बार बार उसपर चोट करता है और अपने समीपकी भूमिको ना-

स्त्युपांतं ॥ १७० ॥ सिंहोयमत्र गहने शनकैर्विबुद्धो व्याजृंभते शिखरमुत्पतितुं कृतेच्छः । तन्वन्गिरेरधिगुहामुखमट्टहासलक्ष्मीं शरच्छशधरामलदेहकांतिः ॥ १७१ ॥ रंध्राद्दरेरयमजगरः सामिकर्षन्स्वमंगं पुंजीभूतो गुरुरिव गिरेरांत्रभारो निकुंजे । रुद्धश्वासं वदनकुहरं व्याददात्यापतद्भिर्वन्यैः सत्त्वैः किल बिलधिया क्षुत्प्रतीकारमिच्छुः ॥ १७२॥ अयं जलनिधेर्जलं स्पृशति सानुभिर्वारिधिस्तटानि शिशिरीकरोति गिरिभर्तुरस्यान्वहं । मरुद्विधुतवीचिशीकरशतैरजस्रोत्थितैर्महानुगतं जनं शिशिरयत्यनुष्णाशयः ॥ १७३ ॥ गंगासिंधू हृदयमिवास्य स्फुटमद्रेर्भित्वा यातो रसिकतयामू तटभागं । स्पृष्ट्वा

खूनोंसे उकेरता है अर्थात् खोदता है ॥१७०॥ और देखो इस बनमें शरदऋतुके सफेद बादलोंके समान निर्मल और कांतिसहित शरीरको धारण करता हुआ तथा इस पर्वतकी गुफाके द्वारपर अट्टहास्यकी (जोरसे हंसनेकी) शोभा बढाता हुआ यह सिंह धीरे २ जगा है और अब इस शिखरपर छलांग मारने के लिये तैयार हो रहा है ॥ १७१ ॥ इधर देखो इस कुंजलतामें यह अजगर पडा हुआ है। यद्यपि इसने इस पर्वतके बिलमेंसे (छिद्रमेंसे) अपना आधा शरीरही बाहर निकाला है तथापि यह एक जगह इकट्ठे हुये इस पर्वतके बडे भारी अंतडियोंके समूहके समान जानपडता है। देखो इसने अपनी भूख मेटनेकेलिये श्वास रोक कर अपना मुंह रूपी बिल इसलिये फाड रक्खा है कि जिससे बिचारे बनके भोले भाले जीव इसे अपना बिल समझकर अवश्य ही इसमें आपडें और यह उन सबको निगलजाय ॥ १७२ ॥ और देखो यह पर्वत अपनी लंबी २ फैलीहुई शिखरोंसे समुद्रके जलका स्पर्श करता है और यह समुद्र वायुसे हिलहिलकर निरंतर उठती हुई लहरोंकी बहुतसी बूंदोंसे प्रतिदिन इस महापर्वतके किनारेंको शीतल करता रहता है, सो ठीक ही है जिनका अंतःकरण शीतल है ऐसे महापुरुष अपने समीपमें आये हुये पुरुष को शीतल करते ही हैं ॥ १७३ ॥ ये गंगा और सिंधू दोनों ही नदियां रसिक (जल सहित) अर्थात् अनुरक्त होकर इस पर्वतके हृदयके समान इसके तटभागको विदीर्णकर तथा वायुके द्वारा हिलती हुई लहरें रूपी अपने हाथोंके द्वारा बार २ स्पर्शकर चली जा रही हैं। सो ठीक ही है क्योंकि बडे आदमीयोंका

स्पृष्ट्वा पवनविधूतोर्मिकरैः स्वैर्भेद्यं स्त्रीणां ननु महतामप्युरुचेतः ॥ १७४ ॥ सानूनस्य द्रुतमुपयांती घनसारान् सारासारा जलदघटेयं समसारान् । तारा तारा धरणिधरस्य स्वरसारा साराद्युर्धक्ति मुहुरुपयाति स्तनितेन ॥ १७५ ॥ सारासारा सारसमाला सरसीयं सारं कूजत्यत्रवनांते सुरकांते । सारासारा नीरदमाला नभसीयं तारं मंद्रं विस्तनतीतः स्वनसारा ॥ १७६ ॥ श्रित्वास्याद्रेः सारमणीद्धं तटभागं सारंतारं चारुतरांगं रमणीयं । सभोगांते गायति कांतं रमयंती सारं तारं चारुतरांगं रमणीयं ॥१७७॥ इह खचरवधूर्नितंबदेशे ललितलतालयसंश्रिताः सहेशाः प्रणयपरवशाः समिद्धदीप्तीर्ह्रियमुपयांति

बडा हृदय भी स्त्रियों द्वारा भेदन किया जा सकता है ॥ १७४ ॥ जल बरसना ही जिसका स्वरूप है, जो बहुत लंबी है, निर्मल है, जिसका गरजना भी उत्कृष्ट है, ऐसी यह मेघोंकी पंक्ति अधिक मजबूत और जिसके अवयव सब स्थिर तथा समान हैं ऐसे इस विजयार्द्ध पर्वतके शिखरोंके समीप अनेकवार बहुत शीघ्र आकर भी गर्जनेसे ही प्रगट होती है ॥ १७५ ॥ इस पर्वतपर देवोंसे मनोहर ऐसे इस बनके सरोवरमें इधर उधर फिरनेवाली यह सारस पक्षियोंकी पंक्ति उच्चस्वरसे शब्द कर रही है और इधर आकाशमें जोरसे बरसनेवाली तथा शब्द करनेवाली यह मेघोंकी पंक्ति ऊंचे और गंभीर शब्दोंसे गरज रही है ॥ १७६ ॥ संभोग करनेमें अत्यंत उत्कंठित और शरीरसे सुंदर ऐसे अपने प्रिय पतिको प्रसन्न करनेवाली कोई स्त्री संभोगके बाद इस पर्वतके रत्नमय तटभागपर बैठकर जिसमें अनेक प्रकारके मनोहर राग हैं, जो बहुत मनोहर है, उत्कृष्ट है और ऊंचे स्वर सहित है ऐसा गाना गा रही है ॥ १७७ ॥ इस पर्वतके कुछ नीचे भागपर सुंदर लतामंडपोंमें वस्त्राभूषणोंसे दैदीप्यमान, प्रेमके परवश और अपने २ पतियों सहित बैठीहुई विद्याधरियोंको देखकर सिद्ध जातिके देवोंकी स्त्रियां लज्जित हो रही हैं ॥ १७८ ॥ यह विजयार्द्ध पर्वत श्रीजिनेंद्रदेवके समान है, क्योंकि जिनेंद्रदेव भी अभ्यंतर बाह्य लक्ष्मी सहित हैं और यह पर्वत भी श्रीमान् अर्थात् सुशोभित है, मनुष्य देव विद्याधर और चारण ऋषि जिनेंद्रदेवकी भी सेवा करते हैं और इसपर्वत

विलोक्य सिद्धनार्यैः ॥ १७८ ॥ श्रीमानयं सुरखेचरचारणानां सेव्यो जगत्त्रयगुरुर्विधुधामकीर्तिः । तुंगः शुचिर्भरतसंश्रितपादमूलः पायाद्युवां पुरुरिवा-नवमो महीध्रः ॥ १७९ ॥ इत्थं गिरः फणिपतौ सुनयं ब्रुवाणे तौ तं गिरींद्रमभिनंद्य कृतावतारौ । प्राविक्षतां सममनेन पुरं परार्ध्यमुत्तुंगकेतुरथनूपुर-चक्रवालं ॥ १८० ॥ तत्राधिरोप्य हरिविष्टरमीशितारौ युष्माकमित्यभिवदन्खचरान्समस्तान् । राज्याभिषेकमनयोः प्रचकार धीरो विद्याधरीकरधृतैः पृथुहेमकुंभैः ॥ १८१ ॥ भर्ता नमिर्भवतु संप्रति दक्षिणस्याः श्रेण्या दिवः शतमखोधिपतिर्यथैव । श्रेण्यां भवेद्विनमिरप्युदगम्बराणां विद्याधरैरवहितैरधि-

---

की भी सेवा अर्थात् इसपर विहार करते हैं, जिनेंद्रदेव तीनों जगतके गुरु हैं और यह पर्वत तीनों जगतमें गुरु अर्थात् ऊंचा है, चंद्रमाके समान कीर्ति जिनेंद्रदेवकी भी है और इस पर्वतकी भी है, जिनेंद्रदेव तुंग अर्थात् सबसे बडे हैं, और यह पर्वत तुंग अर्थात् ऊंचा है, जिनेंद्रदेव शुचि अर्थात् पवित्र हैं और यह पर्वत शुचि अर्थात् सफेद है तथा महाराज भरतने श्रीजिनेंद्रदेवके चरणकमलोंका भी आश्रय लिया है और गुफामें प्रवेश करनेकेलिये इस पर्वतके नीचले भागका भी आश्रय लिया है, इसप्रकार श्रीवृषभदेवके समान अतिशय सुंदर यह पर्वत तुम दोनोंकी रक्षा करो ॥१७९॥ इसप्रकार युक्ति पूर्वक धरणेंद्रके वचन समाप्त होजानेपर उन दोनोंने ही उस पर्वतकी प्रशंसा की और फिर धरणेंद्रके साथ नीचे उतरकर अतिशय सुंदर और ऊंची २ ध्वजाओंसे शोभायमान ऐसे रथनूपुरचक्रवाल नामके नगरमें प्रवेश किया ॥ १८० ॥ उस धरणेंद्रने उस नगरमें ले जाकर उन दोनोंको सिंहासनपर बिठाया और "ये तुम्हारे स्वामी हैं, राजा हैं" ऐसा सब विद्याधरोंसे कहा तथा उस धीरवीरने विद्याधरियोंके हाथोंसे उठाये हुये बडे २ सुवर्णकलशोंसे इन दोनोंका राज्याभिषेक किया ॥ १८१ ॥ तदनंतर धरणेंद्रने सब विद्याधरोंसे कहा कि जिसप्रकार इंद्र स्वर्गका स्वामी है उसीप्रकार यह नमिराजा अब इस दक्षिणश्रेणीका स्वामी हो तथा अनेक सावधान विद्याधरोंके द्वारा नमस्कार किया हुआ यह विनमि चिरकालतक उत्तरश्रेणीका स्वामी रहे। कर्मभूमिरूप जगतको उत्पन्न करनेवाले जगतगुरु श्रीमान् भगवान वृषभदेवने अपनी सम्मतिसे

रमुत्तरस्यां ॥ १८२ ॥ देवो जगद्गुरुरसौ वृषभोनुमत्य श्रीमानिमौ प्रहितवान् जगतां विधाता । तेनानयोः खचरभूपतयोनुरागादाज्ञां वहंतु शिरसेत्यवदत्फणींद्रः ॥ १८३ ॥ तत्पुण्यतो गुरुनियोगनिरूपणाच्च नागाधिभर्तुरुचितादनुशासनाच्च । ते तत्तथैव खचराः प्रतिपेदिरे द्राक् कार्यं हि सिध्यति महद्भिरधिष्ठितं यत् ॥ १८४ ॥ गांधारपन्नगपदोपपदे च विद्ये दत्वा फणावदधिपो विधिवत्तदा ताभ्यां । धीरो विसर्ज्य नयविद्विनतौ कुमारौ स्वावासमेव च जगाम कृतेष्टकार्यः ॥ १८५ ॥ अथ गतवति तस्मिन्नागराजेऽगराजे धृतिमधिकमधातां तौ युवानौ युवानौ । मुहुरुपहृतनानानूनभोगैर्नभोगैर्मुकुलितकरमौलि व्यक्तमाराध्यमानौ ॥१८६॥ नियतिमिव खगाद्रेर्मेखलां तामलंघ्यां सुकृतजननिवासावासनाकानुकारां । जिनसमवसृतिं वा विश्वलो-

---

इन दोनोंको यहां भेजा है इसलिये तुम सब विद्याधर राजाओंको बडे प्रेमसे मस्तक नवाकर इन दोनों-की आज्ञा पालन करना चाहिये ॥ १८२-१८३ ॥ उन दोनोंके पुण्योदयसे तथा जगतगुरु भगवानकी आज्ञा सुननेसे और धरणेंद्रकी उचित शिक्षासे उन विद्याधरोंने धरणेंद्रके कहे अनुसार सब ही स्वीकार कर लिया था । सो ठीक ही है क्योंकि बडे लोग जिस कामको करते हैं वह बहुत शीघ्र सिद्ध हो जाता है ॥ १८४ ॥ इसप्रकार नयोंको जाननेवाले धीरवीर धरणेंद्रने उन दोनों कुमारोंको विधिपूर्वक गांधारपदा तथा पन्नगपदा ऐसी दो विद्यायें दीं, राज्य दिया और फिर वह अपना इष्टकार्य पूराकर अतिशय नम्र ऐसे उन दोनों कुमारोंको छोडकर अपने स्थानपर चला गया ॥ १८५ ॥ तदनंतर उस धरणेंद्रके चले जानेपर अनेक प्रकारके संपूर्ण भोगोपभोगोंको भेट करते हुये विद्याधरलोग हाथ जोडकर मस्तक नवाकर स्पष्टरीतिसे जिनकी सेवा करते हैं और जिनको राज्यकी प्राप्ति हुई है ऐसे वे दोनों ही कुमार उस विजयार्द्ध पर्वतपर बहुत ही संतुष्ट हुये थे ॥ १८६ ॥ भगवानके समवसरणके समान समस्त लोग जिसकी स्तुति करते हैं तथा पुण्यवान लोगोंका निवासस्थान होनेसे जो स्वर्गके समान जान पडती है और जो अपने भाग्यके समान है तथा अलंघनीय है ऐसी उस विजयार्द्ध पर्वतपरकी मेखलापर वे दोनों ही नमि विनमिकुमार आनंदसे रहते थे ॥ १८७ ॥ उपदेश किये

कामिनंयां नमिविनमिकुमारावध्यवास्तां मुदा तां ॥ १८७ ॥ विद्यासिद्धिं विधिनियमितां मानयंतौ नयंतौ विद्यावृद्धेः सममभिगतामर्थसिद्धिं प्रसिद्धिं । विद्याधीनान्षडृतुसुखदान्निर्विशंतौ च भोगांस्तौ तत्राद्रौ स्थितिमभजतां खेचरैः संविभक्तां ॥ १८८ ॥ आज्ञामूहुः खचरतनयाः सन्नतैरुत्तमांगैः यूनोः सेवामनुनयपरामेनयोराचरंतः । क्वेमौ जातौ क्व च पदमिदं न्यक्कृताराति चक्रं खेटेंद्राणां घटयति नृणां पुण्यमेवात्मनीनां ॥ १८९ ॥ नमिरनियमदुच्चैर्भोगसंपत्प्रतीतान् गगनचरपुरींद्रान्दक्षिणश्रेणिभाजः । विनमिरपि च नम्रानातनोति स्म विश्वान् खचरपुरवरेशानुत्तरश्रेणिभाजः ॥ १९० ॥ तावित्थं प्रविभज्य राजतनयौ वैद्या[?]ं तां श्रियं भुंजानौ विजयार्धपर्वततटे निष्कंटकं तस्थतुः । पुण्यादित्यनयोर्विभूतिरभवल्लोकेशपादाश्रितोः पुण्यं तेन कुरुध्व-

---

अनुसार विधिपूर्वक विद्याको सिद्ध करनेवाले तथा उन विद्याओंके आधीन ऐसे छहों ऋतुओंमें सुख देनेवाले भोगोंको उपभोग करनेवाले और विद्याओंकी वृद्धिके साथ २ अपनी इच्छानुसार पदार्थोंकी सिद्धिको प्रगट करनेवाले ऐसे वे दोनों ही कुमार उस पर्वतपर विद्याधरियोंके द्वारा विभाग की हुई सुखावस्थाको प्राप्त हुऐ थे ॥ १८८ ॥ उन दोंनो कुमारोंको प्रसन्न करनेवाली सेवा करते हुये विद्याधर लोग अपना २ मस्तक नवाकर इन दोनोंकी अज्ञा पालन करते थे। गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! वे नमि विनमि दोनों ही कुमार कहां तो उत्पन्न हुये थे और कहां उन्हें यह समस्त शत्रुओंके मूहको तिरस्कार करनेवाला विद्याधरोंके इंद्रका (स्वामीका) पद मिला ? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मनुष्योंको अपना पुण्य ही समस्त सुख देनेवाला है ॥ १८९ ॥ नमि कुमारने बडे २ भोगोपभोगों की संपत्तिको प्राप्त हुये दक्षिणश्रेणीके अनेक विद्याधरोंके राजाओंको अपने वश किया था, और विनमिकुमारने उत्तरश्रेणीके समस्त विद्याधरोंके राजाओंको नम्रीभूत किया था ॥ १९० ॥ इसप्रकार वे दोनोंही राजकुमार विद्याधरोंकी उस राज्यलक्ष्मीको बांटकर उपभोग करते हुये विजयार्ध पर्वतके किनारेपर निष्कंटक रीतिसे निवास करते थे । भो भव्यजन हो ! देखो ! श्रीवृषभदेवके चरणकमलोंका आश्रय लेनेवाले इन दोनोंको पुण्यसे ही ऊपर लिखी हुई विभूति प्राप्त हुई थी इसलिये स्वर्ग मोक्ष रूप लक्ष्मीकी

मभ्युदयजां लक्ष्मीं समाशंसवः ॥ १९१ ॥ नत्वा देवमिमं चराचरगुरुं त्रैलोक्यनाथार्चितं भक्तौ तौ सुखमापतुः समुचितं विद्याधरादीश्वरौ । तस्मादादिगुरुं प्रणम्य शिरसा भक्त्यार्चयंत्वंगिनो वांछंतः सुखमक्षयं जिनगुणप्राप्तिं च निश्रेयसीं ॥ १९२ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे नमिविनमिराज्यप्रतिष्ठापनं नाम एकोनविंशतितमं पर्व ॥ १९ ॥

इच्छा करनेवाले भव्यजीव हो? तुम भी पुण्य संपदान करो ॥ १९१ ॥ गौतमस्वामी कहते हैं कि त्रैलोक्यका नाथ भी जिनकी सेवा करते हैं ऐसे त्रस स्थावर सब जीवोंके गुरु भगवान वृषभदेवको नमस्कार कर ही नमि विनमि दोनों ही भक्त विजयार्द्ध पर्वतके महाराज होकर यथायोग्य सुखको प्राप्त हुये थे इसलिये जो भव्य जीव मोक्ष रूप अक्षय सुखको चाहते हैं तथा परम कल्याणरूप ऐसे श्रीजिनेंद्रदेवके गुणोंकी प्राप्ति चाहते हैं वे प्राणी श्रीवृषभदेवको मस्तक नवाकर नमस्कारकर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें ॥ १९२ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें नमि विनमिको राज्य स्थापनका वर्णन करनेवाला यह उन्नीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

अथ विंशं पर्व ।

प्रपूर्यंते स्म षण्मासास्तस्याथो योगधारिणः । गुरोर्मेरोरिवाचिंत्यमाहात्म्यस्याचलस्थितेः ॥ १ ॥ ततोस्य मतिरित्यासीद्यतिचर्याप्रबोधने । कायस्थित्यर्थनिर्दोषविष्वाणान्वेषणं प्रति ॥ २ ॥ अहो ! भग्ना महावंशा बतामी नवसँयताः । सन्मार्गस्यापरिज्ञानात्सद्योऽमीभिः परीषहैः ॥ ३ ॥ मार्गप्रबोधनार्थं च मुक्तेश्च सुखसिद्धये । कायस्थित्यर्थमाहारं दर्शयामस्ततोऽधुना ॥ ४ ॥ न केवलमयं कायः कर्शनीयो मुमुक्षुभिः । नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनैः ॥ ५ ॥ वशे यथा स्युरक्षाणि नोविधावंत्यनूत्पथं । तथा प्रयतितव्यं स्याद् वृत्तिमाश्रित्य मध्यमां ॥ ६ ॥ दोषनिर्हरणायेष्टा उपवासाद्युप-

---

अथ बीसवां पर्व ।

अथानंतर–जिनका माहात्म्य अचिंत्य है और जिनकी स्थिति मेरुके समान निश्चल है ऐसे योग धारण करनेवाले जगतगुरु भगवान वृषभदेवके जब छह महीने पूर हो गये ॥ १ ॥ तब ' केवल शरीरकी स्थिति रखनेकेलिये निर्दोष आहार ढूंढना चाहिये ' यही समझकर यतिचर्या करनेकेलिये भगवानकी बुद्धि इसप्रकार उत्पन्न हुई ॥ २ ॥ वे विचार करने लगे कि देखो यह बडे दुःखकी बात है कि बडे २ वंशोंमें उत्पन्न हुये ऐसे नवीन दीक्षा धारण करनेवाले इन राजा लोगोंको मुनियोंके इस श्रेष्ठ मार्गका कुछ भी ज्ञान नहीं है और उसका ज्ञान नहीं होनेसे ही ये भूख प्यास आदि इन परीषहोंसे बहुत शीघ्र भ्रष्ट हो गये हैं ॥ ३ ॥ इसलिये अब मोक्षका मार्ग प्रगट करनेकेलिये, सुख पूर्वक मोक्ष प्राप्त होनेकेलिये और शरीरकी स्थिति रखनेकेलिये आहार ग्रहण करनेका मार्ग दिखलाना चाहिये ॥ ४ ॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको यह शरीर न तो केवल कृश ही करना चाहिये और न अत्यंत पौष्टिक ऐसे शुद्ध और सुख देनेवाले भोजनोंसे इसे पुष्ट करना चाहिये ॥ ५ ॥ किंतु जिसप्रकार ये इंद्रियां अपने वशमें रहें कुमार्गकी ओर न दौडें ऐसी मध्यमवृत्तिका आश्रय लेकर उसीप्रकार प्रयत्न करना चाहिये ॥ ६ ॥ रोग अथवा बात पित्त कफ आदि दोषोंको दूर करनेकेलिये उपवास करना अथवा व्रत

क्रमाः । प्राणसंधारणायायमाहारः सूत्रदर्शितः ७ ॥ कायक्लेशो मतस्तावन्न संक्लेशोऽस्ति यावता । संक्लेशे ह्यसमाधानं मार्गात्प्रच्युतिरेव च ॥ ८ ॥ सिध्यै संयमयात्रायास्तत्तनुस्थितिमिच्छुभिः । ग्राह्यो निर्दोष अहारो रसासंगाद्विनार्षिभिः ॥९॥ भगवानिति निश्चिन्वन्योगं संहृत्य धीरधीः । प्रचचाल महीं कृत्स्नां चालयन्निव विक्रमैः ॥ १० ॥ तदा भट्टारके याति महामेराविवोन्नते । धरणी पादविन्यासान्प्रत्यैच्छदनुकंपिनी ॥ ११ ॥ धात्री पदभराक्रांता सत्य मंक्षदधस्तले । नाभविष्यत्प्रयत्नश्चेत्तपसीर्याश्रिते विभोः ॥१२॥ ततः पुराकरग्रामान्समटंबान्सखर्वटान् । सखेटान्विजहारोच्चैः स श्रीमान्जंगमाद्रिवत् ॥ १३ ॥

यम नियमादि पालन करना अत्यंत आवश्यक है। और आहार ग्रहण करना प्राण धारण करनेकेलिये जिनमार्गमें दिखलाया गया है ॥ ७ ॥ कायक्लेश तबतक ही करना चाहिये जबतक कि आर्त रौद्र आदि संक्लेशरूप परिणाम न हों। क्योंकि यदि कायक्लेश करनेसे संक्लेशरूप परिणाम हो जांय तो फिर आकुलता उत्पन्न हो जाती है और वह जिनमार्गसे च्युत हो जाता है ॥ ८ ॥ इसलिये केवल संयम धारण करनेकेलिये शरीरकी स्थिति रखनेकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको खट्टे मीठे आदि रसोंमें बिना आसक्त हुये निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिये ॥ ९ ॥ अत्यंत धीर वीर भगवान वृषभदेवने इसप्रकार निश्चयकर अपना योग समाप्त किया और वे जमीनपर अपने पैर रखकर मानों समस्त पृथ्वीको चलायमान करते हुये विहार करने लगे ॥ १० ॥ जिससमय महामेरुके समान अत्यंत उन्नत भगवान वृषभदेव गमन करते थे उससमय चलायमान हुई यह पृथ्वी उनके चरणकमलोंको मानों अपने हाथमें ही लेती हुई स्वीकार करती थी ॥ ११ ॥ यदि उससमय भगवान वृषभदेवने ईर्यासमिति रूप तपश्चरण धारण करनेमें प्रयत्न न किया होता तो अवश्य ही यह पृथ्वी भगवानके चरणोंके बोझसे दबकर अधोलोकमें डूब गई होती। भावार्थ–भगवान ईर्यासमितिसे गमन करते थे इसलिये पृथ्वीके जीवोंको किसीप्रकारकी पीडा नहीं होती थी ॥ १२ ॥ तदनंतर चलते हुये पर्वतके समान अति उन्नत ऐसे श्रीमान् भगवान वृषभदेवने पुर, खानि, ग्राम, मटंब, खर्वट और खेट आदि सब छोटे बडे गांव नगरोंमें विहार किया ॥ १३ ॥

यतो यतः पदं धत्ते मौनि चर्यां स्म संश्रितः । ततस्ततो जनाः प्रीताः प्रणमंत्येत्य संभ्रमात् ॥ १४ ॥ प्रसीद देव किं कृत्यमिति केचिज्जगुर्गिरं । तूष्णीं भावं व्रजंतं च केचित्तमनुवव्रजुः ॥ १५ ॥ परे परार्ध्यरत्नानि समानीय पुरो न्यधुः । इत्यूचुश्च प्रसीदेनामिज्यां प्रतिग्रहाण नः ॥१६॥ वस्तुवाहनकोटीश्च विभोः केचिदढौकयन् । भगवाँस्तास्त्वनर्थित्वात्तूष्णींको विजहार सः ॥ १७ ॥ केचित्स्रग्वस्त्रगंधादीनानयंति स्म सादरं । भगवन्परिधत्स्वेति पटल्या सह भूषणैः ॥ १८ ॥ केचित्कन्याः समानीय रूपयौवनशालिनीः । परिणाययितुं देवमुद्यता धिग्विमूढतां ॥१९॥ केचिन्मज्जनसामग्र्या

मुनियोंकी चर्या धारण करते हुये भगवान वृषभदेव जिस जिस देशमें जाते थे उस उस देशके समस्त लोग बडे प्रसन्न होकर बडे संभ्रमके साथ भगवानके समीप आकर उन्हें प्रणाम करते थे ॥ १४ ॥ और उनमेंसे कितने ही लोग कहते थे कि हे देव प्रसन्न हूजिये और कहिये कि आप किसकामके लिये यहां आये हैं । यह सुनकर भी जब भगवान चुप चाप आगे गमन करते थे तब कितने ही लोग उनके पीछे पीछे चले जाते थे ॥ १५ ॥ अन्य कितने ही लोग बहुमूल्य रत्न लाकर भगवानके सामने रखते थे और कहते थे कि हे भगवन् प्रसन्न हूजिये और हमारी की हुई इस पूजाको स्वीकार कीजिये ॥ १६ ॥ कितने ही लोग करोडों पदार्थ और करोडों ही हाथी घोडा आदि सवारियें भगवानकी भेट करते थे, परंतु भगवानको तो उनसे कुछ प्रयोजन था ही नहीं इसलिये वे मौन धारणकर चुपचाप आगे विहार करजाते थे ॥ १७ ॥ कितने ही लोग माला, वस्त्र, गंध और आभूषण आदि पदार्थोंको आदर पूर्वक भगवानकी भेट करते थे और कहते थे कि हे भगवन् इन्हें धारण कीजिये ॥ १८ ॥ कितने ही लोग रूप और यौवनसे सुशोभित ऐसी सुंदरी कन्याओंको लाकर भगवानके विवाह करनेकेलिये तैयार हुये थे इसलिये आचार्य कहते हैं ऐसी मूर्खतापर भी धिक्कार हो ॥ १९ ॥ कितने ही लोग स्नान करनेकी सामिग्री लेकर भगवानको रोकते थे और अन्य कितने ही लोग भोजनकी सामिग्री सामने रखकर निवेदन करते थे कि हे विभो मैं यह स्नान करनेकी सामग्रीके साथ २ सब प्रकारके भोजन लाया हूं, हे देव प्रसन्न हूजिये इस

संश्रित्योपारुधान्विभुं । परे भोजनसामग्रीं पुरस्कृत्योपतस्थिरे ॥ २० ॥ विभो भोजनमानीतं प्रसीदोपविशासने । समं मज्जनसामग्र्या निर्विश स्नानभोजने ॥ २१ ॥ एषोंजलिः कृतोऽस्माभिः प्रसीदानुगृहाण नः । इत्येकेऽध्यैषिषन्मुग्धा विभुमज्ञाततत्क्रमाः ॥२२॥ केचित्पादावुपादाय तत्पांशुस्पर्शपावनैः । प्रणतैर्मस्तकैर्नाथमनार्षिषत भुक्तये ॥ २३ ॥ इदं खाद्यमिदं स्वाद्यमिदं भोज्यं पृथग्विधं । मुहुर्मुहुरिदं पेयं हृद्यमाप्यायनं तनोः ॥ २४ ॥ तैरित्यभ्यर्थ्यमाणोऽपि संभ्रांतैरनभिज्ञकैः । न कल्प्यमिति मन्वानस्तूष्णीमेवापसस्रिवान् ॥ २५ ॥ विभोर्निगूढचर्यस्य मतं ज्ञातुमनीश्वराः । केचित्कर्त्तव्यतामूढाः

आसनपर विराजमान हूजिये और स्नान तथा भोजन दोनोंका अनुभव कीजिये ॥ २०-२१ ॥ हे देव हम लोग अपने दोनों हाथ जोडते हैं हमपर प्रसन्न हूजिये और अनुग्रह कीजिये। इस प्रकार भगवानकी चर्याविधिको नहीं जानते हुये कितने ही मूर्ख लोग भगवानसे प्रार्थना करते थे ॥२२॥ कितने ही लोग भगवानके चरणकमलोंमें प्राप्त होकर उन चरणकमलोंकी धूलकी स्पर्शसे अपने मस्तकको पवित्र कर और उस पवित्र मस्तकको नवाकर भोजन करनेके लिये भगवानसे प्रार्थना करते थे ॥ २३ ॥ और कहते थे कि हे प्रभो यह लड्डू आदि खाद्य पदार्थ है, यह इलायची आदि स्वाद लेने योग्य स्वाद्य पदार्थ है, यह अलग रक्खा हुवा पूडी भात आदि भोजन करने योग्य भोज्य पदार्थ है और यह शरीरको संतुष्ट करनेवाला बहुत ही मनोहर ऐसा बार २ पीने योग्य पेय पदार्थ है ॥ २४ ॥ इसप्रकार इधर उधरसे आते हुये कितने ही अज्ञानी लोगोंने भगवानसे प्रार्थना की, तथापि 'ऐसा करना उचित नहीं है' यही समझकर वे भगवान चुपचाप आगेके लिये विहार कर जाते थे ॥ २५ ॥ कितने ही ऐसे लोग जो कि भगवानकी गुप्त चर्याविधिका अभिप्राय जाननेमें असमर्थ थे वे क्या करना चाहिये क्या न करना चाहिये यह कुछ भी निश्चय न कर किसी चित्रमें लिखी हुई प्रतिमाके समान बिलकुल निश्चल खडे रह गये थे ॥ २६ ॥ अन्य कितने ही लोग आंखोंसे आंसू डालते हुये ऐसे अपने स्त्री पुत्र आदि कुटुंबी जनों सहित भगवानके चरणोंमें पड जाते थे जिससे क्षणभरके लिये भगवानकी चर्यामें विघ्न आ जाता था और जब

स्थिताश्चित्रेष्विवार्पिताः ॥ २६ ॥ सपुत्रदारैरन्यैश्च पादालग्नैरुदश्रुभिः । क्षणविघ्नितसच्चर्यो भूयोपि विजहार सः ॥ २७ ॥ इत्यस्य परमां चर्यां । चरतोज्ञातचर्यया । जगदाश्चर्यकारिण्या मासाः षडपरे ययुः ॥ २८ ॥ ततः संवत्सरे पूर्णे पुरं हास्तिनसाह्वयं । कुरुजांगलदेशस्य ललामेवासदत् सः ॥२९॥ तस्य पाता तदासीच्च कुरुवंशशिखामणिः । सोमप्रभः प्रसन्नात्मा सोमसौम्याननो नृपः ॥३०॥ तस्यानुजः कुमारो भूच्छ्रेयान् श्रेयान्गुणोदयैः । रूपेण मन्मथः कांत्या शशी दीप्त्या स भानुमान् ॥ ३१ ॥ धनदेवचरो योसावहमिंद्रो दिवश्च्युतः । स श्रेयानित्यभूच्छ्रेयः प्रजानां श्रेयसां निधिः ॥३२॥

वह विघ्न दूर होजाता था तब फिर अपनी चर्याके लिये भगवान विहार करते थे ॥ २७ ॥ इसप्रकार जगतको आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली गुप्त चर्यासे उत्कृष्ट चर्या धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवके छह महीने और भी व्यतीत हो गये ॥२८॥ योग धारण करनेके छह महीने और आहार करनेके लिये विहार करनेके छह महीने, इसप्रकार जब एक वर्ष पूर्ण हो गया तब वे भगवान विहार करते हुये कुरुजांगलदेशके ललाटके समान अर्थात् अत्यंत उत्कृष्ट ऐसे हस्तिनागपुर नगरमें पहुंचे ॥ २९ ॥ उससमय जिसका अंतःकरण प्रसन्न है और जिसका मुख चंद्रमाके समान सौम्य है ऐसा कुरुवंशका शिरोमणि सोमप्रभ नामका राजा उस नगरका राज्य करता था ॥ ३० ॥ उस सोमप्रभ राजाका एक छोटा भाई था जिसका नाम कुमार श्रेयान था। वह श्रेयान यद्यपि कुमार था तथापि अपने गुणोंकी वृद्धिसे वह सबसे बडा था। वह रूपसे कामदेवके समान था, कांतिसे चंद्रमाके समान था और दीप्तिसे सूर्यके समान था ॥३१॥ जो पूर्व भवमें धनदेव नामका शेठ था और फिर अहमिंद्र हुआ था वह स्वर्गसे चयकर प्रजाका कल्याण करनेवाला और स्वयं अनेक कल्याणोंका निधि ऐसा यह सोमप्रभका छोटा भाई श्रेयान् उत्पन्न हुआ था ॥ ३२ ॥ जब भगवान् वृषभदेव इस हस्तिनागपुरके समीप आ रहे थे तब राजकुमार श्रेयानने रात्रिके पिछले पहरमें नीचे लिखे हुये ये शुभ स्वप्न देखे थे ॥ ३३ ॥ प्रथम सुवर्णमय महाशरीरको धारण करनेवाला और बहुत ऊंचा ऐसा सुमेरु पर्वत देखा। दूसरे स्वप्नमें शाखाओंके अग्रभागपर लटकते हुये

सोऽदर्शद्भगवत्यस्यां पुरि सन्निधिमेष्यति । शर्वर्याः पश्चिमे यामे स्वप्नानेतान् शुभावहान् ॥ ३३ ॥ सुमेरुमैक्षतोत्तुंगं हिरण्मयमहातनुं । कल्पद्रुमं च शाखाग्रलंबिभूषणभूषितं ॥ ३४ ॥ सिंहं संहारसंध्याभ्रकेसरोद्धुरकधरं । शृंगाग्रलग्नमृत्स्नं च वृषभं कूलमुद्रुजं ॥ ३५ ॥ सूर्येंदू भुवनस्येव नयने प्रस्फुरद्द्युती । सरस्वंतमपि प्रोच्चैर्वीचिरत्नार्चितार्णसं ॥ ३६ ॥ अष्टमंगलधारीणि भूतरूपाणि चाग्रतः । सोऽपश्यद्भगवत्पाददर्शनैकफलानिमान् ॥ ३७ ॥ सप्रश्रयमथासाद्य प्रभाते प्रीतमानसः । सोमप्रभाय तान्स्वप्नान्यथादृष्टं न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥ ततः पुरोधाः कल्याणं फलं तेषामभाषत । प्रसरद्दशनज्योत्स्नाप्रधूतककुबंतरः ॥ ३९ ॥ मेरुसंदर्शनाद्देवो यो मेरुरिव सून्नतः । मेरौ प्राप्ताभिषेकः स गृहमेष्यति नः स्फुटं ॥ ४० ॥ तद्गुणोन्नतिमन्ये च

आभूषणोंसे सुशोभित ऐसा कल्पवृक्ष देखा ॥ ३४ ॥ तीसरे स्वप्नमें संध्याकालके मेघके समान अर्थात् कुछ २ लाल और पीले रंगके केसर अर्थात् गर्दनपरके वालोंसे जिसके कंधे ऊंचे हो रहे हैं ऐसा सिंह देखा। चौथे स्वप्नमें जिसके सींगकी नोकपर मिट्टी लगी हुई है ऐसा किनारेको उखाडता हुआ बैल देखा ॥ ३५ ॥ पांचवें स्वप्नमें जिनकी कांति देदीप्यमान हो रही है ऐसे जगतके दो नेत्रोंके समान सूर्य और चंद्रमा देखे । छठे स्वप्नमें जिसकी लहरें बहुत बडी हैं और जिसका जल रत्नोंसे व्याप्त हो रहा है ऐसा समुद्र देखा ॥ ३६ ॥ तथा सातवें स्वप्नमें आठ मंगल द्रव्योंको धारण कर सामने खडी हुई व्यंतर देवोंकी मूर्तियां देखीं । इसप्रकार भगवान वृषभदेवके चरणकमलोंका दर्शन करना ही जिनका मुख्य फल है ऐसे ये ऊपर लिखे हुये स्वप्न राजकुमार श्रेयांसने देखे ॥ ३७ ॥ तदनंतर वह राजकुमार श्रेयांस प्रातःकालके समय प्रसन्न चित होकर बडी विनयके साथ महाराज सोमप्रभके समीप पहुंचा और उसने रात्रिमें जो स्वप्न देखे थे वे सब ज्योंके त्यों महाराजसे निवेदन किये ॥ ३८ ॥ तदनंतर जिसके फैलती हुई दांतोंकी किरणोंसे सब दिशायें सफेद हो रही हैं ऐसे महाराजके पुरोहितने उन स्वप्नोंका कल्याण करने वाला फल कहा ॥ ३९ ॥ वह कहने लगा कि हे देव आपने स्वप्नमें जो मेरुपर्वत देखा है उसका फल यह है कि जो मेरुके समान अशतिय उन्नत है और मेरुपर्वतपर जिसका अभिषेक हुआ है ऐसा कोई देव

स्वप्नाः संसूचयंत्यमी । तस्यानुरूपविनयैर्महान्पुण्योदयोऽद्य नः ॥४१॥ प्रशंसां जगति ख्यातिमनल्पां लाभसंपदं । प्राप्स्यामो नात्र संदेहः कुमारश्चात्र तत्त्ववित् ॥ ४२ ॥ इति तद्वचनात्प्रीतौ तौ तत्संकथया स्थितौ । यावत्तावच्च योगींद्रः प्राविशद्धास्तिनं पुरं ॥ ४३ ॥ तदा कोलाहलो भूयानभूत्तत्सं-दिदृक्षया । इतस्ततश्च मिलतां पौराणां मुखनिःसृतः ॥४४॥ भगवानादिकर्त्तास्मान्प्रपालयितुमागतः । पश्यामोत्र द्रुतं गत्वा पूजयामश्च भक्तितः ॥ ४५ ॥ वनप्रवेशाद्भगवान्प्रत्यावृत्तः सनातनः । अनुगृहीतुमेवास्मानित्यूचुः केचनोचितं ॥ ४६ ॥ केचित्परापरज्ञस्य संदर्शनसमुत्सुकाः । पौरास्त्यक्तान्यकर्तव्याः

आज अवश्य ही अपके घर आवेगा ॥ ४० ॥ आपके अन्य जो स्वप्न हैं वे भी उन्हीं भगवानके गुणोंकी उन्नतिको सूचित करते हैं। आज आपको उन भगवानके योग्य की हुई विनयके द्वारा बडा भारी पुण्यो-दय प्राप्त होगा ॥ ४१ ॥ आज हम जगतमें प्रसिद्ध गिने जायंगे, हमारी बडी प्रशंसा होगी और बडी भारी संपत्ति आज हम लोगोंको प्राप्त होगी। इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। क्योंकि यह राज-कुमार श्रेयांस अच्छा तत्त्ववेत्ता है, भगवानकी विनय बहुत अच्छीतरह कर सकेगा ॥ ४२ ॥ इसप्रकार उस पुरोहितके बचन सुनकर वे दोनों ही भाई बहुत प्रसन्न हुये। परस्पर भगवानकी कथा कहते हुये वे दोनों बैठे ही थे कि इतनेमें ही योगिराज भगवान वृषभदेवने हस्तिनापुर नगरमें प्रवेश किया ॥ ४३ ॥ उस नगरमें भगवानके प्रवेश करते ही अनेक लोग उनके देखनेके लिये इधरसे उधर और उधरसे इधर आ जा रहे थे। वे लोग परस्पर मिलते थे और बातचीत करते थे इसलिये उससमय उनके मुखसे निकले हुये शब्दों से बडा भारी कोलाहल हो रहा था ॥ ४४ ॥ कोई कह रहा था कि आदिकर्ता भगवान वृष-भदेव हम लोगोंका पालन करनेके लिये यहां आये हैं, चलो जल्दी चलकर उनके दर्शन करें और भक्ति पूर्वक उनकी पूजा करें ॥ ४५ ॥ कोई किसीसे ऐसे उचित वाक्य कहता था कि देखो सनातन भगवान वृषभदेवने बनमें प्रवेश किया था परंतु केवल हम लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही वहांसे ये फिर लौटे हैं ॥ ४६ ॥ इस लोक और परलोकको जानने वाले ऐसे भगवान वृषभदेवके दर्शन करनेके लिये उत्कं-

संदधावुरितोमुतः ॥ ४७ ॥ अयं स भगवान्दूराल्लक्ष्यते प्रांशुविग्रहः । गिरींद्र इव निष्टप्तजात्यकांचनसच्छविः ॥ ४८ ॥ श्रूयते यः श्रुतश्रुत्या जगदेक पितामहः । स नः सनातनो दिष्ट्या यातः प्रत्यक्षसन्निधिं ॥ ४९ ॥ दृष्टेऽस्मिन्सफले नेत्रे श्रुतेऽस्मिन्सफले श्रुती । स्मृतेऽस्मिन् जंतुरज्ञोऽपि व्रजत्यंतः पवित्रतां ॥ ५० ॥ सर्वसंगविनिर्मुक्तो दीप्तप्रोत्तुंगविग्रहः । घनोपरोधनिर्मुक्तो भाति भास्वानिव प्रभुः ॥ ५१ ॥ इदमाश्चर्यमाश्चर्यं यदेष जगतां पतिः। विहरत्येवमेकाकी त्यक्तसर्वपरिच्छदः ॥ ५२ ॥ अथवा श्रुतमस्माभिः स्वाधीनसुखकाम्यया । करीव यूथपो नाथो वनं प्रस्थितवानिति ॥ ५३ ॥ तत्स

ठित हुये कितने ही पुरवासी लोग अन्य सब काम छोडकर केवल इधरसे उधर और उधरसे इधर दौड रहे थे ॥ ४७ ॥ कोई कह रहा था कि देखो जिनका शरीर बहुत उंचा है और तप्त किये हुये सुवर्णके समान जिनकी कांति है ऐसे ये भगवान दूरसे ही मेरुपर्वतके समान दिखाई देते हैं ॥ ४८ ॥ सनातन और अतिशय प्रसिद्ध ऐसा कोई एक संसारका एक पितामह है ऐसा हम लोग केवल कानोंसे सुनते थे परंतु आज वे ही परम देव हमारे भाग्यसे हमारी आंखोंके सामने प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं ॥ ४९ ॥ इन भगवानके दर्शन करनेसे नेत्र सफल होजाते हैं इनकी कथा सुननेसे कान सफल होजाते हैं और इनका स्मरण करनेसे अज्ञानी क्षुद्र जीवोंका भी अंतःकरण पवित्र हो जाता है ॥ ५० ॥ देखो इन्होंने समस्त परिग्रहका त्याग कर दिया है, इनका अतिशय ऊंचा शरीर बहुत ही देदीप्यमान हो रहा है और जिस प्रकार बादलसे ढका हुआ सूर्य बादलसे निकलनेपर अतिशय होकर सुशोभित होता है उसी प्रकार ये भगवान भी अतिशय तेजस्वी होते हुये सुशोभित हो रहे हैं ॥ ५१ ॥ देखो कितना बडा भारी आश्चर्य है कि ये भगवान तीनों लोकोंके स्वामी होकर भी समस्त परिग्रह छोडकर केवल अकेले ही विहार करते हैं ॥५२॥ अथवा इसमें आश्चर्य ही क्या है क्योंकि हम लोगोंने जो पहिले सुना था कि जिसप्रकार हाथियोंका स्वामी स्वाधीन सुख प्राप्त करनेके लिये समूह छोड कर बनमें प्रवेश करता है उसीप्रकार इन भगवानने भी स्वाधीन सुख प्राप्त करनेकेलिये समस्त परिग्रह छोडकर बनमें प्रवेश किया है । और इस समय यह बात सत्य

त्वमधुना स्वैरं मुक्तसंगो निरंबरः। अव्यथो विहरत्येवमेकक: परमेश्वरः ॥ ५४ ॥ यथास्वं विहरन् देशानस्मद्भाग्यादिहागतः । वंद्यः पूज्योऽभिगम्यश्चेत्येके श्लाघ्यं वचो जगुः ॥ ५५ ॥ चेटि बालकमादाय स्तनं पायय याम्यहं । द्रष्टुं भगवतः पादाविति काचित्त्वभाषत ॥ ५६ ॥ प्रसाधनमिदं तावदास्तां मे सह मज्जनं । पूतैर्दृष्टिजलैर्भर्तुः स्नास्यामीत्यपरा जगौ ॥५७॥ भगवन्मुखबालार्कदर्शनान्नो मनोंबुजं। चिरं प्रबोधमायातु पश्यामो जगद्गुरुं ॥५८॥ खलु मुक्त्वा लघूत्तिष्ठ गृहाणार्घमिमं सखि। पूजयामो जगत्पूज्यं गत्वेत्यन्या जगौ गिरं ॥ ५९ ॥ स्नानाशनादिसामग्रीमवमत्य पुरोगतां ।

भी जान पडती है क्योंकि ये परमेश्वर भगवान समस्त परिग्रह और वस्त्र छोडकर बिना किसी थकावट के इच्छानुसार अकेले विहार करते हैं ॥ ५३-५४ ॥ ये भगवान अपनी इच्छानुसार अनेक देशोंमें विहार करते हुये हमारे भाग्यसे ही यहां पधारे हैं इसलिये इनको नमस्कार करना चाहिये इनकी पूजा करनी चाहिये और इनके सामने जाना चाहिये। इसप्रकार कितने ही लोग परस्पर भगवानकी प्रशंसा कर रहे थे ॥ ५५ ॥ उस समय कोई स्त्री अपनी दासीसे कह रही थी कि हे दासी तू मेरे बालकको गोदीमें लेकर दूध पिलाना मैं भगवानके चरणकमलोंके दर्शन करनेकेलिये जाती हूं ॥ ५६ ॥ अन्य कोई स्त्री कह रही थी कि यह स्नान करनेकी सामग्री और यह आभूषण पहननेकी सब सामग्री एक ओर रक्खो मैं पहिले भगवानकी दृष्टिरूपी पवित्र जलसे स्नान करूंगी ॥ ५७ ॥ भगवानके मुखरूपी प्रातःकालके सूर्यके दर्शन करनेसे मेरा यह मनरूपी कमल चिरकालतक प्रफुल्लित हो, चलो आज जगतगुरु भगवान वृषभदेवके दर्शन करें ॥ ५८ ॥ अन्य कोई स्त्री कह रही थी कि हे सखि भोजन कर जल्दी उठ, यह अर्घ हाथमें ले और चल, जल्दी चलकर जगतपूज्य भगवान वृषभदेवकी पूजा करें ॥ ५९ ॥ नगर निवासी लोग सामने आई हुई स्नान और भोजनकी सामग्रीको दूरकर आगे जानेवाले भगवान वृषभदेव को देखनेकेलिये उनके पीछे दौडे ॥ ६० ॥ भगवानके दर्शन करनेकेलिये जानेवाले लोगोंमेंसे कितने ही तो ऐसे थे जो अन्य लोगोंको जाते हुये देखकर स्वयं जा रहे थे, कितने ही भक्तिवश जा रहे थे और

गता एव तदा पौराः प्रभुं द्रष्टुं पुरोगतं ॥ ६० ॥ गतानुगतिकाः केचित्केचिद्भक्तिमुपागताः । परे कौतुकसाद्भूता भूतेशं द्रष्टुमुद्यताः ॥६१॥ इति नानाविधैर्जल्पैः संकल्पैश्च हि सत्कृतैः । तमीक्षांचक्रिरे पौरा दूरान्नातारमानताः ॥ ६२ ॥ अहं पूर्वमहं पूर्वमित्युपेतैः समंततः । तदारुद्धमभूत्पौरैः पुरमाराजमंदिरात् ॥ ६३ ॥ स तु संवेगवैराग्यसिध्यै बद्धपरिच्छदः । जगत्कायस्वभावादितत्त्वानुध्यानमामनन् ॥ ६४ ॥ मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थान्यनुभावयन् । सत्त्वसृष्टिगुणोत्कृष्टक्लिष्टानिष्ठानुशिष्टिषु ॥ ६५ ॥ युगप्रमितमध्वानं पश्यन्नातिविलंबितं । नातिद्रुतं च विन्यस्यन्पदं गंधेभलील्या ॥ ६६ ॥

कितने ही केवल तमाशा देखनेकेलिये जा रहे थे। इसप्रकार बहुतसे लोग भगवानके दर्शन करनेकेलिये तैयार हुये थे ॥ ६१ ॥ इसप्रकार अनेक प्रकारके संकल्पविकल्प करते हुये तथा परस्पर अनेकप्रकारकी बातचीत करते हुये नगर निवासीलोग जगतकी रक्षा करनेवाले भगवान वृषभदेवको दूरसे ही नमस्कार करते हुये उनके दर्शन करने लगे ॥ ६२ ॥ उस समय दर्शन करनेवाले लोग चारों ओरसे आ रहे थे और सब यही चाहते थे कि मैं पहिले जाकर दर्शन करूं, इसलिये राजमंदिर तक वह सब नगर नगर निवासी लोगोंसे खूब भर गया था ॥६३॥ उस समय हस्तिनागपुरमें लोगोंकी ऐसी स्थिति हो रही थी, परंतु भगवान वृषभदेव संवेग और वैराग्यको सिद्ध करनेकेलिये कमर बांधकर जगत और कायका स्वभाव चिंतवन कर रहे थे, अर्थात् जन्म मरण रूप संसारसे भय उत्पन्न होने रूप संवेग सिद्ध होनेकेलिये शरीरका स्वभाव चिंतवन कर रहे थे। समस्त प्राणियोंमें मैत्रीभावका चिंतवन कर रहे थे, उत्कृष्ट गुणोंको धारण करनेवाले पुरुषोंको देखकर प्रमोद अर्थात् हर्षित होनेका चिंतवन कर रहे थे, रोगी आदि क्लेशित जीवोंमें कारुण्य भावनाका चिंतवन कर रहे थे और हिताहित न जाननेवाले अर्थात् अविनयी लोगोंमें मध्यस्थ भावना अर्थात् राग द्वेष न कर मध्यस्थ भावसे चिंतवन कर रहे थे ॥ ६४-६५ इसप्रकार चिंतवन करते हुये वे भगवान चार हाथ जमीनको बराबर देखते हुये न बहुत धीरे और न बहुत शीघ्र लीला पूर्वक चलते हुये मदोन्मत हाथीके समान पैर रखते हुये चर्याके लिये विहार कर रहे थे ॥ ६६ ॥ यद्यपि वह नगर मनुष्यों

तथाप्यस्मिजनाकीर्णे शून्यारण्यकृतास्थया । निर्व्यग्रो भगवांश्चान्द्रीं चर्यामाश्रित्य पर्यटन् ॥ ६७ ॥ गेहं गेहं यथायोग्यं प्रविशन्राजमंदिरं । प्रवेष्टुकामोऽभ्यगमत्सोऽयं धर्मः सनातनः ॥ ६८ ॥ ततः सिद्धार्थनामेत्य द्रुतं दौवारपालकः । भगवत्सन्निधिं राज्ञे सानुजाय न्यवेदयत् ॥ ६९ ॥ अथ सोमप्रभो राजा श्रेयानपि युवा नृपः । सान्तःपुरौ ससेनान्यौ सामात्यावुदतिष्ठतां ॥ ७० ॥ प्रत्युद्गम्य ततो भक्त्या यावद्राजांगणं बहिः । दूरादवनतौ भर्त्तुश्चरणौ तौ प्रणेमतुः ॥ ७१ ॥ सार्घं पाद्यं निवेद्यांभ्योः परीत्य च जगद्गुरुं । तौ परं जग्मतुस्तोषं निधाविव गृहागते ॥ ७२ ॥ तौ देवदर्शनात्प्रीता

से भरा हुआ था तथापि वे भगवान उसे शून्य बनके समान जानते हुये निराकुल होकर अंतःकरणमें शांतता धारण करते हुये विहार कर रहे थे ॥ ६७ ॥ इसप्रकार प्रत्येक घरमें यथा योग्य विहार करते हुये वे सनातन वृषभदेव भगवान राजमंदिरमें प्रवेश करनेकेलिये आगे बढे ॥ ६८ ॥ भगवानने राजमंदिरमें प्रवेश किया ही था कि सिद्धार्थ नामके द्वारपालने अपने छोटे भाई श्रेयांसके साथ बैठे हुये महाराज सोमप्रभसे भगवानके समीप आनेके समाचार निवेदन किये ॥ ६९ ॥ उसे सुनकर तरुण राजकुमार श्रेयांसके साथ २ महाराज सोमप्रभ रणवास, सेनापति और मंत्रीके साथ २ बहुत शीघ्र उठे ॥ ७० ॥ वे दोनों ही भाई उठकर राजमहलके आंगनके बाहर आये और दूरसे ही नम्रीभूत होकर भक्ति पूर्वक भगवानके चरणकमलोंको नमस्कार किया ॥ ७१ ॥ उन दोनों भाइयोंने भगवानके चरणकमलोंको रत्न मिले हुये जलका अर्घ दिया, जगतगुरु भगवान वृषभदेवकी परिक्रमा दी और जिसप्रकार घरमें आई हुई निधिको देखकर संतोष होता है उसीप्रकार वे दोनों भाई बडे संतुष्ट हुये ॥ ७२ ॥ जिसप्रकार मलयागिरि पर्वतसे आई हुई वायुके स्पर्शसे वृक्षोंपर अंकूरे उत्पन्न हो जाते हैं उसीप्रकार भगवान वृषभदेवके दर्शन करनेसे वे दोनों भाई भी बडे प्रसन्न हुये और दोनोंके शरीर रोमांचित हो गये ॥ ७३ ॥ भगवानका मुख देखकर जिनके मुखरूपी कमल प्रफुल्लित हो गये हैं ऐसे वे दोनों भाई उससमय ऐसे जान पडते थे मानों प्रातःकालके समय जिनमें कमल प्रफुल्लित हुये हैं ऐसे दो सरोवर ही हों ॥ ७४ ॥ उससमय

गात्रे पुलकमूहतुः। मलयानिलसंस्पर्शाद्भूरुहावंकुरं यथा ॥ ७३ ॥ भगवन्मुखसंप्रेक्ष्य विकसन्मुखपंकजौ । विबुद्धकमलौ प्रातस्तनौ पद्माकराविव ॥ ७४ ॥ प्रमोदनिर्भरौ भक्तिभरानमितमस्तकौ । प्रश्रयप्रशमौ मूर्ताविव तौ रेजतुस्तदा ॥ ७५ ॥ भगवच्चरणोपांते तौ तदा भेजतुः श्रियं । सौधर्मैशानकल्पेशौ विभुं द्रष्टुमिवागतौ ॥ ७६ ॥ पर्वतवर्तिनोर्मध्ये तयोर्भत्ता स्म राजते । महानिरुरिवोद्भूतो मध्ये निषधनीलयोः ॥ ७७ ॥ संप्रेक्ष्य भगवद्रूपं श्रेयान् जातिस्मरोऽभवत् । ततो दाने मतिं चक्रे संस्कारैः प्राक्तनैर्धृतः ॥ ७८ ॥ श्रीमतीवज्रजंघादिवृत्तांतं सर्वमेव तत् । तदा चारणयुग्माय दत्तं दानं च सोऽध्यगात ॥ ७९ ॥ सती गोचरवेलेयं दानयोग्या मुनीशिनां । तेन भर्त्रे ददौ दानमिति निश्चित्य पुण्यधीः ॥ ८० ॥ श्रद्धादिगुणसंपन्नः पुण्यैर्नव

वे दोनों ही भाई आनंदमें डूबे हुये थे, भक्तिके भारसे उन दोनोंके मस्तक नम्रीभूत हो रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानों वे दोनों ही विनय और शांतताकी मूर्ति ही हों ॥ ७५ ॥ भगवान वृषभदेवके समीप खडे हुये वे दोनों ही उस समय ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानके दर्शन करनेकेलिये सौधर्म और ईशान स्वर्गके इंद्र ही आये हों ॥ ७६ ॥ भगवान वृषभदेवके एक ओर सोमप्रभ और दूसरी ओर राजकुमार श्रेयांस खडा हुआ था तथा उन दोनोंके बीचमें भगवान वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों निषध और नील पर्वतके मध्यभागमें खडा हुआ सुमेरु पर्वत ही हो ॥ ७७ ॥ भगवानका रूप देखते ही राजकुमार श्रेयांसको जातिस्मरण हो गया था और पूर्व भवके सब संस्कार उसमें हो गये थे इसलिये आहारदान देनेकेलिये उसकी बुद्धि स्फुरायमान हुई थी ॥ ७८ ॥ श्रीमती और वज्रजंघके भवमें जो दो चारण मुनियोंको दान दिया था वह सब वृतांत उस समय राजकुमार श्रेयांसको स्मरण हो आया था ॥ ७९ ॥ यह मुनियोंके दान देने योग्य ऐसा भोजनका उत्तम समय है इसप्रकार निश्चयकर महा पुण्यवान् राजकुमार श्रेयांसने भगवान वृषभदेवके लिये आहारदान दिया ॥ ८० ॥ दान तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले राजकुमार श्रेयांसने श्रद्धा आदि सातों गुण सहित और पुण्य बढानेवली नवधा भक्ति सहित भगवान वृषभदेवकेलिये आहारदान दिया ॥ ८१ ॥ श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा

तथाप्यस्मिजनाकीर्णे शून्यारण्यकृतास्थया । निर्व्यग्रो भगवांश्चान्द्रीं चर्यामाश्रित्य पर्यटन् ॥ ६७ ॥ गेहं गेहं यथायोग्यं प्रविशन्राजमंदिरं । प्रवेष्टुकामोऽभ्यगमत्सोऽयं धर्मः सनातनः ॥ ६८ ॥ ततः सिद्धार्थनामेत्य द्रुतं दौवारपालकः । भगवत्सन्निधिं राज्ञे सानुजाय न्यवेदयत् ॥ ६९ ॥ अथ सोमप्रभो राजा श्रेयानपि युवा नृपः । सान्तःपुरौ ससेनान्यौ सामात्यावुदतिष्ठतां ॥ ७० ॥ प्रत्युद्गम्य ततो भक्त्या यावद्राजांगणं बहिः । दूरादवनतौ भर्त्तुश्चरणौ तौ प्रणेमतुः ॥ ७१ ॥ सार्घं पाद्यं निवेद्यांभ्योः परीत्य च जगद्गुरुं । तौ परं जग्मतुस्तोषं निधाविन गृहागते ॥ ७२ ॥ तौ देवदर्शनात्प्रीता

से भरा हुआ था तथापि वे भगवान उसे शून्य बनके समान जानते हुये निराकुल होकर अंतःकरणमें शांतता धारण करते हुये विहार कर रहे थे ॥ ६७ ॥ इसप्रकार प्रत्येक घरमें यथा योग्य विहार करते हुये वे सनातन वृषभदेव भगवान राजमंदिरमें प्रवेश करनेकेलिये आगे बढे ॥ ६८ ॥ भगवानने राजमंदिरमें प्रवेश किया ही था कि सिद्धार्थ नामके द्वारपालने अपने छोटे भाई श्रेयांसके साथ बैठे हुये महाराज सोमप्रभसे भगवानके समीप आनेके समाचार निवेदन किये ॥ ६९ ॥ उसे सुनकर तरुण राजकुमार श्रेयांसके साथ २ महाराज सोमप्रभ रणवास, सेनापति और मंत्रीके साथ २ बहुत शीघ्र उठे ॥ ७० ॥ वे दोनों ही भाई उठकर राजमहलके आंगनके बाहर आये और दूरसे ही नम्रीभूत होकर भक्ति पूर्वक भगवानके चरणकमलोंको नमस्कार किया ॥ ७१ ॥ उन दोनों भाइयोंने भगवानके चरणकमलोंको रत्न मिले हुये जलका अर्घ दिया, जगतगुरु भगवान वृषभदेवकी परिक्रमा दी और जिसप्रकार घरमें आई हुई निधिको देखकर संतोष होता है उसीप्रकार वे दोनों भाई बडे संतुष्ट हुये ॥ ७२ ॥ जिसप्रकार मलयागिरि पर्वतसे आई हुई वायुके स्पर्शसे वृक्षोंपर अंकूरे उत्पन्न हो जाते हैं उसीप्रकार भगवान वृषभदेवके दर्शन करनेसे वे दोनों भाई भी बडे प्रसन्न हुये और दोनोंके शरीर रोमांचित हो गये ॥ ७३ ॥ भगवानका मुख देखकर जिनके मुखरूपी कमल प्रफुल्लित हो गये हैं ऐसे वे दोनों भाई उससमय ऐसे जान पडते थे मानों प्रातःकालके समय जिनमें कमल प्रफुल्लित हुये हैं ऐसे दो सरोवर ही हों ॥ ७४ ॥ उससमय

द्धो भेजे पूर्वसंस्कारचोदितः ॥ ८७ ॥ इष्टश्चायं विशिष्टश्चेत्यसौ तुष्टिं परां श्रितः । ददे भगवते दानं प्रासुकाहारकल्पितं ॥ ८८ ॥ संतोषो याचनापायो नैःसंग्य स्वप्रधानता । इति मत्वा गुणान्पाणिपात्रेणाहारमिच्छते ॥ ८९ ॥ तुष्टिर्विशिष्टपीठादिसंप्राप्तावन्यथा द्विषिः । असँयमश्च सत्येवामिति स्थित्वाऽशनैषिणे ॥ ९० ॥ कायासुखतितिक्षार्थं सुखासक्तेश्च हानये । धर्मप्रभावनार्थं च कायक्लेशमुपेयुषे ॥ ९१ ॥ नैष्किंचन्यप्रधानं यत्परं निर्वाणकारणं । हिंसारक्षणयांचादिदोषैरस्पृष्टमूर्जितं ॥ ९२ ॥ अशक्यं प्रार्थनीयत्वरहितं च समीयुषे । जातरूपं यथाजातमविकारमविप्लुतं ॥ ९३ ॥ तैला-

---

अतिशय बुद्धिमान राजकुमार श्रेयांसने पूर्व जन्मके संस्कारके निमित्तसे उससमय ये सब नवधा भक्ति की थीं ॥८६-८७॥ ये भगवान वृषभदेव प्रेमपात्र और उत्तमपात्र हैं यही समझकर अत्यंत संतुष्ट हुये राजकुमार श्रेयांसने भगवान वृषभदेवकेलिये निर्दोष और प्रासुक आहारका दान दिया ॥ ८८ ॥ जो भगवान संतोष धारण करना, किसीसे याचना नहीं करना, समस्त परिग्रहका त्याग करना, और अपने आत्माको ही प्रधान मानना आदि अनेक गुण धारण करनेकेलिये केवल पाणिपात्रसे ही अर्थात् केवल हाथोंसे ही आहार ग्रहण करते थे ॥ ८९ ॥ अच्छा आसन मिलनेसे संतोष होगा यदि अच्छा आसन न मिला तो द्वेष उत्पन्न होगा, और राग द्वेष उत्पन्न होनेसे बडा भारी असंयम होगा यही समझकर जो भगवान खडे होकर भोजन लेते थे ॥ ९० ॥ शरीर संबंधी अनेक दुःख सहन करनेकेलिये सुखकी आसक्तता दूर करनेकेलिये और धर्मकी प्रभावना करनेकेलिये जो भगवान सदा कायक्लेश सहन करते थे ॥ ९१ ॥ जिसमें आकिंचन्य धर्म ही प्रधान है, जो मोक्षका साक्षात् कारण है, हिंसा, परिग्रह और याचना आदि अनेक दोषोंसे रहित है, जो अत्यंत बलवान है, अन्य साधारण लोग जिसे धारण कर नहीं सकते, जिसे कोई ले नहीं सकता, जो तत्काल हुये बालकके समान निर्विकार और उपद्रव रहित है ऐसी नग्नताको जो भगवान धारण करते थे। तथा तैल पानी आदिकी याचना करना, यदि याचना करनेपर तैलादिकी प्राप्ति हो गई तो हर्ष उत्पन्न होगा यदि उसकी प्राप्ति

देर्याचनं तस्य लाभालाभद्वये सति । रागद्वेषद्वयासंगकेशजप्राणिहिंसनं ॥ ९४ ॥ इत्यादिदोषसद्भावादस्नानव्रतधारिणे । हायनानशनेऽप्यंगे पुष्टिं दीप्तिं च बिभ्रते ॥ ९५ ॥ क्षुरक्रियायां तद्योग्यसाधनार्ज्जनरक्षणे । तदपाये च चिंता स्यात्केशोत्पाटमितीच्छते ॥ ९६ ॥ पंचभिः शमितायास्मै त्रिभिर्गुप्ताय तायिने । महाव्रताय महते निर्मोहाय निराशिषे ॥ ९७ ॥ संयमक्रियया सर्वप्राणिभ्योऽभयदायिने । सर्वीयज्ञानदानस्य सार्वाय प्र विष्णवे ॥ ९८ ॥ दातुराहारदानस्य महानिस्तारकात्मने । त्रिजगत्सर्वभूतानां हितार्थं मार्गदेशिने ॥ ९९ ॥ श्रेयान् सोमप्रभेणामा लक्ष्मीमत्या च सार्द्धं । रसमिक्षोरदात्प्रा-

---

नहीं हुई तो द्वेष होगा, इसके सिवाय जूं आदि मस्तकमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी हिंसा होगी तथा और भी अनेक दोष उत्पन्न होंगे यही समझकर जो भगवान कभी स्नान नहीं करते थे। यद्यपि उन्होंने एक वर्ष भोजन नहीं किया था तथापि उनके शरीरमें पुष्टता और कांति शोभायमान थी ॥९२-९३-९४-९५॥ यदि कैंची वा उस्तरासे बाल बनवाये जायंगे तो बाल बनवानेका साधन ऐसा कैंची वा उस्तरा लेना पडेगा, उसकी रक्षा करनी पडेगी, यदि वह खोजाय वा गिरपडे तो उसकी चिंता होगी इसलिये ही जो भगवान केशलोंच करते थे ॥ ९६ ॥ जो भगवान पांचों इंद्रियोंके निग्रह करनेसे अत्यंत शांत थे, तीनों गुप्तियोंको धारण करनेवाले थे, सबका पालन करनेवाले थे, महाव्रत धारण करनेवाले थे, परम पूज्य थे, मोहरहित थे इच्छारहित थे, ॥ ९७ ॥ संयमरूप क्रिया पालन करनेसे समस्त प्राणियोंको अभयदान देनेवाले थे, सबका हित करनेवाले थे, सबका कल्याण करनेवाले ऐसे ज्ञानका दान देनेकेलिये पूर्ण समर्थ थे ॥ ९८ ॥ आहारदान देनेवालेको बहुत शीघ्र इस संसार सागरसे पार कर देनेवाले थे, तीनों लोकोंके समस्त जीवोंका हित करनेकेलिये मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले थे ॥ ९९ ॥ और जिन्होंने आहार ग्रहण करनेकेलिये अपने दोनों हाथ आगे किये थे ऐसे भगवान श्रीवृषभदेवकेलिये राजकुमार श्रेयांसने अपने बडे भाई सोमप्रभ और रानी लक्ष्मीमतीके साथ बडे आदर पूर्वक इक्षुरसका प्रासुक आहार दिया ॥ १०० ॥ वह राजकुमार श्रेयांस भगवानके पाणिपात्रमें पुण्यधाराके समान अत्यंत

सुमुत्तानीकृतपाणये ॥ १०० ॥ पुंड्रेक्षुरसधारां तां भगवत्पाणिपात्रके । स समावर्जयन् रेजे पुण्यधारामिवामलां ॥ १०१ ॥ रत्नवृष्टिरथापतद्ंबरादमरेशिनां । करैर्मुक्ता महादानफलस्येव परंपरा ॥ १०२ ॥ तदाऽपतद्दिवो देवकरैर्मुक्तालिसंकुला । वृष्टिः सुमनसां दृष्टिमालेव त्रिदिवौकसां ॥ १०३ ॥ नेदुः सुरानका मंद्रं बधिरीकृतविष्टपाः । संचचार मरुच्छीतः सुरभिर्मांद्यसुंदरः ॥१०४॥ प्रोच्चचार महान्ध्वानो देवानां प्रीतिमीयुषां । अहो! दानमहो! पात्र अहो! दातेति खांगणे ॥ १०५ ॥ कृतार्थंतरमात्मानं मेने तद्भ्रातृयुग्मकं । कृतार्थोऽपि विभुर्यस्मादपुनात्तद्गृहांगण ॥ १०६ ॥ दानानुमोदनात्पुण्यं परेपि बहवोऽभजन् । यथासाद्य परं रत्नं स्फाटिकस्तद्रुचिं भजेत् ॥१०७॥ कारणं परिणामः स्याद्बंधने पुण्यपापयोः । बाह्यं तु कारणं प्राहुराप्ताः

निर्मल ऐसी वह पौंडेके ईखके रसकी धारा छोडता हुआ बहुत ही अच्छा सुशोभित हो रहा था ॥१०१॥ तदनंतर आकाशसे महादानके फलकी परंपराके समान देवोंके हाथोंमे छूटती हुई रत्नोंकी वर्षा होने लगी ॥ १०२ ॥ उसीसमय देवोंके सुंदर नेत्रोंके समूहके समान देवोंके हाथसे पडती हुई और जिसपर भ्रमरोंके समूह बैठे हुऐ हैं ऐसी फूलोंकी वर्षा आकाशसे होने लगी ॥ १०३ ॥ उसीसमय समस्त संसार को बधिर करनेवाले गंभीर नगाडे बजने लगे और मंद मंद गमन करनेमे अत्यंत सुंदर एसा सुगंधित और शीतल वायु चलने लगा ॥ १०४ ॥ उसी समय उस दानसे प्रसन्न हुये देवलोगोंका धन्य यह दान, धन्य यह पात्र और धन्य यह दाता' इस प्रकार एक बडा भारी शब्द हो रहा था ॥ १०५ ॥ इसप्रकार आकाशसे पंचाश्चर्यकी वर्षा हो रही थी। उस समय वे सोम और श्रेयांस दोनों ही भाई अपने आत्माको बडे ही कृतार्थ मानते थे, क्योंकि जो भगवान वृषभदेव कृतकृत्य हो चुके थे उन्होंने भी स्वयं आकर उन दोनों भाइयोंके घरका आंगन पवित्र किया था ॥ १०६ ॥ सोम श्रेयांसके सिवाय अन्य बहुतसे लोगोंने उस दानकी अनुमोदना की थी. इसलिये उन्हें भी बडे भारी पुण्यकी प्राप्ति हुई था। सो ठीक ही है क्योंकि निर्मल स्फटिकमणि किसी उत्तम रत्नके समीप होनेसे उस रत्नकी कांतिको धारण करता ही है ॥ १०७ ॥ कदाचित् कोई यह शंका करे कि अनुमोदना करनेवालेको पुण्यकी प्राप्ति कैसे होती है उस-

कारणकारणं ॥ १०८ ॥ परिणामः प्रधानांगं यतः पुण्यस्य साधने । मतं ततोनुमंतॄणामपीष्टस्तत्फलोदयः ॥ १०९ ॥ कृत्वा तनुस्थितिं धीमान्योगींद्रो जातकौतुकौ । प्रणतावभिनंद्यैनौ भ्रातरौ प्रस्थितो वनं ॥ ११० ॥ भगवंतमनुव्रज्य व्रजंतं किंचिदंतरं । स श्रेयान्कुरुशार्दूलो न्यवृत्तन्निभृतं पुनः ॥ १११ ॥ निर्व्यपेक्षं व्रजंतं तं भगवंतं वनांतरं । परावर्त्य मुखं किंचिदीक्षमाणावनुक्षणं ॥ ११२ ॥ तद्गुन्मुखीं दृशं चेतोवृत्तिं च तमनूत्थितां । यावत् दृग्गोचरस्तावन्निवर्तयितुमक्षमौ ॥ ११३ ॥ संकथां तद्गतामेव प्रस्तुवानौ मुहुर्मुहुः । स्तुवानौ तद्गुणान्भूयो मन्वानौ स्वकृतार्थतां ॥ ११४ ॥

केलिये आचार्य कहते हैं कि पुण्य और पापके बंध होने में केवल जीवोंके परिणाम ही कारण हैं अर्थात् पुण्य पाप केवल परिणामोंसे ही होता है बाह्य कारणोंसे नहीं। बाह्य कारण तो अरहंतदेवने केवल शुभ अशुभ परिणामोंके उत्पन्न होनेके कारण बतलाये हैं। चूंकि पुण्य उपार्जन करनेमें जीवोंके शुभ परिणाम ही मुख्य कारण हैं और अनुमोदना करनेवालोंके भी वैसे ही शुभ परिणाम होते हैं इसलिये उन्हें भी उसी दान-से पुण्यरुप फलकी प्राप्ति अवश्य होती है, ऐसा श्रीगणधरदेवने कहा है ॥ १०८-१०९ ॥ इसप्रकार महा बुद्धिमान् योगिराज भगवान वृषभदेवने आहार ग्रहण किया और जिन्हें एक प्रकारका कौतुक उत्पन्न हुआ है तथा जो बार २ नमस्कार कर रहे हैं ऐसे उन दोनों भाइयोंको संतुष्ट कर बनको प्रस्थान किया ॥ ११० ॥ कुरुवंशियोंमें सिंहके समान पराक्रमी वह राजा सोमप्रभ राजकुमार श्रेयांसके साथ २ थोडी दूरतक तो बनको गमन करते हुये भगवानके पीछे पीछे गया और फिर संतुष्ट होकर पीछे अपने घर लौट आया ॥ १११ ॥ भगवान निरपेक्ष होकर बनकी ओर जा रहे थे परंतु वे दोनों ही भाई उनकी ओर थोडासा अपना मुख फिराकर क्षण क्षणमें उन्हें देख रहे थे ॥ ११२ ॥ जबतक वे भगवान दिखाई देते रहे तबतक वे दोनों ही भाई भगवानकी ओर लगी हुई अपनी दृष्टिको और उन्हींके पीछे गई हुई अपनी चित्तकी वृत्तिको किसीतरह रोक नहीं सके थे ॥ ११३ ॥ वे दोनों ही भाई बार २ उन्हीं भगवानकी कथा कह रहे थे, बार बार उन्हींके गुणोंकी स्तुति कर रहे थे और अपनेको भी कृतार्थ मान

भगवत्पादसंस्पर्शपूतां क्ष्मां व्यक्त लक्षणैः। तत्पदैरंकितां प्रीत्या विध्यायंतौ कृतानती ॥ ११५ ॥ सुभ्राता कुरुनाथोऽयं कृतार्थः सुकृती कृती। यस्या यमीदृशो भ्राता जातो जातमहोदयः ॥ ११६ ॥ श्रेयानयं बहुश्रेयान्प्रज्ञा यस्येयमीदृशी। पौरैरित्युन्मुखैरारात्कीर्त्यमानगुणोत्करौ ॥ ११७ ॥ सूर्योन्मेयानि रत्नानि महावीथीष्वितस्ततः। सचिन्वानान्यथाकाममानंदंतौ पृथग्जनान् ॥ ११८ ॥ उच्चावचसुरोन्मुक्तरत्नग्रावततांतरं। क्रांत्वा नृपांगणं

रहे थे ॥ ११४ ॥ जो पृथ्वी भगवानके चरणकमलोंके स्पर्श करनेसे पवित्र हो गई थी और जिसपर मत्स्य आदि अनेक लक्षणोंसे शुशोभित ऐसे भगवानके चरणकमलोंके चिन्ह बने हुये थे उस भूमिको नमस्कार करने हुये वे दोनों ही भाई बडे प्रेमसे उसे देख रहे थे ॥ ११५ ॥ उससमय नगरनिवासी लोग उन दोनों भाइयोंकी बडी प्रशंसा कर रहे थे और कह रहे थे कि यह कुरुवंशका स्वामी राजा सोमप्रभ बडा ही पुण्यवान है, बडा ही कुशल है, इसके सब मनोरथ पूर्ण हो गये हैं और इसका भाई भी बहुत ही अच्छा है। क्योंकि इसका भाई राजकुमार श्रेयांस इतना बडा पुण्य उपार्जन करनेवाला हुआ है, इसकी यह ऐसी उत्तम बुद्धि है और यह अनेक प्रकारके कल्याण करनेवाला है। इसप्रकार नगरनिवासी लोग सामने आकर उन दोनों भाइयोंके गुण वर्णन कर रहे थे ॥ ११६-११७ ॥ बडे २ राजमार्गोंमें इधर उधर जो सूर्यके समान दैदीप्यमान रत्न पडे हुये थे उन्हें जो साधारण लोग बीन २ कर इकट्ठा कर रहे थे उन्हें वे दोनों भाई बडे ही आनंदित करते थे ॥ ११८ ॥ देवोंने जो रत्नोंकी वर्षा की थी उन रत्नोंके पत्थरोंके समूहके समूह ऊंचे नीचे होकर सब जगह फैले हुये थे, उन्हें बडी कठिनतासे उलंघन कर और राजांगणमें पहुंचकर अनेक लोग उन दोनों भाइयोंकी प्रशंसा कर रहे थे ॥ ११९ ॥ उस दिन नगर भी बडी उत्तमतासे सजाया गया था और उस सजावटसे ऐसा जान पडताथा मानों उसकी आकृति ही बदल गई हो। इसके सिवाय उस नगरमें बडा भारी आनंद मनाया जा रहा था ऐसे उस नगरको देखते हुये उन दोनों ही कुरुवंशी राजकुमारोंने नगरमें प्रवेश किया ॥ १२० ॥

कृच्छ्राज्जनैराशासितौ मुहुः ॥ ११९ ॥ पुरं परार्ध्यशोभाभिर्गतमन्यामिवाकृतिं । प्राविक्षतां धृतानंदं प्रेक्ष्यमाणौ कुरुध्वजौ ॥१२०॥ तपोवनमथो भेजे भगवान्कृतपारणः । जगज्जनतया सम्यगभिष्टुतमहोदयः ॥ १२१ ॥ अहो ! श्रेय इति श्रेयस्तच्छ्रेयश्श्रेयभूत्तदा । श्रेयोयशोमयं विश्वं सद्दानं हि यशःप्रदं ॥ १२२ ॥ तद्दादि तदुपज्ञं तद्दानं जगति पप्रथे । ततो विस्मयमासेदुर्भरताद्या नरेश्वराः ॥ १२३ ॥ कथं भर्तुरभिप्रायो विदितोनेन मौनिनः । कलयन्निति चित्तेन भरतेशो विसिस्मये ॥ १२४ ॥ सुराश्च विस्मयंते स्म ते संभूय समागताः । प्रतीताः कुरुराजं तं पूजयामासुरादरात् ॥ २५ ॥ ततो भरतराजेन श्रेयानप्रच्छि सादरं । महादानपते ब्रूहि कथं ज्ञातमिदं त्वया ॥ १२६ ॥ अदृष्टपूर्वं लोकेस्मिन्दानं कोऽर्हति वेदितुं । भगवानिव

अथानंतर—संसारके समस्त लोग उत्तम प्रकारसे जिनके ऐश्वर्यकी प्रशंसा करते हैं ऐसे श्रीभगवान वृषभदेव पारणा करके तपोबनको चले गये ॥ १२१ ॥ उसी समय संसारके लोक आश्चर्यके साथ कह रहे थे कि अहो यह कल्याण ? ऐसा कल्याण ? और इसप्रकारका कल्याण ? इसप्रकार समस्त संसार राजकुमार श्रेयांसके यशसे भरगया था, सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम दानसे यश होता ही है ॥१२ ॥ जिस दिन श्रेयांसने भगवानको आहार दान दिया था उसी दिनसे उस श्रेयांसने विधि पूर्वक दान देनेका उपदेश भी दिया और उसी दिनसे दान देना इस संसारमें प्रसिद्ध हुआ । भरत आदि बडे २ राजा महाराजाओंको वह दान देखकर बडा आश्चर्य हुआ था ॥ १२३ ॥ उससमय महाराज भरत अपने मनमें यही सोचते हुये आश्चर्य कर रहे थे कि इस राजकुमार श्रेयांसने मौन धारण करनेवाले भगवानका अभिप्राय कैसे जान लिया ॥ १२४ ॥ और तो क्या श्रेयांसके उस दानसे देवोंको भी बडा आश्चर्य हुआ था । जिनको श्रेयांसपर बडा भारी विश्वास उत्पन्न हुआ था ऐसे उन देवोंने आकर बडे आदरसे श्रेयांसकी पूजा की थी ॥ १२५ ॥ तदनंतर महाराज भरतने बडे आदरसे राजकुमार श्रेयांससे पूछा कि हे महादानपते (बडा भारी उत्तम दान देनेवाले) कहो तो सही तुमने भगवानका यह ऐसा अभिप्राय कैसे जान लिया ॥ १२६ ॥ इस संसारमें दानकी यह विधि कभी किसीने नहीं देखी तब फिर भला इसे कौन

पूज्योऽसि कुरुराज त्वमद्य नः ॥ १२७ ॥ त्वं दानतीर्थकृच्छ्रेयांस्त्वं महापुण्यभागसि । ततस्त्वामिति पृच्छामि यत्सत्यं कथयाद्य मे ॥ १२८ ॥ इत्यसौ तेन संपृष्टः श्रेयान्प्रत्यब्रवीदिदं । दशनांशुकलापेन ज्योत्स्नां तन्वन्निवांतरे ॥ १२९ ॥ रुजाहरमिवासाद्य सामयः परमौषधं । पिपासितो वा स्वच्छांबुकलितं सोत्पलं सरः ॥१३०॥ दृष्ट्वा भागवतं रूपं परं प्रीतोऽस्म्यतो मम । जातिस्मरत्वमुदभूत्तेनामुत्सि गुरोर्मतं ॥१३१॥ अहं हि श्रीमती नाम वज्रजंघभवे विभोः । विदेहे पुंडरीकिण्यामभूवं प्राणवल्लभा ॥१३२॥ समं भगवताऽनेन बिभ्रता वज्रजंघतां । तदा चारणयुग्माय दत्तं दानमभून्मया ॥१३३॥

जान सकता है। इसलिये हे कुरुवंशके स्वामी। आज तू हमारेलिये भगवान वृषभदेवके समान पूज्य है ॥१२७॥ हे राजकुमार श्रेयांस तू दानतीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाला है और सबसे बडा पुण्यवान है इसलिये ही मैं यह सब बात पूछता हूं इसमें जो जो सत्य हो वह सब आज मुझसे कहो ॥१२८॥ इसप्रकार महाराज भरतके पूछनेपर राजकुमार श्रेयांस अपने दांतोंकी किरणसमूहोंसे आकाशको चांदनीके समान प्रकाशित करता हुआ नीचे लिखे अनुसार कहने लगा ॥ १२९ ॥ कि जिसप्रकार कोई रोगी मनुष्य रोग दूर करनेवाली किसी उत्कृष्ट औषधिको पाकर प्रसन्न होता है अथवा कोई प्यासा मनुष्य स्वच्छ जलसे भरे हुये और कमलोंसे सुशोभित ऐसे किसी सरोवरको देखकर प्रसन्न होता है उसप्रकार भगवान वृषभदेवका रूप देखकर मुझे भी बडी भारी प्रसन्नता हुई थी और चित्तकी प्रसन्नता होनेसे ही मुझे जातिस्मरण (पूर्व भवका स्मरण) होगया था उसी जातिस्मरणके होनेसे मैंने भगवानका अभिप्राय जान लिया था ॥१३०-१३१॥ हे राजन् ! पूर्वभवमें जब ये भगवान वज्रजंघकी पर्यायमें थे तब मैं विदेहक्षेत्रके पुंडरीकिणी नगरीमें श्रीमती नामकी इन्हींकी प्रिय स्त्री उत्पन्न हुई थी । उसी भवमें मैंने वज्रजंघकी पर्याय धारण करनेवाले इन्हीं भगवानके साथ २ दो चारण मुनियोंको दान दिया था ॥ १३२-१३३ ॥ अत्यंत विशुद्ध (काव्य अर्थमें व्याकरण और अलकार सहित), दोष रहित और कीर्तिको उत्पन्न करनेवाला ऐसा बडा भारी दान देना और काव्य करना ये दोनों ही बडे पुण्यसे प्राप्त होते हैं ॥ १३४ ॥ हे भरताधिराज! दानकी विशुद्धताका

विशुद्धतरमुत्सृष्टकलंकं ख्यातिकारणं । महद्दानं च काव्यं च पुण्याल्लभ्यमिदं द्वयं ॥ १३४ ॥ कांचिद्दानस्य संशुद्धिं शृणु भो भरताधिप । अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं त्रिशुद्धिकं ॥ १३५ ॥ दातुर्विशुद्धता देयं पात्रं च प्रपुनाति सा । शुद्धिर्देयस्य दातारं पुनीते पात्रमप्यदः ॥ १३६ ॥ पात्रस्य शुद्धिर्दातारं देयं चैव पुनात्यतः । नवकोटिविशुद्धं तद्दानं भूरिफलोदयं ॥ १३७ ॥ दाता श्रद्धादिभिर्युक्तो गुणैः पुण्यस्य साधनैः । देयमाहारभैषज्यशास्त्राभयविकल्पितं ॥ १३८ ॥ पात्रं रागादिभिर्दोषैरस्पृष्टो गुणवान्भवेत् । तच्च त्रेधा जघन्यादिभेदैरिदमुपेयिवान् ॥ १३९ ॥ जघन्यं शीलवान्मिथ्या-

---

थोडासा वर्णन आप भी सुनिये। अपना और दूसरेका अनुग्रह (उपकार) करनेकेलिये मन बचन कायकी शुद्धता पूर्वक जो अपना धन दिया जाता है उसे दान कहते हैं ॥१३५॥ दान देनेवाले दाताकी विशुद्धता दान लेनेवाले पात्रको भी पवित्र करती है और जो दान दिया जाता है उस द्रव्यको भी पवित्र करती है। इसी तरह जो द्रव्य दिया जाता है यदि वह शुद्ध हो तो उससे दाता भी पवित्र होता है और लेनेवाला पात्र भी पवित्र होता है। इसीप्रकार यदि पात्र शुद्ध हो तो वह दाताको भी पवित्र करता है और दानमें जो पदार्थ दिया जाता है उसे भी पवित्र करता है। इसलिये जो दान नौ प्रकारकी विशुद्धि पूर्वक दिया जाता है वही अनेक उत्तम २ फल देनेवाला होता है ॥ १३६-१३७ ॥ पुण्य संपादन करनेके कारण ऐसे श्रद्धा भक्ति आदि ऊपर कहे हुये गुण जिसमें होते हैं वही दाता कहा जाता है और आहार औषध शास्त्र तथा अभय इसतरह चारप्रकारकी देनेयोग्य वस्तु कही जाती है, भावार्थ—इन चार प्रकारकी वस्तुओंमेंसे कोई भी एक या दो देना या चारों देना दान कहलाता है ॥ १३८ ॥ जिसमें रागादि दोषोंका स्पर्श भी न हो और सम्यग्दर्शन आदि अनेक गुण हों उसे पात्र कहते हैं। वह पात्र संक्षेपसे जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारका है। हे राजन्! यह सब मैंने पूर्व भवके स्मरण होनेसे जाना है ॥ १३९ ॥ जो व्रत और शील आदि पालन करनेवाला मिथ्या दृष्टि है वह जघन्य पात्र कहलाता है और जो व्रत शील आदि की भावनाओंसे रहित है किंतु सम्यग्दृष्टि

दृष्टिश्च पुरुषो भवेत् । सद्दृष्टिर्मध्यमं पात्रं निःशीलव्रतभावनः ॥ १४० ॥ सद्दृष्टि शीलसंपन्नं पात्रमुत्तममिष्यते । कुदृष्टिर्यो विशीलश्च नैव पात्रमसौ मतः ॥ १४१ ॥ कुमानुषत्वमाप्नोति जंतुर्ददपात्रके । अशोधितमिवालाबु तद्धि दानं प्रदूषयेत् ॥१४२॥ आमपात्रे यथा क्षिप्तमिक्षुक्षीरादि नश्यति । अपात्रेऽपि तथा दत्तं तद्धि स्वं तच्च नाशयेत् ॥ १४३ ॥ पात्रं तत्पात्रवत् ज्ञेयं विशुद्धगुणधारणात् । यानपात्रमिवाभीष्टे देशे संप्रापकं च यत् ॥ १४४ ॥ न हि लोहमयं यानपात्रमुत्तारयेत्परं । तथा कर्मभराक्रांतो दोषवान्नैव तारकः ॥१४५॥ ततः परमनिर्वाणसाधनं रूपमुद्वहन् । कायस्थि-

---

है वह मध्यम पात्र कहलाता है ॥ १४० ॥ इसीप्रकार जो व्रत शील आदि सहित सम्यग्दृष्टि है वह उत्तम पात्र कहलाता है और जो व्रत शील रहित मिथ्यादृष्टि है वह अपात्र कहलाता है ॥ १४१ ॥ अपात्रको दान देनेवाला दाता परभवमें कुमनुष्य योनिमें (कुभोगभूमिमें) जन्म लेता है । जिसप्रकार विना शुद्ध की हुई तूंबीमें दूध आदि डालनेसे कडवा हो जाता है उसीप्रकार अपात्रको देनेसे दिया हुआ दान भी दूषित हो जाता है ॥ १४२ ॥ जिसप्रकार मिट्टीके कच्चे वर्तनमें रक्खा हुआ दूध किंवा ईखका रस नष्ट हो जाता है उसीप्रकार अपात्रको दिया हुआ दान भी दिये हुये धनको नष्ट कर देता है और देनेवाले पात्रको भी नष्ट कर देता है ॥ १४३ ॥ पात्र अर्थात् दान लेनेवाला ठीक पात्र अर्थात् वर्तनके समान होना चाहिये । जिसप्रकार वर्तन अनेक गुण धारण करनेसे विशुद्ध गिनाजाता है उसीप्रकार पात्र भी अनेक गुण धारण करनेसे विशुद्ध होना चाहिये । जिसप्रकार अच्छी नाव अभीष्ट स्थानको पहुंचा देती है उसीप्रकार स्वर्ग मोक्ष आदि अभीष्ट स्थानको पहुंचानेवाला ही उत्तम पात्र होना चाहिये ॥ १४४ ॥ जिसप्रकार लोहेकी बनी हुई नाव समुद्रसे पार नहीं कर सकती उसीप्रकार जो कर्मोंके समूहोंसे और अनेक दोषोंसे भरा हुआ है ऐसा पात्र भी इस संसारसे पार नहीं कर सकता है ॥ १४५ ॥ इसलिये जो मुनिराज केवल मोक्ष सिद्ध करनेकेलिये दिगंबर अवस्था धारण करते हैं, ज्ञान चारित्र आदिकी सिद्धि होनेकेलिये शरीरकी स्थिति रहनी चाहिये यही समझकर अर्थात् केवल शरीरकी

त्यर्थमाहारमिच्छन् ज्ञानादिसिद्धये ॥ १४६ ॥ न वांछन्बलमायुर्वा स्वादं वा देहपोषणं । केवलं प्राणधृत्यर्थं संतुष्टो ग्रासमात्रया ॥ १४७ ॥ पात्रं भवेद्गुणैरेभिर्मुनिः स्वपरतारकः । तस्मै दत्तं पुनात्यन्नमपुनर्जन्मकारणं ॥ १४८ ॥ ननूदाहरणं पुष्टमिदमेव महोदयं । महत्वे दानपुण्यस्य पंचाश्चर्यं मयापि यत ॥ १४९ ॥ ततो भरतराजर्षे दानं देयमनुत्तरं । प्रसरिष्यंति पात्राणि भगवत्तीर्थसन्निधौ ॥ १५० ॥ तेभ्यः श्रेयानथाचख्यौ स्वभर्तृभवविस्तरं । ततः सदस्यास्ते सर्वे सद्दानरुचयोऽभवन् ॥ १५१ ॥ इति प्रह्लादिनीं वाचं तस्य पुण्यानुबंधिनीं । शु वान्भरताधीशः परां प्रीतिमवाप सः ॥ १५२ ॥

स्थिति रखनेकेलिये जो आहार ग्रहण करनेकी इच्छा करते हैं, जो बल आयु वा स्वाद अथवा शरीरको पुष्ट करनेकी कभी इच्छा नहीं करते और जो केवल प्राण धारण करनेके लिये थोडेसे ग्रास लेकर ही संतुष्ट हो जाते हैं, जो स्वयं इस संसार सागरसे पार होते हैं और अन्य लोगोंको पार करते हैं ऐसे ऊपर लिखे गुणोंसे सुशोभित मुनिराज ही पात्र गिने जाते हैं। ऐसे मुनिराजके लिये दिया हुआ आहारदान सबको पवित्र करता है ॥ ४६-४७-४८ ॥ तथा ऐसा ही दान साक्षात् मोक्षका कारण है देखो दानरूप पुण्यके महत्त्वको प्रगट करनेवाला सबसे बडा और ताजा उदाहरण यही है कि मेरे यहां दान देनेसे ही अतिशय पुण्य और उदयको सूचित करनेवाली पंचाश्चर्यकी वृष्टि हुई है ॥ १४९ ॥ इसलिये हे भरताधीश! हम आप सबको सबसे उत्तम दान देना चाहिये। अब भगवान वृषभदेव तीर्थंकरके समयमें सब जगह पात्र फैल जायंगे ॥ १५० ॥ तदनंतर राजकुमार श्रेयांसने समीप बैठे हुये सभासदोंको अपने स्वामी भगवान वृषभदेवके पूर्व जन्मोंके सब चरित्र ज्योंके त्यों सुनाये। उसे सुनकर सब सभासदोंके चित्तमें उत्तम दान देनेकी श्रद्धा उत्पन्न हुई ॥ १५१ ॥ इसप्रकार महाराज भरतने आनंद उत्पन्न करनेवालीं और पुण्य बढानेवालीं श्रेयांसकी बातें सुनी और उन्हें उनसे बडी प्रसन्नता हुई ॥१५२॥ महाराज भरत सोम श्रेयांससे बडे प्रसन्न हुये, उन्होनें उन दोनों भाइयोंका खूब आदर सत्कार किया, उनसे बहुत बडा प्रेम प्रगट किया और भगवान वृषभदेवके गुण स्मरण करते हुये अपने घर जानेकेलिये गमन किया ॥ १५३ ॥

प्रीतः संपूज्य तं भूपः परं सौहार्दमुद्वहन् । गुरोर्गुणाननुध्यायन्प्रत्यगात्त स्वमालयं ॥ १५३ ॥ भगवानथ संजातबलवीर्यो महाधृतिः । भेजे परं तपोयोगं योगविज्जैनकल्पितं ॥ १५४ ॥ मोहांधतमसध्वंसकल्पा सन्मार्गदर्शिनी । दिदीपेऽस्य मनोऽगारे समिद्धा बोधदीपिका ॥ १५५ ॥ गुणान्गुणास्थया पश्येद्दोषान् दोषधियापि यः । हेयोपादेयवित्स स्यात्काज्ञस्य गतिरीदृशी ॥ १५६ ॥ ततस्तत्त्वपरिज्ञानात् गुणागुणविभागवित् । गुणेष्वासजते स्मासौ हित्वा दोषानशेषतः ॥ १५७ ॥ सावद्यविरतिं कृत्स्नामूरीकृत्य प्रबुद्धधीः । तद्भेदान्पालयामास व्रतसंज्ञाविशेषितान् ॥ १५८ ॥ दयांगनापरिष्वंगः सत्ये नित्यानुरक्तता । अस्तेयव्रततात्पर्यं ब्रह्मचर्यैकतान-

---

अथानंतर–आहार ग्रहण करनेसे जिनको बल और वीर्यकी प्राप्ति हुई है जो बडे धीर वीर और योगशास्त्रको जाननेवाले हैं ऐसे वे भगवान वृषभदेव जिनेंद्रदेवके द्वारा उपदेश दिये हुये उत्कृष्ट तपश्चरणको धारण करने लगे ॥ १५४ ॥ इनके मनरूपी मंदिरमें मोहरूपी गाढ अंधकारको नष्ट करनेवाला, मोक्षमार्गको प्रगट करनेवाला और अतिशय देदीप्यमान ऐसा ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशित हो रहा था ॥ १५५ ॥ जो पुरुष उत्तम क्षमा आदि गुणोंको ग्रहण करने योग्य गुण मानकर ही देखता है और राग द्वेष आदि दोषोंका दोष बुद्धिसे अर्थात् त्याग करने योग्य ही देखता है वही पुरुष हेय अर्थात् त्याग करने योग्य और उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य इन दोनोंका जाननेवाला गिना जाता है । अज्ञानी पुरुषकी ऐसी अवस्था भला कहां हो सकती है भावार्थ–ऐसी अवस्था भगवानकी ही थी ॥ १५६ ॥ वे भगवान तत्त्वोंका यथार्थ परिज्ञान होनेसे गुण और दोषोंको अलग २ जानते थे और इसलिये वे समस्त दोषोंको छोडकर केवल गुणोंमें ही आसक्त होते थे ॥ १५७ ॥ अतिशय बुद्धिमान् भगवान वृषभदेवने पापरूप योगोंका पूर्ण रीतिसे त्याग किया था और उस त्यागके भेद जोकि विशेष २ व्रत कहलाते हैं उन्हें भी वे भगवान पालन करते थे ॥ १५८ ॥ वे भगवान दयारूप स्त्रीको आलिंगन करते थे अर्थात् अहिंसा महाव्रत पालन करते थे, सत्य महाव्रत पालन करनेमें सदा तत्पर रहते थे, अचौर्य महाव्रत पालन करना ही अपना मुख्य प्रयोजन समझते थे और

ता ॥१५९॥ परिग्रहेष्वनासंगो विकालाशनवर्जनं । व्रतान्यमूनि तत्सिद्ध्यै भावयामास भावनाः ॥ १६० ॥ मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिरीर्याकायनियंत्रणे । वि-ष्वाणसमितिश्चेति प्रथमव्रतभावनाः ॥ १६१ ॥ क्रोधलोभभयत्यागहास्यासंगविवर्जनं । सूत्रानुगा च वाणीति द्वितीयव्रतभावनाः ॥ १६२ ॥ मितो-चिताभ्यनुज्ञातग्रहणान्यग्रहोऽन्यथा । संतोषो भक्तपाने च तृतीयव्रतभावनाः ॥ १६३ ॥ स्त्रीकथालोकसंसर्गप्राग्रतस्मृतियोजनाः । वर्ज्या वृष्यरसेनामा चतुर्थव्रतभावनाः ॥ १६४ ॥ बाह्याभ्यंतरभेदेषु सचित्ताचित्तवस्तुषु । इंद्रियार्थेष्वनासंगो नैःसंग्यव्रतभावनाः ॥ १६५ ॥ धृतिमत्ता क्षमावत्ता ध्यान-

---

ब्रह्मचर्य पालन करनमें ही सदा तल्लीन रहते थे, वे अंतरंग और वाह्य परिग्रहमें कभी आसक्त नहीं होते थे और असमयमें अर्थात् रात्रिमें वा चर्याके समयको छोडकर अन्यसमयमें कभी आहार नहीं लेते थे। इसप्रकार वे भग-वान इन व्रतोंको पालन करते थे और व्रतोंकी सुगमतासे सिद्धि होनेकेलिये प्रत्येक व्रतकी पांच २ भावनाओं का चिंतवन करते थे॥१५९-१६०॥ मनोगुप्ति (मनसे होनेवाले संकल्पविकल्पोंका त्याग करना) वचनगुप्ति (वचन से होनेवाली क्रियाका त्याग करना) ईर्यासमिति अर्थात् आगेकी चार हाथ भूमिको देखकर चलना, काय नि-यंत्रण अर्थात् किसी भी पदार्थको देख कर तथा शोधकर उठाना वा रखना और विष्वाणसमिति अर्थात् शुद्ध देखकर दिनमें भोजन ग्रहण करना ये पांच अहिंसाव्रतकी भावना हैं ॥१६१॥ क्रोध लोभ भय और हास्यका त्याग करना और शास्त्रके अनुसार बचन कहना ये पांच दूसरे सत्यमहाव्रतकी भावना हैं ॥ १६२ ॥ तपश्चरणके योग्य और थोडा आहार ग्रहण करना, श्रावकके प्रार्थना करनेपर आहार लेना, शास्त्रमें लि-खीहुई विधिके प्रतिकूल वा कोई विधिछोडकर आहार नहीं लेना और मिलेहुये भोजन पानमें संतोष रखना ये पांच तीसरे अचौर्यव्रतकी भावना हैं ॥ १६३ ॥ स्त्रियोंकी कथाका त्याग, उनके मनोहर अंग उपांग आदि देखनेका त्याग, उनके साथ रहनेका त्याग, पूर्वकालमें भोगीहुई स्त्रियोंके स्मरण करनेका त्याग और पौष्टिक रसका त्याग इसप्रकार ये पांच चौथे ब्रह्मचर्यव्रतकी भावना हैं ॥ १६४ ॥ बाह्य और अभ्यंतर भेदसे सचित्त और अचित्तके भेदसे जो पांचों इंद्रियोंके अलग २ पांच विषय हैं उनमें आ-

योगैकतानता । परीषहैरभंगश्च व्रतानां भावनोत्तराः ॥ १६६ ॥ भावनासंस्कृतान्येवं व्रतान्ययमपालयत् । क्षालने स्वागसां सर्वप्रजानामनुपालकः ॥ १६७ ॥ समातृकापदान्येवं सहोत्तरपदानि च । व्रतानि भावनीयानि मनीषिभिरतंद्रितं ॥ १६८ ॥ यानि कान्यपि शल्यानि गर्हितानि जिनागमे । व्युत्सृज्य तानि सर्वाणि निःशल्यो विहरेन्मुनिः ॥ १६९ ॥ इति स्थविरकल्पोऽयं जिनकल्पेऽपि योजितः । यथागममिहोपेत्य जिनकल्पोऽनुगम्यतां ॥ १७० ॥ अप्रतिक्रमणे धर्मे जिनाः सामायिकाह्वये । चरंत्येकयमे प्रायश्चतुर्ज्ञानविलोचनाः ॥ १७१ ॥ छेदोपस्थापनाभेदप्रपंचोऽन्योऽन्ययोगिनां ।

सक्त नहीं होना पांचवें परिग्रह त्यागकी भावना हैं ॥ १६५ ॥ इसीप्रकार पांचो व्रतोंकी ये पच्चीस भावना हैं तथा धैर्य धारण करना, क्षमा धारण करना, ध्यान धारण करनेमें एकाग्रचित्त रहना और परिषहों के आनेपर च्युत नहीं होना ये चार सब व्रतोंकी रक्षा करनेवाली उत्तर भावना हैं ॥ १६६ ॥ समस्त प्रजाका पालन करनेवाले भगवान वृषभदेव अपने पापोंके नष्ट करनेकेलिये ऊपर लिखी हुई भावनाओं से शुद्ध ऐसे समस्त व्रतोंका पालन करते थे ॥ १६७ ॥ इस प्रकार अर्थात् जिसप्रकार भगवान वृषभदेवने व्रतोंका पालन कियाथा उसीप्रकार बुद्धिमान लोगोंको भी प्रमाद छोडकर तीन गुप्ति, पांच समिती और चौरासीलाख उत्तर गुणोंके साथ २ अहिंसा आदि पांचों महाव्रतोंका पालन करना चाहिये ॥१६८॥ इसीप्रकार जैनशास्त्रोंमें जो कुछ अतिशय निंद्य ऐसी माया मिथ्या और निदान ये शल्य कहीं हैं उन सबको छोडकर और सर्वथा निःशल्य होकर मुनियोंको विहार करना चाहिये ॥ १६९ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये सब व्रतोंको पालन करना स्थविरकल्प कहा जाता है, यह स्थविरकल्प जिनकल्पमें भी लगा लेना चाहिये। तथा जिनकल्पका स्वरूप स्थविरकल्पके साथ २ और विशेष शास्त्रके अनुसार जान लेना चाहिये। भावार्थ—जो संघमें रहे शिष्योंको उपदेश दे और शास्त्रोंका व्याख्यान आदि करे उसे स्थविरकल्पी कहते हैं और जो अकेला रहे, किसीको शिष्य भी न बनावे, उपदेश भी न दे, केवल आत्मध्यानमें लीन रहे उसे जिनकल्पी कहते हैं ॥१७०॥ इनमेंसे चार ज्ञानको धारण करनेवाले तीर्थंकर परम देव प्रतिक्रमण रहित तथा जिसमें केवल एक

दर्शितस्तैर्यथाकालं बलायुर्ज्ञानवीक्षया ॥ १७२ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यविशेषितं । चारित्रं संयमत्राणं पंचधोक्तं जिनाधिपैः ॥ १७३ ॥ ततः संयमसिध्यर्थं स तपो द्वादशात्मकं । ज्ञानधैर्यबलोपेतश्चचार परमः पुमान् ॥ १७४ ॥ तपोऽनशनमत्युग्रं तेपे दीप्ततपा मुनिः । अवमोदर्यमप्येकासिक्थादीन्याचरत्तपः ॥ १७५ ॥ कदाचिद्वृत्तिसंख्यानं तपोऽतप्त स दुर्द्धरं । वीथीचर्यादयो यस्य विशेषा बहुभेदकाः ॥ १७६ ॥ रसत्यागं तपोघोरं तेपे नित्यमतंद्रितः । क्षीरसर्पिर्गुडादीनि परित्यज्याग्रिमः पुमान् ॥ १७७ ॥ त्रिषु कालेषु योगी सन्नसौ कायमचिक्लिशत् । कायस्य निग्रहं प्राहुस्तपः

आत्मध्यानकी ही मुख्यता है ऐसे सामयिक नामके चारित्रमें ही रहते हैं। भावार्थ—जिनेंद्रदेवके किसीप्रकारका दोष नहीं लगता इसलिये उनके प्रतिक्रमण छेदोपस्थापना आदि नहीं होता, वे केवल सामयिक चारित्र ही धारण करते हैं। इसे ही जिनकल्प कहते हैं ॥ १७१ ॥ उन्हीं जिनेंद्रदेवने बल आयु और ज्ञानकी हीनाधिकता देखकर अन्य साधारण मुनियोंकेलिये यथायोग्य कालके अनुसार छेदोपस्थापनाके अन्य अनेक भेद दिखलाये हैं ॥ १७२ ॥ इसीप्रकार ज्ञानाचार दर्शनाचार चारित्राचार तप आचार और वीर्याचार इनकी विशेषतासे संयमकी रक्षा करनेवाला चारित्र भी जिनेंद्रदेवने पांचप्रकारका कहा है ॥ १७३ ॥ तदनंतर ज्ञान धैर्य और बलको धारण करनेवाले परमोत्कृष्ट भगवान वृषभदेव संयमकी सिद्धि होनेकेलिये बारह प्रकारका तपश्चरण करते थे ॥ १७४ ॥ उग्र तपश्चरणको धारण करनेवाले वे वृषभदेव मुनि अत्यंत कठिन ऐसा अनशन (उपवास करना) तपश्चरण करने लगे थे और एक ग्रास ग्रहण करना आदि नियम करते हुये अवमोदर्य (कम भोजन करना) तप करते थे ॥ १७५ ॥ वे भगवान कभी अत्यंत दुर्द्धर (कठिन) ऐसा वृत्तिपरिसंख्यान नामका तपश्चरण करते थे। इस वृत्तिपरिसंख्यानके वीथीचर्या अर्थात् इस गलीमें भोजन मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं; अथवा ऐसा ऐसा संयोग मिलेगा तो भोजन लूंगा नहीं तो नहीं इत्यादि प्रकारसे अनेक भेद होते हैं ॥ १७६ ॥ इसके सिवाय वे भगवान वृषभदेव आलस्य छोडकर दूध घी गुड आदि समस्त रसोंका त्यागकर नित्य ही रस परित्याग नामका

परमदुश्चरं ॥ १७८ ॥ निग्रहीतशरीरेण निगृहीतान्यसंशयं । चक्षुरादीनि रुद्धेषु तेषु रुद्धं मनो भवेत् ॥ १७९॥ मनोरोधः परं ध्यानं तत्कर्मक्षयसाधनं । ततोऽनंतसुखावाप्तिस्ततः कायं प्रकर्शयेत् ॥ १८० ॥ गर्भात्प्रभृत्यसौ देवो ज्ञानत्रितयमुद्वहन् । दीक्षानंतरमेवाप्तमनःपर्ययबोधनः ॥ १८१ ॥ तथाप्युग्रं तपोऽतप्त सिद्धत्वे ध्रुवभाविनि । सज्ज्ञानलोचनो धीरः सहस्रं वार्षिकं परं ॥ १८२ ॥ तेनाभीष्टं मुनींद्राणां कायक्लेशाह्वयं तपः । तपोऽगेषु

घोर तपश्चरण करते थे ॥ १७७ ॥ वे योगिराज भगवान वर्षाऋतु शीतऋतु और उष्णऋतु इसप्रकार तीनों कालोंमें शरीरको क्लेश देकर कृश करते थे । वास्तवमें शरीरका निग्रह करना अर्थात् कायक्लेश करना सबसे बडा कठिन तपश्चरण है ॥ १७८ ॥ क्योंकि शरीरको निग्रह करनेसे चक्षु आदि सब इंद्रियोंका निग्रह हो जाता है इसमें कोई संदेह नहीं है और इंद्रियोंके निग्रह होनेसे मनका निग्रह अपने आप हो जाता है, मनका निग्रह अर्थात् मनके समस्त संकल्प विकल्प छूटकर केवल शुद्ध आत्माका या अन्य किसी पदार्थका चिंतवन करना ही ध्यान है तथा यही ध्यान समस्त कर्मोंके क्षय होनेका कारण है और समस्त कर्मोंके क्षय हो जानेसे मोक्षरूप अनंत सुखकी प्राप्ति होती है, इसलिये मोक्षरूप अनंत सुख प्राप्त होनेके लिये अवश्य ही शरीरको कृश करना चाहिये ॥ १७९-१८० ॥ ये श्रीवृषभदेव भगवान मति ज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानोंको तो जबसे गर्भमें आये थे तबसे ही धारण करते थे तथा दीक्षा धारण करनेके अनंतरही इन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हुआ था, इसप्रकार इन्हें चारों ज्ञानोंकी प्राप्ति होगई थी तथापि सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले और अत्यंत धीरवीर भगवान वृषभदेवने सदा नित्य रहनेवाली ऐसी सिद्धपर्यायकी प्राप्ति होनेकेलिये एक हजार वर्षतक अत्यंत उत्कृष्ट और उग्र तपश्चरण किया था ॥१८१-१८२ ॥ इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि मुनियोंको कायक्लेश नामका तपश्चरण अवश्य करना चाहिये । जिसप्रकार प्राणियोंके शरीरमें मस्तक प्रधान होता है उसीप्रकार वाह्य समस्त तपश्चरणोंमें कायक्लेश नामका तपश्चरण ही प्रधान है ॥ १८३ ॥ उससमय समस्त परीषहोंको सहन करनेवाले ऐसे

प्रधानांगमुत्तमांगमिवांगिनां ॥ १८३ ॥ तत्तदातप योगींद्रः सोढाशेषपरीषहः । तपः सुदुःसहतरं परं निर्वाणसाधनं ॥ १८४ ॥ कर्मेंधनानि निर्दि-ग्धुमुद्यतः स तपोऽग्निना । दिदीपे नितरां धीरः प्रज्वलन्निव पावकः ॥ १८५ ॥ असंख्यातगुणश्रेण्या धुन्वन्कर्मतमोघनं । तपोदीप्त्याऽतिदीप्तांगः सोंऽशुमानिव दिद्युते ॥ १८६ ॥ शय्यास्य विजने देशे जागरूकस्य योगिनः । कदाचिदासनं चासीच्छुचौ निर्जंतुकांतरे ॥ १८७ ॥ न शिश्ये जागरूकोऽसौ नासीनश्चाभवत् भृशं । प्रयतो बिजहारोर्वीं त्यक्तभुक्तिर्जितेंद्रियः ॥ १८८ ॥ इति बाह्यं तपः षोढा चरन्परमदुश्चरं । अभ्यंतरं च षड्भेदं तपो भेजे स योगिराट् ॥ १८९ ॥ प्रायश्चित्तं तपस्तस्मिन्मुनौ निरतिचारके । चरितार्थमभूत्किं नु भानोरस्त्यंतरं तमः ॥ १९० ॥ प्रश्रयश्च

योगिराज भगवान वृषभदेव मोक्षका अति उत्तम साधन और अत्यंत कठिन ऐसा कायक्लेश नामका तपश्चरण करते थे ॥ १८४ ॥ उस समय तपश्चरणरूपी अग्निसे कर्मरूपी ईंधनको जलानेकेलिये सर्वथा तैयार हुये ऐसे धीरवीर भगवान वृषभदेव जलती हुई अग्निके समान अत्यंत देदीप्यमान हो रहे थे ॥१८५॥ उससमय वे प्रतिसमय असंख्यात गुणित कर्मोंकी निर्जरा कर रहे थे और उस असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरासे कर्मरूपी गाढ अधंकारको नाश कर रहे थे, उनका शरीर तपश्चरणकी कांतिसे अत्यंत तेजरूप हो रहा था और इसलिये ही वे भगवान ठीक सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहे थे ॥ १८६ ॥ यद्यपि ये योगिराज सदा जागृत रहते थे तथापि इनकी शय्या निर्जन एकांतस्थानमें रहती थी और पवित्र निर्जीव ऐसे एकांतस्थानमें कभी २ ये आसन लगाकर भी बैठते थे ॥ १८७ ॥ सदा जागृत रहनेवाले और समस्त इंद्रियोंको वश करनेवाले ये भगवान न तो कभी सोते थे और न एक स्थानपर ही बहुत बैठते थे किंतु भोगोपभोगोंका त्यागकर प्रयत्न पूर्वक समस्त पृथ्वीपर विहार करते थे ॥ १८८ ॥ इस-प्रकार वे योगिराज अत्यंत कठिन ऐसा छह प्रकारका वाह्य तपश्चरण पालन करते थे और आगे कहा हुआ छह प्रकारका आभ्यंतर तपश्चरण भी पालन करते थे ॥ १८९ ॥ किसी दोषके लग जानेपर उसकी शुद्धता करना प्रायश्चित्त कहलाता है, उन भगवानके कभी कोई दोष लगता ही नहीं था अर्थात् उन-

तदाऽस्यासीत्प्रसूतोंऽतर्निलीनतां । विनेता विनयं कस्य स कुर्यादाग्रिमः पुमान् ॥ १९१ ॥ अथवा प्रश्रयी सिद्धानसौ भेजे सिषित्सया । नमः सिद्धेभ्य इत्येवं यतो दीक्षामुपायत ॥ १९२ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यगुणेषु च । यथार्हं विनयोंऽस्यासीद्यतमानस्य तत्त्वतः ॥ १९३ ॥ वैयावृत्त्यं च तस्यासीन्मार्गाव्यावृतिमात्रकं । भगवान्परमेष्ठी हि क्वान्यत्र व्यावृतो भवेत् ॥ १९४ ॥ इदमत्र तु तात्पर्यं प्रायश्चित्तादिके त्रये । तपस्यस्मिन्नियंतृत्वं न नियम्यत्वमीशितुः ॥ १९५ ॥ यावान्धर्ममयः सर्गस्तं कृच्छ्रं स सनातनः युगादौ प्रथयामास सानुष्ठानैर्निदर्शनैः ॥ १९६ ॥ स्वाधीति-

---

का चारित्र सदा निर्दोष शुद्ध रहता था इसलिये उनके शुद्ध चारित्रमें प्रायश्चित्त भी अंतर्भूत था, क्योंकि सूर्यके वीचमें भी क्या कभी अंधकार रह सकता है? अर्थात् कभी नहीं। भावार्थ—जब चारित्रकी विशुद्धि ही प्रायश्चित्त है तो वह भगवानके विशुद्ध चारित्रमें ही अंतर्भूत थी ॥ १९० ॥ इसीप्रकार अपने आत्मामें तल्लीन हुये भगवानके विनय नामका तपश्चरण भी उनकी आत्मामें ही अंतर्भूत था क्योंकि वे सर्व श्रेष्ठ भगवान सबको नम्रीभूत करनेवाले थे फिर भला वे किसकी विनय करते ॥ १९१ ॥ अथवा उन भगवानने सिद्ध होनेकी इच्छासे अतिशय नम्र होकर सिद्ध भगवानकी सेवा की थी। क्योंकि "नमः सिद्धेभ्यः" अर्थात् सिद्धोंको नमस्कार हो ऐसा कहकर ही उन्होंने दीक्षा धारण की थी, इस प्रकार भी उनके विनय नामका तपश्चरण था ॥ १९२ ॥ अथवा प्रयत्न पूर्वक आचरण करनेवाले भगवान ज्ञान दर्शन चारित्र तप वीर्य आदि गुणोंमें यथार्थ रीतिसे यथायोग्य विनय करते थे ॥ १९३ ॥ वे भगवान केवल रत्नत्रयमें ही अपना व्यापार करते थे और यही अर्थात् रत्नत्रयमें व्यापार करना ही उनका वैयावृत्य तपश्चरण था, सो ठीक ही है क्योंकि वे परमेष्ठी भगवान रत्नत्रयको छोडकर अन्य किसका वैयावृत्य कर सकते हैं ॥ १९४ ॥ यहां यह सब कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान वृषभदेव प्रायश्चित्त विनय और वैयावृत्य इन तीनों तपश्चरणोंके उपदेश देनेवाले थे वे किसीके शिष्य बनकर उपदेश ग्रहण नहीं करते थे। भावार्थ—वे ऊपर लिखेहुये तीनों व्रतोंके स्वामी थे ॥ १९५ ॥ संसारमें जो

नोऽपि तस्यासीत्स्वाध्यायः शुद्धये धियः । सौवाध्यायिकतां प्राप्यन्यतोऽद्यत्वेऽपि संयताः ॥ १९७ ॥ सबाह्याभ्यंतरे चास्मिंस्तपसि द्वादशात्मके । न भविष्यति नैवास्ति स्वाध्यायेन समं तपः ॥ १९८ ॥ स्वाध्यायेऽभिरतो भिक्षुर्निभृतः संवृतेंद्रियः । भवेदेकाग्रधीर्धीमान्विनयेन समाहितः ॥ १९९ ॥ विविक्तेषु वनांताद्रिकुंजप्रेतवनादिषु । मुहुर्व्युत्सृष्टकायस्य व्युत्सर्गोऽस्यमभूत्तपः ॥ २०० ॥ देहाद्विविक्तमात्मानं पश्यन्गुप्तित्रयीं श्रितः । व्युत्सर्गं स

कुछ धर्मरूप सृष्टि थी वह सब भगवान वृषभदेवने उदाहरणरूप स्वयं धारण करके इस कर्मभूमिकी आदिमें प्रसिद्ध की थी अर्थात् जप तप आदि समस्त धर्म स्वयं धारणकर लोगोंको उपदेश दिया था ॥ १९६ ॥ यद्यपि भगवान द्वादशांगके जाननेवाले थे तथापि वे अपनी बुद्धि शुद्ध रखनेकेलिये नित्य स्वाध्याय करते थे । क्योंकि उन्हीं भगवानका स्वाध्याय देखकर आज पंचमकालमें भी मुनिलोग स्वाध्याय करनेमें तत्पर रहते हैं ॥ १९७ ॥ वाह्य और आभ्यंतरके भेदसे जो यह बारह प्रकारका तपश्चरण है उसमें स्वाध्याय तपश्चरणके समान न तो अन्य कोई तपश्चरण आजतक हुआ है न है और न आगे होगा ॥ १९८ ॥ क्योंकि समस्त इंद्रियोंको वश करनेवाला बुद्धिमान मुनि जब स्वाध्यायमें तल्लीन होता है तब वह समस्त संकल्प विकल्प छोडकर निश्चल हो जाता है और निश्चल होनेसे विनय सहित वह मुनि किसी एक ही मुख्य वस्तुका चिंतवन करता हुआ उत्कृष्ट ध्यानका धारण करनेवाला गिना जाता है ॥ १९९ ॥ स्वाध्यायके समान ही वनके मध्यभागमें, किसी पर्वतपर, किसी कुंजलतामें अथवा स्मशान भूमि आदि एकांत स्थानमें वार २ शरीरको निश्चल स्थापन करनेवाले भगवान वृषभदेव व्युत्सर्ग नामका पांचवां तपश्चरण पालन करते थे ॥ २०० ॥ वे भगवान अपने शरीरसे भी ममत्व नहीं रखते थे, अपने आत्माको शरीरसे सदा भिन्न देखते थे और मन वचन कायकी तीनों गुप्तियोंको सदा पालन करते थे इसप्रकार वे व्युत्सर्ग नामके तपश्चरणको पूर्ण रीतिसे पालन करते थे ॥ २०१ ॥ तदनंतर भगवान वृषभदेवने व्युत्सर्ग तपश्चरण पूर्वक ध्यानयोग नामका छट्ठा

तपो भेजे स्वस्मिन्गात्रेऽपि निःस्पृहः ॥ २०१ ॥ ततो व्युत्सर्गपूर्वोऽस्य ध्यानयोगोऽभवद्विभोः , मुनिर्व्युत्सृष्टकायो हि स्वामी सध्यानसंपदः ॥२०२॥ ध्यानाभ्यासं तपः कुर्वन्योगी सुनिवृतोऽभवत् । शेषः परिकरः सर्वो ध्यानमेवोत्तमं तपः ॥ २०३ ॥ मनोऽक्षग्रामकायानां तपनात्सन्निरोधनात् । तपो निरुच्यते तज्ज्ञैस्तादिदं द्वादशात्मकं ॥ २०४ ॥ विपुलां निर्जरामिच्छन्महोदर्कं च संवरं । यतते स्म तपस्यस्मिन्द्विषड्भेदे विदांवरः ॥ २०५ ॥ सगुप्तिसमितिं धर्म्मं सानुप्रेक्षं क्षमादिकं । परीषहान्जयन्सम्यक्चारित्रं चाचरच्चिरं ॥ २०६ ॥ ततो दिध्यासुनाऽनेन योग्या देशाः सिषेविरे । विविक्ता

तपश्चरण पालन किया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो मुनि शरीरसे ममत्व छोड देता है वही उत्तम ध्यान रूपी संपदाका स्वामी होता है ॥ २०२ ॥ तदनंतर वे योगिराज ध्यानका अभ्यास करते हुये ही कृतकार्य हुये थे, सो ठीक ही है क्योंकि शेष ग्यारह प्रकारका तपश्चरण तो ध्यानका साधन है, सबमें उत्तम तप तो ध्यान ही है ॥ २०३ ॥ मन, इंद्रियोंका समूह और शरीर इनके तपायमान करने अर्थात् इनका निग्रह करनेसे तप होता है ऐसा तपश्चरणके जाननेवाले गणधरादि देव कहते हैं और वह तपश्चरण ऊपर कहे हुये प्रकारसे बारह प्रकारका है ॥ २०४ ॥ अतिशय ज्ञानवान् ऐसे वे बडी भारी निर्जराकी इच्छा करते हुये तथा अति उत्तम फल देनेवाले संवरकी इच्छा करते हुये ऊपर कहे हुये बारह प्रकारके तपश्चरण करनेमें सदा प्रयत्न करते रहते थे ॥ २०५ ॥ वे भगवान तीन गुप्ति, पांच समिति उत्तम क्षमा आदि दशप्रकारका धर्म और बारह अनुप्रेक्षाओंका पालन करते हुये तथा बाईस परीषहोंको जीतते हुये चिरकालतक सम्यक्चारित्रको पालन करते रहे थे ॥ २०६ ॥ तदनंतर ध्यान धारण करनेकी इच्छा करनेवाले भगवानने ध्यान करनेके योग्य जो जो स्थान थे जोकि एकांत और मनोहर थे तथा जिनमें राग द्वेष उत्पन्न करनेवाली कोई सामग्री नहीं थी ऐसे २ स्थानोंमें निवास किया ॥ २०७ ॥ भगवानने गुफा, नदीके किनारे, पर्वतकी शिखर, जीर्णउद्यान और बन आदि ऐसे २ स्थानोंमें ध्यान लगाया जहां कि न तो बहुत गर्मी थी और न बहुत सर्दी थी। जहां गरमी सर्दी प्रायः सदा समान रहती थी। इसीप्रकार

रमणीया ये वियुक्ता रागकारणैः ॥ २०७ ॥ गुहापुलिनगिर्यग्रजीर्णोद्यानवनादयः । नात्युष्णशीतसंपाता देशाः साधारणाश्च ये ॥२०८॥ कालश्च नातिशीतोष्णभूयिष्ठो जनितासुखः । भावश्च ज्ञानवैराग्यधृतिक्षांत्यादिलक्षणः ॥ २०९ ॥ द्रव्याण्यप्यनुकूलानि यानि संक्लेशहानये । प्रभविष्णूनि तानीशः सिषेवे ध्यानसिद्धये ॥ २१० ॥ कदाचिद्गिरिकुंजेषु कदाचिद्गिरिकंदरे । कदाचिच्चाद्रिशृंगेषु दध्यावध्यात्मतत्त्ववित् ॥ २११ ॥ कर्हिचिद्बर्हिणारावरम्योपांतेषु हारिषु । गिर्यग्रेषु शिलापट्टानध्यास्ताध्यात्मशुद्धये ॥ २१२ ॥ अगोष्पदेष्वरण्येषु कदाचिदनुपद्रुते । निर्जंतुके विविक्ते च स्थांडिलेऽस्थात्समाधये ॥ २१३ ॥ कदाचित्प्रांतपर्यस्तनिर्झरैस्ततशीकरैः । कृतशैत्ये नगोत्संगे सोऽगाद्योगैकताननां ॥ २१४ ॥ नक्तं नक्तंचरैर्भीमैः स्वैरमारब्धतांडवे । विभुः

जिसमें बहुत गर्मी और बहुत सर्दी पडे तथा प्राणियोंको दुःखदायी हो वह काल भी ध्यानके योग्य नहीं, इन सब उपद्रवोंसे रहित समय ही ध्यानके योग्य है। ज्ञान वैराग्य धीरता और क्षमा आदि उत्तम २ भाव ध्यानके योग्य हैं, और जो क्षुधा आदिसे उत्पन्न होनेवाले संक्लेश परिणामोंको दूर करनेमें समर्थ हो तथा ध्यानके सर्वथा अनुकूलहो ऐसे आहार आदि द्रव्य भी ध्यानके योग्य हैं। भगवान वृषभदेव ध्यानकी सिद्धि होनेकेलिये ऊपर कहे हुये द्रव्य क्षेत्र काल भावको ही सेवन करते थे ॥ २०८-२०९-२१० ॥ अध्यात्म तत्त्वको जाननेवाले वे भगवान कभी तो पर्वतकी लताओंमें, कभी पर्वतकी गुफाओंमें और कभी पर्वतकी शिखरोंपर ध्यान लगाते थे ॥ २११ ॥ अध्यात्मकी शुद्धि होनेकेलिये कभी तो वे ऐसे २ मनोहर पर्वतोंकी तराईमें शिलातलपर ध्यान लगाते थे कि जिनके समीपभाग मयूरोंके शब्दोंसे बडे ही मनोहर हो रहे थे ॥ २१२ ॥ तथा कभी २ समाधि लगानेकेलिये वे भगवान जहां गौओंके खुरोंतकका चिन्ह नहीं था अर्थात् जो अत्यंत अगम्य थे ऐसे बनोंमें उपद्रव रहित जीव जंतुओंसे रहित और सर्वथा एकांत ऐसी पत्थरोंसे ऊंची नीची विषय भूमिपर विराजमान होते थे ॥ २१३ ॥ कभी २ जिनके किनारेपर अनेक पानीकी छींटें उडाते हुये बहुतसे निर्झरने बह रहे हैं और उन निर्झरनोंसे जहां बहुत सर्दी पड रही है ऐसे पर्वतके ऊपरी भागपर विराजमान होकर ध्यानमें तल्लीन होते थे ॥ २१४ ॥ कभी २

पितृवनोपांते ध्यायन्सोऽस्थात्कदाचन ॥ २१५ ॥ कदाचिन्निम्नगातीरे शुचिसैकतचारुणि । कदाचिच्चसरस्तीरे वनोद्देशेषु हारिषु ॥ २१६ ॥ मनोव्याक्षेपहीनेषु देशेष्वन्येषु च क्षमी । ध्यानाभ्यासमसौ कुर्वन्विजहार महीमिमां ॥ २१७ ॥ मौनी ध्यानी स निर्मानो देशान्प्रविहरन् शनैः । पुरं पुरिमतालाख्यं सुधीरन्येद्युरासदत् ॥ २१८ ॥ नात्यासन्नविदूरेऽस्मादुद्याने शकटाह्वये । शुचौ निराकुले रम्ये विविक्तेऽस्थाद्विजंतुके ॥ २१९ ॥ न्यग्रोधपादपस्याधः शिलापट्टं शुचिं पृथुं । सोऽध्यासीनः समाधानमधाद् ध्यानाय शुद्धधीः ॥ २२० ॥ तत्र पूर्वमुखं स्थित्वा कृतपर्यंकबंधनः । ध्याने प्रणिदधौ चित्तं लेश्याशुद्धिं परां दधत् ॥ २२१ ॥ चेतसा सोऽपि संधाय परं पदमनुत्तरं । दध्यौ सिद्धगुणानष्टौ प्रागेव सुविशुद्धधीः ॥ २२२ ॥ सम्य-

---

जिसमें भयानक पिशाच अपनी इच्छानुसार नृत्य कर रहे हैं ऐसी स्मशान भूमिमें रात्रिके समय ध्यान धारण करते हुये वे भगवान विराजमान होते थे ॥ २१५ ॥ कभी पवित्र वालूसे सुशोभित ऐसे नदीके किनारेपर, कभी सरोवरके किनारे और कभी मनोहर बनोंमें तथा जिनमें मनकी व्याकुलता न हो ऐसे अन्य कितने ही देशोंमें ध्यानका अभ्यास करते हुये तथा उत्तम क्षमाको धारण करते हुये उन भगवानने इस समस्त पृथ्वीपर विहार किया था ॥२१६-२१७॥ मौन धारण करनेवाले, ध्यानमें तल्लीन रहनेवाले, अहंकार आदि दोषोंसे रहित और अतिशय बुद्धिमान ऐसे भगवान वृषभदेव धीरे २ अनेक देशोंमें विहार करते हुये किसी एकदिन पुरिमताल नामके नगरके समीप जा पहुंचे ॥ २१८ ॥ इसी नगरके समीप एक शकट नामका उद्यान है जोकि नगरसे न तो बहुत दूर है और न बहुत समीप है, उसी उद्यानके एक पवित्र निराकुल, एकांत और निर्जीव स्थानमें वे भगवान विराजमान हुये ॥ २१९ ॥ अत्यंत शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले उन भगवानने ध्यानकी सिद्धिके लिये उस उद्यानमें वटवृक्षके नीचे एक लंबी चौडी पवित्र शिलापर विराजमान होकर एकाग्रता धारण की ॥ २२० ॥ वहांपर वे भगवान पूर्व दिशाकी ओर मुखकर पर्यंक आसनसे विराजमान हुये थे और लेश्याओंकी परम विशुद्धि धारण करते हुये उन्होंने ध्यानमें ही अपना चित्त लगाया था ॥ २२१ ॥ प्रथम ही भगवानने जिससे बढकर अन्य कोई

क्त्वं दर्शनं ज्ञानमनंतं वीर्यमद्भुतं । सौक्ष्म्यावगाह्याव्याबाधाः सहागुरुलघुत्वकाः ॥ २२३ ॥ प्रोक्ताः सिद्धगुणा ह्यष्टौ ध्येयाः सिद्धिमभीप्सुना । द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावतश्च तथापरे ॥ २२४॥ गुणैर्द्वादशभिर्युक्तो मुक्तः सूक्ष्मो निरंजनः । स ध्येयो योगिभिर्व्यक्तो नित्यः शुद्धो मुमुक्षुभिः ॥२२५॥ ततो दध्यावनुप्रेक्षा दिध्यासुर्धर्ममुत्तमं । पारिकर्म्यमितास्तस्य शुभा द्वादशभावनाः ॥ २२६ ॥ तासां नामस्वरूपं च पूर्वमेवानुवर्णितं । ततो धर्म्यमसौ ध्यानं प्रपेदे धीद्धशुद्धिकः ॥ २२७ ॥ आज्ञाविचयमाद्यं तदपायविचयं तथा । विपाकविचयं चान्यत्संस्थानविचयं परं ॥ २२८ ॥ स्वनाम-

---

उत्तम स्थान नहीं है ऐसे सर्वश्रेष्ठ मोक्षस्थानमें अपना चित्त लगाया और अत्यंत विशुद्ध परिणाम होनेसे सिद्धोंके आठ गुण धारण किये। भावार्थ—अन्य जीव सिद्ध होनेपर सिद्धोंके आठ गुण धारण करते हैं किंतु भगवानने पहिले ही सिद्धोंके गुण अपने चित्तमें धारण किये थे, क्योंकि भगवानके परिणाम बहुत ही विशुद्ध थे ॥ २२२ ॥ अनंतसम्यक्त्व, अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अद्भुतवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन अव्याबाध और अगुरुलघु ये आठ सिद्धोंके गुण कहलाते हैं, सिद्ध अवस्था प्राप्त होनेकी इच्छा करनेवालोंको इन गुणोंका ध्यान करना चाहिये। तथा इसीप्रकार द्रव्य अर्थात् शुद्ध चैतन्यद्रव्य, क्षेत्र अर्थात् शुद्ध आत्माके असंख्यात प्रदेश, काल अर्थात् त्रिकालवर्ती ज्ञान और भाव अर्थात् पारिणामिकभाव इन चार साधारण गुणोंका भी चिंतवन करना चाहिये ॥ २२३-२२४ ॥ ऊपर कहे हुये बारह गुण जिसमें विद्यमान हैं, जो समस्त कर्मोंसे रहित है, सूक्ष्म है, निरंजन है, नित्य है, शुद्ध है, तथा व्यक्त है ऐसे परमात्माका मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको ध्यान करना चाहिये ॥२२५॥ तदनंतर उत्तम धर्मध्यानकी इच्छा करनेवाले भगवानने बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन किया। वास्तवमें शुभ ऐसी बारह भावनायें ध्यानका अंग कहलाती हैं ॥ २२६ ॥ उन बारह भावनाओंका नाम और स्वरूप पहिले ही वर्णन कर चुके हैं। तदनंतर अत्यंत विशुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवने धर्म्यध्यान धारण किया ॥ २२७ ॥ धर्म्मध्यानके चार भेद हैं प्रथम आज्ञाविचय अर्थात् भगवान-

व्यक्ततत्त्वानि धर्म्यध्यानानि सोऽध्यगात् । यतो महत्तमं पुण्यं स्वर्गाग्रसुखसाधनं ॥ २२९ ॥ क्षालितागःपरागस्य विरागस्यास्य योगिनः । प्रमादः क्वाप्यभून्नांतस्तदा ज्ञानादिशक्तिभिः ॥ २३० ॥ ज्ञानादिपरिणामेषु परां शुद्धिमुपेयुषः । लेशतोऽप्यस्य नाभूवन्दुर्लेश्याः क्लेशहेतवः ॥ २३१ ॥ तदा ध्यानमयीशक्तिः स्फुरंती ददृशे विभोः । मोहारिनाशपिशुना महोल्केव विजृंभिता ॥ २३२ ॥ आरचय्य तदा कृत्स्नं विशुद्धिबलमग्रतः । निकृष्टमध्य-मोत्कृष्टविभागेन त्रिधाकृतं ॥ २३३ ॥ कृतांतःशुद्धिरुध्दूतकृतांतकृतविक्रियः । उत्तस्थौ सर्वसामग्र्या मोहारिपृतनाजये ॥ २३४ ॥ शिरस्त्राणं तनुत्रं

की आज्ञाका प्रचार करना अथवा जिनेंद्रदेवके कहे हुये सूक्ष्मतत्त्वोंको उनकी आज्ञा मानकर श्रद्धान करना, दूसरा अपायविचय अर्थात् संसारी जीवोंका मिथ्यात्व कब दूर होगा इसप्रकार मिथ्यात्वके दूर करनेका उपाय चिंतवन करना, तीसरा विपाकविचय अर्थात् कर्मोंके फलका चिंतवन करना, और चौथा संस्थानविचय अर्थात् लोक और लोकमें भरेहुये जीवादिक तत्त्वोंका चिंतवन करना, इस-प्रकार अपने अपने नामके अनुसार तत्त्वोंका चिंतवन करनेरूप धर्म्मध्यानके चार भेद हैं। भगवानने ये चारों ही ध्यान धारण किये थे, क्योंकि इनसे स्वर्गके मुख्य कारण ऐसे बडे भारी पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥ २२८-२२९ ॥ जिनका पापरूपी पराग बिलकुल नष्ट होगया है ऐसे वीतराग और योगिराज भगवान वृषभदेवके ज्ञान चारित्र आदि शक्तियोंके बलसे उससमय प्रमाद कहीं भी बीचमें नहीं आया था ॥ २३० ॥ भगवानके ज्ञान आदि परिणाम परम विशुद्ध थे इसलिये उनके क्लेश उत्पन्न करनेवाली अशुभ लेश्याओंका एक अंश भी उदय नहीं हुआ था ॥ २३१ ॥ उससमय भगवानके दैदीप्यमान हुई ध्यानरूपी शक्ति ऐसी दिखाई दे रही थी मानों मोहरूपी शत्रुके नाशको सूचित करनेवाली और खूब बढी हुई ऐसी बडी उल्का (नक्षत्रपात) ही हो ॥ २३२ ॥ जिसप्रकार कोई राजा शत्रुको जीतनेके लिये अपनी सेनाको शुद्धकर उसके तीन भाग करता है और उसमेंसे मजबूत सेनाको आगे रखता है, तथा मरनेसे डरता भी नहीं, उसीप्रकार भगवान वृषभदेवने उससमय अपने आत्माकी विशुद्धिरूपी सेनाके

च तस्यासीत्संयमद्वयं । जैत्रमस्त्रं च सध्यानं मोहाराति विभित्सतः ॥ २३५ ॥ बलव्यसनरक्षार्थं ज्ञानामात्याः पुरस्कृताः । विशुद्धिपरिणामश्च सैनापत्ये नियोजितः ॥ २३६ ॥ गुणाः सैनिकतां नीता दुर्भेदा ध्रुवयोधिनः । तेषां हंतव्यपक्षे च रागाद्याः प्रतिचर्चिताः ॥ २३७ ॥ इत्यायोजितसैन्यस्य जयोद्योगे जगद्गुरोः । गुणश्रेणिबलाद्दीर्णं कर्मसैन्यैर्नु शल्कशः ॥ २३८ ॥ यथा यथोत्तरा शुद्धिरास्कंदति तथा तथा । कर्मसैन्यास्थितेर्भंगः संजातश्च

जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन भेद किये और फिर उसमेंसे उत्कृष्ट विशुद्धि रूप समस्त सेनाको आगे किया अर्थात् अपने मनके परिणाम परम विशुद्ध किये, और यमराजकी समस्त विक्रियायें नष्ट करदीं। इसप्रकार वे भगवान समस्त सामग्री लेकर मोहरूपी शत्रुकी सेना जीतनेकेलिये तैयार हुये ॥ २३३-२३४ ॥ मोहरूप शत्रुको जीतनेकी इच्छा करनेवाले भगवानने मन सहित पांचो इंद्रियोंको वश करनेरूप इंद्रिय संयमको तो शिरका कवच (टोप) बनाया और समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनेरूप प्राणिसंयमको शरीरका कवच बनाया। अथवा तीनों गुप्तियोंकी विशुद्धता रूप परमोपेक्षा संयमको सिरका कवच बनाया और उपहृतसंयम अर्थात् समितिरूप शुभोपयोगको शरीरका कवच बनाया। तथा उत्तम ध्यानको ही अवश्य जीतनेयोग्य शस्त्र बनाया ॥ २३५ ॥ इसीप्रकार परिणामोंकी विशुद्धि कम न हो जाय अर्थात् विशुद्धि रूपसेना हट न जाय इसलिये उस विशुद्धिरूप सेनाकी रक्षा करनेकेलिये ज्ञानरूपी मंत्रीको सबसे आगे किया और परिणामोंकी परम विशुद्धिको सेनापतिके स्थानपर नियुक्त किया ॥ २३६ ॥ जो कर्मरूपी शत्रुओंसे किसीप्रकार न जीते जायं ऐसे बडे २ गुण रूप योद्धाओंकी सेना बनाई और मोहरूप राजाके नियुक्त किये हुये राग द्वेष रूप शत्रुओंको मारनेकेलिये अपनी सेनाको आज्ञा दी ॥ २३७ ॥ इसप्रकार जब अपनी सब सेना नियुक्तकर जगतगुरु भगवान वृषभदेवने कर्मोंके जीतनेका उद्योग किया उससमय भगवानकी गुणश्रेणी निर्जराके बलसे कर्मरूपी सेना खंड खंड होकर नष्ट होने लगी ॥ २३८ ॥ गुणश्रेणी निर्जरा होनेसे ज्यों ज्यों भग-

रसक्षयः ॥२३९॥ परप्रकृतिसंक्रांतिः स्थितेर्भेदो रसच्युतिः । निर्जीर्णिश्च गुणश्रेण्या तदासीत्कर्मवैरिणां ॥२४०॥अंतःप्रकृतिसंक्षोभं मूलोद्वर्त्तं च कर्मणां । योगशक्त्या स योगींद्रो विजिगीषुरिवातनोत् ॥२४१॥ भूयोऽप्रमत्ततां प्राप्य भावयन् शुद्धिमुद्धुरां । आरुरुक्षत्क्षपकश्रेणीं निश्रेणीं मोक्षसद्मनः ॥ २४२ ॥ अधःप्रवृत्तिकरणमप्रमादेन भावयन् । अपूर्वकरणो भूत्वानिवृत्तिकरणोऽभवत् ॥२४३॥ तत्राद्यं शुक्लमापूर्य ध्यानं ध्यानात्तशुद्धिकः । मोहराजबलं कृत्स्नमपयत

वानके परिणामोंकी विशुद्धि अधिक २ बढती जाती थी त्यों त्यों कर्मरूपी सेनाकी स्थितिका भंग अधिक २ होता जाता था तथा उनका रस अर्थात् शत्रुओंका हर्ष अथवा कर्मोंकी शक्ति भी अधिक २ नष्ट होती जाती थी। भावार्थ—परिणामोंकी विशुद्धि ज्यों ज्यों अधिक बढती जाती थी त्यों त्यों कर्मोंकी स्थिति और शक्ति भी अधिक २ नष्ट होती जाती थी ॥२३९॥ गुणश्रेणी निर्जरा होनेसे उससमय कर्मरूप शत्रुओंका पर प्रकृतिसंक्रमण होता था अर्थात् कर्मोंकी प्रकृतियां अपना विपाक छोडकर अन्य प्रकृतियोंमें मिल जाती थीं। भावार्थ—अशुभ प्रकृतियां शुभ रूप परिणत हो रहीं थीं, कर्मोंकी स्थिति नष्ट हो रही थी, अनुभागबंध अर्थात् कर्मोंकी शक्ति भी नष्ट हो रही थी, और प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा हो रही थी ॥ २४० ॥ जिसप्रकार शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष शत्रुओंके भीतरी पुरुषोंमें क्षोभ उत्पन्न करता है और फिर उसे उखाडकर फेंक देता है उसीप्रकार कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करनेवाले योगिराज भगवान वृषभदेवने भी अपने ध्यानकी शक्तिके बलसे अंतरंग प्रकृतियोंमें क्षोभ उत्पन्न किया और फिर कर्मोंकी मूल प्रकृतियोंको भी उखाडकर फेंक दिया अर्थात् नष्ट कर दिया ॥ २४१ ॥ तदनंतर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामोंकी भावना करते हुये भगवान फिर अप्रमत्त गुणस्थानमें प्राप्त हुये और उस अप्रमत्त सातवें गुणस्थानमें ही मोक्षरूप मकानकी सीढीके समान जो क्षपकश्रेणी है उसपर आरूढ हुये अर्थात् उन्होंने क्षपकश्रेणी चढना प्रारंभ किया ॥ २४२ ॥ प्रथम ही उन्होंने अप्रमत्त गुणस्थानमें अधःप्रवृत्तिकरणकी भावना की, फिर वे अपूर्वकरण आठवें गुणस्थानमें प्राप्त होकर अनिवृत्ति नामके नौवें

दसाध्वसः ॥२४४॥ अंगरक्षानिवास्याष्टौ कषायान्निःपिपेष सः । वेदशक्तीस्ततास्तिस्रो नोकषायाह्वयान्भटान् ॥ २४५॥ ततः संज्वलनक्रोधं महानायकमग्रगं । मानमप्यस्य पाश्चात्यं मायालोभं च बादरं ॥ २४६ ॥ प्रमृद्यैतान्महाध्यानरंगे चारित्रसध्वजः । निशातज्ञाननिस्त्रिंशो दयाकवचवर्मितः ॥ २४७ ॥ जग्राह जयभूमिं तामनिवृत्तिं महाभटः । भटानां ह्यनिवृत्तीनां परकीयं न चाग्रतः ॥ २४८ ॥ करणत्रययाथात्म्यव्यक्तयेऽर्थपदानि वै । ज्ञेयान्यमूनि

गुणस्थानमें प्राप्त हुये ॥ २४३ ॥ नौवें गुणस्थानमें प्रथम ही उन्होंने पृथक्त्ववितर्क नामका पहिला शुक्लध्यान धारण किया और उस ध्यानसे परम विशुद्ध होकर तथा अतिशय निर्भय होकर उन्होंने मोहरूपी राजाकी समस्त सेना पछाड दी ॥ २४४ ॥ प्रथम ही उन्होंने मोह राजाके शरीरकी रक्षा करनेवालोंके समान जो अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय संबंधी क्रोधमान माया लोभ ये आठ योद्धा थे उन्हें मारकर चूर्ण किया, फिर स्त्रीलिंग पुलिंग और नपुंसकलिंग इन तीनों वेदोंकी शक्तियोंको नष्ट किया और फिर बचे हुये छह नोकषायरूपी योद्धाओंको भी मार भगाया अर्थात् उन्हें भी नष्ट किया ॥ २४५ ॥ तदनंतर संज्वलन क्रोध नामका जो सबसे मुख्य और सबसे आगे रहनेवाला योद्धा था उसे नष्ट किया फिर उसके पीछे रहनेवाले मान माया और बादर लोभको भी नष्ट किया ॥ २४६ ॥ इसप्रकार महाध्यानरूपी रंगभूमिमें चारित्ररूपी ध्वजा फहराते हुये ज्ञानरूपी तीव्र हथियार बांधे हुये और दयारूपी कवच पहने हुये ऐसे महायोध्दा भगवान वृषभदेवने ऊपर कहे हुये मोह राजाके सब योध्दाओंको नष्टकर जिससे फिर कभी पीछे नहीं हटना पडे ऐसी नौवें गुणस्थानरूप अनिवृत्ति नामकी जयभूमि प्राप्त की, सो ठीक ही है क्योंकि जो योध्दा पीछेकी ओर नहीं हटते हैं उनके सामने शत्रुकी सेना कभी ठहर नहीं सकती ॥ २४७-२४८ ॥ अब अधःप्रवृत्तिकरण अपूर्वकरण और अनिवृतिकरण इन तीनों करणोंका यथार्थ स्वरूप प्रगट करनेके लिये आगमका यथार्थ अभिप्राय जाननेवाले गणधरदेवोंने अनुक्रमसे जो अर्थसहित पद कहे हैं उन्हें इसप्रकार समझना चाहिये ॥ २४९ ॥

सूत्रार्थसद्भावज्ञैरनुक्रमात् ॥ २४९ ॥ करणाः परिणामा ये विभक्ताः प्रथमे क्षणे । ते भवेयुर्द्वितीयेऽस्मिन्क्षणेऽन्ये च पृथग्विधाः ॥ २५० ॥ द्वितीयक्षणसंबंधि परिणामकदंबकं । तच्चान्यच्च तृतीये स्यादेवमाचरमक्षणात् ॥ २५१ ॥ ततश्चाधःप्रवृत्त्याख्यं करणं तन्निरुच्यते । अपूर्वकरणे नैवं ते ह्यपूर्वाः प्रतिक्षणं ॥ २५२ ॥ करणे त्वनिवृत्त्याख्ये न निवृत्तिरिहांगिनां । परिणामैर्मिथस्ते हि समभावाः प्रतिक्षणं ॥ २५३ ॥ तत्राद्ये करणे नास्ति स्थितिघाताद्युपक्रमः । हापयेत्केवलं शुध्यन् बंधं स्थित्यनुभागयोः ॥ २५४ ॥ अपूर्वकरणेऽप्येवं किंतु स्थित्यनुभागयोः । हन्यादग्रं गुणश्रेण्यां कुर्वन्संक्रम-

---

कि प्रथम करणके अर्थात् अधःप्रवृत्ति करणके प्रथमक्षणमें जो परिणाम होते हैं वे ही परिणाम दूसरे क्षणमें हों तथा इसी दूसरे क्षणमें इन परिणामोंसे भिन्न ऐसे अन्य दूसरे परिणाम भी हों। इसी प्रकार दूसरे क्षणमें होनेवाले परिणामोंका जो समूह है वही परिणामोंका समूह तीसरे क्षणमें हो तथा उसी तीसरे क्षणमें उन परिणामोंके सिवाय अन्य जातिके भी परिणाम हों यही रीति तीसरे चौथे आदि अंतिम समय तक हो उसे अधःप्रवृत्तिकरण कहते हैं। अपूर्वकरणमें यह बात नहीं है अर्थात् उसमें ऊपरके परिणाम नीचेके अर्थात् पूर्वक्षण वर्ती परिणामोंसे कभी नहीं मिलते हैं। उसमें प्रत्येक क्षणमें अपूर्व परिणाम ही होते जाते हैं। इसलिये ही वे नीचेके परिणामोंसे कभी नहीं मिल सकते हैं। ऐसे अपूर्व अपूर्व परिणामोंका होना ही अपूर्वकरण कहलाता है ॥ २५०-२५१-२५२ ॥ अनिवृत्ति नामके नौवें गुणस्थानमें परिणामोंके द्वारा जीवोंकी निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि इस गुणस्थानके किसी एक समयमें रहनेवाले समस्त जीवोंके परिणाम एकसे ही होते हैं ॥ २५३ ॥ इन तीनों करणोंमेंसे प्रथम अर्थात् अधःप्रवृत्तिकरणमें स्थिति, घात आदिका उपक्रम नहीं है अर्थात् उसमें स्थितिकांडघात, अनुभागकांडघात, गुणश्रेणि निर्जरा और गुणसंक्रमण ये चार आवश्यक नहीं होते हैं। किंतु इस अधःप्रवृत्तिकरणमें रहनेवाला जीव केवल शुद्ध होता हुआ स्थितिबंध और अनुभागबंधकी हानि करता है ॥ २५४ ॥ अपूर्वकरणमें भी यही अवस्था रहती है किंतु इतना और विशेष है कि इस करणमें गुण-

निर्जरे ॥ २५५ ॥ तृतीये करणेऽप्येवं घटमानः पटिष्ठधीः । अकृत्वांतरमुच्छियात्कर्मारीन् षोडशाष्ट च ॥ २५६ ॥ गत्योरथाद्ययोर्नामप्रकृतीर्नियतोदयाः । स्त्यानगृद्धित्रिकं चास्येद्घातेनैकेन योगिराट् ॥ २५७ ॥ ततोऽष्टौ च कषायांस्तान्हन्याद्ध्यात्मतत्त्ववित् । पुनः कृतांतरः शेषाः प्रकृतीरप्यनुक्रमात् ॥ २५८ ॥ अश्वकर्णक्रियाकृष्टिः करणादिश्च यो विधिः । सोऽत्र वाच्यस्ततः सूक्ष्मसंपरायत्वसंश्रयः ॥ २५९ ॥ सूक्ष्मीकृतं ततो लोभं जयन्मोहं व्यजेष्ट सः । कर्शितो ह्यरिरुग्रोऽपि सुजयो विजिगीषुणा ॥ २६१ ॥ तीव्रं ज्वलन्नसौ श्रेणिरंगे मोहारिनिर्जयात् । ज्येष्ठो मल्ल इवावल्गन्मुनिर-

---

श्रेणीके द्वारा स्थितिबंध और अनुभागबंधका संक्रमण तथा निर्जरा करता हुआ उन दोनोंके ही अर्थात् स्थितिबंध और अनुभागबंधके अग्रभागको नष्ट करता है ॥ २५५ ॥ इसीप्रकार तीसरे अनिवृत्तिकरणमें भी अतिशय बुद्धिमान यह जीव प्रयत्न पूर्वक अपनी प्रवृत्ति करता हुआ परिणामोंकी विशुद्धिमें अंतर नहीं डालता है और क्रमसे सोलह तथा आठ कर्मरूप शत्रुओंको उखाड फेंकता है। सो योगिराज भगवान वृषभदेवने भी नरकगति और तिर्यंचगतिमें नियमसे उदय होनेवालीं प्रकृतियां अर्थात् १ नरक गति २ तिर्यंचगति ३ एकेंद्रिय ४ द्वींद्रिय ५ त्रींद्रिय ६ चतुरिंद्रिय जाति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी ८ तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी ९ आतप १० उद्योत ११ स्थावर १२ सूक्ष्म १३ साधारण तथा स्त्यानगृद्धि आदि तीन प्रकृतियां अर्थात् १४ निद्रानिद्रा १५ प्रचलाप्रचला और १६ स्त्यानगृद्धि इसप्रकार इन सोलह प्रकृतियोंको एक ही प्रहारसे नष्ट किया ॥ २५६-२५७ ॥ तदनंतर अध्यात्मतत्वके जाननेवाले भगवानने आठ कषायोंको नष्ट किया और फिर कुछ समय बीचमें देकर अनुक्रमसे नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, पुंवेद संज्वलनक्रोध, मान और माया इन प्रकृतियोंको भी नष्ट किया ॥ २५८ ॥ भगवानने इसी गुणस्थानमें अश्वकरणक्रिया और कृष्टिकरण आदि विधि भी की और फिर वे अनुक्रमसे सूक्ष्मसांपराय नामके दशवें गुणस्थानमें जा पहुंचे ॥ २५९ ॥ वहांपर उन्होंने अत्यंत सूक्ष्म ऐसे लोभको भी नष्ट किया और इसप्रकार भगवानने मोहरूप शत्रुकी समस्त सेना जीत

प्रतिमल्लकः ॥ २६१ ॥ ततः क्षीणकषायत्वमक्षीणगुणसंग्रहः । प्राप्य तत्र रजोऽशेषमधुनात्स्नातकोऽभवत् ॥ २६२ ॥ ज्ञानदर्शनवीर्यादिविघ्ना ये केचिदुद्धताः । तानशेषान् द्वितीयेन शुक्लध्यानेन चिच्छिदे ॥ २६३ ॥ चतस्रः कटुकाः कर्मप्रकृतीर्ध्यानवह्निना । निर्दहन्मुनिरुद्भूतकैवल्योऽभूत्स विश्वदृक् ॥ २६४ ॥ अनंतज्ञानदृग्वीर्यविरतिः शुद्धदर्शनं । दानलाभौ च भोगोपभोगावानंत्यमाश्रिताः ॥ २६५ ॥ नवकेवललब्धीस्ता जिनभास्वान्द्युतीरिव । स भेजे जगदुद्भासी भव्यांभोजानि बोधयन् ॥ २६६ ॥ इति ध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मेधनचयो जिनः । बभावुद्भूतकैवल्यविभवो विभवोद्भवः

ली। सो ठीक ही है क्योंकि बलवान् शत्रु भी यदि कृश हो जाय तो जीतनेवाला उसे सहज रीतिसे जीत सकता है॥ २६० ॥ जिसप्रकार किसी कुस्तीके मैदानमें प्रतिमल्लके (दूसरे शत्रुरूप मल्लके) भागजानेसे बलवान मल्ल हर्षित होता है उसीप्रकार क्षपकश्रेणीरूपी रंगभूमिमें मोहरूपी शत्रुके नष्ट हो जानेसे भगवान वृषभदेव भी अतिशय देदीप्यमान होते हुये सुशोभित हो रहे थे ॥ २६१ ॥ तदनंतर जिनके गुणोंका समूह अविनश्वर है ऐसे भगवान क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानमें प्राप्त हुये। वहां उनका मोहनीय कर्म सब नष्ट होगया था और उनकी स्नातक अवस्था प्राप्त हो गई थी॥२६२॥ तदनंतर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अत्यंत उद्धत जो अंतरायकी प्रकृतियां थीं उन सबको भी भगवानने दूसरे एकत्ववितर्क नामके शुक्ल ध्यानसे नष्ट किया और इस प्रकार वे भगवान ध्यान रूपी अग्निसे चारों घातिया कर्मोंकी समस्त प्रकृतियोंको जलाकर केवलज्ञानसे सुशोभित होकर समस्त लोकालोकके जाननेवाले सर्वज्ञदेव हुये ॥ २६३–२६४ ॥ इस प्रकार भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करते हुये और समस्त जगतको प्रकाशित करते हुये वे जिनेंद्ररूपी सूर्य कांतिके समान अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत वीर्य, अनंतचारित्र, शुद्धसम्यक्त्व, अनंतदान, अनंतलाभ, अनंतभोग, और अनंतउपभोग इन नौ केवल लब्धियोंको (क्षायिक लब्धियोंको) प्राप्त हुये ॥ २६५–२६६॥ इस प्रकार जिनको केवलज्ञानकी विभूति उत्पन्न हुई है तथा समवसरणादिकी विभूति प्राप्त हुई है ऐसे वे जिनेंद्रदेव ध्यानरूपी अग्निसे घातिया

॥ २६७ ॥ फाल्गुने मासि तामिस्रपक्षस्यैकादशीतिथौ । उत्तराषाढनक्षत्रे कैवल्यमुदभूद्विभोः ॥ २६८ ॥ भगवति जितमोहे केवलज्ञानलक्ष्म्या स्फुरति सति सुरेंद्राः प्राणमन्भक्तिभारात् । नभसि जयनिनादो विश्वदिक्कं जजृंभे सुरपटहरवैश्वारुद्धमासीत्खरंध्रं ॥ २६९ ॥ सुरकुजकुसुमानां वृष्टिरापप्तदुच्चै भ्रमरमुखरितद्युः सारयंती दिगंतान् । विरलमवतरद्भिर्नाकभाजां विमानैर्गगनजलधिरुद्यन्नौरिवाभूत्समंतात् ॥ २७० ॥ मदकलरुतभृंगैरन्वितः स्वःस्रवंत्याः शिशिरतरतरंगानास्पृशन्मातरिश्वा । धुतसुरभिवनांतःपद्मकिंजल्कबंधुर्मृदुतरमभितोवान्व्यानशे दिग्मुखानि ॥ २७१ ॥

कर्म रूपी ईंधनके समूहको जलाकर बडेही सुशोभित हो रहे थे ॥ २६७ ॥ इसप्रकार भगवान वृषभदेवको फाल्गुण कृष्णा एकादशीके दिन उत्तराषाढ नक्षत्रमें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था ॥ २६८ ॥ जिस समय भगवान वृषभदेवके मोहनीय कर्मके नष्ट होनेसे केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी स्फुरायमान हुई थी उस समय सब देवोंके इंद्र भक्तिके भारसे नम्रीभूत होकर भगवानको नमस्कार करते थे। आकाशमें समस्त दिशाओंमें व्याप्त होता हुआ जय जय शब्द हो रहा था और देवोंके नगाडोंके शब्दोंसे समस्त आकाश व्याप्त हो गया था ॥ २६९ ॥ तथा उसी समय समस्त दिशाओंको चित्र विचित्र करती हुई और भ्रमरोंके शब्दोंसे आकाशको शब्दायमान करती हुई कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी खूब वर्षा हो रही थी, और आकाशमें जो देवोंके दूर दूरसे विमान उतर रहे थे वे आकाश रूपी समुद्रमें चारों ओरसे तैरती हुई नावोंके समान जान पडते थे ॥ २७० ॥ उसी समय मधुर शब्द करते हुये भ्रमरोंसे सुशोभित, गंगा नदीकी अत्यंत शीतल तरंगोंको स्पर्श करता हुआ और हिलते हुये सुगंधित बनके मध्यभागमें जो कमलोंका बन है उसके परागसे सुशोभित तथा अत्यंत मंद मंद ऐसा वायु सब दिशाओंमें व्याप्त होता हुआ चारोंओर वह रहा था ॥ २७१ ॥ जिस समय पुष्प वृष्टि आदि हो रही थी और शीतल मंद सुगंधित वायु चल रहा था उसी समय लोक नाडीका आंगन अर्थात् समस्त लोक निर्मल होगया था और आकाशसे विना ही बादलके छोटी २ बूंदोंकी वर्षा हो रही थी। निर्मल आकाशमें वे चारोंओर फैली हुई पानीकी बूंदें

युगपदथ नभस्तोऽनभ्रितादवृष्टिपातो । विरजयति तदा स्म प्रांगणं लोकनाड्याः ॥ समवसरणभूमेः शोधनायेव विष्वग्विततसलिलबिंदुर्विश्वभर्त्तुर्जिनेशः ॥ २७२ ॥ इत्थं तदा त्रिभुवने प्रमदं वितन्वन्नुद्भूतकेवलरवेर्वृषभोदयाद्रेः । आसीज्जगज्जनहिताय जिनाधिपत्यप्रख्यापकः सपदि तीर्थकरानुभावः ॥ २७३ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्कैवल्योत्पत्तिवर्णनं नाम विंशतितमं पर्व.

ऐसी जान पडती थीं मानों तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवके समवसरणकी भूमिको शुद्ध करनेकेलिये ही पड रही हों ॥ २७२ ॥ जिसप्रकार उदयाचल पर्वतसे जगतके जीवोंके हित करनेकेलिये समस्त लोकको आनंदित करता हुआ सूर्यका उदय होता है उसीप्रकार उससमय ऊपर कहे अनुसार श्रीवृषभदेवरूपी उदयाचल पर्वतसे जगतके समस्त जीवोंका हित करनेकेलिये उत्पन्न हुये केवलज्ञान रूपी सूर्यका बहुत शीघ्र उदय हुआ था। वह उदय तीर्थंकरप्रकृतिका प्रभावरूप ही था, तीनों लोकोंके जीवोंको आनंद उत्पन्न करनेवाला था और श्रीजिनेंद्र देवका पद प्रगट करनेवाला था ॥ २७३ ॥

इसप्रकार श्री भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें भगवान वृषभदेवके केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला बीसवां पर्व पूर्ण हुआ ।

अथ एकविंशं पर्व

अथातः श्रेणिको नत्वा मुनिं पप्रच्छ गौतमं । भगवन्बोद्धुमिच्छामि त्वत्तो ध्यानस्य विस्तरं ॥ १ ॥ किमस्य लक्षणं योगिन्भेदाः किंच निर्वचः । किं स्वामिकं कियत्कालं किं हेतुफलसम्पदः ॥ २ ॥ कोऽस्य भावो भवेत्किं वा स्यादधिष्ठानमीशिनः । भेदानां कानि नामानि कश्चैषामर्थनिश्चयः ॥ ३ ॥ किमालंबनमेतस्य बलाधानं च किं भवेत् । तदिदं सर्वमेवाहं बुभुत्से वदतांवर ॥ ४ ॥ परं साधनमाम्नातं ध्यानं मोक्षस्य साधने । ततोऽस्य भगवन्ब्रूहि तत्त्वं गोप्यं यतीशिनां ॥ ५ ॥ इति पृष्टवते तस्मै भगवान्गौतमोऽब्रवीत् । प्रसरद्दशनाभीषुजलस्नापिततत्तनुः ॥ ६ ॥ यत्कर्मक्षपणे साध्ये साधनं परमं तपः ।

अथ इकईसवां पर्व.

अथानंतर—राजा श्रेणिकने समस्त मुनियोंके स्वामी ऐसे गौतम गणधरसे पूछा कि हे भगवान आपकी कृपासे मैं ध्यानका विशेष स्वरूप जानना चाहता हूं ॥ १ ॥ हे योगिराज ! इस ध्यानका लक्षण क्या है, इसके कितने भेद हैं, इसका अर्थ क्या है, इसके अधिकारी कौन हैं, इसका समय कितना है, इसकी व्युत्पत्ति क्या है और इसका फल क्या है ॥ २ ॥ हे देव इसका भाव क्या है. यहां कहां ठहरता है, इसके भेदोंके क्या २ नाम हैं और उनभेदोंके क्या २ अभिप्राय हैं ॥ ३ ॥ इसीप्रकार इस ध्यानका आलंबन क्या है अर्थात् किसका ध्यान किया जाता है और इसका बलाधान अर्थात् कारण क्या है, हे उपदेश देनेमें सर्व श्रेष्ठ ! यह सब मैं आपसे जानना चाहता हूं ॥ ४ ॥ हे भगवान मोक्ष प्राप्त होनेकेलिये ध्यान ही मुख्य कारण है और उत्तम उत्तम मुनियोंका गुप्त तत्त्व है इसलिये हे देव ! कृपाकर इसका स्वरूप कहिये ॥ ५ ॥ राजा श्रेणिकके इसप्रकार पूछनेपर भगवान गौतम गणधरदेव अपनी फैलती हुई दांतोंकी किरणें रूपी जलसे उसके शरीरका अभिषेक करते हुये कहने लगे ॥ ६ ॥ कि हे राजन् जो कर्मोंके नाश करनेमें मुख्य कारण है और जो सबसे उत्कृष्ट तपश्चरण कहलाता है ऐसे ध्यानका स्वरूप जैसा मैंने सुना है वैसा ही मैं तुझे अ-

तत्ते ध्यानाह्वयं सम्यगनुशास्मि यथाश्रुतं ॥७॥ ऐकाग्र्येण निरोधो यश्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि । तद्ध्यानं वज्रकायस्य भवेदांतर्मुहूर्त्ततः ॥८॥ स्थिरमध्यवसानं यत्तद्ध्यानं यच्चलाचलं । सानुप्रेक्षाथवा चिंता भावना चित्तमेव वा ॥९॥ छद्मस्थेषु भवेदेतल्लक्षणं विश्वदृश्वनां । योगास्रवस्य संरोधे ध्यानत्वमुपचर्यते ॥१०॥ धीबलायत्तवृत्तित्वात्ध्यानं तज्ज्ञैर्निरुच्यते । यथार्थमभिसंधानादपध्यानमतोऽन्यथा ॥ ११ ॥ योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वांतनिग्रहः । अंतःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः ॥ १२ ॥ ध्यायत्यर्थाननेनेति ध्यानं करणसाधनं । ध्यायतीति च कर्तृत्वं वाच्यं स्वातंत्र्यसंभवात् ॥ १३ ॥ भावमात्राभिधि-

---

च्छीतरह कहूंगा ॥ ७ ॥ जो चित्तकी वृत्ति सब ओरसे रोककर मुख्यतासे किसी एक ही वस्तुमें लगाना है उसे ध्यान करते हैं। वह ध्यान वज्रवृषभनाराचसंहननवालोंके अधिकसे अधिक अंतर्मुहूर्ततक रहता है ॥ ८ ॥ जो चित्तका परिणाम स्थिर रहता है उसे ध्यान कहते हैं और जो चित्तका परिणाम चंचल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिंता, भावना अथवा चित्त आदि नामोंसे पुकारते हैं ॥९॥ यह अनुप्रेक्षा वा भावनारूप चंचल ध्यान छट्ठेसे ग्यारहवें गुणस्थानतक रहनेवाले अल्पज्ञानी मुनियोंके होता है। और तेरहवें गुणस्थनवर्ती सर्वज्ञदेवके योगसे होनेवाले आस्रवका निरोध होता है इसलिये उनके भी उपचारसे ध्यान माना जाता है ॥ १० ॥ बुद्धिमान लोग ध्यान उसीको कहते हैं जो बुद्धिबलके आधीन हो क्योंकि जो बुद्धि पूर्वक किया जाता है वह यथार्थ ध्यान कहा जाता है। जो ध्यान बुद्धिपूर्वक नहीं किया जाता वह अपध्यान कहलाता है ॥११॥ योग, ध्यान, समाधि, धारोध अर्थात् चलायमान बुद्धिका रोकना, अंतःकरण अर्थात् मनका निग्रह करना, अंतःसंलीनता अर्थात् अंतःकरणमें अथवा आत्मामें तल्लीन होना आदि सब ध्यानके ही पर्याय वाचक शब्द हैं ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥१२॥ आत्माके जिसपरिणामसे पदार्थका चिंतवन किया जाता है उसे ध्यान कहते हैं यह ध्यान शब्दकी करण साधन व्युत्पत्ति की। इसीतरह आत्माका जो परिणाम पदार्थका चिंतवन करे उसे ध्यान कहते हैं यह ध्यान शब्दकी कर्तृसाधन व्युत्पत्ति की। क्याकि जो परिणाम पहिले करणसाधन अवस्थामें परतंत्र था उसीको

त्सायां ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते । शक्तिभेदात् ज्ञनत्त्वस्य युक्तमेकत्र तत्रयं ॥ १४ ॥ यद्यपि ज्ञानपर्यायो ध्यानाख्यो ध्येयगोचरः । तथाप्येकाग्रसंदृष्टो धत्ते बोधादिवाच्यतां ॥ १५ ॥ हर्षामर्षादिवत्सोऽयं चिद्धर्मोऽप्यवबोधितः । प्रकाशते विभिन्नात्मा कथंचित्स्तिमितात्मकः ॥ १६ ॥ ध्यानस्यालंबनं कृत्स्नं जगत्तत्त्वं यथास्थितं । विनात्मात्मीयसंकल्पादौदासीन्ये निवेशितं ॥ १७ ॥ अथवा ध्येयमध्यात्मतत्त्वं मुक्तेतरात्मकं । तत्तत्त्वचिंतनं ध्यातुरुपयोगस्य शुद्धये ॥ १८ ॥ उपयोगविशुद्धौ च बंधहेतूनुदस्यतः । संवरो निर्जरा चैव ततो मुक्तिरसंशयं ॥ १९ ॥ मुमुक्षोर्ध्यातुकामस्य सर्वमालंबनं जगत् । यद्यद्यथास्थितं

स्वातंत्र्य विवक्षासे ध्यानका कर्ता कहा है। अथवा चिंतवन करना ही ध्यान है यह ध्यान शब्दकी भावसाधन व्युत्पत्ति की। इसप्रकार शक्तिके भेदसे ज्ञाननस्वरूप आत्माके ही तीन भेद किये हैं और वे तीनों भेद एक ही वस्तुमें पाये जाते हैं। भावार्थ—ध्यानस्वरूप एक ही आत्माकी कर्तृसाधन भावसाधन और करणसाधन व्युत्पत्ति की है ॥ १३-१४ ॥ यद्यपि ध्यान यह एक ज्ञानका ही पर्याय है और वह ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थका एक विषय है, तथापि वह एक जगह इकट्ठा होकर अनंतज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्य इन चारों पदार्थरूप परिणत हो जाता है ॥ १५ ॥ जिसप्रकार सुख दुख आदि चैतन्यके ही परिणाम कहे जाते हैं और वे ज्ञानसे भिन्न हैं उसीप्रकार अंतःकरणका संकोच करने रूप ध्यान भी चैतन्यका ही धर्म है और वह ज्ञानसे भिन्न होकर ही प्रकाशित होता है ॥ १६ ॥ जगतके जीव अजीव आदि तत्त्व जो जिस रीतिसे विद्यमान हैं और जिनमें यह मेरा है. मैं इसका स्वामी वा कर्ता हूं इत्यादि आत्मा वा आत्मीय भाव नहीं है अतएव जो उदासीन रूपसे विद्यमान हैं ऐसे समस्त तत्त्व ध्यानके अवलंबन (आधार) होते हैं। भावार्थ—ध्यानमें जगतके समस्त तत्त्व चिंतवन किये जा सकते हैं ॥ १७ ॥ अथवा मुक्त और संसारी ऐसे दोनोंप्रकारका आत्मा ध्यान करने योग्य है। क्योंकि अध्यात्मतत्त्वके चिंतवन करनेसे ध्यान करनेवाले जीवके उपयोगकी शुद्धि होती हैं ॥ १८ ॥ उपयोगकी विशुद्धि होनेसे वह जीव बंधके

वस्तु तथा तत्तव्यवस्यतः ॥ २० ॥ किमत्र बहुना यो यः कश्चिद्भावः सपर्ययः । स सर्वोऽपि यथाऽम्नायं ध्येयकोटिं विगाहते ॥ २१ ॥ शुभाभिसंधि-नि ध्याने स्यादेवं ध्येयकल्पना । प्रीत्यप्रीत्यभिसंधानादसध्याने विपर्ययः ॥ २२ ॥ अतत्त्वादित्यतत्त्वज्ञो वैपरीत्येन भावयन् । प्रीत्यप्रीती समाधाय संक्लिष्टं ध्यानमृच्छति ॥ २३ ॥ संकल्पवशगो मूढो वस्त्विष्टानिष्टतां नयेत् । रागद्वेषौ ततस्ताभ्यां बंधं दुर्मोचमश्नुते ॥ २४ ॥ संकल्पो मानसी वृत्तिर्विषयेष्वनुत-

---

कारण मिथ्यात्त्व राग द्वेष आदिको नष्ट करता है तथा बंधके कारणोंका नाश होनेसे संवर और निर्जरा होती है और संवर तथा निर्जरा होनेसे निसंदेह इस जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥ इस जगतमें जो जो वस्तु जिस जिसप्रकारसे विद्यमान है उसको उसी उसीप्रकारसे निश्चय करनेवाले ऐसे मोक्षप्राप्त होनेकी इच्छा करनेवाले और ध्यान करनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषके पदार्थोंसे भरा हुआ यह समस्त जगत अवलंबन है । भावार्थ—वह प्रत्येक पदार्थके यथार्थ स्वरूपका चिंतवनकर ध्यान कर सकता है ॥२०॥ अथवा यहां बहुत कहनेसे क्या लाभ है थोडेसेमें इतना ही समझ लेना चाहिये कि जगतमें पर्यायोंसहित जो कुछ पदार्थ हैं वे सब अपने २ स्वरूपको सिद्ध करनेवाले प्रमाण सहित ध्येयकोटिमें प्रवेश करते हैं अर्थात् ध्यानमें सबका चिंतवन किया जा सकता है ॥ २१ ॥ ऊपर जो चिंतवन करनेयोग्य समस्त पदार्थ कहे गये हैं वे शुभ चिंतवन करनेयोग्य ध्यानमें ही चिंतवन करनेयोग्य हैं । यदि वे ही पदार्थ इष्ट और अनिष्टकेलिये चिंतवन किये जायं तो वह अपध्यान कहलाता है, अपध्यानमें कोई भी पदार्थ ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य नहीं माना जाता अर्थात् सब अध्येय हैं अपध्यानमें किसी भी पदार्थका चिंतवन नहीं करना चाहिये ॥ २२ ॥ जो पुरुष तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप नहीं जानता कुछका कुछ समझलेता है वही पुरुष तत्त्वोंका स्वरूप विपरीत रीतिसे चिंतवन करता हुआ इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंका चिंतवन करता है और इसप्रकार वह केवल संक्लेश सहित ध्यान करता है ॥ २३ ॥ अनेक संकल्प विकल्पोंके वश हुआ यह मूर्ख जीव पदा-

र्पिणी । सैव दुःप्रणिधानं स्यादपध्यानमतो विदुः ॥ २५ ॥ तस्मादाशयशुध्द्यर्थमिष्टा तत्त्वार्थभावना । ज्ञानशुद्धिरतस्तस्यां ध्यानशुद्धिरुदाहृता ॥ २६ ॥ प्रशस्तमप्रशस्तं च तध्यानं स्मर्यते द्विधा । शुभाशुभाभिसंधानात्प्रत्येकं तद्द्वयं द्विधा ॥ २७ ॥ चतुर्धा तत्खलु ध्यानमित्याप्तैरनुवर्णितं । आर्त्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति विकल्पतः ॥ २८ ॥ हेयमाद्यं द्वयं विद्धि दुर्ध्यानं भववर्द्धनं । उत्तरं द्वितयं ध्यानमुपादेयं तु योगिनां ॥ २९ ॥ तेषामंतर्भिदां वक्ष्ये

र्थोंमें इष्ट तथा अनिष्ट कल्पना करता है, पदार्थोंमें इष्ट तथा अनिष्ट कल्पना करनेसे इसके राग द्वेष उत्पन्न होते हैं और राग द्वेष होनेसे बडी कठिनतासे छूट सके ऐसा गाढ कर्मोंका बंध होता है ॥ २४ ॥ विषयोंमें इच्छा करनेवाली जो मनकी प्रवृत्ति है उसे संकल्प कहते हैं, इसी इच्छा करनेवाली मनकी प्रवृत्तिको दुष्प्रणिधान वा बुरा चिंतवन कहते हैं और इसीको अपध्यान कहते हैं ॥२५॥ इसलिये चित्तकी शुद्धि होनेके लिये यथार्थ तत्त्वोंका चिंवतन करना ही योग्य है क्योंकि चित्तकी शुद्धि होनेसे ज्ञानकी शुद्धि होती है और ज्ञानकी शुद्धि होनेसे ध्यानकी शुद्धि कही जाती है ॥२६॥ वह ध्यान शुभ और अशुभके चिंतवन करनेसे प्रशस्त और अप्रशस्त ऐसे दो प्रकारका गिना जाता है अर्थात् शुभ परिणामोंसे चिंतवन करना प्रशस्त ध्यान है और अशुभ परिणामोंसे चिंतवन करना अप्रशस्त ध्यान है । उस प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यानमेंसे भी प्रत्येकके दो दो भेद हैं । भावार्थ—प्रशस्तके धर्म्य और शुक्ल तथा अप्रशस्तके आर्त्त और रौद्र ॥ २७ ॥ इसप्रकार श्रीअरहंतदेवने आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान, और शुक्लध्यान इनके भेदसे वह ध्यान चारप्रकारका निरूपण किया है ॥ २८ ॥ इन चारों ध्यानोंमेंसे पाहिलेके दो अर्थात् आर्त और रौद्र ये हेय (त्याग करने योग्य) गिने जाते हैं क्योंकि ये दोनों ही दुर्ध्यान अथवा अपध्यान हैं और जन्म मरण रूप संसारकी वृद्धि करनेवाले हैं । तथा अंतके धर्म्य और शुक्ल ये दो ध्यान मुनियोंको भी उपादेय (स्वीकार करने योग्य) हैं ॥ २९ ॥ अब इन चारों ध्यानोंके अंतर्भेद कहते हैं तथा उन अंतर्भेदोंके लक्षण, अंतर्भेदों-

लक्ष्म निर्वचनं तथा । बलाधानमधिष्ठानं कालभावफलान्यपि ॥ ३० ॥ ऋते भवमथार्त्तं स्याद्ध्यानमाद्यं चतुर्विधं । इष्टानवाप्त्यनिष्टाप्तिनिदानाशानहेतुकं ॥ ३१ ॥ विप्रयोगे मनोज्ञस्य तत्संयोगानुतर्षणं । अमनोज्ञार्थसंयोगे तद्वियोगानुचिंतनं ॥ ३२ ॥ निदानं भोगकांक्षोत्थं संक्लिष्टस्यान्यभोगतः । स्मृत्यन्वाहरणं चैव वेदनार्त्तस्य तत्क्षये ॥ ३३ ॥ ऋते विना मनोज्ञार्थाद्भवमिष्टवियोगजं । निदानप्रत्ययं चैवमप्राप्तेष्टार्थचिंतनात् ॥ ३४ ॥ ऋते ह्युपगतेऽनिष्टे

को कहनेवाले शब्दोंके अर्थ, उन ध्यानोंके बलाधान (कारण), आश्रय, काल, भाव, और फल आदि सब कहेंगे ॥ ३० ॥ जो ऋत अर्थात् कष्ट वा दुःखसे उत्पन्न हो वह पहिला आर्तध्यान कहलाता है, वह आर्तध्यान चार प्रकारका है, पहिला इष्ट वस्तुके प्राप्त न होनेसे उत्पन्न हुआ, दूसरा अनिष्ट वस्तुके प्राप्त होनेसे उत्पन्न हुआ, तीसरा निदानसे उत्पन्न हुआ और चौथा रोग अथवा दुःखसे उत्पन्न हुआ ॥ ३१ ॥ किसी मनोज्ञ (इष्ट) वस्तुके वियोग होनेपर उसके संयोग होनेकेलिये बार बार चिंतवन करना पहिला आर्तध्यान कहलाता है । इसीप्रकार किसी अमनोज्ञ (अनिष्ट) वस्तुके संयोग होनेपर उसके वियोग होनेकेलिये बार बार चिंतवन करना दूसरा आर्तध्यान कहलाता है ॥३२॥ भोगोंकी आकांक्षासे उत्पन्न हुआ चिंतवन तीसरा निदान आर्तध्यान कहलाता है । जिस पुरुषका संक्लेश सहित चित्त होता है उसके अन्य जीवकी भोगोपभोगकी सामग्री देखकर यह तीसरा निदान आर्तध्यान उत्पन्न होता है । इसीप्रकार किसी रोगसे उत्पन्न हुये दुःखके नाश होनेकेलिये बार बार चिंतवन करना चौथा आर्तध्यान कहलाता है ॥३३॥ अथवा बिना किसी मनोज्ञ पदार्थके केवल दुखसे उत्पन्न हो अथवा किसी पुत्र मित्र आदि इष्ट वस्तुके वियोगसे उत्पन्न हो वह पहिला आर्तध्यान कहलाता है तथा जो इष्ट पदार्थ प्राप्त नहीं हुआ है उसकी प्राप्तिकेलिये चिंतवन करना वह निदानका कारण तीसरा आर्तध्यान कहलाता है ॥ ३४ ॥ इसीप्रकार जो अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर दुखसे

भवमार्त्तं द्वितीयकं । भवेच्चतुर्थमप्येवं वेदनोपगमोद्भवं ॥ ३५ ॥ प्राप्त्यप्राप्त्योर्मनोज्ञेतरार्थयोः स्मृतियोजने । निदानवेदनापायविषये चानुचिंतने ॥ ३६ ॥ इत्युक्तमार्त्तमार्त्तात्मचिंत्यं ध्यानं चतुर्विधं । प्रमादाधिष्ठितं तत्तु षड्गुणस्थानसंश्रितं ॥ ३७ ॥ अप्रशस्ततमं लेश्यात्रयमाश्रित्य जृंभितं । अंतर्मुहूर्त्तकालं तदप्रशस्तावलंबनं ॥ ३८ ॥ क्षायोपशमिकोऽस्य स्याद्भावस्तिर्यग्गतिः फलं । तस्मात् दुर्ध्यानमार्त्ताख्यं हेयं श्रेयोऽर्थिनामिदं ॥ ३९ ॥ मूर्च्छाकौशल्यकै-

---

उत्पन्न हो वह दूसरा आर्तध्यान कहलाता है तथा वेदनासे उत्पन्न हुआ चिंतवन चौथा आर्तध्यान कहलाता है ॥३५॥ मनोज्ञ अर्थात् इष्ट पदार्थकी प्राप्ति होनेकेलिये बार बार स्मरण होता है (यह पहिला आर्तध्यान है) और अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होनेकेलिये यह जीव बराबर प्रयत्न करता रहता है। (यह दूसरा आर्तध्यान है।) इसीप्रकार यह अज्ञानी जीव निदान अर्थात् आगामी कालमें भोगोपभोग प्राप्त होनेका चिंतवन करता है (यह तीसरा आर्तध्यान है) और रोग आदि वेदनाओं के दूर होनेके लिये भी बार बार चिंतवन करता है। (यह चौथा आर्तध्यान है) ॥ ३६ ॥ इस प्रकार जिनका आत्मा किसी दुखसे पीडित है ऐसे जीव ही ऊपर कहे हुये चार प्रकारके आर्तध्यान का चिंतवन करते हैं। यह आर्तध्यान पहिले गुणस्थानसे लेकर प्रमत्त नामके छट्ठे गुणस्थानतक छह गुणस्थानोंमें होता है ॥ ३७ ॥ यह चारोंप्रकारका आर्तध्यान अत्यंत अशुभ ऐसी कृष्ण नील और कापोत इन तीनों लेश्याओंसे होता है इसलिये इसका आलंबन अशुभ ही है, और इसका काल अधिकसे अधिक अंतर्मुहूर्त है ॥ ३८ ॥ इस आर्तध्यानमें क्षायोपशमिक भाव होता है और इसका फल तिर्यंचगति है इसलिये यह आर्तध्यान दुर्ध्यान अथवा अपध्यान कहलाता है और कल्याण चाहनेवालोंको हेय अर्थात् त्याग करने योग्य है ॥ ३९ ॥ परिग्रहमें अत्यंत आसक्त होना, दुष्टस्वभाव होना, अत्यंत लोभ करना, अथवा कृतघ्न होना, आलसी होना, अधिक अभिलाषा करना, भय करना

नास्यकौशीद्यान्यातिगृध्नुता । भयोद्वेगानुशोकाश्च लिंगान्यार्त्ते स्मृतानि वै ॥ ४० ॥ बाह्यं च लिंगमार्त्तस्य गात्रग्लानिर्विवर्णता । हस्तन्यस्तकपोलत्वं साश्रुतान्यच्च तादृशं ॥ ४१ ॥ प्राणिनां रोदनाद्रुद्रः क्रूरः सत्वेषु निर्घृणः । पुमाँस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधं ॥ ४२ ॥ हिंसानंदमृषानंदस्तेयसंरक्षणात्मकं । षष्ठात्तु तद्गुणस्थानात्प्राक्पञ्चगुणभूमिकं ॥ ४३ ॥ प्रकृष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपोद्बलबृंहितं । अंतर्मुहूर्त्तकालोत्थं पूर्ववद्भावमिष्यते ॥ ४४ ॥ वधबंधादिसंधानमंगच्छेदोपतापने । दंडपारुष्यमित्यादिहिंसानंदः स्मृतो बुधैः ॥ ४५ ॥ हिंसानंदं समाधाय हिंस्रः प्राणिषु निर्घृणः । हिनस्त्यात्मानमेव प्राक्पश्चाद्व-

---

उद्वेग करना और शोक करना आदि आर्तध्यानके चिन्ह हैं, अर्थात् ये जिसके हों उसके आर्तध्यान समझना चाहिये ॥ ४० ॥ इसीप्रकार शरीर अशक्त हो जाना, शरीरकी शोभा कम हो जाना, कपोलपर हाथ रखना और आंसू डालना तथा इसी प्रकारके और और चिन्ह होना आदि आर्तध्यानके वाह्य चिन्ह हैं ॥ ४१ ॥ अब रौद्रध्यान कहते हैं। जो पुरुष प्राणियोंको रुलाता है अर्थात् दुःख देता है वह रुद्र अर्थात् क्रूर अथवा समस्त जीवोंमें निर्दयी कहलाता है। ऐसे पुरुषका ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है। यह रौद्रध्यान भी चार प्रकारका है ॥ ४२ ॥ हिंसानंद अर्थात् हिंसामें आनंद मानना, मृषानंद अर्थात् मिथ्याभाषण करनेमें आनंद मानना, स्तेयानंद अर्थात् चोरी करनेमें आनंद मानना और संरक्षणात्मक अर्थात् विषयोंकी रक्षा करनेमें आनंद मानना ये चार रौद्रध्यानके भेद हैं। यह रौद्रध्यान छठवें गुणस्थानसे पहिले अर्थात् पांचवे गुणस्थानतक केवल पांच गुणस्थानोंमें ही होता है ॥ ४३ ॥ यह चारोंप्रकारका रौद्रध्यान अधिकसे अधिक अशुभ ऐसी कृष्ण नील कापोत इन तीनो लेश्याओंके बलसे उत्पन्न होता है। काल भी इसका अंतर्मुहूर्त है और भाव भी पहिलेके समान क्षायोपशमिक है ॥ ४४ ॥ मारनेकी इच्छा रखना, बांधनेकी इच्छा रखना, अंग उपांगोंको छेदना, संताप देना तथा कठिन दंड देना आदिको विद्वानलोग हिंसानंद नामका रौद्रध्यान कहते हैं ॥ ४५ ॥ प्राणियोंमें अतिशय निर्दयी ऐसा हिंसा करनेवाला पुरुष हिंसानंद नामके रौद्रध्यानको

न्यात्र वा परान् ॥ ४६ ॥ सिक्थमत्स्य किलैकोऽसौ स्वयंभूरमणांबुधौ । महामत्स्यसमानदोषानवाप स्मृतिदोषतः ॥४७॥ पुरा किलारविंदाख्यः प्रख्यातः खचराधिपः । रुधिरस्नानरौद्राभिसंधात् श्वाभ्रीं विवेश सः ॥ ४८ ॥ आनृशंस्यं हि हिंसोपकरणादानतत्कथा । निसर्गहिंस्रता चेति लिंगान्यस्य स्मृतानि वै ॥४९॥ मृषानंदो मृषावादैरतिसंधानचिंतनं । वाक्पारुष्यादिलिंगं तत् द्वितीयं रौद्रमिष्यते ॥५०॥ स्तेयानंदः परद्रव्यहरणे स्मृतियोजनं । भवेत्संरक्षणानंदः स्मृतिरर्थार्जनादिषु ॥५१॥ प्रतीतलिंगमेवैतद्रौद्रध्यानद्वयं भुवि । नारकं दुःखमस्याहुः फलं रौद्रस्य दुस्तरं ॥ ५२ ॥ बाह्यं तु लिंगमस्याहुर्भ्रूभंगं मुखविक्रि-

---

अवलंबनकर प्रथम ही अपने आत्माका घात करता है फिर पीछेसे वह अन्य जीवका घात करे या न करे ॥ ४६ देखो स्वयंभूरमण समुद्रमें जो तंदुल नामका छोटा मत्स्य है वह केवल स्मृतिके दोषसे महामत्स्यके समान दोषोंको प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥ इसीप्रकार प्रसिद्ध ऐसा अरविंद नामका विद्याधरोंका स्वामी जो पहिले कहा है वह भी रुधिरमें स्नान करनेरूप रौद्रध्यानके चिंतवन करनेसे ही नरक गया था ॥ ४८ ॥ क्रूरपना, हिंसाके उपकरण ऐसे तलवार वरछी आदि शस्त्रोंका धारण करना, हिंसा करनेकी कथा कहना और स्वभावसे ही हिंसक होना आदि इस हिंसानंद नामके रौद्रध्यानके वाह्य चिन्ह हैं ॥ ४९ ॥ झूठ बोलकर लोगोंको धोखा देनेवाले बचनोंका चिंतवन करना दूसरा मृषानंद नामका रौद्रध्यान है। तथा कठोर बचन कहना आदि इसके बाह्य चिन्ह हैं ॥ ५० ॥ दूसरेके द्रव्यको हरण करने अथवा चोरी करनेका चिंतवन करना स्तेयानंद तीसरा रौद्रध्यान कहलाता है और धनके उपार्जन करने, उसकी रक्षा करने आदिका चिंतवन करना रक्षणानंद नामका चौथा रौद्रध्यान कहलाता है॥ ५१ ॥ इन स्तेयानंद और रक्षणानंद दोनों रौद्रध्यानों के वाह्य चिन्ह संसारमें प्रसिद्ध हैं और ऊपर कहे हुये चारों रौद्रध्यानोंका फल अति कठिन नरक है ॥ ५२ ॥ भौंह टेडी करना, मुह विकृत बनाना, पसीना आना, शरीर कंपना और नेत्र लाल हो जाना आदि इन चारोंप्रकारके रौद्रध्यानोंके वाह्य चिन्ह हैं ॥ ५३ ॥ अनादि कालकी वासनासे उ-

यां । प्रस्वेदमंगकंपं च नेत्रयोश्चातिताम्रतां ॥ ५३ ॥ प्रयत्नेन विनैवैतदसध्यानद्वयं भवेत् । अनादिवासनोभ्दूतमतस्तद्विसृजेन्मुनिः ॥ ५४ ॥ ध्यानद्वयं विसृज्याद्यमसत्संसारकारणं । यदुत्तरं द्वयं ध्यानं मुनिनाऽभ्यसिशिष्यते ॥ ५५ ॥ तदिदं परिकर्मेष्टं देशावस्थाद्युपाश्रयं । बहिःसामग्र्यधीनं हि फलमत्र द्वयात्मकं ॥ ५६ ॥ शून्यालये श्मशाने वा जरदुद्यानकेऽपि वा । सारित्पुलिनागिर्यग्रगह्वरे द्रुमकोटरे ॥ ५७ ॥ शुचावन्यतमे देशे चित्तहारिण्यपातपे । नात्युष्णाशिशिरे नापि प्रवृद्धतरमारुते ॥ ५८ ॥ विमुक्तवर्षसंबंधे सूक्ष्मजंत्वनुपद्रुते । जलसंपातनिर्मुक्ते मंदमंदनभस्वति ॥ ५९ ॥ पल्यंकमासनं बध्वा

त्पन्न हुये ये दोनों ही अपध्यान (आर्तध्यान और रौद्रध्यान) विना ही प्रयत्नके उत्पन्न होते हैं। इसलिये मुनियोंको इन दोनोंका ही त्याग करना चाहिये ॥ ५४ ॥ आर्त और रौद्र ये प्रथम कहे हुये दोनों ही ध्यान असत् ध्यान हैं, संसारके कारण हैं इसलिये मुनिलोग इन दोनों ध्यानोंका त्यागकर आगेके अर्थात् धर्म्य और शुक्ल इन दोनों ध्यानोंका अभ्यास करते हैं ॥ ५५ ॥ ये दोनों ही ध्यान देश काल और अवस्था आदिकी अपेक्षा रखते हैं तथा वाह्य सामग्रीके आधीन हैं और इनका फल भी मुख्य और गौण रीतिसे दो प्रकारका है ॥ ५६ ॥ ये दोनों ही प्रकारके ध्यान करनेवाला सूने घरमें, श्मशानमें, पुराने बनमें, नदीके किनारे, पर्वतकी शिखरपर, पर्वतकी गुफामें, किसी वृक्षके कोटरमें अथवा और भी किसी पवित्र देशमें जोकि चित्तको हरण करनेवाला हो, आतप गर्मी और सर्दी भी जहां न हो, तथा जहां वायुका विशेष वेग भी न हो, जहां बहुत वर्षा भी न होती हो, सूक्ष्म जीवोंका कोई उपद्रव न हो, जहां जलका विशेष आगमन अथवा जलका प्रपात न हो और जहां मंद मंद वायु वहती हो ऐसी जगहपर सुख पूर्वक पर्यंक आसनसे विराजमान होकर सम और सरल होकर तथा शरीरको निश्चलकर विराजमान हो, अपने पर्यंकपर वायें हाथको इसप्रकार रक्खे कि जिसमें हथेली ऊपरकी ओर हो, तथा इसीप्रकार अर्थात् हथेली ऊपरकी ओर करके इस वायें हाथपर दाहिना हाथ रक्खे, उससमय अपनी आखें न तो बिलकुल बंद करलेवे

मुनिविष्टो महीतले । सममृज्वायतिं बिभ्रद्गात्रमस्तब्धवृत्तिकं ॥ ६० ॥ स्वपर्यंके करं वामं न्यस्योत्तानतलं पुनः । तस्योपरितरं पाणिमपि संन्यस्य तत्समं ॥ ६१ ॥ नात्युन्मिषन्न चात्यंतं निमिषन्मंदमुच्छ्वसन् । दंतैर्दंताग्रसंधानपरो धीरो निरुद्धधीः ॥ ६२ ॥ हृदि मूर्ध्नि ललाटे वा नाभेरूर्ध्वं परत्र वा । स्वाभ्यासवशताश्चित्तं निधायाध्यात्मविन्मुनिः ॥ ६३ ॥ ध्यायेद्द्रव्यादियाथात्म्यमागमार्थानुसारतः । परीषहोत्थिता बाधाः सहमानो निराकुलः ॥ ६४ ॥ प्राणयामेऽतितीव्रे स्यादवशस्याकुलं मनः । व्याकुलस्य समाधानभंगान्न ध्यानसंभवः ॥ ६५ ॥ अपि व्युत्सृष्टकायस्य समाधिः प्रतिपत्तये । मंदोच्छ्वासनिमेषादिवृत्तेर्नास्ति निषेधनं ॥ ६६ ॥ समावस्थितकायस्य स्यात्समाधानमंगिनः । दुःस्थितांगस्य तद्भंगाद्भवेदाकुलता धियः ॥ ६७ ॥ ततो यथोक्तपल्यंक-

---

और न बिलकुल खोल लेवे अर्थात् दृष्टि नासिकापर रक्खे, उच्छ्वास भी धीरे २ ले, ऊपर नीचेकी दोनों दांतोंकी पंक्तियोंको मिला लेवे, इसप्रकार धीरवीर मनको वश करनेवाला अध्यात्म शास्त्रको जाननेवाला मुनिराज चित्तको हृदयमें वा मस्तकपर, अथवा ललाटमें वा नाभिके ऊपर अथवा अपने अभ्यासके कारण किसी दूसरी जगह स्थापनकर क्षुधा तृषा आदि परीषहोंसे उत्पन्न हुई अनेक बाधाओंको सहन करता हुआ, तथा निराकुल होता हुआ शास्त्रानुसार जीव अजीव आदि द्रव्योंके यथार्थ स्वरूपका चिंतवन करे ॥ ५७ से ॥ ६४ ॥ अत्यंत तीव्र प्राणयाम (श्वासोच्छ्वास) होनेसे इंद्रियोंको पूर्ण रीतिसे वश न करनेवाले मनुष्यका मन आकुलित हो जाता है तथा मन व्याकुल होनेसे धैर्य नष्ट हो जाता है और धैर्य नष्ट होनेसे ध्यान नहीं हो सकता ॥ ६५ ॥ इसलिये शरीरसे ममत्वका त्याग करनेवाले मुनिके ध्यानकी सिद्धि होनेकेलिये मंद २ उच्छ्वास और पलकोंके लगने उघडनेका कुछ निषेध नहीं है ॥ ६६ ॥ यदि ध्यानके समय शरीर समतोल अर्थात् एकसा हो, ऊंचा नीचा न हो तो प्राणियोंके चित्तको समाधान (धैर्य) रहता है । यदि शरीर समतोल न हो ऊंचा नीचा हो तो चित्तको समाधान नहीं रहता और चित्तको समाधान न रहनेसे चित्तको व्याकुलता

लक्षणासनमास्थितः । ध्यानाभ्यासं प्रकुर्वीत योगी व्याक्षेपमुत्सृजन् ॥ ६८ ॥ पर्यंक इव दिध्यासोः कायोत्सर्गोऽपि संमतः । समप्रयुक्तसर्वांगो द्वात्रिंशद्दोषवार्जितः ॥ ६९ ॥ विसंष्ठुलासनस्थस्य ध्रुवं गात्रस्य निग्रहः । तन्निग्रहान्मनःपीडा ततश्च विमनस्कता ॥ ७० ॥ वैमनस्ये च किं ध्यायेत्तस्मादिष्टं सुखासनं । कायोत्सर्गश्च पर्यंकस्ततोऽन्यद्विषमासनं ॥ ७१ ॥ तदवस्थाद्वयस्यैव प्राधान्यं ध्यायतो यतेः । प्रायस्तत्रापि पल्यंकमामनंति सुखासनं ॥ ७२ ॥

रहती है ॥ ६७ ॥ इसलिये मुनियोंको ऊपर कहे हुये पर्यंक आसनसे विराजमान होकर और चित्तकी व्याकुलता छोडकर ध्यानका अभ्यास करना चाहिये ॥ ६८ ॥ जो मुनि ध्यान करना चाहता है उसकेलिये भगवानने पर्यंक आसनके समान ही कायोत्सर्ग (खडे होना) आसन भी कहा है। ध्यानके समय जो मुनि अपने समस्त शरीरको एकसा रखता है अर्थात् अपने किसी अंग उपांगको ऊंचा नीचा नहीं रखता वह बत्तीस दोषोंसे बहुत दूर रहता है ॥ ६९ ॥ जो मुनि ध्यानके समय शिथिल आसनसे विराजमान होता है अथवा वीरासन वज्रासन आदि विषम आसनोंसे विराजमान होता है उसके शरीरको अवश्य ही दुख पहुंचता है, शरीरको दुख पहुंचनेसे मनको पीडा होती है और मनको पीडा होनेसे व्याकुलता उत्पन्न होती है ॥ ७० ॥ तथा चित्त व्याकुल होनेसे वह मुनि कुछ भी ध्यान नहीं कर सकता। इसलिये ध्यानकेलिये सुखासन ही योग्य है। कायोत्सर्ग और पर्यंक ये दो ही सुखासन हैं, इनके सिवाय अन्य सब आसन विषमासन कहलाते हैं ॥ ७१ ॥ इसलिये ध्यान करनेवाले मुनियोंको कायोत्सर्ग और पर्यंक ये दो ही मुख्य आसन कहे हैं। इन दोनोंमे भी प्रायः पर्यंक आसन ही सुखासन माना जाता है ॥ ७२ ॥ आगममें यह भी सुना है कि जिनका शरीर वज्रके समान है अर्थात् जो वज्रवृषभ नाराच संहननको धारण करनेवाले हैं और जिनका मनोबल बचनबल और कायबल अत्यंत उत्कृष्ट है ऐसे पुरुष वीरासन वज्रासन आदि सब आसनोंसे विराजमान होकर भी केवल ध्यानके बलसे अविनश्वर ऐसे मोक्षस्थानको

वज्रकाया महासत्वाः सर्वावस्थांतरस्थिताः । श्रूयंते ध्यानयोगेन संप्राप्ताः पदमव्ययं ॥ ७३ ॥ बाहुल्यापेक्षया तस्मादवस्थाद्वयसंगरः । शक्तानामुपसर्गाद्यै-स्तद्वैचित्र्यं न दुष्यति ॥ ७४ ॥ देहावस्था पुनर्यैव न स्याद् ध्यानोपरोधिनी । तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत् स्थित्वासित्वाधिशय्य वा ॥ ७५ ॥ देशादि-नियमोऽप्येवं प्रायोवृत्तिव्यपाश्रयः । कृतात्मनां तु सर्वोऽपि देशादिर्ध्यानसिद्धये ॥ ७६ ॥ स्त्रीपशुक्लीबसंसक्तरहितं विजनं मुनेः । सर्वदैवोचितं स्थानं ध्यान-काले विशेषतः ॥ ७७ ॥ वसतोऽस्य जनाकीर्णे विषयानभिपश्यतः । बाहुल्यादिंद्रियार्थानां जातु व्यग्रीभवेन्मनः ॥ ७८ ॥ ततो विविक्तशायित्वं वने

प्राप्त हुये हैं ॥ ७३ ॥ इसलिये पर्यंक और कायोत्सर्ग इन दोनों आसनोंकी प्रतिज्ञा करना प्रायः साधारण लोगोंकी अपेक्षासे है, तथा उपसर्ग परीषह आदिके सहन करनेसे अतिशय समर्थ ऐसे मुनियोंके लिये वीरासन आदि विचित्र आसनोंसे विराजमान होनेमें कोई दोष नहीं है ॥ ७४ ॥ अथवा जिन मुनियोंको जो जो आसन ध्यानका विरोधी न हो उन्हें उसी आसनसे ध्यान करना चाहिये। चाहे वे बैठकर ध्यान करें वा खडे होकर ध्यान करें अथवा लेटकर ध्यान करें ॥ ७५ ॥ इसीप्रकार देश अथवा कालका नियम करना भी साधारण ध्यान करनेवालोंके लिये है, पूर्ण शक्तिको धारण करनेवालोंके लिये प्रायः सब ही देश और सब ही काल ध्यानके साधन हैं ॥ ७६ ॥ जिस देशमें स्त्री, पशु और नपुंसक जीव नहीं रहते हैं तथा जो सर्वथा निर्जन है वही देश मुनियोंको सदा निवास करने योग्य है और ध्यानके समय तो विशेषकर ऐसा ही देश मुनियोंके योग्य गिना जाता है ॥ ७७ ॥ जो मुनि मनुष्योंसे भरे हुये शहर आदि प्रदेशोंमें रहते हैं और रातदिन विषयोंको देखा करते हैं ऐसे मुनियोंका चित्त ऊपर लिखे हुये शहर आदि प्रदेशोंमें इंद्रियोंके विषयोंकी अधिकता होनेसे कदाचित् व्याकुल हो सकता है ॥ ७८ ॥ इसलिये मुनियोंको एकांत स्थानमें शयन करना और बनमें निवास करना ही योग्य है। यह जिनकल्पी और स्थविरकल्पी दोनों प्रकारके मुनियोंका साधारण मार्ग है ॥ ७९ ॥ मुनियोंको निवास करनेकेलिये ऐसा साधारण नियम

वासश्च योगिनां । इति साधारणो मार्गो जिनस्थविरकल्पयोः ॥ ७९ ॥ इत्यमुष्यां व्यवस्थायां सत्यां धीरास्तु केचन । विहरंति जनाकीर्णे शून्ये च समदर्शिनः ॥ ८० ॥ न चाहोरात्रसंध्यादिलक्षणः कालपर्ययः । नियतोऽस्यास्ति दिध्यासोस्तद्धनं सार्वकालिकं ॥ ८१ ॥ यद्देशकालचेष्टासु सर्वास्वेव समाहिताः । सिद्धाः सिध्यंति सेत्स्यंति नात्र तन्नियमोऽस्त्यतः ॥ ८२ ॥ यदा यत्र यथावस्थो योगी ध्यानमवाप्नुयात् । स कालः स च देशः स्याद्ध्यानेऽवस्था च सा मता ॥ ८३ ॥ प्रोक्ता ध्यातुरवस्थेयमिदानीं तस्य लक्षणं । ध्येयं ध्यानं फलं चेति वाच्यमेतच्चतुष्टयं ॥ ८४ ॥ वज्रसंहननं कायमुद्वहन्बल-

---

होते हुये भी समदर्शी अर्थात् सबको एकसा देखनेवाले थोडेसे धीरवीर मुनि मनुष्योंसे भरे हुये शहर आदि प्रदेशोंमें भी विहार करते हैं ॥ ८० ॥ इसीप्रकार ध्यान करनेवाले मुनियोंके दिन रात प्रातःकाल संध्याकाल आदि कालका नियम नहीं है अर्थात् वे प्रातःकाल मध्यान्ह सायंकाल वा रात्रिमें ही ध्यान करें, दूसरे समयमें न करें, ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि वह ध्यानरूपी धन सब समयमें उपयोग करने योग्य है अर्थात् ध्यान सब समयमें हो सकता है ॥८१॥ क्योंकि आजतक जो सिद्ध हुये हैं, अब हो रहें हैं और आगे होंगे वे समस्त देश और सब समयमें ध्यान धारण कर हुये हैं, सब देश और सब समयमें हो रहे हैं और आगे भी सब देश और सब समयमें होंगे, कोई ऐसा देश वा समय नहीं है जिसमें सिद्ध न हुये हों और न आगे हों, इसलिये ध्यानके लिये देश और कालका कोई नियम नहीं है ॥ ८२ ॥ जो मुनि जिस समय जिस देशमें और जिस आसनसे ध्यानको प्राप्त होता है वही समय वही देश और वही आसन ध्यानके योग्य समझना चाहिये ॥ ८३ ॥ इसप्रकार ध्यान करनेवालेकी अवस्था निरूपण की। अब ध्यान करनेवालेका लक्षण, ध्यान करनेयोग्य ध्येय (जिसका ध्यान वा चिंतवन किया जाता है) ध्यान और ध्यानका फल इन चारोंका स्वरूप क्रमसे वर्णन करते हैं ॥ ८४ ॥ उनमें भी पहिले ध्याताका लक्षण कहते हैं, जिसका शरीर वज्रवृषभनाराच संहननका धारक है, अतिशय बल-

वत्तमं । उद्यत्सूरस्तपोयोगे स्वभ्यस्तश्रुतविस्तरः ॥ ८५ ॥ दूरोत्सारितदुर्ध्यानो दुर्लेश्याः परिवर्जयन् । लेश्याविशुद्धिमालंब्य भावयन्नप्रमत्तताम् ॥ ८६ ॥ प्रज्ञापारमितो योगी ध्याता स्याद्धीबलान्वितः । सूत्रार्थालंबनो धीरः सोढाशेषपरीषहः ॥ ८७ ॥ अपि चोद्भूतसंवेगः प्राप्तनिर्वेदभावनः । वैराग्यभावनोत्कर्षात्पश्यन्भोगानतर्पकान् ॥ ८८ ॥ सज्ज्ञानभावनापास्तमिथ्याज्ञानतमोघनः । विशुद्धदर्शनापोढगाढमिथ्यात्वशल्यकः ॥ ८९ ॥ क्रिया निःश्रेयसोदर्काः प्रपद्योज्झितदुष्क्रियः । प्रोद्यतः करणीयेषु व्युत्सृष्टाकरणीयकः ॥ ९० ॥ व्रतानां प्रत्यनीका ये दोषा हिंसानृतादयः । तानशेषान्निराकृत्य व्रतशुद्धिमुपेयिवान् ॥ ९१ ॥ स्वैरुदारतरैः क्षांतिमार्दवार्जवलाघवैः । कषायवैरिणस्तीव्रान्क्रोधादीन्विनिवर्त्तयन् ॥९२॥ अनित्यानशुचीन्दुःखान्पश्यन्भावाननात्मकान् ।

वान है जो तपश्चरण करनेमें अत्यंत शूरवीर है, जिसने शास्त्रमें खूब अभ्यास किया है ॥ ८५ ॥ जो आर्त और रौद्रध्यान कभी नहीं करता है, जिसके अशुभलेश्या नहीं है, जो विशुद्ध लेश्याओंका अवलंबनकर अप्रमाद अवस्थाका चिंतवन करता है, जो अतिशय बुद्धिमान् है, योगी है, जिसे बुद्धिका बल बहुत है, जो धीरवीर है, समस्त परीषहोंको जीतनेवाला है और सूत्र अर्थात् सिद्धांत शास्त्रके अर्थका आश्रय लेनेवाला है उसे ध्याता कहते हैं ॥ ८६-८७ ॥ इसके सिवाय जिसे जन्म मरणरूप संसारसे भय उत्पन्न हुआ है तथा वैराग्यकी भावनायें उत्पन्न हुई हैं और जो वैराग्यकी उत्कृष्ट भावनाओंके बलसे संसार संबंधी भोगोपभोगकी सामग्रियोंको अतृप्त करनेवाली (जिनसे कभी तृप्ति न हो) देखता है ॥ ८८ ॥ जिसने सम्यग्ज्ञानकी भावनासे मिथ्याज्ञानरूपी अंधकार बिलकुल नष्ट करदिया है और सम्यग्दर्शनकी विशुद्धतासे जिसने गाढ मिथ्यात्वरूपी शल्य नष्ट करदी है ॥ ८९ ॥ तथा जिनसे मोक्षरूपी फल प्राप्त होता है ऐसी क्रियाओंको स्वीकारकर जिसने समस्त अशुभ क्रियायें छोडदी हैं, जो करने योग्य सामयिक आदि कार्योंमें सदा तत्पर रहता है और जिसने अकर्तव्य अर्थात् न करने योग्य कार्य सब छोड दिये हैं ॥ ९० ॥ हिंसा झूठ चोरी आदि जो व्रतोंके प्रतिकूल दोष हैं वे सब नष्टकर जिसने व्रतोंकी परम विशुद्धि प्राप्त की है ॥ ९१ ॥ जो

वपुरायुर्बलारोग्ययौवनादिविकल्पितान् ॥ ९३ ॥ समुत्सृज्य चिराभ्यस्तान्भावान्रागादिलक्षणान् । भावयन् ज्ञानवैराग्यभावनाः प्रागभाविताः ॥ ९४ ॥ भावनाभिरसंमूढो मुनिर्ध्याने स्थिरो भवेत् । ज्ञानदर्शनचारित्रवैराग्योपगताश्च ताः ॥ ९५ ॥ वाचनाप्रच्छने चानुप्रेक्षणं परिवर्त्तनं । सद्धर्मदेशनं चेति ज्ञातव्या ज्ञानभावना ॥ ९६ ॥ संवेगः प्रशमः स्थैर्यमसंमूढत्वमस्मयः । आस्तिक्यमनुकंपेति ज्ञेयाः सम्यक्त्वभावनाः ॥ ९७ ॥ ईर्यादिविषया यत्ना मनोवा-

---

अत्यंत उत्कृष्ट ऐसे अपने उत्तमक्षमा उत्तममार्दव उत्तमआर्जव और उत्तमशौच धर्मोंसे प्रबल क्रोध मान माया लोभ इन कषायरूपी शत्रुओंको नष्ट करता है ॥ ९२ ॥ तथा जो शरीर आयु बल आरोग्य और यौवन आदि पदार्थोंको सर्वथा आत्मासे भिन्नरूप चिंतवन करता है, ये सब दुख देनेवाले हैं, इसलिये इन्हें दुखरूप चिंतवन करता है तथा सबको अनित्य और अपवित्र देखता है ॥ ९३ ॥ जिनका बहुत दिनोंसे (अनंतकालसे) अभ्यास हो रहा है ऐसे राग द्वेष आदि भावोंका जो सर्वथा त्याग करता है और जिनका चिंतवन पहिले कभी नहीं किया है ऐसी ज्ञान वैराग्य आदि भावनाओंका चिंतवन करता है ॥ ९४ ॥ ऐसा ऊपर कहा हुआ मुनि भावनाओंमें प्रमाद नहीं करताहुआ ध्यान करनेमें स्थिर होता है । जिन भावनाओंमें वह क्षुब्ध नहीं होता वे ज्ञान दर्शन चारित्र और वैराग्यकी भावनायें कहलाती हैं ॥ ९५ ॥ जिनशास्त्रका पढना, विचार करना, चिंतवन करना और सद्धर्मका उपदेश देना ये पांच ज्ञानकी भावनायें कहलाती हैं ॥ ९६ ॥ संवेग अर्थात् जन्ममरण रूप संसारसे भय होना, प्रशम अर्थात् शांत परिणाम होना, धीरता रखना, मूढता नहीं करना, गर्व नहीं करना आस्तिक्य अर्थात् श्रद्धा रखना और दया करना ये सात सम्यग्दर्शनकी भावनायें कहलाती हैं ॥ ९७ ॥ चलने आदिमें यत्नपूर्वक रहना अर्थात् ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणा समिति, आदाननिक्षेपणसमिति, और उत्सर्गसमिति इन पांचों समितियोंका पालन करना, मनोगुप्ति बचनगुप्ति और कायगुप्तिका पालन करना तथा समस्त परिषहोंको सहन करना ये सब

कायगुप्तय: । परीषहसहिष्णुत्वमिति चारित्रभावना: ॥ ९८ ॥ विषयेष्वनभिष्वंग: कायतत्त्वानुचिंतनं । जगत्स्वभावचिंतेति वैराग्यस्थैर्यभावना: ॥ ९९ ॥ एवं भावयतो ह्यस्य ज्ञानचर्यादिसंपदि । तत्त्वज्ञस्य विरागस्य भवेदव्यग्रता धिय: ॥ १०० ॥ स चतुर्दशपूर्वज्ञो दशपूर्वधरोऽपि वा । नवपूर्वधरो वा स्याद् ध्याता संपूर्णलक्षण: ॥ १०१ ॥ श्रुतेन विकलेनापि स्याध्याता मुनिसत्तम: । प्रबुद्धधीरध:श्रेण्या धर्मध्यानस्य सुश्रुत: ॥ १०२ ॥ स एवंलक्षणो ध्याता सामग्रीं प्राप्य पुष्कलां । क्षपकोपशमश्रेण्योरुत्कृष्टं ध्यानमृच्छति ॥ १०३ ॥ आद्यसंहननेनैव क्षपकश्रेण्यधिश्रित: । त्रिभिराद्यैर्भजेत् श्रेणीमितरां श्रुत-

---

चारित्रकी भावनायें कहलाती हैं ॥ ९८ ॥ विषयोंमें आसक्त नहीं होना, शरीरके वास्तविक स्वरूपका चिंतवन करना और जगतका अनित्यरूप स्वभाव चिंतवन करना ये वैराग्यके स्थिर करनेकी भावनायें कहलाती हैं ॥ ९९ ॥ इसप्रकार इन भावनाओंको चिंतवन करनेवाले, तत्त्वोंको जाननेवाले और विरक्त हुये मुनिकी बुद्धि ज्ञान और चारित्र रूपी संपदामें स्थिर रहती है ॥ १०० ॥ इसप्रकार ऊपर कहा हुआ ध्यान करनेवाला मुनि यदि ग्यारह अंग चौदह पूर्वका जाननेवाला हो वा ग्यारह अंग दश पूर्वका जाननेवाला हो अथवा ग्यारह अंग नौ पूर्वका जाननेवाला हो तो वह ध्याता समस्त लक्षण संयुक्त कहलाता है ॥ १०१ ॥ यदि वह पूर्ण श्रुतज्ञानी न हो, अल्पश्रुतज्ञानी हो तो भी वह अतिशय बुद्धिमान् उत्कृष्ट मुनि श्रेणी आरोहणसे पहिले २ धर्म्यध्यानका ध्यान करनेवाला उत्तम ध्याता कहलाता है ॥ १०२ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये लक्षणों सहित ध्यान करनेवाला ध्यानकी बहुतसी सामग्री पाकर उपशम और क्षपकश्रेणीमें उत्कृष्ट शुक्लध्यानको प्राप्त होता है ॥ १०३ ॥ श्रुतज्ञानसे समस्त तत्त्वोंको जाननेवाला ऐसा वज्रवृषभ नाराच संहननवाला मुनि ही क्षपकश्रेणीका प्रारंभ कर सकता है। तथा वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच इन पहिलेके तीन संहनन धारण करनेवाला मुनि उपशम श्रेणीको प्राप्त होता है ॥ १०४ अध्यात्मको जाननेवाला मुनि शरीर आदि वाह्य पदार्थोंके समूहसे अपनी दृष्टिको कुछ हटाकर और अपनी स्मृतिको अपने

तत्त्ववित् ॥ १०४ ॥ किंचिद् दृष्टिमुपावर्त्य बहिरर्थकदंबकात् । स्मृतिमात्मनि संधाय ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥ १०५ ॥ हृषीकाणि तदर्थेभ्यः प्रत्याहृत्य ततो मनः । संहृत्य धियमव्यग्रां धारयेद् ध्येयवस्तुनि ॥ १०६ ॥ ध्येयमध्यात्मतत्त्वं स्यात्पुरुषार्थोपयोगि यत् । पुरुषार्थश्च निर्मोक्षो भवेत्तत्साधनानि च ॥ १०७ ॥ अहं ममास्त्रवो बंधः संवरो निर्जरा क्षयः । कर्मणामिति तत्त्वार्था ध्येयाः सप्त नवाथवा ॥ १०८ ॥ षड्नयद्रव्यपर्याययाथात्म्यस्यानुचिंतनं । यतो ध्यानं ततो ध्येयं कृत्स्नः षड्द्रव्यविस्तरः ॥ १०९ ॥ नयप्रमाणजीवादिपदार्थन्यायभासुरा । जिनेंद्रवक्त्रप्रसूता ध्येया सिद्धांतपद्धतिः ॥ ११० ॥

आत्मामें ही स्थापन कर ध्यान करे ॥ १०५ ॥ प्रथम तो स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु श्रोत्र इन पांचों इंद्रियोंको स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द इन पाचों इंद्रियोंके विषयोंसे हटावे और फिर मनको इंद्रियोंसे हटाकर अपनी एकाग्र (स्थिर) बुद्धि ध्यान करने योग्य ध्येय वस्तुमें स्थापन करे ॥ १०६ ॥ जो पुरुषार्थका उपयोगी है ऐसा अध्यात्मतत्त्व ही ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य हैं, कर्मोंका क्षय होना अर्थात् मोक्ष प्राप्त होना पुरुषार्थ कहलाता है, और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र उस पुरुषार्थके साधन कहलाते हैं ॥ १०७ ॥ मैं अर्थात् आत्मा, मेरे ये शरीर आदि अजीव आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और समस्त कर्मोंका क्षय होनेरूप मोक्ष इन सातों तत्त्वोंका ध्यान करे, अथवा पुण्यपापको मिलाकर नौ पदार्थोंका ध्यान करे ॥ १०८ ॥ चूंकि छह प्रकारके नयोंके द्वारा ग्रहण किये हुये जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल इन छहों द्रव्य और इनकी समस्त पर्यायोंके यथार्थ स्वरूपका बार बार चिंतवन करना ही ध्यान कहलाता है इसलिये छह द्रव्योंका समस्त विस्तार अर्थात् छहों द्रव्य और उनकी समस्त पर्याय ध्यान करने योग्य हैं ॥ १०९ ॥ नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ एवंभूत ये सात नय, प्रत्यक्ष परोक्ष ये दो प्रमाण, जीव अजीव आदि पदार्थ और सप्तभंगी रूप न्याय इन सबसे दैदीप्यमान होनेवाली तथा श्रीजिनेंद्रदेवके मुखसे प्रगट हुई ऐसी सिद्धांतशास्त्रकी समस्त रचना अर्थात् जैन

श्रुतमर्थाभिधानं च प्रत्ययश्चेत्यदस्त्रिधा । तस्मिन्ध्येये जगत्तत्त्वं ध्येयतामिति कार्त्स्न्यतः ॥ १११ ॥ अथवा पुरुषार्थस्य परां काष्ठामधिष्ठितः । परमेष्ठी जिनो ध्येयो निष्ठितार्थो निरंजनः ॥ ११२ ॥ स हि कर्ममलापायाच्छुद्धिमात्यंतिकीं श्रितः । सिद्धो निरामयो ध्येयो ध्यातॄणां भावशुद्धये ॥ ११३ ॥ क्षायिकानंतदृग्बोधसुखवीर्यादिभिर्गुणैः । युक्तोऽसौ योगिनां गम्यः सूक्ष्मोऽपि व्यक्तलक्षणः ॥ ११४ ॥ अमूर्तो निष्कलोऽप्येष योगिनां ध्येयगोचरः । किंचिन्न्यूनांत्यदेहानुकारि जीवघनाकृतिः ॥११५॥ निःश्रेयसार्थिभिर्भव्यैः प्राप्तनिःश्रेयसः स हि । श्रेयः श्रेयस्करः सार्वः सर्वदृक् सर्वभाववित् ॥११६॥

शास्त्रोंमें कहे हुये समस्त पदार्थ ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य हैं ॥ ११० ॥ श्रुत अर्थात् सिद्धांत, अभिधान अर्थात् शब्द और प्रत्यय अर्थात् ज्ञान इसतरह तीनप्रकारका ध्येय कहलाता है, इन तीनों प्रकारके ध्येयोंका ध्यान करनेसे जगतके समस्त तत्त्व पूर्ण रीतिसे ध्येय समझे जाते हैं ॥ १११ ॥ अथवा मोक्षरूप परम पुरुषार्थकी परम काष्ठाको प्राप्त हुये, परमेष्ठी भगवान् कृत्यकृत्य और कर्म रहित ऐसे परमेष्ठी जिनेंद्रदेव ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य हैं ॥ ११२ ॥ क्योंकि वे सिद्ध भगवान् कर्मरूपी मलके दूर होनेसे अत्यंत शुद्ध होगये हैं और सर्वथा क्लेशरहित हैं इसलिये वे परिणामोंकी विशुद्धि होनेकेलिये ध्यान करनेवालोंको ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य हैं ॥ ११३ ॥ वे सिद्ध भगवान् क्षायक अनंतदर्शन क्षायिक अनंतज्ञान क्षायिक अनंतसुख और क्षायिक अनंत वीर्य आदि गुणसहित हैं, यद्यपि वे अतिशय सूक्ष्म है तथापि उनके लक्षण प्रगट हैं और वे केवल योगी लोगोंको प्राप्त हो सकते हैं ॥ ११४ ॥ यद्यपि वे भगवान् अमूर्त और अशरीरी हैं तथापि योगी लोगोंको ध्यान करने योग्य हैं और उनका आकार अंतिम शरीरके (जिस शरीरसे मोक्ष प्राप्त होती है) आकारसे कुछ कम ऐसा केवल जीवमय है ॥ ११५ ॥ उन्हीं सिद्ध भगवानसे मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसके सिवाय वे सिद्ध भगवान् कल्याणरूप हैं, कल्याण करनेवाले हैं, सबका हित करनेवाले हैं, सबको देखनेवाले और सब पदार्थोंको जाननेवाले हैं ॥११६॥

स साकारोऽप्यनाकारोनिराकारोऽपि साकृतिः । स्वसात्कृताखिलज्ञेयः सुज्ञातो ज्ञानचक्षुषां ॥ ११७ ॥ मणिदर्पणसंक्रांतच्छायात्मेव स्फुटाकृतिः । दधज्जीवघनाकारममूर्त्तोऽप्यचलस्थितिः ॥ ११८ ॥ वीतरागोऽप्यसौ ध्यातो भव्यानां भवविच्छिदे । विच्छिन्नबंधनस्यास्य तादृग्नैसर्गिको गुणः ॥ ११९ ॥ अथवा स्नातकावस्थां प्राप्तो घातिव्यपायतः । जिनोऽर्हन्केवली ध्येयो बिभ्रत्तेजोमयं वपुः ॥ १२० ॥ रागाद्यविद्याजयनाज्जिनोऽर्हन्घातिनां हतेः । स्वात्मोपलब्धितः सिद्धो बुद्धस्त्रैलोक्यबोधनात् ॥ १२१ ॥ त्रिकालगोचरानंतपर्यायोपचितार्थदृक् । विश्वज्ञो विश्वदर्शी च विश्वसाद्भूतचिद्गुणः ॥१२२॥

वे भगवान साकार होकर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं, तथा स्वयं जगतके समस्त पदार्थोंको जानते हैं परंतु आप ज्ञानरूप, नेत्रोंके द्वारा ही जाने जाते हैं ॥ ११७ ॥ जिसप्रकार रत्नमय दर्पणमें पडा हुआ प्रतिबिंब साफ दिखाई देता है उसीप्रकार सिद्धोंका आकार भी निर्मल और प्रगट है, यद्यपि वे अमूर्त हैं तथापि चिद्घन अर्थात् चैतन्य स्वरूप आकारको धारण करनेवाले और सदा स्थिर हैं ॥ ११८ ॥ यद्यपि सिद्ध भगवान वीतराग हैं जो भव्य जीव उनका ध्यान करते हैं उनका जन्म मरणरूप संसार वे अवश्य ही नष्ट कर देते हैं, सबप्रकारके कर्मरूप बंधनोंको दूर करनेवाले ऐसे इन सिद्ध भगवानका यह स्वाभाविक गुण है ॥ ११९ ॥ अथवा चार घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जिनकी स्नातक अवस्था प्राप्त हुई है तथा जो तेजोमय शरीरको धारण करनेवाले, जिनेंद्रदेव, केवली भगवान् हैं ऐसे अरहंत देव भी ध्यान करनेयोग्य हैं ॥ १२० ॥ रागादि समस्त अविद्याओंको जीत लेनेसे जो जिन कहलाते हैं, घातिया कर्मोंको नष्ट करदेनेसे अरहंत कहलाते हैं, उन्हें अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हुई है इसलिये जो सिद्ध कहलाते हैं और तीनों लोकोंको जानते हैं इसलिये जो बुद्ध कहलाते हैं ॥ १२१ ॥ भूत भविष्यत् वर्तमान् इन तीनों कालोंमें होनेवालीं पदार्थोंकी अनंत पर्यायमें जिनकी अर्थदृष्टि पडती है अर्थात् जो समस्त पदार्थोंकी समस्त पर्यायोंको जानते हैं तथा जो सबको जाननेवाले, सबको देखनेवाले हैं और जिनका ज्ञानरूप चैतन्य

केवली केवलालोकविशालामललोचनः । घातिकर्मक्षयादाविर्भूतानंतचतुष्टयः ॥ १२३ ॥ द्विषड्भेदगणाकीर्णां सभावनिमधिष्ठितः । प्रातिहार्यैरभिव्यक्तत्रिजगत्प्राभवो विभुः ॥ १२४ ॥ नियताकृतिरप्येष विश्वरूपः स्वचिद्गुणैः । संक्रांताशेषविज्ञेयप्रतिबिंबानुकारतः ॥ १२५ ॥ विश्वव्यापी सविश्वार्थव्यापिविज्ञानयोगतः । विश्वास्यो विश्वतश्चक्षुर्विश्वलोकशिखामणिः ॥ १२६ ॥ संसारसागरात् दूरमुत्तीर्णः सुखसाद्भवन् । विधूतसकलक्लेशो विच्छिन्नभवबंधनः ॥ १२७ ॥ निर्भयश्च निराकांक्षो निराबाधो निराकुलः । निर्व्यपेक्षो निरातंको नित्यो निष्कर्मकलमषः ॥ १२८ ॥ नवकेवललब्ध्यादिगुणा-

---

गुण समस्त संसारमें व्याप्त है ॥ १२२ ॥ जो केवलज्ञानको धारण करनेवाले हैं, केवल ज्ञान ही जिनके विशाल और निर्मल नेत्र हैं तथा घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जिन्हें अनंत चतुष्टय प्राप्त हुआ है ॥ १२३ ॥ तथा जो बारह प्रकारके जीवोंके समूहोंसे भरे हुये सभाभवनको अर्थात् समवसरणको सुशोभित करते हैं और अष्ट प्रातिहार्योंके होनेसे जिनकी जगतकी प्रभुता प्रगट हो रही है तथा जो विभु अर्थात् सर्वज्ञ हैं ॥ १२४ ॥ यद्यपि उनका आकार नियत है तथापि अपने चैतन्यरूप गुणोंके द्वारा प्रतिबिंबित हुये समस्त पदार्थोंके प्रतिबिंबरूप होनेसे जो विश्वरूप हैं अर्थात् संसारमें व्याप्त हैं ॥ १२५ ॥ उनका ज्ञान जगतके समस्त पदार्थोंमें व्याप्त है इसलिये जो जगतव्यापी कहलाते हैं, तथा वे समस्त जगतको जाननेवाले समस्त जगतको देखनेवाले और समस्त जगतके शिखामणि हैं ॥ १२६ ॥ संसाररूपी समुद्रसे जो बहुत शीघ्र पार होनेवाले हैं, अत्यंत सुखमय हैं, जिनके समस्त क्लेश दूर हो गये हैं और संसाररूपी बंधन जिनका नष्ट हो गया है ॥ १२७ ॥ जिन्हें कुछ भय नहीं है, आकांक्षा नहीं है, वाधा नहीं है, आकुलता नहीं है अपेक्षा नहीं है, और रोग नहीं है, जो नित्य हैं और कर्मरूपी मलसे विलकुल रहित हैं ॥ १२८ ॥ ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र इन नौ केवललब्धिरूप गुणोंसे जिनका शरीर अत्यंत उत्तम और अतिशययुक्त है तथा वज्रकी शिलामें खुदे हुये पर्वतके समान जिनका शरीर अभेद्य अर्थात् छेदन भेदन

रब्धवपुष्टरः । अभेद्यसंहतिर्वज्रशिलोत्कीर्ण इवाचलः ॥ १२९ ॥ स एवंलक्षणो ध्येयः परमात्मा परः पुमान् । परमेष्ठी परं तत्त्वं परमं ज्योतिरक्षरं ॥ १३० ॥ साधारणमिदं ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः । विशुद्धिस्वामिभेदात्तु तद्विशेषोऽवधार्यतां ॥ १३१ ॥ प्रशस्तप्रणिधानं यत् स्थिरमेकत्र वस्तुनि । तध्यानमुक्तं मुक्त्यंगं धर्म्यं शुक्लमिति द्विधा ॥ १३२ ॥ तत्रानपेतं यद्धर्माद्धर्म्यं ध्यानमितीष्यते । धर्मो हि वस्तु याथात्म्यमुत्पादादित्रयात्मकं ॥ १३३ ॥ तदाज्ञापायसंस्थानविपाकविचयात्मकं । चतुर्विकल्पमाम्नातं ध्यानमाम्नायवेदिभिः ॥ १३४ ॥ तत्राज्ञेत्यागमः सूक्ष्मविषयः प्रणिगद्यते । दृश्यानुमेयवर्ज्ये

करने अयोग्य है ॥ १२९ ॥ इसप्रकार जो ऊपर कहे हुये अनेक लक्षणोंसे सुशोभित है जो परमपुरुष, परमेष्ठी परमतत्त्व, परम ज्योतिस्वरूप और अक्षय है ऐसा परमात्मा ध्यान करने योग्य है ॥ १३० ॥ यह ऊपर कहा हुआ परमात्मा धर्म्य और शुक्ल इन दोनों ध्यानोंका साधारण ध्यान करनेयोग्य ध्येय है, इन दोनों ध्यानोंमें विशुद्धि और स्वामीके भेदसे ही परस्पर भेद समझना चाहिये, भावार्थ—धर्म्यध्यान करनेवालेसे शुक्लध्यान करनेवालेकी विशुध्दि बहुत अधिक है और शुक्लध्यान दोनों श्रेणियोंमें ही होता है धर्म्यध्यान चौथे गुणस्थानसे श्रेणी आरोहणके पहिले पाहिले ही होता है ॥ १३१ ॥ जो किसी एक ही वस्तुमें स्थिर और प्रशंसनीय परिणाम रहते हैं वही मोक्षका साक्षात् कारण ध्यान कहलाता है, उसी ध्यानके धर्म्य और शुक्ल ऐसे दो भेद हैं ॥ १३२ ॥ उन दोनोंमे जो धर्म सहित चिंतवन किया जाय उसे धर्म्यध्यान कहते हैं, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनों सहित जो वस्तुका यथार्थ स्वरूप है उसे धर्म कहते हैं ॥ १३३ ॥ शास्त्रोंके जाननेवाले गणधरादि देवोंने उस धर्म्यध्यानके आज्ञाविचय, अपायविचय, संस्थानविचय और विपाकविचय ऐसे चार भेद कहे हैं ॥१३४॥ अत्यंत सूक्ष्म पदार्थको कहनेवाला जो आगम है उसे आज्ञा कहते हैं, जो पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पडता और न अनुमानसे जाना जासकता है ऐसे केवल श्रद्धान करने योग्य पदार्थमें अर्थात् शास्त्रमें कहा है केवल इसलिये ही मानने योग्य सूक्ष्म पदार्थमें आगमका विषय समझना चाहिये भावार्थ—सूक्ष्म पदार्थ

हि श्रद्धेयांशे गतिः श्रुतेः ॥ १३५ ॥ श्रुतिः सूनृतमाज्ञाप्तवचो वेदांगमागमः । आम्नायश्चेति पर्यायैः सोऽधिगम्यो मनीषिभिः ॥ १३६ ॥ अनादिनिधनं सूक्ष्मं सद्भूतार्थप्रकाशनं । पुरुषार्थोपदेशित्वाद्भूतहितमूर्जितं ॥ १३७ ॥ अजय्यममितं तीर्थ्यैरनालीढमहोदयं । महानुभावमर्थावगाढं गंभीरशासनं ॥ १३८ ॥ परं प्रवचनं सूक्ष्ममाप्तोपज्ञमनन्यथा । मन्यमानो मुनिर्ध्यायेद्भावानाज्ञाविभाबितान् ॥ १३९ ॥ जैनीं प्रमाणयन्नाज्ञां योगी योगविदांवरः । ध्यायेद्धर्मास्तिकायादीन्भावान्सूक्ष्मान्यथागमं ॥ १४० ॥ आज्ञाविचय एष स्यादपायविचयः पुनः । तापत्रयादिजन्माब्धिगतापायविचिंतनं ॥ १४१ ॥

केवल आगमसे ही जाने जाते हैं ॥ १३५ ॥ श्रुति, सूनृत, आज्ञा, आप्तवचन, वेदांग, आगम और आम्नाय, इत्यादि पर्याय वाचक शब्दोंसे बुद्धिमान लोग उस आगमको जानते हैं, अर्थात् ये सब आगमके ही नाम हैं ॥ १३६ ॥ जिसका आदि नहीं है, अंत नहीं है, जो अत्यंत सूक्ष्म है, यथार्थ पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है, जो मोक्षरूप पुरुषार्थका उपदेशक होनेसे संसारके समस्त जीवोंका हितकारक है, अत्यंत विस्तृत है, जिसे कोई जीत नहीं सकता, जिसका पारावार नहीं, परवादी लोग जिसका माहात्म्यतक नहीं जान सकते, जिसका उदय बहुत बडा है, जो जीव अजीव आदि पदार्थोंसे भराहुआ है अर्थात् जिसमें जीव अजीव आदि समस्त तत्त्वोंका वर्णन है जिसका शासन वा मत अतिशय गंभीर है, जो परम उत्कृष्ट है, अतिशय सूक्ष्म है और आप्तका कहा हुआ है उसे आगम कहते हैं, ऐसे आगमको सत्यार्थ मानता हुआ मुनि उस आगमसे जाने हुये समस्त पदार्थोंका चिंतवन करे ॥ १३७-१३८-१३९ ॥ योगशास्त्रको जाननेवालोंमें परम श्रेष्ठ ऐसा योगी मुनि श्रीजिनेंद्रदेवकी आज्ञाको प्रमाण मानकर धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि सूक्ष्म पदार्थोंका शास्त्रमें कहेहुये स्वरूपके अनुसार चिंतवन करे ॥ १४० ॥ इसप्रकारके ध्यान करनेको आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान कहते हैं। अब अपाय विचयका स्वरूप कहते हैं, मन बचन कायसे उत्पन्न हुआ जो तीनों प्रकारका संताप है अथवा जन्म जरा मरणसे उत्पन्न हुआ वा राग द्वेष मोहसे उत्पन्न हुआ आधिदै-

तदपायप्रतीकारचिंतोपायानुचिंतनं । अत्रैवांतर्गतं ध्येयमनुप्रेक्षादिलक्षणं ॥ १४२ ॥ शुभाशुभविभक्तानां कर्मणां परिपाकतः । भवावर्त्तस्य वैचित्र्यमपि संदधतो मुनेः ॥ १४३ ॥ विपाकविचयं धर्म्यमामनंति कृतागमाः । विपाकश्च द्विधाऽऽम्नातः कर्मणामाप्तसूक्तिषु ॥ १४४ ॥ यथाकालमुपायाच्च फलप-

विक (रोग विजली आदि) आधिभौतिक (देव मनुष्य तिर्यंच आदि जीवोंसे उत्पन्न हुये दुख) और आध्यात्मिक (मनकी चिंता) ये तीनों प्रकारके संताप जिसमें भरे हुये हैं ऐसे जन्म मरणरूप संसारमें पडे हुये प्राणियोंका अपाय चिंतवन करना अपायविचय कहलाता है, भावार्थ—संसारमें पडे हुये प्राणी अनेक प्रकारके दुख भोग रहे हैं, इनका दुख कब और किसप्रकार दूर होगा इत्यादि चिंतवन करना अपाय विचय है ॥ १४१ ॥ अथवा उस अपायके दूर करनेकी चिंतासे उन अपायोंके दूर करनेके उपाय चिंतवन करना अपाय विचय है, वारह अनुप्रेक्षा और दश धर्म आदि चिंतवन करना इसी अपायविचय नामके धर्म्यध्यानमें शामिल है ॥ १४२ ॥ जो मुनि शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकारके कर्मोंके उदयसे होनेवाली संसार रूपी आवर्तकी विचित्रता चिंतवन करते हैं अर्थात् यह जीव कर्मोंके उदयसे अनेक प्रकारकी नरक तिर्यंच आदि गतियोंमें परिभ्रमण करता हुआ दुख भोगता है इत्यादि चिंतवन करते हैं उनके विपाकविचय नामका धर्म्यध्यान होता है, ऐसा आगमके जाननेवाले गणधरादि देव कहते हैं, श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंमें कर्मोंका विपाक (उदय) दो प्रकारका कहा है ॥ १४३-१४४ ॥ जिसप्रकार बनस्पतियोंके फल एक तो अपने समयपर अपने आप पकते हैं और दूसरे पालमें देकर या किसी अन्य उपायसे पकाये जाते हैं, उसीप्रकार कर्म भी अपने शुभ अशुभ फल दोनों तरहसे देते हैं, अर्थात् एक तो स्थिति पूरी होनेसे फल देते हैं और दूसरे तपश्चरण आदिके द्वारा स्थिति पूर्ण होनेसे पहिले ही उदीरणामें आनेसे अपना फल देते हैं ॥ १४५ ॥ ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृति और मतिज्ञानावरण आदि एकसौ अडतालीस उत्तर-

त्तिर्वनस्पतेः । यथा तथैव कर्मापि फलं दत्ते शुभाशुभं ॥१४५॥ मूलोत्तरप्रकृत्यादिबंधसत्त्वाद्युपाश्रयः । कर्मणामुदयश्चित्रः प्राप्य द्रव्यादिसन्निधिं ॥१४६॥ यतश्च तद्विपाकज्ञस्तदपायाय चेष्टते । ततो ध्येयमिदं ध्यानं मुक्त्युपायो मुमुक्षुभिः ॥ १४७ ॥ संस्थानविचयं प्राहुर्लोकाकारानुचिंतनं । तदंतर्भूतजीवादितत्त्वान्वीक्षणलक्षणं ॥ १४८ ॥ द्वीपाब्धिवलयानद्रीन्सरितश्च सरांसि च । विमानभवनव्यंतरावासनरकक्षितीः ॥ १४९ ॥ त्रिजगत्सन्निवेशेन सममेतान्यथागमं । भावान्मुनिरनुध्यायेत्संस्थानविचयोपगः ॥ १५० ॥ जीवभेदांश्च तत्रत्यान्ध्यायेन्मुक्तेतरात्मकान् । ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वद्रष्टृत्वादींश्च यद्गुणान् ॥ १५१ ॥ तेषां स्वकृतकर्मानुभावोत्थमतिदुस्तरं । भवाब्धिं व्यसनावर्त्तं दोषयादःकुलाकुलं ॥ १५२ ॥ संज्ञाननावा संतार्यमतार्यं ग्रंथिकात्मभिः । अ-

---

प्रकृति इन सबका बंध (बंध होना) सत्त्व (सत्तामें मौजूद रहना) आदिको आश्रय लेकर तथा द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदिका निमित्त पाकर कर्मोंका उदय अनेकप्रकारका हुआ करता है ॥१४६॥ चूंकि कर्मोंके विपाकको जाननेवाला मुनि कर्मोंको नष्ट करनेकेलिये उपाय करता है इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको मोक्षका उपाय भूत यह विपाकविचय नामका धर्म्यध्यान अवश्य ही चिंतवन करने योग्य है ॥१४७॥ इसीप्रकार लोकके आकारका बार बार चिंतवन करना संस्थानविचय कहलाता है, इस लोकमें भरेहुये जीव अजीव आदि तत्त्वोंका चिंतवन करना भी इसी संस्थानविचय धर्मध्यानमें शामिल है ॥१४८॥ संस्थानविचय धर्मध्यानको धारण करनेवाला मुनि तीनों लोकोंकी रचनाके साथ साथ द्वीप समुद्र पर्वत नदी सरोवर विमान भवन व्यंतरके रहनेके स्थान और नरकोंकी भूमियां आदि पदार्थोंको भी शास्त्रानुसार चिंतवन करे ॥ १४९-१५० ॥ इसके सिवाय संसारी और मुक्त ऐसे जो लोकमें भरे हुये जीवोंके दो भेद हैं और ज्ञान, कर्तापना, भोक्तापना और देखना आदि जो जीवोंके गुण हैं उनका भी ध्यान करे ॥ १५१ ॥ अध्यात्मको जाननेवाला मुनि उन जीवोंके स्वयं किये हुये कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुआ, अत्यंत दुस्तर (कठिनतासे तरने योग्य,) व्यसनरूपी भंवरोंसे भरा हुआ, दोषरूपी मगर मच्छोंसे भरा हुआ, सम्यग्ज्ञानरूपी नावसे तिरने योग्य, अत्यंत

पारमतिगंभी रंध्यायेदध्यात्मविद्यतिः ॥ १५३ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन सर्वोऽध्यागमाविस्तरः । नयभंगशताकीर्णो ध्येयोऽध्यात्मविशुद्धये ॥ १५४ ॥ तदप्रमत्ततालंबं स्थितिमांतर्मुहूर्त्तिकीं । दधानमप्रमत्तेषु परां कोटिमधिष्ठितं ॥ १५५ ॥ सद्दृष्टिपु यथाम्नायं शेषेष्वपि कृतास्थितिः । प्रकृष्टशुद्धिमल्लेश्यात्रयोपोद्बलबृंहितं ॥ १५६ ॥ क्षायोपशमिकं भावं स्वसात्कृत्य विजृंभितं । महोदर्कं महाप्राज्ञैर्महर्षिभिरुपासितं ॥ १५७ ॥ वस्तुधर्मानुयायित्वात्प्राप्तान्वर्थनिरुक्तिकं । धर्मध्यानमनुध्येयं यथोक्तध्येयविस्तरं ॥ १५८ ॥ प्रसन्नचित्तता धर्मसंवेगः शुभयोगता । सुश्रुतत्वं समाधानमाज्ञाधिगमजा रुचिः ॥ १५९ ॥ भवंत्येतानि

गंभीर, जिसका पार नहीं और स्वेतांवर आदि परिग्रह रखनेवाले मुनिलोग जिसे कभी नहीं तिर सकते ऐसे संसाररूपी समुद्रका भी चिंतवन करे ॥ १५२-१५३ ॥ अथवा अधिक कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमें इतना समझलेना चाहिये कि शास्त्रोंमें जो कुछ पदार्थोंका विस्तार कहा है जो कि नयोंके सैकडों भंगोंसे भरा हुआ है वह सब अध्यात्मकी विशुद्धि होनेकेलिये चिंतवन करना चाहिये ॥ १५४ ॥ यह धर्म्यध्यान अप्रमत्त अवस्थाका आलंबनकर अंतर्मुहूर्ततक ठहरता है और अप्रमत्त गुणस्थानमें ही वह सबसे उत्कृष्ट माना जाता है ॥ १५५ ॥ यह चारोंप्रकारका धर्म्यध्यान शास्त्रानुसार असंयतसम्यग्दृष्टि नामके चौथे गुणस्थानमें भी रहता है और शेषके पांचवें छट्ठे गुणस्थानमें भी रहता है, परंतु वह न्यूनाधिक रीतिसे रहता है अर्थात् चौथेसे पांचवें में अधिक, पांचवेंसे छट्ठेमें अधिक और छट्ठेसे सातवेंमें अधिक रहता है, तथा पीत पद्म और शुक्क इन अत्यंत शुद्ध ऐसी तीनों लेश्याओंके बलसे बढता है, अर्थात् धर्म्यध्यानमें अशुभ लेश्यायें नहीं होती हैं, ऊपरकी तीन शुभलेश्यायें ही होती हैं ॥१५६॥ यह चारोंप्रकारका धर्म्यध्यान क्षायोपशमिक भावोंको आश्रय लेकर बढता है, अर्थात् इसमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं, इसका फल भी बहुत बडा (अति उत्तम) है और बडे बडे बुद्धिमान महर्षिलोग भी इसे धारण करते हैं ॥ १५७ ॥ इस धर्म्यध्यानमें यथार्थ पदार्थोंके धर्मका चिंतवन किया जाता है इसलिये इसका धर्म्यध्यान यह सार्थक नाम है, तथा ऊपर कहे हुये अरंहत सिद्ध आदिका विस्तृत स्वरूप इसमें

लिंगानि धर्मस्यांतर्गतानि वै । सानुप्रेक्षाश्च पूर्वोक्ता विविधा शुभभावनाः ॥ १६० ॥ वाह्यं च लिंगमंगानां सन्निवेशः पुरोदितः । प्रसन्नवक्रता सौम्या दृष्टिश्चेत्यादि लक्ष्यतां ॥ १६१ ॥ फलं ध्यानवरस्यास्य विपुला निर्जरैनसां । शुभकर्मोदयोद्भूतं सुखं च विबुधेशिनां ॥ १६२ ॥ स्वर्गापवर्गसंप्राप्तिं फलमस्य प्रचक्षते । साक्षात्स्वर्गपरिप्राप्तिः पारंपर्यात्परं पदं ॥ १६३ ॥ ध्यानेऽप्युपरते धीमानभीक्ष्णं भावयेन्मुनिः । सानुप्रेक्षाः शुभोदर्का भवाभावाय भावनाः ॥ १६४ ॥ इत्युक्तलक्षणं धर्म्यं मगधाधीश निश्चिनु । शुक्लध्यानमितो वक्ष्ये साक्षान्मुक्त्यंगमंगिनां ॥१६५॥ कषायमलविश्लेषाच्छुक्लशब्दाभिधेयतां ।

चिंतवन किया जाता है, इसलिये इस धर्म्यध्यानका बार २ चिंतवन करना चाहिये ॥ १५८ ॥ प्रसन्न चित्त रहना, धर्ममें प्रेम रखना, मनबचन कायके योग शुभ रखना, शास्त्रोंका अधिक अभ्यास करना, व्याकुल नहीं होना और आज्ञा अर्थात् अरहंतदेव वीतराग और सर्वज्ञ होनेसे कभी अन्यथा नहीं कह सकते ऐसी श्रद्धा तथा अधिगम अर्थात् शास्त्र इन दोनोंसे एक प्रकारकी रुचि उत्पन्न होना ये सब धर्म्यध्यानके बाह्य चिन्ह हैं, तथा इसीप्रकार पहिले कही हुई बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करना और अनेक प्रकारके शुभ परिणाम होना इसके अंतरंग चिन्ह हैं ॥ १५९-१६० ॥ पहिले कहा हुआ अंगोंका सन्निवेश होना अर्थात् पर्यंकासन वा खड्गासनसे स्थिर होना, मुखकी प्रसन्नता होना और सौम्य दृष्टि होना आदि इस धर्म्यध्यानके बाह्य चिन्ह समझना चाहिये ॥ १६१ ॥ अशुभकर्मोंकी बहुतसी निर्जरा होना तथा शुभकर्मोंके उदय होनेसे उत्पन्न हुआ इंद्र अहमिंद्र आदि उत्तम देवोंका सुख प्राप्त होना इस उत्तम धर्म्यध्यानका फल है ॥ १६२ ॥ अथवा स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होना इस धर्म्यध्यानका फल है, स्वर्गकी प्राप्ति होना तो इसका साक्षात् फल है और परंपद अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होना इसका परंपरा फल है ॥ १६३ ॥ जिस समय धर्म्यध्यान छूटजाय उस समय बुद्धिमान मुनिको जन्ममरणरूप संसारको नाश करनेकेलिये बारह अनुप्रेक्षायें सहित शुभ फल देनेवालीं भावनायें चिंतवन करनी चाहिये ॥ १६४ ॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे मग-

उपेयिविदिदं ध्यानं सांतर्भेदं निबोध मे ॥ १६६ ॥ शुक्लं परमशुक्लं चेत्याम्नाये तद्द्विधोदितं । छद्मस्थस्वामिकं पूर्वं परं केवलिनां मतं ॥ १६७ ॥ द्वेधाऽऽद्यं स्यात्पृथक्त्वादिवीचारांतं वितर्कणं । तथैकत्वाद्यवीचारपदांतं च वितर्कणं ॥ १६८ ॥ इत्याद्यस्य भिदे स्यातामन्वर्थौ श्रुतिमाश्रिते । तदर्थव्यक्तये चैतत्तन्नामद्वयनिर्वचः ॥ १६९ ॥ पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र तद्विदुः । सवितर्कं सवीचारं पृथक्त्वादिपदाह्वयं ॥ १७० ॥ एकत्वेन वितर्कस्य स्याद्यत्राविचारिष्णुता । सवितर्कमवीचारमेकत्वादिपदाभिधं ॥ १७१ ॥ पृथक्त्वं विद्धि नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते । अर्थव्यंजनयोगानां वीचारः संक्रमो

धाधीश ! इसप्रकार ऊपर कहे अनुसार धर्म्यध्यानका लक्षण तू समझ । अब तुझे मैं जीवोंको साक्षात् मोक्षका कारण ऐसे शुक्लध्यानका स्वरूप कहता हूं ॥ १६५ ॥ कषायरूपी मलके नष्ट होनेसे जो शुक्ल ऐसे नामको धारण करता है ऐसा यह शुक्लध्यान तुझे भेद प्रभेद सहित कहता हूं, तू मुझसे अच्छी तरह समझ ले ॥ १६६ ॥ शास्त्रोंमें इस शुक्लध्यानके दो भेद कहे हैं एक शुक्लध्यान और दूसरा परम शुक्लध्यान, इनमेंसे पहिला शुक्लध्यान छद्मस्थ अवस्थाको धारण करनेवाले अर्थात् बारहवें गुणस्थानतक रहनेवाले अल्पज्ञानी मुनियोंके होता है और दूसरा परमशुक्लध्यान केवलज्ञानियोंके होता है ॥ १६७ ॥ इनमेंसे पहिले शुक्लध्यानके दो भेद हैं एक पृथक्त्ववितर्कवीचार और दूसरा एकत्ववितर्कवीचार ॥ १६८ ॥ इसप्रकार प्रथम शुक्लध्यानके जो दो भेद किये हैं वे सार्थक हैं, इन दोनोंका अर्थ अच्छी तरह समझनेकेलिये इन दोनों नामोंका निर्वचन कहते हैं अर्थात् नामोंके अनुसार इन दोनोंका अर्थ कहते हैं ॥ १६९ ॥ जिस ध्यानमें वितर्क अर्थात् शास्त्रका अथवा सूत्रोंका पृथक् २ वीचार अर्थात् परिवर्तन वा संक्रमण होता है उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार कहते हैं, भावार्थ–जिसमें अर्थ व्यंजन और योगोंका पृथक् पृथक् संक्रमण होता रहे उसे पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान कहते हैं ॥ १७० ॥ जिस ध्यानमें वितर्कका एकत्वरूपसे वीचार नहीं होता अर्थात् जिसमें अर्थव्यंजन योगकी संक्रांति नहीं हो और श्रुतज्ञान करके सहित हो उसे एकत्ववितर्कवीचार कहते हैं ॥ १७१ ॥ अब

मतः ॥ १७२ ॥ अर्थादर्थांतरं गच्छन्व्यंजनाद्व्यंजनांतरं । योगाद्योगांतरं गच्छन्ध्यायतीदं वशी मुनिः ॥ १७३ ॥ त्रियोगः पूर्वविद्यस्माद्ध्यायत्येनं मुनीश्वरः । सवितर्कं सवीचारमतः स्याच्छुक्लमादिमं ॥ १७४ ॥ ध्येयमस्य श्रुतस्कंधवार्धेर्वागर्थविस्तरः । फलं स्यान्मोहनीयस्य प्रक्षयः प्रशमोऽपि वा

इन शब्दोंका अलग २ अर्थ कहते हैं, अनेक प्रकारताको पृथक्त्व कहते हैं, शास्त्रज्ञानको वितर्क कहते हैं और अर्थ अर्थात् जीव अजीव आदि पदार्थोंके वाच्य पदार्थ, व्यंजन अर्थात् शब्द तथा मन बचन काय ये तीनों योग इन सबका संक्रमण होना अर्थात् एक शब्दसे दूसरा शब्द बदलना, शब्द छोडकर किसी पदार्थका ध्यान करना, एक पदार्थको छोडकर किसी दूसरे पदार्थका ध्यान करना, मनोयोग छोडकर बचनयोग वा काययोगसे ध्यान करना, अथवा काययोग छोडकर बचन वा मनोयोगसे ध्यान करना वीचार कहलाता है ॥ १७२ ॥ इंद्रियोंको वश करनेवाला मुनि एक पदार्थको छोडकर दूसरे पदार्थका ध्यान करता है फिर तीसरे चौथे आदिका करता है, एक शब्दको छोडकर दूसरे शब्दका आश्रय लेता है, दूसरेको छोडकर तीसरे चौथे आदि शब्दोंका आश्रय लेता है, इसीप्रकार एक योगको छोडकर दूसरेसे ध्यान करता है, दूसरेको छोडकर तीसरे वा पहिलेसे ध्यान करता है, इसप्रकार वह इस प्रथम शुक्लध्यानको चिंतवन करता है ॥ १७३ ॥ जो मुनिराज मन बचन काय इन तीनों योगोंको धारण करनेवाला है, ग्यारह अंग चौदह पूर्वोंका जाननेवाला है वही इस प्रथम शुक्लध्यानको धारण करसकता है, इसलिये ही इस प्रथम शुक्लध्यानको सवितर्क अर्थात् पूर्ण श्रुतज्ञानसहित और सवीचार अर्थात् अर्थ व्यंजन योग संक्रांतिसहित कहते हैं ॥ १७४ ॥ श्रुतस्कंधरूपी समुद्रके शब्द और अर्थोंका जो विस्तार है वह सब इस प्रथम शुक्लध्यानका ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य विषय कहलाता है, तथा मोहनीय कर्मका क्षय होना अथवा उपशम होना इसका फल माना जाता है ॥ १७५ ॥ यहां ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये कि ध्यान करनेवाला मुनि श्रुतस्कं-

॥ १७५ ॥ इदमत्र तु तात्पर्यं श्रुतस्कंधमहार्णवात् । अर्थमेकं समादाय ध्यायन्नर्थांतरं व्रजेत् ॥ १७६ ॥ शब्दाच्छब्दांतरं यायाद्योगं योगांतरादपि । सवीचारमिदं तस्मात्सवितर्कं च लक्ष्यते ॥ १७७ ॥ वागर्थरत्नसंपूर्णं नयभंगतरंगकं । प्रसृतध्यानगंभीरं पदवाक्यमहाजलं ॥ १७८ ॥ उत्पादादित्रयोद्वेलं सप्तभंगीबृहद्ध्वनिं । पूर्वपक्षवशायातमतयाद:कुलाकुलं ॥ १७९ ॥ कृतावतारमुद्बोधयानपात्रैर्महर्द्धिभिः । गणाधीशमहासार्थवाहैश्चारित्रकेतनैः ॥१ ८० ॥

धरूपी महासागरमेंसे किसी एक पदार्थको अथवा उसकी पर्यायको मुख्यकर उसका ध्यान करता है, फिर उसे छोडकर दूसरा पदार्थ अथवा उसकी किसी एक पर्यायको ग्रहणकर उसका ध्यान करता है, इसीप्रकार एक शब्दको छोडकर दूसरे शब्दका ध्यान करता है, दूसरेको छोडकर तीसरे चौथे आदि शब्दोंका ध्यान करता है, तथा एक योगको छोडकर दूसरेसे ध्यान करता है, दूसरेको छोडकर तीसरेसे और तीसरेको छोडकर पहिले वा दूसरेसे ध्यान करता है, इसलिये ही इस ध्यानको सवीचार कहते हैं, और यह ध्यान श्रुतज्ञानियोंके ही होता है इसलिये इसे सवितर्क कहते हैं, इसप्रकार इसे सवितर्क और सवीचार कहते हैं ॥ १७६-१७७ ॥ यह श्रुत स्कंधरूपी एक महासागर है इसमें सब ओर शब्द और अर्थरूपी रत्न भरे हुये हैं, नैगम संग्रह आदि नयोंके अनेक भेद ही इसकी अनेक तरंगें हैं, मुनियोंके मुखसे निकले हुये शब्दोंसे जो अत्यंत गंभीर है, पद और वाक्यरूपी अगाध जल जिसमें भराहुआ है, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ही जिसमें ज्वारभाटा (घटना बढना) हैं, स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति आदि सप्तभंगी ही जिसके गंभीर शब्द हैं, पूर्वपक्ष करनेकेलिये बौद्ध नैयायिक आदि परमतके पदार्थोंका जो वर्णन किया है वही इसमें मगर मच्छ आदि जलचर जीव हैं उनसे भी यह श्रुतस्कंधरूप महासागर भरा हुआ है, गणधरादि देव ही जिनके चलानेवाले खेवटिया हैं और सम्यक्चारित्र ही, जिनकी ध्वजा हैं ऐसे सम्यग्ज्ञानरूपी जहाजोंके द्वारा बडी २ ऋद्धियोंको धारण करनेवाले मुनिराज ही जिसके पार जा सकते हैं, नैगम संग्रह आदि अथवा द्रव्यार्थिक पर्या-

नयोपनयसंपातमहावातविघूर्णितं । रत्नत्रयमयैर्द्वीपैरवगाढमनेकधा ॥ १८१ ॥ श्रुतस्कंधमहासिंधुमवगाह्य महामुनिः । ध्यायेत्पृथक्त्वसत्तर्कवीचारं ध्यानमग्रिमं ॥ १८२ ॥ प्रशांतक्षीणमोहेषु श्रेण्योः शेषगुणेषु च । यथाम्नायमिदं ध्यानमामनंति मनीषिणः ॥ १८३ ॥ द्वितीयमाद्यवज्ज्ञेयं विशेषस्त्वेकयोगिनः । प्रक्षीणमोहनीयस्य पूर्वज्ञस्यामितद्युतेः ॥ १८४ ॥ सवितर्कमवीचारमेकत्वध्यानमूर्जितं । ध्यायत्यस्तकषायोऽसौ घातिकर्माणि शातयन् ॥ १८५ ॥ फलमस्य भवेद्घातित्रितयप्रक्षयोद्भवं । कैवल्यं प्रमिताशेषपदार्थं ज्योतिरक्षरं ॥ १८६ ॥ ततः पूर्वविदामाद्ये शुक्ले श्रेण्योर्यथायथं । विज्ञेये त्र्येकयोगानां यथो-

---

यार्थिक आदि नय तथा सद्भूत असद्भूत आदि उपनय इनके कथन करनेरूप महावायुके द्वारा ही इसमें अनेक प्रकारकी कलोलें उठ रही हैं और रत्नत्रयरूपी अनेक प्रकारके द्वीप इसमें भरेहुये हैं, ऐसे इस श्रुतस्कंधरूपी महासागरमें अवगाहनकर (स्नानकर) महामुनिराज पृथक्त्ववितर्कवीचार नामके प्रथम शुक्लध्यानका ध्यान करे ॥१७८-१८२॥ यह प्रथम शुक्लध्यान उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियोंमें होता है, उपशम श्रेणीमें आठ नौ दश ग्यारह गुणस्थानतक रहता है और क्षपकश्रेणीमें आठ नौ दश गुणस्थानतक रहता है, परंतु वह इन गुणस्थानोंमें शास्त्रानुसार हीनाधिक भावसे रहता है ॥१८३॥ इसप्रकार पहिले शुक्लध्यानका स्वरूप कहा। अब दूसरा शुक्लध्यान कहते हैं। दूसरा एकत्ववितर्क शुक्लध्यान पहिलेके समान ही है, विशेष इतना है कि जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है, जो ग्यारह अंग चौदह पूर्वका जाननेवाला है, जिसकी अपरिमित कांति है और जो तीनों योगोंमेंसे किसी एक योगका आलंवन करता है उसके ही यह दूसरा शुक्लध्यान होता है ॥ १८४ ॥ जिस मुनिके कषाय सब नष्ट हो गये हैं और जो घातिया कर्मोंको नष्ट कर रहा है ऐसा मुनि वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान सहित और वीचार (अर्थ व्यंजन और योगका संक्रमण) रहित तथा अति उत्तम ऐसे इस एकत्ववितर्क नामके दूसरे शुक्लध्यानका चिंतवन करता है ॥ १८५ ॥ ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय इन तीनों घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे समस्त पदार्थोंको प्रगट करनेवाला अविनाशीक

क्तफलयोगिनी ॥ १८७ स्नातकः कर्मवैकल्यात्कैवल्यं परमापिवान् । स्वामी परमशुक्लस्य द्विधा भेदमुपेयुषः ॥ १८८ ॥ स हि योगनिरोधार्थमुद्यतः केवली जिनः । समुद्घातविधिं पूर्वमाविःकुर्यान्निसर्गतः ॥ १८९ ॥ दंडमुच्चैःकवाटं च प्रतरं लोकपूरणं । चतुर्भिः समयैः कुर्वँल्लोकमापूर्य तिष्ठति ॥ १९० ॥ तदा सर्वगतः सार्वः सर्ववित्पूरको भवेत् । तदंते रेचकावस्थामधितिष्ठन्महीयते ॥ १९१ ॥ जगदापूर्य विश्वज्ञः समयात्प्रतरं श्रितः । ततः

ज्येतिःस्वरूप केवलज्ञान उत्पन्न होना ही इस दूसरे एकत्ववितर्क शुक्लध्यानका फल है ॥ १८६ ॥ इसलिये ये दोनों ही शुक्लध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ग्यारह अंग चौदह पूर्वके जाननेवाले मुनियोंके ही होते हैं, पृथक्त्ववितर्क उपशम और क्षपक दोनों ही श्रेणियोंमें होता है और एकत्ववितर्क क्षपक श्रेणीमें ही होता है, अर्थात् पहिला आठसे ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है और दूसरा बारहवें गुणस्थानमें ही होता है, पृथक्त्ववितर्क तीनों योगोंसे होता है और एकत्ववितर्क किसी एक योगसे होता है, पृथक्त्ववितर्कका फल मोहनीय कर्मका नाश होना है और एकत्ववितर्कका फल घातिया कर्मोंका नाश होना है, इसप्रकार पहिलेके दोनों शुक्लध्यानोंका स्वरूप जानना चाहिये । अब परम शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं ॥१८७॥ जो घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे उत्कृष्ट केवलज्ञानको प्राप्त हुआ है ऐसा स्नातक मुनि ही दोनोंप्रकारके परमशुक्लध्यानोंका स्वामी होता है, भावार्थ—अंतके दोनों शुक्लध्यान केवली भगवानके ही होते हैं ॥ १८८ ॥ वे जिनेंद्रदेव केवली भगवान जब योग निरोध करनेकेलिये उद्यत होते हैं तब योग निरोध करनेसे पहिले उनके सहज ही केवलिसमुद्घात प्रगट होता है ॥ १८९ ॥ पहिले समयमें उनके आत्माके प्रदेश चौदह राजू ऊंचे दंडाकार होते हैं, दूसरे समयमें कवाटरूप चौडे होते हैं, तीसरे समयमें मेघपटलके समान मोटे प्रतररूप होते हैं और चौथे समयमें समस्त लोकाकाशमें भर जाते हैं, इसप्रकार चौथे समयमें वह लोकमें व्याप्त होकर रहता है ॥१९०॥ उससमय समस्त लोकमें व्याप्त हुआ, सबका हित करनेवाला और सबको जान-

कपाटं दंडं च क्रमेणैवोपसंहरन् ॥ १९२ ॥ तत्राघातिस्थितेर्भागानसंख्येयान्निहंत्यसौ । अनुभागस्य चानंतान्भागानशुभकर्मणां ॥ १९३ ॥ पुनरंतर्मुहूर्त्तेन निरुंधन्योगमास्रवं । कृत्वा वाङ्मनसी सूक्ष्मे काययोगव्यपाश्रयात् ॥ १९४ ॥ सूक्ष्मीकृत्य पुनःकाययोगं च तदुपाश्रयं । ध्यायेत्सूक्ष्मक्रियाध्यानं प्रतिपातपराङ्मुखं ॥ १९५ ॥ ततो निरुद्धयोगः सन्योगी स विगतास्रवः । समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमनिवर्ति तदा भजेत् ॥ १९६ ॥ अंतर्मुहूर्तमातन्वंस्त-

---

नेवाला वह केवली पूरक अर्थात् लोकपूरण वा व्याप्त कहलाता है, अनंतर अर्थात् लोकपूर्ण होनेके बाद वह रेचक अवस्थाको धारण करता है अर्थात् अपने आत्माके प्रदेशोंको संकुचित करता है, इसप्रकार वह केवली उससमय परम पूज्य गिना जाता है ॥ १९१ ॥ वह सर्वज्ञ भगवान लोक पूर्ण होनेके एक समय बाद ही अर्थात् पांचवें समयमें ही प्रतर अवस्थाको प्राप्त होता है छठे समयमें कवाटरूप होता है, सातवें समयमें दंडरूप होता है और आठवें समयमें शरीरप्रमाण होता है, इसप्रकार वह अनुक्रमसे उपसंहार (संकोच) करता है ॥ १९२ ॥ उससमय अर्थात् समुद्घात अवस्थामें वह केवली भगवान अघातिया कर्मोंकी स्थितिके असंख्यात भागोंको नष्ट करता है और अशुभ कर्मोंके अनुभाग अर्थात् रसविशेषके अनंत भागोंको नष्ट करता है ॥ १९३ ॥ तदनंतर अंतर्मुहूर्तमें योगरूप आस्रवका निरोधकर काययोगके आश्रयसे वाग्योग और मनोयोगको सूक्ष्मकर तथा फिर सूक्ष्म वाग्योग और मनोयोगके आश्रयसे काययोगको सूक्ष्मकर जिसका नाश नहीं होता ऐसा जो सूक्ष्मक्रिया ध्यान है अर्थात् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान है उसका ध्यान करता है ॥ १९४-१९५ ॥ तदनंतर चौदहवें गुणस्थानमें योगोंको निरोधकर जिसके किसीप्रकारका आस्रव नहीं होता ऐसे योगिराजके नाश रहित ऐसा समुच्छिन्नक्रिया अर्थात् समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति चौथा शुक्लध्यान होताहै ॥ १९६ ॥ इस प्रकार अत्यंत निर्मल जो चौथा शुक्लध्यान है उसे वह योगिराज अंतर्मुहूर्त तक ध्यान करता है और फिर उस अंतमुहूर्तके वाद ही समस्त कर्मोंको नष्टकर वह जिनेंद्रदेव

ध्यानमतिनिर्मलं । विधूताशेषकर्मांशो जिनो निर्वात्यनंतरं ॥ १९७ ॥ त्रयोदशस्य प्रक्षीणाः कर्मांशाश्चरमे क्षणे । द्वासप्ततिरुपांत्ये स्युरयोगपरमेष्ठिनः ॥ १९८ ॥ निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निर्व्याबाधो निरामयः । सूक्ष्मोऽव्यक्तस्तथा व्यक्तो मुक्तो लोकांतमावसन् ॥ १९९ ॥ ऊर्ध्वव्रज्यास्वभावत्वात्समयेनैकेन नीरजाः । लोकांतं प्राप्य शुद्धात्मा सिद्धश्चूडामणीयते ॥ २०० ॥ तत्र कर्ममलापायाच्छुद्धिरात्यंतिकी मता । शरीरापायतोऽनंतं भवेत्सुखमतींद्रियं ॥ २०१ ॥ निष्कर्मा विधुताशेषसांसारिकसुखासुखः । चरमांगात्किमप्यूनपरिमाणस्तदाकृतिः ॥ २०२ ॥ अमूर्तोऽप्ययमंत्यांगसमाकारोपलक्षणात् । मूषागर्भनिरुद्धस्य स्थितिं व्योम्नः परामृशन् ॥ २०३ ॥ शारीरमानसाशेषदुःखबंधनवर्जितः । निर्द्वंद्वो निष्क्रियः शुद्धो गुणैरष्टाभिरन्वितः ॥ २०४ ॥

मुक्त हो जाता है ॥१९७॥ चौदहवें गुणस्थानमें रहने वाले इन अयोगि परमेष्ठीके चौदहवें गुणस्थानके उपांत्य समयमें वहत्तरि प्रकृतियां नष्ट होती हैं और अंतके समयमें तेरह प्रकृतियां नष्ट होती हैं ॥१९८॥ चौदह गुणस्थानके अंतमें वह जिनराज लेपरहित (कर्मरहित) शरीररहित, शुद्ध अव्याबाध (वाधा वा पीडारहित) रोगरहित, सूक्ष्म, अव्यक्त, व्यक्त और मुक्त होता हुआ लोकके अंतमें निवास करता है ॥ १९९ ॥ तदनंतर ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे एक ही समयमें कर्म रहित होकर लोकके अंतभागमें पहुंचता है और वहां शुद्धात्मा सिद्ध होकर लोकाशिखरपर चूडामणिके समान सुशोभित होता है ॥ २०० ॥ वहां सिद्ध अवस्थामें कर्मरूपी मलके नष्ट होनेसे आत्मा अत्यंत शुद्ध हो जाता है और शरीरके नष्ट होनेसे उसे अतींद्रिय अनंतसुखकी प्राप्ति होती है ॥ २०१ ॥ वहांपर कर्म सब नष्ट होजाते हैं, संसार संबंधी सुख दुख सब नष्ट होजाते हैं और अंतके शरीरसे (जिस शरीरसे मुक्त होता है) कुछ कम परिमाणको धारण करनेवाला उसका आकार रहता है ॥ २०२ ॥ जिसप्रकार मूसा अर्थात् सांचेके भीतर अमूर्त आकाशका भी आकार होता है उसप्रकार यद्यपि वे सिद्ध भगवान अमूर्त हैं तथापि उपलक्षणसे उनका आकार चरमशरीरके समान ही कहा जाता है ॥ २०३ ॥ वे सिद्ध-भगवान शरीर और मनसंबंधी समस्त दुःखोंसे रहित हैं, विकल्परहित, क्रियारहित और शुद्ध हैं और

अभेद्यसंहतिर्लोकशिखरैकशिखामणिः । ज्योतिर्मयः परिप्राप्तस्वात्मा सिद्धः सुखायते ॥ २०५ ॥ कृतार्था निष्ठिताः सिद्धाः कृतकृत्या निरामयाः । सूक्ष्मा निरंजनाश्चेति पर्यायाः सिद्धिमीयुषां ॥ २०६ ॥ तेषामतींद्रियं सौख्यं दुःखप्रक्षयलक्षणं । तदेव हि परं प्राहुः सुखमानंत्यवेदिनः ॥ २०७ ॥ क्षुदादिवेदनाभावान्नैषां विषयकामिता । किमु सेवेत भैषज्यं स्वस्थावस्थः सुधीः पुमान् ॥ २०८ ॥ न तत्सुखं परद्रव्यसंबंधादुपजायते । नित्यमव्ययमक्षय्यमात्मोत्थं हि परं शिवं ॥ २०९ ॥ स्वास्थ्यं चेत्सुखमेतेषामदोऽस्त्यानंत्यमाश्रितं । ततोऽन्यच्चेत्सुखं नाम न किंचिद्भुवनोदरे ॥ २१० ॥ सकलक्लेशनिर्मुक्तो

सम्यक्त्वादि आठ गुण सहित हैं ॥२०४॥ उनका आकार अभेद्य है उसे कोई छेदन भेदन नहीं करसकता, वे लोकशिखरके मुख्य शिखामणि हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, उन्हें ही अपने शुद्ध स्वात्माकी प्राप्ति हुई है और इसलिये ही वे सिद्ध हैं तथा अनंत सुखका अनुभव करते हैं ॥२०५॥ कृतार्थ निष्ठित (परिपूर्ण) सिद्ध, कृत्यकृत्य, निरामय, सूक्ष्म और निरंजन ये सब सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होनेवाले जीवोंके पर्यायवाचक शब्द हैं ॥२०६॥ उन सिद्धोंके समस्त दुःखोंके नष्ट होनेसे उत्पन्न हुआ अतींद्रिय सुख है और केवली भगवान उसी अतींद्रिय सुखको सबसे उत्कृष्ट सुख बतलाते हैं ॥२०७॥ क्षुधा आदि वेदनाओंके नष्ट होनेसे उनके किसी विषयकी इच्छा नहीं है, सो ठीक ही है क्योंकि जिसके शरीरका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है ऐसा कौन बुद्धिमान् औषधियोंका सेवन करता है, अर्थात् कोई नहीं ॥२०८॥ जो सुख परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न होता है वह वास्तविक सुख नहीं कहलाता, जो सुख केवल शुद्ध स्वात्मासे उत्पन्न होता है वही नित्य और अविनश्वर है, कभी कम भी नहीं होता तथा परमकल्याणस्वरूप हैं, इसलिये वही वास्तविक सुख कहलाता है ॥२०९॥ यदि स्वास्थ्य अवस्थासे उत्पन्न हुआ ही सुख है तो वह यही सिद्धोंका अनंत सुख है इसके सिवाय तीनों लोकोंमें भी अन्य कोई सुख नहीं है ॥ २१० ॥ वे सिद्ध भगवान समस्त क्लेशोंसे रहित हैं, मोहरहित हैं, उपद्रवरहित हैं और सूक्ष्म हैं इसलिये उन्हें कौन वाधा देसकता है अर्थात् कोई नहीं, इसलिये उनका सुख भी निरतिशय अनंत सुख कहलाता है

निर्मोहो निरुपद्रवः । केनासौ बाध्यते सूक्ष्मस्तदस्यात्यंतिकं सुखं ॥ २११ ॥ इदं ध्यानफलं प्राहुरानंत्यमृषिपुंगवाः । तदर्थं हि तपस्यंति मुनयो वांतवल्कलाः ॥ २१२ ॥ यद्वद्वातहताः सद्यो विलीयंते घनाघनाः । तद्वत्कर्मघना यांति लयं ध्यानानिलाहताः ॥ २१३ ॥ सर्वांगीणं विषं यद्वन्मंत्रशक्त्याऽपकृष्यते । तद्वत्कर्मविषं कृत्स्नं ध्यानशक्त्याऽपसार्यते ॥ २१४ ॥ ध्यानस्यैव तपोयोगाः शेषाः परिकरा मताः । ध्यानाभ्यासे ततो यत्नः शश्वत्कार्यो मुमुक्षुभिः ॥ ११५ ॥ इति ध्यानविधिं श्रुत्वा तुतोष मगधाधिपः । तदा विबुद्धमस्यासीत्तमोऽपायान्मनोऽबुजं ॥ २१६ ॥ ततस्तमृषयो भक्त्या गौतमं कृतवंदनाः । पप्रच्छुरिति योगींद्रं योगद्वैधानि कानिचित् ॥ २१७ ॥ भगवन्योगशास्त्रस्य तत्त्वं त्वत्तः श्रुतं मुहुः । इदानीं बोध्दुमिच्छामस्तदिगंतरशोधनं

॥ २११ ॥ गणधरादि उत्तम ऋषिलोग इसी अनंत सुखको ध्यानका फल कहते हैं और इसी अनंत सुखकेलिये दिगंबर अवस्थाको धारण करनेवाले मुनिलोग तपश्चरण करते हैं ॥ २१२ ॥ जिसप्रकार हवाके झकोरेसे बडे बडे बादल भी बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं उसीप्रकार ध्यानरूपी वायुके झकोरेसे कर्मरूपी बादल भी बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ २१३ ॥ जिसप्रकार मंत्रकी शक्तिसे समस्त शरीरमें फैलाहुआ विष भी खींच लिया जाता है उसीप्रकार ध्यानकी शक्तिसे भी समस्त कर्मरूपी विष दूर कर दिया जाता है ॥ २१४ ॥ शेष ग्यारह प्रकारके तपश्चरण इस ध्यानके ही सहायक हैं, इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले जीवोंको ध्यानका अभ्यास करनेकेलिये ही निरंतर प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥ २१५ ॥ इसप्रकार ध्यानका स्वरूप सुनकर राजा श्रेणिक बहुत ही प्रसन्न हुआ था तथा उससमय अज्ञानरूपी अंधकारके नष्ट हो जानेसे इसका मनरूपी कमल भी प्रफुल्लित होगया था ॥ २१६ ॥ तदनंतर भक्तिपूर्वक बंदना करते हुये समस्त ऋषिलोग योगिराज गौतम गणधरसे आगे लिखे हुये और भी कुछ एक ध्यानके भेद पूछने लगे ॥ २१७ ॥ कि हे भगवन् इन लोगोंने आपसे योगशास्त्रके समस्त तत्त्व कईवार सुने हैं अब आपसे अन्यप्रकारके ध्यानोंका निराकरण सुनना चाहते हैं ॥ २१८ ॥ हे देव जिसप्रकार सूर्य अंधकारके समूहको नष्ट करदेता है उसीप्रकार इस योगशास्त्रमें

॥ २१८ ॥ तदस्य ध्यानशास्त्रस्य यास्ता विप्रतिपत्तयः । निराकुरुष्व ता देव भास्वानिव तमस्ततीः ॥ २१९ ॥ ऋद्धिप्राप्ते ऋषिस्त्वं हि त्वं हि प्रत्यक्षविन्मुनिः । अनगारोऽस्यसंगत्त्वाद्यतिः श्रेणीद्वयोन्मुखः ॥ २२० ॥ ततो भागवतादीनां योगानामभिभूतये । ब्रूहि नो योगबीजानि हेत्वाज्ञाभ्यां यथाश्रुतं ॥ २२१ ॥ इति तद्वचनं श्रुत्वा भगवान्स्माह गौतमः । यत्पृष्ठं योगतत्त्वं च कथयिष्यामि तत्स्फुटं ॥ २२२ ॥ षड्भेदयोगवादी यः सोऽनुयोज्यः समाहितैः । योगः कः किं समाधानं प्राणायामश्च कीदृशः ॥ २२३ ॥ का धारणा किमाध्यानं किं ध्येयं कीदृशी स्मृतिः । किं फलं कानि बीजानि प्रत्याहारोऽस्य कीदृशः ॥ २२४ ॥ कायवाङ्मनसां कर्म योगो योगविदां मतः । स शुभाशुभभेदेन भिन्नो द्वैविध्यमश्नुते ॥ २२५ ॥ यत्सम्यक्परिणा-

---

जो कुछ संदेह वा वादविवाद अथवा प्रतिकूलता है उसे भी निराकरण (खंडन) कर समझा दीजिये ॥ २१९ ॥ हे स्वामिन् आपको अनेक ऋद्धियां प्राप्त हैं इसलिये आप ऋषि हैं, आप समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाननेवाले हैं इसलिये मुनि कहलाते हैं, आप समस्त अंतरंग वहिरंग परिग्रह रहित हैं इसलिये अनगार कहलाते हैं और आपमें उपशम क्षपक दोनों श्रेणियोंके चढनेकी सामर्थ्य है इसलिये आप यति कहलाते हैं ॥ २२० ॥ इसलिये वैष्णव आदि अन्य मतानुसार कहे हुये योगशास्त्रका पराभव (तिरस्कार) करनेकेलिये युक्ति शास्त्रके अनुसार जैसा आपने सुना है वैसा ही योगशास्त्रके समस्त बीजाक्षरोंको कहिये ॥ २२१ ॥ उन ऋषियोंके ये वाक्य सुनकर भगवान गौतमस्वामी कहने लगे कि आप लोगोंने योगशास्त्रके जो जो तत्त्व पूछे हैं वे सब अच्छी तरह कहूंगा ॥२२२॥ संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और संबंधविशेषणता इन छह प्रकारके योगोंको माननेवाले जो योगवादी हैं उनसे विद्वान लोगोंको पूछना चाहिये कि योग क्या है, समाधान क्या है, प्राणायाम किसप्रकार किया जाता है, धारणा क्या है, ध्यान क्या है, ध्यान करनेयोग्य ध्येय क्या है, स्मरण क्या है, ध्यानका फल क्या है, ध्यानके वीजाक्षर कौन कौन हैं और इसके प्रत्याहार कौन कौन हैं ॥ २२३-२२४ ॥ योगको जाननेवाले मुनिराज काय बचन और मनकी क्रिया-

मेषु चित्तस्याधानमंजसा । स समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिनां ॥ २२६ ॥ प्राणायामो भवेद्योगनिग्रहः शुभभावनः । धारणा श्रुतिनिर्दिष्टबीजानामवधारणं ॥ २२७ ॥ आध्यानं स्यादनुध्यानमनित्यत्वादिचिंतनैः । ध्येयं स्यात्परमं तत्त्वमवाङ्मानसगोचरं ॥ २२८ ॥ स्मृतिर्जीवादितत्त्वानां याथात्म्यानुस्मृतिः स्मृता । गुणानुस्मरणं वा स्यात्सिद्धार्हत्परमेष्ठिनां ॥२२९॥ फलं यथोक्तं बीजानि वक्ष्यमाणान्यनुक्रमात् । प्रत्याहारस्तु तस्योपसंहृतौ चित्तनिर्वृतिः ॥ २३० ॥ अकारादिहकारांतंरेफमध्यांतबिंदुकं । ध्यायन्परमिदं बीजं मुक्त्यर्थी नावसीदति ॥ २३१ ॥ षडक्षरात्मकं बीजमिहार्हद्भ्यो नमोऽस्त्विति ।

को योग कहते हैं, वह योग शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है ॥ २२५ ॥ चित्तको उत्तम परिणामोंमें निश्चल रखना समाधि वा समाधान कहलाता है, अथवा पंच परमेष्ठियोंका स्मरण करना भी समाधि कहलाती है ॥ २२६ ॥ मन बचन और काय तीनों योगोंका निग्रह करना तथा शुभ परिणाम रखना प्राणायाम कहलाता है और शास्त्रमें कहे हुये बीजाक्षरोंका अवधारण (निश्चय) करना धारणा कहलाती है ॥ २२७ ॥ अनित्य आदि बारह भावनाओंका वारवार चिंतवन करना आध्यान कहलाता है और जो न बचनसे कहा जा सकता न मनसे चिंतवन किया जा सकता है ऐसा जो परम आत्मतत्त्व है वह ध्येय कहलाता है ॥ २२८ ॥ जीव अजीव आदि तत्त्वोंके यथार्थस्वरूपका स्मरण करना स्मरण कहलाता है अथवा अरहंत और सिद्ध परमेष्ठीके गुणोंके स्मरण करनेको भी स्मरण कहते हैं ॥ २२९ ॥ फल जो ऊपर कहा है वही समझना चाहिये, वीजाक्षरोंको अनुक्रमसे कहते हैं और चित्तको संकोच करनेसे चित्तको जो एकप्रकारका सुख मिलता है वही प्रत्याहार है ॥ २३० ॥ जिसकी आदिमें अकार है, अंतमें हकार है, मध्यमें रेफ है और अंतमें अनुस्वार है ऐसा जो 'अर्हं' यह परम वीजाक्षर है, उसको ध्यान करता ऐसा मोक्षकी इच्छा करनेवाला मुनि कभी खेद खिन्न नहीं होता ॥ २३१ ॥ अथवा 'अर्हद्भ्यो नमोस्तु' अर्थात् अरहंदेवको नमस्कार हो " इसप्रकार जो छह अक्षरोंका वीजाक्षर है उसको ध्यानकर

ध्यात्वा मुमुक्षुरार्हन्त्यमनंतगुणमृच्छति ॥ २३२ ॥ नमः सिद्धेभ्य इत्येतद्दशार्द्धस्तवनाक्षरं । जपन्जप्येषु भव्यात्मा स्वेष्टान्कामानवाप्स्यति ॥ २३३ ॥ अष्टाक्षरं परं बीजं नमोऽर्हत्परमेष्ठिने । इतीदमनुसंस्मृत्य पुनर्दुःखं न पश्यति ॥ २३४ यत् षोडशाक्षरं बीजं सर्वबीजपदान्वितं । तत्त्ववित्तदनुध्यायन्ध्रवमेष मुमुक्षते ॥ २३५ ॥ पंचब्रह्ममयैर्मंत्रैः सकलीकृत्य निष्कलं । परं तत्त्वमनुध्यायन्योगी स्याद्ब्रह्मतत्त्ववित् ॥ २३६ ॥ योगिनः परमानंदो योऽस्य

मोक्षकी इच्छा करनेवाला मुनि केवलज्ञान आदि अनंत गुणोंको धारण करनेवाली अरहंत अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ २३२ ॥ तथा जप करने योग्य अक्षरोंमेंसे ' नमः सिद्धेभ्यः ' अर्थात् ' सिद्धोंको नमस्कार हो ' इन सिद्धोंके स्तोत्ररूप पांच अक्षरोंका जप करता हुआ भव्य जीव अपने इच्छानुसार पदार्थोंको प्राप्त होता है, अर्थात् उसकी समस्त इच्छायें पूर्ण होती हैं ॥ २३३ ॥ तथा नमोर्हत्परमेष्ठिने " अर्थात् ' अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार हो ' यह जो आठ अक्षरोंका परम बीज है उसे चिंतवन करता हुआ भव्य जीव भी फिर कभी दुखोंको नहीं देखता है ॥ २३४ ॥ तथा जिसमें समस्त वीज शामिल हैं ऐसा जो " अरहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाया साहू " अथवा अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः " यह सोलह अक्षरोंका बीज है उसका बारवार ध्यान करता हुआ ऐसा जो तत्त्वोंका जाननेवाला मुनि है वह अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होता है ॥२३५॥ अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्वसाधु इस पंच ब्रह्मस्वरूप अर्थात् परमेष्ठी स्वरूप जो मंत्र हैं उनके द्वारा जो मुनिराज शरीररहित ऐसे परमतत्त्व परमात्माको शरीरसहित मानकर उसका बारबार ध्यान करता है वही ब्रह्मतत्त्वको जाननेवाला कहलाता है, भावार्थ—यद्यपि परमात्मा अशरीर है तथापि उसे शरीरसहित मानकर मंत्रोंके द्वारा जो उसका ध्यान करता है वह परमतत्त्वका जाननेवाला कहलाता है ॥ २३६ ॥ इस ध्यान करनेवाले योगीके चित्तकी प्रसन्नता होनेसे जो परमानंद उत्पन्न होता है वही सबसे अधिक ऐश्वर्य है उससे वढकर और कोई ऐश्वर्य नहीं है, अथवा योगसेउत्पन्न होनेवाली ऋद्धियोंकी भी कुछ कमी

स्याच्चित्तनिर्वृतेः । स एवैश्वर्यपर्यंतो योगजाः किमुतर्द्धयः ॥ २३७ ॥ अणिमादिगुणैर्युक्तमैश्वर्यं परमोदयं । भुक्त्वैव पुनर्मुक्त्वा मुनिर्निर्वाति योगवित् ॥ २६८ ॥ बीजान्येतान्यजानानो नाममात्राणि मंत्रवित् । मिथ्याभिमानोपहतो बध्यते कर्मबंधनैः ॥ २३९ ॥ नित्यो वा स्यादनित्यो वा जीवो योगाभिमानिनां । नित्यश्चेदविकार्यत्वान्न ध्येयध्यानसंगतिः ॥२४०॥ सुखासुखानुभवनस्मरणेच्छाद्यसंभवात् । प्रागेवास्य न दिध्यासा दूरात्तत्त्वानुचिंतनं ॥२४१॥

नहीं है, योगसे अनेक ऋद्धियां भी प्राप्त होती हैं ॥ २३७ ॥ जिसमें अणिमा महिमा आदि अनेक गुण हैं और जिसका सुख बहुत बडा है ऐसे संसार संबंधी इंद्रादिके ऐश्वर्यको भोगकर योग को जाननेवाला मुनि कर्मोंसे छूटकर सिद्ध होता है ॥ २३८ ॥ ये ऊपर कहे हुये बीजाक्षर हैं इनको जो नहीं जानता है तथा केवल नाम ही जानकर मंत्रोंका जाननेवाला गिना जाता है ऐसा मिथ्या अभिमानसे दग्ध हुआ जीव केवल कर्मबंधनोंसे बंधता है, भावार्थ—जो इन बीजाक्षरोंको न जानकर भी मंत्रोंका जाननेवाला कहलाता है वह कर्मोंसे बंधता ही है छूटता नहीं ॥ २३९ ॥ इसप्रकार संक्षेपसे अपना योगका स्वरूप कहकर अब अन्यमतसंबंधी योगका खंडन करते हैं। योगका अभिमान करनेवाले अर्थात् मिथ्या योगको ही योग माननेवाले मीमांसकोंके मतमें जीव नित्य है अथवा अनित्य है, यदि जीव नित्य माना जायगा तो उसके विकार वा पर्याय नहीं हो सकेंगे और जिस जीवके पर्याय वा परिणाम नहीं हो सकेंगे उनके न तो ध्यान ही बन सकेगा और न कोई ध्येय बन सकेगा, क्योंकि ध्यानकी इच्छा होना वा ध्यान करना भी जीवका एक परिणाम है और मीमांसकके मतमें माना हुआ जीव नित्य है अतएव उसके परिणाम हो नहीं सकते हैं और परिणाम न होनेसे ध्यान भी नहीं हो सकता ॥ २४० ॥ दूसरा कारण यह भी है कि नित्य जीवके सुख दुख अनुभव स्मरण और इच्छा आदि परिणाम उत्पन्न होना ही असंभव है और स्मरण इच्छा आदि न होनेसे प्रथम ध्यानकी इच्छा ही नहीं हो सकती है, तत्त्वोंका चिंतवन करना तो दूर रहो। भावार्थ-ध्यानकी इच्छाके

तन्निवृत्तौ कुतो ध्यानं कुतस्त्यो वा फलोदयः । बंधमोक्षाद्यधिष्ठानाप्रक्रियाप्यफला ततः ॥ २४२ ॥ क्षणिकानां च चित्तानां संततौ व [illegible]नुभावना । ध्यानस्य स्वानुभूतार्थस्मृतिरेवात्र दुर्घटा ॥ ॥ २४३ ॥ संतानांतरवत्तस्मान्न दिध्यासादिसंभवः । न ध्यानं न च निर्मोक्षो नाप्यस्याष्टांगभावना ॥ २४४ ॥

बिना तत्त्वोंका चिंतवन भी नहीं हो सकता है ॥ २४१ ॥ और जब तत्त्वोंका चिंतवन ही नहीं होगा तो ध्यान ही कैसे हो सकता है तथा बिना ध्यानके मोक्ष प्राप्त होना आदि फल ही कैसे हो सकता है, और मोक्षप्राप्त होने आदि फलके विना बंधकी कारण शुभ अशुभ परिणामोंकी प्रवृत्ति तथा मोक्षकी कारण शुभ अशुभ परिणामोंकी निवृत्ति आदि होना भी व्यर्थ ही मानना पडेगा, तथा नित्य जीवके ये सब हो भी नहीं सकता है, इसलिये जीव नित्य भी नहीं हो सकता है ॥ २४२ ॥ अब कदाचित् जीवको क्षणिक माना जाय सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब जीव क्षणिक है प्रतिसमयमें नाश होता रहता है तथा नवीन उत्पन्न होता रहता है ऐसा माननेसे नवीन उत्पन्न हुई जीवकी संतान दर संतानमें ध्यानकी भावना ही नहीं हो सकती है। क्योंकि ध्यानका कारण पहिले अनुभव किये हुये पदार्थोंका स्मरण होना है और वह स्मरण क्षणिक जीवके होना अत्यंत कठिन है, हो ही नहीं सकता, इसलिये क्षणिक जीवके ध्यानकी भावना भी नहीं हो सकती है। क्षणिक जीवके स्मरण न होनेका भी कारण यह है कि जिस जीवने किसी पदार्थका अनुभव किया था वह तो उसी क्षणमें नष्ट हो गया दूसरे क्षणमें तो उसकी संतान उत्पन्न होती है, इसलिये अनुभव करनेवाला जीव नष्ट हो जानेसे उसकी संतानको उसका स्मरण भी नहीं हो सकता और स्मरण न होनेसे ध्यानकी भावना भी नहीं हो सकती है ॥२४३॥ जिसप्रकार जिनदासके द्वारा अनुभव किये हुये पदार्थोंका स्मरण पार्श्वदासको नहीं होता है उसीप्रकार अनुभव करनेवाला जीव नष्ट हो जानेसे उसका स्मरण उसकी संतान प्रति संतानको भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि संतान प्रतिसंतान उस अनुभव करनेवाले जीवसे भिन्न है और

तथा पुद्गलवादेऽपि देहपुद्गलतत्त्वयोः। तत्त्वान्यत्वाद्यवक्तव्यसंगराध्यातुरस्थितिः ॥ २४५ ॥ दिध्यासापूर्विका ध्यानप्रवृत्तिर्नात्र युज्यते। न चासतः खपुष्पस्य काचिद्गंधादिकल्पना ॥ २४६ ॥ विज्ञप्तिमात्रवादे च ज्ञप्तेर्नास्त्येव गोचरः। ततो निर्विषया ज्ञप्तिः क्वात्मानं बिभृयात्कथं ॥ २४७ ॥ तदभावे च

अनुभव किये हुये पदार्थके स्मरणके बिना ध्यान करनेकी इच्छा होना भी असंभव है, ध्यानकी इच्छाके विना ध्यान नहीं हो सकता और ध्यानके विना मोक्ष भी नहीं हो सकती तथा सम्यक्त्व, संज्ञा, संज्ञी, वाक्, काय, कर्म, अंतर्व्यायाम, और स्मृति इन आठ अंगोंकी भावना भी नहीं होसकती है, इसलिये जीवको क्षणिक माननेसे भी ध्यान नहीं हो सकता ॥२४४॥ अब चार्वाकमतपर विचार करते हैं चार्वाक मतवाला जीवको पृथक् पदार्थ नहीं मानता है किंतु पृथ्वी जल तेज वायु इन चारोंके मिलनेसे ही चेतना शक्तिकी उत्पत्ति मानना है, परंतु ऐसा माननेसे चेतना शक्तिरूप शरीर और पुद्गल दोनों एक ही तत्त्व ठहरते हैं पृथक् पृथक् नहीं हो सकते, तथा जीव और पुद्गलको पृथक् पृथक् न माननेसे एकत्व अन्यत्व आदि भावनाओंका अभाव मानना पडेगा और एकत्व अन्यत्व आदि भावनाओंका अभाव माननेसे ध्यान करनेवालेकी स्थिति भी नहीं रह सकेगी, अर्थात् ध्यान करनेवालेके स्वरूपका ही निश्चय नहीं हो सकेगा ॥ २४५ ॥ दूसरी बात यह है कि ध्यानकी प्रवृत्ति ध्यानकी इच्छा पूर्वक ही होती है, विना ध्यानकी इच्छाके ध्यानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, चार्वाक मतवाला जीवको पृथक् पदार्थ मानता ही नहीं है इसलिये उसके मतमें ध्यानकी इच्छा ही नहीं हो सकती है क्योंकि इच्छा होना जीवका ही विभाव परिणाम है वह जीवके विना नहीं हो सकता, जब आकाशका पुष्प नहीं है तो उसकी सुगंध अथवा दुर्गंध कल्पना भी नही हो सकती है, इसप्रकार चार्वाकमतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २४६ ॥ अब विज्ञानवादीका खंडन करते हैं, विज्ञानवादी जगतमें एक विज्ञानको ही मानता है, विज्ञानके सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं

न ध्यानं नाध्येयं मोक्ष एव वा । प्रदीपार्कहुताशादौ सत्यर्थे चार्थभासनं ॥ २४८ ॥ नैरात्म्यवादपक्षेपिऽ किंतु केन प्रमीयते । कच्छपांगरुहैस्तत्स्यात्खपुष्पापीडबंधनं ॥ २४९ ॥ ध्येयतत्त्वेऽपि नेतव्या विकल्पद्वययोजना । अनादेयाप्रहेयातिशयेऽस्थास्नौ न किंचन ॥ २५० ॥ मुक्तात्मनोपिऽ चैतन्यविरहा-

मानता, वह घट पट आदि पदार्थोंको विज्ञानका ही विकार मानता है, परंतु ऐसा माननेसे विज्ञानकी सिद्धि भी नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान उसीको कहते हैं जो अन्य पदार्थोंको जानें, जब ज्ञानका विषयभूत कोई अन्य ज्ञेय (जिसे ज्ञान जाने) पदार्थ ही नहीं है तब वह किसीको जानेगा भी नहीं और जब वह किसीको नहीं जानेगा तो ज्ञान भी नहीं कहलावेगा ॥ २४७ ॥ तथा विज्ञानवादियोंके मतमें जब ज्ञानकी भी सिद्धि नहीं हो सकती और आत्मा पुद्गल आदिको वह पृथक् पदार्थ मानता नहीं तब उसके मतमें ध्यान ध्येय और मोक्ष आदिकी सिद्धि भी नहीं हो सकती है, क्योंकि पदार्थोंके होते हुये ही उन्हें दीपक, सूर्य वा अग्नि आदि प्रकाश करनेवाले पदार्थ प्रकाशित कर सकते हैं, यदि पदार्थ न माने जायं तो न तो सूर्य वा दीपक किसीको प्रकाशित कर सकते हैं और न उनका नाम प्रकाशक ही पड सकता है इसलिये विज्ञानवादियोंके मतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २४८ ॥ इसीप्रकार जो आत्माको नहीं मानते ऐसे शून्यवादियोंके मतमें भी ध्यान नहीं बन सकता, क्योंकि जब आत्मा आदि पदार्थ ही नहीं है तब ज्ञान आदि गुण भी नहीं हो सकते तथा ज्ञान आदि गुण और आत्मा आदि पदार्थोंके विना कौन किसको किसके द्वारा जानेगा अर्थात् न तो अनुभव करनेवाला ही है न अनुभव करनेयोग्य पदार्थ हैं और न अनुभव करनेका साधन है, इसलिये उसके ध्यान होना कछुएके बालोंसे आकाशके फूलोंका शेखर बनानेके समान है अर्थात् न तो कछुएके बाल होते हैं और न आकाशका फूल होता है इसलिये उनसे जैसे मुकुट नहीं बनसकता उसीप्रकार शून्यवादीके मतमें ध्यान नहीं बन सकता है ॥ २४९ ॥ इसीप्रकार शून्यवादियोंके

लक्षणक्षतेः । न ध्येयं कापिलानां स्यान्निर्गुणत्वाच्च खाब्जवत् ॥ २५१ ॥ सुषुप्तसदृशो मुक्तः स्यादित्येवं ब्रुवाणकः । मुमुक्षुस्त्येष मूढात्मा ध्येयतत्त्वविचारणे ॥ २५२ ॥ शेषेष्वपि प्रवादेषु न ध्यानध्येयनिर्णयः । एकांतदोषदुष्टत्वात् द्वैताद्वैतादिवादिनां ॥ २५३ ॥ नित्यानित्यात्मकं जीवतत्वमभ्युपगच्छतां ।

मतमें ध्येय तत्त्व भी नहीं बन सकता है क्योंकि ध्येय तत्वमें दो विकल्प हो सकते हैं एक ग्रहण करने योग्य और दूसरा त्याग करने योग्य, जब शून्यवादीके मतमें कोई पदार्थ ही नहीं है तो उसके मतमें हेय उपादेय कल्पना ही नहीं हो सकती है और हेय उपादेय कल्पनाके बिना ध्यान भी नहीं बन सकता है। इसप्रकार शून्यवादीके मतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥२५०॥ इसीप्रकार सांख्यमतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि सांख्यमतमें मुक्त आत्माकास्वरूप चैतन्यरहित माना है, जब मुक्तावस्थामें चैतन्य ही नहीं रहता तो चैतन्यरूप लक्षणके न होनेसे लक्ष्यभूत आत्माकी सिद्धि भी नहीं हो सकती। जिसप्रकार सुगंधि आदि गुणोंके न होनेसे आकाश कमलकी सिद्धि नहीं हो सकती उसीप्रकार चैतन्य रूप विशेष गुणोंके अभाव होनेसे मुक्तात्माकी सिद्धि भी नहीं हो सकती, और मुक्तात्माकी सिद्धि हुये बिना ध्येय भी सिद्ध नहीं हो सकता तथा ध्येयके बिना ध्यान नहीं बन सकता ॥ २५१ ॥ जिसप्रकार गाढ निद्रामें सोते हुये पुरूषका स्वरूप होता है उसीप्रकार मुक्त आत्माका स्वरूप है ऐसा सांख्यमत कहता है परंतु वह मूर्ख सांख्य जिससमय ध्येय तत्त्वका अर्थात् परमात्माका विचार करता है उस समय स्वयं सो जाता है अर्थात् परमात्माका स्वरूप विचार करते समय उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है ॥ २५२ ॥ इसीप्रकार जो द्वैतवादी हैं अथवा अद्वैतवादी हैं वे सब एकांतरूपीदोषसे दुष्ट हैं अर्थात् सब एकांतको माननेवाले हैं, अनेकांतको माननेवाला कोई नहीं है, इसलिये उन सब मतोंमें न तो ध्यानका ही निर्णय हो सकता है और न ध्येयका ही निर्णय हो सकता है ॥ २५३ ॥ अतएव जीव तत्त्वको नित्य तथा अनित्य दोनों ही प्रकारसे मानने-

ध्यानं स्याद्वादिनामेव घटते नान्यवादिनां ॥ २५४ ॥ विरुद्धधर्मयोरेकं वस्तु नाधारतां व्रजेत् । इति चेन्नार्पणाभेदादविरोधप्रसिद्धितः ॥ २५५ ॥ नित्यो द्रव्यार्पणाचात्मा न पर्यायभिदार्पणात् । अनित्यः पर्ययोत्पादविनाशैर्द्रव्यतो न तु ॥ २५६ ॥ देवदत्तः पिता च स्यात्पुत्रश्चैवार्पणावशात् । विवक्षेतरयोर्योगः स्याद्वस्तुन्युभयात्मनि ॥ २५७ ॥ जिनप्रवचनाभ्यासप्रसरद्बोधसंपदां । युक्तं स्याद्वादिनां ध्यानं नान्येषां दुर्दृशामिदं ॥ २५८ ॥ जिनो मोहारिविजयादाप्तः

वाले स्याद्वादी अर्थात् जैनमतमें ही ध्यानकी सिद्धि हो सकती है अन्य किसी मतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २५४ ॥ कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि एक ही बस्तुमें दो विरुद्ध धर्म किसप्रकार रह सकते हैं अर्थात् जो जीव नित्य है वही अनित्य कैसे हो सकता है तो उसका उत्तर यह है कि अपेक्षाके भेदसे अर्थात् मुख्यता और गौणताकी अपेक्षासे एक ही पदार्थमें विरुद्ध दोनों धर्म रहते हैं। जैसे जीव तत्त्वमें जब द्रव्यकी मुख्यता करेंगे और पर्यायोंकी गौणता करेंगे तो उससमय उस जीव तत्त्वको नित्य मानना पडेगा क्योंकि द्रव्यका कभी विनाश नहीं होता है किसी न किसी रूपसे वह रहता ही है, तथा उसी नित्य जीवतत्त्वमें जब पर्यायोंकी मुख्यता करते हैं और द्रव्यकी गौणता करते हैं तो उसे अनित्य मानना पडता है, पर्यायोंकी अपेक्षा उसे नित्य नहीं कह सकते क्योंकि उसी जीवतत्त्वकी पर्यायें प्रति समयमें उत्पन्न होती रहती हैं तथा प्रति समयमें नष्ट होती रहती हैं। प्रति समयमें पहिली पर्याय नष्ट होती है और दूसरी उत्पन्न होती है। इसलिये सिद्ध हुआ कि जीव-तत्त्व द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है पर्यायकी अपेक्षा नित्य नहीं है, तथा पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है द्रव्य की अपेक्षा अनित्य नहीं है ॥२५५-२५६॥ इसका उदाहरण यह है कि देवदत्त नामका एक पुरुष पिता की अपेक्षासे पुत्र है और पुत्रकी अपेक्षासे पिता है, अपेक्षा भेदसे पितृत्व और पुत्रत्व दोनों ही विरुद्ध धर्म उसमें मौजूद हैं, इसीप्रकार प्रत्येक वस्तुमें अपेक्षाके भेदसे नित्यत्वअनित्यत्व, एकत्त्व अनेकत्व, आदि विरुद्ध धर्म भी रहते हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेकांतात्मक अर्थात् अनेक धर्म स्वरूप है ॥२५७॥ इसलिये

स्याद्वीतघीमलः । वाचस्पतिरसौ वाग्भिः सन्मार्गप्रतिबोधनात् ॥ २५९ ॥ स्यादर्हन्नरिघातादिगुणैरपरगोचरैः । बुद्धस्त्रैलोक्यविश्वार्थबोधनाद्विश्वभुग्विभुः ॥ २६० ॥ स विष्णुश्च विजिष्णुश्च शंकरोऽप्यभयंकरः । शिवः सनातनः सिद्धो ज्योतिः परममक्षरं ॥ २६१ ॥ इत्यन्वर्थानि नामानि यस्य लोकेशिनः

जैन शास्त्रोंके अभ्यास करनेसे जिनकी ज्ञानरूपी संपत्ति चारों ओर फैली हुई है ऐसे अनेकांतवादी वा स्याद्वादी ऐसे जैनियोंके मतमें ही ध्यानकी सिद्धि हो सकती है, इस सध्यानकी सिद्धि अन्य किसी मिथ्यामतियोंके मतमें नहीं हो सकती ॥ २५८ ॥ भगवान् अरहंत देवने मोहरूपी परम शत्रुको जीता है इसलिये वे जिन कहलाते हैं, उनके ज्ञानका मल अर्थात् ज्ञानावरण कर्म सब नष्ट हो गया है इसलिये वे आप्त कहलाते हैं तथा उन्होंने अपने वचनोंके द्वारा सर्वश्रेष्ठ ऐसे मोक्षमार्गका उपदेश दिया है इसलिये वे वाचस्पति कहलाते हैं ॥ २५९ ॥ इसके सिवाय जो अन्य किसीमें न पाये जायं ऐसे राग द्वेष आदि शत्रुओंका नाश होना आदि अनेक गुण उनमें पाये जाते हैं इसलिये वे अर्हन् वा अरिहंत कहलाते हैं, वे तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिये बुद्ध कहलाते हैं और उनका ज्ञान समस्त अनंत आकाशमें व्याप्त है इसलिये वे विभु कहलाते हैं ॥ २६० ॥ इसीप्रकार वे भगवान ज्ञानके द्वारा व्यापक अर्थात् सर्वज्ञ होनेसे विष्णु कहलाते हैं, कर्मोंको जीतलेनेसे विजिष्णु कहे जाते हैं, सबको सुख देनेवाले हैं इसलिये शंकर कहलाते हैं, सब जीवोंको अभय देते हैं इसलिये अभयंकर कहे जाते हैं, सबका कल्याण करते हैं इसलिये शिव कहलाते हैं, आदि अंतरहित हैं इसलिये सनातन कहलाते हैं, करनेयोग्य सब काम करचुके हैं इसलिये सिद्ध कहे जाते हैं, सब पदार्थोंको प्रकाश करनेवाले और अविनश्वर हैं इसलिये अविनाशीक परम ज्योतिस्वरूप कहलाते हैं, ॥२६१॥ इसप्रकार जिस त्रैलोक्यनाथ प्रभुके अनेक सार्थक नाम हैं वही अरहंतदेव विद्वान् पुरुषोंके हृदयमें आप्तबुद्धिको उत्पन्न कर सकता है अर्थात् विद्वान् पुरुष ऐसे अरिहंत देवको ही आप्त मान सकते हैं

प्रभोः । विदुषां हृदयेष्वाप्तबुद्धिं कर्तुमलं तरां ॥ २६२ ॥ यस्य रूपमविर्ज्योतिरनंबरविभूषणं । शास्ति कामज्वरापायमकटाक्षनिरीक्षणं ॥ २६३ ॥ निरायुधत्वान्निर्धूतभयकोपमकोपनात् । अरक्तनयनं सौम्यं सदा प्रहसितायितं ॥ २६४ ॥ रागाद्यशेषदोषाणां निर्जयादतिमानुषं । मुखाब्जं यस्य शास्तृत्वमनुशास्ति सुमेधसः ॥ २६५ ॥ स एवाप्तो जगद्व्याप्तज्ञानवैराग्यवैभवः । तदुपज्ञमतो ध्यानं श्रेयं श्रेयोऽर्थिनामिदं ॥ २६६ ॥ इति गदति गणेंद्रे ध्यानत-

---

अन्य किसी दूसरेको नहीं ॥ २६२ ॥ जिसका रूप वस्त्र और आभूषणोंसे रहित प्रकाशमय अर्थात् ज्ञानस्वरूप है, तथा जिसका कटाक्ष रहित देखना कामरूपी ज्वरके अभावको सूचित करता है अर्थात् जो कामके विकारोंसे सर्वथा रहित है ॥ २६३ ॥ जिसके हाथमें कोई किसी प्रकारका आयुध (शस्त्र) नहीं है इसलिये जिसका रूप भय और क्रोध रहित है तथा क्रोधका अभाव होनेसे जिसके नेत्र लाल भी नहीं है और जिसका रूप सदा सौम्य (शांत) और आनंदमय है ॥ २६४ ॥ जिसने रागद्वेष आदि समस्त दोष जीतलिये हैं इसलिये जिसका मुखकमल अमानुषिक भावको अर्थात् परम पुरुषके भावको दिखलाता है, तथा जिसका वही मुखकमल विद्वान लोगोंको शासकत्वका उपदेश देता है अर्थात् विद्वान्लोग जिसका मुखकमल देखकर ही जानलेते हैं कि यह परमदेव अवश्य ही सबका गुरु वा शिक्षक अथवा शासन करनेवाला है ॥ २६५ ॥ इसके सिवाय जिसके ज्ञान और वैराग्यकी विभूति समस्त संसारमें व्याप्त है ऐसा जो अरंहतदेव है वही आप्त कहलाता है, इसलिये ऐसे आप्तने जो यह ध्यानका स्वरूप कहा है वही कल्याण चाहनेवालोंको कल्याणका मार्ग समझना चाहिये ॥ २६६ ॥ इसप्रकार जब अनेक बडी २ ऋद्धियोंको धारण करनेवाले गौतम गणधरदेवने मुनियोंकी उस समवसरणरूप सभामें ध्यानका स्वरूप कहा तब उसे सुनकर परम भक्तिको धारण करनेवाले वे मुनिराज बहुत ही संतुष्ट हुये, और जिसप्रकार सूर्यकी किरणोंके संयोगसे कमलोंके समूह प्रफुल्लित हो जाते हैं उसीप्रकार उन मुनियोंका शरीर परम आनंदसे रोमांचित होगया

त्वं महर्द्धौ मुनिसदसि मुनींद्राः प्रातुषन्भक्तिभाजः । घनपुलकितमूद्रुर्गात्रमाविर्मुखाब्जं दिनकरकरयोगादाकराबांबुजानां ॥ २६७ ॥ स्तुतिमुखरमुखास्ते योगिनो योगिमुख्यं क्षणमिव जिनसेनाधीश्वरं तं प्रणुत्य । प्रणिदधुरथ चेतः श्रोतुमार्हंत्यलक्ष्मीं समधिगतसमग्रज्ञानधाम्नः स्वधाम्नः ॥ २६८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे ध्यानतत्त्वानुवर्णनं नाम एकविंशं पर्व.

था और उनका मुखकमल खूब प्रफुल्लित होगया था ॥ २६७ ॥ स्तुति करनेसे जिनके मुख वाचालित हो रहे हैं अर्थात् जो अनेकप्रकारकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे उस समवसरणमें विराजमान मुनियोंने समस्त योगियोंमें मुख्य और जिनसेनके स्वामी अथवा श्री जिनेंद्रदेवकी जो चारप्रकारकी संघरूप सेना है उसमें जो अधीश्वर अर्थात् स्वामी हैं ऐसे उन गौतम गणधरको थोडी देरतक नमस्कार किया और फिर सबने जिनको समस्त ज्ञानरूपी तेज प्राप्त हुआ है और जो अपने आत्मामें ही स्थिर हैं ऐसे श्री वृषभदेव भगवानकी अरहंत पदकी विभूतिके सुननेकेलिये एकाग्र चित्त किया ॥२६८॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें ध्यानतत्त्वका
निरूपण करनेवाला यह इक्कीसवां पर्व समाप्त हुआ

अथ द्वाविंशं पर्व ।

अथ घातिजये जिष्णोरनुष्णीकृतविष्टपे। त्रिलोक्यामभवत्क्षोभः कैवल्योत्पत्तिवात्यया ॥१॥ तदा प्रक्षुभिताम्भोधेर्वेलाध्वानानुकारिणी । घंटा मुखरयामास जगत् कल्पामरेशिनां ॥ २ ॥ ज्योतिर्लोके महान् सिंहप्रणादोऽभूत्समुत्थितः । येनाशु विमदीभावमवापन् सुरवारणाः ॥ ३ ॥ दध्वान ध्वनदंभोदध्वनितानि तिरोदधत् । वैयंतरेषु गेहेषु महानानकनिःस्वनः ॥ ४ ॥ शंखः शं खेचरैः सार्द्धं यूयमेत जिघृक्षवः । इतीव घोषयन्नुच्चैः फणींद्रभवनेऽध्वनत् ॥ ५ ॥ विष्टराण्यमरेशानामशनैः प्रचकंपिरे । अक्षमाणीव तद्गर्वं सोढुं जिनजयोत्सवे ॥ ६ ॥ पुष्करैः स्वैरथोत्क्षिप्तपुष्करार्घाः सुरद्विपाः । ननृतुः पर्व-

अथ बाईसवां पर्व

अथानंतर—भगवान वृषभदेवके जब घातिया कर्मोंका नाश होगया तब समस्त संसारका संताप नाश होगया और केवलज्ञानके उत्पन्न होनेरूप महा वायुके समूहसे तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न होगया ॥ १ ॥ उससमय जिसप्रकार क्षुब्ध हुये समुद्रकी लहरें शब्द करती हैं उसीप्रकार कल्पवासी देवोंके विमानोंमें अपने आप बजता हुआ घंटा संसारको वाचालित कर रहा था ॥ २ ॥ ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें सिंहनादका शब्द हो रहा था जिसे सुनकर ऐरावत हाथी भी बहुत शीघ्र मदरहित हो गये थे ॥ ३ ॥ व्यंतर देवोंके आवासोंमें बडे २ नगाडोंके शब्द होने लगे थे और वे ऐसे थे जो गर्जते हुये वादलोंके शब्दोंको भी नीचा दिखाते थे ॥ ४ ॥ " भो पृथ्वीमें रहनेवाले भवनवासी देव हो ! तुम भी कल्पवासियोंके साथ २ भगवानके उत्सव देखनेसे उत्पन्न हुये सुखको ग्रहण करनेकेलिये चलो " इसप्रकार घोषणा करता हुआ शंख भवनवासियोंके भवनमें अपने आप शब्द करने लगा था ॥ ५ ॥ उसीसमय समस्त इंद्रोंके आसन कंपायमान होगये थे मानों भगवानको घातिया कर्मोंके जीतलेनेसे जो अहंकार हुआ है उसे सहन न कर सकनेके कारण ही चलायमान हुये हों, (भगवान यद्यपि निरहंकार हैं अठारह दोषोंसे रहित हैं तथापि उत्प्रेक्षासे यहां ऐसा कहा गया है) ॥ ६ ॥

तोदग्रा महाहिभिरिवाद्रयः ॥ ७ ॥ पुष्पांजलिमिवातेनुः समंतात्सुरभूरुहाः । चलच्छाखाकरैर्दीर्घैर्विगलत्कुसुमोत्करैः ॥ ८ ॥ दिशः प्रसत्तिमासेदुर्बभ्राजे व्यभ्रमंबरं । विरजीकृतभूलोकः शिशिरो मरुदाववौ ॥ ९ ॥ इति प्रमोदमातन्वन्नकस्माद्भुवनोदरे । केवलज्ञानपूर्णेंदुर्जगदब्धिमवीवृधत् ॥ १० ॥ चिह्नैर-मीभिरह्नाय सुरेंद्रोऽबोधि सावधिः । वैभवं भुवनव्यापि वै भवध्वंसि वैभवं ॥ ११ ॥ अथोत्थायासनादाशु प्रमोदं परमुद्वहन् । तद्भरादिव नम्रोऽभून्नतमूर्द्धा शचीपतिः ॥ १२ ॥ किमेतदिति पृच्छन्तीं पौलोमीमतिसंभ्रमात् । हरिः प्रबोधयामास विभोः कैवल्यसंभवं ॥ १३ ॥ प्रयाणपटहेषूच्चैः प्रध्वनत्सु

जिन्होंने पूजा करनेकेलिये कमल पकडकर अपनी सूंड ऊंचेको उठाई है ऐसे पर्वतके समान ऊंचे २ हाथी अपनी २ सूंड उठाकर नृत्य कर रहे थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों बडे २ सर्पों-सहित पर्वत ही नृत्य कर रहे हों ॥ ७ ॥ उससमय कल्पवृक्षों की लंबी लंबी शाखाओंसे पुष्पोंके स-मूह गिर रहे थे जिनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों भगवानको पुष्पांजलि ही अर्पण कर रहे हों ॥ ८ उससमय दिशायें सब प्रसन्न (साफ) हो रही थीं, आकाश विना वादलोंके निर्मल सुशोभित हो रहा था और जिसने समस्त पृथ्वीलोककी धूल नष्ट कर दी है ऐसा शीतल वायु वह रहा था ॥ ९ ॥ इसप्रकार संसारमें अकस्मात् आनंद उत्पन्न करता हुआ केवलज्ञान रूपी पूर्ण चंद्रमा संसार-रूपी समुद्रको वढा रहा था अर्थात् आनंदित कर रहा था ॥ १० ॥ अवधिज्ञानको धारण करनेवाले इंद्रने इन सर्व चिन्होंसे संसारमें व्याप्त हुई, संसारका नाश करनेवाली और संसारका नाशकर उत्पन्न हुई ऐसी भगवानकी केवलज्ञानरूपी विभूतिको बहुत शीघ्र जान लिया ॥११॥ तदनंतर अत्यंत आ-नंदित होता हुआ वह इंद्र बहुत शीघ्र अपने आसनसे उठा और मानों उस आंनदके बोझसे ही जि-सका मस्तक नवगया है ऐसे उस प्रथम स्वर्गके इंद्रने वहींसे भगवानको नमस्कार किया ॥ १२ ॥ इंद्रानीने उससमय बडे आश्चर्यसे पूछा कि यह क्या है तब इंद्रने भगवानके केवलज्ञान उत्पन्न होनेका शुभ समाचार उसे भी समझाया ॥१३॥ उसीसमय जोर २ से गमन करनेकी सूचना देनेवाले, बडे २

शताध्वरः । भर्तुः कैवल्यपूजायै निश्चक्राम सुरैर्वृतः ॥ १४ ॥ ततो बलाहकाकारं विमानं कामकाह्वयं । चक्रे बलाहको देवो जंबूद्वीपप्रमान्वितं ॥ १५ ॥ मुक्तालंबनसंशोभि तदाभाद्रत्ननिर्मितं । तोषात्प्रहासमातन्वदिव किंकिणिकास्वनैः ॥ १६ ॥ शारदाभ्रमिवादभ्रं श्वेतिताखिलदिग्मुखं । नागदत्ताभियोग्येशो नागमैरावतं व्यधात् ॥ १७ ॥ ततस्तद्विक्रियारब्धमारूढो दिव्यवाहनं । हरिवाहः सहैशानः प्रतस्थे सपुलोमजः ॥ १८ ॥ इंद्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदामराः । सात्मरक्षजगत्पालाः सानीकाः सप्रकीर्णकाः ॥ १९ ॥ पुरः किल्विषिकेषूच्चैरातन्वत्स्वानकस्वनान् । स्वैरं स्वैर्वाहनैः शक्रं व्रजंतमनुवव्रजुः ॥२०॥

बाजे बजने लगे और इसप्रकार सब देवोंके साथ २ इंद्र भगवानके केवलज्ञानकी पूजा करनेकेलिये निकला ॥ १४ ॥ उसीसमय बलाहक देवने एक कामक नामका विमान बनाया जोकि जंबूद्वीपके समान बडा था और जिसका आकार वादलोंके आकारके समान था ॥ १५ ॥ वह विमान रत्नोंका बना हुआ था, उसपर चारों ओर मोतियोंकी मालायें लटक रही थीं जिनसे वह बहुत ही अच्छा जान पडता था, उसमें जो किंकिणियोंके (छोटी २ घंटियोंके) शब्द हो रहे थे उससे वह ऐसा जान पडता था मानों संतुष्ट होकर हंस रहा ही हो ॥ १६ ॥ अभियोग्य जातिके देवोंमें मुख्य ऐसे नागदत्त नामके देवने अपनी विक्रिया ऋद्धिसे एक ऐरावती हाथी बनाया, वह हाथी बहुत बडा था शरदऋतुके बादलोंके समान सफेद था और उसकी सफेदीसे सब दिशायें सफेद हो गईं थीं ॥ १७ ॥ तदनंतर इंद्र अपनी इंद्राणी और ऐशान इंद्रके साथ साथ विक्रिया ऋद्धिसे बने हुये उन दिव्य सवारियोंपर सवार होकर निकला ॥ १८ ॥ सबसे आगे किल्विषिक जातिके देव जोर जोरसे नगाडे बजाते जाते थे और उनके पीछे इंद्र, सामानिक त्रायस्त्रिंश, पारिषद आत्मरक्ष, लोकपाल अनीक प्रकीर्णक जातिके देव अपने २ वाहनोंपर सवार हुये इच्छानुसार सौधर्म इंद्रके पीछे २ चले जा रहे थे ॥१९-२०॥ इसीप्रकार देवोंकी सेना भी बडे ठाठसे जा रही थी, उसमें अप्सरायें नृत्य करती जाती थीं, गंधर्वजातिके देव बाजे बजाते जाते थे और किन्नरी जातिकी देवियां गीत गाती जा रहीं थीं ॥ २१ ॥

अप्सरस्सु नटंतीषु गंधर्वातोद्यवादनैः । किन्नरीषु च गायत्सु चचाल सुरवाहिनी ॥ २१ ॥ इंद्रादीनामथैतेषां लक्ष्म किंचिदनूद्यते । इंदनादणिमाद्यैश्च गुणैरिंद्रो ह्यनन्यजैः ॥ २२ ॥ आज्ञैश्वर्याद्विनाऽन्यैस्तु गुणैरिंद्रेण संमिताः । सामानिका भवेयुस्ते शक्रेणापि गुरूकृताः ॥ २३ ॥ पितृमातृगुरुप्रख्याः संमतास्ते सुरेशिनां । लभंते सममिंद्रैश्च सत्कारं मान्यतोचितं ॥ २४ ॥ त्रायस्त्रिंशास्त्रयस्त्रिंशदेव देवाः प्रकीर्तिताः । पुरोधोमंत्र्यमात्यानां सदृशास्ते दिवीशिनां ॥ २५ ॥ भवाः परिषदीत्यासन्सुराः पारिषदाह्वयाः । ते पीठमर्दसदृशाः सुरेंद्रैरतिलालिताः ॥ २६ ॥ आत्मरक्षः शिरोरक्षसमानाः प्रोद्यतासयः ।

अब यहांपर प्रसंगपाकर इंद्र आदि दशप्रकारके देवोंका थोडा थोडा लक्षण लिखदेते हैं, अन्य देवोंमें न पाये जायं ऐसे अणिमा महिमा आदि गुणोंसे जो अतिशय ऐश्वर्यको प्राप्त हो उसे इंद्र कहते हैं ॥ २२ ॥ जिनमें आज्ञा और ऐश्वर्यके बिना अन्य सब गुण इंद्रके समान हैं और जिन्हें इंद्र भी बडा करके मानता है उन्हें सामानिक जातिके देव कहते हैं, ये सामानिक जातिके देव इंद्रके माता पिता और गुरुके समान गिने जाते हैं और उनके बडप्पनके अनुसार अन्यदेव भी इंद्रके समान ही उनका आदरसत्कार करते हैं ॥ २३-२४ ॥ इंद्रोंके पुरोहित मंत्री और अमात्योंके समान जो गिनतीके तेतीस देव होते हैं उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं ॥ २५ ॥ जो इंद्रकी सभामें सदा उपस्थित रहें उन्हें पारिषद कहते हैं, ये पारिषद जातिके देव इंद्रके मित्र समान होते हैं और इंद्र उनपर बहुत ही प्रेम रखता है ॥ २६ ॥ जो देव अंगरक्षकके समान हाथोंमें तलवार लेकर तथा हाथोंको ऊंचाकर सदा इंद्रके पास खडे रहते हैं उन्हें आत्मरक्षक कहते हैं, यद्यपि इंद्रको कुछ भय नहीं है तथापि इंद्रकी विभूति और माहात्म्य दिखानेकेलिये ये देव सदा इंद्रके आस पास ही फिरा करते हैं ॥ २७ ॥ जो कोटपालके समान स्वर्गलोककी रक्षा करनेवाले हैं उन्हें लोकपाल कहते हैं, लोकपालोंके विमान भी स्वर्गलोकके अंतमें ही हैं, और सेनाके समान जो पियादे आदि सातप्रकारके देव होते हैं उन्हें अनीक कहते हैं, हाथी, घोडे, रथ, पियादे, बैल, गंधर्व और नृत्य करनेवाली देवियां यह सातप्रकारकी देवों-

विभवायैव पर्यंतात्पर्यटंत्यमरेशिनां ॥ २७ ॥ लोकपालास्तु लोकांतपालका दुर्गपालवत् । पदात्यादीन्यनीकानि दंडकल्पानि सप्त वै ॥ २८ ॥ पौरजानपदप्रख्याः सुरा ज्ञेयाः प्रकीर्णकाः । भवेयुराभियोग्याख्या दासकर्मकरोपमाः ॥ २९ ॥ मताः किल्विषमस्त्येषामिति किल्विषिकामराः । बाह्याः प्रजा इव स्वर्गे स्वल्पपुण्योदितर्द्धयः ॥ ३० ॥ एकैकस्मिन्निकाये स्युर्दशभेदाः सुरा इमे । व्यन्तरा ज्योतिषस्त्रायस्त्रिंशलोकपवर्जिताः ॥ ३१ ॥ ऐंद्रस्तंबेरमः कीदृगिति चेत्सोऽनुवर्ण्यते । तुंगवंशो महावर्ष्मा सुवृत्तोन्नतमस्तकः ॥ ३२ ॥ बह्वाननो बहुरदो बहुदोर्विपुलासनः । लक्षणैर्व्यंजनैर्युक्तः सात्त्विको जवनो बली

की सेना होती है ॥ २८ ॥ नगर किंवा देशोंमें रहनेवाले लोगोंके समान जो विमानोंमें रहनेवाले साधारण देव हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं, और जो नौकर चाकरोंके समान दासकर्म करनेमें नियुक्त हैं वे आभियोग्य कहलाते हैं ॥ २९ ॥ जिनके पाप कर्मका उदय हो ऐसे चांडालोंके समान देवोंको किल्विषिक कहते हैं, जिसप्रकार चांडाल शहरसे बाहर रहते हैं उसीप्रकार किल्विषिक जातिके देव भी बाहर रहते हैं, उनका पुण्य भी थोडा है इसलिये उनके ऋद्धियां भी बहुत थोडी होती हैं ॥ ३० ॥ इसप्रकार प्रत्येक निकायके देवोंमें ऊपर लिखे हुये इंद्र सामानिक आदि दश भेद होते हैं, परंतु व्यंतर और ज्योतिष्क जातिके देवोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जातिके देव नहीं होते, भावार्थ—व्यंतर और ज्योतिष्क देवोंके आठ आठ भेद ही होते हैं ॥ ३१ ॥ अब इंद्रके ऐरावत हाथीका वर्णन करते हैं, उसका वंश अर्थात् पीठपरकी हड्डी (रीढ) बहुत ऊंची थी, शरीर बहुत बडा था, मस्तक सुगोल और ऊंचा था ॥ ३२ ॥ उसके अनेक मुख, अनेक दांत और बहुतसी सूंडें थीं, मस्तक बहुत बडा था, उसपर अनेक बडे २ शुभ चिन्ह और अनेक छोटे २ शुभ चिन्ह थे, वह शक्तिशाली, शीघ्र गमन करनेवाला, बलवान् ॥ ३३ ॥ इच्छानुसार चाहे जहां गमन करनेवाला, इच्छानुसार चाहे जैसा रूप धारण करनेवाला और अतिशय शूरवीर था, उसके कंधे अतिशय गोल थे, संस्थान समचतुरस्र अर्थात् समान आकार था, शरीरका बंधन अति मनोहर था,

॥ ३३ ॥ कामगः कामरूपी च शूरः सद्वृत्तकंधरः । समः संबंधनो धुर्यो मधुस्निग्धरदेक्षणः ॥ ३४ ॥ तिर्यग्लोलायतस्थूलक्रमवृत्तर्जुसत्करः । स्निग्धताम्रपृथुस्रोतोदीर्घांगुलिसपुष्करः ॥ ३५ ॥ वृत्तगात्रापरः स्थेयान्दीर्घमेहनवालधिः । व्यूढोरस्को महाध्वानकर्णः सत्कर्णपल्लवः ॥ ३६ ॥ अर्द्धेंदुनिभसुस्लिष्टविद्रुमाभानखोत्करः । सच्छायस्ताम्रताल्वास्यः शैलोदग्रो महाकटः ॥ ३७ ॥ वराहजघनः श्रीमान्दीर्घोष्ठो दुंदुभिस्वनः । सुगंधिदीर्घनिःश्वासः सोऽमितायुः कृतादरः ॥ ३८ ॥ अन्वर्थवेदी कल्याणः कल्याणप्रकृतिः शुभः । अयोनिजः सुजातश्च सप्तधा सुप्रतिष्ठितः ॥ ३९ ॥ मदनिर्झरसंसिक्तकर्णचा-

---

वह सेनामें धुरंधर था, उसके दांत और नेत्र दोनों ही मनोहर और चिकने थे ॥ ३४ ॥ उसकी उत्तम सूंड नीचेकी ओर तिरछी लटकती हुई, चंचल, लंबी, मोटी तथा अनुक्रमसे पतली होती हुई गोलाकार और सरल थी, सूंडका अग्रभाग चिकना और लाल, था, उसमें बडे २ छेद थे और बडी २ दो उंगलियोंके समान चिन्ह थे ॥ ३५ ॥ उसके शरीरका पिछला भाग गोल था, वह हाथी अत्यंत गंभीर और स्थिर था, शरीरके अनुसार उसकी पूंछ और लिंग भी बडा था, उसका वक्षःस्थल बहुत मजबूत था, उसके कानोंके शब्द दूरतक सुने जाते थे, तथा उसके कर्णरूपी कोमल पत्ते बहुत मनोहर थे ॥ ३६ ॥ उसके नखोंके समूह आधे चंद्रमाके समान मजबूतीसे जडे हुये थे और उनकी कांति मूगाके समान कुछ २ लाल पड रही थी, उसकी छाया भी बहुत अच्छी थी, उसका मुख और तालु लाल थे, वह पर्वतके समान ऊंचा था और उसके कपोल बहुत बडे थे ॥ ३७ ॥ वह अत्यंत शोभायमान था, उसके जघन सूअरके समान थे, ओठ बहुत बडे थे, उसका शब्द दुंदुभिके समान गंभीर था, उच्छ्वास दीर्घ और सुगंधित था, आयु बहुत बडी थी और उसका सबकोई आदर सत्कार करते थे ॥ ३८ ॥ वह यथार्थ शब्दार्थका जाननेवाला था, देखने और स्पर्श करनेमें मंगलरूप था, उसका स्वभाव शुभ था, वह स्वयं मंगलस्वरूप था, अयोनिज अर्थात् विना योनिके उत्पन्न हुआ था, उसकी जाति सबसे उत्तम थी और वह सातप्रकारकी प्रतिष्ठासे प्रसिद्ध था अर्थात् पराक्रम, तेज,

मरलंबिनीः । मदश्रुतैर्गिर्याविभ्रदपराः षट्पदावलीः ॥ ४० ॥ मुखैर्बहुभिराकीर्णो गजराजः स्म राजते । सेव्यमान इवायातैर्भक्त्या विश्वैरनेकपैः ॥ ४१ ॥ अशोकपल्लवाताम्रतालुच्छायाछलेन यः । वमन्मुहुरिवाकल्यान्पल्लवान्कवलीकृतान् ॥ ४२ ॥ मृदंगमंद्रनिर्घोषैः कर्णतालाभिताडनैः । सालिवीणारुतैर्हृद्यैरारब्धातोद्यविभ्रमः ॥ ४३ ॥ करं सुदीर्घनिःश्वासं मदवर्णां च यो वहन् । सनिर्झरस्य सशयोर्बिभर्ति स्म गिरेः श्रियं ॥ ४४ ॥ दंतालग्नैर्मृणालैर्यो राजते

वल, शूरता, शक्ति संहनन और वेग ये सातों ही उत्तमगुण उसमें विद्यमान थे ॥३९॥ उसके कर्णरूपी चमरोंपर जो भ्रमरोंकी पंक्तियां बैठी हुईं थीं वे सब उसके गंडस्थलसे निकलते हुये मदके निर्झरनेसे भीग गईं थीं और इसलिये वे ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों मदकी दूसरी धारा ही हो ॥ ४० ॥ इसप्रकार अनेक मुखोंसे सुशोभित वह गजराज ऐसा अच्छा जान पडता था मानों भक्तिपूर्वक आये हुये संसारके समस्त हाथी उसकी सेवा ही कर रहे हों ॥ ४१ ॥ अशोक वृक्षके नवीन लाल पत्तोंके समान उसका तालु था जिससे वह हाथी ऐसा जान पडता था मानों वह उस लाल तालुकी छायाके बहानेसे खाये हुये नवीन पत्तोंको अच्छे न लगनेके कारण बार बार वमन ही कर रहा हो ॥ ४२ ॥ उसके कर्णरूपी तालोंकी ताडनासे मृदंगके समान गंभीर शब्द हो रहा था और उसीके साथ साथ वहांपर बैठे हुये भ्रमरोंका बीणाके समान मनोहर शब्द होता था जिससे ऐसा जान पडता था मानों उस हाथीने बाजा वजाना ही प्रारंभ किया हो ॥ ४३ ॥ जिसमेंसे दीर्घ निश्वास निकल रहा है ऐसी उसकी सूंड थी और गंडस्थलोंसे मदकी धारा वह रही थी, इन दोनोंसे उस हाथीकी शोभा ऐसी जान पडती थी मानों निर्झरने और सर्पसहित कोई पर्वत ही हो ॥ ४४ ॥ उसके दांतोंमें जो बहुत लंबे कमलके तंतु लग रहे थे उनसे वह ऐसा अच्छा जान पडता था मानों चंद्रमाके टुकडोंके समान निर्मल ऐसी दांतोंकी किरणोंसे ही सुशोभित हो रहा हो, भावार्थ—दांतोंमें लगे हुये कमलके तंतु दांतोंकी किरणोंके समान जान पडते थे ॥ ४५ ॥ वह सुंदर हाथी एक सरोवर

स्मायतेभृशं । प्रारोहैरिव दंतानां शशांकशकलामलैः ॥ ४५ ॥ पद्माकर इव श्रीमान्दधानः पुष्कराश्रियं । कल्पद्रुम इव प्रांशुर्दानार्थिभिरुपासितः ॥ ४६ ॥ रेजे सहेमकक्ष्योऽसौ हेमवल्लीवृतान्द्रिवत् । नक्षत्रमालयाऽक्षिप्तशरदंबरविभ्रमः ॥ ४७ ॥ ग्रैवेयमालया कंठं स वाचालितमुद्वहन् । पक्षिमालावृतस्याद्रिनितंबस्य श्रियं दधौ ॥ ४८ ॥ घंटाद्वयेन रेजेऽसौ सौवर्णेन निनादिना । सुराणामवबोधाय जिनार्चामिव घोषयन् ॥ ४९ ॥ जंबूद्वीपविशालोरुकायश्रीः ससरोव-

के समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार सरोवर पुष्कर अर्थात् कमलोंकी शोभाको धारण करता है उसीप्रकार वह हाथी भी पुष्कर अर्थात् सूंडके अग्रभागकी शोभाको धारण करता था, अथवा वह हाथी एक ऊंचे कल्पवृक्षके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार दान ग्रहण करनेवाले याचक लोग कल्पवृक्षकी उपासना करते हैं उसीप्रकार दान अर्थात् मद ग्रहण करनेवाले भ्रमर उस हाथीकी उपासना कर रहे थे अर्थात् वहुतसे भ्रमर उस हाथीके गंडस्थलोंपर बैठे हुये थे ॥४६॥ उसके गलेमें सुवर्णकी सांकल लटक रही थी जिससे वह ऐसा अच्छा जान पडता था मानों सुवर्णमयी लतासे ढका हुआ पर्वत ही हो। तथा उसके गलेमें नक्षत्रमाला नामकी माला पडी हुई थी जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र मालाओंसे सुशोभित शरदऋतुका बादल ही हो ॥ ४७ ॥ उसके गलेमें कंठाभरण पडा हुआ था जोकि मस्तक हिलानेसे रुणझुण शब्द कर रहा था उससे वह हाथी ऐसा अच्छा जान पडता था मानों पक्षियोंकी पंक्तियोंसे घिरा हुआ पर्वतका नितंवभाग अर्थात् शिखरके नीचेका प्रदेश ही हो ॥ ४८ ॥ उस हाथीपर सुवर्णके दो घंटा शब्द कर रहे थे जिनसे वह ऐसा जान पडता था मानों देवोंको जाननेकेलिये भगवानकी पूजाकी घोषणा ही कर रहा हो ॥ ४९ ॥ वह हाथी ठीक जंबूद्वीपकी शोभा धारण करता था क्योंकि जंबूद्वीपके समान ही वहुत वडा उसका स्थूल शरीर था और बहुतलंबे ऐसे उसके दांत ही कुलपर्वतोंके समान सुशोभित थे तथा कुलपर्वतोंपर जिसप्रकार सरोवर होते हैं उसीप्रकार उसके दांतोंपर भी एक एक सरोवर

रान् । कुलाद्रीनिव बभ्रेऽसौ रदानायामशालिनः ॥ ५० ॥ श्वेतिम्ना वपुषः श्वेतद्वीपलक्ष्मीमुवाह सः । चलत्कैलासशैलाभः प्रक्षरन्मदनिर्झरः ॥ ५१ ॥ इति व्यावर्णितारोहपरिणाहचतुर्गुणं । गजानीकेश्वरश्चक्रे महैरावनदंतिनं ॥ ५२ ॥ तमैरावणमारूढः सहस्राक्षोऽद्युतत्तरां । पद्माकर इवोत्फुल्लपंकजो गिरिमस्तके ॥ ५३ ॥ द्वात्रिंशद्वदनान्यस्य प्रत्यास्यं च रदाष्टकं । सरः प्रतिरदं तस्मिन्नब्जिन्येका सरःप्रति ॥ ५४ ॥ द्वात्रिंशत्प्रसवास्तस्यां तावत्प्रमितपत्रकाः । तेष्वायतेषु देवानां नर्तक्यस्तत्प्रमाः पृथक् ॥ ५५ ॥ नृत्यंति सलयं स्मेरवक्त्राब्जा ललितभ्रुवः । पश्यच्चित्तद्रुमपूर्वैर्न्यस्यंत्यः प्रमदांकुरान् ॥ ५६ ॥ तासां

था ॥५०॥ उसका शरीर श्वेत था जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों श्वेत द्वीपकी शोभा ही धारण कर रहा हो, अथवा मदरूपी पानीके निर्झरने जिससे वह रहे हैं ऐसा चलते हुये कैलास पर्वतके समान जान पडता था ॥ ५१ ॥ इसप्रकार शोभा सहित एक लाख योजन लंबा पच्चीस हजार योजन ऊंचा ऐसा ऐरावत हाथी गज जातिकी सेनाके नायकने निर्मापण किया ॥ ५२ ॥ जिसप्रकार किसी पर्वतके मस्तकपर फूलेहुये कमलोंसे सुशोभित सरोवर अच्छा लगता है उसीप्रकार उस ऐरावत हाथीपर चढा हुआ इंद्र भी बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥ ५३ ॥ उस ऐरावत हाथीके बत्तीस मुख थे, प्रत्येक मुखमें आठ आठ दांत थे (सब ३२×८=२५६ दांत थे) एक एक दांतपर एक एक सरोवर था, एक एक सरोवरमें एक एक कमलिनी अर्थात् कमलकी लता थी अर्थात् २५६ दांतोंपर २५६ सरोवर और २५६ ही कमलिनियां थीं, एक एक कमलिनीपर बत्तीस बत्तीस कमल थे सब मिलकर २५६×३२=८१९२ कमल थे, एक एक कमलमें बत्तीस बत्तीस दल (पखुरियें) थे अर्थात् सब मिलकर ८१९२×३२=२६२१४४ दल थे और एक एक दलपर एक एक अप्सरा नृत्य कर रही थी, इसप्रकार सब २६२१४४ अप्सरायें नृत्य कर रहीं थीं ॥५४-५५॥ जिनके मुखरूपी कमल प्रफुल्लित हो रहे हैं तथा जिनकी भोंहें बहुत सुंदर हैं और जो देखनेवालोंके चित्त रूपी वृक्षोंमें आनंदके अंकूरे अर्थात् रोमांच उत्पन्न करती

भाषाटीकामें एक एक दलपर बत्तीस २ अप्सरायें नृत्य कर रही थीं ऐसा अर्थ लिखा है। अर्थात् तत् शब्दसे ३२ संख्या ली है। ऐसा अर्थ करनेसे २६२१४४×३२=८३८८६०८ अप्सराओं की संख्या होती है।

सहास्यशृंगाररसभावलयान्वितं । पश्यंतः कैशिकीप्रायं नृत्तं पिप्रियिरे सुराः ॥ ५७ ॥ प्रयाणे सुरराजस्य नेटुरप्सरसः पुरः । रक्तकंठाश्च किन्नर्यो जगुर्जिनपतेर्जयं ॥ ५८ ॥ ततो द्वात्रिंशदिंद्राणां पृतना बहुकेतनाः । प्रसस्रुर्विलसच्छत्रचामराः प्रततामराः ॥ ५९ ॥ अप्सरःकुंकुमारक्तकुचचक्राह्वयुग्मके । तद्वक्त्रपंकजच्छन्ने लसत्तन्नयनोत्पले ॥ ६० ॥ नभःसरसि हारांशुस्वच्छवारिणि हारिणि । चलंतश्चामरापीडा हंसायंते स्म नाकिनां ॥ ६१ ॥ इंद्रनीलमया-

---

हैं ऐसी वे अप्सरायें ताल और लयके साथ नृत्य कर रहीं थीं ॥५६॥ उन अप्सराओं का हास्य, शृंगाररस, भाव और लय सहित जो लज्जासहित शृंगाररसमे भराहुआ नृत्य था उसे देखते हुये देवलोग बडे ही प्रसन्न हो रहे थे ॥५७॥ उससमय इंद्रके प्रयाण (गमन) करते समय इंद्रके सामने अप्सरायें नृत्य कर रही थीं और जिनके कंठ लाल हो रहे हैं ऐसी किन्नरी जातिकी देवियां भगवानका यशोगान कर रहीं थीं ॥५८॥ तदनंतर छत्र चमरोंसे सुशोभित और जिसमें चारोंओर देव ही देव फैले हुये हैं तथा जिसमें अनेक ध्वजायें फहरा रहीं हैं ऐसी वत्तीस इंद्रोंकी सेना चारोंओर फैल गई थीं, कल्पवासियोंके बारह, भवनवासियोंके दश, व्यंतरोंके आठ और ज्योतिषियोंके दो इसप्रकार मुख्यरीतिसे वत्तीस इंद्र होते हैं ॥५९॥ उससमय आकाश एक सरोवरके समान जान पडता था क्योंकि उसमें कुंकमसे लाल हुये अप्सराओंके कुचरूपी चक्रवाक पक्षियोंके जोडे निवास कर रहे थे, वह आकाशरूपी सरोवर उन अप्सराओंके मुख रूपी कमलोंसे ढका हुआ था उसमें अप्सराओंके नेत्र रूपी कमल सुशोभित हो रहे थे और उनके हारोंकी किरणें ही मनोहर और स्वच्छ जल भरा हुआ था, ऐसे उस आकाशरूपी सरोवरमें उन देवोंपर ढुलते हुये चमरोंके समूह ठीक हंसोंके समान जान पडते थे ॥ ६०-६१ ॥ कहीं कहीं पर वह आकाश इंद्रनील मणिके वने हुये देवोंके आभूषणोंकी कांतिसे व्याप्त हो रहा था और स्वच्छ की हुई तलवारके समान दैदीप्यमान हुआ वह आकाश अपनी निराली ही शोभा धारण कर-रहा था ॥ ६२ ॥ कहीं कहींपर पद्मरागमणियोंसे व्याप्त हुआ वह कुछ कुछ लाल आकाशतल ऐसा

व्योजनविस्तारमभादास्थानमीशितुः । हरिनीलमहारत्नघटितं विलसत्तलं ॥ ७७ ॥ सुरेंद्रनीलनिर्माणं समवृत्तं तदा बभौ । त्रिजगच्छ्रीमुखालोकमंगलादर्शविभ्रमं ॥ ७८ ॥ आस्थानमंडलस्यास्य विन्यासं कोऽनुवर्णयेत् । सुत्रामा सूत्रधारोऽभून्निर्माणे यस्य कर्मठः ॥ ७९ ॥ तथाप्यनूद्यते किंचिदस्य शोभासमुच्चयः । श्रुतेन येन संप्रीतिं भजेद्भव्यात्मनां मनः ॥ ८० ॥ तस्य पर्यंतभूभागमलंचक्रे स्फुरद्द्युतिः । धूलीसालपरिक्षेपो रत्नपांसुभिराचितः ॥ ८१ ॥ धनुरैंद्रमिवोद्भामि वलयाकृतिमुद्वहत् । सिषेवे तां महीं विष्वग्धूलीसालापदेशतः ॥ ८२ ॥ कटिसूत्रश्रियं तन्वन्धूलीसालपरिच्छदः । पर्यायाय जिनास्थान-

---

में व्याप्त होकर आयेहुये सुर और असुरोंसे भराहुआ यह जगत उत्पन्न हुये एक अन्य दिव्य स्वर्गके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ७५ ॥

अथानंतर—जिसमें देव शिल्पकारोंने अर्थात् कारीगर देवोंने सैकडोंप्रकारकी उत्तम २ रचना की है ऐसा भगवान वृषभदेवका समवसरण देवोंने दूरसे ही देखा ॥ ७६ ॥ वह भगवानका समवसरण बारह योजन लंबा और बारह योजन चौडा था तथा इंद्रनीलमणि रत्नोंसे बनीहुई उसकी भूमि बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ ७७ ॥ वह समवसरण इंद्रनील मणियोंसे बनाहुआ था, चारोंओर समान गोल था और ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानों तीनोंलोकोंकी लक्ष्मीके मुख देखनेकेलिये मंगलरूप एक दर्पण ही हो ॥ ७८ ॥ उस समवसरणके बनानेमें सब कामोंमें चतुर ऐसा इंद्र स्वयं सूत्रधार (मुख्य कारीगर) था इसलिये यद्यपि उसकी वास्तविक रचनाका वर्णन कोई नहीं कर सकता है ॥ ७९ ॥ तथापि थोडासा उसकी शोभाका महात्म्य कहते हैं, क्योंकि उसके सुननेसे भव्य जीवोंका मन प्रसन्न होगा ॥८०॥ उस समवसरणके बाहरी भागमें अनेकप्रकारके रत्नोंकी धूलिसे बनाहुआ और जिसकी कांति अतिशय दैदीप्यमान हो रही है ऐसा एक धूलिसालका घेरा था जो कि अपनी आसपासकी जमीनको बहुत ही सुशोभित कर रहा था ॥ ८१ ॥ वह धूलिसाल ऐसा जान पडता था मानों अतिशय दैदीप्यमान और कंकणका आकार धारण करता हुआ इंद्रधनुप ही धूलि-

भूमिं तां वलयाकृतिः ॥ ८३ ॥ क्वचिदंजनपुंजाभः क्वचिच्चामीकरच्छविः । क्वचिद्विद्रुमसच्छायः सोऽद्युतद्रत्नपांसुभिः ॥ ८४ ॥ क्वचिच्छुकच्छदच्छायै-र्मणिपांसुभिरुच्छिखैः । स रेजे नलिनीवालपलाशैरिव संततः ॥ ८५ ॥ चंद्रकांतशिलाचूर्णैः क्वचिज्ज्योत्स्नाश्रियं दधत् । जनानामकरोच्चित्रमनुरक्ततरं मनः ॥ ८६ ॥ स्फुरन्मरकतांभोजरागालोकैः करंबितैः । क्वचिदिंद्रधनुर्लेखां स्वांगणे गुणयन्निव ॥ ८७ ॥ क्वचित्पयोजरागेंद्रनीलालोकैः परिष्कृतः । परागसात्कृतैर्भर्त्रा कामक्रोधांशकैरिव ॥ ८८ ॥ क्वचित्क चित्तजन्मासौ लीनो ज्वाल्यो विलोक्यतां । निर्दाह्योऽस्माभिरित्युच्चैर्ध्यानार्चिष्मानिवोत्थितः ॥८९॥

सालके वहानेसे चारों ओरसे उस समवसरणकी भूमिकी सेवा कर रहा हो ॥ ८२ ॥ कटिसूत्रकी शोभाको धारण करताहुआ और कंकणके आकारका ऐसा वह धूलीसालका घेरा उस समवसरणकी भूमिको घेरेहुये चारोंओर था ॥ ८३ ॥ अनेकप्रकारके रत्नोंकी धूलिसे वनाहुआ वह धूलिसाल कहीं तो अंजनके समूहके समान काला २ चमक रहा था, कहीं सुवर्णकी कांतिके समान सुशोभित हो रहा था और कहीं मूंगाकी कांतिके समान अच्छा लगरहा था ॥ ८४ ॥ जिनकी किरणें ऊंचेको उठ रहीं हैं ऐसी तोतेके पंखोंके समान हरित वर्णकी मणियोंकी धूलिसे वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों कमलिनीके नये पत्ते ही चारोंओर फैले हों ॥ ८५ ॥ कहींपर चंद्रकांतमणिके चूर्णसे वनाहुआ था वह वहांपर चांदनीकी शोभा धारण करता था और लोगोंके मनमें विचित्र अनुराग उत्पन्न करता था ॥ ८६ ॥ कहींपर मरकतमणि और पद्मरागमणि दोनोंकी कांति मिल रही थी जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों आकाशमें इंद्रधनुषकी शोभा ही बढा रहा हो ॥ ८७ ॥ कहींपर पद्मरागमणि और इंद्रनील मणियोंकी कांतिसे व्याप्त हुआ उसका प्रदेश ऐसा जान पडता था मानों भगवानने जो काम और क्रोधको चूर्ण किया है उसकी धूलिसे ही वह वना हो ॥ ८८ ॥ कहीं कहींपर सुवर्णकी धूलिसमूहसे देदीप्यमान होताहुआ वह धूलि-साल ऐसा जान पडता था मानों वह धूर्त कामदेव कहां छिपा हुआ है उसे जलाना चाहिये इसप्र-

विभाव्यते स्म यः दैदैर्विचित्रैर्मणिसञ्चयैः । दधोच्चावचरत्नांशुजालैर्जटिलयन्नभः ॥ ९० ॥ चतसृष्वपि दिक्ष्वस्य हेमस्तंभाग्रलंबिताः । तोरणा मकरास्यो-दरत्नमाला विरेजिरे ॥ ९१ ॥ ततोऽन्तरान्तरं किंचिद्गत्वा हाटकनिर्मिताः । रेजुर्मध्येषु वीथीनां मानस्तंभाः समुच्छ्रिताः ॥ ९२ ॥ चतुर्गोपुरसंबद्धसालत्रि-तयवेष्टिता । जगतीं जगतीनाथस्नपनांबुपवित्रितां ॥ ९३ ॥ हैमषोडशसोपानां स्वमध्यार्पितपीठिकां । न्यस्तपुष्पोपहारार्चामर्च्यां नृसुरदानवैः ॥ ९४ ॥ अधिष्ठिता विरेजुस्ते मानस्तंभा नभोलिहः । ये दूराद्वीक्षिता मानं स्तंभयंत्याशु दुर्दृशां ॥ ९५ ॥ नभःस्पृशो महामाना घंटाभिः परिवारिताः । सचाम-

---

कार उसे देखता हुआ ध्यानरूपी अग्निका समूह ही उठ रहा हो, तथा उसमें जो छोटे बडे अनेकप्रकारके रत्न लग रहे थे उनकी किरणोंके समूहसे वह आकाशको भी अनेक रंगका कर रहा था ॥ ८९-९० ॥ इस धूलिसालके बाहर चारों दिशाओंमें सुवर्णके बनेहुये खंभोंपर मत्स्यके मुखके आकारके सुवर्ण और रत्नोंकी बनीहुई मालाओंके लटकते हुये तोरण बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥९१॥ उस धूलिसालसे भीतरकी ओर कुछ दूर आगे जाकर गलियोंके बीचों बीचमें सुवर्णके बनेहुये और बहुत ऊंचे ऐसे चारों दिशाओंमें चार मानस्तंभ सुशोभित हो रहे थे ॥ ९२ ॥ जिस जगहपर वे मानस्तंभ थे उसके चारोंओर तीन कोट थे, प्रत्येक कोटमें चारों दिशाओंमें चार चार गोपुर (बडे दरवाजे) थे, तीनों कोटोंके भीतर एक पीठिका थी, वह पीठिका तीनों लोकोंके स्वामी भगवान अरहंत देवके अभिषेकके जलसे पवित्र थी तथा वह इतनी ऊंची थी कि उसपर सुवर्णकी सोलह सीढी बनी हुई थीं, मनुष्य सुर असुर आदि सब उसकी पूजा करते थे, तथा वह पूजा किये हुये पुष्पोंसे सदा सुशोभित रहती थी, ऐसी उसपीठिकापर आकाशको स्पर्श करते हुये वे मानस्तंभ सुशोभित हो रहे थे, उन्हें दूरसे देखते ही मिथ्यादृष्टियोंका अभिमान बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता था ॥ ९३-९४-९५ ॥ वे चारों ही मानस्तंभ दिग्गजोंके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिसप्रकार दिग्गज आकाशतक ऊंचे होते हैं उसीप्रकार वे मानस्तंभ भी आकाशतक

रध्वजा रेजुस्तंभास्ते दिग्गजायिताः ॥ ९६ ॥ दिक्चतुष्टयमाश्रित्य रेजे स्तंभचतुष्टयं । तत्तव्याजादिवोद्भूतं जिनानंतचतुष्टयं ॥ ९७ ॥ हिरण्मयीर्जिनेंद्रार्चास्तेषां बुध्नं प्रतिष्ठिताः । देवेंद्राः पूजयंति स्म क्षीरोदांभोऽभिषेचनैः ॥ ९८ ॥ नित्यातोद्यमहावाद्यैर्नित्यसंगीतमंगलैः । नृत्तैर्नित्यप्रवृत्तैश्च मानस्तंभाः स्म भांत्यमी ॥ ९९ ॥ पीठिका जगतीमध्ये तन्मध्ये च त्रिमेखलं । पीठं तन्मूर्ध्नि सद्बुध्ना मानस्तंभाः प्रतिष्ठिताः ॥ १०० ॥ हिरण्मयांगाः प्रोत्तुंगा मूर्ध्नि छत्त्रत्रयांकिताः । सुरेंद्रनिर्मितत्वाच्च प्राप्तेंद्रध्वजरूढिकाः ॥ १०१ ॥ मानस्तंभान्महामानयोगात्त्रैलोक्यमाननात् । अन्वर्थसंज्ञया तज्ज्ञैर्मानस्तंभाः

ऊंचे थे, दिग्गज जिसप्रकार वडे होते हैं उसीप्रकार वे भी बहुत वडे थे, दिग्गजोंपर जिसप्रकार घंटा लटकते रहते हैं उसीप्रकार उन मानस्तंभोंपर भी घंटे लटकते थे और दिग्गजोंपर जिसप्रकार चमर और ध्वजायें रहती हैं उसीप्रकार उन मानस्तंभोंपर भी चमर और ध्वजायें लटक रहीं थीं ॥ ९६ ॥ वे मानस्तंभ चारों दिशाओंमें चार थे और ऐसे जान पडते थे मानों उन मानस्तंभोंके बहानेसे भगवानके अनंतचतुष्टय ही प्रगट हुये हों ॥ ९७ ॥ उन मानस्तंभोंके मूलभागमें सुवर्णमय भगवानकी प्रतिमा विराजमान थीं जिनकी इंद्रलोग क्षीरसागरके जलसे अभिषेककर पूजा करते थे ॥ ९८ ॥ उन मानस्तंभोंके समीप ही अनेकप्रकारके बडे २ वाजे नित्य वजते थे, नित्य ही मंगलगान होता था और नित्य ही नृत्य होता था, जिनसे वे मानस्तंभ बहुत ही सुशोभित होते थे ॥९९॥ जिसप्रकार ऊपर कह चुके हैं उसीप्रकार जगती अर्थात् पृथ्वीके मध्यभागमें एक पीठिका (वेदिका) थी, उस पीठिकापर तीन कटनीदार एक पीठ था उसीपीठके ऊपर ही वे मानस्तंभ थे तथा उन मानस्तंभोंके मूलभाग वहुत ही मनोहर थे ॥ १०० ॥ वे मानस्तंभ सुवर्णके बने हुये थे, ऊंचे थे, उनके मस्तकपर तीन छत्र फिर रहे थे तथा वे इंद्रके बनाये हुये थे इसलिये लोग उन्हे इंद्रध्वज भी कहते थे ॥ १०१ ॥ इन मानस्तंभोंसे समस्त लोगोंका मान दूर हो जाता है तथा उनका परिमाण भी बहुत वडा है और तीनों लोक उनकी पूजा करता है इसलिये ही विद्वान् लोग यथार्थ अर्थके अनुसार

प्रकीर्तिताः ॥ १०२ ॥ स्तंभपर्यन्तभूभागमलंचक्रुः सरोत्पलाः । प्रसन्नसलिला वाप्यो भव्यानामिव शुद्धयः ॥ १०३ ॥ वाप्यस्ता रेजिरे फुल्लकमलोत्पलसंपदः । भक्त्या जैनीं श्रियं द्रष्टुं भुवेवोद्घाटिता दृशः ॥ १०४ ॥ निलीनालिकुलै रेजुरुत्पलैस्ता विकस्वरैः । महोत्पलैश्च संछन्नाः सांजनैरिव लोचनैः ॥ १०५ ॥ दिशं प्रति चतस्रस्ताः स्रस्ताः कांचीरिवाकुलाः । दधति स्म शकुनानां संततीः स्वनटाश्रिताः ॥ १०६ ॥ वसुस्ता मणिसोपानाः स्फटिकोच्चतटभुवः । भुवः प्रसृतलावण्यरसाः कुल्या इव श्रुताः ॥ १०७ ॥ द्विरेफगुंजनैर्मंजु गायंत्यो वाऽर्हतो गुणान् । नृत्यंत्य इव जैनेशजयतोषान्महो-

---

उन्हें मानस्तंभ कहते हैं ॥ १०२ ॥ इन मानस्तंभोंके समीपवर्ती देशको वावडियां सुशोभित कर रहीं थीं, उन वावडियोंमें कमल फूले हुये थे, निर्मल जल भरा हुआ था और ऐसी जान पडती थीं मानों भव्य जीवोंके अंतःकरणकी विशुद्धता ही हो ॥ १०३ ॥ वे वावडियें फूले सफेद कमल और नीलकमलोंकी शोभासे सुशोभित हो रहीं थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों श्रीजिनेंद्रदेवकी लक्ष्मी देखनेके लिये पृथ्वीने ही भक्तिपूर्वक अपने नेत्र उघाडें हों ॥१०४॥ वे वावडियें फूले हुये सफेद कमल तथा लालकमलोंमें ढक रहीं थीं और उन कमलोंपर भ्रमरोंके समूह वैठे हुये थे इसलिये वे वावडियें ऐसी जान पडती थीं मानों अंजन (काजल) सहित नेत्र ही हों ॥ १०५ ॥ वे वावडियें एक दिशामें चार चार थीं अर्थात् प्रत्येक मानस्तंभके चारोंओर प्रत्येक दिशामें एक २ थी, इसप्रकार चारों मानस्तंभोंके चारों ओर सोलह वावडियें थीं, उन वावडियोंके किनारोंपर पंक्तिरूपसे शब्द करते हुये पक्षी वैठे हुये थे जिनसे वे ऐसी जान पडती थीं मानों उन्होंने वजती हुई ढीली करधनी ही पहनी हो ॥ १०६ ॥ उन वावडियोंके किनारेके ऊपरकी जमीन स्फटिक मणियोंकी वनी हुई थी, सीढियां मणियोंकी वनी हुई थीं और उनमें पृथ्वीसे निकलता हुआ लावण्यरूपी जल भरा हुआ था, इसप्रकार वे प्रसिद्ध वावडियें कृत्रिम नदीके समान सुशोभित हो रहीं थीं ॥१०७॥ उन वावडियोंके कमलोंपर जो भ्रमर वैठे हुये गुंजार शब्द कर रहे थे उनसे ऐसा जान पडता था मानों वे वावडियें

र्मिभिः ॥ १०८ कुर्वन्त्यो वा जिनस्तोत्रं चक्रवाकविकूजितैः । संतोषं दर्शयन्त्यो वा प्रसन्नोदकधारणात् ॥ १०९ ॥ नंदोत्तरादिनामानः सरस्यस्तास्तटाश्रितैः । पादप्रक्षालनाकुंडैर्बभुः सप्रसवा इव ॥ ११० ॥ स्रोतांतरं ततोऽर्नाल्य तां महीमंबुजैश्रिता । परिवव्रेऽतरा वीथीवीथीं च जलखातिका ॥१११॥ स्वच्छांबुसंभृता रेजे सा खाता पावनी नृणां । सुरापगेव तद्रूपा विभुं सेवितुमाश्रिता ॥ ११२ ॥ सक्रांताशेषनारक्षप्रतिबिंबाऽबरश्रियं । याधात्स्फाटिकसंद्रावशुचिभिः सलिलैर्भृता ॥ ११३ ॥ सा स्म रत्नतटैर्वत्ते पक्षिमालां कलस्वनां । तरंगकारसंधार्यां रसनामिव सद्रुचं ॥ ११४ ॥ यादोदोर्वट्टनोद्धतैस्त-

---

अरहंत देवके गुण ही गा रहीं हों, उनमें जो वडी २ लहरें आ रहीं थीं उनसे ऐसा जान पडता था मानों भगवानने घातिया कर्मोंको जीता है इसलिये संतुष्ट होकर वे वावडियें नृत्य ही कर रहीं हों, उनमें जो चकवा चकवी पक्षी शब्द कर रहे थे उनसे ऐसा जान पडता था मानों वे वावडियें भगवानकी स्तुति ही कर रहीं हों, तथा उनमें निर्मल जल भरा हुआ था इसलिये ऐसी जान पडती थीं मानों भगवानको केवलज्ञान होनेसे संतोष ही दिखा रहीं हों, इसप्रकार नंदोत्तरा[1] आदि नामोंको धारण करनेवालीं वे वावडियें वहुत ही सुंदर जान पडती थीं, उनके किनारेपर दो दो पादप्रक्षालन कुंड थे (पांव धोनेके कुंड) उनसे वे ऐसी जान पडती थीं मानों वे पुत्र सहित ही बैठी हों ॥ १०८-१०९-११० ॥ वावडियोंके थोडी ही दूर आगे जाकर प्रत्येक गलीको (जानेके मार्गको) छोडकर जलसे भरी हुई खाई थी जोकि कमलोंसे सुशोभित थी और समवसरणकी भूमिको चारोंओर घेरे हुये थी ॥१११॥ निर्मल जलसे भरी हुई और मनुष्योंको पवित्र करनेवाली वह खाई ऐसी सुशोभित होती थी मानों खाईके बहानेसे आकाशगंगा ही भगवानकी सेवा करनेकेलिये आई हो ॥११२॥ वह खाई चंद्रकांत मणिसे निकले हुये पवित्र जलसे भरी हुई थी और तारा नक्षत्र आदिका प्रतिबिंव उसमें पड रहा था, इसलिये वह खाई ठीक आकाशकी शोभा धारण करती थी ॥ ११३ ॥ उसके किनारे रत्नोंके बने हुये थे उनपर म-

---

१ पूर्व दिशाके मानस्तंभके चारोंओर नंदोत्तरा, नंदा, नंदघोषा नंदावती, दक्षिण दिशाके मानस्तंभके चारोंओर विजया वैजयंती जयंती अपराजिता, पश्चिम दिशामें अशोका सुप्रसिद्धा कुमुदा पुंडरीकिणी और उत्तर दिशाकी ओर हृदयानंदा महानंदा सुप्रवुद्धा और प्रभंकरी इसप्रकार सब सोलह वावडी हैं ।

रंगैःपवनाहतैः । प्रनृत्यंतीव सा रेजे तोषाज्जिनजयोत्सवे ॥ ११५ ॥ वीच्यंतर्वल्गितोद्वृत्तशफरीकुलसंकुला । सा प्रायोऽभ्यस्यमानेव नाकस्त्रीनेत्रविभ्रमान् ॥ ११६ ॥ नूनं सुरांगनानेत्रविलासैस्ता पराजिताः । सफर्यो वीचिमालासु न्हियेवांतर्दधुर्मुहुः ॥ ११७ ॥ तदभ्यंतरभूभागं पर्यष्कृतलतावनं । वल्लीगुल्मद्रुमोद्भूतसर्वर्तुकुसुमांचितं ॥ ११८ ॥ पुष्पवल्ल्योव्यराजंत यत्र पुष्पस्मितोज्ज्वलाः । स्मितलीलां द्युनारीणां नाटयंत्य इव स्फुटं ॥ ११९ ॥ भ्रमरैर्मंजुगुंजद्भिरावृतांता विरेजिरे । यत्रनीलपटच्छन्नविग्रहा इव वीरुधः ॥ १२० ॥ अशोकलतिका यत्र दधुराताम्रपल्लवान् । स्पर्द्धमाना इवाताम्रैरप्सरःकर-

धुर शब्द करते हुये पंक्तिरूपसे पक्षी वैठे हुये थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों उस खाईने अपनी लहरेंरूपी हाथोंसे उत्तम कांतिको धारण करनेवाली करधनी ही पकडी हो ॥११४॥ उस खाईमें जो जलचर जीव थे उनके हाथपैरके आघातसे उत्पन्न हुई और वायुके द्वारा ऊपरको उछलती हुई लहरोंसे वह खाई ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों भगवानके घातिया कर्मोंको जीतलेनेके उत्सवमें संतुष्ट होकर वह नृत्य ही कर रही हो ॥ ११५ ॥ लहरोंके भीतर गोलरूपसे चक्कर खाती हुई और ऊपरको उछलती हुई चंचल मछलियोंके समूहसे वह खाई भरी हुई थी, और ऐसी जान पडती थी मानों देवांगनाओंके नेत्रोंके विलासोंका अर्थात् कटाक्षोंका प्रायः अभ्यास ही कर रही हो ॥ ११६ ॥ जो मछलियां उसकी लहरोंमें बार बार डूब रहीं थीं वे ऐसी जान पडती थीं मानों वे अवश्य ही देवांगनाओंके नेत्रोंके विलासोंसे हार गईं थीं इसलिये लज्जावश होकर ही वे लहरोंके मध्यभागमें बार २ डूब रहीं हों ॥ ११७ ॥ ऐसी उस खाईके भीतरकी ओरकी पृथ्वीको घेरकर एक लतावन था, जो कि लता, छोटे २ पौधे और वृक्षोंसे उत्पन्न हुये सब ऋतुओंके फूलोंसे बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ ११८ ॥ उस लतावनमें पुष्परूपी मंद हास्यसे उज्वल ऐसी अनेक पुष्पलतायें सुशोभित हो रहीं थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों देवांगनाओंके मंदहास्यको देखकर जोरसे हंस रहीं हों ॥११९॥ मनोहर शब्द करते हुये भ्रमरोंसे ढकी हुई उस वनकी लतायें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों

पल्लवैः ॥ १२१ ॥ यत्र मंदानिलोध्दूतैःकिंजल्कैस्ततमंबरं । धत्ते स्म पटवासाभां पिंजरीकृतदिग्मुखं ॥ १२२ ॥ प्रतिप्रसवमासीनमंजुगुंजन्मधुव्रतं । विडंबयदिवाभाति यत्सहस्राक्षविभ्रमं ॥ १२३ ॥ सुमनोमंजरीपुंजात्किंजल्कं सांद्रमाहरन् । यत्र गंधवहो मंदं वाति स्मान्दोलयँल्लताः ॥ १२४ ॥ यत्र क्रीडाद्रयो रम्याः सशय्याश्च लतालयाः । धृतये स्म सुरस्त्रीणां कल्पंते शिशिरानिलाः ॥ १२५ ॥ वल्लीः कुसुमिता यत्र स्पृशंति स्म मधुव्रताः । रजस्व-

उन्होंने नीले कपडेसे अपना शरीर ही ढक लिया हो ॥ १२० ॥ वहांकी अशोक जातिकी लताओंपर लाल पत्ते लग रहे थे जिनसे वे ऐसी जान पडती थीं मानों अप्सराओंके हाथकी लाल हथेलियोंके साथ ईर्षा ही कर रही हों ॥ १२१ ॥ मंद मंद वायुके द्वारा उठेहुये परागसे व्याप्त हुआ (भरा-हुआ) और जिसने समस्त दिशायें लाल पीली करदी हैं ऐसा उस लतावनका आकाश तनेहुये सुगंधित चंदोवेके समान जान पडता था ॥ १२२ ॥ उस लतावनमें अनेक पुष्प फूले हुये थे और प्रत्येक पुष्पपर मधुर शब्द करते हुये भ्रमर बैठे हुये थे, जिनसे वह लतावन ऐसा जान पडता था मानों हजारों नेत्रोंको धारण करनेवाले इंद्रके नेत्रोंके विलासकी समानता ही धारण करता हो ॥ १२३ ॥ पुष्पोंकी कलियोंके समूहसे परागको ग्रहण करता हुआ और लताओंको हिलाता हुआ वायु उस वनमें धीरे २ चल रहा था ॥ १२४ ॥ उस वनमें अनेक मनोहर क्रीडापर्वत थे तथा जिनमें शीतल वायु चल रहा है और शय्यायें बिछी हुई हैं ऐसे अनेक लतामंडप थे, उन क्रीडापर्वत और लतामंडपोंसे देवांगनाओंको बहुत ही संतोष होता था ॥ १२५ ॥ उस वनमें अनेक रजस्वला अर्थात् पुष्पोंकी रज वा पराग सहित और कुसुमित अर्थात् फूली हुई ऐसी अनेक लतायें थीं जिन्हें मधुव्रत अर्थात् भ्रमर स्पर्श कर रहे थे, सो ठीक ही है क्योंकि मधुव्रत अर्थात् मद्य पीनेवालोंके पवित्रता कहां हो सकती है क्योंकि वे रजस्वला पुष्पवती लताओंको भी स्पर्श कर रहे थे, मद्य पीनेवालेके भी ऐसी स्त्रीके स्पर्श करनेका विचार नहीं होता है ॥ १२६ ॥ उस लतावनके मध्यभागमें वर्षके

[illegible] प्रसः [illegible] मधुलिहां ॥ १२६ ॥ [illegible] हिमानीस्पर्शशीतलाः । चंद्रकांतशिला यत्र विश्रामायामरेशिनां ॥ १२७ ॥ ततोऽ-
[illegible] प्राकारः प्रथमो [illegible] हिरण्मयः ॥ १२८ ॥ स दधेऽसौ महान् सालः क्षितिं तां परितः स्थितः । यथाऽ-
सौ चक्रवालाद्रिर्नृलोकभुवं [illegible] ॥ १२९ ॥ नूनं [illegible] सुरचापपराःशतं । तामलं कुरुते स्म क्ष्मां पिंजरीकृतखांगणं ॥ १३० ॥ यस्योप-
[illegible] मौक्तिकावली । [illegible] किं स्विदित्याशंकास्पदं नृणां ॥ १३१ ॥ क्वचिद्विद्रुमसंघातः पद्मरागांशुरंजितः । यस्मिन्सांध्यघन-
[illegible] ॥ १३२ ॥ क्वचिन्नव[illegible]: क्वचिच्छाड्वलसच्छविः । क्वचिच्च सुरगोपाभोऽविद्युदापिंजरः क्वचित् ॥ १३३ ॥ क्वचिद्विचित्र-

---

समान शीतल चंद्रकांत शिलायें पडी हुई थीं जिनपर इंद्रलोग आकर विश्राम लेते थे ॥ १२७ ॥ उस लतावनके भीतरकी ओर कुछ दूर आगे जाकर निषध पर्वतके समान सुवर्णमय एक कोट था जोकि उस समवसरणकी भूमिको चारों ओरसे घेरे हुये था, उस समवसरणमें वह प्रथम कोट कहलाता था ॥ १२८ ॥ उस समवसरणकी भूमिको चारोंओरसे घेरे हुये वह कोट ऐसा सुशोभित होता था मानों मनुष्यलोककी पृथ्वीको घेरे हुये मानुषोत्तर पर्वत ही हो ॥ १२९ ॥ वह कोट ऐसा जान पडता था मानों आकाश प्रदेशको अनेक वर्णका चित्र विचित्र करता हुआ सैकडों इंद्रधनुषोंका समूह ही आकर उस समवसरणकी भूमिको सुशोभित कर रहा हो ॥ १३० ॥ उसके ऊपरी भागपर प्रगट दिखाई देते हुये मोतियोंके समूह जड रहे थे जोकि क्या यह नक्षत्रोंका समूह है इसप्रकार लोगोंको शंकायें उत्पन्न कर रहे थे ॥ १३१ ॥ कहीं कहींपर उस कोटमें बहुतसा मूंगा लग रहा था और वह पद्मराग मणियोंकी किरणोंसे और अधिक लाल हो रहा था, तथा ऐसा जान पडता था मानों संध्याकालके लाल बादलोंकी शोभाको ही उत्पन्न कर रहा हो ॥ १३२ ॥ कहींपर श्याम मणियोंसे नवीन काले बादलके समान जान पडता था, कहींपर हरित मणियोंसे हरी घासके समान जान पडता था कहीं कहींपर लाल मणियोंसे लाल लाल इंद्रगोपके (लाल मखमलके रंग समान

रत्नांशुरचितेंद्रशरासनः । घनकालस्य वैदग्धीं स सालोऽलं व्यडंबयत् ॥ १३४ ॥ क्वचिद्द्विपहरिव्याघ्ररूपैर्मिथुनवृत्तिभिः । निचितः क्वचिदुद्देशे शुकैर्हंसैश्च बर्हिणः ॥१३५॥ विचित्ररत्ननिर्माणैर्मनुष्यमिथुनैः क्वचित् । क्वचिच्च कल्पवल्लीभिर्बहिरंतश्च चित्रितः ॥१३६॥ हसन्निवोन्मिषद्रत्नमयूखनिवहैः क्वचित् । क्वचित्सिंहरवान्कुर्वन्निवोत्सर्पत्प्रतिध्वनिः ॥ १३७ ॥ दीप्ताकारः स्फुरद्रत्नरुचिरुद्धखांगणः । निषधाद्रिप्रतिस्पर्धी स सालो व्यरुचत्तरां ॥ १३८ ॥ महांति गोपुराण्यस्य विबभुर्दिक्चतुष्टये । राजतानि खगेंद्राद्रेः शृंगाणीव स्पृशंति खं ॥१३९॥ ज्योत्स्नांमन्यानि तान्युच्चैस्त्रिभूमानि चकासिरे । प्रहासमिव तन्वंति निर्जित्य त्रिजगच्छ्रियं ॥ १४० ॥ पद्मरागमयैरुच्चैः शिखरैर्व्योमलंघिभिः । दिशः पल्लवयंतीव प्रसरैः शोणरोचिषां ॥ १४१ ॥ जगद्गुरोर्गुणा-

---

कीडोंके रामकी गुडियोंके) समान जान पडता था और कहीं कहींपर अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे इंद्रधनुषकी शोभा उत्पन्न कर रहा था, इसप्रकार वह कोट वर्षाऋतुकी विचित्र शोभाका अनुकरण कर रहा था ॥ १३३-१३४ ॥ उस कोटमें कहीं कहींपर स्त्री पुरुषोंके जोडेसे हाथी घोडे और व्याघ्र आदिके आकार वने हुये थे, कहीं कहींपर तोते हंस तथा मयूरोंके चित्र खिचे हुये थे, कहीं कहींपर अनेक प्रकारके रत्नोंसे मनुष्य और स्त्रियोंके जोडे वने हुये थे और कहीं कहींपर भीतर वाहर दोनोंओर कल्पलताओंके चित्र वने हुये थे, कहीं कहींपर दैदीप्यमान रत्नोंकी किरणोंके समूहसे वह कोट हँसता हुआसा जान पठता था और कहीं कहींपर उसमेंसे जो प्रतिध्वनि निकल रही थी उससे ऐसा जान पडता था मानों सिंहनाद ही कर रहा हो ॥ १३५-१३६-१३७ ॥ जिसके दैदीप्यमान रत्नोंकी कांति आकाशमें व्याप्त हो रही है ऐसा अतिशय प्रकाशमान वह कोट ऐसा सुशोभित होता था मानों निषिध पर्वतके साथ स्पर्द्धा (ईर्षा) ही कर रहा हो ॥ १३८ ॥ उस कोटके चारों दिशाओंमें चांदीके वने हुये चार वडे २ दरवाजे थे जोकि विजयार्द्ध पर्वतकी शिखरोंके समान आकाशका स्पर्श कर रहे थे ॥१३९॥ चांदनीके समूहके समान अतिशय स्वच्छ और बहुत ऊंचे तीन मांजिले वे दरवाजे ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानों तीनों लोकोंकी शोभाको जीतकर हँस रहे ही हों ॥१४०॥

तत्र गायंति सुरगायनाः । केचिच्छृण्वंति नृत्यंति केचिच्च विविधस्मिताः ॥ १४२ ॥ शतमष्टोत्तरं तेषु मंगलद्रव्यसंपदः । भृंगारकलशाब्दाद्याः प्रत्येकं गोपुरेष्वभात् ॥ १४३ ॥ रत्नाभरणभाभारैर्गिरिदिग्नीरितांबरः । प्रत्येकं तोरणास्तेषु शतसंख्या बभासिरे ॥ १४४ ॥ स्वभावभास्वरे भर्तुर्देहे स्थानवकाशनां । मन्येवाभरणान्यास्थुस्तोरणान्यनुतोरणं ॥ १४५ ॥ निधयो नव शंखाद्यास्तद्द्वारोपांतसेविनः । शशंसुः प्राभवं जैनं भुवनत्रितयातिगं ॥ १४६ ॥ त्रिजगत्प्रभुणा नूनं विमोहेनावधीरिताः । बहिर्द्वारं स्थिता दूरान्निधयस्तं सिषेविरे ॥ १४७ ॥ तयोरंतर्महावीथ्युभयोर्भागयोरभूत् । नाट्यशालाद्वयं दिक्षु

उन दरवाजोंके आकाशको उल्लंघन करनेवाले पद्मराग मणियोंके वनेहुये ऊंचे शिखर थे उनकी लाल किरणें चारोंओर फैल रही थीं जिनमे ऐसा जान पडता था मानों वे दरवाजे सब दिशाओंमें लाल नये पत्ते ही फैला रहे हों ॥१४१॥ उन दरवाजोंमें कितने गानेवाले देव जगतगुरु भगवान वृषभदेवके गुणोंको गा रहे थे, कितने ही देव उसे सुन रहे थे, कितने ही नृत्य कर रहे थे और कितने ही हँस रहे थे ॥१४२॥ उन दरवाजोंमेंसे प्रत्येक दरवाजेपर भृंगार, कलश दर्पण आदि एकसौ आठ मंगल द्रव्य सुशोभित हो रहे थे ॥ १४३ ॥ तथा प्रत्येक दरवाजेपर रत्नमय आभरणोंकी कांतिके समूहसे आकाशको अनेकवर्णका करनेवाले ऐसे सौ सौ तोरंण सुशोभित हो रहे थे ॥ १४४ ॥ प्रत्येक तोरणमें लगे हुये वे आभरण ऐसे जान पडते थे मानों भगवानका शरीर स्वभावसे ही देदीप्यमान है इसलिये वहां रहनेकेलिये जगह न पाकर प्रत्येक तोरणमें ही बंध गये हों ॥ १४५ ॥ उन दरवाजोंके समीपमें शंख पद्म आदि नौ निधियां रक्खी हुई थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों तीनों लोकोंको उलंघन करनेवाले भगवानके प्रभुत्वको ही प्रगट कर रही हों ॥ १४६ ॥ अथवा दरवाजेके समीप रक्खी हुई वे निधियां ऐसी जान पडती थीं मानों निर्मोह ऐसे तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवने उनका तिरस्कार ही किया था इसलिये दरवाजेके वाहर रहकर दूरसे ही वे भगवानकी सेवा कर रही हों ॥ १४७ ॥ उन दरवाजोंके भीरतसे आने जानेका बडा रास्ता था और उस रास्तेके दोनोंओर

प्रत्येकं चतसृष्वपि ॥ १४८ ॥ तिसृभिर्भूमिभिर्नाट्यमंडपौ तौ विरेजतुः । विमुक्तेस्त्र्यात्मकं मार्गं नृणां वक्तुमिवोद्यतौ ॥ १४९ ॥ हिरण्मयमहास्तंभौ शुंभत्स्फटिकभित्तिकौ । तौ रत्नशिखरारुद्धनभोभागौ विरेजतुः ॥ १५० ॥ नाट्यमंडपरंगेषु नृत्यंति स्मामरस्त्रियः । शतन्हदा इवामग्नमूर्तयः स्वप्रभान्हदे ॥ १५१ ॥ गायंति जिनराजस्य विजयं ताः स्म संगताः । तमेवाभिनयंत्योऽमू चिक्षिपुः पौष्पमंजलिं ॥ १५२ ॥ समं वीणानिनादेन मृदंगध्वनिरुच्चरन् । व्यतनोत्प्रावृडारंभशंकां तत्र शिखंडिनां ॥ १५३ ॥ शरदभ्रनिभे तस्मिन् द्वितये नाट्यशालयोः । विद्युद्विलासमातेनुर्नृत्यंत्यः सुरयोषितः ॥ १५४ ॥

(बगलमें) दो नाट्यशालायें थीं इसीतरह चारों दरवाजोंमें प्रत्येकमें दो दो नाट्यशालायें थीं ॥ १४८ ॥ वे दोनों ही नाट्यशालायें तीन मंजिली ऊंची थीं और ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों स्वरूप ही मोक्षमार्ग है यही लोगोंको बतलानेकेलिये तैयार हुई हों ॥ १४९ ॥ उन नाट्यशालाओंके बडे २ खंभे सुवर्णके बने हुये थे, दीवालें देदीप्यमान स्फटिकमणिकी बनी हुई थीं और रत्नोंके शिखर बने हुये थे जिनसे समस्त आकाश रुक गया था, इसप्रकार वे नाट्यशालायें बडी ही सुशोभित हो रही थीं ॥ १५० ॥ उन नाट्यशालाओंकी रंगभूमियोंमें देवांगनायें नृत्य कर रही थीं, उनके शरीर उनकी कांतिरूपी कुंडमें डूब रहे थे जिससे वे देवांगनायें बिजलीके समान चमक रही थीं ॥ १५१ ॥ उन नाट्यशालाओंमें नृत्य करती हुई वे देवांगनायें भगवानकी विजयका गान कर रहीं थीं और उसी विजयका अभिनय (नाटक) करती हुईं भगवानकेलिये पुष्पांजलि समर्पण कर रही थीं ॥ १५२ ॥ उन नाट्यशालाओंमें वीणाकी आवाजके साथ साथ जो मृदंगकी आवाज निकल रही थी वह मयूरोंको वर्षाऋतुके प्रारंभ होनेकी शंका उत्पन्न करती थी ॥ १५३ ॥ वे दोनों ही नाट्यशालायें शरदऋतुके बादलोंके समान सफेद थीं इसलिये उनमें जो देवांगनायें नृत्य कर रहीं थीं वे ठीक बिजलीके समान सुशोभित हो रहीं थीं ॥१५४॥ उन नाट्यशालाओंमें किन्नर जातिके देव वीणा बजाते हुये गा रहे थे इसलिये उनके मधुर शब्दोंसे

किन्नराणां कलक्काणैः मोहनैरपवर्गिणैः । तत्रासक्तिं परां भेजुः प्रेक्षिणां चित्तवृत्तयः ॥ १५५ ॥ ततो धूपघटौ द्वौ द्वौ वीथीनामुभयोर्दिशोः । धूपधूमैर्निरुंधातां भ्रमरद्भिर्नभोऽगणं ॥ १५६ ॥ तद्धूपधूमसंरुद्धं नभो वीक्ष्य नभोजुषः । प्रावृट्पयोधराशंकामकालेऽपि व्यतानिषुः ॥ १५७ ॥ दिशः सुरभयन्धूपो मंदानिलवशोत्थितः । स रेजे पृथिवीदेव्या मुखामोद इवोच्छ्वसन् ॥ १५८ ॥ तदामोदं समाघ्राय श्रेणयो मधुलेहिनां । दिशां मुखेषु वितता वितेनुरलकश्रियं ॥ १५९ ॥ इतो धूपघटामोदमितश्च सुरयोषितां । सुगंधिमुखनिश्वाससमक्तिनो जघ्नुराकुलाः ॥ १६० ॥ मंद्रध्वानैर्मृदंगानां स्तनयित्नुविडंबिभिः । पतंत्या पुष्पवृष्ट्या च सदाऽत्रासीद्घनागमः ॥ १६१ ॥ तत्र वीथ्यंतरेष्वासंश्चतस्रो वनवीथयः । नंदनाद्या वनश्रेण्यो विभुं द्रष्टुमिवागताः

देखनेवालोंके चित्त उनमें अतिशय आसक्त हो रहे थे ॥ १५५ ॥ उन नाट्यशालाओंसे कुछ दूर आगे जाकर रास्तेके दोनों ओर एक एक धूपघट था अर्थात् प्रत्येक दिशाके रास्तेपर एक इधर और एक उधर इसप्रकार दो दो धूपके घडे थे, उन घडोंसे चारोंओर फैलता हुआ जो धूआं निकल रहा था उससे सब आकाशरूपी आंगन भर रहा था ॥ १५६ ॥ उन धूपघडोंसे निकलता हुआ धूआं आकाशमें भर रहा था उस धूआंसे भरे हुये आकाशको देखकर विद्याधर लोगोंको असमयमें ही वर्षा ऋतुके बादलोंकी शंका होती थी ॥ १५७ ॥ मंद मंद वायुसे फैलती हुई और समस्त दिशाओंको सुगंधित करती हुई वह धूपकी सुगंधि ऐसी जान पडती थी मानों पृथिवी देवीका सुगंधित उच्छ्वास ही हो ॥ १५८ ॥ उस धूपकी सुगंधि सूंघकर भ्रमरोंके समूह पंक्तिवद्ध होकर सब दिशाओंमें फैलगये थे और ऐसे जान पडते थे मानों पृथ्वी देवीके खुले हुये केश ही फैले हों ॥ १५९ ॥ एकओर उन धूपघडोंसे सुगंधि निकल रही थी और दूसरी ओर देवांगनाओंके मुखके उच्छ्वासकी सुगंधि फैल रही थी सो व्याकुल हुये भ्रमर दोनोंको ही सूंघ रहे थे ॥ १६० ॥ वहांपर मेघोंकी गर्जनाको जीतनेवाले मृदंगोंके गंभीर शब्द होते थे और सदा पुष्पवृष्टि होती थी जिससे वहां सदा वर्षाऋतुसी ही जान पडती थी ॥ १६१ ॥ उन धूपघटोंसे कुछ दूर आगे चलकर रास्तोंके पार्श्वभागमें (बगल-

॥ १६२ ॥ अशोकसप्तपर्णाह्वचंपकाम्रमहीरुहां । वनानि तान्यधुस्तोपादिवोच्चैः कुसुमस्मितं ॥ १६३ ॥ वनानि तरुभिश्चित्रैः फलपुष्पोपशोभिभिः । जिनस्यार्घ्यमिवोत्क्षिप्य तस्थुस्तानि जगद्गुरोः ॥ १६४ ॥ वनेषु तरवस्तेपु रेजिरेपवनाहतैः । शाखाकरैर्मुहुर्नृत्तं तन्वाना इव संमदात् ॥ १६५ ॥ सच्छायाः सफलास्तुंगा जननिर्वृतिहेतवः । सुराजान इवाभूवँस्ते द्रुमाः सुखशीतलाः ॥ १६६ ॥ पुष्पामोदसमाहूतैर्मिलितैरलिनां कुलैः । गायंत इव गुं-

---

में) चार बन बीथी अर्थात् गलीरूपसे चार बन थे जोकि ऐसे जान पडते थे मानों नंदन सौमनस आदि बन ही भगवानको देखनेकेलिये आये हों ॥ १६२ ॥ उन चारों बनोंमेंसे एक अशोक वृक्षोंका बन था, दूसरा सप्तपर्ण जातिके वृक्षोंका बन था, तीसरा चंपक वृक्षोंका बन था और चौथा आमके वृक्षोंका बन था, उन सब वृक्षोंपर फूल खिल रहे थे जिससे ऐसा जान पडता था मानों वे वृक्ष संतोषसे हंस रहे हों ॥ १६३ ॥ उन बनोंमें फल और पुष्पोंसे शोभायमान ऐसे अनेक प्रकारके वृक्ष थे जिनसे वे बन ऐसे जान पडते थे मानों जगतगुरु भगवान वृषभदेवके लिये अर्घ लेकर ही खडे हों ॥ १६४ ॥ उन बनोंमें वृक्षोंकी शाखायें वायुके द्वारा हिल रही थीं जिससे वे वृक्ष ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों वे हर्षित होकर शाखारूपी हाथ हिलाकर नृत्य ही कर रहे हों ॥ १६५ ॥ अथवा वे वृक्ष एक नीतिमान् राजाके समान जान पडते थे क्योंकि जिसप्रकार नीतिमान राजाकी छाया अर्थात् आश्रय अच्छा होता है उसीप्रकार उन वृक्षोंकी छाया भी अच्छी थी, नीतिमान राजासे जिसप्रकार अच्छे फल मिलते हैं उसीप्रकार उन वृक्षोंपर भी फल लगे हुये थे, जिसप्रकार राजा तुंग अर्थात् श्रेष्ठ होता है उसीप्रकार वे भी तुंग अर्थात् ऊंचे थे, नीतिमान राजासे जिसप्रकार मनुष्योंको सुख मिलता है उसीप्रकार उन वृक्षोंके नीचे भी जीवोंको सुख मिलता था, और नीतिमान् राजा जिसप्रकार सुख देनेवाला तथा शीतल अर्थात् शांत होता है उसीप्रकार वे वृक्ष भी सुख देनेवाले और शीतल थे ॥ १६६ ॥ उन वृक्षोंपर लगे हुये पुष्पोंकी सुगंधिसे बुलाये हुये और इसलि-

जाङ्खिजिनं रेजुर्वनद्रुमाः ॥ १६७ ॥ क्वचिद्विरलमुन्मुक्तकुसुमास्ते महीरुहाः । पुष्पोपहारमातेनुरिव भक्त्या जगद्गुरोः ॥ १६८ ॥ क्वचिद्विरुतनां ध्वानै-रलिनां मदमंजुभिः । मदनं तर्जयंतीव वनान्यामन्समंततः ॥ १६९ ॥ पुंस्कोकिलकलक्काणैराह्वयंतीव सेवितुं । जिनेंद्रममराधीशान्वनानि विवभुस्तरां ॥ १७० ॥ पुष्परेणुभिराकीर्णा वनस्याधस्तले मही । सुवर्णरजसास्तीर्णतलेवासीन्मनोहरा ॥ १७१ ॥ इत्यमूनि वनान्यासन्नतिरम्याणि पादपैः । यत्र पुष्पमयी वृष्टिर्नर्तुपर्यायमैक्षत ॥ १७२ ॥ न रात्रिर्न दिवा तत्र तरुभिर्भास्वरैर्भृशं । तच्छैत्यादिवाविभ्यत्संजहार करान्रविः ॥ १७३ ॥ अंतर्वणं क्वचि-

ये ही उन वृक्षोंपर इकट्ठे हुये तथा गुंजार शब्द करते हुये भ्रमरोंके समूहोंसे वे वृक्ष ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों भगवानका यश ही गा रहे हों ॥ १६७ ॥ कहीं कहीं दूर दूरपर उन वृक्षोंसे टूटकर फूल गिर रहे थे जिनसे वे वृक्ष ऐसे जान पडते थे मानों जगतगुरु भगवानकेलिये भक्तिपूर्वक पुष्पोंकी भेट ही अर्पणकर रहे हों ॥ १६८ ॥ कहीं कहींपर मधुर शब्द करते हुये भ्रमरोंके मदोन्मत्त गुंजार शब्दोंसे वे वन ऐसे जान पडते थे मानों चारोंओरसे कामदेवको तर्जना ही कर रहे हों ॥ १६९ ॥ उन बनोंमें उत्तम कोयलोंके मधुर शब्द हो रहे थे जिनसे वे बन ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानकी सेवा करनेकेलिये इंद्रोंको बुला रहे ही हों ॥ १७० ॥ उन बनोंमें वृक्षोंके नीचेकी पृथ्वीपर पुष्पोंका पीला पराग फैला हुआ था जिससे वह पृथ्वी ऐसी सुंदर जान पडती थी मानों सुवर्णकी धूलिसे ही ढक रही हो ॥ १७१ ॥ इसप्रकार वे वन वृक्षोंसे बहुत ही सुंदर जान पडते थे, वहांपर होनेवाली पुष्पोंकी वृष्टि ऋतुओंके वदलनेको कभी नहीं देखती थी, भावार्थ—वहां सब ऋतुओंके फूल पाये जाते थे ॥ १७२ ॥ वहांके वृक्ष इतने प्रकाशमान थे कि वहां रात दिनका भेद नहीं होता था, तथा सूर्य वहांके वृक्षोंकी शीतलतासे डरकर वहांपर कभी अपने कर (हाथ) अर्थात् किरणें नहीं डालता था अर्थात् वहां सूर्यकी किरणें कभी नहीं पडती थीं ॥ १७३ ॥ उन बनोंमें कहींपर त्रिकोण (तिखूंटी) वावडियें थीं और कहींपर चौकर थीं, उन वावडियोंमें स्नानकर

द्वार्यास्त्रिकोणचतुरास्त्रिकाः । स्नानोत्तीर्णामरस्त्रीणां स्तनकुंकुमपिंजराः ॥ १७४ ॥ पुष्करिण्यः क्वचिच्चासन्क्वचिच्च कृतकाद्रयः । क्वचिद्रम्याणि हर्म्याणि क्वचिदाक्रीडमंडपाः ॥ १७५ ॥ क्वचित्प्रेक्षागृहाण्यासंश्चित्रशालाः क्वचित्क्वचित् । एकशालाद्विशालाद्या महाप्रासादपंक्तयः ॥ १७६ ॥ क्वचिच्च शाद्वलाभूमिरिंद्रगोपैस्तता क्वचित् । सरांस्यतिमनोज्ञानि सरितश्च ससैकताः ॥ १७७ ॥ हारि मेदुरमुन्निद्रकुसुमं सश्रि कामदं । सुकलत्रमिवासीत्तत्सेव्यं वनचतुष्टयं ॥ १७८ ॥ अपास्तातपसंबाधं विलसत्पल्लवांचितं । पयोधरस्पृगाभासि तत्स्त्रीणामुत्तरीयवत् ॥ १७९ ॥ बभासे वनमाशोकं शोकापनुदमं-

बाहर निकली हुई देवांगनाओंके स्तनोंका केशर धुल गया था जिससे उन बावडियोंका पानी कुछ २ पीला पडगया था ॥ १७४ ॥ उन बनोंमें कहींपर सुंदर तालाव थे, कहींपर कृत्रिम पर्वत थे, कहींपर मनोहर मकान थे और कहींपर खेलनेके क्रीडामंडप बने हुये थे ॥ १७५ ॥ कहींपर शोभा देखनेके घर बने हुये थे, कहीं कहीं पर चित्रशालायें बनी हुई थीं और कहीं कहींपर एक मंजिलकी तथा कहीं दोमंजिलकी बडे २ मकानोंकी पंक्तियां लगी हुई थीं ॥ १७६ ॥ कहीं कहींपर उन बनोंमें छोटी २ हरी घास उग रही थी, कहींपर इंद्रगोपजातिके लाल रंगके कीडे दिखाई दे रहे थे, कहींपर सुंदर सरोवर थे, और कहींपर वालूरेतसे भरी हुई नदियां वह रहीं थीं ॥ १७७ ॥ वे चारों ही बन सुंदर स्त्रियोंके समान सेवन करने योग्य थे क्योंकि स्त्रियां जिसप्रकार मनोहर होती हैं उसीप्रकार वे बन भी मनोहर थे, स्त्रियां जिसप्रकार मेदुर अर्थात् चिकनी वा प्रेम करनेवाली होती हैं उसीप्रकार वे वन भी मेदुर अर्थात् गीले थे, स्त्रियां जिसप्रकार उन्निद्रकुसुम अर्थात् पुष्पवती होती हैं उसीप्रकार वे वन भी उन्निद्रकुसुम अर्थात् फूलोंसे फूल रहे थे, स्त्रियां जिसप्रकार सश्री अर्थात् शोभायमान होती हैं उसीप्रकार वे वन भी सश्री अर्थात् सुशोभित थे और स्त्रियां जिसप्रकार मनकी अभिलाषा पूर्ण करती हैं उसीप्रकार वे वन भी कामद अर्थात् इच्छित पदार्थोंके देनेवाले थे ॥ १७८ ॥ अथवा वे वन स्त्रियोंके ओढनेके वस्त्रके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि स्त्रियोंके ओढनेके वस्त्र जिसप्रकार

गितं , [illegible] पुष्पाद्यैः ॥ १८० ॥ पर्णानि सप्त बिभ्राणं वनं साप्तच्छदं बभौ । सप्त स्थानानि वा भर्तुर्दर्शयत्प्रतिपर्व यत् ॥ १८१ ॥ चांपकं वनमत्यासीत्सुमनोभरभूषणं । वनं दीपांगवृक्षाणां विभुं सेवितुमागतं ॥ १८२ ॥ कमसमाम्रवनं रेजे कलकंठकलस्वनैः । स्तुवानमिव सर्वज्ञं [illegible] पुण्यशासनं ॥ १८३ ॥ अशोकवनमध्येऽभूदशोकानोकहो महान् । हैमं त्रिमेखलं पीठं समुत्तुंगमधिष्ठितः ॥ १८४ ॥ चतुर्गो-

---

धूपकी बाधा दूर करते हैं उसीप्रकार वे वन भी धूपकी बाधा दूर करते थे, जिसप्रकार स्त्रियोंके ओढनेके वस्त्रके पल्लव अर्थात् अंचल (छोक) देदीप्यमान होते हैं उसीप्रकार उन वनोंके पल्लव अर्थात् पत्ते भी बहुत अच्छे सुशोभित हो रहे थे और स्त्रियोंके वस्त्र जिसप्रकार पयोधर अर्थात् स्तनोंको स्पर्श करते हैं उसीप्रकार वे वन भी पयोधर अर्थात् बादलोंको स्पर्श करते थे अर्थात् बहुत ऊंचे थे ॥ १७९ ॥ उन चारों वनोंमेंसे पहिला अशोक वन प्राणियोंका शोक दूर करताहुआ सुशोभित हो रहा था तथा लालरंगके पुष्प और पत्तोंसे ऐसा जान पडता था मानों अपने अनुरागका [प्रेमका] वमन ही कर रहा हो ॥ १८० ॥ प्रत्येक गांठपर सात सात पत्तोंको धारण करनेवाले सप्तच्छद जातिके वृक्षोंका दूसरा वन भी बहुत ही सुशोभित हो रहा था और ऐसा जान पडता था मानों वह वृक्षकी प्रत्येक गांठपर भगवानके सात परम स्थानोंको[1] ही दिखा रहा हो ॥ १८१ ॥ इसीप्रकार पुष्पोंके समूहोंसे सुशोभित चंपक वृक्षोंका वन भी ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानों भगवानकी सेवा करनेकेलिये दीपांग जातिके वृक्षोंका वन ही आया हो ॥ १८२ ॥ तथा कोइलोंके मधुर शब्दोंसे अत्यंत सुंदर ऐसा आमके वृक्षोंका वन ऐसा अच्छा जान पडता था मानों पवित्र उपदेश देनेवाले भगवानकी भक्तिपूर्वक स्तुति ही कर रहा हो ॥ १८३ ॥ उन चारों वनोंमेंसे जो अशोक

---

१ सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेंद्रता । साम्राज्यं परमार्हंत्यं निर्वाणं चेति सप्तधा ॥ १ ॥ सज्जाति, उत्तम गृहस्थपना, दीक्षालेना, इंद्रपदपाना, चक्रवर्ती होना, अर्हंत होना और निर्वाण पद पाना ये सात परमस्थान कहलाते हैं ।

पुरसंबद्धत्रिसालपरिवेष्टितः । छत्रचामरभृंगारकलशाद्युपस्कृतः ॥ १८५ ॥ जंबूद्वीपस्थलीमध्ये भाति जंबूद्रुमो यथा । तथा वनस्थलीमध्ये स बभौ चैत्यपादपः ॥ १८६ ॥ शाखाग्रव्याप्तविश्वाशः स रेजेऽशोकपादपः । अशोकमयमेवेदं जगत्कर्तुमिवोद्यतः ॥ १८७ ॥ सुरभीकृतविश्वाशैः कुसुमैः स्थगितांबरः । सिद्धाध्वानमिव रुंधन्रेजेऽसौ चैत्यपादपः ॥ १८८ ॥ मरकतोपलनिर्माणैः पत्रैश्चित्रैश्चितोऽभितः । पद्मरागमयैः पुष्पस्तबकैः परितो वृतः ॥ १८९ ॥ हिरण्मयमहोदग्रशाखो वज्रद्रबुध्नकः । कलालिकुलझंकारैस्तर्जयन्निव मन्मथं ॥ १९० ॥ सुरासुरनरेंद्रांतरक्षेभालानविग्रहः । स्वप्रभापरिवेषेण

वन था उसमें सुवर्णकी वनी हुई तीन कटनीदार बहुत ऊंची एक वेदिका थी और उस वेदिकापर विराजमान एक वहुत वडा अशोकवृक्ष था ॥ १८४ ॥ उस वेदिकाके चारोंओर तीन कोट थे, प्रत्येक कोटके चार चार दरवाजे थे और उनपर छत्र,चामर भृंगार कलश आदि मंगलद्रव्य रक्खे हुये थे ॥ १८५ ॥ जिसप्रकार उत्तरकुरुमें जंबूद्वीप नामकी छोटी वेदिकापर जंबूवृक्ष सुशोभित होता है उसी-प्रकार उस वनकी वेदिकापर वह अशोक नामका चैत्यवृक्ष सुशोभित हो रहा था ॥ १८६ ॥ उस अशोकवृक्षकी शाखाओंके अग्रभाग समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो रहे थे जिससे वह अशोकवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों समस्त संसारको अशोकमय अर्थात् शोकरहित करनेकेलिये ही तैयार हुआ हो ॥ १८७ ॥ उस अशोकवृक्षके पुष्पोंकी सुगंधिसे समस्त दिशायें सुगंधित होगई थीं, पुष्पों-से समस्त आकाश भरगया था, जिससे वह चैत्यवृक्ष ऐसा जान पडता था मानों आकाशको रोक रहा ही हो ॥ १८८ ॥ मरकतमणियोंके बने हुये अनेक प्रकारके उसके पत्र बहुत ही अच्छे जान पडते थे और पद्मरागमणियोंके बने हुये फूलोंके गुच्छे उसपर चारोंओर लगे हुये थे ॥ १८९ ॥ सुव-र्णमय उसकी वहुत बडी २ शाखायें थीं, बज्रका बनाहुआ उसका मूलभाग था और भ्रमर बैठे हुये उसपर मधुर झंकार शब्द कर रहे थे, जिससे ऐसा जान पडता था मानों वह कामदेवको तर्जना ही कर रहा हो ॥ १९० ॥ वह चैत्यवृक्ष सुर असुर चक्रवर्ती आदि सबके मनरूपी हाथियोंको बांध-

शान्तिनाखिलदिग्मुखः ॥ १९१ ॥ रणद्घण्टाविरावैर्बधिरीकृतविश्वभूः । भूर्भुवःस्वर्जयं भर्तुः प्रतोषादिव घोषयन् ॥ १९२ ॥ ध्वजांशुकपरामृष्टनिर्मेघवनपद्धतिः । जगज्जनांगसंलग्नमागः परिमृजन्निव ॥ १९३ ॥ मूर्ध्ना छत्रत्रयं बिभ्रन्मुक्तालंबनभूषितं । विभोस्त्रिभुवनैश्वर्यं विना वाचैव दर्शयन् ॥ १९४ ॥ मेजिरे बुध्नभागेऽस्य प्रतिमा दिक्चतुष्टये । जिनेश्वराणामिंद्राद्यैः समवाप्ताभिषेचनाः ॥ १९५ ॥ गंधस्रग्धूपदीपाद्यैः फलैरपि सहाक्षतैः । तत्र नित्यार्चनं देवा जिनार्चानां वितेनिरे ॥ १९६ ॥ क्षीरोदोदकधौतांगीरमलास्ता हिरण्मयीः । प्रणिपत्यार्हतामर्चाः प्रानर्चुर्नृसुरासुराः ॥ १९७ ॥

नेकेलिये खंभेके समान था अर्थात् उसमें सबका चित्त मोहित होता था वह वृक्ष अपने प्रभामंडलसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता था ॥ १९१ ॥ उसपर जो शब्द करते हुये घंटे लग रहे थे उनमें वह समस्त पृथ्वीको बहिरी (बधिर-सुनाई न देने योग्य) कर रहा था और ऐसा जान पडता था मानों संतुष्ट होकर स्वर्गलोक मध्यलोक और अधोलोक इन तीनों लोकोंमें भगवानकी जय घोषणा ही कर रहा हो ॥ १९२ ॥ उस वृक्षपर जो ध्वजायें लग रहीं थीं उनके वस्त्रोंसे बादलोंको पोंछ पोंछकर उसने आकाशमार्गको (बादल रहित) निर्मल कर दिया था और ऐसा जान पडता था मानों संसारी लोगोंमें जो पाप लग रहा है उसे ही पोंछ रहा हो ॥ १९३ ॥ उस चैत्यवृक्षके मस्तकपर तीन छत्र लगे हुये थे उन छत्रोंमें मोतियोंकी लडियें लटक रहीं थीं जिनसे वे बहुत ही अच्छे सुशोभित हो रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानों भगवानके तीनों लोकोंके ऐश्वर्यको बिना बचनके ही दिखला रहे हों ॥ १९४ ॥ चैत्यवृक्षके मूलभागमें चारों दिशाओंमें श्रीजिनेंद्रदेवकी चार प्रतिमायें विराजमान थीं जिनका इंद्रलोग भी स्वयं अभिषेक करते थे ॥ १९५ ॥ देवलोग वहांपर विराजमान उन प्रतिमाओंकी गंध, पुष्पमाल धूप, दीप फल अक्षत आदि द्रव्योंसे सदा पूजन करते थे ॥ १९६ ॥ क्षीरसागरके जलसे जिनका अभिषेक हुआ है और जो अत्यंत निर्मल हैं ऐसी उन सुवर्णमयी अरहंतकी प्रतिमाको नमस्कारकर मनुष्य, देव और असुर अर्थात् भवनवासी व्यंतर ज्यो-

स्तुवंति स्तुतिभिः केचिदर्थ्याभिः प्रणमंति च । स्मृत्वाऽवधार्य गायंति केचित्स्म सुरसत्तमाः ॥ १९८ ॥ यथाऽशोकस्तथाऽन्येऽपि विज्ञेयाश्चैत्यभूरुहाः । वने स्वे स्वे सजातीया जिनबिंबेद्धबुध्नकाः ॥१९९॥ अशोकः सप्तपर्णश्च चंपकश्चूत एव च । चत्वारोऽमी वनेष्वासन्प्रोत्तुंगाश्चैत्यपादपाः ॥ २०० ॥ चैत्याधिष्ठितबुध्नत्वादूढतन्नामरूढयः । शाखिनोऽमी विभांति स्म सुरेंद्रैः प्राप्तपूजनाः ॥ २०१ ॥ फलैरलंकृता दीप्राः स्वपादाक्रांतभूतलाः । पार्थिवाः

तिष्क देव सब ही उनकी पूजन करते थे ॥ १९७ ॥ कितने ही उत्तमोत्तम देव अनेकप्रकारके अर्थोंसे भरे हुये स्तोत्रोंसे उन प्रतिमाओंकी स्तुति करते थे, कितने ही देव उन्हें नमस्कार करते थे और कितने ही देव उनके गुणोंका स्मरणकर तथा चिंतवनकर गान करते थे ॥ १९८ ॥ जिसप्रकार अशोकवनमें अशोक नामका चैत्यवृक्ष था उसीप्रकार अन्य तीनों बनोंमें भी अपनी अपनी जातिका एक एक चैत्यवृक्ष था और उन सबके मूलभागमें श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमायें विराजमान थीं ॥ १९९ ॥ अशोक सप्तपर्ण चंपक और आम्रबनमें अशोक, सप्तपर्ण, चंपक और आम्र इन नामोंके ही बहुत ऊंचे ऐसे चार चैत्यवृक्ष थे ॥ २०० ॥ उनके मूलभागमें चैत्य अर्थात् भगवानकी प्रतिमा विराजमान थीं इसलिये ही वे चैत्यवृक्ष कहलाते थे तथा इंद्र भी उनकी पूजन करता था ऐसे वे चैत्यवृक्ष बहुत ही अच्छे सुशोभित हो रहे थे ॥ २०१ ॥ पार्थिव अर्थात् पृथ्वीसे उत्पन्न हुये वे वृक्ष सचमुच ही पार्थिव अर्थात् राजाके समान थे, क्योंकि जिसप्रकार राजा इष्ट फल देनेवाले होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी फलोंसे सुभोभित हो रहे थे, राजा जिसप्रकार तेजस्वी होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी तेजस्वी थे, राजा जिसप्रकार अपने पैरोंसे समस्त पृथ्वीको आक्रमण करते हैं उसीप्रकार उन वृक्षोंके जडभाग भी बहुतसी पृथ्वीको घेरे हुये थे और राजा जिसप्रकार पत्र अर्थात् सवारी वाहन आदिसे भरपूर होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी पत्र अर्थात् पत्तोंसे भरपूर थे ॥ २०२ ॥ उन वृक्षोंपर जो लाल कोंपल (नये पत्ते) लग रहे थे उनसे वे मानों अपना अनु-

सत्यमेवैते पार्थिवाः पत्रसंभृताः ॥ २०२ ॥ प्रव्यंजितानुरागाः स्वैः पल्लवैः कुसुमोत्करैः । प्रसादं दर्शयंतोऽतर्विभुं भेजुरिमे द्रुमाः ॥ २०३ ॥ तरूणामेव तावच्चेदीदृशो विभवोदयः । किमस्ति वाच्यमीशस्य विभवेऽनीदृशात्मनः ॥ २०४ ॥ ततो वनानां पर्यंते बभूव वनवेदिका । चतुर्भिर्गोपुरैस्तुंगैरारुद्धगगनांगणा ॥ २०५ ॥ कांचीयष्टिर्वनस्येव सा बभौ वनवेदिका । चामीकरमयै रत्नैः खचितांगी समंततः ॥ २०६ ॥ सा बभौ वेदिकोदग्रा सचर्या समया वनं । भव्यधीरिव संश्रित्य सचर्या समयावनं ॥ २०७ ॥ सुगुप्तांगी सती वासौ रुचिरा सूत्रपा वनं । परीयाय श्रुतं जैनं सद्धीर्वा सूत्र-

---

राग अर्थात् भक्ति ही प्रगट कर रहे थे और उनपर जो पुष्पोंके समूह लगे हुय थे उनसे वे मानों अपनी प्रसन्नता ही दिखला रहे थे, इसप्रकार वे वृक्ष सवतरह भगवानकी सेवा कर रहे थे ॥२०३॥ इसप्रकार उन वृक्षोंका ही जब इतना वडा माहात्म्य है तब उपमारहित ऐसे भगवान ऋषभदेवकी केवल ज्ञानरूपी विभूतिके माहात्म्यका क्या पूछना है ॥ २०४ ॥ उन बनोंके अंतमें चारोंओर एक वनवेदी थी उसमें चारों दिशाओंमें चार बडे बडे ऊंचे दरवाजे थे, जिनसे ऐसा जान पडता था मानों उसने आकाशरूपी आंगनको ही रोक लिया हो ॥ २०५ ॥ वह बनवेदिका सुवर्णकी बनीहुई थी और उसमें चारोंओर अनेकप्रकारके रत्न लगे हुये थे जिनसे वह ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों उन बनोंकी करधनी ही हो ॥ २०६ ॥ अथवा वह बनकी वेदिका भव्य जीवोंकी बुद्धिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिसप्रकार भव्य जीवोंकी बुद्धि सचर्या अर्थात् चारित्र सहित होती है उसीप्रकार वह वेदिका भी सचर्या अर्थात् रक्षासहित थी, भव्य जीवोंकी बुद्धि जिसप्रकार समयावनं अर्थात् शास्त्रकी मर्यादाके आश्रय रहती है अथवा शास्त्रकी रक्षा करनेवाली होती है उसीप्रकार वह वेदी भी समयावनं अर्थात् वनके समीप थी और जिसप्रकार भव्य जीवोंकी बुद्धि उदग्र अर्थात् उत्कृष्ट होती है उसीप्रकार वह वेदी भी उदग्र अर्थात् बहुत ऊंची थी ॥ २०७ ॥ अथवा वह वेदिका सम्यग्दृष्टी जीवकी बुद्धिके समान जान पडती थी, क्योंकि सम्यग्दृष्टीकी सुबुद्धि जिसप्रकार सुगुप्तां-

पावनं ॥ २०८ ॥ घंटाजालानि लंबानि मुक्तालंबनकानि च । पुष्पस्रजश्च संरेजुरमुष्यां गोपुरं प्रति ॥ २०९ ॥ राजतानि बभुस्तस्या गोपुराण्यष्टमंगलैः । संगीतातोद्यनृत्तैश्च रत्नाभरणतोरणैः ॥२१०॥ ततः परमलंचक्रुर्विविधा ध्वजपंक्तयः । महीं वीथ्यंतरालस्थां हेमस्तंभाग्रलंबिताः ॥ २११ ॥ सुस्थास्ते मणिपीठेषु ध्वजस्तंभाः स्फुरद्रुचः । विरेजुर्जगतां मान्याः सुराजान इवोन्नताः ॥ २१२ ॥ अष्टाशीत्यंगुलान्येषां रुंद्रत्वं परिकीर्तितं । पंचविंशतिको-

गी अर्थात् पापाचारोंसे अपने शरीरको छिपानेवाली वा पापाचार रहित होती है उसीप्रकार वह वेदिका भी सुगुप्तांगी अर्थात् सुरक्षित थी, सुबुद्धि जिसप्रकार समीचीन होती है उसीप्रकार वह वेदिका भी समीचीन थी, सुबुद्धि जिसप्रकार मनोहर होती है उसीप्रकार वह वेदिका भी मनोहर थी, सुबुद्धि जिस प्रकार सूत्रपा अर्थात् सिद्धांत शास्त्रकी रक्षा करनेवाली होती है उसी प्रकार वह वेदिका भी सूत्रपा अर्थात् सूत्रवद्ध (सूत व डोराके नापसे बनी हुई) थी ऊंची नीची नहीं थी और सुबुद्धि जिसप्रकार सूत्रोंसे पवित्र ऐसे जैनशास्त्रके चारोंओर रहती है उसीप्रकार वह वेदिका भी उन बनोंको चारोंओरसे घेरे हुये थी ॥ २०८ ॥ उस वेदीके प्रत्येक दरवाजेमें बहुतसे घंटा लटक रहे थे तथा मोतियोंकी मालायें और पुष्पोंकी मालायें भी लटकतीं हुईं सुशोभित हो रहीं थीं ॥ २०९ ॥ उस वेदिकाके चारों दरवाजे सफेद चांदीके बने हुये थे, उनके समीप ही अष्ट मंगलद्रव्य रक्खे हुये थे, उनपर संगीत (गाना) हो रहा था, बाजे बज रहे थे, नृत्य हो रहा था और अनेक रत्नमय आभरणोंसे सुशोभित तोरण लटक रहे थे, जिनसे वे दरवाजे बहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ २१० ॥ उस वेदिकाके आगे बडे रास्तोंके इधर उधरकी जमीनमें सुवर्णके खंभोंपर लटकती हुईं अनेक प्रकारकी ध्वजायें थीं जो कि वहांकी पृथ्वीको सुशोभित कर रही थीं ॥ २११ ॥ उन ध्वजाओंके खंभे नीतिवान राजाके समान सुशोभित हो रहे थे, क्योंकि जिसप्रकार राजा मणिमय सिंहासनपर विराजमान होता है उसीप्रकार वे खंभे भी मणिमय

दंडान्यमीषामंतरं विदुः ॥ २१३ ॥ सिद्धार्थचैत्यवृक्षाश्च प्राकारवनवेदिकाः । स्तूपाः सतोरणा मानस्तंभाः स्तंभाश्च कैतवाः ॥ २१४ ॥ प्रोक्तास्तीर्थकृदुत्सेधाद्उत्सेधेन द्विषड्गुणाः । दैर्घ्यानुरूपमेतेषां रौद्रमाहुर्मनीषिणः ॥ २१५ ॥ वनानां सगृहाणां च पर्वतानां तथैव च । भवेद्वुत्तिरेषैव वर्णिताऽऽगमकोविदैः ॥ २१६॥ भवेयुर्गिरयो रुंद्राः स्वोत्सेधादष्टसंगुणं । स्तूपानां मुच्छ्रते व्यासं सातिरेकं विदो विदुः ॥२१७॥ उशंति वेदिकादीनां स्वोत्सेधस्य चतुर्थकं । पार्थवं परमज्ञानमहाकूपारपारगाः ॥ २१८ ॥ स्रग्वस्त्रसहसानाब्जहंसवीनमृगेशिनां । वृषभेभेंद्रचक्राणां ध्वजाः स्युर्दशभेदकाः ॥ २१९ ॥

वेदियोंपर खडे थे, राजा जिसप्रकार कांतिमान् होता है उसीप्रकार वे खंभे भी दैदीप्यमान थे, राजा जिसप्रकार जगतपूज्य होता है उसीप्रकार वे खंभे भी जगतमें मान्य अर्थात् उत्कृष्ट थे और राजा जिसप्रकार उन्नत अर्थात् उत्कृष्ट होता है उसीप्रकार वे खंभे भी उन्नत अर्थात् ऊंचे थे ॥२१२॥ ये ध्वजाओंके खंभे अठासी अंगुल अर्थात् श्रीवृषभदेवके हाथसे आठ अंगुल कम चार हाथ चौडे थे और प्रत्येक खंभेका अंतर पच्चीस धनुष था ॥ २१३ ॥ पहिले जो चैत्यवृक्ष कह चुके हैं उनकी तथा, आगे जो सिद्धार्थवृक्ष कहेंगे उनकी, कोट, बनवेदिका, रत्नोंके स्तूप, तोरण सहित मानस्तंभ और ध्वजाओंके खंभ इन सबकी उंचाई तीर्थंकरोंके शरीरकी उंचाईसे बारह गुनी होती है और विद्वान लोगोंने इनकी चौडाई मोटाई आदि लंबाईके अनुसार ही बतलाई है ॥२१४-२१५॥ इसीप्रकार आगमको जाननेवाले गणधरआदि देवोंने वन, बनके मकान और पर्वत इन सबकी उंचाई तीर्थंकरके शरीरसे बारहगुणी बतलाई है ॥ २१६ ॥ पर्वतोंकी चौडाई उंचाईसे आठगुणी होती है और स्तूपोंका व्यास अर्थात् लंबाई चौडाई गणधरादि देवोंने उंचाईसे कुछ अधिक बतलाई है ॥ २१७ ॥ परमज्ञानरूपी महासमुद्रके पारगामी गणधरदेवोंने बनवेदीकी चौडाई उंचाईसे चौथाई बतलाई है ॥ २१८ ॥ ऊपर कही ध्वजाओंमें अलग अलग माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड, सिंह, बैल, हाथी, और चक्र, इनके चिन्ह थे जिनसे उन ध्वजाओंके दश भेद होगये

अष्टोत्तरशतं ज्ञेयाः प्रत्येकं पालिकेतनाः । एकैकस्यां दिशि प्रोच्चास्तरंगास्तोयधेरिव ॥ २२० ॥ पवनांदोलितस्तेषां केतूनामंशुकोत्करः । व्याजुहूषुरिवा-
भासीज्जिनेज्यायै नरामरान् ॥ २२१ ॥ स्रग्ध्वजेषु स्रजो दिव्याः सौमनस्यो ललंबिरे । भव्यानां सौमनस्याय कल्पितास्त्रिदिवाधिपैः ॥ २२२ ॥ श्लक्ष्णां-
शुकध्वजा रेजु पवनांदोलितोत्थिताः । व्योमांबुधेरिवोद्भूतास्तरंगास्तुंगमूर्त्तयः ॥ २२३ ॥ बर्हिध्वजेषु बर्हाली लीलयोत्क्षिप्य बर्हिणः । रेजुग्रस्तांशुकाः सर्प-
बुध्यैव ग्रस्तकृत्तयः ॥ २२४ ॥ पद्मध्वजेषु पद्मानि सहस्रदलसंस्तरैः । नभःसरसि फुल्लानि सरोजानीव रेजिरे ॥ २२५ ॥ अधःप्रतिमया तानि संक्रां-

थे ॥ २१९ ॥ एक एक दिशामें एक एक प्रकारकी ध्वजायें एकसौ आठ थीं अर्थात् एक एक दिशा-
में दशोंप्रकारकी ध्वजायें एकहजार अस्सी थीं, चारों दिशाओंमें चारहजार तीनसौ वीस थीं । वे
ध्वजायें बहुत ऊंची थीं इसलिये आकाशमें समुद्रकी लहरोंके समान जान पडती थीं ॥ २२० ॥ उन
ध्वजाओंके वस्त्रोंका समुदाय वायुके झकोरेसे उड रहा था जिससे वे ध्वजायें ऐसी जान पडती थीं
मानों भगवानकी पूजा करनेकेलिये मनुष्य और देवोंको बुला रही हीं हों ॥ २२१ ॥ उन ध्वजाओं-
मेंसे जिनपर मालाओंके चिन्ह थे उनपर फूलोंकी बनी हुई दिव्य मालाओंके चिन्ह ऐसे लटक रहे
थे मानों भव्य जीवोंका सौमनस्य अर्थात् सरल परिणाम दिखलानेकेलिये ही इन्द्रोंने उन्हें बनाया
हो ॥ २२२ ॥ वस्त्रोंके चिन्हवाली ध्वजायें महीन और सफेद कपडेकी बनी हुई थीं और वायुके झ-
कोरेसे उडती हुई वे बडी बडी तथा ऊंची ध्वजायें ऐसी जान पडती थीं मानों आकाशरूपी समुद्र-
की तरंगे ही उठ रही हों ॥ २२३ ॥ मयूरके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो मयूरोंके चिन्ह थे वे लीला-
पूर्वक अपनी पूंछको फैलाये हुये थे और सांप समझकर वस्त्रोंको निगलते हुये ऐसे जान पडते थे
मानों सांपकी कांचलीको ही निगल रहे हों ॥ २२४ ॥ कमलके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो एकहजार
दलके कमलोंके चिन्ह थे वे ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों आकाशरूपी सरोवरमें कमल ही फूल
रहे हों ॥ २२५ ॥ रत्न खचित पृथ्वीपर उन ध्वजाओंमें लगे हुये कृत्रिम कमलोंके जो प्रतिबिंब पड

तानि महीतले । भ्रमरान्भेजयंति स्म मधुव्रतजुलालितः ॥ २२६ ॥ तेषां तदात्वनीं शोभां दृष्ट्वा नान्यत्रभाविनीं । कंजान्युत्सृज्य कार्त्स्न्येन लक्ष्मीस्तेषु पदं दधे ॥ २२७ ॥ हंसध्वजेषु हंसेन्द्रश्चंच्वा प्रसितवाससः । निजां प्रसारयंतो वा द्रव्यलेश्यां तदात्मना ॥ २२८ ॥ गरुत्मद्ध्वजदंडाग्राण्यध्यासीना विनायकाः । रेजुः स्वैः पक्षविक्षेपैर्विलंघयिषवो नु खं ॥ २२९ ॥ वसुनीलमणिक्ष्मास्था गरुडाः प्रतिमागताः । समाक्रष्टुमिवाहींद्रान्प्रविशंतो रसातलं ॥ २३० ॥ मृगेंद्रकेतनाग्रेषु मृगेंद्राः क्रमविन्यया । क्रुतयत्ना विरेजुस्ते जेतुं वा सुरसामजान् ॥ २३१ ॥ स्थूलमुक्ताफलान्येषां मुखलंबीनि रेजिरे । ग-

रहे थे वे कमल समझकर उनपर पडते हुये भ्रमरोंको वडा ही भ्रम उत्पन्न करते थे ॥ २२६ ॥ ध्वजाओंमें लगे हुये कमलोंकी उससमयकी जो शोभा थी वह दूसरी जगह कहीं नहीं थी इसलिये उन्हें देखकर लक्ष्मीने समस्त कमलोंको छोडकर उन्हींमें अपना निवास स्थान वनाया था अर्थात् लक्ष्मी ध्वजाओंके चिन्हरूप उन्हीं कमलोंमें रहती थी ॥ २२७ ॥ हंसोंके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो हंसोंके चिन्ह लग रहे थे वे अपनी चोंचमें वस्त्रोंको पकडे हुये थे और ऐसे जान पडते थे मानों मुंहमें पकडे हुये सफेद वस्त्रके वहानेसे अपनी द्रव्यलेश्या अर्थात् सफेद रंग ही उगलते हुये फैला रहे हों ॥ २२८ ॥ गरुडके चिन्हवाली ध्वजाओंमें खंभोंके ऊपर ध्वजाओंपर गरुडोंके चिन्ह वने हुये थे और अपने पंखोंको हिलाते हुये वे ऐसे जान पडते थे मानों आकाशको उलंघन करना ही चाहते हों ॥ २२९ ॥ नीलमणिकी वनी हुई पृथ्वीमें जो उन गरुडोंका प्रतिविंव पड रहा था वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों वे गरुड नागेंद्रको पकडनेकेलिये पातालमें (अधोलोकमें) ही प्रवेश कर रहे हों ॥ २३० ॥ सिंहके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो सिंहोंके चिन्ह थे वे उडान मारते हुये ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों देवलोगोंके हाथियोंको जीतनेकेलिये ही प्रयत्न कर रहे हों ॥ २३१ ॥ उन चित्ररूप सिंहोंके मुखमेंसे जो वडे वडे मोती लटक रहे थे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों बडे २ हाथियोंके मस्तक विदीर्ण करनेमें इकट्ठा हुआ यश ही लटक रहा हो ॥ २३२ ॥ वैलके चिन्हवाली

जेंद्रकुभसंभेदात्संचितानि यशांसि वा ॥ २३२ ॥ वृषाः शृंगाग्रसंसक्तलंबमानध्वजांशुकाः । रेजुर्विपक्षजीत्येव संलब्धजयकेतनाः ॥ २३३ ॥ उत्पुष्करैः करैरूढध्वजा रेजुर्गजाधिपाः । गिरींद्रा इव कूटाग्रनिपतत्पृथुनिर्झराः ॥ २३४ ॥ चक्रध्वजाः सहस्रारैश्चक्रैरुत्सर्पदंशुभिः । बभुर्भानुमता सार्द्धं स्पर्द्धां कर्तुमिवोद्यताः ॥ २३५ ॥ नभः परिमृजंतो वा श्लिष्यंतो वा दिगंगनाः । भुवमास्फालयंतो वा स्फूर्जंति स्म महाध्वजाः ॥ २३६ ॥ इत्यमी केतवो मोहनिर्जयोपार्जिता बभुः । विभोस्त्रिभुवनेशत्वं शंसंतोऽनन्यगोचरं ॥ २३७ ॥ दिश्येकस्यां ध्वजाः सर्वे सहस्रं स्यादशीतियुक् । चतसृष्वथ ते दिक्षु शून्यद्वि-

---

ध्वजाओंमें जिनके सींगोंमें ध्वजाओंके वस्त्र लटक रहे हैं ऐसे बैलोंके चिन्ह बने हुये थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों अपने शत्रुओंको जीतलेनेसे उन्हें जीतकी ध्वजा ही प्राप्त हुई हों ॥२३३॥ हाथीके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो हाथी बने हुये थे उनकी सूंड ऊपरको उठ रही थी और उन सूंडोंमें ध्वजायें लग रहीं थीं, उन ध्वजाओंसे वे हाथी ऐसे जान पडते थे मानों जिनके शिखरपर बडे बडे निर्झरने वह रहे हों ऐसे वडे पर्वत ही हों ॥ २३४ ॥ इसीप्रकार चक्रके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो चक्रके चिन्ह वने हुये थे उनमें हजार हजार आरा (चक्रके बीचमें लगी हुई लकडियोंके समान) थे तथा उनकी किरणें चारोंओर फैल रही थीं, उन चक्रोंसे वे ध्वजायें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों सूर्यके साथ स्पर्द्धा करनेकेलिये ही तैयार हुई हों ॥ २३५ ॥ इसप्रकार वे सब महा ध्वजायें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों आकाशको बुहारकर साफ कर रही हों, अथवा दिशारूप स्त्रियोंसे आलिंगन ही कर रही हों, अथवा पृथ्वीकी ओर देख ही रही हों ॥ २३६ ॥ इसप्रकार मोहनीयकर्मको जीतलेनेसे प्राप्त हुई वे ध्वजायें ऐसी सुशोभित हो रहीं थीं मानों जो अन्य किसीमें न पाया जाय ऐसे भगवानके तीनों लोकोंके प्रभुत्वको ही प्रगट कर रहीं हों ॥ २३७ ॥ एक एक दिशामें वे सब ध्वजायें एकहजार अस्सी थीं और चारों दिशाओंमें सब ध्वजाओंकी संख्या चार हजार तीनसौ वीस थी ॥ २३८ ॥ उन ध्वजाओंके समूहके बाद ही भीतरकी ओर एक बडाभारी कोट

त्रिकलागरा: ॥ २३८ ॥ ततोऽनंतरमेवांतर्भागे सालो महानभूत् । श्रीमानर्जुननिर्माणो द्वितीयोऽप्यद्वितीयकः ॥ २३९ ॥ पूर्ववद्गोपुराण्यस्य राजतानि रराजिरे । हासलक्ष्मीमुखो नूनं पुंजीभूता तदात्मना ॥ २४० ॥ तेष्वाभरणविन्यस्ततोरणेषु परा द्युतिः । तेने निधिभिरुद्भूतैः कुबेरैश्वर्यहासिनी ॥ २४१॥ शेषो विधिरशेषोऽपि सालेनानेन वर्णितः । पौनरुक्त्यभयान्नात्र तत्प्रपंचो निदर्शितः ॥ २४२ ॥ अत्रापि पूर्ववद्वेद्यं द्वितयं नाट्यशालयोः । तद्वद्धूपघटी-द्वंद्वं महावीथ्युभयांतयोः ॥ २४३ ॥ ततो वीथ्यंतरेष्वस्यांकक्षायां कल्पभूरुहां । नानारत्नप्रभोत्सर्पैर्वनमासीत्प्रभास्वरं ॥ २४४ ॥ कल्पद्रुमाः समुत्तुंगाः स-

---

था जोकि चांदीका वनाहुआ वहुत ही सुशोभित था और द्वितीय अर्थात् दूसरा होकर भी अद्वितीय अर्थात् वहुत ही सुंदर था भावार्थ—वह दूसरा कोट था ॥ २३९ ॥ जिसप्रकार पहिले कोटके चार वडे २ दरवाजे कहे थे उसीप्रकार इस कोटके भी चांदीके वने हुये चार वडे दरवाजे थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों उन दरवाजोंके वहानेसे पृथ्वीरूपी देवीकी हास्यरूपी लक्ष्मी ही एक जगह इकट्ठी हुई हो ॥ २४० ॥ उन दरवाजोंपर जो अनेक आभरण सहित तोरण लगे हुये थे और समीपमें ही जो निधियां रक्खी हुईं थीं उनसे उन दरवाजोंमें कुवेरके ऐश्वर्यको भी हंसनेवाली अर्थात् उसको भी नीचा दिखानेवाली ऐसी उत्कृष्ट कांति फैल रही थी ॥ २४१ ॥ उस कोटकी और सव शोभा पहिले कोटके समान ही जानना चाहिये, यहां यदि वही वर्णन फिर किया जाय तो पुनरुक्त दोष होगा इसलिये यहां उसका पूरा वर्णन नहीं दिखलाते हैं ॥ २४२ ॥ जिसप्रकार पहिले कोटमें दो नाट्यशालायें थीं उसीप्रकार इसकोटमें दो नाट्यशालायें समझनी चाहिये और वडे रास्तेके दोनों ओर जैसे पहिले धूप घट रक्खे हुये वतलाये थे उसीप्रकार यहां भी वडे रास्तेके दोनों ओर दो धूपघट रक्खे हुये थे ॥ २४३ ॥ धूपघटोंके बाद भीतरकी ओर कुछ दूर आगे जाकर रास्ताओंके वगलमें कल्पवृक्षोंका वन था, यह वन अनेक प्रकारके रत्नोंकी कांतिके फैलनेसे अत्यंत प्रकाशमान हो रहा था ॥ २४४ ॥ उस वनके वे कल्पवृक्ष अपनी शोभासे राजाओंके समान जान पडते थे क्योंकि

च्छायाः फलशालिनः । नानास्रग्वस्त्रभूषाढ्या राजायंते स्म संपदा ॥ २४५ ॥ देवोदक्कुरवो नूनमागताः सेवितुं जिनं । दशप्रभेदैः स्वैः कल्पतरुभिः श्रेणिसात्कृताः ॥ २४६ ॥ फलान्याभरणान्येषामंशुकानि च पल्लवाः । स्रजः शाखाप्रलंबिन्यो महाप्रारोहयष्टयः ॥ २४७ ॥ तेषामधस्तलच्छायामध्यासीनाः सुरोरगाः । स्वावासेषु धृतिं हित्वा चिरं तत्रैव रेमिरे ॥ २४८ ॥ ज्योतिष्का ज्योतिरंगेषु दीपांगेषु च कल्पजाः । भावनेंद्राः स्रगंगेषु यथायोग्यां धृतिं दधुः ॥ २४९ ॥ स्रग्वि साभरणं भास्वदंशुकं पल्लवाधरं । ज्वलद्दीपं वनं कांतं वधूवरमिवारुचत् ॥ २५० ॥ अंतर्वणमथाभूवन्निह सिद्धार्थपादपाः । सिद्धा-

---

राजा समुत्तुंग अर्थात् उत्कृष्ट होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी समुत्तुंग अर्थात् ऊंचे थे, राजा जिसप्रकार सच्छाया अर्थात् उत्तम आश्रय देनेवाले होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी सच्छाया अर्थात् अच्छी छायावाले थे, राजा जिसप्रकार फलशाली अर्थात् अनेक तरहके फल देनेवाले होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी फलशाली अर्थात् फलोंसे सुशोभित थे और राजा जिसप्रकार अनेक प्रकारकी माला वस्त्र आभूषण आदिसे सुसज्जित होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी माला वस्त्र आभूषण आदि सहित थे ॥ २४५ उन कल्पवृक्षोंके बनोंको देखकर ऐसा जान पडता था मानों पंक्तिरूपसे अपने दशप्रकारके कल्पवृक्षोंको साथ लेकर देवकुरु और उत्तरकुरु ही भगवानकी सेवा करनेके लिये आये हों ॥२४६॥ उन कल्पवृक्षोंके फल आभूषणोंके समान सुशोभित हो रहे थे, पत्ते वस्त्रोंके समान सुशोभित हो रहे थे और शाखाओंके ऊपर लटकती हुई मालायें वटवृक्षकी जटाओंके समान जान पडती थीं ॥२४७॥ जो देव और नागकुमार आदि उन वृक्षोंके नीचे उनकी छायामें बेठते थे वे फिर अपने रहनेके विमानोंमें वा भवनोंमें भी प्रेम छोड देते थे और चिरकालतक उन्हीं वृक्षोंके नीचे क्रीडा किया करते थे ॥ २४८ ॥ ज्योतिष्क जातिके देवोंको ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंके नीचे अच्छा लगता था, कल्पवासी देवोंको दीपांग जातिके कल्पवृक्षोंमें प्रेम था और भवनवासियोंके इंद्र मालांग जातिके वृक्षोंको पसंद करते थे, इसप्रकार सब देव अपनेको अच्छे लगनेवाले यथायोग्य वृक्षोंके नीचे क्रीडा

चाविदितार्थविबुधा: भव्या इवैते द्रुमाः ॥ २५१ ॥ चैत्यद्रुमेषु पूर्वोक्तं वर्णनाऽत्रापि योज्यतां । किंतु कल्पद्रुमा एते संकल्पितफलप्रदाः ॥ २५२ ॥
क्वचिद्वाप्यः क्वचिन्नद्यः क्वचित्सैकतमंडलं । क्वचिच्च सभागृहाणि वभुरत्र वनांतरे ॥ २५३ ॥ वनवीथीमिमामंतर्वव्रेऽसौ वनवेदिका । कलधौतमयी तुंग-

करते थे ॥ २४९ ॥ वह कल्पवृक्षोंका वन वर वधू (दूल्हा दुलहिन) के समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार वरवधू स्रग्वी अर्थात् मालाओंसे अलंकृत रहते हैं उसीप्रकार वह वन भी मालाओंसे सुशोभित था. वरवधू जिसप्रकार आभूषण पहने रहते हैं उसीप्रकार वह वन भी आभूषणोंसे सुशोभित था. वरवधू जिसप्रकार सुंदर वस्त्र पहने रहते हैं, उसीप्रकार उस वनमें भी देदीप्यमान वस्त्र टंगे हुये थे. जिसप्रकार वरवधुओंके अधर (ओठ) लाल होते हैं उसीप्रकार उसवनके पत्ते लाल थे, वरवधुओंके चारोंओर जिसप्रकार दीपक जलते रहते हैं उसीप्रकार उस वनमें भी दीपांग जातिके वृक्षोंपर दीपक जल रहे थे और वरवधू जिसप्रकार मनोहर होते हैं उसीप्रकार वह वन भी मनोहर था ॥ २५० ॥ उन कल्पवृक्षोंके वनके मध्यभागमें सिद्धार्थवृक्ष थे उन वृक्षोंके मूलभागमें भगवानकी प्रतिमायें विराजमान थीं जिनसे उनका मूलभाग वहुत ही देदीप्यमान हो रहा था और वे वृक्ष प्रकाशमान सूर्यके समान जान पडते थे ॥ २५१ ॥ पहिले अशोक आदि वनोंमें जो चैत्यवृक्षोंकी शोभा वर्णन की गई है वही सब शोभा इन सिद्धार्थवृक्षोंकी समझनी चाहिये, किंतु इनमें और उनमें अंतर केवल इतना ही था कि ये कल्पवृक्ष इच्छानुसार फल देनेवाले थे ॥ २५२ ॥ उन कल्पवृक्षोंके वनमें कहींपर वावडियां थी, कहींपर नदियां थीं, कहींपर वालुओंके ढेर थे और कहींपर सभागृह वने हुये सुशोभित हो रहे थे ॥२५३॥ उस कल्पवृक्षोंके वनको चारोंओरसे वनवेदिका घेरे हुये थी, वह वन वेदिका सुवर्णकी वनी हुई थी और उसके चार वडे २ दरवाजे थे ॥२५४॥ उन दरवाजोंमें तोरण और मंगलद्रव्य आदि संपदायें पहिली वेदिकाके

चतुर्गोपुरसंगता ॥ २५४ ॥ तत्र तोरणमांगल्यसंपदः पूर्ववर्णिताः । गोपुराणि च पूर्वोक्तमानोन्मानान्यमुत्र च ॥ २५५ ॥ प्रतोलीं तामथोल्लंघ्य परतः परिवीथ्यभात् । प्रासादपंक्तिर्विविधा निर्मिता सुरशिल्पिभिः ॥ २५६ ॥ हिरण्मयमहास्तंभा वज्राधिष्ठानबंधनाः । चंद्रकांतशिलाकांतभित्तयो रत्नचित्रिताः ॥ २५७ ॥ सुहर्म्या द्वितलाः केचित्केचिच्च त्रिचतुस्तलाः । चंद्रशालायुजः केचिद्वलभिच्छंदशोभिनः ॥ २५८ ॥ प्रासादास्ते स्म राजंते स्वप्रभामग्नमूर्तयः । नभोलिहानाः कूटाग्रैर्ज्योत्स्नयेव विनिर्मिताः ॥ २५९ ॥ कूटागारसभागेहप्रेक्षाशालाः क्वचिद्बभुः । सशय्याः सासनास्तुंगसोपानाः श्वेतितांबराः ॥ २६० ॥ तेषु देवाः सगंधर्वाः सिद्धा विद्याधराः सदा । पन्नगाः किन्नरैः सार्द्धमरमंत कृतादराः ॥ २६१ ॥ केचिद्गानेषु वादित्रवादने केचिदुद्यताः ।

समान जानना चाहिये, तथा दरवाजोंकी लंबाई चौडाई उंचाई आदि भी पहिलेके समान ही थी ॥२५५॥ गोपुरके बडे दरवाजेके आगे भीतरकी ओर बडे रास्तेके इधर उधर अनेक प्रकारके मकानोंकी पंक्तियां थीं जोकि कारीगर देवोंने बनाईं थीं ॥ २५६ ॥ उन मकानोंके बडे २ स्तंभ सुवर्णके बने हुये थे, नीम [जमीनके नीचेकी दीवाल] वज्रकी बनी हुई थी, मनोहर दीवालें चंद्रकांतमणियोंकी बनी हुई थीं और उन दीवालोंमें अनेकप्रकारके रत्न जडे हुये थे ॥ २५७ ॥ उन मकानोंमेंसे कितने ही मकान दुमंजिले थे, कितने ही तिमंजिले और कितने ही चार मंजिलके थे, कितने ही मकानों-पर अटारियां बनी हुईं थीं और कितने ही मकान बंशपंजरके आकारके थे, तथा कितने ही गोल, कोई चार दरवाजेवाले और कोई बडे ही सुंदर आलीशान मकान बने हुये थे ॥२५८॥ वे मकान अपनी कांतिके समूहमें डूबे हुये थे तथा अपनी शिखरोंसे आकाशको स्पर्श करते हुये ऐसे जान पडते थे मानों चांदनीसे ही बने हों ॥२५९॥ कहींपर कूटागार अर्थात् अनेक शिखरवाले मकान थे, कहींपर सभागृह और कहींपर नाट्यशालायें सुशोभित हो रहीं थीं, उन मकानोंमें शय्या आसन आदि रक्खे हुये थे, ऊंची ऊंची सीढियां बनी हुईं थीं और वे मकान अपनी कांतिसे आकाशको सफेद कर रहे थे ॥ २६० ॥ उन मकानोंमें देव, गंधर्व, सिद्ध अर्थात् एक प्रकारके देव, विद्याधर नागकुमार और

संगीतनृत्यगोष्ठीभिर्विभुमाराधयन्नमी ॥ २६२ ॥ वीथीनां मध्यभागेऽत्र स्तूपा नव समुद्ययुः । पद्मरागमयास्तुंगवपुषः खाग्रलंघिनः ॥ २६३ ॥ जनानुरागास्ताद्रूप्यमापन्ना इव ते बभुः । सिद्धार्हत्प्रतिबिंबैर्यैर्नितश्चित्रमूर्तयः ॥ २६४ ॥ स्वोन्नत्या गगनाभोगं रुंधानाः स्म विभांत्यमी । स्तूपा विद्याधराराध्याः प्रसेव्या मेरवो यथा ॥ २६५ ॥ स्तूपाः समुच्छ्रिता रेजुरगराध्याः सिद्धचारणैः । तादूप्यमिव बिभ्राणा नवकेवललब्धयः ॥ २६६ ॥ स्तूपानामंतरेष्वेषां रत्नतोरणमालिकाः । धनुरिंद्रधनुर्मय्य इव चित्रितखांगणाः ॥ २६७ ॥ सच्छत्राः सपताकाश्च सर्वमंगलसंभृताः । राजान इव रेजुस्ते स्तूपाः कृतजनोत्स-

---

किन्नर जातिके देव बडे आदरके साथ क्रीडा करते थे ॥ २६१ ॥ उन क्रीडा करनेवाले देवोंमेंसे कोई गानेको उद्यत हो रहा था और कोई बाजे बजानेकेलिये उद्यत हो रहा था, इसप्रकार वे देव संगीत नृत्य आदिके द्वारा भगवानकी आराधना कर रहे थे ॥ २६२ ॥ बडे रास्तेके मध्यभागमें नौ स्तूप खडे हुये थे जो पद्मरागमणियोंके बने हुये तथा आकाशको उलंघन करते हुये बहुत ही ऊंचे थे ॥ २६३ ॥ उन स्तूपोंपर अरहंत और सिद्ध भगवानकी प्रतिमायें विराजमान थीं जिनसे वे चित्र विचित्रके बहुत ही सुशोभित हो रहे थे तथा पद्मरागमणियोंके होनेसे ऐसे जान पडते थे मानों सब मनुष्योंका अनुराग ही मिलकर स्तूप सरीखा बन गया हो ॥ २६४ ॥ वे स्तूप ठीक मेरुपर्वतके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिसप्रकार मेरुपर्वत ऊंचा है उसीप्रकार वे स्तूप भी उंचाईसे आकाशको घेर रहे थे, जिसप्रकार मेरु पूज्य है उसीप्रकार वे स्तूप भी पूज्य थे और विद्याधरलोग जिसप्रकार मेरुकी आराधना करते हैं उसीप्रकार वे स्तूपोंकी आराधना करते थे ॥ २६५ ॥ अनेक चारणमुनि जिनकी आराधना करते हैं ऐसे वे बहुत ऊंचे स्तूप ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानकी केवल लब्धियां स्तूपरूप ही परिणत हो गई हों ॥ २६६ ॥ उन स्तूपोंके बीचमें एकसे दूसरे स्तूपतक रत्नोंके बंदनवार बंधे हुये थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों आकाशको अनेक वर्णके चित्र विचित्रित करते हुये वे इंद्रधनुषके ही बने हुये हों ॥ २६७ ॥ अथवा वे स्तूप राजा-

र्वाः ॥ २६८ ॥ तत्राभिषिच्य जैनेंद्रीरर्चाः कीर्तितपूजिताः । ततः प्रदक्षिणीकृत्य भव्या मुदमयासिषुः ॥ २६९ ॥ स्तूपहर्म्यावलीरुद्धां भुवमुल्लंघ्य तां ततः । नभःस्फटिकसालोऽभाज्जातं खमिव तन्मयं ॥२७०॥ विशुद्धपरिणामत्वाज्जिनपर्यंतसेवनात् । भव्यात्मेव बभौ सालस्तुंगः सद्वृत्ततान्वितः ॥२७१॥ खगेंद्रैरुपसेव्यत्वात्तुंगत्वादचलत्वतः । रूप्याद्रिरिव ताद्रूप्यमापन्नः पर्यगाद्विभुं ॥ २७२ ॥ दिक्षु सालोत्तमस्यास्य गोपुराण्युदाशिश्रियन् । पद्मरागमयान्युच्चै-

ओंके समान जान पडते थे, क्योंकि जिसप्रकार राजाओंपर छत्र लगा रहता है और समीपमें ध्वजायें फहराती हैं उसीप्रकार उन स्तूपोंपर भी छत्र लग रहा था और उनके समीप ही ध्वजायें फहरा रहीं थीं, जिसप्रकार राजाओंके समीप मंगलद्रव्य रक्खे रहते हैं उसीप्रकार उन स्तूपोंके समीप भी मंगलद्रव्य रक्खे हुये थे और जिसप्रकार राजाओंकेलिये लोग उत्सव करते हैं उसीप्रकार उन स्तूपोंपर भी लोग उत्सव कर रहे थे ॥ २६८ ॥ उन स्तूपोंपर जो अरहंतकी प्रतिमायें विराजमान थीं भव्यलोग उनका अभिषेक करते थे, स्तुति और पूजा करते थे तथा अंतमें प्रदक्षिणा देकर बडे ही प्रसन्न होते थे ॥ २६९ ॥ उन स्तूप और मकानोंकी पंक्तियोंके घेरनेवाली पृथ्वीको उलंघनकर अर्थात् उनके वाद भीतरकी ओर कुछ दूर जाकर आकाशके समान स्वच्छ स्फटिकका बना हुआ कोट था जोकि ऐसा सुभोभित हो रहा था मानों आकाश ही कोटका रूप धारणकर भगवानकी सेवा करनेकेलिये आया हो ॥ २७० ॥ अथवा वह कोट भव्यजीवके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिसप्रकार भव्यजीवके परिणाम विशुद्ध होते हैं उसीप्रकार उस कोटका परिणमन अर्थात् बनावट भी विशुद्ध अर्थात् स्वच्छ थी, भव्यजीव जिसप्रकार भगवानके समीप ही सेवा करते हैं उसीप्रकार वह कोट भी भगवानके समीप सेवा करता था, भव्यजीव जिसप्रकार तुंग अर्थात् श्रेष्ठ होते हैं उसीप्रकार वह कोट भी तुंग अर्थात् ऊंचा था और भव्यजीव जिसप्रकार सद्वृत्त अर्थात् सदाचारी होते हैं उसीप्रकार वह कोट भी सद्वृत्त अर्थात् सुगोल था ॥ २७१ ॥ अथवा वह कोट ऐसा जान प-

न्भव्यरागमयानि वा ॥ २७३ ॥ [illegible] मंगलद्रव्यसंपदः । द्वारोपान्ते च निधयो ज्वलद्गंभीरमूर्तयः ॥ २७४ ॥ [illegible]छत्रचामरध्वजद-
र्पणाः । सुप्रतिष्ठ[illegible] प्रतिगोपुरं ॥ २७५ ॥ [illegible] । क्रमात्सालत्रये द्वाःस्था भौमभावनकल्पजाः ॥ २७६ ॥
ततः [illegible] ॥ २७७ ॥ नभःस्फटिकनिर्माणाः प्रसरन्निर्मलत्विषः । आद्यपीठ-

इता था मानों विजयार्द्ध पर्वत ही कोटरूप होकर भगवानकी प्रदक्षिणा दे रहा हो, क्योंकि जिस-प्रकार विजयार्द्ध पर्वतपर विद्याधर लोग रहते हैं उसीप्रकार उस कोटकी सेवा भी विद्याधरलोग करते थे और विजयार्द्ध पर्वत जिसप्रकार ऊंचा और अचल है उसीप्रकार वह कोट भी ऊंचा और अचल था ॥ २७२ ॥ उस उत्तम कोटके चारों दिशाओंमें चार बडे २ दरवाजे थे जो कि पद्मरागमणियोंके बने हुये थे और ऐसे जान पडते थे मानों भव्यजीवोंका अनुराग ही एक जगह इकट्ठा हो गया हो ॥ २७३ ॥ जिसप्रकार पहिले कोटोंके दरवाजोंपर मंगलद्रव्य और निधियां रक्खी हुई थीं उसीप्रकार इन दरवाजोंपर मंगलद्रव्यरूपी संपत्तियां रक्खी हुई थीं और दरवाजेके समीप ही दैदीप्यमान और गंभीर ऐसी निधियां रक्खी हुई थीं ॥ २७४ ॥ प्रत्येक दरवाजेपर पंखा, छत्र, चामर, ध्वजा, दर्पण, सुप्रतिष्ठक भृंगार और कलश ये आठ आठ मंगलद्रव्य रक्खे हुये थे ॥ २७५ ॥ प्रथम कोटके चारों दरवाजोंपर व्यंतर जातिके देव गदा तलवार आदि हाथमें लिये हुये खडे थे, दूसरे कोटके चारों दरवाजोंपर भवनवासी जातिके देव खडे हुये थे और तीसरे कोटके दरवाजोंपर कल्पवासी देव हथि-यार बांधे खडे हुये थे ॥ २७६ ॥ उस आकाशरूपी स्फटिकमणिके कोटसे आगे प्रथम पीठपर्यंत लंबी और चारों बडे रास्तोंके आश्रय ऐसी सोलह दीवालें थीं भावार्थ—चारों रास्तोंके अगल बगल दोनोंओर पीठ पर्यंत रास्तेकी लंबाईके समान लंबी आठ दीवालें थीं और रास्तेको छोडकर दो दो दीवालोंके बीचमें दो दो दीवालें और थीं, इसप्रकार सोलह दीवालोंसे चारों रास्ते छूट जाते

तटालग्ना ज्योत्स्नायंते स्म भित्तयः ॥ २७८ ॥ शुचयो दर्शिताशेषवस्तुबिंबा महोदयाः । भित्तयस्ता जगद्भर्तुरधिविद्या इवाबभुः ॥ २७९ ॥ तासामुपरि विस्तीर्णो रत्नस्तंभैः समुध्दृतः । वियत्स्फटिकनिर्माणः सश्रीः श्रीमंडपोऽभवत् ॥ २८० ॥ सत्यं श्रीमंडपः सोऽयं यत्रासौ परमेश्वरः । नृसुरासुरसान्निध्ये स्वीचक्रे त्रिजगच्छ्रियं ॥ २८१ ॥ यो बभावंबरस्यांते त्रिंबितान्यांबरोपमः । त्रिजगज्जनतास्थानसंग्रहावाप्तवैभवः ॥ २८२ ॥ यस्योपरितले मुक्ता गुह्यकैः कुसुमोत्कराः । विदधुस्तारकाशंकामधोभाजां नृणां हृदि ॥ २८३ ॥ यत्र मत्तरुवद्भृंगसंसूच्याः कुसुमस्रजः । न म्लानिमीयुर्जैनांघ्रिच्छा-

थे और वारह सभायें वन जाती थीं ॥ २७७ ॥ वे दीवालें आकाशके समान स्वच्छ स्फटिक मणिकी वनी हुई थीं, उनकी निर्मल कांति चारोंओर फैल रही थी और प्रथम पीठके किनारेतक लगी हुई वे दीवालें चांदनीके समान जान पडती थीं ॥२७८॥ वे दीवालें परम पवित्र थीं, उनमें समस्त वस्तुओंका प्रतिविंब दिखाई पडता था, और उनका ऐश्वर्य भी बहुत वडा था इसलिये वे ऐसी सुशोभित होती थीं मानों तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवकी अधिविद्या ही हों ॥ २७९ ॥ उन दीवालोंके ऊपर रत्नमय खंभे खडे थे, उन खंभोंपर वहुत वडा, आकाशके समान स्फटिकमणिका बना हुआ और अतिशय शोभायुक्त ऐसा श्रीमंडप सुशोभित हो रहा था ॥ २८० ॥ वह मंडप वास्तवमें ही श्रीमंडप था, क्योंकि उस मंडपमें परमेश्वर भगवान वृषभदेवने मनुष्य सुर और असुर आदि सबके सामने तीनों लोकोंकी लक्ष्मी स्वीकार की थी ॥ २८१ ॥ उस श्रीमंडपको ऐसा वैभव प्राप्त था कि उसमें तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको स्थान मिल सकता था, तथा वह आकाशपर्यंत ऊंचा ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों प्रतिबिंवित हुआ दूसरा आकाश ही हो ॥ २८२ ॥ उसके ऊपर जो यक्ष लोग फूलोंकी वर्षा कर रहे थे वे फूल नीचे रहनेवाले मनुष्योंके हृदयमें ताराओंकी शंका उत्पन्न करते थे ॥ २८३ ॥ उस स्फटिकके बने हुये आकाशके समान स्वच्छ श्रीमंडपमें जो सफेद फूलोंकी मालायें लटक रहीं थीं वे उन्मत्त हुये भ्रमरोंके शब्दोंसे ही जानी जाती थीं, तथा वे मालायें कभी

याशैत्याश्रयादिव ॥ २८४ ॥ नीलोत्पलोपहारेषु निलीना भ्रमरावलिः । विरुतैरगमद्व्यक्तिं यत्र साम्यादलक्षिता ॥ २८५ ॥ योजनप्रमिते यस्मिन्संममुर्नृसुरासुराः । स्थिताः सुखमसंबाधमहो माहात्म्यमीशितुः ॥ २८६ ॥ यस्मिन् शुचिमणिप्रांतमुपेता हंससंहतिः । गुणसादृश्ययोगेऽपि व्यज्यते स्म विकूजितैः ॥ २८७ ॥ यद्भित्तयः स्वसंक्रांतजगत्त्रितयबिंबिकाः । चित्रिता इव संरेजुर्जगच्छ्रीदर्पणश्रियः ॥ २८८ ॥ यदुत्सर्पत्प्रभाजालजलस्नापितमूर्तयः । तीर्थावगाहनं चक्रुरिव देवाः सदानवाः ॥ २८९ ॥ तद्वृद्धक्षेत्रमध्यस्था प्रथमा पीठिका बभौ । वैडूर्यरत्ननिर्माणा कुलाद्रिशिखरायिता ॥ २९० ॥ तत्र

नहीं मुरझाती थीं मानों भगवानके चरणकमलोंकी छायाकी शीतता (शांतता) के आश्रयसे ही नहीं मुरझाती हों ॥ २८४ ॥ वहांपर फैले हुये नीलकमलोंमें जो भ्रमरोंके समूह बैठे हुये थे वे केवल उनके गुंजार शब्दोंसे ही जाने जाते थे, अन्यथा भ्रमर और नीलकमलोंका एकसा रंग होनेसे उन्हें कोई नहीं जान सकता था ॥ २८५ ॥ यद्यपि वह श्रीमंडप एक योजन लंबा चौडा था तथापि उसमें मनुष्य सुर असुर आदि सब जीव सुखपूर्वक एक दूसरेको बाधा न देते हुये रहते थे, यह भगवानका ही ऐसा माहात्म्य था ॥ २८६ ॥ उस श्रीमंडपमें लगे हुये स्वच्छ मणियोंके समीपमें जो हंसोंकी पंक्तियां बैठी हुई थीं वे भी स्वच्छ थीं और मणियोंके ही समान थीं तथापि वे मधुर शब्दोंसे जानी जाती थीं ॥ २८७ ॥ उस श्रीमंडपकी दीवालोंमें तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंका प्रतिबिंब पडता था जिससे चित्र विचित्रित हुई वे दीवालें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों जगतकी लक्ष्मीके दर्पणकी शोभा ही हों ॥ २८८ ॥ उन दीवालोंकी कांतिका समूह जो चारोंओर फैल रहा था वह जलके समान जान पडता था और उसमें जो कल्पवासी तथा भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क आदि देवोंके शरीर स्नान करनेके समान डूब रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों किसी तीर्थमें स्नान ही कर रहे हों ॥ २८९ ॥ उस श्रीमंडपसे घिरे हुये क्षेत्रके वीचमें बनी हुई पहिली पीठिका सुशोभित हो रही थी, वह पीठिका वैडूर्यमणियोंकी बनी हुई थी और ऐसी जान पडती थी मानों कुलपर्वत-

षोडश सोपानमार्गाः स्युः षोडशांतराः । महादिक्षु सभाकोष्ठप्रवेशषु च विस्तृताः ॥ २९१ ॥ तां पीठिकामलंचक्रुरष्टमंगलसंपदः । धर्मचक्राणि चोढानि प्रांशुभिर्यक्षमूर्द्धभिः ॥ २९२ ॥ सहस्राराणि तान्युद्यद्रत्नरश्मीनि रेजिरे । भानुबिंबानि चोद्यंति पीठिकोदयपर्वतात् ॥ २९३ ॥ द्वितीयमभवत्पीठं तस्योपरि हिरण्मयं । दिवाकरकरस्पर्धिवपुरुद्योतितांबरं ॥ २९४ ॥ तस्योपरितले रेजुर्दिक्ष्वष्टासु महाध्वजाः । लोकपाला इवोत्तुंगाः सुरेशामभिसंमताः ॥ २९५ ॥ चक्रेभवृषभांभोजवस्त्रसिंहगरुत्मतां । माल्यस्य च ध्वजा रेजुः सिद्धाष्टगुणनिर्मलाः ॥ २९६ ॥ नूनं पापपरागस्य संमार्जनमिव ध्वजाः । कुर्वंति स्म मरु-

---

का शिखर ही हो ॥ २९० ॥ उस पीठिका पर सोलह जगह अंतर देकर सोलह जगह ही सीढियां बनी हुई थीं, अर्थात् बीचमें जगह छोडकर सोलह जगह सीढियां बनी हुई थीं, चार जगह तो चारों दिशाओंमें बडे रास्तोंके सामने थीं और बारह जगह सभाके कोठोंके प्रत्येक दरवाजेपर थीं, वे सब सीढियां बहुत ही बडी बडी थीं ॥ २९१ ॥ उस प्रथम पीठिकापर आठ मंगल द्रव्य रक्खे हुये थे और यक्षोंके ऊंचे ऊंचे मस्तकोंपर धर्मचक्र रक्खे हुये थे ॥ २९२ ॥ एक एक हजार दैदीप्यमान कि-रणोंसे वा आराओंसे सुशोभित होनेवाले वे धर्मचक्र ऐसे जान पडते थे मानों पीठिका रूप उदयाचल पर्वतसे सूर्यके बिंब ही उदय हुये हों ॥ २९३ ॥ उस प्रथम पीठिकाके ऊपर सुवर्णका बना हुआ दू-सरा पीठ था, वह कांतिसे ऐसा जान पडता था मानों सूर्यकी किरणोंसे स्पर्द्धा ही कर रहा हो तथा उसके प्रकाशसे आकाशभी प्रकाशित हो गया था ॥ २९४ ॥ उस दूसरे पीठके ऊपरी भागपर आठों दिशाओंमें आठ महाध्वजायें सुशोभित हो रही थीं, जोकि बहुत ऊंची थीं और इंद्रोंको भी स्वीकृत ऐसी आठ लोकपालोंके समान जान पडती थीं ॥ २९५ ॥ उन ध्वजाओंपर क्रमसे चक्र, हाथी, बैल, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड और मालाओंके चिन्ह बने हुये थे, तथा वे ध्वजायें अत्यंत निर्मल थीं इसलिये सिद्धोंके आठ गुणोंके समान जान पडती थीं ॥ २९६ ॥ वायुके झकोरेसे उन ध्वजाओंके दैदीप्यमान कपडे हिल रहे थे जिससे वे ऐसी जान पडती थीं मानों पापरूपी धूलीको झाडकर फेंक ही रही हों ॥ २९७ ॥

[illegible]स्फुरत्किरणैः ॥ २९७ ॥ [illegible] तृतीयमभवत्पीठं सर्वरत्नमयं पृथु ॥ २९८ ॥ त्रिमेखलमदः पीठं परार्ध्यमणिनिर्मितं । बभौ [illegible] ॥ २९९ ॥ [illegible] सध्वजः सुरदंतिवत् । सहेममूर्तिर्मेरुरिव पीठाद्रिरद्युतौ ॥ ३०० ॥ पुष्पप्रकर[illegible] ॥ ३०१ ॥ अधरीकृतनिःशेषभुवनं भासुरद्युति । जिनस्येव वपुर्भाति यस्म देवपूजार्चितं ॥ ३०२ ॥ [illegible] श्रियं मेरोर्धरगाद्य जगद्गुरोः ॥३०३॥ ईदृक्त्रिमेखलं पीठमस्यो-

उस दूसरे पीठके ऊपर तीसरा पीठ था वह समस्त रत्नोंका बना हुआ था और बहुत बडा था, उससे देदीप्यमान रत्नोंकी किरणें निकल रहीं थीं जिससे वह समस्त अंधकारको नष्ट कर रहा था ॥२९८॥ उस पीठकी तीन कटनी थीं तथा वह अनेक बहुमूल्य रत्नोंसे बना हुआ था, इसलिये वह ऐसा जान पडता था मानों मेरु पर्वत ही भगवानकी उपासना करनेकेलिये तीसरे पीठरूप परिणत हो कर आया हो ॥२९९॥ वह पीठरूपी पर्वत चक्रसहित होनेसे चक्रवर्तीके समान जान पडता था, ध्वजाओं-सहित होनेसे ऐरावत हाथीके समान जान पडता था और सुवर्णका बना हुआ होनेसे महामेरुके समान सुशोभित होता था ॥३००॥ उस पीठिकापर फैले हुये पुष्पोंके समूहोंको सूंघनेके लिये जो भ्रमर आये थे उनपर सुवर्णकी छाया पड रही थी, इसलिये वे भ्रमर सुवर्णकेसे रंगके जान पडते थे ॥३०१॥ वह पीठ अरहंतदेवके शरीरके समान सुशोभित हो रहा था, क्योंकि जिसप्रकार भगवानका शरीर अपने गुणोंसे तीनों लोकोंको नीचा दिखलाता है उसीप्रकार वह पीठ भी अपनी शोभासे तीनों लोकोंको नीचा दिखला रहा था, भगवानका शरीर जिसप्रकार प्रकाशमान होता है उसीप्रकार वह पीठ भी प्रकाशमान था और भगवानके शरीरकी पूजा जिसप्रकार देव लोग करते हैं उसीप्रकार उस पीठकी पूजा भी चारोंप्रकारके देव करते थे ॥ ३०२ ॥ अथवा वह पीठ मेरु पर्वतकी शोभाको भी तिरस्कार करता था क्योंकि जिसप्रकार मेरुपर्वतके चारोंओर ज्योतिष्क जातिके देव रहते हैं उसीप्रकार

परि जिनाधिपः । त्रिलोकशिखरे सिद्धपरमेष्ठीव निर्बभौ ॥३०४॥ नभःस्फटिकसालस्य मध्यं योजनसंमितं । वनत्रयस्य रुंद्रत्वं ध्वजरुद्धावनेरपि ॥३०५॥ प्रत्येकं योजनं ज्ञेयं धूलीसालाच्च खातिका । गत्वा योजनमेकं स्याज्जिनदेशितविस्तृतिः ॥ ३०६ ॥ नभःस्फटिकसालात्तु स्यादाराद्वनवेदिका । योजनार्द्धं तृतीयाच्च सालात्पीठं तदर्द्धगं ॥ ३०७ ॥ क्रोशार्द्धं पीठमूर्ध्नः स्याद्विष्कंभो मेखलेऽपरे । प्रत्येकं धनुषां रौंद्रे स्यातामर्द्धाष्टमं शतं ॥ ३०८ ॥ क्रोशं रुंद्रा

उस पीठके चारोंओर भी ज्योतिष्क जातिके देव रहते थे, मेरुपर्वत जिसप्रकार सब ओरसे उत्तर अर्थात् सब ओरसे वा सब जगहसे उत्तर दिशामें है उसीप्रकार वह पीठ भी सबसे उत्तर अर्थात् उत्कृष्ट था और मेरु पर्वत जिसप्रकार जगतगुरु तीर्थंकरको धारण करता है उसीप्रकार वह पीठ भी जगत गुरु तीर्थंकर वृषभदेवको धारण करता था ॥३०३॥ इसप्रकार तीन कटनीदार वह पीठ था, उसपर विराजमान हुये श्रीजिनेंद्रदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों तीनों लोकोंके शिखरपर सिद्ध परमेष्ठी ही विराजमान हों ॥३०४॥ तीसरा जो आकाशके समान स्फटिक मणियोंका बना हुआ कोट था उसके भीतरके भागका व्यास (गोलजगहकी लंबाई अथवा चौडाई) एक योजन था तथा लताबन एक योजन चौडा था, अशोक, सप्तपर्ण, चंपक और आम्रवृक्षके वन एक योजन चोडे थे और कल्पवृक्षोंका बन भी एक योजन चौडा था; इसीप्रकार ध्वजाओंकी जमीनकी चौडाई भी एक योजन थी और धूलीसालसे खाई भी एक योजन दूर थी, यह सब विस्तार श्रीजिनेंद्रदेवने कहा है ॥३०५-३०६॥ आकाशके समान स्फटिक मणियोंके बने हुये कोटसे कल्पवृक्षोंकी वनबेदिका आधा योजन अर्थात् दो कोश दूर थी और उसी तीसरे कोटसे चौथाई योजन अर्थात् एक कोशकी दूरीपर प्रथम पीठ था ॥ ३०७ ॥ पहिले पीठका मस्तक जो दूसरे पीठके नीचे मेखला सरीखा निकल रहा था वह आधाकोस चौडा था तथा इसीप्रकार दूसरे तीसरे पीठकी मेखलायें भी साडे सातसौ धनुष चौडी थीं अर्थात् प्रत्येककी चौडाई साडे सातसौ धनुष थी ॥ ३०८ ॥ उस समवसरणमें चारों दिशाओंमें जो चार बडे रास्ते थे वे सब एक

महार्वाध्यो मितयः स्वोच्छ्रितेर्मिताः । रथ्याष्टमभागेन प्राग्निर्गीता तदुच्छ्रितिः ॥ ३०९ ॥ अष्टदंडोच्छ्रिता ज्ञेया जगती पीठमादिमं । द्वितीयं च तदर्द्धेन मितोच्छ्रायं विदुर्बुधाः ॥ ३१० ॥ तावदुच्छ्रितमंग्यं च पीठं सिंहासनोन्नतिः । धनुरेकमिहाम्नातं धर्मचक्रस्य चोच्छ्रितिः ॥ ३११ ॥ इत्युक्तेन विभागेन जिनस्यास्थायिका स्थिता । तन्मध्ये तद्वस्थानमितः श्रृणुत मन्मुखात् ॥ ३१२ ॥ इत्युच्चैर्गणनायके निगदति व्यक्तं जिनास्थायिकां प्रव्यक्तैर्मधुरैर्वचोभिरुचितैस्तत्त्वार्थसंबोधिभिः । बुद्धांतःकरणो विकासिवदनं वभ्रे नृपः श्रेणिकः प्रीतः प्रातरिवाब्जिनीवनचयः प्रोन्मीलितं पंकजं ॥ ३१३ ॥

एक कोश चौडे थे, पहिले जो सोलह दीवालें कहीं थीं उनकी चौडाई उंचाईसे आठवां भाग थी, दीवालोंकी उंचाई पहिले कह ही चुके हैं ॥ ३०९ ॥ प्रथम पीठरूपी जो जगती थी वह आठ धनुप ऊंची थी अर्थात् प्रथम पीठ आठ धनुप ऊंचा था और दूसरे पीठकी उंचाई विद्वान् लोगोंने उससे आधी अर्थात् चार धनुप कही है ॥ ३१० ॥ इसीप्रकार तीसरे पीठकी उंचाई भी चार धनुष थी तथा सिंहासनकी उंचाई एक धनुप थी और धर्मचक्रकी उंचाई भी एक धनुप ही थी ॥ ३११ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये विभागके अनुसार भगवानका समवसरण वना हुआ था। गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि राजन्, उस समवसरणके मध्यभागमें जो गंधकुटी वनी हुई थी उसका वर्णन भी अव मेरे मुखसे ही सुनो ॥ ३१२ ॥ इसप्रकार जब गौतम गणधरने तत्त्वार्थके स्वरूपको समझानेवाले, उचित, मधुर और स्पष्ट वचनोंमे भगवानके समवसरणका स्पष्ट वर्णन किया उससमय जिसप्रकार प्रातःकालके समय कमलिनियोंके वनके कमल प्रफुलित हो जाते हैं उसीप्रकार जिसके अंतःकरणमें ज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे आनंद युक्त राजा श्रेणिकका मुख भी खूब प्रसन्न होगया था और वह बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥३१३॥ जिसप्रकार सूर्यकी दैदीप्यमान लक्ष्मीका आश्रय पाकर कमलोंके समूह प्रफुलित हो जाते हैं उसीप्रकार असभ्य अर्थात् मिथ्यात्वियोंके कहे हुये मिथ्यामतरूपी अंधकारको नाश करनेवाली, अतिशय योग्य और अत्यंत निर्दोप ऐसी श्री गौतम गणधर स्वामीकी वाणी

सभ्याः सभ्यतमामसभ्यकुमतध्वांतच्छिदं भारतीं श्रुत्वातामपवाङ्मलां गणभृतः श्रीगौतमस्वामिनः । सार्द्धं योगिभिरागमन् जिनपतौ प्रीतिं स्फुरल्लोचनाः प्रोत्फुल्लाः कमलाकरा इव खेरासाद्य दीप्तिश्रियं ॥ ३१४ ॥ स जयति जिननाथो यस्य कैवल्यपूजां विततनिषुरुदग्रामद्भुतश्रीर्महेंद्रः । सममम-रनिकायैरेत्य दूरात्प्रणम्रः समवसरणभूमिं पिप्रिये प्रेक्षमाणः ॥ ३१५ ॥ किमयममरसर्गः किं नु जैनानुभावः किमुत नियतिरेषा किंस्विदैंद्रः प्रभावः । इति विततवितर्कैः कौतुकाद्वीक्ष्यमाणा जयति सुरसमाजैर्भर्तुरास्थानभूमिः ॥ ३१६ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्समवसरणवर्णनं नाम द्वाविंशं पर्व.

सुनकर श्रेणिक आदि समस्त देव मनुष्य विद्याधर तथा समस्त मुनिराज आदि सभाके लोग प्रफुल्लित नेत्रोंसे अपनी प्रसन्नता प्रगट करते थे और भगवानके चरणकमलोंमें सबका प्रेम बढगया था ॥ ३१४ ॥ अद्भुत विभूतिको धारण करनेवाले इंद्रने चारों प्रकारके देवोंके साथ आकर जिसके केवल ज्ञानकी पूजा बडे ठाठ बाटसे तथा उत्तम रीतिसे की, जिन्हें दूरसे ही नमस्कार किया और जिसकी समवसरण भूमिको देखकर ही अत्यंत प्रसन्न हुआ ऐसा श्री जिनेंद्र देव सदा जयशील (जयवंत) हो ॥ ३१५ ॥ क्या यह कोई स्वर्गलोककी नई सृष्टि उत्पन्न हुई है ? अथवा यह श्री जिनेंद्रदेवका प्रभाव है ? अथवा तीर्थंकरको केवल ज्ञान होनेके समय ऐसे समवसरणकी रचना होनेका नियोग ही है ? अथवा यह इंद्रका ही प्रभाव है इसप्रकार अनेकप्रकारकी कल्पनायें करता हुआ देवोंका समूह जिस समवसरण भूमिको बडे कौतुकके साथ देखता था ऐसी वह समवसरणकी भूमि सदा जयवंत हो अर्थात् उसकी सदा जय हो ॥ ३१६ ॥

इसप्रकार भगवजिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें भगवानके समवसरणका वर्णन करनेवाला यह बाईसवां पर्व समाप्त हुआ

अथ त्रयोविंशं पर्व ।

अथ त्रिमेखलस्यास्य मूर्ध्नि पीठस्य विस्तृते । स्फुरन्मणिशिखाजालरचितामरकार्मुके ॥ १ ॥ सुरेंद्रकरविक्षिप्तपुष्पप्रकरशोभिनि । हसतीव घनापायस्फुरत्तारकमंबरं ॥ २ ॥ चलच्चामरसंघातप्रतिबिंबनिभाद्भृशं । हंसैरिव सरोबुद्ध्या सेव्यमानतले पृथौ ॥ ३ ॥ मार्तंडमंडलच्छायाप्रस्पर्द्धिनि महर्द्धिके । स्वर्धुनीफेनसंकाशैः स्फटिकैर्घटिते क्वचित् ॥४॥ पद्मरागमणिस्फारमयूखैः क्वचिदास्तृते । जिनपादतलच्छायाशोणिम्नेवानुरंजिते ॥ ५ ॥ शुचौ स्निग्धे मृदु-

---

अथ तेईसवां पर्व

अथानंतर—तीन कटनीदार जो यह तीसरा पीठ था उसका मस्तक अर्थात् ऊपरीभाग वहुत ही वडा था, उसमें जो अनेकप्रकारके मणि लगे हुये थे उनकी कांतिके समूहसे उस पीठके ऊपर इंद्रधनुष सरीखा पड रहा था ॥ १ ॥ उस पीठपर जो इंद्रने अपने हाथसे वहुतसे पुष्प फैलाये थे उनसे वह पीठ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों वादलोंके दूर होनेसे जिसमें तारे चमक रहे हैं ऐसे आकाशको ओर हँस रहा ही हो ॥ २ ॥ उसपर दुरते हुये चामरोंके समूहोंका प्रतिबिंव पड रहा था जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों उसे सरोवर समझकर हंस ही उसके वहुत वडे तलकी सेवा कर रहे हों ॥ ३ ॥ वह पीठ अपनी दैदीप्यमान कांतिसे ऐसा जान पडता था मानों सूर्यमंडलकी कांतिके साथ स्पर्द्धा ही कर रहा हो, इसके सिवाय वह अनेकप्रकारकी वडी २ ऋद्धियोंको धारण करनेवाला था तथा कहीं कहीं पर वह गंगानदीके फेनके समान स्वच्छ स्फटिक मणियोंसे बना हुआ था ॥ ४ ॥ कहींपर पद्मरागमणियोंकी फैलती हुई किरणोंसे व्याप्त था और ऐसा जान पडता था मानों भगवानके चरणतलकी अरुण (लाल) कांतिसे ही लाल हो गया हो ॥ ५ ॥ वह पीठ अत्यंत पवित्र था, चिकना था, उसका स्पर्श कोमल था, भगवानके चरणकमलोंके स्पर्शसे वह अत्यंत पवित्र था और उसके चारोंओर वहुतसी मंगलद्रव्यरूपी संपत्तियां रक्खी हुई थीं ॥ ६ ॥ ऐसे उस

स्पर्शे जिनांघ्रिस्पर्शपावने । पर्यंतरचितानेकमंगलद्रव्यसंपदि ॥ ६ ॥ तत्र गंधकुटीं पृथ्वीं तुंगशालोपशोभिनीं । रैरण्णिवेशयामास स्वर्विमानातिशायिनीं ॥ ७ ॥ त्रिमेखलांकिते पीठे सैषा गंधकुटी बभौ । नंदनादिवनश्रेणीत्रयाद्दोपरि चूलिका ॥ ८ ॥ यथा सर्वार्थसिद्धिर्वा स्थिता त्रिदिवमूर्द्धनि । तथा गंधकुटी दीप्ता पीठस्याधितलं बभौ ॥ ९ ॥ नानारत्नप्रभोत्सर्पैर्यत्कृत्स्नमंबरं । सचित्रमिव भाति स्म सेंद्रचापमिवाऽथवा ॥ १० ॥ या तुंगैः शिखरैर्बद्ध-जयकेतनकोटिभिः । भुजशाखाः प्रसार्येव नभोगानाजुहूपत ॥ ११ ॥ त्रिभिस्तलैरुपेता या भुवनत्रितयश्रियः । प्रतिमेव बभौ व्योमसरोमध्येऽबुबिंबिता ॥ १२ ॥ स्थूलैर्मुक्तामयैर्जालैर्लंबमानैः समंततः । महाब्धिभिरिवानीतैर्योपायनशतैरभात् ॥ १३ ॥ हैमैर्जालैः क्वचित्स्थूलैरायतैर्या विदिद्युते । कल्पांघ्रि-

---

तीसरे पीठपर कुवेरने बहुत बडी गंधकुटी बनाई थी, वह गंधकुटी ऊंचे कोटसे सुशोभित थी और स्वर्गोंके विमानोंसे भी अधिक सुंदर थी ॥ ७ ॥ तीन कटनीदार उस पीठपर वह गंधकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों नंदनवन सौमनसवन और पांडुकवन इन तीनों वनोंके ऊपर चूलिका ही हो ॥ ८ ॥ अथवा जिसप्रकार तीनों लोकोंके मस्तकपर सर्वार्थसिद्धि है उसीप्रकार उस पीठके ऊपरी भागपर दैदीप्यमान गंधकुटी भी सुशोभित हो रही थी ॥ ९ ॥ उस गंधकुटीके शिखरोंपर अनेकप्रकारके रत्न लगे हुये थे जिनकी फैलती हुई कांतिसे आकाश व्याप्त होगया था जिससे वह आकाश अनेक वर्णका चित्र विचित्र जान पडता था अथवा वह इंद्रधनुषके समान जान पडता था ॥ १० ॥ उस गंधकुटीकी ऊंची ऊंची शिखरोंपर करोडों जयपताकायें बंधी हुईं थीं जिनसे वह गंधकुटी ऐसी जान पडती थी मानों अपने हाथोंको फैलाकर देवोंको बुला रही हो ॥ ११ ॥ तीनों पीठों सहित वह गंधकुटी ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों आकाशरूपी सरोवरके मध्यभागके जलमें तीनों लोकोंकी लक्ष्मीकी प्रतिमा ही प्रतिबिंबित हुई हो ॥ १२ ॥ उसके चारोंओर जो बडे २ मोतियोंकी जाली (झालरि) लटक रही थी उससे वह ऐसी जान पडती थी मानों बडे २ समुद्रोंने मोतियोंकी सैकडों भेट उसे अर्पण की हों ॥ १३ ॥ कहीं कहींपर उसमें सुवर्ण-

पोद्भवैर्दीप्तैःप्रारोहैरिव लंबिभिः ॥ १४ ॥ रत्नाभरणमालाभिर्लंबिनाभिरितोऽमुतः । या बभौ स्वर्गलक्ष्म्येव प्रहितोपायनर्द्धिभिः ॥ १५ ॥ स्रग्भिराकृष्टगंधांध-मायन्मधुपकोटिभिः । जिनेंद्रमिव तुष्टूषुरभाद्या मुखरीकृता ॥ १६ ॥ स्तुवत्सुरेंद्रसंदृब्धगद्यपद्यस्तवस्वनैः । सरस्वतीव भाति स्म या विभुं स्तोतुमुद्यता ॥ १७ ॥ रत्नालोकैर्विसर्पद्भिर्या वृतांगी व्यराजत । जिनेंद्रांगप्रभालक्ष्म्या घटितेव महाद्युतिः ॥ १८ ॥ या प्रोत्सर्पद्भिराहूतमदालिकुलसंकुलैः । धूपैर्दिशा-मिवायामं प्रमित्सुरुन्नतधूमकैः ॥ १९ ॥ गंधैर्गंधमयीवासीन्सृष्टिः पुष्पमयीव च । पुष्पैर्धूपमयीवाभाद्धूपैर्या दिग्विसर्पिभिः ॥ २० ॥ सुगंधिधूपनिःश्वासा

की मोटी और लंबी जाली सुशोभित हो रही थी जोकि ऐसी जान पडती थी मानों कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुये छोटे २ दैदीप्यमान अंकूरे ही लटक रहे हों ॥ १४ ॥ उस गंधकुटीके इधर उधर रत्नोंके वने हुये आभरणोंकी मालायें लटक रहीं थीं जिनसे वह गंधकुटी ऐसी सुंदर जान पडती थी मानों स्वर्गकी लक्ष्मीने उसे अनेक प्रकारके रत्नोंकी भेट ही भेजी हो ॥ १५ ॥ उस गंधकुटीपर अनेक पुष्पमालायें लटक रहीं थीं जिनकी सुगंधिसे आये हुये करोडों भ्रमर सुगंधिसे अंधे और उन्मत्त होकर गुंजार शब्द कर रहे थे, उनसे शब्दायमान हुई वह गंधकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों-श्रीजिनेंद्रदेवकी स्तुति ही कर रही हो ॥ १६ ॥ इंद्र जो भगवानकी स्तुति कर रहा था उसके द्वारा रेच हुये गद्य पद्य मय स्तोत्रोंके शब्दोंसे शब्दायमान हुई वह गंधकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों सरस्वतीदेवी ही भगवानकी स्तुति करनेकेलिये तैयार हुई हो ॥ १७ ॥ उसमें लगे हुये रत्नोंका प्रकाश जो चारोंओर फैल रहा था उससे व्याप्त वा आच्छादित हुई वह अतिशय दैदीप्यमान गंधकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों भगवानके शरीरकी प्रभारूपी लक्ष्मीने ही उसे बनाया हो ॥ १८ ॥ अपनी सुगंधिसे अनेक उन्मत्त भ्रमरसमूहोंको बुलाता हुआ जो धूपका धूआं निकल रहा था वह सबओर फैल रहा था और उससे वह गंधकुटी ऐसी जान पडती थी मानों सब दिशाओंकी लंबाई ही नापना चाहती हो ॥१९॥ सब दिशाओंमें फैलती हुई सुगंधिसे वह गंधकुटी ऐसी-

सुमनोमालभारिणी । नानाभरणदीप्तांगी या वधूरिव दिद्युते ॥ २१ ॥ धूपगंधैर्जिनेंद्रांगसौगंध्यबहलीकृतैः । सुरभीकृतविश्वाशा याधाद्गंधकुटीश्रुतिं ॥२२॥ गंधानामिव या सूतिर्भासां येवाधिदेवता । शोभानां प्रसवक्ष्मेव या लक्ष्मीमधिकां दधे ॥ २३ ॥ धनुषां षट्शती सैषा विस्तीर्णा तावदायता । विष्कंभात्साधिकोच्छ्राया मानोन्मानप्रमान्विता ॥ २४ ॥ तस्या मध्ये सैंहं पीठं नानारत्नव्राताकीर्णं । मेरोः शृंगं न्यक्कुर्वाणं चक्रे शक्रादेशाद्वित्तेट् ॥ २५ ॥ भा-

---

जान पडती थी मानों वह सुगंधिसे ही बनी हो, चारोंओर फैले हुये पुष्पोंसे ऐसी जान पडती थी मानों पुष्पोंसे ही बनी हो और सब दिशाओंमें फैलती हुई धूपसे ऐसी जान पडती थी मानों वह धूपसे बनी हो ॥२०॥ अथवा वह गंधकुटी नवीन स्त्रीके समान सुशोभित हो रही थी, क्योंकि जिसप्रकार नवीन स्त्रीका श्वास सुगंधित होता है उसीप्रकार उस गंधकुटीसे जो सुगंधित धूप निकल रही थी वही उसके सुगंधित श्वासके समान थी, स्त्री जिसप्रकार पुष्पमाला धारण करती है उसीप्रकार उस गंधकुटीपर भी अनेक पुष्पमालायें लटक रही थीं और स्त्रीका शरीर जिसप्रकार अनेक प्रकारके आभरणोंसे दैदीप्यमान रहता है उसीप्रकार वह गंधकुटी भी अनेकप्रकारके आभरणोंसे दैदीप्यमान हो रही थी ॥२१॥ भगवानके शरीरकी सुगंधिसे जिसको अतिशयता प्राप्त हुई है ऐसी धूपकी सुगंधिसे उसने समस्त दिशायें सुगंधित कर दी थीं इसलिये ही उसका गंधकुटी यह यथार्थ नाम पडगया था ॥ २२ ॥ अथवा बहुत कहनेसे क्या ? वह गंधकुटी सुगंधिको उत्पन्न करनेवाली थी, कांतिकी अधिदेवता अर्थात् स्वामिनी थी और सबप्रकारकी शोभाओंकी उत्पन्न करनेवाली भूमि थी, इसप्रकार वह गंधकुटी बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ २३ ॥ वह गंधकुटी छह सौ धनुष चौडी थी, छहसौ धनुष लंबी थी और चौडाईसे कुछ अधिक ऊंची थी, इसप्रकार यथा योग्य मान और उन्मानसे वह गंधकुटी बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ २४ ॥ उस गंधकुटीके मध्यभागमें इंद्रकी आज्ञासे कुबेरने एक सिंहासन बनाया था जोकि अनेकप्रकारके रत्नोंके समूहसे बना हुआ था और मेरु पर्वतकी

तुम्हेरिं श्रीमद्रैमं तुंगं भक्त्या जिष्णुं मक्तुं । मेरुःशृंगं स्वं वा निन्ये पीठव्याजाद्दीप्तं भासा ॥ २६ ॥ यत्प्रसर्पदंशुदष्ट दिङ्मुखं महार्द्धिभासि । चारुरत्नसा-
रमूर्तिं भासते स्म नेत्रहारि ॥ २७ ॥ पृथुप्रदीप्तदेहकं स्फुरत्प्रभाप्रतानकं । परार्ध्यरत्नभासुरं सुराद्रिहासि यद्बभौ ॥ २८ ॥ विष्टरं तदलं चक्रे भगवाना-
दितीर्थकृत् । चतुर्भिरंगुलैः स्वेन महिम्नाऽस्पृष्टतत्तलः ॥ २९ ॥ तत्रासीनं तमिंद्राद्याः परिचेरुर्महेज्यया । पुष्पवृष्टिं प्रवर्षंतो नभोमार्गाद्घना इव
॥ ३० ॥ अमन्दकौसुमी वृष्टिः प्रोद्भुवाना नभोऽङ्गणं । दृष्टिमालेव मत्तालिमालावाचालिना नृणां ॥ ३१ ॥ द्विषड्योजनभूभागमामुक्ता सुरवारिदैः ।

शिखरको भी तिरस्कार कर रहा था ॥ २५ ॥ वह सुवर्णका वना हुआ, अतिशय शोभायुक्त, ऊंचा और अपनी कांतिसे सूर्यको भी लज्जित करनेवाला सिंहासन ऐसा जान पडता था मानों सिंहासनके वहानेसे कांतिसे देदीप्यमान ऐसा मेरुपर्वत अपना शिखर ही भक्तिपूर्वक भगवानकी सेवा करनेकेलिये लाया हो ॥ २६ ॥ उस सिंहासनसे निकलती हुई किरणोंसे समस्त दिशायें व्याप्त हो रही थीं, अपने ऐश्वर्यसे वह प्रकाशमान हो रहा था, अनेक सुंदर रत्न उसमें जडे हुये थे और वह नेत्रोंको वहुत सुंदर लगता था. इसप्रकार वह सिंहासन वहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ २७ ॥ वह सिंहासन वहुत ही देदीप्यमान और वडा था, उसकी कांतिका समूह चारोंओर प्रकाशमान हो रहा था, अनेक वहुमूल्य रत्नोंसे वह चमक रहा था और ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों मेरुपर्वतकी ओर हँस रहा ही हो ॥ २८ ॥ उस सिंहासनपर भगवान वृषभदेव विराजमान हो कर उसे सुशोभित कर रहे थे । वे भगवान अपने माहात्म्यसे उस सिंहासनके तलसे चार अंगुल ऊंचे अधर विराजमान थे ॥ २९ ॥ उस सिंहासनपर विराजमान हुये भगवानकी पूजा इंद्रलोग वडे समारोहके साथ करते थे और वादलोंके समान आकाशमार्गसे पुष्पोंकी वर्षा करते थे ॥ ३० ॥ आकाशरूपी आंगनमें व्याप्त होती हुई वह पुष्पोंकी वर्षा ऐसी जान पडती थी मानों उन्मत्त भ्रमरके समूहके समान शब्दायमान होता हुआ मनुष्योंके नेत्रोंका समूह ही हो ॥ ३१ ॥ देवरूपी वादलोंसे वारह योजनतककी

पुष्पवृष्टिः पतंती सा व्यधाच्चित्रं रजस्ततं ॥ ३२ ॥ वृष्टिरसौ कुसुमानां तुष्टिकरी प्रमदानां । दृष्टिततीरनुकल्य स्रष्टुरपप्तदुपांते ॥ ३३ ॥ षट्पदवृंदविकीर्णैः पुष्परजोभिरुपेता । वृष्टिरमर्त्यविसृष्टा सौमनसी रुरुचेऽसौ ॥ ३४ ॥ शीतलैर्वारिभिर्गांगै रार्द्रिता कौसुमी वृष्टिः । पट्पदैराकुलाऽपप्तत् पत्युरग्रे ततामोदा ॥ ३५ ॥ मरकतहरितैः पत्रै र्मणिमयकुसुमैश्चित्रैः । मरुदुपविधुताः शाखा श्चिरमभृत महाऽशोकः ॥ ३६ ॥ मदकलविरुतैर्भृंगै रपि परपुष्टविहंगैः । स्तुतिमिव भर्तुरशोको मुखरितदिक्कुरुते स्म ॥ ३७ ॥ व्यायतशाखादोश्चलनैः स्वै र्नृत्यमथासौ कर्तुमिवाग्रे । पुष्पसमूहैरंजलिमिद्धं भर्त्तुरकार्षी-

पृथ्वीपर पडती हुई वह पुष्पोंकी वर्षा अपने परागके समूहसे पृथ्वीको चित्र विचित्रकी कर रही थी, अथवा वह पुष्पोंकी वर्षा पृथ्वीपर धूली बढा रही थी। यह एकप्रकारका विरोध है क्योंकि वर्षासे धूलि दव जाती है बढती नहीं परंतु उस पुष्पोंकी वर्षासे परागकी धूलि बढती ही थी ॥ ३२ ॥ वह पुष्पोंकी वर्षा स्त्रियोंको अत्यंत प्रसन्न करती हुई भगवानके समीपभागमें पड रही थी और ऐसी जान पडती थी मानों नेत्रोंकी संतति ही पुष्पोंका रूप धारणकर भगवानके समीपमें पड रही हो ॥ ३३ ॥ भ्रमरोंके समूहोंके द्वारा इधर उधर फैलाये हुये पुष्पोंके परागोंसे सुशोभित और देवोंके द्वारा वरसाई हुई वह पुष्पोंकी वृष्टि बहुत ही मनोहर जान पडती थी ॥ ३४ ॥ जो गंगाके शीतल जलसे भीगी हुई है, जिसपर अनेक भ्रमर बैठे हुये हैं और जिसकी सुगंधि चारोंओर फैली हुई है ऐसी वह पुष्पोंकी वर्षा भगवानके सामने पड रही थी ॥ ३५ ॥ भगवानके समीप ही महा अशोक वृक्ष था जिसके मरकतमणियोंके बने हुये हरे पत्ते थे, मणियोंके बने हुये अनेक वर्णके फूल थे और वायुके द्वारा धीरे २ उसकी शाखायें हिल रहीं थीं ॥ ३६ ॥ उस अशोक वृक्षपर अनेक उन्मत्त भ्रमर मधुर गुंजार शब्द कर रहे थे, कोयलें भी मधुर शब्दोंसे बोल रहीं थीं जिनसे सब दिशाओंको शब्दायमान करता हुआ वह अशोक ऐसा जान पडता था मानों भगवानकी स्तुति ही कर रहा हो ॥ ३७ ॥ वह अशोकवृक्ष अपनी लंबी लंबी शाखारूपी भुजाओंके हिलनेसे ऐसा जान पडता था मानों भगवानके

द्वयक्तमशोकः ॥ ३८ ॥ रेजेऽशोकतरुरसौ रुंधन् मार्गं व्योमचरमहेशानां । तन्वन्योजनविस्तृताः शाखा धुन्वन् शोकमयमदो ध्वांतं ॥ ३९ ॥ सर्वा हरितो विटपैस्ततैः संमार्ष्टुमिवोद्यतधीरसौ । व्यापद्भिरुच्चैः कुसुमोत्करैः पुष्पोपहृतिं विदधद् द्रुमः ॥ ४० ॥ वज्रमूलमिद्धरत्नबुध्नं सजपाभरक्तचित्रसूनं । मत्तकोकिलालिनिकलस्वनं चक्रुरस्पसंनिभं सुरेशाः ॥ ४१ ॥ छत्रं धवलं रुचिमत्कांत्या चांद्रीमजयद्रुचिरां लक्ष्मीं । त्रेधा रुरुचे शशभृन्नूनं सेवां विदधज्जगतां पत्युः ॥ ४२ ॥ छत्राकारं दधदिव चान्द्रं बिंबं शुभ्रं छत्रत्रितयमदो बाभासन् । मुक्ताजालैः किरणसमूहैर्वा स्वैः श्वक्ष्णै सुत्रामवचनतोऽसौ रैराट् ॥४३॥

सामने नृत्य ही कर रहा हो और पुष्पोंके समूहोंसे ऐसा जान पडता था मानों भगवानके सामने प्रत्यक्ष पुष्पांजलि ही समर्पण कर रहा हो ॥३८॥ आकाशमें चलनेवाले देव और विद्याधरोंके स्वामियोंका मार्ग रोकताहुआ, एक योजनतक अपनी लंबी शाखायें फैलाताहुआ और शोकरूपी अंधकारको नष्ट करताहुआ वह अशोकवृक्ष बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ ३९ ॥ उसकी शाखायें सब दिशाओंमें फैली हुई थीं, जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों अपनी फैली हुई शाखाओंसे सब दिशाओंको साफ करनेकेलिये ही तैयार हुआ हो, तथा उसके पुष्पोंके समूह फूल रहे थे जिनसे ऐसा जान पडता था मानों वह भगवानकेलिये पुष्पोंकी भेट समर्पण करताहुआ ही सबजगह व्याप्त हो रहा हो ॥ ४० ॥ इंद्रने वह वृक्ष सब वृक्षोंमें मुख्यवृक्ष बनाया था, उसकी जड वज्रकी बनी हुई थी, ऊपर दिखनेवाला मूलभाग दैदीप्यमान रत्नोंका बनाहुआ था, जपापुष्पकी कांतिके समान पद्मरागमणियोंके अनेकप्रकारके पुष्प बने हुये थे तथा उन्मत्त कोयलें और भ्रमर उसपर गुंजार कर रहे थे ॥४१॥ जो अपनी कांतिसे बहुत ही मनोहर है तथा चंद्रमाकी मनोहर शोभाको भी जीत रहा है ऐसा सफेद छत्र भगवानके ऊपर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों चंद्रमा ही अपने तीन रूप धारणकर तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवकी सेवा करनेकेलिये आया हो ॥४२॥ वे सफेद तीनों छत्र ऐसे सुशोभित होते थे मानों चंद्रमाका मंडल ही छत्रका आकार धारण कर रहा हो, उस

रत्नैरनेकैः खचितं परार्ध्यैं रुग्रद्दिनेशश्रियमाहसद्भिः । छत्रत्रयं तद्गुरुचेऽतिवीध्रं चंद्रार्कसंपर्कविनिर्मितं वा ॥ ४४ ॥ सन्मौक्तिकं वार्द्धिजलायमानं सश्रीकमिंद्रद्युतिहारि हारि । छत्रत्रयं तल्लसदिंद्रवज्रं दध्रे परां कांतिमुपेत्य नाथं ॥ ४५ ॥ किमेष हासस्तनुते जगच्छ्रियः किमु प्रभोरुल्लसितो यशोगुणः । उत स्मयो धर्मनृपस्य निर्मलो जगत्त्रयानंदकरो नु चन्द्रमाः ॥ ४६ ॥ इति प्रतर्कं जनतामनस्स्वदो वितन्वदिद्धातपवारणत्रयं । बभौ विभोर्मोहविनिर्ज्जयार्ज्जितं यशोमयं बिंबमिव त्रिधा स्थितं ॥ ४७ ॥ पयःपयोधेरिव वीचिमाला प्रकीर्णकानां समितिः समंतात् । जिनेंद्रपर्यंतनिषेवियक्ष करोत्करैराविरभूद्विधूता

छत्रमें जो मोतियोंकी जाली लगी हुई थीं वे चंद्रमाकी किरणोंके समान जान पडती थीं इसप्रकार वह छत्र इंद्रकी आज्ञासे कुवेरने बनाया था ॥ ४३ ॥ वह छत्रत्रय उदय होते हुये सूर्यकी शोभाकी ओर भी हँसनेवाले बहुमूल्य अनेक रत्नोंसे बना हुआ था तथा बहुत ही निर्मल था इसलिये ऐसा अच्छा जान पडता था मानों सूर्य और चंद्रमाके परस्पर मिलनेसे ही बना हो ॥ ४४ ॥ उस छत्रमें बडे ही उत्तम मोती लगे हुये थे, वह क्षीरसागरके जलके समान जान पडता था, बहुत ही शोभायमान और मनोहर था, इंद्रकी कांतिको भी जीतता था और उसमें इंद्रनील मणि भी लगे हुये थे, ऐसा वह छत्रत्रय भगवानकी समीपता पाकर बडी ही उत्कृष्ट कांतिको धारण करता था ॥ ४५ ॥ क्या यह जगतकी लक्ष्मीका हास्य ही फैल रहा है, अथवा भगवानका प्रकाशमान यशरूपी गुण है, अथवा धर्मराजका निर्मल मंद हास्य है, अथवा तीनों लोकोंको आनंदित करनेवाला चंद्रमा है इसप्रकार लोगोंके मनमें तर्क वितर्क उत्पन्न करता हुआ तथा भारी आतापको भी दूर करनेवाला वह छत्रत्रय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों मोहरूपी शत्रुके जीत लेनेसे भगवानका जो यशरूपी मंडल इकट्ठा हुआ है वही अपने तीन रूप धारणकर वहां ठहरा हो ॥ ४६-४७ ॥ भगवानके समीपमें सेवा करनेवाले यक्षोंके ऊपरको उठे हुये हाथोंके समूहोंसे जो चमरोंके समूह चारोंओर ढुराये जा रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों क्षीरसागरकी लहरें ही हों ॥ ४८ ॥ अत्यंत निर्मल कांतिको धा-

॥ ४८ ॥ पीयूषखंडैरिव निर्मितानि चंद्रैर्विभोर्वैडिन अन्वर्थाः । जिनांघ्रिपर्वतमुपेत्य भेजे प्रकीर्णकार्दि गिरिनिर्झराभा ॥ ४९ ॥ जिनेंद्रमार्गेमितुमा-
गतेवं दिवापगा स्वर्दिदिति वक्ष्यमाना । पंक्तिर्विरेजे शुचिचामराणां यक्षैः सलीलं परिवीजितानां ॥ ५० ॥ जैनी किमंगद्युतिरुद्भवंती किमिंदुभासां ततिरा-
पतंती । इति स्म शंकां ननु ते तनोति सा चामराली शरदिंदुशुभ्रा ॥ ५१ ॥ सुधामलांगी रुचिरा विरेजे सा चामराणां ततिरुल्लसंती । क्षीरोदफेनावलि-
रुचलंती सत्किशुलेव वसितककांतिः ॥ ५२ ॥ लक्ष्मी परमात पतापतंती शशांकवर्त्यामृतसमानकांतिः । सिषेविषुस्तं जिनमाव्रजंती पयोधिवेलेव सुचामराली

रण करनेवाला वह चमरोंका समूह ऐसा जान पडता था मानों अमृतके टुकडेसे ही बना हो, अथवा चंद्रमाकी किरणोंसे ही बना हो तथा वही स्वच्छ चमरोंका समूह ऊपरसे पडता हुआ भगवानके चरणकमलोंके समीप पहुंचकर अथवा भगवानरूपी पर्वतके समीप पहुंचकर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों किसी पर्वतसे निर्झरना ही पड रहा हो ॥ ४९ ॥ जिसे यक्ष लोग लीलापूर्वक धीरे धीरे ढुरा रहे हैं ऐसी वह पवित्र चमरोंकी पंक्ति वडी ही सुशोभित हो रही थी तथा उसे देखकर लोग कल्पना करते थे कि भगवानकी सेवा करनेकेलिये अवश्य यह आकाशगंगा ही आई है ॥ ५० ॥ शरद ऋतुके चंद्रमाके समान अतिशय स्वच्छ ऐसी ऊपरसे पडती हुई वह चमरोंकी पंक्ति लोगोंको ऐसी शंका उत्पन्न कर रही थी कि क्या यह भगवानके शरीरकी कांति ही प्रगट हो रही है अथवा चंद्रमाकी कांतिका समूह ही आ रहा है ॥ ५१ ॥ वह ढुरती हुई चमरोंकी पंक्ति अमृतके समान निर्मल शरीर और अतिशय कांतिको धारण करती थी, वडी ही प्रकाशमान और सुंदर थी इसलिये वह ऐसी जान पडती थी मानों क्षीरसागरके फेनकी पंक्ति ही हो ॥ ५२ ॥ अथवा ऊपरसे पडती हुई वह चमरोंकी पंक्ति वडी उत्कृष्ट शोभाको धारण करती थी, चंद्रमाके वा अमृतके समान उसकी कांति थी और वह ऐसी जान पडतीथी मानों भगवानकी सेवा करनेकी इच्छासे समुद्रकी वेला ही आई हो ॥ ५३ ॥ क्या ये आकाशसे हंस उतर रहे हैं, अथवा भगवानका यश ही पड रहा है इसप्रकार

|| ५३ || पतंति हंसाः किमु मेवमार्गात्किमुत्पतंतीश्वरतो यशांसि । विशंक्यमानानि सुरैरितीशः पेतुः समंतात्सितचामराणि || ५४ || यक्षैरुदक्षिप्यत चामराली दक्षैः सलीलं कमलायताक्षैः । न्यक्षेऽपि भर्तुर्विततावलक्षा तरंगमालेव महद्भिरब्धेः || ५५ || जिनेंद्रभक्त्या सुरनिम्नगेव तद्व्याजमेत्यांबरतः पतंती । सा निर्बभौ चामरपंक्तिरुच्चै र्जोत्स्नेव भव्योरुकुमुद्वतीनां || ५६ || इत्यात्ततोषैः स्फुरदक्षयक्षैः प्रवीज्यमानानि-शशांकभांसि । रेजुर्जगन्नाथगुणोत्करैर्वा स्पर्द्धां वितन्वंत्यथ चामराणि || ५७ || लसत्सुधाराशिविनिर्मलानि तान्यप्रमेयद्युतिकांतिभांजि । विभोर्जगत्प्राभवमद्वितीयं शशंसुरुच्चैश्चमरीरुहाणि || ५८ || लक्ष्मीसमालिंगितवक्षसोऽस्य श्रीवृक्षचिन्हं दधतो जिनेशः । प्रकीर्णकानाममितद्युतीनां विज्ञाश्चतुःषष्टिमुदाहरंति || ५९ || जिनेश्वराणामिति चा-

---

जिन्हें देखकर देवलोग शंका करते थे ऐसे वे सफेद चमर भगवानके चारोंओर ढुराये जा रहे थे || ५४ || कमलके समान दीर्घ नेत्रोंको धारण करनेवाले ऐसे चतुर यक्ष लीलापूर्वक धीरे धीरे उन चमरोंको ऊंचेकी ओर उठाते थे उससमय भगवानके समीप पहुंचे हुये वे सफेद और विस्तीर्ण चमर ऐसे जान पडते थे मानों वायुके द्वारा उठाहुआ समुद्रकी लहरोंका समूह ही हो || ५५ || अथवा वह ऊंची चमरोंकी पंक्ति ऐसी अच्छी सुशोभित होती थी मानों उन चमरोंके बहानेसे भगवानकी भक्तिसे आकाश गंगा ही आकाशसे उतर रही हो, अथवा भव्यरूपी बडी बडी कमोदिनियोंको प्रसन्न करनेकेलिये चांदनी ही खिल रही हो ||५६|| इसप्रकार जिन्हें अत्यंत आनंद प्राप्त हो रहा है और जिनके सुंदर नेत्र प्रकाशमान हो रहे हैं ऐसे यक्ष चंद्रमाके कांतिकी समान दैदीप्यमान जिन चमरोंको ढुरा रहे थे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानके गुणसमूहोंके साथ स्पर्द्धा ही कर रहे हों ||५७|| अथवा सुंदर अमृतकी राशिके समान अत्यंत निर्मल तथा अपार तेज और कांतिको धारण करनेवाले वे उत्कृष्ट चमर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानके अद्वितीय (सबसे उत्कृष्ट) जगतके प्रभुत्वको ही प्रगट कर रहे हों || ५८ || जिनका वक्षःस्थल अनंत चतुष्टयरूप लक्ष्मीसे आलिंगित है और जो श्रीवृक्षके चिन्हसे सुशोभित हैं ऐसे भगवानके अपारकांतिको धारण करनेवाले चमरोंकी

चमराणि प्रकीर्तितानीह सनातनानां । अर्धार्धमानानि भवंति तानि चक्रेश्वराद्यावदसौ सुराजा ॥ ६० ॥ सुरदुंदुभयो मधुरध्वनयो निनदंति तदा स्म नभोविवरे । जलदागमशंकिभिरुन्मदिभिः शिखिभिः परिवीक्षितपद्धतयः ॥ ६१ ॥ पणवैस्तुणवैः कलमंद्ररुतैः सह काहलशंखमहापटहैः । ध्वनिरुत्ससृजे ककुभां विवरं सुभरं विदधद्दिवद्ध नभः ॥ ६२ ॥ घनकोणहताः सुरपाणिवकैः कुपिता इव ते सुसदां पटहाः । ध्वनिमुत्ससृजुः किमहो शठाः परिताडयथेति विसृष्टगिरः ॥६३॥ ध्वनिरंबुमुचां किमयं स्फुरति क्षुभितोऽब्धिरुत स्फुरदूर्मिरवः । कृततर्कमिति प्रसरन्जयतात् सुरतूर्यरवो जिनभर्तुरसौ ॥६४॥

संख्या विद्वान लोगोंने चौंसठ वतलाई है ॥ ५९ ॥ सनातन भगवान अरहंतदेवके जो चमरोंकी चौंसठ संख्या कही है उससे चक्रवर्तीके चमरोंकी संख्या आधी अर्थात् बत्तीस होती है तथा इसीप्रकार राजा पर्यंत आधी आधी संख्या लेनी चाहिये । भावार्थ—जिनेंद्रदेवके चौंसठ, चक्रवर्तीके बत्तीस, अर्धचक्रीके सोलह, मंडलेश्वरपर आठ, अर्द्धमंडलेश्वरपर चार, महाराजपर दो और राजापर एक चमर ढुरता है ॥ ६० ॥ इसीप्रकार उससमय मधुर शब्द करते हुये देवोंके दुंदुभी आकाशमें बजाये जा रहे थे जिन्हें वादलकी शंका करते हुये उन्मत्त मयूर वडे आदरसे देख रहे थे ॥ ६१ ॥ मधुर शब्द करते हुये पणव, तुणव, काहल, शंख, नगाडे आदि अनेक वाजोंके शब्द समस्त दिशाओंको शब्दायमान करते हुये और आकाशको आच्छादित करते हुये सब जगह फैल रहे थे ॥ ६२ ॥ बजानेवाले देवोंके मजबूत दंडेसे ताडित हुये नगाडे जो शब्द कर रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों वे क्रोधित होकर देवोंको स्पष्ट शब्दोंसे यही कह रहे हों कि अरे दुष्ट हो तुम लोग जोर जोरसे क्यों मारते हो ॥ ६३ ॥ क्या यह वादल गरज रहे हैं, अथवा समुद्र ही क्षुब्ध हुआ है, अथवा समुद्रकी वडी २ लहरोंकी आवाज है इसप्रकार तर्क वितर्क उत्पन्न करते हुये भगवानके देवोंके द्वारा बजाये हुये नगाडोंकी आवाज सदा जय रूप हो अर्थात् सदा जय वंती हो ॥ ६४ ॥ सुर असुर और मनुष्य तिर्यंचोंमे भरी हुई वह समवसरणकी भूमि भगवानके शरीरसे उत्पन्न हुई और चारोंओर फैली

प्रभया परितो जिनदेहभुवा जगती सकला समवादिसृतेः । रुरुचे ससुरासुरमर्त्यजना किमथाद्भुतमीदृशि धाम्नि विभोः ॥ ६५ ॥ तरुणार्करुचिं नु तिरो दधती सुरकोटिमहांसि नु निर्धुनती । जगदेकमहोदयमासृजती प्रथते स्म तदा जिनदेहरुचिः ॥ ६६ ॥ जिनदेहरुचावमृताब्धिशुचौ सुरदानवमर्त्यजना ददृशुः । स्वभवांतरसप्तकमात्तमुदो जगतो बहुमंगलदर्पणके ॥ ६७ ॥ विधुमाशु विलोक्य नु विश्वसृजो गतमातपवारणतां त्रितयीं । रविरिद्धवपुः स पुराणकविं समशिश्रियदंगविभानिभतः ॥ ६८ ॥ दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत् । भव्यमनोगतमोहतमोघ्नन्नद्युतदेष यथैव तमोऽ-

---

हुई कांतिसे अर्थात् प्रभामंडलसे बहुत ही सुशोभित हो रही थी, सो ठीक ही है क्योंकि भगवानका इतना बडा तेज है उसमें विशेष आश्चर्यकी बात क्या है ॥ ६५ ॥ उससमय वह भगवानके शरीरकी कांति (प्रभामंडल) दोपहरके अति तेजस्वी सूर्यकी कांतिको भी तिरस्कार कर रही थी, करोडों देवताओंके प्रतापको प्रक्षालित कर रही थी वा धो रही थी अर्थात् तुच्छ कर रही थी और जगतको सबसे अधिक प्रकाशमान कर रही थी, इसप्रकारकी वह कांति चारोंओर फैल रही थी ॥ ६६ ॥ अमृतसे भरे हुये समुद्रके समान निर्मल और जगतको अनेक मंगल करनेवाले दर्पणके समान ऐसे भगवानके शरीरके प्रभामंडलमें सुर असुर और मनुष्य लोग अतिशय प्रसन्न होकर अपने अपने सात भव देखते थे ॥ ६७ ॥ चंद्रमा तीनों छत्रोंका रूप धारण कर भगवानकी सेवा करनेकेलिये बहुत शीघ्र आगया है उसे देखकर अतिशय प्रकाशमान सूर्य भी भगवानके शरीरके प्रभामंडलके बहानेसे पुराण कवि भगवान वृषभदेवकी सेवा करने लगा था, भावार्थ—वह प्रभामंडल सूर्यके समान जान पडता था ॥ ६८ ॥ भगवानके मुखरूपी कमलसे बादलोंकी गर्जनाके समान अनेक अतिशय युक्त महा दिव्यध्वनि निकल रही थी और जिसप्रकार अंधकारको नाश करता हुआ सूर्य देदीप्यमान होता है उसीप्रकार भव्य जीवोंके मनके मोहरूपी अंधकारको नाश करती हुई वह दिव्यध्वनि भी देदीप्यमान हो रही थी ॥ ६९ ॥ यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकारकी थी तथापि उसमें सब देव

रिः ॥ ६९ ॥ एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोऽन्तरनेष्ट बहूश्च कुभाषाः । अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्वं बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना ॥ ७० ॥ एकतयोऽपि यथैव जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात् । पात्रविशेषवशाच्च तथाऽयं सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्वं ॥ ७१ ॥ एकतयोऽपि यथा स्फटिकाश्मा यद्यदुपाहितमस्य विभासं । स्वच्छतया स्वयमप्यनुधत्ते विश्वबुधोऽपि तथा ध्वनिरुच्चैः ॥ ७२ ॥ देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद्देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात् । साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ॥ ७३ ॥ इत्थंभूतां देवराड्विश्वभर्तुर्भक्त्या देवैः कारयामास भूतिं । दिव्यास्थानीं

और मनुष्योंकी भाषायें तथा अनेक प्रकारकी कुभाषायें अर्थात् पशुओंकी भाषायें भी अंतर्भूत होती थीं, वह दिव्यध्वनि भगवानके प्रभावसे समस्त जीवोंका अज्ञान दूरकर सबको जीवादि तत्त्वोंका बोध कराती थी ॥ ७० ॥ जिसप्रकार बादलोंका एकसा पानी भी वृक्षोंके भेदसे अनेक रसरूप हो जाता है उसीप्रकार सर्वज्ञदेवकी वह दिव्यध्वनि भी पात्रोंके अनेक भेद होनेसे अनेक प्रकारकी हो जाती थी ॥ ७१ ॥ अथवा जिसप्रकार स्फटिकमणि एक ही प्रकारका होता है तथापि वह अतिशय स्वच्छ होनेसे जपाकुसुम आदि उपाधियोंके भेदसे अनेक रंगोंको धारण करता है, उसीप्रकार भगवानकी दिव्यध्वनि भी श्रोताओंके भेदसे अनेकप्रकारकी हो जाती है ॥ ७२ ॥ कोई कोई ऐसा कहते हैं कि वह दिव्यध्वनि देवोंकी की हुई है भगवानकी नहीं है परंतु यह उनका कहना मिथ्या है, क्योंकि यदि दिव्यध्वनि होना देवोंका अतिशय मानलिया जायगा तो भगवानके इस गुणका घात ही हो जायगा इसलिये वह दिव्यध्वनि भगवानकी ही होती है। दूसरे कोई कोई यह बात कहते हैं कि वह दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक है परंतु उनका यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि संसारमें वर्णसमूहोंके विना कभी अर्थज्ञान नहीं होता है अर्थात् शब्दोंसे ही पदार्थोंका ज्ञान हुआ करता है, दिव्यध्वनिसे भी पदार्थोंका ज्ञान होता है इसलिये वह भी (शक्तिरूपसे) अक्षरात्मक ही है ॥७३॥ इसप्रकार भगवानकी वह बाह्य विभूति इंद्रने भक्तिपूर्वक देवोंसे कराई थी, सब इंद्रोंके द्वारा पूज्य ऐसे उस समव-

देवराजोपसेव्यामध्यास्तैनां श्रीपतिर्विश्वदृश्वा ॥ ७४ ॥ देवः साक्षात्सकलं वस्तुतत्त्वं विद्वान्विद्वज्जनतावंदितांघ्रिः । हैमं पीठं हरिभिर्व्यात्तवक्त्रैरूढं भेजे जगतां बोधनाय ॥ ७५ ॥ दृष्ट्वा देवाः समवसृतिमहीं चक्रुर्भक्त्या परिगतिमुचितां । त्रिःसंभ्रांताः प्रमुदितमनसो देवं द्रष्टुं विविशुरथ सभां ॥ ७६ ॥ व्योममार्गपरिरोधिकेतनैः संमिमार्जिषुमिवाखिलं नभः । धूलिसालवलयेन वेष्टितां संततामरधनुर्वृतामिव ॥ ७७ ॥ स्तंभशब्दपरमानवाग्मितान् या स्म धारयति खाग्रलंघिनः । स्वर्गलोकमिव सेवितुं विभुं व्याजुहूषुरमलाग्रकेतुभिः ॥ ७८ ॥ स्वच्छवारिशिशिराः सरसीश्च याऽबिभर्विकसितोत्पलनेत्राः ।

सरणमें सब लोकालोकको जाननेवाले भगवान वृषभदेव विराजमान थे ॥ ७४ ॥ गणधर आदि अनेक विद्वानलोग जिनके चरणकमलोंकी बंदना करते हैं तथा जो जीव अजीव आदि समस्त तत्त्वोंको प्रत्यक्ष जानते हैं ऐसे वे वृषभदेव भगवान जगतके जीवोंको उपदेश देनेकेलिये मुंह फाडे हुये सिंहोंके द्वारा धारण किये हुये सुवर्णके सिंहासनपर विराजमान थे ॥ ७५ ॥ इसप्रकार समवसरणकी भूमिको देखकर देवलोग बहुत ही प्रसन्न हुये तथा उन्होंने भक्ति पूर्वक तीनवार चारोंओर फिरकर योग्य रीतिसे तीन प्रदक्षिणायें दीं और फिर भगवानको देखनेकेलिये सभाके भीतर प्रवेश किया ॥ ७६ ॥उस समवसरणकी भूमिमें जो आकाशमार्गको रोकनेवालीं ध्वजायें लगी हुई थीं उनसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों समस्त आकाशको साफ करना ही चाहती हो, तथा वह जो गोल धूलिसालसे घिरी हुई थी इसलिये ऐसी जान पडती थी मानों वह सदा इंद्रधनुषसे ही घिरी रहती हो ॥ ७७ ॥ उसी समवसरणकी भूमिमें आकाशको उलंघन करनेवाले चार मानस्तंभ सुशोभित हो रहे थे, तथा उन मानस्तंभोंपर जो निर्मल ऊंची ध्वजायें लग रहीं थीं उनसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों भगवानकी सेवा करनेकेलिये (मानस्तंभरूपी हाथ उठाकर) स्वर्गलोकको ही बुला रही हो ॥ ७८ ॥ जिनमें कमल प्रफुलित हो रहे हैं और स्वच्छ तथा शीतल जल भरा हुआ है ऐसी अनेक सरोवरियां सुशोभित हो रहीं थीं और वे ऐसी जान पडती थीं मानों उस भूमिने जन्ममरण

द्रष्टुमीशमसुरांतकमुच्चै र्नेत्रपंक्तिमिव संवहयंती ॥ ७९ ॥ खातिकां जलविहंगविरावै रुन्नतैश्च विततोर्मिकरौवैः । या दधे जिनमुपासितुमिंद्रानाजुहूषुरिव निर्मलतोयां ॥ ८० ॥ बहुविधनवलतिकाकांतं मदमधुकरविरुतातोद्यं । वनमुपवहति च वल्लीनां स्मितमिव कुसुमाचितं या स्म ॥ ८१ ॥ सालमाद्यमुच्च-गोपुरोद्गमं संबिभर्ति भासुरं स्म हैमनं । हैमनार्कसौम्यदीप्तिमुन्नतिं भर्तुरक्षरैर्विनेव या प्रदर्शिका ॥ ८२ ॥ शरद्घनसमश्रियौ नर्तकी तडिद्विलसिते नृतेः शालिके । दधाति रुचिरे स्म योपासितुं जिनेंद्रमिव भक्तिसंभाविता ॥ ८३ ॥ घटीद्वयद्वंद्वमुपात्तधूपकं बभार या द्विस्तनयुग्मसन्निभं । जिनस्य धृत्यै श्रत-

---

नाशकरनेवाले भगवानको देखनेकेलिये बडी बडी नेत्रोंको पंक्तियां ही धारण की हों ॥७९॥ उस भूमिमें जो निर्मल जलसे भरी हुई खाई सुशोभित हो रही थी उसपर जलचर जीव मधुर शब्द कर रहे थे और बडी २ ऊंची लहरें उठ रहीं थीं जिनसे वह खाई ऐसी जान पडती थी मानों लहरेंरूपी बडे २ अनेक ऊंचे हाथोंको उठाकर और पक्षियोंके द्वारा शब्द करती हुई भगवानकी सेवा करनेकेलिये इंद्रोंको ही बुला रही हो ॥८०॥ उस भूमिमें जो लताबन थे वे अनेकप्रकारकी लताओंसे मनोहर थे, उन्मत भ्रमरोंके मधुर शब्द ही उसमें वाजे बज रहे थे और फूले हुये फूलोंसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों धीरे २ हँस रही ही हो ॥ ८१ ॥ उस भूमिमें जो पहिला कोट सुशोभित हो रहा था वह सुवर्णका बना हुआ था, बहुत ऊंचा था और चार उसके बडे २ दरवाजे थे, उस कोटसे वह समवसरणकी भूमि ऐसी जान पडती थी मानों अक्षरोंके विना ही हिमऋतुके सूर्यकी कांतिके समान भगवानकी अतिशय सौम्य कांतिको दिखला रही हो ॥ ८२ ॥ सब दरवाजोंके दोनोंओर जो नाट्यशालायें थीं वे शरदऋतुके बादलोंके समान स्वच्छ थीं और उनमें नृत्य करनेवाली देवांगनायें बिजलीके समान जान पडती थीं, उन मनोहर नाट्यशालाओंसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों उसने भक्ति पूवर्क भगवानकी सेवा करनेकेलिये ही यह सब धारण किया हो ॥ ८३ ॥ नाट्यशालाओंके आगे जो दो दो धूपघट थे वे ऐसे जान पडते थे मानों भगवानकी सेवा करनेकेलिये तीनों लोकों-

देवता स्वयं तथास्थितेव त्रिजगच्छ्रिया समं ॥ ८४ ॥ रम्यं वनं भृंगसमूहसेवितं बभ्रे चतुःसंख्यमुपात्तकांतिकं । वासो विनीलं परिधाय तन्निभाद्वरेण्यमाराधयितुं स्थितेव या ॥ ८५ ॥ उपवनसरसीनां बालपद्मैः र्युवतिमुखशोभामाहसंती । अधृत च वनवेदीं रत्नदीप्रां युवतिरिव काटिस्थां मेखलां या ॥ ८६ ॥ ध्वजांबरततांबरैः परिगता यका ध्वजनिवेशनैर्दशतयैः । जिनस्य महिमानमारचयितुं नभोऽगणमिवामृजत्यतिबभौ ॥ ८७ ॥ खमिव सतारं कुसुमाढ्यं या वनमतिरम्यं सुरभूजानां । सह वनवेद्या परितःसालाद्व्यरुचदिवोढ्वा सुकृतारामं ॥ ८८ ॥ अधृत च याऽस्मात्परतो दीप्तं स्फुरदुरुरत्नं भ-

---

की लक्ष्मीके साथ साथ स्वयं सरस्वती देवी ही बैठी हो और उसीके दोनों कुचोंके समान वे धूपघट हों ॥ ८४ ॥ धूपघडोंके आगे चार मनोहर बन सुशोभित हो रहे थे, वे बन अतिशय दैदीप्यमान थे और उसमें भ्रमरोंके समूह बैठे हुये थे, उन बनोंसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों बनोंके बहानेसे नीला वस्त्र पहन कर सर्वश्रेष्ठ भगवानकी सेवा करनेकेलिये ही खडी हो ॥ ८५ ॥ जिसप्रकार स्त्रियां कटिभागपर करधनी धारण करती हैं उसीप्रकार उपवनकी सरोवरियोंमें फूले हुये छोटे २ कमलोंके द्वारा स्वर्गरूपी स्त्रीके मुखकी शोभाकी ओर हँसती हुई वह भूमि अनेक प्रकारके रत्नोंसे दैदीप्यमान ऐसी बनकी वेदिकाको धारण करती थी, भावार्थ—वह बनवेदिका उस समवसरणकी भूमिकी करधनीके समान सुशोभित थी ॥ ८६ ॥ बनवेदिकाके आगे उस भूमिमें दश प्रकारकी ध्वजायें फहरा रही थीं तथा उन ध्वजाओंके हिलते हुये बडे २ वस्त्रोंसे वह भूमि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों भगवानकी महिमा स्थापन करनेकेलिये आकाशको साफ ही कर रही हो ॥ ८७ ॥ ध्वजाओंके बाद द्वितीय कोट था, द्वितीय कोटके चारोंओर बनवेदिका सहित कल्पवृक्षोंका अत्यंत मनोहर बन था, उसमें फूल खिल रहे थे जिससे वह तारे सहित आकाशके समान जान पडता था, इसप्रकार पुण्यके बगीचेके समान उस बनको धारण करती हुई वह समवसरणकी भूमि बडी ही सुशोभित हो रही थी ॥ ८८ ॥ उस बनके बाद उस भूमिमें अनेक बडे २ रत्नोंसे प्रकाशमान और दै-

वनाभोगं । मणिमयदेहानव च स्तूपान् भुवनविजिया इव बद्धेच्छा ॥ ८९ ॥ स्फटिकमयं या रुचिरं सालं प्रावितत‌मूर्तीः खमणिसुभित्तीः । उपरितनं च त्रिजगद्वाहि व्यधृत परार्ध्यं सदनं लक्ष्म्याः ॥ ९० ॥ समं देववर्यैः परार्ध्योरुशोभां प्रपश्यंस्तथैनां महीं विस्मिताक्षः । प्रविष्टो महेंद्रः प्रणष्टप्रमोहं जिनं द्रष्टुकामो महत्या विभूत्या ॥ ९१ ॥ अथापश्यदुच्चैर्ज्वलत्पीठमूर्ध्नि स्थितं देवदेवं चतुर्वक्त्रशोभं । सुरेंद्रैर्नरेंद्रैर्मुनींद्रैश्च वंद्यं जगत्सृष्टिसंहारयोर्हेतुमाद्यं ॥ ९२ ॥ शरच्चंद्रबिंबप्रतिस्पर्धिवक्त्रं शरज्ज्योत्स्नयेव स्वकांत्याऽतिकांतं । नवोत्फुल्लनीलाब्जसंशोभि नेत्रं सरः साब्जनीलोत्पलं व्याहसंतं ॥ ९३ ॥ ज्वल-

---

दीप्यमान अनेक मकान थे तथा अनेक प्रकारके मणियोंसे बने हुये नौ स्तूप थे, उन मकान और स्तूपोंसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों उसने जगतको जीतनेकेलिये ही अपनी इच्छा प्रगट की हो ॥ ८९ ॥ उसके बाद स्फटिक मणियोंका बना हुआ बहुत सुंदर कोट था जो कि बहुत बडा था और आकाशके समान स्फटिक मणियोंकी बनी हुई उसकी दीवालें थीं, तथा उसी तृतीय कोटके ऊपर तीनों जगतको अवकाश देनेवाला बहुमूल्य लक्ष्मीमंडप (श्रीमंडप) बना हुआ था वह पृथ्वी इस सब शोभासे भी सुशोभित हो रही थी, (ऐसी उस समवसरणकी भूमिकी प्रदक्षिणा देकर इंद्रने भीतर प्रवेश किया) ॥ ९० ॥

अथानंतर—इसप्रकार अत्यंत उत्कृष्ट शोभाको धारण करनेवाली उस समवसरणकी भूमिको देखते हुये तथा आश्चर्य सहित नेत्रोंको धारण करते हुये सौधर्मस्वर्गके इंद्रने मोहनीय कर्मको नष्ट करनेवाले श्रीजिनेंद्रदेवके देखनेकेलिये बडी विभूतिके साथ उस समोसरणमें प्रवेश किया ॥ ९१ ॥ वहां जाकर इंद्रने अतिशय दैदीप्यमान पीठिकाके ऊपर विराजमान देवाधिदेव भगवान वृषभदेवके दर्शन किये, उससमय चारों दिशाओंमें भगवानके चार मुख सुशोभित हो रहे थे, सुरेंद्र नरेंद्र और मुनींद्र सब उनकी बंदना करते थे, वे मोक्षमार्गरूप सृष्टिके प्रधान कारण थे और पापरूप सृष्टिके संहार करनेके कारण थे ॥ ९२ ॥ उनका मुख शरद ऋतुके चंद्रमाके समान था, शरद ऋतुकी चांद-

द्भासुरांगं स्फुरद्भानुबिंबप्रतिद्वंद्विदेहप्रभाब्धौ निमग्नं । समुत्तुंगकायं सुराराधनीयं महामेरुकल्पं सुचामीकराभं ॥ ९४ ॥ विशालोरुवक्षस्स्थलस्थात्मलक्ष्म्या जगद्भर्तृभूयं विनोक्त्या ब्रुवाणं । निराहार्यवेषं निरस्तोरुभूषं निरक्षावबोधं निरुद्धात्मरोधं ॥९५॥ सहस्रांशुदीप्तप्रभामध्यभाजं चलच्चामरोघैः सुरैर्वीज्यमानं । ध्वनद्दुंदुभिध्वाननिर्घोषरम्यं चलद्वीचिवेलं पयोब्धे र्यथैव ॥ ९६ ॥ सुरोन्मुक्तपुष्पैस्ततप्रांतदेशं महाशोकवृक्षाश्रितोत्तुंगमूर्ति । स्वकल्पद्रुमोद्यानमुक्तप्रसूनै

नीके समान अपनी कांतिसे बहुत ही मनोहर था, उनके नेत्र नवीन प्रफुलित हुये नीलकमलके समान सुशोभित थे और उन नेत्रोंसे वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों सुवर्णकमल और नीलकमल सहित सरोवरकी ओर हँस रहे ही हों ॥ ९३ ॥ उनका शरीर अतिशय प्रकाशमान और दैदीप्यमान था, और वह दैदीप्यमान सूर्यकांतमणिके समान शरीरकी कांति अर्थात् प्रभामंडलरूपी समुद्रमें डूबा हुआ था, उत्तम सुवर्णके समान उनका शरीर अत्यंत ऊंचा था और देव भी उसकी आराधना करते थे इसलिये वे भगवान ठीक महामेरुके समान जान पडते थे ॥ ९४ ॥ उनके विशाल और बडे वक्षःस्थलपर जो अनंत चतुष्टय स्वरूप आत्मलक्ष्मी सुशोभित हो रही थी उससे वे भगवान बिना ही बचनोंके अपने तीनों जगतके स्वामीपनेको प्रगट कर रहे थे, इसके सिवाय वे भगवान कवलाहार ग्रहण नहीं करते थे, वस्त्राभूषण रहित थे, इंद्रियोंसे होनेवाला ज्ञान उनके नहीं था अर्थात् उनके दिव्य केवल ज्ञान था और वे ज्ञानावरणादि घातियाकर्मोंसे सर्वथा रहित थे ॥ ९५ ॥ वे भगवान सूर्यके समान दैदीप्यमान प्रभामंडलके मध्यमें विराजमान थे, देव लोग अनेक चमर उनपर ढुरा रहे थे, दुंदुभियोंके मधुर शब्द हो रहे थे जिससे भगवानकी शोभा और भी बढ गई थी तथा दुंदुभीके शब्द और चमरोंसे वह स्थान ऐसा जान पडता था मानों उठती हुई लहरों सहित गरजता हुआ समुद्र ही हो ॥ ९६ ॥ उनका समीपभाग देवोंके द्वारा वरसाये हुये पुष्पोंके समूहोंसे शोभायमान हो रहा था और उनका ऊंचा शरीर महा अशोक वृक्षके नीचे विराजमान था इसलिये उस स-

स्ततांतं सुराद्रिं रुचा न्हेपयंतं ॥ ९७ ॥ प्रविस्तारिशुभ्रातपत्रत्रयेण स्फुरन्मौक्तिकेनाधृतद्युस्थितेन । स्वमाहात्म्यमैश्वर्यमुद्यद्यशश्च स्फुटीकर्त्तुमीशं तमीशानमाद्यं ॥ ९८ ॥ प्रदस्याथ दूरान्नतस्वोत्तमांगाः सुरेंद्राः प्रणेमुर्महीस्पृष्टजानु । किरीटाग्रभाजां स्रजां मालिकाभि र्जिनेंद्रांघ्रियुग्मं स्फुटं प्रार्चयंतः ॥ ९९ ॥ तदार्हत्प्रणामे समुत्फुल्लनेत्राः सुरेंद्रा विरेजुः शुचिस्मेरवक्त्राः । समं वा सरोभिः सपद्मोत्पलैः स्वैः कुलक्ष्माधरेंद्राः सुराद्रिं भजंतः ॥ १०० ॥ शची चाप्सरोशेषदेवीसमेता जिनांघ्र्योः प्रणामं चकारार्चयंती । स्ववक्त्रोरुपद्मैः स्वनेत्रोत्पलैश्च प्रसन्नैश्च भावप्रसूनैरनूनैः ॥ १०१ ॥ जिनस्यांघ्रिपद्मौ नखांशुप्रतानैः

मय वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों कल्पवृक्षोंके वनोंमेंसे पुष्पोंके समूह जिसके समीप फैले हों ऐसे मेरु पर्वतको भी अपनी कांतिसे लज्जित कर रहे हों ॥ ९७ ॥ अतिशय विशाल और मोतियोंसे दैदीप्यमान ऐसे सफेद तीन छत्र आकाशमें लटक रहे थे जिनसे उनकी महिमा ऐश्वर्य और यश प्रगट हो रहा था, इसप्रकार अपना ऐश्वर्य प्रगट करते हुये वे प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव भगवान् विराजमान थे ॥ ९८ ॥ उनको दूरसे ही देखकर इंद्रोंने अपने घोंटू पृथ्वीपर टेककर और अपना मस्तक नवाकर प्रणाम किया- प्रणाम करतेसमय वे इंद्र ऐसे जान पडते थे मानों अपने मुकुटपर लगी हुई मालाओंकी किरणोंसे भगवानके दोनों चरणकमलोंकी पूजा ही कर रहे हों ॥ ९९ ॥ उन अरहंत भगवानको प्रणाम करते समय इंद्रोंके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे थे और उनके पवित्र मुखोंपर प्रसन्नतासे कुछ कुछ हंसी आ रही थी, इसलिये वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों जिनमें कमल खिल रहे हैं ऐसे अपने अपने सरोवरोंके साथ साथ कुलपर्वत ही मेरु पर्वतकी सेवा कर रहे हों ॥ १०० ॥ उससमय अनेक अप्सरा और देवियोंके साथ २ शची इंद्रानीने भी भगवानके चरणकमलोंको प्रणाम किया था, उससमय वह इंद्रानी ऐसी जान पडती थी मानों अपने मुखरूपी कमलोंसे नेत्ररूपी नील कमलोंसे और शुद्ध परिणामरूपी अनेक पुष्पोंसे भगवानकी पूजा ही कर रही हो ॥ १०१ ॥ भगवानके दोनों ही चरणकमल अपने नखोंकी किरण समूहोंके द्वारा देवोंके मस्तकपर आकर उन्हें स्प-

सुरानास्पृशंतौ समेत्याधिमूर्द्धं। स्रजाम्लानमूर्त्या स्वशेषां पवित्रां शिरःस्वर्पिपातामिवानुग्रहीतुं ॥१०२॥ जिनेंद्रांघ्रिभासा पवित्रीकृतं ते स्वमूहुः सुरेंद्राः प्रणम्यातिभक्त्या। नखांशुप्रतानांबुलब्धाभिषेकं समुत्तुंगमत्युत्तमं चोत्तमांगं ॥१०३॥ नखांशूत्करव्याजमव्याजशोभं पुलोमात्मजा साप्सरा भक्तिनम्रा। स्तनोपांतलग्नं समूहेंऽशुकांतं प्रहासायमानं लसन्मुक्तिलक्ष्म्याः ॥ १०४ ॥ प्रणामक्षणे ते सुरेंद्रा विरेजुः स्वदेवीसमेता ज्वलद्भूषणांगाः। महाकल्पवृक्षाः समं कल्पवल्लीसमित्येव भक्त्या जिनं सेवमानाः ॥ १०५ ॥ ॥ अथोत्थाय तुष्ट्या सुरेंद्राः स्वहस्तै जिनस्यांघ्रिपूजां प्रचक्रुः प्रतीताः। सुगंधैः समाल्यैः स-

---

र्श करते थे और उससमय ऐसे जान पडते थे मानों देवोंकी मलिन न होनेवाली मालाके बहानेसे उनपर अनुग्रह करते हुये उनके मस्तकपर पवित्र शेषाक्षत (सिद्ध शेष) ही अर्पण कर रहे हों ॥ १०२ ॥ इंद्र जिससमय भक्तिपूर्वक भगवानको प्रणाम करते थे उससमय वे अपने ऊंचे और उत्तम मस्तकको भगवानके चरणकमलोंकी कांतिसे अतिशय पवित्र मानते थे और नखोंकी किरणसमूहरूपी जलसे अभिषेक किये हुयेके समान मानते थे ॥ १०३ ॥ इंद्रानी भी जिससमय अप्सराओंके साथ भक्तिपूर्वक नमस्कार कर रही थी उससमय देदीप्यमान मुक्तिरूपी लक्ष्मीके उत्कट हास्यके समान और स्वभावसे ही सुंदर ऐसा भगवानके चरणोंके नखोंकी किरणोंका समूह इंद्रानीके स्तनोंके समीपभागमें पड रहा था और वह ऐसा जान पडता था मानों स्तनोंपरका सुंदर वस्त्र (कांचली) ही हो ॥ १०४ ॥ उससमय प्रकाशमान आभूषणोंसे सुशोभित ऐसे इंद्र अपनी अपनी इंद्रानियों सहित भगवानको नमस्कार कर रहे थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों जिनपर कल्पलतायें चढी हुई हैं ऐसे महाकल्पवृक्ष ही भक्तिपूर्वक भगवानकी सेवा कर रहे हों ॥ १०५ ॥

अथानंतर—इंद्र बडे हर्षित होकर उठे और उन्होंने संतुष्ट होकर अपने हाथसे गंध, पुष्पमाल, धूप, दीप, दिव्य अक्षत और उत्कृष्ट अमृतके पिंडोंसे भगवानके चरणकमलोंकी पूजा की ॥ १०६ ॥ भगवानके सामनेकी भूमि रंगावलीसे (रंगकी बनी हुई रेखायें वा चौकसे) सुशोभित हो रही थी

धूपैः सदीपैः सदिव्याक्षतैः प्राज्यपीयूषपिंडैः ॥ १०६ ॥ पुरो रंगवल्या तते भूमिभागे सुरेंद्रोपनीता बभौ सा सपर्या । शुचिद्रव्यसंपत्समस्तेव भर्तुः पदोपास्तिमिच्छुः श्रिता तच्छलेन ॥ १०७ ॥ शचीरत्नचूर्णैर्बलिं भर्तुरग्रे ततानोन्मयूखप्ररोहैर्विचित्रां । मृदुस्निग्धसूक्ष्मैरनेकप्रकारैः सुरेंद्रायुधानामिव श्लक्ष्णचूर्णैः ॥ १०८ ॥ ततो नीरधारां शुचिं स्वानुकारां लसद्रत्नभृंगारनालस्रुतां तां । निजां स्वांतवृत्तिं प्रसन्नामिवाच्छां जिनोपांघ्रि संपातयामास भक्त्या ॥ १०९ ॥ स्वरुद्भूतगंधैः सुगंधीकृताशै र्भ्रमद्भृंगमालाकृतारावहृद्यैः । जिनांघ्री स्मरंती विभोः पादपीठं समानर्च भक्त्या तदा शक्रपत्नी ॥ ११० ॥ व्यधान्मौक्तिकौघैर्विभोस्तंदुलेज्यां स्वचित्तप्रसादैरिव स्वच्छभाभिः । तथाऽम्लानमंदारमालाशतैश्च प्रभोः पादपूजामकार्षीत्प्रहर्षात् ॥ १११ ॥ ततो रत्नदी-

---

तथा उसपर इंद्रके द्वारा लाई हुई पूजाकी सामग्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों उस सामग्रीके वहानेसे संसारकी समस्त पवित्र द्रव्यरूपी संपत्तियां भगवानके चरणकमलोंकी सेवा करनेकी इच्छासे ही वहां आई हों ॥ १०७ ॥ इंद्रानीने भगवानके सामने कोमल चिकने और सूक्ष्म ऐसे अनेकप्रकारके रत्नोंके चूर्णसे मंडलकी रचना की थी, उन रत्नोंके चूर्णसे किरणोंके अंकूरे निकल रहे थे जिनसे वह मंडल बडा ही विचित्र जान पडता था तथा ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों वह इंद्रधनुषके कोमल चूर्णसे ही बना हो ॥ १०८ ॥ तदनंतर इंद्रानीने भक्तिपूर्वक भगवानके चरणकमलोंके समीपमें दैदीप्यमान रत्नोंके भृंगार [झारी) के नालसे निकलती हुई पवित्र जलकी धारा अर्पण की, वह जलकी धारा इंद्रानीके समान ही पवित्र थी और इंद्रानीके शुद्ध अंतःकरणके समान निर्मल थी ॥ १०९ ॥ उसीसमय इंद्रानीने भगवानके दोनों चरणकमलोंका स्मरण करते हुये भक्तिपूर्वक जिस गंधकी सुगंधिसे सब दिशायें सुगंधित हो रही हैं और जिसपर फिरते हुये भ्रमरोंके समूहोंसे मनोहर शब्द हो रहे हैं ऐसी स्वर्गकी सुगंधित गंधसे [चंदनसे] भगवानके सिंहासनकी पूजा की ॥ ११० ॥ इसीप्रकार अपने चित्तकी प्रसन्नताके समान निर्मल कांतिको धारण करनेवाले मोतियोंके समूहोंसे भगवानकी अक्षतसे होनेवाली पूजा की, तथा हर्षित होकर प्रफुल्लित कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे बनी हुई

वैर्जिनांगद्युतीनां प्रसर्पेण मंदीकृतात्मप्रकाशैः । जिनार्कं शची प्रार्चिचद्भक्तिनिघ्ना न भक्ता हि युक्तं विदंत्यप्ययुक्तं ॥ ११२ ॥ ददौ धूपमिद्धं च पीयूषपिंड महास्थालसंस्थं ज्वलद्दीपदीप्रं । सतारं शशांकं समाश्लिष्टराहुं जिनांघ्र्यब्जयोर्वा समीपं प्रपन्नं ॥ ११३ ॥ फलैरप्यनल्पैस्तततामोदहृद्यैः ध्वनद्भृंगयूथैरुपासेव्यमानैः । जिनं गातुकामैरिवातिप्रमोदात् फलायार्चयामास सुत्रामजाया ॥ ११४ ॥ इतीत्थं स्वभक्त्या सुरैरर्चितोऽर्हन् किमेभिस्तु कृत्यं कृतार्थस्य भर्तुः । विरागो न तुष्यत्यपि द्वेष्टि वाऽसौ फलैश्च स्वभक्तानहो योयुजेति ॥ ११५ ॥ अथोच्चैः सुरेशा गिरामीशितारं जिनं स्तोतुकामाः प्रहृष्टां-

---

सैकडों मालाओंसे भगवानके चरणकमलोंकी पूजा की ॥ १११ ॥ तदनंतर इंद्रानीने भक्तिवश होकर भगवानके शरीरकी फैलती हुई कांतिसे जिनका प्रकाश मंद पडगया है ऐसे रत्नमय दीपकोंसे जिनेंद्ररूपी सूर्यकी पूजा की, सो ठीक ही है क्योंकि भक्तपुरुषोंको योग्य अयोग्यका कुछ भी विचार नहीं रहता है, भावार्थ—यद्यपि जिनेंद्ररूपी सूर्यकी पूजा दीपकसे करना अयोग्य है तथापि इंद्रानीने केवल भक्तिसे ही की थी ॥११२॥ तदनंतर इंद्रानीने धूपसे पूजा की तथा जलते हुये अनेक दीपकोंसे देदीप्यमान और बडेभारी थालमें रक्खा हुआ अमृतका पिंड भगवानके चरणकमलोंमें समर्पण किया, वह थालमें रक्खा हुआ और दीपकोंसे शोभायमान अमृतका पिंड ऐसा जान पडता था मानों राहुसे ढका हुआ और तारों सहित चंद्रमा ही भगवानके चरण कमलोंके समीप आया हो ॥११३॥ तदनंतर जिनकी मनोहर सुगंध चारोंओर फैल रही है और जिनपर बैठे हुये तथा मधुर गुंजार शब्द करते हुये भ्रमरोंके समूह ऐसे जान पडते हैं मानों हर्षसे भगवानका यश ही गा रहे हों ऐसे अनेक फलोंसे इंद्रानीने मोक्षफल प्राप्त होनेकेलिये भगवानकी पूजा की ॥ ११४ ॥ इसप्रकार देवोंने अपनी भक्तिसे अरहंत भगवानकी पूजा की । यद्यपि वे भगवान कृतकृत्य हैं, उन्हें इस पूजासे कुछ प्रयोजन नहीं है, वे भगवान वीतराग हैं, न तो पूजा आदिसे कुछ प्रसन्न होते हैं और न किसीसे द्वेष ही करते हैं तथापि भक्तपुरुषोंको पूजाका फल मिल ही जाता है यह एक आश्चर्यकी बात है ॥ ११५ ॥

तरंगाः । वचस्सूनमालामिमां चित्रवर्णां समुच्चिक्षिपुर्भक्तिहस्तैरिति स्वैः ॥ ११६ ॥ जिननाथसंस्तवकृतौ भवतो वयमुद्यताः स्म गुणरत्ननिधेः । विधियोऽपि मंदवचसोऽपि ननु त्वयि भक्तिरेव फलतीष्टफलं ॥ ११७ ॥ मतिशक्तिसारकृतवाग्विभवास्त्वयि भक्तिमेव वयमातनुमः । अमृतांबुधेर्जलमशक्नुमा निखिलं प्रपातुमिति किं न पिबेत् ॥ ११८ ॥ क्व वयं जडाः क्व च गुणांबुनिधिस्तव देव पाररहितः परमः । इति जानतोऽपि जिन संप्रति नस्त्वयि भक्तिरेव मुखरीकुरुते ॥ ११९ ॥ गणभृद्भिरप्यगणितानननूंस्तव सद्गुणान्वयमभिष्टुमहे । किल चित्रमेतदथवा प्रभुतां तव संश्रितः किमिव नेशि-

---

इसतरह पूजा करनेके अनंतर इंद्रोंको समस्त वाणीके स्वामी भगवान वृषभदेवकी स्तुति करनेकी इच्छा हुई, अतएव प्रसन्नचित्त होकर वे अनेकप्रकारके बचनरूपी पुष्पोंकी मालाओंको लेकर भक्तिरूपी अपने हाथोंसे इसप्रकार भगवानको समर्पण करने लगे ॥ ११६ ॥ कि हे जिननाथ ! आप अनेक गुणरूपी रत्नोंके खजाने हैं तथा हम लोग बुद्धिहीन और मंदबचन होकर भी आपकी स्तुति करनेकेलिये उद्यत हुये हैं, यद्यपि हमारा यह कार्य व्यर्थ है तथापि आपमें की हुई भक्ति ही अनेक इष्ट फल देती है ॥ ११७ ॥ हम लोग आपकी स्तुति नहीं कर सकते हैं केवल बुद्धिकी सामर्थ्यके अनुसार किये हुये बचनोंके द्वारा आपमें भक्ति प्रकट करते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि जो अमृतके समुद्रका समस्त जल नहीं पी सकता है वह अपने पीने योग्य थोडेसे ही अमृतको क्यों न पीवे, अर्थात् उसे थोडा अमृत अवश्य पीना ही चाहिये उसीप्रकार हम भी अपनी शक्तिके अनुसार आपकी भक्ति करते हैं ॥ ११८ ॥ हे देव ! कहां तो जडबुद्धि हम लोग और कहां आपका अपार और बहुत बडा गुणरूपी समुद्र, हे जिनेंद्र यद्यपि इस बातको हम लोग भी जानते हैं तथापि इससमय आपमें उत्पन्न हुई गाढ भक्ति ही हम लोगोंको वाचालित कर रही है ॥ ११९ ॥ हे देव ! यह भी एक बडे आश्चर्यकी बात है कि आपके बडे २ गुण जो गणधरोंसे गिने भी नहीं गये हैं उनकी हम स्तुति करते हैं ? अथवा इसमें कोई आश्चर्यकी बात भी नहीं है, क्योंकि आपके आश्रय आया हुआ

शिशुः ॥ १२० ॥ तदियमीडिडिषून्विदधाति नस्त्वयि निगूढतरा जिन निश्चला । प्रसृतभक्तिरपारगुणोदया स्तुतिपथेऽद्य ततो वयमुद्यताः ॥ १२१ ॥ त्वमसि विश्वदृगीश्वर विश्वसृट् त्वमसि विश्वगुणांबुधिरक्षयः । त्वमसि देव जगद्धितशासनः स्तुतिमतोऽनुगृहाण जिनेश नः ॥ १२२ ॥ तव जिनार्क विभांति गुणांशवः सकलकर्मकलंकविनिःसृताः । घनवियोगविनिर्मलमूर्तयो दिनमणेरिव भास्वरभानवः ॥ १२३ ॥ गुणमणींस्त्वमनंततयान्वितान् जिन समुद्वहसेऽतिविनिर्मलान् । जलधिरात्मगभीरजलाश्रितानिव मणीनमलाननणुत्विषः ॥ १२४ ॥ त्वमिन संसृतिवल्लरिकामिमामतिततामुरुदुःखफलप्रदां ।

मनुष्य क्या नहीं कर सकता है ॥ १२० ॥ इसलिये हे जिनेंद्र अनंतगुणोंको उत्पन्न करनेवाली, निश्चल और अत्यंत गूढ ऐसी आपमें उत्पन्न हुई परम भक्ति ही हमलोगोंको आपकी स्तुति करनेकेलिये प्रेरणा करती है, और इसलिये ही हमलोग आपकी स्तुति करनेकेलिये तैयार हुये हैं ॥ १२१ ॥ हे देव ! आप समस्त लोकालोकको जाननेवाले सबके स्वामी और कर्मभूमिरूप संसारके उत्पन्न करनेवाले हैं, आप विनाशरहित हैं, समस्त गुणोंके समुद्र हैं, हे जिनेंद्र ! आपका उपदेश समस्त जीवोंका हित करनेवाला है इसलिये आप हमारी स्तुतिको अवश्य ही स्वीकार कीजिये ॥ १२२ ॥ हे जिनेंद्ररूपीसूर्य ! जिसप्रकार बादलके हटजानेसे अतिशय निर्मल मूर्तिको धारण करनेवाली सूर्यकी दैदीप्यमान किरणें सुशोभित होती हैं उसीप्रकार समस्त कर्मरूपी कलंकके दूर हो जानेसे प्रगट हुई आपके गुणोंकी किरणें बडी ही अच्छी सुशोभित हो रहीं हैं ॥ १२३ ॥ हे जिनेंद्र ! जिसप्रकार समुद्र अपने गंभीर जलमें अतिशय दैदीप्यमान निर्मल मणियोंको धारण करता है उसीप्रकार आप भी अतिशय निर्मल ऐसे गुणरूपी अनंत मणियोंको धारण करते हैं ॥ १२४ ॥ हे भगवन् ! बडे २ दुःखरूपी फलोंको देनेवाली और जन्म मरण बुढापा आदि फूलोंसे फूली हुई ऐसी अनादिकालसे चारों ओर फैली हुई इस संसाररूपी लताको आपने शांतपरिणामरूपी हाथोंसे उखाडकर फेंक दिया ॥ १२५ ॥ हे जिनवर ! मोहरूपी बडी भारी सेनाके सेनापति क्रोध मान माया लोभ ये चार बडे

जननमृत्युजराकुसुमाचितां शमकरैर्भगवन्नुदपीपटः ॥१२५॥ जिनवर मोहमहापृतनेशान् प्रबलतरांश्चतुरस्तु कषायान् निशिततपोमयतीव्रमहासिप्रहतिभिराशुतरामजयस्त्वं ॥१२६॥ मनसिजशत्रुमजय्यमलक्ष्यं विरतिमयी शितहेतिततिस्ते । समरभरे विनिपातयति स्म त्वमसि ततो भुवनैकगरिष्ठः ॥१२७॥ जितमदनस्य तवेश महत्त्वं वपुरिदमेव हि शास्ति मनोज्ञं । न विकृतिभाग्न कटाक्षनिरीक्षा परमविकारमनाभरणोद्धं ॥१२८॥ प्रविकुरुते हृदि यस्य मनोजः स विकुरुते स्फुटरागपरागः । विकृतिरनंगजितस्तव नाभूद्विभव भवान्भुवनैकगुरुस्तत् ॥१२९॥ स किल विनृत्यति गायति वल्गत्यपलपति प्रहसत्यपि मूढः । मदनवशो जितमन्मथ ते तु प्रशमसुखं वपुरेव निराह ॥ १३० ॥ विरहितमानमत्सर तवेदं वपुरपरागमस्तकलिपंकं । तव भुवनेश्वरत्वमपरागं प्रकटयति

बलवान कषायरूपी योद्धा थे, वे आपने तीव्र तपश्चरणरूपी पैनी और बडी तलवारकी मारसे बहुत शीघ्र जीतलिये ॥१२६॥ हे देव ! जो किसीके द्वारा जीता न जाय और जो दिखाई भी न पडे ऐसे कामदेव रूपी शत्रुको बडे भारी युद्धमें आपके चारित्र रूपी तीक्ष्ण हथियारोंने मार गिराया, इसलिये हे नाथ ! आप तीनों लोकोंमें सबसे बडे गुरु हैं ॥ १२७ ॥ हे स्वामिन् यद्यपि आप कामदेवको जीतनेवाले हैं, आपका यह शरीर मनोज्ञ है, विकार भावोंसे रहित है, आभरणोंसे रहित है, विकृत नहीं है, तथा न वह कटाक्षोंसे किसीको देखता है और इसलिये ही वह आपके पूज्यपनेको प्रगट दिखला रहा है ॥ १२८ ॥ हे जन्ममरणरूप संसारके नाश करनेवाले जिनेंद्र ! कामदेव जिस मनुष्यके हृदयमें प्रवेश करता है वह रागरूप परागसे आच्छादित होकर अनेक विकारयुक्त चेष्टायें करता है, परंतु कामदेवको जीतनेवाले आपके किसीप्रकारका विकार नहीं पाया जाता है, इसलिये ही आप समस्त संसारके एक उत्कृष्ट गुरु हैं ॥ १२९ ॥ जो मूर्ख पुरुष कामदेवके वश होता है वह नाचता है, गाता है, उन्मत्त होता है, सत्यको छिपाता है और हँसता भी है, परंतु कामदेवको जीतनेवाले आपके शरीरमें ये विकार न होनेसे आपका शांत शरीर ही आपके शांतता आदि अनेक सुखोंको प्रगट कर रहा है ॥ १३० ॥ हे देव ! आप मान मत्सर आदि दोषोंसे रहित हैं । कषायरूपी

स्फुटं निकृतिहीनं ॥ १३१ ॥ तव वपुरामिलत्सकलशोभासमुदयमस्तवस्त्रमपि रम्यं । अतिरुचिरस्य रत्नमणिराशेरपवरणं किमिष्टमुरुदीप्तेः ॥ १३२ ॥ स्विदिरहितं विहीनमलदोषं सुरभितरं सुलक्षमघटितं ते । क्षतजवियुक्तमस्ततिमिरौघं व्यपगतधातु वज्रघनसंधि ॥ १३३ ॥ समचतुरस्रमप्रमितवीर्यं प्रियहितवाग्निमेषपरिहीणं । वपुरिदमच्छदिव्यमणिदीप्रं त्वमसि ततोऽधिदेवतापदभागी ॥ १३४ ॥ इदमतिमानुषं तव शरीरं सकलविकारमोहमदहीनं । प्रकटयतीश ते भुवनलंघि प्रभुतमवैभवं कनककांति ॥ १३५ ॥ स्पृशति न हि भवंतमागश्चयः किमु दिनपमभिद्रवेत्तामसं । वितिमिर स भवान् जगत्सदने

धूलिसे रहित, कर्मरूपी मलसे रहित, तथा माया [छल कपट] और राग रहित ऐसा आपका यह शरीर इस संसारमें आपका ईश्वरपना स्पष्ट प्रगट कर रहा है ॥ १३१ ॥ हे नाथ ! जिसमें समस्त शोभाओंका समुदाय मिला हुआ है ऐसा आपका शरीर यद्यपि वस्त्र रहित है तथापि वह अतिशय मनोहर दिखाई पडता है, सो ठीक ही है, क्योंकि जो अत्यंत सुंदर है और जिसकी कांति बडी ही दैदीप्यमान है ऐसे रत्नमणियोंके समूहको किसी वस्त्र आदिसे ढक देना क्या किसीको अच्छा लगता है ? भावार्थ—जिसप्रकार रत्नराशि खुली अच्छी लगती है उसीप्रकार भगवानका शरीर भी वस्त्ररहित ही अच्छा लगता है ॥ १३२ ॥ हे भगवन् ! आपका शरीर स्वेद (पसीना) रहित है, मलरूपी दोषोंसे रहित है, अत्यंत सुगंधित है, अनेक सुलक्षणोंसे सुशोभित है, रक्तरहित, अंधकारको नाश करनेवाला और धातु उपधातुओंसे रहित है, उसकी हड्डियोंका संबंध वज्रके समान सुदृढ है, संस्थान समचतुरस्र है, अनंत वीर्यको धारणकरनेवाला, प्रिय और हितकारक बचनोंको कहनेवाला, निमेषरहित अर्थात् पलकोंसे पलक न लगनेवाला और स्वच्छ दिव्यमणियोंके समान दैदीप्यमान है, इसलिये हे देव ! तीनों लोकोंमें आप ही देवाधिदेव हैं ॥ १३३-१३४ ॥ हे स्वामिन् जो कभी किसी मनुष्यको प्राप्त नहीं होता ऐसा सुवर्णके समान दैदीप्यमान आपका शरीर सबप्रकारके विकार तथा मोह मद आदिसे सर्वथा रहित है, इसलिये हे नाथ ! संसारको उलंघन करनेवाली आ-

ज्वलदुरुमहसा प्रदीपायते ॥ १३६ ॥ रैधारा ते द्युसमवतारेऽपतन्नाकेशानां पदवीमशेषां रुध्वा । स्वर्गादारात्कनकमयीं वा सृष्टिं तन्वानाऽसौ भुवनकुटीरस्यांतः ॥ १३७ ॥ रैधारैरावतकरदीर्घा रेजे रे जेतारं भजत जना इत्येवं । मूर्तीभूता तव जिन लक्ष्मीर्लोके संबोधं वा सपदि समातन्वाना ॥१३८॥ त्वत्संभूतौ सुरकरमुक्ता व्योम्नः पौष्पी वृष्टिः सुरभितरा संरेजे । मत्तालीनां कलरुतमातन्वाना नाकस्त्रीणां नयनततिर्वायांती ॥ १३९ ॥ मेरोः श्रृंगे समजनि दुग्धांबोधेः स्वच्छांभोभिः कनकघटैर्गंभीरैः । माहात्म्यं ते जगति वितन्वन्स्वामिन् स्वर्धैरियैर्गुरुरभिषेकः पूतः ॥ १४० ॥ त्वां निष्क्रांतौ मणिमयया-

---

पकी अद्वितीय प्रभुताकी विभूतिको वह स्पष्ट प्रगट करता है ॥ १३५ ॥ हे अज्ञानांधकारसे रहित जिनेंद्रदेव ! पापोंका समूह आपको कभी स्पर्श नहीं करता, सो ठीक ही है क्योंकि क्या अंधकार कभी सूर्यके सन्मुख जा सकता है ? हे स्वामिन् ! आप इस जगतरूपी घरमें दैदीप्यमान अत्यंत प्रकाशसे प्रदीपके समान जान पडते हो ॥ १३६ ॥ हे स्वामिन् ! जिससमय आपने स्वर्गसे आकर यहां अवतार लिया था उससमय रत्नोंकी धारा समस्त आकाशको रोकती हुई स्वर्गलोकसे बहुत ही शीघ्र इस जगतरूपी कुटीरके मध्यभागमें पड रही थी और वह ऐसी जान पडती थी मानों इस समस्त सृष्टिको सुवर्णमय करनेकेलिये ही पड रही हो ॥ १३७ ॥ हे जिनेंद्र ! आकाशसे पडनेसे ऐरावत हाथीकी सूंडके समान लंवायमान वह रत्नोंकी धारा लोकमें ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों आपकी लक्ष्मी साक्षात् मूर्ति धारणकर लोगोंको शीघ्र यही समझा रही हो कि अरे मनुष्य हो ! कर्मोंको जीतनेवाले इन अरहंतदेवकी सेवा करो ॥ १३८ ॥ हे भगवन् जिससमय आपका जन्म हुआ था उससमय अत्यंत सुगंधित और जिनपर मत्त भ्रमर बैठे हुये मधुर गुंजार शब्द कर रहे हैं ऐसी देवोंके हाथसे आकाशसे वरसती हुई पुष्पोंकी वृष्टि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों देवांगनाओंके नेत्रोंकी पंक्ति ही आ रही हो ॥ १३९ ॥ हे स्वामिन् ! स्वर्गके मुख्य २ देवोंने मेरुपर्वतके शिखरपर क्षीरसागरके स्वच्छ जलसे भरे हुये सुवर्णमय गंभीर घडोंसे (आगामीकालमें होनेवाले) ती-

नारूढं वोढुं सज्जा वयमिति नैतच्चित्रं । आनिर्वाणान्नियतममी गीर्वाणाः किंकुर्वाणा ननु जिन कल्याणे ते ॥ १४१ ॥ त्वं धातासि त्रिभुवनभर्त्ताऽद्य त्वे कैवल्यार्के स्फुटमुदितेऽस्मिन्दीप्ते । तस्मादेवं जन्मजरातंकां तं त्वां ननमो गुणनिधिमग्र्यं लोके ॥ १४२ ॥ त्वं मित्रं त्वमसि गुरुस्त्वमेव भर्त्ता त्वं स्रष्टा भुवनपितामहस्त्वमेव । त्वां ध्यायन्नमृतिसुखं प्रयाति जंतुस्त्रायस्व त्रिजगदिदं त्वमद्य पातात् ॥ १४३ ॥ परं पदं परमसुखोदयास्पदं विदित्सवश्चिरमिह

र्थंकरके माहात्म्यको तीनों लोकोंमें प्रगट करनेवाला ऐसा बडाभारी पवित्र अभिषेक किया था ॥१४०॥ हे जिन ! जिससमय आपका तपकल्याणक हुआ था अर्थात् आपने दीक्षा धारण की थी उससमय मणियोंकी बनी हुई पालकीपर सवार कराकर उस पालकीको कंधेपर रखकर लेजानेकेलिये हमलोग स्वयं तैयार हुये थे इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि गर्भावतारसे लेकर निर्वाणपर्यंत सब ही कल्याणोंमें स्वर्गके सब देव आपके किंकरके समान ही उपस्थित रहते हैं ॥ १४१ ॥ हे जिनेंद्र ! आप स्वर्ग मोक्षके प्राप्त होनेके कारण ऐसे उपदेश देनेवाले हैं इसलिये आप धाता अर्थात् मोक्षमार्गरूप सृष्टिके प्रगट करनेवाले हैं तथा तीनों लोकोंके स्वामी हैं, हे नाथ आज जो केवलज्ञानरूपी सूर्य उदय हुआ है उससे आप बहुत ही देदीप्यमान हो रहे हैं, इसके सिवाय जन्म जरा रोग आदि दोषोंको नष्ट करनेवाले हैं, गुणोंके खजाने हैं, और जगतमें सबसे श्रेष्ठ हैं, इसलिये हे देव आपको हमलोग बार बार नमस्कार करते हैं ॥ १४२ ॥ हे देव ! इस जगतमें आप ही मित्र हैं, आप ही गुरु हैं, आप ही सबके स्वामी हैं, आप ही इस मोक्षमार्गरूप जगतके प्रगट करनेवाले ब्रह्मा हैं और आप ही इस जगतके पितामह हैं, हे स्वामिन् ! आपका ध्यान करनेसे यह प्राणी जन्ममरणरहित अनंत सुखको प्राप्त होता है इसलिये आज इस जगतको जन्ममरणरूप संसारमें पडनेसे बचाइये ॥ १४३ ॥ हे जिनराज ! परमसुख प्राप्त होनेका उत्तम स्थान और विनाशरहित ऐसे मोक्षस्थानको जाननेकी इच्छा करनेवाले अतिशय बुद्धिमान् योगी पुरुष जन्ममरणरूप संसारके नाश करनेकेलिये आपके द्वा-

योगिनोक्षरं । त्वयोदितं जिन परमागमाक्षरं विचिन्वते भवविलयाय सद्धियः ॥ १४४ ॥ त्वयोदिते पथि जिन ये वितन्वते परां धृतिं प्रमदपरंपरायुजः । त एव संसृतिलतिकां प्रतायिनीं दहंत्यलं स्मृतिदहनार्चिषा भृशं ॥ १४५ ॥ वातोद्धूताः क्षीरपयोधेरिव वीचीरुत्प्रेक्ष्यामूश्चामरपंक्तीर्भवदीयाः । पीयूषांशोर्दीप्तिसामेतीरिव शुभ्रा मोमुच्यंते संसृतिभाजो भवबंधात् ॥ १४६ ॥ सैंहं पीठं स्वां द्युतिमिद्धामतिभानुं तन्वानं तद्भाति विभोस्ते पृथुतुंगं । मेरोः श्रृंगं वा मणिनद्धं सुरसेव्यं न्यक्कुर्वाणं लोकमशेषं स्वमहिम्ना ॥ १४७ ॥ महितोदयस्य शिवमार्गदेशिनः सुरशिल्पिनिर्मितमदोऽर्हतस्तव । प्रथते सितातपवारणत्रयं शरदिंदुबिंबमिव कांतिमत्तया ॥ १४८ ॥ वृक्षोशोको मरकतरुचिरस्कंधो भाति श्रीमानयमतिरुचिराः शाखाः । बाहूकृत्य स्फुटमिव नटितं

रा कहे हुये परमागमके अक्षरोंका विचार करते हैं ॥ १४४ ॥ हे जिनवर ! आपने जिस मोक्षमार्गका उपदेश दिया है उसमें जो परम संतोष धारण करते हैं अथवा अतिशय आनंदित होते हैं वे आपके ध्यानरूपी अग्निकी ज्वालासे सब जीवोंको ठगनेवाली इस संसाररूपी लताको बहुत शीघ्र जला देते हैं ॥ १४५ ॥ हे भगवन् ! आपका यह सफेद चमरोंका समूह वायुसे उठी हुई क्षीरसागरकी लहरोंके समान है, अथवा चंद्रमाकी दैदीप्यमान किरणोंके समूहोंके समान है, इसे देखकर संसारी जीव भवबंधनसे बहुत ही शीघ्र छूट जाते हैं ॥ १४६ ॥ हे विभो ! सूर्यकी कांतिको भी तिरस्कार करनेवाली और अतिशय दैदीप्यमान, ऐसी अपनी कांतिको धारण करता हुआ तथा बहुत ऊंचा, देवोंके द्वारा पूज्य, मणियोंसे जडा हुआ और अपनी महिमासे समस्त लोकको नीचा दिखलाता हुआ ऐसा आपका सिंहासन मेरुपर्वतकी शिखरके समान सुशोभित हो रहा है ॥ १४७ ॥ हे देव ! सर्वोत्कृष्ट विभूतिको धारण करनेवाले और मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले ऐसे अरहंत देव ! आपका कारीगर देवोंके द्वारा बना हुआ यह सफेद छत्र त्रय अपनी प्रकाशमान कांतिके द्वारा शरदऋतुके चंद्रमाके समान सुशोभित हो रहा है ॥ १४८ ॥ हे स्वामिन् मरकत मणियोंका बना हुआ हरे रंगका जिसका स्कंध है और जिसपर मधुर शब्द करते हुये भ्रमरोंके समूह बैठे हैं ऐसा यह अतिशय शोभायमान

तन्वन् वातोध्दूतः कलरुतमधुकृन्मालः १४९ ॥ पुष्पाकीर्णो नृसुरमुनिवरैः कांतो मंदं मंदं मृदुतरपवनोद्धूतः । सच्छायोयं विहतनृसुराशोकोऽगो भाति श्रीमांस्त्वमिव हि जगतां श्रेयः ॥ १५० ॥ व्याप्ताकाशां वृष्टिमलिकलरुतोद्गीतां पौष्पीं देवास्त्वां प्रति भुवनगृहस्याग्रात् । मुंचंत्येते दुंदुभिमधुररवैः सार्द्धं प्रावृड्जीमूतांस्तनितमुखरितान्जित्वा ॥ १५१ ॥ त्वदमरपटहैर्विशंक्य घनागमं पटुजलदघटानिरुद्धनभोंगणं । विरचितरुचिमत्कलापसुमंथरा मदकलमधुना रुवंति शिखावलाः ॥ १५२ ॥ तव जिन ततदेहरुचिसरवणे चमररुहततिः सितविहगरुचिं । इयमनुतनुते रुचिरतरतनुर्मणिमकुटसमिद्धरुचिसुरधुता

और वायुसे हिलता हुआ अशोकवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों अपनी सुंदर शाखारूप हाथोंको उठाकर स्पष्ट रीतिसे नृत्य ही कर रहा हो ॥ १४९ ॥ हे भगवन् ! पुष्पोंसे सुशोभित, देव मनुष्य और मुनिराज आदिके द्वारा प्रशंसा करनेयोग्य, अतिशय कोमल, वायुके द्वारा धीरे २ हिलता हुआ, सुंदर छाया युक्त, देव मनुष्योंका समस्त शोक दूर करनेवाला, पाप रहित, अतिशय शोभायमान और जगतका कल्याण करनेवाला यह आपका अशोकवृक्ष आपके समान ही सुशोभित हो रहा है ॥ १५० ॥ हे स्वामिन् ! ये देवलोग आपके सामने गरजते हुये वर्षाकालके मेघोंके शब्दोंको जीतते हुये जिसपर भ्रमरोंके समूह मधुर शब्द कर रहे हैं और जो आकाशमें व्याप्त हो रही है ऐसी पुष्पोंकी वर्षा दुंदुभियोंके मधुर शब्दोंके साथ २ कर रहे हैं ॥ १५१ ॥ हे प्रभो ! देवोंके द्वारा बजाये हुये आपके दुंदुभियोंकी आवाज सुनकर चारोंओर भरी हुई बादलोंकी घटाओंसे आकाशको रोकनेवाले वर्षा ऋतुकी शंका करते हुये मयूर इससमय अपनी अनेक रंगकी चमकती हुई पूंछको ऊपर फैलाकर तथा धीरे धीरे गमन करते हुये उन्मत्त होकर मधुर शब्द कर रहे हैं ॥ १५२ ॥ हे जिनेंद्र ! मणियोंके बने हुये मुकुटोंसे जिनकी कांति खूब बढ गई है ऐसे देवोंके द्वारा जो ढुराई जा रही है और जिसकी शोभा बहुत ही सुंदर है ऐसी यह आपके चमरोंकी पंक्ति आपके शरीरकी कांतिरूप सरोवरके जलमें सफेद पक्षियोंकी शोभाको धारण करती है ॥ १५३ ॥ हे भगवन् आपकी इस दि-

|| १५३ || त्वद्दिव्यवागियमशेषपदार्थगर्भा भाषांतराणि सकलानि निदर्शयंती । तत्त्वावबोधमचिरात्कुरुते बुधानां स्याद्वादनीतिनिहतान्यमतांधकारा || १५४ || प्रक्षालयत्यखिलमेव मनोमलं नस्त्वद्भारतीमयमिदं शुचि पुण्यमंबु । तीर्थं तदेव हि विनेयजनाजवंजवात्तारसंतरणवर्त्म भवत्प्रणीतं || १५५ || त्वं सर्वगः सकलवस्तुगतावबोधस्त्वं सर्ववित्प्रमितविश्वपदार्थसार्थः । त्वं सर्वजिद्विजितमन्मथमोहशत्रुस्त्वं सर्वदृग्निखिलभावविशेषदर्शी || १५६ || त्वं तीर्थकृत्सकलपापमलापहारिसद्धर्मतीर्थविमलीकरणैकनिष्ठः । त्वं मंत्रकृन्निखिलपापविषापहारिपुण्यश्रुतिप्रवरमंत्रविधानचंचुः || १५७ || त्वामामनंति मुनयः

व्यध्वनिमें संसारके समस्त पदार्थ भरे हुये हैं, वह समस्त भाषाओंका स्वरूप धारण करती है, स्याद्वादरूप नीतिसे अन्यमतियोंके एकांतरूप अंधकारको सर्वथा नष्ट करती है और विद्वान् लोगोंको जीवादि यथार्थ तत्त्वोंका ज्ञान बहुत शीघ्र करा देती है || १५४ || हे विभो ! आपकी वाणीरूप यह पवित्र पुण्य जल मनके समस्त मलोंको बहुत शीघ्र धो डालता है, संसारमें यही तीर्थ है और यही आपका कहा हुआ धर्मरूपी तीर्थ भव्यजीवोंको संसाररूपी समुद्रसे पार होनेका सरल मार्ग है || १५५ || हे प्रभो ! आपका ज्ञान संसारके समस्त पदार्थोंको ग्रहण करता है इसलिये आप सर्वग अर्थात् ज्ञानके द्वारा सब जगह व्याप्त हैं, आप संसारके समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिये आप सर्वज्ञ हैं, आपने कामदेव और मोहरूपी शत्रुओंको जीता है इसलिये सर्वजित् अर्थात् सबको जीतनेवाले हैं और आप समस्त पदार्थोंको विशेषरीतिसे देखनेवाले हैं इसलिये आप सर्वदर्शी (सबको देखनेवाले) हैं || १५६ || हे स्वामिन् ! आप समस्त पापरूपी मलके दूर करनेवाले सद्धर्मरूपी तीर्थके द्वारा समस्त जीवोंको निर्मल (पवित्र वा कर्मोंसे रहित) करनेकेलिये सदा तत्पर रहते हैं इसलिये आप तीर्थंकर कहलाते हैं, तथा आप समस्त पापरूपी विषको हरण करनेवाले और पुण्यस्वरूप शास्त्ररूपी उत्तम मंत्रके निर्माणकरनेमें चतुर हैं इसलिये आप मंत्रकृत् अर्थात् मंत्र करनेवाले वा मंत्रवादी कहलाते हैं || १५७ || हे देव ! मुनिलोग आपको पुराण पुरुष कहते हैं तथा आपको ही

पुरुषं पुराणं त्वां प्राहुरच्युतमृषीश्वरमक्षयार्द्धिं । तस्माद्भवांतक भवंतमचिंत्ययोगं योगीश्वरं जगदुपास्यमुपास्महे स्म ॥ १५८ ॥ तुभ्यं नमः सकलघातिमलव्यपायसंभूतकेवलमयामललोचनाय । तुभ्यं नमो दुरितबंधनशृंखलानां छेत्रे भवार्गलभिदे जिनकुंजराय ॥ १५९ ॥ तुभ्यं नमस्त्रिभुवनैकपितामहाय तुभ्यं नमः परमनिर्वृतिकारणाय । तुभ्यं नमोऽधिगुरवे गुरवे गुणौघैस्तुभ्यं नमो विदितविश्वजगत्त्रयाय ॥ १६० ॥ इत्युच्चकैः स्तुतिमुदारगुणानुरागादस्माभिरीश रचितां त्वयि चित्रवर्णां । देव प्रसीद परमेश्वर भक्तिपूतां पादार्पितां स्रजमिवानुगृहाण चार्वीं ॥ १६१ ॥ त्वामीड्य हे जिन भवंतमनुस्मराम-

---

अच्युत (नाशरहित) ऋषीश्वर और अक्षय ऋद्धिको धारण करनेवाले कहते हैं, इसलिये हे संसारको नाश करनेवाले, जिनेंद्र, अचिंत्य योगको धारण करनेवाले, समस्त जगतके उपासना करने योग्य, ऐसे योगीश्वर ! आपकी मैं बार बार सेवा करता हूं ॥ १५८ ॥ हे देव ! आप समस्त घातियाकर्मरूपी मलको नष्ट करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आपको केवलज्ञानरूपी निर्मलनेत्र प्राप्त हुआ है इसलिये आपको नमस्कार हो, आप पापोंकी बंधरूपी सांकलको तोडदेनेवाले और संसाररूपी अर्गलको नाश करनेवाले हाथीके समान हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ १५९ ॥ हे भगवन् ! आप तीनों लोकोंके पितामह हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप परममोक्षके साक्षात् कारण हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप सबके गुरु हैं गुणोंके समूहोंसे भी गुरु अर्थात् उत्कृष्ट हैं इसलिये आपको नमस्कार हो और आप तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ १६० ॥ हे देव ! हे परमेश्वर ! इसप्रकार आपके तत्त्वोपदेशरूपी उदार गुणोंमें अनुराग होनेसे हम लोगोंने आपकी यह अनेक वर्णोंकी (अनेक अक्षरोंसे बनी हुई अथवा अनेक तरहकी) उत्तम स्तुति की है, इसलिये हे ईश ! हमपर प्रसन्न हूजिये और भक्तिसे पवित्र और चरणोंमें चढाई हुई ऐसी सुंदर मालाके समान इसे स्वीकार कीजिये ॥ १६१ ॥ हे जिनेंद्र ! आपकी पूजाकर हम लोग आपका स्मरण करते हैं । हाथ जोडकर आपको नमस्कार करते हैं । हे

स्त्वां कुड्मलीकृतकरा वयमानमामः । त्वत्संस्तुतावुपचितं यदिहाद्यपुण्यं तेनास्तु भक्तिरमला त्वयि नः प्रसन्ना ॥ १६२ ॥ इत्थं सुरासुरनरोरगयक्षसिद्ध गंधर्वचारणगणैस्सममिद्धबोधाः । द्वात्रिंशदिंद्रवृषभा वृषभाय तस्मै चक्रुर्नमः स्तुतिशतैर्नतमौलयस्ते ॥ १६३ ॥ स्तुत्वेति तं जिनमजं जगदेकबंधुं भक्त्या नतोरुमकुटैरमरैः सहेंद्राः । धर्मप्रिया जिनपतिं परितो यथास्वमास्थानभूमिमभजन्जिनसंमुखास्याः ॥ १६४ ॥ देहे जिनस्य जयिनः कनकावदाते रेजुस्तदा भृशममी सुरदृष्टिपाताः । कल्पांघ्रिपांग इव मत्तमधुव्रतानामोघाः प्रसूनमधुपानपिपासितानां ॥ १६५ ॥ कुंजरकराभभुजमिंदुसमवक्त्रं कुंचितमितस्थितशिरोरुहकलापं । मंदरतटाभपृथुवक्षसमधीशं तं जिनमवेक्ष्य दिविजाः प्रमदमीयुः ॥ १६६ ॥ विकसितसरसिजदलनिभनयनं करिकरसुरुचिरभुजयु-

---

देव ! आज यहां आपकी स्तुति करनेसे जो कुछ पुण्यकी प्राप्ति हुई हो उससे हम लोगोंकी आपमें निर्मल और प्रगटरूप भक्ति हो ॥ १६२ ॥ इसप्रकार प्रकाशमान ज्ञानको धारण करनेवाले मुख्य २ बत्तीस इंद्रोंने देव, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, मनुष्य, नागकुमार, यक्ष, सिद्ध, गंधर्व और चारणोंके साथ २ सैकडों स्तुतियोंके द्वारा मस्तकको झुकाते हुये उन भगवान वृषभदेवकेलिये नमस्कार किया ॥ १६३ ॥ इसप्रकार धर्ममें प्रेम रखनेवाले इंद्रोंने अपने मुकुटको नम्रीभूत करनेवाले देवोंके साथ साथ भक्तिपूर्वक फिर कभी उत्पन्न न होनेवाले और जगतके एकमात्र बंधु ऐसे भगवान वृषभदेवकी स्तुति की और फिर वे उस समवसरणमें भगवानके चारोंओर भगवानकी ओर मुख करके बैठ गये ॥ १६४ ॥ उससमय घातिया कर्मोंको जीतनेवाले भगवान वृषभदेवके सुवर्णके समान दैदीप्यमान शरीरपर उन देवोंके वे दृष्टिपात (नेत्रोंके प्रतिबिंब) ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानों कल्पवृक्षके अवयवोंपर पुष्पोंका रस पीनेकी इच्छा करनेवाले उन्मत्त भ्रमरोंका समूह ही हो ॥ १६५ ॥ जिनकी भुजायें हाथीकी सूंडके समान हैं, मुख चंद्रमाके समान है, जिनके केशोंका समूह संकुचित और परिमित है, जिनका वक्षःस्थल सुमेरु पर्वतके तटके समान विशाल है और जो सबके स्वामी हैं ऐसे श्रीजिनेंद्रदेवको देखकर देवलोग बडे ही प्रसन्न हुये थे ॥ १६६ ॥ जिसके नेत्र फूले हुये कम-

गममलं । जिनवपुरतिशयरुचियुतममरा निददृशुरतिधृतिविमुकुलनयनाः ॥ १६७ ॥ विधुरुचिहरचमररुहपरिगतं मनसिजशरशतनिपतनाविजयि । जिनवरवपुरवधुतसकलमलं निपपुरमृतमिव शुचिसुरमधुपाः ॥ १६८ ॥ कमलदलविलसदनिमिषनयनं प्रहसितनिभमुखमतिशयसुरभि । सुरनरपरिवृढनयनसुखकरं व्यरुचदधिकरुचि जिनवृषभवपुः ॥ १६९ ॥ जिनमुखशतदलमनिमिषनयनभ्रमरमतिसुरभि विधुतविधुरुचि । मनसिजहिमहतिविरहितमतिरुक् पपुरविदितधृति सुरयुवतिदृशः ॥ १७० ॥ विजितकमलदलविलसदसदृशदृशं सुरयुवतिनयनमधुकरततवपुषं । वृषभमजरमजममरपतिसुमहितं नमत परममतममि-

---

लके दलके समान सुशोभित हैं, दोनों निर्मल भुजायें हाथीकी सूंडके समान सुंदर जान पडती हैं और जो अतिशय मनोहर है ऐसे भगवानके शरीरको देवलोग अत्यंत संतोषसे नेत्रोंको उघाडकर देखते थे ॥ १६७ ॥ जो चंद्रमाकी कांतिको हरण करनेवाले सफेद चमरोंसे घिरा हुआ है, जो कामदेवके सैकडों पडते हुये वाणोंको जीतनेवाला है, जिसने समस्त मल धो डाले हैं और जो अत्यंत पवित्र है ऐसे भगवानके शरीरको देवरूपी भ्रमर अमृतके समान पान करते थे। भावार्थ—देवलोग भगवानके शरीरको बडी लालायित दृष्टिसे देखते थे ॥१६८॥ जिसके निमेषरहित (पलकसे पलक न लगनेवाले) नेत्र कमलके दलके समान सुशोभित हो रहे हैं, तथा अतिशय सुगंधित मुख हँसते हुयेके समान जान पडता है, और जो देव मनुष्य आदि जीवोंके स्वामियोंके नेत्रोंको भी सुख देनेवाला है ऐसा भगवान वृषभदेवका शरीर उस समय बहुत ही कांतियुक्त और मनोहर सुशोभित हो रहा था ॥ १६९ ॥ जिसपर निमेषरहित नेत्र ही भ्रमर बैठे हुये हैं, जो अत्यंत सुगंधित है, चंद्रमाकी कांतिको भी लज्जित करनेवाला है, कामदेवरूपी सरदीकी पीडा जिसे बिलकुल नहीं होती अर्थात् जो कभी संकुचित नहीं होता, सदा प्रफुल्लित रहता है और जो अतिशय देदीप्यमान है ऐसे भगवानके मुखरूपी कमलको देवांगनाओंके नेत्र उसमें तल्लीन होनेसे जिन्हें आनंद भी मालूम नहीं होता इसप्रकार पी रहे थे, भावार्थ— उससमय देवांगनायें भगवानके मुखको बडे ध्यानसे देख रहीं थीं ॥१७०॥ भो भव्य पुरुषो

तरुचिमृषिपतिं ॥ १७१ ॥ सरसिजनिभवक्त्रं पद्मकिंजल्कगौरं कमलदलविशालव्यायतास्पंदिनेत्रं । सरसिरुहसमानामोदमच्छायमच्छस्फटिकमणिविभासि श्रीजिनस्यांगमीडे ॥ १७२ ॥ नयनयुगमताम्रं वक्ति कोपव्यपायं भ्रुकुटिरहितमास्यं शांततां यस्य शास्ति । मदनजयमपांगालोकनापायसौम्यं प्रकटयति यदंगं तं जिनं नन्नमीमि ॥ १७३ ॥ गात्रमनंगभंगकृदतिसुरभि रुचिरं नेत्रमताम्रमत्यमलतररुचिविसरं । वक्त्रमदष्टसद्दशनवसनमिवहसद्यस्य विभाति तं जिनमवनमत सुधियः ॥ १७४ ॥ सौम्यवक्त्रममलकमलदलनिभदृशं हेमपुंजसदृशत्वपुषमृषभमृषिपं । रक्तपद्मरुचिभृदमलमृदुपदयुगं सन्नतोऽस्मि परमपुरु-

---

तुम लोग उन भगवान वृषभदेवको नमस्कार करो जिनके असाधारण नेत्र कमलदलको जीतते हुये सुशोभित हो रहे हैं, जिनका शरीर देवांगनाओंके नेत्ररूपी भ्रमरोंसे व्याप्त हो रहा है, जो जरारहित हैं, जन्मरहित हैं, इंद्रोंके द्वारा भी पूज्य हैं, जिनका मत वा शासन सर्वोत्कृष्ट है, कांति अपार है और जो ऋषियोंके स्वामी हैं ॥ १७१ ॥ जिसका मुख कमलके समान है, जो कमलकी परागके समान गौर है, जिसके निमेषरहित नेत्र कमलदलके समान विशाल और लंबे हैं, जिसकी सुगंधि कमलके समान है, जिसका प्रतिबिंब पडता नहीं और स्वच्छ स्फटिकमणिके समान सुशोभित हो रहा है ऐसे भगवानके शरीरकी मैं स्तुति करता हूं ॥ १७२ ॥ जिन भगवानके ललाईरहित नेत्र 'भगवानके बिलकुल क्रोध नहीं है' इसबातको बतलाते हैं, जिसमें भौंहोंकी टिढाई विलकुल नहीं है ऐसा मुख शांतताको प्रगट करता है और जिसकी दृष्टिमें कटाक्षादि विकार न होनेसे विलकुल सौम्य शरीर कामदेवके जीतनेको प्रगट करता है ऐसे उन वृषभदेव भगवानको मैं बार बार नमस्कार करता हूं ॥ १७३ ॥ भो बुद्धिमान पुरुषो ! जिनका शरीर कामदवको नष्ट करनेवाला तथा अत्यंत सुगंधित और सुंदर है, नेत्र ललाईरहित तथा अत्यंत निर्मल कांतिको फैलानेवाले हैं, जिनका मुख ओठोंको दवाये हुये नहीं है तथा हंसते हुयेके समान सुशोभित हो रहा है ऐसे उन वृषभदेवको शिर नवाकर नमस्कार करो ॥ १७४ ॥ जिनका मुख सौम्य है, नेत्र निर्मल कमलदलके समान हैं, शरीर

षमपरुषगिरं ॥ १७५ ॥ स जयति यस्य पादयुगलं जयत्पंकजं विलसति पद्मगर्भमधिशय्य सल्लक्षणं । मनसिजरागमर्दनसहं जगत्प्रीणनं सुरपतिमौलिशिखरगलद्रजःपिंजरं ॥ १७६ ॥ जयति वृषभो यस्योत्तुंगं विभाति महासनं हरिपरिधृतं रत्नानद्धं परिस्फुरदंशुकं । अधरितजगन्मेरोर्लीलां विडंबयदुच्चकैर्नतसुरतिरीटाग्रग्रावद्युतीरिव तर्जयत् ॥ १७७ ॥ समग्रां वैदग्धीं सकलशशभृन्मंडलगतां सितच्छत्रं भाति त्रिभुवनगुरोर्यस्य विहसत् । जयत्येष श्रीमान्वृषभजिनराड् निर्जितरिपुर्नमद्देवेंद्रोद्यन्मकुटमणिघृष्टांघ्रिकमलः ॥ १७८ ॥ जयत्यमरनायकैरसकृदर्चितांघ्रिद्वयः सुरोत्करकराधुतैश्चमरयोत्करैर्वीजितः । गिरीं-

---

सुवर्णके समूहके समान है, जो ऋषियोंका भी स्वामी है, जिनके निर्मल और कोमल दोनों चरणकमल लाल कमलकी कांतिको धारण करते हैं, जिनकी वाणी बडी ही कोमल है और जो परम पुरुष हैं ऐसे श्रीवृषभदेवको मैं बडी भक्तिसे नमस्कार करता हूं ॥ १७५ ॥ जिन भगवानके दोनों ही चरणकमल कमलोंको जीतनेवाले हैं, कामसे उत्पन्न होनेवाली रागादि वासनाओंको नाश करनेमें समर्थ हैं, जगतको संतोष देनेवाले हैं, इंद्रके मुकुटमें लगी हुई मालाओंसे गिरतेहुये परागसे कुछ कुछ पीले हो रहे हैं और कमलके मध्यभागमें विराजमान होते हुये सुशोभित हो रहे हैं ऐसे भगवान वृषभदेव सदा जयशील हों ॥ १७६ ॥ जिनका सिंहासन बहुत बडा और ऊंचा है, रत्नजडित है, जिसे सिंह धारण कर रहे हैं, जिसकी किरणें चारोंओर दैदीप्यमान हो रही हैं, जो जगतको नीचा दिखला रहा है, मेरु पर्वतकी शोभाको खूब तिरस्कारकर रहा है और जो नमस्कार करते हुये देवोंके मुकुटमें लगे हुये रत्नोंकी कांतिको तर्जना कर रहा है ऐसा जिनका सिंहासन सुशोभित हो रहा है वे भगवान वृषभदेव सदा जयशील हों ॥ १७७ ॥ तीनों जगतके गुरु ऐसे जिन भगवानका सफेद छत्र पूर्ण चंद्रमंडलकी समस्त शोभाको हंसता हुआ सुशोभित हो रहा है, जिनके चरण कमल नमस्कार करते हुये इंद्रके दैदीप्यमान मुकुटकी मणियोंसे स्पर्श किये जा रहे हैं, जो समस्त कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले हैं और अंतरंग वहिरंग लक्ष्मीसे सुशोभित हैं ऐसे ये श्री वृषभ जिनेंद्रदेव सदा

द्रशिखरे गिरींद्र इव योऽभिषिक्तः सुरैः पयोऽब्धिशुचिवारिभिः शशिकरांकुरस्पर्द्धिभिः ॥ १७९ ॥ यस्य समुज्ज्वला गुणगणा इव रुचिरतरा भांत्यभितो- मयूखनिवहा गुणसलिलनिधेः । विश्वजनीनचारुचरितः सकलजगदिनः सोऽवतु भव्यपंकजरविर्वृषभजिनविभुः ॥ १८० ॥ यस्याशोकश्चलकिसलयश्चित्र- पत्रप्रसूनो भाति श्रीमान्मरकतमयस्कंधबंधोज्ज्वलांगः । सांद्रच्छायः सकलजनताशोकविच्छेदनेच्छः सोऽयं श्रीशो जयति वृषभो भव्यपद्माकरार्कः ॥१८१॥ जीयाज्जैनेंद्रः सुरुचिरतनुः श्रीरशोकांघ्रिपो यो वातोध्दूतैः स्वैः प्रचलविटपैर्नित्यपुष्पोपहारं । तन्वन्व्याप्ताशः परभृतरुतातोद्यसंगीतहृद्यो नृत्यच्छाखाग्रैर्जिन-

---

जयशील हों ॥ १७८ ॥ इंद्रोंने जिनके चरणोंकी पूजा कईवार की है, जिनपर अनेक देव अपने हाथोंसे चमरोंके समूह ढुराते हैं और देवोंने मेरुपर्वतके शिखरपर मेरुपर्वतके समान ही जिन्हें विराजमानकर चंद्रमाकी किरणोंके समान स्वच्छ ऐसे क्षीरसागरके पवित्र जलसे जिनका अभिषेक किया है ऐसे श्रीवृषभदेवकी सदा जय हो ॥ १७९ ॥ जो भगवान गुणोंके समुद्र हैं, जिनके अतिशय उज्वल और अत्यंत सुंदर ऐसे किरणोंके समूह गुणोंके समूहोंके समान चारोंओर सुशोभित हो रहे हैं, जिनका चरित्र संसारके समस्त जीवोंको हित करनेवाला है, जो समस्त जगतके स्वामी हैं, और भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेकेलिये जो सूर्यके समान हैं ऐसे वे श्रीवृषभजिनेंद्रदेव हमलोगोंकी सदा रक्षा करें ॥ १८० ॥ जिसके पत्ते हिल रहे हैं तथा जिसके पत्ते और फूल अनेक वर्णके सुशोभित हो रहे हैं, जो बहुत ही शोभायमान है, जिसके स्कंधकी रचना मरकतमणियोंसे की गई है, जिसका शरीर अत्यंत उज्वल है, जिसकी छाया बहुत ही घनी है और समस्त लोगोंका शोक दूर करनेकी जिसकी इच्छा है ऐसा अशोकवृक्ष जिन भगवानका सुशोभित हो रहा है, जो भव्यरूपी कमलोंके समूहको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यके समान हैं और जो अंतरंग बहिरंग दोनों प्रकारकी लक्ष्मीके स्वामी हैं ऐसे ये श्रीवृषभदेव भगवान सदा जयशील हों ॥ १८१ ॥ जिसका शरीर बहुत सुंदर है जो वायुसे हिलती हुई अपनी शाखाओंसे सदा पुष्प अर्पण करता रहता है, जिसने अपने

मिव भजन्भाति भक्त्येवभव्यः ॥ १८२ ॥ यस्यां पुष्पप्रततिममराः पातयंति द्युमूर्ध्नः प्रीता नेत्रप्रततिमिव तां लोलमत्तालिजुष्टां । वातोध्दूतैर्ध्वजवितिभिर्व्योम संमार्जतीवाभाति श्रेयः समवसृतिभूः सा चिरं नस्तनोतु ॥ १८३ ॥ ॥ यस्मिन्मग्नरुचिर्विभाति नितरां रत्नप्रभाभास्वरे भास्वान् सालवरो जयत्यमलिनो धूलीमयोऽसौ विभोः । स्तंभाः कल्पतरुप्रभातिरुचये मानादिकाश्चोद्ध्वजाः जीयासुर्जिनभर्तुरस्य गगनप्रोल्लंघिनो भास्वराः ॥ १८४ ॥ वाप्यो रत्नतटाः प्रसन्नसलिला नीलोत्पलैरातता गंधांधभ्रमरारवैर्मुखरिता भांति स्म यास्ताः स्तुमः । तां चापि स्फुटपुष्पहासरुचिरां प्रोद्यत्प्रवालांकुरां वल्लीनां

फैलावसे सब दिशायें घेरली हैं, जो कोइलोंके मधुर शब्दरूपी गाने बजानेसे मनोहर है और जो नृत्य करती हुई छोटी शाखाओंसे भक्तिपूर्वक भगवानकी सेवा करते हुयेके समान सुशोभित हो रहा है इसप्रकार सबतरह शोभायुक्त भव्य पुरुषके समान यह श्रीजिनेंद्रदेवका अशोक वृक्ष सदा विजयरूप हो ॥ १८२ ॥ जिस समवसरणकी भूमिमें देवलोग प्रसन्न होकर अपने नेत्रोंके समूहके समान जिनपर चंचल उन्मत्त भ्रमर बैठे हुये हैं ऐसे पुष्पोंके समूहोंकी वर्षा आकाशसे करते हैं और जो वायुसे हिलती हुई ध्वजाओंके समूहसे ऐसी सुशोभित हो रही है मानों आकाशको वुहार रही ही हो ऐसी यह समवसरणकी भूमि चिरकालतक हमलोगोंको कल्याण देनेवाली हो ॥१८३॥ अत्यंत निर्मल और रत्नोंकी प्रभासे दैदीप्यमान तथा जिसकी दीप्तिमें डूबकर सूर्य कांतिरहित होकर भी अत्यंत ही सुशोभित होता है ऐसा यह भगवानका धूलिसाल (रत्नोंकी धूलिका बना हुआ साल) सदा जयशील हो, तथा जो कल्पवृक्षकी कांतिके समान अत्यंत मनोहर हैं, जिनकी ध्वजायें बहुत ऊंची हैं, जो आकाशको उलंघन करनेवाले हैं और अत्यंत प्रकाशमान हैं ऐसे जिनेंद्रदेवके ये मानस्तंभ सदा जयवंत हों ॥१८४॥ जिन वावडियोंके किनारे रत्नोंके बने हुये हैं, जिनमें स्वच्छ पानी भराहुआ है, जो नील कमलोंसे भरीहुई हैं और सुगंधिसे अंधे ऐसे भ्रमरोंके मधुर शब्दोंसे शब्दायमान होती हुई सुशोभित हो रही हैं ऐसी वावडियोंकी मैं स्तुति करता हूं, तथा जो खिले हुये पुष्परूपी हास्यसे सुंदर है और जिसमें प्रवाल अर्थात्

वनवीथिकां तमपि च प्राकारमाद्यं विभोः ॥ १८५ ॥ प्रोद्यद्विद्रुमसन्निभैः किशलयैरारंजयद्यद्दिशो भात्युच्चैः पवनाहतैश्च विटपैर्यन्नर्तितुं वोद्यतं । रक्ताशोकवनादिकं वनमदश्चैत्यद्रुमैरंकितं वंदेऽहं समवादिकां सृतिमितं जैनीं चतुष्काश्रितं ॥ १८६ ॥ रक्ताशोकवनं वनं च रुचिमत्सप्तच्छदानामदश्चूतानामपि नंदनं परतरं यच्चंपकानां वनं । तच्चैत्यद्रुममंडितं भगवतो वंदामहे वंदितं देवैर्द्वैर्विनयानतेन शिरसा श्रीजैनबिंबांकितं ॥ १८७ ॥ प्राकारात्परतो विभाति रुचिरा हरिवृषगरुडैः श्रीमन्माल्यगजांबरैश्च शिखिभिः प्रकटितमहिमा । हंसैश्चाप्युपलक्षिता प्रविलसद्ध्वजवसनततिः या तामप्यमरार्चितामभिनुमः पवनविलुलितां ॥ १८८ ॥ यद्दूराद्व्योममार्गं कलुषयति दिशां प्रांतं स्थगयति प्रोत्सर्पद्धूपधूमैः सुरभयति जगाद्विश्वं द्रुततरं । तन्नः सद्धूपकुंभद्वयमुरु

नये कोमल पत्तोंके अंकूरे उठ रहे हैं ऐसे लतावनोंकी भी स्तुति करता हूं और इसीप्रकार भगवानका वह जो प्रसिद्ध पहिला कोट है उसकी भी मैं स्तुति करता हूं ॥ १८५ ॥ इसीप्रकार देदीप्यमान मूंगाके समान नवीन पत्तोंसे जो सब दिशाओंको लाल कर रहे हैं, जो वायुसे हिलती हुई अपनी शाखाओंसे ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे हैं मानों नृत्य करनेकेलिये ही तैयार हुये हों, जिनकी संख्या चार है जिनके मध्यभागमें चैत्यवृक्ष सुशोभित हो रहे हैं और जो श्रीजिनेंद्रदेवकी समवसरणकी भूमिमें प्राप्त हुये हैं ऐसे ये रक्त अशोक आदि वृक्षोंके बन अर्थात् अशोक वृक्षोंका बन, सप्तच्छद, आम्र और चंपक बन इन चारोंकी मैं बंदना करता हूं ॥ १८६ ॥ जो चैत्यवृक्षोंसे सुशोभित हैं जिनमें श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमायें विराजमान हैं और इंद्र भी जिन्हें विनयपूर्वक मस्तक नवाकर नमस्कार करता है ऐसे भगवानके लाल अशोक वृक्षका बन यह देदीप्यमान सप्तच्छद जातिके वृक्षोंका बन, आम्रवृक्षोंका बन और उसके बाद यह चंपक जातिके वृक्षोंका बन इन चारों बनोंको मैं नमस्कार करता हूं ॥ १८७ ॥ कोटके बाद जो बहुत सुंदर तथा सिंह, बैल, गरुड, सुंदरमाला, हाथी, वस्त्र, मयूर, हंस, चक्र और कमल इन चिन्होंसे शोभायमान ऐसी देदीप्यमान ध्वजाओंके वस्त्रोंकी पंक्तियां सुशोभित हैं, जो कि देवोंके द्वारा भी पूज्य हैं और वायुसे हिल रही हैं उन्हें भी मैं न-

मनसः प्रीतिं घटयतु श्रीमत्तन्नाट्यशालाद्वयमपि रुचिरं सालत्रयगतं ॥ १८९ ॥ पुष्पपल्लवोज्ज्वलेषु कल्पपादपोरुकाननेषु हारिषु श्रीमदिंद्रवंदिताः स्वबुध्न-सुस्थितेंद्रसिद्धबिंबका द्रुमाः । संति तानपि प्रणौम्यहं नमामि च स्मरामि च प्रसन्नधीः स्तूपपंक्तिमप्यमूं समग्ररत्नविग्रहां जिनेंद्रबिंबिनीं ॥ १९० ॥ वीथीं कल्पद्रुमाणां सवनपरिवृतिं तामतीत्य स्थिता या शुभ्रा प्रासादपंक्तिः स्फटिकमणिमयः सालवर्यस्तृतीयः । भर्तुः श्रीमंडपश्च त्रिभुवनजनतासंश्रयात्तप्रभावः पीठं चोद्यत्त्रिभूमं श्रियमनुतनुताद्गन्धकुट्याश्रितं नः ॥ १९१ ॥ मानस्तंभाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिका पुष्पवाटी प्राकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं

मस्कार करता हूं ॥ १८८ ॥ जो प्रत्येक दिशाके दो दो धूपघट फैलते हुये धूपके धुंएसे दूरसे ही आकाशको मलिन कर रहे हैं, दिशाओंके समीपभागको आच्छादन कर रहे हैं और जो समस्त जगतको बहुत शीघ्र सुगंधित कर देते हैं ऐसे धूपघट हमारे मनमें प्रेम उत्पन्न करो। तथा तीनों कोटोंके प्रत्येक दरवाजेपर अत्यंत सुशोभित ऐसी दो दो मनोहर नाट्यशालायें भी हम लोगोंके मनमें भगवानमें बहुत बडा प्रेम संपादन करो ॥ १८९ ॥ इसके आगे पुष्प और पत्तोंसे देदीप्यमान और बडे ही मनोहर ऐसे जो कल्पवृक्षोंके बडे बडे बन हैं और उनमें अनेक ऋद्धियोंको धारण करनेवाले इंद्रोंके द्वारा पूज्य तथा जिनके मूलभागमें सिद्धप्रतिमायें विराजमान हैं ऐसे सिद्धपादप वृक्ष हैं उनको भी मैं प्रसन्नचित्त होकर प्रणाम करता हूं, नमस्कार करता हूं तथा स्मरण करता हूं। इसके सिवाय अनेक प्रकारके रत्नोंसे बने हुये तथा जिनपर श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमायें विराजमान हैं ऐसे इस स्तूपोंके समूहोंको भी मैं प्रसन्नचित्त होकर प्रणाम, नमस्कार और स्मरण करता हूं ॥ १९० ॥ बनकी वेदीसे घिरी हुई जो कल्पवृक्षोंके बनोंकी पंक्ति है, उसके बाद सफेद मकानोंके समूह हैं, उसके बाद स्फटिक मणियोंका बना हुआ तीसरा कोट है, तदनंतर तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको आश्रय देनेकेलिये जिसकी शक्ति है ऐसा भगवानका श्रीमंडप है और उसके बाद गंधकुटीसे सुशोभित तीन कटनीदार तीन पीठ हैं वे सब हम लोगोंको कल्याण देनेवाले हों ॥ १९१ ॥ चारों दिशाओंमें चार

वेदिकांतर्ध्वजाध्वाः । सालः कल्पद्रुमाणां सपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च प्राकारः स्फाटिकोऽन्तर्नृसुरमुनिसभा पीठिकाग्रे स्वयंभूः ॥ १९२ ॥ देवोऽर्हन् प्राङ्मुखो वा नियतिमनुसरन्नुत्तराशामुखो वा यामध्यास्ते स्म पुण्यां समवसृतिमहीं तां परीत्याध्यवात्सुः । प्रादक्षिण्येन धींद्रा द्युयुवतिगणिनीनृस्त्रियास्त्रिश्च देव्यो देवाः सेंद्राश्च मर्त्याः पशव इति गणा द्वादशामी क्रमेण ॥ १९३ ॥ योगींद्रा रुंद्रबोधा विबुधयुवतयः सार्यिका राजपत्न्यो ज्योतिर्वन्येशकन्या भव-

---

मानस्तंभ हैं, मानस्तंभोंके चारोंओर सरोवर हैं, तदनंतर निर्मल जलसे भरी हुई खाई है, उसके बाद पुष्पोंके बाग अर्थात् लताबन हैं, तदनंतर कोट है, कोटके चारों दरवाजोंपर दो दो नाट्यशालायें हैं, कोटके बाद दूसरा (अशोकादि का) वन है, तदनंतर बनकी वेदी है, उसके बाद ध्वजाओंका समूह है, फिर दूसरा कोट है, तदनंतर बनकी वेदिकासे घिरा हुआ कल्पवृक्षोंका बन है, उसके बाद स्तूप और मकानोंकी पंक्ति हैं, फिर स्फटिकमय तीसरा कोट है, उस कोटके भीतर मनुष्य देव और मुनियोंकी सभायें हैं और सब सभाओंके मध्यभागमें पीठिकाके ऊपर सिंहासनपर स्वयंभू भगवान-अरहंतदेव विराजमान हैं, इसप्रकार संक्षेपसे समवसरणकी रचना समझनी चाहिये ॥ १९२ ॥ भगवान अरहंतदेव स्वभावसे ही पूर्वदिशाकी ओर मुखकरके विराजमान होते हैं अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुख करके विराजमान होते हैं। भगवान पुण्यरूप जिस समवसरणकी भूमिके मध्यभागमें विराजमान होते हैं उस भूमिके चारोंओर प्रदक्षिणा रूपसे गणधर आदि मुनिजन १ कल्पवासिनी देवियां २ अर्जिकायें और मनुष्योंकी स्त्रियां ३ भवनवासिनी देवियां ४ व्यंतरिणी देवियां ५ ज्योतिष्क देवियां ६ अपने अपने इंद्रोंके साथ कल्पवासी देव ७ भवनवासी देव ८ व्यंतर देव ९ ज्योतिष्क देव १० मनुष्य ११ और पशु १२ ये इन बारह संघोंके अनुक्रमसे बैठनेके स्थान हैं ॥ १९३ ॥ उनमें पहिले कोठेमें अतिशय ज्ञानको धारण करनेवाले गणधर आदि मुनिराज बैठते हैं, दूसरे कोठेमें कल्पवासी देवोंकी देवांगनायें, तीसरे कोठेमें अर्जिका और मनुष्योंकी स्त्रियां, चौथेमें ज्योतिष्क देवोंकी

नजवनिता भावना व्यंतराश्च । ज्योतिष्काः कल्पनाथा नरवरवृषभास्तिर्यगोधैः सहामी कोष्ठेषूक्तेष्वतिष्ठन् जिनपतिमभितो भक्तिभारावनम्राः ॥ १९४ ॥ प्रादुष्यद्वाङ्मयूखैर्विघटिततिमिरो धूतसंसाररात्रिस्तत्संध्यासंधिकल्पां मुहुरपघटयन् क्षीणमोहीमवस्थां । संज्ञानोदग्रसादिप्रतिनियतनयोद्वेगसत्प्रिप्रयुक्तः स्याद्वादस्यंदनस्थो भृशमथ रुरुचे भव्यबंधुर्जिनार्कः ॥ १९५ ॥ इत्युचैः संगृहीतां समवसृतिमहीं धर्मचक्राधिभर्त्त भव्यात्मा संस्मरेद्यः स्तुतिमुखरमुखो भक्ति-

---

देवांगनायें, पाचवेंमें व्यंतरदेवोंकी देवांगनायें, छट्टेमें भवनवासिनी देवांगनायें, सातवेंमें भवनवासी देव, आठवेंमें व्यंतर देव, नौवेंमें ज्योतिष्क देव, दशवेंमें कल्पवासी देव, ग्यारहवेंमें चक्रवर्ती आदि राजा महाराजा तथा साधारण मनुष्य और बारहवेंमें तिर्यंचोंका समुदाय बैठता है, इसप्रकार ये जीव भगवानकी भक्तिके भारसे नम्रीभूत होकर भगवानके चारोंओर ऊपर लिखे हुये कोठोंमें बैठते- हैं ॥ १९४ तदनंतर प्रगट होते हुये स्याद्वादरूपी बचनोंकी किरणोंसे जिन्होंने समस्त अंधकार दूर कर दिया है, संसाररूपी रात्रि भी जिन्होंने नष्ट कर दी है तथा रात्रिके नष्ट करते समय रात्रि औ- र उदय होनेवाले दिनकी संधिके समान अर्थात् प्रातःकालकी संध्याके समान बारहवें गुणस्थानमें होनेवाली क्षीणमोह अवस्था (जिसमें केवल मोहनीयकर्म नष्ट हुआ है) को भी जिन्होंने नष्ट किया है जो सम्यग्ज्ञानरूपी अतिशय सामर्थ्यको धारण करनेवाले सारथि सहित तथा अन्यमतियोंके ए- कांतनयको उद्वेग करनेवाले अनेकांतरूपी घोडोंसे चलते हुये स्याद्वादरूपी रथपर सवार हैं और जो भव्यरूपी कमलोंको प्रफुलित करनेवाले हैं ऐसे श्रीजिनेंद्ररूपी सूर्य बहुत ही देदीप्यमान हो रहे थे ॥१९५॥ इसप्रकार ऊपरलिखे अनुसार जिसका विस्तार है ऐसी धर्मरूपी चक्रके अधिपति भगवान वृषभदेवकी समवसरण भूमिको जो भव्यपुरुष भक्तिसे मस्तक नवाकर तथा मुखसे अनेकप्रकारकी स्तुति करता हुआ स्मरण करता है वह मणियोंके बने हुये मुकुटोंसे शोभायमान ऐसे देवोंके अनेक प्रफुलित पुष्प- मालाओंको धारण करनेवाले मस्तकके द्वारा पूज्य, समस्त गुणोंसे भरपूर, समवसरण आदि अनेक

नम्रेण मूर्ध्ना । जैनीं लक्ष्मीमचिंत्यां सकलगुणमयीं प्राश्नुतेऽसौ महर्द्धिं चूडाभिर्नाकभाजां मणिमकुटजुषामर्चितां स्रग्धराभिः ॥ १९६ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्समवसृतिविभूतिवर्णनं नाम त्रयोविंशं पर्व ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशं पर्व ।

स जीयाद् वृषभो मोहविषसुप्तमिदं जगत् । पटाविद्येव यद्विद्या सद्यः समुदतिष्ठपत् ॥ १ ॥ श्रीमान् भरतराजर्षिर्बुबुधे युगपत्त्रयं । गुरोः कैवल्यसंभूतिं सूतिं च सुतचक्रयोः ॥ २ ॥ धर्मस्थाद्गुरुकैवल्यं चक्रमायुधपालतः । कांचुकीयात्सुतोत्पत्तिं विदामास तदा विभुः ॥ ३ ॥ पर्याकुल इवासीच्च

बडी २ ऋद्धियोंसे सुशोभित और अचिंत्य (जिसे कोई चिंतवन भी नहीं करसकता) ऐसी जिनेंद्रकी लक्ष्मी अर्थात् तीर्थंकरकी पदवीका अवश्य ही अनुभव करता है ॥ १९६ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें भगवानके समवसरणकी विभूतिका वर्णन करनेवाला यह तेईसवां पर्व समाप्त हुआ

अथ चौवीसवां पर्व

अथानंतर–जिसका ज्ञान विषको दूर करनेवाली विद्याके समान मोहरूपी विषसे सोते हुये इस जगतको बहुत शीघ्र जगा देता है वह वृषभदेव सदा जयवंत हो ॥ १ ॥ राज्य करते हुये भी जो शम दम आदि गुणोंसे ऋषियोंके समान हैं ऐसे महाराज भरतने एक ही साथ अपने पूज्य पिता भगवान वृषभदेवके केवलज्ञानका उत्पन्न होना, पुत्रकी उत्पत्ति होना और आयुधशालामें चक्रकी उत्पत्ति होना ये तीनों बातें सुनी ॥ २ ॥ उसने धर्माधिकारी पुरुषसे पिताके केवलज्ञानका उत्पन्न होना सुना आयुधशालाकी रक्षा करनेवालेके मुखसे चक्रकी उत्पत्ति सुनी और कंचुकीसे पुत्र उत्पन्न होनेके समाचार सुने ॥ ३ ॥ वह महाराज तीनों बातें एकसाथ सुनकर क्षणभरकेलिये व्याकुलसा हो गया और सोचनेलगा कि इन तीनोंमेंसे पहिले कौनसा कार्य करना चाहिये ॥४॥ पुण्यतीर्थ तथा चक्रका उत्पन्न

क्षणं तद्यौगपद्यतः । किमत्र प्रागनुष्ठेयं संविधानमिति प्रभुः ॥ ४ ॥ त्रिवर्गफलसंभूतिरक्रमोपनता मम । पुण्यतीर्थं सुतोत्पत्तिश्चक्ररत्नमिति त्रयी ॥ ५ ॥ तत्र धर्मफलं तीर्थं पुत्रः स्यात्कामजं फलं । अर्थानुबंधिनोर्थस्य फलं चक्रं प्रभास्वरं ॥ ६ ॥ अथवा सर्वमप्येतत्फलं धर्मस्य पुष्कलं । ततो धर्मतरोरर्थः फलं कामस्तु तद्रसः ॥ ७ ॥ कार्येषु प्राग्विधेयं तद्धर्म्यं श्रेयोऽनुबंधि यत् । महाफलं च तद्देवसेवा प्राथमकल्पिकी ॥ ८ ॥ निश्चिचायेति राजेंद्रो गुरुपूजनमादितः । अहो धर्मात्मनां चेष्टा प्रायः पुण्यानुबंधिनी ॥ ९ ॥ सानुजन्मा समेतोऽतःपुरपौरपुरोगमैः । प्राज्यामिज्यां पुरोधाय सज्जोऽभूद्गमनं प्रति ॥ १० ॥ गुरौ भक्तिं परां तन्वन्कुर्वन्धर्मप्रभावनां । स भूत्या परयोत्तस्थे भगवद्वंदनाविधौ ॥ ११ ॥ अथ सेनांबुधेः क्षोभमातन्वन्नब्धिनिःस्वनः ।

होना और पुत्र उत्पन्न होना ये तीनों ही धर्म अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंके फल मुझे एकसाथ ही प्राप्त हुये हैं ॥ ५ ॥ इनमेंसे भगवानके केवलज्ञान उत्पन्न होना धर्मका फल है, पुत्र उत्पन्न होना कामका फल है और दैदीप्यमान चक्रकी प्राप्ति होना आगामी कालमें अर्थकी प्राप्ति करानेवाले अर्थका फल है ॥ ६ ॥ अथवा यह सब धर्मका पूर्ण फल है क्योंकि अर्थ धर्मरूपी वृक्षका फल है और काम उसका रस है ॥ ७ ॥ समस्त कार्योंमें सबसे पहिले धर्मकार्य करना चाहिये, क्योंकि धर्मकार्य ही सबतरहके कल्याण प्राप्त करानेवाला है और बडे २ फल देनेवाला है, उन धर्मकार्योंमें भी सबसे पहिले अरहंतदेवकी पूजा करनी चाहिये ॥ ८ ॥ इसप्रकार विचार करते हुये महाराज भरतने सबसे पहिले भगवानकी पूजन करना ही निश्चय किया, सो ठीक ही है क्योंकि धर्मात्मा पुरुषोंकी क्रियायें प्रायः पुण्य उत्पन्न करनेवाली ही होती हैं ॥ ९ ॥ तदनंतर महाराज भरत अपने छोटे भाई, अंतःपुरकी रानियां और नगरके बडे २ लोगोंके साथ पूजाकी बडीभारी सामिग्री लेकर चलनेकेलिये तैयार हुआ ॥ १० ॥ वह महाराज भरत भगवानमें परम भक्ति करता हुआ, और धर्मकी प्रभावना करता हुआ बडी विभूतिके साथ भगवानकी बंदना करनेकेलिये उठा ॥ ११ ॥

अथानंतर—सेनारूपी समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न करता हुआ तथा दिशाओंमें प्रतिध्वनि उत्पन्न कर-

आनंदपटहो मंद्रं दध्वान ध्वानयन् दिशः ॥ १२ ॥ प्रतस्थेऽथ महाभागो वंदारुर्भरताधिपः । जिनं हस्त्यश्वपादातरथकट्याावृतोऽभितः ॥ १३ ॥ रेजे प्रचलिता सेना ततानकपृथुध्वनिः । वेलेव वारिधेः प्रेंखदसंख्यध्वजवीचिका ॥ १४ ॥ तया परिवृतः प्राप स जिनास्थानमंडलं । प्रसर्पत्प्रभया दिक्षु जितमार्तंडमंडलं ॥ १५ ॥ परीत्य पूजयन्मानस्तंभानच्चैत्ततः परं । खातां लतावनं सालं वनानां च चतुष्टयं ॥ १६ ॥ द्वितीयं सालमुत्क्रम्य ध्वजान्कल्पद्रुमावलिं । स्तूपान्प्रासादमालां च पश्यन् विस्मयमाप सः ॥ १७ ॥ ततो दौवारिकैर्देवैः संभ्राम्यद्भिः प्रवेशितः । श्रीमंडपस्य वैदग्धीं सोऽपश्यत्स्वर्गजित्वरीं ॥ १८ ॥ ततः प्रदक्षिणीकुर्वन्धर्मचक्रचतुष्टयं । लक्ष्मीवान्पूजयामास प्राप्य प्रथमपीठिकां ॥ १९ ॥ ततो द्वितीयपीठस्थान् विभोरष्टौ महाध्व-

---

ता हुआ समुद्रकी गर्जनाके समान आनंदके समयमें वजनेवाले नगाडोंका गंभीर शब्द होने लगा ॥ १२ ॥ महा भाग्यशाली और भरतक्षेत्रका स्वामी वह महाराज भरत वंदना करनेकी इच्छा करता हुआ हाथी, घोडे, पदाति (पैदल) और रथोंके समूहको चारोंओर कर भगवानकी वंदना करनेकेलिये निकला ॥ १३ ॥ उससमय वह चलती हुई सेना समुद्रकी वेलाके समान जान पडती थी क्योंकि फडकती हुई असंख्यात ध्वजायें ही लहरोंके समान जान पडती थीं और सब जगह व्याप्त हुई ऐसी नगाडोंकी बडी भारी आवाज ही गर्जनाके समान जान पडती थी ॥ १४ ॥ इसप्रकार सेनाके साथ २ महाराज भरत सब दिशाओंमें फैलते हुये प्रकाशसे सूर्यमंडलको भी जीतनेवाले भगवानके समवसरणमें जा पहुंचा ॥ १५ ॥ पहिले ही उसने समवसरणकी प्रदक्षिणा दी, फिर मानस्तंभोंकी पूजा की, तदनंतर वहांसे आगे चला और खाई, लताबन, कोट, चारों बन और दूसरे कोटको पारकर ध्वजाओंके समूह, कल्पवृक्षोंके बन, स्तूप और मकानोंकी पंक्तियोंको देखता हुआ बडा ही आश्चर्य करने लगा ॥ १६-१७ ॥ तदनंतर आदर सत्कार करनेवाले ऐसे दरवाजेपर खडे हुये द्वारपालदेवोंने उसे भीतर प्रवेश कराया और वहां जाकर उसने स्वर्गको भी जीतनेवाली श्रीमंडपकी शोभा देखी ॥ १८ ॥ तदनंतर अतिशय शोभायुक्त उस भरतने प्रदक्षिणा देते हुय प्रथम पीठिकापर पहुंच-

जान् । सोऽर्चयामास संप्रीतः पूतैर्गंधादिवस्तुभिः ॥ २० ॥ मध्येगंधकुटीद्धर्द्धि परार्ध्ये हरिविष्टरे । उदयाचलमूर्धस्थमिवार्कं जिनमैक्षत ॥ २१ ॥ चलच्चामरसंघातवज्यिमानमहातनुं । प्रपतन्निर्ज्झरं मेरुमिव चामीकरच्छविं ॥ २२ ॥ महाशोकतरोर्मूले छत्रत्रितयसंश्रितं । त्रिधाभूतविधूद्भासिबलाहकमिवाद्रिपं ॥ २३ ॥ पुष्पवृष्टिप्रतानेन परितो भ्राजितं प्रभुं । कल्पद्रुमप्रगलितप्रसूनमिव मंदरं ॥ २४ ॥ नभोव्यापिभिरुद्घोषं सुरदुंदुभिनिस्वनैः । प्रसर्पद्वेलमंभोधिमिव वातविघूर्णितं ॥ २५ ॥ धीरध्वानं प्रवर्षंतं धर्मामृतमतर्कितं । आल्हादितजगत्प्राणं प्रावृषेण्यमिवांबुदं ॥२६॥ स्वदेहविसरज्ज्योत्स्नासलिलक्षा-

कर चारों धर्मचक्रोंकी पूजा की ॥१९॥ उसके बाद उसने अत्यंत प्रसन्न होकर दूसरे पीठपर विराजमान भगवानकी आठों ध्वजाओंकी पवित्र जल चंदनादि द्रव्योंसे पूजा की ॥ २० ॥ तदनंतर उदयाचल पर्वतके मस्तकपर विराजमान सूर्यके समान गंधकुटीके मध्यभागमें बहुमूल्य सिंहासनपर विराजमान और दैदीप्यमान अनेकप्रकारकी विभूतियोंको धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवको उसने देखा ॥ २१ ॥ ढुरते हुये अनेक चमरोंसे शोभायमान और सुवर्णके समान उनका महा शरीर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों जिससे अनेक पानीके निर्झरने पड रहे हैं ऐसा मेरुपर्वत ही हो ॥ २२ ॥ महा अशोकवृक्षके नीचे तीन छत्रोंसे सुशोभित उनका शरीर ऐसा जान पडता था मानों तीनरूप धारण किये हुये चंद्रमासे शोभायमान ऐसे काले बादलसे मेरुपर्वत ही सुशोभित हो रहा हो ॥२३॥ चारोंओरसे वरसते हुये पुष्पोंके समूहोंसे शोभायमान भगवानका शरीर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों कल्पवृक्षोंसे गिरे हुये पुष्पोंसे शोभायमान मेरुपर्वत ही हो ॥ २४ ॥ आकाशमें व्याप्त होनेवाले ऐसे देव दुंदुभियोंके शब्दोंकी भारी आवाज ऐसी जान पडती थी मानों वायुके द्वारा चलायमान हुआ और जिसकी उठती हुई लहरें किनारेतक आ रहीं हैं ऐसा समुद्र ही हो ॥२५॥ जो जगतके समस्त प्राणियोंको प्रसन्न करनेवाली है और जिसका गंभीर शब्द है ऐसी संदेहरहित धर्म्मरूपी अमृतकी वर्षा करनेवाले अर्थात् दिव्यध्वनि प्रगट करनेवाले भगवान ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों वर्षाऋ-

लिताखिलं । क्षीराब्धिमध्यसंवृद्धमिव भूध्रं हिरण्मयं ॥ २७ ॥ सोऽन्वक्प्रदक्षिणीकृत्य भगवंतं जगद्गुरुं । इयाज यायजूकानां ज्यायान्प्राज्येज्यया प्रभुं ॥ २८ ॥ पूजांते प्रणिपत्येशं महीनिहितजान्वसौ । वचःप्रसूनमालाभिरित्यानर्च्च गिरांपतिं ॥ २९ ॥ त्वं ब्रह्मा परमंज्योतिस्त्वं प्रभूष्णुरजोऽरजाः । त्वमादिदेवो देवानामधिदेवो महेश्वरः ॥ ३० ॥ त्वं स्रष्टा त्वं विधाताऽसि त्वमीशानः पुरः पुमान् । त्वमादिपुरुषो विश्वेट् विश्वराट् विश्वतो मुखः ॥ ३१ ॥ विश्वव्यापी जगद्भर्त्ता विश्वदृग्विश्वभुग्विभुः । विश्वतोऽक्षिमयं ज्योतिर्विश्वयोनिर्वियोनिकः ॥ ३२ ॥ हिरण्यगर्भो भगवान्वृषभो वृषभध्वजः । परमेष्ठी परं

तुका बादल ही हो ॥२६॥ चारोंओर फैलती हुई अपने शरीरकी प्रभारूपी जलसे समस्त सभाको प्रक्षालित करतेहुये वे भगवान ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों क्षीरसागरके मध्यभागमें बढा हुआ सुवर्णका पर्वत ही हो ॥ २७ ॥ इसप्रकार आठ प्रातिहार्य संयुक्त जगतगुरु भगवान वृषभदेवको देखकर पूजा करनेवालोंमें श्रेष्ठ ऐसे भरतने उनकी प्रदक्षिणा दी और फिर उत्तम पूजाकी सामग्रीसे उनकी पूजा की ॥ २८ ॥ पूजाके बाद महाराज भरतने अपने दोनों घोंटू पृथ्वीपर रखकर सब भाषाओंके स्वामी भगवान वृषभदेवको नमस्कार किया और फिर बचनरूपी पुष्पोंकी मालाओंसे उनकी पूजा करने लगा अर्थात् उनकी स्तुति करने लगा ॥ २९ ॥ कि हे भगवन् ! आप ब्रह्मा हैं, परम ज्योतिस्वरूप अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानको धारण करनेवाले हैं, प्रभूष्णु अर्थात् समर्थ हैं, जन्मरहित तथा पापरहित हैं, सबदेवोंमें मुख्य देव हैं तथा आप ही अधिदेव और महेश्वर हैं ॥ ३० ॥ आप ही स्रष्टा अर्थात् धर्मरूप सृष्टिको उत्पन्न करनेवाले हैं, विधाता अर्थात् उपदेश देनेवाले हैं, सबके ईश्वर हैं, सबसे उत्कृष्ट हैं, सबको पवित्र करनेवाले हैं, सबमें आदि पुरुष हैं, जगतके स्वामी हैं, जगतमें शोभायमान हैं और सब ओर देखनेवाले अर्थात् सर्वदर्शी हैं ॥ ३१ ॥ आप अपने ज्ञानके द्वारा समस्त संसारमें व्याप्त हैं, जगतके स्वामी हैं, जगतको देखनेवाले हैं, जगतके द्वारा पूज्य हैं, विभु हैं, आप ही संसारमें आत्मरूप ज्योतिस्वरूप हैं, समस्त जीवोंके ज्ञान बढानेमें कारण हैं, योनि अर्थात्

तत्त्वं परमात्मात्मभूरसि ॥ ३३ ॥ त्वमिनस्त्वमधिज्योतिस्त्वमीशस्त्वमयोनिजः । अजरस्त्वमनादिस्त्वमनन्तस्त्वं त्वमच्युतः ॥ ३४ ॥ त्वमक्षरस्त्वमक्षय्यस्त्वमनक्षोऽस्यनक्षरः । विष्णुर्जिष्णुर्विजिष्णुश्च त्वं स्वयंभूः स्वयंप्रभः ॥ ३५ ॥ त्वं शंभुः शंभवः शंयुः शंवदः शंकरो हरः । हरिर्मोहासुरारिश्च तमोऽरिर्भव्यभास्करः ॥३६॥ पुराणः कविराद्यस्त्वं योगी योगविदांवरः । त्वं शरण्यो वरेण्योऽग्रयस्त्वं पूतः पुण्यनायकः ॥३७॥ त्वं योगात्मा सयोगश्च सिद्धो बुद्धो निरुद्धवः । सूक्ष्मो निरंजनः कंजसंजातो जिनकुंजरः ॥ ३८ ॥ छंदोविच्छन्दसां कर्त्ता वेदविद्वदतांवरः । वाचस्पतिरधर्मारिर्धर्मादिर्धर्मनायकः ॥ ३९ ॥ त्वं

जन्म मरण रहित हैं ॥ ३२ ॥ आप ही हिरण्यगर्भ अर्थात् प्रकाशमय हैं, भगवान हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं, वृषभकेचिन्हवाली ध्वजासे सुशोभित हैं, परमेष्ठी अर्थात् परमस्थानमें रहनेवाले हैं, परमतत्त्व हैं, परमात्मा हैं और आत्मभू अर्थात् अपने आप उत्पन्न हुये हैं ॥३३॥ हे प्रभो ! आप इन अर्थात् स्वामी हैं, ज्योतिःस्वरूप हैं, ईश हैं, अयोनिज अर्थात् बिना योनिके उत्पन्न हुये हैं, अजर हैं, अनादि हैं, अनंत हैं और अच्युत हैं ॥ ३४ ॥ हे प्रभो ! आप अक्षर अर्थात् विनाशरहित हैं, अक्षय्य अर्थात् क्षयहोने अयोग्य हैं, अनक्ष अर्थात् इंद्रियरहित हैं, अनक्षर अर्थात् नित्य अनित्य दोनोंसे रहित हैं, आप ही विष्णु हैं, जिष्णु हैं विजिष्णु हैं, स्वयंभू हैं और स्वयंप्रभ हैं ॥३५॥ आप ही शंभु हैं, शंभव हैं, आप ही शंयु अर्थात् सुखी हैं, शंबद हैं, शंकर हैं, हर अर्थात् पाप नाश करनेवाले हैं, हरि अर्थात् श्रेष्ठ हैं, मोहरूपी असुरके नाश करनेवाले हैं, अज्ञानरूपी अंधकारको नाश करनेवाले हैं और भव्य जीवोंको प्रसन्न करनेकेलिये सूर्यके समान हैं ॥ ३६ ॥ हे प्रभो ! आप सबसे पहिलेके हैं, सबसे प्रथम कवि हैं, योगी हैं, योग जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, सबको शरण देनेवाले हैं, सबसे मुख्य हैं, अग्रेसर हैं पवित्र हैं और समस्त पुण्यके स्वामी हैं ॥ ३७ ॥ आप योगात्मा (योगस्वरूप) हैं, सयोगी हैं, सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, निरुद्धव अर्थात् संसारका उत्साह नष्ट करनेवाले हैं, सूक्ष्म हैं, निरंजन अर्थात् कर्मरहित हैं, कमलपर विराजमान हैं और जिनकुंजर अर्थात् जिनवरोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ३८ ॥ आप द्वादशांग रूप

जिनः कामजिज्जेता त्वमर्हन्नरिहारहाः । धर्मध्वजो धर्मपतिः कर्मारातिनिशुंभनः ॥ ४० ॥ त्वं हि भव्याब्जिनीबंधुस्त्वं हविर्भुक्त्वमध्वरः । त्वं मखांगं मखज्येष्ठस्त्वं होता हव्यमेव च ॥ ४१ ॥ यज्वाज्यं च त्वमिज्या च पुण्योऽगण्यो गुणाकरः । त्वमपारिरपारश्च त्वममध्योऽपि मध्यमः ॥ ४२ ॥ उत्तमोऽनुत्तमो ज्येष्ठो गरिष्ठः स्थेष्ठ एव च । त्वमणीयान्महीयांश्च स्थवीयान्गरिमास्पदं ॥ ४३ ॥ महान्महीयितो मह्यो भूष्णुः स्थास्नुरनश्वरः । जिष्वरोऽनिष्वरो नित्यः शिवः शांतो भवांतकः ॥ ४४ ॥ त्वं हि ब्रह्मविदां ध्येयस्त्वं हि ब्रह्मपदेश्वरः । त्वां नाममालया देवमित्यभिष्टुमहे वयं ॥ ४५ ॥ अष्टोत्तरशतं नाम्ना-

---

वेदको जाननेवाले हैं, द्वादशांग श्रुतज्ञानरूपवेदके कर्ता हैं, आगमके जाननेवाले हैं, वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं, वाचस्पति अर्थात् वाणीके स्वामी हैं, अधर्मको नाश करनेवाले हैं, धर्मोंमें प्रथम धर्म हैं और धर्मके स्वामी हैं ॥ ३९ ॥ आप जिन हैं, कामको जीतनेवाले हैं, विजयी हैं, पूज्य हैं, घातिया कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेवाले हैं, अंतराय रहित हैं, धर्मकी महिमा बढानेवाले हैं धर्मके पति हैं और कर्मरूप शत्रुको घात करनेवाले हैं ॥ ४० ॥ हे स्वामिन् ! आप भव्यरूपी कमलिनियोंके बंधु अर्थात् सूर्य हैं, कर्मरूप हविको जलानेकोलिये अग्नि हैं, ध्यानरूपी अग्निके द्वारा यज्ञ हैं, यज्ञके कारण हैं, श्रेष्ठ यज्ञ हैं, यज्ञ करनेवाले हैं और यज्ञमें होम करने योग्य द्रव्य हैं ॥ ४१ ॥ शुद्ध परिणामोंकी पूजा करनेवाले हैं, अपने शुद्ध परिणामोंसे पूजाकी सामग्रीरूप हैं, पूजा स्वरूप हैं, पुण्यरूप हैं, अगण्य हैं, गुणोंके खजाने हैं, शत्रुरहित हैं, अपार हैं और अमध्यम अर्थात् उत्कृष्ट होकर भी मध्यम अर्थात् केवलज्ञान रूप लक्ष्मीसे सुशोभित हैं, (मध्ये मा केवलज्ञानलक्ष्मीर्यस्य सः) ॥ ४२ ॥ हे प्रभो ! आप उत्तम हैं, अनुत्तम अर्थात् जिससे बढकर और कोई उत्तम न हो ऐसे हैं, ज्येष्ठ हैं, सबसे बडे गुरु हैं, अतिशय स्थिर हैं, अत्यंत सूक्ष्म हैं, अत्यंत बडे हैं, अत्यंत स्थूल हैं और जगतपूज्य हैं ॥४३॥ आप सबसे बडे हैं क्षमागुणसे पृथ्वी ऐसे हैं, पूज्य हैं, होनेवाले हैं, अत्यंत स्थिर हैं, विनाशरहित हैं, विजयी हैं, अचल, नित्य, शिव तथा शांत हैं और संसारको नाश करनेवाले हैं ॥४४॥ हे प्रभो ! ब्रह्म अ-

मित्यनुध्याय चेतसा । त्वामीडे नीडमीडानां प्रातिहार्याष्टकप्रभुं ॥ ४६ ॥ तवायं प्रचलच्छाखस्तुंगोऽशोकमहांघ्रिपः । स्वच्छायासंश्रितान्पाति त्वत्तः शिक्षामिवाश्रितः ॥ ४७ ॥ तवामी चामरव्राता यक्षैरुत्क्षिप्य वीजिताः । निर्धुनंतीव निर्व्याजमागोगोमक्षिका नृणां ॥ ४८ ॥ त्वामापतंति परितः सुमनोंजलयो दिवः । तुष्टया स्वर्गलक्ष्म्येव मुक्ता हर्षाश्रुबिंदवः ॥ ४९ ॥ छत्रत्रितयमाभाति सूच्छ्रितं जिन तावकं । मुक्तालंबनविभ्राजि लक्ष्म्याः क्रीडास्थलायितं ॥ ५० ॥ तव हर्यासनं भाति विश्वभर्तुर्भवद्वरं । कृतयत्नैरिवोद्वोढुं न्यग्भूयोढं मृगाधिपैः ॥ ५१ ॥ तव देहप्रभोत्सर्पैरिदमाक्रम्यते सदः । पुण्या-

---

र्थात् आत्माको जाननेवालोंकेलिये आप ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य हैं और ब्रह्मपदके ईश्वर हैं। हे देव ! इसप्रकार अनेक नामोंसे हम लोग आपकी स्तुति करते हैं॥ ४५ ॥ हे भगवन् इसप्रकार एकसौ आठ नामोंके द्वारा चित्तमें आपको स्मरणकर अष्ट प्रातिहार्योंके स्वामी और स्तुतियोंके स्थानभूत ऐसे आपकी मैं स्तुति करता हूं[1] ॥ ४६ ॥ हे प्रभो ! जिसकी शाखायें चलायमान हो रहीं हैं ऐसा यह बहुत ऊंचा अशोक महावृक्ष अपनी छायामें आये हुये जीवोंको इसप्रकार रक्षा करता है मानों इसने आपसे ही शिक्षा पाई हो ॥ ४७ ॥ यक्षोंके द्वारा ऊंचे हाथोंसे ढुरते हुये ये आपके चमरोंके समूह ऐसे जान पडते हैं मानों बिना ही कारणके मनुष्योंके पापरूप बडी २ मक्खियोंको उडा रहे ही हों ॥ ४८ ॥ हे स्वामिन् आपके चारोंओर स्वर्गसे जो पुष्पांजलियोंकी वर्षा हो रही है वह ऐसी जान पडती है मानों आपको देखकर संतुष्ट हुई स्वर्गलक्ष्मीकी स्वर्गसे पडती हुई ऐसी हर्षसे उत्पन्न हुई आंसुओंकी बूंदें ही हों ॥४९॥ हे जिनेंद्र ! मोतियोंकी जालियोंसे शोभायमान और ऊंचा लटकता हुआ आपका यह छत्रत्रितय ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों लक्ष्मीके क्रीडा करनेका एक स्थान ही हो ॥ ५० ॥ हे प्रभो ! सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ आपका सिंहासन ऐसा सुशोभित

---

१ पहिली दो पुस्तकोंमें " जिनसेनमुनींद्रेण वागडाम्नायशोभिना । शतमष्टोत्तरं नाम्नां कृतं कल्याणकृत् नृणां । " अर्थात् ' वागड आम्नायको सुशोभित करनेवाले जिनसेन मुनिने जीवोंको कल्याणकरनेवाले ये एकसौ आठ नाम कहे हैं । यह ४७ नम्बरपर अधिक श्लोक पाया जाता है ।

भिषकसंभारं लंभयद्भिरिवामितः ॥ ५२ ॥ तव वाक्प्रसरो दिव्यः पुनाति जगतां मनः । मोहांधतमसं धुन्वँस्त्वं ज्ञानार्कांशुकोपमः ॥ ५३ ॥ प्राति-हार्याण्यहार्याणि तवामूनि चकासति । लक्ष्मीहंस्याः समाक्रीडपुलिनानि शुचीनि वा ॥ ५४ ॥ नमो विश्वात्मने तुभ्यं तुभ्यं विश्वसृजे नमः । स्वयंभुवे नमस्तुभ्यं क्षायिकैर्लब्धिपर्ययैः ॥ ५५ ॥ ज्ञानदर्शनवीर्याणि विरतिः शुद्धदर्शनं । दानादिलब्धयश्चेति क्षायिक्यस्तव शुद्धयः ॥ ५६ ॥ ज्ञानमप्रतिघं

हो रहा है मानों आप जगतके स्वामी हैं इसलिये आपके बोझेको सिंहोंने कुछ टेडे होकर बडे प्रयत्नसे धारण किया हो ॥ ५१ ॥ हे नाथ ! आपके शरीरकी प्रभाका यह समूह समस्त सभामें व्याप्त हो रहा है और वह ऐसा जान पडता है मानों चारोंओरसे जीवोंको पुण्यरूप अभिषेकका समूह ही पहुंचाता हो ॥ ५२ ॥ हे ईश ! आपकी चारोंओर फैलती हुई दिव्यध्वनि मोहरूपी गाढ अंधकारको नष्टकर संसारी जीवोंके मनको पवित्र करती है, इसलिये ही हे प्रभो ! आप ज्ञान-रूपी किरणोंको फैलाते हुये सूर्यके समान हैं ॥ ५३ ॥ हे विभो इसप्रकार परमपवित्र और किसीसे हरण न किये जा सकें ऐसे ये आपके आठ प्रातिहार्य ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों लक्ष्मीरूपी हं-सिनीके क्रीडा करनेके स्वच्छ नदीके किनारे ही हों ॥ ५४ ॥ हे प्रभो ! ज्ञानके द्वारा आप समस्त संसारमें व्याप्त हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप जगतकी सृष्टि करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, घातिया कर्मोंके क्षय होनेसे प्राप्त हुई नौ लब्धियोंसे आप स्वयंभू अर्थात् अपनेआप उत्पन्न होनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ५५ ॥ हे विभो ! क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र, ये नौ आपकी क्षायिक शुद्धि गिनी जाती हैं ॥ ५६ ॥ हे देव ! जिसकी कुछ भी मर्यादा नहीं है ऐसा आपका ज्ञान भूत भविष्यत वर्तमान इन तीनों कालोंके समस्त द्रव्यपर्यायोंको एक साथ ग्रहण करता है, क्योंकि व्यवधान होना, इंद्रियोंकी आवश्यकता होना और क्रमसे जानना ये

विश्वं पर्यच्छैत्सीत्त्वाक्रमात् । त्रयं ह्यावरणादेतद्व्यवधिः करणं क्रमः ॥ ५७ ॥ चित्रं जगदिदं चित्रं त्वयाऽबोधि यदक्रमात् । अक्रमोऽपि क्वचित् श्लाघ्यः प्रभुमाश्रित्य लक्ष्यते ॥ ५८ ॥ इंद्रियेषु समग्रेषु तव सत्स्वप्यतींद्रियं । ज्ञानमासीदचिंत्या हि योगिनां प्रभुशक्तयः ॥ ५९ ॥ यथा ज्ञानं तथैवाभूत्क्षायिकं तव दर्शनं । ताभ्यां युगपदेवासीदुपयोगस्तवाद्भुतं ॥ ६० ॥ तेन त्वं विश्वविज्ञेयव्यापिज्ञानगुणोद्भुतः । सर्वज्ञः सर्वदर्शी च योगिभिः परिगीयसे ॥६१॥ विश्वं विजानतोऽपीश यत्ते न स्तः श्रमक्लमौ । अनंतवीर्यताशक्तेस्तन्माहात्म्यं परिस्फुटं ॥६२॥ रागादिचित्तकालुष्यव्यपायादुदिता तव । विरतिः

तीनों ही ज्ञानावरण कर्मसे होते हैं, आपका ज्ञानावरण सर्वथा नष्ट हो गया है इसलिये आप समस्त पदार्थोंको मर्यादारहित एक साथ जानते हैं ॥ ५७ ॥ हे प्रभो ! यह एक आश्चर्यकी बात है कि अनेकप्रकारके इस जगतको भी आपने एकसाथ जान लिया, अथवा कहीं कहीं बडे आदमियोंके आश्रयसे अनुक्रमका छूट जाना भी प्रशंसनीय गिना जाता है ॥५८॥ हे स्वामिन् यद्यपि आपके समस्त इंद्रियां विद्यमान हैं तथापि आपका ज्ञान अतींद्रिय अर्थात् विना इंद्रियोंके ही होता है, सो ठीक ही है क्योंकि आपकी शक्तियोंको योगीलोग भी चिंतवन नहीं कर सकते हैं ॥ ५९ ॥ जिसप्रकार आपका क्षायिक ज्ञान है उसीप्रकार आपका क्षायिक दर्शन है और वे दोनों ही उपयोग आपके एक साथ होते हैं यह भी एक आश्चर्यकी बात है ॥ ६० ॥ हे देव ! इसलिये ही आप जगतके समस्त पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानगुणसे सुशोभित हैं तथा संसारमें आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं और योगी लोग भी आपकी सर्वज्ञ (सबको जाननेवाले) तथा सर्वदर्शी (सबको देखनेवाले) इन नामोंसे स्तुति करते हैं ॥ ६१ ॥ हे ईश ! संसारके समस्त पदार्थोंको जानते हुये भी आपको किसी प्रकारका परिश्रम अथवा खेद नहीं होता है यह आपके अनंतवीर्यपनेकी शक्तिका प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला माहात्म्य है ॥ ६२ ॥ हे विभो ! राग द्वेष आदि चित्तको कलुषित करनेवाले आपके विकार सब नष्ट होगये हैं और उनके नष्ट होनेसे जो आपके विरति अर्थात्

सुखमात्मोत्थं व्यनक्त्यात्यंतिकं विभो ॥ ६३ ॥ विरतिःसुखमिष्टं चेत्सुखं त्वय्येव केवलं । नो चेन्नैवासुखं नाम किंचिदत्र जगत्त्रये ॥ ६४ ॥ प्रशांतकलुषं तोयं यथेह स्वच्छतां व्रजेत् । मिथ्यात्वकर्दमापायात् दृक्शुद्धिस्ते तथा मता ॥ ६५ ॥ सत्योऽपि लब्धयः शेषास्त्वयि नार्थक्रियाकृतः । कृतकृत्ये बहिर्द्रव्यसंबंधो हि निरर्थकः ॥ ६६ ॥ एवंप्रायो गुणा नाथ भवतोऽनंतधा मताः । तानहं लेशतोपीश न स्तोतुमलमल्पधीः ॥ ६७ ॥ तदास्तां ते गुणस्तोत्रं नाममात्रं च कीर्तितं । पुनाति नस्ततो देव त्वां नामोद्देशतः श्रिताः ॥ ६८ ॥ हिरण्यगर्भमाहुस्त्वां यतो वृष्टिर्हिरण्मयी । गर्भावतरणे नाथ

क्षायिक चारित्र उत्पन्न हुआ है वह विनाशरहित और केवल आत्मासे उत्पन्न हुये ऐसे आपके सुखको प्रगट करता है ॥ ६३ ॥ यदि कषाय वा विषय भोगादिकोंसे विरक्त होना ही सुख माना जायगा तब तो वह पूर्ण सुख केवल आपमें ही मानना पडेगा, यदि कषाय वा विषय भोगादिकोंसे विरक्त न होनेको ही सुख माना जायगा तो फिर तीनों जगतमें दुख है ही नहीं, यही मानना पडेगा क्योंकि संसारमें विषय भोगादिकोंसे कोई विरक्त नहीं है इसलिये सबको ही सुखी मानना चाहिये, परंतु संसारी जीव कोई सुखी नहीं है इसलिये विरक्त होना ही सुख है और वह आपमें ही है ॥ ६४ ॥ हे प्रभो ! जिसप्रकार मल रहित अर्थात् निर्मल जल स्वच्छताको धारण करता है उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी कीचडके नाश होनेसे आपका शुद्ध सम्यक्त्व भी अत्यंत निर्मलता धारण करता है ॥६५॥ हे देव ! यद्यपि दान लाभ भोग उपभोग आदि शेष लब्धियां भी आपके विद्यमान हैं तथापि वे कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं क्योंकि जो कृतार्थ हो चुका है उसके वाह्य पदार्थोंका संबंध होना बिल्कुल व्यर्थ है ॥६६॥ हे नाथ ! ऐसे ऐसे आपके अनंत गुण हैं, हे ईश ! अल्पशक्तिको धारण करनेवाला मैं लेशमात्र भी उन सबकी स्तुति नहीं कर सकता हूं ॥ ६७ ॥ इसलिये हे देव ! गुणोंका स्तोत्र करना दूर ही रहा आपका केवल नाम लेना ही हम लोगोंको पवित्र कर देता है अतएव हम लोगोंने केवल आपका नाम लेकर ही आपका आश्रय किया है ॥ ६८ ॥ हे नाथ !

प्रादुरासीत्तवाद्भुता ॥ ६९ ॥ वृषभोसि सुरैर्वृष्टरत्नवर्षः स्वसंभवे । जन्माभिषिक्तये मेरुमृष्टवानृषभोप्यासि ॥ ७० ॥ अशेषज्ञेयसंक्रांतज्ञानमूर्तिर्यतो भवान् । अतः सर्वगतं प्राहुस्त्वां देव परमर्षयः ॥ ७१ ॥ त्वयीत्यादीनि नामानि बिभर्त्यन्वर्थतां यतः । ततोऽसि त्वं जगज्ज्येष्ठः परमेष्ठी सनातनः ॥ ७२ ॥ त्वद्भक्तिचोदितामेनां मामिकां धियमक्षमः । धर्तुं स्तुतिपथे तेऽद्य प्रवृत्तोस्म्यहमक्षर ॥ ७३ ॥ त्वयोपदर्शितं मार्गमुपास्य शिवमीप्सतः । त्वां देवमित्युपासीनान्प्रसीदानुगृहाण नः ॥ ७४ ॥ भवंतमित्यभिष्टुत्य विष्टपातिगवैभवं । त्वय्येव भक्तिमक्लशां प्रार्थये नान्यदर्थये ॥ ७५ ॥ स्तुत्यंते सुरसंघातैरी-

---

आपके गर्भकल्याणके समयमें जगतको आश्चर्य करनेवाली हिरण्य अर्थात् सुवर्णकी वृष्टी हुई थी इसलिये ही लोग आपको हिरण्यगर्भ कहते हैं ॥ ६९ ॥ आपके जन्म समयमें देवोंने रत्नोंकी वर्षा की थी इसलिये ही आप वृषभ कहलाते हैं, तथा जन्माभिषेक करनेके लिये देव लोग आपको मेरु पर्वत पर ले गये थे इसलिये आप ऋषभ कहलाते हैं । (वर्षणात् वृषभः । ऋष्टवान् गतवान् इति ऋषभः) ॥ ७० ॥ हे देव ! चूंकि आप संसारमें जानने योग्य समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले ज्ञानकी मूर्ति ही हैं इसलिये ही बडे २ ऋषि लोग आपको सर्वगत अर्थात् ज्ञानके द्वारा सब जगह रहनेवाला कहते हैं ॥ ७१ ॥ हे विभो ! ऊपर कहे हुये नामोंको आदि लेकर अनेक यथार्थ नाम आपमें पाये जाते हैं इसलिये ही आप जगतज्येष्ठ [सबसे बडे] परमेष्ठी और सनातन कहलाते हैं ॥ ७२ ॥ हे अक्षर ! अर्थात् कभी नाश न होनेवाले ! आपकी भक्तिके द्वारा प्रेरणा की हुई इस मेरी बुद्धिको मैं स्वयं ही धारण नहीं कर सका था इसलिये ही मैं आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं । भावार्थ—यद्यपि मैं आपकी स्तुति करने योग्य नहीं हूं तथापि केवल आपकी भक्तिकी प्रेरणासे ही आपकी स्तुति करनेमें मेरी प्रवृत्ति हुई है ॥७३॥ हे प्रभो ! आपके द्वारा उपदेश दिये हुये मोक्षमार्गकी उपासना करके केवल मोक्षकी इच्छा करनेवाले, तथा आपकी उपासना करनेवाले ऐसे हम लोगोंपर प्रसन्न हूजिये और अनुग्रह कीजिये ॥ ७४ ॥ हे देव ! जगतकी विभूतिकी

क्षितो विस्मितेक्षणैः । श्रीमंडपं प्रविश्यास्मिन्नध्युवासोचितं सदः ॥ ७६ ॥ ततो निभृतमासीने प्रवुद्धकरकुड्मले । सदःपद्माकरे भर्तुः प्रबोधमभिलाषुके ॥ ७७ ॥ प्रीत्या भरतराजेन विनयानतमौलिना । विज्ञापनमकारीत्थं तत्त्वं जिज्ञासुना गुरोः ॥ ७८ ॥ भगवन् श्रोतुमिच्छामि कीदृशस्तत्त्वविस्तरः । मार्गो मार्गफलं चापि कीदृक्तत्त्वविदांवर ॥ ७९ ॥ तत्प्रश्नावसितावित्थं भगवानादितीर्थकृत् । तत्त्वं प्रपंचयामास गंभीरतरया गिरा ॥ ८० ॥ प्रवक्तुरस्य वक्त्राब्जे विकृतिर्नैव काऽप्यभूत् । दर्पणे किमु भावानां विक्रियाऽस्ति प्रकाशने ॥ ८१ ॥ ताल्वोष्ठमपरिस्पंदि न च्छायांतरमानने । अस्पृष्टकरणा

अपेक्षा बहुत अधिक विभूतिको धारण करनेवाले ऐसे आपकी स्तुति करके हम लोग स्तुतिका केवल फल आपमें ही बडी भारी भक्ति हो यही प्रार्थना करते हैं इसके सिवाय और कुछ नहीं मांगते ॥ ७५ ॥ इसप्रकार स्तुति करचुकनेपर जिसे देवलोग आश्चर्य सहित नेत्रोंसे देख रहे हैं ऐसा वह महाराज भरत श्रीमंडपमें प्रवेशकर अपनी सभामें यथायोग्य स्थानपर बैठगया ॥ ७६ ॥ तदनंतर जब वह सभारूपी सरोवर भगवानसे कुछ भी तत्त्वोंका स्वरूप समझनेकी इच्छा करता हुआ शांत हो गया और सबके हाथ रूपी कुड्मल ऊंचे होगये अर्थात् सबने हाथ जोड लिये उससमय तत्त्वोंको जाननेकी इच्छा करनेवाले महाराज भरतने विनयपूर्वक मस्तक नवाकर तथा बडे प्रेमसे भगवान वृषभदेवके सामने इसप्रकार प्रार्थना की ॥७७-७८॥ कि हे भगवन् ! हे तत्त्वोंको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ ! तत्त्वोंका स्वरूप कैसा है ? यह जिनमार्ग क्या है और उसका फल कैसा है यह सब मैं सुनना चाहता हूं ॥ ७९ ॥ इसप्रकार जब भरतका प्रश्न समाप्त होगया तब भगवान वृषभदेव अतिशय गंभीर वाणीसे तत्त्वोंका स्वरूप कहने लगे ॥ ८० ॥ जिससमय भगवान तत्त्वोंका स्वरूप कह रहे थे उससमय उनके मुखरूपी कमलमें कुछ भी विकार नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि दर्पणमें जिससमय पदार्थोंका प्रतिबिंब पडता है उससमय क्या कोई उसमें विकार होता है, भावार्थ—साधारण वक्ताओंके मुखपर क्रोध आनंद खेद आदि विकार होते हैं

वर्णा मुखादस्य विनिर्ययुः ॥ ८२ ॥ स्फुरद्गिरिगुहोद्भूतप्रतिश्रुध्वनिसन्निभः । प्रस्पष्टवर्णो निरगात् ध्वनिः स्वायंभुवान्मुखात् ॥ ८३ ॥ विवक्षामंतरेणास्य विविक्तासीत्सरस्वती । महीयसामचिंत्या हि योगजाः शक्तिसंपदः ॥ ८४ ॥ आयुष्मन् श्रृणु तत्त्वार्थान्वक्ष्यमाणाननुक्रमात् । जीवादीन्कालपर्यंतान्सप्रभेदान्सपर्ययान् ॥ ८५ ॥ जीवादीनां पदार्थानां याथात्म्यं तत्त्वमिष्यते । सम्यग्ज्ञानांगमेतद्धि विद्धि सिध्यंगमंगिनां ॥ ८६ ॥ तदेकं तत्त्वसामान्याजीवाजीवाविति द्विधा । त्रिधा मुक्तेतराजीवविभागात्परिकीर्त्यते ॥ ८७ ॥ जीवो मुक्तश्च संसारी संसार्यत्मा द्विधा मतः । भव्योभव्यश्च साजीवास्ते

परंतु भगवानके मुखपर दिव्यध्वनिके समय कुछ भी विकार नहीं होता था ॥ ८१ ॥ उससमय भगवानके मुखसे जो अक्षर निकलते थे उनके निकलनेमें तालु ओठ आदि उच्चारणस्थान भी नहीं हिलते थे, मुखपर कुछ विकार भी नहीं होता था और इंद्रियोंसे कुछ प्रयत्न भी नहीं करना पडता था ॥ ८२ ॥ जिसप्रकार किसी पर्वतकी गुफामेंसे प्रतिध्वनि निकलती है उसीप्रकार भगवानके मुखसे जिसमें सब अक्षर स्पष्ट हैं ऐसी वह दिव्यध्वनि निकल रही थी ॥ ८३ ॥ बोलनेकी इच्छा न होते हुये भी भगवानके मुखसे वह सरस्वती प्रगट हुई थी, सो ठीक ही है क्योंकि महात्मा पुरुषोंके योगसे उत्पन्न हुई ऐसी ऐसी शक्तिरूप संपदाओंको कोई भी चिंतवन नहीं कर सकता है ॥ ८४ ॥ भगवान् कहने लगे कि हे आयुष्मन् ! [बडी आयुवाले] जीवसे आदि लेकर कालपर्यंत अर्थात् जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये जो छह तत्त्वार्थ वा द्रव्य हैं जिनके भेद और पर्याय अनुक्रमसे आगे कहे हैं उन्हें तू सुन ॥ ८५ ॥ जीव अजीव आदि पदार्थोंका जो यथार्थ स्वरूप है उसे तत्त्व कहते हैं, यह तत्त्व ही सम्यग्ज्ञान होनेका कारण है और इसे ही तू जीवोंके मुक्त होनेका कारण समझ ॥ ८६ ॥ वह तत्त्व सामान्य रीतिसे एकप्रकार है, जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकार है, तथा जीवोंके संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद करनेसे संसारी जीव मुक्तजीव और अजीव ऐसे तीन भेद भी उस तत्त्वके कहे जाते हैं ॥ ८७ ॥ संसारी जीवोंके भी दो भेद होते हैं एक भव्य और

चतुर्धा विभाविताः ॥ ८८ ॥ मुक्तेतरात्मको जीवो मूर्तामूर्तात्मकः परः । इति वा तस्य तत्त्वस्य चातुर्विध्यं विनिश्चितं ॥ ८९ ॥ पंचास्तिकायभेदे न तत्तत्त्वं पंचधा स्मृतं । ते जीवपुद्गलाकाशधर्माधर्माः सपर्ययाः ॥ ९० ॥ त एव कालसंयुक्ताः षोढा तत्त्वस्य भेदकाः । इत्यनंतो भवेदस्य प्रस्तारो विस्तरैषिणां ॥ ९१ ॥ चेतनालक्षणो जीवः सोऽनादिनिधनस्थितिः । ज्ञाता द्रष्टा च कर्त्ता च भोक्ता देहप्रमाणकः ॥ ९२ ॥ गुणवान्कर्मनिर्मुक्तावूर्ध्वव्रज्यास्वभावकः । परिणंतोपसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ ९३ ॥ तस्येमे मार्गणोपाया गत्यादय उदाहृताः । चतुर्दशगुणस्थानैः सोऽत्र मृग्यः सदादिभिः

दूसरा अभव्य, इसप्रकार संसारी जीवोंके दो भेद करनेसे भव्यजीव, अभव्यजीव, मुक्तजीव और अजीव इसप्रकार उस तत्त्वके चार भेद भी होते हैं ॥ ८८ ॥ अथवा जीवोंके दो भेद हैं संसारी और मुक्त, तथा अजीवोंके भी दो भेद हैं एक मूर्त्त और दूसरे अमूर्त्त, इसप्रकार भी तत्त्वके चार भेद निश्चय किये जाते हैं ॥ ८९ ॥ पांच अस्तिकायोंके भेदसे उस तत्त्वके पांच भेद होते हैं, अपनी अपनी पर्यायों सहित जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय ये पांच अस्तिकाय कहे जाते हैं ॥ ९० ॥ उन्हीं पांचों अस्तिकायोंमें कालके मिलानेसे तत्त्वके छह भेद भी होते हैं, इसप्रकार इस तत्वके अनंत भेद होते हैं, विस्तार जाननेवालोंको उन सबका विस्तार जानलेना चाहिये ॥ ९१ ॥ जिसमें चैतन्य शक्ति हो उसे जीव कहते हैं, वह अनादि अनिधन है अर्थात् न तो कभी उत्पन्न हुआ है, अनादि कालसे बराबर है, और न उसका कभी नाश होगा, सदा बना रहेगा, तथा वह जीव जाननेवाला है, देखनेवाला है, कर्त्ता है, भोक्ता है और शरीरके प्रमाणके बराबर है ॥ ९२ ॥ उसमें अनेक गुण हैं, कर्मोंके नाश होनेपर ऊर्ध्वगमन करना उसका स्वभाव है, वह परिणमनशील है और दीपकके प्रकाशके समान संकोच और विस्ताररूप हो जाता है अर्थात् कर्मके उदयसे छोटा बडा जैसा शरीर पाता है उतना ही बडा हो जाता है ॥ ९३ ॥ उस जीवका स्वरूप जाननेकेलिये गति आदि चौदह मार्गणायें निरूपण की हैं अर्थात् मार्गणाओंसे जीव-

॥ ९४ ॥ गतींद्रिये च कायश्च योगवेदकषायकाः । ज्ञानसँयमदृग्लेश्याभव्यसम्यक्त्वसँज्ञिनः ॥ ९५ ॥ सममाहारकेण स्युर्मार्गणास्थानकानि वै । सोन्वेष्यस्तेषु सत्संख्याद्यनुयोगैर्विशेषतः ॥ ९६ ॥ सत्संख्याक्षेत्रसंस्पर्शकालभावांतरैरयं । बहुत्वाल्पत्वतश्चात्मा मृग्यः स्यात्स्मृतिचक्षुषां ॥ ९७ ॥ स्युरिमेऽधिगमोपाया जीवस्याधिगमः पुनः । प्रमाणनयनिक्षेपैरवसेयो मनीषिभिः ॥ ९८ ॥ तस्यौपशमिको भावः क्षायिको मिश्र एव च । स्वतत्त्वमुदयोत्थश्च पारिणामिक इत्यपि ॥ ९९ ॥ निश्चितो यो गुणैरेभिः स जीव इति लक्ष्यतां । द्वेधा तस्योपयोगः स्यात् ज्ञानदर्शनभेदतः ॥ १०० ॥ ज्ञानमष्टतयं ज्ञेयं

का स्वरूप जाना जाता है, इसीप्रकार चौदह गुणस्थान और सत् संख्या आदिके द्वारा भी जीवका स्वरूप जाना जाता है ॥ ९४ ॥ गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक ये चौदह मार्गणास्थान कहलाते हैं, इन चौदह मार्गणाओंमें सत् संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा विशेष रीतिसे उस जीवका स्वरूप जानना चाहिये ॥ ९५-९६ ॥ सत्, संख्या क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोग कहलाते हैं, सिद्धांतशास्त्रको जाननेवाले भव्य जीवोंको इनके द्वारा जीवका स्वरूप समझ लेना चाहिये ॥ ९७ ॥ इसप्रकार मार्गणास्थान गुणस्थान और सत् संख्या आदि अनुयोग ये सब जीवादि पदार्थोंके जाननेके उपाय हैं, इनके सिवाय विद्वान् लोगोंको प्रमाण, नय और नाम स्थापना द्रव्य भाव इन निक्षेपोंसे भी जीवका स्वरूप जाना जाता है ॥ ९८ ॥ औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिकभाव तथा औदयिकभाव और पारिणामिकभाव ये पांच भाव जीवके निज तत्त्व कहलाते हैं ॥ ९९ ॥ इन गुणोंसे जो निश्चय किया जाय उसे जीव कहते हैं, उस जीवका उपयोग अर्थात् परिणामविशेष दो प्रकार है एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग ॥ १०० ॥ उसमेंसे ज्ञानके आठ भेद हैं मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, कुमति कुश्रुत और कुअवधि । दर्शनोपयोगके चार भेद हैं चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल, इन दोनोंमें भी ज्ञान साकार होता है और दर्शन अनाकार

दर्शनं च चतुष्टयं । साकारं ज्ञानमुद्दिष्टमनाकारं च दर्शनं ॥ १०१ ॥ भेदग्रहणमाकारः प्रतिकर्मव्यवस्थया । सामान्यमात्रनिर्भासादनाकारं तु दर्शनं ॥ १०२ ॥ जीवः प्राणी च जंतुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा । पुमानात्मांतरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्ययाः ॥ १०३ ॥ यतो जीवत्यजीवीच्च जीविष्यति च जन्मसु । ततो जीवोऽयमाम्नातः सिद्धः स्ताद्भूतपूर्वतः ॥ १०४ ॥ प्राणा दशाऽस्य संतीति प्राणी जंतुश्च जन्मभाक् । क्षेत्रं स्वरूपमस्य स्यात्तज्ज्ञानात्स तथोच्यते ॥ १०५ ॥ पुरुषः पुरुभोगेषु शयनात्परिभाषितः । पुनात्यात्मानमिति च पुमानिति निगद्यते ॥ १०६ ॥ भवेष्वतति सातत्यादेतीत्यात्मा

अर्थात् आकार रहित होता है ॥ १०१ ॥ घडा, कपडा लोटा थाली आदि भिन्न २ पदार्थोंमें भेद ग्रहण करनेको आकार कहते हैं उस आकारसहित जो हो वह साकार ज्ञान कहलाता है, तथा जिसमें पदार्थोंका सामान्य प्रतिभास हो किसी भेदका ग्रहण न हो उसे निराकार अर्थात् आकार रहित दर्शन कहते हैं ॥ १०२ ॥ जीव, प्राणी, जंतु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अंतरात्मा, ज्ञ, और ज्ञानी ये सब जीवके ही पर्याय बाचक शब्द हैं ॥ १०३ ॥ जो वर्तमानकालमें भी किसी जन्ममें जीवित है, पहिले भी अनेक जन्मोंमें जीवित था और जो आगे भी अनेक जन्मोंमें जीवित रहेगा उसे जीव कहते हैं । सिद्ध परमात्मा पहिले भूतकालमें जीवित थे इसलिये वे भी जीव कहलाते हैं ॥ १०४ ॥ पांच इंद्रिय, मन, बचन, काय, आयु, और श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण कहलाते हैं, यह जीव इन प्राणोंको धारण करता है इसलिये वह प्राणी कहलाता है, वह बार बार जन्म लेता है इसलिये जंतु कहलाता है, आत्माके स्वरूपको क्षेत्र कहते हैं, यह आत्मा अपने स्वरूपको जानता है इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥ १०५ ॥ यह जीव पुरु अर्थात् अनेकप्रकारके भोगोपभोगोंमें शयन करता है अर्थात् तल्लीन रहता है इसलिये इसे पुरुष कहते हैं, तथा यह अपने आत्माको ही पवित्र करता है, इसलिये पुमान् कहलाता है ॥ १०६ ॥ यह जीव नर नारक आदि अनेक भवोंमें निरंतर गमन करता रहता है इसलिये आत्मा कहलाता है, और ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंसे यह ढका

निरुच्यते । सोंऽतरात्माष्टकर्मांतर्वर्तित्वादभिलप्यते ॥ १०७ ॥ ज्ञः स्याज्ज्ञानगुणोपेतो ज्ञानी च तत एव सः । पर्यायशद्बैरेभिस्तु निर्ज्ञेयोऽन्यैश्च तद्विधैः ॥ १०८ ॥ शाश्वतोऽयं भवेज्जीवः पर्यायास्तु पृथक्पृथक् । मृद्द्रव्यस्येव पर्यायैस्तस्योत्पत्तिविपत्तयः ॥ १०९ ॥ अभूत्वा भाव उत्पादो भूत्वा वाभवनं

हुआ है, इसलिये इसे अंतरात्मा भी कहते हैं ॥ १०७ ॥ इस जीवमें ज्ञान गुण पाया जाता है इसलिये ज्ञ कहलाता है और उसी ज्ञान गुणसे इसे ज्ञानी कहते हैं, इसप्रकार ऊपर कहे हुये पर्याय शब्दोंसे तथा ऐसे ही ऐसे अन्य अनेक पर्याय शब्दोंसे जीवका स्वरूप समझना चाहिये ॥ १०८ ॥ जिसप्रकार मिट्टी यद्यपि नित्य है तथापि पर्यायोंके द्वारा वह उत्पन्न भी होती रहती है और नष्ट भी होती रहती है, जब वह मिट्टी घटरूप परिणत होती है तब घटकी उत्पत्ति मानी जाती है तथा जब घटकी पर्याय बदलकर कपालरूप (घटके टुकडे) परिणत होती है तब घटका नाश और कपालकी उत्पत्ति मानी जाती है, मिट्टी सब अवस्थाओंमें विद्यमान है । इसीप्रकार यह जीव भी नित्य है, कभी नष्ट नहीं होता है तथापि मनुष्य देव आदि उसकी पर्यायें भिन्न भिन्न हैं, तथा उत्पन्न नष्ट भी होती रहती हैं ॥ १०९ ॥ जो भाव वा अवस्था पाहिले नहीं थी फिर उत्पन्न हुई उसे उत्पाद कहते हैं जैसे मिट्टीका घडा बन जाना, तथा जो अवस्था मौजूद है उसका अभाव वा नाश हो जाना व्यय कहलाता है जैसे घडेके बननेके पहिले मिट्टीकी जो अवस्था थी उसका नाश हो जाना। इसीप्रकार ज्योंके त्यों बने रहनेको ध्रौव्य कहते हैं जैसे घडा कपाल आदि सब अवस्थाओंमें मिट्टीका बना रहना । ये उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों एक साथ जिसमें पाये जायं उसे द्रव्य कहते हैं। आत्मामें भी ये तीनों पाये जाते हैं क्योंकि देव पर्यायका नाश होता है. मनुष्य पर्यायकी उत्पत्ति होती है और आत्मा ज्योंका त्यों बना रहता है । अथवा मनुष्यपर्यायका विनाश होता है सिद्धपर्यायकी उत्पत्ति होती है और आत्मा ज्योंका त्यों बना रहता है । इसप्रकार उत्पाद व्यय और

व्ययः । ध्रौव्यं तु तादवस्थ्यं स्यादेवमात्मा त्रिलक्षणः ॥ ११० ॥ एवं धर्माणमात्मानमजानानाः कुदृष्टयः । बहुधाऽत्र विमन्वाना विवदंते परस्परं ॥१११॥ नास्त्यात्मेत्याहुरेकेऽन्ये सोऽस्त्वनित्य इति स्थिताः । न कर्त्तेत्यपरे केचिदभोक्तेति च दुर्दृशः ॥ ११२ ॥ अस्त्यात्मा किंतु मोक्षोऽस्य नास्तीत्येके विमन्वते । मोक्षोऽस्ति तदुपायस्तु नास्तीतीच्छंति केचन ॥ ११३ ॥ इत्यादिदुर्णयानेतानपास्य सुनयान्वयात् । यथोक्तलक्षणं जीवं त्वमायुष्मन्विनिश्चिनु ॥ ११४ ॥ संसारश्चैव मोक्षश्च तस्यावस्थाद्वयं मतं । संसारश्चतुरंगेऽस्मिन्भवावर्त्ते विवर्त्तनं ॥ ११५ ॥ निःशेषकर्मनिर्मोक्षो मोक्षोऽनंतसुखात्मकः ।

ध्रौव्य ये तीनों आत्मामें पाये जाते हैं इसलिये आत्मा द्रव्य है ऐसा सिद्ध होता है ॥ ११० ॥ इस प्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप आत्माको नहीं जानते हुये कितने ही मिथ्यादृष्टी उसका स्वरूप अनेक प्रकारसे मानते हैं और परस्पर विवाद करते हैं ॥ १११ ॥ चार्वाक आदि कितने ही लोग कहते हैं कि आत्मा कोई अलग पदार्थ नहीं है । कोई (विज्ञानवादी) कहते हैं आत्मा है तो सही परंतु वह अनित्य है, कोई (सांख्य) कहते हैं वह कर्ता नहीं है और कोई मिथ्यादृष्टी (वेदांती) कहते हैं वह भोक्ता नहीं है ॥ ११२ ॥ कोई मानते हैं कि आत्मा तो है परंतु उसकी मोक्ष नहीं होती, तथा कोई कहते हैं कि आत्मा भी है और उसकी मोक्ष भी होती है परंतु मोक्ष प्राप्त होनेका कोई उपाय नहीं है ॥ ११३ ॥ इसलिये हे आयुष्मान् भरत ! ऊपर लिखे अनुसार मिथ्यानयोंके अनेक भेद हैं, उन सबको छोडकर यथार्थ नयोंके द्वारा जिसका स्वरूप ऊपर कहा है ऐसे जीव पदार्थको तू निश्चय समझ ॥ ११४ ॥ उस जीवकी दो अवस्थायें हैं एक संसारी जीव दूसरा मोक्ष जीव, जो नरक तिर्यंच मनुष्य देव इन चारों गतियोंमें जन्ममरणरूप भँवरमें पडकर परिभ्रमण करता है वह संसारी जीव कहलाता है ॥ ११५ ॥ तथा जिसके समस्त कर्म नष्ट होगये हैं और जो अनंत सुखस्वरूप है वह मुक्त जीव कहलाता है । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंका मिलना ही मोक्ष प्राप्त होनेका साक्षात् कारण है ॥ ११६ ॥ आप्त अर्थात् अरहंत देव, अरहंत देवका

सम्यग्विशेषणज्ञानदृष्टिचारित्रसाधनः ॥ ११६ ॥ आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं परया मुदा । सम्यग्दर्शनमाम्नातं प्रथमं मुक्तिसाधनं ॥ ११७ ॥ ज्ञानं जीवादिभावानां याथात्म्यस्य प्रकाशकं । अज्ञानध्वान्तसंतानप्रक्षयानंतरोद्भवं ॥ ११८ ॥ माध्यस्थलक्षणं प्राहुश्चारित्रं वितृषो मुनेः । मोक्षकामस्य निर्मुक्तचेलस्याहिंसकस्य तत् ॥ ११९ ॥ त्रयं समुदितं मुक्तेः साधनं दर्शनादिकं । नैकांगविकलत्वेऽपि तत्स्वकार्यकृदिष्यते ॥ १२० ॥ सत्येव दर्शने ज्ञानं चारित्रं च फलप्रदं । ज्ञानं च दृष्टिसच्चर्यासान्निध्ये मुक्तिकारणं ॥ १२१ ॥ चारित्रं दर्शनज्ञानविकलं नार्थकृन्मतं । प्रपातायैव तद्धि स्यादंधस्येव विव-

---

कहा हुआ शास्त्र और जीव अजीव आदि यथार्थ पदार्थोंका प्रसन्नता पूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है, यह सम्यग्दर्शन मोक्षका मुख्य कारण है ॥ ११७ ॥ जीव अजीव आदि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाश करनेवाला और अज्ञान वा मिथ्याज्ञानरूपी अंधकारकी संतानपरंपराके नष्ट होनेके बाद उत्पन्न होनेवाला जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है ॥ ११८ ॥ जो मुनि तृष्णा रहित है, मोक्षकी इच्छा करनेवाला है, समस्त परिग्रह रहित है और अहिंसा आदि पांचों महाव्रतोंको धारण करनेवाला है उसके जो इष्ट अनिष्ट आदि पदार्थोंमें राग और द्वेषका त्यागकर मध्यस्थभावोंका धारण करना है उसे सम्यक् चारित्र कहते हैं ॥ ११९ ॥ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मिले हुये मोक्षके कारण होते हैं, यदि इनमेंसे एक भी कम हो तो फिर उनसे मोक्षरूप कार्यकी सिद्धि कभी नहीं होती है ॥ १२० ॥ सम्यग्दर्शनके होते हुये ही ज्ञान और चारित्र फलदायी होते हैं, इसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रके होते हुये ही सम्यग्ज्ञान मोक्षका कारण होता है ॥ १२१ ॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्र भी कुछ फल देनेवाला नहीं होता किंतु उलटा वह जीवोंको नरक तिर्यंच आदि नीच गतियोंमें ढकेलनेवाला होता है सो ठीक ही है क्योंकि यदि अंधा पुरुष दौडनेका साहस करेगा तो वह कहीं न कहीं गिरेगा ही ॥ १२२ ॥ इन तीनोंमेंसे कोई २ तो अलग अलग एक एकसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं और कोई २

लितं ॥ १२२ ॥ त्रिष्वेकद्वयविश्लेषादुद्भूता मार्गदुर्णयाः । षोढा भवंति मूढानां तेष्वत्र विनिपातिताः ॥ १२३ ॥ इतो नाधिकमस्त्यन्यन्नाभून्नैव भविष्यति । इत्याप्तादित्रये दार्ढ्यादर्शनस्य विशुद्धिता ॥ १२४ ॥ आप्तो गुणैर्युतो धूतकलंको निर्मलाशयः । निष्ठितार्थो भवेत्सार्वस्तदाभासास्ततोऽपरे ॥ १२५ ॥ आगमस्तद्वचोऽशेषपुरुषार्थानुसाशनं । नयप्रमाणगंभीरं तदाभासोऽसतां वचः ॥ १२६ ॥ पदार्थस्तु द्विधा ज्ञेयो जीवाजीवविभागतः ।

दो दोसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं, अर्थात् कोई अकेले दर्शनसे, कोई अकेले ज्ञानसे, कोई अकेले चारित्रसे, कोई दर्शन ज्ञान दोसे, कोई दर्शन चारित्र इन दोसे और कोई ज्ञान चारित्र इन दोसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं, इसप्रकार मूर्ख लोगोंने मिथ्यानयोंके द्वारा मोक्षमार्गके छह भेद कल्पना किये हैं परंतु उन सब का निराकरण ऊपर लिखे कथनसे होता है, भावार्थ—तीनों मिले हुये ही मोक्षके कारण हैं भिन्न भिन्न नहीं ॥ १२३ ॥ जैनधर्ममें ओ कुछ आप्त आगम और पदार्थोंका स्वरूप कहा है उससे अधिक वा कम न तो है, न कभी पहिले था और न कभी आगे होगा, इस प्रकार आप्त आगम और पदार्थोंमें दृढता वा मजबूती रखना सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता कहलाती है, ॥१२४॥ जो अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य इन गुणोंका धारण करनेवाला हो, घातिया कर्म रूपी कलंकसे रहित हो, जिसका आशय निर्मल हो अर्थात् वीतराग हो, कृत कृत्य हो और सबका भला करनेवाला अर्थात् हितोपदेशी हो वह आप्त कहलाता है, जिसमें ये ऊपर लिखे हुये लक्षण नहीं पाये जायँ वह आप्ताभास वा अनाप्त (कुदेव) कहलाता है ॥१२५॥ जो आप्तका कहा हो, धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंके स्वरूपका उपदेश देनेवाला हो और नय तथा प्रमाणोंसे गंभीर हो उसे आगम कहते हैं, जो आप्तका कहा हुआ नहीं है किसी साधारण पुरुषका कहा हुआ है वह आगमाभास वा कुशास्त्र कहलाता है, ॥१२६॥ पदार्थोंके दो भेद हैं एक जीव दूसरा अजीव । उसमेंसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तनीों धर्म जिसमें पाये जायँ उसे जीव कहते हैं यह बात पहिले

यथोक्तलक्षणो जीवस्त्रिकोटिपरिणामभाक् ॥ १२७ ॥ भव्याभव्यौ तथा मुक्त इति जीवस्त्रिधोदितः । भविष्यत्सिद्धिको भव्यः सुवर्णोपलसन्निभः ॥१२८॥ अभव्यस्तद्विपक्षः स्यादंधपाषाणसन्निभः । मुक्तिकारणसामग्री न तस्यास्ति कदाचन ॥ १२९ ॥ कर्मबंधननिर्मुक्तस्त्रिलोकशिखरालयः । सिद्धो निरंजनः प्रोक्तः प्राप्तानंतसुखोदयः ॥ १३० ॥ इति जीवपदार्थस्ते संक्षेपेण निरूपितः । अजीवतत्त्वमप्येवमवधारय धीधन ॥ १३१ ॥ अजीवलक्षणं तत्त्वं पंचधैवं प्रपंच्यते । धर्माधर्मावथाकाशं कालः पुद्गल इत्यपि ॥ १३२ ॥ जीवपुद्गलयोर्यत्स्याद्गत्युपग्रहकारणं । धर्मद्रव्यं तदुद्दिष्टमधर्मः स्थित्युपग्रहः ॥ १३३ ॥ गतिस्थितिमतामेतौ गतिस्थित्योरुपग्रहे । धर्माधर्मौ प्रवर्तेते न स्वयं प्रेरकौ मतौ ॥ १३४ ॥ यथा मत्स्यस्य गमनं विना नैवांभसा भवेत् ।

भी कह चुके हैं ॥१२७॥ भव्य अभव्य और मुक्त ऐसे जीवके तीन भेद हैं, जिसप्रकार कनकपाषाण शुद्ध करनेसे सुवर्ण हो जाता है उसी प्रकार जो आगामी कालमें सिद्ध हो सके उसे भव्य कहते हैं ॥१२८॥ तथा जिसप्रकार अंधपाषाण शुद्ध करनेपर भी कभी शुद्ध नहीं होता उसीप्रकार जो कभी सिद्ध न हो सके उसे अभव्य कहते हैं। अभव्य जीवको मोक्ष प्राप्त होनेकी सामग्री कभी प्राप्त नहीं होती है ॥ १२९ ॥ जो आठों कर्मोंसे रहित हैं, तीनों लोकोंके शिखरपर विराजमान हैं, अज्ञान रहित हैं और जिन्हें अनंत सुख प्राप्त हुआ है उन्हें सिद्ध कहते हैं ॥ १३० ॥ इस प्रकार हे बुद्धिमन्। संक्षेपसे जीव पदार्थका स्वरूप तुझसे कहा। अब अजीब तत्वका स्वरूप कहता हूं सो भी सुन ॥१३१॥ धर्म अधर्म आकाश काल और पुद्गल इस प्रकार अजीवतत्वके पांच भेद निरुपण किये हैं॥ १३२ ॥ जो जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें सहायक हो उसे धर्म द्रव्य कहते हैं, तथा जो जीव और पुद्गलोंको स्थिति अर्थात् ठरनेमें कारण हो उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं ॥ १३३ ॥ गमन करना और ठहरना ये जीव और पुद्गल दोनोंका स्वभाव है इसलिये जब ये दोनों गमन करते हैं तब धर्मद्रव्य सहायक हो जाता है और जब ठहरते हैं तब अधर्म सहायक हो जाता है। धर्म और अधर्म ये दोनों ही द्रव्य गमन करने और ठहरनेके लिये किसीको भी प्रेरणा नहीं करते हैं ॥ १३४ ॥ जिस

न चांभः प्रेरयत्येनं तथा धर्मेस्त्यनुग्रहः ॥ १३५ ॥ तरुच्छाया यथा मर्त्यं स्थापयत्यर्थिनं स्वतः । न त्वेषा प्रेरयत्येनमथ च स्थितिकारणं ॥ १३६ ॥ तथैवाधर्मकायोपि जीवपुद्गलयोः स्थितिं । निर्वर्तयत्युदासीनो न स्वयं प्रेरकः स्थितेः ॥ १३७ ॥ जीवादीनां पदार्थानामवगाहनलक्षणं । यत्तदाकाशमस्पर्शममूर्त्तं व्यापि निष्क्रियं ॥ १३८ ॥ वर्त्तनालक्षणः कालो वर्त्तना स्वपराश्रया । यथास्वं गुणपर्यायैः परिणेतृत्वयोजना ॥ १३९ ॥ यथा कुलाल-

प्रकार गमन करनेकी शक्ति मछलीमें है परंतु वह विना पानीके गमन नहीं कर सकती, पानीके सहारे से ही चलती है, पानी चलनेके लिये उसे प्रेरणा भी नहीं करता है, जब मछली अपने आप चलती है तब वह केवल उसकी सहायता कर देता है। ठीक इसी प्रकार धर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें सहायक होता है वह कभी किसीको चलने के लिये प्रेरणा नहीं करता है। ॥ १३५ ॥ जिस प्रकार कोई रास्ता चलनेवाला पथिक किसी वृक्षकी छाया देखकर यदि ठहरना चाहता है तो उसकी स्थितिमें वह छाया सहायता करती है, किसी भी पथिकको अपने यहां ठहरनेके-लिये कोई छाया कभी भी प्रेरणा नहीं करती, परंतु स्थितिमें सहायक अवश्य होती है, ठीक इसीप्रकार अधर्म द्रव्य भी उदासीन होकर जीव और पुद्गलोंकी स्थितिमें सहकारी कारण होता है वह स्वयं ठहरनेकेलिये किसीको भी प्रेरणा नहीं करता है ॥ १३६-१३७ ॥ जीव अजीव आदि पदार्थोंको जो ठहरनेकेलिये जगह दे उसे आकाश कहते हैं, उस आकाशको कोई स्पर्श नहीं कर सकता, वह अमूर्त्त है, सर्वत्र व्याप्त है और क्रिया रहित है ॥ १३८ ॥ जिसका वर्तना लक्षण हो उसे काल कहते हैं, वह वर्तना कालके आश्रय है और कालसे भिन्न जीव अजीव आदि पदार्थोंके भी आश्रय है, काल जीव पुद्गल आदि पदार्थ जो अपने २ गुण पर्यायोंसे सदा परिणमनशील होते रहते हैं उन सब पदार्थोंके परिणमनमें जो सहकारी कारण है उसे वर्तना वा काल कहते हैं ॥ १३९ ॥ जिसप्रकार कुंभारके चाकके फिरनेमें 'चाकके नीचेकी शिला वा कीली कारण है' यद्यपि फिरनेकी

चक्रस्य भ्रमणेऽधःशिला स्वयं । धत्ते निमित्ततामेवं कालोऽपि कलितो बुधैः ॥ १४० ॥ व्यवहारात्मकात्कालान्मुख्यकालविनिर्णयः । मुख्ये सत्येव गौणस्य बाल्हीकादेः प्रतीतितः ॥१४१॥ स कालो लोकमात्रैः स्वैरणुभिर्निचितः स्थितैः । ज्ञेयोऽन्योन्यमसंकीर्णै रत्नानामिव राशिभिः ॥ १४२ ॥ प्रदेशप्रचयायोगादकायोऽयं प्रकीर्तितः । शेषाः पंचाऽस्तिकायाः स्युः प्रदेशोपचितात्मकाः ॥ १४३ ॥ धर्माऽधर्मवियत्कालपदार्थां मूर्तिवर्जिताः । मूर्तिमत्पुद्गलद्-

---

शक्ति चाकमें है चाक ही फिरता है परंतु वह बिना नीचेकी कीलीके फिर नहीं सकता, इसीप्रकार जीव पुद्गल आदि समस्त पदार्थ जो अपने आप परिणमन होते रहते हैं उनके परिणमनमें काल निमित्त कारण है ऐसा विद्वान् लोगोंने निरूपण किया है ॥ १४० ॥ वह काल दो प्रकारका है एक व्यवहारकाल और दूसरा निश्चयकाल, घडी घंटा आदि व्यवहार काल कहलाता है, इसी व्यवहार कालसे निश्चय कालका निश्चय होता है, क्योंकि किसी मुख्य पदार्थके रहते हुये ही गौण पदार्थकी प्रतीति होती है, जैसे जब बाल्हीक नामका कोई देश प्रसिद्ध है तब वहांके रहनेवालोंको वाल्हीक [म्लेच्छ] कह सकते हैं, यदि वाल्हीक नामका कोई देश न होता तो वहांके रहनेवालोंको भी बाल्हीक नहीं कह सकते थे, इसीप्रकार जब निश्चय काल कोई पदार्थ है तब ही घडी घंटा आदि पर्यायरूप व्यवहार कालकी प्रतीति होती है, यदि वह न होता तो व्यवहार काल भी नहीं हो सकता था ॥ १४१ ॥ उस निश्चयकालके प्रदेश समस्त लोकाकाशमें भरे हुये हैं जितने लोकाकाशके प्रदेशोंकी संख्या है उतने ही निश्चयकालके प्रदेश हैं और वे लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक करके स्थित हैं तथा रत्नोंकी राशिके समान परस्पर आपसमें कभी नहीं मिलते हैं उन्हीं प्रदेशोंसे निश्चयकाल जाना जाता है ॥ १४२ ॥ उस निश्चयकालके प्रदेश परस्पर आपसमें कभी नहीं मिलते अर्थात् वह कभी बहुप्रदेशी नहीं होता सदा एकप्रदेशी ही रहता है इसलिये वह अकाय वा कायरहित कहा जाता है, कालको छोडकर शेष पांच द्रव्योंके प्रदेश आपसमें मिले हुये हैं वा मिल

व्यं तस्य भेदानितः शृणु ॥ १४४ ॥ वर्णगंधरसस्पर्शयोगिनः पुद्गला मताः । पूरणाद्गलनाच्चैव संप्राप्तान्वर्थनामकाः ॥ १४५ ॥ स्कंधाऽणुभेदतो द्वेधा पुद्गलस्य व्यवस्थितिः । स्निग्धरूक्षात्मकाणूनां संघातः स्कंध इष्यते ॥ १४६ ॥ द्व्यणुकादिर्महास्कंधपर्यंतस्तस्य विस्तरः । छायातपतमोज्योत्स्नापयोदादिप्रभेदभाक् ॥ १४७ ॥ अणवः कार्यलिंगाः स्युर्द्विस्पर्शाः परिमंडलाः । एकवर्णरसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्ययैः ॥ १४८ ॥ सूक्ष्मसूक्ष्मास्तथा सूक्ष्माः

जाते हैं अर्थात् शेष पांच द्रव्य बहु प्रदेशी हैं इसलिये वे पांचो अस्तिकाय कहलाते हैं ॥१४३॥ धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारो पदार्थ अमूर्त्त हैं, एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक है, आगे उसी पुद्गलके भेद कहते हैं, सो हे वत्स ध्यानसे सुन ॥ १४४ ॥ जिसमें वर्ण गंध रस और स्पर्श ये चार गुण पाये जाँय उन्हें पुद्गल कहते हैं, जो पूरणगलनस्वभाव हो अर्थात् जो परमाणु वा गुणोंके घटने बढनेसे घटता बढता रहे उसे पुद्गल कहते हैं इसप्रकार पुद्गल यह अन्वर्थक वा यथार्थ नाम सिद्ध होता है ॥ १४५ ॥ उस पुद्गलके दो भेद हैं एक स्कंध और दूसरा अणु। उनमेंसे जो स्निग्ध (चिकने) वा रूक्ष (रूखे) परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे समुदाय वा समूह होता है उसे स्कंध कहते हैं ॥ १४६ ॥ दो परमाणुओंके मिलनेसे द्व्यणुक नामका स्कंध होता है, तीन परमाणुओंके मिलनेसे त्र्यणुक नामका स्कंध होता है, इसीप्रकार चार पांच संख्यात असंख्यात अनंत और अनंतानंत परमाणुओंके मिलनेसे महास्कंधतक अनेक प्रकारके स्कंध होते हैं, तथा छाया, आतप, अंधकार, चांदनी बादल आदि अनेक भेद प्रभेद पुद्गलोंके होते हैं ॥ १४७ ॥ परमाणु अत्यंत सूक्ष्म होते हैं वे इंद्रियोंसे नहीं जाने जाते। घट पट आदि उनके कार्य दिखाई देते हैं इसलिये वे अनुमानसे सिद्ध किये जाते हैं, उन परमाणुओंमें कोई भी अविरुद्ध दो स्पर्श रहते हैं, एक वर्ण, एक रस और एक गंध रहता है, वे परमाणु गोल और नित्य हैं, तथा पर्यायोंसे अनित्य भी हैं ॥१४८॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये पुद्गलोंके सूक्ष्मसूक्ष्म, सूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, स्थूलसूक्ष्म,

सूक्ष्मस्थूलात्मकाः परे । स्थूलसूक्ष्मात्मकाः स्थूलाः स्थूलस्थूलाश्च पुद्गलाः ॥ १४९ ॥ सूक्ष्मसूक्ष्मोऽणुरेकःस्याददृश्योऽस्पृश्य एव च । सूक्ष्मास्ते कर्मणः स्कधाः प्रदेशानंत्ययोगतः ॥ १५० ॥ शब्दः स्पर्शो रसो गंधः सूक्ष्मस्थूलो निगद्यते । अचाक्षुषत्वे सत्येषामिंद्रियग्राह्यतेक्षणात् ॥ १५१ ॥ स्थूलसूक्ष्माः पुनर्ज्ञेयाश्छायाज्योत्स्नातपादयः । चाक्षुषत्वेऽप्यसंहार्यरूपत्वादविघातकाः ॥ १५२ ॥ द्रवद्रव्यं जलादि स्यात् स्थूलभेदे निदर्शनं । स्थूलस्थूलः पृथिव्यादिर्भेद्यः स्कंधः प्रकीर्तितः ॥ १५३ ॥ इत्यमीषां पदार्थानां याथात्म्यमविपर्ययात् । यः श्रद्धत्ते स भव्यात्मा परंब्रह्माधिगच्छति ॥ १५४ ॥ तत्त्वार्थसं-

---

स्थूल और स्थूलस्थूल ये छह भेद होते हैं ॥ १४९ इनमेंसे परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म है क्योंकि न तो वह देखा जा सकता है और न स्पर्श किया जा सकता है, कर्मवर्गणाओंका समूह सूक्ष्म है, क्योंकि यद्यपि वह न देखा जाता है और न स्पर्श किया जाता है तथापि वह अनंतानंत प्रदेशोंका समूह है, इसलिये सूक्ष्म कहलाता है ॥ १५० ॥ शब्द, स्पर्श, गंध और रस ये सूक्ष्मस्थूल कहलाते हैं, क्योंकि यद्यपि इनको आंखोंसे नहीं देख सकते तथापि स्पर्शन रसना आदि अन्य इंद्रियोंसे इन्हें जान सकते हैं इसलिये इनमें मुख्यतासे सूक्ष्मता और गौणतासे स्थूलता होनेसे सूक्ष्मस्थूल कहलाते हैं ॥१५१॥ छाया चांदनी आतप आदि पदार्थ जो आंखोंसे दिखाई तो देते हैं परंतु एक जगह इकट्ठे नहीं किये जा सकते अथवा जिनका घात वा ताडना नहीं हो सकती इसलिये जो विघात रहित हैं वे स्थूलसूक्ष्म कहलाते है, उनमें स्थूलता मुख्यतासे और सूक्ष्मता गौणतासे रहती है ॥ १५२ ॥ दूध पानी आदि जो पतले पदार्थ हैं जो अलग करनेपर भी मिल सकते हैं उन्हें स्थूल कहते हैं तथा पत्थर पृथ्वी आदि जो भेदन करने योग्य स्कंध हैं जो भिन्न होकर मिल नहीं सकते वे स्थूलस्थूल कहलाते हैं ॥ १५३ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं जो भव्यपुरुष इन द्रव्योंका विपरीत रहित यथार्थ श्रद्धान करता है वह अवश्य ही उत्कृष्ट ब्रह्मस्वरूप सिद्धगतिको प्राप्त होता हे ॥ १५४ ॥ इसप्रकार महाज्ञानी भगवान वृषभदेवने भरतकेलिये समस्त त-

ग्रहं कृत्स्नमित्युक्त्वास्मै विदांवरः । कानिचित्तत्त्वबीजानि पुनरुद्देशतो जगौ ॥ १५५ ॥ पुरुषं पुरुषार्थं च मार्गं मार्गफलं तथा । बंधमोक्षौ तयो हेतुं बद्धं मुक्तं च सोभ्यधात् ॥ १५६ ॥ त्रिजगत्समवस्थानं नरकप्रस्तरानपि । द्वीपाब्धिह्रदशैलादीनप्यथास्मायुगादिशत् ॥ १५७ ॥ त्रिषष्टिपटलं स्वर्गं देवायु-र्भोगविस्तरं । ब्रह्मस्थानमपि श्रीमान् लोकनाडीं च संजगौ ॥ १५८ ॥ तीर्थेशानां पुराणानि चक्रिणामर्द्धचक्रिणां । तत्कल्याणानि तद्धेतूनप्याचख्यौ जगद्गुरुः ॥ १५९ ॥ गतिमागतिमुत्पत्तिं च्यवनं च शरीरिणां । मुक्तिमृद्धिं कृतं चापि भगवान्व्याजहार सः ॥ १६० ॥ भवद्भाविभूतं च यत्सर्व-

---

त्त्वार्थोंका स्वरूप कहा और संक्षेपसे फिर भी कुछ तत्वोंका रहस्य कहने लगे ॥ १५५ ॥ उन्होंने आत्माका स्वरूप कहा, धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ बतलाये, मुनि तथा श्रावकोंका मार्ग बतलाया, उस मार्गका स्वर्ग मोक्ष आदि फल बतलाया, बंध, बंधके कारण, मोक्ष, मोक्षके कारण बतलाये तथा कर्मसहित संसारी जीवका स्वरूप और मुक्त जीवका स्वरूप बतलाया ॥ १५६ ॥ इसीप्रकार तीनों लोकोंका आकार, नरकोंके पटल, असंख्यात द्वीप, समुद्र कुलाचल, ह्रद आदि सबका स्वरूप भरतकेलिये कहा ॥ १५७ ॥ श्रीमान् वृषभदेवने स्वर्गोंके तिरेसठ पटल, देवोंकी आयु, देवोंके भोगोपभोगोंका वर्णन, मोक्षस्थान और लोकनाडी आदि सबका स्वरूप कहा ॥ १५८ ॥ जगतगुरु भगवानने तीर्थंकरोंके पुराण, चक्रवर्ती अर्धचक्री आदिकोंके पुराण, तीर्थंकरोंके पांचों कल्याणक तथा पांचों कल्याणक प्राप्त होनेकी कारण ऐसी सोलह भावनाओंका स्वरूप कहा ॥ १५९ ॥ भगवानने परलोक गमन, इसलोकमें आगमन, जीवोंका जन्म, मरण, भोग उपभोग आदि सुख अथवा छहों खंड पृथ्वीका भोग, मुनियोंकी ऋद्धियां अथवा चक्रवर्ती अर्धचक्री आदिकी विभूतियां तथा जीवोंके करने योग्य काम और न करने योग्य काम आदि सबका उपदेश दिया ॥ १६० ॥ सबको जाननेवाले और सबका कल्याण करनेवाले भगवान वृषभदेवने भूत भविष्यत वर्तमान तीनों काल संबंधी द्रव्योंका सब स्वरूप अर्थात् समस्त द्रव्योंकी जो अवस्थायें हो चुकी हैं, हैं, और होगीं

द्रव्यगोचरं । तत्सर्वं सर्ववित्सार्वो भरतं प्रत्यबूबुधत् ॥१६१॥ श्रुत्वेति तत्त्वसद्भावं गुरोः परमपूरुषात् । प्रल्हादं परमं प्राप भरतो भक्तिनिर्भरः ॥१६२॥ ततः सम्यक्त्वशुद्धिं च व्रतशुद्धिं च पुष्कलां । निष्कलाद्भरतो भेजे परमानंदमुद्वहन् ॥ १६३ ॥ प्रबुद्धो मानसीं शुद्धिं परमां परमर्षितः । संप्राप्य भरतो रेजे शरदीवांबुजाकरः ॥ १६४ ॥ स लेभे गुरुमाराध्य सम्यग्दर्शननायकां । व्रतशीलावलीं मुक्तेः कंठिकामिव निर्मलां ॥ १६५ ॥ दिदीपे लब्धसंस्कारो गुरुतो भरतेश्वरः । यथा महाकरोद्भूतो मणिः संस्कारयोगतः ॥ १६६ ॥ त्रिदशासुरमर्त्यानां सा सभा समुनीश्वरा । पीतसद्धर्मपीयूषा परामाप

उन सबका स्वरूप भरतकेलिये कहा ॥१६१॥ इसप्रकार जगतगुरु और पूज्यपुरुष भगवान वृषभदेवसे तत्त्वोंका सब स्वरूप सुनकर पूर्ण भक्तिमान् महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुये ॥ १६२ ॥ तदनंतर जिनका शरीरके साथ कोई संबंध नहीं रहा है ऐसे भगवान वृषभदेवसे महाराज भरतने अतिशय-आनंदित होकर सम्यग्दर्शनकी परम विशुद्धि और अणुव्रतोंकी परम विशुद्धि धारण की ॥ १६३ ॥ जिसप्रकार शरद ऋतुमें कमलोंका समूह प्रफुल्लित होकर सुशोभित होता है उसीप्रकार परमदेव भगवान वृषभदेवसे प्रबुद्ध होकर अर्थात् समस्त तत्त्वोंका स्वरूप जानकर और मनकी परम विशुद्धि धारणकर महाराज भरत बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥ १६४ ॥ महाराज भरतने अपने गुरु भगवान वृषभदेवकी उपासनाकर जिसके बीचमें सम्यग्दर्शन रूपी प्रकाशमान रत्न सुशोभित हो रहा है ऐसी पांच व्रत और सात शीलोंकी निर्मल माला इसप्रकार धारण की थी मानों मोक्ष रूपी लक्ष्मीके गलेकी माला ही हो, भावार्थ—उसने शुद्ध सम्यग्दर्शन, निर्दोष व्रत और सात शील धारण किये थे ॥ १६५ ॥ जिसप्रकार किसी खानिसे निकला हुआ मणि संस्कारके निमित्तसे अर्थात् शाणपर रखनेसे देदीप्यमान हो जाता है उसीप्रकार महाराज भरत भी अपने गुरुसे उपदेश रूपी संस्कार पाकर बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥ १६६ ॥ उससमय देव भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क मनुष्य तिर्यंच और मुनियोंसे भरी हुई वह सभा धर्मरूपी अमृतको पीकर बडी ही संतुष्ट हुई थी ॥१६७॥ जिसप्रकार

धृतिं तदा ॥ १६७ ॥ घनध्वनिमिव श्रुत्वा विभोर्दिव्यध्वनिं तदा । चातका इव भव्यौघाः परं प्रमदमाययुः ॥ १६८ ॥ दिव्यध्वनिमनुश्रुत्य जलदस्तनितोपमं । अशोकविटपारूढाः सस्वनुर्दिव्यबर्हिणः ॥१६९॥ सप्तार्चिषमिवासाद्य तं त्रातारं प्रभास्वरं । विशुद्धिं भव्यरत्नानि भेजुर्दिव्यप्रभास्वरां ॥१७०॥ योसौ पुरिमतालेशो भरतस्यानुजः कृती । प्राज्ञः शूरः शुचिर्धीरो धौरेयो मानशालिनाम् ॥ १७१ ॥ श्रीमान्वृषभसेनाख्यः प्रज्ञापारमितो वशी । स संबुध्य गुरोः पार्श्वे दीक्षित्वाभूद्गणाधिपः ॥ १७२ ॥ स सप्तर्द्धिभिरिद्धर्द्धिस्तपोदीप्त्यावृतोऽभितः । व्यदीपि शरदीवार्को धूतांधतमसोदयः ॥ १७३ ॥ स

बादलोंकी गर्जना सुनकर चातक पक्षियोंको आनंद होता है उसीप्रकार उससमय बादलोंकी गर्जनाके समान भगवानकी दिव्यध्वनिको सुनकर भव्योंका समुदायरूपी चातक बडे ही आनंदित हुये थे ॥१६८॥ मेघकी गर्जनाके समान भगवानकी दिव्यध्वनिको सुनकर अशोक वृक्षपर बैठे हुये दिव्य मयूर भी आनंदसे शब्द करने लग गये थे ॥१६९॥ सब जीवोंकी रक्षा करनेवाले और अग्निके समान अतिशय देदीप्यमान ऐसे भगवान् वृषभदेवका निमित्त पाकर भव्यरूप रत्न दिव्य कांतिको धारण करनेवाली ऐसी परम विशुद्धिको प्राप्त हुये थे॥१७०॥ उसीसमय जो पुरिमतालका स्वामी था जो कि महाराज भरतका छोटा भाई था तथा जो पुण्यवान्, विद्वान्, शूरवीर, पवित्र, धीरवीर स्वाभिमान करनेवालोंमें श्रेष्ठ, अतिशय बुद्धिमान्, श्रीमान् और जितेंद्रिय था तथा वृषभसेन जिसका नाम था उसने भी भगवानका उपदेश सुनकर उन्हीं भगवानके समीप दीक्षा धारण की थी और वह भगवानका पहिला गणधर हुआ था ॥ १७१-१७२ ॥ जिसप्रकार शरदऋतुका सूर्य समस्त अंधकारको नष्टकर देदीप्यमान होता है उसीप्रकार प्राप्त हुई सात ऋद्धियोंसे जो अत्यंत देदीप्यमान हैं और तपश्चरणकी कांति जिनके चारों ओर फैली हुई है ऐसे वे भगवान वृषभसेन गणधर देव बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥ १७३ ॥ वृषभसेनके समान कुरुदेशका राजा महाराजा सोमप्रभ और श्रेयांस तथा और भी अनेक राजा उसीसमय भगवानसे दीक्षा लेकर गणधर हुये थे ॥ १७४ ॥ महाराज भरतकी छो-

श्रीमान्कुरुशार्दूलः श्रेयान्सोमप्रभोपि च । नृपाश्चान्ये तदोपात्तदीक्षा गणभृतोभवन् ॥ १७४ ॥ भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात् । गणिनीपदमार्याणां सा भेजे पूजितामरैः ॥ १७५ ॥ रराज राजकन्या सा राजहंसीव सुस्वना । दीक्षाशरन्नदीशीलपुलिनस्थलशायिनी ॥ १७६ ॥ सुंदरी चात्तनिर्वेदा तां ब्राह्मीमन्वदीक्षत । अन्ये चान्याश्च संविग्ना गुरोः प्राव्राजिषुस्तदा ॥ १७७ ॥ श्रुतकीर्तिर्महाप्राज्ञो गृहीतोपासकव्रतः । देशसँयमिनामासीद्धौरेयो गृहमेधिनाम् ॥ १७८ ॥ उपात्ताणुव्रता धीरा प्रयतात्मा प्रियव्रता । स्त्रीणां विशुद्धवृत्तानां बभूवाग्रेसरी सती ॥ १७९ ॥ विभोः कैवल्यसंप्राप्तिक्षण एव महर्धयः । योगिनोन्येऽपि भूयाँसो बभूवु र्मुनोत्तमाः ॥ १८० ॥ संबुद्धोऽनंतवीर्यश्च गुरोः संप्राप्तदीक्षणः । सुरैरवाप्तपूजर्द्धिरग्रयो मोक्षगता-

---

टी बहिन ब्राह्मी भी जगतगुरुके अनुग्रहसे दीक्षा धारण कर सब अर्जिकाओंमें मुख्य मानी गई थी और देवोंने भी उसकी पूजा की थी ॥ १७५ ॥ उससमय वह राजकन्या ब्राह्मी दीक्षारूपी शरदऋतुकी स्वच्छ नदीके शीलरूप किनारेपर बैठी हुई तथा मधुर शब्द करती हुई हंसिनीके समान सुशोभित हो रही थी ॥१७६॥ उस समय वृषभदेवकी दूसरी पुत्री सुंदरीको वैराग्य उत्पन्न हुआ था और उसने भी ब्राह्मीके पीछे दीक्षा धारण करली थी, इनके सिवाय उससमय और भी अनेक राजा और राजकन्याओंने विरक्त होकर भगवानके समीप दीक्षा धारण की थी॥१७७॥ श्रुतकीर्ति नामके अतिशय बुद्धिमान् किसी गृहस्थने श्रावकके व्रत धारण किये थे और वह एक देश व्रत पालन करनेवाले देशसंयमी गृहस्थ लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ हुआ था ॥१७८॥ इसीप्रकार अत्यंत धीरवीर, शुद्ध अंतःकरणको धारण करनेवाली और सती ऐसी प्रियव्रता नामकी किसी स्त्रीने श्रावकके अणुव्रत धारण किये थे और वह शुद्ध आचरणको धारण करनेवाली स्त्रियोंमें सबसे मुख्य हुई थी ॥१७९॥ जिससमय भगवान वृषभदेवको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था उसीसमय अन्य कितने ही उत्तमोत्तम भाग्यशाली पुरुष दीक्षा धारणकर अनेक ऋद्धियोंके धारण करनेवाले मुनिराज हुये थे ॥ १८० ॥ भरतके भाई अनंतवीर्यने भी संसारका यथार्थ स्वरूप समझकर भगवानके समीप दीक्षा धारण की थी, देवोंने भी उसकी अनेकप्रकारसे पूजा की

वभूत् ॥ १८१ ॥ मरीचिवर्ज्याः सर्वेऽपि तापसास्तपसि स्थिताः । भट्टारकांते संबुध्य महाप्राव्राज्यमास्थिताः ॥ १८२ ॥ ततो भरतराजेंद्रो गुरुं संपूज्य पुण्यधीः । स्वपुराभिमुखो जज्ञे चक्रपूजाकृतत्वरः ॥ १८३ ॥ युवा बाहुबली धीमानन्ये च भरतानुजाः । तमन्वीयुः कृतानंदमभिवंद्य जगद्गुरुं ॥ १८४ ॥ भरतपतिमथाविर्भूतदिव्यानुभावप्रसरमुदयरागं प्रत्युपात्ताभिमुख्यं । विजयिनमनुजग्मु र्भ्रातरस्तं दिनांते दिनपमिव मयूखा दिङ्मुखा-

थी और वह इस अवसर्पिणी कालमें सबसे पहिले मोक्षगतिको प्राप्त हुआ था ॥ १८१ ॥ जो तपस्वी पहिले भ्रष्ट हो गये थे उनमेंसे मरीचिको छोडकर वाकी सब तपस्विओंने भगवानके उपदेशसे मोक्षमार्गका यथार्थ स्वरूप समझकर दीक्षा धारण की थी ॥ १८२ ॥ तदनंतर जिन्हें चक्रकी पूजा करनेकेलिये कुछ जल्दी हो रही है ऐसा वह अतिशय पुण्यवान् महाराज भरत जगतगुरुकी पूजाकर अपने नगरमें जानेके लिये निकला ॥ १८३ ॥ तरुण अवस्थाको धारण करनेवाला बुद्धिमान बाहुवली तथा और भी भरतके छोटे भाई आनंदके साथ जगतगुरु भगवानकी बंदनाकर भरतके पीछे पीछे अपने अपने स्थानको गये ॥ १८४ ॥ अथानंतर—उससमय नगरको जाते हुये महाराज भरत सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे, क्योंकि जिसप्रकार सूर्य दिव्य प्रकाशको फैलानेवाला है उसीप्रकार भरतका प्रकाशका फैलाव भी उसीसमय उदय हुआ था, सूर्य जिसप्रकार उदय होते समय राग अर्थात् लालिमा धारण करता है उसीप्रकार भरत भी उदय अर्थात् अपने प्रतापके उदय होते समय राग अर्थात् प्रजासे अनुराग धारण करते थे, सूर्य जिसप्रकार जानेकेलिये सन्मुख होता है उसीप्रकार भरत भी नगरमें जानेकेलिये तैयार हुये थे, अथवा सूर्य जिसप्रकार सब ग्रहोंमें मुख्य है उसीप्रकार भरत भी सबसे मुख्य थे तथा सूर्य जिसप्रकार सब ग्रहोंको जीतकर विजयी कहलाता है उसीप्रकार भरत आगामी कालमें समस्त पृथ्वीको जीतनेसे विजयी कहलाते थे, इसप्रकार सायंकालके समय समस्त दिशाओंको प्रकाशित करती हुई सूर्यकी किरणें जिसप्रकार सू-

क्रांतिभाजः ॥ १८५ ॥ स्वांतर्नीतसमस्तवस्तुविसरां प्रस्तीर्णवर्णोज्वलां निर्णिक्तां नयचक्रसन्निधिगुरुं स्फीतप्रमोदाहृतिं । विश्वास्यां निखिलांगभृत्परिचितां जैनिमिव व्याहृतिं प्राविक्षत्परया मुदा निधिपतिः स्वामुत्पताकां पुरीं ॥ १८७ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवद्धर्मोपदेशनोपवर्णनं नाम चतुर्विंशतितमं पर्व.

र्यके पीछे २ जाती हैं उसीप्रकार समस्त दिशाओंको प्रकाशित करते हुये भरतके भाई भी भरतके ही पीछे २ जा रहे थे ॥ १८५ ॥ इसप्रकार चलते हुये महाराज भरतने बडी प्रसन्नताके साथ अपनी अयोध्या नगरीमें प्रवेश किया, उससमय उस अयोध्यामें अनेक ध्वजायें फहरा रहीं थीं और वह ठीक जिनवाणीके समान सुशोभित हो रही थी, क्योंकि जिसप्रकार जिनवाणीके भीतर समस्त पदार्थों का विस्तार भरा रहता है उसीप्रकार उस अयोध्यामें भी रत्न आदि समस्त पदार्थ भरे हुये थे, जिसप्रकार जिनवाणीमें अनेक उज्वलवर्ण (अक्षर) रहते हैं उसीप्रकार अयोध्यामें भी अनेक क्षत्रिय आदि उज्वल वर्ण थे, जिसप्रकार जिनवाणी केवली श्रुतकेवलियोंके द्वारा प्रशंसनीय है उसीप्रकार अयोध्या भी सबसे प्रशंसनीय थी, जिनवाणी जिसप्रकार अनेक नयोंके निमित्तसे पूज्य है उसीप्रकार वह अयोध्या भी नीतिके समूहके निमित्तसे पूज्य थी अथवा नीतिको प्रगट करनेवाले चक्रके निमित्तसे पूज्य थी, जिनवाणी जिसप्रकार आनंद देनेवाली है उसीप्रकार वह अयोध्या भी जीवोंको आनंद देनेवाली थी, जिनवाणी जिसप्रकार विश्वास्य अर्थात् सबको विश्वास करने योग्य है अथवा सव ओर मुह करनेवाली अर्थात् सब पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली है उसीप्रकार वह अयोध्या भी विश्वास्य अर्थात् सबको विश्वास करनेयोग्य थी अथवा सवओर उसका मुह था अर्थात् चारों दिशाओं में उसके बडे २ चार दरवाजे थे, तथा जिनवाणी जिसप्रकार समस्त बारह अंगोंको धारण करनेवा-

अथ पंचविंशतितमं पर्व.

गते भरतराजर्षौ दिव्यभाषोपसंहृतौ । निवातास्तिमितं वार्द्धिमिवाऽनाविष्कृतध्वनिं ॥ १ ॥ धर्मांबुवर्षसंसिक्तजगज्जनवनद्रुमं । प्रावृट्घनमिवोद्वांतवृष्टिमुत्सृष्टनिःस्वनं ॥ २ ॥ कल्पद्रुममिवाभीष्टफलविश्राणनोद्यतं । स्वपादाभ्यर्णविश्रांतत्रिजगज्जनमूर्जितं ॥ ३ ॥ विवस्वंतमिवोद्भूतमोहांधतमसोदयं । नवकेवललब्धीद्धकरोत्करविराजितं ॥ ४ ॥ महाकरमिवोद्भूतगुणरत्नोच्चयाचितं । भगवंतं जगत्कांतमचिंत्यानंतवैभवं ॥ ५ ॥ वृतं श्रमणसंघेन चतुर्धा भेदमी-

ले श्रुतकेवलियोंके द्वारा जानी जाती है उसीप्रकार वह अयोध्या भी सब जीवोंके द्वारा परिचित थी अर्थात् संसारके समस्त जीव उसे जानते थे ॥ १८६ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें भगवानका धर्मोपदेश वर्णन करनेवाला यह चौवीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

अथ पच्चीसवां पर्व

अथानंतर—जिससमय महाराज भरत चलेगये, भगवानकी दिव्यध्वनि बंद होगई उससमय वायु बंद होनेसे शांत हुये समुद्रके समान जिनका शब्द बिलकुल बंद हो गया है ॥ १ ॥ जिन्होंने धर्मरूपी जलकी वर्षाकर संसारी जीवरूपी बनके वृक्ष सींच दिये हैं, जो शरद ऋतुके बादलोंके समान दिव्यध्वनिरूप जलकी वर्षाकर शब्द रहित हो गये हैं ॥ २ ॥ जो कल्पवृक्षके समान इष्ट फल देनेकेलिये सदा तत्पर रहते हैं, जिनके चरणकमलोंके समीपमें तीनों लोकोंके समस्त जीव विश्रांत लेते हैं ॥ ३ ॥ जो अत्यंत दैदीप्यमान हैं, सूर्यके समान मोह रूपी अंधकारको नष्टकर जिनका उदय हुआ है, तथा क्षायिक सम्यक्त्व आदि नौ केवललब्धिरूपी किरणोंके समूहसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ ४ ॥ बडी भारी खानिके समान जिनमें दैदीप्यमान गुणरूपी रत्नोंके समूह भरे हुये हैं, जो भगवान हैं, तीनों लोकोंमें मनोहर हैं, अचिंत्य और अनंत विभूतिको धारण करनेवाले हैं, ॥ ५ ॥

युपा । चतुर्विधवनाभोगपरिष्कृतमिवाद्रिपं ॥ ६ ॥ प्रातिहार्याष्टकोपेतं सिद्धकल्याणपंचकं । चतुस्त्रिंशदतीशेषैरिद्धार्धि त्रिजगत्प्रभुं ॥ ७॥ प्रपश्यन्विकसन्नेत्रसहस्रः प्रीतमानसः । सौधर्मेंद्रः स्तुतिं कर्तुमथारेभे समाहितः ॥ ८ ॥ स्तोष्ये त्वां परमं ज्योतिर्गुणरत्नमहाकरं । मतिप्रकर्षहीनोपि केवलं भक्तिचोदितः ॥ ९ ॥ त्वामभिष्टुवतां भक्त्या विशिष्टाः फलसंपदः । स्वयमाविर्भवंतीति निश्चित्य त्वां जिन ! स्तुवे ॥ १० ॥ स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः । निष्ठितार्थो भवान् स्तुत्यः फलं नैश्रेयसं सुखं ॥ ११ ॥ इत्याकलय्य मनसा तुष्टूषुं मां फलार्थिनं । विभो प्रसन्नया दृष्टया त्वं पुनीहि

जो मुनि यति ऋषि और अनागार इन चार प्रकारके मुनियोंके संघसे घिरे हुये ऐसे जान पडते हैं मानों भद्रसाल, नंदन, सौमनस और पांडुक इन चारों बनोंसे घिरा हुआ मेरु पर्वत ही हो ॥ ६ ॥ जो आठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित हैं, जिनके पांच कल्याणक हुये हैं, चौंतीस आतिशयोंके द्वारा जिनकी विभूति बहुत बढी हुई है और जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं ॥ ७ ॥ ऐसे भगवान वृषभदेवको देखकर जिसके हजार नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं और मन प्रसन्न हो रहा है ऐसे सौधर्म स्वर्गके इंद्रने स्वस्थचित्त होकर भगवानकी स्तुति करना प्रारंभ किया ॥ ८ ॥ हे प्रभो ! आप परम ज्योतिस्वरूप हैं तथा गुणरूपी रत्नोंकी खानि हैं और मैं अत्यंत बुद्धिहीन हूं तथापि केवल भक्तिके वश होकर आपकी स्तुति करता हूं ॥ ९ ॥ हे जिनेंद्र ! भक्तिपूर्वक जो पुरुष आपकी स्तुति करता है उसे विशेष विशेष फलरूपी संपात्तियें अपने आप प्राप्त होती हैं यही समझकर मैं आपकी स्तुति करता हूं ॥ १० ॥ पुण्यरूप गुणोंका निरूपण करना स्तुति है, प्रसन्नचित्तवाला और भव्यजीव ऐसा मैं स्तुति करनेवाला हूं, सब पुरुषार्थोंको सिद्ध करनवोले ऐसे आपकी स्तुति की जायगी और मोक्षका सुख प्राप्त होना उसका फल है ॥ ११ ॥ हे विभो ! हे सनातन ! इसप्रकार स्तुतिकी सब सामग्री इकट्ठी हुई जानकर मनसे स्तुति करनेवाले और मोक्षरूप फलकी इच्छा करनेवाले ऐसे मुझे आप अपनी पवित्र दृष्टिसे पवित्र कीजिये ॥ १२ ॥ हे प्रभो ! यद्यपि मैं सांसारिक विषयोंसे निस्पृह हूं तथापि

सनातन ॥ १२ ॥ मां मुदाकुरुते भक्तिस्त्वद्गुणैः परिचोदिता । ततः स्तुतिपथे तेऽस्मिन् लग्नः संविग्नमानसः ॥ १३ ॥ त्वयि भक्तिः कृताल्पापि महतीं फलसंपदं । पंफुलीति विभो कल्पक्ष्माजसेवेव देहिनां ॥ १४ ॥ तवारिजयमाचष्टे वपुरस्पृष्टकैतवं । दोषावेशविकारा हि रागिणां भूषणादयः ॥१५॥ निर्भूषमपि कांतं ते वपुर्भुवनभूषणं । दीप्तं हि भूषणं नैव भूषणांतरमीक्षते ॥ १६ ॥ न मूर्ध्नि कबरीबंधो न शेखरपरिग्रहः । न किरीटादिभारस्ते तथापि रुचिरं शिरः ॥ १७ ॥ न मुखे भ्रुकुटीन्यासो न दष्टो दशनच्छदः । नास्त्रे व्यापारितो हस्तस्तथापि त्वमरीनहन् ॥ १८ ॥ त्वया नाताम्रिते नेत्रे

आपके गुणोंके द्वारा प्रेरणा की हुई भक्ति स्तुति करनेकेलिये मुझे उत्साह दिला रही है. इसलिये ही मैं आपकी इस स्तुति करनेकेलिये प्रवृत्त हुआ हूं ॥ १३ ॥ हे प्रभो ! जिसप्रकार कल्पवृक्षोंकी सेवा करनेसे जीवोंको अनेक प्रकारकी संपदायें प्राप्त होती हैं उसीप्रकार आपकी थोडीसी भक्ति करनेपर भी जीवोंको सर्वोत्कृष्ट फल रूपी संपत्तियां प्राप्त होती हैं ॥ १४ ॥ हे देव ! आभूषण आदि उपाधियोंसे रहित ऐसा आपका शरीर राग द्वेष रूपी शत्रुओंके जीतलेने को साक्षात् प्रगट कर रहा है, क्योंकि आभूषण आदि दोषोंको प्रगट करनेवाले विकार हैं ॥ १५ ॥ हे प्रभो! जगतको सुशोभित करनेवाला आपका यह शरीर आभूषण रहित होनेपर भी अतिशय मनोहर है सो ठीक ही है, क्योंकि अतिशय प्रकाशमान आभूषण किसी दूसरे आभूषणकी अपेक्षा नहीं रखता है ॥ १६ ॥ हे देव! यद्यपि आपके मस्तकपर सुंदर केश नहीं हैं, न फूलमाल है और न मुकुटका भार है तथापि आपका मस्तक बहुत ही सुंदर जान पडता है ॥ १७ ॥ आपके मुखपर न तो भौंह टेडी हुई है, न आपने अपने मुखसे ओठोंको ही दवाया है और न अपने हाथसे कोई शस्त्र पकडा है तथापि आपने अपने घातिया कर्म रूपी शत्रु सब नष्ट कर दिये हैं ॥ १८ ॥ हे देव! मोहरूपी शत्रुके जीतनेमें नील कमलके दलके समान आपके बडे बडे नेत्र किंचित् भी लाल लाल नहीं हुये, इससे यह सिद्ध होता है कि आपकी शक्ति बडी ही विचित्र है ॥ १९ ॥ हे जिनेंद्र ! आपके दोनों नेत्रोंमें कटाक्षकी दृष्टि

नीलोत्पलदलायते । मोहारिविजये देव ! प्रभुशक्तिस्तवाद्भुता ॥ १९ ॥ अनपांगावलोकं ते जिनेंद्र नयनद्वयं । मदनारिजयं वक्ति व्यक्तं नः सौम्यवीक्षितं ॥ २० ॥ त्वद्दृशोरमला दीप्तिरास्पृशंती शिरःसु नः । पुनाति पुण्यधारेव जगतामेकपावनी ॥ २१ ॥ तवेदमाननं धत्ते प्रफुल्लकमलश्रियं । स्वकांतिज्योत्स्नया विश्वमाक्रामच्छरदिंदुवत् ॥ २२ ॥ अनाट्टहासहुंकारमदष्टोष्ठपुटं मुखं । जिनाख्याति सुमेधोभ्यस्तावकीं वीतरागतां ॥ २३ ॥ त्वन्मुखाद्भुता दीप्तिः पावनीव सरस्वती । विधुन्वती तमो भाति जितबालातपद्युतिः ॥ २४ ॥ त्वन्मुखांबुरुहालग्ना सुराणां नयनावली । भातीयमलिमालेव तदामोदानुपातिनी ॥ २५ ॥ मकरंदमिवापीय त्वद्वक्त्राब्जोद्गतं वचः । अनासितभवं भव्यभ्रमरा यांत्यमी मुदं ॥ २६ ॥ एकतोभिमुखोऽपि त्वं लक्ष्यसे

नहीं है, इसलिये आपकी सौम्यदृष्टि हम लोगोंको कामदेव रूपी शत्रुके जीतलेनेको स्पष्ट रीतिसे बतला रही है ॥ २० ॥ हे स्वामिन् ! हम लोगोंके मस्तकको स्पर्श करती हुई और जगतको अति पवित्र करनेवाली ऐसी आपके नेत्रोंकी निर्मल कांति पुण्यधाराके समान हम लोगोंको पवित्र करती है ॥ २१ ॥ हे नाथ शरदऋतुके चंद्रमाके समान अपनी कांतिरूपी चांदनीसे समस्त जगतमें व्याप्त होता हुआ आपका यह मुख प्रफुल्लित हुये कमलकी शोभाको धारण करता है ॥ २२ ॥ हे जिनदेव ! आपके मुखपर न तो अट्टहास अर्थात् जोरका हँसना ही है न हुंकार है और न वह ओठोंको दबाये है इसलिये बुद्धिमान लोगोंको वह आपकी वीतरागताको स्पष्ट रीतिसे प्रगट कर रहा है ॥ २३ ॥ हे देव ! जिस प्रकार प्रातःकालमें सूर्यकी कांति अंधकारको नष्ट करती हुई सुशोभित होती है उसीप्रकार प्रातःकालके उदय होते हुये सूर्यकी कांतिको जीतती हुई आपके मुखसे निकली हुई पवित्र सरस्वती अज्ञानरूपी अंधकारको नष्ट करती हुई सुशोभित हो रही है ॥ २४ ॥ हे विभो ! आपके मुखरूपी कमलपर लगी हुई देवोंके नेत्रोंकी पंक्तियां ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही हैं मानों उस मुखरूपी कमलकी सुगंधिके लोभसे प्राप्त हुई भ्रमरोंकी पंक्ति ही हो ॥ २५ ॥ हे स्वामिन् जिनसे कभी तृप्ति न हो ऐसे आपके मुखरूपी कमलसे निकले हुये बचनरूपी परागरसको पी-

विश्वतोमुखः । तपोगुणस्य माहात्म्यमिदं नूनं तवाद्भुतं ॥ २७ ॥ विश्वदिक्कं विसर्पंति तावका वागभीषवः । तिरश्चामपि हृद्ध्वांतमुद्भुन्वंतो जिनांशुमत् ॥ २८ ॥ तव वागमृतं पीत्वा वयमद्यामराः स्फुटं । पीयूषमिदमिष्टं नो देव सर्वरुजाहरं ॥ २९ ॥ जिनेंद्र तव वक्त्राब्जं प्रक्षरद्वचनामृतं । भव्यानां प्राणनं भाति धर्मस्येव निधानकं ॥ ३० ॥ मुखेंदुमंडलादेव तव वाक्किरणा इमे । विनिर्यांतो हतध्वांताः सभामाह्लादयंत्यलं ॥ ३१ ॥ चित्रं वाचां विचित्राणामक्रमप्रभवः प्रभोः । अथवा तीर्थकृत्त्वस्य देव ! वैभवमीदृशं ॥ ३२ ॥ अस्वेदमलमाभाति सुगंधि शुभलक्षणं । सुसंस्थानमरक्तासृग्वपुर्वज्रास्थिरं त-

---

कर ये भव्यजीवरूपी भ्रमर बडे ही प्रसन्न होते हैं ॥ २६ ॥ हे भगवान यद्यपि आप एक ओर मुंह किये हुये विराजमान हैं तथापि आपका मुख चारोंओरसे दिखता है, हे देव यह आपके तपश्चरणरूपी गुणका माहात्म्य अवश्य ही आश्चर्य करनेवाला है ॥ २७ ॥ हे जिनेंद्ररूपी सूर्य ! तिर्यंच जीवोंकेभी हृदयके अंधकारको नष्ट करती हुई आपकी बचनरूपी किरणें सब दिशाओंकी ओर फैल रही हैं ॥ २८ ॥ हे देव ! आपके बचनरूपी अमृतको पीकर हम लोग आज वास्तवमें ' अमर ' हो गये हैं, इसलिये समस्त रोगोंकों दूर करनेवाला यह आपका बचनरूपी अमृत हम लोगोंको बहुत ही प्रिय है ॥२९॥ हे जिनेंद्र ! जिससे बचनरूपी अमृत खिर रहा है और जो भव्य जीवोंका जीवन है ऐसा आपका मुख रूपी कमल धर्मके खजानेके समान बहुत ही सुशोभित हो रहा हें ॥३०॥ हे देव ! आपके मुखरूपी चंद्रमंडलसे निकलती हुई बचनरूपी किरणें अज्ञानरूपी अंधकारको नष्ट करती हुई सभाको बहुत ही आनंदित कर रही हैं ॥ ३१ ॥ हे देव ! यह भी एक आश्चर्यकी बात है कि आपसे अनेक प्रकारकी जुदी २ अनेक भाषाओंकी उत्पत्ति एक साथ होती है, अथवा आपके तीर्थंकरपनेका माहात्म्य ही ऐसा है ॥ ३२ ॥ हे विभो ! जिसमें पसीना आदि मल नहीं है, जो अत्यंत सुगंधित है, शुभलक्षणोंसे सुशोभित है, समचतुरस्रसंस्थान है, जिसमें लाल रक्त नहीं और जो वज्रके समान स्थिर है ऐसा आपका यह शरीर बहुत ही सुशोभित हो रहा है ॥ ३३ ॥ हे स्वामिन् ! आपकी

व ॥ ३३ ॥ सौरूप्यं नयनाह्लादि सौभाग्यं चित्तरंजनं । सुवाक्त्वं जगदानंदि तवासाधारणा गुणाः ॥ ३४ ॥ अमेयमपि ते वीर्यं मितं देहे प्रमान्विते । स्वल्पेऽपि दर्पणे बिंबं माति स्तांबेरमं ननु ॥३५॥ त्वदास्थानस्थितोद्देशं परितः शतयोजनं । सुलभाशनपानादि त्वन्महिम्नोपजायते ॥३६॥ गगनानुगतं यानं तवासीद्भुवमस्पृशत् । देवाऽसुरभरं सोढुमक्षमा धरणीति नु ॥३७॥ क्रूरैरपि मृगैर्हिस्रै र्हन्यंते जातु नांगिनः । सद्धर्मदेशनोद्युक्ते त्वयि सज्जीवनौषधौ ॥ ३८ ॥ न भुक्तिः क्षीणमोहस्य तवात्यंतसुखोदयात् । क्षुत्क्लेशबाधितो जंतुः कवलाहारभुग्भवेत् ॥ ३९ ॥ असद्वेद्योदयाद्भुक्तिं त्वयि यो योजयेदधीः ।

सुंदरता नेत्रोंको प्रसन्न करनेवाली है, सौभाग्य चित्तको संतुष्ट करनेवाला है और मीठी वाणी जगतको आनंदित करनेवाली है, हे देव ! ये आपके असाधारण गुण हैं आपके सिवाय अन्य किसीमें नहीं रहते हैं ॥ ३४ ॥ हे प्रभो ! यद्यपि आपका वीर्य [सामर्थ्य] अनंत है तथापि वह प्रमाणसहित ऐसे इस आपके शरीरमें ही समाया हुआ है सो ठीक ही है क्योंकि छोटेसे भी दर्पणमें हाथीका भी प्रतिबिंब समा ही जाता है ॥ ३५ ॥ हे भगवन् ! जहां आपका समवसरण विराजमान रहता है उस स्थानके चारोंओर सौ सौ योजनतक आपके माहात्म्यसे अन्नपान सब सुलभ रहता है अर्थात् सब दिशाओंमें सौ सौ योजनतक सुभिक्ष रहता है ॥ ३६ ॥ हे देव ! कल्पवासी, भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिष्क इन सबका भार यह पृथ्वी सह नहीं सकती इसलिये ही मानों आपका यह समवसरणरूपी विमान पृथ्वीको स्पर्श नहीं करता हुआ सदा आकाशमें ही रहता है ॥ ३७ ॥ हे नाथ ! अमृतसंजीवनी औषधके समान आप सद्धर्मका उपदेश देनेकेलिये तैयार हुये हैं यह देखकर सिंह आदि क्रूर हिंसक जीव भी दूसरे प्राणियोंकी हिंसा कभी नहीं करते हैं ॥ ३८ ॥ हे भगवन् ! आपके मोहनीय कर्म नष्ट हो जानेसे अत्यंत सुखकी उत्पत्ति हुई है इसलिये आपके आहार भी नहीं है, सो ठीक ही है क्योंकि जो जीव क्षुधाके क्लेशसे दुखी रहते हैं वे ही कवलाहार भोजन करते हैं ॥३९॥ हे जिनराज ! जो मूर्ख आपके भी असाता वेदनीय कर्मके उदयसे कवलाहारकी कल्पना करते हैं

मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्यं जरद्घृतं ॥ ४० ॥ असद्वेद्यविषं घातिविध्वंसध्वस्तशक्तिकं । त्वय्यकिंचित्करं मंत्रशक्त्येवापबलं विषं ॥ ४१ ॥ असद्वेद्योदयो घातिसहकारिण्यपायतः । त्वय्यकिंचित्करो नाथ सामग्र्या हि फलोदयः ॥ ४२ ॥ नेतयो नोपसर्गाश्च प्रभवंति त्वयीशितः । जगतां पालके हेलाक्षालितांहःकलंकके ॥ ४३ ॥ त्वय्यनंतसुखोत्सर्पत्केवलामललोचने । चातुरास्यमिदं युक्तं नष्टे घातिचतुष्टये ॥ ४४ ॥ सर्वविद्येश्वरो योगी चतुरास्यस्त्वम-

---

उनकी मोहरूपी अग्नि शांत करनेकेलिये पुराना घी अवश्य ढूंढना चाहिये ॥ ४० ॥ हे देव ! जिसप्रकार मंत्रकी शक्तिसे जिसका बल नष्ट होगया है ऐसा विष कुछ नहीं कर सकता उसीप्रकार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे जिसकी शक्ति नष्ट होगई है ऐसा असाता वेदनीय कर्मरूपी विष आपके लिये कुछ नहीं कर सकता है ॥ ४१ ॥ हे नाथ ! असातावेदनीयका उदय घातिया कर्मोंकी सहायतासे ही दुख देता है, आपके घातिया कर्म नष्ट होगये हैं इसलिये असाता वेदनीयका उदय भी आपकेलिये कुछ नहीं कर सकता है, क्योंकि सब सामिग्री इकट्ठी होनेसे ही फलका उदय होता है ॥ ४२ ॥ हे ईश । आप जगतको पालन करनेवाले हैं, आपने लीलामात्रसे ही समस्त पापरूपी कलंक नष्ट करदिये हैं इसलिये आपको न तो कोई ईति भीतिका डर है और न कोई उपसर्ग ही होते हैं ॥ ४३ ॥ हे स्वामिन् ! आपके अनंत सुख है आपका केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्र चारोंओर फैल रहा है, आपके चारों घातिया कर्म नष्ट हो गये हैं तथापि आपको चातुराश्य अर्थात् चारप्रकारका आहार करना क्या योग्य है ? यह विरुद्ध वात है इसका परिहार इसप्रकार होता है कि आपके चारों घातिया कर्म नष्ट होगये हैं इसलिये चातुरास्य अर्थात् चारों दिशाओंकी ओर मुंह दिखना यह आपकेलिये योग्य ही है ॥ ४४ ॥ हे अधीश्वर ! आप समस्त विद्याओंके स्वामी हैं, योगी हैं, आपका एक मुख चारोंओर दिखाई देता है, आपका कभी नाश नहीं होता, आपकी आत्मरूप ज्योति अर्थात् केवलज्ञान चारोंओर फैला हुआ है इसलिये हे देव ! आप बहुत ही सुशोभित हो रहे हैं ॥४५॥

क्षरः । सर्वतोऽक्षिमयंज्योतिस्तवाऽतो भास्यधीशितः ॥ ४५ ॥ अच्छायत्वमनुन्मेषनिमेषत्वं च ते वपुः । धत्ते तेजोमयंदिव्यं परमौदरिकाह्वयं ॥ ४६ ॥ बिभ्राणोऽप्यध्यधिछत्रमच्छायांगस्त्वमीक्षसे । महतां चेष्टितं चित्रमथवौजस्तवेदृशं ॥ ४७ ॥ निमेषापायधीराक्षं तव वक्त्राब्जमीक्षितं । त्वय्येव नयनस्पंदो नूनं देवैश्च संहृतः ॥ ४८ ॥ नखकेशमितावस्था तवाऽविःकुरुते विभोः । रसादिविलयं देहे विशुद्धस्फटिकामले ॥ ४९ ॥ इत्युदारैर्गुणैरेभिस्त्वमनन्यत्रभाविभिः । स्वयमेत्य वृतो नूनमदृष्टशरणांतरैः ॥ ५० ॥ अप्यमी रूपसौंदर्यकांतिदीप्त्यादयो गुणाः । स्पृहणीयाः सुरेंद्राणां तव हेयाः किलाद्भुतं ॥५१॥

हे देव । अत्यंत प्रकाशमान् और दिव्यस्वरूप ऐसे आपके परमौदारिक शरीरकी न तो छाया ही पडती है और न आखोंकी टिमिकार ही लगती है ॥ ४६ ॥ हे भगवन् ! यद्यपि आप तीन छत्रोंसे सुशोभित हो रहे हैं तथापि आप छाया रहित ही दिखाई देते हैं, सो ठीक ही है, क्योंकि बडे आदमियोंकी चेष्टायें आश्चर्य करनेवालीं होती ही हैं, अथवा यह कहना चाहिये कि आपका तेज ही ऐसा है ॥ ४७ ॥ हे देव ! टिमिकार न लगनेसे जिसके नेत्र विलकुल निश्चल हैं ऐसे आपके मुखरूपी कमलको देखनेकेलिये देवोंने अपने नेत्रोंका प्रवाह आपमें ही रोक रक्खा है । भावार्थ— सब देव केवल आपकी ओर ही देख रहे हैं ॥ ४८ ॥ हे विभो ! आपके जो नख केश नहीं वढते हैं सदा एकसे परिमित रहते हैं वे विशुद्ध स्फटिकके समान आपके निर्मल शरीरमें रुधिर मांस आदि धातु उपधातुरूप रसोंके नष्ट होनेको प्रगट करते हैं ॥ ४९ ॥ हे स्वामिन् इसप्रकार ऊपर कहे हुये तथा जो दूसरी जगह कहीं नहीं पाये जायं ऐसे आपके इन उदार गुणोंने अपने रहने योग्य अन्य कोई जगह न मिलनेसे आपके पास स्वयं आकर आपको स्वीकार किया है ॥ ५० ॥ हे देव ! यह भी एक बडे आश्चर्यकी बात है कि जिनकी प्राप्तिकेलिये इंद्र भी सदा इच्छा करता रहता है ऐसे रूप, सुंदरता, कांति, दीप्ति आदि इत्तम २ गुण भी आपकेलिये त्याज्य हैं, अर्थात् इनमें भी आपका अनुराग नहीं है ॥ ५१ ॥ हे भगवन् ! अन्य सब गुणोंको छोडकर केवल आपकी उपासना करनेवाले

गुणिनस्त्वामुपासीना निर्धूतगुणबंधनाः । त्वया सारूप्यमायांति स्वामिच्छंदं तु शिक्षितुः ॥ ५२ ॥ अयं मंदानिलोद्धूतचलच्छाखाकरोत्करैः । श्रीमानशोकवृक्षस्ते नृत्यतीवात्तसंमदः ॥ ५३ ॥ चलत्क्षीरोदवीचीभिःस्पर्धां कर्तुमिवाभितः । चामरौघाः पतंति त्वां मरुद्भिर्लीलयाधृताः ॥५४॥ मुक्तालंबनविभ्राजि भ्राजते विधुनिर्मलं । छत्रत्रयं तवोन्मुक्तप्ररोहमिव खांगणे ॥५५॥ सिंहैरूढं विभातीदं तव विष्टरमुच्चकैः । रत्नांशुभिर्भवत्स्पर्शान्मुक्तहर्षांकुरै रिव ॥५६॥ ध्वनंति मधुरध्वानाः सुरदुंदुभिकोटयः । घोषयंत्य इवापूर्य रोदसी त्वज्जयोत्सवं ॥ ५७ ॥ तव दिव्यध्वनिं धीरमनुकर्तुमिवोद्यताः । ध्वनंति सुरतूर्याणां को-

---

अर्थात् केवल आपकी उपासनारूप एक गुणको धारण करनेवाले गुणी पुरुष आप ही सरीखे हो जाते हैं सो ठीक ही है स्वामीके अनुसार चलना ही शिष्य लोगोंका कर्तव्य है ॥ ५२ ॥ हे स्वामिन् ! मंद मंद वायुके चललेसे जिसकी शाखारूपी हाथोंके समूह हिल रहे हैं ऐसा यह अत्यंत सुशोभित आपका अशोकवृक्ष ऐसा जान पडता है मानों आनंदित होकर नृत्य ही कर रहा हो ॥ ५३ ॥ हे पूज्य ! देवोंके द्वारा लीला पूर्वक धारण किये हुये चमरोंके समूह जो आपपर ढुराये जा रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों वे चारोंओरसे क्षीरसागरकी चंचल लहरोंके साथ स्पर्द्धा ही कर रहे हों ॥५४॥ हे प्रभो ! चंद्रमाके समान निर्मल और मोतियोंकी जालियोंसे सुशोभित ऐसे आपके तीन छत्र आकाशमें लटकते हुये ऐसे अच्छे जान पडते हैं मानों उनसे छोटे छोटे अंकूरे ही उत्पन्न हुये हों ॥५५॥ हे विभो ! सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ यह आपका ऊंचा सिंहासन रत्नोंकी किरणोंसे ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा है मानों आपका स्पर्श होनेसे इसमेंसे हर्षके अंकूरे ही निकले हों ॥ ५६ ॥ मधुर शब्द करते हुये जो देवोंके द्वारा बजाये हुये करोडों दुंदुभि बज रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों आकाश पातालमें व्याप्त होकर आपके जयोत्सवकी घोषणा ही कर रहे हों ॥ ५७ ॥ हे देव ! जो साडे बारह करोड देवोंके दुंदुभि बज रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों आपकी गंभीर दिव्यध्वनिका अनुकरण करनेकेलिये ही तैयार हुये हों ॥ ५८ ॥ देव लोग जो आकाशसे यह पुष्पोंकी वर्षा कर

द्योऽर्द्धत्रयोदश ॥ ५८ ॥ सुरैरियं नभोरंगात्पौष्पी वृष्टिर्वितन्यते । तुष्टया स्वर्गलक्ष्म्येव चोदितैः कल्पशाखिभिः ॥ ५९ ॥ तव देहप्रभोत्सर्पसमाक्रामन्नभोऽभितः । शश्वत्प्रभातमास्थानीजनानां जनयत्यदः ॥ ६० ॥ नखांशवस्तवाताम्राः प्रसरंति दिशास्त्वमी । त्वदंघ्रिकल्पवृक्षाग्रात्प्ररोहा इव निःसृताः ॥६१॥ शिरःसु नः स्पृशंत्येते प्रसादस्येव तेंऽशकाः । त्वत्पादनखशीतांशुकराः प्रह्लादिताखिलाः ॥ ६२ ॥ त्वत्पादांबुरुहच्छायासरसमिवगाहते । दिव्यश्रीकलहंसीयं नखरोचिमृणालिकां ॥ ६३ ॥ मोहारिमर्दनालग्नशोणितार्द्रच्छटामिव । तलछायामिदं धत्ते त्वत्पादांबुरुहद्वयं ॥ ६४ ॥ त्वत्पादनखभानीरसरसि प्रति-

---

रहे हैं वह ऐसी जान पडती है मानों संतुष्ट हुई स्वर्गलक्ष्मीके द्वारा प्रेरणा किये हुये कल्पवृक्ष ही उसे वरसा रहे हों ॥ ५९ ॥ हे भगवन् ! आकाशमें चारोंओर व्याप्त होता हुआ आपके शरीरका यह प्रभामंडल समवसरणमें बैठे हुये सभासद लोगोंको सदा प्रभातकालकी शोभा दिखलाता है ॥ ६० ॥ हे प्रभो ! आपके नखोंकी ये कुछ कुछ लाल किरणें सब दिशाओंमें ऐसी फैल रही हैं मानों आपके चरणरूपी कल्पवृक्षोंके अग्रभागसे अंकूरे ही निकल रहे हों ॥ ६१ ॥ समस्त जगतको आनंदित करनेवाले आपके चरणोंके नखरूपी चंद्रमाके किरण हमलोगोंके शिरको स्पर्श करते हुये ऐसे अच्छे जान पडते हैं मानों आपके प्रसादके कुछ अंश ही हों ॥ ६२ ॥ हे नाथ ! यह दिव्य लक्ष्मी रूपी मनोहर हंसिनी आपके नखोंकी कांति रूपी कमलनालसे सुशोभित ऐसी आपके चरणकमलोंकी छाया रूप सरोवरीमें अवगाहन करती है । भावार्थ—आपके चरणकमलोंकी छाया नखोंकी कांतिसे बडी ही मनोहर जान पडती है ॥ ६३ ॥ हे देव ! आपके दोनों चरणकमलोंके तलवोंकी (पैरके नीचेके भागकी) ललाई ऐसी अच्छी शोभा धारण करती है मानों जिससमय आपने मोहरूपी शत्रुको नाश किया था उससमय कुछ गीला रक्त ही आपके तलवोंमें लगगया हो और उसीकी यह अपूर्व शोभा हो ॥ ६४ ॥ हे जिनेंद्र ! आपके चरणोंके नखोंकी कांतिरूप पानीके सरोवरमें प्रतिबिंबित हुई देवांगनाओंके मुखोंकी शोभा ऐसी अच्छी जान पडती है मानों उस सरोवरमें कमल ही

बिंबिताः । सुरांगनाननच्छायास्तन्वते पंकजश्रियं ॥६५॥ स्वयंभुवे नमस्तुभ्यमुत्पाद्यात्मानमात्मनि । स्वात्मनैव तथोद्भूतवृत्तयेऽचिंत्यवृत्तये ॥६६॥ नमस्ते जगतां पत्ये लक्ष्मीभर्त्रे नमोस्तु ते । विदांवर नमस्तुभ्यं नमस्ते वदतांवर ॥६७॥ कामशत्रुहणं देवमामनन्ति मनीषिणः । त्वामानुमः सुरेण्मौलिभामालाभ्यर्चितक्रमं ॥ ६८ ॥ ध्यानद्रुघणनिर्भिन्नघनघातिमहातरुः । अनंतभवसंतानजयादासीदनंताजित् ॥ ६९ ॥ त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुर्दर्प्यमतिदुर्जयं । मृत्युराजं विजित्यासीज्जिन ! मृत्युंजयो भवान् ॥ ७० ॥ विधुताशेषसंसारबंधनो भव्यबांधवः । त्रिपुरारिस्त्वमेवासि जन्ममृत्युजरांतकृत् ॥ ७१ ॥ त्रिका-

---

फूले हों ॥ ६५ ॥ हे भगवन् ! आपने अपने आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माको प्रगट किया है इसलिये आप स्वयंभू अर्थात् अपने आप उत्पन्न हुये कहलाते हैं, इसके सिवाय आपके आत्मवृत्ति अर्थात् आत्मामें ही तल्लीन होनेरूप चारित्रकी प्राप्ति हुई है तथा अचिंत्य माहात्म्यकी प्राप्ति हुई है इसलिये आपको मेरा नमस्कार हो ॥ ६६ ॥ आप जगतके स्वामी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीके अधीश्वर हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप विद्वानोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, और आप वक्ताओंमें भी श्रेष्ठ हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ६७ ॥ हे देव ! बुद्धिमान लोग आपको कामदेवरूपी शत्रुको नाश करनेवाला मानते हैं, और इंद्र लोग भी अपने मुकुटकी कांतिके समुदायसे आपके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं इसलिये मैं भी आपकी स्तुति करता हूं ॥ ६८ ॥ आपने अपने ध्यानरूपी कुठारसे बहुत मजबूत ऐसा घातिया कर्म रूपी बडा वृक्ष काट डाला है तथा अनंत जन्ममरण रूप संसारकी संतान परंपराको जीतलिया है इसलिये ही आप अनंतजित् कहलाते हैं ॥ ६९ ॥ हे जिन ! तीनों लोकोंको जीतलेनेसे जिसे अत्यंत अभिमान उत्पन्न हुआ है तथा जो किसीसे भी नहीं जीता जाता है ऐसे मृत्युराजको भी आपने जीतलिया है इसलिये ही आप मृत्युंजय कहलाते हैं ॥ ७० ॥ आपने संसाररूपी समस्त बंधन नष्ट कर दिये हैं, भव्य जीवोंके आप बंधु हैं, और आप ही जन्म मरण तथा बु-

लविषयाशेषतत्त्वभेदात्रिधोत्थितं । केवलाख्यं दधच्चक्षुस्त्रिनेत्रोसि त्वमीशितः ॥ ७२ ॥ त्वामंधकांतकं प्राहुर्मोहांधासुरमर्दनात् । अर्द्धं ते नारयो यस्मादर्द्ध-नारीश्वरोस्यतः ॥ ७३ ॥ शिवः शिवपदाध्यासाद् दुरितारिहरो हरः । शंकरः कृतशं लोके शंभवस्त्वं भवन्मुखे ॥ ७४ ॥ वृषभोसि जगच्छ्रेष्ठः पुरुः पुरुगुणोदयैः । नाभेयो नाभिसंभूतेरिक्ष्वाकुकुलनंदनः ॥ ७५ ॥ त्वमेकः पुरुषस्कंधस्त्वं द्वे लोकस्य लोचने । त्वं त्रिधाबुद्धसन्मार्गस्त्रिज्ञस्त्रिज्ञानधारकः

ढापा इन तीनोंको नाश करनेवाले हैं इसलिये आप ही त्रिपुरारि कहे जाते हैं ॥ ७१ ॥ हे अधीश्वर ! भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंके समस्त तत्त्वोंको जाननेसे जिसके तीन भेद होते हैं अर्थात् भूतकालके पदार्थोंको जाननेवाला भविष्यतकालके पदार्थोंको जाननेवाला और वर्तमानकालके पदार्थोंको जाननेवाला इसप्रकार जिसके तीन भेद होते हैं ऐसे केवलज्ञानरूप नेत्रको आप धारण करते हैं इसलिये आप ही त्रिनेत्र कहलाते हैं ॥ ७२ ॥ आपने मोहरूपी अंधासुरका नाश किया है, इसलिये आप अंधकांतक कहलाते हैं, आठ कर्मरूपी शत्रुओंमेंसे आपके आधे शत्रु अर्थात् चार घातिया कर्म नहीं हैं इसलिये आप अर्धनारीश्वर (अर्ध-न-अरि-ईश्वर) कहलाते हैं ॥ ७३ ॥ आप शिवपद अर्थात् मोक्षस्थानमें निवास करते हैं इसलिये शिव कहे जाते हैं, पापरूपी शत्रुओंको नाश करनेवाले हैं इसलिये हर कहलाते हैं, जगतमें आनंद करनेवाले हैं इसलिये शंकर कहलाते हैं और सुखसे उत्पन्न हुये हैं इसलिये शंभव कहे जाते हैं ॥ ७४ ॥ जगतमें श्रेष्ठ होनेसे वृषभ कहलाते हैं आपमें बहुतसे गुण प्रसिद्ध होनेसे पुरु कहे जाते हैं, महाराज नाभिरायसे आप उत्पन्न हुये हैं इसलिये नाभेय कहलाते हैं और इक्ष्वाकु कुलमें उत्पन्न हुये हैं इसलिये इक्ष्वाकुकुलनंदन कहे जाते हैं ॥ ७५ ॥ सब पुरुषोंमे श्रेष्ठ आप एक ही हैं, लोगोंके नेत्र होनेसे आप दो रूप धारण करते हैं तथा आपने मोक्षका मार्ग तीनरूपसे जाना है अथवा भूत भविष्यत वर्तमान तीनों ज्ञानोंको धारण करनेवाले हैं इसलिये त्रिज्ञ अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको धारण करनेवाले वा

॥ ७६ ॥ चतुश्शरणमांगल्यमूर्तिस्त्वं चतुरस्रधीः । पंचब्रह्ममयो देव पावनस्त्वं पुनीहि मां ॥ ७७ ॥ स्वर्गावतरणे तुभ्यं सद्योजातात्मने नमः । जन्माभिषेकवामाय वामदेव नमोस्तु ते ॥ ७८ ॥ सुनिष्क्रांतावघोराय पदं परममीयुषे । केवलज्ञानसांसिद्धावीशानाय नमोस्तु ते ॥ ७९ ॥ पुरस्तत्पुरुषत्वेन विमुक्तिपदभागिने । नमस्तात्पुरुषावस्थां भाविनीं तेऽद्य बिभ्रते ॥ ८० ॥ ज्ञानावरणनिर्ह्रासान्नमस्तेनंतचक्षुषे । दर्शनावरणोच्छेदान्नमस्ते विश्वदृश्वने ॥८१॥ नमो दर्शनमोहघ्ने क्षायिकामलदृष्टये । नमश्चारित्रमोहघ्ने विरागाय महौजसे ॥ ८२ ॥ नमस्तेनंतवीर्याय नमोनंतसुखात्मने । नमस्तेनंतलोकाय लोकालो-

---

तीनोंकालके समस्त पदार्थोंको जाननेवाले कहलाते हैं ॥ ७६ ॥ अरहंत सिद्ध साधु और केवलीप्रणीत धर्म ये चार शरण तथा मंगलरूप हैं आप इन चारोंरूप हैं इसके सिवाय आप चतुरस्रधी अर्थात् चारोंओरके समस्त पदार्थोंको जाननेवाले कहलाते हैं। हे देव ! आप ही पंच परमेष्ठीस्वरूप, हैं अतिशय पवित्र हैं इसलिये मुझे भी पवित्र कीजिये ॥ ७७ ॥ हे भगवन् ! आप स्वर्गवतारके समय ही सद्योजात (अर्थात् उसीसमय उत्पन्न होनेवाले) कहलाये थे इसलिये आपको नमस्कार हो। आप जन्माभिषेकके समय बहुत ही सुंदर दिखाई पडते थे इसलिये हे वामदेव आपको नमस्कार हो ॥ ७८ ॥ दीक्षाकल्याणके समय आपने परम शांतता धारण की थी तथा केवल ज्ञानके समय आप परम पदको प्राप्त हुये और ईश्वर कहलाये इसलिये आपको बार २ नमस्कार हो ॥ ७९ ॥ अब आगे शुद्ध आत्मस्वरूपके द्वारा मोक्षस्थानको प्राप्त होंगे इसलिये आगामी कालमें सिद्ध अवस्थाको धारण करनेवाले आपकेलिये आज ही मेरा नमस्कार हो ॥ ८० ॥ ज्ञानावरण कर्मके नाश होनेसे आप अनंतज्ञानी कहलाते हैं तथा दर्शनावरण कर्मके नाश होनेसे आप विश्वदृश्वा अर्थात् समस्त जगतको देखनेवाले कहलाते हैं इसलिये हे देव ! आपकेलिये नमस्कार हो ॥ ८१॥ आप दर्शनमोहनीयके नाश करनेवाले तथा निर्मल क्षायिकसम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले हैं, इसीप्रकार चारित्र मोहनीयकर्मको नाश करनेवाले हैं, वीतराग और अतिशय तेजस्वी हैं इसलिये आ-

काबलोकिने ॥ ८३ ॥ नमस्तेनंतदानाय नमस्तेनंतलब्धये । नमस्तेनंतभोगाय नमोनंतोपभोगिने ॥ ८४ ॥ नमः परमयोगाय नमस्तुभ्यमयोनये । नमः परमपूताय नमस्ते परमर्षये ॥८५॥ नमः परमविद्याय नमः परमतच्छिदे । नमः परमतत्त्वाय नमस्ते परमात्मने ॥८६॥ नमः परमरूपाय नमः परमतेजसे । नमः परममार्गाय नमस्ते परमेष्ठिने ॥ ८७ ॥ परमं भेजुषे धाम परमज्योतिषे नमः । नमः पारेतमःप्राप्तधाम्ने परतरात्मने ॥ ८८ ॥ नमः क्षीणकलंकाय

पकेलिये नमस्कार हो ॥ ८२ ॥ अनंत वीर्यको धारण करनेवाले आपकेलिये नमस्कार हो, अनंतसुखको धारण करनेवाले आपकेलिये नमस्कार हो तथा लोक अलोकको देखनेवाले और अनंत प्रकाशरूप आपकेलिये नमस्कार हो ॥ ८३ ॥ दानांतराय कर्मके नाश होनेसे आपको अनंत दानकी प्राप्ति हुई है इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अनंत लब्धियोंको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अनंतभोगको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, तथा आप अनंत उपभोगको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ८४ ॥ आप परमध्यानी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप चौरासी लाख योनियोंसे रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप परम पवित्र हैं इसलिये आपको नमस्कार हो और आप परम ऋषि वा सर्वोत्कृष्ट मुनि हैं इसलिये आपको नसस्कार हो ॥ ८५ ॥ आप परमविद्या अर्थात् केवलज्ञानको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अन्य सब मतोंका नाश करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो आप परमतत्त्वस्वरूप हैं अर्थात् रत्नत्रयरूप हैं इसलिये आपको नमस्कार हो तथा आप सर्वोत्कृष्ट परमात्मा हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ८६ ॥ आप बहुत सुंदर रूपको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप परम तेजस्वी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप रत्नत्रयरूप होनेसे साक्षात् मोक्षमार्गस्वरूप हैं इसलिये आपको नमस्कार हो और आप परमस्थानमें रहनेवाले परमेष्ठी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ८७ ॥ आप मोक्षस्थानको सेवन करनेवाले हैं तथा परम

क्षीणबंध नमोस्तु ते । नमस्ते क्षीणमोहाय क्षीणदोषास्तु ते नमः ॥ ८९ ॥ नमः सुगतये तुभ्यं शोभनां गतिमीयुषे । नमस्तेतींद्रियज्ञानसुखायानिंद्रियात्मने ॥९०॥ कायबंधननिर्मोक्षादकायाय नमोस्तु ते । नमस्तुभ्यमयोगाय योगिनामधियोगिने ॥९१॥ अवेदाय नमस्तुभ्यमकषायाय ते नमः । नमः परमयोगींद्रवंदितांघ्रिद्वयाय ते ॥९२॥ नमः परमविज्ञान नमः परमसंयम । नमः परमदृग्दृष्टपरमार्थाय तायिने ॥९३॥ नमस्तुभ्यमलेश्याय शुद्धलेश्यांशकस्पृशे ।

ज्योतिस्वरूप हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अज्ञानरूपी अंधकारके पारंगत अर्थात् सर्वज्ञ हैं और इसलिये ही प्रकाशरूप हैं तथा सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ८८ ॥ आप कर्मरूपी कलंकसे रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप कर्मोंके बंधनसे रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आपका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है इसलिये आपको नमस्कार हो और आप सब दोषोंसे रहित हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ८९ ॥ आप मोक्षरूपी शुभगतिको प्राप्त होनेवाले सुगति हैं इसलिये आपको नमस्कार हो आप अतींद्रिय (जो इंद्रियोंसे न जाना जाय) ज्ञान सुखको धारण करनेवाले हैं तथा स्वयं इंद्रियोंके अगोचर अतींद्रिय हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ९० ॥ आप शरीरका बंधन नामके नामकर्मको नष्ट करनेसे शरीर रहित कहलाते हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप मनवचनकायके योगोंसे रहित हैं और योगियोंमें भी सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ९१ ॥ आप स्त्रीपुंनपुंसक तीनों वेदोंसे रहित हैं इसलिये आपको मनस्कार हो, आप कषायरहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो और परम योगिराज भी आपके दोनों चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ९२ ॥ हे परमविज्ञान ! अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानको धारण करनेवाले ! आपकेलिये नमस्कार हो परमसंयम अर्थात् उत्कृष्ट चारित्रको धारण करनेवाले! आपकेलिये नमस्कार हो। हे देव ! आप परमदृष्टिसे परमार्थको देखनेवाले हैं तथा जगतकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥९३॥ आप लेश्याओंसे

नमो भव्येतरावस्थाव्यतीताय विमोक्षिणे ॥९४॥ संज्ञासंज्ञिद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने । नमस्ते वीतसंज्ञाय नमः क्षायिकदृष्टये ॥९५॥ अनाहाराय तृप्ताय नमः परमभाजुषे । व्यतीताशेषदोषाय भवाब्धेः पारमीयुषे ॥९६॥ अजराय नमस्तुभ्यं नमस्ते स्तादजन्मने । अमृत्यवे नमस्तुभ्यमचलायाक्षरात्मने ॥९७॥ अलमास्तां गुणस्तोत्रमनंतास्तावका गुणाः । त्वां नामस्मृतिमात्रेण पर्युपासिसिषामहे ॥ ९८ ॥ प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्धलक्षणं त्वां गिरां पतिं । नाम्नामष्टसहस्रेण

रहित हैं तथापि शुद्ध शुक्लेश्याके कुछ उत्तम अंशोंको स्पर्श करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप भव्य अभव्य दोनों अवस्थाओंसे रहित हैं और मुक्तरूप हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ९४ ॥ आप सेनी असेनी दोनों अवस्थाओंसे रहित हैं, निर्मल शुद्ध आत्माको धारण करने-वाले हैं तथा आहार भय मैथुन और परिग्रह चारों संज्ञाओंसे रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, इसके सिवाय आप क्षायिक सम्यग्दृष्टी हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ९५ ॥ आप आहार रहित होकर भी सदा तृप्त रहते हैं, अतिशय कांतियुक्त हैं, समस्त दोषोंसे रहित हैं और संसाररूपी समुद्रके पार पहुंचे हुये हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ९६ ॥ आप जरा रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप जन्मरहित हैं इसलिये आपको नस्मकार हो, आप मृत्युरहित हैं तथा अचल और अविनश्वर हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ९७ ॥ हे देव ! आपके अनंतगुण हैं सबका स्तोत्र हो नहीं सकता इसलिये अब आपके गुणोंका स्तोत्र बंद कर केवल आ-पके नामोंको स्मरण करके ही आपकी उपासना करना चाहते हैं ॥ ९८ ॥ आप समस्त वाणियोंके स्वामी हैं, आपके एक हजार आठ लक्षण प्रसिद्ध हैं इसलिये हमलोग भी अपनी इष्टसिद्धिकेलिये एक हजार आठ नामोंसे आपकी स्तुति करते हैं ॥ ९९ ॥ आप अनंत चतुष्टयरूप अंतरंग लक्ष्मी और समवसरणरूप बहिरंग लक्ष्मीसे सुशोभित हैं इसलिये श्रीमान् १ कहलाते हैं, अपने आप उत्पन्न हुये हैं, अथवा बिना गुरुके अपने आप समस्त पदार्थोंके जाननेवाले हैं, अथवा अपने ही आत्मामें

तोष्टुमोभिष्टसिद्धये ॥९९॥ श्रीमान् स्वयंभूर्वृषभः शंभव शंभुरात्मभूः । स्वयंप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥१००॥ विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षरः ।

रहते हैं, अथवा आपने अपने आप ही अपना कल्याण किया है, अथवा अपने ही गुणोंसे आप वृद्धिको प्राप्त हुये हैं, अपने आप केवलज्ञान और केवलदर्शनके द्वारा समस्त लोकालोकमें व्याप्त हो रहे हैं, वा भव्य जीवोंको मोक्षरूप संपत्ति देनेवाले हैं, वा द्रव्य पर्यायोंको अपने आप जान सकते हैं, अथवा ध्यान करनेवाले योगियोंको आप प्रत्यक्ष दिखाई पडते हैं, अथवा लोकशिखरपर अपने आप जाकर विराजमान होते हैं इसलिये आप स्वयंभू २ कहलाते हैं, आप वृष अर्थात् धर्मसे भा अर्थात् सुशोभित रहते हैं अथवा धर्मकी वर्षा करते हैं अथवा भक्त लोगोंको इष्टवस्तुकी वर्षा करनेवाले हैं इसलिये वृषभ ३ कहलाते हैं, आपसे सब जीवोंको सुख मिलता है अथवा आपका भव अर्थात् जन्म अत्यंत ही उत्कृष्ट है अथवा आप सुखपूर्वक उत्पन्न हुये हैं इसलिये शंभव वा संभव ४ कहलाते हैं, आप परमानंद मोक्षरूप सुखको देनेवाले हैं इसलिये शंभु ५ कहलाते हैं, आप अपने आत्माके द्वारा ही कृतकृत्य हुये हैं अथवा शुद्ध बुद्ध चिच्चमत्कारस्वरूप आत्मामें ही रहते हैं अथवा ध्यानके द्वारा योगियोंकी आत्मामें ही प्रत्यक्ष होते हैं इसलिये आत्मभू ६ कहे जाते हैं, आप अपने आप ही प्रकाशमान होते हैं किंवा शोभायमान होते हैं इसलिये स्वयंप्रभ ७ कहलाते हैं, सबके स्वामी हैं वा समर्थ हैं इसलिये प्रभु ८ हैं, परमानंद स्वरूप सुखका उपभोग करनेवाले हैं इसलिये भोक्ता ९ हैं, केवल ज्ञानके द्वारा सब जगह व्याप्त हैं वा समस्त लोकमें मंगल करनेवाले हैं अथवा ध्यानादिके द्वारा समस्तलोकमें प्रत्यक्ष प्रगट होते हैं अथवा समस्त लोकालोकको जाननेवाले हैं, इसलिये विश्वभू १० हैं, तथा अब आपका जन्म मरण रूप संसार बाकी नहीं है वा अब आप संसारमें उत्पन्न नहीं होंगे इसलिये ही आपको अपुनर्भव ११ कहते हैं ॥ १०० ॥ आप समस्त लोकको अपने समान जानते हैं

विश्वविद्विश्वविद्येशो विश्वयोनिरनश्वरः ॥ १०१ ॥ विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचनः । विश्वव्यापी विधुर्वेधा शाश्वतो विश्वतोमुखः ॥ १०२ ॥

अथवा आप विश्व अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप हैं इससिये विश्वात्मा १२ कहे जाते हैं, तीनों लोकोंमें रहनेवाले समस्त प्राणियोंके आप स्वामी हैं इसलिये विश्वलोकेश १३ हैं, आपके चक्षु अर्थात् केवल दर्शन समस्त जगतमें व्याप्त है इसलिये विश्वतश्चक्षु १४ हैं, कभी नाश नहीं होते इसलिये अक्षर १५ हैं, छह द्रव्योंसे भरे हुये इस विश्व अर्थात् जगतको जानते हैं इसलिये विश्ववित् १६ हैं, समस्त विद्याओंके ईश्वर हैं अथवा केवलज्ञानके स्वामी हैं अथवा समस्त विद्याओंके जाननेवाले गणधरादिकोंके स्वामी हैं इसलिये विश्वविद्येश १७ कहे जाते हैं, समस्त पदार्थोंकी उत्पत्तिके कारण हैं अर्थात् सब पदार्थोंका उपदेश देनेवाले हैं इसलिये विश्वयोनि १८ कहलाते हैं, तथा आपके स्वरूपका कभी विनाश नहीं होता इसलिये अनश्वर १९ कहे जाते हैं ॥ १०१ ॥ समस्त लोक अलोकको देखनेसे विश्वदृश्वा २० कहलाते हैं, केवलज्ञानके द्वारा सबजगह व्याप्त हैं अथवा जीवोंको संसारसे पार करनेमें समर्थ हैं अथवा परम विभूति संयुक्त हैं इसलिये आपको विभु २१ कहते हैं, चारों गतियोंमें परिभ्रमण करनेवाले जीवोंका उद्धारकर मोक्षस्थानमें पहुंचानेवाले हैं, अथवा दयालु होनेसे सब जीवोंकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिये धाता २२ कहलाते हैं, समस्त जगतके स्वामी होनेसे विश्वेश २३ कहे जाते हैं, समस्त जीवोंको सुखकी प्राप्तिका उपाय दिखलाया है इसलिये सब जीवोंको नेत्रोंके समान होनेसे विश्वलोचन २४ कहलाते हैं, केवलज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकमें व्याप्त हैं अथवा केवलिसमुद्धात करतेसमय आपके आत्माके प्रदेश समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हो जाते हैं इसलिये आपको विश्वव्यापी २५ कहते हैं, कर्मोंको नाश करनेवाले हैं अथवा केवलज्ञानरूपी किरणोंके द्वारा मोहरूपी अंधकारको नाश करनेवाले हैं इसलिये विधु २६ कहे जाते हैं, ध-

विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वरः । विश्वदृग्विश्वभूतेशो विश्वज्योतिरनीश्वरः ॥ १०२ ॥ जिनो जिष्णुरमेयात्मा विश्वरीशो जगत्पतिः । अनंताजि-

र्मरूप जगतको उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये वेधा २७ कहलाते हैं, नित्य हैं सदा विद्यमान रहते हैं इसलिये शास्वत २८ कहे जाते हैं, तथा आपके चारों दिशाओंमें चार मुख दिखते हैं, अथवा आपके मुखके दर्शन करनेमात्रसे जीवोंका संसार नष्ट हो जाता है, अथवा विश्वतोमुख नाम जलका है आप जलके समान कर्मरूप मलको धोनेवाले हैं विषयोंकी तृष्णाको नष्ट करनेवाले और अत्यंत स्वच्छ हैं इसलिये विश्वतोमुख २९ कहलाते हैं ॥ १०२ ॥ आपके मतमें समस्त कर्म ही दुख देनेवाले हैं अथवा आपने जीविकाके लिये छह कर्मोंका उपदेश दिया है इसलिये आपको विश्वकर्मा ३० कहते हैं, जगतके समस्त प्राणियोंमें आप वृद्ध हैं अथवा श्रेष्ठ हैं इसलिये जगज्ज्येष्ठ ३१ कहते हैं, आप अनंतगुणमय हैं इसलिये विश्वमूर्ति ३२ कहलाते हैं, अनेक कर्मोंके नाश करनेसे गणधरदेवोंको अथवा चौथे गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थानतक रहनेवाले जीवोंको जिन कहते हैं आप उनके ईश्वर हैं इसलिये आपको जिनेश्वर ३३ कहते हैं, समस्त जगतको देखते हैं इसलिये विश्वदृक् ३४ कहलाते हैं, समस्त प्राणियोंके ईश्वर हैं अथवा तीनों लोकोंकी लक्ष्मीके स्वामी हैं इसलिये विश्वभूतेश ३५ कहे जाते हैं, आपका केवल दर्शन रूपी तेज सब जगह भरा हुआ है अथवा आप समस्त जगतको प्रकाश करनेवाले हैं इसलिये विश्वज्योति ३६ कहलाते हैं, आपका कोई ईश्वर वा स्वामी नहीं है इसलिये आपको अनीश्वर ३७ कहते हैं ॥ १०३ ॥ आपने कर्मरूपी शत्रु अथवा काम क्रोध आदि रागद्वेष शत्रु जीते हैं इसलिये जिन ३८ कहलाते हैं आपका स्वभाव ही सबसे उत्कृष्ट रूप किंवा प्रकाशरूप है इसलिये जिष्णु ३९ कहे जाते हैं, आपका ज्ञान प्रमाण रहित अनंत है इसलिये अमेयात्मा ४० कहलाते हैं, विश्वरी अर्थात् पृथ्वीके ईश अर्थात् स्वामी हैं इसलिये विश्वरीश ४१ कहलाते हैं, तीनों

दचिंत्यात्मा भव्यबंधुरबंधनः ॥ १०४ ॥ युगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचब्रह्ममयः शिवः । परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी सनातनः ॥ १०५ ॥ स्वयंज्योतिरजोजन्मा ब्रह्मयोनिरयोनिजः । मोहारिविजयी जेता धर्मचक्री दयाध्वजः ॥ १०६ ॥ प्रशांतारिरनंतात्मा योगी योगीश्वरार्चितः । ब्रह्मवित् ब्रह्मतत्त्वज्ञो ब्रह्मोद्या-

लोकोंके स्वामी हैं इसलिये जगतपति ४२ कहे जाते हैं, अनंत संसारको जीतनेवाले हैं अथवा मोक्षको रोकनेवाले अनंत नामके ग्रहको जीतनेवाले हैं इसलिये अनंतजित् ४३ कहे जाते हैं, आपके आत्माका स्वरूप मनसे भी चिंतवन नहीं किया जा सकता इसलिये आपको अचिंत्यात्मा ४४ कहते हैं, भव्य जीवोंका आप सदा उपकार करते हैं इसलिये भव्यबंधु ४५ कहलाते हैं, आपके कर्मका बंध नहीं है, अथवा घातिया कर्मोंके द्वारा आप बंधे हुये नहीं हैं इसलिये आप अबंधन ४६ कहे जाते हैं ॥ १०४॥ आप कर्मभूमिके प्रारंभमें हुये हैं इसलिये युगादिपुरष ४७ कहलाते हैं, आपके यहां केवल ज्ञान आदि समस्त गुण वृद्धिको प्राप्त होते हैं इसलिये ब्रह्मा ४८ कहे जाते हैं, पंच परमेष्ठी स्वरूप हैं इसलिये पंचब्रह्ममय ४९ कहलाते हैं, सदा परमानंदमें रहते हैं अथवा सबका कल्याण करनेवाले हैं इसलिये आपको शिव ५० कहते हैं, आप जीवोंको मोक्षस्थानमें पहुंचाते हैं इसलिये पर ५१ कहे जाते हैं, धर्मोपदेश देनेसे सबके गुरु हैं किंवा सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिये परतर ५२ कहलाते, हैं इंद्रियोंके द्वारा आप जाने नहीं जा सकते केवल ज्ञानके द्वारा जाने जाते हैं इसलिये सूक्ष्म ५३ कहलाते हैं, इंद्रादिकोंके द्वारा पूज्य ऐसे मोक्षस्थानमें किंवा अरहंत पदमें रहते हैं इसलिये परमेष्ठी ५४ कहलाते हैं, और तीनों कालोंमें आप सदा नित्य रहते हैं इसलिये सनातन ५५ कहे जाते हैं ॥ १०५ ॥ आप स्वयं प्रकाशरूप हैं इसलिये स्वयंज्योति ५६ हैं, संसारमें उत्पन्न नहीं होते इसलिये अज ५७ हैं, कभी शरीर धारण नहीं करते इसलिये अजन्मा ५८ हैं, आप ब्रह्म अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी योनि अर्थात् खानि हैं इसलिये ब्रह्मयोनि ५९ कहे जाते हैं, मोक्षस्थानमें चौरासी लाख योनियोंसे र-

विद्यतीश्वरः ॥१०७॥ शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थः सिद्धशासनः। सिद्धसिद्धांतविद्ध्येयः सिद्धसाध्यो जगद्धितः ॥१०८॥ सहिष्णुरच्युतोऽनंतः प्रभविष्णु-

हित होकर उत्पन्न होते हैं इसलिये अयोनिज ६० कहलाते हैं, आप मोहनीय कर्मरूपी शत्रुके जीतनेवाले हैं इसलिये मोहरि विजयी ६१ कहे जाते हैं, सबसे उत्कृष्ट रीतिसे रहते हैं इसलिये जेता ६२ कहे जाते हैं, गमन करते समय सदा आपके आगे धर्मचक्र रहता है इसलिये आपको धर्मचक्री ६३ कहते हैं, तथा सब प्राणियोंपर दया करना ही आपकी प्रसिद्ध ध्वजा फहरा रही है इसलिये आप दयाध्वज ६४ कहलाते हैं ॥१०६॥ आपके कर्मरूप शत्रु शांत हो गये हैं इसलिये प्रशांतारि ६५ कहलाते हैं अनंतगुणोंको धारण करनेवाले हैं, अथवा आपका आत्मा कभी नष्ट नहीं होता अथवा आप केवलज्ञानी हैं इसलिये अनंतात्मा ६६ कहे जाते हैं, आपने अपने योगोंका निरोध किया है इसलिये योगी ६७ हैं, गणधरादि योगीश्वर भी आपकी पूजा करते हैं इसलिये योगीश्वरार्चित ६८ हैं, आप अपने ब्रह्म अर्थात् आत्माका स्वरूप जानते हैं इसलिये ब्रह्मवित् ६९ हैं, ब्रह्मतत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्वका अथवा केवलज्ञानका वा दयाका अथवा कामदेवके नष्ट करनेका मर्म जानते हैं इसलिये ब्रह्मतत्त्वज्ञ ७० हैं, ब्रह्म अर्थात् आत्माके द्वारा कहे हुये समस्त तत्त्वोंको अथवा आत्मविद्याको जानते हैं इसलिये ब्रह्मोद्यावित् ७१ कहलाते हैं, रत्नत्रय सिद्ध करनेवाले यतियोंमें भी श्रेष्ठ हैं इसलिये यतीश्वर ७२ कहे जाते हैं ॥ १०७ ॥ क्रोध आदि कषायोंसे रहित होनेसे शुद्ध ७३ हैं, केवलज्ञानी होनेसे अथवा सबको जाननेसे बुद्ध ७४ हैं, अपने आत्माका स्वरूप जानते हैं इसलिये प्रबुद्धात्मा ७५ हैं, धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थ आपको सिद्ध हो चुके हैं अथवा मोक्ष प्राप्त होनेका ही आपका मुख्य प्रयोजन है अथवा आपके द्वारा जीवादि पदार्थोंकी सिद्धि होती है अथवा मोक्षके अर्थ अर्थात् कारण रत्नत्रय आपको सिद्ध हुये हैं इसलिये आपको सिद्धार्थ ७६ कहते हैं, आपका शासन अर्थात् मत पूर्ण वा प्रसिद्ध-

भवोद्भवः। प्रभूष्णुरजरोऽजय्यो भ्राजिष्णुर्धीश्वरोऽव्ययः ॥१०९॥ विभावसुरसंभूष्णुः स्वयंभूष्णुः पुरातनः। परमात्मा परंज्योतिस्त्रिजगत्परमेश्वरः ॥११०॥

है इसलिये सिद्धशासन ७७ कहते हैं, कर्मोंको नाश करनेसे सिद्ध ७८ कहलाते हैं, द्वादशांगसिद्धांतके पारगामी हैं इसलिये सिद्धांतवित् ७९ कहलोत हैं, योगीलोग भी आपका ध्यान करते हैं इसलिये ध्येय ८० हैं, मुनिलोग भी आपकी आराधना करते हैं अथवा सिद्ध जातिके देव आपकी आराधना करते हैं इसलिये सिद्धसाध्य ८१ कहे जाते हैं, तथा आप जगतका हित अथवा उपकार करते हैं इसलिये आपको जगताहित कहते ८२ हैं ॥ १०८ ॥ सहनशील होनेसे सहिष्णु ८३ हैं, आत्माके खरूपसे कभी च्युत नहीं होते इसलिये अच्युत ८४ हैं आपके गुणोंका अंत नहीं वा विनाश नहीं इसलिये अनंत ८५ हैं, आपमें अनंत शक्ति है इसलिये प्रभविष्णु ८६ हैं, संसारमें जन्ममरण होना आपका नष्ट होगया है अथवा संसारमें आपका जन्म उत्कृष्ट गिना जाता है इसलिये आप भवोद्भव ८७ हैं, अपनी स्वाभाविक परिणातिसे समय समयमें परिणत होते हैं अथवा सौ इंद्रोंके प्रभुत्व प्राप्त होनेका आपका स्वभाव है इसलिये प्रभूष्णु ८८ कहलाते हैं, जरा अर्थात् बुढापारहित हैं इसलिये अजर ८९ हैं, कोई भी आपको जीत नहीं सकता इसलिये अजय्य ९० हैं, करोडों सूर्य चंद्रमाकी कांतिसे भी आपकी कांति अधिक है इसलिये आपको भ्राजिष्णु ९१ कहते हैं, आप पूर्ण ज्ञानके स्वामी हैं इसलिये धीश्वर ९२ हैं, सदा अविनश्वर हैं कभी नाशरूप किंवा कम जियादा नहीं होते इसलिये अव्यय ९३ कहलाते हैं ॥ १०९ ॥ कर्मरूपी ईंधनको जलानेसे विभावसु अर्थात् अग्नि हैं, मोहरूपी अंधकारको नाश करनेसे विभावसु अर्थात् सूर्य हैं, अथवा धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करनेसे

१ किसी २ पुस्तकमें सिद्धसिद्धांतवित् एक नाम है जिनके मतमें यह एक नाम है दो नहीं है उनके मतमें इकसठवां मोहारिविजयी नामके मोहारि और विजयी ऐसे दो नाम गिनायेगये हैं।

दिव्यभाषापतिर्दिव्यः पूतवाक् पूतशासनः । पूतात्मा परमज्योतिर्धर्माध्यक्षो दमीश्वरः ॥ १११ ॥ श्रीपतिर्भगवानर्हन्नरजा विरजाः शुचिः । तीर्थकृत्केवली-

विभावसु अर्थात् सूर्य हैं, अथवा रागद्वेष आदि विभाव परिणामोंको आपने नाश किया है इसलिये भी विभावसु ९४ कहे जाते हैं, संसारमें उत्पन्न होना आपका स्वभाव नहीं है इसलिये असंभूष्णु ९५ हैं, अपने आप ही आप प्रगट अर्थात् प्रकाशरूप हुये हैं इसलिये स्वयंभूष्णु ९६ कहलाते हैं, अनादि सिद्ध हैं इसलिये पुरातन ९७ हैं, आपका आत्मा परमोत्कृष्ट है इसलिये आपको परमात्मा ९८ कहते हैं, मोक्षमार्गको प्रगट करनेवाले हैं इसलिये परंज्योति ९९ कहे जाते हैं और तीनों लोकोंमें आप उत्कृष्ट हैं अथवा तीनों लोकोंके आप स्वामी हैं इसलिये आप त्रिजगत्परमेश्वर १०० कहलाते हैं ॥ ११० ॥ आप दिव्यध्वनिके स्वामी हैं इसलिये दिव्यभाषापति १०१ हैं, अतिशय मनोहर होनेसे दिव्य १०२ हैं, आपकी वाणी निर्दोष है इसलिये आपको पूतवाक् १०३ कहते हैं आपका उपदेश वा मत पवित्र है इसलिये पूतशासन १०४ हैं, आपका आत्मा पवित्र है अथवा आप भव्यजीवोंको पवित्र करते हैं इसलिये पूतात्मा १०५ हैं, आपका केवलज्ञानरूपी तेज सर्वोत्कृष्ट है इसलिये परमज्योति १०६ हैं, धर्मके अधिकारी हैं इसलिये धर्माध्यक्ष १०७ हैं, और इंद्रियोंको निग्रह करनेमें श्रेष्ठ हैं इसलिये दमीश्वर १०८॥ १११ ॥ हैं मोक्षादि लक्ष्मीके भोक्ता वा स्वामी हैं अतएव श्रीपति १०९ हैं, महाज्ञानी होनेसे भगवान् ११० हैं, परम पूज्य होनेसे किंवा सबके द्वारा आराधना करनेयोग्य होनेसे अर्हन् १११ हैं कर्मरूपी रज रहित होनेसे अरजा ११२ हैं, आपके द्वारा भव्यजीवोंके कर्ममल दूर होते हैं अथवा आप ज्ञानावरण दर्शनावरणरहित हैं अतएव विरजा ११३ हैं, परम पवित्र हैं किंवा पूर्ण ब्रह्मचर्यको पालन करनेवाले हैं अथवा मलमूत्ररहित हैं अथवा मोहरहित हैं अतएव शुचि ११४ हैं, धर्मरूप तीर्थके कर्ता हैं अथवा संसारसे पार करने-

शानः पूजार्हः स्नातकोऽमलः ॥ ११२ ॥ अनंतदीप्तिर्ज्ञानात्मा स्वयंबुद्धः प्रजापतिः । मुक्तः शक्तो निराबाधो निष्कलो भुवनेश्वरः ॥ ११३ ॥ निरंज-

वाले द्वादशांगरूप तीर्थके कर्ता हैं इसलिये तीर्थकृत् ११५ हैं, केवलज्ञानी होनेसे केवली ११६ हैं अनंत शक्तिमान् किंवा सबके ईश्वर होनेसे ईशान ११७ हैं, आप आठ प्रकारकी पूजाके योग्य होनेसे पूजार्ह ११८ हैं, घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे किंवा पूर्णज्ञान होनेसे स्नातक ११९ हैं और धातु उपधातु आदि मलरहित होनेसे अमल १२० हैं ॥ ११२ ॥ आपकी केवलज्ञानरूपी दीप्ति अनंत हैं अथवा आपकी शरीरकी कांति अनंत है इसलिये आपको अनंतदीप्ति १२१ कहते हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे ज्ञानात्मा १२२ कहलाते हैं, अपने आप ही मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हुये हैं अथवा विना गुरुके स्वयं महाज्ञानी हुये हैं इसलिये स्वयंबुद्ध १२३ कहलाते हैं, तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे किंवा सबको उपदेश देनेसे प्रजापति १२४ हैं, संसार और कर्मोंसे रहित होनेसे मुक्त १२५ हैं, समर्थ होनेसे अथवा अनंत शक्ति होनेसे शक्त १२६ हैं, बाधारहित होनेसे वा दुखरहित होनेसे निराबाध १२७ हैं, शरीर रहित होनेसे निष्कल १२८ हैं, और तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे भुवनेश्वर १२९ हैं ॥ ११३ ॥ कर्मरूपी अंजनसे रहित होनेसे निरंजन १३० कहलाते हैं, जगतको प्रकाशित करनेसे अथवा मोक्षमार्गका स्वरूप दिखलानेसे जगज्ज्योति १३१ हैं, आपके बचन पूर्वापर अविरुद्ध होनेसे प्रमाण हैं इसलिये आपको निरुक्तोक्ति १३२ कहते हैं, रोगरहित अथवा पसीना रहित होनेसे अनामय १३३ हैं, अनंतकाल बीतनेपर भी आपकी स्थिति अचल रहती है इसलिये अचलस्थिति १३४ हैं, व्याकुलतारहित होनेसे अथवा आपकी शांतिका कभी भंग न होनेसे अक्षोभ्य १३५ कहलाते हैं, सदा नित्य रहनेसे अथवा लोकशिखरपर विराजमान होनेसे कूटस्थ १३६ कहे जाते हैं, गमनागमनरहित होनेसे स्थाणु १३७ हैं और क्षयरहित होनेसे अक्षय १३८ हैं, ॥ ११४ ॥ तीनों लो-

नो जगज्ज्योतिर्निरुक्तोक्तिरनामयः । अचलस्थितिरक्षोभ्यः कूटस्थः स्थाणुरक्षयः ॥ ११४ ॥ अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता प्रणेता न्यायशास्त्रकृत् । शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् ॥ ११५ ॥ वृषध्वजो वृषाधीशो वृषकेतुर्वृषायुधः । वृषो वृषपतिर्भर्ता वृषभांकोवृषोद्भवः ॥ ११६ ॥ हिरण्यनाभिर्भूतात्मा

कोंमें मुख्य होनेसे अग्रणी १३९ हैं, मोक्षपदको प्राप्त होनेसे ग्रामणी १४० कहे जाते हैं समस्त प्रजाको धर्मके अनुसार चलाते हैं अतएव नेता १४१ हैं, शास्त्रको उत्पन्न करनेवाले हैं किंवा धर्म वा मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले हैं इसलिये प्रणेता १४२ कहे जाते हैं, प्रमाण और नयोंका स्वरूप दिखानेवाले शास्त्रोंके कहनेवाले हैं इसलिये न्यायशास्त्रकृत् १४३ कहलाते हैं, सबको हितरूप उपदेश देनेसे शास्ता १४४ हैं, रत्नत्रय धर्मके अथवा उत्तम क्षमा आदि धर्मोंके स्वामी होनेसे धर्मपति १४५ हैं, धर्मस्वरूप होनेसे धर्म्य १४६ हैं, धर्मकी वृद्धि करनेसे धर्मात्मा १४७ हैं, और धर्मरूप तीर्थकी प्रवृत्ति करनेसे धर्मतीर्थकृत् १४८ कहलाते हैं ॥ ११५ ॥ आपकी ध्वजापर बैलका चिन्ह होनेसे अथवा वृष अर्थात् धर्मकी ध्वजा फहरानेसे वृषध्वज १४९ कहलाते हैं, अहिंसारूप धर्मके स्वामी होनेसे वृषाधीश १५० हैं, धर्मको प्रसिद्ध करनेसे वृषकेतु १५१ हैं, कर्मरूप शत्रुको नाश करनेकेलिये आपने धर्मरूपी शस्त्र धारण कर रक्खा है इसलिये वृषायुध १५२ कहलाते हैं, धर्मकी वृष्टि करनेसे वृष १५३ हैं, धर्मके नायक होनेसे वृषपति १५४ हैं, सबके स्वामी होनेसे भर्ता १५५ हैं, बैलका चिन्ह होनेसे वृषभाक १५६ हैं, माताको स्वप्नमें वृषभ दिखाई देकर आप उत्पन्न हुये हैं अथवा महापुण्यसे उत्पन्न हुये हैं इसलिये वृषोद्भव १५७ कहलाते हैं ॥ ११६ ॥ सुंदर नाभि होनेसे अथवा नाभिराजाकी संतति होनेसे हिरण्यनाभि १५८ हैं, आपका स्वरूप यथार्थ है कभी नाश नहीं होता इसलिये आप भूतात्मा १५९ हैं, जीवोंकी रक्षा करनेसे अथवा कल्याण करनेसे भूतभृत् १६० कहे जाते हैं, आपकी भावना सदा मंगलरूप है इसलिये भूतभावन १६१ कहलाते हैं, आपका जन्म प्रशंसनीय है अथवा आपसे आपके वं-

भूतभृद्भूतभावनः । प्रभवो विभवो भास्वान् भवो भावो भवांतकः ॥११७॥ हिरण्यगर्भः श्रीगर्भः प्रभूतविभवोऽभवः । स्वयंप्रभुः प्रभूतात्मा भूतनाथो जगत्प्रभुः ॥११८॥ सर्वादिः सर्वदृक् सार्वः सर्वज्ञः सर्वदर्शनः । सर्वात्मा सर्वलोकेशः सर्ववित्सर्वलोकजित् ॥११९॥ सुगतिः सुश्रुतः सुश्रुत् सुवाक् सूरिर्ब-

शकी वृद्धि हुई है इसलिये प्रभव १६२ कहे जाते हैं, संसाररहित होनेसे विभव १६३ हैं केवलज्ञानरूपी कांतिसे प्रकाशमान होनेसे भास्वान् १६४ हैं, समय समयमें आपमें उत्पाद होता रहता है इसलिये आप भव १६५ हैं, अपने स्वभावमें सदा लीन हैं इसलिये भाव १६६ हैं, और भव अर्थात् संसार परिभ्रमणका आपने नाश किया है इसलिये आप भवांतक १६७ कहलाते हैं ॥ ११७ ॥ आपके गर्भावतारके समय सुवर्णकी वृष्टि हुई थी इसलिये आपको हिरण्यगर्भ १६८ कहते हैं, आपके गर्भावतारके समय लक्ष्मीने भी सेवा की थी अथवा आपके अंतरंगमें स्फुरायमान लक्ष्मी शोभायमान है इसलिये आपको श्रीगर्भ १६९ कहते हैं, अनंत विभूतिके स्वामी होनेसे आपको प्रभूतविभव १७० कहते हैं, जन्मरहित होनेसे अभव १७१ कहे जाते हैं, अपने आप समर्थ होनेसे स्वयंप्रभु १७२ कहलाते हैं, केवलज्ञानके द्वारा आपका आत्मा व्याप्त होनेसे प्रभूतात्मा १७३ कहते हैं समस्त जीवोंके स्वामी होनेसे भूतनाथ १७४ और तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे जगत्प्रभु १७५ कहे जाते हैं ॥११८॥ सबसे प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ होनेसे सर्वादि १७६ हैं, समस्त लोकालोकको देखनेसे सर्वदृक् १७७ हैं, हितोपदेश देकर सबका कल्याण करनेसे सार्व १७८ हैं, सबको जाननेसे सर्वज्ञ १७९ हैं, पूर्ण सम्यक्त्वको धारण करनेसे सर्वदर्शन १८० हैं, सबको प्रिय होनेसे सर्वात्मा १८१ हैं, तीनों लोकोंके समस्त जीवोंके स्वामी होनेसे सर्वलोकेश १८२ हैं, समस्त पदार्थोंके ज्ञाता होनेसे सर्ववित् १८३ हैं, तथा अनंतवीर्य होनेके कारण समस्त लोकको जीतनेवाले हैं इसलिये सर्वलोकजित् १८४ कहलाते हैं ॥११९॥ आपकी पंचम मोक्षगति अतिशय सुंदर होनेसे अथवा आपका ज्ञान प्रशंसनीय होनेसे सुगति १८५ कहलाते हैं, अत्यंत प्रसिद्ध होनेसे अथवा उत्तम शास्त्रज्ञानको

इश्रुतः। विश्रुतो विश्वतःपादो विश्वशीर्षः शुचिश्रवाः ॥१२०॥ सहस्रशीर्षः क्षेत्रज्ञः सहस्राक्षः सहस्रपात्। भूतभव्यभवद्भर्ता विश्वविद्यामहेश्वरः ॥१२१॥ स्थविष्ठः स्थविरो ज्येष्ठः प्रष्ठः प्रेष्ठो वरिष्ठधीः। स्थेष्ठो गरिष्ठो बंहिष्ठः श्रेष्ठोऽणिष्ठो गरिष्ठगीः ॥१२२॥ विश्वमुट् विश्वसृट् विश्वेट् विश्वभुग्विश्वनायकः।

धारण करनेसे सुश्रुत १८६ हैं, भक्तोंकी प्रार्थनाको अच्छीतरह सुनते हैं इसलिये सुश्रुत् १८७ कहलाते हैं, आपकी वाणी सप्तभंग स्वरूप होनेसे अथवा हितोपदेश देनेसे सुवाक् १८८ कहते हैं, सबके गुरु होनेसे सूरि १८९ हैं, शास्त्रोंके पारगामी होनेसे बहुश्रुत १९० हैं, जगत प्रसिद्ध होनेसे अथवा शास्त्रोंसे भी आपका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता इसलिये आप विश्रुत १९१ हैं, आपकी केवलज्ञानरूपी किरणें सबओर फैली हुई हैं इसलिये आपको विश्वतःपाद १९२ कहते हैं, लोकके शिखरपर विराजमान होनेसे विश्वशीर्ष १९३ हैं, तथा आपका ज्ञान अत्यंत निर्दोष है इसलिये आपको शुचिश्रवा १९४ कहते हैं ॥ १२० ॥ अनंत सुखी होनेसे सहस्रशीर्ष १९५ हैं, आत्माका स्वरूप जाननेसे अथवा लोकालोकको जाननेसे क्षेत्रज्ञ १९६ हैं, अनंतदर्शी होनेसे सहस्राक्ष १९७ हैं, अनंत वीर्यको धारण करनेसे सहस्रपात् १९८ हैं, भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंके स्वामी होनेसे भूतभव्यभवद्भर्ता १९९ हैं, और समस्त विद्याओंके अथवा केवलज्ञानके स्वामी होनेसे विश्वविद्यामहेश्वर २०० कहे जाते हैं ॥ १२१ ॥ सद्गुणोंसे पूर्ण होनेसे अथवा आपके प्रदेशोंमें समस्त जीवोंको अवकाश देनेकी शक्ति होनेसे आपको स्थविष्ट २०१ कहते हैं, आदि अंतरहित होनेसे अत्यंत वृद्ध हैं अथवा ज्ञानसे वृद्ध हैं इसलिये स्थविर २०२ कहते हैं, मुख्य होनेसे ज्येष्ठ २०३ हैं, सबके अग्रेसर होनेसे पृष्ठ २०४ हैं, अत्यंत प्रिय होनेसे प्रेष्ट २०५ हैं, अतिशय बुद्धिको धारण करनेसे वरिष्ठधी २०६ कहलाते हैं, अत्यंत स्थिर अर्थात् अविनाशी होनेसे स्थेष्ठ २०७ कहेजाते हैं, अत्यंतगुरु होनेसे गरिष्ट २०८ हैं, अनंतगुणोंको धारण करनेसे अथवा अनेक स्वरूप होनेसे बंहिष्ठ २०९ हैं, प्रशंसनीय होनेसे श्रेष्ठ २१० हैं, अतिशय सूक्ष्म अर्थात् केवलज्ञानके

विश्वासी विश्वरूपात्मा विश्वजिद्विजितांतकः ॥१२३॥ विभवो विभयो वीरो विशोको विजरोजरन् । विरागो विरतोसंगो विविक्तो वीतमत्सरः ॥१२४॥

गोचर होनेसे अणिष्ठ २११ कहलाते हैं, तथा आपकी वाणी पूज्य होनेसे गरिष्ठगी २१२ कहे जाते हैं ॥१२२॥ चतुर्गतिरूप संसारको नाश करनेसे विश्वमुट् २१३ हैं, विधि विधानके कर्ता होनेसे विश्वसृट् २१४ हैं, तीनों भुवनोंका स्वामी होनेसे विश्वेट् २१५ हैं, जगतकी रक्षा करनेसे विश्वभुक् २१६ हैं, सबके स्वामी होनेसे विश्वनायक २१७ हैं, समस्त प्राणियोंके विश्वास योग्य होनेसे अथवा केवलज्ञानके द्वारा सब जगह निवास करनेसे विश्वासी २१८ कहे जाते हैं, विश्वरूप अर्थात् केवलज्ञान ही आपका स्वरूप है, अथवा आपका आत्मा अनंतस्वरूप है इसलिये आपको विश्वरूपात्मा २१९ कहते हैं, संसारको जीतनेसे विश्वजित् २२० और कालको जीतलेनेसे विजितांतक २२१ कहलाते हैं, ॥१२३॥ आपके किसीप्रकारका मनोविकार नहीं हैं इसलिये आपको विभव २२२ कहते हैं, भयरहित होनेसे विभय २२३ कहते हैं, लक्ष्मीका स्वामी होनेसे अथवा अतिशय बलशाली होनेसे वीर २२४ हैं, शोक रहित होनेसे विशोक २२५ हैं, जरा रहित होनेसे विजर २२६ हैं, नवीन न होनेसे अर्थात् अनादिकालीन होनेसे जरन् वा वृद्ध २२७ हैं, रागरहित होनेसे विराग २२८ हैं, समस्त विषयोंसे विरक्त होनेसे विरत २२९ हैं, पर वस्तुका संबंध न रखनेसे असंग २३० हैं, एकाकी अथवा पवित्र होनेसे विविक्त २३१ हैं और किसीसे ईर्षा द्वेष न करनेसे वीतमत्सर २३२ कहे जाते हैं ॥ १२४ ॥ अपने भक्त लोगोंके आप बंधु हैं इसलिये विनेयजनताबंधु २३३ हैं, कर्मरूपी समस्त कालिमासे रहित होनेसे विलीनाशेषकल्मष २३४ हैं, अन्य किसी वस्तुके साथ संबंध न होनेसे अथवा योग रहित होनेसे वियोग २३५ हैं, योगके जानकार होनेसे योगवित् २३६ हैं, महापंडित अथवा पूर्णज्ञानी होनेसे विद्वान् २३७ हैं, धर्मरूप सृष्टिके कर्ता होनेसे अथवा सबके गुरु होनेसे विधाता २३८ हैं, आपका अनुष्ठान वा क्रिया अत्यंत प्रशंसनीय होनेसे सुविधि २३९ हैं, अतिशय बुद्धिमान होनेसे

विनेयजनतावंधुर्विलीनाशेषकल्मषः । वियोगो योगविद्विद्वान् विधाता सुविधिः सुधीः ॥१२५॥ क्षांतिभाक् पृथिवीमूर्तिः शांतिभाक् सलिलात्मकः । वायुमूर्तिरसंगात्मा वन्हिमूर्तिरधर्मधक् ॥१२६॥ सुयज्वा यजमानात्मा सुत्वा सुत्रामपूजितः । ऋत्विग्यज्ञपतिर्यज्यो यज्ञांगममृतं हविः ॥१२७॥ व्योममूर्तिरमू-

सुधी २४० हैं, ॥ १२५ ॥ उत्तम क्षमाको धारण करनेसे क्षांतिभाक् २४१ कहे जाते हैं, पृथ्वीके समान सबको सहन करनेकी शक्ति होनेसे पृथिवीमूर्ति २४२ हैं, शांतता धारण करनेसे शांतिभाक् २४३ हैं, जलके समान अत्यंत निर्मल होनेसे तथा अन्य जीवोंको कर्ममलरहित शुद्ध करनेसे सलिलात्मक २४४ कहे जाते हैं, वायुके समान परके संबंधसे रहित होनेसे वायुमूर्ति २४५ हैं, परिग्रह रहित होनेसे असंगात्मा २४६ हैं, अग्निके समान ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे अथवा कर्मरूपी इंधनको जलानेसे वन्हिमूर्त्ति २४७ हैं और अधर्मका नाश करनेसे अधर्मधक् २४८ कहलाते हैं ॥ १२६ ॥ कर्मरूप सामग्रीका होम करनेसे सुयज्वा २४९ हैं, स्वभावभावका आराधन करनेसे अथवा भाव पूजाके कर्ता होनेसे यजमानात्मा २५० हैं, परमानंद सागरमें अभिषेक करनेसे सुत्वा २५१ हैं, इंद्रके द्वारा पूज्य होनेसे सुत्रामपूजित २५२ हैं ध्यानरूपी अग्निमें शुभाशुभरूप कर्मोंको भस्म करनेमें अथवा ज्ञानरूप यज्ञ करनेमें आचार्य कहलाते हैं इसलिये आपको ऋत्विक् २५३ कहते हैं, यज्ञके मुख्य अधिकारी होनेसे यज्ञपति २५४ हैं, पूज्य होनेसे यज्य २५५ हैं यज्ञके साधन अर्थात् मुख्य कारण होनेसे यज्ञांग २५६ हैं, मरण रहित होनेसे अथवा संसार तृष्णाको निवारण करनेसे अमृत २५७ हैं और अपने आत्मामें तल्लीन रहनेसे हवि २५८ हैं ॥१२७॥ आकाशके समान निर्मल अथवा केवलज्ञानके द्वारा सर्वव्यापी होनेसे व्योममूर्ति २५९ हैं, रूपरसगंध स्पर्श रहित होनेसे अमूर्त्तात्मा २६० हैं, कर्मरूपी लेपसे रहित होनेसे निर्लेप २६१ हैं, रागादि रहित होनेसे अथवा मलमूत्रादि रहित होनेसे निर्मल २६२ हैं, सर्वदा स्थिर रहनेसे अचल २६३ हैं, चंद्रमाके समान प्रकाशमान और शांत होनेसे अथवा अत्यंत सुशोभित होनेसे सोममूर्ति २६४ हैं, अतिशय सौम्य होनेसे सुसौम्यात्मा २६५ हैं, सूर्यके स-

र्तात्मा निर्लेपो निर्मलोऽचलः । सोममूर्तिः सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः ॥ १२८ ॥ मंत्रविन्मंत्रकृन्मंत्री मंत्रमूर्तिरनंतगः । स्वतंत्रस्तंत्रकृत्स्वतः कृतांतांतः कृतांतकृत् ॥१२९॥ कृती कृतार्थः सत्कृत्यः कृतकृत्यः कृतक्रतुः । नित्यो मृत्युंजयोऽमृत्युरमृतात्माऽमृतोद्भवः ॥ १३० ॥ ब्रह्मनिष्ठः परब्रह्म ब्रह्मात्मा ब्रह्म-

मान अत्यंत कांति सहित होनेसे सूर्यमूर्ति २६६ हैं और अतिशय प्रभावशाली होनेसे अथवा केवलज्ञानरूपी तेजसे सुशोभित होनेसे महाप्रभ २६७ हैं, ॥ १२८ ॥ मंत्रके जाननेवाले होनेसे मंत्रवित् २६८ कहे जाते हैं, प्रथमानुयोग आदि चारों अनुयोगरूप मंत्रोंके अथवा जप करनेयोग मंत्रोंके कर्ता होनेसे मंत्रकृत् २६९ हैं, आत्माको विचार करनेसे अथवा लोककी रक्षा करनेसे अथवा मुख्य होनेसे मंत्री २७० हैं, मंत्रस्वरूप होनेसे मंत्रमूर्ति २७१ हैं, अनंतज्ञानी होनेसे अनंतग २७२ हैं, स्वाधीन होनेसे अथवा आत्मा ही आपका सिद्धांत होनेसे स्वतंत्र २७३ हैं, आगमके मुख्यकर्ता होनेसे तंत्रकृत् २७४ हैं, शुद्ध अंतःकरण होनेसे स्वंत २७५ हैं, यम अर्थात् मरणको नाश करनेसे कृतांतांत २७६ हैं, और पुण्यवृद्धिके कारण होनेसे कृतांतकृत् २७७ हैं ॥ १२९ ॥ प्रवीण अथवा अतिशय पुण्यवान् अथवा हरहरादि द्वारा पूज्य होनेसे कृती २७८ हैं, मोक्षरूप परमपुरुषार्थको सिद्ध करनेसे कृतार्थ २७९ हैं, आपका कृत्य अतिशय प्रशंसनीय होनेसे सत्कृत्य २८० हैं, करनेयोग्य समस्त कार्य करनेसे अथवा सब कार्य सफल होनेसे कृतकृत्य २८१ हैं, ध्यानरूपी अग्निमें कर्म नोकर्म आदिको भस्म करनेसे अथवा ज्ञानरूपी यज्ञको करनेसे, अथवा तपश्चर्यारूपी यज्ञ समाप्त होनेसे कृतक्रतु २८२ हैं, अविनाशी होनेसे अर्थात् सदा वर्तमान रहनेसे नित्य २८३ हैं, मृत्युको जीतनेसे मृत्युंजय २८४ हैं, आपका आत्मा कभी मृत्युको प्राप्त नहीं होता इसलिये अमृत्यु २८५ हैं, मरणरहित होनेसे अथवा अमृतस्वरूप शांतिदायक होनेसे अमृतात्मा २८६ हैं और जन्ममरणरहित होनेसे अथवा अविनश्वर अवस्थाको प्राप्त होनेसे अथवा भव्यजीवोंको मोक्ष प्राप्तिका कारण होनेसे अमृतोद्भव २८७ हैं, ॥ १३० ॥ शुद्ध आत्मामें तल्लीन रहनेसे ब्रह्मनिष्ठ २८८ कहलाते हैं, सबमें उत्कृष्ट अथ-

संभवः । महाब्रह्मपति ब्रह्मेट् महाब्रह्मपदेश्वरः ॥१३१॥ सुप्रसन्नः प्रसन्नात्मा ज्ञानधर्मदमप्रभुः । प्रशमात्मा प्रशांतात्मा पुराणपुरुषोत्तमः ॥१३२॥ महाशोकध्वजोऽशोकः कः स्रष्टा पद्मविष्टरः । पद्मेशः पद्मसंभूतिः पद्मनाभिरनुत्तरः ॥१३३॥ पद्मयोनिर्जगद्योनिरित्यः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः । स्तवनार्हो हृषीकेशो जितजे

वा उत्कृष्ट केवलज्ञानको धारण करनेसे परंब्रह्म २८९ हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे ब्रह्मात्मा २९० हैं, आपसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है अथवा शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है इसलिये ब्रह्मसंभव २९१ हैं, गणधरादि बडे २ ज्ञानियोंके स्वामी होनेसे महाब्रह्मपति २९२ हैं, केवली भी आपकी स्तुति करते हैं अथवा केवलज्ञानके स्वामी हैं इसलिये ब्रह्मेट् २९३ हैं, तथा मोक्षके स्वामी अथवा समवसरणके स्वामी होनेसे महाब्रह्मपदेश्वर २९४ हैं ॥ १३१ ॥ भक्तोंको स्वर्गमोक्ष देनेसे अथवा सदा आनंदस्वरूप होनेसे सुप्रसन्न २९५ हैं, मलरहित होनेसे प्रसन्नात्मा २९६ हैं, केवलज्ञान दयाधर्म और इंद्रियनिग्रहरूप तपश्चरणके स्वामी होनेसे ज्ञानधर्मदमप्रभु २९७ कहलाते हैं, क्रोधादिरहित होनेसे प्रशमात्मा २९८ हैं परमशांतरूप होनेसे प्रशांतात्मा २९९ हैं, और अनादिकालसे मोक्षस्थानमें निवास करनेसे अथवा अनादिकालसे सदा होनेवाले त्रेसठशलाका पुरुषोंमें उत्कृष्ट होनेसे पुराणपुरुषोत्तम ३०० कहलाते हैं ॥ १३२ ॥ महा अशोकवृक्ष ही आपका चिन्ह है इसलिये आपको महाशोकध्वज ३०१ कहते हैं, शोकरहित होनेसे अशोक ३०२ कहते हैं, सबके पितामह होनेसे अथवा सबको सुख देनेसे क ३०३ कहते हैं भक्त लोगोंको स्वर्ग मोक्ष देनेसे स्रष्टा ३०४ हैं, आपका आसन कमल है वा कमल ही सिंहासन है इसलिये पद्मविष्टर ३०५ कहते हैं, लक्ष्मीके स्वामी होनेसे पद्मेश ३०६ हैं। विहार करतेसमय इंद्रलोग आपके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते हैं इसलिये पद्मसंभूति ३०७ कहते हैं, कमलके समान सुंदर नाभि होनेसे पद्मनाभि ३०८ कहेजाते हैं, तथा आपसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है अतएव अनुत्तर ३०९ कहलाते हैं ॥ १३३ ॥ लक्ष्मीके उत्पन्न होनेका स्थान होनेसे पद्मयोनि ३१० हैं, धर्मरूप जगतकी उत्पत्तिके कारण होनेसे जगतयोनि ३११ हैं, ज्ञानगम्य

यः कृतक्रियः ॥१३४॥ गणाधिपो गणज्येष्ठो गण्यः पुण्यो गणाग्रणीः । गुणाकरो गुणांभोधिर्गुणज्ञो गुणनायकः ॥१३५॥ गुणादरी गुणोच्छेदी निर्गुणः पुण्यगी गुणः । शरण्यः पुण्यवाक् पूतो वरेण्यः पुण्यनायकः ॥१३६॥ अगण्यः पुण्यधीर्गुण्यः पुण्यकृत्पुण्यशासनः । धर्मारामो गुणग्रामः पुण्यापुण्यनिरोधकः ॥१३७॥

होनेसे इत्य ३१२ हैं, सबके द्वारा स्तुति करने योग्य होनेसे स्तुत्य ३१३ हैं, समस्त स्तुतियोंके ईश्वर होनेसे स्तुतीश्वर ३१४ हैं, स्तुतियोंके पात्र होनेसे स्तवनार्ह ३१५ हैं, इंद्रियोंको वश करनेसे हृषीकेश ३१६ हैं, काम क्रोध रागआदिको जीतलेनेसे जितजेय ३१७ हैं, आपने शुद्ध आत्माकी प्राप्तिके कृत्य सब पूर्ण किये हैं इसलिये कृतक्रिय ३१८ हैं ॥ १३४ ॥ बारह प्रकारकी सभाओंका स्वामी होनेसे गणाधिप ३१९ हैं, समस्त संघके मुख्य होनेसे गणज्येष्ठ ३२० हैं, अनंत गुणोंके स्वामी होनेसे गण्य ३२१ हैं, पवित्र होनेसे पुण्य ३२२ हैं, सबके अग्रेसर होनेसे गणाग्रणी ३२३ हैं गुणोंकी खानि होनेसे गुणाकर ३२४ हैं, गुणोंका समुद्र होनेसे गुणांभोधि ३२५ हैं, गुणोंको जाननेसे गुणज्ञ ३२६ हैं, तथा समस्त गुणोंके नायक होनेसे गुणनायक ३२७ हैं ॥ १३५ ॥ गुणोंका आदर करनेसे गुणादरी ३२८ हैं, क्रोधादि गुणोंका नाश करनेसे अथवा इंद्रियोंका नाश करनेसे गुणोच्छेदी ३२९ हैं, केवलज्ञानादिगुण निश्चितरूपसे होनेसे अथवा विभाव गुणोंका नाश करनेसे अथवा गुण अर्थात् तंतु वा वस्त्र रहित होनेसे निर्गुण ३३० हैं, आपकी वाणी पवित्र है इसलिये पुण्यगी ३३१ हैं, शुद्ध गुणस्वरूप होनेसे गुण ३३२ हैं, सबके शरणभूत होनेसे शरण्य ३३३ हैं पुण्यरूप बचन होनेसे पुण्यवाक् ३३४ हैं, पवित्र होनेसे पूत ३३५ हैं, सबमें श्रेष्ठ होनेसे अथवा जीवोंको अपनासा मुक्तस्वरूप करनेसे वरेण्य ३३६ हैं, तथा पुण्यके स्वामी होनेसे पुण्यनायक ३३७ हैं, ॥ १३६ ॥ आपका परिमाण नहीं किया जा सकता अथवा आपके गुण गिने नहीं जा सकते इसलिये अगण्य ३३८ हैं, पवित्र ज्ञान होनेसे पुण्यधी ३३९ हैं, सबका कल्याण करनेसे अथवा समवसरणके योग्य होनेसे गण्य ३४० हैं; पुण्यका

पापापेतो विपापात्मा विपाप्मा वीतकल्मषः । निर्द्वंद्वो निर्मदः शांतो निर्मोहो निरुपद्रवः ॥ १३८ ॥ निर्निमेषो निराहारो निष्क्रियो निरुपप्लवः । निष्कलंको निरस्तैना निर्धूतागो निरास्रवः ॥ १३९ ॥ विशालो विपुलज्योतिरतुलोऽचिंत्यवैभवः । सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सुभृत् सुनयतत्त्ववित् ॥ १४० ॥

कर्ता होनेसे पुण्यकृत् ३४१ हैं, आपका मार्ग वा मत पुण्यरूप होनेसे पुण्यशासन ३४२ हैं, धर्मका बगीचारूप (समूह) होनेसे धर्माराम ३४३ हैं, गुणोंके समूह होनेसे गुणग्राम ३४४ हैं, तथा पुण्य और पाप दोनोंका निरोध करनेसे पुण्यापुण्यनिरोधक ३४५ कहे जाते हैं ॥ १३७ ॥ हिंसादि समस्त पापोंसे रहित होनेसे पापापेत ३४६ पापरहित होनेसे विपापात्मा ३४७ हैं, पापकर्म नष्ट होनेसे विपाप्मा ३४८ हैं, कर्ममल रहित होनेसे वीतकल्मष ३४९ हैं, परिग्रहरहित होनेसे निर्द्वंद ३५० अहंकार न होनेसे निर्मद ३५१ हैं, उपाधि रहित होनेसे शांत ३५२ हैं, मोहरहित होनेसे निर्मोह ३५३ हैं, तथा उपद्रवरहित होनेसे निरुपद्रव ३५४ हैं ॥ १३८ ॥ आपके नेत्रोंके पलक दूसरे पलकसे नहीं लगते हैं इसलिये निर्निमेष ३५५ हैं, कवलाहार न करनेसे निराहार ३५६ हैं, क्रिया रहित होनेसे निष्क्रिय ३५७ हैं, सबप्रकारके संकट रहित होनेसे निरुपप्लव ३५८ हैं, कलंकरहित होनेसे निष्कलंक ३५९ हैं, पापोंको दूर करनेसे निरस्तैना ३६० हैं, अपराधोंका नाश करनेसे निर्धूताग ३६१ हैं, तथा आस्रवरहित होनेसे निरास्रव ३६२ हैं ॥ १३९ ॥ अतिशय विशाल होनेसे विशाल ३६३ हैं, केवलज्ञानरूप अपार ज्योतिको धारण करनेसे विपुलज्योति ३६४ हैं, आपके समान अन्य कोई न होनेसे अतुल ३६५ हैं, आपकी विभूतिको कोई चिंतवन भी नहीं करसकता इसलिये अचिंत्यवैभव ३६६ हैं, संवररूप होनेसे अथवा गणधरादिकोंसे वेष्ठित रहनेसे सुसंवृत ३६७ हैं, आपका आत्मा गुप्त होनेसे अथवा आस्रवादिसे अलग होनेसे सुगुप्तात्मा ३६८ हैं, उत्तम ज्ञाता होनेसे सुभृत ३६९ हैं, तथा नैगम संग्रह आदि नयोंका मर्म जाननेसे सुनयतत्त्ववित् ३७० कहलाते हैं ॥ १४० ॥ एक केवलज्ञानको धारण करनेसे अथवा एक अध्यात्मविद्याको धारण करनेसे एकविद्य ३७१

एकविद्यो महाविद्यो मुनिः परिवृढः पतिः । धीशो विद्यानिधिः साक्षी विनेता विहतांतकः ॥ १४१ ॥ पिता पितामहः पाता पवित्रः पावनो गतिः । त्राता भिषग्वरो वर्यो वरदः परमः पुमान् ॥ १४२ ॥ कविः पुराणपुरुषो वर्षीयान् ऋषभः पुरुः । प्रतिष्ठाप्रसवो हेतुर्भुवनैकपितामहः ॥ १४३ ॥ श्री-

---

कहलाते हैं, अनेक विद्यायें धारण करनेसे महाविद्य ३७२ हैं, प्रत्यक्षज्ञानी होनेसे मुनि ७३ हैं, तपस्वियोंके स्वामी होनेसे परिवृढ ७४ हैं, जगतकी रक्षा करनेसे अथवा दुख दूर करनेसे पति ७५ हैं, बुद्धिके स्वामी होनेसे धीश ७६ हैं, ज्ञानके सागर होनेसे विद्यानिधि ७७ हैं, त्रैलोक्यको प्रत्यक्ष जाननेसे साक्षी ७८ हैं, मोक्षमार्गको प्रगट करनेसे विनेता ७९ हैं, तथा यमका नाश करनेसे विहितांतक ८० कहे जाते हैं, ॥ १४१ ॥ नरकादि गतियोंसे रक्षा करनेसे पिता ८१ हैं, सबके गुरु होनेसे पितामह ८२ हैं, सबकी रक्षा करनेसे पाता ८३ हैं, भक्तोंको पवित्र करनेसे पवित्र ८४ हैं, सबको शुद्ध करनेसे पावन ८५ हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे गति ८६ हैं, सबकी रक्षा करनेसे त्राता ८७ हैं, नाम लेनेसे ही समस्त रोगोंको अथवा जन्म जरा मरण आदि रोगोंको दूर करनेसे भिषग्वर अर्थात् उत्तम वैद्य ८८ हैं, सबसे श्रेष्ठ होनेसे वर्य ८९ हैं, स्वर्गमोक्षादिके देनेवाले हैं इसलिये वरद ९० हैं, भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेसे परम ९१ हैं, अपने आत्माको तथा भक्तोंको पवित्र करनेसे पुमान् ९२ हैं ॥१४२॥ धर्म अधर्मका निरूपण करनेसे कवि ९३ हैं, अनादि कालीन होनेसे पुराणपुरुष ९४ हैं, अतिशय वृद्ध होनेसे वर्षीयान् ९५ हैं, ज्ञानी होनेसे ऋषभ ९६ हैं, सबमें अग्रगामी होनेसे पुरु ९७ हैं, आपसे स्थैर्य गुणकी उत्पत्ति हुई है अथवा आपकी सेवा करनेसे यह जीव जगतमान्य हो जाता है इसलिये प्रतिष्ठाप्रसव ९८ हैं, मोक्षके साक्षात् कारण होनेसे अथवा सबको जाननेसे हेतु ९९ हैं, और तीनों लोकोंके जीवोंकी रक्षा करनेसे किंवा हितोपदेश देनेसे भुवनैकपितामह ४०० हैं ॥ १४३ ॥ श्रीवृक्षका चिन्ह होनेसे श्रीवृक्षलक्षण १ कहलाते हैं, सूक्ष्म होनेसे अथवा लक्ष्मीके द्वारा आलिंगन करनेसे श्ल-

वृक्षलक्षणः श्लक्ष्णो लक्षण्यः शुभलक्षणः । निरीक्षः पुंडरीकाक्षः पुष्कलः पुष्करेक्षणः ॥ १४४ ॥ सिद्धिदः सिद्धसंकल्पः सिद्धात्मा सिद्धसाधनः । बुद्धबोध्यो महाबोधिर्वर्द्धमानो महर्द्धिकः ॥ १४५ ॥ वेदांगोवेदविद्वेद्यो जातरूपो विदांवरः । वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो विवेदो वदतांवरः ॥ १४६ ॥ अनादीनि-

क्षण २ हैं, लक्षण सहित होनेसे लक्षण्य ३ हैं, अनेक शुभ लक्षण होनेसे शुभलक्षण ४ हैं, इंद्रियरहित होनेसे निरक्ष ५ हैं, कमलके समान सुंदर नेत्र होनेसे पुंडरीकाक्ष ६ हैं, केवलज्ञानसे वृद्धिगत होनेसे पुष्कल ७ हैं, और कमलदलके समान दीर्घ नेत्र होनेसे पुष्करेक्षण ८ हैं ॥ १४४ ॥ मोक्षरूप सिद्धिको देनेसे सिद्धिद ९ हैं, समस्त मनोरथ सफल होनेसे सिद्धसंकल्प १० हैं, पूर्ण आनंदस्वरूप होनेसे सिद्धात्मा ११ हैं, मोक्षमार्ग रूप साधन होनेसे सिद्धसाधन १२ हैं सम्यग्दृष्टियोंके द्वारा अथवा विशेषज्ञानियोंके द्वारा जाननेयोग्य होनेसे बुद्धबोध्य १३ हैं, आपका रत्नत्रय अत्यंत प्रशंसनीय होनेसे अथवा अतिशय ज्ञानी होनेसे महाबोधि १४ हैं, आपका पूज्यपना अतिशय बढा हुआ होनेसे वर्द्धमान १५ हैं, तथा बडी भारी विभूतिको धारण करनेसे महर्द्धिक १६ हैं ॥ १४५ ॥ प्रथमानुयोग आदि चारों वेदोंके कारण होनेसे अथवा ज्ञानस्वरूप होनेसे वेदांग १७ हैं, चारों अनुयोगोंको जाननेसे अथवा आत्माका स्वरूप जाननेसे वेदवित् १८ हैं, आगमके द्वारा जानने योग्य हैं इसलिये वेद्य १९ हैं, उत्पन्न होनेके समान ही आपका दिगंबर रूप है अथवा आप रूप रहित हैं इसलिये जातरूप २० हैं, विद्वानोंमें श्रेष्ठ होनेसे विदांवर २१ हैं, केवलज्ञानके द्वारा अथवा आगमके द्वारा जानने योग्य होनेसे वेदवेद्य २२ हैं, अनुभव गम्य होनेसे स्वसंवेद्य २३ हैं, विलक्षण ज्ञानी होनेसे अथवा आगमके अगोचर होनेसे विवेद २४ हैं, तथा वक्ताओंमें श्रेष्ठ होनेसे वदतांवर २५ हैं ॥१४६॥ आदि अंतरहित होनेसे अनादिनिधन २६ हैं, ज्ञानके द्वारा स्पष्ट प्रतिभासित होनेसे व्यक्त २७ हैं, आपके वचन समस्त प्राणियोंके समझने योग्य हैं, इसलिये आप व्यक्तवाक् २८ हैं, आपकी आज्ञा वा मत समस्त संसारमें

धनो व्यक्तो व्यक्तवाग्व्यक्तशासनः । युगादिकृद्युगाधारो युगादिर्जगदादिजः ॥ १४७ ॥ अतींद्रोतींद्रियो धींद्रो महेंद्रोतींद्रियार्थदृक् । अनिंद्रियोऽहमिंद्रार्च्यो महेंद्रमहितो महान् ॥ १४८ ॥ उद्भवः कारणं कर्ता पारगो भवतारकः । अगाह्यो गहनं गुह्यं परार्ध्यः परमेश्वरः ॥ १४९ ॥ अनंतर्द्धिरमेयर्द्धिरचिंत्यर्द्धिः

प्रसिद्ध होनेसे अथवा आपके कहे हुये शास्त्रोंमें पूर्वापर विरोध न होनेसे आप व्यक्तशासन २९ हैं, युगकी आदि अर्थात् कर्मभूमिके कर्ता हैं इसलिये युगादिकृत् ३० हैं, युगोंका आधार होनेसे युगाधार ३१ हैं, युगके प्रारंभमें होनेसे युगादि ३२ हैं, और जगतकी आदिमें अर्थात् कर्मभूमिकी आदिमें उत्पन्न होनेसे जगदादिज ३३ कहलाते हैं ॥ १४७ ॥ इंद्र नरेंद्र आदि सबके विशेष स्वामी होनेसे अतींद्र ३४ हैं इंद्रियगोचर न होनेसे अतींद्रिय ३५ हैं, ज्ञानके स्वामी होनेसे अथवा शुक्लध्यानके द्वारा परमात्मस्वरूप होनेसे धींद्र ३६ हैं, पूजाके अधिपति होनेसे अथवा इंद्रसे भी अधिक संपत्तिमान् होनेसे महेंद्र ३७ हैं, इंद्रिय और मनके अगोचर पदार्थोंको भी जाननेसे अतींद्रियार्थदृक् ३८ हैं, इंद्रियरहित होनेसे अनिंद्रिय ३९ हैं, अहमिंद्रोंके द्वारा पूज्य होनेसे अहमिंद्रार्च्य ४० हैं, समस्त बडे २ इंद्रोंके द्वारा पूज्य होनेसे महेंद्रमहित ४१ हैं, तथा सबसे पूज्य व बडे होनेसे महान् ४२ हैं ॥ १४८ ॥ जन्ममरणरहित होनेसे अथवा आपका जन्म सर्वोत्कृष्ट होनेसे उद्भव ४३ हैं, मोक्षके कारण होनेसे कारण ४४ हैं, शुद्धभावोंके कर्ता होनेसे कर्ता ४५ हैं, संसारसमुद्रके पारगामी होनेसे पारग ४६ हैं, भव्य जीवोंको संसारसमुद्रसे पार करदेनेसे भवतारक ४७ हैं, किसीके भी द्वारा अवगाहन न करनेसे अगाह्य ४८ हैं, आपका स्वरूप हर कोई नहीं जान सकता इसलिये गहन ४९ हैं, परम रहस्यरूप अर्थात् गुप्तरूप होनेसे गुह्य ५० हैं, उत्कृष्ट विभूतिके स्वामी होनेसे परार्ध्य ५१ हैं, और सबके स्वामी होनेसे अथवा मोक्षलक्ष्मीके स्वामी होनेसे परमेश्वर ५२ हैं ॥ १४९ ॥ अनंत ऋद्धियोंको धारण करनेसे अनंतर्द्धि ५३ हैं, अपरिमित ऐश्वर्यको धारण करनेसे अमेयर्द्धि

समग्रधीः । प्राग्र्यः प्राग्रहरोऽभ्यग्र्यः प्रत्यग्रोऽग्र्योऽग्रिमोऽग्रजः ॥१५०॥ महातपा महातेजा महोदर्को महोदयः । महायशा महाधामा महासत्त्वो महाधृतिः ॥ १५१ ॥ महाधैर्यो महावीर्यो महासंपन्महाबलः । महाशक्तिर्महाज्योतिर्महाभूतिर्महाद्युतिः ॥ १५२ ॥ महामतिर्महानीतिर्महाक्षांतिर्महादयः । म-

---

५४ हैं, आपकी संपत्तिका कोई चिंतवन भी नहीं कर सकता इसलिये आप अचिंत्यर्द्धि ५५ हैं, जगतके समस्त पदार्थोंको जानने योग्य पूर्ण ज्ञान होनेसे समग्रधी ५६ कहे जाते हैं, सबमें मुख्य होनेसे प्राग्र्य ५७ हैं, सबमें श्रेष्ठता प्राप्त करनेसे प्राग्रहर ५८ हैं, श्रेष्ठोंमें भी सबसे श्रेष्ठ होनेसे अभ्यग्र्य ४५९ हैं, बलवानोंमें भी अत्यंत श्रेष्ठ होनेसे अथवा लोकका मुख्यभाग पसंद करनेसे प्रत्यग्र ४६० हैं, सबके नायक होनेसे अग्र्य ४६१ हैं, सबके अग्रेसर होनेसे अग्रिम ४६२ हैं, तथा सबसे बडे होनेसे अग्रज ४६३ हैं ॥ १५० ॥ कठिन कठिन तपश्चरण करनेसे महातपा ४६४ हैं, अतिशय तेजस्वी होनेसे अथवा अतिशय पुण्यवान् होनेसे महातेजा ६५ हैं, आपकी तपश्चर्याका फल सबसे बडा अर्थात् केवलज्ञान है इसलिये आप महोदर्क ६६ कहलाते हैं, अतिशय प्रतापी होनेसे अथवा आपका जन्म सबको आनंद देनेवाला होनेसे महोदय ६७ हैं, अतिशय यशस्वी होनेसे महायशा ६८ हैं, अतिशय प्रकाशरूप होनेसे महाधामा ६९ हैं, अतिशय बलवान् होनेसे महासत्त्व ७० हैं और अतिशय धीर वीर होनेसे महाधृति ७१ हैं ॥१५१॥ कभी भी व्यग्र न होनेसे महाधैर्य ७२ हैं, अतिशय सामर्थ्यवान् होनेसे महावीर्य ७३ हैं, समवसरण रूप अद्वितीय विभूतिको धारण करनेसे महासंपत् ७४ हैं, अतिशय बलवान् होनेसे महाबल ७५ हैं, अनंत शक्ति होनेसे महाशक्ति ७६ हैं, अतिशय कांतियुक्त होनेसे महाज्योति ७७ हैं, पंचकल्याणकोंकी महाविभूतिके स्वामी होनेसे महाभूति ७८ हैं, और अतिशय शोभायमान होनेसे महाद्युति ७९ हैं ॥१५२॥ अतिशय बुद्धिमान् होनेसे महामति ८० हैं, अतिशय न्यायवान् होनेसे महानीति ८१ हैं, अतिशय क्षमावान् होनेसे महाक्षांति ८२ हैं, अतिशय दयालु होनेसे महादय ८३ हैं, अतिशय प्रवीण

हाप्राज्ञो महाभागो महानंदो महाकविः ॥ १५३ ॥ महामहा महाकीर्तिर्महाकांतिर्महावपुः । महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुणः ॥ १५४ ॥ महा-महपतिः प्राप्तमहाकल्याणपंचकः । महाप्रभुर्महाप्रातिहार्याधीशो महेश्वरः ॥ १५५ ॥ महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः । महाक्षमो महाशीलो म-

होनेसे महाप्राज्ञ ८४ हैं, अतिशय भाग्यशाली होनेसे महाभाग ८५ हैं, अतिशय आनंद स्वरूप होनेसे अथवा भव्यजीवोंको आनंद देनेसे महानंद ८६ हैं, तथा शास्त्रोंके मुख्य कर्ता होनेसे महाकवि ८७ हैं ॥ १५३ ॥ अत्यंत तेजस्वी होनेसे महामहा ८८ हैं, आपकी कीर्ति सबजगह व्याप्त होनेसे महाकीर्ति ८९ हैं, अत्यंत कांतियुक्त होनेसे महाकांति ९० हैं, अतिशय सुंदर शरीर होनेसे महावपु ९१ हैं, बडे-भारी दानी होनेसे महादान ९२ हैं, सबसे बडे केवलज्ञानको धारण करनेसे महाज्ञान ९३ हैं, योगोंको अत्यंत निरोध करनेसे महायोग ९४ हैं, तथा लोकोंको कल्याण करनेवाले गुणोंसे सुशोभित होनेसे महागुण ९५ हैं ॥ १५४ ॥ पंचकल्याणरूप महा पूजाके स्वामी होनेसे महामहपति ९६ हैं, आपको गर्भावतार आदि पांचो कल्याण प्राप्त हुये हैं इसलिये प्राप्तमहाकल्याणपंचक ९७ कहे जाते हैं, अति-शय समर्थ अथवा सबसे बडे स्वामी होनेसे महाप्रभु ९८ हैं अशोकवृक्ष आदि आठों प्रातिहार्योंके स्वामी होनेसे महाप्रातिहार्याधीश ९९ हैं और इंद्रादि सब देवोंके अधीश्वर होनेसे महेश्वर ५०० कहला-ते हैं ॥ १५५ ॥ सब मुनियोंमें उत्तम होनेसे अथवा प्रत्यक्षज्ञानी होनेसे महामुनि १ हैं, वचनालाप रहित होनेसे महामौनी २ हैं, शुक्लध्यानका ध्यान करनेसे महाध्यानी ३ हैं, विषय कषायोंको दमन करनेसे अथवा शक्तिमान् होनेसे महादम ४ हैं, अतिशय क्षमावान् होनेसे महाक्षम ५ हैं, पूर्ण ब्रह्म-चारी होनेसे अथवा शीलयुक्त होनेसे महाशील ६ हैं, स्वाभाविक परिणतिरूप अग्निमें विभाव परिण-तिरूप सामग्रीको हवनकर अथवा तपश्चरणरूप अग्निमें विषयाभिलाषाको हवनकर महायज्ञ करनेसे अथवा केवलज्ञानरूप महायज्ञ प्राप्त होनेसे महायज्ञ ७ कहलाते हैं, तथा अतिशय पूज्य होनेसे महाम-

हायज्ञो महामखः ॥ १५६ ॥ महाव्रतपतिर्मह्यो महाकांतिधरोऽधिपः महामैत्रीमयोऽमेयो महोपायो महोमयः ॥ १५७ ॥ महाकारुणिको मंता महामंत्रो महायतिः । महानादो महाघोषो महेज्यो महसांपतिः ॥ १५८ ॥ महाध्वरधरो धुर्यो महौदार्यो महिष्ठवाक् । महात्मा महसांधाम महर्षिर्महितोदयः ॥ १५९ ॥ महाक्लेशांकुशः शूरो महाभूतपतिर्गुरुः । महापराक्रमोऽनंतो महाक्रोधरिपुर्वशी ॥ १६० ॥ महाभवाब्धिसंतारी महामोहाद्रिसूदनः । महागु-

ख ८ कहे जाते हैं ॥ १५६ ॥ पंच महाव्रतोंके स्वामी होनेसे महाव्रतपति ९ हैं, जगतपूज्य होनेसे मह्य १० हैं, अत्यंत तेजको धारण करनेसे महाकांतिधर ११ हैं, समस्त जीवोंकी रक्षा करनेसे अथवा सबके स्वामी होनेसे अधिप १२ हैं, समस्त जवोंके साथ मैत्रीभाव रखनेसे महामैत्रीमय १३ हैं, किसी भी परिमाणसे गिने अथवा नापे नहीं जाते इसलिये अमेय १४ हैं, मोक्षकेलिये सबसे बडा उपाय करनेसे महोपाय १५ हैं, तथा मंगलमय, ज्ञानमय अथवा तेज स्वरूप होनेसे महोमय १६ कहलाते हैं ॥ १५७ ॥ सब जीवोंमें दया करनेसे महाकारुणिक १७ हैं, सबको जाननेसे मंता १८ हैं, अनेक मंत्रोंके स्वामी होनेसे महामंत्र १९ हैं, इंद्रियनिग्रह करनेवालोंमें सबसे श्रेष्ठ होनेसे महायति २० हैं, गंभीर दिव्यध्वनि सहित होनेसे महानाद २१ हैं, आपकी ध्वनि अतिशय सुंदर होनेसे महाघोष २२ हैं, बडे पुरुषोंके द्वारा पूज्य होनेसे अथवा केवलज्ञान रूप यज्ञ करनेसे महेज्य २३ हैं, और समस्त तेजके अधिकारी होनेसे महसांपति २४ हैं, ॥ १५८ ॥ अहिंसादि व्रतोंके धारण करनेसे महाध्वरधर २५ कहलाते हैं, धुरंधर होनेसे धुर्य २६ हैं, अतिशय उदार होनेसे महौदार्य २७ हैं, आपकी वाणी परम पूज्य होनेसे महिष्ठवाक् २८ हैं, सबमें बडे अथवा पूज्य होनेसे महात्मा २९ हैं, समस्तप्रकाश वा तेजके स्थान होनेसे महसांधाम ३० हैं, सबप्रकारकी ऋद्धियोंको प्राप्त होनेसे महर्षि १ हैं, और आपका तीर्थंकररूप अवतार सबको पूज्य होनेसे महितोदय २ कहलाते हैं ॥ १५९ ॥ बडे २ क्लेशोंको दूर करनेसे अथवा महाक्लेश अर्थात् तपश्चरणरूप अंकुशको धारण करनेसे महाक्लेशांकुश ३ हैं, घा-

णाकरः क्षांतो महायोगीश्वरः शमी ॥ १६१ ॥ महाध्यानपतिर्ध्यातमहाधर्मा महाव्रतः । महाकर्मारिहात्मज्ञो महादेवो महेशिता ॥ १६२ ॥ सर्वक्लेशापहः साधुः सर्वदोषहरो हरः । असंख्येयोऽप्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः ॥ १६३ ॥ सर्वयोगीश्वरोऽचिंत्यः श्रुतात्मा विष्टरश्रवाः । दांतात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा

तियाकर्मरूप शत्रुओंको जीतनेसे शूर ४ हैं, गणधर चक्रवर्ती आदि बडे २ पुरुषोंके स्वामी होनेसे महाभूतपति ५ हैं, सबको धर्मोपदेश देनेसे गुरु ६ हैं, अतिशय पराक्रमी होनेसे अथवा ज्ञानशक्ति अधिक होनेसे महापराक्रम ७ हैं, अंतरहित अपार होनेसे अनंत ८ हैं, क्रोधके भारी शत्रु होनेसे महाक्रोधरिपु ९ हैं और सबको वश करनेसे अथवा इंद्रियोंको वश करनेसे वशी ४० कहलाते हैं ॥ १६० ॥ संसाररूप महासागरसे पार कर देनेसे महाभवाब्धिसंतारी ४१ हैं, मोहरूपी महापर्वतको भेदन करनेसे महामोहाद्रिसूदन ४२ हैं, सम्यग्दर्शन आदि अनेक गुणोंकी खानि होनेसे महागुणाकर ४ कहलाते हैं, कषायरहित होनेसे क्षांत ४४ हैं, गणधर आदि महायोगियोंके स्वामी होनेसे महायोगीश्वर ४५ हैं तथा समस्त कर्मोंका क्षय करनेसे अथवा परम सुखी होनेसे शमी ४६ कहलाते हैं ॥ १६१ ॥ परम शुक्लध्यानके स्वामी होनेसे महाध्यानपति ४७ हैं, अहिंसाधर्मका ध्यान करनेसे ध्यातमहाधर्म ४८ हैं, महाव्रतोंको धारण करनेसे महाव्रत ४९ हैं, कर्मरूप महा शत्रुओंको नाश करनेसे महाकर्मारिहा ५० हैं, आत्माका स्वरूप जाननेसे आत्मज्ञ ५१ हैं, समस्त देवोंके स्वामी होनेसे महादेव ५२ हैं, तथा विलक्षण ऐश्वर्यको धारण करनेसे महेशिता ५ कहलाते हैं ॥ १६२ ॥ शारीरिक और मानसिक क्लेशोंको दूर करनेसे सर्वक्लेशापह ५४ हैं, निश्चय रत्नत्रयको सिद्ध करनेसे साधु ५५ हैं, भव्य जीवोंके समस्त दोष दूर करनेसे सर्वदोषाहर ५६ हैं, अनेक जन्मोंके किये हुये पापोंको हरण करनेसे हर ५७ हैं, असंख्यात गुणोंको धारण करनेसे असंख्येय ५८ हैं, प्रमाणरहित शक्तिको धारण करनेसे अप्रमेयात्मा ५९ हैं, परम शांतस्वरूप होनेसे शमात्मा ६० हैं, तथा शांतताकी खानि होनेसे प्रशमा-

ज्ञानसर्वगः ॥ १६४ ॥ प्रधानमात्मा प्रकृतिः परमः परमोदयः । प्रक्षीणबंधः कामारिः क्षेमकृत्क्षेमशासनः ॥ १६५ ॥ प्रणवः प्रणयः प्राणः प्राणदः प्रणतेश्वरः । प्रमाणं प्रणिधिर्दक्षो दक्षिणोऽध्वर्युरध्वरः ॥ १६६ ॥ आनंदो नंदनो नंदो वंद्योऽनिंद्योऽभिनंदनः । कामहा कामदः काम्यः कामधेनुर-

कर ६१ हैं ॥ १६३ ॥ समस्त योगियोंके ईश्वर होनेसे सर्वयोगीश्वर ६२ हैं, किसीके चिंतवनमें नहीं आते इसलिये अचिंत्य ६३ हैं, समस्त शास्त्रोंके रहस्यरूप होनेसे अथवा भावश्रुतज्ञानरूप होनेसे श्रुतात्मा ६४ हैं तीनोंलोकोंके समस्त पदार्थोंको जाननेसे विष्टरश्रवा ६५ हैं, जितेंद्रिय होनेसे अथवा सबको शिक्षा देनेसे दांतात्मा ६६ हैं, इंद्रियोंको दमन करनेरूप तीर्थके स्वामी होनेसे अथवा योगशास्त्रके स्वामी होनेसे दमतीर्थेश ६७ कहलाते हैं, योगस्वरूप होनेसे योगात्मा ६८ हैं, तथा ज्ञानके द्वारा सबजगह होनेसे ज्ञानसर्वग ६९ कहलाते हैं ॥ १६४ ॥ एकाग्रतासे आत्माका ध्यान करनेसे प्रधान ७० हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे आत्मा ७१ हैं, आपकी समवसरण रूप लक्ष्मी उत्कृष्ट है अथवा धर्मोपदेशरूप कार्य प्रशंसनीय है अथवा सबके कल्याणकारी हैं इसलिये प्रकृति ७२ हैं, उत्कृष्ट लक्ष्मीको धारण करनेसे परम ७३ हैं, परम उदयको धारण करनेसे अथवा आपका उदय कल्याणकारी होनेसे परमोदय ७४ हैं, कर्मबंध सब नष्ट होनेसे प्रक्षीणबंध ७५ हैं, कामदेवके परम शत्रु होनेसे कामारि ७६ हैं सबका कल्याण करनेसे क्षेमकृत् ७७ हैं, और आपका उपदेश वा मत सबको कल्याणकारी होनेसे क्षेमशासन ७८ कहलाते हैं ॥ १६५ ॥ ओंकार स्वरूप होनेसे प्रणव ७ हैं, सबके मित्र होनेसे प्रणय ८० हैं, जगतको प्रिय होनेसे अथवा सबको शरण होनेसे प्राण ८१ हैं अतिशय दयालु होनेसे प्राणोंको देनेवाले हैं इसलिये प्राणद ८२ हैं, प्रणाम करते हुये इंद्रादिकोंके स्वामी हैं अथवा प्रणाम करते हुये भव्य जीवोंका पालन पोषण करनेवाले हैं इसलिये प्रणतेश्वर ८३ हैं, प्रमाण नयके वक्ता होनेसे अथवा ज्ञानस्वरूप होनेसे वा ज्ञानका साधन होनेसे अथवा लोकप्रमाण वा देह प्रमाण होनेसे प्रमाण ८४ हैं,

रिंजयः ॥ १६७ ॥ असंस्कृतसुसंस्कारोऽप्राकृतो वैकृतांतकृत् । अंतकृत्कांतगुः कांतचिंतामणिरभीष्टदः ॥ १६८ ॥ अजितो जितकामारिरमितोऽमित-
शासनः । जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितांतकः ॥ १६९ ॥ जिनेंद्रः परमानंदो मुनींद्रो दुंदुभिस्वनः । महेंद्रवंद्यो योगींद्रो यतींद्रो नाभिनंदनः

योगी लोग आपको बडी गुप्त रीतिसे चिंतवन करते हैं अथवा सबके मर्मी वा जाननेवाले हैं इसलिये आपको प्रणधि ८५ कहते हैं, मोक्ष प्राप्त करनेमें चतुर होनेसे दक्ष ८६ हैं, सरलस्वभाव होनेसे दक्षिण ८७ हैं, केवलज्ञानरूप यज्ञको करनेसे अथवा पापरूप कर्मोंका हवन करनेसे अध्वर्यु ८८ हैं, तथा सन्मार्गकी प्रवृत्ति करनेसे अध्वर ८९ हैं ॥ १६६ ॥ सदा संतुष्ट रहनेसे आनंद ९० हैं, सबको आनंद देनेसे नंदन ९१ हैं, सदा बढते रहनेसे नंद ९२ हैं, सबके द्वारा वंदना अथवा स्तुति करने योग्य होनेसे वंद्य ९३ हैं, अठारह प्रकारके दोषोंसे रहित होनेके कारण सबप्रकारकी निंदाके अयोग्य हैं इसलिये अनिंद्य ९४ हैं, सर्वथा आनंददायक होनेसे अथवा आपके समवसरणके चारों बन भयरहित होनेसे अभिनंदन ९५ हैं, कामदेवको नाश करनेसे कामहा ९६ हैं, भक्त भव्य जीवोंकी इच्छा पूर्ण करदेनेसे कामद ९७ हैं, अतिशय मनोहर होनेसे अथवा आपकी प्राप्तिकी सबको इच्छा होनेसे काम्य ९८ हैं, इच्छित पदार्थोंको देनेसे कामधेनु ९९ हैं, और रागादि समस्त शत्रुओंको जीतलेनेसे अरिंजय ६०० कहलाते हैं ॥ १६७ ॥ बिना किसी संस्कारके स्वभावसे ही सुंदर होनेसे असंस्कृतसुसंस्कार १ हैं, आपका स्वरूप प्रकृतिसे उत्पन्न नहीं हुआ है असाधारण वा अद्वितीय है इसलिये आप अप्राकृत २ हैं, रोग अथवा विकारोंको नाश करनेसे वैकृतांतकृत् ३ हैं, जन्ममरणरूप संसारको नाश करनेसे अथवा मोक्षको समीप करनेसे अंतकृत् ४ हैं, सुंदर वाणी अथवा सुंदर प्रभा होनेसे कांतगु ५ हैं, शोभायुक्त होनेसे कांत ६ हैं, चिंतामणिके समान इच्छित पदार्थोंको देनेसे चिंतामणि ७ हैं, तथा भव्य जीवोंको इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति कराते हैं इसलिये अभीष्टद ८ हैं ॥१६८॥ काम क्रोधादि किसी भी योद्धासे आप जीते नहीं जाते इसलिये अजित ९ हैं, कामरूप शत्रु

॥ १७० ॥ नाभेयो नाभिजोऽजातः सुव्रतो मनुरुत्तमः । अभेद्योऽनत्ययोऽनाश्वानधिकोऽधिगुरुः सुगीः ॥ १७१ ॥ सुमेधा विक्रमी स्वामी दुराधर्षो निरुत्सुकः । विशिष्टः शिष्टभुक् शिष्टः प्रत्ययः कामनोऽनघः ॥ १७२ ॥ क्षेमी क्षेमंकरोऽक्षय्यः क्षेमधर्मपतिः क्षमी । अग्राह्यो ज्ञाननिग्राह्यो ध्यानगम्यो

को जीतनेसे जितकामारि १० हैं, मर्यादारहित होनेसे अमित ११ हैं, आपका शासन अपार होनेसे अमितशासन १२ हैं, क्रोधको जीतलेनेसे जितक्रोध १३ हैं, कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेसे जितामित्र १४ हैं, समस्त क्लेशोंको जीतनेसे जितक्लेश १५ हैं, और यमको जीतनेसे जितांतक १६ कहे जाते हैं ॥ १६९ ॥ गणधरादि जिनोंके इंद्र होनेसे जिनेंद्र १७ हैं, उत्कृष्ट आनंदस्वरूप होनेसे परमानंद १८ हैं, मुनियोंके इंद्र होनेसे मुनींद्र १९ हैं, दुंदुभियोंके समान आपकी ध्वनि होनेसे दुंदुभिस्वन २० हैं, महेंद्रके द्वारा पूज्य होनेसे महेंद्रवंद्य २१ हैं, योगियोंके इंद्र होनेसे योगींद्र २२ हैं, यतियोंके इंद्र होनेसे यतींद्र २३ हैं, और महाराज नाभिके पुत्र होनेसे नाभिनंदन २४ कहलाते हैं ॥ १७० ॥ पिताका नाम नाभि होनेसे नाभेय २५ कहलाते हैं, महाराज नाभिके घर जन्म लेनेसे नाभिज २६ हैं, उत्पत्तिरहित होनेसे अजात २७ हैं, अहिंसा आदि उत्तम व्रत होनेसे सुव्रत २८ हैं, कर्मभूमिकी रचनाका अथवा मोक्षमार्गका स्वरूप बतानेसे मनु २९ हैं, सबसे श्रेष्ठ होनेसे उत्तम ३० हैं, किसीसे भी आपका भेदन नहीं हो सकता इसलिये अभेद्य ३१ हैं, नाशरहित होनेसे अनत्यय ३२ हैं, अनशन आदि तपश्चरण करनेसे अनाश्वान ३३ हैं, सबमें अधिक अर्थात् पूज्य होनेसे अधिक ३४ हैं, सबसे उत्तम उपदेश देनेसे अधिगुरु ३५ हैं, तथा आपकी दिव्यध्वनि सबको कल्याणकारी होनेसे सुगी ३६ कहलाते हैं ॥ १७१ ॥ सम्यग्ज्ञान होनेसे सुमेधा ३७ हैं, महापराक्रमी होनेसे विक्रमी ३८ हैं, सबके स्वामी होनेसे अथवा सब पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानी होनेसे स्वामी ३९ हैं, किसीके द्वारा निवारण नहीं किये जाते इसलिये दुराधर्ष ४० हैं, अभिलाषा रहित होनेसे अथवा स्थिरस्वभाव होनेसे निरुत्सुक ४१ हैं, विशेषरूप होनेसे विशिष्ट ४२ हैं, शिष्ट पुरुषोंका

निरुत्तरः ॥ १७३ ॥ सुकृती धातुरिज्यार्हः सुनयश्चतुराननः । श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रश्चतुरास्यश्चतुर्मुखः ॥ १७४ ॥ सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक् सत्यशासनः । सत्याशीः सत्यसंधानः सत्यः सत्यपरायणः ॥ १७५ ॥ स्थेयान् स्थवीयान्नेदीयान् दवीयान् दूरदर्शनः । अणोरणीयाननणुर्गुरुराद्यो गरीयसां

पालन करनेसे शिष्टभुक् ४३ हैं, रागद्वेष मोह आदि दोषोंसे रहित होनेसे शिष्ट ४४ हैं, विश्वासरूप होनेसे अथवा ज्ञानस्वरूप होनेसे प्रत्यय ४५ हैं, मनोहर होनेसे कामन ४६ हैं, और पापरहित होनेसे अनघ ४७ हैं ॥ १७२ ॥ मोक्ष प्राप्त होनेसे क्षेमी ४८ हैं सबका कल्याण करनेसे क्षेमंकर ४९ हैं, आपका कभी क्षय नहीं होता इसलिये अक्षय्य ५० हैं सब जीवोंका कल्याण करनेवाले जैनधर्मके प्रवर्तक होनेसे क्षेमधर्मपति ५१ हैं, क्षमावान् होनेसे क्षमी ५२ हैं, इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण न होनेसे अथवा मिथ्यात्वियोंके द्वारा ग्रहण न होनेसे अग्राह्य ५३ हैं, निश्चयज्ञानके द्वारा ग्रहण करने योग्य होनेसे ज्ञाननिग्राह्य ५४ हैं, ध्यानके द्वारा जानने योग्य होनेसे ध्यानगम्य ५५ हैं, और सबसे उत्कृष्ट होनेसे निरुत्तर ५६ हैं ॥ १७३ ॥ पुण्यवान् होनेसे सुकृती ५७ हैं, शब्दोंकी खानि होनेसे धातु ५८ हैं, पूजा करनेके योग्य होनेसे इज्यार्ह ५९ हैं, नयोंके अच्छे जानकर होनेसे सुनय ६० हैं, लक्ष्मीके निवासस्थान होनेसे श्रीनिवास ६१ हैं, और एक मुख होकर भी चारोंओरसे दर्शन होनेसे अथवा लोगोंको चार मुख दिखनेसे चतुरानन ६२ चतुर्वक्त्र ६३ चतुरास्य ६४ तथा चतुर्मुख ६५ कहलाते हैं ॥१७४॥ सत्यस्वरूप होनेसे अथवा जीवोंका कल्याण करनेसे सत्यात्मा ६६ हैं, आपका विज्ञान सत्य अथवा सफल होनेसे सत्यविज्ञान ६७ हैं, आपकी वाणी यथार्थ पदार्थोंका निरूपण करनेवाली होनेसे सत्यवाक् ६८ हैं, आपका शासन (मत) यथार्थ होनेसे अथवा सफल अर्थात् साक्षात् मोक्ष प्राप्त करानेवाला होनेसे सत्यशासन ६९ हैं, दोनों लोकोंमें फलदायक होनेसे सत्याशी ७० हैं, प्रतिज्ञाको दृढ रखनेसे अथवा सत्यस्वरूप रखनेसे सत्यसंधान ७१ हैं, शुद्ध मोक्षस्वरूप होनेसे सत्य ७२ हैं, तथा सत्य स्वरूपमें त-

॥ १७६ ॥ सदायोगः सदाभोगः सदातृप्तः सदाशिवः । सदागतिः सदासौख्यः सदाविद्यः सदोदयः ॥ १७७ ॥ सुघोषः सुमुखः सौम्यः सुखदः सहितः सुहृत् । सुगुप्तो गुप्तिभृद्गोप्ता लोकाध्यक्षो दमेश्वरः ॥ १७८ ॥ बृहद्बृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरुदारधीः । मनीषी धिषणो धीमान् शेमुषीशो गि-

त्पर होनेसे सत्यपरायण ७३ कहेजाते हैं ॥ १७५ ॥ अत्यंत स्थिर होनेसे स्थेयान् ७४ हैं, अतिशय स्थूल होनेसे स्थवीयान् ७५ हैं, भक्तोंके समीप होनेसे नेदीयान् ७६ हैं, पापोंसे दूर रहनेसे दवीयान् ७७ हैं, आपके दर्शन दूरसे ही होते हैं इसलिये दूरदर्शन ७८ हैं, परमाणुसे भी अत्यंत सूक्ष्म होनेसे अणोरणीयान् (अणोः–अणीयान्) ७९ हैं, सूक्ष्म न होनेसे अनणु ८० हैं, बडोंमें सबसे बडे होनेसे गरीयसां आद्य गुरु ८१ कहलाते हैं ॥ १७६ ॥ सदा योगस्वरूप होनेसे सदायोग ८२ हैं, सदा आनंदके भोक्ता होनेसे सदाभोग ८३ हैं, सदा तृप्त रहनेसे सदातृप्त ८४ हैं, सदा कल्याणस्वरूप अथवा मोक्षस्वरूप रहनेसे सदाशिव ८५ हैं, सदा ज्ञानस्वरूप होनेसे सदागति ८६ हैं, सदा सुखस्वरूप होनेसे सदासौख्य ८७ हैं, सदा ज्ञानस्वरूप रहनेसे सदाविद्य ८८ हैं, और सदा उदयरूप होनेसे अर्थात् सदा कल्याणस्वरूप अथवा प्रकाशस्वरूप रहनेसे सदोदय ८९ कहलाते हैं ॥ १७७ ॥ आपका सुंदर शब्द होनेसे सुघोष ९० हैं, सुंदर मुख होनेसे सुमुख ९१ हैं, शांत रहनेसे सौम्य ९२ हैं, सबको सुखदेनेसे सुखद ९३ हैं, सबका हित करनेसे सुहित ९४ हैं, निष्कपट शुद्ध निर्मल होनेसे सुहृत् ९५ हैं, मिथ्यादृष्टियोंको आपका स्वरूप न जाननेसे सुगुप्त ९६ हैं, तीनों गुप्तियोंको पालन करनेसे गुप्तिभृत् ९७ हैं, पापोंसे आत्माकी रक्षा करनेसे अथवा जीवोंकी रक्षा करनेसे गोप्ता ९८ हैं, तीनों लोकोंको प्रत्यक्ष देखनेसे लोकाध्यक्ष ९९ हैं, और इंद्रिय दमन करनेरूप तपश्चरणके स्वामी होनेसे दमेश्वर ७०० कहलाते हैं[1] ॥ १७८ ॥ इंद्रोंके सबसे बडे गुरु होनेसे बृहद्बृहस्पति १ हैं, विलक्षण वक्ता होनेसे वाग्मी २ हैं, वाणीके स्वामी होनेसे वाचस्पति

१ इस शतकमें ६२७-६२८ वां दोनों मिलकर जात सुव्रत एक नामभी है और फिर ६८१ के गरीयसां आद्य तथा गरीयसां गुरु ऐसे दो नाम हैं,

रांपतिः ॥ १७९ ॥ नैकरूपो नयोत्तुंगो नैकात्मा नैकधर्मकृत् । अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यात्मा कृतज्ञः कृतलक्षणः ॥ १८० ॥ ज्ञानगर्भो दयागर्भो रत्नगर्भः प्रभास्वरः । पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः ॥ १८१ ॥ लक्ष्मीवान् त्रिदशाध्यक्षो दृढीयानिन ईशिता । मनोहरो मनोज्ञांगो धीरो गंभीरशासनः

३ हैं, उदार बुद्धि होनेसे अर्थात् सबको धर्मका उपदेश देनेसे उदारधी ४ हैं, बुद्धिमान होनेसे मनीषी ५ हैं, अपार बुद्धिमान होनेसे धिषण ६ हैं, धीमान् ७ हैं, बुधिके स्वामी होनेसे शेमुषीश ८ हैं और सबप्रकारकी भाषाओंके स्वामी होनेसे गिरांपति ९ हैं ॥ १७९ ॥ अनेकरूप होनेसे नैकरूप १० हैं, नयोंका उत्कृष्ट स्वरूप कहनेसे नयोत्तुंग ११ हैं, अनेक गुणोंको धारण करनेसे नैकात्मा १२ हैं, पदार्थोंको अनेक धर्मरूप कथन करनेसे नैकधर्मकृत् १३ हैं, साधारण पुरुषोंके द्वारा जाननेके अयोग्य होनेसे अविज्ञेय १४ हैं, आपके स्वरूपमें कोई तर्क वितर्क नहीं कर सक्ते इसालिये अप्रतर्क्यात्मा १५ हैं, जीवोंके समस्त कृत्य जाननेसे कृतज्ञ १६ हैं, और समस्त सुलक्षणों सहित होनेसे कृतलक्षण १७ हैं, ॥ १८० ॥ अंतरंगमें ज्ञान होनेसे ज्ञानगर्भ १८ हैं, दयालु होनेसे दयागर्भ १९ हैं, रत्नत्रयोंको धारण करनेसे अथवा गर्भावस्थामें ही रत्नत्रयका स्वरूप जाननेंसे अथवा गर्भावतार होनेसे पहिले ही रत्नोंकी वर्षा होनेसे रत्नगर्भ २० हैं, अतिशय प्रभावशाली होनेसे प्रभास्वर २१ हैं गर्भावस्थामें ही लक्ष्मी प्राप्त होनेसे पद्मगर्भ २२ हैं, आपके ज्ञानके भीतर समस्त जगत होनेसे जगद्गर्भ २३ हैं, आपका आत्मा सुवर्णके समान निर्मल होनेसे अथवा गर्भावतारके समय सुवर्णकी वर्षा होनेसे हेमगर्भ २४ हैं, तथा आपका सुंदर दर्शन होनेसे सुदर्शन २५ हैं, ॥ १८१ ॥ समवसरणादि ऐश्वर्य सहित होनेसे लक्ष्मीवान २६ हैं, देवोंको प्रत्यक्ष होनेसे अथवा तेरह प्रकारके चारित्रको धारण करनेवाले मुनियोंको प्रत्यक्ष होनेसे अथवा वाल युवा वृद्ध तीनों अवस्थाओंमें एकसा प्रत्यक्ष होनेसे त्रिदशाध्यक्ष २७ हैं, अत्यंत दृढ होनेसे दृढीयान् २८ हैं, सबके स्वामी होनेसे इन २९ हैं, तेजोनिधि अथवा ऐश्वर्यवान् होनेसे ईशिता ३० हैं, भव्य जीवों-

॥ १८२ ॥ धर्मयूपो दयायागो धर्मनेमिर्मुनीश्वरः । धर्मचक्रायुधो देवः कर्महा धर्मघोषणः ॥ १८३ ॥ अमोघवागमोघाज्ञो निर्मलोऽमोघशासनः । सुरूपः सुभगस्त्यागी समयज्ञः समाहितः ॥ १८४ ॥ सुस्थितः स्वास्थ्यभाक् स्वस्थो नीरजस्को निरुद्धवः । अलेपो निष्कलंकात्मा वीतरागो गतस्पृहः

के अंतःकरणको हरण करनेसे मनोहर ३१ हैं, अंग उपांग मनोहर होनेसे मनोज्ञांग ३२ हैं, बुद्धिको प्रेरणा करनेसे अथवा भव्य जीवोंको सुबुद्धि देनेसे धीर ३३ हैं, आपका शासन अथवा शास्त्र गंभीर होनेसे गंभीरशासन ३४ हैं ॥ १८२ ॥ धर्मके स्तंभ होनेसे धर्मयूप ३५ हैं, सब जीवोंपर दया करना ही आपकी पूजा होनेसे दयायाग ३६ हैं, धर्मरूप रथकी धुरा होनेसे धर्मनेमि ३७ हैं, मुनियोंके ईश्वर होनेसे मुनीश्वर ३८ हैं, धर्मचक्र ही आपका आयुध होनेसे धर्मचक्रायुध ३९ हैं, परमानंदमें क्रीडा करनेसे देव ४० हैं, शुभाशुभ कर्मोंको नाश करनेसे कर्महा ४१ हैं, और धर्मका उपदेश देनेसे धर्मघोषण ४२ हैं, ॥ १८३ ॥ श्रोताओंको यथार्थ बोध करनेवाली आपकी वाणी होनेसे अमोघवाक् ४३ हैं, आपकी आज्ञा कभी व्यर्थ न होनेसे अमोघाज्ञ ४४ हैं, ममत्वरहित होनेसे निर्मल ४५ हैं, आपका शास्त्र कभी व्यर्थ न होनेसे अर्थात् जीवोंको मोक्ष प्राप्त करदेनेसे अमोघशासन ४६ हैं, आपका स्वरूप आनंद दायक होनेसे सुरूप ४७ हैं, आपके ज्ञानका अतिशय माहात्म्य होनेसे सुभग ४८ हैं, ज्ञानदान अभयदान आदि देनेसे त्यागी ४९ हैं, आत्मा सिद्धांत अथवा कालका स्वरूप जाननेसे समयज्ञ ५० हैं, और समाधानरूप होनेसे अथवा ध्यानस्वरूप होनेसे समाहित ५१ हैं, ॥ १८४ ॥ निश्चल अथवा सुखमें निमग्न रहनेसे सुस्थित ५२ हैं, आत्माकी निश्चलताको सेवन करनेसे स्वास्थ्यभाक ५३ हैं, सदा आत्मनिष्ट होनेसे स्वस्थ ७५४ हैं, कर्मरूप रजसे रहित होनेसे अथवा ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मरहित होनेसे नीरजस्क ५५ हैं, आपका कोई स्वामी न होनेंसे निरुद्धव ५६ हैं, कर्मके लेपसे रहित होनेसे अलेप ५७ हैं, दोषरहित होनेसे निष्कलंकात्मा ५८ हैं, रागादि दोपोंसे रहित होनेसे अथवा मोक्षल-

॥ १८५ ॥ वश्येंद्रियो विमुक्तात्मा निःसपत्नो जितेंद्रियः । प्रशांतोऽनंतधामर्षिर्मंगलं मलहाऽनघः ॥ १८६ ॥ अनीदृगुपमाभूतो दिष्टिर्दैवमगोचरः । अमूर्तो मूर्तिमानेको नैको नानैकतत्त्वदृक् ॥ १८७ ॥ अध्यात्मगम्योऽगम्यात्मा योगविद्योगिवंदितः । सर्वत्रगः सदाभावी त्रिकालविषयार्थदृक् ॥ १८८ ॥

क्ष्मीमें प्रेम होनेसे वीतराग ५९ हैं, तथा इच्छा रहित होनेसे गतस्पृह ६० हैं, ॥ १८५ ॥ इंद्रियोंको वश करनेसे वश्येंद्रिय ६१ हैं, संसाररूपी बंधनसे रहित होनेके कारण विमुक्तात्मा ६२ हैं, दुष्टभाव न रहनेसे अथवा निष्कंटक होनेसे निःसपत्न ६३ हैं, इंद्रियोंको जीतनेसे जितेंद्रिय ६४ हैं, शांत होनेसे अथवा राग द्वेष रहित होनेसे प्रशांत ६५ हैं, अनंत प्रकाश को धारण करते हुये भी पूज्य होनेसे अनंतधामर्षि ६६ हैं, सबको सुख देनेसे मंगल ६७ हैं, पापको दूर करनेसे मलहा ६८ हैं, और पाप रहित होनेसे अनघ ६९ हैं ॥ १८६ ॥ आपके समान अन्य कोई न होनेसे अनीदृक् ७० हैं सबके लिये उपमायोग्य होनेसे उपमाभूत ७१ हैं, महा भाग्यशाली अथवा शुभाशुभदाता होनेसे दिष्टि ७२ हैं, प्रबल अथवा स्तुति करने योग्य होनेसे दैव ७३ हैं, इंद्रियोंके अगोचर अथवा बचनोंके अगोचर होनेसे अगोचर ७४ हैं, शरीर रहित होनेसे अमूर्त ७५ हैं, पुरुषाकार होनेसे मूर्तिमान ७६ हैं, अद्वितीय होनेसे अथवा विना किसीकी सहायतासे मोक्षप्राप्ति करलेनेसे एक ७७ हैं, अनेकरूप होनेसे अथवा सब भव्यजीवोंको सहायक होनेसे नैक ७८ हैं, और आत्माके सिवाय अन्य तत्त्वोंको न देखनेसे अर्थात् उनमें तल्लीन न होनेसे नानैकतत्त्वदृक् ७९ हैं ॥ १८७ ॥ केवल अध्यात्मशास्त्रोंसे जानने योग्य होनेसे अध्यात्मगम्य ८० हैं, संसारी जीवोंके जानने योग्य न होनेसे अगम्यात्मा ८१ हैं, योगके जानकार होनेसे योगवित् ८२ हैं, योगियोंके द्वारा बंदना करनेयोग्य होनेसे योगिवंदित ८३ हैं, ज्ञानके द्वारा सबजगह व्याप्त होनेसे सर्वत्रग ८४ हैं, सदा विद्यमान रहनेसे सदाभावी ८५ हैं, और तीनों काल संबंधि समस्त पदार्थोंको देखनेसे त्रिकालविषयार्थदृक् ८६ हैं ॥ १८८ ॥ सबको सुखको कर्ता होनेसे शंकर ८७ हैं, यथार्थसुखके अर्थात् मोक्षरूप

शंकरः शंवदो दांतो दमी क्षांतिपरायणः । अधिपः परमानंदः परात्मज्ञः परात्परः ॥ १८९ ॥ त्रिजगद्वल्लभोऽभ्यर्च्यस्त्रिजगन्मंगलोदयः । त्रिजगत्पतिपूज्यांघ्रिस्त्रिलोकाग्रशिखामणिः ॥ १९० ॥ त्रिकालदर्शी लोकेशो लोकधाता दृढव्रतः । सर्वलोकातिगः पूज्यः सर्वलोकैकसारथिः ॥ १९१ ॥ पुराणः पु-

सुखके वक्ता होनेसे शंवद ८८ हैं, मनको वश करनेसे दांत ८९ हैं, इंद्रियोंको निग्रह करनेसे दमी ९० हैं, क्षमा करनेमें सदा तत्पर रहनेसे क्षांतिपरायण ९१ हैं, जगतके अधिपति होनेसे अधिप ९२ हैं, अत्यंत सुखी होनेसे परमानंद ९३ हैं, निज परके ज्ञाता होनेसे अथवा विशुद्ध आत्माका स्वरूप जाननेसे परात्मज्ञ ९४ हैं, तथा सबसे श्रेष्ठ होनेसे परात्पर ९५ हैं ॥ १८९ ॥ तीनों लोकोंको प्रिय होनेसे त्रिजगद्वल्लभ ९६ हैं, सबके पूज्य होनेसे अभ्यर्च्य ९७ हैं, तीनों लोकोंमें मंगलदाता होनेसे त्रिजगन्मंगलोदय ९८ हैं, आपके चरणकमल तीनों लोकोंके इंद्रोंके द्वारा पूज्य होनेसे त्रिजगत्पतिपूज्यांघ्रि ९९ कहलाते हैं, और तीनोंलोकोंके शिखरके शिखामणि होनेसे त्रिलोकाग्रशिखामणि ८०० कहे जाते हैं ॥ १९० ॥ भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंको प्रत्यक्ष देखनेसे त्रिकालदर्शी १ हैं, तीनों लोकोंके प्रभु होनेसे लोकेश २ हैं, समस्त प्राणियोंकी रक्षाका उपदेश देनेसे लोकधाता ३ हैं, स्वीकार किये हुये चारित्रको निश्चल रखनेसे दृढव्रत ४ हैं, तीनोंलोकोंके प्राणियोंमें सर्वोत्कृष्ट होनेसे सर्वलोकातिग ५ हैं, पूजाके योग्य होनेसे पूज्य ६ हैं, और समस्त प्राणियोंकेलिये मुख्य रीतिसे मोक्षमार्गका स्वरूप दिखलानेसे सर्वलोकैकसारथि ७ कहे जाते हैं ॥ १९१ ॥ सबसे प्राचीन होनेसे अथवा मुक्तपर्यंत शरीरमें निवास करनेसे पुराण ८ हैं, सबमें बडे होनेसे अथवा सबको तृप्त करनेसे अथवा पूज्य समवसरणमें स्थित रहनेसे पुरुष ९ हैं, सबसे पूर्व अर्थात् अग्रेसर होनेसे पूर्व १० हैं, ग्यारह अंग चौदह पूर्वका समस्त विस्तार निरूपण करनेसे कृतपूर्वांगविस्तर ११ हैं, सब देवोंमें मुख्य होनेसे आदिदेव १२ हैं, सब पुराणोंमें प्रथम होनेसे पुराणाद्य १३ हैं, इंद्रादि देव मुख्यतासे आपकी ही आराधना करते हैं, अथवा आप सबके ईश्वर हैं,

रूपः पूर्वः कृतपूर्वांगविस्तरः । आदिदेवः पुराणाद्यः पुरुदेवोऽधिदेवता ॥१९२॥ युगमुख्यो युगज्येष्ठो युगादिस्थितिदेशकः । कल्याणवर्णः कल्याणः कल्यः कल्याणलक्षणः ॥ १९३ ॥ कल्याणप्रकृतिर्दीप्तकल्याणात्मा विकल्मषः । विकलंकः कलातीतः कलिलघ्नः कलाधरः ॥ १९४ ॥ देवदेवो जगन्नाथो जगद्बंधुर्जगद्विभुः । जगद्धितैषी लोकज्ञो सर्वगो जगदग्रजः ॥ १९५ ॥ चराचरगुरुर्गोप्यो गूढात्मा गूढगोचरः । सद्योजातः प्रकाशात्मा ज्वलज्ज्वलन-

इसलिये पुरुदेव १४ हैं और देवोंके भी देव होनेसे अधिदेवता १५ हैं ॥१९२॥ इस अवसर्पिणी कालमें मुख्य होनेसे युगमुख्य १६ कहे जाते हैं, इसी युगमें सबसे बडे होनेसे युगज्येष्ट १७ हैं, कर्मभूमिके प्रारंभमें कर्मभूमिकी स्थितिके मुख्य उपदेशक होनेसे युगादिस्थितिदेशक १८ कहलाते हैं, आपके शरीरकी कांति सुवर्णके समान होनेसे कल्याणवर्ण १९ हैं, कल्याण स्वरूप होनेसे कल्याण २० हैं, सबके कल्याण करनेमें समर्थ होनेसे कल्य २१ हैं, तथा मंगलस्वरूप होनेसे अथवा कल्याणरूप लक्षणोंको धारण करनेसे कल्याणलक्षण २२ कहलाते हैं, ॥ १९३ ॥ आपका स्वभाव ही कल्याणस्वरूप होनेसे कल्याणप्रकृति २३ कहे जाते हैं, चारों ओर प्रकाशमान होता हुआ पुण्य अथवा कल्याण ही आपका स्वरूप है, इसलिये आप दीप्तकल्याणात्मा २४ हैं, पापरहित होनेसे विकल्मष २५ हैं, काम आदि कलंकसे रहित होनेके कारण विकलंक २६ हैं, शरीररहित होनेसे कलातीत २७ हैं, पापोंको नाश करनेवाले हैं, अतएव कलिलघ्न २८ हैं, और अनेक कलाओंको धारण करनेसे कलाधर २९ कहे जाते हैं, ॥ १९४ ॥ इंद्रादि सब देवोंके देव होनेसे देवदेव ३० हैं, तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे जगन्नाथ ३१ हैं, तीनों लोंकोंके हित करनेसे जगद्बंधु ३२ हैं, समस्त जगतके प्रभु होनेसे जगद्विभु ३३ हैं, तीनोंलोकोंकेलिये कल्याण करनेकी इच्छा रखनेसे जगद्धितैषी ३४ हैं, तीनों लोकोंको जाननेसे लोकज्ञ ३५ हैं, केवलज्ञानके द्वारा सब जगह व्याप्त होनेसे सर्वग ३६ हैं, तथा समस्त जगतमें श्रेष्ठ होनेसे अथवा जगतके मुख्य स्थानमें उत्पन्न होनेसे जगदग्रज ३७ हैं, ॥ १९५ ॥ त्रस स्थावर आदि सब जी-

सप्रभः ॥ १९६ ॥ आदित्यवर्णो भर्माभः सुप्रभः कनकप्रभः । सुवर्णवर्णो रुक्माभः सूर्यकोटिसमप्रभः ॥ १९७ ॥ तपनीयनिभस्तुंगो बालार्काभोऽनलप्रभः । संध्याभ्रबभ्रुर्हेमाभस्तप्तचामीकरप्रभः ॥ १९८ ॥ निष्टप्तकनकच्छायः कनत्कांचनसन्निभः । हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः शातकुंभनिभप्रभः ॥१९९॥ द्युम्नाभो जातरूपाभो तप्तजांबूनदद्युतिः । सुधौतकलधौतश्रीः प्रदीप्तो हाटकद्युतिः ॥ २०० ॥ शिष्टेष्टः पुष्टिदः पुष्टः स्पष्टः स्पष्टाक्षरः क्षमः । शत्रुघ्नो-

---

वोंके गुरु होनेसे चराचरगुरु ३८ हैं, हृदयमें बडे यत्नसे स्थापन करनेके योग्य होनेसे गोप्य ३९ हैं, आपका स्वरूप अत्यंत गुप्त होनेसे गूढात्मा ४० हैं, गूढ अर्थात् जीवादि पदार्थोंको जाननेसे गूढ गोचर ४१ हैं, आप सदा तुरत उत्पन्न होनेके समान देख पडते हैं, अर्थात् सदा नवीन ही जान पडते हैं इसलिये सद्योजात ४२ हैं प्रकाशस्वरूप होनेसे प्रकाशात्मा ४३ हैं, और जलती हुई अग्निके समान दैदीप्यमान होनेसे ज्वलज्ज्वलनसप्रभ ४४ कहे जाते हैं, ॥ १९६ ॥ सूर्यके समान तेजस्वी होनेसे आदित्यवर्ण ४५ कहलाते हैं सुवर्णके समान कांति युक्त होनेसे भर्माभ ४६ हैं, मनको आनंद दायक सुंदर कांति होनेसे सुप्रभ ४७ हैं, सुवर्णके समान उज्वल कांति होनेसे कनकप्रभ ४८ सुवर्णवर्ण ४९ तथा रुक्माभ ५० कहे जाते हैं, और करोडों सूर्यके समान प्रभा होनेसे सूर्यकोटिसमप्रभ ५१ कहलाते हैं, ॥१९७॥ सुवर्णके समान पीतवर्ण होनेसे तपनीयनिभ ५२ हैं, ऊंचे शरीरको धारण करनेसे तुंग ५३ हैं, उदय होते हुये सूर्यके समान कांतिमान् और सुंदर होनेसे बालार्काभ ५४ हैं, अग्निके समान होनेसे अनलप्रभ ५५ हैं, संध्याके बादलोंके समान सुंदर होनेसे संध्याभ्रबभ्रु ५६ कहे जाते हैं, सुवर्णके समान होनेसे हेमाभ ५७ हैं, तथा तपाये हुये सुवर्णके समान कांति युक्त होनेसे तप्तचामीकरप्रभ ५८ कहलाते हैं, ॥ १९८॥ सुवर्णके समान उज्वल और कांतियुक्त होनेसे निष्टप्तकनकच्छाय ५९ कनत्कांचनसन्निभ ६० हिरण्यवर्ण ६१ स्वर्णाभ ६२ शातकुंभनिभप्रभ ६३ द्युम्नाभ ६४ जातरूपाभ ६५ तप्तजांबूनदद्युति ६६ सुधौतकलधौतश्री ६७ और हाटकद्युति ६८ कहलाते हैं, तथा दैदीप्यमान होनेसे प्रदीप्त ६९ कहलाते हैं ॥१९९-२००॥

प्रतिघोऽमोघः प्रशास्ता शासिता स्वभूः ॥ २०१ ॥ शांतिनिष्ठो मुनिज्येष्ठः शिवतातिः शिवप्रदः । शांतिदः शांतिकृत् शांतिः कांतिमान् कामितप्रदः ॥ २०२ ॥ श्रेयोनिधिरधिष्ठानमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः । सुस्थितः स्थावरः स्थाणुः प्रथीयान् प्रथितः पृथुः ॥ २०३ ॥ दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रंथेशो निरंबरः । निष्किंचनो निराशंसो ज्ञानचक्षुरमोमुहः ॥ २०४ ॥ तेजोराशिरनंतौजा ज्ञानाब्धिः शीलसागरः । तेजोमयोऽमितज्योतिर्ज्योतिर्मूर्तिस्तमोऽपहः

इंद्रादि उत्तम पुरुषोंके प्रिय होनेसे शिष्टेष्ट ७० हैं, पुष्टिके दाता होनेसे पुष्टिद ७१ हैं, महा बलवान् होनेसे पुष्ट ७२ हैं, सबको प्रगट दिखाई देनेसे स्पष्ट ७३ हैं, आपकी वाणी स्पष्ट तथा आनंद दायिनी होनेसे स्पष्टाक्षर ७४ हैं, समर्थ होनेसे क्षम ७५ हैं कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेसे शत्रुघ्न ७६ हैं, क्रोधरहित होनेसे अप्रतिग ७७ हैं, सफल अर्थात् कृतकृत्य होनेसे अमोघ ७८ हैं, धर्मोपदेश देनेसे प्रशास्ता ७९ हैं रक्षक होनेसे शासिता ८० हैं, तथा अपने आप उत्पन्न होनेसे स्वभू ८१ हैं ॥ २०१ ॥ काम क्रोध आदिको नष्ट करनेसे अथवा शांत होनेसे शांतनिष्ठ ८२ हैं, मुनियोंमें श्रेष्ठ होनेसे मुनिज्येष्ठ ८३ हैं, सुखकी परंपरा होनेसे शिवताति ८४ हैं, कल्याणके दाता होनेसे शिवप्रद ८५ हैं, शांतिदायक होनेसे शांतिद ८६ हैं, समस्त उपद्रवोंको शांत करनेसे शांतिकृत् ८७ हैं, कर्मोंको क्षय करनेसे शांति ८८ हैं, कांतियुक्त होनेसे कांतिमान् ८९ हैं, तथा मनवांच्छित फलोंको देनेसे कामितप्रद ९० कहे जाते हैं ॥ २०२ ॥ कल्याणके समुद्र होनेसे श्रेयोनिधि ९१ हैं, धर्मके मूलकारण वा आधार होनेसे अधिष्ठान ९२ हैं, अपने आप ही ईश्वर होनेसे अप्रतिष्ठ ९३ हैं, सब जगह प्रतिष्ठित होनेसे प्रतिष्ठित ९४ हैं, अतिशय स्थिर होनेसे सुस्थित ९५ हैं, विहार रहित होनेसे स्थावर ९६ हैं, निश्चल होनेसे स्थाणु ९७ हैं, विस्तृत होनेसे प्रथीयान् ९८ हैं, अतिशय प्रसिद्ध होनेसे प्रथित ९९ हैं, और बहुत बडे होनेसे पृथु १०० कहलाते हैं ॥ २०३ दिशारूप वस्त्रोंको धारण करनेसे दिग्वासा १ हैं, वायुरूपी करधनीको धारण करनेसे वातरशन २ हैं, निर्ग्रंथ मुनियोंमें भी श्रेष्ठ होनेसे निर्ग्रंथेश ३ हैं, वस्त्ररहित होनेसे नि-

॥ २०५ ॥ जगच्चूडामणिर्दीप्तः शंवान् विघ्नविनायकः । कलिघ्नः कर्मशत्रुघ्नो लोकालोकप्रकाशकः ॥ २०६ ॥ अनिद्रालुरतंद्रालुर्जागरूकः प्रमामयः । लक्ष्मीपतिर्जगज्ज्योतिर्धर्मराजः प्रजाहितः ॥ २०७ ॥ मुमुक्षुर्बंधमोक्षज्ञो जिताक्षो जितमन्मथः । प्रशांतरसशैलूषो भव्यपेटकनायकः ॥ २०८ ॥ मूलक-

रंबर ४ हैं, परिग्रह रहित होनेसे निष्किंचन ५ हैं, इच्छा वा आशा रहित होनेसे निराशंस ६ हैं, ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेसे ज्ञानचक्षु ७ कहे जाते हैं अत्यंत निर्मोह होनेसे अमोमुह ८ कह लाते हैं, ॥ २०४ ॥ तेजके समूह होनेसे तेजोराशि ९ हैं, अनंत पराक्रमी होनेसे अनंतौजा १० हैं, ज्ञानके सागर होनेसे ज्ञानाब्धि ११ हैं, शीलके सागर अथवा स्वस्वभावके सागर होनेसे शीलसागर १२ हैं, तेजस्वरूप होनेसे तेजोमय १३ हैं, अनंत ज्योतिको धारण करनेसे अमितज्योति १४ हैं, तेजस्वरूप होनेसे ज्योतिर्मूर्ति १५ हैं, तथा अज्ञानरूपी अंधकारके नाशक होनेसे तमोपह १६ कहलाते हैं ॥ २०५ ॥ तीनों लोकोंके मस्तकके रत्न होनेसे जगच्चूडामणि १७ हैं, तेजस्वी अथवा प्रकाशवान् होनेसे दीप्त १८ हैं, अत्यंत सुखी होनेसे शंवान् १९ हैं, विघ्नोंको अथवा अंतराय कर्मको नाश करनेसे विघ्नविनायक २० हैं, दोषोंको दूर करनेसे कलिघ्न २१ हैं, कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेसे कर्मशत्रुघ्न २२ हैं, तथा लोक और अलोकको जानने और देखनेसे लोकालोकप्रकाशक २३ हैं ॥ २०६ ॥ निद्रारहित होनेसे अनिद्रालु २४ हैं, प्रमाद रहित होनेसे अतंद्रालु २५ हैं, अपने स्वरूपकी सिद्धिके-लिये सदा जाग्रतरूप रहनेसे जागरूक २६ हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे प्रमामय २७ हैं, मोक्षरूप अविनाशिनी लक्ष्मीके स्वामी होनेसे लक्ष्मीपति २८ हैं, जगतको प्रकाश करनेसे जगज्ज्योति २९ हैं, धर्मके स्वामी होनेसे धर्मराज ३० हैं, तथा प्रजाके हितैषी होनेसे प्रजाहित ३१ कहलाते हैं ॥२०७॥ निर्वाणकी रुचिस्वरूप होनेसे मुमुक्षु ३२ हैं, बंध और मोक्षका स्वरूप जाननेसे बंधमोक्षज्ञ ३३ हैं, इंद्रियोंको जीतनेसे जिताक्ष ३४ हैं, कामदेवको जीतनेसे जितमन्मथ ३५ हैं, शांतरूपी रसका नृत्य करने-

तॉ जगज्ज्योतिर्मलघ्नो मूलकारणं । आप्तो वागीश्वरः श्रेयान्श्रायसोक्तिर्निरुक्तवाक् ॥ २०९ ॥ प्रवक्ता वचसामीशो मारजिद्विश्वभाववित् । सुतनुस्तनुनिर्मुक्तः सुगतो हतदुर्नयः ॥ २१० ॥ श्रीशः श्रीश्रितपादाब्जो वीतभीरभयंकरः । उत्सन्नदोषो निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सलः ॥ २११ ॥ लोकोत्तरो

से प्रशांतरसशैलूष ३६ कहे जाते हैं, भव्य जीवोंके समुदायके नायक होनेसे भव्यपेटकनायक ३७ कहलाते हैं ॥ २०८ ॥ धर्मके मुख्य प्रकाशक होनेसे मूलकर्ता ३८ हैं, अनंत ज्योतिस्वरूप होनेसे जगज्ज्योति ३९ हैं, राग द्वेष आदि मलको नाश करनेसे मलघ्न ४० हैं, मोक्षके मूल कारण होनेसे मूलकारण ४१ हैं, यथार्थ वक्ता होनेसे आप्त ४२ हैं, सब प्रकारकी बाणीके स्वामी होनेसे वागीश्वर ४३ हैं, कल्याणस्वरूप होनेसे श्रेयान् ४४ हैं, आपकी वाणी कल्याणस्वरूप होनेसे श्रायसोक्ति ४५ कहलाते हैं, तथा निसंदेह वाणी होनेसे निरुक्तवाक् ४६ कहलाते हैं ॥ २०९ ॥ सबसे उत्तम वक्ता होनेसे प्रवक्ता ४७ हैं, सबप्रकारके वचनोंके स्वामी होनेसे वचसामीश ४८ हैं, कामदेवको जीतनेसे मारजित् ४९ हैं, संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेसे अथवा समस्त प्राणियोंके अभिप्राय जाननेसे विश्वभाववित् ५० कहलाते हैं, उत्कृष्ट शरीरको धारण करनेसे सुतनु ५१ हैं, शरीर रहित होनेसे तनुनिर्मुक्त ५२ हैं, आत्मामें तल्लीन होनेसे अथवा सम्यग्ज्ञान धारण करनेसे सुगत ५३ हैं और मिथ्यादृष्टियोंकी खोटी नयोंका नाश करनेसे हतदुर्नय ५४ हैं, ॥ २१० ॥ अंतरंग और वाह्य लक्ष्मीके स्वामी होनेसे श्रीश ५५ हैं, आपके चरण कमलोंकी सेवा लक्ष्मी करती है इसलिये आप श्रीश्रितपादाब्ज ५६ कहे जाते हैं, भयरहित होनेसे वीतभी ५७ हैं, भक्त लोगोंका भय दूर करनेसे अभयंकर ५८ हैं, समस्त दोषोंको नष्ट करनेसे उत्सन्नदोष ५९ हैं, विघ्न रहित होनेसे निर्विघ्न ६० हैं, स्थिर होनेसे निश्चल ६१ हैं, और लोगोंको अत्यंत प्रिय होनेसे लोकवत्सल ६२ कहे जाते हैं, ॥ २११ ॥ समस्त लोकमें उत्कृष्ट होनेसे लोकोत्तर ६३ हैं, तीनोंलोकोंके स्वामी होनेसे लोकपति ६४ हैं, समस्त लोकको चक्षुके समान यथार्थ

लोकपतिर्लोकचक्षुरपारधीः । धीरधीर्बुद्धसन्मार्गः शुद्धः सूनृतपूतवाक् ॥ २१२ ॥ प्रज्ञापारमितः प्राज्ञो यतिर्नियमितेंद्रियः । भदंतो भद्रकृद्भद्रः कल्पवृक्षो वरप्रदः ॥ २१३ ॥ समुन्मूलितकर्मारिः कर्मकाष्ठशुशुक्षणिः । कर्मण्यः कर्मठः प्रांशुर्हेयादेयविचक्षणः ॥२१४॥ अनंतशक्तिरच्छेद्यस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः ।

पदार्थोंके दर्शक होनेसे लोकचक्षु ६५ हैं, अनंत ज्ञानको धारण करनेसे अपारधी ६६ हैं, आपका ज्ञान सदा स्थिर रहता है इसलिये धीरधी ६७ हैं, यथार्थ मोक्षमार्गको जाननेसे बुद्धसन्मार्ग ६८ हैं, शुद्धस्वरूप होनेसे शुद्ध ६९ हैं, तथा आपके वचन यथार्थ और पवित्र होनेसे सूनृतपूतवाक् ७० कहे जाते हैं, ॥ २१२ ॥ बुद्धिके पारगामी होनेसे प्रज्ञापारमित ७१ हैं, अतिशय बुद्धिमान् होनेसे प्राज्ञ ७२ हैं, मनको जीतनेसे अथवा सदा मोक्षमार्गका प्रयत्न करनेसे यति ७३ हैं, इंद्रियोंको वश करनेसे नियमितेंद्रिय ७४ हैं, पूज्य होनेसे भदंत ७५ हैं, कल्याणकारी होनेसे भद्रकृत् ७६ हैं, निष्कपट अथवा कल्याणस्वरूप होनेसे भद्र ७७ हैं, इच्छित पदार्थोंके दाता होनेसे कल्पवृक्ष ७८ हैं, तथा इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति कर देनेसे वरप्रद ७९ कहलाते हैं ॥ २१३ ॥ कर्मरूप शत्रुओंको उखाडकर फेंकदेनेसे समुन्मूलितकर्मारि ८० कहे जाते हैं, कर्मरूपी लकडीको जलानेके लिये अग्निके समान होनेसे कर्मकाष्ठशुशुक्षणि ८१ कहलाते हैं, क्रिया अर्थात् चारित्रमें नितांत कुशल होनेसे कर्मण्य ८२ हैं क्रिया करनेमें शूरवीर अथवा सर्वदा तैयार रहनेसे कर्मठ ८३ हैं, सबसे ऊंचे अर्थात् उत्कृष्ट वा प्रकाशमान् होनेसे प्रांशु ८४ हैं, और छोडनेयोग्य और ग्रहण करनेयोग्य पदार्थोंके जाननेमें चतुर होनेसे हेयादेयविचक्षण ८५ कहलाते हैं, ॥ २१४ ॥ आपमें अनंतशक्तियां प्रगट होनेसे अनंत शक्ति ८६ हैं, छिन्न भिन्न करनेयोग्य न होनेसे अछेद्य ८७ हैं, जन्म जरा और मरण इन तीनोंको नाश करनेसे त्रिपुरारि ८८ कहलाते हैं, भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंके पदार्थोंके जानने और देखनेसे त्रिलोचन ८९ त्रिनेत्र ९० त्र्यंबक ९१ तथा त्र्यक्ष ९२ कहेजाते हैं, और केवल ज्ञान ही आपके नेत्र होनेसे केवलज्ञानवीक्षण ९३ कहलाते हैं, ॥ २१५ ॥

त्रिनेत्रस्त्र्यंबकस्त्र्यक्षः केवलज्ञानवीक्षणः ॥ २१५ ॥ समंतभद्रः शांतारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः । सूक्ष्मदर्शी जितानंगः कृपालुर्धर्मदेशकः ॥ २१६ ॥ शुभंयुः सुखसाद्भूतः पुण्यराशिरनामयः । धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥ २१७ ॥ धाम्नां पते तवामूनि नामान्यागमकोविदैः । समुच्चितान्यनुध्यायन्पुमान्पूतस्मृतिर्भवेत् ॥२१८॥ गोचरोऽपि गिरामासां त्वमवाग्गोचरो मतः । स्तोता तथाप्यसंदिग्धं त्वत्तोऽभीष्टफलं भजेत्॥२१९॥त्वमतोऽसि

सर्वथा मंगलस्वरूप होनेसे समंतभद्र ९४ है, कर्मरूप शत्रुओंको शांत करदेनेसे शांतारि ९५ हैं, धर्मके आचार्य होनेसे धर्माचार्य ९६ हैं, जीवोंपर अतिशय दया करनेसे दयानिधि ९७ हैं, सूक्ष्म पदर्थोंको भी साक्षात् देखनेसे सूक्ष्मदर्शी ९८ कहलाते हैं, कामदेवको जीतनेसे जितानंग ९९ हैं, दयावान् होनेसे कृपालु १००० हैं और धर्मका उपदेश देनेसे धर्मदेशक १००१ कहे जाते हैं ॥ २१६ ॥ मोक्षरूप शुभको प्राप्त करनेसे शुभंयु १००२ हैं, सुखको अपने स्वाधीन करनेसे सुखसाद्भूत १००३ कहलाते हैं पुण्यकी राशि (समूह) होनेसे पुण्यराशि १००४ कहे जाते हैं, रोग रहित होनेसे अनामय १००५ कहलाते हैं, धर्मकी रक्षा करनेसे धर्मपाल १००६ हैं, जगतकी रक्षा करनेसे जगत्पाल १००७ हैं और धर्मरूप साम्राज्यके स्वामी होनेसे धर्मसाम्राज्यनायक १००८ कहलाते हैं ॥ २१७ ॥ हे महातेजस्वी जिनेंद्रदेव ! विद्वान लोगोंने आपके ये एक हजार आठ नाम संचय किये हैं, जो पुरुष इन नामोंका ध्यान करता है उसकी स्मरणशक्ति बहुत ही पवित्र हो जाती है ॥२१८॥ हे प्रभो ! यद्यपि ऊपर लिखे हुये एकहजार आठ नाम रूपी वाणीसे आप कहे जाते हैं, तथापि आपका यथार्थ स्वरूप कोई वर्णन नहीं कर सकता इसलिये वास्तवमें आप वाणीके अगोचर हैं यद्यपि आप वाणीके अगोचर हैं तथापि आपकी स्तुति करनेवाला पुरुष निसंदेह आपसे इष्टफलकी प्राप्ति करता ही है ॥ २१९ ॥ इसलिये हे प्रभो ! इस संसारके आप ही बंधु हैं, आप ही जगतवैद्य हैं, आप ही जगतकी रक्षा करनेवाले हैं और आप ही संसारका हित करनेवाले हैं ॥२२०॥ जगतको मुख्यरीतिसे प्रकाशक होनेसे आप एक ही हैं,

जगद्बन्धुस्त्वमतोऽसि जगद्भिषक् । त्वमतोऽसि जगद्धाता त्वमतोऽसि जगद्धितः ॥ २२० ॥ त्वमेकं जगतांज्योतिस्त्वं द्विरूपोपयोगभाक् । त्वं त्रिरूपैकमुक्त्यंगः स्वोत्थानंतचतुष्टयः ॥२२१॥ त्वं पंचब्रह्मतत्त्वात्मा पंचकल्याणनायकः । षड्भेदभावतत्त्वज्ञस्त्वं सप्तनयसंग्रहः ॥२२२॥ दिव्याष्टगुणमूर्तिस्त्वं नवकेवललब्धिकः । दशावतारनिर्धार्यो मां पाहि परमेश्वर ॥२२३॥ युष्मन्नामावलीदृब्धविलसत्स्तोत्रमालया । भवंतं वरिवस्यामः प्रसीदानुगृहाण नः ॥२२४॥ इदं स्तोत्रमनुस्मृत्य पूतो भवति भाक्तिकः । यः संपाठं पठत्येतत्स स्यात्कल्याणभाजनं ॥२२५॥ ततः सदेदं पुण्यार्थी पुमान् पठतु पुण्यधीः । पौरुहूतिं श्रियं प्राप्तुं परमामभि-

---

दर्शन तथा ज्ञान इन दोनों उपयोगोंको धारण करनेसे दो हैं, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंस्वरूप मोक्षका कारण होनेसे तीन हैं, अपने आत्मासे उत्पन्न हुये चार अनंतचतुष्टयोंको धारण करनेसे चाररूप हैं ॥ २२१ ॥ पंच परमेष्ठीस्वरूप होनेसे अथवा गर्भावतार आदि पांचों कल्याणोंके स्वामी होनेसे पांच रूप हैं, जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल इन छहों तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप जाननेसे छहरूप हैं, और सातों नयोंके समूहरूप होनेसे सात रूप भी कहे जाते हैं ॥ २२२ ॥ सम्यक्त्व आदि आठ गुणस्वरूप होनेसे आठ हैं, नौ केवललब्धियोंको धारण करनेसे नौ हैं और महाबल आदि दश अवतार (पर्याय) धारण करनेसे दशस्वरूप हैं, अतएव हे परमेश्वर मेरी रक्षा कीजिये ॥ २२३ ॥ हे प्रभो ! हम लोग आपके एक हजार आठ नामोंकी बनीहुई सुंदर स्तोत्रोंकी मालासे आपकी आराधना करते हैं, हे देव हमपर प्रसन्न हूजिये और कृपा कीजिये ॥ २२४ ॥ जो भगवानका भक्त पुरुष इस स्तोत्रका स्मरण करता है वह पवित्र हो जाता है तथा जो इस स्तोत्रका पाठ पढता है उसे सबप्रकारके कल्याण प्राप्त होते हैं ॥ २२५ ॥ इसलिये जो पुरुष इंद्रकी परम विभूतिको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं अथवा जो पुण्यकी इच्छा रखते हैं ऐसे सुबुद्धिमान् पुरुषोंको इस स्तोत्रका सदा पाठ करना चाहिये ॥ २२६ ॥ इसप्रकार इंद्रने चर अचररूप इस जगतके गुरु ऐसे देवाधिदेवकी स्तुति की, और फिर तीर्थविहार करनेकेलिये नीचे लिखी हुई प्रार्थना

लाघुकः ॥ २२६ ॥ स्तुत्वेति मघवा देवं चराचरजगद्गुरुं । ततस्तीर्थविहारस्य व्यधात्प्रस्तावनामिमां ॥ २२७ ॥ भगवन्भव्यसस्यानां पापाऽवग्रहशोषिणां । धर्मामृतप्रसेकेन त्वमेधि शरणं विभो ॥ २२८ ॥ भव्यसार्थाधिप प्रोद्यद्दयाध्वजविराजित । धर्मचक्रमिदं सज्जं त्वज्जयोद्योगसाधनं ॥ २२९ ॥ निर्धूय मोहपृतनां मुक्तिमार्गोपरोधिनीं । तवोपदेष्टुं सन्मार्गं कालोऽयं समुपस्थितः ॥ २३० ॥ इति प्रबुद्धतत्त्वस्य स्वयंभर्तुर्जिगीषतः । पुनरुक्ततरा वाचः प्रादुरासन् शतक्रतोः ॥ २३१ ॥ अथ त्रिभुवनक्षोभी तीर्थकृत्पुण्यसारथिः । भव्याब्जानुग्रहंकर्तुमुत्तस्थे जिनभानुमान् ॥ २३२ ॥ मोक्षाधिरोहनिः

की[1] ॥ २२७ ॥ कि हे भगवन् भव्यरूपी हरे धान्य पापरूपी अनावृष्टिके (वर्षा न होनेके) कारण सूख रहे हैं, हे विभो ! उन्हें धर्मरूपी अमृतसे सींचकर उनकेलिये आप ही शरण हूजिये ॥ २२८ ॥ हे भव्यजीवोंके स्वामी ! फडकती हुई दयारूपी ध्वजासे सुशोभित ! श्री जिनेंद्रदेव ! आपके जगतविजय करनेका साधन ऐसा यह धर्मचक्र तैयार है ॥ २२९ ॥ हे देव ! मोक्षमार्गको रोकनेवाली ऐसी यह मोहकी सेना (चार घातियाकर्म) नष्ट हो गई है, अब सन्मार्ग अर्थात् मोक्षमार्गका उपदेश देनेकेलिये आपका यह समय समीप आगया है ॥ २३० ॥ जिन्हें समस्त तत्त्वोंका ज्ञान है और जिन्हें सबजगह दिग्विजय करनेकी स्वयं इच्छा हुई है ऐसे स्वयं भगवान् वृषभदेवकेलिये इंद्रके कहे हुये वचन दुबारा कहे हुयेके समान हुये, भावार्थ—भगवान् विहार करनेको तैयार ही थे उस समय इंद्रने जो प्रार्थना की थी वह व्यर्थ ही सरीखी थी ॥ २३१ ॥

अथानंतर—जो तीनों लोकोंको क्षोभ उत्पन्न करनेवाले हैं तथा जिनको पुण्य ही सहाय है ऐसे तीर्थंकर भगवान वृषभदेवरूपी सूर्य भव्यरूपी कमलोंका अनुग्रह करनेकेलिये तैयार हुये ॥ २३२ ॥ वे भगवान् मोक्षरूपी महलपर चढनेकेलिये सीढीके समान ऐसे तीन छत्रोंसे शोभायमान थे, और यशरूपी

---

१ वाग्गदी जिनसेनेन जिननामानि सार्थकं । अष्टाधिकसहस्राणि सर्वाभीष्टकराणि च ॥

[क] पुस्तकमें यह श्लोक २२८ नम्बरपर अधिक है परंतु अन्य किसी पुस्तकमें न होनेसे तथा संबंध भी बराबर न मिलनेसे मूलमें नहीं मिलाया है

श्रेणीभूतच्छत्रत्रयोद्धुरः । यशःक्षीरोदफेनाभसितचामरवीजितः ॥ २३३ ॥ ध्वनन्मधुरगंभीरधीरदिव्यमहाध्वनिः । भानुकोटिप्रतिस्पर्धिप्रभावलयभास्वरः ॥ २३४ ॥ मरुत्प्रहतगंभीरदंध्वनद्दुंदुभिः प्रभुः । सुरोत्करकरोन्मुक्तपुष्पवर्षार्चितक्रमः ॥ २३५ ॥ मेरुश्रृंगसमुत्तुंगसिंहविष्टरनायकः । सच्छायसफलाशोकप्रकटीकृतचेष्टितः ॥ २३६ ॥ धूलीसालवृतास्थानजगतीपरिमंडलः । मानस्तंभनिरुद्धान्यकुदृष्टिमदाविभ्रमः ॥ २३७ ॥ स्वच्छांभःखातिकाभ्यर्णवल्लीवनवेष्टितां । सभाभूमिमलंकुर्वन्नपूर्वविभवोदयां ॥ २३८ ॥ समग्रगोपुरोदग्रैः प्राकारवलयैस्त्रिभिः । परार्ध्यरचनोपेतैराविष्कृतमहोदयः ॥ २३९ ॥

क्षीरसागरके फेनके समान सफेद चमर उनपर ढुलाये जा रहे थे ॥ २३३ ॥ उनके शरीरसे मधुर गंभीर और धीर ऐसी महादिव्यध्वनि निकल रही थी तथा उनके शरीरका प्रभामंडल करोडों सूर्योंके साथ स्पर्द्धा करता हुआ सुशोभित हो रहा था ॥ २३४ ॥ भगवानके समीप ही देवोंके द्वारा बजाये हुये और गंभीर शब्द करते हुये दुंदुभी बाजे बज रहे थे, तथा अनेक देवोंके हाथोंसे बरसते हुये पुष्पोंकी वर्षासे उनके चरणकमलोंकी पूजा हो रही थी ॥ २३५ ॥ सुमेरु पर्वतकी शिखरके समान अतिशय ऊंचे सिंहासनपर वे विराजमान थे, और फल तथा छायासे सुशोभित ऐसे अशोकवृक्षसे भगवानकी शांत मुद्रा खूब ही प्रगट हो रही थी ॥ २३६ ॥ भगवानके समवसरणकी भूमिका घेरा धूलिसालसे चारोंओर घिरा हुआ था, और मानस्तंभसे अन्य समस्त मिथ्यादृष्टियोंका अहंकार नष्ट होता था ॥ २३७ ॥ निर्मल जलसे भरी हुई खाइयोंके समीपमें लगी हुई लताओंके बनसे घिरी हुई और अपूर्व विभूतिको धारण करनेवाली ऐसी समवसरणकी भूमिको वे भगवान बहुत ही सुशोभित कर रहे थे ॥ २३८ ॥ अनेक बहुमूल्य रचनासे सुशोभित ऐसे तीन कोट और उनके समस्त ऊंचे ऊंचे बडे दरवाजोंसे भगवानका माहात्म्य प्रगट हो रहा था ॥२३९॥ अशोक आदि बनसमूहोंसे भगवानका वह समवसरण सघन हो रहा था और माला वस्त्र आदि ध्वजाओंके फडकनेसे ऐसा जान पडता था मानों जगतके समस्त जीवोंको बुला रहा ही हो ॥२४०॥ कल्पवृक्षोंके बनकी छायामें विश्राम लेते हुये देव भगवानकी पूजा कर रहे थे तथा बडे राजभवनोंसे

अशोकादिवनश्रेणीकृतच्छायसभावनिः । स्रग्वस्त्रादिध्वजोल्लाससमाहूतजगज्जनः ॥ २४० ॥ कल्पवृक्षवनच्छायाविश्रांतामरपूजितः । प्रासादरुद्धभूमिष्ठकिन्नरोद्गीतसद्यशाः ॥ २४१ ॥ ज्वलन्महोदयस्तूपप्रकटीकृतवैभवः । नाट्यशालाद्वयेद्धर्द्धिसंवर्द्धितजनोत्सवः ॥ २४२ ॥ धूपामोदितदिग्भागमहागंधकुटीश्वरः । त्रिविष्टपपतिप्राज्यपूजार्हः परमेश्वरः ॥ २४३ ॥ त्रिजगद्वल्लभः श्रीमान् भगवानादिपूरुषः । प्रचक्रे विजयोद्योगं धर्मचक्राधिनायकः ॥ २४४ ॥ ततो भगवदुद्योगसमये समुपेयुषि । प्रचेलुः प्रचलन्मौलिकोटयः सुरकोटयः ॥ २४५ ॥ तदासंभ्रांतनाकींद्रतिरीटोच्चलिता ध्रुवं । जगन्नीराजयामासुर्मणयो दिग्जये विभोः ॥ २४६ ॥ जयेत्युच्चैर्गिरो देवाः प्रोर्णुवाना नभोंगणं । दिशां मुखानि तेजोभिर्द्योतयंतः प्रतस्थिरे ॥ २४७ ॥ जिनोद्योगमहावात्या क्षु-

---

घिरी हुई भूमिपर बैठे हुये किन्नर जातिके देव भगवानका उत्तम यश गा रहे थे ॥२४१॥ अतिशय विभूतिको धारण करनेवाले और दैदीप्यमान स्तूपोंसे भगवानकी अनंता विभूति प्रगट होती थी, और दोनों नाट्यशालाओंकी बढी हुई ऋद्धियोंसे लोगोंका उत्सव खूब ही बढ रहा था ॥२४२॥ वे भगवान धूपकी सुगंधिसे दशों दिशाओंको सुगंधित करनेवाली ऐसी गंधकुटीके स्वामी थे तथा वे ही परमेश्वर इंद्रके द्वारा की हुई महापूजाके योग्य थे ॥ २४३ ॥ इसप्रकार तीनों लोकोंको प्रिय, अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीसे सुशोभित और धर्मचक्रके स्वामी ऐसे आदिपुरुष भगवान वृषभदेवने विजय करनेका उद्योग अर्थात् विहार करना प्रारंभ किया ॥ २४४ ॥ तदनंतर भगवानके विहारका समय प्राप्त होनेपर जिनके मुकुटका अग्रभाग चलायमान हो रहा है ऐसे करोडों देव चलने लगे ॥ २४५ ॥ भगवानके उस दिग्विजयके समय घबडाये हुये इंद्रोंके मुकुटकी चंचल मणियें ऐसी जान पडती थीं मानों जगतकी आरती ही उतार रही हों ॥ २४६ ॥ उस समय देवलोग जय जय ऐसे ऊंचे शब्दोंके द्वारा आकाशरूपी आंगनको व्याप्त करते हुये तथा अपने तेजके द्वारा समस्त दिशाओंको प्रकाशित करते हुये चल रहे थे ॥ २४७ ॥ उस समय भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क और कल्पवासी ये चारों प्रकारके देवोंका समूह और उनके इंद्रोंका समूह भगवानके विहार रूपी महावायुके द्वारा क्षुब्ध हुये महासागरके समान जान पडता था ॥ २४८ ॥ इसप्रकार कल्प-

भिता देवनायकाः । चतुर्निकायाश्चत्वारो महाब्धय इवाभवन् ॥ २४८ ॥ प्रतस्थे भगवान्नित्यमनुयातः सुरासुरैः । अनिच्छापूर्विकां वृत्तिमास्कंदन्भानुमानिव ॥ २४९ ॥ अर्धमागधिकाकारभाषापरिणताखिलः । त्रिजगज्जनतामैत्रीसंपादनगुणाद्भुतः ॥ २५० ॥ स्वसन्निधानसंफुल्लफलितांकुरितद्रुमः । आदर्शमंडलाकारपरिवर्तितभूतलः ॥ २५१ ॥ सुगंधिशिशिरानुच्चैरनुयायी समीरणः । अकस्माज्जनतानंदसंपादिपरमोदयः ॥ २५२ ॥ मरुत्कुमारसंमृष्टयोजनांतररम्यभूः । स्तनितामरसंसिक्तगंधांबुविरजोऽवनिः ॥ २५३ ॥ मृदुस्पर्शसुखांभोजविन्यस्तपदपंकजः । शालिव्रीह्यादिसंपन्नवसुधासूचितागमः ॥२५४॥

वासी और भवनत्रिक देवोंके साथ २ भगवान वृषभदेवने सूर्यके समान इच्छा रहित वृत्तिको धारणकर विहार करनेके लिये गमन किया ॥ २४९ ॥ उस समय भगवानने अर्द्धमागधी भाषासे जगतकी समस्त भाषा रूप परिणत होकर सब जीवोंका कल्याण किया था और वे तीनों लोकोंके समस्त जीवोंमें मित्रता करनेरूप अद्भुत गुणसे सर्वोत्कृष्ट गिनेजाते थे ॥ २५० ॥ जहां भगवान विराजमान होते हैं वहांके सब वृक्षोंपर फल फूल और नवीन अंकूरे आजाते हैं, तथा समीपकी समस्त भूमि दर्पणके समान निर्मल हो जाती है ॥ २५१ ॥ वहांकी वायु शीतल मंद और सुगंधित बहती है तथा वह लोगोंको एक साथ आनंदित करती हुई अपना बडप्पन प्राप्त करती है ॥ २५२ ॥ वायुकुमार जातिके देव एक योजनतककी सुंदर भूमिको झाड बुहारकर साफ रखते हैं और मेघकुमार जातिके देव उतनी ही जमीनको सुगंधित जलसे सींचकर धूलिरहित कर देते हैं ॥ २५३ ॥ जिनका स्पर्श कोमल सुख देनेवाला है ऐसे रचे हुये कमलोंपर वे भगवान अपने चरण कमल रखते हैं तथा शालि व्रीहि आदि अनेक प्रकारके धानोंसे भरपूर हुई पृथ्वी भगवानके आगमनको सूचित करती है ॥ २५४ ॥ शरद ऋतुके सरोवरके समान निर्मल हुआ आकाश भगवानके समीप आनेको सूचित करता है और प्रसन्न हुआ अर्थात् निर्मल हुआ दिशाओंका मध्यभाग भी भगवानके आगमनको सूचित करता है, भावार्थ—जहां २ भगवान विहार करते हैं वहां २ ये सब बातें अपने आप हो जाती हैं ॥ २५५ ॥ उससमय देव लोग जो

शरत्सरोवरस्पार्द्धिव्योमोदाहृतसान्निधिः । ककुबंतरवैमल्यसंदर्शितसमागमः ॥ २५५ ॥ शुसत्परस्पराह्वानध्वानरुद्धहरिन्मुखः । सहस्रारस्फुरद्धर्मचक्ररत्नपुरःसरः ॥ २५६ ॥ पुरस्कृताष्टमांगल्यध्वजमालाततांबरः । सुरासुरानुयातोऽभाद्विजिहीर्षुस्तदा विभुः ॥ २५७ ॥ तदा मधुरगंभीरो जजृंभे दुंदुभिध्वनिः । नभः समंतादापूर्य क्षुभ्यदब्धिस्वनोपमः ॥ २५८ ॥ ववृषुः सुमनोवृष्टिमापूरितनभोंगणं । सुरा भव्यद्विरेफाणां सौमनस्यविधायिनीं ॥ २५९ ॥ समंततः स्फुरंति स्म पालिकेतनकोटयः । आह्वातुमिव भव्यौघानेतैतेति मरुद्धताः ॥ २६० ॥ तर्जयन्निव कर्मारींनूर्जस्वी रुद्धदिङ्मुखः । ढक्कार एष ढक्कानामभूत्प्रतिपदं विभोः ॥ २६१ ॥ नभोरंगे नटंतिस्म प्रोल्लसद्भ्रूपताकिकाः । सुरांगना विलुंपंत्यः स्वदेहप्रभया दिशः ॥ २६२ ॥ विबुधाः पेठुरुत्साहात्किन्न-

परस्पर एक दूसरेको बुलाते हैं उनके शब्दोंसे सब दिशायें भर जाती हैं और एक हजार आराओंसे दैदीप्यमान ऐसा धर्मचक्ररूपी रत्न भगवानके सामने चलता है ॥ २५६ ॥ उससमय भी भगवानके सामने अष्ट मंगलद्रव्य और ध्वजाओंकी पंक्तिओंसे आकाश शोभायमान हो रहा था, इसप्रकार चारोंप्रकारके देवोंके साथ विहार करते हुये वे भगवान उससमय बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥ २५७ ॥ उससमय क्षुब्ध हुये समुद्रकी गर्जनाके समान आकाशमें चारोंओरसे व्याप्त होता हुआ दुंदुभियोंका मधुर और गंभीर शब्द हो रहा था ॥ २५८ ॥ देवलोग भव्यजीव रूपी भ्रमरोंके चित्तको आनंद देनेवाली तथा आकाशरूपी आंगनको पूर्ण भरती हुई पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ २५९ ॥ जिनके वस्त्र वायुसे हिल रहे हैं ऐसी करोडों ध्वजायें चारोंओर फहरा रहीं थीं और वे ऐसी जान पडती थीं मानों इधर आओ इधर आओ इसप्रकार भव्य जीवोंको बुला रही ही हों ॥ २६० ॥ भगवानके विहारके समय पद पदपर समस्त दिशामंडलमें व्याप्त होनेवाला और ऊंचा जो वाजोंका शब्द हो रहा था वह ऐसा जान पडता था मानों कर्मरूपी शत्रुओंको तर्जना ही कर रहा हो ॥ २६१ ॥ जिनकी भौंहरूपी पताकायें उड रहीं हैं और जिन्होंने अपने शरीरकी कांतिसे समस्त दिशायें लुप्त कर दी हैं ऐसी देवांगनायें आकाशरूपी रंगभूमिमें नृत्य कर रहीं थीं ॥ २६२ ॥ उससमय

रा मधुरं जगुः । वीणावादनमातेनुर्गंधर्वाः सह खेचरैः ॥ २६३ ॥ प्रभामयमिवाशेषं जगत्कर्तुं समुद्यताः । प्रतस्थिरे सुराधीशा ज्वजन्मुकुटकोट्यः ॥ २६४ ॥ दिशः प्रसेदुरुन्मुक्तधूमिकाः प्रमदादिव । बभ्राजे धृतवैमल्यमनभ्रं वर्त्म वार्मुचां ॥ २६५ ॥ परिनिष्पन्नशाल्यादिसस्यसंपन्मही तदा । उद्भूतहर्षरोमांचा स्वामिलाभादिवाभवत् ॥ २६६ ॥ ववुः सुरभयो वाताः स्वर्धुनीशीकरस्पृशः । आकीर्णपंकजरजः पटवासपटावृताः ॥ २६७ ॥ मही समतला रेजे संमुखीनतलोज्वला । सुरैर्गंधांबुभिः सिक्ता स्नातेव बिरजा सती ॥ २६८ ॥ अकालकुसुमोद्भेदं दर्शयंतिस्म पादपाः । ऋतुभिः सममागत्य संरुद्धाः साध्वसादिव ॥ २६९ ॥ सुभिक्षं क्षेममारोग्यं गव्यूतीनां चतुःशती । भेजे भूर्जिनमाहात्म्यादजातप्राणिहिंसना ॥ २७० ॥ अकस्मात्प्राणिनो

देवलोक बडे उत्साहसे स्तुतिपाठ पढ रहे थे, किन्नरजातिके देव मधुर गान गा रहे थे और गंधर्वलोक विद्याधरोंके साथ साथ वीणा आदि अनेक बाजे बजा रहे थे ॥ २६३ ॥ जिनके करोडों मुकुट प्रकाशमान हो रहे थे ऐसे जो इंद्र आदि बडे २ देव चल रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों इस समस्त जगतको प्रकाशरूप करनेकेलिये ही तैयार हुये हों ॥ २६४ ॥ भगवानके विहारके समय सब दिशायें मानों आनंदसे ही धूमरहित प्रसन्न हो गईं थीं, और आकाश बादलरहित बहुत ही निर्मल शोभायमान हो रहा था ॥ २६५ ॥ उससमय पृथ्वी भी चांवल आदि पके हुये धान्योंसे ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों अपने स्वामीके मिलनेके हर्षसे रोमांचित ही हुई हो ॥ २६६ ॥ उससमय जो कमलोंकी परागरजसे मिली हुई सुगंधित वस्त्रसे ढकी हुईके समान सुशोभित हो रही थी तथा जिसमें आकाशगंगाके जलकी बूंदें मिली हुई थीं ऐसी सुगंधित वायु बह रही थी ॥ २६७ ॥ उससमय पृथ्वी भी दर्पणके तलके समान उज्वल और समतल हो गई थी, देवोंने उसपर सुगंधित जलकी वर्षा की थी जिससे वह धूलिरहित ऐसी शुद्ध हो गई थी मानों स्नान की हुई सती स्त्री ही हो ॥२६८॥ वृक्षोंपर बिना ही समयके पुष्प आगये थे जिससे वे ऐसे जान पडते थे मानों सब ऋतुओंने एक साथ आकर उन वृक्षोंका आलिंगन किया हो ॥२६९॥ भगवानके माहात्म्यसे चारसौ कोस पृथ्वीतक सुभिक्ष था, सब-

भेजुः प्रमदस्य परंपरां । तेनुः पारस्परीं मैत्रीं बंधूभूयमिवाश्रिताः ॥ २७१ ॥ मकरंदरजोवर्षि प्रत्यग्रोद्भिन्नकेसरं । विचित्ररत्ननिर्माणकार्णिकं विलसद्दलं ॥ २७२ ॥ भगवच्चरणन्यासप्रदेशेऽधिनभस्तलं । मृदुस्पर्शमुदाराश्रि पंकजं हैममुद्बभौ ॥ २७३ ॥ पृष्ठतश्च पुरश्चास्य पद्माः सप्त विकासिनः । प्रादुर्बभूवुरुद्गंधिसांद्रकिंजल्करेणवः ॥ २७४ ॥ तथान्यान्यपि पद्मानि तत्पर्यंतेषु रेजिरे । लक्ष्म्यावसथसौधानि संचारीणीव खांगणे ॥ २७५ ॥ हेमांभोजमयीं श्रेणीमलिश्रेणीभिरन्वितां । सुरा व्यचरयन्नेनां सुरराजनिदेशतः ॥ २७६ ॥ रेजे राजीवराजी सा जिनपत्पकंजोन्मुखी । आदित्सुरिव तत्कांतिमतिरेकादधः-

---

तरहका कल्याण था, पूर्ण आरोग्य था और कहींपर भी जीवोंकी हिंसा नहीं होती थी ॥२७०॥ संसारके प्राणियोंको अकस्मात् बहुत ही आनंद हुआ था, और वे सब भाई भाइयोंके समान परस्पर मित्रताको प्राप्त हुये थे ॥२७१॥ जिस जगह भगवानके चरणकमल पडते थे उस जगहके नीचे आकाशमें ही देवलोग जिन सुवर्णमय कमलोंकी रचना करते थे, वे कमल पराग रजकी वर्षा कर रहे थे, उनपर नवीन केसर उत्पन्न हो रही थी, उनकी कर्णिका अनेक प्रकारके रत्नोंसे बनी हुई थी, उनके दल बहुत ही सुशोभित हो रहे थे, उनका स्पर्श कोमल था और उनकी शोभा बहुत ही बढी हुई थी ॥ २७२-२७३ ॥ जिनकी परागरज और केसरके रेणु बहुत ही सुगंधित हैं ऐसे वे प्रफुलित कमल सात तो भगवानके चरणके आगे उत्पन्न हुये थे तथा सात पीछे रचे गये थे (और एक चरणकमलके नीचे था ॥ २७४ ॥ तथा इसीप्रकार उन कमलोंके समीपमें और भी अनेक कमल शोभायमान हो रहे थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों आकाशरूपी आंगनमें चलते हुये लक्ष्मीके निवास करनेके घर ही हों ॥ २७५ ॥ जिनपर भ्रमरोंके समूह बैठे हुये हैं ऐसी सुवर्णकी बनी हुई इन कमलोंकी पंक्तियोंको देवलोग इंद्रकी आज्ञासे निर्माण करते थे ॥ २७६ ॥ भगवानके चरणकमलोंके सन्मुख हुई वह कमलोंकी पंक्ति ऐसी सुशोभित होती थी मानों अपनी अधिकतासे भगवानके चरणकमलोंकी नीचेकी कांतिको ही प्राप्त होना चाहती हो ॥ २७७ ॥ भगवानके विहारके समय आकाशरूपी सरोवरमें उ-

स्तुतां ॥ २७७ ॥ ततिर्विहारपद्मानां जिनस्योपांघ्रि सा बभौ । नभःसरसि संफुल्ला त्रिःपंचकक्रतिप्रमा ॥ २७८ ॥ तदा हेमांबुजैर्व्योम समंतादाततं बभौ । सरोवरमिवोत्फुल्लपंकजं जिनदिग्जये ॥ २७९ ॥ प्रमोदमयमातन्वान्निति विश्वं जगत्पतिः । विजहार महीं कृत्स्नां प्रीणयन् स्ववचोऽमृतैः ॥ २८० ॥ मिथ्यांधकारघटनां विघटय्य वचोंऽशुभिः । जगदुद्योतयामास जिनाऽर्को जनतार्तिहृत् ॥ २८१ ॥ यतो विजह्रे भगवान् हेमाब्जन्यस्तसंक्रमः । धर्मोऽमृतांबुसंवर्षैस्ततो भव्या धृतिं दधुः ॥ २८२ ॥ जिने घन इवाऽभ्यर्णे धर्मवर्षं प्रवर्षति । जगत्सुखप्रवाहेण पुप्लुवे धृतनिर्वृति ॥ २८३ ॥ धर्मवारि जिनांभोदात् पायंपायं कृतस्पृहाः । चिरं धृततृषो दध्रुस्तदानीं भव्यचातकाः ॥ २८४ ॥ इत्थं चराचरगुरुर्जगदुज्जिहीर्षुः संसारखंजननिमग्न-

---

नके चरणकवलोंके समीप प्रफुलित हुईं कमलोंकी पंक्तियां दो सौ पचीस कमलोंकी थीं अर्थात् वे सब कमल २२५ थे ॥ २७८ ॥ उससमय भगवानके दिग्विजयके समय उन सुवर्णकमलोंके चारोंओरसे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों प्रफुलित हुये कमलोंसे सुशोभित सरोवर ही हो ॥ २७९ ॥ तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवने इसप्रकार समस्त जगतको आनंदित करते हुये तथा अपने वचनरूपी अमृतसे सबको प्रसन्न करते हुये समस्त पृथ्वीपर विहार किया ॥ २८० ॥ समस्त लोगोंकी पीडा दूर करनेवाले ऐसे उन जिनेंद्ररूपी सूर्यने अपने वचनरूपी किरणोंसे मिथ्यात्वरूपी अंधकारके समूहको दूरकर समस्त जगत प्रकाशित कर दिया ॥ २८१ ॥ सुवर्णमय कमलोंपर पैर रखकर चलनेवाले भगवान वृषभदेवने जहां जहां विहार किया वहां वहांके भव्य जीव धर्मामृतरूपी जलकी वर्षासे बहुत ही संतुष्ट होते थे ॥ २८२ ॥ जिससमय वे जिनेंद्ररूपी बादल समीप होकर धर्मोपदेशरूपी जलकी वर्षा करते थे उससमय अत्यंत सुखी हुआ यह जगत सुखरूपी प्रवाहमें खूब ही डूब गया था ॥ २८३ ॥ उससमय अत्यंत लालायित हुये भव्यरूपी चातक जिनेंद्ररूपी बादलसे धर्मरूपी जल आदरपूर्वक पीकर चिरकालतक संतुष्ट होते थे ॥ २८४ ॥ इसप्रकार जो भगवान चर अचर समस्त जीवोंके गुरु हैं संसाररूपी खड्डेमें पडे हुये जगतके जीवोंको उद्धार करने-

मभग्नवृत्तिः । देवासुरैरनुगतो विजहार पृथ्वीं । हेमाब्जगर्भविनिवेशितपादपद्मः ॥ २८५ ॥ तीव्राजवंजवदवानलदह्यमानमाह्लादयन् भुवनकाननमस्ततापः । धर्मामृतांबुपृषतैः परिषिच्य देवो रेजे घनागम इवोदितदिव्यनादः ॥ २८६ ॥ काशीमवंतिकुरुकोसलसुह्मपुण्ड्रान् चेद्यंगवंगमगधांध्रकलिंगमद्रान् । पंचालमालवदशार्णविदर्भदेशान् सन्मार्गदेशनपरो विजहार वीरः ॥ २८७ ॥ देवःप्रशांतचरितः शनकैर्विहृत्य देशान् बहूनिति विबोधितभव्यसत्त्वः । भेजे जगत्त्रयगुरुर्विधुवीध्रमुच्चैः कैलासमात्मयशसोऽनुकृतिं दधानं ॥ २८८ ॥ तस्याऽग्रे सुरनिर्मिते सुरुचिरे श्रीमत्सभामंडले पूर्वोक्ताखिलवर्ण-

---

की जिनकी उच्छा है, जिनकी वृत्ति अर्थात् उपदेश देनेरूप कार्य अखंडित है और जिनके चरणकमल सुवर्णकमलपर विराजमान हैं तथा जिनके साथ वैमानिक भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क आदि सब देव चलते हैं ऐसे उन भगवानने समस्त पृथ्वीपर विहार किया ॥ २८५ ॥ उससमय वे भगवान ठीक वर्षा ऋतुके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिसप्रकार वर्षाऋतु दावानल अग्निसे जले हुये बनको वर्षासे सींचकर आनंदित करती है उसीप्रकार वे भगवान् तीव्र संसाररूपी दावानल अग्निसे जले हुये जगतरूपी बनको धर्मामृतरूपी जलकी वर्षासे सींचकर आनंदित करते थे, जिसप्रकार वर्षाऋतु संताप नष्ट करती है उसीप्रकार वे भगवान भी संसाररूपी संताप नष्ट करते थे और वर्षाऋतुमें जिसप्रकार नंभीर शब्द होता है उसीप्रकार भगवानका भी दिव्यध्वनिरूप गंभीर शब्द होता था ॥ २८६ ॥ मोक्षमार्गके उपदेश देनेमें तत्पर तथा धीरवीर ऐसे भगवान् वृषभदेवने काशी, अवंती कुरुजांगल, कोशल, सुह्म, पुंड्र, चेदि, अंग, वंग, मगध, अंध्र, कलिंग, मद्र, पंचाल, मालव दशार्ण और विदर्भ आदि अनेक देशोंमें विहार किया ॥ २८७ ॥ इसप्रकार जिनका चारित्र अत्यंत शांत है जिन्होंने अनेक भव्य जीवोंको उपदेश देकर आत्मज्ञानी बनाया है और जो तीनों लोकोंके गुरु हैं ऐसे वे देवाधिदेव भगवान वृषभदेव धीरे धीरे अनेक देशोंमें विहारकर चंद्रमाके समान निर्मल, बहुत ऊंचे और अपने यशका अनुकरण करनेवाले सफेद ऐसे कैलास पर्वतपर जा विराजमान हुये

नापरिगते स्वर्गश्रियं तन्वति । श्रीमान् द्वादशभिर्गणैः परिवृतो भव्यानतैः सादरैरासामास विभुर्जिनः प्रविलसत्सत्प्रातिहार्याष्टकः ॥ २८९ ॥ तं देवं त्रिदशाधिपार्चितपदं घातिक्षयानंतरप्राप्तानंतचतुष्टयं जिनमिनं भव्याब्जिनीनामिनं । मानस्तंभविलोकनानतजगन्मान्यं त्रिलोकीपतिं प्राप्ताचिंत्यबहिर्विभूतिमनघं भक्त्या प्रवंदामहे ॥ २९० ॥

॥ इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवद्विहारवर्णनं नाम पंचविंशतितमं पर्व ॥ २५ ॥

॥ २८८ ॥ उस कैलास पर्वतके ऊपरी भागपर देवोंने जो बहुत सुंदर, पहिले वर्णन की हुई समस्त रचनासे सुशोभित और स्वर्गकी शोभाको धारण करता हुआ ऐसे बहुत शोभायुक्त समवसरणकी रचना की थी उसमें भक्तिसे आदर पूर्वक नमस्कार करते हुये जीवोंसे भरी हुई ऐसी बारह सभाओंसे शोभायमान और जिनके उत्तम आठ प्रातिहार्य देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे वे परमेश्वर भगवान् वृषभदेव विराजमान हुये ॥ २८९ ॥ जिन वृषभदेव भगवानके चरणकमलोंको इंद्र भी पूजन करता है, घातिया कर्मोंके क्षय होनेसे जिन्हें अनंत चतुष्टय प्राप्त हुये हैं, जो भव्य रूपी कमलिनियोंको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यके समान हैं, जो सबके स्वामी हैं, जिनके मानस्तंभको देखनेमात्रसे ही नमस्कार करता हुआ यह जगत पूज्य समझता है, जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, जिन्हें अचिंत्य अंतरंग और बहिरंग विभूति प्राप्त हुई है और जो क्षुधा आदि समस्त दोषोंसे वा पापोंसे रहित हैं ऐसे देवाधिदेव जिनेंद्रदेव भगवान् वृषभदेवको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं ॥ २९० ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें भगवानका तीर्थविहार वर्णन करनेवाला यह पचीसवां पर्व समाप्त हुआ !

अथ षड्विंशतितमं पर्व ।

अथ चक्रधरः पूजां चक्रस्य विधिवद्व्यधात् । सुतोत्पत्तिमपि श्रीमानभ्यनंददनुक्रमात् ॥१॥ नो दरिद्री जनः कश्चिद्विभोस्तस्मिन्महोत्सवे । दारिद्र्यमर्थिलाभे तु जातं विश्वाशितंभवे ॥ २ ॥ चतुष्केषु च रथ्यासु पुरस्यांतर्बहिःपुरं । पुंजीकृतानि रत्नानि तदार्थिभ्यो ददौ नृपः ॥ ३ ॥ अभिचारक्रियेवासीच्चक्रपूजास्य विद्विषां । जगतः शांतिकर्मेव जातकर्माप्यभूत्तदा ॥ ४ ॥ ततोस्य दिग्जयोद्योगसमये शरदापतत् । जयलक्ष्मीरिवामुष्य प्रसन्ना विमलांबरा ॥ ५ ॥ अलका इव संरेजुरस्या मधुकरव्रजाः । सप्तच्छदप्रसूनोत्थरजोभूषितविग्रहाः ॥ ६ ॥ प्रसन्नमभवत्तोयं सरसां सरितामपि । कवीनामिव सत्काव्यं

अथ छब्बीसवां पर्व ।

अथानंतर—श्रीमान् चक्रवर्ती महाराज भरतने विधिपूर्वक चक्रकी पूजा की और फिर अनुक्रमसे पुत्र होनेकी भी खुशी मनाई ॥ १ ॥ महाराज भरतके उस महोत्सवमें संसारके समस्त लोग तृप्त होगये थे, कोई भी दरिद्री मनुष्य नहीं रहा था, दरिद्रता केवल मागनेवालोंकी होगई थी अर्थात् उससमय मागनेवाला कोई नहीं रहा था ॥२॥ उससमय चक्रवर्तीने चौरस्तेमें गलियोंमें नगरके भीतर बाहर आदि सब जगह रत्नोंके ढेर किये थे और वे सब मांगनेवालोंको बांट दिये थे ॥ ३ ॥ उससमय भरतने जो चक्रकी पूजा की थी वह उसके शत्रुओंके लिये जारण मारण (जलना मरना) आदि क्रियाके समान मालूम हुई थी, तथा जो जातकर्म (पुत्रोत्सवमें होनेवाली उत्सव आदि क्रियायें) किया था वह संसारको शांतकर्मके समान जान पडा था ॥ ४ ॥ ये दोनों कर्म कर चुकनेपर महाराज भरतने दिग्विजय करनेकी तैयारी कीं, उससमय शरद ऋतुका समय आगया था, और आकाश भरतकी जय लक्ष्मीके समान साफ और निर्मल हो गया था ॥ ५ ॥ उससमय सप्तछद जातिके फूलोंकी फैली हुई परागसे जिनके शरीर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे इधर उधर उडते हुये भ्रमरोंके समूह ठीक इस शरद ऋतुके अलकोंके (केशपाश=फूलोंसे सजे हुये केश) समान जान पडते थे ॥ ६ ॥

जनताचित्तरंजनं ॥ ७ ॥ सितच्छदावली रेजे संपतंती समंततः । स्थूलमुक्तावलीनद्धकंठिकेव शरच्छ्रियः ॥ ८ ॥ सरोजलमभूत्कांतं सरोजरजसाततं । सुवर्णरजसाकीर्णमिव कुट्टिमभूतलं ॥ ९ ॥ सरः सरोजरजसा परितः स्थगितोदकं । कादंबजायाः संप्रेक्ष्य मुमुहुः स्थलशंकया ॥ १० ॥ कंजकिंजल्क-पुंजेन पिंजरा षट्पदावली । सौवर्णमणिदब्धेव शरदः कंठिका बभौ ॥ ११ ॥ सरोजलं समासेदुर्मुखराः सितपक्षिणः । वदान्यकुलमुद्भूतसौगंध्यमिव बंदिनः ॥ १२ ॥ नदीनां पुलिनान्यासन् शुचीनि शरदागमे । हंसानां रचितानीव शयनानि सितांशुकैः ॥ १३ ॥ सरांसि ससरोजानि सोत्पला वप्र-

---

जिसप्रकार कवियोंका उत्तम काव्य प्रसन्नता आदि गुण सहित होता है और मनुष्योंके चित्तोंको प्रसन्न करता है उसीप्रकार उससमय नदी और सरोवरोंका जल भी निर्मल हो गया था तथा वह मनुष्योंके चित्तोंको प्रसन्न करनेवाला बन गया था ॥ ७ ॥ उससमय चारोंओर आकाशसे नीचेकी ओर पडती हुई हंसोंकी पंक्तियां ऐसी सुंदर जान पडती थीं मानों शरदऋतु रूपी लक्ष्मीका अनेक बडे २ मोतियोंसे बना हुआ हार ही हो ॥ ८ ॥ कमलोंकी परागसे आच्छादित हुआ सरोवरोंका जल ऐसा जान पडता था मानों सुवर्णकी धूलिसे आच्छादित हुई स्फटिकमणिकी बनी हुई भूमि ही हो ॥ ९ ॥ तालावोंपर कमलोंकी पराग फैली हुई थी जिससे उनका जल चारोंओरसे निश्चल जान पडता था तथा ऐसे तालावोंको देखकर हंसनियोंको निश्चल जमीनकी शंका होती थी जिससे वे बडे ही भ्रममें पड जाती थीं ॥ १० ॥ भ्रमरोंकी पंक्तियां कमलोंकी परागसमूहसे पीली हो रही थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों सुवर्णके दानोंका गूथा हुआ शरदऋतुका हार ही हो ॥ ११ ॥ जिसप्रकार याचक लोग प्रसिद्ध दानीपुरुषके समीप उसकी कीर्ति गाते हुये पहुंचते हैं उसीप्रकार हंस पक्षी भी शब्द करते हुये अतिशय सुगंधित सरोवरके जलके समीप आ रहे थे ॥ १२ ॥ उस शरद ऋतुके प्रारंभमें नदियोंके किनारे बहुत ही स्वच्छ हो गये थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों सफेद वस्त्रके द्वारा बने हुये हंसोंके बिछोने ही हों ॥ १३ ॥ कमलोंसे सुशोभित सरोवर, स्थलकमलों-

भूमयः । सहंससैकता नद्यो जन्हुश्वेतांसि कामिनां ॥ १४ ॥ प्रसन्नसलिला रेजुः सरस्यः सहसारसाः । कूजितैः कलहंसानां जितनूपुरसिंजनैः ॥१५॥ नीलोत्पलेक्षणा रेजे शरच्छ्रीः पंकजानना । व्यक्तमाभापमाणेव कलहंसीकलध्वनैः ॥ १६ ॥ पक्वशालिमुत्रो नम्रकणिशा पिंजरश्रियः । स्नाता हरिद्रये वासन् शरत्कालप्रियागमे ॥ १७ ॥ मंदमाना मदं भेजुः सहमाना मदं जहुः । शरल्लक्ष्मीं समालोक्य शुध्यशुध्योरयं निजः ॥ १८ ॥ कलहंसा हसंतीव विरुतैः स्म शिखंडिनः । अहो जलप्रिया यूयमिति निर्मलमूर्तयः ॥ १९ ॥ चित्रवर्णा घनाबद्धरुचयो गिरिसंश्रयाः । समं शतमखेष्वासैर्बर्हिणः स्तो-

---

से सुशोभित खेत और हंसोंसे सुशोभित वालूके टीले ये सब कामीलोगोंके अंतःकरणको हरण करते थे ॥१४॥ जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है और चारोंओर सारस पक्षियोंके जोडे फिर रहे हैं ऐसे छोटे तालाव नूपुरोंकी (स्त्रियोंके पैरोंकी उंगलियोंके विछुओंकी) आवाजको ज़ीतनेवाले हंसोंके मधुर शब्दोंसे बहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ १५ ॥ नीलकमल ही जिसके नेत्र हैं, सफेद कमल ही जिसका मुख है और जो सुंदर हंसनिकोंके मधुर शब्दोंके द्वारा स्पष्ट भाषण कर रही है ऐसी वह शरदृतु रूपी लक्ष्मी बहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ १६ ॥ जो चावलोंकी बालसे कुछ झुक गई है तथा जो कुछ २ पीली हो गई है ऐसी पके चावलोंकी पृथ्वी उससमय ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों शरदसमयरूप अपने पतिके आनेपर वह हल्दी उवटन आदिके द्वारा स्नानकर सुसज्जित ही हुई हो ॥१७॥ उस शरदृतुकी शोभा देखकर हंस बहुत संतुष्ट हुये थे और मयूरोंने अपनी सब प्रसन्नता छोड दी थी, सो ठीक ही है शुद्ध और अशुद्ध पदार्थोंका यह स्वभाव ही है, भावार्थ—शरदृतुकी शोभा सफेद है क्योंकि उसमें आकाश, दिशायें, पानी आदि सब स्वछ हो जाता है हंस भी सफेद होते हैं, इसलिये सफेद शरदृतुको देखकर सफेद हंसोंको आनंद होना ही चाहिये इसीतरह मयूर काले होते हैं उन्हें सफेद शरदृतु देखकर खेद होता है उन्हें अपने रंगके समान अर्थात् काली वर्षाऋतुको देखकर ही आनंद होता है, यह शुद्ध अशुद्ध पदार्थोंका स्वाभाविक धर्म है ॥ १८ ॥ स्व-

न्नतिं जहुः ॥ २० ॥ बंधूकैरिंद्रगोपश्रीर्न तेने वनराजिषु । शरल्लक्ष्म्येव निष्ठ्यूतैस्तांबूलरसबिंदुभिः ॥ २१ ॥ विकासं बंधुजीवेषु शरदाविर्भवंत्यधात् । सतीव सुप्रसन्नात्मा विपंका विशदांबरा ॥ २२ ॥ हंसस्वरानका काशकणिशोज्ज्वलचामरा । पुंडरीकातपत्रासीद्दिग्जयेच्छेव सा शरत् ॥ २३ ॥ दिशां प्रसाधनायाधाद्बाणासनपरिच्छदं । शरत्कालो जिगीषोर्हि श्लाघ्यो बाणासनग्रहः ॥ २४ ॥ घनावली कृशा पांडुरासीदाशाविमुंचती । घनागमवियोगो-

च्छ मूर्तिको धारण करनेवाले हंस अपने मधुर शब्द करते हुये ऐसे जान पडते थे मानो अहो तुम्हें जड पदार्थ अथवा जल ही प्रिय है इसप्रकार मयूरोंकी हँसी ही कर रहे हों ॥ १९ ॥ जिनका वर्ण अनेक प्रकारका है, बादलोंके साथ जिनकी रुचि लगी हुई है और जो पर्वतोंके आश्रय हैं ऐसे मयूरोंने इंद्रधनुषके साथ साथ अपनी उन्नति छोड दी थी भावार्थ—उस शरदऋतुमें इंद्रधनुष और मयूरोंका तेज दोनों ही कम हो गये थे ॥ २० ॥ बनोंमें शरदऋतु रूपी लक्ष्मीके द्वारा थूके हुये तांबूलके (पानके) रसकी बूंदोंके समान जो जपाकुसुमके लाल फूल बिखरे हुये थे उन्होंने क्या इंद्रगोप अर्थात् वर्षाऋतुमें होनेवाले लाल जीवोंकी शोभा नहीं बढाई थी अर्थात् वे इंद्रगोपके समान ही जान पडते थे ॥ २१ ॥ जिसप्रकार स्वच्छ वस्त्रोंको धारण करनेवाली, पापरहित और शुद्ध अंतःकरण वाली कोई सती स्त्री अपने भाई बंधु आदि कुटुंबी जनोंको प्रसन्न करती हुई सुशोभित होती है उसीप्रकार निर्मल दिशाओंको धारण करनेवाली, कीचडरहित और सदा निर्मल रहनेवाली ऐसी शरद ऋतु बंधूक जातिके फूलोंको (दुपहरिया) प्रफुलित करती हुई बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥२२॥ अथवा उससमय वह शरदऋतु ऐसी जान पडती थी मानों उसे दिग्विजय करनेकी ही इच्छा उत्पन्न हुई हो, क्योंकि उससमय जो हंसोके मधुर शब्द हो रहे थे वे ही उसके नगाडे थे, चारोंओर जो काश फूले हुये थे वे ही उसके सफेद चामर थे और जो कमल फूल रहे थे वे ही उसके छत्रके समान जान पड़ते थे ॥ २३ ॥ उससमय शरदऋतुने सब दिशाओंको वश करनेकेलिये बाणासन अर्थात्

स्थचिंतयेवाकुलीकृता ॥ २५ ॥ नभः सतारमारेजे विहसत्कुमुदाकरं । कुमुद्वतीवनं चाभाजयत्तारकितं नभः ॥ २६ ॥ तारकाकुमुदाकीर्णे नभःसरसि निर्मले । हंसायते स्म शीतांशुर्विक्षिप्तकरपक्षतिः ॥ २७ ॥ नभोगृहांगणे तेनुः श्रियं पुष्पोपहारजां । तारका दिग्वधूहारतारमुक्ताफलत्विषः ॥ २८ ॥ बभुर्नभोंबुधौ ताराः स्फुरन्मुक्ताफलामलाः । करका इव मेघौघैर्निहिताहिमशीतलाः ॥ २९ ॥ ज्योत्स्नासलिलसंभूता इव बुद्बुदपंक्तयः । तारका रुचिमातेनुर्विप्रकीर्णा नभोंगणे ॥ ३० ॥ तनुभूतपयोवेणीर्नद्यः परिकृशा दधुः । वियुक्ता घनकालेन विरहिण्य इवांगनाः ॥ ३१ ॥ अनुद्धतागभीरत्वं भेजुः

बाण और आसन जातिके पुष्पोंका अलंकार धारण किया था सो ठीक ही है, क्योंकि सब दिशाओंको जीतनेकी इच्छा करनेवालेको बाणासन अर्थात् धनुष धारण करना प्रशंसनीय ही है ॥ २४ ॥ उस शरदऋतुमें मेघमाला सब दिशाओंको छोडती हुई कृश और सफेद हो गई थी तथा ऐसी जान पडती थी मानों वर्षाके वियोगसे उत्पन्न हुई चिंतासे व्याकुल ही हो रही हो ॥ २५ ॥ उन दिनों ताराओंसे सुशोभित आकाश ऐसा अच्छा जान पडता था मानों खिली हुई कमोदिनिओं सहित (चंद्रविकासी कमलों सहित) सरोवरकी ओर ही हँस रहा हो तथा कमोदिनियों सहित सरोवर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों ताराओंसे सुशोभित आकाशको भी जीत रहा हो ॥ २६ ॥ तारेरूपी कमोदिनियोंसे भरे हुये आकाशरूपी निर्मल सरोवरमें अपनी किरणरूपी पंखोंको फैलाता हुआ चंद्रमा ठीक हंसके समान जान पडता था ॥ २७ ॥ दिशारूपी स्त्रियोंके हार संबंधी सुंदर मोतियोंकी कांतिको धारण करते हुये तारे आकाशरूपी घरके आंगनमें पुष्पोंसे की हुई पूजाकी शोभाको बढा रहे थे ॥ २८ ॥ दैदीप्यमान मोतियोंके समान निर्मल तारे आकाशरूपी समुद्रमें ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों बादलोंके समूहसे बरफके समान ठंडे ओले ही बरसकर पडे हों ॥ २९ ॥ आकाशरूपी आंगनमें इधर उधर फैले हुये तारे ऐसी अच्छी शोभाको धारण करते थे मानों चांदनीरूपी जलसे उत्पन्न हुये बुद्बुदोंके (बबूलोंके) समूह ही हों ॥ ३० ॥ वर्षा-

स्वच्छजलांशुकाः । सरितिस्त्रियो घनापायाद्वैधव्यमिव संश्रिताः ॥ ३२ ॥ दिगंगना घनापायप्रकाशीभूतमूर्तयः । व्यापहासीमिवातेनुः प्रसन्ना हंसमंडनात् ॥ ३३ ॥ कूजितैः कलहंसानां निर्जिता इव तत्यजुः । केकायितानि शिखिनः सर्वः कालबलाद्बली ॥ ३४ ॥ ज्योत्स्नादुकूलवसना लसन्नक्षत्रमालिका । बंधुजीवाधरा रेजे निर्मला शरदंगना ॥ ३५ ॥ ज्योत्स्नाकीर्तिमिवातन्वन् विधुर्गगनमंडले । शरल्लक्ष्मीं समासाद्य सुराजेवाद्युतत्तरां ॥ ३६ ॥ बंधुजीवेषु

कालरूपी पतिके वियोगको प्राप्त हुई नदियां विरहिणी स्त्रियोंके समान कृश हो गई थीं और उन्होंने पानीके थोडेसे प्रवाहरूप छोटीसी चोटी धारण की थी ॥ ३१ ॥ वर्षाकालके नष्ट हो जानेसे नदीरूपी स्त्रियां मानों विधवासी होगई थीं, क्योंकि जिसप्रकार विधवा उद्धतपना छोडदेती हैं उसीप्रकार नदियोंने भी उद्धतपना छोडदिया था, विधवा जिसप्रकार सफेद वस्त्र पहनती हैं उसीप्रकार नदियोंने भी स्वच्छ जलरूपी सफेद वस्त्र पहनेथे और जिसप्रकार विधवाओंकी गंभीरता नष्ट हो जाती है उसीप्रकार नदियोंकी भी गंभीरता अर्थात् गहराई नष्ट होगई थी ॥ ३२ ॥ बादलोंके नष्ट होनेसे जिनकी मूर्ति प्रगट होगई है ऐसी दिशारूपी स्त्रियां अत्यंत प्रसन्न हो रही थीं और हंसरूपी गलेके गहनेसे ऐसी जान पडती थीं मानों हँस रही ही हों ॥ ३३ ॥ मयूरोंने अपना बोलना भी बंद कर दिया था मानों कलहंसोंके मधुर शब्दोंसे हारकर ही छोड दिया हो, सो ठीक ही है समयके बलसे सब ही बलवान हो जाते हैं ॥ ३४ ॥ चांदनीरूपी रेशमी वस्त्र पहने हुये गलेमें देदीप्यमान नक्षत्रोंकी माला [नक्षत्रनामका हार] धारण किये हुये और दुपहरियाके लाल फूलरूपी अधरोंसे [ओठोंसे] शोभायमान ऐसी निर्मल शरदऋतुरूपी स्त्री बहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ ३५ ॥ शरदऋतुकी लक्ष्मी अर्थात् शोभाको पाकर आकाशमंडलमें चांदनीरूपी कीर्तिको फैलाता हुआ चंद्रमा किसी अच्छे राजाके समान बहुत ही अच्छा सुशोभित होता था ॥ ३६ ॥ उससमय वह शरदऋतुरूपी स्त्री नवोढाके समान सुशोभित होती थी क्योंकि जिसप्रकार नवोढा बंधुजीव अ-

विन्यस्तरागा बाणकृतद्युतिः । हंसीसखीवृता रेजे नवोढेव शरद्वधूः ॥ ३७ ॥ स्वयं धौतमभाद्व्योम स्वयंप्रक्षालितः शशी । स्वयंप्रसादिता नद्यः स्वयं संमार्जिता दिशः ॥ ३८ ॥ शर क्ष्मीमुखालोकदर्पणे शशिमंडले । प्रजादृशो धृतिं भेजुरसंमृष्टसमुज्ज्वले ॥ ३९ ॥ वनराजीस्ततामोदाः कुसुमाभरणोज्ज्वलाः । मधुव्रता भवंतिस्म कृतकोलाहलस्वनाः ॥ ४० ॥ तन्व्यो वनलता रेजुर्विकासिकुसुमस्मिताः । सालका इव गंधांधविलोलालिकुलाकुलाः ॥ ४१ ॥ दर्पोध्दुराः खुरोत्खातभुवस्ताम्रीकृतेक्षणाः । वृषाः प्रतिवृषालोककुपिताः प्रतिसस्वनुः ॥ ४२ ॥ अपास्किरंतः शृंगाग्रैर्वृषभा धीरनिःस्वनाः ।

र्थात् भाई बंधुओंमें राग अर्थात् प्रेम करती है उसीप्रकार शरदऋतु भी बंधुजीव अर्थात् दुपहरियाके पुष्पोंमें राग अर्थात् लालिमा धारण करती थी, नवोढा जिसप्रकार दैदीप्यमान होती है उसीप्रकार शरदऋतु भी बाण अर्थात् कांस जातिके वृक्षोंके फूलनेसे दैदीप्यमान हो रही थी और नवोढा जिसप्रकार सखियों सहित रहती है उसीप्रकार शरदऋतु भी हंसिनीरूपी सखियों सहित रहती थी ॥ ३७ ॥ उससमय आकाश अपने आप साफ हुयेके समान जान पडता था, चंद्रमा अपने आप धोये हुयेके समान जान पडता था, नदियां अपने आप निर्मल हुई सी जान पडती थीं और दिशायें अपने आप झाड बुहारकर साफ की हुई के समान जान पडती थीं ॥ ३८ ॥ शरदऋतुरूपी लक्ष्मीके मुख देखनेलिये दर्पणके समान और बिना ही साफ किये अतिशय उज्वल ऐसे चंद्रमंडलमें प्रजाके नेत्र बडे ही संतुष्ट होते थे ॥ ३९ ॥ जिनकी सुगंधि चारोंओर फैल रही है और जो पुष्परूपी आभरणोंसे उज्वल हो रही हैं ऐसी बन पंक्तियोंको भ्रमरोंके समूह कोलाहल शब्द करते हुये सेवन कर रहे थे ॥ ४० ॥ उससमय अत्यंत कृश ऐसी बनकी लतारूपी स्त्री बहुत ही सुशोभित हो रही थी, क्योंकि फूले हुये पुष्प ही उसका मंदहास्य था और उनकी सुगंधिसे अंधे हुये चंचल भ्रमरोंका समूह ही सुंदर केशपाश था ॥ ४१ ॥ उससमय मदोन्मत्त हुये बैल भी दूसरे बैलोंको देखकर क्रोधित होते थे, खुरोंसे पृथ्वीको खोदते थे उनकी आंखें लाल हो रही थीं और वे अन्य बैलोंके शब्द

वनस्थलीं स्थलांभोजमृणालशकलाचितां ॥ ४३ ॥ वृषाः ककुदसंलग्नमृदः कुमुदपांडुराः । व्यक्तांकस्य मृगांकस्य लक्ष्मीमविभरुस्तदा ॥ ४४ ॥ क्षीरप्लु-वमयीं कृत्स्नामातन्वाना वनस्थलीं । प्रस्नुवाना बनांतेषु प्रसस्रुर्गोमतल्लिकाः ॥ ४५ ॥ कुंडोध्न्योमृतपिंडेन घटिता इव निर्मलाः । गोगृष्ट्यो वनांतेषु शरच्छ्रिय इवाभवन् ॥ ४६ ॥ हंभारवभृतो वत्सानापिप्यन्प्रक्षुतस्वनान् । पीनापीनाः पयस्विन्यः पयःपीयूषमुत्सुकान् ॥ ४७ ॥ क्षीरस्यूतो निजान् वत्सान् हंभागंभीरनिःस्वनाः । धेनुष्यः पाययंति स्म गोपैरपि नियंत्रिताः ॥ ४८ ॥ प्राक् प्रिया जलदा जाताः शिखिनामप्रियास्तदा । रिक्ता जलधनापायादहो क-

---

सुनकर स्वयं शब्द कर रहे थे ॥ ४२ ॥ उसीप्रकार गंभीर शब्द करते हुये वे बैल अपने सींगोंके अग्रभागसे स्थलकमलोंके मृणालके [तंतुओंके] टुकडोंसे व्याप्त हुई बनकी पृथ्वीको खोद रहे थे ॥ ४३ ॥ इसीतरह उस शरदऋतुमें जिनके कंधेके समीपके पीठके ऊंचे भागपर काली मिट्टी लग रही है ऐसे कमोदनीके समान सफेद बैल स्पष्ट लांच्छनवाले चंद्रमाकी शोभा धारण कर रहे थे॥४४॥ जिनसे अपने आप दूध निकल रहा है ऐसी उत्तम गायें बनकी संपूर्ण पृथ्वीको दूधके प्रवाह रूप करती हुई बनमें चारोंओर फिर रहीं थीं ॥ ४५ ॥ इसी तरह जिनके स्तन दूधसे भरे हुये हैं और अमृतके समूहसे बनी हुईके समान अत्यंत निर्मल वा सफेद हैं अथवा मीठा दूध देनेसे अमृतसे बनी हुईके समान हैं ऐसी तुरंतकी प्रसूत हुई गायें बनोंमें शरदऋतुकी शोभाके समान जान पडती थीं ॥ ४६ ॥ जिनके स्तन बहुत बडे हैं और जो ' हंभा ' ऐसा शब्द कर रहीं हैं ऐसी दूधवाली गायें दूध पीनेकेलिये उत्सुक हुये और ' हंभा ' शब्द करते हुये अपने बच्चोंको दूधरूपी अमृत पिला रही थीं ॥ ४७ ॥ इसीतरह ' हंभा ' ऐसा गंभीर शब्द करती हुई गायें यद्यपि ग्वालाओंके द्वारा कुछ अलग बांधदी गई थीं तथापि दूधकी इच्छा करनेवाले अपने बच्चोंको दूध पिला ही रहीं थीं ॥४८॥ पहले वर्षाऋतुमें जो बादल मयूरोंको बहुत ही प्रिय थे वे ही अब शरदऋतुमें जलरूपी धनको नाश-कर खाली हो जानेसे अप्रिय (बुरे) होगये थे सो ठीक ही है क्योंकि दरिद्रता भी बहुत ही बुरी होती

ष्ठा दरिद्रता ॥ ४९ ॥ व्यापहासीमिवातेनुर्गिरयः पुष्पितैर्द्रुमैः । व्यात्युक्षीमिव तन्वानाः स्फुरन्निर्झरसीकरैः ॥ ५० ॥ प्रवृद्धवयसो रेजुः कलमा भृशमानताः । परिणामात्प्रपुष्यंतो जरंतः पुरुषा इव ॥ ५१ ॥ विरेजूरसनाःपुष्पैर्मदालिपटलावृतैः । इंद्रनीलकृतांतर्यैः सौवर्णैरिव भूषणैः ॥ ५२ ॥ घनावरणनिर्मुक्ता दधुराशा दृशां मुदं । नटिका इव नेपथ्यगृहाद्रंगमुपागताः ॥ ५३ ॥ अदधुर्धनवृंदानि मुक्तासाराणि भूधराः । सदशानीव वासांसि निष्प्रवाणीनि सानुभिः ॥ ५४ ॥ पवनाधोरणारूढा भ्रेमुर्जीमूतदंतिनः । सांतर्गर्जा निकुंजेषु सासारमदसीकराः ॥ ५५ ॥ शुकावली प्रवालाभचंचुस्तेने दिवि-

---

है ॥ ४९ ॥ फूले हुये वृक्षोंसे पर्वत ऐसे जान पडते थे मानों परस्पर हँसी ही कर रहे हों तथा झरते हुये झरनोंकी बूंदोंसे ऐसे जान पडते थे मानों एक दूसरेपर जल ही सींच रहे हों ॥५०॥ कलमी चांवलोंके खेत जो कि बहुत दिनके थे अथवा जिनपर अनेक पक्षी बैठे थे तथा जो खूब नव रहे थे और जो फल लगनेसे अनेक जीवोंका पालन कर रहे थे वे ठीक वृद्धपुरुषोंके समान जान पडते थे ॥ ५१ ॥ सहजनाके वृक्ष मदोन्मत्त भ्रमरोंके समूहसे घिरे हुये पुष्पोंसे ऐसे अच्छे सुशोभित होते थे मानों जिनके मध्यभागमें इंद्रनील मणि लगा हुआ है ऐसे सुवर्णके बने हुये आभूषण ही हों ॥ ५२ ॥ जिसप्रकार आभूषण पहननेके परदेवाले घरसे निकलकर रंगभूमिमें आई हुई नटी (नृत्य करनेवाली) नेत्रोंको आनंद देती है उसीप्रकार जिनपरसे बादलोंका आवरण दूर होगया है ऐसी दिशायें भी नेत्रोंको आनंद दे रहीं थीं ॥ ५३ ॥ पर्वतोंने जो अपनी शिखरोंपर जलरहित बादलोंके समूह धारण किये थे वे ऐसे जान पडते थे मानों उन्होंने नवीन सफेद वस्त्र ही धारण किये हों ॥५४॥ जिनपर वायुरूपी महावत चढे हुये हैं, जो भीतर ही भीतर गरज रहे हैं और लतागृहोंमें जलकी बूंदे रूपी मदकी धारा बहा रहे हैं ऐसे मेघरूपी हाथी चारोंओर इधर उधर फिर रहे थे ॥ ५५ ॥ जिनकी चोंच मूंगाके समान लाल है ऐसी सूआओंकी (तोतोंकी) पंक्ति आकाशमें ऐसी शोभा धारण करती थी मानों पद्मराग मणियोंकी कांति सहित हरितमणियोंकी बनी हुई तोरणोंकी पंक्ति ही

श्रियं । हरिन्मणिपिनद्धेव तोरणालीसपद्मभा ॥५६॥ चेतांसि तरणांगोपजीविनामुद्धतात्मनां । पुंसां च्युताऽधिकाराणामिव दैन्यमुपागमन् ॥ ५७ ॥ प्रतापी भुवनस्यैकं चक्षुर्नित्यमहोदयः । भास्वानाक्रांततेजस्वी बभासे भरतेशवत् ॥ ५८ ॥ इति प्रस्पष्टचंद्रांशुप्रहासे शरदागमे । चक्रे दिग्विजयोद्योगं चक्री चक्रपुरःसरः ॥ ५९ ॥ प्रस्थानभेर्यो गंभीरप्रध्वानाः प्रहतास्तदा । श्रुता बर्हिभिरुद्ग्रीवैर्घनाडंबरशंकिभिः ॥६०॥ धृतमंगलनेपथ्यो बभारोरस्स्थलंप्रभुः । शरल्लक्ष्म्येव संभक्तं सहारहरिचंदनं ॥ ६१ ॥ ज्योत्स्नामये दुकूले च श्लक्ष्णे परिदधौ नृपः । शरच्छ्रियोपनीते वा मृदुनी दिव्यवाससी ॥ ६२ ॥ आजा-

---

हो ॥ ५६ ॥ जिसप्रकार जिनका अधिकार छूट गया है ऐसे पुरुषोंके चित्त दीनताको धारण करते हैं उसीप्रकार जो लोग नावोंके द्वारा आजिविका करते थे ऐसे उद्धत मल्लाहोंके चित्त भी [नदियोंमें पानी कम हो जानेसे] दीनता धारण करने लगे थे ॥ ५७ ॥ उस शरदृतुके समय सूर्य भी ठीक महाराज भरतके समान सुशोभित होने लगा था क्योंकि जिसप्रकार महाराज भरत प्रतापी थे उसीप्रकार सूर्य भी प्रतापी था, जिसप्रकार भरत संसारके एक मात्र चक्षु थे अर्थात् सबको मार्ग दिखानेवाले थे उसीप्रकार सूर्य भी संसारका एक मात्र चक्षु था, जिसप्रकार भरतका तेज प्रतिदिन बढता जाता था उसीप्रकार सूर्यका तेज भी बढता जाता था और भरतने जिसप्रकार सब प्रतापी राजा अपने वश कर लिये थे उसीप्रकार सूर्यने भी चंद्र आदि सबका प्रताप अपनेसे नीचा कर दिया था ॥ ५८ ॥ इसप्रकार अत्यंत निर्मल चंद्रमाकी किरणें ही जिसका हास्य हैऐसी शरदृतुके आनेपर चक्रवर्ती महाराज भरतने अपने चक्रको आगे २ कर दिग्विजय करनेकी तैयारी कीं ॥ ५९ ॥ उससमय गंभीर शब्द करते हुये गमन करनेके नगाडे बज रहे थे जिन्हें मेघके आडंबरकी शंका करनेवाले मयूर अपनी गर्दन ऊंचीकर सुन रहे थे ॥६०॥ उससमय जिन्होंने मंगलकारक वस्त्राभूषण धारण किये हैं ऐसे महाराज भरत पुष्पोंका हार और सफेद चंदन सहित जो वक्षःस्थल धारण कर रहे थे वह ऐसा जान पडता था मानों शरद ऋतु रूपी लक्ष्मी ही उसकी सेवा कर रही हो ॥ ६१ ॥ महाराज भरत चांदनीके समान सफेद, को-

नुलंबिना ब्रह्मसूत्रेण विबभौ विभुः । हेमाद्रिरिव गंगांबुप्रवाहेण तटस्पृशा ॥ ६३ ॥ किरीटोदग्रमूर्धासौ कर्णाभ्यां कुंडले दधौ । चंद्राऽर्कमंडले वक्तुमिवायाते जयोत्सवं ॥ ६४ ॥ वक्षःस्थलेऽस्य रुरुचे रुचिरः कौस्तुभो मणिः । जयलक्ष्मीसमुद्वाहमंगलाशंसिदीपवत् ॥ ६५ ॥ विधुबिंबप्रतिस्पर्द्धि दधेस्यातपवारणं । तन्निभेनैंदवं बिंबमागत्येव सिसेविषु ॥ ६६ ॥ तदस्य रुचिमातेने धृतमातपवारणं । चूडारत्नांशुभिर्भिन्नं सारुणांश्विव पंकजं ॥ ६७ ॥ स्वर्धुनीसीकरस्पार्धि चामराणां कदंबकं । दुधुवुर्वारनार्योस्य दिक्कन्या इव संसृताः ॥ ६८ ॥ ततः स्थपतिरत्नेन निर्ममे स्यंदनो महान् । सुवर्णमाणिचित्रां-

---

मल और बारीक ऐसे जो दो [धोती डुपट्टा] रेशमी दिव्य वस्त्र पहने हुये थे वे ऐसे जान पडते थे मानों शरदऋतुरूपी लक्ष्मीके द्वारा ही लाये गये हों ॥ ६२ ॥ जिसप्रकार किनारेको स्पर्श करनेवाले गंगाजलके प्रवाहसे हिमवान पर्वत सुशोभित होता है उसीप्रकार घोंटूतक लटकते हुये यज्ञोपवीतके द्वारा महाराज भरत भी बहुत ही सुशोभित होते थे ॥ ६३ ॥ मुकुट पहननेसे जिनका मस्तक बहुत ऊंचा हो रहा है ऐसे भरतेश्वरने दोनों कानोंमें जो कुंडल पहने थे वे ऐसे जान पडते थे मानों दिग्विजयके उत्सवकी बधाई देनेकेलिये सूर्यमंडल और चंद्रमंडल ही आये हों ॥ ६४ ॥ महाराज भरतके वक्षःस्थलपर जो सुंदर कौस्तुभमणि सुशोभित हो रहा था वह ऐसा जान पडता था मानों जयलक्ष्मीके विवाहरूपी मंगलकी सूचना करनेवाला दीपक ही हो ॥ ६५ ॥ महाराजने चंद्रमंडलकी स्पर्द्धा करनेवाला जो छत्र धारण किया था वह ऐसा जान पडता था मानों छत्रके बहानेसे चंद्रमडल ही आकर भरतकी सेवा कर रहा हो ॥ ६६ ॥ महाराज भरतने जो छत्र धारण किया था और उसपर जो मुकुटमें लगे हुये रत्नोंकी किरणें पड रहीं थीं उससे मिला हुआ वह छत्र ऐसा जान पडता था मानों सूर्यकी किरणों सहित कमल ही हो ॥ ६७ ॥ बारांगनायें जो गंगाके जलकी बूंदोंके साथ स्पर्द्धा करनेवाले चमरोंके समूह ढाल रही थीं वे ऐसी जान पडती थीं मानों दिक्कन्यायें ही उतरकर आ गई हों ॥ ६८ ॥ तदनंतर स्थपति (सिलावट) रत्नने एक बहुत बडा रथ तैयार किया

गमेरुकुंजश्रियं हसन् ॥ ६९ ॥ चक्ररत्नप्रतिस्पर्द्धिचक्रद्वितयसंगतः । वज्राक्षघटितो रेजे रथोस्येव मनोरथः ॥ ७० ॥ कामगैर्वायुरंहोभिः कुमुदोज्ज्वलकांतिभिः । यशोवितानसंकाशैः स रथोऽयोजि वाजिभिः ॥ ७१ ॥ स तं स्यंदनमारुक्षद्युक्तसारथ्यधिष्ठितं । नितंबदेशमद्रीशः सुरराडिव चक्राराट् ॥ ७२ ॥ ततः प्रास्थानिकैः पुण्यनिर्घोषैरभिनंदितः । प्रतस्थे दिग्जयोद्युक्तः कृतप्रस्थानमंगलः ॥ ७३ ॥ तदा नभोंगणं कृत्स्नं जयघोषैररुंध्यत । नृपांगणं च संरुद्धमभवत्सैन्यनायकैः ॥ ७४ ॥ महामुकुटबद्धास्तं परिवव्रुः समंततः । दूरात्प्रणतमूर्द्धानः सुरराजमिवामराः ॥ ७५ ॥ प्रचचाल बलं विष्व-

---

जो कि ऐसा जान पडता था मानों सुवर्ण और मणियोंसे चित्र विचित्र दिखनेवाले मेरुपर्वतकी कुंजोंकी शोभाकी ओर हँस रहा ही हो ॥ ६९ ॥ उस रथमें चक्ररत्नकी प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले दो पहिये लगे हुये थे और वज्रकी धुरी बनी हुई थी इसलिये वह रथ भरतके मनोरथोंके समान बहुत ही सुंदर जान पडता था ॥ ७० ॥ उस रथमें जो घोडे जोते गये थे उनका वेग किसीसे रोका नहीं जा सकता था, वायुके समान उनका तेज वेग था, सफेद कमलके समान उनकी निर्मल कांति थी और वे ऐसे जान पडते थे मानों यशका समूह ही हों ॥ ७१ ॥ जिसप्रकार इंद्र मेरुपर्वतके नितंवदेश [तट] पर विराजमान होता है उसीप्रकार जिसपर बहुत अच्छा हांकनेवाला सारथि बैठा है ऐसे उस रथपर भरतेश्वर विराजमान हुआ ॥ ७२ ॥ तदनंतर प्रस्थानके समय ' जय जय ' ऐसे पुण्य शब्दोंके द्वारा अनेक लोग जिसे बधाई दे रहे हैं और जिसपर गमन करते समयकी मंगलारति उतारी जा रही है ऐसे दिग्विजयके लिये तैयार हुये भरतने प्रस्थान किया ॥ ७३ ॥ उससमय आकाशरूपी समस्त आंगन जय जय शब्दोंसे भरगया था और महाराजका आंगन बडे बडे सेनापतियोंसे भरगया था ॥ ७४ ॥ जिसप्रकार इंद्रके चारोंओर देवलोग खडे रहते हैं उसीप्रकार दूरसे ही मस्तक नवाकर नमस्कार करते हुये महामुकुटवद्ध राजालोग भरतको घेरे हुये चारोंओर खडे थे ॥ ७५ ॥ समस्त नगर और गलियोंको रोकती हुई वह सेना चलने लगी और वह उससमय ऐसी जान पडती थी मा-

गारुद्वपुरवीथिकं । महायोधमयीसृष्टिरपूर्वेवाभवत्तदा ॥७६॥ पुरः पादातमाधीयं रथकव्या च हास्तिकं । क्रमान्निरीयुरावेष्ट्य सपताकं रथं प्रभोः ॥ ७७ ॥ रथ्या रथाऽश्वसंघट्टादुत्थितैर्हेमरेणुभिः । बलक्षोदाक्षमा व्योम समुत्पेतुरिव स्वयं ॥ ७८ ॥ रौक्मैरजोभिराकीर्णं तदा रेजे नभोऽजिरं । स्पष्टं बालातपेनेव पटवासेन चाततं ॥ ७९ ॥ शनैःशनैर्जनैर्मुक्ता विरेजुः पुरवीथयः । कल्लोलैरिव वेलोत्थैर्महाब्धेस्तीरभूमयः ॥ ८० ॥ पुरांगनाभिरुन्मुक्ताः सुमनोंजलयोऽपतन् । सौधवातायनस्थाभिर्दृष्टिपातैः समं प्रभौ ॥ ८१ ॥ जयेश विजयिन् विश्वं विजयस्व दिशो दश । पुण्याशिषां शतैरित्थं पौराः प्रभुमपूजयन् ॥ ८२ ॥ सम्राट् पश्यन्नयोध्यायाः परां भूतिं तदातनीं । शनैः प्रतोलीं संप्रापद्रत्नतोरणभासुरां ॥ ८३ ॥ पुरोबहिः पुरः पश्चात्समंच विभुनाऽमु-

---

नों बडे बडे योद्धाओंकी एक नई सृष्टि ही उत्पन्न हुई हो ॥ ७६ ॥ सबसे पहिले पैदल सेना थी, उसके पीछे घोडेसवार थे, उसके पीछे रथोंका समूह और उसके पीछे हस्तियोंका समूह था, इसप्रकार अनेक पताकाओंसे शोभायमान ऐसे महाराजके रथको घेरकर अनुक्रमसे सेना निकली ॥ ७७ ॥ जिस मार्गसे सेना निकल रही थी वह मार्ग रथ और घोडोंके संघटनसे उठी हुई सुवर्णमय धूलसे ऐसा जान पडता था मानों वह सेनाका बोझा सह नहीं सकता इसलिये वह स्वयं आकाशमें ही उडना चाहता हो ॥ ७८ ॥ उससमय सुवर्णमय धूलिसे व्याप्त हुआ आकाशरूप आंगन ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों उदय होते हुये सूर्यकी धूपसे स्पर्श किया गया हो, और मकरंदकी रजसे भरगया हो ॥७९॥ धीरे धीरे नगरकी गलियोंमेंसे सबलोग निकल गये इसलिये खाली हुई वे गलियां ऐसी जान पडती थीं मानों समुद्रकी बेलासे (ज्वारसे) उठीहुई लहरोंके चले जानेपर समुद्रके किनारेकी पृथ्वी ही हो ॥ ८० ॥ उससमय बडे बडे मकानोंके झरोंखोंमें खडी हुई नगर निवासिनी स्त्रियां महाराज भरतके ऊपर अपने कटाक्षोंके साथ २ पुष्पांजलि फेंक रहीं थीं ॥ ८१ ॥ हे प्रभो ! सबको जीतनेवाले आपकी जय हो, आप संसारको विजय करें और दसों दिशाओंका विजय करें, इसप्रकार सैकडों पुण्याशीर्वादोंके द्वारा नगरनिवासी लोग भरतकी पूजा कर रहे थे ॥ ८२ ॥ इस-

ना । ददर्शे दृष्टिपर्यंतमसंख्यमिव तद्बलं ॥ ८४ ॥ जगतः प्रसवागारादिव तस्मात्पुराद्बलं । निरियाय निरुच्छ्वासं शनैरारुद्धगोपुरं ॥ ८५ ॥ किमिदं प्रलयक्षोभात् क्षुभितं वारिधेर्जलं । किमुत त्रिजगत्सर्गः प्रत्यग्रोऽयं विजृंभते ॥ ८६ ॥ इत्याशंक्य नभोभाग्भिः सुरैः साश्चर्यमीक्षितं । प्रससार बलं विष्वक् पुरान्निर्याय चक्रिणः ॥ ८७ ॥ ततः प्राचीं दिशं जेतुं कृतोद्योगो विशांपतिः । प्रययौ प्राङ्मुखो भूत्वा चक्ररत्नमनुव्रजन् ॥ ८८ ॥ चक्रमस्य ज्वलद्व्योम्नि प्रयातिस्म पुरो विभोः । सुरैः परिवृतं विश्वग् भास्वद्बिंबप्रभास्वरं ॥ ८९ ॥ चक्रानुयायि तद्व्रेजे निधीनामीशितुर्बलं । गुरोरिच्छाऽनुवर्तिष्णु मुनीनामिव मंडलं ॥ ९० ॥ दंडरत्नं पुरोधाय सेनानीरग्रणीरभूत् । स्थपुटानि समीकुर्वन् स्थलदुर्गाण्ययत्नतः ॥ ९१ ॥ अग्रण्या दंडरत्नेन पथि राज-

---

प्रकार उससमय होनेवाली अयोध्याकी उत्कृष्ट विभूतिको देखते हुये महाराज भरत धीरे २ रत्नोंके तोरणोंसे देदीप्यमान ऐसे नगरके बडे दरवाजेपर जा पहुंचे ॥ ८३ ॥ उससमय महाराज भरतको नगरके बाहर अपने पीछे आगे और साथ साथ जहांतक दृष्टि पडती थी वहांतक असंख्यात सेना ही सेना दिखाई पडती थी ॥ ८४ ॥ जगतको उत्पत्तिके घरके समान उस नगरसे नगरके बडे दरवाजेको रोकती हुई धीरे धीरे बडी कठिनतासे वह सेना निकली ॥ ८५ ॥ क्या यह प्रलयकालका क्षोभ होनेसे समुद्रका जल क्षुब्ध हुआ है ? अथवा यह तीनों लोकोंकी नवीन सृष्टि उत्पन्न हो रही है ? इसप्रकार आशंका करते हुये देव लोग आकाशमें खडे होकर बडे आश्चर्यके साथ जिसे देख रहे थे ऐसी वह चक्रवर्तीकी सेना नगरसे निकलकर चारोंओर फैलगई ॥ ८६-८७ ॥

अथानंतर—महाराज भरतने प्रथम ही पूर्वदिशाके जीतनेकी तैयारी कीं और चक्ररत्नके पीछे २ चलता हुआ वह पूर्वदिशाकी ओर मुखकर निकला ॥ ८८ ॥ सूर्यमंडलके समान प्रकाशमान और चारोंओरसे देवलोगोंसे घिरा हुआ ऐसा जाज्वल्यमान चक्ररत्न आकाशमें महाराज भरतके सामने चल रहा था ॥८९॥ जिसप्रकार गुरुकी इच्छानुसार मुनियोंका समूह चलता है उसीप्रकार निधियोंके स्वामी महाराज भरतकी वह सेना चक्रके पीछे पीछे चल रही थी ॥ ९० ॥ सबसे आगे दंडरत्नको

पथीकृते । यथेष्टं प्रययौ सैन्यं क्वचिदप्यस्खलद्गतिं ॥ ९२ ॥ ततोध्वनि विशामीशः सोऽपश्यच्छारदीं श्रियं । दिशां प्रसाधनीं कीर्तिमात्मीयामिव निर्मलां ॥ ९३ ॥ सरांसि कमलामोदमुद्वमंति शरच्छ्रियः । मुखायितानि संप्रेक्ष्य सोऽभ्यनंददधीशिता ॥ ९४ ॥ स हंसान् सरसां तीरेष्वपश्यत्कृताशींजिनान् । मृणालपीथसंपुष्टान् शरदः पुत्रकानिव ॥ ९५ ॥ चंच्वा मृणालमुद्धृत्य हंसो हंस्यै समर्पयन् । राजहंसस्य हृद्यस्य महतीं धृतिमादधे ॥ ९६ ॥ सध्रीचीं वीचिसंरुद्धामपश्यन्परितः सरः । कोकः कोकूयमानोऽस्य मनसः प्रीतिमातनोत् ॥९७॥ हंसयूनाब्जकिंजल्करजःपिंजरितां निजां । वधूं विधूतां सोपश्य-

---

आगेकर सेनापति चल रहा था और वह कठिन तथा ऊंची नीची जमीनको दंडके द्वारा लीलापूर्वक एकसी करता जाता था ॥ ९१ ॥ सबसे आगे जो दंड रत्न था वह सब मार्गको राजमार्ग ऐसा बडा मार्ग करता जाता था इसलिये कहीं भी स्खलित न होती हुई वह सेना अपनी इच्छानुसार जा रही थी ॥ ९२ ॥ इसी बीचमें मार्गमें महाराज भरतने सब दिशाओंको अलंकृत करनेवाली अपनी निर्मल कीर्तिके समान शरदऋतुकी शोभा देखी ॥ ९३ ॥ शरदऋतुकी शोभाके मुखके समान जो सरोवर कमलोंकी सुगंध छोड रहे थे उन्हें देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुये थे॥९४॥ सरोवरोंके किनारेपर मनोहर शब्द करते हुये और मृणाल (कमलका तंतु) रूपी मक्खन (लोनी) खाकर पुष्ट हुये हंसोंको वह भरत शरदऋतुके पुत्रोंके समान देख रहा था ॥ ९५ ॥ जो हंस अपनी चोंचसे कमलतंतुको उठाकर हंसिनीकेलिये दे रहा था वह सब राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसे भरतके हृदयको बहुत ही संतुष्ट कर रहा था ॥ ९६ ॥ जो चकवा पानीकी लहरोंसे रुकी हुई चकवीको नहीं देखता हुआ सरोवरके चारोंओर जोर जोरसे शब्द कर रहा था वह भी भरतके मनको प्रसन्न कर रहा था ॥ ९७ ॥ एक तरुण हंसने कमलकी परागरजसे कुछ २ पीली हुई अपनी हंसनीको भूलसे चकवी समझकर छोड दिया था उसे भी वह देख रहा था॥९८॥ एक बूढा हंस पानीकी सफेद लहरोंसे जिसका शरीर सफेद हो रहा है ऐसी चकवीको हंसिनी समझकर और उसपर मोहित होकर उसके

चक्रवाकीविशंकया ॥ ९८ ॥ तरंगैर्धवलीभूतविग्रहां कोककामिनीं । व्यामोहादनुधावंतं स जरद्धंसमैक्षत ॥ ९९ ॥ नदीपुलिनदेशेषु हंससारसहारिषु । शयनेष्विव तस्यासीद्धृतिः शुचिमसीमसु ॥ १०० ॥ रोधोलताशिखोत्सृष्टपुष्पप्रकरशोभिनीः । सरित्तीरभुवोऽदर्शज्जलोच्छ्वासतरंगिताः ॥ १०१ ॥ लतालयेषु रम्येषु रतिरस्य प्रपश्यतः । स्वयंगलत्प्रसूनौघरचितप्रस्तरेष्वभूत् ॥ १०२ ॥ क्वचिल्लतागृहांतस्थचंद्रकांतशिलाश्रितान् । स्वयशोगानसंसक्तान् किन्नरान् प्रभुरैक्षत ॥ १०३ ॥ क्वचिल्लताप्रसूनेषु विलीनमधुपावलीः । विलोक्य स्वस्तकेशीनां सस्मार प्रिययोषितां ॥ १०४ ॥ सुमनोवर्षमातेनुः प्रीत्येवास्याधिमूर्द्धजं । पवनाधूतशाखाग्राः प्रफुल्ला मार्गशाखिनः ॥ १०५ ॥ सच्छायान्सफलाँस्तुंगान् सर्वसंभोग्यसंपदः । मार्गद्रुमान् समद्राक्षीत् स नृपाननुकु-

---

पीछे २ दौड रहा था उसे भी वह भरत देख रहा था ॥ ९९ ॥ जिसकी समियें अत्यंत पवित्र हैं और जो हंस सारस आदि पक्षियोंसे शोभायमान है ऐसी शय्याके समान स्वच्छ नदीके किनारेकी जगहपर महाराज भरतको बहुत ही संतोष हुआ था ॥ १०० ॥ जो समीप वाली लताके आग्रभागसे छूटे हुये पुष्योंके समूहसे सुशोभित होरही है और जो जलके प्रवाहसे मिल रही है ऐसी नदियोंके किनारेकी जमीनको भी भरतेश्वर देख रहा था ॥ १०१ ॥ जिसमें अपनेआप गिरे हुये फूलोंके समूहसे शय्या बनी हुई है ऐसे सुंदर लतागृहोंको देखते हुये भरतको उनमें बहुत ही प्रेम उत्पन्न हुआ था ॥ १०२ ॥ वह महाराज कहीं कहीं लतागृहोंके भीतर पडी हुई चंद्रकांत मणियोंकी शिलाओंपर बैठे हुये और महाराज भरतका यश गानेमें लगे हुये किन्नरोंको देख रहा था ॥ १०३ ॥ कहीं कहींपर लताओंके फूलोंपर बैठे हुये भ्रमरोंके समूहोंको देखकर जिनकी चोटियोंमें फूल गुथे हुये हैं ऐसी प्रिय स्त्रियोंको स्मरण करता था ॥ १०४ ॥ जिनकी शाखायें वायुसे हिल रहीं हैं ऐसे फूले हुये मार्गके वृक्ष मानों बडे प्रेमसे महाराजके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ १०५ ॥ वह भरत जिनकी बहुत अच्छी छाया है, जिनपर फल लगे हुये हैं, जो बहुत ऊंचे हैं और जिनकी फल पुष्परूपी संपत्ति सबके उपभोग करने योग्य है तथा इसलिये ही जो मानों राजाओंका अनुकरण कर रहे हैं ऐसे

वंतः ॥ १०६ ॥ सरस्तीरभुवोऽपश्यत्सरोजरजसा ततः । सुवर्णरजसा शंकामध्वन्यहृदि तन्वतीः ॥ १०७ ॥ बलरेणुभिरारुद्धे दोषामन्ये नभस्यसौ । करुणां रुदतीं वीक्ष्य चक्रे चक्राह्वकामिनीं ॥ १०८ ॥ गवां गणानथापश्यद्गोष्पदारण्यचारिणः । क्षीरमेघानिवाजस्रं क्षरत्क्षीरप्लुतांतिकान् ॥ १०९ ॥ सौरभेयान् स शृंगाग्रसमुत्खातस्थलांबुजान् । मृणालानि यशांसीव किरतोऽपश्यदुन्मदान् ॥ ११० ॥ वात्सकं क्षीरसंपोषादिव निर्मलविग्रहं । सोऽपश्यच्चापलस्येव परां कोटिं कृतोत्प्लुतं ॥ १११ ॥ स पक्वकणिशानम्रकलमक्षेत्रमैक्षत । नौद्धत्यं फलयोगीति नृणां वक्तुमिवोद्यतं ॥ ११२ ॥ वप्रांतर्भवमा-

---

मार्गके वृक्षोंको भी देखता जाता था ॥ १०६ ॥ जो सरोवरोंके किनारेकी भूमि कमलोंकी परागसे व्याप्त हो रही थी और इसलिये ही जो मार्गमें चलनेवाले लोगोंके हृदयमें क्या यह भूमि सुवर्णकी धूलिसे बनी हुई है ऐसी शंका उत्पन्न कर रही थी उसे भी भरतेश्वर देखता जा रहा था ॥ १०७ ॥ सेनाकी धूलिसे व्याप्त हुये और इसलिये ही रात्रिके समान जान पडनेवाले आकाशमें रात्रि समझकर रोती हुई चकवीको देखकर महाराजके हृदयमें करुणा उत्पन्न हो रही थी ॥ १०८ ॥ दूधके बादलोंके समान जिन्होंने अपने आप निरंतर निकलते हुये दूधसे समीपका देश भर दिया है और जो अपने चरने योग्य जंगलोंमें चर रहीं हैं ऐसी गायोंके समूहको भी देख रहा था ॥ १०९ ॥ जो अपने सींगोंसे स्थल कमलोंको उखाड रहे हैं तथा जो अपने यशके समान कमल तंतुओंको फेंक रहे हैं ऐसे उन्मत्त बैलोंको भी देख रहा था ॥ ११० ॥ दूधसे पालन पोषण होनेके कारण ही मानों जिनका सफेद निर्मल शरीर है जिन्होंने चपलताकी अंतिम सीमा धारण की है और जो बार बार उडी मार रहे हैं ऐसे गायोंके बच्चोंके समूहको भी देखता जाता था ॥ १११ ॥ वह महाराज पके हुये धान्योंसे नम्रीभूत हुये कलमी चावलोंके खेतको देख रहा था, उस समय वे खेत ऐसे जान पडते थे मानों लोगोंको "उद्धतपना फल देनेवाला नहीं है नम्र होनेसे ही फल मिलता है" यही कहनेकेलिये तैयार हुये हों ॥ ११२ ॥ खेतमें ही उत्पन्न हुये कमलोंको सूंघने

घ्रातुमिवोत्पलमिवानतान् । स केदार्येषु कलमान् वीक्ष्यानंदं परं ययौ ॥ ११३ ॥ फलानतान् स्तंबकरीन् सोपश्यद्वप्रभूमिषु । स्वजन्महेतून्केदारान् नमस्यत इवादरात् ॥ ११४ ॥ आपीतपयसः प्राज्यक्षीरा लोकोपकारिणीः । पयस्विनीरिवापश्यत्प्रसूताः शालिसंपदः ॥ ११५ ॥ अवतंसितनालाब्जाः कंजरेणुश्रितस्तनीः । इक्षुदंडभृतोऽपश्यच्छालींछोत्कुर्वतीः स्त्रियः ॥ ११६ ॥ हारिगीतस्वनाकृष्टैर्वेष्टिता हंसमंडलैः । शालिगोप्यो दृशोरस्य मुदं तेनुर्वधूटिकाः ॥ ११७ ॥ कृताध्वगोपरोधानि गीतानि दधतीः सतीः । न्यस्तावतंसाः काणिशैः शालिगोपीर्ददर्श सः ॥ ११८ ॥ सुगंधिमुखनिःश्वासात् भ्र-

---

केलिये ही जो मानों नव रहे हैं ऐसे खेतोंमें खडे हुये कलमी चांवलोंको देखकर महाराजको बहुत ही संतोष हुआ था ॥ ११३ ॥ अपने खेतोंमें फलोंसे नम्रीभूत हुये चांवलोंको भी वह महाराज देखता था, उससमय वे चांवल ऐसे जान पडते थे मानों अपने जन्म देनेमें कारण ऐसे खेतोंको बडे आदरसे नमस्कार कर रहे हों ॥ ११४ ॥ अथवा वह महाराज चांवलोंकी शोभाको गायोंके समान देख रहा था क्योंकि जिसप्रकार गाय जल पीती है उसीप्रकार चांवलोंने भी जल पिया था, जिसप्रकार गाय दूध और घी देनेवाली होती है उसीप्रकार चांवल भी दूध और घीके समान सफेद और स्वादिष्ट थे, गाय जैसे सब लोगोंका उपकार करती है उसीप्रकार चांवल भी सब लोगोंका उपकार करते थे और गायें जैसे बहुत थीं उसीप्रकार चांवल भी बहुत थे ॥ ११५ ॥ तथा जिन्होंनें नालसहित कमल अपने कानोंका आभूषण बनाया है, कमलकी पराग जिनके स्तनोंपर पड रही है, हाथमें जो ईखका दंडा लिये हुये हैं और जो खेत रखानेकेलिये ' छो छो ' शब्द करती हुई पक्षियोंको उडा रही हैं ऐसी स्त्रियोंको भी देखता जाता था ॥ ११६ ॥ मनोहर गीतोंके शब्दोंसे आये हुये हंसोंके समूहोंसे घिरी हुई ऐसी खेत रखानेवाली नई स्त्रियां महाराज भरतके नेत्रोंको बहुत ही आनंदित कर रही थीं ॥ ११७ ॥ जो मार्ग चलनेवालोंको रोकनेवाले गीत गा रही हैं जिन्हें सुनकर मार्ग चलनेवाले लोग चलना छोडकर वहीं रुक जाते हैं ऐसे गीतोंको गानेवालीं तथा जिन्होंने चांवलोंके

मैराकुलीकृताः । मनोऽस्य जह्रुः शालीनां पालिकाः कुलबालिकाः ॥ ११९ ॥ उपाध्वं प्रकृतक्षेत्रान् क्षेत्रिणः परिधावतः । बलोपरोधैरायस्तानैक्षताऽसौ सकौतुकं ॥ १२० ॥ उपशल्यभुवोऽद्राक्षीन्निगमानभितो विभुः । केदारलवैराकीर्णाः स भ्राम्यद्भिः कृषीवलैः ॥ १२१ ॥ सोऽपश्यन्निगमोपांते पथः संस्त्यानकर्दमान् । प्रव्यक्तगोखुरक्षोदस्थपुटानतिसंकटान् ॥१२२॥ निगमान् परितोऽपश्यद्ग्राममुख्यान् महाबलान् । वयस्तिरोजनैः सेव्यान्महारामतरूनपि ॥ १२३ ॥ ग्रामान्कुक्कुटसंपात्यान्सोऽत्यगाद्वृतिभिर्वृतान् । कोशातकीलतापुष्पस्थगिताभिरितोऽमुतः ॥ १२४ ॥ कुटीपरिसरेष्वस्य धृतिरासी-

---

वृक्षोंका ही कर्णभूषण बनाया है ऐसी चांवलोंके खेत रखानेवालीं स्त्रियोंको भी वह देखता जाता था ॥ ११८ ॥ जो अपने मुखके निश्वासकी सुगंधिसे आये हुये भ्रमरोंसे व्याकुल हो रहीं हैं ऐसी खेत रखानेवालीं अच्छे २ घरोंकी कुलीन लडकियां महाराज भरतके मनको हरण कर रहीं थीं ॥ ११९ ॥ किसान लोग सेनाके लोगोंसे खेतोंकी रक्षा करनेकेलिये मार्गके समीप बोये हुये खेतोंके चारोंओर दौड रहे थे तथा सेनाके लोगोंसे वलात्कार (जवर्दस्ती) करनेपर (रोकनेपर) खेदाखिन्न हो रहे थे ऐसे किसानोंको भी वह नरेंद्र लीलापूर्वक देख रहा था ॥ १२० ॥ जो खेत काटनेवाले इधर उधर दौडते हुये किसानोंसे व्याप्त हो रही थी ऐसी प्रत्येक ग्रामोंके चारोंकी [खरियानोंकी] जमीनको भी देखता जाता था ॥ १२१ ॥ जो साफ साफ दिखनेवाले गायोंके खुरोंके चिन्होंसे ऊंचा नीचा हो रहा है तथा जो अत्यंत विकट है ऐसे थोडी थोडी कीचडसे भरे हुये गांवोंके समीपवाले मार्गको भी वह महाराज देखता जाता था ॥ १२२ ॥ जिनमें बडे बडे बळवान लोग रहते हैं ऐसे शहरके समीपवर्ती मुहल्लोंको तथा मुख्य २ गांवोंको चारोंओरसे देखता जाता था और पक्षी तिर्यंच मनुष्य आदि सब जिनकी सेवा कर रहे हैं ऐसे बडे २ बगीचोंके वृक्षोंको भी देखता था ॥ १२३ ॥ जिनपर इधर उधर चारोंओर पुष्प लदे हुये हैं ऐसी ककडी, परबल आदिकी लताओंसे घिरे हुये तथा जिनपर एकसे दूसरेपर मुरगा भी उडकर जा सकता है ऐसे समीप २ बसे हुये गांवोंको उनमें कोई उप-

त्पश्यतः । फलपुष्पानता वल्लीः प्रसवाढ्याः सतीरपि ॥ १२५ ॥ योषितो निष्कमालाभिर्वलयैश्च विभूषिताः । पश्यतोऽस्य मनोजह्रुर्ग्रामीणाः संसृतावृतीः ॥ १२६ ॥ हैयंगवीनकलशैर्दध्नामपि निहित्रकैः । ग्रामेषु फलभेदैश्च तमद्राक्षुर्महत्तराः ॥ १२७ ॥ ततो विदूरमुल्लंघ्य सोऽध्वानं पृतनावृतः । गंगामुपासदद्वीरः प्रयाणैः कतिचैरपि ॥ १२८ ॥ हिमवद्विधृतां पूज्यां सतीमासिंधुगामिनीं । शुचिप्रवाहामाकल्पवृत्तिं कीर्तिमिवात्मनः ॥ १२९ ॥ शफरीप्रेक्षणामुद्यत्तरंगभ्रूविनर्तनां । वनराजीबृहच्छाटीपरिधानां बधूमिव ॥ १३० ॥ विस्तीर्णैर्जनसंभोग्यैः कूजद्धंसाऽलिमेखलैः । तरंगवसनैः कांतैः पुलिनैर्ज-

---

द्रव न हो इसलिये दूरसे ही छोडता जाता था ॥ १२४ ॥ तथा गांवोंके घरोंके आंगनोंमें पुष्पफलोंसे नम्रीभूत हुई और पुष्पोंसे व्याप्त हो रहीं ऐसी अच्छी २ लताओंको देखकर भरतको बहुत ही संतोष हुआ था ॥ १२५ ॥ जिन्होंने सुवर्णकी माला और सुवर्णके कडोंका अलंकार किया है तथा जो लताओंके समीप खडी होकर देख रही हैं ऐसी गांवोंकी स्त्रियां भी देखनेवाले महाराज भरतका मन हरण कर रहीं थीं ॥ १२६ ॥ गांवोंके बडे २ आदमी घी मक्खनोंके घडे, दहीके घडे और अनेक प्रकारके फल भेट कर महाराजके दर्शन करते थे ॥ १२७ ॥ तदनंतर वह वीरपुरुष सेना सहित कितनी ही मंजिल चलकर कितने ही मार्गको दूर उलंघनकर गंगानदीके समीप जा पहुंचा ॥१२८॥ उसने वहां जाकर अपनी कीर्तिके समान गंगानदीको देखा, क्योंकि जिसप्रकार कीर्ति हिमवान पर्वततक फैल रही थी उसीप्रकार गंगा भी हिमवानपर्वतसे निकली थी, जिसप्रकार कीर्ति पूज्य और मनोहर थी उसीप्रकार गंगा भी पूज्य और मनोहर थी, कीर्ति जिसप्रकार समुद्रतक फैली हुई थी उसीप्रकार गंगा भी समुद्रतक गई थी, जिसप्रकार कीर्तिका प्रवाह पवित्र था उसीप्रकार गंगाका प्रवाह भी पवित्र था और कीर्ति जिसप्रकार कल्पांतकालतक टिकनेवाली थी उसीप्रकार गंगा भी अनंत कल्पकालतक टिकनेवाली थी ॥ १२९ ॥ अथवा वह गंगा एक स्त्रीके समान जान पडती थी, क्योंकि चंचल मछलियें ही उसके नेत्र थे, उठती हुई तरंगें ही भौंहोंका नचाना था और दोनों ओर

घनैरिव ॥ १३१ ॥ लोलोर्मिहस्तनिर्धूतपक्षिमालाकलस्वनैः । किमप्यालपितं यत्नं तन्वतीं वा तटद्रुमैः ॥ १३२ ॥ क्षतीर्वनेभदंतानां रोधोजघनवर्तिनीः । रुंधतीमब्धिभीत्येव लसदूर्मिदुकूलकैः ॥ १३३ ॥ रोमराजिमिवानीलां बनराजीं विभ्रणतीं । तिष्ठमानामिवावर्तव्यक्तनाभिमुदन्वते ॥ १३४ ॥ विलोलवीचिसंघट्टादुत्थितां पतगावलिं । पताकामिव बिभ्राणां लब्धां सर्वापगाजयात् ॥ १३५ ॥ समांसमीनां पर्याप्तपयसं धीरनिःस्वनां । जगतां पावनीमान्यां

बनोंकी पंक्ति रूप बडी साडीको पहने हुये थी ॥ १३० ॥ उस गंगाके किनारे स्त्रियोंके जघनके समान जान पडते थे क्योंकि वे बहुत बडे थे, लोगोंके उपभोग करने योग्य थे, शब्द करते हुये हंसोंकी पंक्ति ही करधनी थी, लहरें ही उसके बस्त्र थे और वे बडे मनोहर थे ॥ १३१ ॥ चंचल लहरें रूपी हाथोंके द्वारा उडाये हुये पक्षियोंके समूह जो मधुर शब्द कर रहे थे उनसे वह गंगा ऐसी जान पडती थी मानों वह किनारेके वृक्षोंको कुछ कहनेकेलिये ही प्रयत्न कर रही हो ॥ १३२ ॥ वह गंगा लहरोंसे ऐसी जान पडती थी मानों किनारेरूपी जघनभागपर बनमें फिरनेवाले हाथियोंके दांतोंके जो घाव लग रहे थे उन्हें अपने पति समुद्रके भयसे दैदीप्यमान लहरें रूपी वस्त्रसे ढक रही ही हो ॥ १३३ ॥ वह गंगा समुद्रकेलिये रोमोंकी रेखाके समान खूब हरी ऐसी बन पंक्तियोंको प्रगट कर रही थी और भंवररूपी प्रगट नाभिको दिखलाती हुई स्थिर थी ॥ १३४ ॥ चंचल लहरोंके संघट्टसे जो पक्षियोंकी पंक्ति उड रही थी उससे वह गंगा ऐसी जान पडती थी मानों उसने समस्त नदियोंके जीतनेसे प्राप्त हुई पक्षियोंकी पंक्तिरूपी ध्वजा ही फहराई हो ॥ १३५ ॥ अथवा वह गंगा उत्तम गायके समान जान पडती थी, क्योंकि जिसप्रकार गाय समांसमीना अर्थात् प्रतिवर्ष गर्भ धारण करती थी उसीप्रकार गंगा भी मछली आदि जल चर जीवोंको धारण करती थी, गाय जिसप्रकार दूधसे भरी रहती है उसीप्रकार गंगा भी पय अर्थात् जलसे भरी थी, गायका जैसा गंभीर शब्द होता है उसीप्रकार गंगाका भी गंभीर शब्द था, गाय जिसप्रकार जगतको पवित्र करनेवाली है

हसंतीं गोमचार्चिकां ॥ १३६ ॥ गुरुप्रवाहप्रसृतां तीर्थकामैरुपासितां । गंभीरशब्दसंभूतिंजैनीं श्रुतिमिवाऽमलां ॥ १३७ ॥ राजहंसैः कृतोपास्यामलंघ्यां विवृतायतिं । जयलक्ष्मीमिवस्फीतामात्मीयामब्धिगामिनीं ॥ १३८ ॥ विलसत्पद्मसंभूतां जनतानंददायिनीं । जगद्भोग्यामिवात्मीयां श्रियमायतिशालिनीं-

उसीप्रकार गंगा भी जगतको पवित्र करनेवाली थी और गाय जिसप्रकार मान्य है उसीप्रकार वह गंगा भी सबको मान्य थी इसप्रकार वह गंगा अपनी उत्तमतासे गायकी भी हँसी कर रही थी ॥ १३६ ॥ अथवा वह गंगा जिनवाणीके समान निर्मल जान पडती थी, क्योंकि जिसप्रकार जिनवाणी केवली श्रुतकेवली आदि गुरुओंके परंपरा पूर्वक उत्पन्न हुई है उसीप्रकार गंगा भी पानीके बडे प्रवाहसे उत्पन्न हुई थी, जिसप्रकार संसारसे पार होनेकी इच्छा करनेवाले भव्यजीव जिनवाणी की सेवा करते हैं उसीप्रकार तीर्थस्नानकी इच्छा करनेवाले जीव गंगाकी भी सेवा करते थे और जिनवाणीमें जैसे गंभीर शब्द उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार गंगामें भी गंभीर शब्द उत्पन्न हो रहे थे ॥ १३७ ॥ अथबा उस भरतने वह गंगा अपनी जयलक्ष्मीके समान देखी थी, क्योंकि जिसप्रकार जयलक्ष्मीकी सेवा बडे २ राजा लोग करते हैं उसीप्रकार गंगाकी सेवा भी राजहंस करते थे, जयलक्ष्मी जिसप्रकार अलंघ्य [लंघन करने अयोग्य] है उसीप्रकार गंगा भी अलंघ्य थी, जिसप्रकार जयलक्ष्मीकी लंबाई बहुत दूरतक फैली थी उसीप्रकार गंगाकी लंबाई भी बहुत थी, जिसप्रकार जयलक्ष्मीका विस्तार बहुत था उसीप्रकार गंगाका विस्तार भी बहुत था और जयलक्ष्मी जिसप्रकार समुद्रतक गई है उसीप्रकार गंगा भी समुद्रतक गई थी ॥ १३८ ॥ अथवा वह गंगा भरतने अपनी लक्ष्मीके समान देखी थी क्योंकि जिसप्रकार लक्ष्मी उत्तम पद्मनिधिसे उत्पन्न हुई है उसीप्रकार गंगा भी दैदीप्यमान पद्मनामके सरोवरसे निकली थी, लक्ष्मी जैसे लोगोंको आनंद देनेवाली होती है उसीप्रकार गंगा भी लोगोंको आनंद देनेवाली थी, लक्ष्मी जैसे सबके भोगने योग्य थी उसीप्रकार गं-

॥ १३९ ॥ विजयार्द्धतटाक्रांतिकृतश्लाध्यां सुरंहसं । अभग्नप्रसरां दिव्यां निजामिव पताकिनीं ॥ १४० ॥ व्यालोलोर्मिकरास्पृष्टैः स्वतीरवनपादपैः । दधद्भिरंकुरोद्भेदमाश्रितां कामुकैरिव ॥ १४१ ॥ रोधोलताऽलयासीनान् स्वेच्छया सुरदंपतीन् । हसंतीमिव सुस्वानैः सीकरोत्थैर्विसारिभिः ॥ १४२ ॥ किन्नराणां कलक्काणैः सगानैरुपवीणितैः । सेव्यपर्यंतभूभागलतामंडपमंडनां ॥ १४३ ॥ हारिभिः किन्नरोद्गीतैराहूता हरिणांगनाः । दधतीं तीरकच्छेषु

गा भी सबके भोगने योग्य थी और लक्ष्मी जैसे बहुत बडी थी उसीप्रकार गंगा भी बहुत बडी थी ॥ १३९ ॥ अथवा वह गंगा अपनी सेनाके समान देखी थी, क्योंकि जिसप्रकार सेना विजयार्द्ध पर्वतके किनारेको आक्रमण करनेसे प्रशंसनीय गिनी जाती थी, उसीप्रकार गंगा भी विजयार्द्ध पर्वतके किनारेको आक्रमण करनेसे प्रशंसनीय गिनी जाती थी, जिसप्रकार सेनाका वेग तेज था उसीप्रकार गंगाका वेग भी तेज था, जिसप्रकार सेनाके प्रसारको कोई रोक नहीं सकता उसीप्रकार गंगाके विस्तारको भी कोई रोक नहीं सकता था और सेना जैसी मनोहर थी गंगा भी वैसी ही मनोहर थी॥ १४० ॥ जिस प्रकार स्त्री रोमांच धारण करनेवाले और हाथोंके स्पर्श किये हुये कामी पुरुषोंके आश्रित रहती है उसीप्रकार वह गंगा अपनी चंचल लहरेंरूपी हाथोंसे स्पर्श किये हुये औरअंकूरोंकी उत्पत्तिको धारण करनेवाले अपने किनारेके बनके वृक्षोंके आश्रित थी ॥ १४१ ॥ किनारेपर जो लताओंके घर बने थे और उनमें जो अपनी इच्छानुसार देव देवांगनायें बैठी थीं उनकी ओर मानों वह गंगा मीठे शब्द करती हुई और चारोंओर उडती हुई सफेद बूंदोंसे हँसती हुईके समान जान पडती थी ॥ १४२ ॥ अथवा किन्नरोंके मधुर शब्द और बजते हुये वीणाके साथ होनेवाले गायनके द्वारा जिनकी सेवा की जा रही है अर्थात् जहां किन्नर गा बजा रहे हैं ऐसी समीपवर्ती पृथ्वीपरके लतामंडपोंसे वह गंगा बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ १४३ ॥ जिन्होंने सुखसे अपने गले सीधे फैला रक्खे हैं और जो किन्नरोंके मधुर गीतोंके द्वारा बुलाई हुई हैं ऐसी अनेक हिरणियां उस गंगाके किनारेकी

प्रसारितगलद्दला: ॥१४४॥ हृद्यैस्ससारसारावैः पुलिनैर्दिव्ययोषितां। नितंबानि सकांचीनि हसंतीमिव विस्तृतैः ॥१४५॥ चतुर्दशभिरन्वितां सहस्रैरब्धियोषितां। सध्रीचीनामिवोद्वीचिबाहूनां परिरंभणे ॥ १४६ ॥ इत्याविष्कृतसंशोभां जान्हवीमैक्षत प्रभुः। हिमवद्गिरिणांभोधेः प्रहितामिव कंठिकां ॥१४७॥ शरदुपहितकांतिं प्रांतकांताररराजीविरचितपरिधानां सैकतारोहरम्यां। युवतिमिवगभीरावर्तनाभिं प्रपश्यन् प्रमदमतुलमूहे क्षमापतिः स्वस्रवंतीं ॥ १४८ ॥ सरसिजमकरंदोद्गंधिराधूतरोधोवनकिसलयमंदांदोलनादूढमांद्यः। असकृदमरसिंधोराधुनानस्तरंगान् अह्रतनृपवधूनामध्वखेदं समीरः ॥ १४९ ॥ तामाक्रां-

---

जमीनपर खडी थीं ॥ १४४ ॥ सारस पक्षियोंके मनोहर शब्द और बडे २ पुलिनोंके (किनारोंके) द्वारा वह गंगा ऐसी जान पडती थी मानों देवांगनाओंके करधनी सहित नितंबोंकी ओर ही हंस रही हो ॥ १४५ ॥ जो गंगाको आलिंगन करनेकेलिये अपनी तरंगेरूप भुजाओंको उठा रही हैं ऐसी चौदह हजार नदियोंकी सखीके समान वह बहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ १४६ ॥ इसप्रकार जिसकी शोभा प्रगट दिखाई दे रही है और जो हिमवान पर्वतके द्वारा समुद्रकेलिये भेजी हुई मोतियोंकी मालाके समान जान पडती है ऐसी गंगानदी महाराज भरतने देखी ॥ १४७ ॥ शरदऋतुके द्वारा जिसकी कांति बहुत बढगई है, किनारेके बनोंकी पंक्ति ही जिसके पहननेके वस्त्र हैं, बालूके टीलेरूप नितंबोंसे जो बहुत मनोहर जान पडती है,और पडते हुये गंभीर भंवर ही जिसकी नाभि है ऐसी गंगा नदीको तरुण स्त्रीके समान देखते हुये महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुये थे ॥ १४८ ॥ जो कमलोंकी परागसे अत्यंत सुगंधित है तथा किनारेके बनके पत्तोंको धीरे २ हिलानेसे जिसका मंदपना प्रगट हो रहा है और जो गंगानदीकी लहरोंको बार बार हिला रहा है ऐसा वहांका वायु रानियोंके मार्गके परिश्रमको दूर कर रहा था ॥ १४९ ॥ महाराज भरतने वह गंगा ठीक जिनेंद्रदेवकी कीर्तिके समान देखी थी, क्योंकि जिसप्रकार जिनेंद्रदेवकी कीर्ति सब दिशाओंमें फैली हुई है उसप्रकार गंगा भी पूर्व दिशाकी ओर फैली हुई थी, जैसे जिनेंद्रकी कीर्ति रज अर्थात् पापोंको ना-

तद्दरिन्मुखां कृतरजोधूर्तिं जगत्पावनीमासेव्यां द्विजकुंजरैरविरतं संतापविच्छेदिनीं । जैनीं कीर्तिमिवाततामपमलां शश्वज्जनाऽनंदिनीं निध्यायन्विबुधापगां निधिपतिः प्रीतिं परामासदत् ॥ १५० ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजदिग्विजयोद्योगवर्णनो नाम षड्विंशतितमं पर्व ॥ २६ ॥

श करनेवाली है उसीप्रकार गंगा भी रज अर्थात् धूलिको नाश करनेवाली थी, जिनेंद्रकी कीर्ति जैसे जगतको पवित्र करनेवाली है उसीप्रकार गंगा भी जगतको पवित्र करनेवाली थी, जिनेंद्रकी कीर्ति जैसे द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्री वैश्यरूप हाथियोंके द्वारा सेवन की जाती है उसीप्रकार गंगा भी द्विज अर्थात् बडे २ पक्षियोंके द्वारा सेवन की जाती थी, जिनेंद्रकी कीर्ति जैसे निरंतर संतापको दूर करनेवाली है उसीप्रकार गंगा भी निरंतर संताप दूर करनेवाली थी, जिनेंद्रदेवकी कीर्ति जैसे बहुत बडी और निर्मल है उसीप्रकार वह गंगा भी बहुत बडी और निर्मल थी तथा जिनेंद्रदेवकी कीर्ति जैसे लोगोंको निरंतर आनंद देनेवाली है उसीप्रकार वह गंगा भी लोगोंको निरंतर आनंद देनेवाली थी, ऐसी उस गंगाको देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुये थे ॥ १५० ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें महाराज भरतके दिग्विजयका उद्योग वर्णन करनेवाला छव्वीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

अथ सप्तविंशं पर्व.

अथ व्यापारयामास दृशं तत्र विशांपतिः । प्रसन्नैः सलिलैः पाद्यं वितरंत्यामिवाऽऽत्मनः ॥ १ ॥ व्यापारितदृशं तत्र प्रभुमालोक्य सारथिः । प्राप्तावसरामित्यूचे वचश्चेतोनुरंजनं ॥ २ ॥ इयमाह्लादिताशेषभुवना देवनिम्नगा । रजोविधुन्वती भाति भारतीव स्वयंभुवः ॥ ३ ॥ पुनातीयं हिमाद्रिं च सागरंच महानदी । प्रसूतौच प्रवेशे च गंभीरा निर्मलाशया ॥ ४ ॥ इमां वनगजाः प्राप्य निर्वात्येते मदच्युताः । मुनींद्रा इव सद्विद्यां गंभीरां तापविच्छिदं ॥ ५ ॥ इतः पिबन्ति वन्येभाः पयोस्याः कृतनिःस्वनाः । इतोमी पूरयंत्येनां मुक्तासाराः शरद्घनाः ॥ ६ ॥ अस्याः प्रवाहमंभोधिर्धत्ते गांभीर्ययो-

---

अथ सत्ताईसवां पर्व

अथानंतर—वहांपर जो मानों स्वच्छ जलसे भरतको अर्घ ही दे रही हो ऐसी गंगा नदीपर महाराज भरतने अपनी दृष्टि डाली ॥१॥ उससमय सारथीने गंगाको देखते हुये महाराज भरतसे समय देखकर मनको प्रसन्न करनेवाले इसप्रकारके बचन कहे कि ॥२॥ हे महाराज! समस्त जगतको आनंदित करनेवाली और रज अर्थात् धूलि अथवा पापको नाश करनेवाली यह गंगा ठीक ऋषभदेवकी वाणीके समान जान पडती है ॥ ३ ॥ गंभीर और निर्मल जलसे भरी हुई यह गंगा नदी उत्पन्न होते समय तो हिमवान् पर्वतको पवित्र करती है और मिलते समय समुद्रको भी पवित्र करती है ॥ ४ ॥ जिसप्रकार गंभीर और संताप दूर करनेवाली सद्विद्या [उत्तमज्ञान] को पाकर मुनिलोग मद छोंडकर मुक्त हो जाते हैं उसीप्रकार गंभीर और संताप दूर करनेवाली गंगाको पाकर अर्थात् उसमें स्नानकर ये हाथी भी अपना मद छोडकर शांत हो जाते हैं ॥ ५ ॥ इधर ये बनके हाथी गंभीर शब्द करते हुये इस गंगाका पानी पी रहे हैं, और इधर जलकी वृष्टि करते हुये ये शरदऋतुके बादल इस गंगाको भर रहे हैं ॥ ६ ॥ यद्यपि विजयार्द्ध पर्वत ऊंचा और निश्चल है तथापि वह इस गंगाके प्रवाहको धारण नहीं कर सका है, इसके प्रवाहको केवल समुद्र ही धारण कर सकता है क्योंकि वह

गतः । असोढं विजयार्द्धेन तुंगेनाप्यचलात्मना ॥ ७ ॥ अस्याः पयःप्रवाहेण नूनमब्धिर्वितृट् भवेत् । क्षारेण पयसा स्वेन दह्यमानांतराशयः ॥ ८ ॥ पद्मन्हदाद्धिमवतः प्रसन्नादिव मानसात् । प्रसूता पप्रथे पृथ्व्यां शुद्धजन्मा हि पूज्यते ॥ ९ ॥ व्योमापगामिमां प्राहुर्वियतः पतितां क्षितौ । गंगादेवी गृहं विष्वगाप्लाव्य स्वजलप्लवैः ॥ १० ॥ बिभर्ति हिमवानेनां शशांककरनिर्मलां । आसिंधोः प्रसृतां कीर्तिमिव स्वां लोकपावनीं ॥ ११ ॥ वनराजीद्वयेनेयं बिभर्ति तटवर्तिना । वाससेरिव युग्मेन विनीलेन धृतश्रिया ॥ १२ ॥ स्वतटाश्रयिणीं धत्ते हंसमालां कलस्वनां । कांचीमिवेयमंभोजरजःपिंजरविग्रहां ॥ १३ ॥ नदी सखीरियं स्वच्छमृणालशकलामलाः । संबिभर्ति स्वसात्कृत्य सख्यं श्लाघ्यं हि तादृशां ॥ १४ ॥ राजहंसैरियं सेव्या लक्ष्मीरिव विभाति

अतिशय गंभीर है ॥ ७ ॥ अपने क्षार जलसे जिसके अंतःकरणमें दाह उत्पन्न हो रहा है ऐसा समुद्र अवश्य ही इस गंगाके जलके प्रवाहसे प्यासरहित अर्थात् संतुष्ट हो गया है ॥ ८ ॥ यह गंगा शुद्ध मनके समान जो हिमवान पर्वतका पद्म सरोवर है उससे निकलकर पृथ्वीमें प्रसिद्ध हुई है सो ठीक ही है क्योंकि जिसका जन्म शुद्ध है वह पूज्य होता ही है ॥ ९ ॥ यह गंगा अपने जलके प्रवाहसे गंगादेवीके घरको चारोंओरसे भिगोकर आकाशसे ऊपरसे अर्थात् हिमवान पर्वतसे पृथ्वीपर आई है इसलिये इसे आकाशगंगा भी कहते हैं ॥ १० ॥ जो चंद्रमाकी किरणोंके समान निर्मल है, समुद्रतक फैली हुई है और लोकको पवित्र करनेवाली है ऐसी इस गंगाको यह हिमवान् पर्वत अपनी कीर्तिके समान धारण करता है ॥ ११ ॥ इसके दोनों किनारोंपर जो जो बनोंकी पंक्तियां हैं उससे यह गंगा ऐसी सुशोभित हो रही है मानों इसने नीले दो वस्त्रोंकी शोभा ही धारण की हो ॥ १२ ॥ कमलोंके परागसे जिनका शरीर कुछ कुछ पीला हो रहा है और जो मधुर शब्द कर रही हैं ऐसी हंसोंकी पंक्तियां इस गंगाके दोनों किनारे पर ऐसी सुशोभित हो रही हैं मानों इसने करधनी ही पहनी हो ॥ १३ ॥ यह गंगा नदी सफेद कमलनालके समान निर्मल ऐसी अन्य अनेक सखीरूप नदियोंको अपनेमें मिलाकर आदरसे धारण करती है, सो ठीक ही है क्योंकि इसप्रकार आदर-

ते । तन्वती जगतः प्रीतिमलंघ्यमहिमापरैः ॥ १५ ॥ वनवेदीमियं धत्ते समुत्तुंगां हिरण्मयीं । आज्ञामिव तवालंघ्यां नभोमार्गविलंघिनीं ॥ १६ ॥ इतः प्रसीद देवेमां शरल्लक्ष्मीं विलोकय । वनराजिषु संरूढां सरित्सु सरसीषु च ॥ १७ ॥ इमे सप्तच्छदाः पौष्पं विकिरंति रजोऽभितः । पटवासमिवामोदसंवासितहरिन्मुखं ॥ १८ ॥ बाणैः कुसुमबाणस्य बाणैरिव विकासिभिः । ह्रीयते कामिनां चेतो रम्यं हरि न कस्य वा ॥ १९ ॥ विकसंति सरोजानि सरःसु समुत्पलैः । विकासिलोचनानीव वदनानि शरच्छ्रियः ॥ २० ॥ पंकजेषु निलीयंते भ्रमरा गंधलोलुपाः । कामिनीमुखपद्मेषु कामुका इव काहलाः

से ग्रहण करनेवालेंका ही सखीपना प्रशंसनीय है ॥ १४ ॥ अथवा यह गंगा आपकी लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही है, क्योंकि जिसप्रकार आपकी लक्ष्मी राजहंस अर्थात् बडे २ राजाओंके द्वारा सेवन करने योग्य है उसी प्रकार यह गंगा भी राजहंस अर्थात् उत्तम हंसोंके द्वारा सेवन करने योग्य है, आपकी लक्ष्मी जैसे संसारको प्रेम उत्पन्न करनेवाली है उसी प्रकार यह गंगा भी संसारको प्रेम उत्पन्न करनेवाली है और जिसप्रकार अन्य कोई भी आपकी लक्ष्मीकी महिमा उलंघन नहीं कर सकते उसी प्रकार इस गंगाकी महिमाभी कोई उलंघन नहीं कर सकता ॥ १५ ॥ इस गंगाकी जो यह सुवर्णमयी तथा बहुत ऊंची वनबेदी है वह आकाशमार्गको उलंघन करनेवाली और कोईभी जिसे लंघन नहीं कर सकता ऐसी आपकी आज्ञाके समान जान पडती है ॥ १६ ॥ सारथी कह रहा है कि हे देव प्रसन्न हूजिये और इधर नदी सरोवर और वनपंक्तियोंमें फैली हुई शरदऋतुकी शोभा देखिये ॥ १७ ॥ ये सप्तच्छद जातिके वृक्ष अपनी सुगंधिसे समस्त दिशाओंको सुगंधित करनेवाले सुगंधि चूर्णके समान पुष्पोंकी पराग चारों ओर फैला रहे हैं ॥ १८ ॥ कामदेवके वाणोंके समान जो ये वाणोंके वृक्ष फूल रहे हैं वे कामी पुरुषोंके चित्तोंको मोहित कर रहे हैं, सो ठीक ही है क्योंकि मनोहर वस्तु किसको मनोहर नहीं जान पडती है ॥ १९ ॥ सरोवरोंमें चंद्रविकासी कमलोंके साथ नीलकमल फूल रेहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों जिनके नेत्र प्रफुलित हो रहे हैं ऐसे शरद-

॥ २१ ॥ मनोजशरपुंखाभैः पक्षैर्मधुकरा इमे । विचरंत्यब्जिनीखंडे मकरंदरसोत्सुकाः ॥ २२ ॥ रूषिताः कंजकिंजल्कैराभांत्येते मधुव्रताः । सुवर्णकपिशैरंगै कामाग्नेरिव मुर्मुराः ॥ २३ ॥ स्थलेषु स्थलपद्मिन्यो विकसंत्यश्वकासति । शरच्छ्रियो जिगीषंत्यो दूष्यशाला इवोत्थिताः ॥ २४ ॥ स्थलाऽब्जशंकिनी हंसी सरस्यब्जरजस्तते । संहृत्य पक्षविक्षेपं विशंतीयं निमज्जति ॥ २५ ॥ हंसोऽयं निजशावाय चंच्वोद्धृत्य लसद्बिसं । पीथबुद्ध्या ददात्यस्मै शशांककरकोमलं ॥ २६ ॥ कृतयत्नं प्लवंतेऽमी राजहंसाः सरोजले । सरोजिनीरजःकीर्णे धूतपक्षाः शनैः शनैः ॥ २७ ॥ चक्रवाकीं सरस्तीरे तरंगैः

ऋतुकी शोभाके मुख ही हों ॥ २० ॥ जिसप्रकार कामी पुरुष अस्पष्ट शब्द करते हुये स्त्रियोंके मुखकमलोंमें तल्लीन हो जाते हैं उसी प्रकार सुगंधिके लोलुपी ये भ्रमर भी अस्पष्ट शब्द करते हुये कमलोंमें तल्लीन हो रहे हैं ॥ २१ ॥ पुष्पका रस पीनेके लिये उत्कंठित हुये ये भ्रमर कामदेवके वाण रखनेके तरकसके समान अपने पंखोंसे कमलोंके समूहोंमें इधरसे उधर फिर रहे हैं ॥ २२ ॥ कमलोंकी परागसे व्याप्त होनेसे जिनका शरीर सुवर्णके समान कुछ कुछ पीला हो रहा है ऐसे ये भ्रमर ठीक कामरूप अग्निके फुलिंगोंके समान जान पडते हैं ॥ २३ ॥ पृथ्वीपर जो स्थलकमल फूल रहे हैं वे ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाली शरदृतुकी शोभाके कपडेके बने हुये तंबू ही खडे हों ॥२४॥ जिसके ऊपर कमलकी पराग व्याप्त हो रही है ऐसे सरोवरमें कमलको स्थलकमल समझती हुई यह हंसिनी अपने पंखोंको सकुचितकर अर्थात् बिना हिलाये ही प्रवेश करती है और पानीमें डूब जाती है ॥ २५ ॥ यह हंस चंद्रमाकी किरणोंके समान कोमल और देदीप्यमान ऐसे कमलतंतुको अपनी चोंचसे उठाकर और उसे मक्खनके समान कोई पतली चीज समझकर अपने इस बच्चेके लिये दे रहा है ॥२६॥ ये राजहंस कमलिनीकी परागसे व्याप्त हुये सरोवरके जलपर धीरे २ पंख हिलाते हुये बडे प्रयत्नसे अर्थात् परिश्रमसे तैर रहे हैं ॥ २७ ॥ सरोवरके किनारेपर तरंगोंसे आच्छादित हुई इस चकवीको नहीं देखता हुआ यह चकवा नेत्रोंमें आंसू भरभरकर बडी करुणाके

स्थगितामम्ं । अपश्यन् करुणं रौति चक्राह्वः साश्रुलोचनः ॥ २८ ॥ अभ्येति वा रताशंकी धार्तराष्ट्रः कृतस्वनः । सरस्तरंगशुभ्रांगीं कोककांतामनिच्छतीं ॥ २९ ॥ अनुगंगातटं भाति सप्तपर्णमिदं वनं । सुमनोरेणुभिर्व्योम्नि वितानश्रियमादधत् ॥ ३० ॥ मंदाकिनीतरंगोत्थपवनोध्वश्रमं हरन् । शनैस्स्पृशति नोंगानि रोधोवनविधूननः ॥ ३१ ॥ आतिथ्यमिव नस्तन्वन् हृतगंगांबुशीकरैः । अभ्येति पवमानोऽयं वनवीथीर्विधूनयन् ॥ ३२ ॥ अगोष्पदमिदं देव देवैरध्युषितं वनम् । लताऽलयैर्विभात्येतैः कुसुमप्रस्तरांचितैः ॥ ३३ ॥ मंदारवनवीथीनां सांद्रच्छायाः समाश्रिताः । चंद्रकांतशिलास्वेते रंरम्यंते नभःसदः ॥ ३४ ॥ अहो तटवनस्यास्य रामणीयकमद्भुतं । अवधूतनिजावासा हि रंस्यंतेऽत्र तत्सुराः ॥ ३५ ॥ मनोभवनिवेशस्य लक्ष्मीरत्र वि-

---

साथ रो रहा है ॥२८॥ संभोगकी इच्छा करता हुआ और इसलिये शब्द करता हुआ यह धार्तराष्ट्र अर्थात् काले पैर और काली चोंचका एक प्रकारका हंस सरोवरकी तरंगोंसे जिसका शरीर सफेद हो रहा है ऐसी चकवीको हंसिनी समझकर हंसकी इच्छा न करनेवाली इस चकवीके पीछे २ जा रहा है ॥ २९ ॥ गंगाके किनारे २ यह सप्तपर्ण वृक्षोंका बन ऐसा अच्छा जान पडता है मानों उसने आकाशमें व्याप्त फूलोंकी परागसे चंदोवाकी शोभा धारण की हो ॥ ३० ॥ मार्गके खेदको दूर करता हुआ और किनारेके बनको हिलाता हुआ ऐसा गंगाकी तरंगोंसे उठा हुआ यह वायु धीरे २ हम लोगोंके शरीरको स्पर्श कर रहा है ॥ ३१ ॥ बनकी पंक्तियोंको हिलाता हुआ यह वायु ग्रहण की हुई गंगाके जलकी बूंदोंसे ऐसा जान पडता है मानों हम लोगोंका सत्कार करता हुआ ही आ रहा हो ॥३२॥ हे देव जो मर्यादारहित बहुत बडा है और जिसमें देव आकर क्रीडा करते हैं ऐसा यह बन फूलोंके समूहोंसे व्याप्त ऐसे इन लताओंके घरसे बहुत ही शोभायमान है ॥ ३३ ॥ मंदार वृच्छोंके बनपंक्तियोंकी घनी छायामें बैठे हुये ये देवलोक चंद्रकांत मणियोंकी शिलापर कैसी क्रीडा कर रहे हैं ॥ ३४ ॥ अहा इस बनके किनारेकी सुंदरता कैसी सुंदर है कि देवलोक भी अपने रहनेके स्थान छोड २ कर यहां आकर क्रीडा करते हैं ॥ ३५ ॥ देव देवांगनायें अपनी इच्छानुसार यहां आकर संभोगादि क्री-

तन्यते। सुरदंपतीभिः स्वैरमारब्धरतिविभ्रमैः ॥ ३६ ॥ इयं निधुवनाशक्ताः सुरस्त्रीरतिकाहलाः। हसंतीव तरंगोत्थैः शीकरैरमरापगा ॥ ३७ ॥ इतः किन्नरसंगीतमितः सिद्धोपवीणितं। इतो विद्याधरीनृत्तमितस्तद्गतिविभ्रमः ॥ ३८ ॥ नृत्तमप्सरसां पश्यन् शृण्वँस्तद्गीतनिःस्वनं। वाजिवक्त्रोऽयमुद्ग्रीवः सममास्ते स्वकांतया ॥ ३९ ॥ निष्पर्यायो वनेऽमुष्मिन्नृसुवर्गो विवर्द्धते। परस्परमिव द्रष्टुमुत्सुकायितमानसः ॥ ४० ॥ अशोकतरुरत्राऽयं तनुते पुष्पमंजरीं। लाक्षारक्तैः खगस्त्रीणां चरणैरभिताडितः ॥ ४१ ॥ पुँस्कोकिलानामालापमुखरीकृतादिङ्मुखः। चूतोयं मंजरीर्धत्ते मदनस्येव तारकाः ॥ ४२ ॥

डा करते हैं इसलिये कामदेवके रहनेकी शोभा यहां और भी खूब बढ रही है ॥ ३६ ॥ यह गंगा अपनी तरंगोंसे उठी हुई जलकी बूंदोंसे ऐसी जान पडती है मानों जो देवांगनायें संभोग करनेमें असमर्थ होकर कुछ कुछ अस्पष्ट शब्द करती हैं उनकी ओर हँस रही ही हो ॥ ३७ ॥ हे प्रभो ! इधर देखिये ये किन्नरदेव मधुर गीत गा रहे हैं, इधर सिद्ध जातिके देव वीणा बजा रहे हैं, इधर विद्याधरियां नृत्य कर रही हैं और इधर कितनी ही विद्याधरियां सुंदर चालसे टहल रही हैं ॥ ३८ ॥ यह अश्वमुख व्यंतर देव अपनी देवांगनाके साथ साथ अप्सराओंका नृत्य देखता हुआ और उनके मधुर गीत सुनता हुआ सुखसे गला ऊंचाकर बैठा है ॥ ३९ ॥ परस्पर एक दूसरेको देखनेकेलिये ही जिसका मन उत्कंठित हो रहा है ऐसा यह देवोंका समूह इस बनमें एक साथ जमा होता हुआ बढ रहा है ॥ ४० ॥ जिनपर लाखका लाल महावर लगा हुआ है ऐसे देवियोंके चरणोंसे ताडित हुआ यह अशोक वृक्ष इस बनमें कैसी अच्छी पुष्प मंजरियोंको धारण कर रहा है ॥ ४१ ॥ पुरुषरूप कोकिलोंके मधुर शब्दोंसे सब दिशाओंको बाचालित करता हुआ यह आम्रवृक्ष जो मंजरियां धारण करता है वे ऐसी जान पडती हैं मानों कामदेवके आंखकी पुतली ही हों ॥ ४२ ॥ वसंतऋतुके फैलनेपर ये चंपक जातिके वृक्ष जो फूल रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों पुष्पोंके समूहको धारण करनेवाले कामदेवके दीपक ही हों ॥ ४३ ॥ ये मदोन्मत्त भ्रमर आम्रवृक्षोंपर कैसा गुंजार शब्द कर

चंपका विकसंत्यत्र कुसुमंतौ वितन्वंति । प्रदीपानिव पुष्पौघान्दधतोऽमी मनोभुवः ॥ ४३ ॥ सहकारेष्वमी मत्ता विरुवंति मधुव्रताः । विजिगीषोरनंगस्य काहला इव पूरिताः ॥ ४४ ॥ कोकिलानकनिःस्वानैरलिज्यारवजृंभितैः । अभिषेणयतीवाऽत्र मनोभूर्भुवनत्रयं ॥ ४५ ॥ निचुलः सहकारेण विकसन्नत्र माधवीं । तनोति लक्ष्मीमक्षूणामहो प्रावृट्श्रिया समं ॥ ४६ ॥ माधवीस्तबकेष्वत्र माधवोद्य विजृंभते । वनलक्ष्मीप्रहासस्य लीलां तन्वत्सु विश्वतः ॥४७॥ वासंत्यो विकसंत्येता वसंततुस्मितश्रियं । तन्वानाः कुसुमामोदैराकुलीकृतषट्पदाः ॥ ४८ ॥ मल्लिकावितताभोदैर्विलोलीकृतषट्पदः । पादपेषु पदं धत्ते शुचिः पुष्पशुचिस्मितः ॥ ४९ ॥ कदंबामोदसुरभिः केतकीधूलिधूसरः । तपात्ययानिलो देव नित्यमत्र विजृंभते ॥ ५० ॥ माद्यंति कोकिलाः शश्वत्स-

---

रहे हैं मानों सबको जीतने वाले कामदेवके बाजे ही हों ॥ ४४ ॥ कोकिलाओंके मधुर शब्दरूप नगाडोंके द्वारा और भ्रमरोंके गुंजाररूप धनुषके टंकोरके द्वारा ऐसा जान पडता है मानो यह कामदेव तीनों लोकोंको जीतनेकेलिये सेनासहित चढाई कर रहा हो ॥ ४५ ॥ आम्रवृक्षके साथ जो निचुल (जलवेत) जातिका वृक्ष फूल रहा है वह ऐसा जान पडता है मानों इन देवोंकेलिये वह वर्षाऋतुके साथ २ वसंतऋतुकी शोभा बढा रहा हो, (यद्यपि यह एक आश्चर्यकी बात है क्योंकि निचोलवृक्ष वर्षाऋतुमें फूलता है परंतु यह सब देवकृत होनेसे, कोई विरोध नहीं होता) ॥४६॥ हे स्वामिन् इस बनमें चारोंओरसे बनलक्ष्मीके उत्कृष्ट हास्यकी शोभा बढानेवाले माधवीलताके गुच्छोंपर आज यह वसंत बहुत ही सुशोभित हो रहा है ॥ ४७ ॥ उसीप्रकार जो वसंतऋतुकी हास्यकी शोभा बढा रही है और जो पुष्पोंकी सुगंधसे भ्रमरोंको व्याकुल कर रही है ऐसी यह माधवी लता बहुत ही अच्छी फूल रही है ॥ ४८ ॥ मल्लिकाकी [मोगरेकी] फैली हुई सुगंधिसे जिसने भ्रमरोंको व्याकुल कर रक्खा है और खिलहुये पुष्प ही जिसका पवित्र हास्य है ऐसा यह ग्रीष्म ऋतु अब वृक्षोंपर अपना पैर रखता जाता है ॥ ४९ ॥ हे देव ! इधर देखिये कदंबोंके पुष्पोंसे सुगंधित हुआ और केतकीकी परागसे धूसरित हुआ यह वर्षाऋतुका वायु इस बनमें सदा ही बहा करता है ॥५०॥

ममत्र शिखंडिभिः । कलहंसीकलस्वानैः संमूर्छितविकूजिताः ॥ ५१ ॥ कूजंति कोकिला मत्ता केकायंते कलापिनः । उभयस्याऽस्य वर्गस्य हंसाः प्रत्यालपंत्यमी ॥५२॥ इतोमी किन्नरीगीतमनुकूजंति षट्पदाः । सिद्धोपवीणितान्येष निन्हुतेन्यभृतस्वनः ॥ ५३ ॥ जितनूपुरझंकारमितो हंसविकूजितं । इतश्च खेचरीनृत्यमनुनृत्याच्छिखावलं ॥ ५४ ॥ इतश्च सैकतोत्संगे सुप्तान् हंसान् सशावकान् । प्रातः प्रबोधयत्युच्चैः खेचरीनूपुरारवः ॥ ५५ ॥ इतश्च रचितानल्पपुष्पतल्पमनोहराः । चंद्रकांतशिलागर्भाः सुरैर्भोग्या लतालयाः ॥ ५६ ॥ इतीदं वनमत्यंतरमणीयैः परिच्छदैः । स्वर्गोद्यानगतां प्रीतिं जनये-

---

इस बनमें मयूरोंके साथ २ कोकिलायें सदा उन्मत्त रहती हैं और मनोहर हंसिनियोंके मधुर शब्दोंके साथ २ अपना शब्द मिलाकर बोलती हैं, भावार्थ—इस बनमें वसंत वर्षा और शरद इन तीनों ही ऋतुओंकी बहार आ रही है ॥ ५१ ॥ यह देखिये उन्मत्त कोकिलायें बोल रही हैं, मयूर शब्द कर रहे हैं और हंस इन दोनोंके शब्दोंकी प्रतिध्वनि कर रहे हैं, अभिप्राय यह है कि वसंत वर्षा और शरद ये तीनों ही ऋतुयें यहां एक साथ इकट्ठी हो रही हैं ॥ ५२ ॥ इधर ये भ्रमर किन्नर जातिकी देवांगनाओंके द्वारा गाये हुये गीतोंका अनुकरण कर रहे हैं और ये कोकिलाओंके शब्द सिद्ध जातिके देवोंके द्वारा बजाई हुई वीणाकी ध्वनिको भी छिपा रहे हैं ॥ ५३ ॥ इधर देखिये यह विछुओंके झंकार शब्दको जीतता हुआ हंसोंका मधुर शब्द हो रहा है और जिसका अनुकरण करता हुआ यह मयूरोंका समूह नृत्य कर रहा है ऐसा यह विद्याधरियोंका नृत्य हो रहा है ॥ ५४ ॥ इधर देखिये बालूके टीलोंपर अपने बच्चों सहित सोये हुये हंसोको सबेरेके समय यह विद्याधरियोंके बिछुओंका ऊंचा शब्द जगा रहा है ॥ ५५ ॥ जिनमें बहुतसे पुष्पोंसे शय्या बनाई गई है और इसलिये ही जो मनोहर जान पडते हैं तथा जिनमें चंद्रकांत शिलायें पडी हुई हैं और जो देवोंके उपभोग्य करने योग्य हैं ऐसे ये लतागृह भी इधर सुशोभित हो रहे हैं ॥ ५६ ॥ इसप्रकार यह बन अनेक अत्यंत मनोहर सामग्रियोंसे भरा हुआ है और इसलिये यह देवोंको सदा स्वर्गके नंदन बनके प्रेमको उत्पन्न करता रहता

त्वसदां सदा ॥ ५७ ॥ बहिस्तटवनादेतद्दृश्यते काननं महत् । नानाद्रुमलतागुल्मवीरुद्भिरतिदुर्गमं ॥ ५८ ॥ दृष्टीनामप्यगम्येऽस्मिन् वने मृगकदंबकं । नानाजातीयमुद्भ्रांतं सैन्यक्षोभात्प्रधावति ॥ ५९ ॥ इदमस्मद्बलक्षोभादुत्रस्तमृगसंकुलं । बनमाकुलितप्राणमिवाभात्यंधकारितं ॥ ६० ॥ गजयूथमितः कच्छादंधकारमिवाभितः । विश्लिष्टं बलसंक्षोभादपसर्पत्यतिद्रुतं ॥ ६१ ॥ शनैः प्रयाति संजिघ्रन् दिशः प्रोत्क्षिप्तपुष्करः । समहाहिरिवाद्रींद्रो भद्रोऽयं गजयूथपः ॥ ६२ ॥ महाहिरयमायामं मिमान इव भूरुहां । श्वसन्नागच्छते कच्छादूर्ध्वीकृतशरीरकः ॥ ६३ ॥ शयुपोता निकुंजेस्मिन् पुंजीभू-

---

है ॥५७॥ हे प्रभो! गंगाके किनारेके बनके बाहर भी यह एक बडाभारी बन दिखाई दे रहा है जोकि अनेक प्रकारके वृक्ष, लतायें, छोटे २ पोधे और अंकूरोंसे दुर्गम (सघन, जिसमें कोई जा नहीं सके) हो रहा है ॥५८॥ जिसमें दृष्टि भी नहीं जा सकती ऐसे इस बनमें सेनाके क्षोभसे घबडाया हुआ अनेक प्रकारके हिरणोंका समूह कैसा दौडा जा रहा है ॥५९॥ हमारी सेनाके क्षोभसे जिसमें हिरणोंका समूह भयभीत हो रहा है और जिसमें पशुओंके प्राण व्याकुल हो रहे हैं ऐसा यह बन अंधकारके समान सुशोभित हो रहा है, भावार्थ—जिसप्रकार अंधकारमें व्याकुल और भयभीत हो जाते हैं उसीप्रकार सेनाके क्षोभसे भी सब पशु व्याकुल और भयभीत हो रहे हैं ॥६०॥ इधर सेनाके क्षोभसे गंगाके किनारेके जलवाले प्रदेशपरका यह हाथियोंका समूह अलग अलग हुये अंधकारके समूहके समान चारोंओरसे बहुत शीघ्र दौडा जा रहा है ॥ ६१ ॥ हाथियोंका स्वामी यह भद्र गजराज [भयभीत होकर भी] अपनी सूंडको ऊंचा करता हुआ और सब दिशाओंको सूंघता हुआ धीरे धीरे इसप्रकार जा रहा है मानों बडे सर्पसहित मेरु पर्वत ही हो ॥ ६२ ॥ यह महासर्प अपने मस्तकको ऊंचा किये हुये और जोरजोरसे श्वास लेता हुआ गंगाके किनारेके जलवाले प्रदेशसे इसप्रकार आ रहा है मानों वृक्षोंकी लंबाईको नापता हुआ ही आ रहा हो ॥ ६३ ॥ इधर इन लतागृहोंमें एक जगह इकट्ठे हुये ये अजगरोंके बच्चे इसप्रकार पडे हुये श्वास ले रहे हैं मानों सेनाके क्षोभ-

ताः श्वसंत्यमी । वनस्येवांतसंतानाश्चमूक्षोभाद्विनिःसृताः ॥ ६४ ॥ अयमेकचरः प्रोथसमुत्खातांतिकस्थलः । रुणद्धि वर्त्म सैन्यस्य वराहस्तीव्ररोषणः ॥ ६५ ॥ सैनिकैरयमारुद्धः पाषाणलकुटादिभिः । आकुलीकुरुते सैन्यं गंडो गंड इव स्फुटं ॥ ६६ ॥ प्राणा इव वनादस्माद्विनिष्क्रामंति संतताः । सिंहा बद्धदवज्वाला धुन्वानाः केशरच्छटाः ॥ ६७ ॥ गुग्गुलूनां बनादेष महिषो घनकर्बुरः । निर्याति मृत्युदंष्ट्राभविषाणाग्रोऽतिभीषणः ॥ ६८ ॥ लसद्वालधयो लोलजिह्वा व्यालोहितेक्षणाः । व्याला बलस्य संक्षोभममी तन्वंत्यनाकुलाः ॥ ६९ ॥ शरभः खं समुत्पत्य पतन्नुत्तानितोऽपि सन् । नैष दुःखासिकां वेद चरणैः पृष्ठवर्तिभिः ॥ ७० ॥ चमूरोऽयं चमूरोधाद्विद्रुतो द्रुतमुत्पतन् । क्षोभं तनोति सैन्यस्य दर्पो रूपी च दुर्द्धरः ॥ ७१ ॥ शशः शस-

---

से इस बनकी अंतडियोंका समूह ही निकल पडा हो ॥ ६४ ॥ जिसने अपनी नाकसे समीपकी पृथ्वी खोद डाली है, जिसे तीव्र क्रोध आ रहा है और जो अकेला ही फिरा करता है ऐसा यह शूकर [सूअर] सेनाका मार्ग रोक रहा है ॥ ६५ ॥ इधर देखिये सेनाके लोगोंने जिसे लकडी पत्थर आदिसे रोक रक्खा है ऐसा यह छोटे पर्वतके समान साफ दिखनेवाला गैंडा सेनाको व्याकुल कर रहा है ॥ ६६ ॥ दावानल अग्निके समान कुछ २ पीले ऐसे अपने गर्दनपरके बालोंको हिलाते हुये ये सिंह अनुक्रमसे इस बनसे इसप्रकार निकल रहे हैं मानों इस बनके प्राण ही हों ॥ ६७ ॥ जो मेघके समान श्यामवरण है, मृत्युकी दाढोंके समान जिसके सींग हैं और जो अत्यंत भयानक है ऐसा यह भैंसा गूगुलके बनसे निकलकर बाहर जा रहा है ॥ ६८ ॥ जिनकी पूंछ हिल रही है जिह्वा चंचल हो रही है और नेत्र लाल हो रहे हैं ऐसे सिंह आदि क्रूर जीव अथवा सर्प निराकुल रहकर ही सेनाको क्षोभ उत्पन्न कर रहे हैं ॥ ६९ ॥ यह अष्टापद आकाशमें उडता है और ऊपरकी ओर मुहकर अर्थात् पीठके बल गिरता है परंतु पीठपर भी पैर होनेसे उसे किसीप्रकारका दुख नहीं होता ॥ ७० ॥ इसीप्रकार मूर्तिमान् अहंकारके समान और अजेय ऐसा यह हिरण सेनाके द्वारा रुक जानेसे इधर उधर भागता हुआ तथा बार २ उडी मारता हुआ सेनाको क्षोभित कर रहा है

न्नयं देव सैनिकैरननुद्रुतः । शरणायेव भीतात्मा मध्येसैन्यं निलीयते ॥ ७२ ॥ सारंगोयं तनुच्छायाकल्माषितवनः शनैः । प्रयाति शृंगभारेण शाखिनेव-प्रशुष्यता ॥७३॥ दक्षिणेगतया विष्वगभिधावन्प्रवीक्ष्यतां । प्रजानुपालनं न्याय्यं तवाचष्टे मृगव्रजः ॥७४॥ कालापी बर्हभारेण मंदं मंदं व्रजत्यसौ । केशपाशश्रियं तन्वन् वनलक्ष्म्यास्तनूरुहैः ॥ ७५ ॥ नेत्रावली मिवातन्वन् वनभूम्याः सचंद्रकैः । कलपिनामयं संघो विभात्यस्मिन्वनस्थले ॥ ७६ ॥ संक्रीडतां रथांगानां स्वनमाकर्णयन्मुहुः । हरिणानामिदं यूथं नापसर्पति वर्त्मनः ॥ ७७ ॥ हरिणीप्रेक्षितेष्वेताः पश्यंति सकुतूहलं । स्वां नेत्रशोभां कामि-

---

॥ ७१ ॥ हे देव ! इधर देखिये यह खरगोश (शशा) कैसा भाग रहा है, यद्यपि सेनाके लोग इसके पीछे नहीं पडे हैं तथापि भयभीत होकर यह शरण ढूंढनेकेलिये आपकी सेनाके बीचमें ही कहीं छिप जाता है ॥ ७२ ॥ यह देखिये अपने शरीरकी छायासे जिसने बनको भी श्याम करदिया है ऐसा यह कृष्णसार नामका हिरण सूके वृक्षके समान अनेक शाखावाले सींगोंके भारसे धीरे २ जा रहा है ॥ ७३ ॥ जो अपने शरीरके दाईओर इकट्ठे होकर चारोंओर दौड रहे हैं ऐसे इन हिरणोंके समूहको देखिये । ये ऐसे जान पडते हैं मानों आपको सब प्रजाका पालन करना योग्य है यही बात आपसे कह रहे हों ॥ ७४ ॥ अपनी पूंछका भार धारण करता हुआ यह मयूर धीरे २ इसप्रकार जा रहा है मानों अपनी पूंछके द्वारा बनलक्ष्मीके केशपाशकी शोभा ही बढा रहा हो ॥ ७५ ॥ हे राजन् ! अपनी पूंछपरके बहुतसे चंद्रोंसे बनकी पृथ्वीरूपी स्त्रीके नेत्रसमूहोंकी शोभा धारण करता हुआ यह मयूरोंका समूह बनकी इस भूमिपर कैसा अच्छा सुशोभित होता है ॥ ७६ ॥ यह देखिये चलते हुये रथके पहियोंके शब्दको बार बार सुनता हुआ यह हिरणोंका समूह मार्गसे थोडा भी एक ओर नहीं होता है, भावार्थ–वह शब्द सुननेमें तन्मय हो रहा है ॥ ७७ ॥ ये स्त्रियां हरिणोंकी दृष्टियोंमें अपने नेत्रोंकी शोभा बडे आश्चर्यके साथ देख रही हैं तथा मयूरोंकी पूंछमें अपने केशोंकी शोभा देख रही हैं ॥ ७८ ॥ जिसमें हरिण पक्षी आदि सब जीव शांततासे निवास करते

न्यो बर्हिबर्हेषु मूर्धजान् ॥ ७८ ॥ इत्यनाकुलमेवेदं सैन्यैरप्याकुलीकृतं । वनमालक्ष्यते विष्वगसंबाधमृगाद्विजं ॥ ७९ ॥ जरठोऽप्यातपो नायमिहास्मान् देव बाधते । वने महातरुच्छायानैरंतर्यानुबंधिनि ॥ ८० ॥ इमे वनद्रुमा भांति सांद्रच्छाया मनोरमाः । त्वद्भक्त्यै वनलक्ष्म्येव मंडपा विनिवेशिताः ॥ ८१ ॥ सरस्यः स्वच्छसलिला वारितोष्णास्तटद्रुमैः । स्थापिता वनलक्ष्म्येव प्रपा भांति क्रमच्छिदः ॥ ८२ ॥ बहुबाणासनाकीर्णमिदं खड्गिभिराततं । सहास्तिकमपर्यंतं वनं युष्मद्बलायते ॥ ८३ ॥ इत्थं वनस्य सामृध्यं निरूपयति सारथौ । वनभूमिमतीयाय संम्राडविदितांतरां ॥ ८४ ॥ तदाश्वीय·

हैं ऐसा यह बन यद्यपि निराकुल है तथापि अब सेनाके द्वारा कुछ व्याकुलित हुआ सा जान पडता है ॥ ७९ ॥ हे देव ! जिसमें बडे २ वृक्षोंकी घनी छाया सदा रहती है ऐसे इस बनमें यह तेज धूप भी हमलोगोंको कुछ बाधा नहीं करती है ॥ ८० ॥ बडी घनी छाया वाले ये बनके मनोहर वृक्ष ऐसे अछे जान पडते हैं मानों बनकी लक्ष्मीने आपकी भक्ति प्रगट करनेकेलिये मंडप ही खडे किये हों ॥ ८१ ॥ जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है और जिनपरकी सूर्यकी गरमी किनारेके वृक्षोंके द्वारा रुकी हुई है ऐसे ये छोटे २ सरोवर ऐसे सुशोभित होते हैं मानों बनकी लक्ष्मीने क्लेश दूर करनेवाली प्याऊ ही स्थापन की हों ॥ ८२ ॥ हे देव ! यह बन ठीक आपकी सेनाके समान जान पडता है, क्योंकि जिसप्रकार आपकी सेनामें बहुतसे वाणासन अर्थात् धनुष हैं उसीप्रकार इस बनमें भी बहुतसे वाणासन जातिके वृक्ष हैं, जिसप्रकार आपकी सेना खडग धारण करनेवाले शूरवीरोंसे व्याप्त है उसीप्रकार यह बन भी खड्गि अर्थात् गेंडाओंसे भरा हुआ है, जिसप्रकार आपकी सेनामें अनेक हाथी हैं उसीप्रकार इस बनमें भी बहुत हाथी हैं और जिसप्रकार आपकी सेना अपार है उसीप्रकार यह बन भी अपार अर्थात् बहुत बडा है ॥८३॥ इसप्रकार सारथी उस बनकी शोभा निरूपण कर रहा है और महाराज वह सब शोभा देख रहे हैं, देखते २ महाराज जिसकी लंबाई मालूम भी नहीं हुई है ऐसे बनकी सब भूमिके पार होगये ॥ ८४ ॥ उससमय सब दिशाओंमें फैली हुई ऐसी घोडोंके खुरोंके घातसे

खुरोद्धातादुत्थिता वनरेणवः । दिशां मुखेषु सँल्लग्नास्तेनुर्जवनिकाश्रियं ॥ ८५ ॥ सादिनां वारबाणानि स्यूतान्यपि सितांशुकैः । कषायाणीव जातानि तानि वनरेणुभिः ॥ ८६ ॥ वनरेणुभिरालग्नैर्जडीभूतानि योषितः । स्तनांऽशुकानि कृच्छ्रेण दधुरध्वश्रमाऽलसाः ॥ ८७ ॥ कुंभस्थलेषु संसक्ताः करिणामध्वरेणवः । सिंदूरश्रियमातेनुर्धातुभूमिसमुत्थिताः ॥ ८८ ॥ ततो मध्यंदिनेऽभ्यर्णे दिदीपे तीव्रमंशुमान् । विजिगीषुरिवारूढप्रतापः शुद्धमंडलः ॥ ८९ ॥ सरस्तीरतरुच्छायामाश्रयंति स्म पक्षिणः । शरदातपसंतापात् संकुचत्पत्रसंपदः ॥ ९० ॥ हंसाः कमलखंडेषु पुंजीभूतान् स्वशावकान् । पक्षैराच्छादयामासुरसोढजरठातपान् ॥ ९१ ॥ वन्याः स्तंबेरमा भेजुः सरसीवरगाहितुं । मदस्त्रुतिषु तप्तासु मुक्ता मधुकरव्रजैः ॥ ९२ ॥ शाखाभंगैः कृतच्छायां

उठी हुई बनकी धूलि परदेकी शोभा धारण कर रही थी ॥ ८५ ॥ घुडसवारोंके कवच यद्यपि ऊपरसे सफेद वस्त्रोंसे ढके हुये थे तथापि वे बनकी धूलिसे भरे हुये ऐसे जान पडते थे मानों लाल रंगमें रंगे हों ॥ ८६ ॥ मार्गके परिश्रमसे थकी हुई स्त्रियां बनकी धूलि पडनेसे भारी हुये ऐसे अपने स्तन ढकनेवाले कपडोंको (चोलियोंको) बडी कठिनतासे धारण कर रहीं थीं ॥ ८७ ॥ लाल रंगकी भूमिसे उठी हुई मार्गकी धूलि हाथियोंके गंडस्थलोंमें लगकर ठीक सिंदूरकी शोभा धारण कर रही थी ॥ ८८ ॥ तदनंतर मध्याह्नका समय हुआ, उससमय बादल न रहनेसे जिसका प्रतिबिंब साफ दिखाई दे रहा है और जिसकी उत्कट गर्मी बढ रही है ऐसा सूर्य मानों सबको जीतनेकी इच्छा करता हुआ ही अतिशय दैदीप्यमान हो रहा था ॥ ८९ ॥ शरदऋतुकी उष्णताके संतापसे जिनके पंख सब संकुचित हो गये हैं ऐसे पक्षीगण सरोवरके किनारेके वृक्षोंकी छायामें आश्रय ले रहे थे ॥ ९० ॥ दोपहरकी गरमीको सहन करनेमें असमर्थ हुये और इसलिये ही जो कमलोंके बनोंमें एक जगह इकट्ठे हुये ऐसे अपने बच्चोंको हंस पक्षी अपने पंखोंसे आच्छादन कर रहे थे ॥ ९१ ॥ जिनके गंडस्थलके मदका प्रवाह गरम हो जानेसे जिनके गंडस्थलसे भ्रमरोंका समूह भी उड गया है ऐसे बनके हाथी पानीमें भीतर बैठनेकेलिये सरोवरोंकी ओर जा रहे थे ॥९२॥ सूर्यकी तीव्र किरणोंसे

प्रयांतो गजयूथपाः । शाखोद्धारमिवातन्वन् खरांशोः करपीडिताः ॥ ९३ ॥ यूथं वनवराहाणामुपर्युपरि पुंजितं । तदा प्रविश्य वेशंतमधिशिश्ये सकर्दमं ॥ ९४ ॥ मृणालैरंगमावेष्ट्य स्थिता हंसा विरेजिरे । प्रविष्टाः शरणायेव शशांककरपंजरं ॥ ९५ ॥ चक्रवाकयुवा भेजे घनं शैवलमाततं । सर्वांगलग्नमुष्णालुर्विनीलमिवकंचुकं ॥ ९६ ॥ पुंडरीकातपत्रेण कृतच्छायोब्जिनीवने । राजहंसस्तदा भेजे हंसीभिः सह मज्जनं ॥ ९७ ॥ बिसभंगैः कृताहारा मृणालैरवगुंठिताः । बिसिनीपत्रतल्पेषु शिश्यिरे हंसशावकाः ॥ ९८ ॥ इति शारदिके तीव्रं तन्वाने तापमातपे । पुलिनेषु प्रतप्तेषु न हंसा धृतिमादधुः ॥ ९९ ॥ मध्यस्थोऽपि तदा तीव्रं तताप तरणिर्भुवं । नूनं तीव्रप्रतापानां माध्यस्थ्यमपि तापकं ॥ १०० ॥ स्वेदबिंदुभिराबद्धजालकानि नृपस्त्रियः ।

दुखी हुये बडे २ हाथी शाखाओंको तोड २ कर की हुई छायामें प्रवेश करते हुये ऐसे जान पडते थे मानों शाखोद्धार ही कर रहे हों ॥ ९३ ॥ उस दोपहरके समय बनेल्ल सूअरोंका समूह कीचड सहित छोटे २ तालावोंमें घुसकर परस्पर एक दूसरेके ऊपर इकट्ठे होकर सो रहे थे ॥ ९४ ॥ अपने शरीरपर कमलके तंतु लपेटकर बैठे हुये हंस पक्षी ऐसे सुशोभित होते थे मानों अपनी रक्षा करनेकेलिये चंद्रमाकी किरणोंके बने हुये पिंजरेमें ही घुस गये हों ॥ ९५ ॥ उष्णताको सहन करनेमें असमर्थ हुये तरुण चकवाने जो समस्त शरीरमें लगा हुआ मोटा मोटा शैवाल धारण किया था वह ऐसा जान पडता था मानों नीले रंगका बहुत बडा कंचुक [वस्त्र] ही हो ॥ ९६ ॥ जिसने कमलोंके बनमें सफेद कमलरूप छत्रकी छाया बना ली है ऐसा राजहंस उस दोपहरके समय अपनी हंसिनियोंके साथ साथ जलमें डूब रहा था ॥ ९७ ॥ जिन्होंने कमलके तंतुओंका ही आहार किया है और कमलके तंतुओंसे ही जिनका शरीर ढका हुआ है ऐसे हंसोंके बच्चे कमलके पत्ररूप शय्यापर सो रहे थे ॥ ९८ ॥ इसप्रकार शरदऋतुमें सूर्यकी तीव्र उष्णता होनेसे नदियोंके किनारे सब उष्ण हो गये थे और इसलिये ही वहां हंसोंको कुछ संतोष नहीं होता था ॥ ९९ ॥ उससमय यद्यपि सूर्य मध्यस्थ [ठीक ऊपर] अर्थात् पक्षपातरहित था तथापि वह पृथ्वीको बहुत ही संतप्त कर रहा था, सो ठीक ही है क्यों-

वदनान्यूहुरब्जिन्यः पद्मानीवांबुशीकरैः ॥ १०१ ॥ नृपवल्लभिकावक्त्रपंकजेष्वपुषच्छ्रियं । घर्मबिंदूद्गमो निर्यल्लावण्यरसपूरवत् ॥ १०२ ॥ गलद्घर्मांबुबिंदूनि मुखानि नृपयोषितां । अवश्यायततानीव राजीवानि विरेजिरे ॥ १०३ ॥ नृपांगनामुखाब्जानि घर्मबिंदुभिराबभुः । मुक्ताफलैर्द्रवीभूतैरिवालकविभूषणैः ॥ १०४ ॥ रथवाहा रथानूहुरायस्तैः फेनिलैर्मुखैः । तीव्रं तपति तिग्मांशौ समेपि प्रस्खलत्खुराः ॥ १०५ ॥ ह्रस्ववृत्तखुरास्तुंगास्तनुस्निग्धतनूरुहाः । पृथ्वासना महावाहाः प्रययुर्वातरंहसः ॥ १०६ ॥ महाजवजुषो वक्त्रादुद्वमंतः खुरानिव । महोरस्काः स्फुरत्प्रोथा द्रुतं जग्मुर्महाहयाः ॥ १०७ ॥

कि जिनका अधिक प्रताप होता है उनका मध्यस्थ रहना भी अधिक संताप करनेवाला होता है ॥ १०० ॥ जिसप्रकार सरोवरी पानीकी बूंदोंसे सुशोभित कमलोंको धारण करती है उसीप्रकार उससमय महाराज भरतकी स्त्रियां पसीनेकी बूंदोंसे जिनपर मोतियोंकी जालियां सरीखी हो रही हैं ऐसे अपने सुंदर मुखोंको धारण कर रहीं थीं ॥ १०१ ॥ राजाओंकी स्त्रियोंके मुखकमलोंपर उठी हुई पसीनेकी बूंदें ऐसी अच्छी शोभाको धारण करती थीं मानों भीतरसे लावण्यरूप रसका प्रवाह ही निकला हो ॥ १०२ ॥ जिनसे पसीनेकी बूंदें टपक रहीं हैं ऐसे महाराजकी स्त्रियोंके मुख ऐसे सुशोभित होते थे मानो ओसकी बूंदोंसे व्याप्त हुये कमल ही हों ॥ १०३ ॥ केशपाशोंमें गुथे हुये मोती ही मानो गल गये हों ऐसी पसीनेकी बूंदोंसे महाराजकी स्त्रियोंके मुखकमल बहुत ही सुशोभित होते थे ॥ १०४ ॥ उससमय सूर्य बहुत उष्ण हो जानेसे फेनसहित फटे हुये मुखोंको धारण करते हुये और समान जमीनपर भी जिनके खुर स्खलित हो रहे हैं ऐसे घोडे रथोंको ले जा रहे थे ॥ १०५ ॥ जिनके खुर छोटे और गोल हैं, जिनपर छोटे और चिकने बाल हैं, जो बहुत ऊंचे हैं और जिनके आसन अर्थात् पीठ बहुत बडी है ऐसे उत्तम घोडे वायुके वेगके समान जा रहे थे ॥ १०६ ॥ जो तीव्र वेगको धारण करनेवाले हैं, [तेज चालमें आगेके खुर ऊंचे होनेसे] जिनके खुर मानो मुखमेंसे ही निकल रहे हैं, वक्षःस्थल भी जिनका बहुत बडा है और जिनकी नाकके घोंडे कुछ कुछ हिल रहे

समुच्छ्रितपुरोभागाः शुद्धावर्ता मनोजवाः । अपर्याप्तेषु मार्गेषु द्रुतमीयुस्तुरंगमाः ॥ १०८ ॥ मेधासत्वजवोपेता विनीताश्चटुलक्रमाः । राहूमाणा इव स्प्रष्टुं महीमश्वा द्रुतं ययुः ॥ १०९ ॥ अश्वेभ्योऽपि रथेभ्योऽपि पत्तयो वेगितं ययुः । सोपानत्कैः पदैः स्थाणुकंठकोपललंघिनः ॥ ११० ॥ शाक्तिकाः सह याष्टीकैः प्रासिका धन्वभिः समं । नैस्त्रिंशिकाश्च तेऽन्योन्यं स्पर्द्धयेव ययुर्द्रुतं ॥१११॥ पुरः प्रधावितैः प्रेंखद्वारबाणाग्रपल्लवाः । जातपक्षा इवोड्डीय भटा जग्मुरभिद्रुतं ॥ ११२ ॥ प्रयात धावताऽपेत मार्गं मारुध्वमग्रतः । इत्युच्चैरुच्चरध्वानाः पौरस्त्यानत्ययुर्भटाः ॥ ११३ ॥ इतोऽपसर्पताश्वीयादितो धावत

हैं ऐसे उत्तम घोडे बडी ही तेजीसे जा रहे थे ॥ १०७ ॥ जिनके आगेका भाग बहुत ऊंचा है, जिनके आवर्त (वालोंकी गुलाई) आदि लक्षण [देवमणि आदिक] शुद्ध हैं, मनके समान जिनका वेग है ऐसे घोडे शेष बचे हुये मार्गमें बहुत शीघ्र जा रहे थे ॥ १०८ ॥ जो धारणा बल और वेगको धारण करनेवाले हैं, विनयवान हैं, गमन भी जिनका मनोहर है ऐसे घोडे पृथ्वीको रजस्वला अर्थात् धूलिसहित समझकर उसे स्पर्श करनेकी इच्छा न करते हुये बडी ही तेजीसे जा रहे थे ॥ १०९ ॥ पैदल चलनेवाली सेना पैरोंमें जोडा होनेसे सूके वृक्षोंके गडे हुये छोटे टुकडे, कांटे और पत्थर आदिको लंघन करती हुई घोडे और रथोंसे भी शीघ्र जा रही थी ॥ ११० ॥ शक्तिको धारण करनेवाले लोग लठ्ठ धारण करनेवालोंके साथ, भाला धारण करनेवाले धनुष धारण करनेवालोंके साथ और तलवार धारण करनेवाले लोग परस्पर मानों एक दूसरेके साथ स्पर्द्धा करते हुये ही शीघ्रतासे जा रहे थे ॥ १११ ॥ आगे आगे दौडनेसे जिनके कवचके अग्रभाग कुछ कुछ हिल रहे हैं ऐसे योद्धा लोग शीघ्रतासे इसप्रकार जा रहे थे मानों उनके पंख उत्पन्न हो जानेसे उडे ही जा रहे हों ॥ ११२ ॥ चलो ! दौडो ! रास्ता छोडो ! आगेका रास्ता मत रोको, इसप्रकार जोरजोरसे बोलनेवाले योद्धा सामनेवाले लोगोंको हटा रहे थे ॥ ११३ ॥ अरे इन घोडोंके समूहसे एकओर हटो, इन हाथियोंके समूहसे भी भागो और हाथियोंसे भयभीत हुये इन रथोंसे भी

हास्तिकात् । इतो रथादपत्रस्तात् दूरं नश्यत नश्यत ॥ ११४ ॥ अमुष्माज्जनसंघट्टादुत्थापयत डिंभकान् । इतो हस्त्युरसादश्वानपसारयत द्रुतं ॥११५॥ इतः पंथानमारुध्य स्थितोऽयं घातुको गजः । मध्येऽध्वं प्राजितुर्दोषात्पर्यस्तोऽयमितो रथः ॥ ११६ ॥ क्रमेलकोऽयमुत्त्रस्तः प्रतीपं पथि धावति । उत्सृष्टभारो लंबोष्ठो जनानिव विडंबयन् ॥ ११७ ॥ वित्रस्ताद्वेसरादेनां पतंतीमवरोधिकां । संधारयन् प्रपातेऽस्मिन् सौविदल्लः पतत्ययं ॥ ११८ ॥ यवीयानेष पण्यस्त्रीमुखालोकनविस्मितः । पतितोऽप्यश्वसंघट्टैर्नात्मानं वेद शून्यधीः ॥ ११९ ॥ हरिद्रारंजितश्मश्रुः कज्जलांकितलोचनः । कुट्टिनीमनुयन्नेष प्रवयास्तरुणायते ॥ १२० ॥ इति प्रयाणसंजल्पैरजाताध्वपरिश्रमाः । सैनिकाः शिबिरं प्रापन् सेनान्या प्राङ्निवेशितं ॥ १२१ ॥ ततोऽवरोधनवधूमुख-

---

दूर भागजाओ ॥ ११४ ॥ अरे इन बच्चोंको लोगोंके इस संघट्टमेंसे उठाओ और इन हाथियोंके सामनेसे घोडोंको बहुत शीघ्र दूर ले जाओ ॥ ११५ ॥ देखो इधर यह लोगोंपर घात करनेवाला मस्त हाथी रास्तेको रोककर खडा है और यह रथ सारथिकी असावधानीसे मार्गके बीचमें ही उलट गया है अथवा टूट गया है ॥ ११६ ॥ इधर देखो जिसने अपना ऊपरका भार पटक दिया है जिसके लंबे ओठ हैं और जो बहुत घबडा गया है ऐसा यह ऊंट मार्गमें इसप्रकार उलटा वा टेडा दौड रहा है मानो लोगोंको त्रास ही देना चाहता हो ॥ ११७ ॥ इधर इस ऊंची जगहपर घबडाये हुये खच्चरपरसे पडती हुई अंतःपुरकी, कोई स्त्री पड रही है और उसे बीचमें ही धारण करता हुआ यह कंचुकी भी उसके साथ ही साथ पड रहा है ॥ ११८ ॥ यह तरुण पुरुष किसी वेश्याका मुख देखकर आश्चर्य करता हुआ घोडेके धक्केसे पडगया है तथापि उस मूर्खको 'मैं पड गया हूं' यह भी अभीतक मालूम नहीं हुआ है ॥ ११९ ॥ जिसने खिजाब [सफेद बालोंको काले करनेकी एक औषधि] लगाकर अपने बाल काले करलिये हैं तथा जिसके आखोंमें काजल लगा हुआ है और जो किसी कुट्टिनी दूतीके पीछे पीछे जा रहा है ऐसा यह बूढा ठीक तरुण पुरुषके समान जान पडता है ॥ १२० ॥ इसप्रकारकी अनेक तरहकी बात चीत करनेसे जिन्हें मार्गका परिश्रम भी मालूम नहीं

च्छायाविलंघिनि । मध्यंदिनाधिपे संम्राट् संप्राप शिबिरांतिकं ॥ १२२ ॥ छत्ररत्नकृतच्छायो दिव्यं रथमधिष्ठितः । न तदातपसंबाधां विदामास विशांपतिः ॥ १२३ ॥ वर्षीयोभिरथासन्नैरारब्धमुखसंकथः । प्रयातमपि नाध्वानं विवेद भरताऽधिपः ॥ १२४ ॥ नोद्घातः कोऽप्यभूदंगे रथांगपरिवर्तनैः । रथवेगेऽपि नास्याऽभूत्क्लेशो दिव्यानुभावतः ॥ १२५ ॥ रथवेगानिलोदस्तं व्यायतं तत्ध्वजांशुकं । पश्चादागामिसैन्यानामिव मार्गमसूत्रयत् ॥ १२६ ॥ रथोद्धतगतिक्षोभादुद्भूतांगपरिश्रमाः । कथं कथमपि प्रापन्रथिनोऽन्ये रथं प्रभोः ॥ १२७ ॥ तमध्वशेषमध्वन्यैस्तुरंगैरत्यवाहयन् । सादिनः प्रभुणा सार्धं

हुआ है ऐसे सेनाके लोग सेनापतिके द्वारा पहिलेसे ही खडे किये हुये डेरे तंबुओंमें जा पहुंचे ॥ १२१ ॥ तदनंतर जब दोपहरका सूर्य अंतःपुरकी स्त्रियोंके मुखकी कांतिको भी मलिन कर रहा था उससमय महाराज भरत अपने तंबूके समीप जा पहुंचे ॥ १२२ ॥ उससमय महाराज भरतके मस्तकपर छत्ररत्नकी छाया हो रही थी, और दिव्य (देवनिर्मित) रथपर वे विराजमान थे, इसलिये उन्हें गरमीका कोई भी त्रास मालूम नहीं हुआ था ॥ १२३ ॥ उससमय महाराज भरत अपने समीप चलनेवाले उमरमें बडे ऐसे कुलीन राजाओंके साथ २ अनेकप्रकारकी कथायें कह और सुन रहे थे इसलिये उन्हें बीता हुआ मार्ग भी मालूम नहीं हुआ था ॥ १२४ ॥ भरतेश्वरकी दिव्य सामर्थ्य होनेसे रथके बराबर चलनेसे भी उनके शरीरमें कोई धक्का नहीं लगा था और रथका तीव्र बेग होनेपर भी उन्हें किसीतरहका क्लेश नहीं हुआ था ॥ १२५ ॥ रथके बेगसे उत्पन्न हुये वायुसे ऊपरकी ओर उडता हुआ तथा चौडा होगया ऐसा भरतके रथकी ध्वजाका कपडा ऐसा जान पडता था मानों पीछे पीछे आनेवाली सेनाको मार्ग ही दिखला रहा हो ॥ १२६ ॥ रथकी बेगवाली गतिके क्षोभसे जिनके शरीरको बहुत परिश्रम हुआ है ऐसे अन्य कितने ही राजा लोग बडी कठिनतासे भरतके रथके समीप पहुंचे थे ॥ १२७ ॥ भरतेश्वरके साथ तंबुओंमें प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवाले घुडसवार लोगोंने बचे हुये मार्गको उन्हीं चलते हुये घोडोंसे पूरा किया था ॥ १२८ ॥ जो बडे २

शिबिरं प्रविविक्षवः ॥ १२८ ॥ दूराद्दृष्यकुटीभेदानुत्थितान् प्रभुरैक्षत । सेनानिवेशमभितः सौधशोभापहासिनः ॥ १२९ ॥ रौप्यदंडेषु विन्यस्तान् विस्तृतान् पटमंडपान् । सोऽपश्यज्जनतातापहारिणः सुजनानिव ॥ १३० ॥ किमेतानि स्थलाब्जानि हंसयूथान्यमूनि वा । इत्याशंक्य स्थलाग्राणि दूराद्दशिरे जनैः ॥ १३१ ॥ सामंतानां निवेशेषु कायमानानि नैकधा । निवेशितानि विन्यासैर्निदध्यौ प्रभुरग्रतः ॥ १३२ ॥ परितः कायमानानि वीक्ष्य कंटकिनीर्वृतीः । निष्कंटके निजे राज्ये मेने तानेव कंटकान् ॥ १३३ ॥ तरुशाखाग्रसंसक्तपर्याणादिपरिच्छदान् । स्कंधावाराद्बहिः कांश्चिदावासान् प्रभुरैक्षत ॥ १३४ ॥ बहिर्निवेशमित्यादिविशेषान्स विलोकयन् । प्रवेशे शिबिरस्यास्य महाद्वारमथासदत् ॥ १३५ ॥ तदतीत्य समं सैन्यैः स गच्छन् किं-

राजभवनोंकी शोभाको भी हँस रहे हैं, ऐसे सेनाके रहने योग्य स्थानके चारोंओर खडे हुये रावटी तंबू आदि अनेकप्रकारके डेराओंको महाराज भरतने दूरसे ही देखा ॥ १२९ ॥ सज्जन पुरुषोंके समान लोगोंका संताप दूर करनेवाले और चांदीके खंभोंपर खडे हुये ऐसे बहुत बडे कपडेके तंबुओंको भी महाराजने देखा ॥ १३० ॥ क्या ये स्थलकमल हैं अथवा ये हंसोंके समूह हैं इसप्रकारकी आशंका करते हुये लोग दूरसे ही उन तंबुओंके शिखरोंको देख रहे थे ॥ १३१ ॥ अन्य अनेक राजाओंके तंबुओंमें परदे टट्टी आदिकी रचनाकर जो अनेकप्रकारके बडे २ घर बने थे उन्हें भी महाराज सामनेसे देख रहे थे ॥ १३२ ॥ तंबुओंके चारोंओर जो कांटोंकी बाड बनाई गई थी उसे देखकर " अपने निष्कंटक राज्यमें ये ही कंटक [कांटे] हैं " ऐसा महाराज मानने लगे थे ॥ १३३ ॥ जहांपर वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभागपर घोडोंकी जीन वगैरह बहुतसी चीजें रक्खी हैं ऐसे कितने ही तंबुओंको महाराजने छावनीके बाहर भी देखा था ॥ १३४ ॥ इसप्रकार छावनीके बाहर तंबू आदि अनेक विशेष २ वस्तुयें देखते हुये भरतराज पडावके बडे दरवाजेपर जा पहुंचे ॥ १३५ ॥ दरवाजेको उलंघनकर सेनाके थोडी दूरतक और गये तथा महासागरके समान गंभीर शब्द जिसमें हो रहे हैं ऐसे बाजारमें वे जा पहुंचे ॥ १३६ ॥ जिसकी शोभा बहुत अच्छी की गई

चिंदंतरं । महाब्धिसमनिर्घोषमाससाद वणिक्पथं ॥ १३६ ॥ कृतोपशोभमाबद्धतोरणं चित्रकेतनं । वणिग्भिरूढरत्नार्घं स जगाहे वणिक्पथं ॥१३७॥ प्रत्यापणमसौ तत्र रत्नराशीन्निधीनिव । पश्यन्मेने निधीयत्तां प्रसिद्धगैव तथास्थितान् ॥ १३८ ॥ समौक्तिकं स्फुरद्रत्नं जनतोत्कलिकाकुलं । रथा वणिक्पथांभोधिं पोता इव ललंघिरे ॥ १३९ ॥ चलदश्वीयकल्लोलैः स्फुरन्निस्त्रिंशरोहितैः । राजमार्गोंबुधेर्लीलां महेभमकरैरधात् ॥ १४० ॥ राजन्यकेन संरुद्धः समंतादानृपालयं । तदासौ विपणीमार्गः सत्यं राजपथोऽभवत् ॥ १४१ ॥ ततः पर्यंतविन्यस्तरत्नभासुरतोरणं । रथकट्यापरिक्षेपकृतबाह्यपरिच्छदं ॥ १४२ ॥ आरुध्यमानमश्वीयैर्हास्तिकेनातिदुर्गमं । बहुनागबलैर्जुष्टं कलभैश्च करेणुभिः ॥ १४३ ॥ छत्रखंडकृतच्छायं महोद्यानमिव क्वचित् ।

है, जिसमें अनेक तोरण बंधे हुये हैं, अनेकप्रकारकी ध्वजायें फहरा रही हैं और अनेक व्यापारी जिसमें रत्नोंका अर्घ लेकर सामने आये हैं अथवा अनेक व्यापारी जिसमें रत्नोंका मूल्य कह सुन रहे हैं ऐसे उस बाजारमें महाराजने प्रवेश किया ॥ १३७ ॥ वहांपर उन्होंने प्रत्येक दूकानपर निधियोंके समान रत्नोंकी राशि देखीं और उन्हें देखकर निश्चय किया कि संख्याका परिमाण दिखलानेकेलिये ही निधियोंकी नौ संख्या प्रसिद्ध है वास्तवमें निधियां अनेक हैं ॥ १३८ ॥ जिसमें रत्न दैदीप्यमान हैं, मोती भरे हुये हैं, लोगोंके समूहरूप लहरोंसे व्याप्त हो रहा है ऐसे उस बाजाररूपी समुद्रमें रथ जहाजके समान पार हो गये थे ॥ १३९ ॥ उससमय वह राजमार्ग चलते हुये घोडोंके समुदाय रूप लहरोंसे दैदीप्यमान तलवाररूपी मछलियोंसे और हाथीरूपी मगरोंसे ठीक समुद्रकी शोभा धारण कर रहा था ॥ १४० ॥ वह बाजारका रास्ता महाराजके तंबूतक चारोंओरसे अनेक क्षत्रियोंसे भरा हुआ था इसलिये उससमय वह ठीक राजमार्ग हो रहा था ॥१४१॥ तदनंतर महाराज भरतने राजांगण देखा, उस राजांगणके चारोंओर दैदीप्यमान रत्नोंके तोरण लगे हुये थे तथा बाहरकी ओर चारोंओर रथोंके समूह खडे थे जिनसे बाहरकी शोभा बहुत अच्छी हो रही थी ॥ १४२ ॥ घोडोंके समूहसे वह भरा हुआ था, हाथियोंके समूहसे वह भीतर जानेकेलिये कठिन होगया था, अनेकप्रकारके हाथियोंकी

कचित्सामंतमंडल्या रचितास्थानमंडलं ॥ १४४ ॥ प्रविशद्भिश्च निर्यद्भिरपर्यंतैर्नियोगिभिः । महाब्धेरिव कल्लोलैस्तटमाविर्भवद्ध्वनिः ॥ १४५ ॥ जनतोत्सारणव्यग्रमहादौवारपालिकं । कृतमंगलनिर्घोषं वाग्देव्येव कृतास्पदं ॥ १४६ ॥ चिरानुभूतमप्येवमपूर्वमिव शोभया । नृपो नृपांगणं पश्यन् किमप्यासीत्सविस्मयः ॥ १४७ ॥ निधयो यस्य पर्यंते मध्ये रत्नान्यनंतशः । महतः शिबिरस्यास्य विशेषं को नु वर्णयेत् ॥ १४८ ॥ स श्रीमानिति विश्वतः स्वशिबिरं लक्ष्म्या निवासायितं पश्यन्नात्तधृतिर्विलंघ्य विशिखाः स्वर्गापहारिश्रियः । संभ्राम्यत्प्रतिहाररुद्धजनतासंबाधमुत्केतनं प्राविक्षत्कृतसन्निवेशमचिरा-

---

सेनासे व्याप्त हो रहा था और हथिनी तथा हाथियोंके बच्चोंसे भी भरा हुआ था ॥१४३॥ वह राजा का आंगन कहीं तो अनेक छत्रोंकी छाया होनेसे किसी बडे उद्यानके समान जान पडता था और कहीं कहीं-पर बडे २ राजाओंके विराजमान होनेसे सभामंडपके समान सुशोभित होता था ॥ १४४ ॥ अनेक कर्मचारी लोग उसके भीतर जा रहे थे और अनेक बाहर निकल रहे थे जिससे वह राजांगण लहरोंके द्वारा गर्जना करते हुये महासागरके किनारेके समान जान पडता था ॥ १४५ ॥ वहांपर बडे २ द्वारपाल (पहरेदार वा चोवदार) लोगोंके समूहको हटानेमें लगे हुये थे तथा उसमें अनेक मांगलिक शब्द हो रहे थे जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों सरस्वतीदेवीका स्थान ही हो ॥ १४६ ॥ यद्यपि वह राजांगण महाराजने कईवार देखा था, बहुत दिनसे वे उसे जानते थे तथापि इसप्रकारकी शोभासे वह अपूर्व ही जान पडता था, ऐसे सुंदर राजांगणको देखकर महाराज भरतको भी कुछ आश्चर्य सा जान पडा था ॥ १४७ ॥ जिसके चारोंओर निधियां रक्खी हुई हैं, बीचमें अनंत प्रकारके रत्न रक्खे हुये हैं ऐसे उस बडे पडावकी [छावनीकी] विशेष शोभा भला कौन वर्णन कर सकता है ॥ १४८ ॥ इसप्रकार वे श्रीमान् भरतेश्वर लक्ष्मीके निवासस्थानके समान अपने पडावको चारोंओरसे देखते हुये तथा देखकर अतिशय संतुष्ट होते हुये स्वर्गकी शोभाको भी जीतनेवाली गलियोंको उलंघनकर चारोंओर दौडते हुये द्वारापालोंके द्वारा जिसमें मनुष्योंकी भीडका

दात्मालयं श्रीपतिः ॥ १४९ ॥ तत्राविष्कृतमंगले सुरसरिद्वीचीभुवा वायुना संमृष्टांगणवेदिके विकिरता तापच्छिदः शीकरान् । शस्ते वास्तुनि विस्तृते स्थपतिना सद्यः समुत्थापिते लक्ष्मीवान् सुखमावसन्निधिपतिः प्राचीं दिशं निर्जयन् ॥ १५० ॥ राज्ञामावसथेषु शांतजनताक्षोभेषु पीतांभसामश्वानां पटमंडपेषु निवहे स्वैरं तृणग्रासिनि । गंगातीरसरोऽवगाहिनि वनेष्वालानिते हास्तिके जिष्णोस्तत्कटकं चिरादिव कृतावासं तदा लक्ष्यते ॥ १५१ ॥

सब उपद्रव दूर किया जा रहा है, पताकायें फहरा रही हैं और जिसकी रचना बहुत अच्छी की गई है ऐसे अपने तंबूमें बहुत शीघ्र प्रवेश कर गये ॥ १४९ ॥ जिसमें सब जगह मंगलद्रव्य रक्खे हुये हैं, संतापको दूर करनेवाली जलकी बूंदोंको थोडा २ बरसाते हुये और गंगानदीकी लहरोंमें होकर आनेवाले वायुके द्वारा जिसके आंगनकी वेदी साफ की गई है, जो प्रशंसनीय है, बहुत बडा है और स्थपति सिलाबट नामके रत्नके द्वारा बहुत शीघ्र बनाया गया है ऐसे बडे तंबूमें पूर्व दिशाको जीतनेवाले निधियोंके स्वामी श्रीमान् भरतेश्वर महाराज सुख पूर्वक निवास करने लगे ॥ १५० ॥ जिससमय सब राजा लोग अपने २ डेरोंमें पहुंच गये थे, लोगोंका क्षोभ सब शांत हो गया था, घोडोंके समूह जल पीकर कपडोंकी बनी हुई अपनी घुडसालमें चले गये थे तथा वहां अपनी इच्छानुसार घास खाने लगे थे और हाथियोंका समूह गंगाके किनारेके सरोवरोंमें (किनारेके गहरे जलमें) स्नान कराकर निकटके ही वनमें खंभोंसे बांध दिये गये थे उससमय विजयी महाराज भरतकी सेना ऐसी जान पडती थी मानो वह बहुत दिनसे ही वहां रह रही हो ॥ १५१ ॥ जिसप्रकार अद्भुत महिमाको धारण करनेवाले जिनेंद्रदेवको देव लोग नमस्कार कर आराधन करते हैं उसीप्रकार अद्भुत मीहमाको धारण करनेवाले और उस मंडपमें विराजमान ऐसे भरतेश्वरको पूर्व दिशाके समस्त बडे २ राजा लोगोंने कुलपरंपरासे आया हुआ धन भेट देकर उत्तम कन्यायें देकर तथा और भी यथायोग्य वस्तुओंके द्वारा संतुष्ट कर प्रणाम किया था तथा महाराजकी सेनाके द्वारा रोके हुये अन्य

तत्रासीनमुपायनैः कुलधनैः कन्याप्रदानादिभिः प्राच्या मंडलभूभुजः समुचितैराराधयन् साधनैः । गंगद्धाः प्रविहाय मानमपरे प्राणंशिपुश्चक्रिणं दूरादानतमौलयो जिनमिव प्राज्योदयं नाकिनः ॥ १५२ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भरतराजविजयप्रयाणवर्णनं नाम सप्तविंशतितमं पर्व ॥ २७ ॥

अथ अष्टाविंशतितमं पर्व ।

अथान्येद्युर्दिनारंभे कृतप्राभातिकक्रियः । प्रयाणमकरोच्चक्री चक्ररत्नानुमार्गतः ॥ १ ॥ अलंघ्यचक्रमाक्रांतपरचक्रपराक्रमं । दंडश्च दंडिताराति-र्द्वयमस्य पुरोऽभवत् ॥ २ ॥ रक्ष्यं देवसहस्रेण चक्रं दंडश्च तादृशः । जयांगमिदमेवास्य द्वयं शेषः परिच्छदः ॥ ३ ॥ विजयार्द्धप्रतिस्पर्द्धिवर्ष्माणं याग-

कितने ही राजाओंने अपना अभिमान छोडकर दूरसें ही मस्तक नवाकर महाराजको प्रणाम किया था ॥ १५२ ॥

इसप्रकार भववज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें महाराज भरतका विजयकरनेके लिये गमन करनेका वर्णन करनेवाला सत्ताईसवां पर्व समाप्त हुआ

अथ अट्ठाईसवां पर्व

अथानंतर—दूसरे दिन सवेरा होते ही चक्रवर्तीने प्रातःकालकी सब क्रियायें कीं और फिर चक्ररत्नके पीछे पीछे प्रस्थान किया ॥ १ ॥ शत्रुओंके पराक्रमको नष्ट करनेवाला और जिसे कोईभी उलंघन नहीं कर सकता ऐसा चक्ररत्न तथा समस्त शत्रुओंको दंड देनेवाला दंड रत्न ये दोनों ही चक्रवर्तीकी सेनाके आगे २ चलते थे ॥ २ ॥ एक हजार देव सदा चक्रकी रक्षा करते थे और इतने ही देव दंडकी रक्षा करते थे, वास्तवमें चक्रवर्तीके विजयके कारण ये ही दो थे, शेष हाथी घोडे आदिकी सेना केवल शोभाके लिये थी ॥ ३ ॥ उस चक्रवर्तीने विजयार्द्ध पर्वतके साथ स्पर्द्धा करने-

हस्तिनं । प्रतस्थे प्रभुरारुह्य नाम्ना विजयपर्वतं ॥ ४ ॥ प्राचीं दिशमथो जेतुमापयोधेस्तमुद्यतं । ननु स्तंबेरमव्याजादूहे विजयपर्वतः ॥ ५ ॥ सुरेभं शरदभ्राभमारूढो जयकुंजरं । स रेजे दीप्तमुकुटः सुरेभं सुरराडिव ॥ ६ ॥ सितातपत्रमस्योच्चैर्विधृतं श्रियमादधे । यशसां प्रसवागारमिव तद्व्याजजृंभितं ॥ ७ ॥ लक्ष्मीप्रहासविशदा चामराली समंततः । व्यधूयतास्य विध्वस्ततापा ज्योत्स्नेव शारदी ॥ ८ ॥ जयद्विरदमारूढो ज्वलज्जैत्रास्त्रभासुरः । जयलक्ष्मी-कटाक्षाणामगमत्स शरव्यतां ॥ ९ ॥ महामुकुटबद्धानां सहस्राणि समंततः । तमनुप्रचलंतिस्म सुराधिपमिवामराः ॥ १० ॥ दूरमद्य प्रयातव्यं निवेष्ट-

---

वाला जिसका शरीर है ऐसे विजयपर्वत नामके पूज्य हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया ॥ ४ ॥ उससमय समुद्रपर्यंत पूर्व दिशा जीतनेकेलिये तैयार हुये महाराज भरतको जो विजयपर्वत हाथी धारण कर रहा था वह ऐसा जान पडता था मानों हाथीके बहानेसे विजयार्ध्द पर्वत ही महाराज भरतको धारण कर रहा हो ॥ ५ ॥ जिसप्रकार दैदीप्यमान मुकुट पहने हुये इंद्र ऐरावत हाथीपर चढा हुआ सुशोभित होता है उसीप्रकार शरदऋतुके बादलके समान सफेद और देवोंके द्वारा प्राप्त हुये उस विजयपर्वत नामके हाथीपर दैदीप्यमान मुकुट पहने हुये महाराज भरत सुशोभित हो रहा था ॥ ६ ॥ उस भरतेश्वरके मस्तकपर लटकता हुआ सफेद और ऊंचा छत्र ऐसा सुशोभित होता था मानों छत्रके बहानेसे यश उत्पन्न होनेका स्थान ही हो ॥ ७ ॥ लक्ष्मीके हास्यके समान निर्मल और संतापको दूर करनेवाली चामरोंकी पंक्ति जो चक्रवर्तीके मस्तकपर चारों ओरसे ढुलाई जा रही थी वह ऐसी जान पडती थी मानों शरद ऋतुकी चांदनी ही हो ॥ ८ ॥ विजय नामके हाथीपर सवार हुआ और विजय प्राप्त करनेवाले दैदीप्यमान शस्त्रोंसे सुशोभित ऐसा वह चक्रवर्ती जयलक्ष्मीके कटाक्षोंका स्थान बन गया था ॥९॥ जिसप्रकार देव लोग इंद्रके पीछे २ चलते हैं उसीप्रकार हजारों मुकुटबद्ध राजा लोग चारों ओर भरतेश्वरके पीछे २ चल रहे थे ॥१०॥ आज बहुत दूर चलना है और समुद्रके समीप ही ठहरना है इसलिये जल्दी करो इसप्रकार सेनापति लोग सेनाको जल्दी २ उठा रहे थे ॥११॥ अरे जल्दी करो,

व्यमुपार्णवं । त्वरध्वमिति सेनान्यः सैनिकानुदतिष्ठयन् ॥ ११ ॥ त्वर्यतां प्रस्थितो देवो दवीयश्च प्रयाणकं । बलाधिकारिणामित्थं वचो बलमचुक्षुभत् ॥ १२ ॥ अद्यासिंधु प्रयातव्यं गंगाद्वारे निवेशनं । संसाध्यो मागधोद्यैव विलंघ्य पयसां निधिं ॥ १३ ॥ समुद्रमद्य पश्यामः समुद्रं गत्तरंगकं । समुद्रलंघनेऽद्यैव समुद्रं शासनं विभोः ॥ १४ ॥ अन्योन्यस्येति संजल्पैः संप्रास्थिपत सैनिकाः । प्रयाणभेरीप्रध्वानस्तदोद्यन्द्याभदिध्वनत् ॥ १५ ॥ ततः प्रचलिता सेना सानुगंगं धृतायतिः । मिमानेव तदायामं पप्रथे प्रथितध्वनिः ॥ १६ ॥ सचामरा चलद्धंसां सबलाकां पताकिनी । अन्वियाय चमूर्गंगां

महाराज प्रस्थान करगये, आजका प्रवास बहुत लंबा है, इसप्रकार सेनापतियोंके बचन सेनाको क्षोभित कर रहे थे ॥ १२ ॥ आज समुद्रतक चलना है, आज गंगाके द्वारपर (जहां गंगा नदी समुद्रमें मिलती है) ठहरना है, समुद्रको उलंघनकर मागध नामके देवको आज ही वश करना है ॥ १३ ॥ जिसमें ऊंची नीची लहरें बराबर उठ रही हैं ऐसे समुद्रको आज देखेंगे, आज समुद्रको उलंघन करनेकेलिये ही महाराजकी मुहरसहित (अलंघनीय) आज्ञा है ॥ १४ ॥ इसप्रकार परस्पर एक दूसरेसे बात चीत करते हुये सेनाके लोगोंने प्रस्थान किया, उससमय निकलते समयके बजते हुये नगाडोंके उठे हुये शब्द आकाशमें प्रतिध्वनि कर रहे थे अर्थात् भरगये थे ॥ १५ ॥ जिसके चलनेकी आवाज चारोंओर फैली हुई है ऐसी वह सेना गंगा नदीके किनारे २ लंबी होकर निकली, उससमय वह लंबी सेना ऐसी जान पडती थी मानों गंगा नदीकी लंबाई ही नाप रही हो ॥ १६ ॥ गंगानदीके किनारे २ चलती हुई वह सेना ऐसी जान पडती थी मानो गंगाकी नकल ही कर रही हो क्योंकि जिसप्रकार गंगामें हंसपक्षी थे उसीप्रकार सेनामें सफेद चमर ढुलाये जा रहे थे, जैसे गंगामें क्रौंच पक्षियोंकी (अथवा बगलाओंकी) पंक्तियां थीं उसीप्रकार सेनामें ध्वजायें फहरा रही थीं और गंगामें जैसे लहरें चल रही थीं उसीप्रकार सेनामें घोडोंके समूह चल रहे थे ॥ १७ ॥ वह सेना समुद्रकी ओर इसप्रकार जा रही थी मानो दूसरी गंगानदी ही हो क्योंकि जिसप्रकार गंगामें राजहंस

सतुरंगा तरंगिणी ॥१७॥ राजहंसैः कृताध्यासा क्वचिदप्यस्खलद्गतिः । चमूरब्धिं प्रति प्रायात्सा द्वितीयेव जान्हवी ॥१८ ॥विपरीतामतद्वृत्तिर्निम्नगामुन्नत-स्थितिः । त्रिमार्गगां व्यजेष्टासौ पृतना बहुमार्गगा ॥ १९ ॥ अनुगंगातटं यांती ध्वजिनी सा ध्वजांशुकैः । वनरेणुभिराकीर्णं संममार्जेव खांगणं ॥ २० ॥

अर्थात् उत्तम हंस होते हैं उसीप्रकार उस सेनामें भी राजहंस अर्थात् बडे २ राजा थे और जिसप्रकार गंगाकी गति कभी स्खलित नहीं होती उसीप्रकार सेनाकी गति भी कभी स्खलित नहीं होती थी ॥ १८ ॥ वास्तवमें चक्रवर्तीकी सेनाने गंगा जीत ली थी क्योंकि गंगा वि–परीत थी और सेना विपरीत नहीं थी, महाराजकी इच्छानुसार काम करती थी, [यहांपर गंगा वि–परीत अर्थात् राजहंस आदि अनेक पक्षियोंसे व्याप्त थी ऐसा अर्थ समझना चाहिये] इसके सिवाय गंगा निम्नगा अर्थात् नीचेकी ओर जानेवाली थी और सेना बराबर उन्नत अवस्थाको प्राप्त हो रही थी अर्थात् बढ रही थी, तथा गंगा त्रिमार्गगा अर्थात् पूर्व-दक्षिण-पूर्व ऐसे तीन मार्गसे जानेवाली कहलाती है और सेना अनेक मार्गोंसे जानेवाली थी ॥ १९ ॥ गंगाके किनारे किनारे जाती हुई वह सेना ऐसी जान पडती थी मानो बनकी धूलिसे भरे हुये आकाशरूपी आंगनको ध्वजाओंके कपडोंसे साफ ही कर रही हो ॥ २० ॥ उत्तर दिशामें गंगाके साथ साथ चलनेवाली अनेक नदियां और नदियोंके समान ही अनेक सेनायें मिली थीं क्योंकि जिसप्रकार नदियोंमें प्रवेश करना कठिन था उसीप्रकार उन सेनाओंमें भी प्रवेश करना कठिन था, जिसप्रकार नदियां महाग्राहा अर्थात् मगरमच्छ आदि बडे २ जलचर जीवोंसहित थीं उसीप्रकार वे सेनायें भी महाग्राहा अर्थात् बडे २ योद्धाओंको स्वीकार करनेवाली थीं, नदियें बहुत थीं और सेनायें भी बहुत थीं, नदियें अनेक राजाओंके राज्योंमें बहती थीं और सेनायें भी अनेक राजाओंकी थीं इसप्रकार समान ऐसी नदियां और सेनायें दोनोंको चक्रवर्तीकी सेनाके लोग पार कर गये थे ॥ २१ ॥ अतिशय धनी महाराज भरत मार्गमें

दुर्विगाहा महाग्राहाः सैन्यान्युत्तेरुरुत्तरे । गंगानुगा धुनीर्बह्वीर्बहुराजकुलस्थितीः ॥ २१ ॥ मार्गे बहुस्थितान् देशान् सरितः पर्वतानपि । धनवान्वनदुर्गाणि खनीरप्यत्यगात्प्रभुः ॥ २२ ॥ अगोष्पदेष्वरण्येषु दृशं व्यापारयन्विभुः । भूमिच्छिद्रापिधानाय क्षणं यत्नमिवातनोत् ॥ २३ ॥ पथि प्रणेमुरागत्य संभ्रांता मंडलाधिपाः । दंडोपनतवृत्तस्य विपर्योयमिति प्रभुं ॥ २४ ॥ सचक्रं धेहि राजेंद्र सधुरं प्राज सारथे । संजल्प इति नास्यासीदयत्नावनतद्विषः ॥ २५ ॥ प्रतियोध्दुमशक्तास्तं प्रधनेषु जिगीषवः । तत्पदं प्रणतिव्याजात् स्वमौलिभिरताडयन् ॥ २६ ॥ विभुत्वमरिचक्रेषु भूपरागानुरंजनं । स्वचक्र

पडते हुये अनेक देश, नदियां, पर्वत, बन, किले खानि इन सबको छोडता हुआ आगे चला ॥२२॥ जिनमें गाय आदि जानवरोंके खुरोंके चिन्ह तक नहीं हैं ऐसे बनोंमें क्षणभर दृष्टि डालता हुआ महाराज भरत ऐसा जान पडता था मानों पृथ्वीमें जो छिद्र हैं उन्हें ढकनेकेलिये क्षणभर प्रयत्न ही कर रहा हो ॥ २३ ॥ मार्गमें आश्चर्यको प्राप्त हुये अनेक मांडालिक राजा " जिसे दंडरत्न प्राप्त होता है वही इस देशका स्वामी होता है" यही समझकर भरतके समीप आकर उन्हें नमस्कार करने लगे थे ॥ २४ ॥ मार्गमें समस्त शत्रु बिना ही प्रयत्नके नम्रीभूत होगये थे इसलिये " हे राजन् आप चक्र हाथमें लीजिये, हे सारथि तू रथ चला " इसप्रकारका शब्द महाराज भरतको कभी नहीं कहना पडा था ॥ २५ ॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले अन्य कितने ही राजा लोग युद्धमें भरतके साथ लड नहीं सके थे इसलिये भरतके पैरोंको नमस्कार करते हुये ऐसे जान पडते थे मानों नमस्कारके बहानेसे अपने मस्तकके द्वारा भरतके पैरोंको ताडन ही कर रहे हों ॥ २६ ॥ भरतराज जैसे अपने राज्यमें विभुत्व अर्थात् अधिकार रखते थे उसीप्रकार शत्रुओंके राज्यमें भी विभुत्व अर्थात् शासन वा कर धारण करते थे तथा जिसप्रकार अपने राज्यमें भूप-रागानुरंजन अर्थात् अन्य राजाओंको प्रेमसे संतुष्ट किया था उसीप्रकार शत्रुओंके राज्यमें भी भू-परागानुरंजन अर्थात् शत्रुओंको पृथ्वीकी धूलिमें मिला दिया था, सो ठीक ही है क्योंकि बडे आदमियोंकी सब चेष्टायें आश्चर्य करनेवाली

इव सोधत्त महतां चित्तमीहितं ॥ २७ ॥ संध्यादिविषये नास्य समकक्षो हि पार्थिवः । षाड्गुण्यमतएवास्मिँश्चरितार्थमभूत्प्रभौ ॥ २८ ॥ प्रतिराष्ट्रमुपानीतप्राभृतान्विषयाधिपान् । संभावयन्प्रसादेन सोऽत्यगाद्विषयान् बहून् ॥ २९ ॥ नासौ व्यापारितो हस्तो मौर्वी धनुषि नार्पिता । केवलं प्रभुशक्त्यैव प्राचीदिग्विजितामुना ॥ ३० ॥ गोकुलानामुपांतेषु सोपश्यद्युवबल्लवान् । वनवल्लीभिराबद्धजूटकान् गोऽभिरक्षिणः ॥ ३१ ॥ मंथाकर्षश्रमोद्भूतस्वेदबिंदुचिताननाः । मथ्ननीः सकुचोत्कंपं सलीलत्रिकनर्तनैः ॥ ३२ ॥ मंथरज्जुसमाकृष्टिक्लांतबाहूः श्लथांशुकाः । स्रस्तस्तनांशुका लक्ष्यत्रिवलीभंगुरोदराः

होती हैं ॥ २७ ॥ संधि, (परस्परके नियम) विग्रह अर्थात् युद्ध, यान [शत्रुके देशमें जाना] आसन [कहीं बैठना] द्वैधीभाव [परस्पर शत्रुता कर देना] और आश्रय इन विषयोंमें अन्य कोई भी राजा भरतके बराबर नहीं था इसलिये ऊपरलिखे हुये छह गुण भरतमें केवल नाममात्रकेलिये चरितार्थ थे, भावार्थ—जब अन्य सब राजा लोग भरतके आधीन थे इसलिये भरतको किसीके साथ भी संधि विग्रह आदि नहीं करना पडा था ॥ २८ ॥ मार्गमें प्रत्येक राज्यके जो नरेश भेट लेकर आये थे, अपनी प्रसन्नतासे उनका आदर सत्कार करता हुआ भरतेश्वर बहुतसे देशोंको छोडता हुआ आगे जा रहा था ॥ २९ ॥ महाराज भरतने न तो हाथ ही उठाया था और न कभी धनुषकी डोरी ही धनुषपर चढाई थी, उसने केवल अपनी शक्तिसे ही पूर्व दिशा जीत ली थी ॥ ३० ॥ गोशालाओंके समीपमें ही उसने गायोंकी रक्षा करनेवाले और बनकी बेलोंसे जिनके शिरके बाल बंधे हुये हैं ऐसे अनेक तरुण ग्वाला देखे ॥ ३१ ॥ तथा अनेक गोपियां अर्थात् ग्वालाओंकी स्त्रियां देखीं, नौतियोंके (दही चलानेकी रस्सियोंके) खींचनेके परिश्रमसे जो पसीना आया है उसकी बूंदोंसे जिनके मुख व्याप्त हो रहे हैं, जो लीला पूर्वक नितंबोंको हिलाहिलाकर कुचोंको हिलाती हुई दही चला रही हैं, दही चलानेकी रस्सी खींचनेसे जिनकी भुजायें शिथिल होगई हैं, जिनके कपडे भी सब शिथिल होगये हैं, स्तनोंकी चोली भी उतरगई है, उदरका त्रिवलीभंग साफ

॥ ३३ ॥ क्षुब्धाभिघातोच्छलितस्थूलगोरसाबिंदुभिः । विरलैरंगसँलग्नैः शोभां कामपि पुष्णतीः ॥ ३४ ॥ मंथारवानुसारेण किंचिदारब्धमूर्छनाः । विस्रस्तकबरीबंधाः कामस्येव पताकिकाः ॥ ३५ ॥ गोष्ठांगणेषु संलापैः स्वैरमारब्धमंथनाः । प्रभुर्गोपवधूः पश्यन्किमप्यासीत्समुत्सुकः ॥ ३६ ॥ वने वनगजैर्जुष्टे प्रभुमेनं वनेचराः । दंतैर्वनकरींद्राणामद्राक्षुः सहमौक्तिकैः ॥ ३७ ॥ श्यामांगीरनभिव्यक्तरोमराजीस्तनूदरीः । परिधानीकृताळोलपल्लवव्यक्तसंवृतीः ॥ ३८ ॥ चमरीवालकाविद्धकबरीबंधबंधुराः । फलिनीफलसंदग्धमालारचितकंठिकाः ॥ ३९ ॥ कस्तूरिकामृगाध्यासवासिताः सुरभीर्मृदः । संचिन्वतीर्वनाभोगे प्रसाधनजिघृक्षया ॥ ४० ॥ पुलिंदकन्यकाः सैन्यसमालोकनविस्मिताः । अव्याजसुंदराकारा दूरादालोकयत्प्रभुः ॥ ४१ ॥ चमरीबाल-

दिखाई दे रहा है, रईके चलनेके आघातसे जो छाछकी बडी २ बूंदें उछलकर शरीरपर दूर दूर पडी हुई हैं उनसे जो एक विचित्र शोभा धारण कर रही हैं, रईके चलानेसे होनेवाले शब्दके अनुसार ही जिन्होंने कुछ गाना प्रारंभ किया है, जिनका केशपाश भी खुल गया है और इसलिये ही जो कामदेवकी पताकाके समान जान पडती हैं तथा गोशालाके आंगनमें इच्छानुसार परस्पर बातचीत करते हुये ही जिन्होंने दही चलाना प्रारंभ किया है ऐसी ग्वालाओंकी स्त्रियोंको देखकर भरतेश्वरको एकप्रकारकी उत्कंठासी उत्पन्न हुई थी ॥ ३२-३६ ॥ जंगली हाथियोंसे भरे हुये बनमें रहनेवाले भील लोगोंने जंगली हाथियोंके मोती और दांत भेट कर भरतके दर्शन किये थे ॥ ३७ ॥ जिनका शरीर सब श्याम है, शरीरपर केश भी दिखाई नहीं पडते, उदर भी जिनका कृश है, वस्त्रके समान धारण किये हुये चंचल पत्तोंसे जिनका ढका हुआ अंग व्यक्त हो रहा है, जिनके केशपाश चमरी गायके कोमल बालोंसे गुथे रहनेसे जो बहुत मनोहर जान पडती हैं, प्रयंगु अथवा गुंजाफलोंको गूंथकर बनाई हुई मालायें जिनके कंठमें पडी हुई हैं, बनके एक भागमें जो मिट्टी कस्तूरीवाले हिरणोंके बैठनेसे सुगंधित हो गई थी उसे अपने आभूषण बनानेकेलिये जो इकट्ठी कर रही हैं, जिनका आकार स्वभावसे ही सुंदर है और जो सेनाको देखकर चकित हो रही हैं ऐसी भीलोंकी कन्याओंको भरतने

कान् केचित् केचित्कस्तूरिकांडकान् । प्रभोरुपायनीकृत्य ददृशुर्म्लेच्छराजकाः ॥ ४२ ॥ तत्रांतपालदुर्गाणां सहस्राणि सहस्रशः । लब्धचक्रधरादेशः सेनानीः समशिश्रियत् ॥ ४३ ॥ अपूर्वरत्नसंदर्भैः कुप्यसारधनैरपि । अंतपालाः प्रभोराज्ञां सप्रणामैरमानयन् ॥ ४४ ॥ ततो विदूरमुल्लंघ्य सोऽध्वानं सह सेनया । गंगाद्वारमनुप्रापत् स्वमिवालंध्यमर्णवं ॥ ४५ ॥ बहिःसमुद्रमुद्रिक्तं द्वैप्यं निम्नोपगं जलं । समुद्रस्येव निष्पंदमब्धेराराद्व्यलोकयत् ॥४६॥ वर्षारंभो युगारंभे योऽभूत्कालानुभावतः । ततः प्रभृति संवृद्धं जलं द्वीपांतमावृणोत् ॥ ४७ ॥ अलंघ्यत्वान्महीयस्त्वाद्द्वीपपर्यंतवेष्टनात् । द्वैप्यमंबु समुद्रिक्तमगादुपसमुद्रतां ॥ ४८ ॥ पश्यन्नुपसमुद्रं तं गत्वा सुखपथेन सः । गंगोपवनवेद्यंतभागे सैन्यमवीविशत् ॥ ४९ ॥ वेदिकातोरणद्वारमस्ति तत्रो-

---

दूरसे ही देखा ॥ ३८-४१ ॥ अनेक म्लेच्छ राजाओंमेंसे कितनोंहीने तो चमरी गायके बाल और कितनोंहीने कस्तूरीवाले हिरणकी नाभि भरतकी भेटकर भरतके दर्शन किये थे ॥ ४२ ॥ सेनापतिने चक्रवर्तीकी आज्ञासे गंगाके संगमपरके लाखों ही मजबूत किले अपने वश किये ॥ ४३ ॥ किलोंके रक्षक लोग अपूर्व अपूर्व रत्नोंके समूह, अनेक वस्तुयें और उत्तमधन भेटकर नमस्कार करते हुये भरतकी आज्ञा मानने लगे थे ॥ ४४ ॥ तदनंतर सेनाके साथ साथ कुछ दूर मार्गको और व्यतीतकर भरत अपने ही समान अलंघनीय और जहां गंगा समुद्रमें मिलती है ऐसे समुद्रके किनारे जा पहुंचा ॥ ४५ ॥ समुद्रके बाहर जो ऊपरको उछल रहा है, समुद्रके समान ही जिसका प्रवाह है, और जो नीचेकी ओर जा रहा है ऐसे द्वीप और समुद्रके मिले हुये जलको भरतने दूरसे ही देखा ॥४६॥ कर्मभूमिके प्रारंभमें जो वर्षा हुई थी तबसे लेकर कालके प्रभावसे वही बढता हुआ जल द्वीपके सब किनारोंतक पहुंच गया था ॥ ४७ ॥ समुद्रसे उछल कर द्वीपमें बाहर आया हुआ जल अलंघनीय अर्थात् तिरनेके अयोग्य था, बहुत गहरा था और दूरतक फैलकर उसने द्वीपके सब समीपभागको ढकलिया था, इसलिये ही वह मानो उपसमुद्र कहलाने लगा था ॥ ४८ ॥ उस उपसमुद्रको देखते हुये भरतने सुलभमार्गसे जाकर गंगाके उपवनकी बेदीके भीतरी भागमें सेनाका प्रवेश कराया ॥४९॥

त्तरं महत् । शनैस्तेन प्रविश्यांतर्वणं सैन्यं न्यविक्षत ॥ ५० ॥ तत्र वास्तुवशादस्य किंचित् संकुचितायतः । स्कंधावारनिवेशोऽभूदलंध्यव्यूहविस्तृतिः ॥ ५१ ॥ नंदनप्रतिमे तस्मिन् बने रुद्धातपांघ्रिपे । गंगाशीतानलस्पर्शैस्तद्बलं सुखमाविशत् ॥ ५२ ॥ तस्मिन् पौरुषसाध्येऽपि कृत्ये दैवं प्रमाणयन् । लवणाब्धिजयोद्युक्तः सोऽभ्यैच्छद्दैविकीं क्रियां ॥ ५३ ॥ अधिवासितजैत्रास्त्रः स त्रिरात्रमुपोषिवान् । मंत्रानुस्मृतिपूतात्मा शुचितल्पोपगः शुचिः ॥ ५४ ॥ सायंप्रातिकनिःशेषकरणीये समाहितः । पुरोधोऽधिष्ठितः पूजां स व्यधात्परमेष्ठिनां ॥ ५५ ॥ सेनान्यं बलरक्षार्थे नियोज्य विधिवद्विभुः । प्रतस्थे धृत-

---

गंगाके उपवनकी वेदीमें वेदिकाका एक बडा भारी तोरणद्वार है जोकि उत्तरद्वार कहलाता है उस द्वारसे धीरे २ प्रवेशकर भीतरके बनमें सेनाको ठहराया ॥ ५० ॥ जिसकी सेनाका विस्तार अलंघनीय है ऐसा वह सेनाका पडाव उस क्षेत्रके अनुसार ऐसा हुआ था जिसकी लंबाई अधिक थी और चौडाई कुछ कम थी ॥ ५१ ॥ नंदन बनके समान और सूर्यकी किरणोंको भी रोकनेवाले वृक्षोंसे भरे हुये उस बनमें चक्रवर्तीकी सेना गंगाके शीतल वायुके स्पर्शसे सुखपूर्वक रहने लगी थी ॥ ५२ ॥ यद्यपि मागध देवको वश करना पौरुष साध्य है, पराक्रमसे तथा उद्योगसे सिद्ध हो सकता है तथापि प्रत्येक कार्यमें दैवको ही प्रमाण मानकर लवण समुद्रको जीतनेकी इच्छा करते हुये भरतने भगवान अरहंतदेवके आराधन करनेका विचार किया ॥ ५३ ॥ जिसने मंत्र तंत्रोंके द्वारा विजयके शस्त्रोंका संस्कार किया है, तीन दिन उपवास किया है, मंत्रोंके स्मरण करनेसे जिसका आत्मा पवित्र है, जो पवित्र दाभकी शय्यापर निवास करनेवाला है, स्वयं पवित्र है सायंकाल, और प्रातःकालकी समस्त क्रियाओंके करनेमें सावधान है और कुलगुरु पुरोहित जिसके समीप बैठा है ऐसे चक्रवर्ती भरतने पंच परमेष्ठीकी पूजा की ॥ ५४-५५ ॥ भरतने नियमानुसार सेनाकी रक्षा करनेका भार सेनापतिको दिया और वह स्वयं लवणसमुद्रको जीतनेकी इच्छासे दिव्य अस्त्र शस्त्रोंको धारणकर निकला ॥५६॥ समुद्रको उलंघन करनेकी इच्छा करनेवाले भरतके चित्तमें ' क्या २ साथ लेना चाहिये और क्या २

दिव्यास्त्रो जिगीषुर्लवणांबुधिं ॥ ५६ ॥ प्रतिग्रहापसारादिर्चिंताभून्नास्य चेतसि । विलिलंघयिषोरब्धिमहो स्थैर्यं महात्मनां ॥ ५७ ॥ अजितंजयमारुक्षद्रथं दिव्यास्त्रसंभृतं । योजितं वाजिभिर्दिव्यैर्जलस्थलविलंघिभिः ॥ ५८ ॥ पत्रश्यामरथं प्रोच्चैश्चलच्चक्रांककेतनं । तमूहूर्जवना वाहा दिव्यसव्येष्टचोदितं ॥ ५९ ॥ ततोस्मै दत्तपुण्याशीः पुरोधा धृतमंगलं । त्वं देव ! विजयस्वेति स इमामृचमापठत् ॥ ६० ॥ जयंति विधुताशेषबंधना धर्मनायकाः । त्वं धर्मविजयी भूत्वा तत्प्रसादाज्जयाखिलं ॥ ६१ ॥ संत्यब्धिनिलया देवास्त्वद्भुक्त्यंतर्निवासिनः । तान्विजेतुमयं कालस्तवेत्युच्चैर्जुघोष च ॥ ६२ ॥ ततः कतिपयैरेव नायकैः परिवारितः । जगतीतलमारुक्षद्गंगाद्वारस्य चक्रभृत् ॥ ६३ ॥ न केवलं समुद्रांतःप्रवेशद्वारमेव तत् । कार्यसिद्धेरपि द्वारं तदमंस्त र-

---

यहां छोड देना चाहिये ' यह भी चिंता नहीं हुई थी, सो ठीक ही है क्योंकि बडे पुरुषोंका धैर्य ऐसा ही आश्चर्य जनक होता है ॥ ५७ ॥ जिसमें जल और स्थल दोनोंपर एकसे चलनेवाले दिव्य घोडे जुते हुये हैं और जो दिव्य अस्त्र शस्त्रोंसे भरा हुआ है ऐसे अजितंजय नामके रथपर वह चक्रवर्ती सवार हुआ ॥ ५८ ॥ जो पत्तोंके समान हरितवर्ण है, जिसपर चक्रके चिन्हवाली ध्वजा बहुत ऊंची फहरा रही है और दिव्य सारथी जिसे हांक रहा है ऐसे उस रथको बहुत तेज चलनेवाले घोडे ले जा रहे थे ॥ ५९ ॥ तदनंतर हे देव आपकी जय हो इसप्रकार भरतके लिये पुण्यरूप आशीर्वाद देकर पुरोहितने प्रस्थान समयके समस्त मंगल कार्य करनेवाले भरतकेलिये नीचे लिखा हुआ श्लोक पढा ॥ ६० ॥ समस्त कर्मोंको नाश करनेवाले और धर्मकी प्रवृत्ति करनेवाले तीर्थंकर देव सदा जयवंत रहते हैं इसलिये हे राजन् तू भी उनके प्रसादसे धर्मधारण करनेमें विजयी होकर सबको जीत ॥ ६१ ॥ उस पुरोहितने उसीसमय यह भी जोरसे घोषणा की कि हे देव ! इस समुद्रमें जो देव रहते हैं वे आपके उपभोग (विजय) करनेयोग्य क्षेत्रके भीतर ही रहते हैं इसलिये उन्हें जीतनेकेलिये आपका यह समय है ॥ ६२ ॥ इसप्रकार आशीर्वाद ग्रहण करनेके बाद वह चक्रवर्ती कितने ही वीर पुरुषोंके साथ साथ गंगाके संगमकी वेदीपरकी भूमिपर जा चढा ॥ ६३ ॥ वह चक्रवर्ती उस

थांगभृत् ॥ ६४ ॥ धृतमंगलवेषस्य तद्वेद्यारोहणं विभोः । विजयश्रीसमुद्राहवेद्यारोहणवद्बभौ ॥ ६५ ॥ मद्गृहांगणवेदीयं जगतीति विकल्पयन् । दृशं व्यापारयामास कुल्याबुद्ध्या महोदधौ ॥ ६६ ॥ स प्रतिज्ञामिवारूढो जगतीं तां महायतीं । निस्तीर्णमिव तत्पारं पारावारमजीगणत् ॥ ६७ ॥ मुहुः प्रचलदुद्वेलकल्लोलमनिलाहतं । विलंघनभयाच्चैः फूत्कुर्वंतमिवारवैः ॥ ६८ ॥ वीचीबाहुभिरुन्मुक्तैः सरत्नैः सीकरोत्करैः । पाद्यं स्वस्यैव तन्वानं मौक्तिकाक्षतमिश्रितैः ॥ ६९ ॥ असंख्यशंखमाक्रांतविश्वद्वीपमपारकं । परैरलंघ्यमक्षोभ्यं स्वबलौघानुकारिणं ॥ ७० ॥ उत्फेनजृंभिकारंभैः सापस्मारमिवोल्बणं ।

गंगाद्वारकी वेदीको केवल समुद्रमें प्रवेश करनेका ही द्वार नहीं समझता था किंतु उसे अपने कार्यकी सिद्धि होनेका भी द्वार समझता था ॥ ६४ ॥ जिसने अपना मंगलवेश धारण किया है ऐसे भरतका उस वेदीपर चढना ऐसा सुशोभित होता था मानो वह विजयलक्ष्मीके साथ विवाह करनेकी वेदीपर ही चढा हो ॥ ६५ ॥ यह मेरे घरके आंगनकी वेदी है इसप्रकार उस वेदीमें कल्पना करता हुआ भरत कृत्रिम नदी (नहर बंबा) के समान ही महासागरमें अपनी दृष्टि डाल रहा था ॥ ६६ ॥ वह भरतेश्वर बहुत लंबी उस वेदीपर इसप्रकार चढा मानों समुद्र जीतनेकी अपनी बडी भारी प्रतिज्ञापर ही चढा हो और जिसका पार नही है ऐसे समुद्रको भी इसप्रकार मानता था मानो उसे पारकर उसके दूसरे किनारेपर ही पहुंच गया हो ॥ ६७ ॥ चक्रवर्तीने उस वेदीपरसे समुद्र देखा, उस समुद्रकी लहरें उसमें बार बार उठते हुये ज्वारको भी उलंघन कर रही थीं, तीव्र वायु उसे ताडन कर रहा था और गंभीर शब्दोंसे वह ऐसा जान पडता था मानो चक्रवर्तीके द्वारा उलंघन होनेके भयसे जोरसे चिला रहा ही हो ॥ ६८ ॥ लहरें रूपी भुजाओंके द्वारा किनारेपर फेंके हुये रत्नसहित जलकी बूंदोंके समूहसे वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो वह अपनेलिये (चक्रवर्तीकेलिये) मोती और अक्षतोंसे मिला हुआ अर्घ ही दे रहा हो ॥ ६९ ॥ अथवा वह समुद्र अपनी सेनाका अनुकरण करता हुआ जान पडता था, क्योंकि जिसप्रकार सेनामें असंख्यात संख थे

केनाप्यशक्यमाधर्तुं क्वचिदप्यनवास्थितं ॥ ७१ ॥ अकस्मादुच्चरद्ध्वानमानिमित्तचलाचलं । अकारणकृतावर्तमतिसंकसुकास्थितिं ॥ ७२ ॥ हसंतमिव फेनौत्थैर्लसंतमिव वीचिभिः । चलंतमिव कल्लोलैर्माद्यंतमिव घूर्णितैः ॥७३॥ सरत्नमुल्बणविषं मुक्तसूत्कारभीकरं स्फुरत्तरंगनिर्मोकं । स्फुरंतमिव भोगिनं ॥७४॥

उसीप्रकार समुद्रमें भी असंख्यात शंख थे, सेना अनेक देशोंपर अधिकार करनेवाली थी और समुद्र अनेक द्वीपोंमें व्याप्त था, सेना अपार थी और समुद्र भी अपार था, सेना कभी व्याकुल नहीं होती थी और समुद्र भी कभी क्षुब्ध नहीं होता था और जिसप्रकार सेनाको कोई उलंघन नहीं कर सकता उसीप्रकार समुद्रको भी कोई उलंघन नहीं कर सकता था ॥ ७० ॥ अथवा वह समुद्र किसी अपस्मार (मृगी) रोगीके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार अपस्मार रोगी फेनसहित मुखको फाडकर विह्वल होजाता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मुख अर्थात् किनारेपर फेन सहित था और लहरों से विह्वल हो रहा था, जिसप्रकार अपस्मार रोगी किसी एक जगह स्थिर नहीं रहता है उसीप्रकार वह समुद्र भी चंचलतासे एक जगह स्थिर नहीं था और जिसप्रकार अपस्मार रोगीको कोई हिलानेसे बंद नहीं कर सकता उसीप्रकार उस समुद्रकी लहरोंको भी कोई बंद नहीं कर सकता था ॥७१॥ वह समुद्र अकस्मात ही गंभीर शब्द करता था, बिना कारण ही चंचल था, बिना कारण ही उसमें भंवर पडते थे और उसकी स्थिति बहुत ही अस्थिर थी ॥ ७२ ॥ सफेद फेनोंके उठनेसे ऐसा जान पडता था मानों हँस रहा हो, ज्वारभाटाओंसे ऐसा जान पडता था मानों नृत्य कर रहा हो, लहरोंसे ऐसा जान पडता था मानों चल रहा ही हो और भँवरोंसे ऐसा जान पडता था मानों उन्मत्त ही हो रहा हो ॥ ७३ ॥ अथवा वह समुद्र एक सर्पके समान जान पडता था, क्योंकि जिसप्रकार सर्पके फणामें रत्न होता है उसीप्रकार समुद्रमें भी रत्न थे, सर्पमें उत्कट विष रहता है उसीप्रकार समुद्रमें उत्कट विष अर्थात् जल था, जिसप्रकार सर्प शू शू आदि निश्वासोंके

अत्यंबुपानादुद्रिक्तप्रतिश्यायमिवाधिकं । क्षुतानीव विकुर्वाणं ध्वनितानि सहस्रशः ॥ ७५ ॥ आघूनमसकृत्पीतविश्वस्रोतस्विनीरसं । रसातिरेकादुद्गारं तन्वानमिव खात्कृतैः ॥ ७६ ॥ निजगंभीरपातालमहागर्भोपदेशतः । अतृप्यंतमिवांभोभिराताल्वविवृताननं ॥ ७७ ॥ दिशां रावणमाक्रांत्याचलग्राहं बिभी-

छोडनेसे भयंकर होता है उसीप्रकार वह समुद्र भी गंभीर शब्दोंके करनेसे भयंकर हो रहा था, जिसप्रकार सर्पकी काचली दैदीप्यमान होती है उसीप्रकार उस समुद्रकी लहरेंरूप काचली भी दैदीप्यमान थी और सर्प जैसे चंचल रहता है उसीप्रकार वह समुद्र भी चंचल था ॥ ७४ ॥ अथवा वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों अधिक पानी पीनेसे उसे भारी पीनसका रोग हो गया हो और इसलिये ही वह मानो हजारों शब्दोंके द्वारा छींके ही ले रहा हो ॥ ७५ ॥ अथवा जिसप्रकार भूखा मनुष्य बहुत पानी पीकर ही डकारें लिया करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी ऐसा जान पडता था मानों बार बार संसारकी नदियोंका जल पीनेसे पेटमे अधिक जल हो जानेपर गंभीर शब्दोंके द्वारा डकारें ही ले रहा हो ॥ ७६ ॥ अपने गंभीर पाताल रूपी महा उदरके बहानेसे अर्थात् पेटके बहानेसे पातालको भरनेकेलिये जो कभी जलसे तृप्त नहीं होता था और इसलिये ही जो ऐसा जान पडता था मानों तालुपर्यंत उसने अपना मुख फाड रक्खा हो ॥ ७७ ॥ अथवा वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो राक्षसोंका समूह ही हो, क्योंकि जिसप्रकार राक्षसोंके समूहमें अधिक व्याप्त होनेसे सब दिशाओंमें रावण अर्थात् रावण ही मुख्य था उसीप्रकार वह समुद्र भी अधिक देशोंमें व्याप्त होनेसे सब दिशाओंमें रावण अर्थात् शब्द करनेवाला था, जिसप्रकार राक्षसोंके समूहमें अचलग्राह नामका राक्षसवंशी था उसीप्रकार वह समुद्र भी अचलग्राह अर्थात् पर्वतोंको भी अपनेमें मिलानेवाला था, राक्षसोंके समूहमें जैसे विभीषण रावणका छोटा भाई था उसीप्रकार वह समुद्र भी विभीषण अर्थात् भयानक था, जिसप्रकार राक्षसोंका समूह अतिकाय अर्थात् बहुत बडा है अथवा

षणं । रक्षसामिव संपातमतिकायं महोदरं ॥ ७८ ॥ वीचीबाहुभिराघ्नंतमजस्रं तटवेदिकां । समर्यादत्वमाहत्य श्रावयंतमिवात्मनः ॥ ७९ ॥ चलद्भिरच्चलोदग्रैः कल्लोलैरतिवर्तिनं । सरिद्युवतिसंभोगादसंमांतमिवात्मनि ॥ ८० ॥ तरंगिततनुं वृद्धं पृथुकं व्यक्तरंगितं । सरंतमतिकांतांगं सग्राहमतिभीषणं ॥ ८१ ॥ लावण्येऽपि न संभोग्यं गांभीर्येऽप्यनवस्थितं । महत्वेऽपि कृताक्रोशं व्यक्तमेव जलाशयं ॥ ८२ ॥ नचास्य मदिरासंगो न कोऽपि मदनज्वरः ।

कुछ असुंदर है उसीप्रकार वह समुद्र भी अतिकाय अर्थात् बहुत बडा था और जिसप्रकार राक्षसोंके समूहमें महोदर अर्थात् महोदर नामका राक्षस है इसीप्रकार वह समुद्र भी महोदर अर्थात् बहुत गहरा था ॥ ७८ ॥ लहरेंरूप अपनी भुजाओंके द्वारा बार बार किनारेकी वेदीको स्पर्श करता हुआ वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो अपने मर्यादपनेको साक्षात् ही सुना रहा हो ॥ ७९ ॥ पर्वतके समान उडती हुई ऊंची २ लहरोंसे सबको उलंघन करनेवाला वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों नदीरूप स्त्रियोंके साथ संभोग करनेसे अपने आत्मामें भी न समा रहा हो ॥ ८० ॥ जिसके शरीरमें तरंगे रूपी त्रिवलियां उठ रही हैं ऐसा वह समुद्र वृद्धके समान जान पडता था, अथवा वह समुद्र वालकके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार बालक पृथ्वीपर घुटनोंके बल चलता है उसीप्रकार वह समुद्र भी लहरोंके द्वारा पृथ्वीपर वह रहा था, जिसप्रकार बालक धीरे २ सरकता है उसीप्रकार समुद्र भी ज्वारभाटाके द्वारा सरकतासा जान पडता था और जिसप्रकार बालकका शरीर सुंदर होता है उसीप्रकार समुद्र भी सुंदर था, इसके सिवाय उस समुद्रमें अनेक मगर मच्छ थे और वह अत्यंत भयानक था ॥ ८१ ॥ अथवा वह समुद्र प्रगट जलाशय (ल तथा डमें अभेद होनेसे जडाशय) अर्थात् जडबुद्धि था क्योंकि लावण्य सहित होनेपर भी उपभोग करने योग्य नहीं था, अर्थात् जो लावण्य अर्थात् सुंदरता सहित होता है वह उपभोग करने योग्य होता है, समुद्र लावण्य अर्थात् लवणका खारा था इसलिये किसीके भी पीनेयोग्य नहीं था, तथा गं-

तथाप्युद्रिक्तकंदर्पमारूढमधुविक्रियं ॥ ८३ ॥ अनाशितभवं पीत्वा सुस्वादु सरितां जलं । गतागतानि कुर्वंतं संतोषादिव वीचिभिः ॥ ८४ ॥ नदीव-धूभिरासेव्यं कृतरत्नपरिग्रहं । महाभोगिभिराराध्यं चातुरंतमिव प्रभुं ॥ ८५ ॥ यादोदोर्घातनिर्धूतैर्दूरोच्छलितशीकरैः । सपताकमिवाशेषशेषार्णवविनिर्जयात्

भीर होकर भी वह स्थिर नहीं था, जो गंभीर होता है वह अवश्य स्थिर होता है, समुद्र गंभीर था परंतु स्थिर नहीं था लहरोंके द्वारा चंचल था और बडा होकर भी आक्रोश शब्द करनेवाला था अर्थात् जो बडा [महान् वा पूज्य] होता है वह कभी चिलाता नहीं, समुद्र बडा था तथापि वह गरज २ कर चिला रहा था, इसलिये वह साफ जडाशय अर्थात् जडबुद्धि-मूर्ख वा जलाशय अर्थात् पानीसे भरा हुआ जान पडता था ॥ ८२ ॥ उस समुद्रके न तो मद्यका संगम था और न कामज्वर ही था तथापि वह उद्रिक्तकंदर्प था अर्थात् उसे तीव्रकामका विकार था और उसे मधु वा मद्यका विकार अर्थात् उन्मत्तता भी थी, इस श्लोकका ऐसा अर्थ करनेसे विरोध आता है इसलिये कंदर्प शब्दका अर्थ कं-दर्प अर्थात् उसे बहुत पानीका अभिमान था ऐसा अर्थ करना चाहिये और इसीत-रह मधु शब्दका अमृत अर्थ लेकर उससे अमृतका (जलका) समूह उत्पन्न हुआ था ऐसा अर्थ क-रना चाहिये ॥ ८३ ॥ अथवा जिसके पीनेसे कभी तृप्ति न हो ऐसा नदियोंका स्वादिष्ट जल पीकर वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों संतुष्ट होकर लहरोंके द्वारा गमनागमन (आना जाना) ही कर रहा हो ॥ ८४ ॥ अथवा वह समुद्र चक्रवर्ती के ही समान था क्योंकि जिसप्रकार अनेक स्त्रियां चक्रवर्तीकी सेवा करती हैं उसीप्रकार नदीरूपी अनेक स्त्रियां समुद्रकी सेवा करती थीं अर्थात् अनेक नदियां उसमें आ मिली थीं, जिसप्रकार चक्रवर्तीके पास बहुतसे रत्न होते हैं उसीप्रकार उस समुद्रमें भी बहुत रत्न थे, जिसप्रकार महाभोगी अर्थात् महाराज लोग चक्रवर्तीकी सेवा करते हैं उसीप्रकार महाभोगी अर्थात् बडे २ सर्प उस समुद्रमें थे और चक्रवर्ती चारों दिशाओंमें प्रसिद्ध था तथा समुद्र

॥ ८६ ॥ कुलाचलपृथुस्तंभजंबूद्वीपमहौकसः । विनीलरत्ननिर्माणमेकं शालमिवोत्थितं ॥ ८७ ॥ अनादिमसंतपर्यंतमखिलार्थावगाहिनं । गंभीरशब्दसंदर्भं श्रुतस्कंधमिवापरं ॥ ८८ ॥ नित्यप्रवृत्तशब्दत्वात् द्रव्यार्थिकनयाश्रितं । वीचीनां क्षणभंगित्वात्पर्यायनयगोचरं ॥ ८९ ॥ नित्यानुबद्धतृष्णत्वाच्छद्मजलप-

चारोंदिशाओंमें व्याप्त था ॥ ८५ ॥ मगर मच्छ आदि बडे २ जलचर जीवोंके घातसे ऊपरको उठी हुई और दूरतक पहुंची हुई जलकी बूंदोंसे वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों बाकीके समस्त समुद्रोंको जीतनेसे उसने अपनी जयपताका ही फहराई हो ॥ ८६ ॥ अथवा नीला और ऊंचा पानी होनेसे वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों कुलपर्वतरूपी खंभोंपर खडे हुये जंबूद्वीपरूपी विशाल घरका नीलमणि रत्नोंसे बना हुआ ऊंचा कोट ही हो ॥ ८७ ॥ अथवा वह सागर ऐसा जान पडता था मानों दूसरा श्रुतस्कंध (जैनशास्त्र) ही हो क्योंकि जिसप्रकार श्रुतस्कंध आदिअंतरहित है उसीप्रकार वह समुद्र भी आदि अंत रहित था अर्थात् अनादि अनिधन था, श्रुतस्कंध जिसप्रकार समस्त जीव अजीव आदि पदार्थोंको धारण करनेवाला (निरूपण करनेवाला) होता है उसीप्रकार वह समुद्र भी अनेक पदार्थ अर्थात् रत्नोंको धारण करनेवाला था, अथवा वह इतना गहरा था कि उसमें सब पदार्थ समा सकते थे और श्रुतस्कंधमें जिसप्रकार गंभीर शब्दोंकी रचना है उसीप्रकार उस समुद्रमें भी गंभीरशब्द होते रहते थे ॥ ८८ ॥ अथवा वह समुद्र द्रव्यार्थिक नयका आश्रय ले रहा था क्योंकि जिसप्रकार द्रव्यार्थिक नयसे पदार्थ नित्य कहलाता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थमें नित्य शब्दकी प्रवृत्ति होती है उसीप्रकार उस समुद्रमें भी नित्य शब्दकी प्रवृति थी अर्थात् उसमें सदा शब्द होता रहता था, तथा वह समुद्र पर्यायार्थिक नयके गोचर भी था क्योंकि जिसप्रकार पर्यार्थिक नयसे समस्त पदार्थ क्षणभंगुर हैं उसीप्रकार लहरोंके द्वारा वह समुद्र भी क्षणभंगुर था ॥ ८९ ॥ अथवा वह समुद्र प्रतिदिन किसी दुष्ट राजाके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार दुष्ट राजाकी सदा तृ-

रिग्रहात् । गुरूणां च तिरस्कारात्किराजानमिवान्वहं ॥ ९० ॥ ससत्त्वमतिगंभीरं भोगिभिर्धृतवेलकं । सुराजानमिवात्युच्चैर्वृत्तिं मर्यादया धृतं ॥ ९१ ॥ अनेकमंतरद्वीपमंतर्वर्तिनमात्मनः । दुर्गदेशमिवाहार्यं पालयंतमलं घनैः ॥ ९२ ॥ गर्जद्भिरतिगंभीरं नभोव्यापिभिरूर्जितैः । आपूर्यमाणमंभोभिर्घनौघैः किंकरैरिव ॥ ९३ ॥ रंगितैश्चलितैः क्षोभैरुत्थितैश्च विवर्तनैः । ग्रहाविष्टमिवोज्जृंभं सध्वानं च सघूर्णितं ॥ ९४ ॥ रत्नांशुचित्रिततलं मुक्ताशबलितार्णसं ।

ष्णा रहती है उसीप्रकार उस समुद्रको भा सदा तृष्णा बना रहती थी अर्थात् अनेक नदियोंके जलसे भी कभी तृप्त नहीं होता था तथा दुष्ट राजा जिसप्रकार सदा जल [जड] अर्थात् मूर्ख लोगोंसे घिरा रहता है उसीप्रकार वह समुद्र भी सदा जलसे भरा रहता था और जिसप्रकार दुष्ट राजा गुरुजनोंका तिरस्कार करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी गुरु अर्थात् भारी पदार्थोंका तिरस्कार करता था अर्थात् उन्हें नीचे डवोता था अथवा रत्नादि बहुमूल्य पदार्थोंका तिरस्कार करता था ॥ ९० ॥ अथवा वह समुद्र एक अच्छे राजाके समान था क्योंकि जिसप्रकार अच्छा राजा सत्त्व अर्थात् पराक्रम सहित होता है और बडा गंभीर होता है उसीप्रकार वह समुद्र भी सत्त्व अर्थात् जलचर जीवों सहित था और बहुत गंभीर था, तथा जिसप्रकार भोगी अर्थात् राजालोग अच्छे राजाकी आज्ञा धारण करते हैं उसीप्रकार भोगी अर्थात् सर्प उस समुद्रकी लहरोंमें रहते थे अथवा उसकी लहरें भोगी अर्थात् नागकुमार देव धारण करते थे, और अच्छा राजा जिसप्रकार अपनी वृत्ति ऊंची और मर्यादा पूर्वक धारण करता है उसीप्रकार समुद्रकी वृत्ति भी ऊंची और मर्यादा पूर्वक थी ॥ ९१ ॥ उस समुद्रमें अनेक अंतर्द्वीप थे, उन अंतर्द्वीपोंको कोई उलंघन नहीं कर सकता था और न कोई हरण ही कर सकता था इसलिये वे ठीक किलेके समान जान पडते थे ॥ ९२ ॥ तथा अतिशय गंभीर वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो सेवकोंके समान उत्तरोत्तर बढतेहुये, गर्जतेहुये और आकाशमें फैलेहुये बादलोंके द्वारा ही पानीसे भरागया हो ॥ ९३ ॥ अथवा वह समुद्र किसी भूत लगेहुये मनुष्यके स-

ग्राहैरध्यासितं विष्वक् सुखालोकं च भीषणं ॥ ९५ ॥ नदीनं रत्नभूयिष्ठमप्राणं चिरजीवितं । समुद्रमपि चोन्मुद्रं झषकेतुममन्मथं ॥ ९६ ॥ अदृष्टपार-मक्षोभ्यमसंहार्यमनुत्तरं । सिद्धालयमिव व्यक्तमव्यक्तममृतास्पदं ॥ ९७ ॥ क्वचिन्महोत्पलच्छायाधृतसंध्याभ्रविभ्रमं । कृतांधतमसारंभं क्वचिन्नीलाश्मरश्मिभिः

मान जान पडता था, क्योंकि जिसप्रकार भूत लगाहुआ मनुष्य पृथिवीपर पडता है, चंचल होता है, क्षुब्ध होता है, ऊंचा उछलता है और इधर उधर फिरता है उसीप्रकार वह समुद्र भी पृथ्वीपर फैला-हुआ था, लहरोंके द्वारा चंचल था, क्षुब्ध था, ऊंचा उछल रहा था और उसमें अनेक भँवर पड रहे थे, तथा भूत लगाहुआ मनुष्य जिसप्रकार उज्जृंभ अर्थात् जंभाई लेता है शब्द करता है और घूमता है उसीप्रकार वह समुद्र भी उज्जृंभ अर्थात् चारोंओर फैल रहा था, गंभीर शब्द कर रहा था और चारों-ओर घूम रहा था ॥९४॥ उस समुद्रका तलभाग अनेक रत्नोंसे चित्रित था, उसका जल मोतियोंसे मिला हु-आ था इसलिये वह देखनेमें बहुत अच्छा जान पडता था, तथा वह चारोंओरसे अनेक मगर मच्छोंसे भरा हुआ था इसलिये वह भयानक भी जान पडता था ॥ ९५ ॥ अथवा वह समुद्र विरुद्ध स्वभाव-वालासा जान पडता था क्योंकि वह नदीन अर्थात् दीन नहीं था तथापि नदीन अर्थात् नदियोंका स्वामी था, अनेक रत्नोंसे भरा था तथा अप्राण अर्थात् प्राणरहित होकर भी चिरजीवी अर्थात् अनेक दिन तक जीवित रहनेवाला था, समुद्र अर्थात् मुद्रा सहित होकर भी उन्मुद्र अर्थात् मुद्रारहित था, और झषकेतु अर्थात् मछलीकी ध्वजा सहित होकर भी कामदेव नहीं था, इसप्रकार इन शब्दोंका अर्थ करनेसे विरोध आता है इसलिये इन शब्दोंका अर्थ ऐसा करना चाहिये, यथा—अप्प्राण अर्थात् जलस्वरूप होकर अनंत कालतक टिकनेवाला था, समुद्र होकर उन्मुद्र अर्थात् स्वामीरहित था और मछलियोंसे भरा हुआ होकर भी कामदेव नहीं था क्योंकि वह जल स्वरूप था ॥ ९६ ॥ अथवा वह समुद्र सिद्धालय [सिद्धशिला] के समान जान पडता था क्योंकि सिद्धालय जिसप्रकार अपार और

॥ ९८ ॥ हारिन्मणिप्रभोत्सर्पैः क्वचित्संदिग्धशैवलं । क्वचिच्च कौंकुमीं कांतिं तन्वानं विद्रुमांकुरैः ॥ ९९ ॥ क्वचिच्छुक्तिपुटोद्भेदसमुच्छलितमौक्तिकं । तारकानिकराकीर्णं हसंतं जलभृत्पथं ॥ १०० ॥ वेलापर्यंतसंमूर्च्छत्सर्वरत्नांशुशीकरैः । क्वचिदिंद्रधनुर्लेखां लिखंतमिव खांगणे ॥ १०१ ॥ रथांगपाणिरित्युच्चैः संभृतं रत्नकोटिभिः । महानिधिमिवापूर्वमपश्यन्मकरालयं ॥ १०२ ॥ दृष्ट्वाऽथ तं महाभागः कृतधीर्धीरनिस्वनं । दृष्टैवातुलग्रचक्री गोष्पदाव-

---

व्याकुलता रहित है उसीप्रकार वह समुद्र भी अपार और व्याकुलतारहित (जो किसीके द्वारा हिलाया न जासके) था, जिसप्रकार सिद्धालयका संहार नहीं होता उसीप्रकार समुद्रका संहार भी नहीं होता, सिद्धालय जिसप्रकार अनुत्तर अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है उसीप्रकार समुद्र भी अनुत्तर अर्थात् पाररहित था, सिद्धालय जिसप्रकार प्रगट और अगम्य है उसीप्रकार वह समुद्र भी प्रगट और अगम्य था और सिद्धालय जिसप्रकार अ-मृतास्पद अर्थात् मरनेका स्थान नहीं है वहां मरण नहीं होता उसीप्रकार वह समुद्र भी अमृतास्पद अर्थात् जलका स्थान था जलसे भरा हुआ था ॥ ९७ ॥ कहीं तो वह समुद्र पद्मरागमणियोंकी कांतिसे संध्याकालके बादलोंके समान जान पडता था, और कहींपर नीलमणियोंकी कांतिसे इकट्ठे हुये अंधकारके समूहके समान जान पडता था ॥ ९८ ॥ कहींपर हरितमणियोंकी कांतिके समूहसे उसमें शैवालका संदेह होता था और कहींपर वह मूंगाओंके अंकुरोंसे कुंकुमकी शोभा बढा रहा था ॥ ९९ ॥ तथा कहींपर सीपोंके संपुट खुलजानेसे ऊपर जो मोती तैर रहे थे उनसे ऐसा जान पडता था मानो ताराओंके समूहसे भरेहुये आकाशकी ओर हँस रहा ही हो ॥ १०० ॥ और कहींपर किनारेतक समस्त रत्नोंकी किरणोंसहित जलकी बूंदें पड रहीं थीं उनसे ऐसा जान पडता था मानो आकाशमें इंद्रधनुषकी रेखा ही लिख रहा हो ॥ १०१ ॥ इसप्रकार जो सुशोभित था अनेक रत्नोंसे भरा हुआ था और जिसमें बहुतसे मगर मच्छ थे ऐसे महासागरको अपूर्व महानिधिके समान चक्रवर्तीने देखा ॥ १०२ ॥ तदनंतर महाभाग्यशाली और अतिशय

ङ्गयार्णवं ॥ १०३ ॥ ततोभिमतसंसिध्यै कृतसिद्धनमस्क्रियः । रथं प्रचोदयेत्युच्चैः प्राजितारमचोदयत् ॥ १०४ ॥ विमुक्तप्रग्रहैर्वाहैरूह्यमानो मनोजवैः । लवणाब्धौ द्रुतं प्रायाद्यानपात्रायितो रथः ॥ १०५ ॥ रथो मनोरथात्पूर्वं रथात्पूर्वं मनोरथः । इति संभाव्यवेगोऽसौ रथो वार्द्धिं व्यगाहत ॥ १०६ ॥ जलस्तंभप्रयुक्तं नु जलं नु स्थलतां गतं । स्यंदनं यदमी वाहा जले निन्युः स्थलास्थया ॥ १०७ ॥ तथैव चक्रचीत्कारस्तथैवाश्वैः प्रधैरितं । यथा बहिर्जलं पूर्वमहो पुण्यं रथांगिनः ॥ १०८ ॥ महद्भिरपि कल्लोलैः शीक्यमानास्तुरंगमाः । रथं निन्युरनायासात्प्रत्युतैषां स विश्रमः ॥ १०९ ॥ रथच-

---

विद्वान् भरत गंभीर शब्द करते हुये उस समुद्रको देखकर अपनी दृष्टिसे ही कीचडमें बनेहुये गायके खुरके समान तुच्छ मानने लगा ॥ १०३ ॥ और फिर उसने अपनी इच्छा पूर्ण करनेकेलिये सिद्धोंको नमस्कार किया तथा रथको तेजीके साथ आगे बढानेकेलिये सारथीको आज्ञा दी ॥ १०४ ॥ जिनकी लगाम ढीली करदी गई है ऐसे मनके समान शीघ्र जानेवाले घोडोंसे जुता हुआ वह रथ लवणसमुद्रमें इसप्रकार शीघ्र जा रहा था मानो जहाज ही हो ॥ १०५ ॥ मनोरथसे पहिले रथ जाता है अथवा रथसे पहिले मनोरथ जाता है इसप्रकार जिसके वेगकी (तेजीकी] संभावना की जा रही है ऐसा वह रथ बडी तेजीसे समुद्रमें जा रहा था ॥ १०६ ॥ क्या यह समुद्रका जल जलस्तंभिनीविद्यासे थंभा दिया गया था अथवा स्थल ही होगया था क्योंकि ये चक्रवर्तीके घोडे जलमें भी स्थल (भूमि) समझकर ही रथको खींचे लिये जा रहे थे ॥ १०७ ॥ जिसप्रकार जलके बाहर जमीनपर रथके पहियोंका चीत्कार होता था उसीप्रकार पहियोंका चीत्कार जलमें भी हो रहा था तथा जिसप्रकार घोडे जलके बाहर जमीनपर दौडते थे उसीप्रकार वे जलमें भी दौड रहे थे, अहा चक्रवर्तीका पुण्य भी कैसा आश्चर्य करनेवाला होता है ॥ १०८ ॥ वे घोडे बडी बडी लहरोंसे भीगकर भी बिना किसी परिश्रमके रथको ले जा रहे थे, उन लहरोंकी छींटोंसे घोडोंको कुछ तकलीफ नहीं होती थी किंतु उलटी वे छींटें घोडोंका परिश्रम दूर कर रही थीं ॥ १०९ ॥ रथके पहियेके आ-

क्रसमुत्पीलाज्जलोत्पीलः खमुच्छलन् । न्यधात् ध्वजांशुके जाड्यं जलानामीदृशी गतिः ॥ ११० ॥ नांगरागस्तुरंगाणामार्दितः श्रमघर्मितैः । क्षालितः सुरवेगोत्थैः केवलं शीकरैरपां ॥ १११ ॥ क्षणं रथांगसंघट्टाज्जलमब्धेर्द्विधाभवत् । व्यभावि भाविनां वर्त्म चक्रिणामिव सूत्रितं ॥ ११२ ॥ रथोस्याभिमतां भूमिं प्रापत्सारथिचोदितः । मनोरथोऽपि संसिद्धिं पुण्यसारथिनोदितः ॥ ११३ ॥ गत्वा कतिपयान्यब्धौ योजनानि रथः प्रभोः । स्थितोऽतर्जलमाक्रम्य ग्रस्ताश्व इव वार्द्धिना ॥ ११४ ॥ द्विषड्योजनमागाह्य स्थिते मध्येऽर्णवं रथे । रथांगपाणिरारुष्टो जग्राह किल कार्मुकं ॥ ११५ ॥ स्फुरज्ज्यं

घातसे जो पानी ऊपर आकाशकी ओर उछलता था उससे ध्वजाका वस्त्र भीगकर जड (भारी) हो जाता था सो ठीक ही है क्योंकि जलकी ऐसी गति होती ही है, भावार्थ—काव्यमें ल और ड में कोई भेद नहीं माना जाता इसलिये जलकी जगह जड बांचकर ऐसा अर्थ करना चाहिये कि जड अर्थात् मूर्खोंका ऐसा ही स्वभाव होता है जो वे दूसरोंको भी मूर्ख बना देते हैं ॥ ११० ॥ शोभाके लिये घोडोंके शरीरपर लगाया हुआ रंग पसीनेसे गीला भी नहीं हुआ था किंतु वह रंग केवल घोडोंके तेज चलनेसे खुरोंसे उठे हुये पानीकी बूंदोंसे धुल गया था । भावार्थ—घोडोंको परिश्रम न होनेसे पसीना बिलकुल नहीं आया था ॥ १११ ॥ रथके पहियोंके संघट्टनसे क्षणभरकेलिये जो समुद्रका जल फटकर अलग अलग होगया था वह ऐसा जान पडता था मानो आगे होनेवाले सगर आदि चक्रवर्तियोंके लिये डोरी डालकर मार्ग ही प्रगट किया हो ॥ ११२ ॥ सारथिके द्वारा चलायाहुआ वह रथ चक्रवर्तीके इष्ट स्थानमें पहुंच गया और पुण्यरूपी सारथिके द्वारा प्रेरणा किया हुआ इसका मनोरथ भी उसीसमय पूरा हो गया था ॥११३॥ भरतका रथ समुद्रमें थोडेसे योजन चलकर पानीके बीचमें ही ठहर गया मानो समुद्रने खींचकर घोडोंकी लगाम ही पकड ली हो ॥११४॥ जब वह चक्रवर्तीका रथ समुद्रमें बारह योजन चलकर ठहरगया था तब उसने कुछ क्रोधित होकर धनुष हाथमें लिया ॥ ११५ ॥ जिसकी डोरी स्फुरायमान है और वज्रके समान जिसका कांड है ऐसा वह धनुष

वज्रकांडं तद्धनुरारोपितं यदा । तदा जीवितसंदेहदोलारूढमभूज्जगत् ॥ ११६ ॥ स्फुरन्मौर्वीरवस्तस्य मुहुः प्रध्वानयन् दिशः । प्रक्षोभमनयद्वार्धीं चलत्तिमिकुलाकुलं ॥ ११७ ॥ संहार्यः किममुष्याब्धिरुत विश्वमिदं जगत् । इत्याशंक्य क्षणं तस्थे तदा नभसि खेचरैः ॥ ११८ ॥ वक्रेऽपि गुणवत्यस्मिन्नृजुकर्मणि कार्मुके । अमोघं संदधे बाणं श्लाघ्यं स्थानकमास्थितः ॥ ११९ ॥ अहं हि भरतो नाम चक्री वृषभनंदनः । मत्साद्भवंतु मद्भुक्तिवासिनो व्यंतरामराः ॥ १२० ॥ इति व्यक्तलिपिन्यासो दूतमुख्य इव द्रुतं । स पत्री चक्रिणा मुक्तः प्राङ्मुखीमास्थितो गतिं ॥ १२१ ॥ जितनिर्घातनिर्घोषं

जिससमय चक्रवर्तीने अपने हाथमें लिया था उसीसमय यह जगत भी अपने जीवित रहनेके संदेहमें झूलने लगा था अर्थात् अपने जीवित रहनेका सबको संदेह होगया था ॥ ११६ ॥ समस्त दिशाओंको शब्दायमान करते हुये चक्रवर्तीके उस धनुषकी डोरीके शब्दने इधर उधर भागतेहुये मगर मच्छोंसे भरे हुये समुद्रको भी क्षोभित कर दिया था ॥ ११७ ॥ क्या यह चक्रवर्ती धनुष चढाकर इस समुद्रका संहार करेगा अथवा इस समस्त संसारका संहार करेगा इसप्रकार आशंका करते हुये विद्याधर उससमय क्षणभर आकाशमें ठहर गये थे ॥ ११८ ॥ यद्यपि वह धनुष टेडा था तथापि गुणवाला था यद्यपि टेडा गुणवाला नहीं होता तथापि वह टेडा होकर भी गुणवाला अर्थात् डोरीसहित था तथा लोकोपकारी सरल कार्य करनेवाला था अथवा सीधा वाण छोडनेवाला था ऐसे उस धनुषपर चक्रवर्तीने योग्य आसनसे अर्थात् धनुष चलानेके वैशाख नामके आसनसे वैठकर अमोघ नामका (जो कभी व्यर्थ न हो) बाण रक्खा ॥११९॥ भरतने जो बाण उस धनुषपर रक्खा था उसपर ये समाचार लिखे हुये थे कि " मैं श्रीवृषभदेवका पुत्र भरत नामका चक्रवर्ती हूं इसलिये मेरे क्षेत्रमें रहनेवाले व्यंतरदेव सब मेरे आधीन हों " इसप्रकार प्रधान दूतके समान कहनेवाले स्पष्ट अक्षर जिसपर लिखे हुये थे ऐसा वह चक्रवर्तीके द्वारा चलाया हुआ बाण पूर्व दिशाकी ओर चला और ॥ १२०-१२१ ॥ वज्रपातके शब्दको जीतनेवाला शब्द करताहुआ तथा मागधदेवकी सेनामें क्षोभ उत्पन्न करताहुआ वह

ध्वनिं कुर्वन्नभस्तलात् । न्यपतन्मागधावासे तत्सैन्यक्षोभमानयन् ॥ १२२ ॥ किमेष क्षुभितोंभोधिः कल्पांतपवनाहतः । निर्घातः किंस्विदुद्ध्वानो भूमिकंपो नु जृंभते ॥ १२३ ॥ इत्याकुलाकुलधियस्तन्निकायोपगाः सुराः । परिवव्रुरुपेत्यैनं सन्नद्धा मागधं प्रभुं ॥ १२४ ॥ देव ! दीप्रः शरः कोऽपि पतितोऽस्मत्सभांगणे । तेनायं प्रकृतः क्षोभो न किंचित्कारणांतरं ॥ १२५ ॥ येनायं प्रहितः पत्री नाकिना दानवेन वा । तस्य कर्तुं प्रतीकारमिमे सज्जा वयं प्रभो ॥ १२६ ॥ इत्यारक्षिभटैस्तूर्णमेत्य विज्ञापितः प्रभुः । अलमाध्वं भटालापैरित्युच्चैः प्रत्युवाच तान् ॥ १२७ ॥ यूयं त एव मंद्गृह्याः सोऽहमेवास्मि मागधः । श्रुतपूर्वमिदं किं वः सोढपूर्वो मयेत्यरिः ॥ १२८ ॥ बिभर्ति यः पुमान्प्राणान् परिभूतिमलीमसान् । न गुणैर्लिंगमात्रेण पुमानेष प्रती-

---

बाण आकाशसे मगधदेवके निवासस्थानमें जा पडा ॥ १२२ ॥ क्या यह कल्पकालके अंतसमयके वायुसे ताडित हुआ समुद्र ही क्षुब्ध हुआ है ? अथवा यह भयानक शब्द करता हुआ ·बज्र (बिजली) ही पडा है ? अथवा यह चारोंओर भूमिकंप ही हो रहा है ? ॥ १२३ ॥ इसप्रकारके भयसे जिनकी बुद्धि चंचल हो रही है ऐसे मागधके समीप रहनेवाले व्यंतरदेव शस्त्रोंसे तयार होकर आये और आकर अपने स्वामी मागधदेवके चारोंओर खडे हो गये ॥ १२४ ॥ तथा कहने लगे कि हे देव ! हमारे सभाभवनमें कोई दैदीप्यमान बाण आकरके पडा है उसीका यह क्षोभ है, इस क्षोभका कोई अन्य कारण नहीं है ॥ १२५ ॥ हे प्रभो ! जिस किसी देव अथवा दैत्यने (भवनवासी वा व्यंतर आदिने) यह बाण छोडा है उसका प्रतीकार करनेकेलिये हमलोग तैयार हैं ॥ १२६ ॥ इसप्रकार रक्षा करनेवाले वीर पुरुषोंने बहुत शीघ्र आकर मागधसे निवेदन किया, तब मागधने उत्तरमे बडे जोरसे कहा कि चुप रहो ऐसे वीर वाक्योंसे कुछ लाभ नहीं है ॥१२७॥ तुम लोग वे ही मेरे आधीन रहनेवाले देव हो और मैं भी वही मागध हूं क्या मुझे कभी अपना शत्रु सहन हुआ है ? यह बात तुमलोगोंने पहिले भी कभी सुनी है ? ॥१२८॥ जो पुरुष मानभंगसे मलिन हुये अपने प्राणोंको धारण करता है वह गुणोंसे पुरुष नहीं कहलता किंतु केवल चिन्हसे ही पुरुष कहलाता है ॥ १२९ ॥ जो

यंते ॥ १२९ ॥ स चित्रपुरुषो वास्तु चंचापुरुष एव वा । यो विनापि गुणैः पौंस्नैर्नाम्नैव पुरुषायते ॥ १३० ॥ स पुमान्यः पुनीते स्वं कुलं जन्म च पौरुषैः । भटब्रुवो जनो यस्तु तस्यास्त्वभवान्निर्भुवि ॥ १३१ ॥ विजिगीषुतया देवा वयं नेच्छाविहारतः । ततोऽरिविजयादेव संपदस्तु सदापि नः ॥ १३२ ॥ वस्तुवाहनराज्यांगैराराधयति यः परं । परभोगीणमैश्वर्यं तस्य मन्ये विडंबनं ॥ १३३ ॥ शरशाली प्रभुः कोऽपि मत्तोऽयं धनमिच्छति । धनायतोस्य दास्यामि निधनं प्रधनैः समं ॥ १३४ ॥ विचूर्ण्यैनं शरं तावत्कोपाग्नेः प्रथमेंधनं । करवाणीदमेवास्तु तनुशल्कैरुपेंधनं ॥ १३५ ॥ साक्षेपमिति संरंभादुदीर्य गिरमूर्जितां । व्यरंसीद्दशनज्योत्स्नां संहरन्मागधामरः ॥ १३६ ॥ ततस्तमूचुरभ्यर्णाः सुरा दृष्टपरंपराः । प्रभुं शमयितुं क्रोधाद्विया-

---

पुरुष पुरुषके गुणोंके बिना ही केवल नामसे ही पुरुष कहलाते हैं वे यातो चित्रमें लिखे हुये पुरुष हैं अथवा किसी लकडी वगैरहके बने हुये पुरुष हैं ॥ १३० ॥ जो अपने पराक्रमसे अपने कुल और जन्मको पवित्र करता है वही पुरुष है तथा जो केवल अपने मुखसे ही वीर बनना चाहता है वास्तवमें वह वीर नहीं है उसका संसारमें जन्म न लेना ही अच्छा है ॥ १३१ ॥ हम लोग अपनी इच्छानुसार बिहार करनेसे देव नहीं हे किंतु शत्रुओंको जीतनेसे ही देव कहलाते हैं, इसलिये हम लोगोंकी देवरूप संपत्ति सदा शत्रुओंके जीतनेसे ही रहो ॥ १३२ ॥ जो पुरुष किसी दूसरेको रत्न आदि वस्तु हाथी घोडे आदि वाहन और चमर छत्र आदि राज्यके चिन्ह भेटकर आराधना (सेवा) करता है उसका ऐश्वर्य केवल दूसरोंकेलिये है और मैं उसे केवल विडंवना समझता हूं ॥ १३३ ॥ यह वाण चलानेवाला कोई वीर पुरुष मुझसे धन चाहता है सो धनकी इच्छा करनेवाले इस वीरको आज मैं युद्धके साथ साथ निधन अर्थात् मरण दूंगा, भावार्थ आज उसे मारूंगा ॥ १३४ ॥ प्रथम ही मैं इस बाणके टुकडेकर अपनी क्रोधरूप अग्निका पहिला ईंधन बनाऊंगा, यही बाण अपने छोटे छोटे टुकडोंसे मेरी क्रोधरूपी अग्निको अधिक बढानेवाला होगा ॥ १३५ ॥ इसप्रकार वह मगध नामका व्यंतरदेव क्रोधसे तिरस्कार पूर्वक कठोर बचन कहकर दांतोकी कांतिको संकुचित करता हुआ चुप हो-

वृद्धैः प्रभोः स्थितिः ॥ १३७ ॥ यथावसरमर्थ्यं च मितं च बहुविस्तरं । अनाकुलं च गंभीरं नाधियामीदृशं वचः ॥ १३८ ॥ सत्यं परिभवः सोढुमशक्यो मानशालिनाम् । बलवद्भिर्विरोधस्तु स्वपराभवकारणम् ॥ १३९ ॥ सत्यमेव यशो रक्ष्यं प्राणैःपि धनैरपि । तत्तु प्रभुमनाश्रित्य कथं लभ्येत धीधनैः ॥ १४० ॥ अलब्धलाभो लब्धार्थपरिरक्षणमित्यपि । द्वयमेतत्सुखाल्लभ्यं जिगीषोर्नाश्रयं विना ॥ १४१ ॥ बलिनामपि संत्येव बलीयांसो मनस्विनः । बलवानहमस्मीति नोत्सेक्तव्यमतः प्रभो ॥ १४२ ॥ न किंचिदप्यनालोच्य विधेयं सिद्धिकाम्यता । ततः शरः कुतस्त्योऽयं किमीयो वेति मृग्यतां

गया ॥ १३६ ॥ तब कुलपरंपराको जाननेवाले मागधके समीपवर्ती देव उसका क्रोध शांत करनेकेलिये उससे निवेदन करने लगे, सो ठीक ही है क्योंकि जो विद्याबुद्धिसे बडे हैं उन्हींसे राजा लोगोंकी मर्यादा स्थिर रहती है ॥ १३७ ॥ वे लोग समयके अनुसार, बहुत थोडे, जिनमें अर्थका विस्तार बहुत है, जो आकुलता रहित हैं और गंभीर हैं ऐसे बचन कहने लगे, सो ठीक ही है क्योंकि मूर्खोंसे ऐसे बचन कभी नहीं निकल सकते हैं ॥ १३८ ॥ वे देव कहने लगे कि हे प्रभो ! यह बात ठीक है कि अभिमानी पुरुषोंको दूसरेका किया हुआ तिरस्कार सहन नहीं हो सकता है, परंतु बलवानके साथ विरोध करना भी तो अपने अपमानका कारण है ? ॥ १३९ ॥ यह बात ठीक है कि धन देकर तथा प्राण देकर भी अपने यशकी रक्षा करना चाहिये, परंतु वह यश किसी बलवान स्वामीके आश्रय किये बिना बुद्धिमान लोगोंको किसप्रकार मिल सकता है ? ॥ १४० ॥ जो वस्तु प्राप्त नहीं हुई है उसे प्राप्त करना तथा प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना ये दोनों ही कार्य किसी बडेके आश्रय बिना जीतनेकी इच्छा करनेवालेको सुखसे सिद्ध नहीं हो सकते हैं ॥ १४१ हे प्रभो ! संसारमें जो बलवान है उनकी अपेक्षा भी अन्य अधिक बलवान और बुद्धिमान् हैं, इसालिये संसारमें मैं ही एक बलवान् हूं ऐसा अभिमान कभी नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥ अपने कार्यको सिद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषको बिना विचारे कुछ भी कार्य नहीं करना चाहिये इसालिये यह बाण किसका है ? कहांसे

॥ १४३ ॥ श्रुतं च बहुशोस्माभिरातीयं पुष्कलं वचः । जिनाश्चक्रधरैः सार्धं वत्स्यंतीहेति भारते ॥ १४४ ॥ नूनं चक्रिण एवायं जयाशंसी शरागमः । धूतांधतमसोद्योतः संभाव्योऽन्यत्र किं रवेः ॥ १४५ ॥ अथवा खलु संशय्य चक्रपाणेरयं शरः । व्यनक्ति व्यक्तमेवैनं तन्नामाक्षरमालिका ॥ १४६ ॥ तदेनं शरमभ्यर्च्य गंधमाल्याक्षतादिभिः । पूज्याद्यैव विभोराज्ञा गत्वास्माभिः शरार्पणात् ॥ १४७ ॥ मागा मागध वैचित्यं कार्यमेतद्विनिश्चिनु । न युक्तं तत्प्रतीपत्वं तव तद्देशवर्तिनः ॥ १४८ ॥ तदलं देव संरम्भ तत्प्रातीप्यं न शांतये । महतः सरिदोघस्य कः प्रतीपं तरत्सुखी ॥ १४९ ॥ बलवाननुवर्त्यश्चेदनुनेयोऽद्य चक्रभृत् । महत्सु वैतसीं वृत्तिमामनंत्यविपत्करीं ॥ १५० ॥ इहामुत्र च जंतूनामुन्नत्यै पूज्यपूजनं । पापं तत्रानुबध्नाति पूज्यपूजाव्यति-

---

आया है ? पहिले यह देख लेना चाहिये ॥ १४३ ॥ इस भारतवर्षमें तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि रहते हैं यह बात अनेकबार भगवान अरहंतदेवसे सुनी है ॥ १४४ ॥ जगतको विजय करनेकी सूचना करनेवाला यह बाण अवश्य चक्रवर्तीका ही होगा, क्या समस्त अंधकारको नाश करनेवाला प्रकाश सूर्यके सिवाय किसी अन्यका हो सकता है ॥ १४५ ॥ अथवा इसमें संशय ही क्यों ? यह बाण चक्रवर्तीका ही है इस बाणपर खुदी हुई अक्षरोंकी पंक्ति उस चक्रवर्तीके नामको साफ प्रगट कर रही है ॥ १४६ ॥ इसलिये गंध माला अक्षत आदिसे इस बाणकी पूजाकर तथा चक्रवर्तीका यह बाण उन्हें अर्पण कर हमलोगोंको आज ही स्वामीकी आज्ञा मान्य करनी चाहिये ॥ १४७ ॥ हे मागध ! आप चित्तमें किसीतरहका विकार अर्थात् अभिमान न करें, आपको मेरा कहा हुआ कार्य अवश्य करना चाहिये, उनके देशमें रहनेवाले आपको उनके साथ विरोध करना ठीक नहीं है ॥ १४८ ॥ इसलिये हे देव अपना क्रोध शांत कीजिये, चक्रवर्तीके साथ विरोध करनेसे कुछ शांति नहीं होगी, भला नदीके बडे भारी पूरके प्रतिकूल [सामने) तैरनेवाला कौन सुखी हो सकता है ॥ १४९ ॥ यदि अपनेसे अधिक बलवानके अनुकूल ही रहना चाहिये यही नीति है तब तो चक्रवर्तीको आज ही प्रसन्न करना चाहिये, क्योंकि बडोंके साथ बेतके समान नम्र वृत्ति धारण करना ही

१५३ ॥ ततः प्रसेदुषी तस्य न चिरादेव शेमुषी । पूर्वापरं व्यलोकिष्ट कोपापायात्प्रशेमुषी ॥ १५४ ॥ सोऽयं चक्रभृतामाद्यो भरतोऽलंघ्यशासनः । प्रतीक्ष्यः सर्वथास्माभिरनुनेयश्च सादरं ॥ १५५ ॥ चक्रित्वं चरमांगत्वं पुत्रत्वं च जगद्गुरोः । इत्यस्य पूज्यमेकैकं किं पुनस्तत्समुच्चितं ॥ १५६ ॥ इति निश्चित्य संभ्रान्तैरनुयातः सुरोत्तमैः । सहसा चक्रिणं द्रष्टुमुच्चचाल स मागधः ॥ १५७ ॥ खमुन्मणिति-

---

दुःखोंका नाश करनेवाली है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ १५० ॥ पूज्य पुरुषोंकी पूजा करनेसे ही जीवोंको इस लोक और परलोककी उन्नति होती है तथा पूज्य पुरुषोंका अनादर करनेसे पापका बंध होता है ॥ १५१ ॥ इसप्रकार उन देवोंके बचन सुनकर उसीसमय मागधको कुछ बोध हुआ और उसे मालूम हुआ कि जो इस बाणका हाल अबतक मुझे मालूम नहीं था वह मेरा अज्ञान था ॥ १५२ ॥ जिसप्रकार भरतके नामसे मागधका चित्त कुछ व्यग्र हुआ था उसीप्रकार उसका चित्त कुछ भयसहित भी हुआ था तथा कुछ अनादर करनेसे शंका भी हुई थी और उसे समझकर ज्ञानके समान ही कुछ २ उद्वेग भी हुआ था ॥ १५३ ॥ तदनंतर थोडी ही देरमें निर्मल हुई और क्रोध शांत होनेसे शांत हुई उसकी बुद्धिने आगे पीछेका सब देख लिया ॥ १५४ ॥ तथा उसी निर्मल बुद्धिसे वह सोचने लगा कि यह भरत चक्रवर्तियोंमें पहिला चक्रवर्ती है, इसकी आज्ञा कोई उलंघन नहीं कर सकता, हम लोगोंको सबतरहसे इसकी पूजा करना चाहिये तथा आदर पूर्वक इसकी आज्ञा माननी चाहिये ॥ १५५ ॥ यह भरत चक्रवर्ती है, चरमशरीरी है और जगतगुरु भगवान् वृषभदेवका पुत्र है, इनमेंसे एक एक गुण ही पूज्य होता है फिर जहां तीनोंका समुदाय हो वहां तो पूज्य माननेके लिये कहना ही क्या है अर्थात् वह तो अवश्य पूज्य है ॥ १५६ ॥ इसप्रकार निश्चयकर संभ्रांत होकर जल्दी करनेवाले अनेक देवोंको साथ लेकर वह मागध देव अकस्मात् चक्रवर्तीके

रीटांशुरचितेंद्रशरासनं । क्षणेनोल्लंघ्य संप्राप्तं देशं यत्र चक्रभृत् ॥ १५८ ॥ पुरोधाय शरं रत्नपटले सुनिवेशितं । मागधः प्रभुमानंसीदार्थ स्वीकुरु मामिति ॥ १५९ ॥ चक्रोत्पत्तिक्षणे भद्र यन्नायामोऽनभिज्ञकाः । महांतमपराधं नस्तं क्षमस्वार्थितो मुहुः ॥ १६० ॥ युष्मत्पादरजःस्पर्शाद्वार्द्धिरेव न केवलं । पूता वयमपि श्रीमँस्त्वत्पादांबुजसेवया ॥१६१॥ रत्नान्यमूल्यनर्घाणि स्वर्गेऽप्यसुलभानि च । अधो निधीनामाधातुं सोपयोगानि संतु ते ॥१६२॥ हारोऽयमतिरोचिष्णुरवाराहैरशुक्तिजैः । अवेणुद्विपसंभूतैर्दृब्धो मुक्ताफलैर्घुजैः ॥ १६३ ॥ तव वक्षःस्थलाश्लेषादुपेयादुपहारतां । स्फुरती कुंडले चेमे क-

देखनेलिये चला ॥ १५७ ॥ जिसमें देदीप्यमान मणियोंसे जडे हुये मुकुटकी किरणोंसे इंद्रधनुष बन रहा है ऐसे आकाशको क्षणभरमें ही उलंघनकर वह मागधदेव जहां चक्रवर्ती था उस स्थानपर जा पहुंचा ॥ १५८ ॥ रत्नके पिटारेमें रक्खे हुये वाणको भरतके सामने रखकर मागधने भरतको नमस्कार किया और कहा कि हे प्रभो मैं उपस्थित हूं अब मुझे अपना ही समझिये ॥ १५९ ॥ हे स्वामिन् ! हम अज्ञानीलोग चक्र उत्पन्न होनेके समय ही उपस्थित नहीं हुये यह हमारा बडा अपराध हुआ है, हे प्रभो हम बार बार प्रार्थना करते हैं कि आप इसे क्षमा कर दीजिये ॥ १६० ॥ हे ऐश्वर्यशालिन् ! आपके चरणोंकी धूलिका स्पर्श करनेसे केवल यह समुद्र ही पवित्र नहीं होगया है किंतु आपके चरणकमलकी सेवा करनेसे हम लोग भी पवित्र हो गये हैं ॥ १६१ ॥ हे प्रभो ! आपकी भेटमें किये हुये ये रत्न यद्यपि बहुमूल्य हैं स्वर्गमें भी दुर्लभ हैं तथापि वे निधियोंके नीचे रखनेके काममें आओ ॥ १६२ ॥ यह हार बहुत ही दैदीप्यमान है, यह ऐसे दिव्य मोतियोंसे गुंथा हुआ है जो न तो सूअरमेंसे निकले हैं, न सीपमेंसे निकले हैं, न बांससे उत्पन्न हुये हैं और न हाथीके मस्तकमेंसे निकले हैं, ऐसा यह हार आपके वक्षःस्थलपर पडाहुआ पूज्यताको प्राप्त हो, तथा ये दोनों ही देदीप्यमान कुंडल आपके कानोंके संबंधसे पवित्रता धारण करें ॥ १६३-१६४ ॥ इसप्रकार उस मागधने मानो तीनों लोकोंकी सार वस्तुओंका समुदाय ही एक जगह इकट्ठा हुआ हो ऐसा वह हार और

र्णासंगात्पवित्रतां ॥ १६४ ॥ इत्यस्मै कुंडले दिव्ये हारं च वितितार सः । त्रैलोक्यसारसंदोहमिवैकध्यमुपागतं ॥ १६५ ॥ रत्नैश्चाभ्यर्च्य रत्नेशं मागधः प्रीतमानसः । प्रभोरवाप्तसत्कारस्तन्मतात्स्वमगात्पदं ॥ १६६ ॥ अथ तत्रस्थ एवाब्धिं सांतर्द्वीपं विलोकयन् प्रभुर्विसिस्मये किंचित् बह्वाश्चर्यो हि वारिधिः ॥ १६७ ॥ ततः कुतूहलाद्वार्द्धिं पश्यंतं धूर्गतः पतिं । तमित्युवाच दंतांशुसुमनोमंजरीं किरन् ॥ १६८ ॥ अयं जलधिरुच्छलत्तरलवीचिबाहूद्धत स्फुरन्मणिगणार्चनो ध्वनदसंख्यशंखाकुलः । तवार्घमिव संविधित्सुरनुवेलमुच्चैर्नदन् मरुध्दुतजलानको दिशतु शश्वदानंदथुं ॥ १६९ ॥ अमुष्य जलमुत्पत-

---

दिव्य दोनों कुंडल महाराज भरतकेलिये अर्पण किये ॥ १६५ ॥ तदनंतर उस मागधने प्रसन्न चित्त होकर अनेक प्रकारके रत्नोंसे अनेक रत्नोंके स्वामी चक्रवर्तीकी पूजा की तथा अपने स्वामी भरतसे आदरसत्कार पाकर वह उसकी आज्ञासे अपने स्थानको चला गया ॥ १६६ ॥

अथानंतर—वहांके समुद्र और अंतर्द्वीप देखकर भरतको कुछ आश्चर्य हुआ सो ठीक ही है क्योंकि वह लवण समुद्र अनेक आश्चर्योंसे भरा हुआ था ॥ १६७ ॥ जिससमय भरत उस समुद्रको बडे कौतुकसे देख रहा था उसीसमय सारथी अपने दांतोंकी किरणेंरूपी पुष्पमंजरीको वखेरता हुआ अपने स्वामी भरतसे कहने लगा ॥ १६८ ॥ कि हे प्रभो ! उछलती हुई चंचल लहरेंरूपी भुजाओंके द्वारा धारण किये हुये देदीप्यमान मणियोंका समूह ही जिसकी पूजाकी सामग्री है, शब्द करते हुये असंख्यात शंखोंसे जो व्याकुल हो रहा है, प्रत्येक ज्वारकी बडी लहरके साथ जो शब्द करता है, वायुके द्वारा हिलाया हुआ जल ही जिसके नगाडे हैं और इस सब सामग्रीसे जो ऐसा जान पडता है मानो आपके लिये अर्घ ही देना चाहता हो ऐसा यह लवण समुद्र सदा आनंद देवो ॥१६९॥ ऊपरकी ओर उछलता हुआ और इसलिये ही जो चंद्रमाकी किरणोंके समान कोमल कांतिको धारण करनेवाली जलकी बूंदोंसे व्याप्त हुआ इस समुद्रका यह जल ऐसा जान पडता है मानो दिशारूप स्त्रियोंसे परिचय करनेकेलिये उनके साथ चारोंओरसे हँसी ही कर रहा हो, अथवा अपने यशको बांटकर प्रत्येक दिशामें

द्रुमनमेतदालक्ष्यते शशांककरकोमलच्छविभिराततं शीकरैः । प्रहासमिव दिग्वधूपरिचियाय विष्वग्दधत् तितांसदिव चात्मनः प्रतिदिशं यशो भागशः ॥ १७० ॥ क्वचित्स्फुटितशुक्तिमौक्तिकततं सतारं नभो जयत्यलिमलीमसं मकरमीनराशिश्रितं । क्वचित्सलिलमस्य भोगिकुलसंकुलं सून्नतं नरेंद्रकुलमुत्तमस्थिति जिगीषतीवोद्धटं ॥ १७१ ॥ इतो विशति गांगमंबु शरदंबुदाच्छच्छवि स्रुतं हिमवतोऽमुतश्च सुरसं पयः सैंधवं । तथापि न जलागमेन धृति-

फैलाना ही चाहता हो ॥१७०॥ कहीं कहीं सीपोंके खुल जानेसे उनके मोतियोंसे व्याप्त हुआ यह समुद्र ऐसा जान पडता है मानो ताराओंसहित आकाश ही हो, क्योंकि जिसप्रकार यह आकाश मकर मीन आदि राशियोंसे भराहुआ है तथा भ्रमरके समान श्याम है उसीप्रकार यह समुद्र भी मकर मीन अर्थात् मगरमच्छ आदिके समूहोंसे भरा हुआ है और भ्रमरोंके समान श्याम है, तथा कहीं कहींपर इसका जल राजाओंके कुलको भी जीत रहा है क्योंकि जिसप्रकार राजाओंका कुल अनेक भोगी अर्थात् राजाओंके समूहसे व्याप्त रहता है उसीप्रकार यह समुद्र भी भोगी अर्थात् सर्पोंके समूहसे व्याप्त है, राजाओंका कुल जिसप्रकार उन्नत होता है उत्तम स्थितिको धारण करता है उसीप्रकार यह समुद्र भी उन्नत है तथा उत्तम स्थितिको धारण करता है और राजाओंका कुल जिसप्रकार उद्भट अर्थात् प्रबल है अथवा योद्धाओंको उत्पन्न करनेवाला है उसीप्रकार यह समुद्र भी उद्भट अर्थात् प्रबल है ॥ १७१ ॥ हे प्रभो ! यह देखिये इधर तो हिमवान पर्वतसे निकलाहुआ और शरदऋतुके बादलोंके समान निर्मल कांतिको धारण करनेवाला यह गंगाका पानी इस समुद्रमें मिल रहा है और इधर यह बहुत मीठा सिंधुनदीका पानी इसमें मिल रहा है, यद्यपि दोनोंओरसे अपार जलका प्रवाह आ रहा है तथापि जलके आनेसे इस समुद्रका संतोष पूरा नहीं होता है, सो ठीक ही है क्योंकि जो जलाशय अर्थात् जलसे भरा समुद्र है अथवा जडाशय अर्थात् जडबुद्धि है उसे जलके समुदायसे अथवा जड अर्थात् मूर्खोंके समुदायसे कभी संतोष नहीं होता है, भावार्थ–जैसे जलाशयको जलसे सं-

रस्य पोपूर्यते ध्रुवं न जलसंग्रहैरिह जलाशयो ध्रायति ॥ १७२ ॥ व्याप्योदरं चलकुलाचलसन्निकाशाः पुत्रा इवास्य तिमयः पयसा प्रपुष्टाः । कल्लोलकाश्च परिमारहिताः समंतादन्योन्यघट्टनपराः सममाविशंति ॥ १७३ ॥ आपोधनं धृतरसाः सरितोऽस्य दारा पुत्रायिता जलचराः सिकताश्च रत्नं । इत्थं विभूतिलवदुर्ललितोऽपि चित्रं धत्ते महोदधिरिति प्रथिमानमेषः ॥ १७४ ॥ निःश्वासधूममलिनाः फणमंडलांतः सुव्यक्तरत्नरुचयः परितो भ्रमंतः । व्यायच्छमानतनयो रुषितैरकस्मादत्रोल्मुकश्रियममी दधते फणींद्राः ॥ १७५ ॥ पादैरयं जलनिधिः शिशिरैरपींदोरास्पृश्यमानसलिलः सहसा खमुद्यन् ।

तोष नहीं होता है उसीप्रकार मूर्खोंको भी मूर्खोंके समुदायसे भी संतोष नहीं होता है ॥ १७२ ॥ हे देव ! इस समुद्रके उदर अर्थात् मध्यभागमें अथवा उदरमें व्याप्त होकर पय अर्थात् जल अथवा दूधसे अतिशय पुष्ट हुये तथा चलतेहुये कुलपर्वतोंके समान बडे बडे ऐसे इसके पुत्रोंके समान मगर मच्छ और प्रमाणरहित अर्थात् अनंत कल्लोलें ये सब चारोंओरसे एक दूसरेको धक्का देतेहुये एकसाथ इस समुद्रमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ १७३ ॥ हे नाथ ! इस समुद्रके जल ही धन है, रस अर्थात् जल अथवा शृंगारको धारण करनेवाली नदियां ही स्त्रियां हैं, मगरमच्छ आदि जलचर जीव ही पुत्रके समान हैं और वालू ही रत्न हैं, इसप्रकार यह समुद्र यद्यपि तुच्छ विभूतिको धारण करता है तथापि संसारमें ' महोदधि ' इस नामसे प्रसिद्ध है, यह एक बडे आश्चर्यकी बात है ॥ १७४ ॥ उच्छ्वासमें निकलते हुये धूमसे जो मलिन हो रहे हैं, जिनके फणाओंके मध्यभागमें रत्नोंकी कांति साफ प्रगट हो रही है, जो चारोंओर गोलाकार घूम रहे हैं, जिनके शरीर बहुत बडे हैं और जो बिना कारणके ही क्रोधित हो रहे हैं ऐसे ये सर्प समुद्रमें आलातचक्रकी [चारोंओर फिरती हुई अग्निकी] शोभाको धारण करते हैं ॥ १७५ ॥ इस समुद्रकी ज्वारकी लहरें जो ऊंचेको उठ रही हैं तथा यह गरज रहा है उससे ऐसा ज़ान पडता है मानों चंद्रमाके शीतल पैरोंसे (किरणोंसे) इसका जल स्पर्श किया जा रहा है इसलिये ही क्रोधसे गंभीर शब्द करता हुआ ज्वारकी लहरोंके बहानेसे चंद्रमाको छूनेकेलिये अकस्मा-

रोषादिवोच्छ्वलति मुक्तगभीररावो वेलाच्छलेन न महान् सहतेऽभिभूतिं ॥ १७६ ॥ नाकौकसां प्रतरसां सह कामिनीभिराक्रीडनानि समनोहरकाननानि । द्वीपस्थलानि रुचिराणि सहस्रशोऽस्मिन् संत्यंतरीपमिव दुर्गनिवेशनानि ॥ १७७ ॥ अयमनिभृतवेलो रुद्धरोदोंतरालैरनिलबलविलोलैर्भूरिकल्लोलजालैः । तटवनमभिहंति व्यक्तमस्मै प्ररुष्यन् । मम किल बहिरस्मान्नास्ति वृत्तिर्मुधेति ॥ १७८ ॥ अविगणितमहत्वा यूयमस्मान् स्वपादैरभिहथ किमलंघ्यं वो वृथा तौंग्यमेतत् । वयमिव किमलंध्याः किं गभीरा इतीत्थं परिवदति विरावैर्नूनमब्धिः कुलाद्रीन् ॥ १७९ ॥ अत्रायं भुजगशिशुर्बिलाभिशंकी व्यात्तास्यं ति-

---

त् आकाशकी ओर उछलता हुआ दौड रहा है, सो ठीक ही है क्योंकि बडे आदमी किसीका भी तिरस्कार नहीं सह सकते हैं ॥ १७६ ॥ जिसप्रकार जलके मध्यभागमें बडी कठिनतासे प्रवेश करने योग्य स्थान होते हैं उसी प्रकार इस समुद्रमें देवियोंके साथ बडे वेगसे आते हुये देवोंके अनेक क्रीडा करनेके स्थान हैं, वृक्ष आदिकोंसे मनोहर अनेक बन हैं और अनेक ही सुंदर द्वीप हैं ॥ १७७ ॥ ज्वारभाटाओंसे चंचल हुआ यह समुद्र " इस बनके बाहर मेरा जाना नहीं हो सकता है अर्थात् यह बन मुझे रोकनेवाला है " इसलियेही इसपर प्रगट क्रोध करता हुआ अपने किनारेके बनको वायुके वेगसे अतिशय चंचल और पृथ्वी आकाशके मध्यभागको रोकनेवाली अनेक लहरोंके समूहसे ताडना कर रहा है, परंतु इसका यह ताडन करना सब व्यर्थ है ॥ १७८ ॥ हे देव ! गरजता हुआ यह समुद्र ऐसा जान पडता है मानों अपने ऊंचे शब्दोंसे कुलपर्वतोंको यही कह रहा हो कि हे कुलपर्वतो ! तुम्हारी उंचाई बहुत है इसलिये ही क्या तुम अपने पैरोंसे अर्थात् अंतके भागसे हम लोगोंको ताडना करते हो ? याद रक्खो तुमको उलंघन करना कुछ कठिन नहीं है तुम्हारी यह उंचाई व्यर्थ है, क्या तुम हमारे समान अलंघ्य (लंघन करने अयोग्य) हो ? अथवा गंभीर हो ? ॥ १७९ ॥ हे प्रभो ! देखिये यह सर्पका बच्चा अपना बिल समझकर खुश होकर मुखफाडे हुये मच्छके मुखमें दौडा जा रहा है तथा वह मच्छ भी अपने गलेमें

मिमभिधावति प्रहृष्टः । तं सोऽपि स्वगलबिलावलग्नं स्वंत्रस्थाविहितदयो निजेगिलीति ॥ १८० ॥ एष महामणिरश्मिविकीर्णं तोयममुष्य धृतामिषशंकः । मीनगणोऽनुसरन् सहसास्माद्वह्निधिया पुनरप्यपयाति ॥ १८१ ॥ लोलतरंगविलोलितदृष्टिर्वृद्धतरोऽसुमतिः सुमतं नः । ही रथमेष तिमिंगिलशंकी पश्यति पश्य तिमिस्तिमिताक्षः ॥ १८२ ॥ इहामी भुजंगाः सरत्नैः फणाग्रैः समुत्क्षिप्य भोगान् खमुद्वीक्षमाणाः । विभाव्यंत एते तरंगोरुहस्तैर्धृता दीपिकौघा महावार्द्धिनेत्र ॥ १८३ ॥ भुजंगप्रयातैरिदं वारिराशेर्जलं लक्ष्यतेऽतःस्फुरद्रत्नकोटि । महानीलवेश्मेव दीपैरनेकैर्ज्वलद्भिश्चलद्भिस्ततध्वांतवृद्धिः ॥ १८४॥ वाताघातात्पुष्करवाद्यध्वनिमुच्चैस्तन्वानेऽब्धौ मंद्रगंभीरं कृतलास्याः । द्वीपोपांते संततमस्मिन् सुरकन्याः रंरम्यंते मत्तमयूरैः सममेतैः ॥ १८५ ॥ नीलं

चिपटे हुये उस सर्पको अपने अंतरंगमें भरी हुई निर्दयताके कारण निगल रहा है ॥ १८० ॥ इधर देखिये यह मछलियोंका समूह पद्मराग मणियोंकी किरणोंसे व्याप्त हुये इस समुद्रके जलको कुछ कुछ लाल होनेसे मांस समझकर उसे लेनेके लिये दौडता है और फिर अकस्मात् उसे लाल अग्नि समझकर वहांसे लौट आता है ॥ १८१ ॥ चंचल लहरोंसे जिसकी दृष्टि चंचल हो रही है और जो बहुत बूढा है ऐसा यह मच्छ इस रथको मछलियोंको खानेवाला बडा मच्छ समझकर बडी निश्चल दृष्टिसे देख रहा है, हे देव ! इसे भी देखिये, हम लोगोंको यह बहुत ही बुद्धिहीन जान पडता है ॥ १८२ ॥ हे स्वामिन्, इधर रत्नसहित फणाओंके अग्रभागसे अपने मस्तकको ऊंचा उठाकर आकाशकी ओर देखते हुये ये सर्प ऐसे जान पडते हैं मानों इस महासागरने लहरेंरूपी अपने बडे बडे हाथोंसे दीपकोंका समूह ही धारण किया हो ॥ १८३ ॥ जिसके भीतर करोडों रत्न स्फुरायमान हो रहे हैं ऐसा इस महासागरका जल सर्पोंके इधर उधर चलनेसे ऐसा जान पडता है मानो अंधकारके समूहको नाश करनेवाले जलते हुये और चलते हुये अनेक दीपकों सहित महानील मणियोंका बना हुआ घर ही हो ॥ १८४ ॥ जिससमय यह समुद्र वायुके आघातसे नगाडेके समान गंभीर और ऊंचे शब्द करता है उससमय इस द्वीपके किनारेपर इन उन्मत्त मयूरोंके साथ साथ ये

श्यामाः कृतरवमुचैर्धृतमोदा विद्युद्वंतः स्फुरितभुजंगोत्फणरत्नं । आश्लिष्यंतो जलदसमूहा जलमस्य व्यक्तं नोपव्रजितुमलं ते घनकाले ॥ १८६ ॥ पश्यांभोधेरनुतटमेनां वनराजीं राजीवास्य ! प्रशमिततापां विततापां । वेलोत्सर्पज्जलकणिकाभिः परिधौतां नीलां शाटीमिव सुमनोभिः प्रविकीर्णां ॥ १८७ ॥ परितः सरसीः सरसैः कलमैः सहितः सुचिरं विचरंति मृगाः । उपतीरममुष्य निसर्गसुखां वसतिं निरुपद्रुतिमेत्य वने ॥ १८८ ॥ अनुतीरवनं मृगयूथमिदं कनकस्थलमुज्ज्वलितं रुचिभिः । परिवीक्ष्य दवानलशंकि भृशं परिधावति धावति तीरभुवः ॥ १८९ ॥ लावण्याद्यमभिसारयन् सरित्स्त्री रास्नस्त-

---

नृत्य करती हुई देवांगनायें सदा क्रीडा किया करती हैं ॥१८५॥ वर्षाऋतुमें बादलोंके समूह और इस समुद्रका जल दोनों एकसे जान पडते हैं क्योंकि वर्षाऋतुमें बादल भी काले होते हैं और इस समुद्रका जल भी काला रहता है, बादल आनंदित होकर गरजते हैं और समुद्रका जल भी ऊंचे शब्दोंसे गरजता है, बादलोंमें बिजली चमकती है और इस समुद्रके जलमें दैदीप्यमान सर्पोंके फणाओंमें लगे हुये रत्न चमकते हैं, इसप्रकारके बादल अपने समान इस समुद्रके जलको आलिंगन करते हुये वर्षाऋतुमें कहीं भी नहीं जा सकते हैं, यह स्पष्ट है ॥ १८६ ॥ कमलके समान सुंदर मुखको धारण करनेवाले हे देव ! लहरोंके उछलतेहुये जलकी बूंदोंसे धोई हुई नीले रंगकी साडीके समान सूर्यके संतापको रोकनेवाली और जिसमें पानी भराहुआ है ऐसी इस समुद्रके किनारे किनारेकी बनकी पंक्तियां फैलेहुये फूलोंसे कैसी अच्छी जान पडती हैं इन्हें भी देखिये ॥ १८७ ॥ हे प्रभो ! इस समुद्रके किनारेके बनमें सबतरहके उपद्रवोंसे रहित और इसलिये ही स्वभावसे ही सुख देनेवाले स्थानपर आकर हरे कलमी धानोंको खातेहुये ये हिरण बहुत देरतक इन तालावोंके चारोंओर फिरा करते हैं ॥ १८८ ॥ हे देव देखिये इस समुद्रके किनारेके बनमें अपनी कांतिसे प्रकाशमान ऐसे सुवर्णमयी स्थानोंको देखकर यह हिरणोंका समूह उसे दावानल अग्नि समझकर बहुत शीघ्र किनारेकी पृथ्वीकी ओर लौटताहुआ दौड रहा है ॥ १८९ ॥ हे राजन् ! यह समुद्र सूक्ष्म (महीन) जलरूपी वस्त्रोंको

प्रतनुजलांशुकास्तरंगैः । आश्लिष्यन् मुहुरपि नोपयाति तृप्तिं संभोगैरतिरसिको न तृप्यतीह ॥ १९० ॥ रोधोभुवोऽस्य तनुशीकरवारिसिक्त संमार्जिता विरलमुच्छलितैस्तरंगैः । भांतीह संततलताविगलत्प्रसूननित्योपहारसुभगा द्युसदां निषेव्याः ॥ १९१ ॥ स्वर्गोद्यानश्रियमिव हसत्युत्प्रसूने वनेऽस्मिन् मंदाराणां सरति पवने मंदमंदं वनांतात् । मंदाक्रांताः सललितपदं किंचिदारब्धगानाश्चंक्रम्यंते खगयुवतयस्तीरदेशेष्वमुष्य ॥ १९२ ॥ अप्स्वव्यस्तिमिरयमाजिघाँसुरारादभ्येति द्रुतमभिभावुकोऽप्सुयोनीन् । शैलोच्चानपि निगिलँस्तिमीनितोऽन्यो व्यत्यास्ते सममुना युयुत्समानः ॥ १९३ ॥ जलादजगर-

---

पहिनेहुये इन नदीरूपी स्त्रियोंको अतिशय लावण्य (लवणरूप- खारा) अर्थात् सुंदर होनेसे अपनी ओर बुलाताहुआ तथा अपनी तरंगोंके द्वारा बार बार उनका आलिंगन करताहुआ कभी तृप्त नहीं होता है सो ठीक ही है क्योंकि जो अत्यंत रसिक (जलसहित) होता है वह इस संसारमें अनेकबार संभोग करनेपर भी तृप्त नहीं होता है, ॥ १९० ॥ जो छोटी छोटी बूंदोंके पानीके सींचनेसे साफ होगई है, निरंतर लताओंसे गिरतेहुये फूलोंकी भेटसे जो सदा सुंदर जान पडती है और देव लोग जिसपर सदा निवास किया करते हैं ऐसी यह यहांकी किनारेकी भूमि सदा उछलती हुई लहरोंसे बहुत ही अच्छी जान पडती है ॥ १९१ ॥ हे देव ! जो स्वर्गके नंदनबनकी शोभाकी ओर मानो हँस रहा है ऐसे इस फूलोंसे भरेहुये बनमें मंदार जातिके वृक्षोंके मध्यभागमें यह वायु धीरे धीरे चल रहा है और इसी समय जिन्होंने कुछ कुछ गाना आरंभ किया है ऐसी ये धीरे धीरे चलनेवालीं विद्याधरियें इस समुद्रके किनारेकी भूमिपर लीलापूर्वक पैर रखती उठातीहुईं इधर उधर टहल रही हैं ॥१९२॥ इधर देखिये इस जलमें उत्पन्न हुये अन्य अनेक मच्छोंको तिरस्कारकर मारनेकी इच्छा करताहुआ यह इसी जलमें उत्पन्नहुआ बडा मच्छ बहुत शीघ्र दूरसे आकर उनपर टूट रहा है और पर्वतके समान बडे बडे मच्छोंको निगलताहुआ यह दूसरा बडा मच्छ उस पहिले बडे मच्छके साथ लडनेकी इच्छा करता हुआ खडा है ॥ १९३ ॥ हे स्वामिन् ! इधर देखिये इस समुद्रके किनारेपर बडा भारी अ-

स्तिमिं शयुमपि स्थलादंडजो विकर्षति युयुत्सया कृतदृढग्रहो दुर्ग्रहः । तथापि न जयो मिथोऽस्ति समकक्षयोरेनयो ध्रुवं न समकक्षयोरिह जयेतरप्रक्रमः ॥ १९४ ॥ वनं वनगजैरिदं जलनिधिः समास्फालितं वनं वनगजैरिव स्फुटविमुक्तसारावेिणं । मृदंगपरिवादनश्रियमुपादधद्दिक्तटे तनोति तटमुच्छलत्सपदि दत्तसंमार्ज्जनं ॥ १९५ ॥ तरत्तिमिकलेवरं स्फुटितशुक्तिशल्काचितं स्फुरत्परुषनिःस्वनं विधृतरंध्रपातालकं । भयानकमितो जलं जलनिधेर्ललत्पन्नगप्रमुक्त-तनुकृत्तिसंशयितवीचिमालाकुलं ॥ १९६ ॥ इतो धुतवनोऽनिलः शिशिरशीकरानाकिरन् उपैति शनकैस्तटं द्रुमसुगंधिपुष्पाहरः । इतश्च परुषोऽनिलः

जगर जलमेंसे किसी बडे मच्छको अपनीओर खींच रहा है और यह मजबूतीसे पकडनेवाला मच्छ भी उससे लडनेकी इच्छा करताहुआ बहुत मजबूतीसे उसे पकडे हुये जमीनपरसे अपनीओर खींच रहा है तथापि ये दोनों ही एकसे बलवान् हैं इसलिये किसीका भी जय पराजय नहीं होता है, सो ठीक ही है क्योंकि जो एकसे बलवान होते हैं उनका जय पराजय कभी निश्चय नहीं होता है ॥१९४॥ जंगली हाथियोंने अपनी सूंडसे जिसका खूब ताडन किया है ऐसा यह समुद्रका पानी जिसमें जंगली हाथी स्पष्ट और जोरके शब्द कर रहे हैं ऐसे किसी बनके समान तथा मृदंगके बजनेकी शोभाको धारण करता हुआ और सब दिशाओंमें उछलता हुआ बहुत शीघ्र शीघ्र किनारेको शुद्ध [साफ] करता हुआ जान पडता है ॥ १९५ ॥ जिसमें अनेक मछलियोंका कलेवर तैर रहा है, खुलीहुई सीपोंके टुकडोंसे जो भर रहा है, जिसमें प्रगट कठोर शब्द हो रहे हैं, जिसने अपने छिद्रोंमें पातालको भी धारण कर इक्खा है और जो तैरते हुये सांपोंसे छूटीहुई सफेद कांचलियोंसे लोगोंको ऐसा संदेह उत्पन्न करता है मानों लहरोंके समूहसे व्याप्त ही हो रहा है ऐसा इधर यह समुद्रका जल बहुत ही भयानक हो रहा है ॥१९६॥ हे स्वामिन् ! इधर तो बनको हिलाताहुआ, शीतल जलकी बूंदोंको बरसाता हुआ और वृक्षोंके सुगंधित पुष्पोंकी सुगंध हरण करता हुआ वायु धीरे धीरे किनारेकी ओर वह रहा है और इधर बडे बडे मच्छोंके कलेवरोंको हिलाता हुआ तथा हिलती हुई लहरोंके

स्फुरति धौतकल्लोलसात् कृतस्वनभयानकस्तिमिकलेवरानाधुवन् ॥ १९७ ॥ अस्योपांतभुवश्चकासति तरां वेलोच्छ्वलन्मौक्तिकैराकीर्णाः कुसुमोपहारजनितां लक्ष्मीं दधाना भृशं । सेवंते सह सुंदरीभिरमरा याः स्वर्गलोकांतरं तन्वाना धृतसंमदास्तटवनच्छायातरून् संश्रिताः ॥ १९८ ॥ एते ते मकरादयो जलचरा मत्वेव कुक्षिंभरिं वारांराशिमनंतरायमधिकं पुत्रा इवास्यौरसाः । भागस्य प्रतिलिप्सया नु जनकस्याक्रोशतोऽप्यग्रतो युध्यंते मिलिताः परस्परमहो बद्धक्रुधो धिग्धनं ॥ १९९ ॥ लोकानंदिभिरप्रमापरिगतैरुच्चावचैर्भोगिनामारूढैरधिमस्तकं शुचितमैः संतापविच्छेदिभिः । पातालैर्विवृताननैर्मुहुरपि प्राशव्ययैरक्षयैरासंसारममुष्य नास्ति विगमो रत्नैर्जलैर्धैरपि ॥ २०० ॥ वज्रद्रोण्याममुष्य क्वथदिव जठरं व्यक्तमुद्बुद्बुदांबु स्फूर्जत्पातालरंध्रोच्छ्वसदनिलबलाद्दि-

---

शब्दोंसे भयानक ऐसा यह जोरका वायु बह रहा है ॥ १९७ ॥ जो बडी बडी लहरोंसे उछलते हुये मोतियोंसे व्याप्त होकर भेटमें आयेहुये फूलोंसे उत्पन्न हुई अतिशय शोभाको धारण करती है, दूसरे स्वर्गलोककी शोभा बढाती है और जहां किनारेके बनके वृक्षोंकी छायामें बैठे हुये देव लोग आनंदित होकर अपनी अपनी देवांगनाओंके साथ क्रीडा करते हैं ऐसी यह समुद्रके किनारेकी भूमि बडी ही अच्छी जान पडती है ॥ १९८ ॥ मगर मच्छ वगैरह जलचर जीव जिसके पास जल रत्न आदि बहुतसा द्रव्य है ऐसे इस समुद्रको अपने उदरका पालन पोषण करनेवाला पिता समझकर खास पुत्रके समान बांटकर अपने भागमें आयेहुये धनको लेनेकी इच्छा करते हुये गर्जनाके शब्दोंके द्वारा रोते हुये अपने पिताके सामने ही क्रोध करते हुय इकट्ठे होकर परस्पर एक दूसरेके साथ लड रहे हैं, हाय ? ऐसे धनके लिये भी धिक्कार हो ॥ १९९ ॥ हे प्रभो ! यद्यपि इस समुद्रमें मुंह फाडे हुये अनेक बडवानल हैं उनके द्वारा प्रत्येक क्षणमें बहुतसा पानी कम हो जाता है, जल जाता है तथापि जबतक संसार है तबतक लोगोंको आनंद देनेवाले, प्रमाण रहित अर्थात् अनंत, अनेक प्रकारके सर्पोंके मस्तकोंपर चमकते हुये, अतिशय शुद्ध, संतापको दूर करनेवाले और विनाश रहित ऐसे इस समुद्रके रत्न और जलका कभी भी नाश नहीं होता ॥ २०० ॥ हे राजन् ! बहुत बडे पातालरूपी

ष्वगावर्त्यमानं । प्रस्तीर्णानेकरत्नान्युपहराति जने नूनमुत्तप्तमंतः प्रायो रायां वियोगो जनयति महतोऽप्युग्रमंतर्विदाहं ॥ २०१ ॥ आयुष्मान्निति बहुविस्मयोऽयमब्धिः सद्रत्नः सकलजगज्जनोपजीव्यः । (गंभीर प्रकृतिरनल्पसत्त्वयोगः) गंभीरप्रकृतिरनालसत्वयोगः प्रायस्त्वामनुहरते विना जलर्द्ध्या ॥ २०२ ॥

छिद्रोंके द्वारा ऊपरकी ओर बढते हुये वायुके जोरसे जिसपर चारोंओर भँवर पड रहे हैं तथा जिसमें अनेक बुद्‌बुदा स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं इसप्रकार यह समुद्रका उदर ऐसा जान पडता है मानो बज्रकी कढाईमें औटाया गया ही हो अथवा लोग इसके बडे बडे अनेक रत्न निकाल लिया करते हैं इसलिये मानो इसका अंतःकरण [मन) संतप्त ही हुआ हो, सो ठीक ही है क्योंकि धनका वियोग होना प्रायः बडे बडे लोगोंके हृदयको भी बहुत ही संतप्त किया करता है ॥ २०१ ॥ हे चिरंजीव इसप्रकार यह समुद्र प्रायः आपका अनुकरण कर रहा है क्योंकि जिसप्रकार आप आश्चर्य करनेवाली विभूति धारण करते हैं उसीप्रकार यह समुद्र अनेक आश्चर्यकी विभूतियोंसे भरा है, जिसप्रकार आपके पास बहुतसे रत्न हैं उसीप्रकार इसमें भी बहुत रत्न हैं, जिसप्रकार आप समस्त संसारके लोगोंको जीवित रखनेके (पालन पोषण करनेके) कारण हैं उसीप्रकार यह समुद्र भी समस्त संसारके जीवोंकी व्यपार आदि उपजीविका करनेका कारण है, जिसप्रकार आप गंभीर स्वभाववाले हैं उसीप्रकार इस समुद्रका स्वभाव भी गंभीर है और जिसप्रकार आप अनल्पसत्त्वयोग अर्थात् अनंत शक्तिको धारण करते हैं उसीप्रकार यह समुद्र भी अनल्पसत्त्वयोग अर्थात् अनंत जलचर जीवोंको धारण करता है अथवा जिसप्रकार आप अनालसत्व-योग अर्थात् आलसरहित हैं उसीप्रकार यह समुद्र भी अनाल-सत्वयोग अर्थात् नालरहित प्राणियोंसे भराहुआ है {जलचर जीवोंके नाल (नाभिनाल) नहीं होता} इसप्रकार यह समुद्र आपका अनुकरण कर रहा है परंतु अंतर केवल इतना है कि यह समुद्र जलकी ऋद्धि अर्थात् जलके समूहसे भराहुआ है और आप जल अर्थात् जडके समु-

इत्थं नियंतरि परां श्रियमंबुराशेरावर्णयत्यनुगतैर्वचनैर्विचित्रैः । प्राप प्रमोदमधिकं न चिराच्च संम्राट् सेनानिवेशमभियातुमना बभूव ॥ २०३ ॥ अथ रथपरिवृत्यै सारथौ कृच्छ्रकृच्छ्रात् विषमवलनभुग्नग्रीवमश्वान् नुनुत्सौ । धुवति मरुति मंदं वीचिवेगोपशांते शिबिरमभि निधीनामीशिता संप्रतस्थे ॥ २०४ ॥ कथमपि रथचक्रं सारयित्वांबुरुद्धं प्रवहणकृतकोपान्वाजिनोऽनुप्रसाद्य । रथमधिजलमब्धौ चोदयामास सूतो जलधिरपि नृपानुव्रज्ययेवोच्चचाल ॥ २०५ ॥ अयमयमुदभारो वारिराशेर्वरूथं स्थगयति रथवेगादेष भिन्नोर्मिरब्धिः । इति किल तटसाद्भिस्तर्क्यमाणो रथोऽयं जवनतुरगकृष्टः प्राप पारेसमुद्रं ॥२०६॥ तरंगात्य-

---

दायसे रहित हैं ॥ २०२ ॥ इसप्रकार सारथीने जब अनेकप्रकारके मनोहर बचनोंसे समुद्रकी उत्कृष्ट शोभा वर्णन की तब महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुआ तथा बहुत शीघ्र उसने अपनी छावनीमें जानेकी इच्छा प्रगट की ॥ २०३ ॥

अथानंतर–सारथीने बडी कठिनतासे रथ लौटानेकेलिये कुछ टेडे होकर और गलेको कुछ टेडाकर घोडोंको हांका और जब वायु धीरे धीरे बहने लगा था लहरोंका वेग कुछ शांत होगया था तब निधियोंके स्वामी भरतने डेरोंकी ओर प्रस्थान किया ॥ २०४ ॥ रथके पहिये जो पानीसे रुक गये थे उन्हें किसीतरह [बडे कष्टसे] ऊपर निकालकर बहुत हांकनेसे जिन्हें क्रोध आ रहा है ऐसे घोडोंको धीरज देकर प्रसन्नकर सारथीने समुद्रमें जलके भीतर ही रथ चलाया, उससमय समुद्रमें भी रथके चलनेसे लहरें उठने लगीं थीं जिससे ऐसा जान पडता था मानो समुद्र वह चक्रवर्तीके पीछे पीछे ही जा रहा हो ॥२०५॥ अरे यह समुद्रकी बडी लहर रथकी छतरीको अवश्य ही ढकलेगी तथा रथके वेगसे इस समुद्रकी लहरें भी फटगई हैं इसप्रकार किनारेपर खडेहुये लोग जिसकेलिये तर्क वितर्क कर रहे हैं ऐसा वह तेज घोडोंसे खींचाहुआ रथ समुद्रके किनारेपर आ पहुंचा ॥ २०६ ॥ जिसमें समस्त अंगोंकी रंचना सुंदर और एकसी है ऐसा यह रथ समुद्रकी लहरोंको उलंघन करता हुआ राजीखुशी किनारेतक आ पहुंचा है तथा चक्रको धारण करनेवाला यह चक्रवर्ती भी कुशलतापूर्वक

स्तोऽयं समघटितसर्वांगघटनो रथः क्षेमात्प्राप्तो रथचरणहेतिश्च कुशली । तुरंगा धौतांगा जलधिसलिलैरक्षतखुरा महत्पुण्यं जिष्णोरिति किल जजल्पुस्तटजुषः ॥ २०७ ॥ नृपैर्गंगाद्वारे प्रणतिमणिमौल्यर्पितकरैरधस्तात्तद्वेद्याः सजयजयघोषैरधिकृतैः । बहिर्द्वारं सैन्यैर्युगपदसकृद्घोषितजयैर्विमुर्दृष्टः प्रापत्स्वाशिबिरबहिस्तोरणभुवं ॥ २०८ ॥ तत्रोद्घोषितमंगलैर्जयजयेत्यानंदितो बंदिभिर्गत्वांतश्शिबिरं नृपालयमहाद्वारं समासादयन् । अंतर्वंशिकलोकवारवनितादत्ताक्षताशासनः प्राविक्षन्निजकेतनं निधिपतिर्वातोल्लसत्केतनं ॥ २०९ ॥ देवोऽयमक्षततनुर्विजिताब्धिरागात् ते यूयमानयत साक्षतसिद्धशेषाः । आशाध्व-

---

आगया है, समुद्रके पानीसे घोडोंका शरीर कैसा धुलगया है, पानीपर चलनेसे इनके खुर भी नहीं घिसे हैं, अहा महाराज भरतका पुण्य बहुत बडा है, इसप्रकार किनारेके लोग उससमय परस्पर बातचीत कर रहे थे ॥ २०७ ॥ जो वेदीके नीचे गंगाके द्वारपर [जहां गंगा समुद्रमें मिलती है] रक्षाके लिये नियुक्त किये गये हैं तथा जिन्होंने नवायेहुये मणियोंसे जडेहुये मुकुटपर अपने हाथ जोडकर रक्खे हैं और जय जय शब्द कर रहे हैं ऐसे राजालोग जिसे देख रहे हैं तथा वेदीके दरवाजेके बाहर बार बार एक साथ जय जय शब्द करते हुये सेनाके लोग जिसे देख रहे हैं ऐसा वह प्रभु भरत अपने डेरोंके बाहरवाली तोरणोंकी जमीनपर आ पहुंचा ॥ २०८ ॥ वहांपर जय जय ऐसे मंगल शब्द करतेहुये बंदीजन जिसे आनंदित कर रहे हैं ऐसा वह भरत डेरोंके (छावनीके) भीतर जाकर राजभवनके बडे दरवाजेपर जा पहुंचा, और वहां रणवासके सेवकोंने तथा वेश्याओंने उसे मंगलाक्षत दिये और आशीर्वाद दिया, इसप्रकार उस निधियोंके स्वामी भरतने जिसपर वायुके द्वारा अनेक ध्वजायें फहरा रही हैं ऐसे अपने राजभवनमें प्रवेश किया ॥ २०९ ॥ अरे ये भरतेश्वर स्वामी समुद्रको जीतकर बिना किसी जखमके आगये हैं इसलिये तुम मंगलाक्षत तथा सिद्ध शेषाक्षत आदि मंगल पदार्थ लाओ, तुम आशीर्वाद दो, तुम यहां बैठो और तुम बहुत शीघ्र महाराजके सामने चलो, इसप्रकार बडा भारी कोलाहल शब्द उससमय सेनामें उठ रहा था ॥ २१० ॥ हे देव ! आप चिरं-

माध्वमिह संमुखमेत्य तूर्णमित्युत्थितः कलकलः कटके तदाभूत् ॥ २१० ॥ जीवेति नंदतु भवानिति वर्द्धषीष्ट देवेति निर्जय रिपूनिति गां जयेति । त्वं स्ताच्चिरायुरिति कामितमाप्नुहीति पुण्याशिषां शतमलंभि तदा स वृद्धैः ॥ २११ ॥ जीयादरीनिह भवानिति निर्जितारिर्देव प्रसाधि वसुधामिति सिद्धरत्नः । त्वं जीवताच्चिरमिति प्रथमश्चिरायुरायोजि मंगलधिया पुनरुक्तवाक्यैः ॥ २१२ ॥ देवोऽयमंबुधिमगाधमलंघ्यपारमुल्लंघ्य लब्धविजयः पुनरप्युपायात् । पुण्यैकसारथिरिहेति विनांतरायैः पुण्ये प्रसेदुषि नृणां किमिवास्त्यलंघ्यं ॥ २१३ ॥ पुण्यादयं भरतचक्रधरो जिगीषुरुद्भिन्नवेलमानिलाहतवीचिमालं । प्रोल्लंघ्य वार्द्धिममरं सहसा विजिग्ये पुण्ये बलीयसि किमस्ति जगत्यजय्यं ॥ २१४ ॥ पुण्योदयेन मकराकरवारिसीमां पृथ्वीं स्वसादकृत चक्रधरः

जीव रहें, सदा सुखोंका अनुभव करें, लक्ष्मी आदिके द्वारा सदा बढते रहें, हे देव ! आप शत्रुओंको जीतिये, पृथ्वीको जीतिये, हे देव ! आप चिरकालतक जीवित रहें, और आपकी सब इच्छायें पूर्ण हों इसप्रकार भरतने उससमय वृद्ध लोगोंसे सैकडों पुण्यरूप आशीर्वाद प्राप्त किये ॥ २११ ॥ शत्रुओंको जीतनेवाले हे देव ! तू सदा शत्रुओंको जीत, चक्र आदि समस्त रत्नोंको सिद्ध करनेवाले हे प्रभो ! पृथ्वीका पालनकर, हे चक्रवर्तियोंमें चिरंजीवी प्रथम चक्रवर्ती तू बहुत दिनतक जीवित रह, इसप्रकार आशीर्वादके वाक्य मंगल समझकर वृद्ध लोग बार बार कह रहे थे ॥ २१२ ॥ जिसको पुण्य ही एक सहायक है ऐसा यह भरतेश्वर अगाध और पाररहित ऐसे समुद्रको उलंघनकर तथा विजय प्राप्तकर बिना किसी विघ्नके यहां वापिस आगया है सो ठीक ही है क्योंकि जब मनुष्योंका पुण्य निर्मल होता है तब अलंघनीय अर्थात् न मिलने योग्य पदार्थ कौनसा रह जाता है अर्थात् कोई नहीं ॥ २१३ ॥ सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाले इस भरत चक्रवर्तीने पुण्यकर्मके उदयसे ही जिसमें ज्वारकी ऊंची लहरें उठ रहीं हैं और जिसकी लहरोंके समूहको वायु ताडना कर रहा है ऐसे समुद्रको उलंघनकर बिना किसी परिश्रमके मागधदेवको जीतलिया, सो ठीक ही है जब पुण्य बलवान् होता है तब फिर संसारमें ऐसा कौनसा पुरुष बाकी रहजाता है जो जीता न जा सके ?॥२१४॥ जिसकी

पृथुश्रीः । दुर्लंघ्यमब्धिमवगाह्य विनोपसर्गैः पुण्यात्परं न खलु साधनमिष्टसिध्यै ॥ २१५ ॥ चक्रायुधोऽयमरिचक्रभयंकरश्रीराक्रम्य सिंधुमतिभीषणनक्रचक्रं । चक्रे वशे सुरमवश्यमनन्यवश्यं पुण्यात्परं नहि वशीकरणं जगत्यां ॥ २१६ ॥ पुण्यं जले स्थलमिवाभ्युपपद्यते नॄन् पुण्यं स्थले जलमिवाशु निहंति तापं । पुण्यं जलस्थलभये शरणं तृतीयं पुण्यं कुरुध्वमत एव जना जिनोक्तं ॥ २१७ ॥ पुण्यं परं शरणमापदि दुर्विलंघ्यं पुण्यं दरिद्रति जने धनदायि पुण्यं । पुण्यं सुखार्थिनि जने सुखदायि रत्नं पुण्यं जिनोदितमतः सुजनाश्चिनुध्वं ॥ २१८ ॥ पुण्यं जिनेंद्रपरिपूजनसाध्यमाद्यं पुण्यं सुपात्रगतदान-

---

संपत्ति बहुत बडी है ऐसे इस चक्रवर्तीने पुण्यकर्मके उदयसे ही बिना किसी उपद्रव और विघ्नके उलंघन करने अयोग्य ऐसे समुद्रको भी उलंघनकर समुद्रका जल ही जिसकी सीमा है ऐसी पृथ्वी अर्थात् समुद्रतककी समस्त पृथ्वी अपने वश की, इसलिये कहना पडता है कि इष्ट पदार्थोंकी सिद्धिकेलिये पुण्यके सिवाय और कोई साधन नहीं है ॥२१५॥ शत्रुओंके समूहके लिये जिसकी संपत्ति बहुत ही भयंकर है ऐसे भरत चक्रवर्तीने मगर मच्छ आदि जलचर जीवोंसे अत्यंत भयानक ऐसे समुद्रको भी उलंघनकर अन्य किसीके वश न होने योग्य ऐसे मागध देवको भी नियमित रीतिसे अपने वश किया, इससे सिद्ध है कि तीनों लोकोंमें पुण्यके सिवाय अन्य कोई वश करनेवाला नहीं है ॥२१६॥ यह पुण्य मनुष्योंको जलमें स्थलके समान हो जाता है, पुण्य ही स्थलमें जलके समान बहुत शीघ्र संताप दूर करता है, तथा पुण्य ही जल और स्थल दोनों जगहके भयमें एक तीसरा पदार्थ होकर शरण होता है, इसलिये हे प्राणियो ! तुम लोग जिनेंद्रदेवके कहेहुये पुण्यकर्मोंको करो ॥ २१७ ॥ यह पुण्य आपत्तियोंमें परम शरण है, इसे कोई उलंघन नहीं कर सकता, पुण्य ही दरिद्री मनुष्योंको धन देने वाला है और पुण्य ही सुख चाहनेवाले लोगोंको सुख देनेवाला एक रत्न है, इसलिये सज्जन पुरुषो ! इस जिनेंद्रदेवके कहे हुये पुण्य कर्मको अवश्य संचय करो ॥ २१८ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करनेसे उत्पन्न हुआ पहिला पुण्य है तथा सुपात्रको दान देनेसे उत्पन्न हुआ दूसरा पुण्य है, मुनि और श्रावकोंके व्रत पालन करनेसे उत्पन्न

समुत्थमन्यत् । पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगात् पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयं ॥ २१९ ॥ इत्थं स्वपुण्यपरिपाकजमिष्टलाभं स श्लाघयन् जनतया श्रुतपुण्यघोषः । चक्री सभागृहगतो नृपचक्रमध्ये शक्रोपमः पृथुनृपासनमध्यवात्सीत् ॥ २२० ॥ धुततटवने रक्ताशोकप्रवालपुटोद्भिदि स्पृशति पवने मंदं मंदं तरंगविभेदिनि । अनुसुरसरित्सैन्यैः सार्धं प्रभुः सुखमावसज्जलनिधिजयश्लाघाशीर्भिर्जिनाननुचिंतयन् ॥ २२१ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पूर्वार्णवद्वारविजयवर्णनं नामाष्टाविंशं पर्व ॥ २८ ॥

हुआ तीसरा पुण्य है और उपवास करनेसे उत्पन्न हुआ चौथा पुण्य है, इसप्रकार जिनेंद्रदेवकी पूजन करना, सुपात्रको दान देना, व्रत पालन करना और उपवास करना यह चार प्रकार पुण्य है सो पुण्य उत्पन्न करनेवालोंको सदा संचय करना चाहिये ॥ २१९ ॥ इसप्रकार जिसने समस्त लोगोंसे पुण्यकी घोषणा सुनी है तथा अपने पुण्यकर्मके उदयसे समस्त इष्ट वस्तुयें प्राप्त की हैं ऐसा वह चक्रवर्ती सभामंडपमें आकर राजाओंके समूहके मध्यमें इंद्रके समान बडे भारी सिंहासनपर विराजमान हुआ ॥ २२० ॥ उससमय किनारेके बनोंको हिलानेवाला, रक्त अशोक आदि वृक्षोंके नवीन छोटे छोटे पत्तोंके संपुटको अलग अलग करनेवाला और समुद्रकी लहरोंको भिन्न भिन्न करनेवाला वायु धीरे धीरे बह रहा था ऐसे उससमय समुद्रको जीतनेकी प्रशंसा और अनेक आशीर्वादोंके साथ साथ श्रीजिनेंद्रदेवको स्मरण करते हुये उस चक्रवर्तीने गंगाके किनारे किनारे पडी हुई सेनाके साथ साथ सुखसे निवास किया ॥ २२१ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें समुद्रके पूर्वद्वारको विजय करनेका वर्णन करनेवाला यह अट्ठाईसवां पर्व समाप्त हुआ ।

एकोनत्रिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरो जैनीं कृत्वेज्यामिष्टसाधनीं । प्रतस्थे दक्षिणामाशां जिगीषुरनुतोयधिं ॥ १ ॥ यतोऽस्य पटुढक्कानां ध्वनिरामंद्रमुच्चरन् । मूर्छितः काहलारावैरब्धिध्वानं तिरोदधे ॥ २ ॥ प्रयाणभेरीनिस्वानः संमूर्छन् गजबृंहितैः । दिङ्मुखान्यनयत्क्षोभं हृदयानि च विद्विषां ॥ ३ ॥ विबभुः पवनोध्दूता जिगीषोर्जयकेतनाः । वारिधेरिव कल्लोलानुद्वेलानाजुहूषवः ॥ ४ ॥ एकतो लवणांभोधिरन्यतोप्युपसागरः । तन्मध्ये यान्बलौघोऽस्य तृतीयोऽब्धिरिवाबभौ ॥ ५ ॥ हस्त्यश्वरथपादातं देवाश्च सनभश्चराः । षडंगबलमस्येति पप्रथे व्याप्य रोदसीः ॥ ६ ॥ पुरः प्रतस्थे दंडेन चक्रेण तदनंतरं । ताभ्यां विशोधिते

अथ उन्तीसवां पर्व.

अथानंतर—चक्रवर्तीने सेवेरे ही उठकर समस्त इष्ट वस्तुओंको सिद्ध करनेवाली श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा की और फिर, दक्षिण दिशाको जीतनेकी इच्छा करता हुआ वह समुद्रके किनारे किनारे चला ॥ १ ॥ जिससमय चक्रवर्ती जा रहा था उससमय तुरईके शब्दोंसे मिली हुई बडे बडे नगाडोंकी निकलती हुई गंभीर ध्वनि समुद्रकी गर्जनाको भी ढक रही थी ॥ २ ॥ हाथियोंकी चिंघारोंके साथ साथ चलनेके समय होनेवाले नगाडोंके शब्द सब दिशाओंको क्षुब्ध कर रहे थे और शत्रुओंके हृदयोंको भी क्षुब्ध (व्याकुल) कर रहे थे ॥ ३ ॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले चक्रवर्तीकी वायुसे हिलती हुई जयपताकायें (जीतकी ध्वजायें) ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानो ज्वारसे उठी हुई समुद्रकी बडी बडी लहरोंको बुला रही ही हों ॥ ४ ॥ चलती हुई सेनाके एकओर तो [दक्षिणकी ओर) समुद्र था और दूसरी उत्तरकी ओर उपसागर था, इन दोनोंके बीचमें चलती हुई वह चक्रवर्तीकी सेना ऐसी अच्छी जान पडती थी मानो तीसरा समुद्र ही हो ॥ ५ ॥ हाथी, घोडे, रथ, पियादे, देव और विद्याधर यह छह प्रकारकी चक्रवर्तीकी सेना पृथ्वी आकाश दोनोंमें व्याप्त होकर फैल गई थी ॥ ६ ॥ सेनामें सबसे आगे दंडरत्न और फिर चक्ररत्न चलता था तथा इन दोनोंके द्वारा

मार्गे तद्बलं प्रययौ सुखं ॥ ७ ॥ तच्चक्रमरिचक्रस्य केवलं क्रकचायितं । दंडोऽपि दंड्यपक्षस्य: कालदंड इवापरः ॥ ८ ॥ प्रययौ निकषांभोधि समया तटवेदिकां । अनु वेलावनं संम्राट् सैन्यैः संश्रावयन् दिशः ॥ ९ ॥ अनु वार्धितटं कर्षन्नलंघ्यां स्वामनीकिनीं । आज्ञालतां नृपाद्रीणां मूर्ध्नि रोपयति स्म सः ॥ १० ॥ चलिते चलितं पूर्वं निर्याते निःसृतं पुरः । प्रयाते यातमेवास्मिन् सेनानीभिरिवारिभिः ॥ ११ ॥ निष्क्रांत इति संभ्रान्तैरायात इति भीवशैः । प्राप्त इत्यनवस्थैश्च प्रणेमे सोऽरिभूमिपैः ॥ १२ ॥ महापगारयस्येव तरुरस्य बलीयसः । यो यः प्रतीपमभवत्स स निर्मूलतां ययौ ॥ १३ ॥ प्र-

---

साफ किये हुये मार्गमें सुख पूर्वक चक्रवर्तीकी सेना चलती थी ॥ ७ ॥ वह चक्र शत्रुओंको विदारण (नाश) करनेके लिये करोंत वा आरीके समान था तथा दंड भी अपराधी लोगोंके लिये दूसरे कालदंडके समान था ॥ ८ ॥ वह चक्रवर्ती समुद्रके किनारे किनारे, किनारेकी वेदीके पास पास किनारेके बनके अनुसार अपनी सेनाके शब्दोंके द्वारा समस्त दिशाओं और शत्रुओंको सचेत करता हुआ चला ॥ ९ ॥ अपनी अलंघनीय सेनाको समुद्रके किनारे किनारे चलाता हुआ वह चक्रवर्ती अपनी आज्ञारूपी वेलको अनेक राजा रूपी पर्वतोंके मस्तकोंपर चढाता जाता था ॥ १० ॥ महाराज भरतके शत्रु उसके सेनापतिके समान थे क्योंकि जिसप्रकार सेनापति महाराजकी चलनेकी इच्छा होते ही पहिलेसे ही अपनी तैयारी करलेता था उसीप्रकार शत्रु भी महाराजकी चलनेकी इच्छा होते ही पहिले ही अपनी चलनेकी तैयारी कर लेते थे, सेनापति जिसप्रकार महाराजके निकलनेपर आगे निकल जाता है उसीप्रकार वे शत्रु भी महाराजके निकलनेपर उनके आगे निकल जाते थे और सेनापति जिसप्रकार महाराजके चलनेपर चलने लगता है उसीप्रकार शत्रु भी महाराजके चलनेपर उनके साथ चलते थे ॥ ११ ॥ ' राजा भरत निकला ' यह सुनकर शत्रु राजा व्याकुल होकर उसे प्रणाम करते थे, ' चक्रवर्ती आया ' यह सुनते ही डरकर आकर प्रणाम करते थे और ' समीप आया ' यह सुनकर अस्थिर चित्त होकर आकर उसे प्रणाम करते थे ॥ १२ ॥ जिसप्रकार बडे

तीपवृत्तिमादर्शे छायात्मानं च नात्मनः । विक्रमैकरसश्चक्री सोऽसोढ किमुत द्विषं ॥ १४ ॥ चमूरवश्रवादेव कैश्चिदस्य विरोधिभिः । चमूरुवृत्तमारब्धमतिदूरं पलायिभिः ॥ १५ ॥ महाभोगैर्नृपैः कैश्चिद्भयादुत्सृष्टमंडलैः । भुजंगैरिव निर्मोकस्तत्यजेऽपि परिच्छदः ॥ १६ ॥ प्रदुष्टान्भोगिनः काँश्चित्प्रभुरुध्दृत्य मंत्रतः । वल्मीकेष्विव दुर्गेषु कुल्यानन्यानतिष्ठपत् ॥ १७ ॥ अनन्यशरणैरन्यैस्तापविच्छेदमिच्छुभिः । तत्पादपादपच्छाया न्यषेवि सुखशीतला ॥ १८ ॥ केषांचित्पत्रनिर्मोक्षं छायापायं च भूभुजां । पादपानामिव ग्रीष्मः समभ्यर्णश्चकार सः ॥ १९ ॥ ध्वस्तोष्मप्रसरा गाढमुच्छ्वसंतोऽतराकुलाः ।

वेगवाली नदीके किनारेका वृक्ष यदि वह नव न जाय तो जडसे उखडकर वह जाता है उसीप्रकार जो राजा इस महा बलवानका विरोधी हुआ था वह वंश सहित नष्ट हो गया था ॥ १३ ॥ एक महा पराक्रम ही जिसे प्रिय है ऐसा वह चक्रवर्ती दर्पणमें उलटी पडीहुई अपनी छायाको (प्रतिबिंब) भी देख नहीं सकता था वह क्या अपने विरोधी शत्रुओंको सहन कर सकेगा ? ॥ १४ ॥ उसकी सेनाके शब्द सुनकर ही कितने ही विरोधी राजाओंने बहुत दूर भागकर हरिणकी वृत्ति धारण की थी, अर्थात् वे बहुत दूर भाग गये थे ॥ १५ ॥ जिसप्रकार बडे २ फणाओंको धारण करनेवाले सर्प अपनी काचली छोड जाते हैं उसीप्रकार भयसे जिन्होंने अपना राज्य भी छोड दिया है ऐसे बडे बडे कितने ही राजा लोगोंने अपने छत्र चामर सेना आदि राजचिन्ह भी छोड दिये थे ॥ १६ ॥ जिसप्रकार दुष्ट सर्पोंको मंत्रके जोरसे उठाकर वामीमें स्थापन कर देते हैं उसीप्रकार भरतने अन्य कितने ही दुष्ट राजाओंको उखाडकर किलोंमें बंद कर दिया था और उनकी जगहपर अन्य कुलीन राजाओंको विठाया था ॥ १७ ॥ जिन्हें अन्य कोई शरण नहीं था और जो अपनेको किसीतरहका संताप नहीं देना चाहते थे ऐसे अन्य कितने ही राजाओंने सुख और शांति, देनेवाली भरतके चरणरूपी वृक्षोंकी छायाका आश्रय लिया था ॥ १८ ॥ जिसप्रकार समीप आया हुआ ग्रीष्म ऋतु कितने ही वृक्षोंके पत्ते नाश कर देता है और कितने ही वृक्षोंको छायारहित कर देता है उ-

प्राप्तेस्मिन्वैरिभूपालाः प्रापुर्मर्तव्यशेषतां ॥ २० ॥ वैरकाम्यति यो नास्मिन्प्रागेव विननाश सः । विद्ध्यापयिषुर्वह्निं शलभः कुशली किमु ॥ २१ ॥ वस्तुवाहनसर्वस्वमाछिद्य प्रभुराहरत् । अरित्वमरिचक्रेषु व्यक्तमेव चकार सः ॥ २२ ॥ स्वयमर्पितसर्वस्वा नमंतश्चक्रवर्तिनं । पूर्वमप्यरयः पश्चादाधिकारित्वमाचरन् ॥ २३ ॥ साधनैरमुना क्रांता या धरा धृतसाध्वसा । सा धनैरेव तं तोषं नीत्वाभूद्धृतसाध्वसा ॥ २४ ॥ कुल्याः कुलधनान्यस्मै दत्वा

सीप्रकार भरतने समीप जाकर कितने ही अभिमानी राजाओंके हाथी घोडे आदि वाहन नष्ट कर दिये और कितनोंको हा कांति रहित करदिया ॥ १९ ॥ भरतके समीप पहुंचने पर अन्य कितने ही शत्रु राजाओंका तेज नष्ट होगया था, उनके श्वासोच्छ्वास शीघ्र शीघ्र आने लगे थे और उनका अंतःकरण बहुत व्याकुल हो गया था, उनका केवल मरना ही बाकी रह गया था शेष सब मरनेके चिन्ह हो गये थे ॥ २० ॥ जिसने भरतके साथ विरोध करनेकी इच्छा की थी वह पहिले ही नष्ट हो गया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो पतंगा अग्निको बुझाना चाहता है वह क्या राजी खुशी रह सकता है ॥ २१ ॥ भरतने शत्रुओंके मोती मणि आदि रत्न, हाथी घोडे आदि वाहन और इसके सिवाय सब धन खींचकर ले लिया था और इसप्रकार समस्त अरि अर्थात् शत्रुओंके समूहको साफ अ-रि अर्थात् निर्धन बना दिया था ॥ २२ ॥ जिन राजाओंने अपना सब धन स्वयं भेटकर चक्रवर्तीको नमस्कार किया था वे यद्यपि पहिले शत्रु थे तथापि पीछेसे वे भरतकी सेनामें बडे अधिकारी हुये थे ॥ २३ ॥ इसप्रकार जो पृथ्वी पहिले भरतकी सेनासे व्याप्त होकर भयभीत हो रही थी वही पृथ्वी अपने धनसे भरतको संतुष्टकर निर्भय हो गई थी ॥ २४ ॥ बडे बडे कुलोंमें उत्पन्न हुये अनेक राजाओंने महाराज भरतको अपने कुलपरंपरासे चला आया ऐसा रत्न आदि धन देकर फिरसे अपनी पृथ्वी प्राप्त की, सो ठीक ही है क्योंकि रत्न आदि कुलपरंपरासे चला आया धन और नदीका पानी ये दोनों ही पृथ्वीसे उत्पन्न हुये हैं इसलिये ये सब जीतनेवालेके है, भावार्थ—रत्न आदि जो भरतको

स्वां भुवमार्जिजन् । कुल्याधनजलौघाश्च जिगीषोस्ते हि पार्थिवाः ॥ २५ ॥ प्रजाः करभराक्रांता यस्मिन् स्वामिनि दुःखिताः । तमुद्धृत्य पदे तस्य युक्तदंडं न्यधाद्विभुः ॥ २६ ॥ निजग्राह नृपान्दृप्ताननुजग्राह सत्क्रियान् । न्यायः क्षात्रोऽयमित्येवं प्रजाहितविधित्सया ॥ २७ ॥ योगक्षेमौ जगत्स्थित्यै न प्रजास्वेव केवलम् । प्रजापालेष्वपि प्रायस्तस्य चिंत्यत्वमीयतुः ॥ २८ ॥ पार्थिवस्यैकराष्ट्रस्य मता वर्णाश्रमाः प्रजाः । पार्थिवाः सार्वभौमस्य प्रजार्थंते नते धृताः ॥ २९ ॥ पुण्यं साधनमस्यैकं चक्रं तस्यैव पोषकं । तद्द्वयं साध्यसिध्यंगं सेनांगानि विभूतये ॥ ३० ॥ इति मंडलभूपालान्बलात्प्रणमयन्नयं ।

दिये गये थे वे सब उसीके समझने चाहिये क्योंकि वह ही सबका जीतनेवाला था ॥ २५ ॥ जिस राजाकी प्रजा करके बोझसे दवकर दुखी हो रही थी उसे राज्य पदसे हटाकर भरतने उसकी जगह पर किसी नीतिमान् राजाको बिठाया ॥ २६ ॥ जो राजा संपत्ति आदिके अभिमानसे अभिमानी हो रहे थे उन्हें भरतने यथायोग्य दंड दिया और जो नीतिमान् थे उनपर कृपा की, सो ठीक ही है क्योंकि प्रजाके हितकी इच्छा होनेसे क्षत्रियोंका यह इस प्रकारका ही न्याय है ॥ २७ ॥ जो वस्तु नहीं है उसको प्राप्त करना योग कहलाता है और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना क्षेम कहलाता है, भरतने जगतकी स्थितिके लिये केवल प्रजाके लिये ही योग और क्षेमकी चिंता नहीं की थी किंतु प्रजाको पालन करनेवाले अन्य राजाओंके लिये भी योग क्षेमकी चिंता उसे हुई थी ॥ २८ ॥ किसी एक देशके राजाकी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चारों ही वर्णवाली प्रजा रहती है, तथा चक्रवर्तीकी प्रजा नम्र हुये सब ही राजा हैं, इसलिये ही चक्रवर्तीको राजा प्रजा सबकी चिंता रहती है ॥ २९ ॥ भरतको सबको सिद्ध करनेवाला एक पुण्य ही कारण था, तथा चक्ररत्न इसकी पुष्टि करनेवाला था, और पुण्य तथा चक्ररत्न ये दोनों ही उसके विजयरूप साध्यकी सिद्धिके मुख्य कारण थे, बाकी हाथी घोडे आदि सेनाके अंग सब उसकी विभूति अर्थात् बडप्पन दिखलानेके लिये थे ॥ ३० ॥ इसप्रकार भरतने सब मांडलिक राजाओंसे जवर्दस्ती प्रणाम कराया, उसने उन मांडलिक राजाओंका केवल

मानमेवाभनक् तेषां न सेवाप्रणयं विभुः ॥ ३१ ॥ प्रतिप्रयाणमभ्येत्य प्राणंसिषुरमुं नृपाः । प्राणरक्षामिवास्याज्ञां वहंतः स्वेषु मूर्द्धसु ॥ ३२ ॥ प्रणताननुजग्राह सातिरेकैः फलैः प्रभुः । किमु कल्पतरोः सेवास्त्यफलाऽल्पफलापि वा ॥ ३३ ॥ संप्रेक्षणैः स्मितैर्हासैः सविश्रंभैश्च जल्पितैः । सम्राट् संभावयामास नृपान्संमाननैरपि ॥ ३४ ॥ स्मितैः प्रसादं संजल्पैर्विश्रंभं हसितैर्मुदं । प्रेक्षितैरनुरागं च व्यनक्तिस्म नृपेषु सः ॥ ३५ ॥ अताप्सीत्प्रणताने‌ष समताप्सीद्विरोधिनः । शमप्रतापौ क्ष्मां जेतुं पार्थिवस्योचितौ गुणौ ॥३६॥ प्रसन्नया दृशैवास्य प्रसादः प्रणते रिपौ । भ्रूभंगेण स्फुटः कोपः सत्यं बहुनटो

मानभंग किया था, अपनी सेवा करनेके लिये जो उनका प्रेम था वह उसने भंग नहीं किया ॥ ३१ ॥ अपने प्राणोंकी रक्षाके समान भरतकी आज्ञाको अपने मस्तकपर धारण करतेहुये अनेक राजालोग प्रत्येक पडावपर आकर उसे नमस्कार करते थे ॥ ३२ ॥ जिन राजाओंने आकर प्रणाम किया था उनपर भरतने विशेष अधिक फल देकर कृपा की थी सो ठीक ही है क्योंकि कल्पवृक्षकी सेवा करना क्या कभी विना फल देनेवाली अथवा थोडा फल देनेवाली हुई है ? ॥ ३३ ॥ महाराज भरतने कितने ही राजाओंको उनकी ओर देखकर प्रसन्न किया, कितने ही को थोडा हँसकर प्रसन्न किया, कितनेको कुछ अधिक हँसकर प्रसन्न किया, कितनोंके साथ बातचीतकर उन्हें प्रसन्न किया और कितनोंको ही आदर सत्कारकर प्रसन्न किया ॥ ३४ ॥ भरतने कितनोंके ही साथ कुछ हँसकर अपनी प्रसन्नता प्रगट की, कितनोंके साथ बातचीतकर अपना विश्वास प्रगट किया, कितनोंके साथ हँसकर अपना हर्ष प्रगट किया और कितने ही राजाओंको देखकर अपना प्रेम प्रगट किया ॥ ३५ ॥ जिन राजाओंने आकर उसे प्रणाम किया था उन्हें भरतने संतुष्ट किया और जिन्होंने उसके साथ विरोध किया था उन्हें उसने संताप दिया, सो ठीक ही है क्योंकि पृथ्वीको जीतनेके लिये शांतता और प्रताप ये दो ही राजाओंके योग्य गुण हैं ॥ ३६ ॥ जो उसे आकर प्रणाम करते थे उनके लिये अपनी प्रसन्न दृष्टिसे अपनी प्रसन्नता प्रगट करता था और जो उसके शत्रु थे उनकेलिये

नृपः ॥ ३७ ॥ अंगान्मणिभिरत्यंगैर्वंगांस्तुंगैर्मतंगजैः । तैश्च तैश्च कलिंगेशान्सोऽभ्यनंदद्दुपानतान् ॥ ३८ ॥ मागधीयितमेवास्य स्फुटं मागधकैर्नृपैः । कीर्तयद्भिर्गुणानुच्चैः प्रसादमभिलाषुकैः ॥ ३९ कुरूनवंतीन्पांचालान्काशींश्च सह कोसलैः । वैदर्भानप्यनायासादाचकर्ष चमूपतिः ॥ ४० ॥ व्रजन्मद्रांश्च कच्छांश्च वेदीन्वत्सान्ससुत्प्रकान् । पुंड्रानौंढ्राश्च गौडांश्च मतमश्रावयद्विभोः ॥ ४१ ॥ दशार्णान्कामरूपांश्च काश्मीरानप्युशीनरान् । मध्यमानपि भूपालान्सोऽचिराद्वशमानयत् ॥ ४२ ॥ ददुरस्मै नृपाः प्राच्यकालिंगांगारजान्गजान् । गिरीनिव महोच्छ्रायान्प्रश्चोतन्मदनिर्झरान् ॥ ४३ ॥ दशार्णकवनोद्भूता-

---

अपनी भौंहें टेडीकर अपना क्रोध प्रगट कर रहा था, सो ठीक ही है क्योंकि राजा लोग प्रायः महानट [अनेक तरहके देखपडने वाले] होते ही हैं ॥ ३७ ॥ बहुमूल्य मणियोंको भेटकर नमस्कार करते हुये अंगदेशके राजाओंपर, ऊंचे ऊंचे हाथियोंको भेटकर नमस्कार करते हुये बंगाल देशके राजाओंपर और मणि तथा हाथी दोनोंको भेटकर नमस्कार करते हुये कालिंग देशके राजाओंपर वह भरत बहुत ही प्रसन्न हुआ था ॥ ३८ ॥ मगधदेशके राजा भरतको प्रसन्न करनेकेलिये उसके बडे बडे गुण गा रहे थे इसलिये वे ठीक बंदीजनोंके [गुण गानेवाले भाट वा चारणोंके] समान जान पडते थे ॥ ३९ ॥ भरतके सेनापतिने कुरु, अवंती (उज्जैन) पंचाल, काशी कोशल और विदर्भ आदि देशोंके राजाओंको सहज ही अपनी ओर खींच लिया था अर्थात् वश करलिया था ॥ ४० ॥ मंद्र, कच्छ, वेदी, वत्स, सुत्प्र पुंड्र, औंढ्र और गौड देशमें फिरते हुये सेनापतिने सब जगह अपने स्वामी भरतकी विजय आज्ञा सुनाई थी ॥ ४१ ॥ उसने दशार्ण, कामरूप, काश्मीर, उशीनर और मध्यदेशके सब राजाओंको बहुत शीघ्र अपने वश कर लिया था ॥ ४२ ॥ वहांके अनेक राजाओंने जिनसे मदके निर्झरने बह रहे हैं ऐसे पूर्व देशमें उत्पन्न होनेवाले, कलिंग और अंगारदेशमें उत्पन्न होनेवाले पर्वतोंके समान बडे बडे ऊंचे हाथी महाराजके भेट किये थे ॥ ४३ ॥ जिन बनोंमें हाथी उत्पन्न होते थे उनके स्वामियोंने दिग्गजोंकी स्पर्द्धा करनेवाले दशार्णक बनमें उत्पन्न हुये तथा

नपि चेदिकसेरुजान् । दिङ्नागस्पर्द्धिनो नागानदुर्नागवनाधिपाः ॥ ४४ ॥ विभोर्बलभरक्षोभमसहंतीव दुःसहं । सुषुवेऽनंतरत्नानि गर्भिणीव वसुंधरा ॥ ४५ ॥ आ पांडुरगिरिप्रस्थादा च वैभारपर्वतात् । आ शैलाद्गोरथादस्य विचेरुर्जयकुंजराः ॥ ४६ ॥ वंगांगपुंड्रमगधान्मालवान्काशिकौशलान् । सेनानीः परिबभ्राम जिगीषुर्जयसाधनैः ॥ ४७ ॥ कालिंदकालकूटौ च किरातविषयं तथा । मल्लदेशं च संप्रापन्मतादस्य चमूपतिः ॥ ४८ ॥ धुनीं सुमागधीं गंगां गोमतीं च कपीवतीं । रेवस्यां च नदीं तीर्त्वा भ्रेमुरस्य चमूगजाः ॥ ४९ ॥ गंभीरामतिगंभीरां कालतोयां च कौशिकीं । नदीं कालमहीं ताम्रामरुणां निधुरामपि ॥ ५० ॥ तं लौहित्यसमुद्रं च कंबुकं च महत्सरः । चमूमतंगजास्तस्य भेजुः प्राच्यवनोपगाः ॥ ५१ ॥ दक्षिणेन नदं शोणमु-

---

चेदि और कसेरू देशमें उत्पन्न हुये हाथी भेट किये थे ॥ ४४ ॥ उससमय गर्भिणीके समान उस पृथ्वीने चक्रवर्तीकी सेनाका बडी कठिनतासे सहन करने योग्य बोझको न सह सकनेके कारण ही क्या मानो अनंत रत्न उत्पन्न किये थे ॥ ४५ ॥ हिमवान पर्वतके नीचले भागसे लेकर वैभार पर्वततक तथा गोरथ पर्वततक सब जगह भरतके विजयी हाथी फिरते थे ॥ ४६ ॥ सबको जीतनेकी इच्छा करता हुआ भरतका सेनापति अपनी सब सेना लेकर बंग, अंग, पुंड्र, मगध, मालवा, काशी, कौशल आदि सब देशोंमें घूमा था ॥ ४७ ॥ भरतकी आज्ञासे वह सेनापति कालिंद देशमें, कालकूट देशमें, भीलोंके देशमें और मल देशमें पहुंचा था ॥ ४८ ॥ उस भरतकी सेनाके हाथी सुमागधी, गंगा, गोमती, कपीवती और रेवस्या आदि नदियोंको तैरकर चारोंओर घूम रहे थे ॥ ४९ ॥ पूर्व दिशाके बनके समीप समीप जानेवाले उसकी सेनाके हाथी अतिशय गहरी ऐसी गंभीर नामकी नदी तथा कालतोया, कौशिकी, कालमही, ताम्रा, अरुणा, निधुरा आदि नदियोंमें तथा लौहित्यसमुद्र और कुंबुक नामके बडे सरोवरमें घूमे थे ॥ ५०-५१ ॥ जिन्होंने अपने खुरोंसे उडती हुई धूलिसे सब दिशायें भर दी हैं, जिनकी नाकके नथुने चंचल हो रहे हैं और जो बडे वेगवाले तथा विजयके मुख्य कारण हैं ऐसे भरतके घोडे शोण नामके नदकी दक्षिणओर, नर्मदा नदीकी उत्तर ओर,

त्तरेण च नर्मदां । बीजानदीमुभयतः परितो मेखलानदीं ॥ ५२ ॥ विचेरुः स्वखुरोध्दूतधूलिसंरुद्धादिगमुखाः । जविनोऽस्य स्फुरत्प्रोथा जयसाधनवाजिनः ॥ ५३ ॥ उदुंबरीं च पनसां तमसां प्रमृशामपि । ययुरस्य द्विपाः शुक्तिमतीं च यमुनामपि ॥ ५४ ॥ चेदिपर्वतमुलंघ्य चेदिराष्ट्रं विजिग्यिरे । पंपासरोम्भोऽतिगमा विभोरस्य तुरंगमाः ॥ ५५ ॥ तमृष्यमूकमाक्रम्य कोलाहलगिरिं श्रिताः । प्राङ्माल्यगिरिमासेदुर्जयिनोऽस्य जयद्विपाः ॥ ५६ ॥ नागप्रियाद्रिमाक्रम्य कुतपावज्ञया विभोः । सेनाचराः स्वसाच्चक्रुर्गजांश्चेदिकसेरुजान् ॥ ५७ ॥ नदीं छत्रवतीं क्रांत्वा वन्येभक्षतरोधसं । भेजुश्चित्रवतीमस्य चमूवीरास्तुरङ्गमैः ॥ ५८ ॥ रुध्वा माल्यवतीतीरवनं वन्येभसंकुलं । यामुनं च पयः पीत्वा जिग्युरस्य द्विपा दिशः ॥ ५९ ॥ अनु वेणुमतीतीरं गत्वाऽस्य

बीजा नामकी नदीके दक्षिण उत्तर दोनों किनारोंपर और मेखला नदीके चारोंओर घूमे थे ॥ ५२-५३ ॥ भरतके हाथी उदुंबरी, पनसा, तमसा, प्रमृशा, शुक्तिमती और यमुना आदि नदियोंतक जा[1] पहुंचे थे ॥ ५४ ॥ चेदि नामके पर्वतको उलंघनकर चेदि नामके राज्यको जीता था तथा भरतके वे घोडे पंपा नामके सरोवरके जलको पारकर घूम रहे थे ॥ ५५ ॥ सबको विजय करनेवाले उस भरतके विजयी हाथी ऋष्यमूक नामके पर्वतको उलंघनकर कोलाहल नामके पर्वतपर जा पहुंचे थे और फिर माल्यनामके पर्वतके पूर्व भागके समीप भी जा पहुंचे थे ॥५६॥ भरतकी सेनाके लोगोंने लीला पूर्वक ही नागप्रिय नामके पर्वतको उलंघनकर चेदि और कसेरु देशमें उत्पन्न हुये हाथियोंको भी अपने वश कर लिया था ॥ ५७ ॥ उसकी सेनाके वीर पुरुष घोडोंके द्वारा छत्रवती नदीको उलंघनकर जिसके किनारे बनके हाथियोंसे खूंदे गये हैं ऐसी चित्रवती नदीतक जा पहुंचे थे ॥ ५८ ॥ जंगली हाथियोंसे भरे हुये ऐसे माल्यवती नदीके किनारेके बनको घेरकर और यमुनाका पानी पीकर भरतके हाथियोंने उधरकी दिशायें अर्थात् सब देश जीते थे ॥ ५९ ॥ उसकी सेनाने वेणुमती नदीके किनारे किनारे जाकर वत्सदेशकी भूमि उलंघन की और फिर दशार्ण देशकी भूमि उलंघन की थी ॥ ६० ॥

(१) यहांपर मूलमें पपुःऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ यह है कि उन हाथियोंने इन नदियोंका पानी पीया था ।

जयसाधनं । वत्सभूमिं समाक्रम्य दशार्णामप्यलंघयत् ॥ ६० ॥ विशालां नालिकां सिंधुं पारां निःकुंदरीमपि । बहुवज्रां च रम्यां च नदीं सिकतिनीमपि ॥ ६१ ॥ कुहां च समतोयां च कंजामपि कपीवतीं । निर्विंध्यां च धुनीं जंबूमतीं च सरिदुत्तमां ॥ ६२ ॥ वसुमत्यापगामब्धिगामिनीं शर्कराबतीं । सिप्रां च कृतमालां च परिंजां पनसामपि ॥ ६३ ॥ नदीमवंतिकामां च हस्तिपानीं च निम्नगां । कागंधुन्यापगां व्याघ्रीं धुनीं चर्मण्वतीमपि ॥ ६४ ॥ शतभागां च नंदां च नदीं करभवेगिनीं । चुल्लितापीं च रेवां च सप्तपारां च कौशिकीं ॥६५॥ सरितोऽमूरगाधापा विष्वगारुध्य तद्बलं । तुरंगमखुरोत्खाततीरा विस्तारिणीर्व्यधात् ॥ ६६ ॥ तैराश्रिकं गिरिं क्रांत्वा रुध्वा वैडूर्यभूधरं । भटाः कुटाद्रिमुलंघ्य पारियात्रमशिश्रयन् ॥ ६७ ॥ गत्वा पुष्पगिरेः प्रस्थान्सानून्स्मितगिरेरपि । गदागिरेर्निकुंजेषु बलान्यस्य विशश्रमुः ॥ ६८ ॥ वातपृष्ठदरीभागानृक्षवत्कुक्षिभिः समम् । तत्सैनिकाः श्रयंति स्म कंबलाद्रि-

---

भरतकी सेनाने विशाला, नालिका, सिंधु, पारा, निष्कुंदरी, बहुवज्रा, रम्या, सिकतनी, कुहा, समतोया, कुंजा, कपीवती, निर्विंध्या अति उत्तम जंबूमति, वसुमती, समुद्रतक पहुंचनेवाली शर्करावती, सिप्रा, कृतमाला, परिंजा, पनसा, अवंतिकामा, हस्तिपानी, कागंधुनी, व्याघ्री, चर्मण्वती, शतभागा, नदा, करभवेगिनी, चुल्लितापी, रेवा, सप्तपारा और कौशिकी आदि अगाध जलसे भरी हुई नदियोंको चारोंओरसे घेरकर घोडोंके खुरोंसे जिनके किनारे खुदकर पडगये हैं ऐसी बहुत चौडी बना दी थीं ॥ ६१-६६ ॥ शूरवीरोंने तैराश्रिक नामके पर्वतको उलंघनकर वैडूर्य नामका पर्वत अपने वश किया, और फिर कूटाचलको उलंघनकर पारियात्र नामके पर्वतपर विश्राम किया ॥ ६७ ॥ इसीप्रकार वह सेना पुष्पगिरिके शिखरपर चढकर स्मित नाम पर्वतके ऊपर चढी, और फिर वहांसे चलकर उसने गदा नामके पर्वतकी लतामंडपोंमें विश्राम लिया ॥ ६८ ॥ तथा जिसकी गुफायें रीछोंसे भरी हुई हैं ऐसे बातपृष्ट नाम पर्वतकी गुफाओंका आश्रय भी उस सेनाने लिया और फिर वह सेना कंवल नामके पर्वत पर भी जा चढी ॥ ६९ ॥ फिर वह सेना वासवंत महापर्वतको उलंघनकर असुर और धूपन पर्वतपर कुछ ठहरकर मदेभ और अंगिरेयिक पर्वतपर जा पहुंची ॥ ७० ॥ सेनाके लोग

तटान्यपि ॥ ६९ ॥ वासवंतं महाशैलं विलंध्यासुरधूपने । स्थित्वाऽस्य सैनिकाः प्रापन्मदेभानंगिरेयिकान् ॥ ७० ॥ निःसपत्नमिति भ्रेमुरितश्चेतश्च सैनिकाः । द्विपान्वनविभागेषु कर्षतोऽस्य निजैर्गजैः ॥ ७१ ॥ दुस्तराः सुतरा जाताः संभुक्ताः सरितो बलैः । स्वारोहाश्च दुरारोहा गिरयः क्षुण्णसानवः ॥ ७२ ॥ राष्ट्राण्यवधयस्तेषां राष्ट्रीयाश्च महीभुजः । फलाय जज्ञिरे भर्तुर्योजिताश्चामुना फलैः ॥ ७३ ॥ नृपानवारपारीणान् द्वैप्यानप्युपसागरे । बली बलैरवष्टभ्य पुपोष वनजान्गजान् ॥ ७४ ॥ रत्नान्यपि विचित्राणि तेभ्यो लब्ध्वा यथेप्सितं । तानेवास्थापयत्तत्र संतुष्टः प्रभुराज्ञया ॥ ७५ ॥ महांति गिरिदुर्गाणि निम्नदुर्गाणि च प्रभोः । सिद्धानि बलरुद्धानि किमसाध्यं महीयसां ॥ ७६ ॥ इत्थं स पृथिवीमध्यात्पौरस्त्यान्निर्जयन्नृपान् । प्रतस्थे दक्षि-

---

उस सब देशोंको शत्रुरहित समझकर अपने हाथियोंके द्वारा बनोंमें अनेक हाथियोंको पकडते हुये इधर उधर घूम रहे थे ॥७१॥ जो नदियां गहरीं थीं जिनमें तैरना भी कठिन था उनका पानी जब सेनाने नहा धो पीकर खर्च कर दिया तब वे ही नदियां सहज तैरने योग्य कम गहरी रह गईं थीं तथा जिन पर्वतोंपर चढना कठिन था उनके शिखर सेनाके द्वारा टूट जानेसे वे पर्वत सहजरीतिसे चढने योग्य होगये थे ॥ ७२ ॥ देशोंकी सीमायें और उन देशोंके राजा लोग फलके लिये ही भरतके समीप आये थे तथा भरतने भी अनेक प्रकारके फलोंसे उन्हें संतुष्ट किया था ॥ ७३ ॥ जो राजा उपसागरके पार रहते थे अथवा उपसागरके द्वीपोंमें रहते थे उन सबको भरतने अपनी सेनासे वश किया था तथा जंगली हाथियोंको पकड पकडकर पालन किया था ॥ ७४ ॥ भरतने उन राजाओंसे अपनी इच्छानुसार अनेकप्रकारके रत्न प्राप्त किये थे तथा फिर अपनी आज्ञामें रखकर उन्हें उनके उसी राज्यपर विराजमान किया था ॥ ७५ ॥ जो बडे बडे किले पहाडोंके ऊपर थे तथा जो जमीनके नीचे थे वे सब सेनाके द्वारा घिरकर भरतके आधीन होगये थे, सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यवान पुरुषोंको ऐसी कौनसी वस्तु है जो सिद्ध न होसके ॥ ७६ ॥ इसप्रकार भरतने पूर्व दिशाके सब राजाओंको जीतकर दक्षिण दिशामें रहनेवाले राजाओंको जीतनेकी इच्छासे उस पृथ्वीके (भरतक्षेत्रके) मध्य-

णामाशां दाक्षिणात्यजिगीषया ॥ ७७ ॥ यतो यतो बलं जिष्णोः प्रचलत्युद्धनायकं । ततस्ततः ससामंता नमंत्यानम्रमौलयः ॥ ७८ ॥ त्रिकलिंगाधिपानौद्रान् कच्छांध्रविषयाधिपान् । प्रातरान्केरलाँश्चेरान्पुन्नाटाँश्च व्यजेष्ट सः ॥ ७९ ॥ कूटस्थानोलिकाँश्चैव समाहिषकमेकुरान् । पांड्यानंतरपांड्यांश्च दंडेन वशमानयत् ॥ ८० ॥ नृपानेतान्विजित्याशु प्रणमय्य स्वपादयोः । हृत्वा सत्साररत्नानि प्रभुः प्रापत्परां मुदं ॥ ८१ ॥ सेनानीरपि बभ्राम प्रभोराज्ञां समुद्वहन् । गिरीन्ससरितो देशान् कालिंगकवनाश्रितान् ॥ ८२ ॥ स साधनैः समं भेजे तैलामिक्षुमतीमपि । नदीं नक्रवां वंगां श्वसनां च महानदीं ॥ ८३ ॥ धुनीं वैतरणीं माषवतीं च समहेंद्रकां । सैनिकैः सममुत्तीर्य ययौ शुष्कनदीमपि ॥ ८४ ॥ सप्तगोदावरं तीर्थं पश्यन्गोदावरीं शुचिं । सरो मानसमासाद्य मुमुदे शुचिमानसः ॥ ८५ ॥ सुप्रयोगां नदीं तीर्त्वा कृष्णवर्णां च निम्नगां । सन्नीरां च प्रवेणीं च व्यतीयाय समं बलैः ॥ ८६ ॥

भागसे दक्षिण दिशाकी ओर गमन किया ॥ ७७ ॥ उत्कृष्ट सेनापतिसहित भरतकी सेना जहां जहां गई थी वहां वहांके राजाओंने अपने शूरवीरोंसहित आकर मस्तक नवाकर नमस्कार किया था ॥७८॥ दक्षिणमें भरतने त्रिकलिंग, औद्र, कच्छ, आंध्र, प्रातर, केरल, चेर और पुन्नाट देशके सब राजाओंको जीता था ॥ ७९ ॥ तथा कूट, ओलिक, महिष, कमेकुर, पांड्य और अंतरपांड्य आदि देशोंके राजाओंको दंडरत्नसे अपने वश किया था ॥ ८० ॥ भरतने इन सब राजाओंको बहुत शीघ्र अपने वशकर सबसे अपने पैरोंपर नमस्कार कराया और उनके सार रत्न लेकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ ८१ ॥ प्रभुकी आज्ञा पालन करता हुआ सेनापति भी कालिंग देशके बनके पवत नदी और सब देशोंमें घूमा था ॥ ८२ ॥ वह अपनी सेनाके साथ साथ तैला, इक्षुमती, नक्ररवा, वंगा, श्वसना, आदि बडी २ नदियोंमें पहुंचा था ॥ ८३ ॥ तथा वैतरणी माषवती महेंद्रका इन नदियोंको अपनी सेनाके साथ पारकर शुष्कनदीपर जा पहुंचा था ॥ ८४ ॥ सप्तगोदावर नामके सरोवरको देखता हुआ पवित्र गोदावरीको पारकर निर्मल अंतःकरणवाला वह सेनापति मानस सरोवर पर पहुंचकर बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ ८५ ॥ तदनंतर उसने सुप्रयोगा नदीको पारकर सेनाके साथ साथ कृष्णवर्णा सन्नीरा

कुब्जां धैर्यां च चूर्णीं च वेणां सूकरिकामपि । अंत्रणीं च नदीं पश्यन् दाक्षिणात्यानशुश्रुवत् ॥ ८७ ॥ महेंद्राद्रिं समाक्रामन्विंध्योपांतं च निर्जयन् । नागपर्वतमध्यास्य प्रययौ मलयाचलं ॥ ८८ ॥ गोशीर्षं दर्दुराद्रिं च गिरिं पांड्यकवाटकं । सशीतगुहमासीदन्नगं श्रीकटनाह्वयं ॥ ८९ ॥ श्रीपर्वतं च किष्किंधं निर्जयन् जयसाधनैः । तत्र तत्रोचितैर्लाभैरवर्धत चमूपतिः ॥ ९० ॥ कर्णाटकान्स्फुटाटोपविकटोद्भटवेषकान् । हरिद्रांजनतांबूलप्रियान्प्रायो यशोधनान् ॥ ९१ ॥ आंध्रान्रौद्रप्रहारेषु कृतलक्षान्कदर्यकान् । पाषाणकठिनानंगैर्न परं हृदयैरपि ॥ ९२ ॥ कालिंगकान्गजप्रायसाधनान्सकलाधनान् । प्रायेण तादृशानौड्रान्जडानुड्डमरप्रियान् ॥९३॥ चोलिकान्नालिकप्रायान्प्रायशोऽनृजुचेष्टितान् । केरलान्सरलालापान्कलगोष्ठीषु चंचुरान् ॥९४॥ पांड्यान्प्रचं-

---

और प्रवेणी नदीको पार किया ॥ ८६ ॥ तथा कुब्जा, धैर्या, चूर्णा, वेणा, सूकरिका और अंवर्णा आदि नदियोंको देखता हुआ वहांके सब राजाओंको भरतकी आज्ञा सुनाई ॥ ८७ ॥ इसीतरह महेंद्र पर्वतको उलंघनकर विंध्याचलकी तलहटीको जीतता हुआ नागपर्वतपर चढकर वह सेनापति मलयाचल पर्वतपर गया ॥ ८८ ॥ और अपनी सेनाके साथ गोशीर्ष, दर्दुर, पांड्य, कवाट और शीतगुह पर्वतपर पहुंचा तथा श्रीकटन श्रीपर्वत और किष्किंधा आदि पर्वतोंको जीतता हुआ वहांके राजाओंसे यथायोग्य धन सत्कार आदि पाकर वह सेनापति अतिशय वृद्धिको प्राप्त हुआ ॥ ८९-९० ॥ भयंकर शरीर होनेसे जिनका भेष कुछ विकट और शूरवीरताजनक है, जिन्हें (शरीर सुशोभित करनेकेलिये) हल्दी अंजन और तांबूल बहुत प्रिय हैं तथा जिनके यश ही धन है ऐसे कर्णाटक देशके राजाओंको, तथा कठिन प्रहार करनेमें जिन्हें खूब अभ्यास है, जो बहुत कृपण हैं, पत्थरके समान जिनका शरीर भी कठिन है और हृदय भी कठिन हैं ऐसे अंध्रदेशके राजाओंको, जिनके प्रायः हाथियोंकी सेना है और जो कला कौशलमें निपुण हैं ऐसे कलिंगदेशके राजाओंको, तथा प्रायः कलिंगदेशके समान और बडे लडनेवाले ऐसे औड्र देशके राजाओंको, तथा प्राय झूठ बोलनेवाले, कुटिल चेष्टायें करनेवाले ऐसे चोल देशके राजाओंको तथा मधुर भाषण करनेमें प्रवीण और

उद्दोर्दंडान्खंडिताराातिमंडलान् । प्रायो गजप्रियान्धन्विकुंतभूयिष्ठसाधनान् ॥ ९५ ॥ दृष्टापदानानन्यांश्च तत्र तत्र व्युदुत्थितान् । जयसैन्यैरवस्कंद्य सेनानीरनयद्वशं ॥ ९६ ॥ ते च सत्कृत्य सेनान्यं पुरस्कृत्य ससाध्वसम् । चक्रिणं प्रणमंति स्म दूरादूरीकृतायतिं ॥ ९७ ॥ करग्रहेण संपीड्य दक्षिणाशां वधूमिव । प्रसभं हृततत्सारो दक्षिणाब्धिमगात्प्रभुः ॥ ९८ ॥ लवंगलवलीप्रायमेलागुल्मलतांकितं । वेलोपांतवनं पश्यन् महतीं धृतिमाप सः ॥ ९९ ॥ तमासिषेविरे मंदमांदोलितसरोजलाः । एलासुगंधयः सौम्या वेलांतवनवायवः ॥ १०० ॥ मरुदुद्धूतशाखाग्रविकीर्णसुमनोऽजलिः । नूनं प्रत्यगृहीदेनं वनोद्दे-

---

सरल बोलनेवाले ऐसे केरल देशके राजाओंको, तथा प्रचंड भुजाओंको धारण करनेवाले और शत्रुओंके समूहको नाश करनेवाले, युद्धमें धनुष और भाला आदि शस्त्रोंको अधिकतासे रखनेवाले और हाथियोंसे प्रेम रखनेवाले ऐसे पांड्यदेशके राजाओंको, तथा जिन्हें जगह जगह अपना नाश देखना पडा है ऐसे अन्य कितने ही उद्धत राजाओंको सेनापतिने अपनी विजय करनेवाली सेनाके द्वारा आक्रमणकर अपने वश किया ॥ ९१-९६ ॥ उन राजाओंने सेनापतिका सत्कारकर तथा भयके साथ कुछ भेट देकर जिसने भेटमें दी हुई संपत्ति स्वीकार की है ऐसे चक्रवर्तीको दूरसे ही नमस्कार किया ॥ ९७ ॥ जिसप्रकार स्त्रीको पाणिग्रहणकर अपने वश करते हैं उसीप्रकार दक्षिण दिशाको अर्थात् दक्षिण दिशाके राजाओंपर कर बिठाकर उन्हें अपने वश किया और फिर अच्छीतरह उनका सार धन लेकर प्रभु भरत दक्षिण समुद्रपर जा पहुंचा ॥ ९८ ॥ वह चक्रवर्ती लोंग चंदनलता तथा इलायचीके छोटे छोटे पौधोंकी बेलें आदिसे भराहुआ समुद्रके किनारेके बनको देखताहुआ बहुत ही संतुष्ट हुआ ॥ ९९ ॥ जो तालावोंके जलको धीरे धीरे हिला रहा है, जिसमें इलायचीकी सुगंधि भरी हुई है और जो सौम्य है ऐसा समुद्रके किनारेके बनका वायु धीरे धीरे उस चक्रवर्तीकी सेवा कर रहा था ॥ १०० ॥ वायुके हिलनेसे वृक्षोंकी शाखाके अग्रभागसे जिसने अनेक प्रकारकी पुष्पांजलि बखेर रक्खी हैं इसप्रकारका वह बनका प्रदेश ऐसा जान पडता था मानों वह इस चक्रवर्तीको बुलानेकेलि-

शो विशांपतिं ॥ १०१ ॥ पवनाऽऽधूतशाखाग्रैर्व्यक्तषट्पदनिस्वनैः । विश्रांत्यै सैनिकानस्य व्याहरन्निव पादपाः ॥ १०२ ॥ अथ तस्मिन्वनाभोगे सैन्यमावसयद्विभुः । वैजयंतमहाद्वारानिकटेऽम्बुनिधेस्तटे ॥ १०३ ॥ सनागं बहुपुन्नागं सुमनोभिरधिष्ठितं । बहुपत्ररथं जिष्णोर्बलं तद्वनमावसत् ॥ १०४ ॥ सच्छायान्सफलाँस्तुंगान्बहुपत्रपरिच्छदान् । आसेवंत जनाः प्रीत्या पार्थिवांस्तापविच्छिदः ॥ १०५ ॥ सच्छायानप्यसम्भाव्यफलान्प्रोज्झ्य महाद्रुमान् । सफ-

---

ये सामने ही आया हो ॥ १०१ ॥ वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभाग वायुसे हिल रहे थे और उनपर बैठे हुये भ्रमर स्पष्ट शब्द कर रहे थे जिससे ऐसा जान पडता था मानों वे वृक्ष विश्राम करनेकेलिये चक्रवर्तीकी सेनाके लोगोंको बुला रहे ही हों ॥ १०२ ॥

अथानंतर—भरतने उस बनके मैदानमें समुद्रके किनारे वैजयंत महाद्वारके समीप अपनी सेनाके डेरा कराये ॥१०३॥ वह बन और चक्रवर्तीकी सेना दोनों समान थे क्योंकि जिसप्रकार बनमें नागजातिके वृक्ष थे उसीप्रकार सेनामें सनाग अर्थात् उत्तम हाथी थे, जिसप्रकार बनमें बहुपुन्नाग अर्थात् बहुतसे नागकेसरके वृक्ष थे उसीप्रकार सेनामें बहुपुन्नाग अर्थात् अनेक उत्तम पुरुष थे, जिसप्रकार बन सुमन अर्थात् पुष्पोंसे सुशोभित था उसीप्रकार सेना भी सुमन अर्थात् अच्छे हृदयवाले सज्जन लोगोंसे भरी थी और बन जिसप्रकार बहुपत्ररथ अर्थात् अनेक पक्षियोंसे सुंदर था उसीप्रकार सेना भी बहुपत्ररथ अर्थात् अनेक हाथी घोडे आदि सवारी और रथोंसे सुंदर थी, इसप्रकार भरतकी उस सेनाने अपने समान बनमें निवास किया ॥१०४॥ जिसप्रकार हाथी घोडे आदि विभूति सहित, अच्छा आश्रय और फल देनेवाले तथा संताप दूर करनेवाले बडे राजाओंकी लोग सेवा करते हैं उसीप्रकार वे सेनाके लोग जिनकी अच्छी छाया है, जो फल सहित हैं, बहुतसे पत्ते होनेसे जिनका घेरा भी बहुत है, जो ऊंचे हैं और संताप दूर करनेवाले हैं ऐसे वृक्षोंका आश्रय बडे प्रेमसे कर रहे थे ॥ १०५ ॥ सेनाके अनेक लोग जिनकी घनी छाया है, परंतु जो फल रहित हैं ऐसे बडे बडे वृक्षोंको भी छोडकर थोडी छायावाले किंतु फल-

लान्विरलच्छायानप्यहो शिश्रियुर्जनाः ॥ १०६ ॥ आकालिकीमनादृत्य बहिच्छायां तदातनीं । भाविनीं तरुमूलेषु छायामाशिश्रयुर्जनाः ॥ १०७ ॥ वनस्थलीतरुच्छायानिरुद्धद्युमणित्विषः । सजानयः सरस्तीरेष्वध्यासिषत सैनिकाः ॥ १०८ ॥ सप्रेयसीभिराबद्धप्रणयैराश्रिता नृपैः । कल्पपादपजां लक्ष्मीं व्यक्तमूहुर्वनद्रुमाः ॥ १०९ ॥ कपयः कपिकच्छूनामुध्दुन्वानाः फलच्छटाः । सैनिकानाकुलांश्चक्रुर्निविष्टान्वीरुधामधः ॥ ११० ॥ सरःपरिसरेष्वासन्प्रभोराश्वीयमंदुराः । सुंदराः स्वैरमाहार्यैर्बाष्पच्छेद्यैस्तृणांकुरैः ॥ १११ ॥ अवतारितपर्याणमुखभांडाद्युपस्कराः । स्फुरत्प्रोथैर्मुखैरश्वाः क्ष्मां विजिघ्रुर्विवृत्स-

सहित वृक्षोंके नीचे विश्राम लेते थे ॥ १०६ ॥ सेनाके लोग उससमयकी थोडी देर रहनेवाली बाहरकी छाया छोडकर वृक्षके नीचे आनेवाली छायामें बैठे थे ॥ १०७ ॥ बनके वृक्षोंकी घनी छायासे जिनपर सूर्यकी धूप रुक रही है ऐसे कितने ही सेनाके लोग अपनी अपनी स्त्रियोंसहित सरोवरोंके किनारोंपर आराम कर रहे थे ॥१०८॥ जो परस्परके प्रेमसे बंधेहुये हैं ऐसे अपनी अपनी स्त्रियोंसहित अनेक राजा लोग जिनके नीचे बैठे हुये हैं ऐसे कितने ही बनके वृक्ष कल्पवृक्षसे उत्पन्न हुई शोभाको स्पष्ट प्रगट कर रहे थे, भावार्थ—वे वृक्ष कल्पवृक्षोंके समान जान पडते थे और स्त्रीपुरुष भोगभूमियोंके समान जान पडते थे ॥ १०९ ॥ वहांके बंदर कौंचके फल समूहोंको हिलाते थे जिससे वेलोंके नीचे बैठे हुये सेनाके लोग बडे ही व्याकुल होते थे, भावार्थ—कौंचकी फली शरीरपर छू जानेसे खुजली उठती है, बंदरोंके हिलानेसे वे फलियां नीचे बैठे हुये लोगोंके शरीरपर पडती थीं जिससे उनके खुजली उठती थी और वे व्याकुल होते थे ॥ ११० ॥ तालावके समीप ही इच्छानुसार चरने योग्य और वाफसे ही टूटनेवाले अर्थात् बहुत कोमल ऐसी घासके अंकूरोंसे शोभायमान चक्रवर्तीके घोडोंकी घुडसाल थी ॥ १११ ॥ जिनपरसे पलान (गद्दा वा काठी) और लगाम आदि सामिग्री उतार ली गई है ऐसे घोडे जमीनपर लोटनेकी इच्छासे नाकके नथुनोंको हिलाते हुये मुखसे जमीनको सूंघ रहे थे ॥ ११२ ॥ जिसपर बहुत घनी कमलकी पराग बिछी हुई है ऐसी तालावके समीप-

वः ॥ ११२ ॥ सांद्रपद्मरजःकीर्णे सरसामंतिकस्थले । मंदं दुधुवुरंगानि वाहाः कृतविवर्तनाः ॥ ११३ ॥ विबभावंबरे कंजरजःपुंजोऽनिलोद्धुतः । अयं नु रचितोऽश्वानामिवोच्चैः पटमंडपः ॥ ११४ ॥ रजस्वलां महीं दृष्ट्वा जुगुप्सव इवोत्थिताः । द्रुतं विविशुरंभांसि सरसीनां महाहयाः ॥ ११५ ॥ वारि वारिजकिंजल्कततमश्वा विगाहिताः । धौतमप्यंगरागं स्वं भेजुरंभोजरेणुभिः ॥ ११६ ॥ सरोवगाहनिर्धूतश्रमाः पीतांभसो हयाः । आमीलिताक्षमध्यूषुर्वितं-तान्पटमंडपान् ॥ ११७ ॥ नालिकेरद्रुमेष्वासीदुचितो वर्ष्मशालिनः । निवेशो हास्तिकस्यास्य विभोस्तालीवनेषु च ॥ ११८ ॥ प्रपतन्नालिकेरौघस्थपुटा

की जमीनपर लोटकर वे घोडे धूल झाडनेके लिये धीरे धीरे अपने शरीरको हिला रहा थे ॥११३॥ उनके शरीर हिलानेसे जो कमलकी परागका समूह वायुसे उडकर आकाशमें छा गया था वह ऐसा जान पडता था मानो घोडोंके लिये बहुत ऊंचा कपडेका मंडप ही बनाया गया हो ॥ ११४ ॥ बडे बडे घोडे पृथ्वीको रजस्वला [धूलिसे भरी हुई] देखकर ग्लानि करते हुये उठे और बहुत शीघ्र तालावोंके पानीमें घुस गये, भावार्थ—जैसे कोई रजस्वला स्त्रीको स्पर्शकर स्नान करता है उसीप्रकार स्पर्श की हुई पृथ्वीको रजस्वला अर्थात् धूलिसहित देखकर ही क्या मानो वे घोडे ग्लानि करते हुये नहानेके लिये तालावोंके पानीमें घुसे थे ॥ ११५ ॥ कमलकी परागसे भरे हुये पानीमें स्नान करनेसे शोभाके लिये उनके शरीरपर लगाया हुआ रंग यद्यपि उतर गया था तथापि वे कमलकी परागसे फिर रंगे हुयेके समान जान पडते थे ॥ ११६ ॥ तालावोंमें स्नान करलेनेसे जिनका परिश्रम सब दूर हो गया है तथा जिन्होंने खूब पानी पी लिया है ऐसे वे घोडे कपडेके बडे बडे मंडपोंमें कुछ कुछ नेत्रोंको बंद कर आरामसे खडे थे ॥ ११७ ॥ महाराजके हाथियोंके डेरे नारियल और ताडवृक्षोंके बनमें बनाये गये थे, सो ठीक ही है क्योंकि वे हाथी बहुत मोटे और ऊंचे थे ॥ ११८ ॥ ऊपरसे पडते हुये नारियरोंके समूहसे जो बनकी भूमि ऊंची नीची हो रही थी वहांपर उन हाथियोंने अपनी सूंडसे उन नारियरोंको एक जगह हटाकर अपने लिये यथायोग्य स्थान बना लिया था ॥ ११९ ॥

वनभूमयः । हस्तिनां स्थानतामीयुस्तैरेव प्रांतसरितैः ॥ ११९ ॥ द्विपानुदस्यतस्तीव्रं वमथुव्यंजितश्रमान् । निन्युर्जलोपयोगाय सरांस्यभिनिषादिनः ॥ १२० ॥ नीचैर्गतेन सुव्यक्तमार्गसंजनितश्रमान् । गजानाधोरणा निन्युः सरसीरवगाहने ॥ १२१ ॥ प्रवेष्टुमब्जिनीपत्रच्छन्नं नागो नवग्रहः । नैच्छत्प्रचोद्यमानोऽपि बारि वारिधिशंकया ॥ १२२ ॥ वनं विलोकयन्स्वैरं कवलोचितपल्लवं । गजश्चिरगृहीतोऽपि किमप्यासीत्समुत्सुकः ॥ १२३ ॥ स्वैरं न पपुरंभांसि नागृह्णन्कवलानपि । केवलं वनसंभोगसुखानां सस्मरुर्गजाः ॥ १२४ ॥ उत्पुष्करान् स्फुरद्रौक्मकक्षान्निन्युर्द्विपान्सरः । सशयूनिव नीलाद्रीन्सविद्युत इवांबुदान् ॥१२५॥ वनद्विपमदामोदवाहिने गंधवाहिने । गजः कुप्यन् जलोपांते निन्ये कृच्छ्रान्निषादिना ॥१२६॥ अंकस्मात्कुपितो दंती शिरस्तिर्य-

जिन्हें बहुत प्यास लगी है तथा जो सूंडसे पानीकी छींटें निकालनिकालकर अपना परिश्रम प्रगट कर रहे हैं ऐसे हाथियोंको महावत लोग जलमें स्नान करानेके लिये तालावोंपर ले गये थे ॥ १२०॥ जो धीरे धीरे चलनेसे मार्गमें उत्पन्न हुये परिश्रमको प्रगट कर रहे हैं ऐसे हाथियोंको महावत लोग स्नान करानेके लिये तालावोंपर ले गये थे ॥ १२१ ॥ कोई नया पकडा हुआ हाथी बार बार हांकनेपर भी कमलिनीके पत्तोंसे ढके हुये जलमें कुछ हरा होनेसे उसे समुद्र समझकर प्रवेश करना नहीं चाहता था ॥ १२२ ॥ बहुत दिनका पकडा हुआ भी कोई हाथी अपनी इच्छानुसार खाने योग्य कोमल पत्तेवाले बनको देखकर बनमें रहनेके लिये एक विलक्षण रीतिसे उत्कंठित हुआ था ॥१२३॥ बहुतसे हाथियोंने इच्छानुसार न तो पानी पिया था और न चारा ही खाया था, वे केवल बनके संभोग सुखोंका स्मरण कर रहे थे ॥ १२४ ॥ जिनकी सूंड ऊंची है तथा जिनके बगलमें सुवर्णकी झूल चमक रही है ऐसे हाथियोंको महावत लोग तालावोंपर ले जा रहे थे, उससमय वे हाथी ऐसे जान पडते थे मानो अजगर सहित नील पर्वत ही हो अथवा बिजली सहित बादल ही हो ॥ १२५ ॥ जिसमें बनके हाथियोंके मदकी गंध आ रही है ऐसे वायुको सूंघकर क्रोधित हुये किसी हाथीको उसका महावत बडी कठिनतासे जलके समीप ले गया था ॥ १२६ ॥ अकस्मात् क्रोधित हुआ कोई हाथी

ग्विधूनयन् । अनंकुशवशस्तीव्रमाधोरणमखेदयत् ॥ १२७ ॥ वन्यानेकपसंभोगसंक्रांतमदवासनां । विगाढुं सरसीं नैच्छन्मदेभः करिणीमिव ॥ १२८ ॥ पीतं वनद्विपैः पूर्वमंबु तद्दानवासितं । द्विपः करेण संजिघ्रन्नापादास्फालयत्परं ॥ १२९ ॥ पीतांभसो मदासारैर्वृद्धिं निन्युः सरोजलं । गजा मुधा धनादानं नूनं वांछंति नोन्नताः ॥ १३० ॥ उत्पुष्करं सरोमध्ये निमग्नोऽपि मदद्विपः । रंरणद्भिः खमुत्पत्य व्यज्यते स्म मधुव्रतैः ॥ १३१ ॥ पीतांबुरंबुदस्पर्द्धिबृंहितो मदकुंजरः । दुधाव गंडकंडूयां चंडगंडूषवारिभिः ॥ १३२ ॥ विमुक्तं व्यक्तसूत्कारं करमुत्क्षिप्य वारणैः । बारि स्फटिकदंडस्य लक्ष्मीमूहे

अपने शिरको तिरछा हिला रहा था वह अंकुशके वश भी नहीं होता था और महावतको बहुत ही खेद खिन्न कर रहा था ॥ १२७ ॥ जिससे जंगली हाथियोंके संभोगकी गंध फैल रही है ऐसी हथिनीको जिसप्रकार हाथी नहीं चाहता है उसीप्रकार जिससे जंगली हाथियोंके क्रीडा करनेसे मदकी गंध फैल रही है ऐसे तालावोंमें घुसनेके लिये भी कोई कोई मदोन्मत्त हाथी इच्छा नहीं करता था ॥ १२८ ॥ जिस पानीको पहिले जंगली हाथी पी चुके थे और इसलिये ही जिससे मदकी गंध आ रही थी ऐसे पानीको सेनाके हाथियोंने पिया नहीं था, वे केवल सूंडसे सूंघ सूंघकर उसे उछाल रहे थे ॥ १२९ ॥ जिन हाथियोंने तालावका पानी पिया था उन्होंने अपना मद बहाकर उस तालावका पानी बढा दिया था सो ठीक ही है क्योंकि जो बडे होते हैं वे किसीका व्यर्थ धन लेनेकी इच्छा नहीं करते हैं ॥ १३० ॥ जिसकी सूंड पानीके ऊपर उठ रही है ऐसा कोई मदोन्मत्त हाथी यद्यपि तालावके मध्यभागमें डूबा हुआ था तथापि उसके ऊपर आकाशमें गुंजार करतेहुये भ्रमरोंसे वह ' यहां हाथी है ' ऐसा साफ समझ पडता था ॥ १३१ ॥ जो पानी पी चुका है और जो मानो बादलके साथ स्पर्द्धा करनेकेलिये ही गरज रहा है ऐसा कोई मदोन्मत्त हाथी सूंडसे छोडतेहुये पानीके जोरसे अपने कपोलोंकी खुजली शांत करता था ॥ १३२ ॥ अनेक हाथी अपनी सूंड ऊंचीकर फू फू कर ऊपरको पानी छोड रहे थे, उससमय वह आकाशमें उछलताहुआ पानी ठीक स्फटिक-

खमुच्छलत् ॥ १३३ ॥ उदगाहैर्विनिर्धूतश्रमाः केचिन्मतंगजाः । बिसभंगैरधुस्तृप्तिं हेलया कवलीकृतैः ॥ १३४ ॥ मृणालैरधिदंताग्रमर्पितैर्विबभुर्गजाः । अजस्रमंबुसंसेकाद्दंतैः प्ररोहितैरिव ॥ १३५ ॥ प्रमाद्यद्विरदः कश्चिन्मृणालं स्वकरोद्धृतं । ददावालानबुध्यैव नियंत्रे द्विगुणीकृतं ॥ १३६ ॥ चरणालग्नमाकर्षन् मृणालं भीरुको गजः । बहिः सरस्तटं व्यास्थदंदुतंतुकशंकया ॥ १३७ ॥ करैरुत्क्षिप्य पद्मानि स्थिताः स्तंबेरमा बभुः । देवतानुस्मृतिं किंचित्कुर्वंतोऽर्घैरिवोद्धृतैः ॥ १३८ ॥ सरस्तरंगधौतांगा रेजुस्तुंगा मतंगजाः । शृंगारिता इवालग्नैः सांद्रैरंभोजरेणुभिः ॥ १३९ ॥ ययुः करिभिरारुद्धं परिहृत्य सरोजलं । पतत्रिणः सरस्तीरं तद्युक्तमबलीयसां ॥ १४० ॥ सरोऽवगाहनिर्णिक्तमूर्तयोऽपि मतंगजाः । रजः प्रमाथैरात्मानं चक्रुरेव मलीमसं

के बने हुये एक दंडेकी शोभा धारण करता था ॥ १३३ ॥ पानीमें स्नान करनेसे जिनका परिश्रम सब दूर होगया है ऐसे कितने ही हाथी लीलापूर्वक कमलके तंतुओंको खाकर ही संतुष्ट हो रहे थे ॥ १३४ ॥ कितने ही हाथी अपने दांतोके अग्रभागपर रक्खेहुये कमलके तंतुओंसे ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों निरंतर पानीके सींचनेसे उनके दांतोंके अंकूरे ही निकले हों ॥१३५॥ मदसे उन्मत्त-हुआ कोई हाथी अपनी सूंडसे पकडेहुये कमलतंतुको बांधनेकी सांकल समझकर उसे दुहरीकर महावतको देता था ॥ १३६ ॥ अपने पैरमें लगेहुये कमलतंतुको खींचताहुआ कोई डरपोक हाथी तालावके बाहरी किनारेपर उसे बांधनेकी सांकल समझकर अर्थात् सांकलसे अपनेको बंधाहुआ समझकर वहीं ठहर गया था ॥ १३७ ॥ अपनी सूंडसे कमलोंको उठाकर खडे हुये कितने ही हाथी ऐसे अच्छे जान पडते थे मानो हाथमें अर्घ लेकर किसी देवताका कुछ स्मरण ही कर रहे हों ॥ १३८ ॥ जिनका शरीर तालावोंकी लहरोंसे धुलगया है ऐसे कितने ही बडे बडे हाथी ऐसे अच्छे जान पडते थे मानो उनके शरीरपर लगीहुई कमलकी बहुतसी परागसे उनका अलंकार ही किया गया हो ॥१३९॥ हाथियोंसे व्याप्त हुये तालावके जलको छोडकर सब पक्षी तालावके किनारेपर चले गये थे सो ठीक ही है क्योंकि कमजोर जीवोंको ऐसा करना योग्य ही है ॥ १४० ॥ तालावोंमें स्नान करनेसे जिन-

॥ १४१ ॥ वयं जात्यैव मातंगा मदेनोद्दीपिताः पुनः । कुतस्त्या शुद्धिरस्माकमित्यात्तं नु रजो गजैः ॥ १४२ ॥ इत्थं सरस्सु सुचिरं प्रविहृत्य नागाः संतापमंतरुदितं प्रशमय्य तोयैः । तीरद्रुमानुपययुः किमपि प्रतोषात् बंधं तु तत्र नियतं न विदांबभूवुः ॥ १४३ ॥ हृत्वा सरोंबु करिणो निजदानवारिसंवर्द्धितं विनिमयादतृषाः श्वसंतः । तद्वीचिहस्तजनितप्रतिरोधशंकाव्यासंगिनो नु सरसः प्रसभं निरीयुः ॥ १४४ ॥ आधोरणा मदमषीमलिनान्करींद्रान् निर्णेक्तुमंबु सरसामवगाहयंतः । शेकुर्न केवलमपामुपयोगमात्रं तीरे स्थितानुनयैस्तदचीकरंतः ॥ १४५ ॥ स्वैरं न चांबु परिपीतमयत्नलभ्यं ती-

---

के शरीर निर्मल होगये हैं ऐसे कितने ही हाथी फिर धूल उडाकर अपना शरीर मैला कर रहे थे ॥ १४१ ॥ प्रथम तो हम लोग जातिसे ही मातंग (हाथी) अर्थात् चांडाल हैं और फिर मदसे (गंडस्थलसे बहते हुये मदसे) अर्थात् मद्यपान करनेसे अधिक उत्तेजित हो रहे हैं इसलिये हम लोगोंके भला शुद्धि [निर्मलता] अर्थात् पवित्रता कहांसे हो सकती है यही समझकर मानो उन हाथियोंने अपने शरीरपर धूल डाल ली थी ॥ १४२ ॥ इसप्रकार वे हाथी बहुत देरतक तालावोंमें क्रीड़ा कर तथा अंतःकरणमें उत्पन्न हुये संतापको जलसे शांतकर किनारेके वृक्षोंके समीप आ गये थे और क्रीडा करनेसे जो विलक्षण आनंद हुआ था उससे उन्हें अपना बंधाहुआ बंधन भी नहीं जान पडा था ॥ १४३ ॥ हाथियोंने जो तालावोंका पानी पिया था उसे मानो अपना बदला चुकानेकेलिये ही अपने मदके जलसे बढा दिया था, इसप्रकार प्यास बुझजानेपर आरामसे श्वासोच्छ्वास लेते हुये तालावोंकी लहरेंरूपी हाथोंसे उत्पन्न हुई अपने रोकनेकी शंका करतेहुये बहुत शीघ्र उन तालावोंसे निकल गये थे ॥१४४॥ जो हाथी मदके जलसे मलिन हो रहे थे उन्हें स्वच्छ करनेकेलिये तालावोंके जलमें प्रवेश कराते हुये महावत लोग किनारेपर खडेहुये उन हाथियोंसे बहुत प्रार्थना करनेपर भी उन्हें केवल पानी भी नहीं पिला सके थे, भावार्थ–उन हाथियोंने न पानी ही पिया था और न वे जलमें घुसे थे, ॥ १४५ ॥ मदोन्मत्त हाथियोंने न तो अपनी इच्छानुसार बिना यत्नके प्राप्तहुआ पानी ही पिया था

रद्रुमेषु न कृतः कवलग्रहोऽपि। छायास्वलंभि न तु विश्रमणं प्रभिन्नैः स्तंबेरमैर्बत ! मदः खलु नात्मनीनः॥ १४६ ॥ नाध्वा द्रुतं गुरुतरैरपि नानुयातो युद्धेषु जातु न किमप्यपराद्धमेभिः। भारक्षमाश्च करिणः सविशेषमेव बद्धास्तथाप्यनिभृता इति धिक् चलत्वं ॥ १४७ ॥ बध्नीथ नः किमिति हंत विनापराधात् जानीत भोः प्रतिफलत्यचिरादिदं वः। इत्युच्छ्लत्सृणि विधूय शिरांसि बंधैर्वैरं नियंतृषु गजाः स्म विभावयंति ॥ १४८ ॥ आघातुको द्विरदनः सविशेषमेव गात्रापरांतकरवालधिषु न्ययोजि। बंधेन सिंदुरवरांस्त्वितरे तथा नो गाढीभवंत्यविरतान्न परत्र बंधाः॥ १४९ ॥ आलानिता

न किनारेके वृक्षोंसे कुछ खाया था और न वृक्षोंकी छायामें विश्राम ही लिया था, खेद है कि यह मद कभी जीवको सुख देनेवाला नहीं होता ॥ १४६ ॥ देखो ! हाथियोंने शरीर भारी होनेसे मार्गको शीघ्र तय नहीं किया अर्थात् मार्गमें शीघ्र न चले यह बात भी नहीं है, न इन्होंने किसी युद्धमें कभी कुछ अपराध किया है, बोझा लेजानेकेलिये भी ये सबसे अधिक समर्थ हैं तथापि केवल चंचल होनेसे इन्हें बंधनमें पडना पडा है इसलिये इस चंचलताको ही धिक्कार हो ॥ १४७ ॥ अजी ! तुम-लोग बिना अपराधके हमको क्यों बांधते हो ! इसके बदलेमें तुम्हें शीघ्र फल मिलेगा यह बात तुम खूब समझ लो ? इसप्रकार बांधनेके बदलेमें महावतोंके साथ जो वैर था उसे वे हाथी कानपर रक्खेहुये अंकुशको ऊपर फेंककर अपना मस्तक हिलातेहुये स्पष्ट दिखला रहे थे ॥ १४८ ॥ जो हाथी जीवोंको मारनेवाले थे उनका शरीर आदिसे अंततक तथा सूंड पूंछ आदि सब विशेष रीतिसे बांधा गया था, और जो हाथी किसीको नहीं मारते थे उन्हें बिलकुल नहीं बांधा था, इससे यह सिद्ध होता है कि जो अविरती हैं अर्थात् जिनके हिंसाका त्याग नहीं है उनके कर्मोंका बंध बहुत मजबूतीसे होता है और जो त्यागी हैं कभी हिंसा नहीं करते हैं, उनके कर्मका बंध नहीं होता ॥ १४९ ॥ जिनकी शाखायें बहुत ऊंची गई हैं तथा जो स्वयं बहुत ऊंचे हैं ऐसे जंगली वृक्षोंके नीचे उन बडे बडे हाथियोंको बांधा था सो ठीक ही है क्योंकि बडे पुरुषोंको धारण करनेकेलिये जिसकी शक्ति कम नहीं हुई

वनतरुष्वतिमात्रमुच्चस्कंधेषु सिंदुरवराश्च तथोच्चकैर्यत् । तन्नूनमाश्रयणमिष्टमुदात्तमेव संधारणाय महतामहतात्मसारं ॥ १५० ॥ इत्थं नियंतृभिरनेकपवृं-दमुच्चैरालानितं तरुषु सामिनिमीलिताक्षं । तस्थौ सुखं विचतुरेण कृतांगहारं लीलोपयुक्तकवलं स्फुटकर्णतालं ॥ १५१ ॥ उत्तारिताखिलपरिच्छदलाघवेन प्रव्यंजितद्रुतगतिक्रमलक्षवेगाः । आपातुमंबु सरसां परितः प्रसस्रुरुच्छृंखलैरनुगताः कलभैः करिण्यः ॥ १५२ ॥ प्राक्पीतमंबु सरसां कृतमौष्ट्रकेण स्वोद्गालदूषितमुपात्ततदंगगंधं । नापातुमैच्छदुदकं तृषितोऽपि बर्कः ? सर्वो हि वांछति मनोविषयं मनोज्ञं ॥ १५३ ॥ पीतं पुरा गजतया सलिलं मदांबुसंवासितं सरसिजाकरमेत्य तूर्णम् । प्रीत्या पपुः कलभकाश्च करेणवश्च संभोगहेतुरुदितो हि सगंधभावः ॥ १५४ ॥ पीत्वांभो व्यपगमितांतरंगतापाः संतापं

है ऐसा बहुत बडा ही आश्रय चाहिये ॥ १५० ॥ इसप्रकार महावतोंके द्वारा ऊंचे वृक्षोंसे बांधा हुआ वह हाथियोंका समूह अपनी आधी आंखें बंदकर अपने सब शरीरको हिलाता हुआ, लीला पूर्वक ग्रास लेताहुआ और कानोंको फडकाता हुआ सुखसे खडा था ॥ १५१ ॥ जिनका पलान आदि सब सामान उतार लिया है इससे हलकी होकर जल्दी जल्दी चलकर जिन्होंने अपनी शीघ्रगति प्रगट की है, तथा इधर उधर दौडनेवाले बच्चे जिनके पीछे पीछे आ रहे हैं ऐसी हथिनियां कंठतक तालावोंका पानी पीनेके लिये चारों ओरसे जा रहीं थीं ॥१५२॥ जो तालावोंका पानी पहिले ऊंटोंने पीया था, जो ऊंटोंके मुखसे निकलतेहुये फेनसे दूषित हो गया था और जिसमें ऊंटके शरीरकी गंध आने लगी थी ऐसे पानीको प्यासा हुआ भी कोई तरुण हाथी पीनेकी इच्छा नहीं करता था सो ठीक ही है क्योंकि अपने मन को अच्छा लगनेवाला पदार्थ मनोज्ञ होना चाहिये यह सबकी ही इच्छा रहती है ॥१५३॥ जिसका पानी पहिले हाथियोंकासमूह पी चुका है और जिसमें हाथीके मदकी गंध आ रही है ऐसे सरोवरपर हाथीके बच्चे और हथिनियां दोनों ही बहुत शीघ्र आकर बडे प्रेमसे पानी पी रही थीं, सो ठीक ही है क्योंकि जिसकी गंध आदि विषय सब समान हैं ऐसे ही पदार्थ उपभोग करने योग्य होते हैं, अथवा जिनकी समान मैत्री है ऐसे ही पुरुष साथ साथ खाने पीने योग्य होते हैं ॥ १५४ ॥ जिन्होंने पानी

बहिरुदितं सरोऽवगाहैः । नीत्वांतं गजकलभैः समं करिण्यः संभोक्तुं सपदि वनद्रुमान्विचेरुः ॥ १५५ ॥ वल्लीनां सकुसुमपल्लवाग्रभंगान् गुल्मौघानपि सरसान्कडंगरींश्च । सुस्वादून्मृदुविटपान्वनद्रुमाणां तद्यूथं कवलयति स्म धेनुकानां ॥ १५६ ॥ कुंजेषु प्रतनुतृणांकुरान्प्रमृद्नन् वप्रांतानपि रदनैः शनैर्विनिघ्नन् । वल्यग्रग्रसनचणः फलेग्रहिः सन् व्यालोलः कलभगणश्चिरं विजघ्ने ॥ १५७ ॥ प्रत्यग्राः किसलयिनीर्गृहाण शाखाभंग्युच्चैर्वनगहनं निषीद कुंजे । संभोग्यानुपसर सल्लकीवनांतानित्येवं व्यहृत वने करेणुवर्गः ॥ १५८ ॥ संभोगैर्वनमिति निर्विशन्यथेष्टं स्वातंत्र्यान्मुहुरपि धूर्गतैर्निषिद्धः । बद्धव्यः सहकलभः करेणुवर्गः संप्रापत्समुचितमात्मनो निवेशं ॥ १५९ ॥ वित्रस्तैरपथमुपाहृतस्तुरंगैः पर्यस्तो रथ इह भग्नधूर्निरक्षः । एतास्ता द्रुतमुपयांत्य-

---

पीकर अंतरंगका संताप दूर किया है तथा तालावमें डूबकर बाहरी संताप दूर किया है ऐसी हथिनियां अपने बच्चोंको साथ लेकर बहुत शीघ्र बनके वृक्षोंकी ओर खानेके लिये चली गईं ॥ १५५ ॥ वह हथिनियोंका समूह लताओंके पुष्प सहित पत्तोंके अग्रभागको, छोटे छोटे पौधोंको, रसीले कडंगरी जातिके वृक्षोंको और बनके वृक्षोंकी स्वादिष्ट कोमल शाखाओंको खाने लगा था ॥ १५६ ॥ लतामंडपोंमें पतली घासके अंकूरोंको खूंदता हुआ, खेतोंके अंतभागको (मेड) अपने दांतोंसे धीरे धीरे तोडता हुआ, लताओंके अग्रभागको खानेमें चतुर और फलोंको तोडता हुआ चंचल हाथियोंके बच्चोंका समुदाय बहुत देरतक क्रीडा कर रहा था ॥ १५७ ॥ नवीन पत्तेवाली लताओंको ग्रहण कर, जिसमें अनेक शाखायें टूटी हुई हैं ऐसे बडे गहन बनमें बैठ तथा लतामंडपोंमें खाने योग्य सल्लकीके बनोंके समीप जा, इसप्रकार उस हथिनियोंके समूहको महावत लोग विहार करा रहे थे ॥ १५८ ॥ इसप्रकार जो अनेक प्रकारकी क्रीडा करते हुये इच्छानुसार बनमें प्रवेश करता है, स्वतंत्रतासे आगे आगे चलनेसे महावत लोग जिसे बार बार रोक रहे हैं, जो बांधने योग्य है और बच्चोंसहित है ऐसा हथिनियोंका समूह अपने योग्य रहनेके स्थानपर जा पहुंचा ॥ १५९ ॥ यह देखो हाथियोंसे डरकर इन घोडोंने यह रथ कुमार्गमें लेजाकर पटक दिया है, इसका धुरा जूआ आदि

पेत्य मार्गाद्वारस्त्रींवहनपराश्च वेगसर्यः ॥ १६० ॥ वित्रस्तः करभनिरीक्षणाद्गजोऽयं भीरुत्वं प्रकटयति प्रधावमानः । उत्त्रस्तात्पतति च वेसरादमुष्मादित्रस्तस्तनजघनांशुका पुरंध्री ॥ १६१ ॥ इत्युच्चैर्व्यतिवदतां पृथग्जनानां संजल्पैः क्षुभितखरोष्ट्रकौक्षकैश्च । व्याक्रोशैर्जनितरवैश्च सैनिकानां संक्षोभः क्षणमभवच्चमूषु राज्ञां ॥ १६२ ॥ अवनिपतिसमाजेनानुयातस्तुरंगैरक्षशविभवयोगान्निर्जयन् लोकपालान् । प्रतिदिशमुपशृण्वन्नाशिषश्चक्रपाणिः शिबिरमविशदुच्चैर्बंदिनां पुण्यघोषैः ॥ १६३ ॥ अथ सरसिजिनीनां गंधमादाय सांद्रं धुततटवनवीथीर्मंदमावात्समंतात् । श्रममखिलमनैत्सीत्कर्तुमस्योपचारं प्रहित इव स-

---

टूट गया है तथा वेश्याओंको ले जानेवाली ये खच्चरियां अपना मार्ग छोडकर बहुत शीघ्र दौडी जा रही हैं ॥ १६० ॥ यह हाथी भी ऊंटको देखकर डर गया है और दौडता हुआ अपना डरपोकपना प्रगट कर रहा हे तथा जिसके स्तनकी चोली और जघनकी धोती छूट गई है ऐसी यह स्त्री भी इस डरे हुये खच्चरसे गिर गई है ॥ १६१ ॥ इसप्रकार जो लोग अलग अलग परस्पर जोरसे बातचीत करते थे उनके शब्दोंसे, क्षुब्ध होकर चिल्लाते हुये गधा ऊंट तथा बैलोंके शब्दोंसे और परस्पर बुलानेसे उत्पन्न हुये सेनाके कठोर शब्दोंसे उस चक्रवर्तीकी सेनामें क्षणभरके लिये एक बडा भारी क्षोभ उत्पन्न हुआ था ॥ १६२ ॥ घोडोंपर बैठकर अनेक राजालोग जिसके पीछे पीछे चल रहे हैं ऐसा वह चक्रवर्ती अपनी बडी विभूतिसे सब लोकपालोंको जीतता हुआ, प्रत्येक दिशामें आशीर्वाद सुनता हुआ, और बंदीजनोंके द्वारा गाये हुये मंगलपाठोंके साथ साथ प्रत्येक दिशामें आशीर्वाद सुनता हुआ अपने बडे तंबूमें जा पहुंचा ॥ १६३ ॥

अथानंतर– जो किनारेके बनमें वृक्षोंकी पंक्तियोंको हिला रहा है ऐसा वायु कमलिनियों की उत्कट गंध लेकर धीरे धीरे चारों ओरसे वह रहा था और वह चक्रवर्तीका सब परिश्रम दूर कर रहा था, उस समय वह वायु ऐसा जान पडता था मानो इस भरतकी सेवा करनेके लिये समुद्रने अपना एक दूत ही भेजा हो ॥ १६४ ॥ उस समय वह सेना का स्थान ठीक समुद्रका अनुकरण कर रहा था

गंधः सिंधुना गंधवाहः ॥ १६४ ॥ अविदितपरिमाणैरन्वितो शंखरत्नैः स्फुरितमणिशिखाग्रैर्भोगिभिः सेवनीयः । सततमुपचितात्मा रुद्धदिक्चक्रवालो जलनिधिमनुजन्हे तस्य सेनानिवेशः ॥ १६५ ॥ तत्रावासितसाधनो निधिपतिर्गत्वा रथेनांबुधिं जैत्रास्त्रप्रतिनिर्जितामरसभस्तं व्यंतराधीश्वरं । जित्वा मागधवत्क्षणाद्वरतनुं तत्साह्वमंभोनिधिद्वीपं शश्वदलंचकार यशसा कल्पांतरस्थायिना ॥ १६६ ॥ लेभेऽभेद्यमुरश्छदं वरतनोर्ग्रैवेयकं च स्फुरच्चूडारत्नमुदंशु दिव्यकटकान्सूत्रं च रत्नोज्ज्वलं । सद्रत्नैरिति पूजितः स भगवान् श्रीवैजयंतार्णवद्वारेण प्रतिसन्निवृत्य कटकं प्राविक्षदुत्तोरणं ॥ १६७ ॥ स्वच्छं स्वं हृदयं

क्योंकि जिसप्रकार समुद्र परिमाणरहित अर्थात् असंख्यात शंख और रत्नोंसे भरा हुआ है उसी प्रकार वह सेनाका स्थान भी असंख्यात शंख आदि निधि और चक्रादि रत्नोंसे भरा था, जिस प्रकार समुद्रमें जिनके मस्तकपर अनेक मणि चमक रहे हैं ऐसे सर्प रहते हैं उसी प्रकार उस सेनाके स्थानमें जिनके मस्तकके मुकुटमें अनेक मणि चमक रहे हैं ऐसे अनेक भोगी अर्थात् राजा लोग रहते थे, समुद्र जिसप्रकार सदा बढता रहता है उसी प्रकार वह सेनाका स्थान भी सदा बढता रहता था और समुद्रने जिसप्रकार सब दिशायें घेर लीं थीं उसीप्रकार उस सेनाके स्थाननेभी सब दिशायें घेर लीं थीं ॥ १६५ ॥ जिसने अपनी सब सेना समुद्रके किनारेपर छोड दी है और विजय करनेवाले शस्त्रोंसे मागध देवकी सभा जिसने जीत ली है ऐसे उस निधियोंके स्वामी भरतने रथमें बैठकर समुद्रमें जाकर व्यंतरोंके स्वामी वरतनु देवको भी मागध देवके समान जीता और उस वरतनु नामके समुद्रके द्वीपको कल्पांतकाल तक टिकनेवाले यशसे सदाके लिये सुशोभित किया ॥ १६६ ॥ भरतको कभी न टूटनेवाला कवच, दैदीप्यमान हार, प्रकाशमान चूडारत्न, दिव्य कडे और रत्नोंसे प्रकाशमान यज्ञोपवीत (जनेऊ) ये सब चीजें वरतनु देवसे प्राप्त हुईं, इसप्रकार उत्तम रत्नोंसे जिसका सत्कार किया गया है ऐसा वह ऐश्वर्यशाली चक्रवर्ती वैजयंत नामके समुद्रके दरवाजेसे पीछे लौटा और जिसमें अनेक ध्वजायें फहरा रही हैं ऐसे अपने सेनास्थानमें (छावनीमें) आ

स्फुटं प्रकटयन्मुक्ताफलच्छद्मना स्वं चांतर्गतरागमाशु कथयन्नुद्यत्प्रवालांकुरैः। सर्वस्वं च समर्पयन्नुपनयन्नंतर्धनं दक्षिणो वारांराशिरमात्यवद्विभुमसौ निर्व्याजमाराधयत् ॥ १६८ ॥ आस्थाने जयदुंदुभीननुनदन्प्राभातिके मंगलेगंभीरध्वनितैर्जयध्वनिमिव प्रस्पष्टमुच्चारयन्। सुव्यक्तं सजलाशयोप्यजलधीर्वारांपतिः

पहुंचा ॥१६७॥ उस समय वह समुद्र ठीक मंत्रीके समान कपटरहित भरतकी सेवा करता था, क्योंकि जिसप्रकार मंत्री अपने हृदयकी स्वच्छता सदा प्रगट करता रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मोतियोंके बहानेसे अपने अंतःकरणकी स्वच्छता साफ प्रगट करता था, जिसप्रकार मंत्री अपना अंतरंगका अनुराग प्रगट करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी निकलतेहुये प्रबालके अंकूरोंके द्वारा अपने अंतरंगका अनुराग शीघ्रताके साथ प्रगट करता था, मंत्री जिसप्रकार राजाको अपना सर्वस्व अर्पण करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी अपना रत्नादि सर्वस्व अर्पण करता था, मंत्री जिसप्रकार अपना खास धन महाराजके समीप रखता है उसीप्रकार वह समुद्रभी अपना खास धन पानी भरतके समीप पहुंचाता था और मंत्री जिसप्रकार दाक्षिण अर्थात् चतुर होता है उसीप्रकार वह समुद्रभी दाक्षिण अर्थात् दक्षिणदिशाका था ॥१६८॥ जिसप्रकार इंद्र दास होकर प्रथम तीर्थंकर भगवान वृषभदेवकी पूजा करता था उसीप्रकार वह समुद्र भी दास होकर भरतकी सेवा करता था, क्योंकि जिसप्रकार इंद्र आस्थान अर्थात् समवसरणमें जाकर जय दुंदुभी वजाता है उसीप्रकार वह समुद्रभी आस्थान अर्थात् सेनाके समीप ही गरजता हुआ जय दुंदुभियोंका अनुकरण कर रहा था, इंद्र जिसप्रकार प्रातःकालमें मंगलपाठ पढनेकेलिये गंभीर ध्वनिके द्वारा स्पष्ट रीतिसे जय जय शब्दोंका उच्चारण करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी लहरोंके शब्दोंसे ऐसा जान पडता था मानों भरतकेलिये प्रातःकालका मंगलपाठ पढनेकेलिये स्पष्टरीतिसे जय जय शब्दोंका ही उच्चारण कर रहा हो, और इंद्र जिसप्रकार केवलज्ञानकी अपेक्षा प्रगट जलाशय (जडाशय) अर्थात् अल्पज्ञानी है तथापि अजलधी (अजडधी) अर्थात् पूर्ण विद्वा-

श्रीपतिं निर्भृत्यस्थितिरन्वियाय सुचिरं शक्रो यथार्चं जिनं ॥ १६९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे दक्षिणार्णवद्वारविजयवर्णनं नामैकोनत्रिंशं पर्व ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशत्तमं पर्व ।

अथापरांतं निर्जेतुमुद्यतः प्रभुरुद्ययौ । दक्षिणापरादिग्भागं वशीकुर्वन्स्वसाधनैः ॥ १ ॥ पुरः प्रयातमार्श्वीयैरन्वक्प्रचलितं रथैः । मध्ये हस्तिघटा प्रायात्सर्वत्रैवात्र पत्तयः ॥ २ ॥ सदैवं बलमित्यस्य चतुरंगं विभोर्बलं । विद्याभृतां बलैः सार्धं षड्भिरंगैर्विपप्रथे ॥ ३ ॥ प्रचलद्बलसंक्षोभादुच्चचाल किला-

---

न् है [मतिज्ञान पूर्णश्रुतज्ञान और अवधिज्ञानको धारण करनेवाला है] उसीप्रकार वह समुद्र भी प्रगट जलाशय अर्थात् जलसे भराहुआ होकर भी अजलधी अर्थात् जल उत्पन्न करनेवाला नहीं था, इसप्रकार वह समुद्र चिरकालतक भरतकी सेवा करता रहा था ॥ १६९ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें दक्षिण समुद्रके द्वारके विजयका वर्णन करनेवाला यह उन्तीसवां पर्व समाप्त हुआ २९ ॥

अथ तीसवां पर्व ।

अथानंतर—पश्चिम दिशाको जीतनेकेलिये तैयार हुआ वह चक्रवर्ती अपनी सेनाके द्वारा दक्षिण पश्चिमके बीचकी नैऋतदिशाको जीतताहुआ निकला ॥ १ ॥ सबसे आगे घुडसवार चल रहे थे, रथ सबसे पीछे थे, हाथियोंका समूह बीचमें चलता था और पैदल सेना चारोंओर चल रही थी ॥ २ ॥ हाथी घोडे रथ पियादे इसप्रकार चारतरहकी भरतकी सेना देव और विद्याधरोंकी सेनाके साथ साथ चल रही थी, और इसप्रकार छहप्रकारकी वह सेना चारोंओर फैल रही थी ॥ ३ ॥ उस चलती हुई सेनाके क्षोभसे समुद्र भी क्षुब्ध हो गया था और वह ऐसा जान पडता था मानो जिस रीतिसे

र्णवः । महतामनुवृत्तिं नु श्रावयन्ननुजीविनां ॥ ४ ॥ बलैः प्रसह्य निर्भुक्ताः प्रह्वंतिस्म महीभुजः । सरितः कर्दमंतिस्म स्थलंतिस्म महाद्रयः ॥ ५ ॥ सुरसाः कृतनिर्वाणाः स्पृहणीया बुभुक्षुभिः । महद्भिः सममुद्योगैः फलंतिस्मास्य सिद्धयः ॥ ६ ॥ अभेद्या दृढसंधाना विपक्षक्षयहेतवः । शक्तयोऽस्य स्फुरंति स्म सेनाश्च विजिगीषुषु ॥ ७ ॥ फलेन योजितास्तीक्ष्णाः सपक्षा दूरगामिनः । नाराचैः सममेतस्य योधा जग्मुर्जयांगतां ॥ ८ ॥ दूरमुत्सारिताः सैन्यैः परित्यक्तपरिच्छदाः । विपक्षाः सत्यमेवास्य विपक्षत्वमुपाययुः ॥ ९ ॥ आक्रांता भूभृतो नित्यं भुंजानाः फलसंपदं । कुपतित्वं ययुश्चित्रं कोपेप्यस्य

बडे आदमी चलते हैं उसीतरह सबको चलना चाहिये यही सेवक लोगोंको सुना रहा हो ॥ ४ ॥ सेनाके द्वारा जवर्दस्ती आक्रमण कियेहुये राजालोग सब नम्र होगये थे, नदियोंमें कीचड हो गया था और बडे बडे पर्वत जमीनके समान सपाट हो गये थे ॥ ५ ॥ जिनका उपभोग सुखदेनेवाला वा स्वादिष्ट है, जो सब दुखोंको नाश करनेबाली हैं और फल चाहनेवाले लोग जिनकी इच्छा करते हैं ऐसी इस चक्रवर्तीकी सब कार्योंकी सिद्धियें इसके बडे भारी उद्योगके साथ साथ फलती थीं, भावार्थ—चक्रवर्तीके सब कार्य सहज ही सिद्ध हो जाते थे ॥ ६ ॥ भरतकी सेना और शक्ति दोनों ही बहुत मजबूत थीं उन्हें कोई भेद नहीं सकता था और वे दोनों ही शत्रुओंका क्षय करनेवाली थीं, इसप्रकार वे दोनों ही शत्रुओंपर अपना प्रभाव डाल रहीं थीं ॥ ७ ॥ भरतके योद्धा उसके बाणोंके समान थे क्योंकि जिसप्रकार योद्धा फल अर्थात् इच्छानुसार लाभ मिलानेवाले थे उसीप्रकार बाण भी फल अर्थात् लोहेकी नोक सहित थे, जिसप्रकार योद्धा अर्थात् वीरपुरुष तीक्ष्ण अर्थात् क्रूर वा तेज थे उसीप्रकार वाण भी तीक्ष्ण अर्थात् पैने थे, योद्धा जिसप्रकार पक्ष अर्थात् सहायकों सहित थे उसीप्रकार बाण भी पक्ष अर्थात् पीछे लगे हुये लोहेके पंख सहित थे और योद्धा जिसप्रकार दूर तक धावा मारनेवाले थे उसीप्रकार बाण भी बहुत दूर जानेवाले थे, इसप्रकार वे दोनो ही साथ साथ विजयके कारण हो रहे थे ॥ ८ ॥ भरतके विपक्षी अर्थात् शत्रुगण सेनाने दूर भगा दिये थे और छत्र

विरोधिनः ॥ १० ॥ संधिविग्रहचिंतास्य पदविद्यास्वभूत्परं । धूतयातव्यपक्षस्य क संधानं क विग्रहः ॥ ११ ॥ इत्यजेतव्यपक्षोऽपि यदयं दिग्जयोद्यतः । तन्नूनं भुक्तिमात्मीयां तद्व्याजेन परीयिवान् ॥ १२ ॥ आक्रांताः सैनिकैरस्य विभोः पारेऽर्णवं भुवः । पूगद्रुमकृतच्छाया नालिकेरवनैस्तताः ॥ १३ ॥ निपपे नालिकेराणां तरुणानां स्रुतो रसः । सरस्तीरतरुच्छायाविश्रांतैरस्य सैनिकैः ॥ १४ ॥ स्फुरत्परुषसंपातः पवनाधूननोत्थितः । तालीवनेषु तत्सैन्यैः

चमर आदि सब सामिग्री उन्होंने फेंक दी थी इसलिये वे सचमुच ही विपक्ष अर्थात् सहायरहित होगये थे ॥ ९ ॥ यह भी एक आश्चर्यकी बात थी कि भरतके विरोधी राजा सेनाके द्वारा आक्रमण करनेपर तथा भरतके क्रोधित होनेपर भी अनेक तरहकी फल संपत्तियोंका सदा उपभोग करते हुये कुपति अर्थात् पृथ्वीके स्वामी बने रहे थे, इस श्लोकका ऊपरके समान अर्थ करनेसे विरोध आता है क्योंकि भरतके क्रोध करनेपर और उसकी सेनाके द्वारा आक्रमण करनेपर कभी कोई राजा सुखी नहीं हो सकता इसलिये इस विरोधको दूर करनेकेलिये ऐसा अर्थ करना चाहिये कि भरतके क्रोधित होनेपर तथा सेनाके द्वारा दबाये जानेपर अनेक राजा फल पत्ते आदि जंगलकी संपत्तिका उपभोग करते हुये कुपति अर्थात् दरिद्र होगये थे ॥ १० ॥ उस भरतको संधि [दो स्वर अथवा व्यंजनोंका मिलना] और विग्रह [व्युत्पत्ति] की चिंता केवल व्याकरण शास्त्रमें थी शत्रुओंमें नहीं थी सो ठीक ही है क्योंकि जिसने सब शत्रुओंको नष्ट कर दिया है उसे शत्रुओंके साथ कहां संधि अर्थात् इकरारनामा करना पडेगा ? और कहां विग्रह अर्थात् युद्ध करना पडेगा ? ॥ ११ ॥ इसप्रकार यद्यपि उसका जीतने योग्य कोई शत्रु नहीं था तथापि वह जो दिग्विजय करनेकेलिये निकला था वह केवल दिग्विजयके बहानेसे अपने उपभोग करने योग्य पृथ्वीपर फिर आया था ॥१२॥ उस भरतकी सेनाने जिसपर सुपारीके वृक्षोंकी घनी छाया हो रही है और जो नारियरके बनोंसे भर रही है ऐसी समुद्रके किनारेकी भूमिपर भी आक्रमण किया था ॥ १३ ॥ सरोवरके किनारेके वृक्षोंकी छायामें वि-

शुश्रुवे मर्मरध्वनिः ॥ १५ ॥ समं तांबूलवल्लीभिरपश्यत्क्रमुकान्विभुः । एककार्यत्वमस्माकमितीव मिलितान्मिथः ॥ १६ ॥ नृपस्तांबूलवल्लीनामुपघ्नान्क्रमुकद्रुमान् । निध्याय वेष्टिताँस्ताभिर्मुमुदे दंपतीयितान् ॥ १७ ॥ स्वाध्यायमिव कुर्वाणान्वनेष्वविरतस्वनं । वीन्मुनीनिव सोऽपश्यद्यत्रास्तमितवासिनः ॥१८॥ पनसानि मृदून्यंतः कंटकीनि बहिस्त्वचि । सुरसान्यमृतानीव जनाः प्रादन्यथेप्सितं ॥ १९ ॥ नालिकेररसः पानं पनसान्यशनं परं । मरीचान्युपदंशश्च वन्या वृत्तिरहो सुखं ॥ २० ॥ सरसानि मरीचानि किमप्यास्वाद्य विष्किरान् । रुवतः प्रभुरद्राक्षीद्गलदश्रुविलोचनान् ॥ २१ ॥ विदंश्य मंजरीस्तीक्ष्णा मरीचानामशंकितं । शिरोविधूनतोऽपश्यत्प्रभुस्तरुणमर्कटान् ॥ २२ ॥ वनस्पतीन्फलानम्रान्वीक्ष्य लोकोपकारिणः । जाताः कल्पद्रुमास्तित्वे निरारेकास्तदा

श्राम लेनेवाले उसकी सेनाके लोगोंने तरुण वृक्षोंसे निकलता हुआ रस खूब पिया था ॥१४॥ वहांपर भरतकी सेनाके लोगोंको ताडवृक्षोंके बनमें वायुके हिलनेसे उत्पन्न हुई बहुत कठोर सूके पत्तोंकी मर्मरध्वनि सुनाई पड रही थी ॥ १५ ॥ वहां जो सुपारियोंके वृक्ष मानों हम लोगोंका मिलकर ही एक कार्य होगा यही समझकर पानोंकी बेलोंसे परस्पर मिल रहे थे उन्हें भरतने देखा ॥ १६ ॥ जो सुपारीके वृक्ष पानोंकी वेलोंके आश्रय थे और स्त्री पुरुष सरीखे होकर उन बेलोंसे लिपट रहे थे उन्हें देखकर भरत बहुत ही प्रसन्न हुआ था ॥१७॥ सूर्य अस्त होनेपर ही निवास करनेवाले जो पक्षी उसबनमें विराम रहित बराबर शब्द कर रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों सूर्य अस्त होनेपर ही निवास करनेवाले स्वाध्याय करतेहुये मुनी हों उन्हें भी भरतने वहां देखा था ॥ १८ ॥ जो भीतर कोमल हैं और जिनके बाहरीभागपर बहुत कांटे हैं ऐसे अमृतके समान मधुर कटहलोंके फलोंको सेनाके लोग इच्छानुसार खाते थे ॥१९॥ अहा जहांपर पीनेको नारियरका रस मिलता है, खानेको कटहलके फल और चटनी आदि व्यंजनोंके लिये मिरचें मिलती हैं इसप्रकार बनमें रहकर शरीरका निर्वाह करना भी बहुत ही सुख देनेवाला है ॥२०॥ जो गीली मिरचें खाकर कुछ कुछ शब्द कर रहे हैं और जिनके नेत्रोंसे आंसू बह रहे हैं ऐसे पक्षियोंको भी भरतने वहां देखा ॥ २१ ॥ बहुत तेज मिरचोंके गुच्छोंको निशं-

जनाः ॥ २३ ॥ लतायुवतिसंसक्ताः प्रसवाढ्याः वनद्रुमाः । करदा इव तस्यासन्प्रीणयंतः फलैर्जनान् ॥ २४ ॥ नालिकेरासवैर्मत्ताः किंचिदाघूर्णितेक्षणाः । यशोऽस्य जगुरामंद्रकुहरं सिंहलांगनाः ॥ २५ ॥ त्रिकूटे मलयोत्संगे गिरौ पांड्यकवाटके । जगुरस्य यशो मंद्रमूर्च्छनाः किन्नरांगनाः ॥ २६ ॥ मलयोपांतकांतारे सह्याचलवनेषु च । यशो वनचरस्त्रीभिरुज्जगेऽस्य जयार्जितं ॥ २७ ॥ चंदनोद्यानमाधूय मंदं गंधवहो ववौ । मलयाचलकुंजेभ्यो हरन्निर्झरशीकरान् ॥ २८ ॥ विष्वग्विसारी दाक्षिण्यं समुज्झन्नपि सोऽनिलः । संभावयन्निवातिथ्यैर्विभोः श्रममुपाहरत् ॥ २९ ॥ एलालवंगसंवाससुरभिक्ष-

---

कपनेसे खाकर चटपटी लगनेसे शिरको हिलातेहुये ऐसे तरुण बंदरोंको भी चक्रवर्तीने देखा ॥ २२ ॥ उससमय वहांपर लोगोंका उपकार करनेवाली और फलोंसे नवीहुई ऐसी अनेक बनस्पतियोंको देखकर कल्पवृक्षोंके अस्तित्वमें लोग निःसंदेह होगये थे ॥ २३ ॥ जिनपर बहुतसे फल फले हुये हैं ऐसे लतारूप स्त्रियोंसे लिपटेहुये बनके वृक्ष अपने फलोंसे सेनाके लोगोंको संतुष्ट करतेहुये ऐसे जान पडते थे मानो भरतको कर ही दे रहे हों ॥ २४ ॥ वहांपर नारियरका मद्य पीकर उन्मत्त हुई और इसलिये ही जिनके नेत्र कुछ कुछ घूम रहे हैं ऐसी सिंहलद्वीपकी तरुण स्त्रियें गदगद स्वरसे भरतका यश गा रहीं थीं ॥ २५ ॥ तथा त्रिकूटाचल पर्वतपर मलयागिरिके शिखरपर और पांड्यकवाटक नामके पर्वतपर किन्नर जातिकी देवियां गंभीरस्वरसे इस चक्रवर्तीका यश गा रहीं थीं ॥ २६ ॥ इसीतरह मलयपर्वतके समीपके बनमें और सह्य पर्वतके बनोंमें भीलोंकी स्त्रियां इसके विजयसे उत्पन्न हुआ यश गा रही थीं ॥ २७ ॥ उससमय मलयपर्वतके लतामंडपोंसे झरनोंके पानीकी बूंदें हरण करताहुआ और चंदनके बगीचोंको हिलाताहुआ वायु धीरे धीरे वह रहा था ॥ २८ ॥ वह वायु दक्षिण दिशाको छोडकर सबओर बहता हुआ भी भरतका आदर सत्कार करताहुआ ही क्या मानो उसका सब परिश्रम दूर कर रहा था, भावार्थ—यद्यपि बह दक्षिण दिशाका वायु था तथापि सबओर बहकर भरतका परिश्रम दूर कर रहा था ॥ २९ ॥ समुद्रके किनारे हरे हरे वृक्षोंकी गलियोंमें इच्छानुसार फिरती हुई

सितैर्मुखैः । स्तनैरापांडुभिः सांद्रचंदनद्रवचर्चितैः ॥ ३० ॥ सलीलमृदुभिर्यानैर्नितंबभरमत्सरैः । स्मितैरनंगपुष्पास्त्रस्तबकोद्भेदविभ्रमैः ॥ ३१ ॥ कोकिलालापमधुरैर्जल्पितैरनतिस्फुटैः । मृदुबाहुलतांदोलसुभगैश्च विचेष्टितैः ॥ ३२ ॥ लास्यैः स्खलत्पदन्यासैर्मुक्ताप्रायैर्विभूषणैः । मंदमंजुभिरुद्गीतैर्जिताालिकुलसिंजनैः ॥ ३३ ॥ तमालवनवीथीषु संचरंत्यो यदृच्छया । मनोऽस्य जन्हुरारूढयौवनाः केरलस्त्रियः ॥ ३४ ॥ प्रसाध्य दक्षिणामाशां विभुस्त्रैराज्यपालकान् । समं प्रणमयामास विजित्य जयसाधनैः ॥ ३५ ॥ कालिंगकैर्गजैरस्य मलयोपांतभूधराः । तुलयद्भिरिवोन्मानमाक्रांताः स्वेन वर्ष्मणा ॥ ३६ ॥ दिशां प्रांतेषु विश्रांतैर्दिग्जयेऽस्य चमूगजैः । दिग्गजत्वं स्वसाच्चक्रे शोभायै तत्कथांतरं ॥ ३७ ॥ ततोऽपरांतमारुह्य सह्याचलतटोपगः । पाश्चिमार्णववेलांतपाल-

---

केरल देशकी तरुण स्त्रियां इलाइची लोंग आदि सुगंधित वस्तुओंसे जिनके श्वासोछ्वास सुगंधित हो रहे हैं ऐसे मुखोंसे, जिनपर घिसेहुये गाढे चंदनका लेप हो रहा है ऐसे सफेद स्तनोंसे, नितंबोंके बोझके साथ ईर्षा करनेवाले अर्थात् धीरे धीरे लीलासहित सुंदर गमनसे, कामदेवके पुण्यरूपी शस्त्रोंके गुच्छोंके खिलनेके समान अपने मंदहास्यसे, कोयलकी वाणीके समान मधुर ऐसी अव्यक्त वाणीसे, अपनी भुजारूपी लताओंके इधर उधर फिरानेसे उत्पन्न हुई मनोहर चेष्टासे, जिसमें पैर पडते पडते स्खलित हो जाते हैं ऐसे नृत्यसे, जिनमें प्रायः मोती ही लगे हैं ऐसे आभूषणोंसे और भ्रमरोंके मधुर गुंजारोंको जीतनेवाले मंद तथा मनोहर गीतोंसे महाराज भरतका मन हरण कर रहीं थीं ॥३०-३४॥ इसप्रकार भरतने अपनी सेनाके द्वारा दक्षिण दिशाको जीतकर चोल केरल और पांड्य इन तीनों राजाओंको एक साथ जीता और उनसे प्रणाम कराया ॥ ३५ ॥ अपने शरीरसे जो मानों उंचाईको ही नाप रहे हों ऐसे कलिंगदेशके अनेक हाथियोंसे मलय पर्वतके समीपकी सब पृथ्वी भरगई थी ॥ ३६ ॥ दिग्विजय करनेकेलिये दिशाओंके अंतभागमें विश्राम लेतेहुये इसकी सेनाके हाथियोंने दिग्गजपना भी अपने वश करलिया था अर्थात् वे स्वयं दिग्गज बन गये थे, इसलिये लोकमें जो आठ दिग्गजोंकी कथा प्रसिद्ध है वह केवल शोभाके लिये थी ॥ ३७ ॥ तदनंतर पश्चिम दिशापर आ-

कानजयत्प्रभुः ॥ ३८ ॥ जयसाधनमस्याब्धेरारात्तीरे विजृंभितं । महासाधनमित्युच्चैः परं पारमवाप्नवत् ॥ ३९ ॥ उपसिंधुरिति व्यक्तमुभयोस्तीरयोर्बलं । दृष्ट्वास्य साध्वसात्क्षुभ्यन्निवाभूदाकुलाकुलः ॥ ४० ॥ ततः स्म बलसंक्षोभादितो वार्द्धिः प्रसर्पति । इतः स्म बलसंक्षोभात्ततोऽब्धिः प्रतिसर्पति ॥ ४१ ॥ हरिन्मणिप्रभोत्सर्पैस्ततमब्धेर्बभौ जलं । चिराद्विवृत्तमस्यैव सशैवलमधस्तलं ॥ ४२ ॥ पद्मरागांशुभिर्भिन्नं क्वचनाब्धेर्व्यभाज्जलं । क्षोभादिवास्य हृच्छीर्णमुच्छलच्छोणितच्छटं ॥ ४३ ॥ सह्योत्संगे लुठन्नब्धिर्नूनं दुःखं न्यवेदयत् । सोऽपि संधारयन्नेनं बंधुकृत्यमिवातनोत् ॥ ४४ ॥ असह्यैर्बलसं-

---

क्रमणकर सह्य पर्वतके किनारेपर ठहरकर भरतने पश्चिम समुद्रके किनारेके राजाओंको जीता ॥३८॥ विजय करनेवाली वह भरतकी सेना समुद्रके किनारे किनारे सबजगह फैलगई थी वह बहुत बडी थी इसलिये उसने समुद्रका सब किनारा घेर लिया था ॥३९॥ उपसमुद्र अपने दोनों किनारोंपर भरतकी-सेना देखकर भयसे क्षुब्ध होकर बहुत ही व्याकुल हो गया था ॥४०॥ उस किनारेका उपसमुद्र सेनाके क्षोभसे इस किनारेकी ओर आता था और इस किनारे पर पडीहुई सेनाके क्षोभसे इस किनारेका समुद्र उस किनारेको लौटकर जाता था ॥४१॥ ऊपर फैलीहुई हरे मणियोंकी कांतिसे व्याप्त हुआ वह समुद्रका जल ऐसा अच्छा जान पडता था मानों इस समुद्रका शेवाल सहित नीचेका भाग बहुत दिनके बाद लौटकर ऊपर ही आगया हो ॥४२॥ कहीं कहींपर पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे [कांतिसे] मिला हुआ उस समुद्रका जल ऐसा जान पडता था मानो दोनों ओरकी सेनाके क्षोभसे इस समुद्रका हृदय ही फटगया हो और उसीसे यह रुधिरकी छटायें निकल रही हों ॥ ४३ ॥ सह्य पर्वतकी गोदीपर अर्थात् नीचले भागपर लहरोंके द्वारा लोटताहुआ समुद्र ऐसा जान पडता था मानो वह अपना दुख ही कह रहा हो तथा वह सह्य पर्वत भी अपनी गोदीपर उसे धारण करता हुआ ऐसा जान पडता था मानों उसके साथ अपना बंधुभाव ही दिखला रहा हो ॥ ४४ ॥ सेनाके असह्य संघटनोंसे अत्यंत पीडित हुआ वह सह्य पर्वत अपने टूटेहुये वृक्षोंसे ऐसा जान पडता था मानो अपने मस्तकपर पत्ते रखकर भरतसे

घट्टैः सह्यः स ह्यतिपीडितः । शाखोद्धारमिव व्यक्तमकरोद्भग्नपादपैः ॥ ४५ ॥ चलत्सत्त्वो गुहारंध्रैर्विमुंचन्नाकुलं स्वनं । महाप्राणोऽद्रिरुत्क्रांतिमियायेव बलक्षतः ॥ ४६ ॥ चलच्छाखी चलत्सत्त्वश्चलच्छिथिलमेखलः । नाम्नैवाचलतां भेजे सोऽद्रिरेवं चलाचलः ॥ ४७ ॥ जनतावनसंभोगैस्तुरंगखुरघट्टनैः । सह्योत्संगभुवः क्षुण्णाः स्थलीभावं क्षणाद्ययुः ॥ ४८ ॥ आ पश्चिमार्णवतटादा च मध्यमपर्वतात् । आ तुंगवरकादद्रेस्तुंगगंडोपलांकितात् ॥ ४९ ॥ तं कृष्णगिरिमुल्लंघ्य तं च शैलं सुमंदरं । मुकुंदं चाद्रिमुद्दृप्ता जयेभास्तस्य बभ्रमुः ॥ ५० ॥ तत्रापरांतकान्नागान् ह्रस्वग्रीवान्परान्रदैः । युक्तान्पीनायितस्निग्धैः श्यामान्स्वक्षान्मृदुत्वचः ॥ ५१ ॥ महोत्संगानुदग्रागान् रक्तजिह्वोष्ठतालुकान् । मानिनो दीर्घबालोष्ठान्पद्मगंधमदच्युतः ॥ ५२ ॥ संतुष्टान्स्वे बने

अपना दुख ही प्रगट कर रहा हो ॥ ४५ ॥ अनेक प्राणियोंसे भराहुआ वह पर्वत भी सेनाके द्वारा टूट फूट गया था, उसके सब प्राणी इधर उधर भागने लगे थे तथा वह गुफाओंके छिद्रोंसे व्याकुल शब्द कर रहा था और ऐसा जान पडता था मानो मरनेके निकट ही हो ॥ ४६ ॥ उसके सब वृक्ष हिलने लगे थे, प्राणी इधर उधर भागने लगे थे और चारोंओरके छोटे छोटे शिखर भी टूट फूटकर हिल रहे थे इसप्रकार सेनाके द्वारा आंदोलन कियाहुआ वह पर्वत केवल नाममात्रसे ही अचल था वास्तवमें वह चलायमान होगया था ॥ ४७ ॥ उसके बनोंमें सेनाके लोगोंके द्वारा की हुई अनेक तरहकी क्रीडासे और घोडोंके खुरोंके संघट्टनसे सह्यपर्वतके ऊपरकी भूमि टूटफूटकर थोडी ही देरमें जमीनके बराबर सपाट होगई थी ॥ ४८ ॥ चक्रवर्तीके विजय करनेवाले मदोन्मत्त हाथी पश्चिम समुद्रके किनारेसे लेकर मध्यम पर्वततक और मध्यमपर्वतसे बडे बडे पत्थरोंसे भरेहुये तुंगवरक नामके पर्वततक कृष्णगिरि, सुमंदरपर्वत और मुंकुद नामके पर्वतको उलंघनकर चारोंओर फिर रहे थे ॥४९-५०॥ जिनका गला कुछ छोटा है जो देखनेमें सुंदर हैं, जिनके दांत लंबे मजबूत और चिकने हैं, जो काले हैं जिनकी सब इंद्रियां अच्छी हैं, चमडा नरम है, पीठ चौडी है, शरीर ऊंचा है, जीभ, ओठ और तालु लाल हैं, जो क्रोधी हैं, जिनकी पूंछ और ओठ लंबे हैं, जिनसे कमलके समान सुगंध मद

शूरान्दृढपादान्सुवर्ष्मणः । स भेजे तद्वनाधीशैः ससंभ्रममुपाहृतान् ॥ ५३ ॥ वनरोमावलीस्तुंगतटारोहा बह्वीर्नदीः । पूर्वापराब्धिगाः सोऽत्यैत्सह्याद्रेर्दुहितॄरिव ॥ ५४ ॥ संचरद्भीषणग्राहैर्भीमां भीमरथीं नदीं । नक्रचक्रकृतावर्तैर्दारुवेणां च दारुणां ॥ ५५ ॥ नीरां तीरस्थवानीरशाखाप्रस्थगितांभसां । मूलां कूलंकषैरोघैरुन्मूलिततटद्रुमां ॥ ५६ ॥ बाणामविरताबाणां केतबामंबुसंभृतां । करीरिततटोत्संगां करीरीं सरिदुत्तमां ॥ ५७ ॥ प्रहरां विषमग्राहैर्दूषितामसतीमिव । मुररां कुररैः सेव्यामपपंकां सतीमिव ॥ ५८ ॥ पारां पारेजलं कूजत्क्रौंचकादंबसारसां । मदनां समनिम्नेषु समानामस्खलद्गतिं ॥ ५९ ॥ मद-

---

बह रहा है, जो अपने ही बनमें रहनेसे संतोष मानते हैं, जो शूर हैं, जिनके पैर मजबूत हैं, शरीर अच्छा है और जिन्हें उन उन जंगलोंके स्वामी बडे आदरसे भेट देनेके लिये लाये हैं ऐसे पश्चिम दिशामें उत्पन्न होनेवाले हाथियोंको भी भरतने स्वीकार किया ॥ ५१-५३ ॥ अनेक बन ही जिनकी रोमावली हैं और ऊंचे पर्वतके किनारे ही जिनके नितंव हैं ऐसी सह्य पर्वतकी पुत्रीके समान पूर्व पश्चिम समुद्रकी ओर बहनेवाली अनेक नदियां उसने उल्लंघन कीं ॥ ५४ ॥ फिरते हुये भयंकर मगर मच्छोंसे भयानक ऐसी भीमरथी नदी, नाकू घडियाल आदि जलचर जीवोंके फिरनसे उत्पन्न होनेवाले भंवरोंसे भयंकर दिखनेवाली दारुवेणा नदी, किनारेपर उत्पन्न होनेवाले बेतोंकी शाखाके अग्रभागसे जिसका पानी ढका हुआ है ऐसी नीरा नदी, किनारेको तोडनेवाले तेज प्रवाहसे जिसने किनारेके सब वृक्ष उखाड दिये हैं ऐसी मूला नदी जिसमें निरंतर पानीका शब्द होता रहता है, ऐसी बाणा नदी जलसे, सदा भरपूर रहनेवाली केतवा नदी, जिसके किनारेका प्रदेश सब हाथियोंने तोड दिया है ऐसी उत्तम करीरी नदी, विषमग्राह अर्थात् क्रूर नीच मनुष्योंसे दूषित ऐसी दुराचारिणी स्त्रीके समान विषमग्राह अर्थात् क्रूर मगर मच्छोंसे भरी हुई ऐसी प्रहरा नदी, निष्कलंक पतिव्रता स्त्रीके समान कीचड रहित और जिसपर अनेक कुरर पक्षी निवास करते हैं ऐसी मुररा नदी, जिसके जलके किनारेपर क्रौंच, कलहंस, और सारस पक्षी शब्द कर रहे हैं ऐसी पारानदी, जो समान और नीची पृथ्वीपर

स्रुतिमिवाबद्धवेणिकां सह्यदंतिनः । गोदावरीमविच्छिन्नप्रवाहामतिविस्तृतां ॥ ६० ॥ करीरवनसंरुद्धतटपर्यंतभूतलां । तापीमातपसंतापात्कवोष्णां बिभ्रतीमपः ॥ ६१ ॥ रम्यां तीरतरुच्छायासंसुप्तमृगशावकां । खातामिवापरांतस्य नदीं लांगलखातिकां ॥ ६२ ॥ सरितोऽमूस्समं सैन्यैरुत्ततार चमूपतिः । तत्र तत्र समाकर्षन्मदिनो वनसामजान् ॥ ६३ ॥ प्रसारितसरिज्जिह्वो योऽब्धिं पातुमिवोद्यतः । सह्याचलं तमुल्लंघ्य विंध्याद्रिं प्राप तद्बलं ॥ ६४ ॥ भूभृतां

समान जलसे भरी है और जिसकी गति कहीं रुकती नहीं ऐसी मदना नदी, जो सह्य पर्वतरूपी हाथीके बहते हुये मदके समान जान पडती है, जिसकी छटायें बहुत बडी बडी उड रही हैं, जिसका प्रवाह निरंतर बहता रहता है और जिसका फाट बहुत चौडा है ऐसी गोदावरी नदी, जिसके किनारेकी भूमि करीर के बनोंसे रुक रही है और धूपसे गरम होकर जिसका पानी सदा थोडा थोडा गरम रहता है ऐसी तापी नदी, तथा जिसके किनारेके वृक्षोंकी छायामें हिरणोंके बच्चे सो रहे हैं जो मनोहर है और पश्चिमदेशकी खाईके समान है ऐसी लांगलखातिका नदी, इत्यादि अनेक नदियोंके किनारेके जंगलोंमेंसे मदोन्मत्त हाथियोंको पकडवाता हुआ वह सेनापति अपनी सेनाके साथ साथ ऊपर लिखी हुई सब नादियोंके पार होगया था ॥ ५५-६३ ॥ जो अपनी नदियांरूपी जीभोंको फैलाकर समुद्रको पीनेकेलिये तैयार हुआ है उस सह्य पर्वतको उलंघनकर भरतकी वह सेना विंध्याचलपर पहुंची ॥ ६४ ॥ वहांपर उसने अपने समान विंध्याचलको देखा, क्योंकि जिसप्रकार आप भूभृत अर्थात् राजाओंका स्वामी था उसीप्रकार वह विंध्याचल भी भूभृत अर्थात् पर्वतोंका स्वामी था, जिसप्रकार आप उत्तुंग अर्थात् बडा था उसीप्रकार पर्वत भी उत्तुंग अर्थात् ऊंचा था, जिसप्रकार आप पृथुवंश अर्थात् बडे वंशमें उत्पन्न हुआ था उसीप्रकार विंध्याचल भी पृथुवंश अर्थात् बडे बडे बांसोंके बनोंसे भरा था, जिसप्रकार आप धृतायति अर्थात् प्रयत्न करनेवाला था उसीप्रकार विंध्याचल भी धृतायति अर्थात् बहुत लंबा था और आप जिसप्रकार दूसरोंके द्वारा उलंघन नहीं किया

पतिमुत्तुगं पृथुवंशं धृतायतिं । पैरैरलंध्यमद्राक्षीद्विंध्याद्रिं स्वमिव प्रभुः ॥ ६५ ॥ भाति यः शिखरैस्तुंगैर्दूरव्यायतनिर्झरैः । सपताकैर्विमानौघैर्विश्रामायेव संश्रितः ॥ ६६ ॥ यः पूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्यांबुनिधिं स्थितः । नूनं दावभयात्सख्यममुना प्रचिकीर्षति ॥ ६७ ॥ नयंति निर्झरा यस्य शश्वत्पुष्टिं तटद्रुमान् । स्वपादाश्रयिणः पोष्याः प्रभुणेत्येति शंसितुं ॥ ६८ ॥ तटस्थपुटपाषाणस्खलितोच्छलितांभसः । नदीवधूः कृतध्वाननिर्झरैर्हसतीव यः ॥ ६९ ॥ वनाभोगमपर्यंतं यस्य दग्धुमिवाक्षमः । भृगुपाताय दावाग्निः शिखराण्यधिरोहति ॥ ७० ॥ ज्वलद्दावपरीतानि यत्कूटानि वनेचरैः । चामीकरमयाणीव लक्ष्यं-

---

जासकता था उसीप्रकार वह विंध्याचल भी दूसरोंके द्वारा उलंघन नहीं किया जा सकता था ॥ ६५ ॥ जिनसे निकलते हुये निर्झरने बहुत दूर जाकर पडते हैं ऐसे ऊंचे ऊंचे अनेक शिखरोंसे वह पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता था मानों ध्वजाओंसहित विमानोंके समूहके विश्राम करनेकेलिये ही खडा हो ॥ ६६ ॥ उसके पूर्व और पश्चिमके दोनों किनारे समुद्रमें भीतर घुस गये थे जिससे वह ऐसा जान पडता था मानो दावानलके भयसे इस समुद्रके साथ मित्रता ही करना चाहता हो ॥ ६७ ॥ उस पर्वतके झरने अपने किनारेके वृक्षोंको सदा पालन पोषण करते रहते थे और ऐसे जान पडते थे मानों स्वामीको अपने चरणोंके आश्रय आये हुये पुरुषोंका पालन पोषण अवश्य करना चाहिये यही सब लोगोंको सूचित कर रहे हों ॥ ६८ ॥ शब्द करते हुये झरनोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो जिनका पानी अपने किनारेपर पडे हुये ऊंचे नीचे पत्थरोंसे स्खलित होकर ऊपरको उछल रहा है ऐसी नदीरूप स्त्रियोंकी ओर हँस रहा ही हो ॥ ६९ ॥ उसकी शिखरोंपरका दावानल अग्नि ऐसा जान पडता था मानो सीमारहित बनके बहुत बडे प्रदेशको जलानेकेलिये असमर्थ है इसलिये ही वह पर्वतसे नीचे पडनेके लिये उसके शिखरपर चढ रहा हो ॥ ७० ॥ असाढ महीनेमें अर्थात् ग्रीष्म ऋतुमें जलती हुई दावानल अग्निसे घिरे हुये उसके शिखर वहांके भीलोंको सुवर्णके समान जान पडते थे ॥ ७१ ॥ उस पर्वतका बन कहीं कहींपर मातंग अर्थात् जंगली हाथियोंसे भरा था,

ते शुचिसन्निधौ ॥ ७१ ॥ समातंगं वनं यस्य सभुजंगपरिग्रहं । विजातिकंटकाकीर्णं क्वचिद्वृत्तेऽतिकष्टतां ॥ ७२ ॥ क्षीबकुंजरयोगेऽपि क्वचिदक्षीबकुंजरं । विपत्रमपि सत्पत्रपल्लवं भाति यद्वनं ॥ ७३ ॥ स्फुटद्वेणूदरान्मुक्तैर्व्यस्तैर्मुक्ताफलैः क्वचित् । वनलक्ष्म्यो हसंतीव स्फुरद्दंतांशु यद्वने ॥ ७४ ॥ गुहामुखस्फुरद्धीरनिर्झरप्रतिशब्दकैः । गर्जतीव कृतस्पर्धो महिम्ना यः कुलाचलैः ॥ ७५ ॥ स्फुटं निम्नोन्नतैर्देशैश्चित्रवर्णैश्च धातुभिः । मृगरूपैरतर्क्यैश्च चित्राकारं बिभर्ति यः ॥ ७६ ॥ ज्वलंत्यौषधयो यस्य वनांतेषु तमीमुखे । देवताभिरिवोत्क्षिप्ता दीपिकास्तिमिरच्छिदः ॥ ७७ ॥ क्वचिन्मृगेंद्रभिन्नेभकुंभोच्छलि-

---

अथवा चांडालोंका साथ करता था तथा उसमें बहुतसे सर्प थे अथवा भुजंग अर्थात् व्यभिचारी आदि नीच लोग थे और अनेकप्रकारके कांटोंसे भरा था अथवा नीच दुष्ट लोगोंसे भरा था इसलिये वह बहुत ही भयानक हो रहा था अथवा निंदनीय हो रहा था ॥ ७२ ॥ यद्यपि वह बन क्षीवकुंजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोंसे भरा था तथापि वह अक्षीवकुंजर था अर्थात् उसमें समुद्रका नमक बहुत था, तथा यद्यपि वह विपत्र अर्थात् पक्षियोंके पंखोंसे भरा था तथापि सत्पत्रपल्लव था अर्थात् सुंदर नये पत्तोंसे सुशोभित था इसप्रकार वह बन बहुत अच्छा जान पडता था ॥७३॥ कहीं कहींपर फटे हुये बांसोंके भीतरसे निकलकर चारोंओर फैले हुये मोतियोंसे वह बन ऐसा जान पडता था मानों उसमें अनेक बनलक्ष्मियां अपने दांतोंकी किरणें फैलाती हुईं हँस रहीं हों ॥ ७४ ॥ गुफाओंके द्वारपर झरते हुये और गंभीर शब्द करते हुये झरनोंकी प्रतिध्वनियोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो बडप्पनसे कुलपर्वतोंके साथ ईर्षा करता हुआ गरज रहा ही हो ॥७५॥ नीचे ऊंचे अनेक प्रदेशोंसे, गेरू आदि अनेकतरहकी धातुओंसे और अनेक रंगके असंख्यात पशुओंसे वह पर्वत प्रगट रीतिसे एक विचित्र आकारकी शोभा धारण करता था ॥७६॥ उस पर्वतके बनोंमें सायंकालके समय कुछ अंधेरा होनेपर जो अनेक प्रकारकी औषधियां प्रकाशमान हो रहीं थीं वे ऐसी जान पडती थीं मानो देवताओंने अंधकारको नाश करनेवाले दीपक ही जलाये हों ॥ ७७ ॥ कहीं कहींपर पर्वतके समीपका भाग सिंहोंने फाडेहुये अनेक

तमौक्तिकैः । यदुपांतस्थलं धत्ते प्रकीर्णकुसुमाश्रियं ॥ ७८ ॥ स तमालोकयन्दूरादाससाद महागिरिं । आह्वयंतमिवासक्तं मरुद्धूतैस्तटद्रुमैः ॥ ७९ ॥ स तद्वनगतान्दूरादपश्यद्वनकर्बुरान् । सयूथानुद्धनुर्वंशान्किरातान्कारिणोऽपि च ॥ ८० ॥ सरिद्वधूस्तदुत्संगे विवृत्तशफरीक्षणाः । तद्वल्लभा इवापश्यत्स्फुरद्विरुतमुन्मनाः ॥ ८१ ॥ मध्येविंध्यमथैक्षीष्ट नर्मदां सरिदुत्तमां । प्रततामिव तत्कीर्तिमासमुद्रमवारितां ॥ ८२ ॥ तरंगितपयोवेगां भुवो वेणीमिवायतां । पताकामिव विंध्याद्रेः शेषाद्रिजयशंसिनीं ॥ ८३ ॥ सा धुनी बलसंक्षोभादुड्डीनविहगावलिः । विभोरुपागमे बद्धतोरणेव क्षणं व्यभात् ॥ ८४ ॥ नर्मदा

हाथियोंके मस्तकोंसे उछलकर पडेहुये मोतियोंसे ऐसी अच्छी शोभा धारण करता था मानो उसपर किसीने फूल ही फैलाये हों ॥ ७८ ॥ वायुके द्वारा हिलतेहुये किनारेके वृक्षोंसे मानों अपनेको बुला रहा ही हो ऐसे अपनेमें आसक्त उस महा पर्वतको दूरसे ही देखताहुआ वह चक्रवर्ती उसपर जा पहुंचा ॥ ७९ ॥ वहांपर जाकर उसने उस बनमें रहनेवाले झुंडके झुंड हाथी और भीलोंको देखा, वे भील भी बादलोंके समान काले थे और वांसोंके धनुषोंको ऊंचाकर कंधेपर रक्खेहुये थे तथा हाथी भी बादलोंके समान काले थे और उनका वंश अर्थात् रीढ [पीठपरकी हड्डी] धनुषके समान ऊंची उठी हुई थी ॥ ८० ॥ तथा पर्वतके किनारेपर उसने चंचल मछलियां ही जिनके नेत्र हैं और बोलते हुये पक्षियोंके शब्द ही जिनके मनोहर शब्द हैं ऐसी उस विंध्याचलकी स्त्रियोंके समान नदीरूपी स्त्रियोंको बडी अभिलाषाके साथ देखा ॥ ८१ ॥ तदनंतर उस चक्रवर्तीने विंध्याचलके मध्यभागमें समुद्रतक फैली हुई और किसीसे न रुकनेवाली ऐसी उस पर्वतकी कीर्तिके समान उत्तम नर्मदा नदी देखी ॥८२॥ जिसके जलके प्रवाहमें अनेक लहरें उठ रही हैं ऐसी वह नर्मदानदी पृथ्वीकी लंबी चोटीके समान जान पडती थी अथवा शेष सब पर्वतोंको विजय करनेकी सूचना करनेवाली विंध्याचलकी जयपताकाके समान जान पडती थी ॥ ८३ ॥ सेनाके क्षोभसे जो पक्षियोंकी पंक्ति ऊपरको उड रही थी उससे वह नदी क्षणभरके लिये ऐसी अच्छी जान पडती थी, मानो भरतके आनेपर उसने तोरण

बिलंघ्य विविधान् देशानरण्यानीः सरिद्गिरीन् । तत्र तत्र प्रभोराज्ञां सेनानीराश्वशिश्रियत् ॥ १११ ॥ प्राच्यानिव स भूपालान् ... धयन्हततन्मानधनः प्रायात्परांबुधिं ॥ ११२ ॥ ... पर्श्याद्विंध्यमुत्तरतोऽप्यसौ । द्विधाकृतमिवा... पर्यंतं दिशोर्द्वयोः ॥ ८७ ॥ स्कंधावारनिवेशोऽस्य नर्मदामभितोऽद्युतत् । प्रथिम्ना विंध्यमावेष्ट्य स्थितो विंध्य इवापरः ॥ ८८ ॥ गजैर्गंडोपलैरश्वैरश्ववक्त्रैश्च विद्रुतैः । स्कंधावारः स विंध्यश्च भिदां नावापतुर्मिथः ॥८९॥ बलोपभुक्तनिःशेषफलपल्लवपादपः । अप्रसूनलतावीरुद्विंध्योवंध्यस्तदाभवत् ॥ ९० ॥ वैणवैस्तंडुलैर्मुक्ताफलमिश्रैः कृतार्चनाः । अध्यूषुः सैनिकाः स्वैरं

ही बांधा हो ॥ ८४ ॥ वह नर्मदा नदी सचमुच ही रानियोंकेलिये नर्म-दा अर्थात् क्रीडा करानेवाली थी, क्योंकि जब वे स्त्रियां उस नदीके जलको पार करती थीं तब वह नदी मछलियोंके द्वारा उन स्त्रियोंको धक्का देती थी ॥ ८५ ॥ मनुष्योंके क्षोभसे जिसके किनारेके पक्षियोंकी पंक्ति ऊपरको उड रही है ऐसी उस नर्मदा नदीको पार कर उस सेनाने देहली (दरवाजा) समझकर विंध्याचलके उत्तरकी ओर आक्रमण किया ॥८६॥ वहांपर भरतने दक्षिण और उत्तर दोनों दिशाओंकी ओर बिंध्याचलको देखा, उससमय दोनोंओर वह ऐसा जान पडता था मानो अपने दो भागकर दोनों दिशाओंको अर्पण ही कर रहा हो ॥ ८७ ॥ भरतकी सेनाका पडाव नर्मदाके दोनों किनारोंपर था और वह ऐसा अच्छा जान पडता था मानो अपने फैलावसे विंध्याचलको घेरकर कोई दूसरा विंध्याचल ही पडा हो ॥ ८८ ॥ उससमय सेनाके पडाव और बिंध्याचलमें आपसमें कोई भेद नहीं जान पडता था दोनों ही एकसे जान पडते थे, क्योंकि जिसप्रकार पडावमें हाथी थे उसीप्रकार बिंध्याचलमें बडे बडे पत्थर थे और पडावमें जिसप्रकार इधर उधर दौडनेवाले घोडे थे उसीप्रकार बिंध्याचलमें इधर उधर दौडनेवाले किन्नर जातिके देव थे ॥ ८९ ॥ सेनाने उस बिंध्याचलके बनोंके समस्त फल पत्ते और वृक्षोंका उपभोग करलिया था, लतायें और छोटे छोटे पौधे सब पुष्प रहित हो गये थे इसलिये उससमय वह विंध्याचल बंध्याचल अर्थात् बंध्याके समान पुष्प फल आदि सब संपत्तिसे रहित होगया

रम्या विंध्याचलस्थितिः ॥ ९१ ॥ कृतावासं च तत्रैनं ददृशुस्तद्वनाधिपाः । वन्यैरुपायनैः श्लाघ्यैरगदैश्च महौषधैः ॥ ९२ ॥ उपानिन्युः करींद्राणां दंतानस्मै समौक्तिकान् । किरातवर्याश्चर्या हि स्वोचिताः सत्क्रियाः प्रभोः ॥ ९३ ॥ पश्चिमांतेन विंध्याद्रिमुल्लंघ्योत्तीर्य नर्मदां । विजेतुमपरामाशां प्रतस्थे चक्रिणो बलं ॥ ९४ ॥ गत्वा किंचिदुदग्भूयः प्रतीचीं दिशमानशे । प्राक्प्रतापोऽस्य दुर्वारः सचक्रं चरमं बलं ॥ ९५ ॥ तदा प्रचलदश्वीयखुरोद्धूतमहीरजः । न केवलं द्विषां तेजो रुरोध द्युमणेरपि ॥ ९६ ॥ लाटा ललाटसंघृष्टभूपृष्ठाः स्वादुभाषिणः । लालाटिकपदं भेजुः प्रभोराज्ञावशीकृताः ॥९७॥

था ॥ ९० ॥ मोतियोंसे मिलेहुये वांसी चावलोंसे भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हुये सेनाके लोगोंने इच्छानुसार वहां निवास किया सो ठीक ही है क्योंकि बिंध्याचल पर रहना आनंद देनेवाला ही है ॥ ९१ ॥ वहांके जंगली राजाओंने बनमें उत्पन्न हुई रोग दूर करनेबालीं अनेक औषधियां आदि अच्छी अच्छी भेट देकर वहांपर निवास करनेवाले महाराज भरतके दर्शन किये ॥ ९२ ॥ भीलोंके राजाओंने बडे बडे हाथियोंके दांत और मोती भरतकी भेट किये, सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीका सत्कार अपनी योग्यतानुसार ही करना चाहिये ॥ ९३ ॥ बिंध्याचलको पश्चिमी किनारेके अंतकी ओरसे उलंघनकर तथा नर्मदाको पारकर बह चक्रवर्तीकी सेना पश्चिम दिशाको जीतनेकेलिये निकली ॥ ९४ ॥ जो किसीसे न रोकाजाय ऐसा भरतका प्रताप आगे आगे जा रहा था और उसके पीछे पीछे चक्रसहित सेना जा रही थी, वह प्रताप पहिले तो कुछ उत्तर दिशाकी ओर बढा और फिर पश्चिम दिशामें जाकर फैल गया ॥ ९५ ॥ उससमय चलतेहुये घोडोंके खुरोंसे जो पृथ्वीकी धूलि उड रही थी उसने केवल शत्रुओंका ही प्रताप नहीं रोका था किंतु सूर्यका प्रताप भी उससे रुक गया था ॥ ९६ ॥ जिन्होंने अपना ललाट पृथ्वीतलपर घिसा है अर्थात् मस्तक नवाकर नमस्कार कि-

चक्रवर्तीको अच्छे लगनेवाले मधुरभाषण कर रहे हैं ऐसे भरतकी आज्ञाके वशमें हुये

विलंघ्य विविधान् देशानरण्यानीः सरिद्गिरीन् । तत्र तत्र प्रभोराज्ञां सेनानीराश्वशिश्रियत् ॥ १११

धयन्हततन्मानधनः प्रायात्परांबुधिं ॥ ...

...पाञ्चनदेर्गजैः । तं तद्वनाधिपा वीक्षांचक्रिरे चक्रचालिताः ॥ ९८ ॥ चक्रसंदर्शनादेव त्रस्ता निर्मंडलग्रहाः । ग्रहा इव नृपाः केचिच्चक्रिणो वशमाययुः ॥ ९९ ॥ दिश्यानिव द्विपान् क्ष्मापान्पृथुवंशान्मदोध्दुरान् । प्रचक्रे प्रगुणांश्चक्री बलादाक्रम्य दिक्पतीन् ॥ १०० ॥ नृपान्सौराष्ट्रकानुष्ट्रवामीशतभृतोपदान् । सभाजयन्प्रभुर्भेजे रम्या रैवतकस्थलीः ॥ १०१ ॥ सुराष्ट्रेषूर्जयंताद्रिमद्रिराजमिवोच्छ्रितं । ययौ प्रदक्षिणीकृत्य भाविती- र्थमनुस्मरन् ॥ १०२ ॥ क्षौमांशुकदुकूलैश्च चीनपट्टांबरैरपि । पटीभेदैश्च देशेशा ददृशुस्तमुपायनैः ॥ १०३ ॥ कांश्चित्संमानदानाभ्यां कांश्चिद्विश्रंभभाषि-

---

सार काम करनेवालोंका पद लालाटिक पद कहलाता है) ॥ ९७ ॥ चक्रके भयसे भयभीत हुये कितने ही जंगली राजाओंने सोरठ देशमें उत्पन्न हुये हाथी भेट देकर, तथा अन्य कितनोंने ही पंचनद (पंजाब) देशमें उत्पन्न हुये हाथी भेट देकर भरतके दर्शन किये ॥ ९८ ॥ जिसप्रकार समस्त ग्रह भरतके वश थे अर्थात् कोई उपद्रव नहीं करते थे उसीप्रकार जो चक्रके देखनेसे ही भयभीत हुये हैं और जिनका देशाभिमान छूटगया है ऐसे अनेक राजा लोग भरतके वश होगये थे ॥ ९९ ॥ जो राजा दिग्गजोंके समान थे अर्थात् जिसप्रकार दिग्गज पृथुवंश अर्थात् बडी रीढवाले होते हैं उसीप्रकार जो पृथुवंश अर्थात् बडे कुलोंमें उत्पन्न हुये थे और दिग्गज जिसप्रकार मदोध्दुर अर्थात् मदोन्मत्त होते हैं उसीप्रकार जो मदोध्दुर अर्थात् अभिमानसे उन्मत्त थे उन सब राजाओंको जवर्दस्ती आक्रमणकर भरतने वश कर लिया था ॥ १०० ॥ सैकडों ऊंट और घोडोंको भेटमें लेकर आयेहुये सोरठदेशके राजाओंसे सेवा कराता हुआ अर्थात् उन्हें वश करता हुआ वह चक्रवर्ती गिरनार पर्वतकी मनोहर तराईमें जा पहुंचा ॥ १०१ ॥ होनेवाले बाईसवें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथका स्मरण करताहुआ वह चक्रवर्ती उस सोरठ देशमें मेरुपर्वतके समान ऊंचे ऐसे गिरनार पर्वतकी प्रदक्षिणा देकर आगे बढा ॥ १०२ ॥ उन उन देशोंके स्वामियोंने पाटके बनेहुये वस्त्र, अच्छे अच्छे रेशमी वस्त्र तथा और भी अनेक प्रकारके विलक्षण वस्त्र भेट देकर

तैः । प्रसन्नैर्वीक्षितैः काँश्चिद्भूपान्विभुररंजयत् ॥ १०४ ॥ गजप्रवेकैर्जात्यश्वैरत्नैरपि पृथग्विधैः । तमानर्चुर्नृपास्तुष्टाः स्वराष्ट्रोपगतं प्रभुं ॥ १०५ ॥ तरस्विभिर्वपुर्मेधावयःसत्त्वगुणान्वितैः । तुरंगमैस्तुरुष्काद्यैर्विभुमाराधयन्परे ॥ १०६ ॥ केचित्कांबोजबाह्लीकतैतिलारट्टसैंधवैः । वानायुजैः सगांधारैर्वाणपैरपि वाजिभिः ॥ १०७ ॥ कुलोपकुलसंभूतैर्नानादिग्देशचारिभिः । आजानेयैः समग्रांगैः प्रभुमैक्षंत पार्थिवाः ॥ १०८ ॥ प्रतिप्रयाणमित्यस्य रत्नलाभो न केवलं । यशोलाभश्च दुःसाध्यान्बलात्साधयतो नृपान् ॥ १०९ ॥ जलस्थलपथान्विष्वगारुध्य जयसाधनैः । प्रत्यंतपालभूपालानजयत्तच्चमूपतिः ॥११०॥

भरतके दर्शन किये ॥ १०३ ॥ भरतने कितने ही राजाओंको आदर सत्कारकर, कितनोंको कुछ देकर, कितनोंसे स्नेह पूर्वक बातचीत कर और कितने ही राजाओंको प्रसन्न दृष्टिसे देखकर प्रसन्न किया ॥ १०४ ॥ कितने ही राजाओंने संतुष्ट होकर उत्तम हाथी उत्तम घोडे और अनेकप्रकारके रत्नोंसे अपने देशमें आयेहुये महराज भरतका आदर सत्कार किया ॥ १०५ ॥ अन्य कितने ही राजाओंने अच्छा शरीर, अच्छी धारणा, जवानी, बल आदि अनेक गुणोंको धारण करनेवाले तथा तेज चलनेवाले ऐसे तुरुष्क आदि देशोंमें उत्पन्नहुये घोडे भेटकर भरतकी सेवा की ॥ १०६ ॥ कितने ही राजाओंने जो उसी देशके घोडे घोडियोंसे उत्पन्न हुये तथा एकदेशके घोडे और अन्य देशकी घोडियोंसे उत्पन्नहुये, अनेक देशोंमें संचार करनेवाले, नम्र और जिनके अंग उपांग सब पूर्ण हैं ऐसे कंबोज, बाल्हीक, तैतिल, आरट्ट, सिंध, बानायु, गांधार और बाण देशमें उत्पन्नहुये अनेक घोडे भेटदेकर भरतके दर्शन किये ॥ १०७-१०८ ॥ भरतको प्रत्येक मुकामपर केवल रत्नोंकी प्राप्ति ही नहीं हुई थी किंतु अपने पराक्रमसे बडे बडे बलवान राजाओंको जीतनेसे यशकी प्राप्ति भी हुई थी ॥ १०९ ॥ भरतके सेनापतिने अपनी सेनाके द्वारा जल और स्थलके सब रास्ते रोककर पर्वतीय देशोंके राजाओंको जीता ॥ ११० ॥ सेनापतिने अनेकप्रकारके देश जंगल नादियां और पर्वत उल्लंघनकर उन सब जगह भरतकी आज्ञा स्थापन की ॥ १११ ॥ उसने पूर्वदिशाके समान अनुक्रमसे

विलंघ्य विविधान् देशानरण्यानीः सरिद्गिरीन् । तत्र तत्र प्रभोराज्ञां सेनानीराश्वशिश्रियत् ॥ १११ ॥ प्राच्यानिव स भूपालान्प्रतीच्यानप्यनुक्रमात् । साधयन्हततन्मानधनः प्रायात्परांबुधिं ॥ ११२ ॥ वेलासरित्करान्वार्द्धिरतिदूरं प्रसारयन् । नूनं प्रत्यग्रहीदेनं नानारत्नार्घमुद्वहन् ॥ ११३ ॥ शूर्पोन्मेयानि रत्नानि वार्द्धेरिभ्यप्रशंसिभिः । यानपात्रमहामानैरुन्मेयान्यत्र तानि यत् ॥ ११४ ॥ नाम्नैव लवणांभोधिरित्युदन्वान् लघूकृतः । रत्नाकरोऽयमित्युच्चैर्बहु मेने तदा नृपैः ॥ ११५ ॥ पतन्यत्र पतंगोपि तेजसा याति मंदतां । दिदीपे तत्र तेजोऽस्य प्रतीच्यान् जयतो नृपान् ॥ ११६ ॥ धारयंश्चक्ररत्नस्य पारयन् संगरोदधेः । द्विषामुद्वेजयंस्तीव्रं स तिग्मांशुरिवाद्युतत् ॥ ११७ ॥ अनुवार्द्धितटं गत्वा सिंधुद्वारे न्यवेशयत् । स्कंधावारं स लक्ष्मीवानक्षोभ्यं स्वमिवाशयं

पश्चिम दिशाके सब राजाओंको भी वश किया और उनका अभिमान तथा धन हरणकर वह पश्चिमसमुद्रकी ओर चला ॥ ११२ ॥ उससमय वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो अपनी लहरें और नदीरूपी हाथोंको बहुतदूरतक फैलाकर अनेक प्रकारके रत्न रूपी अर्घको धारण करताहुआ महाराज भरतके सन्मुख होकर उनको सत्कार ही कर रहा हो ॥ ११३ ॥ समुद्रकी प्रशंसा करनेवाले लोग कहते हैं कि समुद्रके रत्न सूपसे नापे जा सकते हैं परंतु इससे वह कुछ धनी नहीं हो सकता क्योंकि चक्रवर्तीके रत्न बडे बडे जहाजोंसे नापे जा सकते हैं ॥ ११४ ॥ यह समुद्र लवणसमुद्रके नामसे तो बहुत ही हलका किया गया है, वास्तवमें यह रत्नाकर है, यही समझकर उससमय भरत उसे बहुत कुछ मानने लगे थे ॥ ११५ ॥ जिस दिशामें जाकर सूर्यका प्रताप भी मंद पड जाता है उसी दिशामें जाकर वहांके अनेक राजाओंको जीतते हुये उस भरतका प्रताप बहुत ही दैदीप्यमान हो गया था ॥ ११६ ॥ चक्ररत्नको धारण करताहुआ, संग्रामरूपी समुद्रके पार होताहुआ और शत्रुओंको खेद खिन्न करताहुआ वह भरत उससमय ठीक सूर्यके समान तेजस्वी दिख रहा था ॥ ११७ ॥ लक्ष्मीके मुख्य स्थान ऐसे उस भरतने समुद्रके किनारे किनारे जाकर अपने हृदयके समान कभी क्षुब्ध न होनेवाली अपनी सेनाको सिंधुनदीके संगमपर ठहराया ॥ ११८ ॥ भरतकी सेनाके लोगोंने, सेनाके

॥ ११८ ॥ सिंधोस्तटवने रम्ये न्यविक्षंतास्य सैनिकाः । चमूद्विरदसंभोगनिकुंजीभूतपादपे ॥ ११९ ॥ तत्राधिवासितानोङ्गः पुरश्चरणकर्मवित् । पुरोधा धर्मचक्रेशान्प्रपूज्य विधिवत्ततः ॥ १२० ॥ सिद्धशेषाक्षतैः पुण्यैर्गंधोदकविमिश्रितैः । अभ्यनंदत्सुयज्वा तं पुण्याशीभिश्च चक्रिणं ॥ १२१ ॥ ततोऽसौ धृतदिव्यास्त्रो रथमारुह्य पूर्ववत् । जगाहे लवणांभोधिं गोष्पदावज्ञया प्रभुः ॥ १२२ ॥ प्रभासमजयत्तत्र प्रभासं व्यंतरप्रभुं । प्रभासमूहमर्कस्य स्वभा-सा तर्जयन्प्रभुः ॥ १२३ ॥ जयश्रीशफरीजालं मुक्ताजालं ततोऽमरात् । लेभे सांतानिकीं मालां हेमजालं च चक्रभृत् ॥ १२४ ॥ इति पुण्योदयाजिष्णु-र्व्यजेष्टामरसत्तमान् । तस्मात्पुण्यधनं प्राज्ञाः शश्वदर्जयतोर्जितं ॥ १२५ ॥ त्वंगत्तुंगतुरंगसाधनखुरक्षुण्णान्महीस्थंडिलादुद्धूतैरथरेणुभिर्जलनिधेः कालुष्यमा-

हाथियोंने खा लेनेसे जिसके पेड सब छोटे छोटे रह गये हैं ऐसे मनोहर सिंधुनदीके किनारेके बनमें निवास किया ॥११९॥ तदनंतर देवपूजा आदि समस्त विधिविधान जाननेवाले पुरोहित उपाध्यायने वहांपर मंत्रोंके द्वारा चक्ररत्नकी पूजाकर विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा की और फिर गंधोदकसे मिले हुये पवित्र सिद्धशेषाक्षतोंसे अर्थात् पूजा करनेके बाद जो अक्षत आदि सामग्री बचती है उससे उस चक्रवर्तीको पुण्यरूप आशीर्वाद देकर उसका आनंद बढाया ॥ १२०-१२१ ॥ तदनंतर भरतने पहिलेके समान दिव्य शस्त्र धारणकर और रथमें बैठकर गोष्पदके समान तुच्छ समझकर लवणसमुद्रमें प्रवेश किया ॥ १२२ ॥ अपनी कांतिसे सूर्यकी कांतिके समूहको लज्जित करते हुये भरतने वहां जाकर प्रभास नामके व्यंतरोंके स्वामीको जीता और प्रभास नामके क्षेत्रको अपने आधीन किया ॥१२३॥ तथा चक्रवर्तीको उस प्रभासदेवसे भेटमें आया हुआ जयलक्ष्मीरूपी मछलीको पकडनेके लिये जालके समान मोतियोंका जाल, कल्पवृक्षोंके फूलोंकी माला और एक सुवर्णका जाल प्राप्त हुआ ॥१२४॥ इसप्रकार सबको विजय करनेवाले भरत चक्रवर्तीने अपने पुण्यकर्मके उदयसे बडे बडे देवोंको भी जीता, इसलिये हे विद्वान लोगो तुम भी उत्तम फल देनेवाले पुण्यरूप धनको सदा संपादन करो ॥ १२५ ॥ जिसकी शोभा अपार है ऐसा वह प्रथम चक्रवर्ती भरत जिसके ऊंचे ऊंचे टीले सब उछ-

पादयन् । सिंधुद्वारमुपेत्य तत्र विधिना जित्वा प्रभासामरं तस्मात्सारधनान्यवापदतुलश्रीरग्रणीश्चक्रिणां ॥ १२६ ॥ लक्ष्म्यांदोललतामिवोरसि दधत्संतानपुष्पस्रजं मुक्ताहेममयेन जालयुगलेनालंकृतोच्चैस्तनुः । लक्ष्म्युद्वाहगृहादिवाप्रतिभयो निर्यन्निधेरंभसां लक्ष्मीशो रुरुचे भृशं नववरच्छायां परामुद्वहन् ॥१२७॥ प्राच्यानाजलधेरपाच्यनृपतीनावैजयंतादयं निर्जित्यापरसिंधुसीमघटितामाशां प्रतीचीमपि । दिक्पालानिव पार्थिवान्प्रणमयन्नाकंपयन्नाकिनो दिक्चक्रं विजितारिचक्रमकरोदित्थं स भूभृत्प्रभुः ॥ १२८ ॥ पुण्याच्चक्रधरश्रियं विजयिनीमैंद्रीं च दिव्यश्रियं पुण्यात्तीर्थकरश्रियं च परमां नैश्रेयसीं चाश्नुत । पुण्यादित्य-

---

लते हुये सेनाके बडे बडे घोडोंके खुरोंसे खुद गये हैं ऐसी पृथ्वीपर उडती हुई रथकी धूलिसे समुद्रको गदला करताहुआ सिंधु नदीके द्वारपर (जहां सिंधु नदी समुद्रमें मिलती है) पहुंचा और वहां उसने विधिपूर्वक प्रभास नामके व्यंतरदेवको जीतकर उसका सब सारधन प्राप्त किया ॥ १२६ ॥ जिसके वक्षःस्थलपर लक्ष्मीके झूलेकी लताके समान कल्पवृक्षके फूलोंकी माला पडी हुई है, जिसका बडा शरीर मोती और सोनेके बने हुये दो जालोंसे सुशोभित हो रहा है, जिसे किसीका भय नहीं है और जो लक्ष्मीका स्वामी है ऐसा वह भरत लक्ष्मीके विवाह मंडपके समान समुद्रसे निकला और नये वरकी उत्कृष्ट शोभा धारण करता हुआ वह बहुत ही सुंदर दिखाई देने लगा ॥ १२७ ॥ इसप्रकार समस्त राजाओंके स्वामी भरतने समुद्रतक पूर्व दिशाके राजाओंको तथा वैजयंत पर्वततक दक्षिण दिशाके राजाओंको और पश्चिमसमुद्रतक समस्त पश्चिम दिशाको जीता, दिक्पालोंके समान सब राजाओंसे नमस्कर कराया, देवोंको कंपायमान किया और समस्त दिशाओंको शत्रुरहित कर दिया ॥ १२८ ॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! पुण्यसे सबको विजय करने वाली चक्रवर्तीकी लक्ष्मी मिलती है, इंद्रकी दिव्य लक्ष्मी भी पुण्यसे मिलती है, पुण्यसे ही तीर्थंकरकी लक्ष्मी मिलती है और परम कल्याण करनेवाली मोक्षलक्ष्मी भी पुण्यसे ही मिलती है इसप्रकर यह भव्य जीव पुण्यसे ही चारोंप्रकारकी लक्ष्मियोंका पात्र होता है, इसलिये हे पंडितजनो तुम भी श्रीजिनेंद्र-

सुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद्भ्राजनं तस्मात्पुण्यमुपार्जयंतु सुधियः पुण्याज्जिनेंद्रागमात् ॥ १२९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे पश्चिमार्णवद्वारविजयवर्णनं नाम त्रिंशं पर्व ॥ ३० ॥

एकत्रिंशत्तमं पर्व ।

कौबेरीमथ निर्जेतुमाशामभ्युद्यतो विभुः । प्रतस्थे वाजिभूयिष्ठैः साधनैः स्थगयन् दिशः ॥ १ ॥ धौरितैर्गतमुत्साहैः सत्वं शिक्षां च लाघवैः । जातिं वपुर्गणैस्तज्ज्ञास्तदाश्वानां विजज्ञिरे ॥ २ ॥ धौरितं गतिचातुर्यमुत्साहस्तु पराक्रमः । शिक्षा विनयसंपत्तीरोमच्छाया वपुर्गुणः ॥ ३ ॥ पुरोभागा-

---

देवके पवित्र आगमके अनुसार पुण्य संपादन करो ॥ १२९ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें पश्चिमसमुद्रके द्वारका विजय वर्णन करनेवाला यह तीसवां पर्व समाप्त हुआ ॥ ३० ॥

इकतीसवां पर्व

अथानंतर-जिसमें अनेक घोडे हैं ऐसी अपनी सेनाके द्वारा दिशाओंमें व्याप्त होता हुआ वह चक्रवर्ती उत्तर दिशाको जीतनेकेलिये तैयार होकर निकला ॥१॥ उससमय घोडोंक सब गुण जाननेवाले लोगोंने घोडोंकी धौरित नामकी चालसे उनकी चाल जानी, उत्साहसे उनका बल जाना, हलका चलनेसे उनकी शिक्षा जानी और शरीरके गुणोंसे उनकी जाति जानी ॥ २ ॥ गतिकी चतुरताको धौरित कहते हैं, पराक्रमको उत्साह, विनय अर्थात् सवारकी इच्छानुसार चलना शिक्षा और शरीरपरके केशोंकी कांति शरीरका गुण कहलाता है ॥ ३ ॥ रास्तेमें अच्छीतरह चलनेवाले वे घोडे

निवाल्येतुं पश्चाद्भागैः कृतोद्यमाः । प्रययुर्द्रुतमध्यानमध्वनीनास्तुरंगमाः ॥ ४ ॥ खुरोद्धूतान् महीरेणून् स्वांगस्पर्शभयादिव । केचिद्व्यतीयुरध्यध्वं महाश्वाः कृतविक्रमाः ॥ ५ ॥ छायात्मनः सहोत्थानं केचित्सोढुमिवाक्षमाः । खुरैरघट्टयन् वाहाः स तु सौक्ष्म्यान्न बाधितः ॥ ६ ॥ केचिंन्नृत्तमिवातेनुर्महीरंगे तुरंगमाः । क्रमैश्चंक्रमणारंभे कृतमड्डुकवादनैः ॥ ७ ॥ स्थिरप्रकृतिसत्त्वानामश्वानां चलताऽभवत् । प्रचलत्खुरसंक्षुण्णभुवां गतिषु केवलं ॥ ८ ॥ कोट्योष्टादशास्य स्युर्वाजिनां वायुरंहसां । आजानेयप्रधानानां योग्यानां चक्रवर्तिनः ॥ ९ ॥ रुद्धरोधोवना क्षुण्णतटभूर्न्हासयंत्यपः । सिंधोः प्रतीपतां

रास्तेमें बहुत शीघ्र जा रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानो अपने पीछेके भागसे अगले भागको उलंघन करनेकेलिये ही उद्यम कर रहे हों, भावार्थ–शीघ्र चलनेसे उनका पिछाडीका भाग आगेके भागमें प्रवेश कर गयासा जान पडता था ॥ ४ ॥ अपने खुरोंसे खुदकर उडती हुई पृथ्वीकी धूलि अपने ही शरीरपर आ पडेगी इस भयसे मानो कितने ही बडे बडे घोडे अपना पराक्रम प्रगट करते हुये मार्गमें उस धूलको उलंघन कर रहे थे, अर्थात् रास्तेमें उडी मारतेहुये बहुत शीघ्र जा रहे थे ॥ ५ ॥ कितने ही घोडे अपनी छायाका भी अपने साथ चलना सह नहीं सकते थे इसलिये उसे खुरोंसे तोडते थे परंतु सूक्ष्म होनेसे उस छायाको कुछ भी बाधा नहीं होती थी ॥ ६ ॥ अनेक तरहसे चलते हुये कितने ही घोडे ऐसे जान पडते थे मानो चलनेके प्रारंभमें बजते हुये नगाडे आदि बाजोंके साथ साथ अपनी अनेकतरहकी चालसे पृथ्वीरूपी रंगभूमिपर नृत्य ही कर रहे हों ॥ ७ ॥ जिनका स्वभाव और सामर्थ्य स्थिर है परंतु चलतेसमय जिन्होंने अपने खुरोंसे पृथ्वी खोदडाली है ऐसे घोडोंकी चंचलता केवल चलनेमें ही थी, अन्यत्र नहीं थी ॥ ८ ॥ जो उत्तम उत्तम जातिके हैं, वायुके समान जिनका वेग है और जो योग्य अर्थात् सवारकी इच्छानुसार चलनेवाले हैं ऐसे चक्रवर्तीके घोडोंकी संख्या अठारह करोड थी ॥ ९ ॥ जो किनारेके बनोंमें भरगई है, जिसने किनारेकी पृथ्वी तोड दी है और जो जलको कम करती जाती है ऐसी चलती हुई वह सेना सिंधुनदीकी शत्रु बन

भेजे प्रयांती सा पताकिनी ॥ १० ॥ प्रभोरिवागमात्तुष्टा सिंधुः सैन्याधिनायकान् । तरंगपवनैर्मंदमासिषेवे सुखाहरैः ॥ ११ ॥ गंगावर्णनयोपेतां फेनाढ्यां संमुखागतां । तां पश्यन्नुत्तरामाशां जितां मेने निधीश्वरः ॥ १२ ॥ अनुसिंधुतटं सैन्यैरुदीच्यान्साधयन्नृपान् । विजयार्द्धाचलोपांतमाससाद शनैर्मनुः ॥ १३ ॥ स गिरिर्मणिनिर्माणनवकूटविशंकटः । ददृशे प्रभुणा दूराद्धृतार्घ इव राजतः ॥ १४ ॥ स शैलः पवनाधूतचलशाखाग्रबाहुभिः । दूरादभ्यागतं जिष्णुमाजुहावेव पादपैः ॥ १५ ॥ सोऽचलः शिखरोपांतनिपतन्निर्झरांबुभिः । प्रभोरुपागमे पाद्यं संविधित्सुरिवाचकात् ॥ १६ ॥ स नगो नागपुन्नागपूगादिद्रुमसंकुलैः । रम्यैस्तटवनोद्देशैराह्वत्प्रभुमिवासितुं ॥ १७ ॥ रजोवितानयन्पौष्पं पवनैः परितो वनं । सोऽभ्युत्तिष्ठन्निवास्यासीत्कूजत्कोकिलडिंडिमः

गई थी ॥ १० ॥ उस समय वह सिंधुनदी मानों भरतके आनेसे संतुष्ट होकर ही सुख देनेवाले और अपनी लहरोंपर बहनेसे शीतल ऐसे वायुसे धीरे धीरे सेनाके मुख्य लोगोंकी सेवा कर रही थी ॥११॥ सब तरह गंगाके समान, फेनोंसे भरीहुई और सामने आई हुई ऐसी सिंधु नदीको देखताहुआ वह निधियोंका स्वामी भरत उत्तर दिशाको जीतीहुईके समान मानने लगा ॥ १२ ॥ सोलहवां कुलकर वह भरत सिंधुनदीके किनारे किनारे अपनी सेनाके द्वारा उत्तर दिशाके सब राजाओंको वश करता हुआ धीरे धीरे विजयार्द्ध पर्वतके समीप जा पहुंचा ॥ १३ ॥ जिसपर मणियोंके नौ बडे बडे शिखर बने हुये हैं ऐसा वह चांदीका सफेद पर्वत भरतने दूरसे इसप्रकार देखा मानो वह शिखरोंके बहानेसे अर्घ ही लिये हो ॥ १४ ॥ जिनकी शाखाके आगेकी छोटी शाखायें वायुके हिलनेसे चंचल हो रही हैं ऐसे वृक्षोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो दूरसे अपने समीप आये हुये विजयी भरतको बुला रहा ही हो ॥ १५ ॥ शिखरोंके समीप ही झरते हुये झरनोंसे वह पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता था मानो भरतके आनेपर उसके लिये पाद्य अर्थात् पानीका अर्घ ही देना चाहता हो ॥ १६ ॥ उस पर्वतके किनारेके बनके प्रदेश नाग, नागकेसर और सुपारी आदि वृक्षोंके समूहसे भरेहुये बहुत ही मनोहर थे और उनसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो भरतको विश्राम लेनेकेलिये बुला रहा

॥ १८ ॥ किमत्र बहुना सोऽद्रिर्विभुं दिग्विजयोद्यतं । प्रत्यैच्छदिव संप्रीत्या सत्कारांगैरतिस्फुटैः ॥ १९ ॥ विभक्ततोरणामुच्चैरतीत्य वनवेदिकां । नियंत्रितं बलाध्यक्षैर्जगाहेंऽतर्वणं बलं ॥ २० ॥ वनोपांतभुवः सैन्यैरारुद्धा रुद्धदिङ्मुखैः । उड्डीनविहगप्राणा निरुच्छ्वासास्तदाभवन् ॥ २१ ॥ अभूतपूर्वमुद्भूतप्रतिध्वानं बलध्वनिं । श्रुत्वा बलवदुत्रेसुस्तिर्यंचो वनगोचराः ॥ २२ ॥ बलक्षोभादिभो निर्यन्वलक्षोऽभाद्वनांतरात् । सुरेभः सुविभक्तांगः सुरेभ इव वर्ष्मणा ॥ २३ ॥ प्रबोधजृंभणादास्यं व्याददौ किलकेसरी । न मेऽस्त्यंतर्भयं किंचित्पश्यतेतीव दर्शयन् ॥ २४ ॥ शरभो रभसादूर्ध्वमुत्पत्योत्तानितः

ही हो ॥ १७ ॥ जो अपने बनके चारोंओर वायुके द्वारा उडती हुई फूलोंकी परागरजका चंदोवा तान रहा है और कोकिलाओंका मधुर शब्द ही जिसका नगाडा बज रहा है ऐसा वह पर्वत इस भरतके आदर सत्कार करनेकेलिये सामने खडेहुयेके समान जान पडता था ॥ १८ ॥ अधिक कहांतक कहा जाय, वह पर्वत बडे प्रेमसे प्रगटकर दिखाये हुये सत्कारके सब साधनोंसे दिग्विजयके लिये तैयार हुये भरतका सामने आकर सत्कार करता हुआसा जान पडता था ॥ १९ ॥ जिसके चारोंओर तोरण बने हुये हैं ऐसी बनकी बेदीको उलंघनकर वह सेना सेनापतियोंके साथ साथ निश्चित किये हुये भीतरवाले बनमें जा पहुंची ॥ २० ॥ सब दिशाओंमें फैलनेवाली सेनासे वह बनके समीपकी भूमि भरगई थी, उसके पक्षीरूपी प्राण उडगये थे और उससमय वह ऐसी जान पडती थी मानो उसका श्वासोच्छ्वास ही बंद हो गया हो ॥ २१ ॥ जिसकी प्रतिध्वनि उठ रही है और जो पहिले कभी सुननेमें नहीं आया था ऐसा सेनाका कलकल शब्द सुनकर जंगली पशुओंको बहुत ही त्रास हुआ था ॥ २२ ॥ जिसका शरीर ऐरावतहाथीके समान है, जिसके अंग उपांग सब साफ दिखाई देते हैं, जो मधुर शब्दसे गरज रहा है ऐसा कोई सफेद हाथी सेनाके क्षोभसे बनके भीतरसे निकलताहुआ बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥ २३ ॥ मेरे मनके भीतर कोई भय नहीं है, जिसकी इच्छा हो सो देखले, इसप्रकार दिखलाता हुआ ही मानो कोई सिंह सोतेसे उठकर जंभाई लेताहुआ मुंह फाड रहा

पतन् । सुस्थ एव पदैः पृष्ठ्यैरभून्निर्मातृकौशलात् ॥ २५ ॥ पाषाणोल्लिखितस्कंधो रुषिताऽऽताम्रितेक्षणः । खुरोत्खातावनिः सैन्यैर्ददृशे महिषो विभीः ॥ २६ ॥ चमूरवश्रवोद्भूतसाध्वसाः क्षुद्रका मृगाः । विजयार्द्धगुहोत्संगान् युगक्षय इवाश्रयन् ॥ २७ ॥ अनुद्रुता मृगाः शावैः पलायांचक्रिरेऽभितः । वित्रस्ता वेपमानांगाः सिक्ता भयरसैरिव ॥ २८ ॥ वराहाररतिं मुक्त्वा वराहा मुक्तपल्वलाः । विविशुर्विस्फुटद्यूथाः चमूक्षोभादितोऽमुतः ॥ २९ ॥ वरणावरणास्तस्थुः करिणोऽन्ये भयद्रुताः । हरिणा हरिणारातिगुहांतानधिशिश्यिरे ॥ ३० ॥ इति सत्त्वा वनस्येव प्राणाः प्रचलिता भृशं । प्रत्यापत्तिं चि-

---

था ॥ २४ ॥ अष्टापद बहुत शीघ्र ऊपर उछलकर ऊपरकी ओर मुंह करके नीचे पड गया था तथापि उत्पन्न करनेवाले नामकर्मकी कुशलतासे पीठपरके पैरोंसे आरामसे आ पडा था, [अष्टापदके नीचे चार और पीठपर चार ऐसे आठ पैर होते हैं] ॥ २५ ॥ जो पत्थरसे अपने कंधे घिस रहा है, क्रोधित होनेसे जिसके दोनों नेत्र कुछ लाल हो रहे हैं और जो खुरोंसे पृथ्वी खोद रहा है ऐसा एक निर्भय जंगली भैंसा भी सेनाके लोगोंने देखा ॥ २६ ॥ जिसप्रकार प्रलयकालके समय जीव विजयार्द्धपर्वतकी गुफामें छिपते हैं उसीप्रकार सेनाके शब्द सुननेसे भयभीत हुये छोटे छोटे पशु विजयार्द्ध पर्वतकी गुफाके भीतर छिप गये थे ॥२७॥ जिनके पीछे पीछे बच्चे दौड रहे हैं और जिनका शरीर कंप रहा है ऐसे कितने ही भयभीत हिरण चारों ओर भाग रहे थे और उससमय वे ऐसे जान पडते थे मानो भयरूपी रससे भीग रहे ही हों ॥ २८ ॥ जिन्होंने पानी भरे छोटे छोटे तलाव छोड दिये हैं और सेनाके क्षोभसे जिनके झुंड सब बिखर गये हैं ऐसे सूअर नागरमोथा आदि अपना श्रेष्ठ आहार छोडकर इधर उधर भाग रहे थे ॥ २९ ॥ भयभीत हुये अन्य कितने ही हाथी वृक्षोंसे ढकी हुई जगहमें जा छिपे थे और हिरण सिंहोंकी गुफाओंके भीतर ही घुस गये थे ॥ ३० ॥ इसप्रकार बनके प्राणोंके समान खूब चंचल हुये प्राणी सेनाका कलकल शांत होनेपर बडी देरसे अपने अपने स्थानपर आये ॥ ३१ ॥ तदनंतर वह सेना बनके सहारे सहारे कुछ दूर जाकर विज-

रादीयुः सैन्यक्षोभे प्रसेदुषि ॥ ३१ ॥ प्रयायानुवनं किंचिदंतरं तदनंतरं । रौप्याद्रेर्मध्यमं कूटं सन्निकृष्य स्थितं बलं ॥ ३२ ॥ ततस्तस्मिन्वने मंदमरुतांदोलितद्रुमे । नृपाज्ञया बलाध्यक्षाः स्कंधावारं न्यवेशयन् ॥ ३३ ॥ स्वैरं जगृहुरावासान् सैनिकाः सानुमत्तटे । स्वयं गलत्प्रसूनौघघनशाखिघने वने ॥ ३४ ॥ सरस्तीरतरूपांतलतामंडपगोचराः । रम्या बभूवुरावासाः सैनिकानामयत्नतः ॥ ३५ ॥ वनप्रवेशमुन्मुग्धाः प्राहुर्वैराग्यकारणं । तत्प्रवेशो यतस्तेषामभवद्रागवृद्धये ॥ ३६ ॥ अथ तत्र कृतावासं ज्ञात्वा सनियमं प्रभुं । अगान्मागधवत्द्रष्टुं विजयार्द्धाधिपः सुरः ॥ ३७ ॥ तिरीटशिखरोदग्रो लंबप्रालंबनिर्झरः । स भास्वत्कटको रेजे राजताद्रिरिवापरः ॥ ३८ ॥ सितांशुकधरः स्रग्वी हरिचंदनचर्चितः । स बभौ धृतरत्नार्घो निधिः शंख इवोच्छ्रितः

यार्द्ध पर्वतके बीचके [पांचवें] शिखरके समीप ठहर गई ॥ ३२ ॥ सेनाके ठहरनेपर सेनापतियोंने महाराजकी आज्ञासे मंद वायुके द्वारा जिसके वृक्ष हिल रहे हैं ऐसे उस बनमें पडाव डाल दिया ॥ ३३ ॥ जिसमें अपने आप गिरते हुये फूलोंके समूह पडे हैं और अनेक घने वृक्ष लग रहे हैं ऐसे विजयार्द्ध पर्वतके किनारेके बनमें सेनाके लोगोंने इच्छानुसार जगह ले ली थीं ॥ ३४ ॥ तालावोंके किनारेके वृक्षोंके समीप ही जो लतामंडप थे बे बिना बनाये ही सेनाके लोगोंके मनोहर डेरे हो गये थे ॥ ३५ ॥ ' बनमें जानेसे वैराग्य उत्पन्न होता है ' ऐसा जो कहते हैं वे वास्तवमें मूर्ख हैं क्योंकि सेनाके लोगोंको उस बनमें जाना आनंद बढानेवाला था ॥ ३६ ॥

अथानंतर–भरतने नियमानुसार वहां डेरे दिये हैं यह जानकर विजयार्द्धपर्वतका स्वामी व्यंतर देव मागध देवके समान भरतके दर्शन करनेके लिये आया ॥ ३७ ॥ उससमय वह देव अन्य विजयार्द्ध पर्वतके समान जान पडता था, क्योंकि जिसप्रकार विजयार्द्ध शिखरोंसे ऊंचा है उसीप्रकार वह देव भी मुकुटकी शिखरसे ऊंचा था, जिसप्रकार विजयार्द्धपर झरने झरते हैं उसीप्रकार उसके गलेमें लटकता हुआ हार झरनेके समान जान पडता था और जिसप्रकार विजयार्द्धके कटक अर्थात् छोटे शिखर सुशोभित हैं उसीप्रकार उसके हाथोंमें कटक अर्थात् कडे शोभायमान थे ॥ ३८ ॥ जिसने

॥ ३९ ॥ ससंभ्रमं च सोऽभ्येत्य प्रह्वतामगमत्प्रभोः । ससत्कारं च तं चक्री भद्रासनमलंभयत् ॥ ४० ॥ गोपायिताऽहमस्याद्रेर्मध्यमं कूटमावसन् । स्वैरचारी चिरादद्य त्वयाऽस्मि परवान्विभो ॥ ४१ ॥ विद्धि मां विजयार्द्धाख्यममुं च गिरिमूर्जितं । अन्योऽन्यसंश्रयादावामलंध्यावचलस्थिती ॥ ४२ ॥ देव ! दिग्विजयस्यार्द्धं विभजन्नेष सानुमान् । विजयार्द्धश्रुतिं धत्ते तात्स्थ्यात्तद्रूढयो वयं ॥ ४३ ॥ आयुष्मन् ! युष्मदीयाज्ञां मूर्ध्ना स्रजमिवोद्वहन् । पदातिनिर्विशेषोऽस्मि विज्ञाप्यं किमतः परं ॥ ४४ ॥ इति ब्रुवंस्तथोत्थाय शिवैस्तीर्थाम्बुभिः प्रभुं । सोऽभ्यषिंचत्सुरैः सार्द्धं स्वं नियोगं निवेदयन् ॥ ४५ ॥ तदा

सफेद वस्त्र धारण किये हैं, जो माला पहनेहुये है, मलय चंदन जिसके शरीरपर लगाहुआ है और जिसने रत्नोंका अर्घ हाथमें लिया है ऐसा वह देव खडे हुये शंखनिधिके समान सुशोभित होता था ॥ ३९ ॥ वह देव बडी शीघ्रतासे आया और भरतके सामने आकर नवा, भरतने भी यथायोग्य सत्कारकर उसे अच्छे आसनपर बिठाया ॥ ४० ॥ भरतसे वह देव कहने लगा कि हे प्रभो मैं इस विजयार्द्ध पर्वतकी रक्षा करनेवाला हूं और इस पर्वतके बीचके शिखरपर रहता हूं, आजतक मैं अपनी इच्छानुसार रहता था परंतु बहुत दिनसे आज मैं आपके आधीन हुआ हूं ॥ ४१ ॥ हे प्रभो मेरा नाम विजयार्द्ध है और इस ऊंचे पर्वतका नाम भी विजयार्द्ध है, हम दोनों ही एक दूसरेके आश्रयसे अलंघ्य और निश्चल हैं अर्थात् मेरे आश्रयसे यह निश्चल है तथा इसे कोई लंघन नहीं कर सकता और इसके आश्रयसे मैं निश्चल हूं तथा मुझे भी कोई उलंघन नहीं कर सकता ॥ ४२ ॥ हे देव ! यह पर्वत दिग्विजयका आधा आधा विभाग करता है इसलिये ही इसका नाम विजयार्द्ध पडा है और मैं इसपर रहता हूं इसलिये मेरा नाम भी विजयार्द्ध पडगया है ॥ ४३ ॥ हे आयुष्मन् ! (चिरंजीव) आपकी अज्ञाको मैं मालाके समान मस्तकपर धारण करता हूं, आपकी सेनाके पैदल सिपाहियोंके समान ही एक मुझे भी समझिये इसके सिवाय मैं और क्या प्रार्थना करूं ॥ ४४ ॥ इसप्रकार कहताहुआ तथा ' प्रसन्न होकर मुझे अभिषेक करनेकी आज्ञा मिलनी चाहिये ' इसतरह अपने नि-

प्रणेदुरामंद्रमानकाः पथि वार्मुचां । विचेरुर्मरुतो मंदमाधूतवनवीथयः ॥ ४६ ॥ ननृतुः सुरनर्तक्यः सलीलानर्तितभ्रुवः । जगुश्च मंगलान्यस्य जयशंसीनि किन्नराः ॥ ४७ ॥ कृताभिषेकमेनं च शुभ्रनेपथ्यधारिणं । युयोज रत्नलाभेन लंभयन्स जयाशिषः ॥ ४८ ॥ स तस्मै रत्नभृंगारं सितमातपवारणं । प्रकीर्णकयुगं दिव्यं ददौ च हरिविष्टरं ॥ ४९ ॥ इति प्रसाधितस्तेन वचोभिः सानुवर्तनैः । प्रसादतरलां दृष्टिं तत्र व्यापारयत्प्रभुः ॥ ५० ॥ विसर्जितश्च सानुज्ञं प्रभुणा कृतसक्रियः । भृत्यत्वं प्रतिपद्यास्य स्वमोकः प्रत्यगात्सुरः ॥ ५१ ॥ विजयार्द्धे जिते कृत्स्नं जितं दक्षिणभारतं । मन्वानो निधिराट् तच्च चक्ररत्नमपूजयत् ॥ ५२ ॥ गंधैः पुष्पैश्च धूपैश्च दीपैश्च सजलाक्षतैः । फलैश्च चरुभिर्दिव्यैश्चक्रेज्यां निरवर्तयत् ॥ ५३ ॥ विजयार्द्धजयेऽप्यासीदमं-

---

योगकी सूचना करता हुआ वह देव उठा और अनेक व्यंतर देवोंके साथ कल्याण करनेवाले तीर्थजलसे भरतका अभिषेक करने लगा ॥ ४५ ॥ उससमय आकाशमें गंभीर शब्द करतेहुये नगाडे बजनेलगे और बनके वृक्षोंकी पंक्तियोंको धीरे धीरे हिलाताहुआ वायु बहने लगा ॥४६॥ लीला पूर्वक भोंहोंको नचाती हुई नृत्य करनेवालीं व्यंतरी देवियां नृत्य कर रही थीं और किन्नर देव भरतके दिग्विजयके मंगलगीत गा रहे थे ॥ ४७ ॥ तदनंतर जिसका अभिषेक हो चुका है और जिसने सफेद वस्त्र धारण कर लिये हैं ऐसे भरतको विजय करनेवाला आशीर्वाद देते हुये उस देवने अनेक रत्न भेट किये ॥ ४८ ॥ उस देवने भरतके लिये रत्नोंका एक भृंगार, सफेद छत्र, दो चमर और एक दिव्य सिंहासन अर्पण किया ॥ ४९ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार किये हुये सत्कारसे तथा विनय सहित अनेकतरहके भाषणसे प्रसन्न हुये भरतने प्रसन्नतासे चंचलहुई अपनी दृष्टि उस देवपर डाली, अर्थात् प्रसन्नतासे उसे देखा ॥ ५० ॥ अनंतर जिसे भरतने विदा किया है और 'जा' इसप्रकार जिसका आज्ञा पूर्वक आदर सत्कार किया है ऐसा वह देव भरतका सेवकपना स्वीकारकर अपने घर गया ॥ ५१ ॥ 'विजयार्द्ध पर्वतके जीतनेपर समस्त दक्षिण भारत जीतलिया गया' इसप्रकार मानतेहुये निधियोंके स्वामी भरतने उस चक्र रत्नकी पूजा की ॥ ५२ ॥ गंध, पुष्प, धूप, दीप, जल,

दोऽस्य जयोद्यमः । उत्तरार्द्धजयाशंसां प्रत्यागूर्णस्य चक्रिणः ॥ ५४ ॥ ततः प्रतीपमागत्य रौप्याद्रेः पश्चिमां गुहां । निकषावनमारुध्य बलैरीशो न्यविक्षत ॥ ५५ ॥ दक्षिणेन तमद्रींद्रं मध्ये वेदिकयोर्द्वयोः । बलं निविविशे भर्तुः सिंधोस्तटवनाद्बहिः ॥ ५६ ॥ भूयो द्रष्टव्यमत्रास्ति बह्वाश्चर्ये धराधरे । इति तत्र चिरावासं बहु मेने किलाधिराट् ॥ ५७ ॥ चिरासनेऽपि तत्रास्य नासीत्स्वल्पोऽप्युपक्षयः । प्रत्युतापूर्वलाभेन प्रभुरापूर्यताब्धिवत् ॥ ५८ ॥ कृतासनं च तत्रैनं श्रुत्वा द्रष्टुमुपागमन् । पार्थिवाः पृथिवीमध्यान्मध्ये नद्योर्द्वयोः स्थितः ॥ ५९ ॥ दूरानतचलन्मौलिसंदष्टकरकुड्मलाः । प्रणमंतः स्फुटीचक्रुः प्रभौ भार्क्ति महीभुजः ॥ ६० ॥ कुंकमागरुकर्पूरसुवर्णमणिमौक्तिकैः । रत्नैरन्यैश्च रत्नेशं भक्त्याऽनर्चुर्नृपाः परं ॥ ६१ ॥ विष्वगापूर्यमाणस्य रैराशिभिरना-

---

अक्षत, फल और दिव्य चरुसे चक्रकी पूजा समाप्त की ॥ ५३ ॥ विजयार्द्ध तक दाक्षिणभाग जीतलेनेपरभी उत्तरार्द्ध जीतनेकी आशासे तैयार हुये उस भरत चक्रवर्तीका विजय करनेका उद्योग बिलकुल मंद नहीं हुआ था ॥ ५४ ॥ तदनंतर वह भरत कुछ पश्चिमकी ओर हटकर अपने सेनाके द्वारा विजयार्द्धपर्वतकी पश्चिम गुफाके समीपवाले बनको घेरकर ठहर गया ॥ ५५ ॥ विजयार्द्ध पर्वतके दक्षिणओर पर्वतकी वेदी और बनकी बेदी इन दोनोंके बीचमें सिंधु नदीके किनारेके बनके बाहर भरतकी सेनाने पडाव डाला ॥ ५६ ॥ यह पर्वत अनेक आश्चर्योंसे भराहुआ है इसपर देखने योग्य वस्तु बहुत हैं यही समझकर भरतने वहांपर बहुत दिन रहना भी अच्छा समझा था ॥ ५७ ॥ वहांपर बहुत दिन रहनेपर भी भरतका कुछ भी खर्च नहीं हुआ था, उलटा अपूर्व अपूर्व वस्तुओंका लाभ होनेसे समुद्रके समान वह भरगया था ॥ ५८ ॥ भरतने उस जगहपर पडाव डाला है यह सुनकर गंगा और सिंधुनदीके बीचकी पृथ्वीपर रहनेवाले अनेक राजा लोग उसके दर्शन करनेके लिये आये ॥ ५९ ॥ दूरसे नमस्कार करनेसे चंचल हुये मुकुटपर जिन्होंने अपने हाथ जोडकर रक्खे हैं ऐसे नमस्कार करतेहुये कितने ही राजा भरतपर अपनी भक्ति प्रगट कर रहे थे ॥ ६० ॥ उन राजाओंने केशर, अगुरु चंदन, कपूर, सुवर्ण, मणि मोती तथा अन्य कितने ही रत्नोंसे बडी भक्तिसे

रत्नं : कोशप्रावेशरत्नानामियत्तां कोऽस्यनिर्णयेत् ॥ ६२ ॥ देशाध्यक्षा बलाध्यक्षैर्बलं सुकृतरक्षणं । यवसैंधनसंधानैस्तदोपजगृहुश्चिरं ॥ ६३ ॥ उत्तरार्द्ध-जयोद्योगं प्रभोः श्रुत्वा तदागमन् पार्थिवाः कुरुराजाद्याः समग्रबलवाहनाः ॥ ६४ ॥ आहूताः केचिदाजग्मुः प्रभुणा मंडलाधिपाः । अनाहूताश्च संभेजु-र्विभुं चारुभटाः परे ॥ ६५ ॥ त्रिदेशः किल यातव्यो जेतव्या म्लेच्छभूभुजः । इति संचिंत्य सामंतैः प्रायः सज्जं धनुर्बलं ॥ ६६ ॥ धन्विनः शरनाराचसंभृतेषुधिबंधनैः । न्यवेदयन्निवात्मानमृणदासमधीशिनां ॥ ६७ ॥ धनुर्धरा धनुः सज्ज्यमास्फाल्याऽऽचक्रुषुः परे । चिकीर्षव इवारीणां जीवाकर्षं सहुं-

रत्नोंके स्वामी भरतका आदर सत्कार किया था ॥ ६१ ॥ धनकी राशियोंसे निरंतर चारोंओरसे भरतेहुये इसभरतके खजानेमें रखने योग्य रत्नोंकी संख्या भला कौन करसकता था? अर्थात् उसके खजानेमें असंख्यात रत्न इकट्ठे हो गये थे ॥ ६२ ॥ उस समय उस देशके राजाओंने सेनापतियोंके द्वारा बहुत अच्छी तरह जिसकी रक्षा की गई है ऐसी भरतकी सेनाको बहुत दिनतक घास ईंधन शाकभाजी आदिसे पोषणकर उसका उपकार किया था ॥ ६३ ॥ भरत विजयार्द्ध पर्वतके उत्तर भागको जीतनेका उद्योग कर रहे हैं यह सुनकर कुरुदेशके राजा जयकुमार तथा और भी अनेक राजा अपनी अपनी समस्त सेना सवारी लेकर उसीसमय आ उपस्थित हुये थे ॥ ६४ ॥ कितने ही मंडलेश्वर राजा भरतके बुलायेहुये आये थे और अन्य कितने ही बडे बडे योद्धा बिना बुलाये ही भरतके समीप आगये थे ॥ ६५ ॥ अब अवश्य ही विदेशमें जाना है और म्लेच्छ राजाओंको जीतना है यही विचारकर योद्धाओंने प्रायः धनुषबाण धारण करनेवालोंकी सेना तैयार की थी ॥ ६६ ॥ धनुष धारण करनेवाले योद्धाओंने जो छोटे बडे बाणोंसे भरेहुये तरकस बांधे थे उनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों अपने स्वामियोंको अपना ऋणका दासपना ही निवेदन कर रहे हों, भावार्थ—हमने जो आपका अन्न खाया है उसके बदले हम लोग मरनेको भी तैयार हैं यही अपने स्वामियोंसे कह रहे हों ॥ ६७ ॥ तथा अभिमान पूर्वक हूं शब्द करते हुये अन्य कितने ही धनुष धारण करनेवाले वीर पुरुष अपने

कृताः ॥ ६८ ॥ करवालान्करे कृत्वा तुलयंति स्म केचन । स्वामिसत्कारभारेण नूनं तान्प्रमिमित्सवः ॥६९॥ संवर्मिता भृशं रेजुर्भटाः प्रोल्लासितासयः । निर्मोकैरिव विश्लिष्टैर्ललजिह्वा महाहयः ॥ ७० ॥ साटोपं स्फुटिताः केचिद्वल्गंति स्माभितो भटाः । अस्युद्यताः पुरोऽरातीन्पश्यंत इव संमुखं ॥ ७१ ॥ अस्त्रैर्व्यस्त्रैश्च शस्त्रैश्च शिरस्त्रैः सतनुत्रकैः । दधुर्जयनशालानां लीलां रथ्याः सुसंभृताः ॥७२॥ रथिनो रथकट्यासु गुर्वीरायुधसंपदः । समारोप्यापि पत्तिभ्यो भेजुरेवातिगौरवं ॥ ७३ ॥ हस्तिनां पदरक्षायै सुभटा योजिता नृपैः । राजन्यैः सह युध्वानः कृताश्चाभिनिषादिनः ॥ ७४ ॥ प्रवीरा राजयुध्वानः क्लृप्ताः

सजाये हुये धनुषको टंकोर शब्द करते हुये खींच रहे थे और उस समय ऐसे जान पडते थे मानों शत्रुओंके जीवोंको खींचनेकी ही इच्छा कर रहे हों ॥ ६८ ॥ कितने योद्धा हाथमें तलवार लेकर उसे तोल रहे थे मानों स्वामीसे प्राप्त हुये सत्कारके बोझेके साथ उसका प्रमाण ही करना चाहते हों ॥ ६९ ॥ जो कवचसे ढके हुये हैं और जिनकी तलवारें देदीप्यमान हो रही हैं ऐसे कितने ही शूरवीर ऐसे अच्छे जान पडते थे मानो जिनकी काचली कुछ शिथिल होगई है और जिनकी जीभ बार बार हिलरही है ऐसे बडे सर्प ही हों ॥ ७० ॥ कितने ही योद्धा अभिमान सहित हाथमें तलवार उठाये भुजाओंको हिलाते हुये चारोंओरसे इसप्रकार गरज रहे थे मानों शत्रुओंको अपने सामने ही देख रहे हों ॥ ७१ ॥ अग्निवाण मेघवाण आदि दिव्य शस्त्र, व्यस्त्र अर्थात् महास्तंभ महाशिला आदि फेंककर मारनेके शस्त्र, तलवार धनुष आदि शस्त्र, शिरकी रक्षा करनेवाले लोहेके टोप और कवच आदिसे भरे हुये रथोंके समूह ठीक आयुधशालाकी शोभा धारण करते थे ॥७२॥ रथमें सवार होनेवाले योद्धा रथमें शस्त्रोंका भारी समूह रखकर अपने कंधे पर भारी शस्त्र रखने वाले पैदल सिपाहियोंसे भी बहुत बडे माने गये थे ॥७३॥ राजाओंनें हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेके लिये बडे बडे शूर वीर नियुक्त किये थे, वे शूर वीर अनेक राजाओंके साथ लडते थे और समयपर महावत भी बनाये जाते थे, अथवा उन हाथियोंपर भी बैठते थे ॥ ७४ ॥ जो वीर पुरुष राजाओंके साथ भी युद्ध करनेको तैयार थे वे पैदल

पत्तिषु: नायका: । आश्वीये च ससन्नाहाः सोत्तरंगास्तुरंगिणः ॥ ७५ ॥ आरचय्य बलान्येके स्वानीक्षांचक्रिरे नृपाः । दंडमंडलभोगासंहृतव्यूहैः सुयोजितैः ॥ ७६ ॥ चक्रिणोऽवसरः कोऽस्य योऽस्माभिः स्मर्यतेऽल्पकैः । भक्तिरेषा तु नः काले प्रभोर्यदनुसर्पणं ॥ ७७ ॥ प्रभोरवसरः सार्यः प्रसार्यं नो यशोधनं । विरोधिबलमुत्सार्यं संधार्यं पुरुषव्रतं ॥ ७८ ॥ द्रष्टव्या विविधा देशा लब्धव्याश्च जयाशिषः । इत्युदाचक्रिरेऽन्योन्यं भटाः श्लाघ्यैरुदाहृतैः ॥ ७९ ॥ गिरिदुर्गोऽयमुल्लंघ्यो महत्यः सरितोऽन्तरा । इत्यपार्येक्षिणः केचिदयानं बहु मेनिरे ॥ ८० ॥ इति नानाविधैर्भावैः संजल्पैश्च लघूत्थिताः । प्र-

---

सेनाके सेनापति बनाये गये थे और जो घुडसवार कवच पहनेहुये थे और नदीके प्रवाहके समान उद्योगी थे उन्हें घुडसवार सेनाके सेनापति बनाया था ॥७५॥ कितने ही राजा अच्छीतरह रचेहुये दंडव्यूह अर्थात् सेनाको सीधी रेखामें खडा करना, मंडलव्यूह अर्थात् गोलाकार खडा करना, भोगव्यूह अर्थात् अर्द्ध गोलाकार खडाकरना और संहतव्यूह अर्थात् अलग अलग टोलीकर सेनाको खडा करना इत्यादि रीतिसे अपनी सेनाकी रचनाकर उसे देख रहे थे ॥ ७६ ॥ सेनाके लोग आपसमें कह रहे थे कि जो हम न कुछ होकर भी भरतका स्मरण करते हैं यह इस चक्रवर्तीका कोई ऐसा ही समय है, अथवा हम लोग जो अपने स्वामीकी आज्ञानुसार चलते हैं यह हम लोगोंकी इस समयपर होनेवाली एक भक्ति है ॥ ७७ ॥ इस समय हम लोगोंको स्वामीका काम करना चाहिये, अपना यशरूपी धन फैलाना चाहिये, शत्रुओंकी सेना मार भगानी चाहिये, अपना पौरुष धारण करना चाहिये ॥ ७८ ॥ अनेक देश देखने चाहिये और विजयके अनेक आशीर्वाद प्राप्त करने चाहिये इसप्रकार अनेक प्रशंसनीय उदाहरणोंके द्वारा वे योद्धा लोग परस्पर बात चीत कर रहे थे ॥ ७९ ॥ यह दुर्गम पर्वत उलंघन करना है और बीचमें बडी बडी नदियां उलंघन करनी हैं तथा यह सब हो जाना असंभव है इसप्रकार विचार करते हुये कितने ही लोग आगे नहीं जाना ही अच्छा मानते थे ॥ ८० ॥ इसप्रकार अनेकप्रकारके अभिप्राय प्रगट करनेवाले परस्परकी बात चीतसे जल्दी जल्दी पैर उठातेहुये

स्थिता: सैनिका: प्रापन्सेश्वरा: शिबिरं प्रभो: ॥ ८१ ॥ प्रचेलु: सर्वसामग्र्या भूपा: संभृतकोष्ठिका: । प्रभोश्चिरं जयोद्योगमाकलय्याहिमाचलं ॥ ८२ ॥ भटैर्लाकुटिकै: केचिद्भृता लालाटिकै: परे । नृपा: पश्चात्कृतानीका विभोर्निकटमाययु: ॥ ८३ ॥ समंतादिति सामंतैरापतद्भि: ससाधनै: । समिद्धशासनश्चक्री समेत्य जयकारित ॥ ८४ ॥ सामवायिकसामंतसमाजैरिति सर्वत: । सरिदोघैरिवांभोधिरापूर्यत विभोर्बलं ॥ ८५ ॥ सवन: सावनि: सोऽद्रि: परितो रुरुधे बलै: । जिनजन्मोत्सवे मेरुरनीकैरिव नाकिनां ॥ ८६ ॥ विजयार्द्धाचलप्रस्था विभोरध्यासिता बलै: । स्वर्गावासश्रियं तेनुर्विभक्तैर्नृपमंडपै: ॥ ८७ ॥ प्रक्ष्वेलितरथं विष्वक् प्रहेषिततुरंगमं । प्रबृंहितगजं सैन्यं ध्वनिसादकरोद्गिरिं ॥ ८८ ॥ बलध्वानं गुहारंध्रै: प्रतिश्रुद्भूतमुद्वहन् । सोऽद्रिरुद्रिक्त-

---

तथा चलतेहुये सेनाके लोग अपने अपने स्वामियों सहित पडावमें जा पहुंचे ॥ ८१ ॥ भरतका हिमवान् पर्वततकका विजयकरनेका यह कार्य बहुत दिनमें होगा यही समझकर राजा लोग धान्य वस्त्र आदि समस्त सामिग्रीसे अनेक कोठे भरकर निकले ॥ ८२ ॥ कितनेही राजा लकडी लियेहुये योद्धाओंके साथ और अन्य कितने ही राजा सब कामोंमें समर्थ ऐसे अभिप्राय जाननेवालोंके साथ साथ अपनी सेना पीछे छोडकर भरतके समीप आये ॥ ८३ ॥ इसप्रकार अपनी अपनी सेना सहित चारोंओरसे आते हुये अनेक योद्धाओंने एक जगह इकट्ठे होकर जिसकी आज्ञा सबजगह प्रसिद्ध है ऐसे भरत चक्रवर्तीका जयजयकार किया ॥ ८४ ॥ जिसप्रकार नदियोंके समूहसे समुद्र भर जाता है उसीप्रकार अपनी अपनी सेना सहित चारोंओरसे आयेहुये अनेक राजाओंके समूहसे भरतकी सेना खूब भर गई थी ॥८५॥ जिसप्रकार भगवानके जन्मोत्सवमें बन और भूमि सहित मेरुपर्वत देवोंकी सेनासे भर जाता है उसीप्रकार वह विजयार्द्धपर्वत बन और भूमि सहित चारोंओरसे सेनासे भर गया था ॥ ८६ ॥ जिनपर भरतकी सेना निवास कर रही है ऐसे विजयार्द्ध पर्वतके शिखर अलग अलग तनेहुये राजमंडपोंसे ठीक स्वर्गकी शोभा धारण करते थे ॥ ८७ ॥ जिसमें चारोंओरसे रथ चीत्कार शब्द कर रहे हैं, घोडे हींस रहे हैं और हाथी गरज रहे हैं ऐसी उस सेनाने वह विजयार्द्ध पर्वत

तद्रोधोधुवं फूत्कारमातनोत् ॥ ८९ ॥ अत्रांतरे ज्वलन्मौलिप्रभापिंजरितांबरः । ददृशे प्रभुणा व्योम्नि गिरेरवतरत्सुरः ॥ ९० ॥ स ततोऽवतरन्रेजे भौ सानुचरोऽमरः । सवनः कल्पशाखीव लसदाभरणांशुकः ॥ ९१ ॥ दिव्यः प्रभान्वयः कोऽपि संमूर्छति किमंबरे । तडित्पुंजः किमग्न्यर्चिरिति दृष्टः क्षणं जनैः ॥ ९२ ॥ किमप्येतदधिज्योतिरित्यादावविशेषतः । पश्चादवयवव्यक्त्या प्रव्यक्तपुरुषाकृतिः ९३ ॥ कृतमालश्रुतिव्यक्त्यै कृतमालः स चंपकैः । कृतमाल इवोत्फुल्लो निदध्ये प्रभुणाऽग्रतः ॥ ९४ ॥ सप्रणामं च संप्राप्तं तं वीक्ष्य सहसा विभुः । यथार्हप्रतिपत्त्याऽस्मायासनं प्रत्यपादयत् ॥ ९५ ॥ प्रभु-

---

शब्दमय कर दिया था ॥ ८८ ॥ गुफाओंके छिद्रोंसे जिसकी प्रतिध्वनि निकल रही है ऐसे सेनाके शब्दोंको धारण करता हुआ वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो वह उस सेनासे खूब घिर गया है इसलिये दुखी होकर फू फू शब्द ही कर रहा हो ॥ ८९ ॥

अथानंतर– भरतने इसी समय दैदीप्यमान मुकुटकी कांतिसे जिसने आकाश भी कुछ कुछ पीला कर दिया है और जो पर्वतसे नीचे उतर रहा है ऐसा एक देव आकाशमें देखा ॥ ९० ॥ वस्त्राभरणोंसे प्रकाशमान और सेवकों सहित उस पर्वतसे उतरता हुआ वह देव ऐसा अच्छा जान पडा था मानों वस्त्र आभरणोंसे प्रकाशमान वन सहित कल्पवृक्ष ही हो ॥ ९१ ॥ जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ऐसा दिव्य प्रभाका कोई समुदाय आकाशमें फैल रहा है क्या ? अथवा क्या यह विजलीका समूह है ? अथवा अग्निकी ज्वाला है ? इसप्रकारकी अनेक कल्पनाओंसे क्षणभर वह देव लोगोंने देखा ॥ ९२ ॥ पहिले तो वह देव यह कोई प्रकाशका समूह है इसप्रकार सामान्य रीतिसे देखनेमें आया था और फिर अवयवोंके प्रगट दिखाई देनेसे साफ पुरुषके आकारसा जान पडा था ॥९३॥ उसने अपना कृतमाल नाम प्रगट करनेकेलिये चंपाके फूलोंकी माला पहिनी थी जिससे वह फूले हुये कृतमाल नामके वृक्षके समान जान पडता था ऐसा वह देव भरतके सामने आ खडा हुआ ॥९४॥ आते ही उसने नमस्कार किया, अकस्मात् आकर नमस्कार करते हुये उसे देखकर भरतने यथा